श्री श्री श्री मधुसूदन सरस्वती विरचित

अद्वैत सिद्धि:

श्री व्यासतीर्थ विरचित
न्यायामृत सहितम्
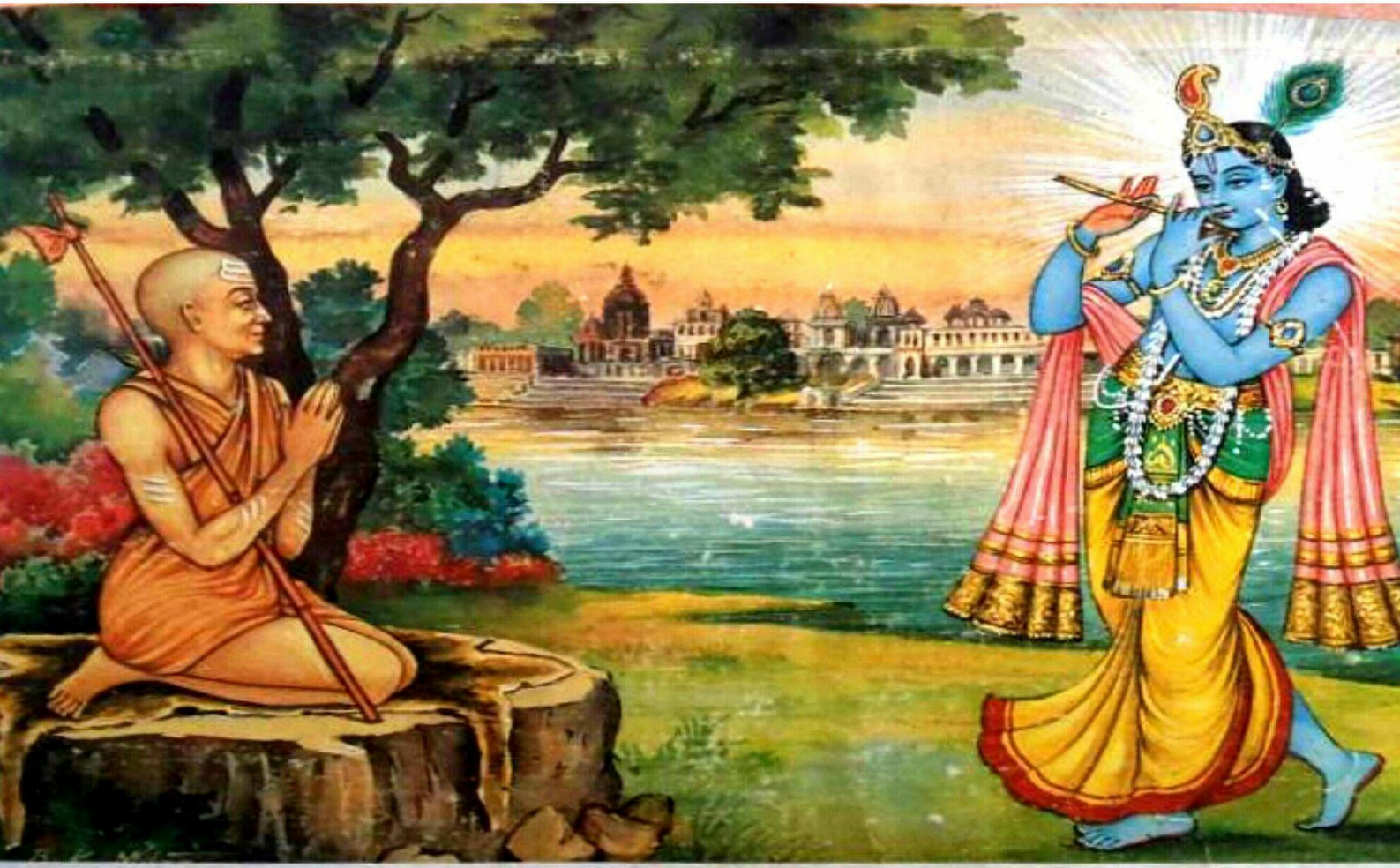
मधुसूदन सरस्वतीको परमतत्त्वके दर्शन

स्वामी श्री योगीन्द्रानन्दजी का

हिंदी अनुवाद सहित

प्रथमो भागः

卐

पुण्यार्पणम्

नव्यव्याकरणाचार्य-शान्तानन्दस्य धीमतः ।
गुरुभ्रातुर्लघोः स्मृत्यै सिद्धिव्याख्या मया कृता ॥
एतदर्जितपुण्येन शान्तः शान्तो भवेच्चिरम् ।
स्वर्गे वा निवसेन्नूनं तस्मै पुण्यं समर्प्यते ॥

योगीन्द्रानन्देन

दो शब्द

'न्यायामृत' और 'अद्वैतसिद्धि' को पढ़ते ही सोलहवीं शताब्दी से लेकर सत्तरहवीं शताब्दी तक का द्वैताद्वैत-सम्बन्धी घनघोर वाग्युद्ध साकार हो उठता है। 'न्यायामृत' के रचयिता हैं—माध्व-मूर्धन्य श्री व्यास तीर्थ और अद्वैतसिद्धि के प्रणेता अद्वैत सम्प्रदाय के दृढ़ स्तम्भ श्री मधुसूदन सरस्वती। दोनों आचार्य अपने-अपने विषय के दिग्गज विद्वान् ही नहीं, अपने समय के रस-सिद्ध कवीश्वर हैं, जिनकी जिह्वा की हिलोर तूफान थी और लेखनी का कम्पन भूकम्प था। अकबरी दरबार के उद्भट विद्वान् श्री अबुलफज़्ल ने आईने अकबरी में अकबर-सम-सामयिक विद्वानों की गणना के समय श्री मधुसूदन सरस्वती का बड़े सम्मान से स्मरण किया है। १५९८ ई० के लगभग आईने अकबरी की समाप्ति हुई थी, अतः सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग में श्री मधुसूदन सरस्वती निश्चितरूप से वाराणसी को अलङ्कृत कर रहे होंगे। श्री व्यास तीर्थ उनसे कुछ वर्ष पहले के हैं। इनसे पहले लगभग १२६८ ई० में रामानुज सम्प्रदाय के विकट विद्वान् श्री वेङ्कटनाथ वेदान्त देशिक ने अपनी शतदूषणी में अद्वैतसिद्धान्त के ६६ वादों की गम्भीर एवं तीखी आलोचना की थी। उससे न्यायामृतकार ने पूर्ण संबल पाकर न्यायामृत को मेदुरित किया है, अत एव न्यायामृत के परिच्छेदान्त में श्री व्यासराज अपने न्यायामृत को 'संगृहीत' ही लिखते हैं। इनके आक्षेपों का प्रतीकार अद्वैत-सम्प्रदाय के ग्रन्थकार यत्र-तत्र अव्यवस्थित रूप में कर देते थे, किन्तु योजना-बद्ध और आनुपूर्वी खण्डन नहीं किया गया था।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने उस कार्य का सम्पादन बड़े ही सुव्यवस्थित और मनोरम ढंग से किया है। अद्वैतसिद्धि में प्रत्येक छोटे-से-छोटे आलोचन तक की समुचित एवं सक्षम भाषा में प्रत्यालोचना की गई है। आलोच्य ग्रन्थ की आनुपूर्वी का पूर्ण ध्यान रखा गया है, ५-७ स्थल ही अभी तक अपवाद के रूप में दृष्टिगोचर हुए हैं, वे सम्भवतः लिपिकारों की अस्त-व्यस्तता है, प्रकरण के अनुरोध पर भी कुछ आदान-प्रदान आगे-पीछे हो गये हैं, किन्तु श्री मधुसूदन सरस्वती की पैनी मनीषा से न्यायामृत का कोई कोना अछूता नहीं बचा है। इनकी प्रत्यालोचना का जोड़ दर्शन-जगत् क्या, संस्कृत वाङ्मय के विशाल प्राङ्गण में भी कहीं अन्यत्र सुलभ नहीं।

दोनों प्रतिस्पर्धी ग्रन्थ एक धरातल पर नहीं हैं—यह बात मुझे बहुत दिनों से अखर रही थी, किन्तु इनके भारी-भरकम पीवर कलेवरों को देख कर डर लगता था कि ये दोनों कहाँ समायेंगे? सम्माननीय अनन्तकृष्ण शास्त्री जी ने न्यायामृत और अद्वैतसिद्धि के एकत्र प्रकाशन का सराहनीय प्रयत्न किया था, किन्तु उन्होंने इनके टीका-टूका और टरका को साथ-साथ घसीटना चाहा, अतः वह काम अधूरा ही नमूना-सा बन कर रह गया। मेरा संकल्प है कि समस्त संकलन नितान्त आवश्यक होने पर भी एक साथ न निकाल कर जोड़े-जोड़े के रूप में प्रकाशित किया जाय। यह मूल ग्रन्थों का जोड़ा निकल रहा है। प्रथम परिच्छेद ही अभी तक हो पाया है। यद्यपि अगले तीन परिच्छेदों की सामग्री इतना वैपुल्य नहीं रखती, तथापि २५-३० फार्मों से कम नहीं होगी। अतः दो खण्डों में प्रकाशन करने का निश्चय किया गया है। कुछ व्यक्तियों के अनुरोध पर प्रथम परिच्छेद को शीघ्र निकालना पड़ रहा है। श्रीमधुसूदन सरस्वती का प्रामाणिक जीवन, विस्तृत भूमिका, आवश्यक सूचीपत्रादि के परिशिष्ट सभी द्वितीय खण्ड में दिये जा रहे हैं। द्वितीय खण्ड के परिशिष्ट में गौड़ब्रह्मानन्दी का परीक्षोपयोगो अंश भी व्याख्या के साथ रखा गया है। संक्षिप्त संकेतों का विवरण भी अभी नहीं दिये जा सका द्वितीय खण्ड के परिशिष्ट में रहेगा।

पहले सोचा गया था कि दोनों ग्रन्थों की हिन्दी व्याख्या की जाय, किन्तु अद्वैत-सिद्धि की हिन्दी व्याख्या से ही न्यायामृत की व्याख्या गतार्थ-सी प्रतीत हुई, अतः केवल अद्वैतसिद्धि-व्याख्या रखी गई है। न्यायामृत को भी ध्यान में अवश्य रखा गया है। हिन्दी व्याख्या का प्रयोजन मूल ग्रन्थ की विषय वस्तु का यथावत् प्रस्तुतीकरण है। पूर्वापर सन्दर्भों के पृष्ठाङ्कों का निर्देश साथ-साथ किया गया है। प्रतिपाद्य पदार्थों की संगमनिका में जो कुछ अधिक कहना पड़ा है, वह बड़े कोष्ठक के अन्दर रखा गया है। अनावश्यक विस्तार पर अङ्कुश रखा गया है। अद्वैत-सिद्धि जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ का अध्ययन साधरण छात्र नहीं कर सकता, इसके लिए जैसी प्रौढ़िमा अपेक्षित है, उसके अनुरूप ही हिन्दी व्याख्या चलती गई है। प्रथम प्रवेशार्थी छात्र को सामने रख कर मौलिक पक्तियों की व्याख्या-शैली से बन्ध कर चलना सम्भव नहीं रह जाता। हाँ, हिन्दी की सरलता और सुबोधता का पूरा ध्यान रखा गया हैं, कठिन शब्द के स्थान पर सरल-से-सरल भाषा में प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग किया गया है।

आभार—

प्रूफ संशोधनादि में पूर्ण सहयोग हमारे उदासीन संस्कृत विद्यालय के प्रधानाचार्य पण्डित-प्रवर श्री पुरुषोत्तम त्रिपाठी का प्राप्त हुआ है, इसके लिए मैं पण्डितजी का पूर्ण आभारी हूं। श्री सरिताप्रेस के मालिक श्री मोहनलाल यादव तथा प्रेस के सभी कर्मचारियों के सौजन्य और कार्यक्षमता से पूर्ण प्रभावित होकर आशीर्वाद देता हूँ कि यह हमारा छोटा-सा प्रेस शीघ्र ही विशालकाय बने, इसके मालिक और कर्मचारी खूब फलें-फूलें।

स्वामी योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ
४-१-१९७७

द्वितीय संस्करण

"न्यायामृताद्वैतसिद्धी" के इस प्रथम भाग की कुल एक हजार प्रतियाँ ही छपी थीं, वे शीघ्र समाप्त हो गई। पुस्तक-विक्रेताओं की माँग बढ़ती जा रही है। सोचा था कि द्वितीय संस्करण में कुछ परिर्धन किया जायगा किन्तु नेत्रों में निर्बलता और प्रेसों की दरों में अप्रत्याशित उफान आ जाने से कम्पोजीटरों के साथ जूझने का साहस न हो सका, अत फोटो आफसेट (Photo Offset) को प्रणाली से जैसे-का-तैसा छपाने का निश्चय करना पड़ा। इस में व्यय का अधिभार बढ़ जाना स्वाभाविक है।

आचार्य-कक्षाओं का पठन-पाठन शिथिल हो जाने पर भी एम० ए० कक्षाओं में गवेषणा की प्रवृत्ति इस दिशा में जो कुछ बढ़ चली है, उससे अवश्य उत्साह होता है कि सभी दार्शनिक वाद विवाद साहित्य सरल भाषा में इसी प्रकार आमने-सामने ला दिया जाय। इस ग्रन्थ के टीका-परिवारों का संकलन भी किया जा रहा है, समय और सुविधा मिलते ही वह भी प्रकाशित हो जायेगा। विषय और प्रतिपादन-शैलो की दुरूहता के कारण नितान्त सूक्ष्म एवं अद्भुत प्रज्ञाएँ प्रकाश में नहीं आ पाई हैं, उनका प्रकाश में लाना नूतन साहित्य सृजना से भी आवश्यक है।

उदासीन संस्कृत विद्यालय
सी० के० ३६/१९, बुद्धिराज,
वाराणसी
११.८.८४

स्वामी योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ
वाराणसी

सम्पादकीय

विगत प्रयाग-कुम्भ (जनवरी १९७७) के अवसर पर इस ग्रन्थ का प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ था। द्वितीय खण्ड का प्रकाशन अब हो पाया है। हमारे 'सरिता' प्रेस के पास छपाई का साधन (बड़ी मशीन) न होने के कारण विभिन्न मशीनों पर इसकी छपाई का कार्य होता रहा, यही कारण है कि छपाई में एकरूपता एवं अभीष्ट सौष्ठव न आ सका। पहले मशीनमैनों की लापरवाही से कुछ टाइप पूर्णतया उजागर न हो सका, स्याही कहीं कम और कहीं अधिक हो गई। मशीनमैन प्रायः दूसरे प्रेसों के फर्मे छापने में किसी प्रकार का दायित्व नहीं समझते और न उनके प्रबन्धक उधर ध्यान देते हैं—यह हमारे देश का दौर्भाग्य है।

प्रूफ-संशोधन कार्य तो लेखन से भी अधिक दुष्कर प्रतीत होता है। विषय वस्तु का अभिज्ञ व्यक्ति अपने अभ्यस्त विषय का संशोधन भी उतना अच्छा नहीं कर सकता, जितना कि दूसरा व्यक्ति। मुझे वैसा कोई संस्कृत का जानकार संशोधक न मिल सका, अतः कुछ अशुद्धियाँ भी रह गई हैं, उन्हें अन्त में दे दिया गया है।

अद्वैतसिद्धि की व्याख्या (गौड़ब्रह्मानन्दी लघुचन्द्रिका) का परीक्षोपयोगी अंश (अवच्छेदकता-निरुक्ति-पर्यन्त) प्रथम परिशिष्ट में हिन्दी व्याख्या के साथ दे दिया गया है। क्लिष्ट दार्शनिक शैली के ग्रंथों का किसी भाषा में अनुवाद या व्याख्यान करते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है कि मूल ग्रंथ का आशय प्रकट भी हो जाय और अनावश्यक विस्तार भी न होने पाए। मौलिक परिस्थितियों से आबद्ध होने के कारण उन्मुक्त पदावली का प्रयोग भी नहीं हो सकता, अवच्छेदक-अवच्छिन्न अनुयोगी-प्रतियोगी, वृत्तिव्याप्य-फलव्याप्यादि पारिभाषिक शब्दों के स्थान पर शब्दान्तर का प्रयोग भी सम्भव नहीं, अतः भाषा में अधिक सरलता-सरसता का लाना सुकर नहीं हो सकता।

माध्व मत के ग्रंथों की दुर्लभता के कारण न्यायामृतादि को विभिन्न प्रतियों या हस्तलेखों से मिलाया नहीं जा सका। अद्वैतसिद्धि का प्रामाणिक हस्तलेख मेरे पास था, अतः उससे पूर्णतया मिलान किया गया है, मुद्रित पूर्व प्रतियों में बहुत से अशुद्ध पाठ पाए गये हैं, यथास्थान उनका संशोधन कर दिया गया है। परिशिष्ट में अनुव्याख्यान देने का विचार था, न्यायामृतकार ने उसे अधिकाधिक उद्धृत किया है, किन्तु कुछ असुविधाओं के कारण वैसा नहीं किया जा सका।

कुछ महानुभावों ने सुझाव रखा था कि न्यायामृत के आलोच्य ग्रंथों के अंश परिशिष्ट में दिए जाएँ, किन्तु वह भी सम्भव नहीं हो पाया, क्योंकि श्री व्यासराज तीर्थ ने सप्तम शतक के माण्डूक्य-कारिका, अष्टम शतक के—शाङ्कर भाष्य, ब्रह्म-सिद्धि, पञ्चपादिका, सुरेश्वर-वार्तिक, नवम शतक के—संक्षेप शारीरिक, भामती, एकादश शतक के—इष्टसिद्धि पञ्चपादिका, विवरण, द्वादश शतक के—खण्डनखण्ड-खाद्य, न्यायमकरन्द, प्रमाणमाला, न्यायदीपावली, त्रयोदश शतक के—कल्पतरु, चित्सुखी, चतुर्दश शतक के—पञ्चदशी, पञ्चदश शतक के तत्त्वशुद्धि—आदि ग्रंथों का नाम ले-ले कर उनके मन्तव्यों की बिस्तृत समीक्षा की है। उनके समीक्ष्य स्थलों का निर्देश यथा स्थान कोष्ठक में दिया गया है, पृथक् परिशिष्ट में उनके देने की आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

प्रूफ-संशोधनादि में हमारे विद्यालय के प्रधानाचार्य पं० पुरुषोत्तम जी त्रिपाठी तथा विद्यालय के स्नातक स्वामी राधारमण ने पूरी सहायता की है और सरिता प्रेस के सभी कर्मचारियों ने पूर्ण सहयोग प्रदान किया है, अतः इन सभी का आभारी हूँ और इनको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

के० ३७/२ ठठेरी बाजार
वाराणसी

स्वामी योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ

द्वितीय संस्करण

"न्यायामृताद्वैतसिद्धी" ग्रन्थ के प्रथम भाग का प्रकाशन १९७७ ई० के आरम्भ में तथा द्वितीय संस्करण १९८४ ई० में निकल चुका है। इसी ग्रन्थ के द्वितीय भाग का प्रकाशन १९७७ ई० के अन्त में हुआ था। द्वितीय संस्करण फोटो आफसेट की पद्धति से अब १९८६ ई० में निकाला जा रहा है। इस पद्धति में विविध सुविधाओं के साथ एक बड़ी असुविधा क्रेताओं के लिए उपस्थित हो जाती है कि पुस्तक का मूल्य बढ़ जाता है। अच्छे रूप में पुस्तक सुलभ करने में इसकी अनिवार्यता से बचा नहीं जा सकता।

उदासीन संस्कृत विद्यालय
सी० के० ३६/१९
ढुण्ढिराज वाराणसी

स्वामी योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ
वाराणसी

परिचय

प्रस्तुत संकलन में वेदान्त के दो ग्रन्थरत्न संकलित हैं—(१) 'न्यायामृत' और (२) 'अद्वैतसिद्धि'। न्यायामृत का खण्डन अद्वैतसिद्धि है, अतः इससे पहले न्यायामृत का परिचय अपेक्षित है—

(१) न्यायामृत

(क) ग्रन्थ और उसकी शैली—

द्वैत के विशाल नीलाम्बर को चीरती हुई अद्वैत-ज्योति समुद्भासित होती है, अतः द्वैत और अद्वैत की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता सहज-सिद्ध एवं उनके प्रतिष्ठापक आचार्यों में प्रतिशोध की भावना का होना अनिवाय है। वीतराग तत्त्वज्ञ-वर्ग के भी चरण द्वैत-निराकरण की दिशा में अग्रसर होने के लिए विवश हो जाते हैं—"यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदम्पर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तम्, न तर्कशास्त्रवत् केवलाभिर्युक्तिभिः कंचित् सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्; तथापि वेदान्तवाक्यानि व्याचक्षाणैः सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानि" (ब्र० सू० शां० भा० २।२।१)। यह एक छोटा-सा प्रस्ताव प्रतिपक्ष के लिए गम्भीर चुनौती बन गया, इससे द्वैत-साम्राज्य के संरक्षक दल में खलबली मच जाती है, फलतः संसार के त्यागी-तपस्वी यतिराट् महारथी रण-प्राङ्गण में उतर आए किसी भौतिक सम्पदा की लिप्सा से नहीं, केवल अपने-अपने सिद्धान्तों का संरक्षण करने के लिए। उनका वह घनघोर वाग्युद्ध आज भी चालू है। आचार्य शङ्कर ने एक नई दिशा भी दिखाई, जिसकी ओर श्री मधुसूदन सरस्वती ने कल्पलतिका के आरम्भ में संकेत किया है—

मीमांसया कपटतो भुजगाम्बयेव स्वाधीनतामुपनिषद्विनतेव नीता।
येनोद्धृतामृतफलेन गरुत्मतेव, तस्मै नमो भगवतेऽद्भुतशङ्कराय ।।

महर्षि कश्यप की दो पत्नियाँ थीं—(१) कद्रू, (२) विनता। कद्रू ने अपने छलबल से विनता को अपनी दासी बना लिया। विनता का महान् पराक्रमी पुत्र गरुड़ देवगणों को परास्त कर स्वर्ग से अमृत लाया और अपनी माता को दासता से मुक्त किया। आचार्य शङ्कर ने भी पूर्व मीमांसा के चंगुल से उपनिषत् को मुक्ति दिलाई और मोक्षरूप अमृत की प्रधानता स्थापित की। आचार्य शंकर से पहले प्रायः उपनिषत्काण्ड को किसी-न-किसी रूप में कर्मकाण्ड के अधीन और उत्तर मीमांसा को पूर्वमीमांसा का एक अङ्ग माना जाता था, आचार्य शंकर ने उपनिषत्काण्ड एवं उत्तर मीमांसा को सर्वथा स्वतन्त्र घोषित किया, अत एव आचार्य भास्कर एवं उनके परवर्ती प्रायः सभी द्वैताचार्यों ने शाङ्कर मतवाद का प्रतिवाद किया। कालक्रम से विशिष्टाद्वैत के उपासक विशिष्ट विद्वान् श्री वेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक (सन् १२६९-१३६९) ने अपनी 'शतदूषणी' में शाङ्कर वेदान्त के ६४ वादों की पाण्डित्यपूर्ण परीक्षा (आलोचना) प्रस्तुत की। उसकी यत्र-तत्र विष्कलित प्रत्यालोचना होती रही, किन्तु म० म० अनन्तकृष्ण शास्त्री ने सन् १९५६ में शतदूषणी की आनुपूर्वी व्यवस्थित समीक्षा 'शतभूषणी' प्रकाशित की, शतभूषणी की आलोचना 'परमार्थभूषण' का प्रकाशन श्री उत्तमूर् वीरराघवाचार्य ने सन् १९५९ में और परमार्थभूषण के खण्डनात्मक 'अद्वैततत्त्वसुधा' ग्रन्थ का प्रकाशन म० म० श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री ने ही सन् १९६२ में कर दिया। 'शतदूषणी' ही न्यायामृत का प्रधान आदर्श एवं मार्ग-दर्शक है, अतः शतदूषणी की विषयावली को एक दृष्टि में लाना आवश्यक है—

श्रीवेङ्कटनाथार्यविरचित

शतदूषणी की विषयानुक्रमणिका

न्यायामृतकार श्री व्यासतीर्थ से पहले भी श्री जयतीर्थ (सन् १३६५–१३८८) ने अपनी वादावली में विशेषत: चित्सुखी (तत्त्वप्रदीपिका) की समीक्षा करते हुए ३४ विषयों पर संक्षिप्त विचार प्रदर्शित किए हैं—

१. अविद्यालक्षणनिरास:
२. अविद्याप्रमाणनिरास:
३ मिथ्यात्वनिरुक्तिनिरास:
४. दृश्यत्वविकल्पनिरास:
५. दृश्यत्वहेतुनिरास:
६. जडत्वहेतुनिरास:
७. परिच्छिन्नत्वहेतुनिरास:
८. मिथ्यात्वानुमानस्य प्रत्यक्षबाध:
९. मिथ्यात्वानुमानस्य श्रुतिबाध:
१०. मिथ्यात्वानुमानस्य स्मृतिविरोध:
११. मिथ्यात्वानुमानस्यानुमानविरोध:
१२. मिथ्यात्वानुमानस्य दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्
१३. मिथ्यात्वहेतूनां प्रतिकूलतर्कपराहति:
१४. अंशित्वानुमानस्य बाध:
१५. अंशित्वानुमाननिरास:
१६. मिथ्यात्वहेतूनामप्रयोजकत्वम्
१७. सत्यत्वहेतूनां प्रतिकूलतर्कोद्धार:
१८. "नेह नाना" इति श्रुत्यर्थविचार:
१९. "एकमेव" इति श्रुत्यर्थविचार:
२०. विश्वसत्यत्वप्रतिपादनोपसंहार:
२१. भेदबाधकयुक्तिनिरास:
२२. भेदमिथ्यात्वानुमाने असिद्धिदोष:
२३. भेदमिथ्यात्वानुमानस्य सोपाधिकत्वम्
२४. भेदस्य प्रत्यक्षग्राह्यत्वसमर्थनम्
२५. भेदस्य धर्मिस्वरूपत्वसमर्थनम्
२६. कालादे: साक्षिसिद्धत्वम्
२७. साक्षिसमर्थनम्
२८. प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वसमर्थनम्
२९. कालस्य साक्षिवेद्यत्वम्
३०. भेदप्रत्यक्षस्यान्योऽन्याश्रयाद्युद्धार:
३१. धर्मिप्रतियोगिभेदप्रत्ययानां यौगपद्यम्
३२. विशेषपदार्थसमर्थनम्
३३. भेदप्रत्यक्षस्याबाध्यत्वम्
३४. भेदमिथ्यानुमानस्य व्यभिचारादिदोषा:

ऊपर निर्दिष्ट शतदूषणी और वादावली आदि खण्डनात्मक ग्रन्थों की विषय वस्तु एवं तर्क-प्रणाली के उपजीवक न्यायामृत की शैली उनसे नितान्त पृथक् है। ब्रह्मसूत्र के

समन्वय, अविरोध, साधन और फल नाम के चार अध्यायों का क्रम अपनाकर श्री चित्सुखाचार्य ने अपनी चित्सुखी (तत्त्वप्रदीपिका) का निर्माण किया. न्यायामृत में वही शैली अपना कर अपने में चित्सुखी की प्रत्यक्षतः प्रतिपक्षता प्रदर्शित की है। अपने इस दायित्वपूर्ण अभिनय में न्यायामृत ने पूर्ण सफलता प्राप्त की। इसी के पद-चिह्नों पर चलकर इसके टीका-परिवार ने भी विपुल ख्याति अर्जित की है। न्यायामृत पर आठ टीकाएँ हुई हैं—

१. तरङ्गिणी
२. न्यायामृतसौगन्ध्य
३. न्यायामृतकण्टकोद्धार
४. न्यायामृतामोद
५. रसकूलङ्कषा
६. न्यायामृतप्रकाश
७. यादवेन्द्रीय
८. माथुरी

१. तरङ्गिणी– श्री व्यासराज के साक्षात् शिष्य श्री रामाचार्य (१६वीं शतक) ने अपनी 'न्यायामृततरङ्गिणी' नाम की व्याख्या में अद्वैतसिद्धि का आमूल-चूल संक्षिप्त खण्डन किया है। इनके विषय में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि जब 'अद्वैतसिद्धि' व्यासराज के हाथों में पहुँची, तब उनका शरीर अत्यन्त वार्धक्य से जर्जरित हो चुका था, अतः अपने प्रधान शिष्य श्री रामाचार्य को आदेश दिया कि वे छद्म वेश में श्री मधुसूदन सरस्वती से ही अद्वैतसिद्धि का पूर्ण अध्ययन करके खण्डन करें। श्री रामाचार्य ने वैसा ही किया। उनके अथक परिश्रम से न्यायामृत की अवरुद्ध धारा पुनः तरङ्गित हो उठी और अबाध गति से तब तक तरङ्गित रही, जब तक श्री गौड़ ब्रह्मानन्द (१७वीं शतक) ने अपनी अद्वैतसिद्धि की 'गुरुचन्द्रिका' और 'लघुचन्द्रिका' नाम की व्याख्याओं में तरङ्गिणी का पूर्णरूपेण खण्डन नहीं कर दिया।

२. **न्यायामृतसौगन्ध्य**—श्री वनमालि मिश्र (१७वीं शतक) ने अपने इस सौगन्ध्य व्याख्यान में चन्द्रिका की आलोचना की है। चन्द्रिका के व्याख्याता श्री विट्ठलेश उपाध्याय ने अपनी विट्ठलेशी में सौगन्ध्य की प्रत्यालोचना कर डाली है। म. म. अनन्तकृष्णशास्त्री ने भी सौगन्ध्यविमर्श में विशेषरूप से सौगन्ध्य का निराकरण किया है।

३. **न्यायामृतकण्टकोद्धार**—श्री विजयीन्द्रस्वामी (१६वीं शतक) ने अपने इस कण्टकोद्धार में अद्वैतसिद्धिरूप कण्टकावली के उद्धार कार्य से ही तरङ्गिणीरूपी पुष्पवाटिका भी उजाड़ डाली है।

४. न्यायामृतामोद—विजयीन्द्रस्वामी कण्टकोद्धार के रचयिता नहीं, अपि तु न्यायामृतामोद के प्रणेता हैं—ऐसा भी कहा जाता है। विजयीन्द्रस्वामी भी व्यासतीर्थ के साक्षात् शिष्य थे, अत एव व्यासतीर्थ, अप्पय दीक्षित, नृसिंहाश्रम, मधुसूदन सरस्वती, सिद्धिव्याख्याकार बलभद्र, रामाचार्य और विजयीन्द्रस्वामी लगभग समसामयिक माने जाते हैं। विजयीन्द्रस्वामी भी प्रसिद्ध ग्रन्थकार हैं, इन्होंने १०४ ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें अप्पयदीक्षित के उपक्रमपराक्रम का खण्डन 'उपसंहारविजय' तथा मधुसूदन सरस्वती की गीता-गूढ़ार्थदीपिका का खण्डन 'युक्तिमल्लिका' महत्त्वशाली हैं।

कतिपय विद्वानों का कहना है कि युक्तिमल्लिका के प्रणेता वादीन्द्र विजयीन्द्र से भिन्न व्यक्ति थे।

५. रसकूलङ्कषा—इस टीका के रचयिता का नाम कुण्डलगिरि सूरी कहा जाता है।

६. न्यायामृतप्रकाश—यह श्रीनिवासाचार्य की कृति है। निर्णयसागर, बम्बई से १९०८ ई० में प्रकाशित हुई है। मूलग्रंथोपयोगी अच्छी व्याख्या है।

७. यादवेन्द्रीय—इसे यादवेन्द्राचार्य ने बनाया था।

८. माधुरी—यह व्याख्या श्रीमन्नारुकृष्णाचार्य की रचना मानी जाती है।

(ख) ग्रन्थकार— द्वैतदर्शन के संस्थापक आनन्द तीर्थ पूर्णप्रज्ञ नाम से प्रसिद्ध श्रीमध्वाचार्य ही हैं। सन् ११९८ से १२७५ या १३०३ ई० तक इनका समय माना जाता है। प्रस्थानत्रयी (उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर इनके भाष्य हैं। अकेले ब्रह्मसूत्र पर तीन ग्रन्थ हैं—(१) भाष्य (२) अनुव्याख्यान और (३) अणुभाष्य— इसके चारों अध्यायों में क्रमशः ८, ८, ७ और ९ श्लोक कुल मिला कर ३२ श्लोक हैं। अनुव्याख्यान भी पद्यात्मक ही है और एक महत्त्वपूर्ण कृति माना जाता है। न्यायामृतकार ने स्थान-स्थान पर इसे उद्धृत किया है। इनसे अतिरिक्त श्रीमध्वाचार्य ने महाभारततात्पर्य-निर्णय, गीतातात्पर्यनिर्णय, तन्त्रसारसंग्रह, 'भागवततात्पर्यनिर्णय' आदि ग्रंथ लिखे हैं, 'ऋग्वेद-भाष्य' भी लिखा है, जिसमें 'अग्नि'—आदि शब्दों को परमेश्वरपरक माना गया है—

"यथैवाग्नयादयः शब्दाः प्रवर्तन्ते जनार्दने।
तथा निरुक्तिं वक्ष्यामो ज्ञानिनां ज्ञानसिद्धये॥"

(ऋग्वेद भाष्य० पृ० १)

सम्भवतः इसी माध्वभाष्य ने स्वामी दयानन्दसरस्वती जैसे ज्ञानी पुरुषों को वह ज्ञान प्रदान किया, जिसके आधार पर उन्होंने अपना वेद-भाष्य बनाया है।

श्रीमध्वाचार्य के शिष्य श्रीअक्षोभ्य तीर्थ और अक्षोभ्य तीर्थ के शिष्य श्रीजयतीर्थ थे। जयतीर्थ का समय १३८८ ई० माना जाता है। जयतीर्थ ने ही माध्व-भाष्यों पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ रच कर 'टीकाचार्य' की पदवी प्राप्त की थी। इनके दो पद्यात्मक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं— (१) ब्रह्मसूत्र-अनुव्याख्यान की व्याख्या 'न्यायसुधा' और दूसरा चित्सुखी का खण्डनात्मक मौलिक ग्रन्थ—वादावली। श्रीव्यासतीर्थ ने इनके वैदुष्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है—

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक्॥ (न्यायामृत० पृ० १)

प्रस्तुत न्यायामृत के आविष्कर्त्ता श्रीव्यासराय या व्यासराजतीर्थ भी चर्चित माध्व विद्वन्मण्डली के एक चमकीले रत्न हैं। इनका समय १४४७–१५३९ ई० माना जाता है। विजयानगर के महाराज कृष्णदेवराय की इन पर विशेष श्रद्धा थी। श्रीव्यासतीर्थ ने ही मैसूर में श्री 'व्यासार्य' नाम के मठ की स्थापना की थी, जहाँ आज भी उनके उत्तराधिकारियों की परम्परा चली आ रही है। श्रीव्यासतीर्थ ने ब्रह्मण्य-तीर्थ को अपना दीक्षा गुरु और लक्ष्मीनारायणमुनि को विद्यागुरु माना है—

ज्ञानवैराग्यभक्त्यादिकल्याणगुणशालिनः।
लक्ष्मीनारायणमुनीन् वन्दे विद्यागुरून् मम॥ (न्यायामृत० पृ० २)

श्री व्यासराज तीर्थ-द्वारा विरचित ग्रन्थ हैं—

१. न्यायामृत (इसकी परिचर्चा ऊपर आ चुकी है) ।
२. तर्कताण्डव (न्यायमत-समालोचन)
३. तात्पर्यचन्द्रिका (जयतीर्थकृत तत्त्वप्रकाशिका की व्याख्या)
४. भेदोज्जीवन (पञ्चविध भेदों का समर्थन)
५. मन्दारमञ्जरी (तत्त्वविवेक-टीका)
६. मायावादखण्डनटीका

श्रीव्यासतीर्थ न्यायामृत में कहीं-कहीं माध्वमतानुसार प्रमेय तत्त्व की स्थापना कर जाते हैं, अतः माध्वाभिमत प्रमेयांश का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। वायु देव इस मत का मूल प्रवर्तक है, वायु के क्रमशः तीन अवतार हुए हैं—(१) हनुमान्, (२) भीम और (३) मध्वाचार्य । उसी क्रम से उपदेश की परम्परा मानी जाती है। यद्यपि वैशेषिकों की शैली पर ही इनके प्रमेय-वर्ग का विश्लेषण किया गया है, तथापि प्रत्येक पदार्थ में इनकी अपनी विशेषता निहित होती है—

पदार्थ—समूचा विश्व पारमार्थिक वस्तु सत् है और वह दस मौलिक पदार्थों में विभक्त है—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) विशिष्ट, (७) अंशी, (८) शक्ति, (९) सादृश्य और (१०) अभाव ।

(१) **द्रव्य**—सभी द्रव्य पदार्थों की संख्या बीस होती है—१-परमात्मा (ब्रह्म), २—लक्ष्मी, ३—जीव, ४—अव्याकृत आकाश, ५—प्रकृति, ६—गुण सत्त्व, रज, (तम), ७—महत्तत्त्व, ८—अहङ्कार, ९—बुद्धि, १०—मन, ११—इन्द्रिय, १२—मात्रा, १३—भूत, १४—ब्रह्माण्ड, १५—अविद्या, १६—वर्ण, १७—अन्धकार, १८—वासना, १९—काल और २०—प्रतिबिम्ब ।

(२) **गुण**—वैशेषिक-सम्मत रूपादि गुणों से अतिरिक्त शम, दम, दया, तितिक्षा, सौन्दर्यादि गुण भी माने जाते हैं।

(३) **कर्म**—विहित, निषिद्ध और उदासीन भेद से कर्म तीन प्रकार का होता है। उत्क्षेपणादि परिस्पन्दनात्मक क्रियाओं को उदासीन कर्म कहा जाता है।

(४) **सामान्य**—जाति और उपाधि के भेद से सामान्य द्विविध होता है।

(५) **विशेष**—वैशेषिकों के समान ही भेद-निर्वाहक पदार्थ को विशेष कहा है उसके न होने पर समस्त विश्व एक पिण्डात्मक लोथड़ा-सा बन कर रह जायगा।

(६) **विशिष्ट**—विशेषण और विशेष्य से अतिरिक्त विशिष्ट पदार्थ होता है।

(७) **अंशी**—शरीर, घट, पटादि अवयवी पदार्थों को अंशी कहते हैं।

(८) **शक्ति**—शक्ति चार प्रकार की होती है, अचिन्त्य शक्ति, आधेय शक्ति, सहज शक्ति और शब्द-शक्ति । परमात्मा की अद्भुत शक्ति अचिन्त्य शक्ति है। लक्ष्मी और वायु आदि में भी अचिन्त्य शक्ति है, किन्तु परमात्मा की शक्ति से कुछ न्यून। प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा के द्वारा आहित शक्ति आधेय शक्ति, अग्न्यादि में दाहादि की शक्ति सहज शक्ति तथा शब्दगत बोध-जनिका शक्ति शब्द-शक्ति कही जाती है।

(९) **सादृश्य**—मीमांसक-सम्मत सादृश्य के समान ही सादृश्य को पृथक पदार्थ माना जाता है।

(१०) **अभाव**—तार्किकादि-चर्चित अभाव के समान ही अभाव अनेक प्रकार का होता है।

परमात्मा विभु और जीव अणु माना जाता है। मुक्त जीव में भी आनन्द

का तारतम्य बना रहता है—श्रीआनन्दतीर्थ भगवत्पाद ने ही अपने अणुभाष्य में कहा है—

सर्वदेशेषु कालेषु स एकः परमेश्वरः।
तद्भक्तितारतम्येन तारतम्यं विमुक्तिगम् ॥ (अणु० ४।३)

उन्होंने ही अपने गीता-भाष्य में भी कहा है—

मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्देहे संश्रिता अपि।
तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः ॥

(१) कर्म-क्षय, (२) उत्क्रान्ति, (३) अर्चिरादि-गति और (४) भोग नाम से मुक्ति के चार खण्ड माने गये हैं। भोग भी चार प्रकार का होता है—(१) सालोक्य, (२) सामीप्य, (३) सारूप्य और (४) सायुज्य

न्यायामृतकार की कुछ कटु उक्तियाँ—

१. न्यायामृत पृ० ४९ पर प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधक 'दृश्यत्व' हेतु का खण्डन करते हुए अद्वैतवेदान्त पर यह आरोप लगाया है कि "दृश्यत्वहेतूक्तिरपि—'स्तम्भादिप्रत्ययो मिथ्या, प्रत्ययत्वात् तथा हि यः प्रत्ययः स मृषा दृष्टः स्वप्नादिप्रत्ययो यथा ॥' (श्लो० वा० पृ० १२२) इति बौद्धोक्तयुक्तिचर्च्छादिमात्रम्।" अर्थात् अद्वैतवेदान्तियों का सर्वमिथ्यात्व-साधन बौद्धों का थूक चाटना है, क्योंकि बुद्ध ने सर्वमिथ्यात्व पहले ही घोषित कर रखा है। इसी प्रकार के आरोप पूर्ववर्ती शतदूषणीकारादि ने भी किए हैं।

यद्यपि उन आरोपों का निराकरण भी पूर्वाचार्यों ने कर दिया है, जैसा कि विवरणकार कहते हैं—"यत्किञ्चित्साम्यादपसिद्धान्ते सर्वसिद्धान्तसंकरः स्यात्। अस्ति चात्र महान् सिद्धान्तभेदः—क्षणिकविज्ञानाद् भेदेनार्थक्रियासामर्थ्यसत्त्वशून्यं विषय-माहुर्विज्ञानवेदिना, तत्त्वदर्शिनस्तु अद्वितीयात् संवेदनादभेदेऽपि विषयस्य भेदेनापि अर्थक्रियासामर्थ्यसत्त्वं स्थायित्वं चाबाधितमस्तीति वदन्ति, तत्र कथं सिद्धान्तसंकरः ?" (विवरण० पृ० ३१७)। श्रीप्रकाशात्मयति से भी बहुत पहले संक्षेपशारीरककार ने आक्षेप और समाधान सभी कुछ कहा है—

शाक्यभिक्षुसमयेन समः,
प्रतिभात्ययं भगवत्समयः।
यदि बाह्यवस्तु वितथं नु कथं
समयाविमौ न सदृशौ भवतः ॥
यदि बोध एव परमार्थवस्तु
न तु बोध्यमित्यभिमतं भवति।
ननु चाश्रितं भवति बुद्धमुनेः
मतमेव कृत्स्नमिह मस्करिभिः ॥
ननु मातृमानविषयावगतीः
अपरस्परं प्रति विभागवतीः।
उपयन् भदन्तमुनिना सदृशः
कथमेष वैदिकमुनिर्भवति ॥ (सं० शा० पृ० ३१५)

अर्थात् किसी एक अंश की समानतामात्र के आधार पर दार्शनिक सिद्धान्तों का एकी-करण सम्भव नहीं। विज्ञानवाद की पूर्ण समता अद्वैत वेदान्त में नहीं, क्योंकि विज्ञान-वादी बाह्य पदार्थों को सर्वथा निस्तत्त्व और असत् मानते हैं; किन्तु अद्वैत वेदान्त में

व्यावहारिक सत्ता और अर्थक्रियाकारिता बाह्य प्रपञ्च में अभीष्ट है, स्वाप्नप्रपञ्च प्रातिभासिकमात्र है, उससे व्यावहारिक जगत् का महान् अन्तर है।

तथापि आक्षेपवादी उससे सन्तुष्ट नहीं और अपने पूर्वजों के आरोप दुहराते जा रहे हैं।

२. न्यायामृत पृ० २९५ पर कहा गया है—"केचिन्मायिभिक्षवः...आत्मख्यातिवादिभिरुक्तं ग्राह्यलक्षणाभावाख्यं तर्कं भिक्षित्वाहुः।" न्यायामृतकार से पहले शतदूषणीकार कह चुके हैं—"आत्मख्यातिवादिभिराजितं ग्राह्यलक्षणायोगरूपं तर्कं भिक्षित्वा दृग्दृश्ययोः सम्बन्धानुपपत्तिरिति नामान्तरेण पठन्ति" (शतदूषणी पृ० ८८)। उसी आक्षेप में न्यायामृतकार ने कुछ पदों का हेर-फेर मात्र कर दिया है। बौद्ध भिक्षु मायावादी नहीं, शाङ्कर भिक्षु ही मायी हैं।

३. न्यायामृत पृ० ४५८ पर कहा गया है—"बौद्धाभिमतक्षणिकत्वासिद्ध्यर्थमुक्तं विश्वस्य दृष्टिसृष्टिः"। दृष्टिसृष्टिवाद बौद्धाभिमत क्षणिकत्व-प्रक्रिया का उपोद्बलक होने के कारण दार्शनिक जगत् पर बौद्ध-वर्चस्व का बढ़ा रहा है।

४. न्यायामृत पृ० १००८ पर कहा है—"नाप्यौपनिषदमन्यस्यापि तवैव वितण्डेति नियमः, त्वदिच्छाननुसारित्वात् प्राश्निकानाम्"।

पौराणिक प्रच्छन्नबौद्धवादिता का कलङ्क अद्वैत वेदान्त पर मढ़ने से अतिरिक्त अद्वैत सिद्धान्तों के विपरीत प्रतिवन्दियाँ भी न्यायामृत में देखी जाती हैं, जैसे पृ० १०३६ पर कहा है कि "सापेक्षत्वात् सावधेश्च तत्त्वेऽद्वैतप्रसङ्गतः। नैकाभावादसन्देहान्न रूपं वस्तुनो भिदा॥" (चित्सु० पृ० २८५) का वास्तविक पाठ ऐसा है—

> सापेक्षत्वात् सावधेश्च तत्त्वे द्वैतप्रसङ्गतः।
> नैकाभावादसन्देहान्न रूपं वस्तुनोऽभिदा॥

आगे चलकर हम देखेंगे कि श्री मधुसूदन सरस्वती इस क्षेत्र में भी न्यायामृतकार से पीछे नहीं रहे, किन्तु कटूक्तियों के स्थान पर मृदूक्तियों का प्रयोग किया है।

न्यायामृतकार के आलोच्य अद्वैताचार्य—

चित्सुखाचार्य से अतिरिक्त श्री पद्मपादाचार्य, वार्तिककार, संक्षेपशारीरककार, विवरणकारादि के मतवादों की विशेष आलोचना भी न्यायामृतकार ने की है—यह देखने एवं श्री व्यासराज तीर्थ के व्यापक वैदुष्य की झलक पाने के लिए न्यायामृत में उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकारों की सूची प्रस्तुत की जाती है—

अनुव्याख्यान	३२, १२५६
आनन्दबोध	९, १३, २७१, ८१७
इष्टसिद्धि	३६४
उदयनाचार्य	१८३
कल्पतरु	८५०
कुसुमाञ्जलि	७१५
कूर्मपुराण	४४७
कैयट	४३३, ४३८, ९४८
कौमुदी (तत्त्वकौमुदी)	३७२, ४४६, १२३६
खण्डनखण्डखाद्य	१५६, १८२, २८४, २८६, २९३
	४१८, ४२१, ४२३, ४३१

(२) अद्वैतसिद्धि

(क) **ग्रन्थ और प्रतिपादन-शैली**---'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ का विशेष परिचय देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि यह कोई स्वतन्त्र मूल ग्रन्थ नहीं, अपितु व्यासराजतीर्थ के द्वारा विरचित न्यायामृत ग्रन्थ का आमूलचूल आनुपूर्वी खण्डन ग्रन्थ है, किन्तु इसकी प्रतिपादन-शैली ऐसी सुसज्जित और सुदृढ़ है कि जिस व्यक्ति का द्वैताद्वैत-सम्प्रदाय से सम्पर्क नहीं और जो न्यायामृत को नहीं देख पाया है, वह व्यक्ति कदापि यह आँक नहीं सकता कि 'अद्वैतसिद्धि' एक स्वतन्त्र मूल ग्रन्थ नहीं। श्रीगौड़ ब्रह्मानन्द अवश्य ही कहीं-कहीं दूष्य (न्यायामृत) ग्रन्थ का परोक्षतः निर्देश कर जाते हैं, किन्तु मूल ग्रन्थ मे कहीं भी उसकी झलक नहीं मिलती, या तो 'यत्तु' 'केचित्तु' आदि सामान्यरूप से उसे इङ्गित किया गया है या ऐसे सघन आवरण में उस पर मृदु व्यङ्ग्य कसा गया है कि वास्तविकता तक पहुँच पाना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। उससे भी आश्चर्य यह देख कर होता है कि कोई भी टीकाकार इस तथ्य को प्रकाश में नहीं लाना चाहता। क्या इससे अद्वैतसिद्धि की महनीयता और उपादेयता में कमी आती थी ? कदापि नहीं, अद्वैतदर्शन के विस्तृत परिवार में ऐसा प्रमेयबहुल, परिष्कृत एवं सुदृढ़ प्रक्रिया का अन्य कोई ग्रन्थ ही नहीं, जो इससे टक्कर ले सके। द्वैताद्वैत सिद्धान्त का वस्तुतः यह महाभारत है।

इसकी प्रतिपादन-शैली नितान्त विमल और प्राञ्जल है। भाषा में कहीं भी सभ्यता और वाद की मर्यादाओं का उल्लङ्घन नहीं पाया जाता, न्यायामृत-जैसी कटूक्तियाँ इसमें नहीं, कैसी स्नेहिल पदावली है—

> तस्मादेवं विशेषोऽयं न मानविषयः सखे।
> विवादं जहि मत्सिद्धाविद्यया सर्वसंगतिः ॥ (पृ० १०६७)

प्रश्न में भी किसी प्रकार का उद्वेजकत्व नहीं पाया जाता—

> एवं प्रत्यक्षतः प्राप्तभेदस्यैव निवारणात्।
> असाक्षात्कृतजीवेशभेदादौ का कथा तव ॥ (पृ० १०१८)

अपना पक्ष सबल होने पर भी लम्बे युद्ध में धैर्य अपेक्षित है—

> हेतवोऽभीष्टसिद्ध्यर्थं सम्यञ्चो बहवश्च नः।
> अल्पाः परस्य दुष्टाश्चेत्यत्र स्पष्टमुदीरितम् ॥
> अभीष्टसिद्धावनुकूलतर्कबलाबलं चात्र समीक्ष्य यत्नात्।
> प्रवक्ष्यते दोषगणः परेषां न खेदनीयं तु मनोऽधुनैव ॥ (पृ० २३०)

मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार किया है कि न्यायामृतकार ने प्रमाणों और तर्कों का एक विशाल भण्डार प्रस्तुत किया है, उसमें मेरा कोई विशेष योगदान नहीं मेरी विशेषता उनकी सञ्चालन प्रक्रिया में बुद्धि-कौशल से काम लेना मात्र है—

स्थितानि ग्रन्थेषु प्रकटमुपदिष्टानि गुरुभिः
गुणो वा दोषो वा न मम परवाक्यानि वदतः।
परं त्वस्मिन्नस्ति श्रमफलमिदं यन्निजधिया,
श्रुतीनां युक्तीनामकलि गुरुवाचां च विषयः॥ (पृ० १२२०)

ब्रह्म निर्गुण है, निराकार है, किन्तु निरानन्द और नीरस नहीं, इस रहस्य का उद्घाटन पृ० ९२३ पर किया है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

श्रीव्यासराजतीर्थ ने पूर्वजों की उक्ति उद्धृत की है—

एतादृशस्य वक्तारावुभौ जात्युत्तरकारकौ।
मायी माध्यमिकश्चैव तावुपेक्ष्यौ बुभूषुभिः॥

उस उद्वेजक उक्ति की प्रत्युक्ति अत्यन्त शीतल है—

अस्वव्याघातकैरेव जातिभिन्नैः सदुत्तरैः।
निरस्तं भेदमादाय स्वात्माभेदो निषीदति॥ (पृ० १०५५)

(ख) ग्रन्थकार—'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ के रचयिता हैं—लोकोत्तर शेमुषी-सम्पन्न महान् विद्वान् श्रीमधुसूदन सरस्वती। प्रायः सभी ऐतिहासिक मनीषी यह स्वीकार करते हैं कि श्रीमधुसूदन सरस्वती बंगाली थे। फरीदपुर मण्डलान्तर्गत कोटालीपाड़ा परगना में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता श्रीप्रमोदन पुरन्दर एक विद्वान् तपस्वी ब्राह्मण थे, उनकी चार सन्तानें थीं—

प्रमोदन पुरन्दराचार्य

श्रीनाथचूड़ामणि	यादवानन्द न्यायाचार्य	कमलजनयन	वागीश गोस्वामी

श्री पुरन्दराचार्य के तृतीय पुत्र श्री कमलजनयन नवद्वीप में ही उस समय के प्रसिद्ध न्यायाचार्य श्री मथुरानाथ तर्कवागीश से न्याय पढ़कर वाराणसी आ गये और दण्डी स्वामी श्री विश्वेश्वरसरस्वती से वेदान्त का अध्ययन करते-करते उनसे सन्यास दीक्षा ले ली। तब से आप आजीवन श्री मधुसूदन सरस्वती के रूप में विद्वन्मण्डली के अग्रगण्य और अद्वैतवाद के दृढ़ स्तम्भ बने रहे। श्री मधुसूदन सरस्वती का विस्तृत जीवन रसधारा (भक्तिरसायन-व्याख्या) की भूमिका में दिया गया है, यहाँ उनके समय की द्वैताद्वैतसम्बन्धी विचार-पद्धति का दिग्दर्शन मात्र अपेक्षित है।

इनका समय सन् १५४०—१६४७ माना जाता है। रामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास आपके समसामयिक ही नहीं घनिष्ट मित्रों में थे। सुना जाता है कि रामायण के हिन्दी रूपान्तर पर संस्कृत के विद्वानों ने घोर आपत्ति उठाई थी, उस समय गोस्वामी तुलसीदास ने श्री मधुसूदन सरस्वती को लिखा था—

हरिहर-यश सुरनर-गिरा बरणहि सन्त सुजान।
हाँडी हाटक चारु रुचि राँधे स्वाद समान॥

अर्थात् जैसे सोने और मिट्टी की हाँडी में पकाए गए भात का स्वाद समान होता है, वैसे ही हरि (भगवान् राम) और हर (भगवान् शङ्कर) का यश (गुण-गान) चाहे सुर-गिरा (संस्कृत) में कहा जाय, चाहे नर-गिरा (क्षेत्रीय भाषाओं) में, उसके प्रभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने तुलसीदास की प्रशंसा में कहा था—

परमानन्दपत्रोऽयं जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कविनामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता ॥

अर्थात् तुलसीदास एक ऐसे चलते फिरते तुलसी के तरुवर हैं, जिनकी कवितारूपी मञ्जरी रामरूपी भ्रमर से सुशोभित है।

आईने अकबरी में उस समय के प्रसिद्ध विद्वानों मौलवियों फकीरों और साधुओं के नाम दिये गए हैं, श्री मधुसूदन सरस्वती का भी विद्वन्मण्डली के साथ नाम अङ्कित है. अकबर का राज्य काल सन् १५५६ से सन १६०७ तक माना जाता है और अबुलफज्ल १५९८ ई० में आईने अकबरी लिख चुके थे, अत: सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सरस्वती जी अवश्य ही वाराणसी को सुशोभित कर रहे होंगे। यह किंवदन्ती भी तथ्यपूर्ण प्रतीत होती है कि सरस्वती जी का अकबर के अर्थ-सचिव श्री टोडरमल से प्रेम था, अकबरी दरबार में इन्हें आमन्त्रित किया गया था और वहाँ आयोजित एक विशाल विद्वत्सभा के सभापति पद पर श्री मधुसूदन सरस्वती को समासीन किया गया था. आपके वैदुष्य से प्रभावित होकर अकबर एवं समूची विद्वत्सभा ने एकमत से यह स्वीकार किया था कि—

वेत्ति पारं सरस्वत्या मधुसूदनसरस्वती।
मधसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती ॥

पन्द्रहवीं शतक में श्री शङ्कर मिश्र के द्वारा विरचित 'भेदरत्न' का खण्डन ग्रन्थ श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतरत्नरक्षण' के नाम से बनाया, इसलिए भी श्री मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शताब्दी ही स्थिर होता है। भेदरत्न का निराकरण भी न्यायामृत के समान ही नितान्त मर्मस्पर्शी एवं जैसे-का-तैसा है। भेदरत्न के आरम्भ में अद्वैत वेदान्तियों को चोर बनाया गया है—

भेदरत्नपरित्राणे तार्किका एव यामिकाः।
अतो वेदान्तिनः स्तेयान् निरस्यत्येष शङ्करः ॥

अत: अद्वैतरत्नरक्षण के आरम्भ में नैयायिकों को चोर बनाना आवश्यक था—

अद्वैतरत्नरक्षायां तात्त्विका एव यामिकाः।
अतो न्यायविदः स्तेयान् निरस्यामः स्वयुक्तिभिः ॥

शिष्य-मण्डली—यों तो श्री मधुसूदन सरस्वती के अनेक शिष्य थे, किन्तु उनमें तीन प्रसिद्ध ग्रंथकार हैं—(१) श्री बलभद्र भट्टाचार्य, (२) शेषगोविन्द तथा (३) पुरुषोत्तम सरस्वती।

(१) **बलभद्र भट्टाचार्य**—स्वयं श्री मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तबिन्दु के अन्त में कहा है—"बलभद्रकृते कृतो निबन्धः"। इसकी व्याख्या में गौड़ ब्रह्मानन्द ने स्पष्टीकरण किया है—'बलभद्रस्य आचार्याणां सेवकब्रह्मचारिणः"। इन्हीं बलभद्र भट्टाचार्य ने अद्वैतसिद्धि की 'सिद्धिव्याख्या' बनाई है, जिसके द्वारा सरल भाषा में ग्रन्थ का हृदय प्रकट करते हुए तरङ्गिणी की आलोचना भी प्रस्तुत की गई है।

(२) श्रीशेषगोविन्द—इन्होंने भगवान् शङ्कराचार्य के 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' नाम के ग्रन्थ पर टीका लिखी है जिसमें आपने अपने गुरुवर श्री मधुसूदन सरस्वती पर अत्यन्त श्रद्धा प्रकट की है।

(३) श्री पुरुषोत्तम सरस्वती—श्री मधुसूदन सरस्वती के 'सिद्धान्तविन्दु' ग्रन्थ पर इनकी व्याख्या प्रकाशित है। व्याख्या के अन्त में कहा है।

श्रीधरं श्रीगुरुं नत्वा नौमि श्रीपादमादरात्।
विद्यागुरुं गुरुमिव सुराणां मधुसूदनम्॥

ग्रन्थ-सम्पत्ति—श्री मधुसूदन सरस्वती की रचनाएँ उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का साक्ष्य प्रस्तुत कर रही हैं। यद्यपि उनके नाम से अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, तथापि उनमें सत्तरह ग्रन्थ ऐसे हैं, जो निःसन्देहरूप से उनकी रचनाएँ माने जाते हैं—

(१) महिम्नस्तोत्र-व्याख्या—महिम्नस्तोत्र का पूरा नाम 'शिवमहिम्नस्तोत्र' है। पुराणों में बहुचर्चित आचार्य पुष्पदन्त ने इसमें भगवान् शङ्कर की पौराणिक कथानकों के आधार पर सुन्दर स्तुति प्रस्तुत की है। इस स्तोत्र की व्याख्या श्री मधुसूदन सरस्वती ने की है, जिसको महती विशेषता यह है कि महिम्नस्तोत्र को शिव और विष्णु—दोनों की स्तुति में विनियुक्त किया गया है, जैसा कि स्वयं सरस्वती जी ने व्याख्या के अन्त में कहा है—

हरिशङ्करयोरभेदबोधो भवतु क्षुद्रधियामपीति यत्नात्।
उभयार्थतया मयेदमुक्तं सुधियः साधुतया शोधयन्तु॥

(२) वेदान्तकल्पलतिका—यह ग्रंथ सिद्धान्तविन्दु, महिम्नस्तोत्र-व्याख्या, अद्वैतसिद्धि और अद्वैतरत्नरक्षण में उद्धृत है, इसमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक, साङ्ख्य, भास्कर, पाशुपतादि बीस मतवादों का निराकरण कर औपनिषद मतानुसार मोक्ष तत्त्व का निरूपण किया गया है, स्वयं सरस्वती जी कहते हैं—

मुमुक्षूणामनुष्ठेयविक्षेपविनिवृत्तये।
मोक्षं ससाधनं वच्मि परपक्षनिरासतः॥

(३) सिद्धान्तविन्दु—आचार्य शङ्कर के दशश्लोकी वेदान्त ग्रंथ की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या का नाम सिद्धान्तविन्दु है। पठन-पाठन-परम्परा में यह छोटी सिद्धि (अद्वैतसिद्धि) के नाम से प्रसिद्ध है। इसी से इसका महत्त्व कूता जा सकता है। वेदान्तकल्पलतिका, गीता-व्याख्या और अद्वैतसिद्धि में इसका उल्लेख किया गया है।

(४) अद्वैतसिद्धि—ब्रह्मसिद्धि, नैष्कर्म्यसिद्धि और इष्टसिद्धि की पंक्ति में सुशोभित होने वाला प्रस्तुत ग्रंथरत्न है। यह अद्वैतरत्नरक्षण तथा गीता-व्याख्या में उद्धृत है।

(५) गूढार्थदीपिका—भगवद्गीता की प्रतिपद (प्रत्येक पद की) व्याख्या है, जैसा कि स्वयं सरस्वती जी की प्रतिज्ञा है—"प्रायः प्रतिपदं कुर्वे गीतागूढार्थदीपिकाम्।" यदि इसे प्रत्यक्षर-व्याख्या कह दिया जाय, तब भी अत्युक्ति न होगी, क्योंकि 'च', 'वा' आदि प्रत्येक अक्षर की मनोरम व्याख्या की गई है।

(६) भक्तिरसायन—यह गूढार्थदीपिका में उद्धृत है—भगवद्भक्तिरसायनेऽस्माभिः सविशेषं प्रपञ्चिताः" (गी० ७।१६)। इससे यह भी ज्ञात होता है कि इस ग्रंथ का पूरा नाम 'भगवद्भक्तिरसायन' है और उसका संक्षिप्त नाम 'भक्तिरसायन' है, जैसा कि स्वयं ग्रन्थ के आरम्भ में कहा है—"निपीयतां भक्तिरसायनं बुधाः।" वेदान्त-

कल्पलतिका' में भी यह उद्‌धृत है। इस पद्यात्मक ग्रंथ में सब तीन उल्लास हैं—प्रथम में भक्तिसामान्य, द्वितीय में भक्तिविशेष और तृतीय में भक्तिरस का प्रतिपादन किया गय है।

(७) **अद्वैतरत्नरक्षण**—इसमें श्री शङ्कर मिश्र के 'भेदरत्न' का खण्डन किया गया है। आरम्भ में प्रतिज्ञा भी की गई है—

निर्जित्य प्रतिपक्षान् द्वैतधियो दुष्टतार्किकंमन्यान्।
अद्वैततत्त्वरत्नं रक्षितुमयमुद्यमः क्षमः स्यान्नः ॥

इसके अध्ययन से प्रतीत होता है कि श्री मधुसूदन सरस्वती ने वृद्ध शंकर मिश्र को देखा था, जैसा कि उनके सम्बोधन वाक्य हैं—'वृद्धोक्ष ! शैलसारहृदयोऽसि', 'अरे ! नूनमूषरात्मासि', 'शृणु वत्स !'

(८) **सारसंग्रह**—श्री सर्वज्ञात्ममुनि-द्वारा प्रणीत पद्यात्मक 'संक्षेपशारीरक' ग्रन्थ की सुगम व्याख्या है। कुछ विद्वानों का कहना है कि सम्भवतः यह सरस्वती जी की प्रथम रचना है।

(९) **वेदस्तुतिटीका**—श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत वेदस्तुति की महत्त्वपूर्ण व्याख्या है।

(१०) **हरिलीलाविवेक** श्री वोपदेव-द्वारा प्रणीत हरिलीलामृत की व्याख्या है।

(११) **परमहंसप्रिया**—श्रीमद्भागवत के आरम्भिक तीन श्लोकों की सुन्दर व्याख्या है। हरिलीलामृत की व्याख्या में इसे उद्‌धृत किया है।

(१२) **कृष्णकुतूहलनाटक**—भगवान् कृष्ण की लीलाओं पर आधृत नाटक ग्रन्थ है।

(१३) **आत्मबोधटीका**—आचार्य के आत्मबोध ग्रन्थ की व्याख्या है।

(१४) **ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश**—वेदान्त-सम्मत ईश्वर तत्त्व का प्रतिपादक ग्रन्थ है।

इन ग्रन्थों से अतिरिक्त 'शाण्डिल्यसूत्रटीका', 'शास्त्रसिद्धान्तलेशटीका', 'अष्ट-विकृतिविवरण', 'प्रस्थानभेद', 'भक्तिसामान्यनिरूपण', राज्ञां प्रतिबोध'—आदि ग्रन्थ भी श्री मधुसूदन सरस्वती के द्वारा विरचित माने जाते हैं। किन्तु 'मधुसूदन' नाम के अनेक विद्वानों का उल्लेख होने के कारण इनमें से हमारे मधुसूदन सरस्वती के रचे वस्तुतः कितने ग्रन्थ हैं—यह कहना कठिन है।

श्री मधुसूदन सरस्वती का देहावसान—यह एक किंवदन्ती चली आती है कि श्री मधुसूदन सरस्वती ने १०७ वर्ष की लम्बी आयु बिताकर हरिद्वार में पतितपावनी भागीरथी के तट पर शरीर छोड़ा था। इनके मीमांसागुरु श्री माधव सरस्वती ने भी वसिष्ठाश्रम में अन्तिम श्वास लिया था, सम्भव है श्री सरस्वती जी ने भी वहाँ ही अपने अन्तिम क्षण बिताए हों।

श्री व्यासराज तीर्थ तथा श्री मधुसूदन सरस्वती के तर्क-प्रयोगों को एक विहङ्गम दृष्टि में लाने के लिए कतिपय प्राज्ञणों के वाग्युद्ध की बानगी प्रस्तुत की जाती है—

(१) **प्रपञ्चमिथ्यात्ववाद**—न्यायामृतकार ने मिथ्यात्व के पाँच लक्षणों पर विचार किया है, उनमें से प्रथम लक्षण श्री पद्मपादाचार्य, द्वितीय और तृतीय

प्रकाशात्ममुनि, चातुर्थ श्री चित्सुखाचार्य तथा पञ्चम श्री आनन्दबोध का है, जैसा कि श्री गौड़ब्रह्मानन्द कहते हैं—

आद्यं स्यात् पञ्चपाद्युक्तं ततो विवरणोदिते ।
चित्सुखीयं चतुर्थं स्यादन्त्यमानन्दबोधजम् ॥

१. सत्त्वासत्त्वानधिकरणत्वम्—इस लक्षण में न्यायामृतकार ने तीन विकल्प उठाए हैं—(क) सत्त्वविशिष्टासत्त्वाभाव, (ख) सत्त्वात्यन्ताभाव और असत्त्वात्यन्ताभावरूप दो धर्मों की आधारता, (ग) सत्त्वात्यन्ताभाव-विशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभावरूप एक धर्म की आधारता। तीनों पक्षों में दोषाभिधान किया है—(क) माध्वमतानुसार सिद्धसाधनता है, क्योंकि प्रपञ्च को केवल सद्रूप माना जाता है, अतः उसमें सत्त्व-विशिष्ट असत्त्व का अभावः सहज-सिद्ध है। (ख) सत्त्वात्यन्ताभाव और असत्त्वात्यन्ताभाव—दोनों का एकत्र रहना विरुद्ध पड़ जाता है, क्योंकि सत्त्वाभाव का नाम असत्त्व और असत्त्वाभाव का नाम सत्त्व है, अतः जैसे सत्त्व और असत्त्व का एकत्र रहना विरुद्ध है, वैसे ही दोनों के अभावों का एकत्र रहना सम्भव नहीं। (ग) तृतीय् विकल्प में भी व्याघात दोष ही है, क्योंकि एक आधार में रहनेवाले पदार्थों मे से एक पदार्थ दूसरे से विशिष्ट माना जाता है, किन्तु सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव—दोनों जब एकत्र रह ही नहीं सकते, तब सत्त्वाभाव-विशिष्ट असत्त्वाभाव क्योंकर सम्भव होगा ?

अद्वैतसिद्धिकार ने प्रथम विकल्प को छोड़कर द्वितीय और तृतीय की निर्दोषता स्थापित करते हुए कहा है—"सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वयविवक्षायां दोषाभावात् ।" अर्थात् सत्त्व और असत्त्व—दोनों धर्म एक दूसरे के अभाव नहीं, अपि तु दोनों ही स्वतन्त्र भावरूप धर्म हैं, सत्त्व का स्वरूप है—त्रिकालाबाध्यत्व और असत्त्व का लक्षण है—क्वचिदपि उपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्व। खपुष्पादि में असत्त्व और ब्रह्म में सत्त्व रहता है, प्रपञ्च में सत्त्व और असत्त्व-दोनों का अभाव है। माध्व मतानुसार भी त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व प्रपञ्च में सिद्ध नहीं हो सकता, अतः वहाँ सत्त्वाभाव के रहने में क्या आपत्ति ? असत्त्वाभाव तो प्रपञ्च में माध्व-सम्मत ही है, अतः सत्त्व और असत्त्व के दो अभाव अथवा उनके एक अभाव से विशिष्ट अपर अभाव का रहना व्याहत या विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

२ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्—इस लक्षण में त्रैकालिक निषेध को लेकर न्यायामृतकार ने तीन विकल्प उठाए और उनमें दोष दर्शाए हैं—"त्रैकालिक निषेधस्य तात्त्विकत्वे अद्वैतहानिः, प्रातिभासिकत्वे सिद्धसाधनाद् , व्यावहारिकत्वेऽपि तस्य बाध्यत्वेन तात्त्विकसत्त्वाविराधित्वेनार्थान्तरात् । अर्थात् ब्रह्म में प्रपञ्च का त्रैकालिक अभाव यदि ब्रह्म के समान तात्त्विक है, तब अद्वैतहानि होती है। प्रपञ्च का वास्तविक अभाव न मान कर प्रातिभासिक अभाव मानना माध्व गणों को भी अभीष्ट है। उसी प्रकार प्रपञ्च का व्यावहारिक अभाव भी वस्तुतः बाधित ही होता है, अतः बाधित अभाव की प्रतियोगिता प्रपञ्च में मान लेने पर वास्तविक सत्ता का अपहार नहीं होता, अतः सिद्ध-साधनता और अर्थान्तरता दोष होता है।

अद्वैतसिद्धिकार ने उक्त निषेध को तात्त्विक मानकर भी अद्वैतहानि नहीं होवे दो और कहा है कि प्रपञ्च का निषेध तात्त्विक होने पर भी ब्रह्मरूप है, द्वितीय वस्तु नहीं, अतः द्वैतापत्ति या अद्वैत की हानि क्यों होगी ?

३. ज्ञाननिवर्त्यत्वम्—न्यायामृतकार ने कहा है कि अतीत घटादि में यह लक्षण

अव्याप्ति है, क्योंकि वे ज्ञान के द्वारा निवृत्त नहीं, अपितु मुद्गर-पातादि के द्वारा ध्वस्त होते हैं। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञानगत निवर्तकता ज्ञानत्वेन विवक्षित है ? या ज्ञानत्व-व्याप्य धर्मेण ? प्रथम पक्ष मानने पर शुक्ति-रजतादि में अव्याप्ति है, क्योंकि उनकी शुक्ति-ज्ञान में निवर्तकता अधिष्ठान-साक्षात्कारत्वेन होती है, ज्ञानत्वेन नहीं। द्वितीय पक्ष के अनुसार संस्कारों में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उनकी निवर्तकता स्मृतिरूप ज्ञान में ज्ञानत्व-व्याप्य स्मृतित्वेन होती है।

अद्वैतसिद्धिकार ने इन सभी विकल्पों से कतराकर नया मार्ग खोज लिया है—'ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वं हि ज्ञाननिवर्त्यत्वम्"। मायादि अनादि पदार्थों की भी आत्मज्ञान के द्वारा निवृत्ति होती है। अतीत घटादि की निवृत्ति भी ईश्वरीय ज्ञान से होती है, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान कार्यमात्र का साधारण कारण माना जाता है। अधिष्ठान-साक्षात्कारादि भी ज्ञान की कक्षा में ही आ जाते हैं, उत्तर ज्ञान के द्वारा पूर्व ज्ञान की जो निवृत्ति होती है, वह निवृत्ति सामान्य या अत्यन्त निवृत्ति नहीं, क्यो सस्कारादि रूप से ज्ञान की अवस्थिति बनी रहती है, अतः उनमें भी अति-व्याप्ति नहीं हाती।

४. स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्—इस लक्षण में भी न्यायामृतकार ने अत्यन्ताभाव की तात्त्वकतादि के पूर्ववत् विकल्प उठाकर दोष दिखाए हैं, उनका उत्तर भी अद्वैतसिद्धिकार ने पूर्ववत् ही दे डाला है कि ब्रह्मनिष्ठ प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव तात्त्विक होन पर भा ब्रह्म स भिन्न नहीं माना जाता, अतः द्वैतापत्ति नहीं होती।

५. सद्विविक्तत्वम्—न्यायामृतकार ने इस पञ्चम लक्षण में सत्ता के लिए तीन विकल्प उठाकर दाष दिए है—सत्ता जाति के आधार का सत् कहा जाता है ? या अबाध्य वस्तु को ? अथवा ब्रह्म का ? प्रथम कल्प के अनुसार प्रपञ्च में अव्याप्ति है, क्योंकि सत्ता जाति उसमे माना जाता है, अतः वह सत् है, सद्विविक्त नहीं। द्वितीय कल्प के अनुसार मिथ्यात्व का स्वरूप पर्यवसित होता है बाध्यत्व, वह प्रपञ्च में सम्भव नहीं। ब्रह्म रूप सत् वस्तु का भेद प्रपञ्च म सम्मत हाने के कारण तृतीय कल्प में भी सिद्ध-साधनता है।

अद्वैतसिद्धिकार ने यहाँ भी सत्त्व की अपनी परिभाषा बनाकर न्यायामृतकार के सभी दोषा को निराधार सिद्ध कर दिया है।

(२) प्रपञ्च-सत्त्ववाद—'सन् घटः', 'सन् पटः'—इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीतियों के द्वारा प्रपञ्च म सत्त्व सिद्ध हाता है, अतः प्रपञ्च में सत्त्वाभावरूप मिथ्यात्व का अनुमान नहीं हो सकता—ऐसा आरोप न्यायामृतकार ने लगाया। सत्त्व लक्षण की जटिलता के जाल मे फँस कर न्यायामृतकार परास्त हो जाता है। अद्वैतियों का यह प्रश्न निरुत्तर रह जाता है कि 'कीदृक् सत्त्वं तवाभिमतम् ?' हार कर माध्वाचार्य उत्तर देते हैं—

> यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशं स्याज्जगत्यपि।
> तत्र स्यात्तदनिर्वाच्यं चेदिहापि तथास्तु नः॥

अर्थात् अद्वैतवेदान्ती ब्रह्म में जैसा सत्त्व मानते हैं, वैसा ही हम (माध्व) जगत् में सत्त्व मानते हैं।

अद्वैतसिद्धिकार उस उत्तर को उपहास में उड़ा देते हैं—"नूनं विवाहसमये कन्यायाः पित्रा निजगोत्रं पृष्टस्य 'यदेव भवतां गोत्रम्, तदेव ममापि गोत्रम्'—इतिवदतो

वरस्य भ्राता भवान् ।" विवाह के समय कन्या के पिता ने वर से पूछा—आपका गोत्र क्या है ? वर उत्तर देता है कि जो आपका गोत्र है, वही हमारा है। वैसा उत्तर वर की अनभिज्ञता या मूर्खता का परिचायक है, क्योंकि समान गोत्र में विवाह सम्बन्ध वैध नहीं माना जाता। इसी प्रकार माध्वगणों का 'यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशं स्याज्जगत्यपि'—ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि अत्यन्ताबाधितत्वरूप सत्त्व जगत् में कभी सम्भव नहीं।

(३) असत् प्रपञ्च में अर्थक्रियाकारित्व जैसे असत् रजत से सत्य भूषणादि का निर्माण कभी नहीं हो सकता, वैसे ही दृश्यत्वादि असत्य हेतुओं के द्वारा मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं की जा सकती—ऐसा आक्षेप न्यायामृतकार की ओर से किया गया। उसके उत्तर में अद्वैतसिद्धिकार ने वाचस्पति के 'उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात्'—ये शब्द ही दुहरा दिये हैं कि दृश्यत्वादि हेतु को अपने में केवल व्यवहार-काल-बाध्यत्व अपेक्षित है, त्रिकालाबाध्यत्व नहीं, अतः दृश्यत्वादि के द्वारा प्रपञ्चगत त्रिकालाबाध्यत्वाभाव सिद्ध करने मे किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता। अर्थक्रियाकारिता के लिए वस्तु का पारमार्थिक सत् होना आवश्यक नहीं, क्योंकि स्वप्नकाल मे स्त्री आदि का दर्शन असत् होने पर भी भावी सत्य शुभाशुभ का सूचक होता है।

(४) अविद्या-लक्षण-विचार—अविद्या के दो लक्षण प्रसिद्ध हैं—(१) 'अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्' तथा (२) 'भ्रमोपादानत्वम्'। दोनों लक्षणों को न्यायामृतकार ने दूषित किया है—'आद्यलक्षणे अव्याप्तिः, सादिशुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्यावरकाज्ञानानामनादित्वायोगस्योक्तत्वात्। द्वितीयलक्षणेऽपि यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति मते अभ्रमपूर्वकप्रमानिवर्त्याज्ञाने आभावारोपनिवर्तकप्रमानिवर्त्याज्ञाने चाव्याप्तिः।

दोषों का उद्धार करते हुए अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है कि रूप्योपादानाज्ञानमप्यनादिचैतन्याश्रितत्वादनाद्येव"। अर्थात् शुक्त्यादि सादि पदार्थों से अवच्छिन्न चैतन्य का आवरकाभूत अज्ञान भी अनादि चैतन्य के आश्रित होने के कारण अनादि ही है, सादि नहीं, आकाशादि अनादि पदार्थ घटादि से अवच्छिन्न होने पर भी अनादि ही रहते हैं, सादि नहीं होते। द्वितीय लक्षण की व्यवस्था करते हुए सिद्धिकार ने कहा है कि "इदं च लक्षणं विश्वभ्रमोपादानं मायाधिष्ठानं ब्रह्मेति पक्ष, न तु ब्रह्ममात्रोपादानत्वपक्ष ब्रह्मसहिताविद्योपादानत्वपक्षे वा, अतो ब्रह्मणि नातिव्याप्ति"। अर्थात् विश्व विभ्रम का कारण अज्ञान या माया है और उसका विषयीभूत ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान है—इस सिद्धान्त के अनुसार माया का यह द्वितीय लक्षण किया गया है, अतः ब्रह्म में उक्त लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता।

(५) अविद्या-भासकवाद—न्यायामृतकार ने कहा है कि अविद्या शुद्ध साक्षिवेद्य है ? अथवा वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा ? प्रथम पक्ष मे निर्दोष चैतन्य से प्रकाशित होने के कारण अविद्या पारमार्थिक हो जायगी और द्वितीय पक्ष मे अज्ञान की कदाचित् अप्रतीति भी प्रसक्त होगी। इसका समाधान अद्वैतसिद्धिकार ने किया है कि अविद्या साक्षिवेद्य होती है, शुद्ध चैतन्य से प्रकाशित नहीं, क्योंकि शुद्ध चैतन्य को साक्षी नहीं कहा जाता, अपितु अविद्या-वृत्ति मे प्रतिबिम्बित चैतन्य साक्षी होता है, अतः शुद्ध चैतन्य के द्वारा साक्षात् भासित न होने के कारण अविद्या में पारमार्थिकत्वापत्ति नहीं होती।

(६) **अविद्याविषयविचार**—न्यायामृतकार ने कहा है—"अविद्याविषयोऽपि दुर्वच:" विवरणकार ने जो कहा है—"अज्ञानस्य चिन्मात्रमेव विषय:" उसमें आवरण का कोई प्रयोजन सम्भव नहीं, अतः शुद्ध चैतन्य में अज्ञान मानना निरर्थक है, अर्थात् आवरण के सब आठ प्रयोजन हो सकते हैं—(१) सिद्ध प्रकाश का लोप, (२) असिद्ध-प्रकाश की अनुत्पत्ति:, (३) विद्यमान प्रकाश का विषय के साथ असम्बन्ध, (४) प्राकाट्यसंज्ञक कार्य का प्रतिबन्ध, (५) 'नास्ति', 'न प्रकाशते'—इस प्रकार का द्विविध व्यवहार, (६) 'अस्ति', 'प्रकाशते'—इस प्रकार के व्यवहार का अभाव, (७) 'नास्ति' 'न प्रकाशते'—इस प्रकार के व्यवहार की योग्यता अथवा (८) अस्ति', 'प्रकाशते'—इस प्रकार के व्यावहार की अयोग्यता। घटादि परप्रकाश पदार्थों में अपेक्षित प्रकाश का अभाव या प्रकाशानुत्पत्ति सम्भव है, स्वयंप्रकाश चैतन्य में नहीं, अत: उसमें प्रथम और द्वितीय कल्प सम्भव नहीं। प्राकाट्य रूप विषयगत धर्म भाट्टाभिमत होने पर भी अद्वैत-सम्मत नहीं, अत: चतुर्थ विकल्प भी निराधार है। पञ्चम पक्ष को स्वीकार करने पर सुषुप्ति अवस्था में 'न किञ्चिदवेदिषम्'—ऐसी अनुभूति न हो सकेगी। अज्ञानावस्था में भी आत्मस्वरूप अभिज्ञात्मक व्यवहार अद्वैतिसम्मत है, अत: उसका अभाव आवरण का प्रयोजन नहीं हो सकता, छठा विकल्प भी उचित नहीं। ब्रह्म निधर्मक है, अत: उसमें योग्यत्व या अयोग्यत्वरूप धर्म नहीं रह सकते, अत: सप्तम और अष्टम विकल्प भी सम्भव नहीं।

इस आक्षेप का समाधान अद्वैतसिद्धिकार करते हैं—'अविद्याविषयोऽपि सुवचः", क्योंकि अविद्या का चिन्मात्र ही विषय होता है और आवरण का पञ्चम, षष्ठ, सप्तम या अष्टम विकल्प के अनुसार प्रयोजन सम्भव है, क्योंकि अज्ञान-सम्बन्धरूप योग्यता तब तक बराबर बनी रहती है, जब तक ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता।

(७) **बिम्बप्रतिबिम्बवाद**—दर्पणगत मुख के प्रतिबिम्ब की बिम्बभूत मुख से भिन्न सत्ता होती है ? अथवा नहीं ? इस प्रकार की व्यावहारिक विप्रतिपत्तियों पर भी न्यायामृतकार और अद्वैतसिद्धिकार के प्रखर तर्क-प्रयोग देखने योग्य हैं। न्यायामृत-कार का कहना है—

१. जैसे चैत्र से उसकी छाया भिन्न होती है, क्योंकि पार्श्वस्थ व्यक्ति को 'चैत्रत-च्छाये भिन्ने'—ऐसी स्फुट अनुभूति होती है। वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि 'मम करतत्प्रतिबिम्बे भिन्ने।'

२. यदि दर्पणादि से टकराकर मुड़ी हुई नेत्र-रश्मियाँ बिम्बभूत मुख का ही ग्रहण करती हैं, उसे ही दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब समझ लिया जाता है, वस्तुतः बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब की कोई सत्ता नहीं होती, तब अस्वच्छ दीवारादि पर भी प्रतिबिम्ब दिखाई देना चाहिए, क्योंकि वहाँ भी नेत्र-रश्मियाँ टकराकर मुख पर व्याप्त हो सकती हैं।

३. पूर्व दिशा की ओर मुख किए बैठा व्यक्ति अपने सामने के दर्पण में अपने पश्चिमाभिमुख प्रतिबिम्ब को स्पष्ट देखता है, अत: प्रतिबिम्ब को बिम्ब से भिन्न मानना अनिवार्य है।

४. जैसे आकाशस्थ इन्द्रधनुषादि के रूप में जलीय कणों पर बिखरे सूर्य की रश्मियों के विभक्त वर्ण सूर्य से भिन्न प्रतीत होते हैं, ऐसे ही जलादि में दृश्यमान वृक्षादि का प्रतिबिम्ब भी बिम्ब से भिन्न होता है।

५. विभिन्न सामग्रियों से जनित कार्यों को भिन्न मानना आवश्यक होता है । मुखादि बिम्ब की उत्पादिका सामग्री से प्रतिबिम्ब की दर्पणादि सामग्री भिन्न होती है, अतः प्रतिबिम्ब को बिम्ब से भिन्न मानना चाहिए।

६. गगनस्थ बिम्बभूत सूर्य तथा जलगत प्रतिबिम्बभूत सूर्य का अभेद कभी सम्भव नहीं, क्योंकि उनके न्यूनाधिक परिमाण, कम्पनाकम्पनादि विरुद्ध धर्मों के भेद से उनका भेद ही सिद्ध होता है। यदि बिम्ब और प्रतिबिम्ब—दोनों का अभेद होता है, तब कस्तूरी के प्रतिबिम्ब में सुगन्धि क्यों नहीं होती ?

७. मोटे-पतले, टेढ़े-बेढ़े दर्पणों में प्रतिबिम्ब भी मोटा-पतला, टेढा-बेढ़ा एवं जल में तटस्थ वृक्षों का उलटा प्रतिबिम्ब देखा जाता है, जबकि बिम्ब में वह नहीं होता, अतः बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब का अस्तित्व मानना चाहिए।

८. यदि अपने ही नेत्र की रश्मियाँ परावर्तित होकर अपने मुख का ग्रहण करती हैं, तब पार्श्वस्थ व्यक्ति को दर्पण में जो दो (एक अपना और दूसरा पार्श्वस्थ का) प्रतिबिम्बों का दर्शन होता है, वह असंगत हो जायगा क्योंकि पार्श्वस्थ व्यक्ति को भी अपना ही एक मुख दिखना चाहिए।

९. सामने के अनेक दर्पणों में जो एक ही मुख के अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं, वे भी सम्भव न हो सकेंगे, क्योंकि जैसे एक दर्पण से टकराकर मुड़ी हुई नेत्र-रश्मियाँ अपने एक मुख को अवभासित करती है, वैसे ही अनेक दर्पणों से आहत होकर परावर्तित नेत्र-रश्मियाँ भी अपने वास्तविक एक ही मुख को प्रकाशित करेंगी, अनेक मुखों को नहीं।

१०. दर्पणादि के आघात से परावर्तित नयन-रश्मियाँ यदि सुदूर गगन में अनन्त परमाणु-पटल को पार करती हुई बिम्बभूत सूर्य का ग्रहण कर लेती हैं, तब परावर्तित रश्मियों के द्वारा पीठ पीछे अवस्थित कुड्यादि पदार्थों का ग्रहण क्यों नहीं होता ? गगनस्थ परमाणु-पटली के समान ही शरीर के पृष्ठ भाग तक का भेदन नयन-रश्मियों के द्वारा हो सकता है। अतः कथित आपत्तियों का निराकरण करने के लिए यह मान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि प्रतिबिम्ब छाया तत्त्व के समान बिम्ब से भिन्न होता है, जैसा कि कहा गया है—

छायापुरुषवत्तस्माच्छायावत्प्रतिसूर्यवत् ।
प्रतिध्वानादिवद्भिन्नं प्रतिबिम्बं हि बिम्बतः ॥

इन सभी आक्षेपों का परिहार अद्वैतसिद्धिकार ने नितान्त सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया है—

१. चन्द्र के समान एक पदार्थ का दो रूपों में दिखना दृष्टि-दोष है, इससे दो चन्द्र सिद्ध नहीं हो सकते। प्रकृत में जब सयुक्तिक प्रत्यक्ष के द्वारा बिम्ब और प्रतिबिम्ब की एकता सिद्ध हो जाती है, तब उनमें भेद-प्रतीति को निश्चित रूप से भ्रमात्मक मानना होगा। मुख और प्रतिमुख की रेखोपरेखा का ऐक्य उन दोनों की एकता सिद्ध कर रहा है, पुरुष और उसकी छाया में महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है, अतः उनका भिन्न होना न्याय-संगत है, किन्तु दार्ष्टान्त में वैसा नहीं।

२. स्वच्छ दर्पणादि के प्रतिबिम्ब को ही बिम्ब से अभिन्न कहा जाता है, अस्वच्छ दीवारादि पर पड़ी छाया को तो भिन्न ही माना जाता है। दीवारादि पर प्रतिबिम्ब क्यों नहीं दिखता ? इस प्रश्न उत्तर तो पृथक् प्रतिबिम्ब-वादी को भी देना होगा। वस्तु के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं, सभी कुड्य, शिला-तलादि दर्पण हो नहीं सकते, अतः सब कहीं प्रतिबिम्ब नहीं दिखता।

३. प्रतिविम्बगत विपरीत दिशा का भान दर्पणादि उपाधियों की देन है. मुख पूर्वाभिमुख है किन्तु दर्पण पश्चिमाभिमुख, इसी पश्चिमाभिमुखता का आरोप मुखरूप बिम्ब पर हो जाता है और वैसी प्रतीति होने लगती है, जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—

दर्पणाभिहता दृष्टिः परावृत्य स्वमाननम् ।
व्याप्नुवन्त्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन्मुखम् ।।

(बृह० वा० पृ० ५५७)

४. जहाँ प्रकाश का अवरोध होता है, वहाँ ही छाया होती है—यह अनुभव-सिद्ध है। प्रतिविम्ब तो प्रकाश-देश में भी होता है. अतः उसे छायारूप नहीं माना जा सकता। प्रकाश-रहित नीहारिका पर इन्द्रधनुष के रूप में छाया का दिखना सम्भव है, छाया के पृथक् होने पर भी प्रतिबिम्ब को पृथक् नहीं माना जा सकता—यह ऊपर कहा चुका है।

५. कार्य के भिन्न सिद्ध हो जाने पर ही भिन्न सामग्री की कल्पना होती है, जब प्रतिबिम्ब वस्तु की सत्ता ही पृथक् सिद्ध नहीं होती, तब उसकी पृथक् सामग्री सम्भव नहीं। दर्पणादि सामग्री बिम्ब में प्रतिबिम्बताभासता की आभासिका मानी जाती है, नहीं तो शुक्त्यादि को भी पृथक् रजत की सामग्री मानना पड़ेगा।

६. बिम्ब और प्रतिबिम्ब में न्यूनाधिक परिमाणों एवं कम्पनाकम्पनादि धर्मों का वैविध्य होना वैसा ही औपाधिक है, जैसा ब्रह्म में "तदेजति तन्नैजति" (ईशा० ५) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इस वैविध्य के द्वारा उपाधियों का ही भेद सिद्ध होता है, उपधेय का नहीं। जब प्रतिबिम्ब को बिम्ब से अभिन्न माना जाता है और बिम्बभूत कस्तूरी में सौगन्ध्य विद्यमान है, तब प्रतिबिम्ब में सौगन्ध्य का अभाव क्योंकर होगा ?

७ जैसे बिम्ब वस्तु पर दर्पणादि उपाधिगतत्व का आरोप होता है, उसी प्रकार दर्पणादिगत स्थौल्यास्थौल्य, वक्रत्व, प्रलम्बत्वादि धर्मों का आरोप माना जाता है।

८. अपनी नेत्र-रश्मियाँ दर्पणादि से परावर्तित होकर केवल अपने मुख को ही अवभासित करती हैं—ऐसा कोई नियम नहीं, अपितु दर्पण-साम्मुखीन कुड्य, कपाट, मुखान्तरादि की भी अवभासिका मानी जाती है।

९. जब मुख के सामने अनेक दर्पण रखे हों, तब सभी-की-सभी नेत्र-रश्मियाँ प्रत्येक दर्पण से परावर्तित न होकर, कई समूहों में विभक्त हो जाती हैं. प्रत्येक समूह एक-एक मुख को अवभासित करता है, अनेक समूहों की अनेकता ही बिम्ब में अनेकत्वाभास की प्रयोजिका मानी जाती है।

१०. जलादि से परावर्तित होकर नेत्र-रश्मियाँ सुदूर गगन में जाकर सूर्य का ग्रहण करती हैं—इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वे उदर-पृष्ठादि प्रतिघाती द्रव्य को भी पार कर जाती हैं, कुड्यादि अवरोधक पदार्थों से व्यवहित पदार्थों का ग्रहण कभी नहीं होता। अपने पृष्ठ भाग का ग्रहण तभी हो सकता है, जब दो दर्पण आमने-सामने रखे हों, तब नेत्र रश्मियाँ एक दर्पण से परावर्तित होकर सामने के द्वितीय दर्पण से टकराकर दुबारा परावर्तित होती हैं। बुद्धिमानों को इतनी ही बानगी पर्याप्त है।

के० ३७/२ ठठेरीबाजार
वाराणसी
८-११-७७

स्वामी योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ

न्यायामृताद्वैतसिद्धिविषयानुक्रमणिका

प्रथमपरिच्छेदे

श्रीन्यायामृताद्वैतसिद्धी

[प्रथमः परिच्छेदः]

श्रीव्यासतीर्थविरचितम्

न्यायामृतम्

निखिलगुणनिकायं नित्यनिर्धूतहेयं शुभतममतिमेयं शुद्धसौख्याप्त्युपायम्।
सकलनिगमगेयं सर्वशब्दाभिधेयं नवजलधरकायं नौमि लक्ष्मीसहायम् ॥ १ ॥

विघ्नौघवारणं सत्याशेषविश्वस्य कारणम्। करुणासिन्धुमानन्दतीर्थबन्धुहरिं भजे ॥ २ ॥

अभ्रमं भंगरहितमजडं विमलं सदा। आनन्दतीर्थमतुलं भजे तापत्रयापहम् ॥ ३ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मानैरखण्डितैः।
गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ४ ॥

समुत्सार्य तमःस्तोमं सन्मार्गं संप्रकाश्य च।
सदा विष्णुपदासक्तं सेवे ब्रह्मण्यभास्करम् ॥ ५ ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दकृता

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सहस्रधारके यस्मिन्नृषयो नो मनीषिणः।
पुनन्ति स्वं वचस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

न्यायामृतं दृष्यतया न्यवेशि नाद्वैतसिद्धेः पुरतोऽत्र युग्मे।
मृगेन्द्रनादप्रतिनादरूपा स्वतः परत्वं समवाप सिद्धिः ॥ २ ॥

तुरीयं धाम सन्धाय तुरीयाश्रमसंस्थितः।
तुरीयां सिद्धिमाचक्षेऽहं तुरीयबुभुत्सया ॥ ३ ॥

पन्द्रहवीं शताब्दी तक के आविष्कृत एवं पल्लवित मौलिक अद्वैत-सिद्धान्तों की सक्षम समीक्षा का संकलित कलेवर 'न्यायामृत' के नाम से प्रसिद्ध है। माध्वमूर्धन्य श्रीव्यासतीर्थ के इस अभेद्य तर्क-व्यूह का आनुपूर्वी एवं मार्मिक समुद्भेदन 'अद्वैतसिद्धि' के रूप में प्रकट हुआ। 'न्यायामृत' का प्रारम्भ जिस विष्णु तत्त्व के संस्तवन से होता है, वह लक्ष्मी के मोहक बाहु-पाश में निगड़ित, सञ्ज्ञा-हीन-सा हो रहा है। उसके उद्धार का मार्ग प्रशस्त करना श्रीमधुसूदन

न्यायामृतम्

ज्ञानवैराग्यभक्त्यादिकल्याणगुणशालिनः । लक्ष्मीनारायणमुनीन् वन्दे विद्यागुरून्मम ॥६॥
श्रीमध्वशास्त्रदुग्धाब्धिधीमन्दरमहीभृता । आमथ्योद्ध्रियते न्यायामृतं विबुधतृप्तये ॥७॥

विक्षिप्तसंग्रहात् क्वापि क्वाप्युक्तस्योपपादनात् ।
अनुक्तकथनात् क्वापि सफलोयं श्रमो मम ॥ ८ ॥

श्रीमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः

मायाकल्पितमातृतामुखमृषाद्वैतप्रपंचाश्रयः
सत्यज्ञानसुखात्मकः श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः ।
मिथ्याबन्धविधूननेन परमानन्दैकतानात्मकम् ,
मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते विष्णुर्विकल्पोज्झितः ॥ १ ॥

श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानामैक्येन साक्षात्कृतमाधवानाम् ।
स्पर्शेन निर्धूततमोरजोभ्यः पादोत्थितेभ्योऽस्तु नमो रजोभ्यः ॥ २ ॥

बहुभिर्विहिता बुधैः परार्थं विजयन्तेऽमितविस्तृता निबन्धाः ।
मम तु श्रम एष नूनमात्मंभरितां भावयितुं भविष्यतीह ॥ ३ ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सरस्वती-जैसे वैष्णव जन का पुनीत कर्त्तव्य है — माया-द्वारा विरचित प्रमातृत्व प्रमाणत्व तथा प्रमेयत्वरूप मिथ्या त्रिसर्ग की आधार-शिला, सच्चिदानन्दस्वरूप, महावाक्य-जन्य अखण्डाकार प्रज्ञा के द्वारा आलोकित, कल्पित विकल्प-जाल का विदारण करके परमानन्दमय मोक्षावस्था में अवस्थित, विष्णु देव स्वयं विराजमान हो रहा है। माध्व के जीवाणुत्व-वाद पर कटाक्ष करने के लिए यहाँ व्यापकार्थक 'विष्णु' पद से जीव को प्रस्तुत किया गया है ॥१॥

श्री व्यासतीर्थ ने जिस व्यास-पद्धति का अवलम्बन कर गुरु-परम्परा का संकीर्तन किया है, उससे गुरुजनों में सिद्धान्तगत वैविध्य झलकता है, अतः समास-प्रणाली से श्रीराम विश्वेश्वर माधव में एक अद्वैत-निष्ठा का दर्शन कराते हुए उनकी चरण-रेणु को नमस्कार करते हैं— मायाधिपति परब्रह्म के साक्षात् द्रष्टा, गुरुजनों [परमगुरु श्रीराम सरस्वती, दीक्षा-गुरु श्री विश्वेश्वर सरस्वती एवं विद्या-गुरु श्रीमाधवयति] के चरणों की उस पावन धूलि को नमस्कार है, जिसके स्पर्शमात्र से अन्तःकरण के निखिल राजस और तामस मल समाप्त हो जाते हैं ॥ २ ॥

श्री व्यासतीर्थ महान् परोपकारी थे, उन्होंने 'न्यायामृत' का पान कराकर केवल विद्वानों को ही नहीं, देवगणों को भी तृप्त कर दिया। उसी में अपना श्रम सफल मानते हुए कहा था—'सफलोऽयं श्रमो मम'। किन्तु श्री मधुसूदन सरस्वती के श्रम का उद्देश्य स्वार्थ-मात्र की सिद्धि है—अनेक विद्वानों के द्वारा परोपकार के उद्देश्य से अनन्त बृहत्काय ग्रन्थों की रचना की गई है। किन्तु मेरा यह श्रम निश्चित रूप से केवल स्वार्थ-पूर्ति के लिए ही है ॥ ३ ॥

: १ :

मिथ्यात्वे विप्रतिपत्तिप्रदर्शनं तत्प्रयोजनं च

न्यायामृतम्

ननु मिथ्यैव विश्वम्, तथा हि तत्र विप्रतिपत्तिः–ब्रह्मप्रमान्येन वा सप्रकारेण वा अबाध्यत्वे सति असद्विलक्षणत्वे सति ब्रह्मान्यत्, प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगि, न वा ! अखण्डार्थनिष्ठवेदान्तजन्यनिष्प्रकारकब्रह्मप्रमाबाध्यमपि विश्वं ब्रह्मप्रमान्येन वा सप्रकारेण वा न बाध्यमिति नाश्रयासिद्धिः । एवमुत्तरत्रापि पूर्वोत्तरपक्षानुमानप्रतिज्ञे संकलय्य विप्रतिपत्तिरूह्या ।

इदं च विप्रतिपत्तिप्रदर्शनं तार्किकरीत्यैव न तु वस्तुतः, तत्पक्षेऽपि विप्रतिपत्तिवाक्यस्य पक्षपरिग्रहैकफलकत्वात् । तस्य च कथाबाह्येन निग्रहानर्हेण लौकिकरीत्यनुसारिणा संस्कृतरूपेण वा भाषारूपेण वा 'मया प्रपंचमिथ्यात्वं साध्यत' इति वादिवाक्येन वा, त्वया प्रपंचमिथ्यात्वं साध्यमिति' मध्यस्थपरिकल्पितविषयस्वीकारेण वा सिद्धौ प्रतिज्ञाव्यतिरिक्तस्य उक्तकुसृष्टियुक्तस्य विप्रतिपत्तिवाक्यस्य वैयर्थ्यात् । न च साध्योपस्थित्यर्थं तत्,

अद्वैतसिद्धिः

श्रद्धाधनेन मुनिना मधुसूदनेन संगृह्य शास्त्रनिचयं रचितातियत्नात् ।
बोधाय वादिविजयाय च सत्वराणामद्वैतसिद्धिरियमस्तु मुदेऽबुधानाम् ॥ ४ ॥

तत्राद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वाद् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम् । उपपादनं च स्वपक्षसाधनपरपक्षनिराकरणाभ्यां भवतीति तदुभयं वादजल्पवितण्डानामन्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

श्रद्धा के धनी श्री मधुसूदन मुनि के द्वारा बड़े प्रयत्न से विविध शास्त्रों का अनुशीलन कर विरचित यह 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ तीव्र विविदिषा-सम्पन्न मुमुक्षु जनों को बोध एवं विजय के लिए उतावले विजिगीषु वादिगणों को विजय की प्राप्ति कराकर मोद-प्रद हो। [सच्चा अमृत तो अद्वैत-सिद्धि या अभेद-बोध ही है, जिसका पान अमरता का एकमात्र साधन है। विबुधगण पहले से ही तृप्त हैं, उनके लिए वह अमृत भले ही निरर्थक हो, किन्तु अद्वैतसिद्धि– रियमस्तु मुदेऽबुधानाम्। बोध की क्षुधा अबुध व्यक्तियों में ही होती है। विजयाभिलाषा भी अबोध की देन है। बुध जन के लिए श्रुति कहती है–-'स स्वराड् भवति' (छा. उ. ७।२५।२), उसके लिए पर-राष्ट्र का नाम भी नहीं रहता, फिर वह विजय-यात्रा किस पर करेगा ?] ॥४।

[प्रपञ्चो मिथ्या, न वा ? इस प्रकार के संशय-जनक वाक्यों को 'विप्रतिपत्ति' या 'विप्रतिपत्ति-वाक्य' कहा जाता है। न्यायामृत-कार ने आरम्भ में विप्रतिपत्ति-वाक्यों का प्रदर्शन करते हुए कहा है–-नैयायिक-गण शास्त्रविचार के आरम्भ में विप्रतिपत्ति-वाक्य का प्रयोग आवश्यक मानते हैं, अतः हमने भी दिखा दिया है; वस्तुतः विप्रतिपत्ति-वाक्य की कोई उपयोगिता विचार में नहीं होती। न्यायामृत के इस वक्तव्य का अनुवाद करते हुए निराकरण किया जाता है–] अद्वैत तत्त्व के निश्चय में द्वैत-मिथ्यात्व का निश्चय कारण होता है, अतः यहां (अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ में) द्वैत-मिथ्यात्व का प्रथमतः उपपादन करना होगा। किसी तथ्य का उपपादन स्व-पक्ष (संशयगत एक कोटि) के साधन और पर-पक्ष (संशयगत दूसरी कोटि) के निराकरण से होता है। उक्त साधन और निराकरण किसी-न-किसी कथा शैली (शास्त्रार्थ की नियत पद्धति) में ही हो सकते हैं। अतः वाद, जल्प और वितण्डा नाम की त्रिविध कथा

न्यायामृतम्

प्रतिवैव तत्सिद्धेः । न च पक्षत्वप्रयोजकसंशयार्थं तत्, वादिप्रतिवादिनोः प्राश्निकानां च निश्चयवत्त्वेन तदयोगात् । आहार्यसंशयस्य चातिप्रसंगित्वेन पक्षत्वाप्रयोजकत्वात्, विप्रतिपत्तिवाक्यानपेक्षत्वाच्च, संशयं विनापि सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकमाना-भावरूपस्य पक्षत्वस्य संभवाच्च ।

अद्वैतसिद्धिः

तयोः कथामाश्रित्य सम्पादनीयम् । तत्र च विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य विचाराङ्गत्वान्मध्यस्थे-नादौ विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीया । यद्यपि विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्य न पक्षतासंपादकतयोपयोगः, सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकमानाभावरूपायास्तस्याः संशयाघटितत्वात् । अन्यथा श्रुत्यात्मनिश्चयवतोऽनुमित्सया तदनुमानं न स्यात्, वाधादीनां निश्चयवत्त्वेन संशया-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शैलियों में से किसी एक का अवलम्बन कर उक्त दोनों उद्देश्यों का सम्पादन करना चाहिए।

[किसी एक विषय पर दो विरीधी विचारों को प्रकट करने वाली वादी-प्रतिवादी के द्वारा प्रयुक्त शब्दावली न्याय की भाषा में कथा कहलाती है। तत्त्व-निर्णय के उद्देश्य से बुभुत्सु व्यक्तियों के द्वारा प्रचालित कथा-शैली को 'वाद', एक दूसरे पर विजय पाने की अभिकांक्षा से प्रवाहित कथा-पद्धति को 'जल्प' तथा दो वादियों में से एक के द्वारा अपने पक्ष का प्रस्तुतीकरण छोड़ कर द्वितीय पक्ष का खण्डनमात्र जिस कथा में किया जाता है, उसको 'वितण्डा' कहा करते हैं। जैसा कि न्याय-सूत्रकार ने कहा है 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः'। 'यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः'। 'सप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डः' (न्या. सू. १।२।१-३)। अर्थात् प्रमाणो और तर्कों के आधार पर अपने सिद्धान्त के अनुरूप, प्रतिज्ञादि पांच अवयवों से संवलित, पक्ष-प्रतिपक्ष की उपस्थापिका पदावली को वाद' कहते हैं। जिस 'वाद' में छल, जात्युत्तर एवं निग्रहस्थानों का भी प्रयोग किया जाय, वह जल्प है। जिस जल्प में प्रतिपक्षी अपने पक्ष की स्थापना न कर केवल प्रथम पक्ष का निराकरण ही करता है, उसका नाम वितण्डा है। वितण्डा में भी उभय पक्ष होते हैं, स्वपक्ष का साधन और पर-पक्ष का प्रतिषेध भी होता है, वैतण्डिक केवल अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता]।

कथा या शास्त्र-विचार का आरम्भ विप्रतिपत्ति-वाक्य के उच्चारण से होता है, क्योंकि विप्रतिपत्ति-जन्य संशय विचार का पूर्वाङ्ग माना जाता है। अतः सर्व-प्रथम मध्यस्थ व्यक्ति को विप्रतिपत्ति-वाक्य का प्रदर्शन करना चाहिए। यद्यपि विप्रतिपत्ति-जनित संशय का उपयोग प्रतिज्ञादि पांच अवयवों से घटित न्यायात्मक कथा में साध्य-संशयरूप पक्षता के सम्पादन में नहीं हो सकता, क्योंकि सिद्धान्तरूप से स्वीकृत पक्षता के लक्षण में संशय का प्रवेश नहीं है। [गंगेश उपाध्याय पक्षता के पूर्वपक्षीय लक्षणों की आलोचना करते हुए सिद्धान्त स्थापित करते हैं–'न तावत् सन्दिग्धसाध्यधर्मत्वं पक्षत्वम्, नापि साधकवाधकप्रमाणाभावः, श्रोतव्यो मन्तव्य' (बृह.उ. २।४।६) इति श्रुत्या समानविषयकश्रवणानन्तरं मननवोधनात्। अथ सिषाधयिषितसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः। तथा हि मुमुक्षोः शब्दादात्माऽवगमेऽपि मोक्षोपायत्वेन सिद्धिविशेषानुमितीच्छया आत्मानुमानम् इति चेन्न, सन्देहवत् परामर्शपूर्वं सिषाधयिषाया अप्यभावात्। उच्यते-सिषाधयिषाविरहसहकृत-साधकप्रमाणाभावो यत्रास्ति स पक्षः' (चिन्ता. पृ. १०९२)। अर्थात्] सिषाधयिषा (साध्य

अद्वैतसिद्धिः

संभवादाहार्यसंशयस्यातिप्रसंजकत्वाच्च। नापि विप्रतिपत्तेः स्वरूपत एव पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहफलकतयोपयोगः, 'त्वयेदं साधनीयम्' 'अनेनेदं दूषणीयम्'—इत्यादिमध्यस्थवाक्यादेव तल्लाभेन विप्रतिपत्तिवैयर्थ्यात्। तथापि विप्रतिपत्तिजन्यसंशयस्यानुमित्यनङ्गत्वेऽपि व्युदसनीयतया विचाराङ्गत्वमस्त्येव। तादृशसंशयं प्रति विप्रतिपत्तेः क्वचिन्निश्चयादिना प्रतिबन्धादजनकत्वेऽपि स्वरूपयोग्यत्वात्। वाद्यादीनां च निश्चयवत्त्वे नियमाभावात्। 'निश्चितौ हि वादं कुरुतः' इत्याभिमानिकनिश्चयाभिप्रायम्, परपक्षमालम्ब्याप्यहंकारिणो विपरीतनिश्चयवतो

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की सिद्धि या अनुमिति की इच्छा) के अभाव से विशिष्ट सिद्धि (साध्य-निश्चय) के अभाव को ही पक्षता मानना चाहिए। अन्यथा (यदि साध्यसंशय को ही पक्षता माना जाय, तब) 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस श्रुति के द्वारा जीवरूप पक्ष में ब्रह्मरूपता का निश्चय हो जाने पर (साध्य-संशयरूप पक्षता का अभाव होने के कारण) जीवरूपी पक्ष में ब्रह्मरूपता की अनुमिति न हो सकेगी। किन्तु अनुमित्सा (अनुमिति की इच्छा) होने पर 'अहं ब्रह्म सच्चिदानन्दरूपत्वात्'—इस प्रकार की अनुमिति का होना सर्व-सम्मत है।

दूसरी बात यह भी है कि कथा में भाग लेने वाले वादी प्रतिवादी तथा मध्यस्थ-तीनों विद्वानों को एक कोटि का निश्चय है [विश्व में मिथ्यात्व-कोटि का निश्चय वादी को सत्यत्व-कोटि का निश्चय प्रतिवादी को एवं विशेष-दर्शन मध्यस्थ सभापति को होता है] अतः विप्रतिपत्ति-वाक्य से संशय हो भी नहीं सकता। चतुर्थ कक्षा के श्रोताओं का संशय कथा का अङ्ग नहीं बन सकता, इसलिए भी विप्रतिपत्ति-वाक्य व्यर्थ है। आहार्य (काल्पनिक) संशय तो विचार का अङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि वह अतिप्रसंजक होता है, अर्थात् जिस व्यक्ति को साध्य का निश्चय है और अनुमित्सा नहीं, उसे पक्षता के अभाव में अनुमिति नहीं होती। किन्तु आहार्य संशय के द्वारा पक्षता का सम्पादन हो जाने पर, उसे भी अनुमिति होने का प्रसङ्ग उत्पन्न किया जा सकता है।

वादी और प्रतिवादी को अपने-अपने पक्ष का ग्रहण कराने के लिए विप्रतिपत्ति-वाक्य का साक्षात् उपयोग है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि यह कार्य तो विप्रतिपत्ति-वाक्य के विना भी मध्यस्थ के दो आज्ञा-वाक्यों से सम्पन्न किया जा सकता है। अर्थात् वादी को कह दिया जाय—त्वयेदं साधनीयं और प्रतिवादी को कह दिया जाय—त्वयेदं दूषणीयम्'। इतने से ही दोनों वादी अपने-अपने पक्ष का अवलम्बन कर कथा में व्यापृत हो जाएँगे।

तथापि विप्रतिपत्ति-वाक्य को सुन कर श्रोताओं को जो संशय उत्पन्न होगा, उसका निराकरण करना भी वादिगण का कर्तव्य होता है। [अत एव श्रीवाचस्पति मिश्र ने संशय-निवृत्ति भी कथा का एक प्रयोजन माना है—'अनधिगततत्त्वबोधः, संशयनिवृत्तिः, अध्यवसायाभ्यनुज्ञानमिति फलानि त्रीणि' (ता. टी. १।२।१)]। अतः दोनों वादी अपनी-अपनी भूमिका का अभिनय करते हुए ऐसे कौशल का प्रदर्शन करें कि सभास्थ श्रोताओं का अन्तस्तल संशय की काली छाया से मुक्त होकर किसी उज्वल आलोक से भास्वरित हो जाय। इस प्रकार विप्रतिपत्ति-वाक्य का प्रदर्शन कथा का एक आवश्यक अङ्ग सिद्ध होता है।

न्यायामृतकार का जो यह कहना है कि वादी, प्रतिवादी और प्राश्निक (मध्यस्थ) को विशेष प्रकार का निश्चय होने के कारण विप्रतिपत्ति-वाक्य से संशय नहीं होगा। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि विप्रतिपत्ति-वाक्य में संशय की जनकता निश्चित है, जैसा कि न्यायसूत्रकार

अद्वैतसिद्धिः

जल्पादौ प्रवृत्तिदर्शनात् । तस्मात् समयबन्धादिवत् स्वकर्तव्यनिर्वाहाय मध्यस्थेन विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीयैव ।

तत्र मिथ्यात्वे विप्रतिपत्तिः—ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्भिन्नं, प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगि, न वा ? पारमार्थिकत्वाकारेणोक्तनिषेधप्रतियोगि, न वेति । अत्र च पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वात् पक्षैकदेशे साध्यसिद्धावपि सिद्धसाधनतेति मते शुक्तिरूप्ये सिद्धसाधनवारणाय ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं पक्षविशेषणम् । यदि पुनः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनैव साध्यसिद्धिरुद्देश्या, तदैकदेशे साध्यसिद्धावपि सिद्धसाधनाभावात्, तद्वारकं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ने कहा है—'समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः' (न्या. सू. १।१।२३)। अर्थात् संशय की उत्पत्ति पांच प्रकार से होती है--समान धर्मवाले धर्मी एवं असाधारण धर्म-युक्त धर्मी के ज्ञान से, विप्रतिपत्ति-वाक्य के श्रवण से, उपलब्धि तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था से] विशेष कोटि का निश्चय संशय का प्रतिबन्धक होता है। यदि किसी व्यक्ति को विशेष निश्चय रहने के कारण विप्रतिपत्ति वाक्य को सुन कर भी संशय नहीं होता, तो इतने मात्र से विप्रतिपत्ति-वाक्य की नियत क्षमता समाप्त नहीं हो जाती। दूसरी बात यह भी है कि कथा के लिए तत्पर वादिगणों को विशेष कोटि का निश्चय होता ही है—ऐसा कोई नियम नहीं। वाचस्पति मिश्र ने जो यह कहा है—"निश्चितौ हि वादं कुरुतः" (ता. टी.)। उसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वादी का अभिनय या प्रदर्शन ऐसा होना चाहिए कि लोग उसको विशेष दर्शी समझें। कई बार विपरीत निश्चय वाले वादी भी अन्य मत अवलम्बन कर अपना वैदुष्य प्रकट करने के लिए जल्पादि में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं।

वाद कथात्मक 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ के आरम्भ में प्रस्तुत (द्वैत-मिथ्यात्व) विषय को लेकर इस प्रकार विप्रतिपत्ति-वाक्य प्रदर्शित हो सकते हैं - १. ब्रह्मविषयिणी प्रमा से भिन्न प्रमा के द्वारा अबाधित, सद्रूप से प्रतीति-योग्य, ब्रह्म-भिन्न (व्यावहारिक) विश्व, अपने प्रतीति-सिद्ध आधार में विद्यमान त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी (मिथ्या) है, अथवा नहीं ? २. उक्त व्यावहारिक प्रपञ्च अपने आश्रय से 'पारमार्थिकत्वेन नास्ति, नासीत्, न भविष्यति'–इस प्रकार के त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी होता है, अथवा नहीं ? शुक्ति-रजत आदि प्रातिभासिक पदार्थों में सिद्ध-साधनता दोष से बचने के लिए 'ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्व'–यह पक्ष का विशेषण दिया गया है। 'शुक्ति-रजत आदि सद्रूपेण प्रतीयमान एवं ब्रह्म-भिन्न होने के कारण पक्ष के अन्तर्गत हो जाते हैं। उनमें मिथ्यात्व (उभय पक्ष-समान) सिद्ध है, अतः प्रतिवादी सिद्ध-साधनता का उद्भावन कर सकता है [यद्यपि प्रस्तुत विषय-विचार में माध्व प्रतिवादी है और माध्व मत में शुक्ति-रजत को अलीक या असत् माना जाता है। 'सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व'–विशेषण से ही उसकी व्यावृत्ति हो जाती है, अतः माध्व के द्वारा सिद्ध-साधनता का दोषारोपण सम्भव नहीं। तथापि विश्व-सत्यता के पक्षपाती नैयायिकादि भी प्रतिवादी हो सकते हैं। उनके मत में सिद्ध-साधनता है, एवं स्वार्थानुमान में स्वयं वादी की दृष्टि से ही सिद्ध-साधनता है]। नवीन नैयायिकों का मत है कि यदि यहां पक्षतावच्छेदक-समानाधिकरण साध्य की सिद्धि अभिप्रेत है, तब पक्षान्तर्गत किसी भाग (शुक्ति-रजत) में साध्य का निश्चय होने पर सिद्ध-साधनता दोष होता है

अद्वैतसिद्धिः

विशेषणमनुपादेयम्। इतरविशेषणद्वयं तु तुच्छे ब्रह्मणि च बाधवारणायावर-णीयमेव। प्रत्येकं वा विप्रतिपत्तिः--वियन्मिथ्या, न वा? पृथिवी मिथ्या, न वेति। एवं वियदादेः प्रत्येकं पक्षत्वेऽपि न घटादौ सन्दिग्धानैकान्तिकता, पक्षसमत्वाद् घटादेः। तथा हि--पक्षे साध्याभावसन्देहस्यानुगुणत्वात् पक्षभिन्न एव तस्य दूषणत्वं वाच्यम्। अत एवोक्तं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और यदि पक्षतावच्छेदक-व्यापक साध्य की अनुमिति अभीष्ट है, तब पक्ष के एक देश में साध्य के सिद्ध होने पर भी सिद्ध-साधनता नहीं होती है, अतः तदर्थ विशेषण अनावश्यक है। [अनुमिति दो प्रकार की होती है—पक्षतावच्छेद-समानाधिकरण साध्य को विषय करने वाली और पक्षतावच्छेदक के व्यापकीभूत साध्य को विषय करने वाली। जैसे-प्रपञ्चो मिथ्या- इस प्रकार की अनुमिति यदि पक्षतावच्छेदकीभूत प्रपञ्चत्व के किसी एक आधार (केवल व्याव-हारिक जगत्) में मिथ्यात्व को विषय कर रही है, तब इसे पक्षतावच्छेद-समानाधिकरण साध्य-विषयिणी कहा जायगा और यदि प्रपञ्चत्व के निखिल आश्रयीभूत (व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक) जगत् में मिथ्यात्व को विषय करती है, तब इसे पक्षाताच्छेदक-व्यापक साध्य-विषयिणी कहा जाता है। इसी प्रकार सिद्धि (साध्य का निश्चय) भी दो प्रकार की होती है। जहाँ सिद्धि पहले ही हो वहाँ अनुमिति नहीं होती, अतः सिद्धि को अनुमिति का प्रतिवन्धक माना जाता है। प्राचीन नैयायिक पक्षातावच्छेदक-समानाधिकरण साध्य-विषयिणी अनुमिति में पक्षातावच्छेदक-समानाधिकरण साध्य-विषयिणी सिद्धि को प्रतिवन्धक नहीं मानते, किन्तु नवीन नैयायिक मानते हैं। जैसा कि दीधितिकार ने कहा है—"पक्षातावच्छेदकस्य सामाना-धिकरण्येनैकत्र साध्यसिद्धावपि तदवच्छेदेनानुमितिदर्शनात् पक्षातावच्छेदकावच्छेदेनानुमितिं प्रति तदवच्छेदेन सिद्धेः, तत्सामानाधिकरण्यमात्रेणानुमितिं प्रति तु सिद्धिमात्रस्य विरोधित्वम्" (दीधितिः पृ० १११३) अर्थात् पक्षातावच्छेदक-व्यापक साध्य-विषयिणी अनुमिति में पक्षातावच्छेदक व्यापक-साध्य विषयिणी सिद्धि ही प्रतिवन्धक होती है। किन्तु पक्षातावच्छेद समानाधिकरण साध्य-विषयिणी अनुमिति में उभय प्रकार की सिद्धि प्रतिवन्धक होती है। इसे हेतुगत सिद्ध-साधनता या सिद्ध-साध्यता दोष कहा जाता है] पक्ष के अन्य दो विशेषण (सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व तथा चिद्भिन्नत्व) क्रमशः खपुष्पादि असत् पदार्थ एवं ब्रह्म में बाध वारणार्थ उपादेय हैं।

मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए सामान्यतः प्रपञ्च को पक्ष वनाया जा सकता है, अथवा विशेषरूप से आकाशादि को। इसके अनुरूप विप्रतिपत्ति-वाक्य में प्रत्येक आकाशादि का उल्लेख करना होगा, जैसे—आकाश मिथ्या है, अथवा नहीं? पृथिवी मिथ्या है, अथवा नहीं? प्रत्येक आकाशादि को पक्ष वनाने पर घटादि में जो सन्दिग्धानैकान्तिकत्व दोष दिया जाता है [जैसा कि व्यासतीर्थ ने कहा है—"नापि वियदित्येव पक्षानिर्देशः, घटादिस्तु पक्षातुल्य इति वाच्यम्, पक्षादन्यत्र निश्चितसाध्याभाववति हेतुसन्देह इव निश्चितहेतुमति साध्यसन्देहेऽपि सन्दिग्धानैकान्त्यात्"] वह संगत नहीं, क्योंकि घटादि पक्ष-सम हैं [पक्ष एवं पक्ष-तुल्य धर्मी में व्यभिचार दोष नहीं माना जाता—"न हि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारः" (दीधि० पृ० १९०५] । आशय यह है कि यदि निश्चित हेतु के आधार में साध्य का सन्देह होने पर सन्दि-ग्धानैकान्तिकता को दोष माना जाता है, तो पक्ष में ऐसा दोष सम्भव नहीं, क्योंकि पक्ष में तो साध्याभाव का सन्देह कोई दोष नहीं होता, प्रत्युत अनुमिति के अनुकूल होने से गुण ही माना जाता है। इसलिए पक्ष से भिन्न धर्मी में ही सन्धिग्धानैकान्तिक दोष कहना होग। अत एव

अद्वैतसिद्धिः

'साध्याभावनिश्चयवति हेतुसन्देहे एव सन्दिग्धानैकान्तिकते'ति। पक्षत्वं तु साध्यसन्देहवत्त्वं साध्यगोचरसाधकमानाभाववत्त्वं वा। एतच्च घटादिसाधारणम्। अत एव तत्रापि सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं न दोषः, पक्षसमत्वोक्तिस्तु प्रतिज्ञाविषयत्वाभावमात्रेण। न च तर्हि प्रतिज्ञाविषयत्वमेव पक्षत्वम्, स्वार्थानुमाने तदभावात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्राचीन आचार्यों ने कहा है—'साध्याभाव का जहाँ निश्चय होता है, वहाँ ही हेतु का सन्देह होने पर सन्दिग्धानैकान्तिकता दोष होता है।' प्रकृत पक्षता चाहे साध्यसन्देहवत्ता को माना जाय, या साध्यविषयक निश्चय के अभाव को। उभय विध पक्षता आकाश के समान घटादि में भी है। इस प्रकार घटादि भी वस्तुतः पक्ष ही हो जाते हैं, पक्ष-भिन्न नहीं, अतः वहाँ भी सन्दिग्धानैकान्तिकता दोष नहीं होता। घटादि को पक्ष न कह कर पक्ष सम इस लिए कह दिया गया है कि 'वियत् मिथ्या'—इस प्रतिज्ञा वाक्य का विषय नहीं है। प्रतिज्ञा विषयत्व को पक्षता लक्षण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वार्थानुमान के पक्ष में प्रतिज्ञा विषयता अव्याप्त है। [चिन्तामणिकार ने साधारण (अनैकान्तिक) का लक्षण किया है—"विपक्ष-वृत्तित्वं साधारणत्वम्" (चिन्ता० पृ. १७०५) पक्षधर मिश्र ने इसकी व्याख्या में कहा है कि साध्याभाववान् को विपक्ष कहते हैं, अतः साध्याभाववद्वृत्ति हेतु साधारण होता है। इसमें साध्याभाववत्ता का निश्चय और हेतु में साध्याभावाधिकरण की वृत्तिता का ज्ञानमात्र अपेक्षित है—"साध्याभावांशे निश्चयरूपं शेषांशे संशयसाधारणं साध्याभाववद्वृत्तित्वज्ञानं प्रतिबन्धकम्, अन्यथा पक्ष एव साध्यसन्देहेन सन्दिग्धानैकान्तिकत्वापत्तेः" (चिन्ता. पृ. १७०५।) अर्थात् निश्चितसाध्याभाव के आधार में हेतु का निश्चय होने पर निश्चितानैकान्तिकता और निश्चितसाध्याभाव के आश्रय में हेतु का सन्देह होने पर सन्दिग्धानैकान्तिकता होती है। यदि साध्याभाववत्ता के संशय ज्ञान को भी इसमें अवकाश दिया जाता है, तब सभी हेतु सन्दिग्धानैकान्तिक हो जायँगे, अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि पक्ष में साध्याभाव का संशय होता है, पक्ष-वृत्ति हेतु भी साध्याभाववद्वृत्ति हो जाता है।

मिश्र–मत का निराकरण करते हुए दीधितिकार ने कहा है—"तन्न व्याप्तिनिश्चये हेतौ व्यभिचारसंशयायोगात्। तदनिश्चयदशायाम् अनुकूलतर्कास्फूर्तौ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वस्येष्टत्वात्" (दीधि० पृ. १७०५)। अर्थात् सन्दिग्ध साध्याभाव के आधार में निश्चित हेतु को भी सन्दिग्धानैकान्तिक कहा जाता है। इसीलिए सभी हेतुओं में प्रतिवादी की ओर से व्यभिचार या अप्रयोजकत्व का संशय उद्भावित होता है और उसका परिहार अनुकूल तर्क के प्रदर्शन से कर दिया जाता है, इस प्रकार अनुमानमात्र का उच्छेद प्रसक्त नहीं होता। प्रपञ्च-मिथ्यात्व के अनुमान में सन्दिग्धानैकान्तिकता के उद्भावन की सम्भावना को स्वीकार करते हुए गौड ब्रह्मानन्द ने कहा—"तथापि तर्काणां वक्ष्यमाणत्वेन न दोषः" (ल० चं० पृ० ३०) अर्थात् श्री मधुसूदन सरस्वती ने आगे चलकर अनुकूल तर्कों का प्रदर्शन किया है, अतः व्यभिचार संदेह निराधार है]।

★

: २ :

प्रपञ्चमिथ्यात्वेऽनुमानप्रयोगाः

न्यायामृतम्

प्रमाणं चात्रानुमानम्—'विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात्; शुक्तिरूप्यवद्'—इत्यानन्दबोधोक्तेः। अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, पटत्वादंशि-

अद्वैतसिद्धिः

एवं विप्रतिपत्तौ प्राचां प्रयोगाः—विमतं मिथ्या, दृश्यत्वात्, जडत्वात्, परिच्छिन्नत्वात्; शुक्तिरूप्यवदिति। [1]नावयवेष्वाग्रहः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस प्रकार न्यायामृतकार के द्वारा प्रतिपादित विप्रतिपत्ति-वाक्य की निरर्थकता का निराकरण एवं विप्रतिपत्ति-वाक्य का उद्भावन न्यायोचित सिद्ध हो जाने पर (जगन्मिथ्यात्ववादी श्री आनन्दबोधादि) प्राचीन आचार्यों के प्रपंच-मिथ्यात्व-साधक अनुमान-प्रयोग प्रदर्शित किये जाते हैं—विमत (विप्रतिपन्न प्रपंच) मिथ्या है, क्योंकि वह दृश्य है, जड़ है, परिच्छिन्न है; जैसे—शुक्ति-रजत (द्र. न्या. म. पृ. १२८, प्र. मा. पृ. ११, न्या. दी. पृ. १)। यहाँ प्रतिज्ञादि अवयवों के लिए हमें विशेष आग्रह नहीं कि इतने ही अवयवों का प्रयोग किया जाय। [आशय यह है कि परार्थानुमान में नैयायिक पाँच अवयवों का प्रयोग किया करते हैं—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" (न्या. सू. १।१।३२)। पुरातन वैशेषिकाचार्य भी वे ही पाँच अवयव मानते हैं—"अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः" (प्र. भा. पृ. ११४)। किन्तु वैशेषिक-पुङ्गव श्री वादिवागीश्वराचार्य कहते हैं—"यावदङ्गविशिष्टं साधनं, तावदभिधातव्यम्। अङ्गं च द्वे एव—व्याप्तिपक्षधर्मते" (मा. म. पृ. ८५)। इसीलिए वैशेषिक सूत्रों की एक वृत्ति(पृ. ३६) में कहा है—"सौगतवादिवागीश्वरादयस्तु यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा—महानसम्, धूमवाँश्च पर्वत इत्यवयवद्वयमेव प्रयोक्तव्यमित्याहुः"

यद्यपि बौद्ध-धुरन्धर श्री दिङ्नाग कहते हैं—"तत्र पक्षादिवचनानि साधनम्। पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते" (न्या. प्र. पृ. १)। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि सौगताचार्य प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त तीन अवयव मानते थे। तथापि श्री पार्श्वदेव ने इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए कहा है—"सौगतमते तु न पंचावयवमपीष्यते, किन्तु तन्मते हेतुपुरःसर एव प्रयोगः क्रियते। ततो हेतुदृष्टान्तयोरेव साधनावयवत्वं न पक्षस्य। अत एतदभिप्रायेण हरिभद्रेणोक्तम्—पक्षोपलक्षितहेतुदृष्टान्तवचनानि साधनमिति" (न्या. प्र. वृ. पं. पृ. ४२–४३)। इन मतवादों का संकलन करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने मीमांसक-दृष्टिकोण का इस प्रकार निर्देश किया है—

"तत्र पञ्चतयं केचिद् द्वयमन्ये वयं त्रयम्।
उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्॥" (शा. दी. पृ. ६४)

वेदान्तिगण व्यवहार में भाट्टानुसारी होने पर भी अवयव-प्रयोग के लिए विशेषाग्रही नहीं होते। स्वयं आचार्य आनन्दबोध भट्टारक पाँच अवयवों का प्रदर्शन करते हैं—"विवादपदं मिथ्या, दृश्यत्वाद्, यदित्थं तत्तथा, यथोभयवाद्यविवादपदं रजतम्, तथैतत्, तत् तथा" (न्या. दी. पृ. १)। किन्तु आचार्य चित्सुखमुनि का मन मानमनोहर ने हरण कर रखा है—"पञ्चावयववाक्यमपि न प्रयोजनवदवश्यमिति पश्यामः। यावदङ्गविशिष्टं च प्रमाणं तावदेव वक्तव्यम्।

न्यायामृतम्

त्वात् पटान्तरवद्'—इति तत्त्वप्रदीपोक्तेः । यद्यपि विमतिरपि नियतविषयस्वायावच्छेद-कान्तरसापेक्षा, तथापि सावयवत्वसाधितेन कार्यत्वेन पृथिव्याः सकर्तृकत्वसाधनमिव स्वनियामकनियतया लघ्व्या विप्रतिपत्त्या पक्षतावच्छेदो न विरुद्धः ।

यद्वा पृथिवी सत्या मिथ्या वा, जलं सत्यं मिथ्या वेत्यननुगतधर्म्याश्रया अनुगता विप्रतिपत्तिः पक्षतावच्छेदिका । यद्यपि विमतिस्समयबन्धादिना व्यवहितत्वान्नानुमानकालेऽस्ति, तथापि सैवोपलक्षणतया तज्ज्ञानं वा विशेषणतया पक्षताऽवच्छेदकमस्तु । अत एव विमतमित्येव प्राचां प्रायोगः, न तु वियदादीत्येव पक्षनिर्देशः; अवच्छेदकाभावेऽसंकुचितेनादिशब्देन आत्मादेरपि ग्रहणप्रसंगात् । नापि प्रपंच इत्येव पक्षनिर्देशः, प्रपंचशब्देन वियदाद्यन्यतत्समुदायोक्तौ वियदादिमिथ्यात्वासिद्धेः । वियदादीनामेवोक्तावबच्छेदकाभावेनोक्तदोषात् । नापि वियदित्येव पक्षनिर्देशः, घटादिस्तु पक्षतुल्य इति वाच्यम्, पक्षादन्यत्र निश्चितसाध्याभाववति हेतुसंदेह इव निश्चितहेतुमति साध्यसंदेहेऽपि संदिग्धानैकान्त्यात् । प्रतिज्ञां प्रत्यविषये घटे स्वार्थानुमानानुगतस्य साधकबाधकप्रमाणविरहरूपपक्षत्वस्य सत्त्वेऽपि एवं (विध) पक्षनिर्देशस्य घटादिसाधारणविप्रतिपत्त्यनानुगुण्याच्च । विप्रतिपत्तौ तु न विमतिधर्मितावच्छेदिका, आत्माश्रयात् ।

अद्वैतसिद्धिः

अत्र स्वनियामकनियतया विप्रतिपत्त्या लघुभूतया पक्षतावच्छेदो न विरुद्धः । समयबन्धादिना व्यवधानात्तस्या अनुमानकालासत्त्वेऽप्युपलक्षणतया पक्षतावच्छेदकत्वम् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अङ्गं च द्वयमेव—व्याप्तिः पक्षधर्मता चेति" (चित्सु. पृ. ९०१)। आचार्य मधुसुदन सरस्वती सभी बन्धनों से ऊपर उठकर उद्घोषित करते हैं कि हम प्रतिवादी के मतानुसार ही अवयवों का प्रयोग कर अपना मन्तव्य सिद्ध कर सकते हैं]।

उक्त अनुमान-प्रयोग के लघुभूत 'विमत' पद से उसी धर्मी (समस्त प्रपंच) का पक्षरूप से प्रस्तुतीकरण किया गया है, जो कि कथित विप्रतिपत्ति-वाक्य में 'ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्भिन्नम्'—इतने बड़े गुरुभूत वाक्य से उपस्थापित है, अतः कोई विरोध प्रसक्त नहीं होता । [सामान्य नियम यह है कि विप्रतिपत्ति-वाक्य में प्रदर्शित धर्मी को अनुमान-प्रयोग में पक्ष तथा अन्यतर धर्म को साध्य वनाया जाता है। किन्तु यहाँ न तो विप्रतिपत्ति वाक्य के धर्मी (ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्भिन्नम्) को पक्ष ही बनाया गया है और न 'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्' को साध्य, अतः उक्त सामान्य नियम का विरोध हो रहा है। इस विरोध का परिहार करने के लिए श्रीव्यासतीर्थ तथा श्रीमधुसूदन सरस्वती दोनों महारथी एक ही धरातल पर उतरकर उद्घोषित करते हैं कि विमतत्व या विमति को पक्षतावच्छेदक तथा मिथ्यात्वादि को साध्यतावच्छेदक मानने में ही लाघव है । विमति और विप्रतिपत्ति पर्याय शब्द हैं । विप्रतिपत्ति-विशिष्ट धर्मी (प्रपंच) को पक्ष बनाने पर विप्रतिपत्ति पक्षतावच्छेदक होती है। विप्रतिपत्ति का प्रपंच के साथ वैशिष्टय विशेष्यतावच्छेदता सम्बन्ध से विवक्षित है । प्रक्रान्त विप्रतिपत्ति के नियामक उसके घटक ब्रह्मप्रमातिरिक्तावाध्यत्व सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व तथा चिद्भिन्नत्व—तीनों विशेषण हैं । इन्हीं विशेषणों से युक्त धर्मी को विषय करने वाली विप्रतिपत्ति पक्षताच्छेदक बताई गई है । अतः अप्रासंगिक विप्रतिपत्ति का ग्रहण कर कोई दोष नहीं दिया जा सकता]। विप्रतिपत्ति का

न्यायामृतम्

नवीनास्तु एतत्पटात्यन्ताभावः एतत्तन्तुनिष्ठः, एतत्पटानाद्यभावत्वाद्, एतत्पटान्योऽन्याभाववत्। (एतत्) तन्तुनाशजन्यस्य (एतत्) पटनाशस्य (एतत्) तन्त्ववृत्तित्वादनादीति विशेषणम्। विमतं वा ब्रह्मप्रमान्येनेत्यादि विप्रतिपत्तिवाक्योक्तविशेषणत्रयवत्त्वे सति अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणं वा स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्मत्वात् संयोगवदिति। अत्र च पक्षधर्मताबलान्मिथ्यात्वसिद्धिः। विमतं नित्यद्रव्यान्यत्, केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगि, पदार्थत्वात्, नित्यद्रव्यवत्। तार्किकमते नित्यद्रव्याणामवृत्तित्वेन तदत्यन्ताभावः केवलान्वयीति न दृष्टान्तः साध्यविकलः। अत एव नात्मनि व्यभिचारः। मिथ्यात्वसिद्धिस्तु पक्षधर्मताबलात्। आत्मत्वावच्छिन्नधर्मिताको भेदो न परमार्थसत्प्रतियोगिकः, अनात्ममात्रप्रतियोगिकत्वात्, शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकभेदवदित्याहुः।

अद्वैतसिद्धिः

यद्वा (अथवा) विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदकमेव पक्षतावच्छेदकम्। प्राचां प्रयोगेष्वपि विमतमिति पदं विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नाभिप्रायेणेत्यदोषः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रदर्शन होने के पश्चात् समय-बन्ध (आवश्यक नियमों) का उल्लेख होता है। फिर कहीं साधन-प्रयोग का अवसर आता है। तब तक विप्रतिपत्ति वर्तमान नहीं रह सकती, अतः उसे उपलक्षक या उपलक्षण विधया पक्षता का अवच्छेदक माना जाता है।

अथवा (आर्थिक गौरव के कारण यदि विप्रतिपत्ति को पक्षता का अवच्छेक नहीं मान सकते, तब) विप्रतिपत्ति के विषयतावच्छेद (विशेष्यतावच्छेदक) ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्व, सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व एवं चिद्भिन्नत्व को ही पक्षता का अवच्छेदक समझना चाहिये। प्राचीन आचार्यों के अनुमान-प्रयोगों में 'विमत' पद उक्त विप्रतिपत्ति-विषयतावच्छेदक धर्मों से युक्त प्रपंच का ही बोधक है, इस प्रकार कोई दोष नहीं रह जाता।

[संशय-पक्षता का खण्डन करके नैयायिकों ने 'अनुमित्साविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव' को पक्षता माना। उनका आशय यह निकला कि अनुमिति होने से पूर्व परामर्श के साथ अनुमित्सा का रहना आवश्यक-सा है। किन्तु यदि परामर्श-काल में अनुमित्सा सुलभ न हो पाई, तब क्या होगा? इसपर दीधितिकार श्री रघुनाथ शिरोमणि ने पक्षधर मिश्र का मत दिखाते हुए कहा है—"अन्ये तु द्वित्रिक्षणान्तरितायामप्यनुमित्सायामनुमितिदर्शनाद् अनुमित्सायोग्यता वाच्या। सा च अनुमित्सानन्तरं लिङ्गदर्शनादिक्रमेण यावता कालेनोत्सर्गतः परामर्शो जायते, तावानेव कालः, फलबलेन तथा कल्पनात्। अथवाऽनुमित्सोत्पत्त्यनन्तरमनुमित्सानाशेऽपि सिद्धौ सत्यां यावत्कालमध्येऽनुमितिर्जायते, तावानेव कालोऽनुमित्सयोपलक्षितः" (पक्षता० पृ० १२४) अर्थात् अनुमित्सा विनाश के गर्भ में जाते-जाते एक काल-खण्ड को अपना प्रतिनिधि बना जाती है, अनुमित्सा के अभाव में वही पक्षता का सम्पादन करता है।

यहाँ के दोनों महारथियों ने पक्षता में न तो विप्रतिपत्ति का ही प्रवेश होने दिया और न तज्जनित संशय का। फिर याद आया कि बड़े-बूढ़े कह गये हैं—'**विमतं मिथ्या** दृश्यत्वात्' (न्या० दी० पृ० १)। 'विमत' शब्द का अर्थ होता है- विप्रतिपन्न या विप्रतिपत्ति का विशेष्य प्रपञ्चरूप पक्ष। अतः पक्षता में विप्रतिपत्ति बलात् प्रविष्ट हो जाती है—

विप्रतिपत्ति-विशिष्टम् = विमतम्, वैशिष्ट्यं च स्वविषयत्वेन अथवा स्वविषयतावच्छेदकावच्छिन्नत्वेन। तब विपतिपत्ति के न रहने पर पक्षता का सम्पादन कैसे होगा? इस प्रश्न के उत्तर में कथित मिश्र-मत प्रतिबिम्बित किया गया है]।

: २ :

मिथ्यात्वदृश्यत्वयोः स्वरूपविचारः

न्यायामृतम्

मिथ्यात्वं च यद्यपि नात्यन्तासत्त्वम्, अपसिद्धान्तात्। नाप्यनिर्वाच्यत्वम्, अप्रसिद्धेः। नापि सद्विविक्तत्वम्, सतोऽपि सदन्तरविविक्तत्वात्। नापि सत्त्वानधिकरणत्वम्, निर्धर्मके ब्रह्मण्यपि सत्त्वात्। न च निर्धर्मकत्वादेव तत्र सत्त्वानधिकरणत्वमपि नेति वाच्यम्, निर्धर्मकत्वरूपहेतोः सत्त्वानधिकरणत्वाभावरूपसाध्यस्य च भावाभावाभ्यां व्याघातेनाभावरूपधर्मनिषेधायोगात्। अन्यथाऽसत्त्वानधिकरणत्वस्यापि तत्राभावेन तद्व्यावृत्त्यर्थमनिर्वाच्यलक्षणे सत्त्वानधिकरणत्वरूपविशेषणायोगात्। न च प्रमित्यविषयत्वं मिथ्यात्वम्, ब्रह्म तु वेदान्तजन्यवृत्तिव्याप्यमिति वाच्यम्, शुक्तिरूप्यादेरपि व्यवसायद्वारा अनुव्यवसायं प्रति साक्षाच्च बाधकज्ञानं प्रति-मिथ्यात्वनिषेध्यत्वेन विषयत्वात्। सत्त्वप्रकारकप्रमां प्रति साक्षादविषयत्वं चेद्, आवश्यकत्वात् सत्त्वाभाव एव मिथ्यात्वं स्यात्। नापि भ्रान्तिविषयत्वम् ब्रह्मणोऽप्यधिष्ठानत्वेन तद्विषयत्वात् भ्रान्तिमात्रविषयत्वस्य चोक्तरीत्या शुक्तिरूप्यादावप्यभावात्। अध्यस्ततया भ्रान्तिविषयत्वं चेद्, विशेष्यवैयर्थ्यात्। विशेषणमात्रस्य च निरुच्यमानमिथ्यात्वानतिरेकात्। नापि बाध्यत्वम्। तद्धि न तावदन्यथा विज्ञातस्य सम्यग्विज्ञातत्वम्, मिथ्यात्वक्षणिकत्वादिना विज्ञातस्य प्रपंचस्य सत्यत्वस्थायित्वादिना विज्ञातत्वेन सिद्धसाधनाद्। नापि बाधकज्ञानविषयत्वम्, ब्रह्मण्यतिव्याप्तेः। नापि नास्ति नासीन्न भविष्यतीति बोध्यमानाभावप्रतियोगित्वेन तद्विषयत्वम्, मन्मते ह्यापणस्थरूप्यस्यैव तत्प्रतियोगित्वात्। नापि ज्ञाननिवर्त्यत्वम्, उत्तरज्ञाननिवर्त्यपूर्वज्ञानादाविव सत्त्वेप्युपपत्तेः। नापि स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्, अव्याप्यवृत्तिसंयोगादेरिव सत्त्वेप्युपपत्तेः। नाप्यव्याप्यवृत्तित्वानाश्रयस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्, आरोपितस्य संयोगस्याऽत्यन्ताभावस्तु अनारोपितस्य संयोगस्यात्यन्ताभावादन्य एव व्याप्यवृत्तिरिति वाच्यम्, शुक्तिरूप्यादौ तदभावादित्युक्तत्वाद्। नाप्यविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वम्, अनादौ जीवब्रह्मविभागादावव्याप्तेः। परमतेऽज्ञानस्य तत्कार्यभ्रान्त्यादेश्च सत्यत्वेनार्थान्तरत्वाच्च। शुक्तिरूप्यादावनिर्वाच्याविद्याकार्यत्वस्य प्रतिवाद्यसंमतेश्च।

तथापि मिथ्याशब्दोऽनिर्वाच्यवचन इति पंचपादिकारीत्या सदसत्त्वानधिकरणस्वरूपानिर्वाच्यत्वं मिथ्यात्वम्, तत्प्रसिद्धिश्च ख्यातिवादे वक्ष्यते॥ १॥

यद्वा बाध्यत्वमनिर्वाच्यत्वम्। तच्च शुक्तिरूप्यादेरेव पारमार्थिकत्वाकारेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगीति मते प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्। उक्तं हि विवरणे—"प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वलक्षणस्य मिथ्यात्वस्य" इति। उक्तं च वार्तिके—

> तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
> अविद्यासहकार्येण नासीदस्ति भविष्यति॥ (बृह.वा.पृ. ९६)

प्रतिपन्नत्वं च न प्रमितत्वं येन विरोधः; नापि भ्रान्तिप्रतिपन्नत्वम्, येन सिद्धसाधनम्; किन्तु प्रतीतत्वमात्रम्। सर्वस्मिंश्च प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं विवक्षितम्। सत्त्वपक्षे रजतत्वं प्रतिपन्नोपाधौ शुक्तौ निषिध्यमानमपि रजते न निषिध्यत इति न सिद्धसाधनम्॥ २॥

न्यायामृतम्

मतान्तरे तु बाध्यत्वं ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वम्। उक्तं हि विवरणे—"अज्ञानस्य स्वकार्येण वर्तमानेन प्रविलीनेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिर्बाधः" इति। अनुमितिं प्रति मनसो मनस्त्वेन हेतुत्वेऽपीन्द्रियत्वेनाहेतुत्ववत् पूर्वज्ञानादिकं प्रति उत्तरस्य ज्ञानेच्छादेरुत्तरात्मविशेषगुणत्वेन निवर्तकत्वेऽपि ज्ञानत्वेनानिवर्तकत्वात् ॥ ३ ॥

अथवा चित्सुखरीत्या स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्। संयोगतदत्यन्ताभावयोरवच्छेदकभेदेन भिन्नाश्रितत्वस्यैवानुभवेन सत्त्वपक्षे सामानाधिकरण्या (योगात्) भावात्। शुक्तिरूप्यादेरपि पारमार्थिकत्वाकारेण स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाच्च। न चाधिकरणशब्देन[1] तात्त्विकाधिकरणोक्तौ समवायिनि संयोगिनि वा तत्त्वतस्तदधिकरणे तदत्यन्ताभावायोगेनासम्भवः। अधिकरणत्वेन प्रतीतत्वमात्रोक्तौ चान्यथाख्यातिपक्षे रजतत्वादेः स्वाधिकरणत्वेन प्रतीतशुक्त्यादावत्यन्ताभावस्य सत्त्वात्सिद्धसाधनमिति वाच्यम्, स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वस्य विवक्षितत्वात्, तत्पक्षे च रजतत्वादिकं स्वात्यन्ताभावानधिकरणे रजतेऽपि भाति ॥ ४ ॥

यद्वाऽऽनन्दबोधोक्तरीत्या सद्विविक्तत्वम् मिथ्यात्वम्। तच्च सद्रूपत्वाभावः। ब्रह्म च सत्तारहितमपि सामान्यमिव सद्रूपम् ॥ ५ ॥

दृश्यत्वं च न्यायदीपावलीरीत्या दृग्विषयत्वम्। ननु यन्न मिथ्या, न तद् दृश्यमिति व्यतिरेकस्याग्रहे सन्दिग्धानैकान्त्यम्। तद्ग्रहश्च न तावदसति, तत्र सद्विविक्तत्वरूपमिथ्यात्वस्य व्यतिरेकाभावात्। मिथ्यात्वान्तरव्यतिरेकसद्भावेऽपि तत्र (मिथ्यात्व) साध्यव्यतिरेकग्रहार्थं तस्यापि ज्ञातव्यत्वेन व्यभिचारात्। ब्रह्मणि मिथ्यात्वव्यतिरेकग्रहे च ब्रह्मापि दृश्यमिति चेन्न, आकाशस्य स्वरूपेणापरिच्छेदेऽपि घटावच्छिन्नस्य परिच्छेदवद् ब्रह्मणः स्वरूपेणादृश्यत्वेऽपि व्यतिरेकावच्छिन्नस्य दृश्यत्वात् ॥ १ ॥

यद्वा प्रमाणमालारीत्या स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंवि (त्सा) दपेक्षानियतिर्दृश्यत्वम्। तथा चात्मनो ज्ञानविषयत्वेऽपि नोक्तरूपं दृश्यत्वम् ॥२॥ अस्वप्रकाशत्वं वा दृश्यत्वम्। स्वप्रकाशत्वं च फलाव्याप्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्। फलं च वृत्तिप्रति (बिम्बित) फलितचैतन्यम्। स्वप्रकाशत्वाभावश्च घटादौ विशेषणाभावेन धर्मादौ विशेष्याभावनेति विशिष्टाभावोऽनुगतः ॥ ३ ॥ अस्मिंश्च पक्षे जडत्वमसंविद्रूपत्वमित्यसंकरः ॥४॥

श्रुतिश्चात्र प्रमाणम्—"एकमेवाद्वितीयम्"—इत्यादौ अद्वितीयमित्यादिशब्दैर्द्वितीयमात्रनिषेधात्। न च प्रत्यक्षबाधादनुमानममानं श्रुतिश्चामुख्यार्थेति युक्तम्, प्रत्यक्षेण व्यावहारिकसत्त्वग्रहात्। अनुमानादिभिश्च पारमार्थिकसत्त्वनिषेधात्। न हि वर्तमानमात्रग्राहि प्रत्यक्षं त्रिकालाबाध्यत्वग्राहि। वह्निरनुष्ण इत्यत्र तु उष्णत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धव्यावहारिकसत्त्वप्रतिषेधाद्बाधः। दृश्यते च नभोनैल्यचन्द्रप्रादेशत्वग्राहिप्रत्यक्षयोरनुमानागमाभ्यां बाध इति।

---

१. 'प्रतियोग्यधिकरणात्यन्ताभाव'—इत्यत्र तात्त्विकप्रतियोग्यधिकरणविवक्षायामित्यर्थः। समवायिनीत्यादि। घटादेः समवायेन तत्त्वतोऽधिकरणं मृत्पिण्डादि, संयोगेनाधिकरणं भूतलादि। समवायेन संयोगेन वा सम्बन्धेन तत्त्वतो घटादिरूपप्रतियोग्यधिकरणे मृदादौ च तदत्यन्ताभावायोगेन घटादौ लक्ष्ये लक्षणाभावादसम्भव इति च भावः। अधिकरणत्वेन प्रतीतेति। प्रतियोग्यधिकरणत्वेन यत् प्रतीतम्, तदधिकरणकात्यन्ताभावविवक्षायामित्यर्थः। तथा च प्रतियोग्यधिकरणत्वं तात्त्विकं न विवक्षितमित्याशयः। मायिमते शुक्त्यादौ प्रातिभासिकरजतस्य सत्त्वान्न तत्र तदत्यन्ताभावो वक्तुं युक्तः, अत उक्तम्—अन्यथाख्याति पक्ष इति। इति श्रीनिवासः।

: ४ :

प्रथममिथ्यात्वविचारः

न्यायामृतम्

उच्यते—मिथ्यात्वं हि त्वयैव पक्षान्तरनिषेधेन पंचधा निरुक्तम्। तत्राद्ये किं सत्त्वे सत्यसत्त्वरूपविशिष्टस्याभावोऽभिप्रेतः? किं वा सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वयम्? यद्वा सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सति असत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वरूपं विशिष्टम्? नाद्यः, मन्मते सदेकस्वभावे जगति तस्य सिद्धत्वात्। न द्वितीयः, व्याहतेः। निर्धर्मकब्रह्मवत्सत्त्वराहित्येऽपि सद्रूपत्वेनाऽमिथ्यात्वोपपत्त्यार्थान्तराच्च। पृथिवी इतरभिन्ना पृथिवीत्वा-

---

अद्वैतसिद्धिः

ननु किमिदं मिथ्यात्वं साध्यते? न तावत् 'मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचनः' इति पंचपादिकावचनात् सदसत्त्वानधिकरणत्वरूपमनिर्वाच्यत्वम्। तद्धि किं असत्त्वविशिष्टअसत्त्वाभावः? उत सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपं धर्मद्वयम्। आहोस्वित् सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सति असत्त्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टम्? नाद्यः, सत्त्वमात्राधारे जगत्यसत्त्वविशिष्टसत्त्वानभ्युपगमात्, विशिष्टाभावसाधने सिद्धसाधनात्। न द्वितीयः, सत्त्वासत्त्वयोरेकाभावे अपरसत्त्वावश्यकत्वेन व्याघातात्, निर्धर्मकब्रह्मसत्त्वासत्त्वराहित्येऽपि सद्रूपत्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—उक्त अनुमान के द्वारा कैसा मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है? यदि कहा जाय कि "मिथ्याशब्दोऽनिर्वचनीयतावचनः" (पं. पा. पृ. २३) इस पंचपादिका-वचन के आधार पर सदसत्त्वानधिकरणत्वरूप अनिर्वाच्यत्व सिषाधयिषित है। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह क्या (१) सत्त्व-विशिष्ट असत्त्व का अभाव है? या (२) सत्त्वात्यन्ताभाव और असत्त्वात्यन्ताभावरूप धर्मद्वय? या (३) सत्त्वात्यन्ताभाव-विशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभावरूप है?

(१) प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि केवल सत्त्व धर्म के आधारभूत प्रपंच में सत्त्व-विशिष्ट असत्त्व नहीं माना जाता, अतः विशिष्टाभाव (सत्त्व-विशिष्ट असत्त्व के अभाव) को साध्य करने पर माध्व-मत में सिद्ध-साधनता दोष है [जैसा कि व्यासतीर्थ ने कहा है—"मन्मते सदेकस्वभावे जगति तस्य सिद्धत्वात्" अर्थात् असत्त्वरूप विशेष्य का अभाव होने से विशेष्याभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव सद्रूप प्रपंच में सिद्ध ही है]।

(२) द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व—दोनों परस्पर अभावरूप हैं [अर्थात् सत्त्व का अभाव सत्त्वाभाव या असत्त्व तथा असत्त्व का अभाव सत्त्वाभावाभाव या सत्त्व होता है]। अतः उन दोनों में एक का अभाव होने से दूसरे का भाव या सत्ता आवश्यक है। दोनों विरोधी धर्मों का अभाव एक ही समय और एक ही धरातल पर सिद्ध करना व्याहत या बाधित है [अर्थात् सत्त्व का अभाव या असत्त्व सिद्ध होने पर असत्त्व का अभाव सिद्ध करना नितान्त असम्भव है]। दूसरी बात यह भी है कि जैसे ब्रह्म में वेदान्तिगण कोई धर्म नहीं मानते, अतः उसमें सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मों का अभाव है। फिर भी वह अनिर्वचनीय या मिथ्या नहीं माना जाता, अपि तु पारमार्थिक सत् माना जाता है। वैसे ही प्रपंच में भी पारमार्थिक सत्त्वाविरोधी उक्त सत्त्वासत्त्वाभाव सिद्ध किया जाता है, तब 'अर्थान्तर'

न्यायामृतम्

दित्यत्र त्रयोदशान्योन्याभावानामिवात्रापि सत्त्वासत्त्वात्यन्ताभावयोः प्रत्येकं प्रसिद्धत्वेन कथंचिदप्रसिद्धविशेषणत्वाभावेऽपि असत्त्वात्यन्ताभावांशे सिद्धसाधनाच्च। न हि सिद्धमसिद्धेन सहोच्चरित (च्यमान) मसिद्धं भवति। पृथिवीतरभिन्नेत्यत्र तु जलाद्येकैकान्योन्याभावोऽपि न पृथिवीत्वोपहिते सिद्धः। दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्याच्च। पृथिवीत्वहेतुस्तु केवलव्यतिरेकी। त्रयोदशान्योन्याभावरूपसाध्यस्य व्यतिरेकनिरूपणं तु भिन्नाश्रितानामपि त्रयोदशान्योन्याभावानां समूहालम्बनैकज्ञानोपारूढत्वमात्रेण युक्तम्। अत एव न तृतीयः, व्याहतेरर्थान्तरात् (दृष्टान्ते) साध्यवैकल्याच्च।

अद्वैतसिद्धिः

अमिथ्यात्वोपपत्त्या अर्थान्तराच्च। शुक्तिरूप्ये अबाध्यत्वरूपसत्त्वव्यतिरेकस्य सत्त्वेन बाध्यत्वरूपासत्त्वस्य व्यतिरेकासिद्ध्या साध्यवैकल्याच्च। अत एव न तृतीयः, पूर्ववद् व्याघातात्, अर्थान्तरात्साध्यवैकल्याच्चेति चेत्,

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नाम का निग्रह-स्थान प्रसक्त होता है। [बाईस प्रकार के निग्रह-स्थानों में 'अर्थान्तर' नाम का भी एक निग्रह-स्थान होता है—"प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्" (न्या. सू. ५।२।७) अर्थात् प्रकृतासम्बद्धाभिधान अर्थान्तर कहलाता है। कथा में इसका प्रयोग करनेवाला निगृहीत (पराजित) समझा जाता है। आचार्य धर्मकीर्ति ने भी इस दोष से अपनी सहमति प्रकट की है—"न्याय्यमेतन्निग्रहस्थानम्, पूर्वोत्तरपक्षवादिनोः प्रतिपादिते दोषे प्रकृते परित्यक्ष्या-साधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं च" (वा. न्या. पृ. ९५)। चरकसंहिता भी कहती है—"अर्थान्तरं नाम ज्वरलक्षणे वाच्ये प्रमेहलक्षणमाह" (च.सं.पृ. २५८)। द्वैतवादी प्रपंच को ब्रह्म के समान ही सद्रूप मानता है। अद्वैती उक्त अनुमान के द्वारा प्रपंच में सत्त्वरूप धर्म का अभाव सिद्ध कर रहा है। वह सत्त्वाभाव जैसे ब्रह्म में सद्रूपता का विरोधी नहीं, वैसे ही प्रपंच में भी सद्रूपता का विरोधी नहीं हो सकता, अतः प्रपंच की सत्यता अक्षुण्ण रह जाती है। अद्वैती सद्रूपता का विरोधी सत्त्वाभावरूप मिथ्यात्व सिद्ध करता था, किन्तु वह सद्रूपता का अविरोधी सत्त्वाभावमात्र सिद्ध हो रहा है, अतः वह निगृहीत हो जाता है। गौड़ ब्रह्मानन्द भी कहते हैं—"सद्रूपत्वाविरोधिमिथ्यात्वासिद्ध्याऽर्थान्तरमिति भावः"।

सत्त्वाभाव और असत्त्वाभावरूप साध्य का सहचार शुक्ति-रजत-रूप दृष्टान्त में सम्भव नहीं, क्योंकि वहाँ अबाध्यत्वरूप सत्त्व का अभाव सुलभ होने पर भी बाध्यत्वरूप असत्त्व का अभाव सिद्ध नहीं, अतः दृष्टान्त में साध्य-विकलता दोष है। [आचार्य दिङ्नाग साधर्म्य दृष्टान्त के पाँच दोष गिनाते हैं—१. साधनधर्मासिद्धिः, २. साध्यधर्मासिद्धिः, ३. उभयधर्मासिद्धिः, ४. अनन्वयः, ५. विपरीतान्वयश्च। "साध्यधर्मासिद्धो यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वाद् बुद्धिवत्। बुद्धौ हि साधनधर्मोऽमूर्तत्वमस्ति साध्यधर्मो नित्यत्वं नास्ति, अनित्यत्वाद् बुद्धेः" (न्या. प्र. पृ. ५-६)। आचार्य वादिवागीश्वर भी पाँच दृष्टान्ताभास मानते हैं—"दृष्टान्ताभासास्तु साध्यविकलसाधनविकलव्याप्त्यकथनविपरीतव्याप्तिकथनाश्रयहीनाः" (मा. म. पृ. ८९)। श्रीसिद्धसेन दिवाकर ने भी कहा है—

'साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः।
अपलक्षणहेतूत्थाः साध्यादिविकलादयः॥" (न्याया० २४)]।

न्यायामृतम्

किं च यथा अनित्ये वाङ्मनसे इत्यत्र पक्षतावच्छेदकनानात्वेनांशे सिद्धसाधनत्वेऽपि पृथिवीतरभिन्नेत्यत्र पक्षतावच्छेदकैक्यान्नांशे (ज्ञातः) सिद्धसाधनम्, तथेहापि यद्यपि कथंचित् साध्यतावच्छेदकैक्यान्नांशे सिद्धसाधनत्वम् । नापि व्यर्थविशेष्यत्वम् । विमतं

अद्वैतसिद्धिः

मेवम् । सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वयविवक्षायां दोषाभावात् । न च व्याहतिः । सा हि सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपतया वा ? परस्परविरहव्यापकतया वा ? परस्परविरहव्याप्यतया वा ? तत्र नाद्यः, तदनङ्गीकारात् । तथा ह्यत्र त्रिकालाबाध्यत्वरूप-
व्यतिरेको नासत्त्वम्, किं तु क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वम् । तद्व्यतिरेकश्च साध्यत्वेन विवक्षितः । तथा च त्रिकालाबाध्यविलक्षणत्वे सति क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूपं साध्यं पर्यवसितम् । एवं च सति न शुक्तिरूप्ये साध्यवैकल्यमपि । बाध्यत्वरूपासत्त्वव्यतिरेकस्य साध्याप्रवेशात् । नापि व्याघातः, परस्परविरहरूपत्वाभावात् । अत एव न द्वितीयोऽपि,सत्त्वाभाववति शुक्तिरूप्ये विवक्षितासत्त्वव्यतिरेकस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(३) अत एव तृतीय (सत्त्वात्यन्ताभावविशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभाव) पक्ष भी उचित नही, क्योंकि इस में भी पूर्ववत् व्याघात, अर्थान्तरता और दृष्टान्त में साध्य-विकलता—तीनों दोष हैं।

अद्वैतवादी—आप (द्वैतवादी) ऐसा न कहें (कि कथित तीनों पक्षों में कोई पक्ष संगत नहीं), क्योंकि सत्त्वात्यन्ताभाव तथा असत्त्वात्यन्ताभावरूप दो धर्मों को अनिर्वचनीयत्व या मिथ्यात्व मानने पर कोई दोष नहीं है। यह जो व्याघात (सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव में विरोध) दोष दिया था, वह (१) सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मों के परस्पर (एक दूसरे का) अभावरूप होने के कारण उनके अभावों में विरोध माना जाता है ? या (२) परस्पराभाव के व्यापक होने के कारण ? या (३) परस्पराभाव के व्याप्य होने के कारण ?

(१) प्रथम कल्प तो अद्वैत वेदान्त में अंगीकृत नहीं है। अर्थात् न तो असत्त्व को सत्त्वाभावरूप माना जाता है और न सत्त्व को असत्त्वाभाव रूप। तीनों कालों में वाधित न होने वाले (ब्रह्म) पदार्थ को सत् कहा जाता है एवं किसी भी आधार में कभी भी सद्रूप से प्रतीत न होने वाले (गगनारविन्दादि) पदार्थ को असत्। इस प्रकार सत्त्वाभाव का अर्थ होता है—त्रिकालावाध्यत्वाभाव तथा असत्त्वाभाव का अर्थ है—किसी भी आधार में सद्रूपेण अप्रतीयमानत्व का अभाव अथवा किसी आधार में सद्रूपेण प्रतीयमानत्व। अत: 'त्रिकालावाध्य-भिन्नत्वे सती कचिदप्याश्रये सत्त्वेन प्रतीयमानत्वम्'—यह साध्य फलित होता है। इस प्रकार शुक्ति-रजत (दृष्टान्त) में साध्य के अभाव की आपत्ति भी नहीं होती, क्योंकि वाध्यत्वरूप असत्त्व के अभाव का साध्य में प्रवेश नहीं किया गया है। [अर्थात् अवाध्यत्वरूप सत्त्व के अभाव वाध्यत्वाभावाभाव या वाध्यत्व को असत्त्व मानकर यदि उसका अभाव असत्त्वाभाव के रूप में साध्य होता, तव शुक्ति-रजत में साध्य-विकलता दोष प्रसक्त होता। किन्तु जब उससे भिन्न असत्त्व की परिभाषा की जाती है, तव वही दोष प्राप्त नहीं होता]। व्याघात दोष भी प्राप्त नहीं होता, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व को परस्पराभावरूप नही माना जाता।

(२) अत एव द्वितीय (सत्त्व और असत्त्व दोनों परस्पर विरह-व्यापक हैं, अतः उनके अभावों का विरोध) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व परस्पराभाव के

अद्वैतसिद्धिः

विद्यमानत्वेन व्यभिचारात्। नापि तृतीयः, तस्य व्याघातात्प्रयोजकत्वात्, गोत्वाश्वत्वयोः परस्परविरहव्याप्यत्वेऽपि तदभावयोरुष्ट्रादावेकत्र सहोपलम्भाद्। यच्च निर्धर्मकस्य ब्रह्मणः सत्त्वराहित्येऽपि सद्रूपवत्प्रपंचस्य सद्रूपत्वेनामिथ्यात्वोपपत्त्या अर्थान्तरमुक्तम्। तन्न, एकेनैव सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्प्रतीत्युपपत्तौ ब्रह्मवत् प्रत्येकं प्रपंचस्य सत्त्वभावता-कल्पने मानाभावात्, अनुगतव्यवहाराभावप्रसंगाच्च। सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिकभेदद्वयं वा साध्यम्। तथा चोभयात्मकत्वेऽन्यतरात्मकत्वे वा, तादृग्भेदासंभवेन ताभ्यामर्थान्तरानवकाशः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यापक ही नहीं होते। सत्त्वाभाव का व्यापक असत्त्व इसलिए नहीं कि शुक्ति-रजत में उक्त सत्त्वाभाव के रहने पर भी असत्त्व नहीं रहता। [इसी प्रकार शुक्ति-रजत में असत्त्वाभाव के रहने पर भी सत्त्व नहीं माना जाता, अतः असत्त्वाभाव का व्यापक सत्त्व नहीं होता]।

(३) तृतीय (परस्परविरहव्याप्यता-प्रयुक्त विरोध) पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि जिन अभावों के प्रतियोगी परस्पराभाव के व्याप्य होते हैं, वे दोनों अभाव विरोधी होते हैं—यह नियम ही असंगत है, क्योंकि गोत्व और अश्वत्व परम्पराभाव के व्याप्य होते हैं। (अर्थात् गोत्व अश्वत्वाभाव का एवं अश्वत्व गोत्वाभाव का व्याप्य है।) किन्तु गोत्वाभाव और अश्वत्वाभाव का कोई विरोध नहीं, दोनों अभाव उष्ट्रादि में एक साथ उपलब्ध होते हैं। यह जो कहा था कि निर्धर्मक ब्रह्म में सत्त्व धर्म का अभाव रहने पर भी ब्रह्म सद्रूप होने के कारण मिथ्या नहीं होता, वैसे ही प्रपंच में सत्त्व का अभाव रहने पर भी सद्रूपता या सत्यता का बाध नहीं होता, अतः अर्थान्तरता है। वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि ब्रह्म की सद्रूपता प्रपंच में प्रतिभासित होती है, उतने से ही घटः सन्, पटः सन् आदि व्यवहार निभ जाता है, प्रपंच की घट, पटादि प्रत्येक वस्तु में पृथक् सद्रूपता की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं। अनन्त सद्रूपता या सत्ता की कल्पना करने पर सर्वत्र एकाकार सद्व्यवहार सम्भव नहीं होगा। [आशय यह है कि रज्जु में प्रातिभासिक सर्प, माला, जल-धारा आदि को माध्वगण अलीक या असत् मानते हैं। उनमें भी 'सर्पोऽस्ति, मालास्ति, धारास्ति'—इस प्रकार की प्रतीति होती है। क्या सर्पादि सद्रूप हैं ? कहना होगा कि नहीं। उनमें आश्रय की एक अनुगत सद्रूपता का आरोप मानकर ही उक्त प्रतीतियों का निर्वाह करना होगा। कुछ और गम्भीर विचार करने पर रज्जु आदि प्रपंच की प्रत्येक इकाई में एकमात्र (ब्रह्म) अधिष्ठान की सद्रूपता का अध्यास मानना ही लाघव-संगत प्रतीत होता है। इस प्रकार ~~ब्रह्म~~ प्रपंच की सद्रूपता का बाध हो जाने पर प्रपंच में सत्त्वाभाव की सिद्धि से अभीष्ट मिथ्यात्व पर्यवसित होता है तथा अर्थान्तरता समाप्त हो जाती है]।

अथवा सत्प्रतियोगिक भेद और असत्प्रतियोगिक भेद—इन दोनों भेदों को उक्त अनुमान में साध्य बनाया जा सकता है। प्रपंच को यदि सदसदुभयस्वरूप अथवा अन्यतररूप (सद्रूप या असद्रूप) माना जाय, तब उसमें कथित उभय भेद नहीं रह सकते, अतः प्रपञ्च को उभयात्मक या अन्यतरात्मक मानने पर अर्थान्तरता को कोई अवकाश नहीं मिलता। [आशय यह है कि सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव को साध्य बनाने पर यह कहा जाता था कि जैसे ब्रह्म में उक्त उभयाभाव के रहने पर भी सद्रूपता या सत्यता बाधित नहीं होती। वैसे ही प्रपंच में भी उक्त उभयाभाव के रहने पर भी सद्रूपता या सत्यता अबाधित ही रहेगी। किन्तु सद्-भेद और असद्-भेद को

न्यायामृतम्

उपादानापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यमित्यत्र कृतिग्रहणेनैवेश्वरसिद्धावपि चिकीर्षादेरिव गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नं समानाधिकृतत्वाद् - इत्यत्र तार्किकांगीकृतभिन्नत्वस्येव च व्यापकविशेषणानामुद्देश्यप्रतीत्यर्थत्वाद् , इह (च) तु सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणमिति प्रतीतेरुद्देश्यत्वात् । यदि चाभेदे सत्यपि घटः कलश इति सामानाधिकरण्यादर्शनाद् प्रयोजकत्वनिरासाय विशिष्टधीस्तत्रोद्देश्या, तर्हि तुच्छे सद्वैलक्षण्ये सत्यपि दृश्यत्वा-

---

अद्वैतसिद्धिः

न च असत्त्वव्यतिरेकांशस्यासद्भेदस्य च प्रपंचे सिद्धत्वेनांशतः सिद्धसाधनमिति-वाच्यम्, 'गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नं समानाधिकृतत्वादिति', भेदाभेदवादिप्रयोगे तार्किकाद्यङ्गीकृतस्य भिन्नत्वस्य सिद्धावपि उद्देश्यप्रतीत्यसिद्धेर्यथा न सिद्धसाधनम्, तथा प्रकृतेऽपि मिलितप्रतीतेरुद्देश्यत्वान्न सिद्धसाधनम् । यथा तत्राभेदे घटः कुम्भ इति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

साध्य मानने पर प्रपंच में इन दोनों भेदों का समन्वय कर के प्रपंच की सत्यता कथमपि सुरक्षित नहीं रखी जा सकती। प्रपंच को सद्रूप मानने पर उसमें सत्प्रतियोगिक भेद नहीं रह सकता और भेद के रहने पर सद्रूपता या सत्यता अक्षुण्ण नहीं रह सकती। जो अनेकान्तवादी प्रपंचगत सदसदुभयरूपता को सत्यता मानता है, उक्त उभय भेद के रहने पर उसकी वह सत्यता भी सुरक्षित नहीं रह सकती। शून्यवादी प्रपंच में असद्रूपता (निःस्वभावता या शून्यता) को ही तथता या सत्यता का रूप मानते हैं, उक्त उभय भेद के सिद्ध हो जाने पर वह सत्यता भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार अर्थान्तरता तथा सिद्ध-साधनतादि दोष प्रसक्त नहीं होते]।

द्वैतवादी—उक्त अनुमान के साध्यभूत सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव में से असत्त्वाभाव एवं सद्भेद और असद्भेद में से असद्भेद को प्रपंच में हम मानते ही हैं, अतः साध्य का एक अंश सिद्ध होने से आंशिक सिद्ध-साधनता दोष है।

अद्वैतवादी—पूर्ण साध्य के सिद्ध होने पर ही सिद्ध-साधनता दोष होता है, आंशिक सिद्ध-साधनता दोष नहीं माना जाता। जैसे कि गुण और द्रव्य का भेदाभेद माननेवाले मीमांसकादि अनुमान प्रयोग करते हैं - "गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नं, समानाधिकृतत्वात्" [नीलो घटः इस प्रकार नील गुण और घट द्रव्य का समानाधिकरण्य अर्थात् समान विभक्ति वाले पदों से प्रतिपादन देखा जाता है। अत्यन्त अभिन्न अर्थों का घटो घटः'—जैसा समानाधिकरण-प्रयोग नहीं होता एवं अत्यन्त भिन्न गौ तथा अश्व का 'गौरश्वः'—इस प्रकार का भी प्रयोग नहीं देखा जाता, अतः 'नीलो घटः'—ऐसे प्रयोग से नील गुण और घट द्रव्य का भेदाभेद सिद्ध होता है। इसी प्रकार जाति और व्यक्ति आदि में भी मीमांसक भेदाभेद ही मानते हैं। भेदाभेद का विरोध-परिहार करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने कहा है—"सामानाधिकरण्यं ह्यभेदमापादयति, अपर्यायित्वं च भेदम्; अतः प्रतीतिवलादविरोधः" (शा. दी. पृ. १०१।)]। नैयायिकादि गुण और द्रव्य का भेद मानते हैं, अतः उनके द्वारा उद्भावित मीमांसकों के उक्त अनुमान में जैसे आंशिक सिद्ध-साधनता दोष नहीं माना जाता, वैसे ही प्रकृत अनुमान में सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव का मिलित रूप सिषाधयिषित है, आंशिक सिद्धि से सिद्ध-साधनता दोष लागू नहीं होता। जैसे अत्यन्त अभिन्न पदार्थों में 'घटः कुम्भः'—इस प्रकार का सामानाधिकरण्य नहीं देखा जाता, अतः 'नीलो घटः' आदि में सामानाधिकरण्य-प्रतीति के आधार पर

न्यायामृतम्

दर्शनादिहापि सोद्देश्येति समम्, तथाप्यप्रसिद्धविशेषणत्वम्। पृथिवी इतरभिन्नेत्यत्र त्वनेकधर्मसाधनपक्ष एव प्रत्येकप्रसिद्ध्या साध्यप्रसिद्धिरुक्ता। अन्यथा शशादीनां प्रत्येकं प्रसिद्ध्या शशशृंगोल्लिखितत्वस्यापि सा स्यात्।

अद्वैतसिद्धिः

सामानाधिकरण्यप्रतीतेरदर्शनेन मिलितसिद्धिरुद्देश्या, तथा प्रकृतेऽपि सत्त्वरहिते तुच्छे दृश्यत्वादर्शनेन मिलितस्य तत्प्रयोजकतया मिलितसिद्धिरुद्देश्येति समानम्।

अत एव सत्त्वात्यन्ताभाववत्त्वे सत्यसत्त्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टं साध्यमित्यपि साधु; न च मिलितस्य विशिष्टस्य वा साध्यत्वे तस्य कुत्राप्यप्रसिद्ध्या अप्रसिद्धविशेषणत्वम्, प्रत्येकं प्रसिद्ध्या मिलितस्य विशिष्टस्य वा साधने, शशशृंगयोः प्रत्येकं प्रसिद्ध्या श[ाश]ीय-शृंगसाधनमपि स्यादिति वाच्यम्, तथाविधप्रसिद्धेः शुक्तिरूप्य एवोक्तत्वात्। न च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मिलित भेदाभेद की सिद्धि ही अभीष्ट होती है। वैसे ही प्रकृत में सत्त्व-सहित दृश्यत्व शशशृङ्गादि तुच्छ पदार्थों में उपलब्ध नहीं होता, अतः दृश्यत्व हेतु के द्वारा सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव के मिलित रूप की अनुमिति ही अभीष्ट होती है।

अत एव सत्त्वात्यन्ताभाव-विशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभाव-रूप विशिष्ट साध्य भी निर्दुष्ट है।

द्वैतवादी—उक्त अनुमान का साध्य (उभयाभाव या विशिष्टाभाव) कहीं पर भी प्रसिद्ध नहीं, अतः अप्रसिद्धविशेषणता दोष है। [आचार्य दिङ्नाग ने पक्षाभास नाम के पक्ष दोष नौ गिनाये हैं—१. प्रत्यक्षविरुद्धः, २. अनुमानविरुद्धः, ३. आगमविरुद्ध., ४. लोकविरुद्धः ५. स्ववचनविरुद्धः, ६. अप्रसिद्धविशेषणः, ७. अप्रसिद्धविशेष्यः, ८. अप्रसिद्धोभयः तथा ९. अप्रसिद्धसम्बन्धश्च। वहीं पर पक्ष की परिभाषा की गई है—"प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषणेन विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः।" अर्थात् महानसादि में प्रसिद्ध वह्निरूप विशेषण से विशिष्ट पर्वतादि पक्ष कहलाते हैं। यदि साध्यधर्मरूप विशेषण कहीं पर भी प्रसिद्ध न हो, तो अप्रसिद्धविशेषणता पक्ष-दोष माना जाता है। प्रकृत में माध्वगण विश्व के सत् और असत् दो भेद ही मानते हैं। शुक्ति-रजतादि भी अलीक या असत् हैं। अतः एकत्र सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है]। यदि कहा जाय कि सत्त्वाभाव असत् में और असत्त्वाभाव सत् पदार्थ में प्रसिद्ध है, अतः दोनों अभावों का मिलित रूप सिद्ध करने में अप्रसिद्ध-विशेषणता नहीं। तब तो शशीयशृङ्गरूप विशेषण वाले पक्ष में भी अप्रसिद्धविशेषणता दोष नहीं होना चाहिए, क्योंकि शशीयता शशक के अवयवों में और शृङ्ग गवादि में प्रसिद्ध है, अतः शशीयशृङ्ग का विशिष्टरूप सिद्ध किया जा सकता है।

अद्वैतवादी—उभयाभाव की प्रसिद्धि शुक्ति-रजतादि में प्रतिपादित की जा चुकी है। अतः यहां अप्रसिद्धविशेषणता दोष नहीं है। [अद्वैतसिद्धिकार ने पहले ही कह दिया है—"त्रिकालाबाध्यविलक्षणत्वे सति क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वरूपं साध्यं पर्यवसितम्। एवं च सति शुक्तिरूप्ये न साध्यवैकल्यमपि" (अ. सि. पृ. १६)। [आशय यह है कि शुक्ति-रजत में सद्विलक्षणता तो उभय-सम्मत है। असद्विलक्षणत्व भी सर्वजनीन अनुभव के आधार पर मानना होगा, क्योंकि शशशृङ्गादि असत् पदार्थों की कहीं सद्रूपेण प्रतीति नहीं होती। किन्तु शुक्ति-रजत की 'रजतमस्ति'—इस प्रकार अनुभूति होती है, अतः शुक्ति-रजत असद्वि-लक्षण है। फलतः शुक्ति-रजत में उक्त उभयाभावात्मक साध्य प्रसिद्ध है]। यदि कहा जाय

अद्वैतसिद्धिः

निर्धर्मकत्वाद् ब्रह्मणः सत्त्वासत्त्वरूपधर्मद्वयशून्यत्वेन तत्रातिव्याप्तिः, सद्रूपत्वेन ब्रह्मणः तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वात् निर्धर्मकत्वेनैवाभावरूपधर्मानधिकरणत्वाच्चेति दिक्। इति सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वविचारः ॥१॥

●

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कि ब्रह्म निर्धर्मक होने के कारण सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्मों से शून्य है। अतः ब्रह्म में सत्त्वाभावासत्त्वाभावरूप मिथ्यात्व का लक्षण अतिव्याप्त होता है। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म सद्रूप है, अतः उस में सत्त्वात्यन्ताभाव नहीं रह सकता। ब्रह्म निर्धर्मक है, इस लिए भी सत्त्वात्यन्ताभाव और असत्त्वात्यन्ताभाव कुछ भी नहीं रहता, फिर उक्त अतिव्याप्ति क्यों होगी ? [न्यायामृतकार ने यहाँ एक महत्त्वपूर्ण दोष की ओर ध्यान आकृष्ट किया है—"निर्धर्मकत्वहेतोर्भावाभावाभ्यां व्याघातात्।" अर्थात् अद्वैत्यभिमत 'ब्रह्म सत्त्वाभावासत्त्वाभावधर्मशून्यम्, निर्धर्मकत्वात्'-इस अनुमान में निर्धर्मकत्व हेतुरूप धर्म पक्षवृत्ति है, अथवा नहीं ? यदि है, तब ब्रह्म निर्धर्मक नहीं रह जाता और यदि उक्त हेतुरूप धर्म भी उसमें नहीं रहता, तब हेतु स्वरूपासिद्ध होकर साध्य-साधन की क्षमता खो बैठता है। इस विषय में अद्वैताचार्यों के पूर्वापर सन्दर्भों का अनुशीलन करने पर यह तथ्य प्रकाश में आता है कि ब्रह्म में धर्मधर्मिभाव के न मानने का रहस्य उद्घाटित करते हुए गौड़ ब्रह्मानन्द ने कहा है—"सत्त्वादिधर्माणां तदुपहित एव ब्रह्मणि सम्बन्धः, न तु शुद्धे; धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यस्वीकारेण तत्त्वज्ञानेन धर्माणां नाशे धर्मिणोऽपि नाशापत्तेः" (ल. चं. पृ. ८०)। इससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि मोक्षावस्था में बाधित होनेवाले धर्मों को शुद्ध ब्रह्म में नहीं माना जा सकता। किन्तु ब्रह्मरूपापन्न अविद्यानिवृत्ति-जैसे अबाधित धर्मों का निषेध अभीष्ट नहीं। अत एव स्वयं आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने द्वितीय मिथ्यात्व-निरूपण के अवसर पर कहा है—"ब्रह्मणो भावरूपधर्मानाश्रयत्वेऽप्यभावरूपधर्माश्रयत्वेन सत्यादिधर्मवत्त्वम्"। [वस्तुतः अभाव को धर्म या वस्तु ही नहीं कहा जा सकता। वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य ने कहा है—

> **"न हि भावातिरेकेण भावाभावः प्रमाणभाक्।**
> **विश्वं सदेव यस्येष्टं तस्याभावः कुतो मितेः ॥**
> **न च भावातिरेकेण भाववत् सिद्धिमश्नुते ॥**
> **क्षितिदेशो घटाभावो घटवन्न प्रमीयते।**
> **योगो वा समवायो वा नाभावक्षितिदेशयोः ॥" (पृ. २९३-९४)।**

इस प्रकार ब्रह्म से अतिरिक्त सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव प्रमाणित ही नहीं होते, तब उन्हें ब्रह्म का धर्म कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि अभिन्न वस्तु में धर्मधर्मिभाव नहीं होता, अतः मिथ्यात्व के लक्षण सत्त्वाभावासत्त्वाभावरूप धर्मद्वय की अतिव्याप्ति ब्रह्म में नहीं है। 'निर्धर्मकत्व' हेतु को दुष्ट (स्वरूपासिद्ध) भी यदि मान लिया जाय, तब भी 'निर्गुणः' आदि श्रुतियों के आधार पर अभीष्ट-सिद्धि हो ही जाती है] ॥१॥

●

: ५ :

द्वितीयमिथ्यात्वविचारः

न्यायामृतम्

न द्वितीयः, त्रैकालिकनिषेधस्य तात्त्विकत्वेऽद्वैतहानेः। प्रातिभासिकत्वे सिद्धसाधनात्। व्यावहारिकत्वेऽपि तस्य बाध्यत्वेन तात्त्विकसत्त्वाविरोधित्वेनार्थान्तरात्। अद्वैतश्रुतेरतत्त्वावेदकत्वापाताच्च। तत्प्रतियोगिनोऽप्रातिभासिकस्य प्रपंचस्य पारमार्थिकत्वापत्तेश्च।

अद्वैतसिद्धिः

प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्। ननु प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधस्य तात्त्विकत्वे अद्वैतहानिः, प्रातिभासिकत्वे सिद्धसाधनम्, व्यावहारकत्वेऽपि तस्य बाध्यत्वेन तात्त्विकसत्त्वाविरोधितया अर्थान्तरम्, अद्वैतश्रुतेरतत्त्वावेदकत्वं च तत्प्रतियोगिनोऽप्रतिभासिकस्य प्रपंचस्य पारमार्थिकत्वं च स्यादिति चेन्न, प्रपंचनिषेधाधिकरणीभूतब्रह्माभिन्नत्वान्निषेधस्य तात्त्विकत्वेऽपि नाद्वैतहानिकरत्वम्। न च तात्त्विकाभावप्रतियोगिनः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जिस उपाधि (आधार) में जो वस्तु प्रतिपन्न (प्रतीत) होती है, उसी आधार में होनेवाले त्रैकालिक निषेध (नासीत्, नास्ति, न भविष्यति--इस प्रकार के अत्यन्ताभाव) की प्रतियोगिता ही मिथ्यात्व का लक्षण है, जैसा कि श्रीप्रकाशात्मयति ने कहा है--"प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वम्" (पं. पा. वि. पृ. १७४) अर्थात् शुक्ति में प्रतीयमान रजत उसी शुक्ति में होने वाले निषेध का प्रतियोगी है, अतः मिथ्या है।

द्वैतवादी--प्रतिपन्न उपाधि में समुद्भूत त्रैकालिक निषेध तात्त्विक (पारमार्थिक) होता है ? अथवा प्रातिभासिक ? अथवा व्यावहारिक ? तात्त्विक मानने पर द्वैतापत्ति होती है। प्रातिभासिक मानने पर सिद्ध-साधन दोष है [क्योंकि प्रपंच का प्रातिभासिक निषेध मानने पर भी माध्व-सम्मत प्रपंच की पारमार्थिकता अक्षुण्ण बनी रहती है]। उक्त निषेध को व्यावहारिक मानने पर वह स्वयं (ब्रह्म-ज्ञान से) बाधित होगा, अतः प्रपंच की पारमार्थिकता का विरोधी नहीं हो सकेगा। अतः प्रपंच में सत्यत्वाविरोधी मिथ्यात्व सिद्ध होने से अर्थान्तरता नाम का निग्रहस्थान प्राप्त होता है। उक्त निषेध यदि व्यावहारिक होने से बाधित है, तब बाधित अर्थ की बोधिका "नेह नानास्ति" (बृह. उ. ४।४।१९) श्रुति अतत्त्वावेदक (अप्रमाण) हो जाती है और बाधित या मिथ्या निषेध के प्रतियोगी अप्रातिभासिक प्रपंच में पारमार्थिकता प्रसक्त होती है [आशय यह है कि शुक्ति में रजत का निषेध व्यावहारिक माना जाता है, अतः उसका प्रतियोगी व्यावहारिक नहीं रह सकता, ब्रह्म-प्रमा-भिन्न प्रमा से बाधित होने के कारण प्रातिभासिक होता है। किन्तु व्यावहारिक निषेध का प्रतियोगी प्रपंच ब्रह्म-प्रमा-भिन्न प्रमा से बाधित न होने के कारण प्रातिभासिक नहीं हो सकता, परिशेषतः पारमार्थिक ही सिद्ध होगा]।

अद्वैतवादी—द्वैतवादी का आक्षेप उचित नहीं, क्योंकि प्रपंच-निषेध के अधिकरणीभूत ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण निषेध तात्त्विक होने पर भी अद्वैत-घाती नहीं। तात्त्विक निषेध के प्रतियोगी प्रपंच में तात्त्विकत्व प्रसक्त होता है--ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तात्त्विक निषेध के प्रतियोगी रजतादि में तात्त्विकत्व न होकर कल्पितत्व (अतात्त्विकत्व) ही माना जाता है [अतः निषेध और प्रतियोगी की समान सत्ता का नियम व्यभिचरित हो जाता है]। अथवा प्रपंच का निषेध अतात्त्विक ही है। अतात्त्विक होने पर भी प्रातिभासिक नहीं, किन्तु

अद्वैतसिद्धिः

प्रपंचस्य तात्त्विकत्वापत्तिः, तात्त्विकाभावप्रतियोगिनि शुक्तिरजतादौ कल्पिते व्यभिचारात्। अतात्त्विक एव वा निषेधोऽयम्। अतात्त्विकत्वेऽपि न प्रातिभासिकः, किं तु व्यावहारिकः। न च तर्हि निषेधस्य बाध्यत्वेन तात्त्विकसत्त्वाविरोधित्वादर्थान्तरमिति वाच्यम्, स्वाप्नार्थस्य स्वाप्ननिषेधेन बाधदर्शनात्। निषेधस्य बाध्यत्वं पारमार्थिकसत्त्वाविरोधित्वे न तन्त्रम्, किं तु निषेध्यापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वम्, प्रकृते च तुल्यसत्ताकत्वात् कथं न विरोधित्वम्? न च निषेधस्य निषेधे प्रतियोगिसत्त्वापत्तिरिति वाच्यम्, तत्र हि निषेधस्य निषेधे प्रति-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यावहारिक ही माना जाता है। यह जो कहा था कि व्यावहारिक निषेध बाधित होने के कारण प्रपंच की पारमार्थिक सत्ता का विरोधी नहीं, अतः अर्थान्तरता दोष है, वह कहना उचित नहीं; क्योंकि स्वप्नारोपित गजादि पदार्थों का स्वप्नारोपित (बाध) निषेध के द्वारा बाध देखा जाता है, अतः निषेध का बाधित होना प्रतियोगी की पारमार्थिक सत्ता की अविरोधिता का कारण नहीं होता, अपि तु निषेध्यमान प्रतियोगी की अपेक्षा न्यून सत्ता का होना। प्रकृत में निषेध्यभूत प्रपंच और उसके निषेध—दोनों की समान (व्यावहारिक) सत्ता है, अतः निषेध में प्रपंचगत पारमार्थिक सत्ता की विरोधिता क्यों न होगी? [द्वैतवादी का आक्षेप था कि व्यावहारिक निषेध व्यावहारिक प्रपंच का बाध करता हुआ अपना भी बाध कर लेता है। जो स्वयं बाधित होता है, वह अन्य का बाध नहीं कर सकता, जैसे कि ब्रह्म का प्रातिभासिक निषेध स्वयं बाधित होने से पारमार्थिक ब्रह्म का बाध नहीं करता। अतः व्यावहारिक निषेध के द्वारा व्यावहारिक प्रपंच का बाध नहीं हो सकता। अद्वैतवादी ने स्वाप्न बाध्य-बाधकभाव के दृष्टान्त से यह सिद्ध कर दिया कि बाधित होने वाला निषेध भी बाधक होता है। हाँ, प्रातिभासिक निषेध पारमार्थिक ब्रह्म का बाध इसलिए नहीं कर सकता कि वह प्रतियोगी (निषेध्य) की अपेक्षा न्यूनसत्ताक है। प्रपंच का निषेध समान-सत्ताक है, अतः बाधक क्यों न होगा? यदि माध्वगण यह कहना चाहें कि हम प्रपंच को पारमार्थिक मानते हैं और आपका निषेध व्यावहारिक होने से न्यूनसत्ताक है, अतः बाधक नहीं हो सकता। तो वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि प्रपंचगत पारमार्थिकता का भ्रम दूर करने के लिए ही मिथ्यात्व-साधक अनुमान प्रयोगों की सर्जना हुई है।

द्वैतवादी—प्रपञ्च का व्यावहारिक निषेध भी व्यावहारिक होने के कारण निषिध्यमान है, अतः निषेध का निषेध हो जाने पर प्रतियोगी प्रपञ्च अनिषिद्ध, अबाधित या पारमार्थिक ही रह जाता है [जैसे–रजतवाले देश में किसी व्यक्ति को भ्रम हो गया–रजताभावः। तुरन्त ही उस भ्रम की निवृत्ति हो गई—'रजताभावो नास्ति।' वहाँ रजत की सत्ता रह जाती है। वैसे ही प्रपंच का निषेध किया गया – द्वैतं नास्ति।' यह व्यावहारिकमात्र था, ब्रह्म-ज्ञान होने पर उसका भी निषेध हो गया—'नेह नानास्ति किंचन।' अतः निषेध का निषेध हो जाने पर रजत के समान ही प्रपंच की सत्ता पूर्ववत् रह जानी चाहिए]।

अद्वैतवादी--निषेध का निषेध होने पर वहाँ ही प्रतियोगी की सत्ता सुरक्षित रह जाती है, जहाँ निषेध की निषेधक बुद्धि के द्वारा प्रतियोगी की सत्ता समर्थित हो और निषेध-मात्र का निषेध किया जाय। जैसे कि 'नेदं रजतम्'--इस भ्रमात्मक ज्ञान के अनन्तर उत्पन्न 'इदं नारजतम्'--इस ज्ञान के द्वारा रजत का समर्थन किया जाता है। किन्तु जहाँ पर प्रतियोगी

अद्वैतसिद्धिः

योगिसत्त्वमायाति यत्र निषेधस्य निषेध्यबुद्धया प्रतियोगिसत्त्वं व्यवस्थाप्यते, न निषेधमात्रं निषिध्यते, यथा रजते नेदं रजतमिति ज्ञानानन्तरम् इदं नारजतमिति ज्ञानेन रजतं व्यवस्थाप्यते। यत्र तु प्रतियोगिनिषेध्ययोरुभयोरपि निषेधस्तत्र न प्रतियोगिसत्त्वम्, यथा ध्वंससमये प्रागभावप्रतियोगिनोरुभयोर्निषेधः। एवं च प्रकृतेऽपि निषेधबाधकेन प्रतियोगिनः प्रपंचस्य तन्निषेधस्य च बाधनान्न निषेधस्य बाध्यत्वेऽपि प्रपंचस्य तात्त्विकत्वम्, उभयोरपि निषेध्यतावच्छेदकस्य दृश्यत्वादेस्तुल्यत्वात्। न चातात्विकनिषेधबोधकत्वे श्रुतेरप्रामाण्यापत्तिः, ब्रह्मभिन्नं प्रपचंनिषेधादिकं अतात्त्विकमित्यतात्त्विकत्वेन बोधयन्त्याः श्रुतेरप्रामाण्यासम्भवात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और निषेध—दोनों का ही निषेध हो जाता है, वहाँ प्रतियोगी की सत्ता सुरक्षित नहीं रहती। जैसे—घट-ध्वंस के समय घट-प्रागभाव और घट—दोनों का निषेध हो जाता है। वैसे ही प्रकृत में प्रपञ्चाभाव के वाधक 'नेह नानास्ति किञ्चन'—आदि ज्ञान से प्रतियोगीभूत प्रपञ्च और प्रपञ्चाभाव-दोनों का वाध हो जाता है। अतः प्रपञ्च-निषेध के बाधित हो जाने पर भी प्रपञ्च की तात्त्विकता शेष नहीं रह जाती, क्योंकि प्रपञ्च और उसके निषेध में निषेध्यतावच्छेदक दृश्यत्वादि धर्म समानरूप से विद्यमान हैं।

यहाँ 'रजतं नास्ति'—इस निषेध का निषेध्य रजत और निषेध्यतावच्छेदक रजतत्व धर्म है। इसके द्वारा रजताभाव का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि निषेध्यतावच्छेदक रजतत्व धर्म उसमें नहीं रहता। इसी प्रकार 'रजताभावो नास्ति'—इस निषेध का निषेध्यावच्छेदक रजताभावत्व है, इसके द्वारा रजत का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि रजत में रजताभावत्व नहीं रहता। यही कारण है कि ऐसे स्थलों पर प्रतियोगी के निषेध से अभाव और अभाव के निषेध से प्रतियोगी शेष रह जाता है। किन्तु प्रकृत में 'दृश्यं नास्ति'—इस एक निषेध से ही प्रपञ्च और प्रपञ्चाभाव—दोनों का निषेध होता है, क्योंकि इसका निषेध्यतावच्छेदक धर्म दृश्यत्व है, जो कि प्रपञ्च और उसके अभाव में समानरूप से वर्तमान है, अतः यहाँ प्रपञ्च के निषेध से प्रपञ्चाभाव और प्रपञ्चाभाव के निषेध से प्रपञ्च शेष नहीं रह सकता, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

> **निरस्ताज्ञानतत्कार्ये लब्ध आत्मन्यथात्मनि।**
> **निषेध्यहेतौ प्रध्वस्ते निषेधोऽपि निवर्तते॥**
> **प्रमातृत्वादिना यात्किञ्चिदत्र विवक्षितम्।**
> **तदभावश्च तत्सर्वं नेतीति प्रतिषिध्यते॥ (बृह. वा. पृ. १०२५)**

यह जो कहा था कि अतात्त्विक (बाधित) प्रपञ्चाभाव की बोधिका "नेह नानास्ति" इस श्रुति में (बाधितार्थ-बोधकत्वरूप) अप्रामाण्य प्रसक्त होता है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि मिथ्या वस्तु को मिथ्या कहनेवाली श्रुति अप्रमाण नहीं हो सकती। [यद्यपि मिथ्या वस्तु का मिथ्यात्वेन बोध नैयायिक-दृष्टि से प्रमा है, वेदान्त-दृष्टि से नहीं; क्योंकि न्याय-सिद्धान्त में प्रमा का लक्षण होता है—'तद्वति तत्प्रकारकम् ज्ञानम्।' 'प्रपञ्चो मिथ्या' यह ज्ञान भी मिथ्यात्व के आश्रयीभूत प्रपञ्च में मिथ्यात्वप्रकारक होने से प्रमा होता है। किन्तु वेदान्त-सिद्धान्त में प्रमा का लक्षण होता है—अनधिगताबाधितार्थविषयकं ज्ञानम्। प्रपञ्चगत मिथ्यात्व का स्वरूप बताया गया है—त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व। प्रपञ्चनिषेध या प्रपञ्चा-

अद्वैतसिद्धिः

ननु तन्निषेधप्रतियोगित्वं किं स्वरूपेण, उतासद्विलक्षणस्वरूपानुपमर्देन पारमार्थिकत्वा-कारेण वा। नाद्यः; श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्तिकस्यार्थक्रियासमर्थस्याविद्योपादानकस्य तत्त्वज्ञान-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भाव को व्यावहारिक माना जा रहा है, जो कि ब्रह्मज्ञान से बाधित होता है। इस प्रकार 'नेह नानास्ति'--यह श्रुति मिथ्या को मिथ्या बता देने मात्र से न तो अबाधितार्थबोधिका हो सकती है और न अप्रामाण्य-प्रासक्ति के कलंक से बच सकती है। तथापि जैसे योगाचार समग्र प्रपञ्च को दो भागों में विभक्त करता है—१. परमार्थसत् और २. संवृतिसत् या व्यवहारसत्। स्वलक्षण तत्त्व अकल्पित निर्विकल्प होने से परमार्थसत् है तथा सामान्यलक्षण कल्पित होने पर भी व्यवहाराविसंवादी होने के कारण संवृतिसत् कहलाता है। वार्तिककार आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं--

अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत् ।
अन्यत् संवृतिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे ॥ (प्र. वा. पृ. १७५)

अतः स्वलक्षण-ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण में तात्त्विक प्रामाण्य और सामान्यलक्षण-ग्राहक अनुमान प्रमाण में व्यावहारिक प्रामाण्य माना जाता है। वार्तिककार ने ही कहा है–"अभिप्राया-विसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता" (प्र. वा. पृ. २१५)। वैसे ही अद्वैत वेदान्त निर्विकल्प अखण्ड ब्रह्मतत्त्व को परमार्थसत् और ब्रह्मेतर व्यवहार-निर्वाहक प्रपञ्च को कल्पित किन्तु व्यवहारसत् मानता है। वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य कहते हैं–

यदद्वैतं परं ब्रह्म तत्र स्यात् परमार्थतः ।
कल्पितं प्रसजेद् द्वैतं तोयबुद्धिरिवोषरे ॥ (बृह. वा. पृ. १९५४)

अतः सर्वथा अबाधित ब्रह्मतत्त्व के बोधक महावाक्य तात्त्विक प्रमाण तथा भावा-भावात्मक व्यावहारिक प्रपञ्च के ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाण व्यावहारिक प्रमाण माने जाते हैं। उन्हीं में प्रपञ्च-निषेध-बोधिका 'नेह नानास्ति' श्रुति भी है, अतः यह भी व्यावहारिक प्रमाण मात्र है। आचार्य गौड़ ब्रह्मानन्द कहते हैं—"यजेतेत्यादि श्रुतेरिव व्यावहारिक प्रामाण्यमुक्त श्रुतेरक्षतम्, तात्त्विक प्रामाण्यं तु तत्त्वमसीत्यादिश्रुतेरेव" (ल० चं० पृ० ११२)। फलतः उक्त श्रुति की अप्रामाण्यापत्ति के आक्षेप के समाधान में इतना ही कहा जा सकता है कि उक्त श्रुति में सर्वथा अप्रामण्यापत्ति नहीं होती, प्रत्यक्षादि के समान व्यवहार-दृष्टि से प्रामाणिकता का निर्वाह हो जाता है]।

द्वैतवादी ब्रह्म में प्रपञ्च का निषेध किस रूप (धर्म) से विवक्षित है, जिस व्याव-हारिकत्व या प्रातिभासिकत्व रूप से वह प्रतीत होता है ? अथवा जिस (पारमार्थिकत्व) रूप से वह कदापि प्रतीत नहीं होता, उस रूप से प्रपञ्च का त्रैकालिक निषेध विवक्षित है ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि आकाशादि व्यावहारिक प्रपञ्च की उत्पत्ति "तस्माद्वैतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूत" (तै० उ० २।५) आदि श्रुतियों से प्रमाणित है और रजतादि प्रातिभासिक प्रपञ्च की उत्पत्ति अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से प्रसाधित है। उक्त द्विविध प्रपञ्च अपनी अर्थ-क्रिया (प्रयोजन की सिद्धि) में सक्षम है। [बौद्धाचार्य श्री धर्मकीर्ति ने कहा है—"अर्थक्रिया-सामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः" (न्या० बि० १।१५) अर्थात् हेयोपादेयरूप प्रयोजन की निष्पत्ति जिससे हो, उसे वस्तु या सत्यार्थ कहा जाता है। जैसे व्यावहारिक रजत से भूषणादि निर्मित होते हैं, वैसे ही प्रातिभासिक रजत से ज्ञान, इच्छा और प्रवृत्ति आदि निष्पादित होते हैं]। उक्त द्विविध प्रपञ्च की उत्पत्ति अविद्या (अधिष्ठान के अज्ञान) से और निवृत्ति तत्त्वज्ञान से

न्यायामृतम्

किं च निषेधप्रतियोगित्वम् किं स्वरूपेण ? किं वा असद्विलक्षणस्वरूपानुपमर्देन पारमार्थिकत्वाकारेण ? नाद्यः, श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्त्यादिकस्यार्थक्रियासमर्थस्याविद्योपादानकस्य तत्त्वज्ञाननाश्यस्य च वियदादे रूप्यादेश्च धीकाले विद्यमानेनासद्विलक्षणस्वरूपेण

अद्वैतसिद्धिः

नाश्यस्य च वियदादेः रूप्यादेश्च धीकालविद्यमानेन असद्विलक्षणस्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधायोगात्। नापि द्वितीयः; अबाध्यत्वरूपपारमार्थिकत्वस्य बाध्यत्वरूपमिथ्यात्वनिरूप्यत्वेन अन्योन्याश्रयात्, पारमार्थिकत्वस्यापि स्वरूपेण निषेधे प्रथमपक्षोक्तदोषापत्तिः, अतस्तस्यापि पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधे अनवस्था स्याद्--इति चेन्मैवम्; स्वरूपेणैव त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य प्रपञ्चे शुक्तिरूप्ये चाङ्गीकारात्। तथा हि--शुक्तौ रजतभ्रमानन्तरम् अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारे रूप्यं नास्ति नासीन्न भविष्यतीति स्वरूपेणैव, 'नेह नाने' ति श्रुत्या च प्रपञ्चस्य स्वरूपेणैव निषेधप्रतीतेः। न च— तत्र लौकिकपरमार्थरजतमेव स्वरूपेण निषेधप्रतियोगिति—वाच्यम्, भ्रमबाधयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः, अप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेश्च। न च तद्बुत्पत्त्या-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होता है। उभयविध प्रपञ्च असद्विलक्षणत्वेन अपनी प्रतीति के समय अवश्य विद्यमान होता है, अतः उसका उस रूप से त्रैकालिक निषेध सम्भव नहीं।

द्वितीय पक्ष (पारमार्थिकत्वेन निषेध) मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि अवाध्यत्वरूप पारमार्थिकत्व के निरूपण में प्रतियोगीभूत वाध्यत्वरूप मिथ्यात्व की अपेक्षा है और मिथ्यात्व के निरूपण में पारमार्थिकत्व की अपेक्षा है [अतः उक्त पारमार्थिकत्व का ज्ञान होने पर पारमार्थिकत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकनिषेध-प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का ज्ञान होगा तथा इस प्रकार का मिथ्यात्व-ज्ञान होने पर अवाध्यत्वरूप पारमार्थिकत्व का ज्ञान होगा]।

[व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक निषेध की असम्भावना को दृष्टि-कोण में रखकर 'पारमार्थिकत्वेन प्रपञ्चो नास्ति'--इस प्रकार के निषेध का तात्पर्य यदि प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व धर्म के निषेध में माना जाय, तव भी] पारमार्थिक का स्वरूपेण निषेध मानने पर प्रथम पक्षोक्त असम्भव दोष है। अतः अनवस्था दोष प्रसक्त होता है।

अद्वैतवादी—व्यावहारिक और प्रातिभासिक प्रपञ्च का स्वरूपेण (जिस रूप से उसकी प्रतीति होती है, उसी रूप से) निषेध माना जाता है, क्योंकि शुक्ति में रजत-भ्रम के अनन्तर अधिष्ठान-तत्त्व का साक्षात्कार ('इयं शुक्तिः') होने पर 'रजतं नास्ति, नासीत्, न भविष्यति'— इस प्रकार वाध-बुद्धि से तथा व्यावहारिक प्रपञ्च का "नेह नानास्ति"—इस श्रुति के द्वारा स्वरूपतः ही निषेध प्रतीत होता है।

शुक्ति में लौकिक परमार्थ (व्यावहारिक) रजत का ही स्वरूपेण निषेध होता है—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि इस प्रकार 'इदं रजतम्'—इस भ्रम का और 'नेदं रजतम्'—इस वाध का विषय भिन्न-भिन्न हो जायगा [क्योंकि भ्रम-ज्ञान के द्वारा प्रातिभा...क रजत की प्राप्ति होती है और निषेध के द्वारा व्यावहारिक रजत का निषेध होता है। जब कि सामान्य नियम यह है कि प्राप्ति और निषेध समानविषयक होते हैं]। दूसरी बात यह भी है कि भ्रम-ज्ञान के द्वारा प्रातिभासिक रजत ही प्रसक्त (प्राप्त) है, व्यावहारिक नहीं; अतः व्यावहारिक रजत का निषेध अप्रसक्त-प्रतिषेध भी है। [अप्रसक्त-प्रतिषेध दोष की चर्चा महर्षि जैमिनि ने "अभागिप्रतिषेधाच्च" (जै०सू० १।२।५) इस सूत्र में की है]।

न्यायामृतम्

त्रैकालिकनिषेधायोगात् । त्रैकालिकनिषेधं प्रति स्वरूपेणापणस्थरूप्यं पारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकरूप्यं वा प्रतियोगीति त्वन्मतहानेश्च ।

अद्वैतसिद्धिः

इत्यसंभवः, न ह्यनिषिद्धस्वरूपत्वमुत्पत्त्यादिमत्त्वे तन्त्रम्, परैरनिषेध्यरूपत्वेनाङ्गीकृतस्य वियदादेरुत्पत्त्याद्यनङ्गीकारात्, किंतु वस्तुस्वभावादिकमन्यदेव किंचित् प्रयोजकं वक्तव्यम्; तस्य मयापि कल्पितस्य स्वीकारात् । न च—त्रैकालिकनिषेधं प्रति स्वरूपेणापणस्थं रूप्यं पारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकं वा प्रतियोगीति मतहानिः स्यादिति—वाच्यम्; अस्याचार्यवचसः पारमार्थिकलौकिकरजततादात्म्येन प्रतीतं प्रातिभासिकमेव रजतं प्रतियोगीत्यर्थः । तच्च स्वरूपेण पारमार्थिकत्वेन वेत्यनास्थायां वा शब्दः । एतावदुक्तिश्च पुरोवर्तितादात्म्येनैव रजतं प्रतीयत इति मतनिरासार्थं लौकिकपरमार्थरजततादात्म्येनापि प्रतीयत इति प्रतिपाद-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जो यह कहा था कि प्रातिभासिक और व्यावहारिक प्रपञ्च का स्वरूपेण त्रैकालिक निषेध करने पर श्रुत्यादि-प्रतिपादित आकाशादि की उत्पत्ति असम्भव हो जायेगी। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि अनिषिद्ध वस्तु की ही उत्पत्ति सम्भव होती है, निषिद्ध की नहीं—ऐसा कोई नियम नहीं। माध्वादि द्वैतवादी आकाशादि को अनिषिद्ध मानते हैं, फिर भी उनकी उत्पत्ति नहीं मानते। अतः कहना होगा कि किसी वस्तु का उत्पन्न होना स्वभाव होता है और किसी का नहीं। इस प्रकार के स्वभाव-विशेष को अद्वैतवादी भी मानते हैं—आकाशादि का उत्पन्न होना स्वभाव है और जीव, ईशादि छः पदार्थों का नहीं।

विवरणकारने कहा है त्रैकालिकनिषेधं प्रति स्वरूपेणापणस्थं रूप्यम्, पारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकं वा प्रतियोगि" (पं. वि. पृ. १९२)। अर्थात् शुक्ति में प्रातिभासिक रजतके निषेध का प्रतियोगी या तो स्वरूपतः आपणस्थ (व्यावहारिक) रजत को मानना चाहिए या कि पारमार्थिकत्वेन (व्यावहारिकत्वेन रूपेण) प्रातिभासिक रजत को। विवरणकार की इस व्यवस्था का शुक्ति में प्रातिभासिक रजत का स्वरूपेण निषेध मानने पर विरोध उपस्थित होता है-ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त विवरण-वाक्य का तात्पर्य यही है कि व्यावहारिक रजत के रूप में प्रतीयमान प्रातिभासिक रजत ही उक्त निषेध का प्रतियोगी होता है। [अर्थात् शुक्ति में प्रतीयमान प्रातिभासिक रजत का ही स्वरूपतः निषेध होता है, अतः स्वरूपतः प्रातिभासिक रजत ही प्रतियोगी है। वह प्रातिभासिक रजत व्यावहारिक रजत से तादात्म्यापन्न समझा जाता है, नहीं तो उसके ग्रहणार्थ प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि व्यावहारिक रजत के ग्रहण में पुरुष अभ्यस्त होता है। अतः व्यावहारिक रजत-तादात्म्यापन्न या व्यावहारिक रजत के रूप में प्रतीयमान प्रातिभासिक रजत में उक्त निषेध की प्रतियोगिता अभिमत है]। वह (व्यावहारिक रजत के रूप में प्रतीयमान प्रातिभासिक रजत) स्वरूपेण प्रतियोगी है अथवा पारमार्थिकत्वेन (व्यावहारिकत्वेन)—यहाँ पर अथवा से उठाये गये पक्षान्तर में विशेष आस्था नहीं। [अर्थात् प्रथम पक्ष ही अधिक संगत है, पक्षान्तर नहीं, क्योंकि प्रातिभासिक रजत-निष्ठ प्रतियोगिता पारमार्थिकत्वेन केवल व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगितावादी को ही सम्मत है, सर्वजनीन नहीं]। विवरणकार की 'पारमार्थिकत्वेन वा प्रातिभासिकं प्रतियोगि'—यह उक्ति 'प्रातिभासिक रजत में केवल पुरोवर्ति (शुक्ति) द्रव्य का ही तादात्म्य प्रतीत होता है'—इस मत का निराकरण करके प्रातिभासिक रजत में पुरो-

अद्वैतसिद्धिः

यितुं च । तदुक्तं तत्त्वप्रदीपिकायाम्--'तस्माल्लौकिकपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगीति पूर्वाचार्याणां वाचोयुक्तिरपि पुरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रवृत्तिदर्शनात् लौकिकपरमार्थरजतत्वेनापरोक्षतया प्रतीतस्य कालत्रयेऽपि लौकिकपरमार्थरजतमिदं न भवतीति निषेधप्रतियोगितामङ्गीकृत्य नेतव्ये' ति। अयमाशयः—एकविभक्त्यन्तपदोपस्थापिते धर्मिणि, प्रतियोगिनि च नञोऽन्योन्याभावबोधकत्वनियमस्य व्युत्पत्तिबलसिद्धत्वाद् 'घटः पटो न भवती' ति वाक्यवद् 'इदं रजतं न भवती' ति वाक्यस्य अन्योऽन्याभावबोधकत्वे स्थिते अभिलापजन्यप्रतीतितुल्यत्वादभिलप्यमानप्रतीतेः 'नेदं रजत' मिति वाक्याभिलप्यप्रतीतेरन्योऽन्याभावविषयत्वमेव । तथा चेदंशब्दनिर्दिष्टे पुरोवर्तिप्रातीतिकरजते रजतशब्दनिर्दिष्टव्यावहारिकरजतान्योऽन्याभावप्रतीतेरार्थिकं मिथ्यात्वम्, 'नात्र रजत' मिति वाक्याभिलप्या तु प्रतीतिरत्यन्ताभावविषया; भिन्नविभक्त्यन्तपदोपस्थापितयोरेव धर्मिप्रतियोगिनोर्नञः संसर्गा-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वर्ती द्रव्य-तादात्म्य के समान ही व्यावहारिक रजत का भी तादात्म्य प्रतीत होता है'- इस तथ्य का प्रतिपादन करने के लिए है। [क्योंकि यहाँ शुक्ति की ओर उसी मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, जो कि व्यावहारिक रजत का इच्छुक है। अतः प्रतीयमान रजत में शुक्ति-तादात्म्य के साथ-साथ आपणस्थ व्यावहारिक रजत के तादात्म्य की प्रतीति भी अनिवार्य है]। श्री चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में उक्त विवरण-वाक्य का यही तात्पर्य बताया है-"लौकिक परमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगि" (पं० वि० पृ० १९२) इस विवरण वाक्य का भी यही अर्थ करना चाहिए कि पुरोवर्ती (शुक्ति) द्रव्य की ओर रजताभिलाषी व्यक्ति की प्रवृत्ति को देखकर यह जाना जाता है कि वह व्यक्ति व्यावहारिक रजत के रूप में प्रतीयमान प्रातिभासिक रजत को ही व्यावहारिक रजत के त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी समझता है।

आशय यह है कि जहाँ अनुयोगी और प्रतियोगी समान विभक्तिवाले पदों से बोधित होते हैं, वहाँ नञ् नियमतः अन्योऽन्याभाव का बोधक होता है—ऐसा ही व्युत्पत्ति-बल (शाब्दबोध की मर्यादा) से निश्चित होता है। अतः "घटः पटो न भवति"-इस वाक्य के समान "इदं रजतं न भवति" यह वाक्य भी अन्योऽन्याभाव का ही बोधक होता है। रजत-बाध (रजताभाव) का प्रत्यक्षदर्शी आप्त पुरुष अपने अनुभूत विषय का श्रोता को बोध कराने के लिए 'नेदं रजतम्—यह अभिलाप (वाक्य) उच्चारण करता है, अतः अभिलाप-जन्य प्रतीति (वाक्यार्थ-बोध) के तुल्य ही वक्ता को अभिलप्यमान (रजत-बाध) की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति होती है, अतः "नेदं रजतम्"—इस वाक्य से प्रतिपादित (रजताभावरूप) अर्थ की(वक्तृगत प्रत्यक्ष) प्रतीति अन्योऽन्याभावविषयक सिद्ध होती है। इसी प्रकार 'इदम्' शब्द से निर्दिष्ट पुरः स्थित प्रातीतिक (प्रातिभासिक) रजत में 'रजतम्' शब्द से अभिहित व्यावहारिक रजत के ('न' पद से बोधित) अन्योऽन्याभाव की प्रतीति होने से नेदं रजतम्-इस वाक्य से रजत में आर्थिक मिथ्यात्व पर्यवसित होता है। किन्तु "नात्र रजतम्" इस वाक्य के द्वारा रजत में शब्दतः ही मिथ्यात्व प्रतीत होता है, क्योंकि जहाँ विभिन्न विभक्तियों से युक्त पदों के द्वारा अनुयोगी और प्रतियोगी की उपस्थिति होती है, वहाँ 'नञ्' संसर्गाभाव (अत्यन्ताभाव, ध्वंसाभाव या प्रागभाव) का बोधक होता है, अतः "नात्र रजतम्"—इस वाक्य से अभिलपित (संसूचित) प्रत्यक्षात्मक बाध-प्रतीति पुरःस्थित प्रातिभासिक रजत के व्यावहारिक अत्यन्ताभाव को ही विषय करती है, अतः इस वाक्य से साक्षात् मिथ्यात्व (प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रति-

न्यायामृतम्

अत्यन्तासत्त्वापाताच्च—

प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वमपि ह्यन्यत्रासत्त्वेन सम्मतस्य घटादेः सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वपर्यन्तमिति त्वन्मतम्। अन्यथा अन्यत्र तत्सत्त्वापातात्, न हि तेषामन्यत्र सत्ता संभविनीति त्वदुक्तेश्च। तथा च कथं नात्यन्तासत्त्वापत्तिः ? न हि शशशृंगादीनामपीतोऽन्यदसत्त्वमस्ति। न च निरुपाख्यत्वमेव तेषामसत्त्वम्, निरुपाख्यपदेनैव ख्यायमानत्वात्। असतोऽप्रतीतावसद्वैलक्षण्यज्ञानस्यासत्प्रतीतिनिरासस्य, असत्पदप्रयोगस्य

अद्वैतसिद्धिः

भावबोधकत्वनियमात्। सा च पुरोवर्तिप्रतीतरजतस्यैव व्यावहारिकमत्यन्ताभावं विषयीकरोतीति कण्ठोक्तमेव मिथ्यात्वम्। अतो नापसिद्धान्तो नान्यथाख्यात्यापत्तिर्न वा ग्रन्थविरोध इत्यनवद्यम्।

ननु—एवमत्यन्तासत्त्वापातः, प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं ह्यन्यत्रासत्त्वेन संप्रतिपन्नस्य घटादेः सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं पर्यवसितम्; अन्यथा तेषामन्यत्र सत्त्वापातात्, न हि तेषामन्यत्र सत्ता संभवतीति त्वदुक्तेश्च; तथा च कथमसद्वैलक्षण्यम्, न हि शशशृङ्गादेरितोऽन्यदसत्त्वम्। न च निरुपाख्यत्वमेव तदसत्त्वम्; निरु-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

योगित्वम्) की प्रतीति होती है। अतः न तो कथित अपसिद्धान्त (सिद्धान्त-विरोध) होता है, न अन्यथाख्याति की [यदि व्यावहारिक रजत को रजतभ्रम का विषय माना जाय, तब आपणस्थ रजत की ही अन्यथा (शुक्ति के रूप में) ख्याति माननी होगी, जैसा तार्किक मानते हैं, उसकी] आपत्ति होती है और न ग्रन्थ-विरोध (उक्त विवरण-वाक्य से विरोध) ही होता है।

द्वैतवादी—प्रातिभासिक रजतादि और व्यावहारिक प्रपञ्च का स्वरूपतः निषेध करने पर खपुष्प के समान रजतादि अत्यन्त असत् हो जाएँगे [अर्थात् रजतादि को प्रातिभासिक और घटादि प्रपञ्च को व्यावहारिक सत् नहीं माना जा सकेगा] क्योंकि अपने आश्रय कपालादि से अन्यत्र घटादि का अभाव तो निश्चित ही है। यदि प्रतिपन्नोपाधि (अपने आश्रयीभूत कपालादि) में भी उनका अभाव माना जाय, तब तो घटादि में सर्वत्र त्रैकालिक निषेध की प्रतियोगिता ही माननी होगी। यदि ऐसा न माना जाय, तब कपालादि से अन्यत्र उनकी सत्ता माननी पड़ेगी। किन्तु आप (अद्वैतवेदान्ती का ही कहना है—"न हि तेषामन्यत्र सत्ता सम्भविनी" (चित्सु. पृ. ६७)। अर्थात् घटादि की कपालादि से अन्यत्र सत्ता सम्भव नहीं। इष्टसिद्धिकार ने भी कहा है—"नान्यत्र कारणात् कार्यं न चेत् तत्र क्व तद् भवेत्" (इष्ट० पृ० ३६)। अतः शुक्ति-रजतादि में असत् से क्या वैलक्षण्य रह जाता है ? शश-शृङ्गादि असत् पदार्थ भी तो इसी प्रकार के होते हैं कि सर्वत्र उनका अभाव होता है। यदि कहा जाय कि शश-शृङ्गादि निरुपाख्य (किसी शब्द से भी कहने योग्य नहीं) हैं, अतः निरुपाख्यता ही उन की असत्ता है। [ऐसी असत्ता शुक्ति-रजतादि की नहीं, क्योंकि रजतादि शब्द से उनका उपाख्यान (कथन) किया जाता है]। तो वह नहीं कह सकते, क्योंकि शश-शृङ्गादि भी सर्वथा निरुपाख्य नहीं, क्योंकि इस 'निरुपाख्य' शब्द से उनकी उपाख्या की जाती है।

न्यायामृतम्

चायोगाच्च। नाप्यपरोक्षतोऽप्रतीयमानत्वमसत्त्वम्, नित्यातीन्द्रियेऽपि सत्त्वात्। नापि क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेनाप्रतीयमानत्वमसत्त्वम्, जगति शुक्तिरूप्यादौ चैवंविधासत्त्वे लक्षण्यस्य

अद्वैतसिद्धिः

पाख्यपदेनैव व्याख्यायमानत्वात्। नाप्यप्रतीयमानत्वमसत्त्वम्; असतोऽप्रतीतौ असद्वैलक्षण्यज्ञानस्यासत्प्रतीतिनिरासस्यासत्पदप्रयोगस्य चायोगात्। न चापरोक्षतया अप्रतीयमानत्वं तत्; नित्यातीन्द्रियेष्वतिव्याप्तेः—इति चेन्मैवम्; सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं यद्यपि तुच्छानिर्वाच्ययोः साधारणम्; तथापि क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वमत्यन्तासत्त्वम्, तच्च शुक्तिरूप्ये प्रपञ्चे च बाधात् पूर्वं नास्त्येवेति, न तुच्छत्वापत्तिः। न च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शश-शृङ्गादि कहीं-प्रतीयमान नहीं, अतः अप्रतीयमानता ही उनकी असत्ता है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि शश-शृङ्गादि असत् पदार्थों की यदि प्रतीति ही नहीं होती, तब प्रपञ्च में असत् के भेद का ज्ञान कैसे होगा ? [क्योंकि भेद की प्रतीति तभी होती है, जब कि उसके प्रतियोगी की प्रतीति हो। असत् रूप प्रतियोगी की प्रतीति न होने पर असत्प्रतियोगिक भेद की भी प्रतीति नहीं हो सकती]। इसी प्रकार असत् की प्रतीति न होने पर 'असतः प्रतीतिर्न भवति' - इस प्रकार असत् की प्रतीति का निराकरण भी कैसे होगा ? [क्योंकि किसी वस्तु की प्रतीति का निषेध तभी हो सकता है, जब कि उस वस्तु का ज्ञान हो, असत् की प्रतीति या ज्ञान न होने पर असत् की प्रतीति का निरास क्योंकर होगा ?]। एवं असत् वस्तु की प्रतीति न होने पर 'असत्' शब्द के द्वारा उसका अभिधान या उसके लिए 'असत्' पद का प्रयोग कैसे होगा ?

यदि कहा जाय कि शश-शृङ्गादि का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) कभी नहीं होता, अतः उनकी अपरोक्ष रूप से प्रतीति का न होना ही उनकी असत्ता है। तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि तब तो सदा अतीन्द्रिय रहने वाले धर्माधर्म आदि पदार्थों को भी असत् मानना होगा, क्योंकि उनकी अपरोक्ष प्रतीति कभी नहीं होती।

अद्वैतवादी—आप (द्वैतवादी) का उक्त आक्षेप संगत नहीं, क्योंकि सर्वत्र त्रैकालिक निषेध की प्रतियोगिता यद्यपि शश-शृङ्गादि तुच्छ (असत्) पदार्थ तथा प्रपञ्चरूप अनिर्वचनीय पदार्थों में समान रूप से रहती है। तथापि किसी भी उपाधि (उपाश्रय) में सद्रूप से जो प्रतीत न हो, ऐसे ख-पुष्पादि पदार्थों को अत्यन्त असत् कहा जाता है। वैसी असद्रूपता बाध से पहले न तो शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक पदार्थों में पाई जाती है और न घटादि व्यावहारिक प्रपंच में, अतः उनमें तुच्छत्व (अत्यन्त असत्त्व) की प्रसक्ति नहीं होती। बाध-सविता के उदय होने से पूर्व रजनी-साम्राज्य में शुक्ति-रजतादि की सद्रूपेण प्रतीति नहीं होती—ऐसी बात नहीं, अपितु उनकी किसी-न-किसी सत् आधार में सत्तादात्म्य रूप से प्रतीति अवश्य होती है। शुक्ति-रजतादि का यह सत्तादात्म्य या सद्रूपत्व लक्षण-घटक 'उपाधि' पद से सूचित किया गया है। [आशय यह है कि अपने परिवेश में अवस्थित स्फटिकादि के स्वच्छ कलेवर पर अपनी रक्तिमा के उपधायक जपा-कुसुमादि को उपाधि या उपाश्रय कहा करते हैं। रजतादि की उपाधि शुक्ति आदि सत्पदार्थ एवं घटादि-प्रपञ्च का उपाश्रय सद्रूप ब्रह्म है। सद्रूप उपाधि में तादात्म्येन प्रतिपन्न शुक्ति-रजत आदि सत् ही हैं, असत् नहीं। इस प्रकार प्रक्रान्त 'उपाधि' पद रजतादि की सद्रूपता ध्वनित करता है]।

न्यायामृतम्

शून्यवादेऽपि सत्त्वात् । त्वयाप्यसच्चेन्न प्रतीयेतेति वक्ष्तोक्ताप्रतीतिं प्रति प्रयोजकस्यान्यस्यैवासत्त्वस्य वक्तव्यत्वाच्च । ब्रह्मण्यंगीकृतं यत्प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वात्मकाबाध्यत्वरूपं सत्त्वम्, तद्विरुद्धस्यैवासत्त्वरूपत्वाच्च । अन्यथा प्रतीत्यनुपाधिकासत्त्वाभावे ब्रह्मण्यपि सत्त्वेन प्रतीतिरेव सत्त्वं स्यात् । येन पुंसा शशशृंगाभावो न निश्चितः तस्य गोशृंगमस्तीति वाक्यादिव शशशृंगमस्तीति वाक्यादपि ज्ञानोत्पत्तेश्च । त्वन्मतेऽपि हि तत्राप्यस्तस्यारोपितत्वस्यानिर्वाच्यत्वेऽप्यधिष्ठानमसदेव, वक्ष्यते चैतदनिर्वाच्यत्वभंगे । 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीद्'—इति श्रुत्याप्यसतस्सत्त्वेन प्रतीतेश्च ।

नापि सदनिर्वाच्याभ्यामन्यत्वमसत्त्वम् अनिर्वाच्यत्वस्यासत्त्वनिरूप्यत्वेनाऽन्योन्याश्रयात्, लाघवेन सार्वत्रिकत्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगिरूपसदन्यत्वस्यैव तत्त्वाच्च । अनिर्वाच्यस्यापि स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधेऽसतोऽनिर्वाच्याद्न्यत्वासिद्धेश्च । अर्थक्रियासामर्थ्याभावादिकमसत्त्वमित्यशक्यशंकम्, शुक्तिरूप्यादौ शुद्धब्रह्मणि च सत्त्वात् । न च निःस्वरूपत्वमसत्त्वम् मिथ्याभूतं, तु सस्वरूपमिति वाच्यम्, मिथ्याभूतस्यापि स्वरूपेणैव त्रैकालिकनिषेध इति पक्षे निःस्वरूपत्वस्य दुर्वारत्वात् । न च मिथ्याभूतं स्वरूपं मिथ्यात्वादेव स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधसामानाधिकरण्याविरोधीति वाच्यम्, स्वदेशकालयोः तत्स्वरूपसहिष्णोस्तत्स्वरूपप्रतिषेधत्वस्य पारिभाषिकत्वापातात् । अन्यथा तन्तुष्विवातन्तुष्वपि व्यावहारिकपटस्वरूपापातात् । प्रागभावादिसमानकालीनत्वेनाप्यविरोधापाताच्च । तुच्छेऽपि परोक्षप्रतीत्याद्यन्यथानुपपत्त्या एतादृशस्वरूपस्यापि सुवचत्वाच्च । तस्मात्सर्वत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वमेवात्यन्तासत्त्वम् । तत्र तदानीमसदित्यनेन तत्र तदा निषेधप्रतियोगित्वस्येवात्यन्तासदित्यनेनापि सर्वत्र सदा निषेधप्रतियोगित्वस्यैव प्रतीतेः । न च मिथ्याभूतस्यापि स्वरूपेणैव निषेध इति पक्षे तदभावः सप्रतियोगिकः । तुच्छाभावस्तु निष्प्रतियोगिक इति वा । मिथ्याभूतस्य सदा सर्वत्र सद्वैलक्षण्यमात्रं तुच्छस्य तु स्वरूपेणैव प्रतिषेध इति वा वैधर्म्यं वक्तुं शक्यम् ।

अथ मतम्—असतोऽसत्त्वादेवात्यन्तिकनिषेधप्रतियोगि (त्वम) तापि नेति । तन्न, असत्त्वस्योक्तनिषेधप्रतियोगित्वरूपत्वेन हेतोर्विरुद्धत्वात् । असतोऽसत्त्ववत् सद्वैलक्षण्यवत् त्वयोच्यमानप्रतियोगित्वाभाववत् परोक्षज्ञानव्यवहारौ प्रति विषयत्ववदसद्वै-

---

अद्वैतसिद्धिः

बाधात् पूर्वं शुक्तिरूप्यं प्रपञ्चो वा सत्त्वेन न प्रतीयते । एतदेव सदर्थकेनोपाधिपदेन सूचितम् । शून्यवादिभिः सदधिष्ठानकभ्रमानङ्गीकारेण क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वरूपासद्वैलक्षण्यस्य (क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वरूपस्य) शुक्तिरूप्ये प्रपञ्चे चानङ्गी-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यद्यपि माध्यमिक के शून्यवाद में भी शुक्ति-रजत आदि का असत् से वैलक्षण्य स्वीकृत किया गया है [नागार्जुन कहते हैं—"न सन्नासन्न सदसन् धर्मो निर्वर्तते" (मा. का. १।९) । अर्थात् असत् वस्तु का आत्मलाभ सम्भव नहीं, फलतः कल्पना-प्रसूत रजतादि को असत् नहीं कह सकते] । तथापि शून्यवादी रजतादि में सद्रूपता का उपपादन नहीं कर सकते, क्योंकि वे भ्रम का अधिष्ठान किसी सत् वस्तु को नहीं मानते, जिसकी सद्रूपता का संक्रमण शुक्ति-रजतादि में सम्भव होता । अतः वे सत्त्वेन प्रतीति-योग्यता न तो शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक में मानते हैं और न घटादि व्यावहारिक प्रपञ्च में ।

न्यायामृतम्

लक्षण्यं प्रति प्रतियोगित्ववच्च निषेधप्रतियोगित्वस्याप्युपपत्तेश्च । प्रागभावादिदशायामसत एव घटादेस्तत्प्रतियोगित्वदर्शनेन प्रतियोगित्वस्य रूपादिवद्धर्मिसत्ता (निर)(त्तासापेक्षाभावाच्च) नपेक्षत्वाच्च । कालान्तरे सत्त्व (स्य चे) स्येदानीमनुपयोगात् । शिष्टमनिर्वाच्यत्वभंगे वक्ष्यते ।

एतेन यदुक्तं मकरन्दे—असतोऽप्रसक्तेर्निषेधाप्रतियोगित्वमिति, तच्च निरस्तम्, असतोऽप्रसक्त्या ब्रह्मजगतोरसद्वैलक्षण्यस्य नासदासीदिति श्रौतनिषेधस्यासति च सद्वैलक्षण्यस्य प्रतियोगित्वाभावस्य चासिद्ध्यापातात्, तस्यापि प्रतियोगिप्रतीत्यधीनसिद्धिकत्वात् । ननु तत्र शब्दाभासादिना बुद्धिपूर्वारोपेण वा प्रसक्तिर्वा परार्थेन शब्देनाप्रसक्तस्यानिषेधेऽपि शब्दाभासादिमूलके प्रतियोगिस्मृत्यादिके सति प्रत्यक्षेणाप्रसक्तस्यैव वा निषेधो युक्तः । अन्यथा अंगुल्यग्रे हस्तिशताभावो न सिद्ध्येदिति चेत्, समं प्रकृतेऽपि, शशशृंगं नास्तीत्यबाधितप्रतीतेः । न च तत्रापि बुद्धिपूर्वकमारोपितस्यानिर्वाच्यस्यैव शृंगस्य निषेधः । अनाभासस्यैवारोप्यनिषेध इति तार्किकमते आभासस्यानिर्वाच्यस्य प्रसक्त्यानाभासस्य निषेध इति त्वन्मते चानिर्वाच्यान्यस्यैव शृंगस्य निषेद्धव्यत्वात् । जगदादावनिर्वाच्यभूताभासासद्वैलक्षण्यमेव, न त्वनाभासासद्वैलक्षण्यमित्यापाताच्च ।

ननु सदा सर्वत्राविद्यमानत्वमसत्त्वं चेदनाश्रितात्मादिविभुद्रव्यात्यन्ताभावेऽपि केवलान्वयीत्यात्मादिरप्यसन् स्यादिति चेत्, तर्हि त्वन्मतेऽपि आत्मा मिथ्या स्यात्, तस्यापि

अद्वैतसिद्धिः

कारात् । नन्वेवं सति—यावत्सदधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं पर्यवसितम् । तथा च केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगिषु गगनादिषु तार्किकाणां सिद्धसाधनम्; यदधिकरणं यत्सत् तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तस्य मिथ्यात्वमिति विवक्षायाम्, अधिकरणपदेनावृत्तिनिराकरणेऽपि संयोगसंबन्धेन समवायसंबन्धेन वा यद् घटाधिकरणं समवायसंबन्धेन संयोगसंबन्धेन वा घटस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितया सर्वेषु वृत्तिमत्सु दुरुद्धरं सिद्धसाधनम्, येन संबन्धेन यद्यस्याधिकरणं तेन संबन्धेन तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमिति विवक्षा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—यदि 'उपाधि' पद सदर्थक है, तब उक्त मिथ्यात्वरूप साध्य का पर्यवसित अर्थ होता है—समस्त सद्रूप अधिकरणों में रहनेवाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता। यह तो केवलान्वयी (सर्वत्र वर्तमान) अत्यन्ताभाव के प्रतियोगीभूत गगनादि में नैयायिकगण पहले ही मानते हैं, अतः उक्त अनुमान में सिद्ध-साधनता दोष है। जिस वस्तु का जो सद्रूप अधिकरण होता है, उस अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता उस वस्तु का मिथ्यात्व है—ऐसी विवक्षा होने पर यद्यपि गगनादि अवृत्ति पदार्थों का निवारण हो जाता है, [क्योंकि गगनादि का कोई अधिकरण नहीं होता, अतः प्रथम 'यत्' पद से उनका ग्रहण सम्भव नहीं, फिर तो उनमें सिद्ध-साधनता क्यों होगी ?]। तथापि घट जहाँ संयोग सम्बन्ध से रहता है, वहाँ समवाय सम्बन्ध से उसका अत्यन्ताभाव होता है और घट जहाँ समवाय सम्बन्ध से रहता है, वहाँ संयोग सम्बन्ध से उसका अत्यन्ताभाव माना जाता है; अतः अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता घटादि पदार्थों में स्वतः सिद्ध होने से उनमें सिद्ध-साधनता दुरुद्धर हो जाती है। इस सिद्ध-साधनता को दूर करने के लिए यदि सम्बन्ध विशेष का भी प्रवेश करके कहा जाय कि जिस सम्बन्ध से जिस आधार में जो वस्तु होती है, उस सम्बन्ध से उस

न्यायामृतम्

"स एवाधस्ताद्"-इत्यादिश्रुतिप्रतिपन्नोपाधौ कालत्रयेऽप्यभावात्। अथ विभुत्वेनोर्ध्वाधरीभावहीनोऽप्यात्मा सामान्यादिवत्स्वदेशकालयोरप्यस्ति, सदा सर्वत्रात्मेत्यबाधितप्रतीतेरिति न तस्य मिथ्यात्वम्, तर्हि तत एव नासत्त्वम्। देशकालावपि सदा सर्वत्र देशकालावित्यबाधितप्रतीत्या प्रमेयत्वाभिधेयत्ववत्तार्किकाभिमतदिक् (देशका) कालात्यन्ताभाववच्च स्ववृत्तौ अन्योन्यवृत्तौ च। अन्यथा त्वन्मतेऽपि तयोः प्रातिभासिकसत्त्वं स्यादिति न कश्चिद्दोषः। तस्मात्स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वे अत्यन्तासत्त्वं दुर्वारम्। तदुक्तम् -

"नासीदस्ति भविष्यच्च तदिति ज्ञानमेयता।
यदि बाधस्तदाऽसत्त्वं तेनैवांगीकृतं पुनः॥" (अनु० २।३।) इति

अद्वैतसिद्धिः

याम् अव्याप्यवृत्तिषु संयोगादिषु सिद्धसाधनम्-इति चेन्न; येन रूपेण यदधिकरणतया यत् प्रतिपन्नं तेन रूपेण तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य प्रतिपन्नपदेन सूचितत्वात्। तच्च रूपं संबन्धविशेषोऽवच्छेदकविशेषश्च। न हि संबन्धविशेषमन्तरेण भूतले घटाधिकरणता प्रतीयते, अवच्छेदकविशेषमन्तरेण वा वृक्षे कपिसंयोगाधिकरणता। तथा च येन संबन्धविशेषेण येन चावच्छेदकविशेषेण यदधिकरणताप्रतीतिर्यत्र भवितुमर्हति, तेनैव सम्बन्धविशेषेण तेनैव चावच्छेदकविशेषेण तदधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तस्य मिथ्यात्वमिति पर्यवसिते क्व सिद्धसाधनम्? यदि पुनः ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वमिवात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमाकाशादौ न स्यात्; साधकमानाभावस्य तुल्यत्वाद्,

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आधार में रहनेवाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता उस वस्तु का मिथ्यात्व विवक्षित है। तब भी अव्याप्य वृत्ति (अपने पूरे आधार को व्याप्त न कर एक भाग में रहने वाले) संयोगादि पदार्थों में सिद्ध-साधनता होती है, [क्योंकि एक ही वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपि आदि का संयोग समवाय सम्बन्ध से रहता है और मूलावच्छेदेन संयोग का अत्यन्ताभाव माना जाता है। उस अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता संयोगादि में सहज सुलभ है]।

अद्वैतवादी--उक्त उपालम्भ सम्भव नहीं, क्योंकि जिस रूप से जिस अधिकरण में जो वस्तु प्रतीत होती है, उसी रूप से उस अधिकरण में रहनेवाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता ही मिथ्यात्व है—यह परिष्कार लक्षण-घटक 'प्रतिपन्न' पद से सूचित किया गया है। यहाँ 'रूप' शब्द सम्बन्ध-विशेष तथा अवच्छेदक-धर्म दोनों का संग्राहक है, क्योंकि न तो संयोगादि सम्बन्ध-विशेष के विना भूतल में घट की अधिकरणता ही प्रतिपन्न होती है और न शाखादिरूप अवच्छेदक विशेष के विना वृक्ष में कपि-संयोग की अधिकरणता। अतः जिस सम्बन्ध-विशेष और अवच्छेद-विशेष से अवच्छिन्न जिस वस्तु की अधिकरणता जहाँ सम्भव है, वहाँ ही उसी सम्बन्ध-विशेष और उसी अवच्छेदक-विशेष से अवच्छिन्न उस वस्तु के अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता उस वस्तु का मिथ्यात्व है-ऐसा फलितार्थ विवक्षित होने पर कहाँ सिद्ध-साधनता है ?

आकाशादि में ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता के समान ही अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जैसे ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता का साधक कोई प्रमाण नहीं, वैसे ही अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का साधक कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष या अनुमान के आधार पर अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता सिद्ध हो सकती थी, किन्तु 'इह आकाशो नास्ति'—इस प्रकार की प्रत्यक्ष प्रतीति सम्भव नहीं, क्योंकि आकाशरूप प्रतियोगी का प्रत्यक्ष न होने के कारण उसके अत्यन्ताभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अनुमान

अद्वैतसिद्धिः

इहाकाशो नास्तीति प्रत्यक्षप्रतीत्यसंभवाद्, अनुमाने चानुकूलतर्काभावात्, सामान्यतो-दृष्टमात्रेण ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वस्यापि सिद्धिप्रसङ्गात्, तद्व्यतिरेकेण कस्यचित् कार्य-स्यानुपपत्तेरभावाच्च, एवं संयोगसंबन्धेन घटवति भूतले समवायसंबन्धेन घटाभावसत्त्वे मानाभावाल्लाघवेन घटात्यन्ताभावत्वेनैव घटसामानाधिकरण्यविरोधित्वकल्पनात् संबन्ध-विशेषप्रवेशे च गौरवाद् घटसमवायाभावमात्रविषयकतया प्रतीतेरुपपत्तेः। आधाराधेय-भावस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन घटस्यावृत्तित्वशङ्कानुदयाद्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

के आधार पर भी आकाश में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि अनुमान में व्यभिचार-शङ्का होने पर उस को हटाने के लिये अनुकूल तर्क सुलभ नहीं। तर्क-रहित केवल सामान्यतो दृष्ट (अन्वयव्यतिरेकी) अनुमान के द्वारा यदि आकाशादि में अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता सिद्ध की जाती है—गगनं भूतलनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, भूतलावृत्तित्वाद्, भूतलावृत्तिघटवत्, तब तो उसी प्रकार ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता भी सिद्ध की जा सकेगी। जैसे अग्नि के बिना धूम अनुपपन्न है, वैसे आकाश में यदि अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता न मानी जाय, तब किसी कार्य की अनुपपत्ति नहीं होती, [अतः 'यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यात्'—इस प्रकार की अनुकूल तर्क प्रकृत में सम्भव नहीं। फलतः आकाशादि में यदि अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता सिद्ध नहीं होती, तब आकाशादि अवृत्ति पदार्थों की व्यावृत्ति के लिये मिथ्यात्व के परिष्कार में 'यस्याधिकरणम्-यत्सत्'—यह अंश देने की कोई आवश्यकता नहीं।

इसी प्रकार संयोग सम्बन्ध से घट के आधारभूत भूतल में समवायादि अन्य सम्बन्धों से भी घटाभाव के रहने में कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि सम्बन्ध-विशेष का प्रवेश न कर सामान्यतः घट और घटाभाव का विरोध मान लेने में ही लाघव है। संयोगेन घट के आधार में संयोगेन घटाभाव का विरोध मानने पर अनन्त सम्बन्ध-प्रवेश-मूलक गौरव होगा। हाँ, संयोगेन घट के आधार में जो 'समवायेन घटो नास्ति'—इस प्रकार की प्रतीति होती है, उसका विषय समवाय का अभाव होता है, न कि घट का अभाव। [यदि कहा जाय कि घट और घटात्यन्ताभाव के विरोध का समाधान दो प्रकार से किया जा सकता है-१. घट के आधार में घटात्यन्ताभाव नहीं रहता, क्योंकि किसी भी सम्बन्ध से घट का रह जाना मात्र घटात्यन्ता-भाव का विरोधी है। २. घटात्यन्ताभाव के आधार में घट नहीं रहता, क्योंकि घट वैसे ही अवृत्ति पदार्थ है, जैसे—आकाश। प्रथम प्रकार को मान कर द्वितीय प्रकार का निराकरण करने के लिए ग्रन्थकार कहता है—] भूतल और घट का आधाराधेयभाव 'इह भूतले घटः' आदि प्रत्यक्ष अनुभूतियों से सिद्ध होने के कारण 'घट अवृत्ति पदार्थ है' ऐसा सन्देह ही नहीं कर सकते। [यदि कहा जाय कि संयोगेन घट के आधार में समवायेन घटाभाव का अनुमान कर लेंगे –'घटसंयुक्ते भूतले समवायेन घटो नास्ति, घटसमवायाभाववत्त्वाद् घटसमवायवत्।' तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि] उक्त युक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि यहाँ भी अनुकूल तर्क का अभाव होने के कारण घट के आधार में घटाभाव का अनुमान नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यदि घट और घटात्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं, तब मिथ्यात्व के परिष्कार में सम्बन्ध-विशेष का भी प्रवेश नहीं करना चाहिए।

अद्वैतसिद्धिः

उक्तयुक्तेश्च न घटादेरत्यन्ताभावसामानाधिकरण्यम्; एवं संयोगतदभावयोर्नैकाधिकरण्यम्; अग्रे वृक्षः कपिसंयोगी मूले ने' ति प्रतीतेरग्रमूलयोरेव संयोगतदभावयोरुपपत्तेः, तदा सन्मात्रनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वं मन्तव्यम्। न चैवं सति भावाभावयोरविरोधात्तज्ज्ञानयोर्बाध्यबाधकभावो न स्यादिति वाच्यम्; भिन्नसत्ताकयोरविरोधेऽपि समसत्ताकयोर्विरोधात्। यत्र भूतले यस्य घटस्यात्यन्ताभावो व्यावहारिकः, तत्र स घटो न व्यावहारिक इति नियमात्। न चैवं सति—'शुक्तिरियं न रजत' मिति ज्ञानविषयीभूताभावस्य व्यावहारिकत्वेन पुरोवर्तिप्रतीतरजतस्य व्यावहारिकत्वापहारेऽपि प्रातीतिकसत्त्वानपहाराद् बाधोत्तरकालेऽपि 'इदं रजत'मिति प्रतीतिः स्यादिति वाच्यम्; तत्र 'इयं शुक्ति' रित्यपरोक्षप्रमया प्रातीतिकरजतोपादानाज्ञाननिवृत्तौ प्रातीतिकसत्त्वस्याप्यपहारात्, शुक्त्यज्ञानस्य प्रातीतिकरजतोपादानत्वेन तदसत्त्वे प्रातीतिकरजतासत्त्वस्यावश्यकत्वात्। अत एव यत्र परोक्षयाधिष्ठानप्रमया न भ्रमोपादानाज्ञाननिवृत्तिः, तत्र व्यावहारिकत्वापहारेऽपि प्रातीतिकत्वानपहारात् 'तिक्तो गुड' इत्यादिप्रतीतिरनुवर्तत एव। एवमखण्ड-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इसी प्रकार यदि यह भी कहा जा सके कि संयोग और संयोगाभाव का सामानाधिकरण्य नहीं होता। 'अग्रे वृक्षः कपिसंयोगी, मूले न'—इस प्रतीति के आधार पर वृक्ष के अग्र (शिखर) भाग में कपि-संयोग और मूल भाग में उसका अभाव सिद्ध होता है, एक आधार में दोनों नहीं। तब मिथ्यात्व के प्रदर्शित शरीर में अवच्छेदक-विशेष का भी प्रवेश नहीं करना चाहिए। केवल सन्मात्र में रहनेवाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व को ही मिथ्यात्व मानना चाहिये।

यदि कहा जाय—उक्त मिथ्यात्व-साधक अनुमान के द्वारा प्रपञ्च के आधार में ही प्रपञ्चाभाव के सिद्ध हो जाने पर न तो भाव और अभाव का विरोध ही रह जाता है और न उनके ज्ञानों का वाध्य-बाधकभाव तव "नेह नानास्ति किञ्चन" इस श्रुति से जन्य निष्प्रपञ्चत्व-ज्ञान प्रपञ्च-ज्ञान का बाधक कैसे होगा? तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विभिन्न सत्तावाले भाव और अभाव का विरोध न होने पर भी समान सत्तावाले भावाभावों का विरोध निश्चित है—जिस भूतल में जिस घट का व्यावहारिक अत्यन्ताभाव रहता है, वहाँ उस घट का व्यावहारिक भाव (सत्ता) सिद्ध नहीं हो सकता, हाँ प्रातीतिक सत्ता रह सकती है—यह अकाट्य नियम है।

यदि कहें—समानसत्ताक भावाभाव का विरोध मानने पर 'शुक्तिरियं न रजतम्' - इस प्रकार के बाध ज्ञान का विषय रजताभाव व्यावहारिक है, अतः पुरोवर्ती प्रतीयमान रजत का व्यावहारिकत्व समाप्त हो जाने पर भी प्रातीतिकत्व अपहृत नहीं होता, अतः बाध ज्ञान के पश्चात् भी 'इदं रजतम्'—यह प्रतीति वनी रहनी चाहिए। तो यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि वहाँ पर 'इयं शुक्तिः'—इस प्रकार अधिष्ठान की अपरोक्ष प्रमा से प्रातीतिक रजत के उपादानभूत अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर प्रातीतिक रजत की भी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि शुक्ति का अज्ञान ही प्रातीतिक रजत का उपादान कारण था; उसके न रहने पर प्रातीतिक रजत की असत्ता अनिवार्य है। इसीलिए जहाँ अधिष्ठान की परोक्ष प्रमा से भ्रम के उपादानभूत अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती; वहाँ वस्तु का व्यावहारिकत्व अपहृत हो जाने

न्यायामृतम्

नापि पारमार्थिकत्वाकारेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वमित्यन्त्यः, अबाध्यत्वरूपपारमार्थिकत्वस्य बाध्यत्वरूपमिथ्यात्वनिरूप्यत्वेनान्योन्याश्रयात्, रूप्यं नास्ति नासीन्न भविष्यतीति नेह नानास्ति किंचनेति च स्वरूपेणैव निषेधाच्च। अन्यथा नृशृंगादेरपि न स्वरूपेण निषेधः, किन्तु सत्त्वेनेति स्यात्। रूप्यवत्तत्पारिमार्थिकत्वस्याप्यपरोक्षप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या धीकाले वर्तमानतया निषेधायोगाच्च। पारमार्थिकत्वस्य पारमार्थिकत्वेन निषेधे त्वनवस्था सुखाद्यनुभवरूपस्य ब्रह्मणोऽपि मयि सुखाद्यनुभव इत्यादिप्रत्यक्षेण "स एवाधस्ताद्"इत्यादिश्रुत्या च प्रतिपन्नोपाधौ निर्धर्मकत्वेन पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधेनातिव्याप्त्यापत्तेश्च। प्रतिपन्नोपाधिशब्देनाध्यस्ताधिष्ठानविवक्षायां चाध्यस्तत्वस्य निरुच्यमानमिथ्यात्वानतिरेकेणात्माश्रयात्, शेषवैयर्थ्याच्च। ब्रह्मणः प्रतिपन्नोपाध्यभावेऽपि पारमार्थिकत्वरूपधर्माभावस्य ब्रह्मण्यपरिच्छिन्नसद्रूपत्वाविरोधित्ववद् घटादेः प्रतिपन्नोपाधिसद्भावेऽपि पारमार्थिकत्वाभावस्य घटादौ परिच्छिन्नसद्रूपत्वाविरोधित्वोपपत्तेश्च। न हि ब्रह्मण्यपि स्वरूपातिरिक्तम् पारमार्थिकत्वम् तत्त्वतोऽस्ति, अद्वैतहानेः। न च सोपाधिकबाधाभावगर्भितं पारमार्थिकत्वं निरुपाधिकब्रह्ममात्रम्। एवं च ब्रह्म कालत्रयेऽपि सद्, वियदादि रूप्यादि च कदाचिदेवेति नित्यत्वानित्यत्वाभ्यामेव वैषम्यम्, न तु सत्यत्वमिथ्यात्वाभ्याम्। तथा च—

स्वरूपेण त्रिकालस्थनिषेधो नास्ति ते मते।
रूप्यादेस्तात्त्विकत्वेन निषेधस्त्वात्मनोऽपि च॥

अद्वैतसिद्धिः

ब्रह्मसाक्षात्कारात्पूर्वं परोक्षबोधेन प्रपञ्चस्य व्यावहारिकत्वापहारेऽपि प्रतीतिरनुवर्तत एव, अधिष्ठानाज्ञाननिवृत्तौ तु नानुवर्तिष्यते। एतेन—उपाधिशब्देनाधिकरणमात्रविवक्षायामर्थान्तरम्, वाय्वधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि रूपस्यामिथ्यात्वाद्, अधिष्ठानविवक्षायां तु भ्रमोपादानाज्ञानविषयस्याधिष्ठानत्वेनान्योन्याश्रयत्वम्—ज्ञानस्य भ्रमत्वे विषयस्य मिथ्यात्वम्, विषयस्य मिथ्यात्वे च ज्ञानस्य भ्रमत्वमिति परास्तम्; उक्तरीत्या अधिकरण-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पर भी प्रातीतिकत्व बना रहता है, जैसे ज्वर-ग्रस्त विद्वान् को गुड़ का कडुआपन प्रतीत होता रहता है। इसी प्रकार अखण्ड ब्रह्म के साक्षात्कार से पहले परोक्ष बोध के द्वारा प्रपंच की व्यावहारिकता समाप्त हो जाने पर भी उसकी प्रतीति होती रहती है। हाँ, अधिष्ठान के साक्षात्कार से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर वह प्रतीति भी नहीं रहेगी।

यह जो आक्षेप किया जाता था उक्त मिथ्यात्व-लक्षण-घटक 'उपाधि' पद का आधार मात्र अर्थ करने पर अर्थान्तरता होती है, क्योंकि वायु में रहने वाले रूपात्यन्ताभाव का प्रतियोगी होने पर भी रूप मिथ्या नहीं होता। 'उपाधि' पद का अधिष्ठान अर्थ करने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि भ्रम के उपादानभूत अज्ञान के विषय को अधिष्ठान कहते हैं, अतः ज्ञान के भ्रम सिद्ध होने पर विषय में मिथ्यात्व और विषय के मिथ्यात्व सिद्ध होने पर उसके ज्ञान में भ्रमरूपता सिद्ध होगी। वह पूरा आक्षेप उक्तरीति से 'उपाधि' शब्द का अधिकरण अर्थ करने पर समाप्त हो जाता है। अर्थात् 'यस्याधिकरणम् यत्सत्'—इस प्रकार 'उपाधि' शब्द का स्वाधिकरण अर्थ करने पर उक्त अर्थान्तर दोष नहीं रह जाता, क्योंकि

अद्वैतसिद्धिः

विवक्षायां दोषाभावात् । न च—'स एवाधस्ताद्' इति श्रुत्या प्रतिपन्ने देशकालाद्युपाधौ परमार्थतो ब्रह्मणोऽभावात्तत्रातिव्याप्तिरिति वाच्यम्; निर्धर्मके तस्मिन्नभावप्रतियोगित्वरूपधर्माभावात् । न चैवं—सत्यत्वमपि तत्र न स्यात्, तथा च 'सत्यं ज्ञानमनन्त' मित्यादिश्रुतिव्याकोप इति वाच्यम्; अधिकरणातिरिक्ताभावानभ्युपगमेनोक्तमिथ्यात्वाभावरूपसत्यत्वस्य ब्रह्मस्वरूपत्वाविरोधात् । एतेन स्वप्रकाशत्वाद्यपि व्याख्यातम्—परप्रकाश्यत्वाभावो हि स्वप्रकाशत्वम्, कालपरिच्छेदाभावो नित्यत्वम्, देशपरिच्छेदाभावो विभुत्वम्, वस्तुपरिच्छेदाभावः पूर्णत्वमित्यादि । तथा च भावरूपधर्मानाश्रयत्वेऽपि ब्रह्मणः सर्वधर्माभावरूपतया न काप्यनुपपत्तिरिति सर्वमवदातम् ॥

इति सदसद्विलक्षणत्वरूपद्वितीयमिथ्यात्वविचारः ॥

●

वायु में रूप की प्रतीति ही नहीं होती, अतः वह 'प्रतिपन्नोपाधि' शब्द से गृहीत नहीं हो सकता ।

यदि कहा जाय—"स एवाधस्तात्" (छां० उ० ७।२५।१) इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादित अधोदेशादि उपाधि में परमार्थतः ब्रह्म की अप्राप्ति है, अतः ब्रह्म में उक्त मिथ्यात्व का लक्षण अतिव्याप्त होता है । तो ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सर्वधर्म-शून्य ब्रह्म में अधोदेशवृत्ति अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्वरूप धर्म भी नहीं रहता । अतः वहाँ लक्षण न जाने से अतिव्याप्ति क्यों होगी ? यदि ब्रह्म निर्धर्मक है, तब सत्यत्व धर्म भी उसमें नहीं रहेगा । फिर तो "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै. उ. २।१।१) इत्यादि ब्रह्मगत सत्यत्व-प्रतिपादक श्रुति का बाध होता है—इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अधिकरण से अतिरिक्त अभाव नहीं माना जाता, अतः मिथ्यात्वाभावरूप सत्यत्व के ब्रह्मस्वरूप होने में कोई विरोध नहीं । इसी प्रकार की व्याख्या स्वप्रकाशत्वादि धर्मों की भी कर लेनी चाहिए । अर्थात् परप्रकाशत्व का अभाव स्वप्रकाशत्व, काल-परिच्छेदाभाव नित्यत्व, देश-परिच्छेदाभाव विभुत्व और वस्तु-परिच्छेदाभाव पूर्णत्व है । फलतः भावरूप धर्मों का आश्रय न होने के कारण ब्रह्म को निर्धर्मक कहा जाता है, अतः कोई अनुपपत्ति नहीं रह जाती । [न्यायामृतकार ने मिथ्यात्व के इस द्वितीय लक्षण के दोषों का संकलन इस प्रकार किया है—

स्वरूपेण त्रिकालस्थनिषेधो नास्ति ते मते ।
रूप्यादेः, तात्त्विकत्वेन निषेधस्त्वात्मनोऽपि च ॥

अर्थात् शुक्ति-रजतादि का स्वरूपेण त्रैकालिक निषेध अद्वैत मत में सम्भव नहीं, क्योंकि प्रतीति काल में उसकी भी सत्ता मानी जाती है, अन्यथा रूप्यादि अत्यन्त असत् हो जायेंगे । यदि कहा जाय कि तात्त्विक रूप से रूप्यादि का त्रैकालिक निषेध विवक्षित है, तब तो ब्रह्म में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वह निर्धर्मक है, तात्त्विकत्व धर्म उसमें नहीं रहता, अतः तात्त्विकरूप से उसका भी अधोदेशादि में निषेध हो सकता है । इन दोषों का उद्धार उसी प्रकार संकलित किया जा सकता है—

त्रैकालिकनिषेधोऽद्धा, स्वरूपेणैव वर्ण्यते ।
अलीकत्वं कथं भाते, निषेध्यत्वमधर्मके ॥] ॥२॥

●

: ६ :

तृतीयमिथ्यात्वविचारः

न्यायामृतम्

नापि ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वमिति तृतीयः, अतीतघटादावव्याप्तेः, शुक्तिज्ञानेन रूप्यं नष्टमिति कदा (चिदनुभवाभावेन) प्यननुभवेन तत्राप्यव्याप्तेश्च। एतावन्तं कालं शुक्त्यज्ञानमासीद्, भ्रम आसीदित्यनुभवेन शुक्तिवत्सत्ये अज्ञानभ्रमादौ शुक्तिज्ञानेन तदज्ञानं नष्टमित्यनुभवेन ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य सत्त्वेनातिव्याप्तेश्च। अपरोक्षाध्यासं प्रति ज्ञानस्यापरोक्षतया निवर्तकत्वेन ज्ञानत्वेनानिवर्तकत्वाच्च।

ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य चेच्छाद्यनिवर्त्ये स्मृतित्वेन स्मृतिनिवर्त्ये संस्कारादावतिव्याप्तेः। अनुभवत्वव्याप्यधर्मेण तन्निवर्त्यत्वस्य च यथार्थस्मृतिनिवर्त्या-यथार्थस्मृतिविषयेऽव्याप्तेः। भ्रमोत्तरप्रमानिवर्त्यत्वस्य च तत्त्वज्ञानसंस्कारनिवर्त्याज्ञान-संस्कारे अव्याप्तेः। स्वोपादानाज्ञाननिवर्तकज्ञाननिवर्त्यत्वस्य चानाद्यध्यासेऽभावात्। लाघ-वेनाज्ञानोपादानकत्वस्यैव लक्षणत्वापाताच्च। तथा च--

विज्ञाननाश्यता मिथ्यारूप्यादौ नानुभूयते।
किं त्वधिष्ठानवत् सत्ये तदज्ञानेऽनुभूयते॥

●

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वम्। ननु—उत्तरज्ञाननिवर्त्ये पूर्वज्ञाने अतिव्याप्तिः, मुद्गर-पातादिनिवर्त्ये च घटादावव्याप्तिः, ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वविवक्षायामयप्ययं दोषः, अधिष्ठान-साक्षात्कारत्वेन निवर्त्ये शुक्तिरजतादौ च ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावात् साध्यविकलता,

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

[विवरणाचार्य ने कहा है—"अज्ञानस्य स्वकार्येण वर्तमानेन प्रविलीनेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिर्वाधः" (पं० वि० पृ० १७८)। अर्थात् अपने वर्तमान या प्रविलीन कार्य के सहित अज्ञान की तत्त्व-ज्ञान के द्वारा निवृत्ति का नाम वाध है। अतः] ज्ञान-निवर्त्यत्व ही मिथ्यात्व का लक्षण सिद्ध होता है।

द्वैतवादी—ज्ञान-निवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्व-लक्षण उस ज्ञान में अतिव्याप्त है, जिसकी निवृत्ति अपने उत्तरवर्ती ज्ञान के द्वारा होती है। एवं मुगदर की चोट से फूटे घटादि में अव्याप्ति भी होती है, क्योंकि वह मिथ्या होने पर भी ज्ञान से निवृत्त (नष्ट) न होकर मुगदर के प्रहार से नष्ट हुआ है। यद्यपि ज्ञानत्वेन रूपेण ज्ञान जिसका निवर्तक होता है, वह मिथ्या है, पूर्व ज्ञान का निवर्त्तक जो उत्तर ज्ञान कहा गया है, वह ज्ञानत्वेन रूपेण निवर्तक नहीं है, अपि तु विशेष गुणत्वेन; क्योंकि वैशेषिकों का यह सिद्धान्त है कि आत्मादि विभु द्रव्यों के विशेष गुण अपने पूर्ववर्ती विशेष गुणों के निवर्तक होते हैं। जैसे—आत्मा में पहले ज्ञान हुआ, पश्चात् इच्छा या ज्ञानान्तर; वहाँ प्रथम ज्ञान का नाश पश्चाद् भावी इच्छा या ज्ञानान्तर रूप विशेष गुण से होता है। फलतः पूर्व ज्ञान की जो उत्तर ज्ञान के द्वारा निवृत्ति होती है, वहाँ उत्तर ज्ञान विशेष गुणत्वेन ही निवर्तक है, ज्ञानत्वेन नहीं, अतः ज्ञानत्वेन ज्ञान-निवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्व-लक्षण की वहाँ अतिव्याप्ति नहीं है। तथापि मुगदर-पात-निवर्त्य घटादि में अव्याप्ति स्थिर है। ज्ञानत्वेन ज्ञान-निवर्त्यत्व की विवक्षा होने पर शुक्ति-रजत में

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वविवक्षायां ज्ञानत्वव्याप्येन स्मृतित्वेन ज्ञाननिवर्त्ये संस्कारे अतिव्याप्तिरिति चेन्न, ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वं हि ज्ञान-निवर्त्यत्वम्। अवस्थितिश्च द्वेधा; स्वरूपेण कारणात्मना च; सत्कार्यवादाभ्युपगमात्। तथा च मुद्गरपातेन घटस्य स्वरूपेणावस्थितिविरहेऽपि कारणात्मनावस्थितिविरहाभावाद्, ब्रह्मज्ञानप्रयुक्त एव स इति नातीतघटादावव्याप्तिः। अत एवोत्तरज्ञाननिवर्त्ये पूर्वज्ञाने न सिद्धसाधनम्; न वा वियदादौ ब्रह्मज्ञाननाश्यत्वेऽपि तद्वदेव मिथ्यात्वासिद्धयार्थान्तरम्; उत्तरज्ञानेन लीनस्य पूर्वज्ञानस्य स्वकारणात्मनावस्थानादवस्थितिसामान्यविरहानुपपत्तेः। शशविषाणादाववस्थितिसामान्यविरहेऽपि तस्य ज्ञानप्रयुक्तत्वाभावान्नातिव्याप्तिः। शुक्ति-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

साध्य-विकलता भी है, क्योंकि शुक्ति-रजत का निवर्तक जो शुक्ति-ज्ञान है, वह अधिष्ठान-साक्षात्कारत्वेन निवर्तक है, ज्ञानत्वेन नहीं—[अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान अध्यस्त का निवर्तक नहीं होता, अपि तु साक्षात्कार; नहीं तो श्रवणमात्र से आत्मा का अज्ञान नष्ट हो जायगा, श्रवण के पश्चात् मनन और निदिध्यासन निरर्थक हो जायेंगे]। साक्षात्कारत्वेन ज्ञान-निवर्त्यत्व का संग्रह करने के लिए ज्ञानत्व-व्याप्य धर्म से ज्ञान-निवर्त्यत्व की विवक्षा होने पर स्मृति ज्ञान से निवर्तनीय संस्कारों में अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि स्मृतिज्ञान भी ज्ञानत्व-व्याप्य स्मृतित्वेन ही संस्कार का निवर्तक होता है।

अद्वैतवादी—आपका आक्षेप संगत नहीं, क्योंकि ज्ञान-निवर्त्यत्व का अर्थ है—ज्ञान-प्रयुक्त अवस्थिति सामान्य के अभाव की प्रतियोगिता। [आशय यह है कि 'ज्ञान निवर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्'—विवरणकारके इस लक्षण में तत्त्वाववोध-वाचक 'ज्ञान' पद के उत्तर तृतीया विभक्ति ज्ञापकत्वरूप हेतुता की बोधक है। निवृत्ति का अर्थ अत्यन्ताभाव होता है, उसके प्रति-योगी को निवर्त्य कहते हैं। ज्ञान और अत्यन्ताभाव का व्याप्य-व्यापकभाव विवक्षित है। इस प्रकार परिष्कृत लक्षण होता है—तत्त्वज्ञानव्यापकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए सन्तुलित पदावली का यहाँ प्रयोग किया गया है—ज्ञानप्रयुक्ता-वस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वम्]। कार्य की अवस्थिति दो प्रकार की होती है—(१) स्वरूपेण और (२) कारणरूपेण। वेदान्त में भी सांख्य के समान सत्कार्यवाद माना जाता है। अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व और नाश के पश्चात् भी कार्य की स्थिति कारण में तब तक मानी जाती है, जब तक कारण बना रहता है। अतः "वर्तमानेन प्रविलीनेन कार्येण सह"—इस विवरण-वाक्य में 'वर्तमान' पद से कार्य का विद्यमानरूप या स्वरूप तथा 'प्रविलीनेन' पद से कार्य का कारणरूपेण अवस्थान प्रतिपादित है। फलतः मुगदार-पात के अनन्तर घट की स्वरूपेण स्थिति न रहने पर भी मृत्तिकारूप से स्थिति रहती है। मृत्तिका की अपने कारण में, उस कारण की अपने कारण में, अन्ततोगत्वा प्रपञ्च की मूलाज्ञानरूप कारण में अवस्थिति रहती है। कारणरूपेण भी अवस्थिति का अभाव तो ब्रह्मज्ञान के पश्चात् ही होता है। अतः विनष्ट घट में ज्ञान-निवर्त्यत्व या अधिष्ठानसाक्षात्कारप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरह-प्रतियोगित्व लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता।

अत एव उत्तर ज्ञान से निवर्त्य पूर्व ज्ञान में न तो सिद्ध-साधनता है और न आकाशादि में मिथ्यात्व की असिद्धि होने से अर्थान्तरता ही है, क्योंकि उत्तर ज्ञान से विनाशित पूर्व ज्ञान सर्वथा नष्ट न होकर कारणरूपेण अवस्थित रहता है। किन्तु आकाशादि की निवृत्ति अधिष्ठान-तत्त्व के साक्षात्कार से सर्वथा हो जाती है। अतः उनमें मिथ्यात्व निश्चित है। शश-शृङ्गादि

अद्वैतसिद्धिः

रजतादेरपरोक्षप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रतिभासकाले अवस्थित्यङ्गीकारात् बाधकज्ञानं विना तद्विरह इति न साध्यविकलता । अत एवोक्तं विवरणाचार्यैः— 'अज्ञानस्य स्वकार्येण प्रविलीनेन वर्तमानेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिर्बाध' इति । वार्तिककृद्भिश्चोक्तम्—'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥' इति । 'सह कार्येण नासी' दिति लीनेन कार्येण सह निवृत्त्यभिप्रायम्, 'सह कार्येण न भविष्यती' ति तु भाविकार्यनिवृत्त्यभिप्रायमित्यन्यदेतत् । रूप्योपादानमज्ञानं स्वकार्येण वर्तमानेन लीनेन वा सहाधिष्ठानसाक्षात्कारान्निवर्तते । तत्तद्भ्रमोपादानानां अज्ञानानां भेदाभ्युपगमादिति न दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्; मुद्गरपातानन्तरं घटो नास्तीति प्रतीतिवदधिष्ठानज्ञानानन्तरं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का अत्यन्ताभाव या अवस्थिति-सामान्य का विरह है, किन्तु वह ज्ञान-प्रयुक्त नहीं, अपितु स्वतः ही होता है, अतः शश-शृङ्गादि में भी अतिव्याप्ति नहीं होती । शुक्ति-रजतादि की प्रतीति-काल में सत्ता मानी जाती है, अन्यथा उसका अपरोक्ष भान न हो सकेगा, अतः बाधक ज्ञान के विना शश-शृङ्गादि के समान उसका अत्यन्ताभाव नहीं होता, अतः शुक्ति-रजतरूप दृष्टान्त में साध्य-विकलता या उक्त मिथ्यात्व का अभाव है । कार्य की दो प्रकार की अवस्थिति तथा ज्ञान-प्रयुक्त विरह को ध्यान में रखकर ही विवरणकार श्री प्रकाशात्मयति ने कहा है—"अज्ञानस्य स्वकार्येण प्रविलीनेन वर्तमानेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिर्बाधः" (पं० वि० पृ० १७८)। बृहदारण्यक भाष्य के वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है -

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः ।

अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥ (४।४।४२७)

["तत् त्वमसि" (छां० उ० ६।८।७) आदि महावाक्यों से जन्य प्रमारूप अखण्डाकार चरम वृत्ति के जन्म मात्र से कार्य-सहित अविद्या का नासीत् 'नास्ति न भविष्यति'-इस प्रकार त्रैकालिक अभाव हो जाता है]। यहां अतीत कार्य-सहित अविद्या की निवृत्ति को मन में रख कर कहा गया— "सह कार्येण नासीत्" तथा भावी कार्य-सहित अविद्या-निवृत्ति के अभिप्राय से कहा गया है— "सह कार्येण न भविष्यति ।' यह विचारान्तर है [आशय यह है कि उक्त वार्तिक में 'कार्येण सह अविद्या नास्ति'—यह कहना तो संगत है, क्योंकि तत्त्व-साक्षात्कार के द्वारा वर्तमान अविद्या का निषेध न्यायोचित इसलिए है कि प्रसक्त का ही निषेध होता है और वर्तमान अविद्या या उस की सत्ता प्रसक्त है। किन्तु 'नासीत्,' 'न भविष्यति' ये दोनों निषेध उचित नहीं, क्योंकि न तो अतीत अविद्या प्रसक्त है और न भावी। अतः अप्रसक्त-प्रतिषेध प्राप्त होता है, वह अनुचित है—इस आक्षेप के समाधान में कहा जाता है कि अविद्या का कार्य अतीत और भावी हो सकता है, अतः वर्तमान अविद्या ही अपने अतीत कार्य से युक्त होकर अतीत तथा भावी कार्य से युक्त होकर भावी कही जा सकती है, अतः प्रसक्त त्रैकालिक अविद्या का निषेध हो सकता है। उन निषेधों में भावी का निषेध बाध नहीं कहलायेगा, क्योंकि भावी कार्य का अभाव कारणाभाव-प्रयुक्त है, ज्ञान-प्रयुक्त नहीं। यह विचार प्रकृतोपयोगी नहीं, अतः इसकी गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं है]। शुक्ति-रजत का उपादानभूत अज्ञान अपने वर्तमान या लीन कार्य के साथ अधिष्ठान-साक्षात्कार के द्वारा निवृत्त होता ही है। एक बार उक्त अज्ञान के नष्ट हो जाने पर कालान्तर में न वह भ्रम होगा और न उसकी निवृत्ति— यह नहीं कह सकते; क्योंकि तत्तद् रजत-भ्रम के उपादानभूत अज्ञान नाना माने जाते हैं, तत्तत्कालीन अधिष्ठान-ज्ञान से तत्तत् अज्ञान की निवृत्ति होगी, अतः दृष्टान्त में साध्य-विकलता

अद्वैतसिद्धिः

शुक्त्यज्ञानं तद्गतरूप्यं च नास्तीति प्रतीतेः सर्वसंमतत्वात्। ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वमित्यपि साधु। उत्तरज्ञानस्य पूर्वज्ञाननिवर्तकत्वं च न ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ? किन्त्विच्छादिसाधारणेनोदीच्यात्मविशेषगुणत्वेन उदीच्यत्वेन वेति न सिद्धसाधनादि। नापीच्छाद्यनिवर्त्ये स्मृतित्वेन ज्ञाननिवर्त्ये संस्कारे अतिव्याप्तिः; स्मृतित्वेन स्मृतेः संस्कारनिवर्तकत्वे मानाभावात्। स्मृतौ हि जातायां संस्कारो दृढो भवतीत्यनुभवसिद्धम्। तेषां दृढत्वं च समानविषयकसंस्कारानेकत्वमित्यदोषः। वस्तुतस्तु साक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं विवक्षितम्; अतो न पूर्वोक्तदोषः। नापि निश्चयत्वेन ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्ये संशये अतिव्याप्तिरिति सर्वमवदातम्।

इति तृतीयमिथ्यात्वविचारः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दोष कदापि नहीं, क्योंकि जैसे मुगदर-पात के अनन्तर 'घटो नास्ति'—इस प्रकार की प्रतीति होती है, वैसे ही अधिष्ठान-साक्षात्कार के अनन्तर शुक्त्यज्ञान शुक्तिरूप्यं च नास्ति'—इस प्रकार की अनुभूति सर्व-सम्मत है।

ज्ञानत्व-व्याप्य साक्षात्कारत्वादि धर्मों से ज्ञान-निवर्त्यत्व मिथ्यात्व है—यह कल्प भो समीचीन है। उत्तर ज्ञान जो पूर्व ज्ञान का निवर्त्तक होता है, वह, ज्ञानत्व-व्याप्य धर्म से नहीं, अपितु इच्छा-द्वेषादि में भी रहने वाले उत्तर विशेषगुणत्व रूप से अथवा उत्तर कालीनत्वेन, अतः उत्तर ज्ञान-निवर्त्य पूर्व ज्ञान में सिद्ध-साधनता नहीं है। और न इच्छादि से अनिवर्तनीय स्मृतित्वेन रूपेण ज्ञान-निवर्त्य संस्कारों में अतिव्याप्ति है, क्योंकि स्मृतिज्ञान में संस्कार की निवर्तकता प्रमाण-सिद्ध नहीं। स्मृति के उत्पन्न होने पर संस्कार नष्ट न होकर अधिक दृढ़ होता है—यह तथ्य अनुभव-सिद्ध है। संस्कारों की दृढ़ता तो यही है कि प्रत्येक वार के स्मरण से उत्पन्न नये-नये संस्कारों का पुराने संस्कारों से संवलन। जैसे एक निर्बल तन्तु भी अन्य अनेक तन्तुओं से संवलित होकर वलिष्ठ हो जाता है, वैसे ही नये-नये संस्कारों से संवलित होकर पुराने संस्कार सुदृढ़ हो जाते हैं। यदि प्रत्येक स्मरण से उस के संस्कार नष्ट होते जाएँ, तब संवलन या दृढ़ता किस में बनेगी ? वस्तुतः ज्ञानत्व-व्याप्य साक्षात्कारत्वरूप से ही ज्ञान-निवर्त्यत्व यहाँ विवक्षित है, अतः स्मृतित्वेन रूपेण ज्ञान-निवर्त्यत्व संस्कारों में रहने पर भी उनमें अतिव्याप्ति नहीं, क्योंकि न तो स्मृति में साक्षात्कारत्व रहता है और न स्मृति ज्ञान साक्षात्कारत्वेन संस्कार-निवर्तक ही है। निश्चय ज्ञान में संशय की निवर्तकता भी ज्ञानत्व-व्याप्य निश्चयत्वेन होती है, साक्षात्कारत्वेन नहीं, अतः संशय में भी अतिव्याप्ति नहीं होती। इस प्रकार उक्त लक्षण सर्वथा अवदात (निर्दुष्ट) है।

: ७ :

चतुर्थमिथ्यात्वविचारः

न्यायामृतम्

एतेन स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वं मिथ्यात्वमिति चतुर्थोऽपि निरस्तः, अत्यन्ताभावस्य तात्त्विकत्वे प्रातिभासिकत्वे व्यावहारिकत्वे च दोषस्योक्तत्वाच्च, अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं स्वरूपेणेति पक्षे पारमार्थिकत्वाकारेणेति च पक्षे दोषस्योक्तत्वाच्च।

अद्वैतसिद्धिः

स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्। तच्च स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वम्, अतः पूर्ववैलक्षण्यम्। दूषणपरिहारश्च पूर्ववत्। न च—संयोगिनि समवायिनि वा देशे तदत्यन्ताभावासम्भवः, संभवे तूपादानत्वाद्यनुपपत्तिरिति—वाच्यम्, काले सहसंभववद् देशेऽपि सहसंभवाविरोधात्, प्रागभावसत्त्वेनोपादानत्वाविरोधाच्च। न च—अत्यन्ताभावाधिकरणे प्रागभावस्याप्यनुपपत्तिरिति—वाच्यम्, काले व्यभिचारात्। न च—काले प्रागभावात्यन्ताभावयोः सामानाधिकरण्य-

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

अथवा अपने आश्रय में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। स्वाश्रयगतात्यन्ताभावप्रतियोगित्व का तात्पर्य मिथ्या वस्तु का अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमानत्व है, अतः पूर्वोक्त द्वितीय लक्षण (प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व) से इस चतुर्थ लक्षण का वैलक्षण्य हो जाता है, पुनरुक्ति नहीं होती। इस लक्षण में उद्भावित दोषों का परिहार पूर्व द्वितीय लक्षण में प्रदर्शित रीति से कर देना चाहिए।

यदि कहा जाय कि घटादि का अपने संयोगी भूतलादि में अथवा समवायी कपालादि में अत्यन्ताभाव सम्भव नहीं, सम्भव होने पर समवायिकारणता की अनुपपत्ति होगी। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे घट के अधिकरणभूत काल में कालिक सम्बन्ध से घटात्यन्ताभाव सम्भव है, उसी प्रकार घट के संयोगी या समवायी देश में भी उसका अत्यन्ताभाव क्यों न रह सकेगा? समवायी देश में प्रागभाव रहने के कारण समवायिकारणता भी उपपन्न हो जाती है [आशय यह है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा जो भाव और अभाव का एकत्र विरोध प्रतीत होता है, वह समानसत्ताक भावाभाव का ही होता है, भिन्नसत्ताक का नहीं—यह कहा जा चुका है। जैसे शुक्ति-रजत के व्यावहारिक अत्यन्ताभाव के अधिकरणभूत शुक्ति में प्रातिभासिक रजत के निर्माण की क्षमता है, वैसे ही घटादि के पारमार्थिक अत्यन्ताभाव के अधिकरणभूत कपालादि में व्यावहारिक घट के उत्पादन की योग्यता क्यों न होगी?]। घटात्यन्ताभाव के अधिकरण मे घट का प्रागभाव नहीं रह सकता—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि घटोत्पत्ति के पूर्व काल में कालिक सम्बन्ध से घटात्यन्ताभाव भी रहता है और घट-प्रागभाव भी, अतः 'यस्य यदा यत्र अत्यन्ताभावः, तस्य तदा तत्र न प्रागभावः'—यह नियम काल में व्यभिचरित होने से असंगत है। जैसे काल में घट का प्रागभाव और अत्यन्ताभाव 'इदानीं

अद्वैतसिद्धिः

मिदानीं घटात्यन्ताभावः, इदानीं घटप्रागभाव इति प्रतीतिबलादङ्गीकृतम्, देशे तु तदुभयसामानाधिकरण्ये न किञ्चिदपि प्रमाणमिति—वाच्यम्, मिथ्यात्वानुमितेः श्रुत्यादेश्च प्रमाणत्वात्। विषमसत्ताकभावाभावयोरविरोधः पूर्वमुपपादितः। न च असत्यतिव्याप्तिः, स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव सत्त्वेन प्रतीयमानत्वस्य विवक्षितत्वात्। न च—'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसी' दिति श्रुत्या असतः सत्त्वप्रतीतेस्तत्रातिव्याप्तिर्दुष्परिहरेति—वाच्यम्, 'सदेवेदमग्र आसी' दित्यस्यार्थस्याभाव एव नञा प्रतिपाद्यते, न त्वसतः सत्त्वम्, विरोधात्; अतो नातिव्याप्तिः। सर्वं चान्यत् पूर्वोक्तमेवानुसन्धेयमित्युपरम्यते॥

इति चतुर्थमिथ्यात्वविचारः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

घटप्रागभावात्यन्ताभावौ स्तः'—इस अनुभव प्रमाण के आधार पर माना जाता है, वैसे ही घट के अधिकरण में घटात्यन्ताभाव प्रक्रान्त मिथ्यात्वानुमान तथा 'नेह नास्ति' आदि श्रुति प्रमाण से प्रमाणित होता है। यह पहले ही पृ० ३४ पर कहा जा चुका है कि न्यूनाधिक सत्तावाले भावाभावों का विरोध नहीं होता।

यदि कहा जाय कि 'शशविषाणम्'—इस शब्द को सुनकर शश-शृङ्ग की प्रतीति अवश्य होती है [जैसा कि वार्तिककार श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—"अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि" (श्लो. वा. पृ. ४६) अर्थात् शशविषाणादि अत्यन्त असत् पदार्थों का भी ज्ञान शब्द कराता है]। अतः अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमान शश-विषाणादि भी हैं, उन्हें भी मिथ्या कहना चाहिए, किन्तु वेदान्त उन्हें 'असत्' मानता है, मिथ्या या अनिर्वचनीय नहीं। तो वह कहना उचित नहीं, क्योंकि अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में केवल प्रतीयमानता नहीं, अपि तु सत्त्वेन प्रतीयमानता विवक्षित है। शश-शृङ्गादि की सत्त्वेन कहीं प्रतीति नहीं होती। "तद्धैके आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" (छां० उ० ६।२।१) इस श्रुति-वाक्य से असत् की भी सत्ता प्रतीत होती है, अतः सत्त्वेन प्रतीयमानत्व कहने पर भी शश-शृङ्गादि असत् पदार्थों में अतिव्याप्ति होती है—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि 'असद् आसीत्'—इस वाक्य का तात्पर्य 'सत् न आसीत्'—इस अर्थ में ही है, असत् की सत्ता के प्रतिपादन में नहीं, क्योंकि असद् आसीत्—ऐसा कहना अत्यन्त विरुद्ध है, अतः असत् में सत्त्वेन प्रतीयमानता न रहने के कारण अतिव्याप्ति नहीं होती। इससे अधिक पूर्वोक्त द्वितीय लक्षण में आक्षेप-समाधानों की चर्चा की जा चुकी है, अतः यहाँ इतना ही कहकर विरत होते हैं॥ ४॥

: ८ :

पञ्चममिथ्यात्वविचारः

न्यायामृतम्

पंचमेऽपि (किं सत्) सत् किं सत्ताजातिमद्विवक्षितम् ? अबाध्यं वा ? ब्रह्म वा ? नाद्यः, त्वन्मते घटादौ जातेरसत्त्वात् । द्वितीये बाध्यत्वं मिथ्यात्वमिति स्यात्, तच्च निरस्तम् । न तृतीयः, सिद्धसाधनात् । नृशृंगादावपि सद्रूपत्वाभावादन्यस्यास-

अद्वैतसिद्धिः

सद्विविक्तत्वं वा मिथ्यात्वम् । सत्त्वं च प्रमाणसिद्धत्वम् । प्रमाणत्वं च दोषासहकृतज्ञानकरणत्वम् , तेन स्वप्नादिवत्प्रमाणसिद्धभिन्नत्वेन मिथ्यात्वं सिध्यति । प्रमाणसिद्धत्वं चाबाध्यत्वव्याप्यमित्यन्यत् । अत्राप्यसति निर्धर्मके ब्रह्मणि चातिव्याप्तिवारणाय सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं विशेषणं देयम्, तयोः सत्त्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वाभावात् । अत एव सद्विविक्तत्वमित्यत्र सत्त्वं सत्ताजात्यधिकरणत्वं वा ? अबाध्यत्वं वा ?

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

अथवा मिथ्यात्व का लक्षण है—सद्-भिन्नत्व । प्रमाण-सिद्ध वस्तु को सत् कहा जाता है । दोषाजन्य (प्रमा रूप) ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । अतः प्रमाण-सिद्ध वस्तु से भिन्न होने के कारण प्रपञ्च वैसे ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है, जैसे—स्वप्न-दृष्ट गजादि । प्रमाण-सिद्धत्व का अवाध्यत्व-व्याप्यत्व भी अर्थ किया जा सकता है—यह एक भिन्न चर्चा है । [श्री आनन्दवोधाचार्य ने न्यायदीपावलि पृ० १ पर कहा है—"सत्यविवेकस्य मिथ्याभावस्य साध्यत्वान्नाप्रसिद्धविशेषणता नापसिद्धान्तोऽपि । सत्यम् अवाध्यम्, वाध्यम् मिथ्येति तद्विवेकः । प्रतिपन्ने हि धर्मिणि न्यायप्रवृत्तेः, प्रमाणप्रतिपन्ने इत्यसमर्थविशेषणत्वात् नाप्रसिद्धविशेष्यतापि ।" अर्थात् सत्य-भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व को उक्त अनुमान में साध्य बनाया जाता है, अतः न तो अप्रसिद्धविशेषणता होती है और न अपसिद्धान्तता । किसी प्रकार से ज्ञातमात्र पक्ष में न्याय-प्रयोग प्रवृत्त हो जाता है । पक्ष का प्रमाण-सिद्धत्व विशेषण लगाना व्यर्थ है । अतः सामान्यतः प्रतिपन्न (आध्यासिक प्रतीति का विषय) होने के कारण प्रपञ्चरूप विशेष्य या पक्ष प्रसिद्ध है, अप्रसिद्धविशेष्यता दोष भी यहाँ नहीं है । यहाँ आनन्दबोधाचार्य का आशय यह है कि अखण्डाकार चरम वृत्ति ही वस्तुतः प्रमाण ज्ञान है, क्योंकि उसका विषय ब्रह्म सर्वथा अवाधित है । अतः अवाध्यत्व या सत्यत्व व्यापक धर्म है और प्रमाण-सिद्धत्व व्याप्य धर्म । प्रपञ्च में अबाध्यत्वरूप व्यापक के न होने पर प्रमाण-सिद्धत्वरूप व्याप्य धर्म नहीं, फलतः प्रपञ्च में प्रमाण-सिद्धत्व का अभाव या प्रमाण-सिद्ध-भिन्नत्व पर्यवसित हो जाता है । अतः न्यायामृतकार ने जो प्रपञ्च को प्रमाण-सिद्ध मानकर दोष दिये हैं, वे सब निराधार हो जाते हैं] ।

इस लक्षण में भी खपुष्पादि असत् पदार्थों एवं निर्धर्मक ब्रह्म में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए हेतु का 'सत्त्वेन प्रतीयमानत्व' विशेषण देना चाहिए । उससे असत् और ब्रह्म—दोनों पदार्थों की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि वे दोनों कहीं सत्त्वेन प्रतीयमान या सत्त्वप्रकारक प्रतीति के विषय (विशेष्य) नहीं होते । अत एव (प्रमाण-सिद्धत्वरूप सत्त्व की विवक्षा होने के कारण) जो न्यायामृतकार का आक्षेप था कि सत्त्व का अर्थ सत्ता जाति की अधिकरणता है ? या अवाध्यत्व ?

न्यायामृतम्

त्वस्याभावेनात्यन्तासत्त्वापाताच्च। मन्मते अबाध्यत्वादिरूपस्य सत्त्वस्याभिधेयत्वादिवत्स्वाश्रितत्वेन ब्रह्मणि सत्त्वाभावे सद्रूपत्वासिद्धेश्च। तस्मात्—
अनिर्वाच्येऽप्रसिद्ध्यादिः प्रतीते प्रतिषेध्यता। स्वाश्रयेऽत्यन्तविरहः सद्विलक्षणता तथा ॥
इति पक्षत्रयेऽत्यन्तासत्त्वं स्यादनिवारितम्। धीनाश्यत्वे त्वनित्यत्वमेव स्यान्न मृषात्मता ॥
मम त्वत्यन्तासत्त्वमेव मिथ्यात्वमिति नास्मत्प्रतिवन्दी।
इति मिथ्यात्वनिरुक्तिभंगः ॥ १ ॥

अद्वैतसिद्धिः

ब्रह्मरूपत्वं वा ? आद्ये घटादावाविद्यकजातेस्त्वयाभ्युपगमेनासम्भवः, द्वितीये बाध्यत्वरूपमिथ्यात्वपर्यवसानम्, तृतीये सिद्धसाधनमिति निरस्तम्, अनभ्युपगमादेव। सदसद्विलक्षणत्वपक्षोक्तयुक्तयश्चात्रानुसन्धेयाः। अवशिष्टं च दृष्टान्तसिद्धौ वक्ष्यामः ॥

॥ इत्यद्वैतसिद्धौ पंचममिथ्यात्वनिरुक्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अथवा ब्रह्मरूपत्व ? प्रथम कल्प में असम्भव दोष है, क्योंकि घटादि में आविद्यक जाति वेदान्ती मानते हैं [यहाँ न्यायामृतकार ने इतना ही कहा है—"त्वन्मतेऽपि घटादौ जातेः सत्त्वात्।" अद्वैतसिद्धकार ने उसका सामञ्जस्य ध्यान में रखकर अनुवाद किया है—घटादावाविद्यकजातेस्त्वयाभ्युपगमेनासम्भवः। आविद्यक का अर्थ है—अविद्या-प्रयुक्त, घटादि में सत्ता जाति का भान अविद्या की कृपा से ही हो सकता है। वस्तुतः सत्ता में घट है, घट में सत्ता नहीं, क्योंकि सत् ही तो सत्ता है—

प्रकृत्यर्थातिरेकेण प्रत्ययार्थो न गम्यते।
सत्तेत्यत्र ततः स्वार्थस्तद्धितोऽत्र भवन्भवेत् ॥ (बृह० वा० पृ. १६७८)

अर्थात् सतो भावः सत्ता—इस प्रकार यदि 'सत्' पद से भावार्थक 'तल' प्रत्यय किया जाता है, तब सत्त्वरूप प्रकृत्यर्थ से भिन्न प्रत्ययार्थ सम्भव नहीं, अतः 'देव एव देता' के समान 'सदेव सत्ता'—ऐसा ही अर्थ यहाँ विवक्षित है, 'तल' रूप तद्धित प्रत्यय स्वार्थ में माना जाता है। इस प्रकार की सत्ता के आश्रित प्रपञ्च को अविद्या-नदी प्रपञ्चाश्रित सत्ता के रूप में प्रदर्शित करती है, अतः इस सत्ता को आविद्यक कहना नितान्त युक्ति-युक्त है]। द्वितीय (अबाध्यत्वं सत्त्वम्) कल्प यदि माना जाता है, तब अबाध्यरूप सत् से भिन्न या बाध्य को मिथ्या कहना होगा, फिर तो द्वितीय और तृतीय लक्षणों में पुनरुक्ति होती है। तृतीय (ब्रह्मरूपत्वं सत्त्वम्) पक्ष में सिद्ध-साधनता दोष होता है, क्योंकि प्रपञ्च को ब्रह्म से भिन्न सभी मानते हैं। न्यायमृतकार के वे सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि उक्त तीनों विकल्प हम नहीं मानते। उनसे भिन्न हमारी सत्त्व की परिभाषा है—प्रमाण-सिद्धत्व।

इस (सद्भिन्नत्वं मिथ्यात्वम्) लक्षण में प्रसक्त सिद्ध-साधनतादि दोषों का परिहार करने के लिए (सदसत्त्वानधिकरणत्वरूप) प्रथम मिथ्यात्व-लक्षण में प्रदर्शित युक्तियाँ अनुसन्धेय हैं। मिथ्यात्वानुमान में दृष्टान्तरूप शुक्ति-रजतादि की अनलीकतादि का अवशि- विचार दृष्टान्त-निरूपण के अवसर पर असत्ख्याति आदि

: ६ :

मिथ्यात्वमिथ्यात्वविचारः

न्यायामृतम्

अस्तु वा मिथ्यात्वं यत्किचित्, तथापि मिथ्यात्वमबाध्यम्? बाध्यं वा? आद्ये अद्वैतहानिः। न हि प्रपंचोपाधिकं भ्रमकालानिश्चितं तन्मिथ्यात्वं निरुपाधिकभ्रमकालनिश्चिताधिष्ठानब्रह्ममात्रम्। तस्य मां प्रत्यपि सिद्धत्वात्। दृश्यत्वादेर्मिथ्यात्व एव व्यभिचारश्च। मिथ्यात्वस्य चादृश्यत्वेऽनुमानवैयर्थ्यम्, तस्य साध्यज्ञप्त्यर्थत्वात्। अन्त्ये सिद्धसाधनम्, अद्वैतश्रुतेरतत्त्वावेदकत्वं च स्यात्, जगच्च सत्यं स्याद् आत्मवत्।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—उक्तमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चसत्यत्वापातः, एकस्मिन् धर्मिणि प्रसक्तयोः विरुद्धधर्मयोरेकमिथ्यात्वे अपरसत्यत्वनियामात्, मिथ्यात्वसत्यत्वे च तद्वदेव प्रपञ्चसत्यत्वापत्तेः, उभयथाप्यद्वैतव्याघात इति चेन्न; मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि प्रपञ्च-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का निराकरण करते हुए किया जायगा। [न्यायमृतकार से बहुत पहले वेदान्तदेशिक ने मिथ्यात्व के सात विकल्प उठाये थे—"किमिदं मिथ्यात्वमभिप्रेतम्—किं (१) तुच्छत्वम्? उत (२) अन्यथाख्यातिविषयत्वम्? उत (३) सदसद्विलक्षणत्वम्? अथ (४) प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वरूपं बाध्यत्वम्? अथवा (५) स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वम्? यद्वा (६) सत्यब्रह्मविलक्षणत्वम्? यद्वा (७) अन्यदेव किञ्चित्?" (श० दू० पृ० ८०)। उनकी प्रत्यालोचना का मार्ग भी अद्वैतसिद्धि के इस सन्दर्भ से प्रशस्त हो जाता है]॥ ५॥

द्वैतवादी—पूर्व-चर्चित पञ्चविध मिथ्यात्व धर्म यदि मिथ्या (बाधित) है, तब प्रपञ्चरूपी धर्मी सत्य हो जायगा, क्योंकि एक धर्मी (प्रपञ्च) में प्राप्त (सत्यत्व और मिथ्यात्व) दो विरोधी धर्मों में से एक (मिथ्यात्व) के मिथ्या होने पर दूसरे (सत्यत्व) धर्म का सत्य या अबाधित होना निश्चित है। यदि उक्त मिथ्यात्व धर्म सत्य माना जाय, तब मिथ्यात्व धर्म के समान प्रपञ्चरूप धर्मी को भी सत्य मानना होगा। [न्यायामृतकार ने यहाँ मिथ्यात्व अबाध्य है, अथवा बाध्य? यह विकल्प उठाकर प्रथम कल्प में अद्वैतहानि तथा इस प्रकार के मिथ्यात्व में दृश्यत्वादि हेतुओं की व्यभिचारापत्ति दी थी। द्वितीय कल्प में सिद्ध-साधन एवं जगत् की सत्यत्वापत्ति का दोष दिया था—"जगच्च सत्यं स्यादात्मवत्"। तरङ्गिणीकार ने उस अनुमान का पूरा आकार दिखाया है, जिसके आधार पर सत्यत्वापादन अभिमत है—"जगत् सत्यं मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वाद्, आत्मवत्" (तरं. पृ. ३८९)। अर्थात् जैसे बौद्धादि के द्वारा आत्मा में कल्पित मिथ्या नास्तित्व से आत्मा की सत्य सत्ता पर आँच नहीं आती, वैसे ही जगत् में दृश्यत्व हेतु के द्वारा साधित मिथ्यात्व भी मिथ्या या कल्पनामात्र है, तब जगत् की सत्यता अक्षुण्ण रह जाती है]। मिथ्यात्व सत्य माना जाय या मिथ्या—दोनों पक्षों में अद्वैत की हानि होती है [क्योंकि एक कल्प में मिथ्यात्व धर्म और दूसरे में प्रपञ्चरूप धर्मी सत्य सिद्ध होता है, सर्वथा सत्यान्तर सिद्ध हो जाने से द्वैतापत्ति या अद्वैत-व्याघात दोष होता है]।

अद्वैतवादी—मिथ्यात्व धर्म के मिथ्या या निषिद्ध हो जाने पर भी प्रपञ्चगत

न्यायामृतम्

न चात्मत्वमुपाधिः, सत्यत्वं विना तद्विरुद्धस्य मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे व्याघातवदज्ञातत्वादिरूपानात्मत्वस्यासत्यत्वं विना व्याघाताभावेनोपाधेरप्रयोजकत्वात्। न च मिथ्यात्वं न ब्रह्ममात्रं किन्तु द्वितीयाभावोपलक्षितं ब्रह्मेति वाच्यम्, उपलक्षणे द्वितीयाभाव एव बाध्याबाध्यविकल्पात्। द्वितीयाभावाधिकरणतयाऽविद्याधिष्ठानतया (अविद्यासाक्षित) तत्साक्षितया च भासमानचिदन्यस्योपलक्ष्यस्याभावेन द्वितीयाभावस्योपलक्षणत्वायोगाच्च। ननु रूप्यधर्मो मिथ्यात्वमपि मिथ्यैव। न च तथात्वे रूप्यस्य सत्यत्वं सत्यं स्यादिति वाच्यम्, धर्मिणो मिथ्यात्वे विरुद्धयोरपि धर्मयोर्मिथ्यात्वात्। परस्परविरुद्धयोरेकस्याभावेऽन्यस्य सत्त्वनियमस्तु यत्र धर्मी सन् (सत्यः) तत्रैव। न हि वन्ध्यासुतस्य श्यामत्वाद्यभावे गौरत्वं सत्यम्। न वा स्वप्ने ज्ञातस्य गजस्य मिथ्यात्वे तत्रैव ज्ञातस्तदभावस्सत्य इतिचेन्न, प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं हि मिथ्यात्वम्। न च प्रतियोगित्वं धर्मान्तरवद्धर्मिसत्त्वा (त्त्वासा) पेक्षमित्यनिर्वाच्यत्वभंगे वक्ष्यते। धर्म्यसत्त्वे धर्मासत्त्वं तु धर्मिसत्त्वसापेक्षधर्मविषयम्, मिथ्यात्वं तु तत्प्रतिकूलम्; अन्यथा सिद्धसाधनात्।

किं च प्रतिपन्नोपाधावनिषिद्धं प्रत्युत बाधकज्ञानेन विहितमपि रूप्यमिथ्यात्वं यदि प्रातिभासिकरूप्यसंबन्धमात्रेण प्रातिभासिकम्, तर्हि सति ब्रह्मणि निषिद्धा अपि धर्मास्सन्तः स्युः। रूप्याधिष्ठानशुक्तिरपि प्रातिभासिकी स्यात्। रूप्ये प्रपंचे च सद्वैलक्षण्यं च सत् स्यात्। असद्वैलक्षण्यं चासत् स्यात्। असति च सद्वैलक्षण्यमसत् स्यात्। रूप्यतन्मिथ्यात्वयोर्मिथ्यात्वे भ्रान्तिबाधव्यवस्था च न स्यात्। त्वदुक्तेन धर्मिणो मिथ्यत्वेन हेतुना साध्यस्य मिथ्यात्वमिथ्यात्वस्यापि प्रातिभासिकत्वापत्त्या हेतोरत्यन्ताप्रमाण्यं च स्यात्। हेतूकृतस्य धर्मिमिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे घटरूपादौ व्यभिचारापत्त्या सत्यत्वावश्यंभावाद्विरोधश्च स्यात्। न च त्वन्मते रूप्यादिकं वियदादिकं वा वन्ध्यासुतवन्निःस्वरूपम्, शून्यवादापातात्। स्वाप्नस्यापि कल्पितत्वेन तद्ध्वंसादेर्मिथ्यात्वेऽपि तन्मिथ्यात्वं स्वप्ने प्रतीतमपि आत्मवद्बाधात्सत्यमेव। न च मिथ्यात्वं प्रपञ्चसमसत्ताकम्, एवं च न तात्त्विकाद्वैतहानिः, नापि सिद्धसाधनम्, त्वन्मते प्रपंचे स्वसमसत्ताकमिथ्यात्वासिद्धेरिति वाच्याम्, मिथ्यात्वस्य व्यावहारिकत्वे तद्विरोधिनोऽप्रातिभासिकस्याऽनपोदितस्वतःप्रमाण्यप्रत्यक्षादिसिद्धस्य च विश्वसत्यत्वस्य पारमार्थिकत्वापातात्। द्वैताद्वैतप्रमाणयोर्व्यावहारिकपारमार्थिकविषयकत्वेन व्यवस्थोक्त्ययोगाच्च। मिथ्यात्वस्य प्रातिभासिके व्यावहारिकतया व्यावहारिके च प्रातिभासिकतया च दृष्टत्वेन तयोस्तुल्यसत्ताकत्वायोगाच्च। अन्यथा प्रपंचे सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्विधिसमुच्चयो वा निषेधसमुच्चयो वा स्यात्। तथा च—

> मिथ्यात्वं यद्यबाध्यं स्यात् सदद्वैतमतक्षतिः।
> मिथ्यात्वं यदि बाध्यं स्याज्जगत्सत्यत्वमापतेत्॥

न च मिथ्यात्वस्य सत्यत्वमिथ्यात्वाभ्यां दूषणं नित्यसमा जातिः, स्वव्याघातादेरभावात्। उक्तं हि—

> मिथ्यात्वस्य हि मिथ्यात्वे मिथ्यात्वं बाधितं भवेत्।
> सत्यत्वस्य च सत्यत्वे सत्यत्वं स्थापितं भवेत्॥ इति

अद्वैतसिद्धिः

सत्यत्वानुपपत्तेः। तत्र हि विरुद्धयोर्धर्मयोरेकमिथ्यात्वे अपरसत्यत्वम्, यत्र मिथ्यात्वावच्छेदकमुभयवृत्ति न भवेत्; यथा परस्परविरहरूपयो रजतत्वतदभावयोः शुक्तौ, यथा वा परस्परविरहव्यापकयो रजतभिन्नत्वरजतत्वयोः तत्रैव; तत्र निषेध्यतावच्छेदकभेदनियमात्, प्रकृते तु निषेध्यतावच्छेदकमेकमेव दृश्यत्वादि, यथा गोत्वाश्वत्वयोरेकस्मिन् गजे निषेधे गजत्वात्यन्ताभावव्याप्यत्वं निषेध्यतावच्छेदकमुभयोस्तुल्यमिति नैकतरनिषेधे अन्यतरसत्त्वम्, तद्वत्। यथा च सत्यत्वमिथ्यात्वयोर्न परस्परविरहरूपत्वम्, न वा परस्परविरहव्यापकत्वम्, तथोपपादितमधस्तात्। परस्परविरहरूपत्वेऽपि विषमसत्ताकयोरविरोधात्, व्यावहारिकमिथ्यात्वेन व्यावहारिकसत्यत्वापहारेऽपि काल्पनिकसत्यत्वानपहारात्, तार्किकमतसिद्धसंयोगतदभाववत् सत्यत्व-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सत्यत्व धर्म सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ पर ही दो विरोधी धर्मों में से एक के मिथ्या या निषिद्ध होने पर दूसरा धर्म सत्य हुआ करता है, जहाँ पर मिथ्यात्व या निषेध्यता की अवच्छेदक जाति दोनों धर्मों में समानरूप से वर्तमान न हो। जैसे परस्पराभावरूप रजतत्व और रजतत्वाभाव का शुक्ति में। अथवा परस्पराभाव के व्यापकभूत रजत-भिन्नत्व और रजतत्वरूप धर्मों का शुक्ति में सत्त्वासत्त्व होता है, क्योंकि वहाँ निषेध्यतावच्छेदक धर्मों का भेद है [अर्थात् रजतत्व का निषेध करने पर रजतत्वाभाव या रजत-भिन्नत्व सिद्ध होता है, क्योंकि निषेध्यतावच्छेदक धर्म रजतत्व रजतत्वाभाव और रजत-भिन्नत्व में नहीं रहता। इसी प्रकार रजतत्वाभाव या रजत-भिन्नत्व का निषेध करने पर रजतत्व धर्म शेष रह जाता है, क्योंकि निषेध्यतावच्छेदक रजतत्वाभावत्व या रजत-भिन्नत्वरूप धर्म रजतत्व में नहीं रहता]। किन्तु प्रकृत में मिथ्यात्व का निषेध दृश्यत्वेन रूपेण किया जाता है, अतः यहाँ प्रपञ्च में सत्यत्व धर्म सुरक्षित नहीं रह सकता, क्योंकि निषेध्यतावच्छेद दृश्यत्व धर्म प्रञ्चगत सत्यत्व में भी है। [द्वैतवादी की दृष्टि से प्रपञ्च में सत्यत्व, ब्रह्मरूपत्व नहीं, अतः इस सत्यत्व में भी ब्रह्मभिन्नत्वरूप दृश्यत्व मानना पड़ेगा]। अतः यहाँ मिथ्यात्व और सत्यत्व—दोनों धर्मों का 'दृश्यं नास्ति' इस प्रकार के निषेध से वैसे ही निषेध हो जाता है, जैसे गोत्व और अश्वत्व दोनों का एक गज में गजत्वात्यन्ताभाव-व्याप्यत्वेन निषेध हो जाता है, क्योंकि गजत्वात्यन्ताभाव-व्याप्यत्व धर्म गोत्व और अश्वत्व—दोनों में समान रूप से रहता है। फलतः ऐसे स्थलों पर एक धर्म का निषेध होने पर दूसरा अवशिष्ट नहीं रह सकता। अद्वतवाद की प्रक्रिया के अनुसार सत्यत्व और मिथ्यात्व न तो परस्पराभावरूप हैं और न परस्पराभाव के व्यापक—यह बात गत पृ० १६ पर सिद्ध की जा चुकी है।

मिथ्यात्व के द्वितीय लक्षण में जैसा कहा जा चुका है—"अधिकरणातिरिक्ताभावानभ्युपगमेनोक्तमिथ्यात्वाभावरूपसत्यत्वस्य ब्रह्मस्वरूपाविरोधात्" (अद्वैत. पृ. ३६), वैसा यदि सत्यत्व और मिथ्यात्व को परस्पराभावरूप मान भी लिया जाय, तब भी विषमसत्ताक भावाभाव का कोई विरोध नहीं होता, अतः व्यावहारिक मिथ्यात्व के द्वारा व्यावहारिक सत्यत्व का बाध हो जाने पर भी प्रातिभासिक सत्यत्व का विरोध नहीं होता। तार्किक मत में जैसे समान सत्तावाले संयोग और संयोगाभाव का सहावस्थान माना जाता है, वैसे ही व्यावहारिक सत्तावाले सत्यत्व और मिथ्यात्व का

न्यायामृतम्

किं च—धर्मस्य तदतद्रूप-विकल्पानुपपत्तितः ।

धर्मिणस्तद्विशिष्टत्वभंगो नित्यसमो भवेत् ॥ इति तल्लक्षणम् ।

न चात्र मिथ्यात्वस्य सत्यत्वे धर्मिणो मिथ्यात्ववैशिष्ट्यभंग उक्तः, किं तु अद्वैतहानिः । प्रत्युत भेदः किं भिन्ने ? उताभिन्ने स्याद् ? इति त्वदुक्तिरेवाभिन्नादिरूपाविशिष्टमात्रनिरासकत्वेन स्वव्याघातापाताज्जातिः । उक्तं हि—"एतामेव जातिमवष्टभ्य शुष्कतर्कवादिनां बौद्धचार्वाकवेदान्तिनां बालव्यामोहहेतवः कण्ठकोलाहलाः" इति । इति-सामान्यतो मिथ्यात्वभंगः ।

अद्वैतसिद्धिः

मिथ्यात्वयोः समुच्चयाभ्युपगमाच्च । एकस्य साधकेन अपरस्य बाध्यत्वं विषमसत्ताकत्वे प्रयोजकम्, यथा शुक्तिरूप्यतदभावयोः । एकबाधकबाध्यत्वं च समसत्ताकत्वे प्रयोजकम्, यथा शुक्तिरूप्यशुक्तिभिन्नत्वयोः । अस्ति च प्रपञ्चतन्मिथ्यात्वयोरेकब्रह्मज्ञानबाध्यत्वम् । अतः समसत्ताकत्वान्मिथ्यात्वबाधकेन प्रपञ्चस्यापि बाधान्नाद्वैतक्षति-(हानि) रिति कृतमधिकेन ॥

इति मिथ्यात्वसामान्योपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समुच्चय भी अभिमत है [आशय यह है कि जैसे स्वप्न में समान सत्तावाले गज और गजाभावादि का सहावस्थान देखा जाता है, वैसे ही व्यवहार-काल में व्यावहारिक-सत्ताक सत्यत्व और मिथ्यात्व का समुच्चय माना जा सकता है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आधार पर प्रपञ्च में व्यावहारिक सत्यत्व तथा उक्त मिथ्यात्व-साधक अनुमान के द्वारा व्यावहारिक मिथ्यात्व सिद्ध होता है ।

सहावस्थित कुछ भावाभाव विषमसत्ताक होते हैं और कुछ समानसत्ताक। इस का कारण यह है कि एक धर्म के साधक प्रमाण के द्वारा दूसरे धर्म का वाधित होना भावाभाव की विषम सत्ता का प्रयोजक (साधक) होता है। जैसे शुक्ति-रजत और उसके अभाव में [रजताभाव के साधक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा रजत का वाघ होता है, अतः शुक्ति में रजताभाव व्यवहारिकसत्ताक तथा रजत प्रातिभासिक-सत्ताक होता है] । एक धर्म के वाधक प्रमाण के द्वारा दूसरे का भी वाधित होना भावाभाव की समसत्ता का प्रयोजक होता है, जैसे—शुक्ति-रजत और शुक्ति-भिन्नत्व में [शुक्ति-रजत के बाधक प्रत्यक्ष प्रमाण से ही शुक्ति में शुक्ति-भिन्नत्व का भी वाध हो जाता है, अतः शुक्ति में शुक्ति-रजत और शुक्ति-भिन्नत्व दोनों समान प्रातिभासिक सत्तावाले होते हैं] । प्रपञ्च और प्रपञ्चगत मिथ्यात्व दोनों एक ही ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा वाधित होते हैं, अतः दोनों समान व्यावहारिक सत्तावाले हैं। समानसत्ताक होने के कारण मिथ्यात्व-वाधक प्रमाण के द्वारा प्रपञ्च का भी वाध हो जाता है, अतः मिथ्यात्व के मिथ्या हो जाने पर न तो प्रपञ्च की सत्यता सिद्ध होती है और न अद्वैत की हानि होती है। [तरङ्गिणीकार का जो प्रपञ्च-सत्यत्व-साधक अनुमान था—"जगत् सत्यं मिथ्यामिथ्यात्वकत्वाद् आत्मवात् ।" उस में 'एकवाधकावाध्यत्व' उपाधि है, क्योंकि आत्मगत आरोपित मिथ्यात्व के वाधक प्रमाण के द्वारा आत्मा या आत्मगत

: १० :

दृश्यत्वहेतुविचारः

न्यायामृतम्

दृश्यत्वहेतूक्तिरपि—

स्तम्भादिप्रत्ययो मिथ्या प्रत्ययत्वात्तथा हि यः।
प्रत्ययस्स मृषा दृष्टः स्वप्नादिप्रत्ययो यथा॥

इति बौद्धोक्तयुक्तिच्छर्दिमात्रम्। इयांस्तु (भेदः) विशेषः—बौद्धमते ह्यप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वात्तद्युक्तम्, त्वन्मते तु प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वात्तदयुक्तमिति।

किं चेदं दृश्यत्वम्—वृत्तिव्याप्यत्वम्? फलव्याप्यत्वं वा? साधारणं वा? कदाचित् कथंचिद्विषयत्वं वा? स्वव्यवहारे स्वातिरेकिसंविदपेक्षानियतिर्वा? अस्वप्रकाशत्वं

अद्वैतसिद्धिः

ननु—मिथ्यात्वे साध्ये हेतूकृतं यद् दृश्यत्वं तदप्युपपादनीयम्। तथा हि—किमिदं दृश्यत्वम्? वृत्तिव्याप्यत्वं वा? फलव्याप्यत्वं वा? साधारणं वा? कदाचित् कथंचिद्विषयत्वं वा? स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदन्तरापेक्षानियतिर्वा? अस्वप्रकाशत्वं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सत्यत्व का बाध नहीं होता, अतः इस उपाधि में साध्य की व्यापकता है और प्रपञ्चगत मिथ्यात्व-बाधक प्रमाण के द्वारा प्रपञ्च का भी बाध हो जाता है, अतः इस उपाधि में साधन की अव्यापकता है। इस प्रकार सोपाधिक होने से उक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है, अतः प्रपञ्च-सत्यत्व का साधक नहीं हो सकता]।

द्वैतवादी—उक्त मिथ्यात्व-साधक अनुमान-प्रयोग में प्रदर्शित प्रपञ्चगत 'दृश्यत्व' हेतु का अर्थ क्या है—(१) वृत्ति-व्याप्यत्व? (२) फल-व्याप्यत्व? (३) उभय-साधारण [अर्थात् वृत्ति और तत्प्रतिफलित चेतन—दोनों में से किसी एक की व्याप्यता]? (४) कभी किसी प्रकार चेतन की विषयता? (५) मिथ्या वस्तु में अपने नियमतः अपेक्षित, स्व-भिन्न ज्ञान से जनित स्व-व्यवहार की विषयता? अथवा (६) अस्वप्रकाशता? [न्यायामृतकार ने अद्वैत-वेदान्त की ही विविध परिभाषाओं को अपने दृष्टि-कोण में रख कर 'दृश्यत्व' पद के सम्भावित छः अर्थों का विकल्प-जाल फैलाया है। इससे पहले भी श्री वेदान्तदेशिक ने पाँच विकल्प किये थे—"(१) किं चाक्षुषत्वम्? उत (२) प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वम्? यद्वा (३) ज्ञानविषयत्वमात्रम्? उत (४) दृग्व्यतिरिक्तत्वम्? अथवा (५) अन्यत् किञ्चित्" (श० दू० पृ० ८४)। इसका कारण यह है कि 'दृशिर् प्रेक्षणे' धातु की मुख्य शक्ति चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान में ही थी—"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्" (मुण्ड ३।२।३)। पश्चात् प्रत्यक्षमात्र में प्रयोग होने लगा।—"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" (कठो ३।१२) "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" (बृह० २।४।५)। इतना ही नहीं, अपितु ज्ञान का समग्र विग्रह दृशि की वाच्य-कक्षा में समा गया, अतः कोशकारों को कहना पड़ा—"दृग् ज्ञाने ज्ञातरि च" (अमर०)। ज्ञान भी मुख्य और गौण—दो प्रकार का हो गया—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति० २।१।१)। "ह्रीर्धीर्भीः एतत्सर्वं मन एव" (बृह० १।४।३)। अर्थात् मुख्य ज्ञान—चेतन और गौण ज्ञान—अन्तःकरण की वृत्ति। विवरणाचार्य ने स्पष्ट कहा है—"अन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचारात्" (पं० वि० पृ० २०३)। इस प्रकार अनेकार्थक 'दृश्' धातु के छः विकल्पित अर्थ असम्भावित नहीं]।

न्यायामृतम्

वा? नाद्यः, आत्मनोऽपि वेदान्तज(न्य) नितवृत्तिव्याप्यत्वात् । अन्यथा ब्रह्मपराणां वेदान्तानां ब्रह्मज्ञानार्थं श्रवणादिविधेश्च वैयर्थ्यम् । ब्रह्म विचारयतोर्गुरुशिष्ययोर्मौनं मौढ्यं च स्यात् । किं च ब्रह्मजिज्ञासा ब्रह्मज्ञानमित्यादौ कर्मणि षष्ठी, तमेव धीरो विज्ञायेत्यादौ द्वितीया, दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्येत्यादौ तङ्, आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादौ तव्यादि

अद्वैतसिद्धिः

वा ? नाद्यः, आत्मनो वेदान्तजन्यवृत्तिव्याप्यत्वेन तत्र व्यभिचारात् । अत एव न तृतीयोऽपि । नापि द्वितीयः, नित्यातीन्द्रिये शुक्तिरूप्यादौ च तदभावेन भागासिद्धि-साधनवैकल्ययोः प्रसङ्गात् । नापि चतुर्थः, ब्रह्म पूर्वं न ज्ञातमिदानीं वेदान्तेन ज्ञातमित्यनुभवेन आत्मनि व्यभिचारात् । नापि पञ्चमः, ब्रह्मण्यप्यद्वितीयत्वादिविशिष्टव्यवहारे संविदन्तरापेक्षानियतिदर्शनेन व्यभिचारात् । नापि षष्ठः, स हि अवेद्यत्वे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

१—प्रथम (वृत्तिव्याप्यत्वं दृश्यत्वम्) विकल्प समीचीन नहीं, क्योंकि "तत्त्वमसि" आदि वेदान्त-वाक्यों से जनित मनःपरिणामरूप अखण्डाकार वृत्ति की व्याप्यता या विषयता परमार्थसत् आत्मा में भी है, किन्तु वहाँ मिथ्यात्वरूप साध्य नहीं रहता, अतः वह साधारण व्यभिचार दोष से आक्रान्त होने के कारण दुष्ट हेतु है। अत एव तृतीय (वृत्तिव्याप्यत्वफलव्याप्यत्वयोः साधारणम्) विकल्प भी दूषित हो जाता है, क्योंकि 'उभय-साधारण' पद से वृत्ति-व्याप्यता का भी ग्रहण होता है और वह व्यभिचारी सिद्ध किया जा चुका है।

२—द्वितीय (फलव्याप्यत्वं दृश्यत्वम्) विकल्प भी संगत नहीं, क्योंकि धर्माधर्म-जैसे नियमतः अतीन्द्रिय पदार्थों में इन्द्रिय का सन्निकर्ष न होने के कारण विषयाधिष्ठान का आवरण भङ्ग नहीं होता, अनावृत विषयाधिष्ठान रूप फल की व्याप्यता नहीं है, अतः भागासिद्धि दोष होता है, क्योंकि धर्माधर्मादि पदार्थ भी पक्ष के एक भाग हैं और फल-व्याप्यत्वरूप हेतु उनमें नहीं रहता। इसी प्रकार शुक्ति-रजत-रूप दृष्टान्त में भी रजत के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष न होने से विषयाकार वृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप फल की विषयता नहीं, अतः दृष्टान्त में साधन का अभाव (साधन-वैकल्य) हो जाता है।

४—चतुर्थ (कदाचित् कथञ्चित् चिद्विषयत्वम्) विकल्प भी सम्भव नहीं, क्योंकि जैसे नित्य अतीन्द्रिय धर्माधर्मादि पदार्थों में परोक्षज्ञानावच्छेदकत्वेन कथञ्चित् साक्षि-चेतन की विषयता होती है, वैसे ही ब्रह्म में अज्ञातत्वेन तथा ज्ञातत्वेन चिद्विषयता है, किन्तु वहाँ मिथ्यात्वरूप साध्य न होने से यह हेतु व्यभिचारी हो जाता है।

५—पञ्चम (स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिः) विकल्प भी समीचीन नहीं, क्योंकि 'अद्वितीयं ब्रह्म'—इस प्रकार अद्वितीयत्वरूप विशेषण से विशिष्ट ब्रह्म के व्यवहार में विशेषण-ज्ञान की नियमतः अपेक्षा होती है। अर्थात् विशेषण का ज्ञान जब तक न हो, तब तक विशिष्ट वस्तु का ज्ञान नहीं होता, अतः नियमतः स्व-भिन्न-ज्ञान-सापेक्ष व्यवहार की विषयता ब्रह्म में भी है, किन्तु मिथ्यात्व वहाँ नहीं, अतः यह दृश्यत्व भी व्यभिचारी है।

६—षष्ठ (अस्वप्रकाशत्वं दृश्यत्वम्) विकल्प भी निर्दुष्ट नहीं, क्योंकि

न्यायामृतम्

(प्रत्यय)श्च न स्यात् । दृशोऽज्ञाने दृग्विषयत्वरूपदृश्यत्वज्ञानं च न स्यात् "सर्वप्रत्यय-यवेद्ये च ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते"—इत्यादिस्ववचनविरोधश्च स्यात् । न च विपक्षे धर्मिसम-

अद्वैतसिद्धिः

सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपः । तथा च शुक्तिरूप्यादेरपि अपरोक्षव्यवहार-योग्यत्वेन साधनवैकल्याद्—इति चेन्मैवम्, फलव्याप्यत्वव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यापि पक्षस्य क्षोदक्षमत्वात् । न च—वृत्तिव्याप्यत्वपक्षे ब्रह्मणि व्यभिचारः, अन्यथा ब्रह्मपराणां वेदान्तानां वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति—वाच्यम्, शुद्धं हि ब्रह्म न दृश्यम्, 'यत्तदद्रेश्यम्'—इति श्रुतेः, किंतूपहितमेव, तच्च मिथ्यैव, न हि वृत्तिदशायां अनुपहितं तद्भवति । न च—'सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते' इति स्ववचनविरोध इति—वाच्यम्, तस्याप्युपहितपरत्वात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्वप्रकाशत्व का लक्षण किया जाता है—"अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्" (चित्सु० पृ० १६) । अतः अस्वप्रकाशत्व का अर्थ होता है—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्ष-व्यवहारयोग्यत्वाभावः । यह तो शुक्ति-रजत में नहीं रहता, क्योंकि शुक्ति-रजत में 'इदं रजतम्'-इस प्रकार का अपरोक्ष बोध होता है, अतः अपरोक्ष-योग्यता का अभाव नहीं रह सकता, इसलिए अस्वप्रकाशत्वरूप दृश्यत्व साधन का दृष्टान्त में वैकल्य (अभाव) है ।

अद्वैतवादी—द्वैतवादी की उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि फलव्याप्यत्वरूप द्वितीय विकल्प को छोड़ कर शेष पाँचों पक्षों का औचित्य ठहराया जा सकता है । वृत्ति-व्याप्यत्व का ब्रह्म में जो व्यभिचार दिखाते हुए कहा गया कि ब्रह्म में वेदान्त-जन्य वृत्ति की विषयता न मानने पर वेदान्त-वाक्य व्यर्थ हो जाएँगे, क्योंकि ब्रह्म-बोध से अतिरिक्त उनका और कुछ प्रयोजन नहीं माना जाता । यदि अपने इस प्रयोजन को साधने में वे सफल नहीं होते, तब नितान्त निरर्थक हो जाते हैं । वह कहना उचित नहीं, क्योंकि सर्वोपाधि-रहित शुद्ध ब्रह्म में "यत्तदद्रेश्यम्" (मुण्ड० १।६) यह श्रुति दृश्यत्व का निषेध करती है, अतः विशिष्ट या उपहित ब्रह्म में ही वृत्ति-व्याप्यत्वरूप दृश्यत्व माना जाता है, वहाँ मिथ्यात्वरूप साध्य भी है, अतः व्यभिचार क्यों होगा ? वेदान्त-जन्य वृत्तिरूप उपाधि के रहते ब्रह्म अनुपहित या शुद्ध नहीं कहा जा सकता । आचार्य मण्डन मिश्र ने जो कहा है—

> सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते ।
> प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते ।। (ब्र० सि० पृ० १५७)

वह वचन भी उपहित ब्रह्म का ही बोधक है । अर्थात् 'घटः सन्', 'पटः सन्' आदि सभी प्रतीतियों के विषयीभूत प्रसिद्ध ब्रह्म में "नेह नानास्ति"—आदि शब्दों के द्वारा प्रपञ्च का प्रविलय प्रतिपादित होता है । [आचार्य मण्डन मिश्र ने इस कारिका की व्याख्या में कहा है—"भेदोपसंहारावशिष्टं च सत्यं ब्रह्म" एवं "प्रत्यक्षादीनामविद्या-संभिन्नत्वात्, प्रत्यस्तमितनिखिलभेदेन रूपेणाविषयीकरणाद् भेदप्रत्यस्तमयस्याम्नाया-वगम्यत्वात्"—इन दोनों वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि निखिल भेदाभाव-विशिष्ट ब्रह्म सत्य है और वह प्रत्यक्षादि से गृहीत नहीं होता, अपितु वेदान्त-जन्य वृत्ति का ही विषय होता है । न्यायामृतकार का इसी ओर संकेत था, किन्तु अद्वैतसिद्धिकार का कहना है

न्यायामृतम्

त्वस्य हेतोर्वृत्तेर्व्यभिचारः, न त्वारोपितस्य, अतिप्रसंगात्। दृश्यत्वं च व्यावहारिके जगतीव पारमार्थिकात्मन्यपि व्यावहारिकमेवेति न व्यभिचार इति वाच्यम्, ब्रह्म-जगतोः पारमार्थिकत्वव्यावहारिकत्वविभागस्याद्याप्यसिद्धेः।

किं च पक्षे धर्मिसमसत्त्वस्य साध्यस्याभावो बाधः। पक्षे हेतोर्धर्मिसमसत्ताकस्य सत्त्वं च सिद्धिः, तदभावोऽसिद्धिः। तथा चात्मनि तात्त्विकधर्महीने स्वप्रकाशत्वादिरूपसाध्यस्य बाधः। तत्साधकानुभूतित्वादेश्चासिद्धिः। एवं विपक्षे धर्मिसमसत्ताकः साधनस्याभावोऽव्यभिचारित्वम्। तथा च दृश्यत्वादीनां आत्मनि व्यभिचार इति च स्यात्। तस्माद्यथात्मनः पक्षत्वे तत्र व्यावहारिकस्य हेतोस्सत्त्वान्नासिद्धिः, तथा तस्य विपक्षत्वेऽपि व्यावहारिकस्य हेतोस्सत्त्वाद्व्यभिचारः। अथ धर्मिसमसत्त्वं हेतुविशेषणम्, तर्ह्यात्मन्येवंविधधर्मस्य कस्याप्यभावाद्विषयत्वादिरेव मिथ्यात्वे हेतुः स्यात्। मम रीत्या आत्मनि व्यभिचारश्च। दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यं च। ननु शुद्धं ब्रह्म न दृश्यम्, किं तु विशिष्टमेव दृश्यत्वश्रुतयोऽपि तद्विषयाः। अन्यथा यत्तदद्रेश्यमित्यादिश्रुतिविरोधादिति चेन्न, स्वतः सिद्धेर्निराकरिष्यमाणत्वेन शुद्धासिद्धिप्रसंगात्। अज्ञाते धर्मिणि कस्यचिद्धर्मस्य विधातुं निषेद्धुं वा अशक्यत्वेन शुद्धे दृश्यत्वनिषेधता शुद्धस्य

अद्वैतसिद्धिः

न च—एवं सति शुद्धसिद्धिर्न स्यादिति—वाच्यम्, स्वत एव तस्य प्रकाशत्वेन सिद्धत्वात्। ननु—अज्ञाते धर्मिणि कस्यचित् धर्मस्य विधातुं निषेद्धुं वा अशक्यत्वेन शुद्धे दृश्यत्वं निषेधता शुद्धस्य ज्ञेयत्वमवश्यं स्वीकरणीयम्, न च—स्वप्रकाशत्वेन स्वतः सिद्धे शुद्धे श्रुत्या दृश्यत्वनिषेध इति वाच्यम्, शुद्धं स्वप्रकाशमिति शब्दजन्यविशिष्टवृत्तौ शुद्धाप्रकाशे तस्य स्वप्रकाशत्वासिद्धेः-इति चेत्,

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कि मण्डन मिश्र का पूरा वाक्य है—"भेदोपसंहारावशिष्टं च सत्यं ब्रह्मेति प्रतिपादनात्।" अर्थात् आचार्य भर्तृहरि के द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि स्थूल आकृतियों का उपसंहार हो जाने पर जो अवशिष्ट रहता है, वह ब्रह्म शब्द-वाच्य है—

सत्यमाकृतिसंहारे यदन्ते व्यवतिष्ठते।
तन्नित्यं शब्दवाच्यं तच्छब्दतत्त्वं न भिद्यते॥ (वा० प० ३।२।११)

इस प्रकार के वक्तव्य को वेदान्त-सिद्धान्त या स्ववचन नहीं कहा जा सकता, जिस से विरोध हो। आचार्य मिश्र का अपना हृदय विशिष्ट की प्रतिपाद्यता में ही है]।

यदि शुद्ध ब्रह्म किसी प्रमा वृत्ति का विषय नहीं, तब उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकेगी—ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह स्वतःसिद्ध है, स्वप्रकाश है, वृत्ति के द्वारा उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता ही नहीं।

द्वैतवादी—ज्ञात धर्मी में ही किसी धर्म का विधान या निषेध हुआ करता है, अज्ञात में नहीं। शुद्ध ब्रह्म यदि ज्ञान या वृत्ति का विषय नहीं, तब उसमें दृश्यत्व और मिथ्यात्वादि का निषेध कैसे होगा? अतः शुद्ध में वृत्ति-विषयता अवश्य माननी चाहिए। स्वतःसिद्ध शुद्ध ब्रह्म में "अद्रेश्यम्"—इस श्रुति के द्वारा दृश्यत्व का निषेध किया जाता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी स्वप्रकाशता तभी सिद्ध हो सकती है, जब कि 'शुद्धं स्वप्रकाशम्'—इस शब्द से जनित वृत्ति का विषय हो।

न्यायामृतम्

ज्ञेयत्वाच्च । न च स्वप्रकाशत्वेन स्वतःसिद्धे शुद्धे वृत्त्या दृश्यत्वनिषेधयोः, शुद्धं स्वप्रकाशमिति शब्दजन्यविशिष्टवृत्तौ शुद्धाप्रकाशे तस्य स्वप्रकाशत्वासिद्धेः । लाघवेन स्फुरण-

अद्वैतसिद्धिः

न; वृत्तिकाले वृत्तिरूपेण धर्मेण शुद्धत्वासंभवात् , शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वं न संभवति, अतः 'शुद्धं स्वप्रकाशम्–इति' वाक्यस्य लक्षणया अशुद्धत्वमस्वप्रकाशत्वव्यापकमित्यर्थः । तथा च अशुद्धत्वव्यावृत्त्या शुद्धे स्वप्रकाशता पर्यवस्यति, यथा भेदनिषेधेन अभिन्नत्वम् । न च—शुद्धपदेन अभिधया लक्षणया वा शुद्धाप्रकाशे तत्प्रयोगवैयर्थ्यमिति—वाच्यम् ; पर्यवसितार्थमादाय सार्थकत्वोपपत्तेः । एवं च 'शुद्धं न दृश्यं न मिथ्या'—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अद्वैतवादी—उक्त आक्षेप संगत नहीं, क्योंकि 'शुद्ध' शब्द-जन्य वृत्ति के समय उसी वृत्तिरूप उपाधि से उपहित होने के कारण ब्रह्म को शुद्ध नहीं कह सकते, अतः शुद्ध में वृत्ति-विषयता सम्भव नहीं । हाँ, 'शुद्धं स्वप्रकाशम्'—यह वाक्य व्यर्थ नहीं, यह वाक्य लक्षणा वृत्ति से कहता है—अशुद्धमस्वप्रकाशम् । अर्थात् अशुद्धत्व धर्म अस्वप्रकाशत्व का व्यापक होता है । अतः ब्रह्म में अशुद्धत्वरूप व्यापक धर्म की निवृत्ति से अस्वप्रकाशत्वरूप व्याप्य की निवृत्ति हो जाने पर स्वप्रकाशता वैसे ही अर्थात् पर्यवसित होती है, जैसे भेद की निवृत्ति से अभेद पर्यवसित होता है, अतः 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का अभेद में पर्यवसान माना जाता है । यदि 'शुद्ध' पद अभिधा या लक्षणा वृत्ति से शुद्ध ब्रह्म का प्रकाशक (स्मारक) नहीं, तब 'शुद्ध' पद का प्रयोग व्यर्थ है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पर्यवसित अर्थ को लेकर सार्थकता बन जाती है । [अर्थात् "अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्" (जै० सू० ६।२।१८) तथा "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" (शा० भा०) आदि प्रमाणों एवं उपक्रमादि षड्विध लिङ्गों के आधार पर निश्चित होता है कि एक अभिन्न अखण्ड अर्थ लौकिक प्रमाणों से अप्राप्त (अछूता) है और वेदान्त-वाक्य उसी में पर्यवसित होते हैं । उस अर्थ में पदों की शक्ति या लक्षणा मानने पर शक्यतावच्छेदक या लक्ष्यतावच्छेदक धर्मों से उसे विशेषित करना होगा, तब उसकी अखण्डता सुरक्षित नहीं रह पाती, क्योंकि अखण्ड निष्प्रकार, या निर्विकल्प आदि शब्दों का वही पर्यवसित अर्थ होता है, जिसमें कोई विशेषण, प्रकार या विकल्प न हो । अतः यह मानना पड़ेगा कि असम्भावना, विपरीत भावना या प्रतिबन्ध की निवृत्ति ही शब्दों के द्वारा की जाती है, उसकी अखण्डता शुद्धता स्वप्रकाशता अपने आप वैसे ही पर्यवसित होती है, जैसे तार्किक-सम्मत गुणों से दोष का निराकरण मात्र होता है, प्रमात्व अपने आप पर्यवसित होता है, जैसा कि आचार्य कुमारिल भट्ट ने कहा है—

> तस्मात् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः ।
> अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः ॥ (श्लो० वा० २।६५)

अर्थात् गुण प्रमात्व के उत्पादक नहीं होते, अपि तु उनसे करणादिगत दोषों का निवारण होता है, दोषों के न रहने पर संशय और विपर्ययरूप द्विविध अप्रामाण्य दूर हो जाता है और स्वभाव-सिद्ध प्रमात्व पर्यवसित होता है । उसी प्रकार 'शुद्ध' पद के द्वारा अशुद्धता एवं उसकी व्याप्य अस्वप्रकाशता का निवारण मात्र होता है, स्वप्रकाशता अपने-आप पर्यवसित होती है] ।

न्यायामृतम्

मात्रमेव मिथ्यात्वे तन्त्रमिति स्वतः स्फुरदपि ब्रह्म मिथ्यैव । तत्सत्यत्वश्रुतिस्तु जगत्सत्यत्वश्रुतिवदनुमानादिविरोधेनासद्वैलक्षण्यपरेत्यापाताच्च । शुद्धं न दृश्यत इत्यत्र शुद्धशब्दस्याभिधया लक्षणया वा शुद्धावोधकत्वे तत्प्रयोगवैयर्थ्याच्च । विशिष्टे मिथ्यात्वदृश्यत्वयोर्व्यतिरेकासंभवेन शुद्धनिष्ठव्यतिरेकज्ञानाय शुद्धस्य ज्ञेयत्वाच्च । विशिष्टज्ञाने विशेष्यस्यापि भानेन विशिष्टस्य दृश्यत्वेनैव शुद्धस्यापि दृश्यत्वसिद्धेश्च । न च विष्णवे शिपिविष्टायेत्यादौ देवतात्ववद् विषयत्वमपि विशिष्ट एव, न तु विशेष्येऽपीति

अद्वैतसिद्धिः

इत्यस्याप्यशुद्धत्वं दृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्यापकमित्येतत्परत्वेन शुद्धे दृश्यत्वमिथ्यात्वयोर्व्यतिरेकः पर्यवस्यति । एतेन—स्फुरणमात्रमेव मिथ्यात्वे तन्त्रम्, लाघवाद्; अतः 'स्वतःस्फुरदपि ब्रह्म मिथ्यैवे' ति–शून्यवादिमतमपास्तम्; स्वतःस्फुरणरूपतायाः शुक्तिरूप्यादावभावात्, स्फुरणविषयत्वस्य ब्रह्मण्यसिद्धेः । ननु—विशिष्टज्ञाने विशेष्यस्यापि भाने श्रुत्या विशिष्टस्य दृश्यत्वेनैव विशेष्यस्यापि दृश्यत्वाद् व्यभिचारः, न च—'विष्णवे शिपिविष्टाये'त्यादौ विशिष्टस्य देवतात्ववद् विशिष्टस्य विषयत्वम्, अग्नी-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इसी प्रकार 'शुद्धं न दृश्यं न मिथ्या'—इस वाक्य का भी तात्पर्य यही होता है कि 'अशुद्धत्व' धर्म दृश्यत्व और मिथ्यात्व का व्यापक होता है, फलतः शुद्ध वस्तु में दृश्यत्व और मिथ्यात्व का अभाव पर्यवसित होता है। शून्यवादी का जो यह कहना था कि स्फुरण या भान मात्र को मिथ्यात्व का साधक मानने में ही लाघव है। ब्रह्म का भी स्फुरण होता है, अतः वह भी मिथ्या ही है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि स्फुरण से स्वतः स्फुरण विवक्षित है ? या परतः स्फुरण ? शुक्ति-रजतादि दृष्टान्त में अभिमत मिथ्यात्व का प्रयोजक स्वतःस्फुरण रूपता को नहीं माना जाता। परतःस्फुरण प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक प्रपञ्च में है, ब्रह्म में नहीं, अतः ब्रह्म मिथ्या क्यों होगा ?

द्वैतवादी—'शुद्धं न दृश्यम्'—इस वाक्य के द्वारा जिस दृश्य पदार्थ का भेद शुद्ध में बोधित होता है, उसे विशिष्ट (प्रपञ्चरूप विशेषण से विशिष्ट ब्रह्म) पदार्थ कहना होगा। विशिष्ट-ज्ञान में विशेष्य का भी भान होता है, अतः विशिष्टगत दृश्यत्व धर्म को विशेषण के साथ विशेष्य (शुद्ध ब्रह्म) में भी मानना होगा, उसमें मिथ्यात्व अभिमत नहीं, अतः दृश्यत्व हेतु व्यभिचरित है। [यहाँ अद्वैतसिद्धि के 'श्रुत्या' पद से श्री विट्ठलेश ने "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मुण्ड० १।१।९) इस श्रुति का ग्रहण किया है। न्यायामृतकार ने "श्रुत्या' पद न रख कर 'शुद्धं न दृश्यम्'—इस वाक्य के सन्दर्भ में ही यह व्यभिचार दोष दिया है, अतः "दृश्यत्वेत्यादि ज्ञेयत्वश्रुत्या"—यह सिद्धि-व्याख्या प्रकरण के अधिक समीप प्रतीत होता है]। यदि कहा जाय कि कुछ धर्म ऐसे भी होते हैं, जो विशिष्ट या समुच्चय में ही रहते है, उसकी घटक प्रत्येक इकाई में नहीं, जैसे "विष्णवे शिपिविष्टाय जुहोति" (तै. सं. ३।४।१।४) इत्यादि वाक्यों में शिपि-विष्टित्वरूप विशेषण से विशिष्ट ["शिपयोऽत्र रश्मयः, तैराविष्टो भवति" निरुक्त ५।८] विष्णु ही देवता माना गया है, शुद्ध विष्णु नहीं, अतः देवतात्व धर्म विशिष्ट वस्तु में ही रहता है। इसी प्रकार "अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम्" (तै. ब्राह्म ३।५।१०) इत्यादि वाक्यों में अग्नि और सोम—दोनों मिलकर देवता होते हैं, प्रत्येक नहीं, उसी प्रकार

न्यायामृतम्

युक्तम्, दैवतात्ववदेव विषयत्वस्यापि विशेषणेऽप्यभावेन भागासिद्धेः। घटविशिष्ट एव दृश्यत्वं न तु विशेष्ये घट इत्यापाताच्च। विशिष्टे ज्ञातेऽपि कदाचिद्विशेष्ये अज्ञानाद्यापाताच्च। दण्डी चैत्र इति ज्ञानेनैव चैत्रोऽपि ज्ञात इत्यनुभवाच्च। एतेनानुभवविरोधादिनैवाग्नीषोमयोर्दैवतात्ववद्विषयत्वमपि व्यासज्यवृत्तीति न विशेष्ये तदिति निरस्तम्। अत एवादृश्यत्वश्रुतिस्साकल्येनादृश्यत्वपरा। अन्यथा यत्तदद्रेश्यमित्यादौ यच्छब्दाद्ययोगात्। एतेन चरमवृत्त्युपहितस्यैवात्मनस्तद्विषयत्वात्तस्य च

अद्वैतसिद्धिः

षोमयोर्मिलितयोर्दैवतात्ववद्वा मिलितस्य विषयत्वम्, अतो न विशेष्ये विषयत्वमिति—वाच्यम्, तद्वदेव विशेषणस्याप्यविषयत्वे भागासिद्धिप्रसङ्गाद्—इति चेन्न, विशेष्यतापन्नस्य विषयत्वेऽपि क्षत्यभावात्, तस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात्। अत एव—उपहितविषयत्वेऽप्युपधेर्यविषयत्वमक्षतमेव इति—अपास्तम्, उपहितात्मना तस्यापि मिथ्यात्वाभ्युपगमात्, ज्ञानान्तरविषयत्वेन विशेषणे भागासिद्ध्यभावाच्च। ननु—वेदान्तजन्याखण्डवृत्तेरुपहितविषयत्वे तदानीमुपाध्यन्तराभावेन तस्या एवोपधायकत्वात् स्वविषयत्वापत्तिः, न चेष्टापत्तिः, शाब्दबोधे शब्दानुपस्थिताभाननियमेन वृत्तेः शब्दानु-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वृत्ति-विषयत्वरूप दृश्यत्व भी केवल विशिष्ट ब्रह्म में रहेगा, शुद्ध (विशेष्य) ब्रह्म में नहीं, अतः व्यभिचार क्यों होगा ? तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'दृश्यत्व' विशिष्टमात्र में रहता है, तब विशेष्य के ही समान केवल प्रपञ्चरूप विशेषण में भी नहीं रहेगा, फिर तो 'दृश्यत्व' हेतु प्रपञ्च के विशिष्टरूप भाग में ही रहेगा और विशेषणरूप भाग में असिद्ध हो जायगा

अद्वैतवादी—'दृश्यत्व' व्यभिचारी नहीं, क्योंकि द्वैतवादी जिस विशेष्यरूप ब्रह्म में 'दृश्यत्व' धर्म प्रसञ्जित करता है, वह भी विशेष्यतारूप धर्म से युक्त होने के कारण मिथ्या ही माना जाता है, उसमें मिथ्यात्वरूप साध्य का अभाव नहीं रहता, अतः साध्याभाववद्वृत्ति न होने के कारण 'दृश्यत्व' हेतु व्यभिचारी क्यों होगा ? इसी प्रकार यह आक्षेप भी निरस्त हो जाता है कि—'उपाधि-विशिष्ट ब्रह्म यदि वृत्ति का विषय है, तब विशेष्य (उपहित) शुद्ध ब्रह्म भी विषय होगा।' आशय यह है कि उपहित ब्रह्म भी उपहितत्व धर्म से युक्त होने के कारण मिथ्या ही है, अतः तद्गत वृत्ति-विषयत्वरूप दृश्यत्व व्यभिचारी नहीं होगा। विशेषणभूत प्रपञ्च में भागासिद्धि दोष इस लिए प्रसक्त नहीं होता कि विशिष्टाकार वृत्ति से भिन्न केवल प्रपञ्चाकार वृत्ति की विषयता उसमें रहती है।

द्वैतवादी—महावाक्य-जन्य अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति भी यदि शुद्ध को विषय न करके उपहित (उपाधि-युक्त) ब्रह्म को ही विषय करती है, तब उस वृत्ति के समय अन्य सभी उपाधियां समाप्त हो जाती हैं, केवल उसी अखण्डाकार वृत्ति को ही ब्रह्म का उपधायक मानना होगा, तब तो वही अखण्डाकार वृत्ति अपने से युक्त ब्रह्म को विषय करती हुई अपने को भी विषय कर लेगी। स्व में स्व-विषयत्व की यह आपत्ति अद्वैती को अभीष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि शाब्दबोध की यह मर्यादा है कि वाक्यार्थ-बोध में वाक्य-घटक पदों से बोधित पदार्थों का ही भान होता है, पदानुपस्थित पदार्थों का भान

न्यायामृतम्

मिथ्यात्वाश व्यभिचार इति निरस्तम् , चरमवृत्तेः स्वविषयान्तर्भावे तस्याः स्वप्रकाशत्वस्याप्रमात्वस्य चापातात् । वृत्त्युपरागोऽत्र सत्तयोपयुज्यते न तु प्रतिभास्यतयेति कल्पतरुविरोधाच्च । बहिर्भावे च विषयस्य सत्यत्वेन व्यभिचारानुद्धारात् । न च स्वरूपेण दृश्यत्वं हेतुः । ब्रह्म तु विशिष्टरूपेणैव दृश्यमिति वाच्यम् , निर्विकल्पकाभावपक्षे घटादेरपि तत्सद्भावपक्षे नित्यातीन्द्रियस्यापि विशिष्टरूपेणैव दृश्यत्वेनासिद्धेः । न हि लिगादिना निर्विकल्पकधीः । वेदान्तानां कल्पितविशिष्टपरत्वे तत्त्वावेदकत्वायोगाच्च । "तरति शोकमात्मविद्"—इत्यादौ मोक्षसाधनशुद्धरूपप्रमोक्तेश्च ।

अद्वैतसिद्धिः

पस्थिताया भानानुपपत्तेः, यथाकथंचिदुपपत्तौ वा न ततोऽज्ञानतत्कार्ययोर्निवृत्तिः स्याद् ; अज्ञानतत्कार्याविषयकज्ञानस्यैव तदुभयनिवर्तकत्वाद् , अन्यथा 'अहमज्ञः अयं घट' इत्यादिज्ञानानामप्युपहितविषयकत्वेन अज्ञाननिवर्तकत्वप्रसङ्ग इति—चेन्न; वृत्तेः शाब्दवृत्तावनवभासमानाया एवोपधायकत्वाभ्युपगमात् । तदुक्तं कल्पतरुकृद्भिः—'शुद्धं ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते, स्वस्या अप्युपाधित्वाविशेषात् । एवं च नानुपहितस्य विषयता, वृत्त्युपरागोऽत्र सत्तयोपयुज्यते; न तु भास्यतया विषयकोटिप्रवेशेने'ति । अयमभिप्रायः—यथा अज्ञानोपहितस्य साक्षित्वेऽपि नाज्ञानं साक्षिकोटौ प्रविशति, जडत्वात् , किं तु साक्ष्यकोटावेव, एवं वृत्त्युपहितस्य विषयत्वेऽपि न वृत्तिर्विषयकोटौ प्रविशति; स्वस्याः स्वविषयत्वानुपपत्तेः, किं तु

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं होता । 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में कोई ऐसा पद नहीं है, जो अखण्डाकार ज्ञान का वाचक हो, अतः उस वृत्ति में उसका भान क्योंकर सम्भव होगा ? यदि कहा जाय कि अन्विताभिधान-वाद में जैसे पदानुपस्थित अन्वय (सम्बन्ध) का भान होता है, उसी प्रकार अखण्डाकार वृत्ति में भी पदानुपस्थित वृत्ति का भान हो जायगा । तो वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि तब तो उस वृत्ति से कार्य-सहित अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकेगी । अज्ञान और उसके कार्य को न विषय करनेवाली वृत्ति ही सकार्य अज्ञान की निवर्तक होती है, किन्तु यह वृत्ति स्वयं अपने को विषय करती है, जो कि अज्ञान का कार्य है । यदि इस प्रकार की वृत्ति को भी अज्ञान का निवर्तक माना जाय, तब 'अहमज्ञः', 'अयं घटः'—इत्यादि वाक्यों से जन्य वृत्ति भी अज्ञान की निवर्तक हो जायगी ।

अद्वैतवादी—उक्त आक्षेप युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि शब्द-जन्य अखण्डाकार वृत्ति अपनी विषय न होकर ही ब्रह्म की उपधायक मानी जाती है । जैसे कि कल्पतरुकार ने कहा है—"शुद्धं ब्रह्म विषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते, स्वस्या अप्युपाधित्वाविशेषात् । एवं च नानुपहितस्य विषयता…वृत्त्युपरागोऽत्र सत्तयोपयुज्यते, न भास्यतया विषयकोटिप्रवेशेन" (कल्प० पृ० ५७) । अर्थात् जैसे अज्ञान से उपहित चेतन को साक्षी कहा जाता है, अज्ञान साक्षी के स्वरूप में स्थान नहीं पाता, क्योंकि वह जड़ होता है, अतः साक्षी की भास्य कक्षा में ही प्रविष्ट माना जाता है । उसी प्रकार वृत्ति-उपहित ब्रह्म ही वृत्ति का विषय होता है, वृत्ति नहीं । स्व में स्व-विषयत्व कभी सम्भव नहीं होता । फलतः अखण्डाकार वृत्ति अपनी विषय न होती हुई ब्रह्म में विषयता का संपादन किया करती है, अतः कोई अनुपपत्ति नहीं रह जाती ।

न्यायामृतम्

किं च शुद्धज्ञानाभावे तदाच्छादकस्य मूलाज्ञानस्य निवृत्तिर्न स्यात्। ज्ञानस्याज्ञाननिवर्तकत्वे हि समानविषयत्वं तन्त्रम्। न च घटादिविषयज्ञानेष्वप्यन्यथाविषयत्वमेव तत्र तन्त्रम्, गौरवात्। दीपेच्छादौ समानविषयत्वेनैव विरोधितमोद्वेषादिनिवर्तकत्वदर्शनाच्च। घटपटाविति ज्ञानेन घटाज्ञानस्य विशिष्टज्ञानेन च विशेषणाज्ञानस्य च निवृत्तिदर्शनाच्च। ब्रह्मज्ञानस्य निर्विषयत्वे ज्ञानत्वायोगस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च। अथ तदज्ञाननिवर्तकत्वे तदाकारत्वमेव तन्त्रम्। तच्च तद्विषयत्वाभावेऽपि करणसामर्थ्यादेव शशशृंगादिशब्दजन्यज्ञानस्येव युक्तम्। दृश्यत्वश्रुत्यादिकमपि तद्विषयमिति चेत्, स एवाकारो यस्येति वा, तदाकार एवाकारो यस्येति वा, तदाकार इवाकारो यस्येति वा ? नाद्यः, वृत्त्यनाश्रितस्यात्मनो वृत्त्याकारत्वायोगात्। न द्वितीयः, साकारवादापातात्। जडाधाकारवृत्तावात्मीयस्य ज्ञानानन्दाद्यपरिच्छेदाकारस्याभावाच्च। सत्तयैकाकारत्वे च घटज्ञानस्याप्यात्माकारत्वापाताच्च, आत्मनो निराकारत्वाच्च। अत एव न तृतीयः, ज्ञानानन्दादिना साम्यस्यासंभवात्। सत्तया साम्यस्य चातिप्रसक्तेः। संस्थान (सारूप्य) साम्यस्य च घटतद्वृत्त्योः कथंचित्संभवेऽपि अपरिच्छिन्नपरिच्छिन्नयोर्ब्रह्मतद्वृत्त्योरयोगात्। तस्मात्तद्विषयत्वमेव तदाकारत्वमिति वाच्यम्। अन्यथा घटादिज्ञाने तद्विषयत्वं तन्त्रम्, आत्मज्ञाने तु तदाकारत्वमित्यननुगमादिति सुस्थ आत्मनि व्यभिचारः। अनिर्वचनीयत्वादिकं मिथ्यात्वमिति पक्षे तु तुच्छे व्यभिचारश्च। असद्वैलक्षण्यज्ञानार्थं तस्यापि ज्ञेयत्वात्।

अद्वैतसिद्धिः

स्वयमविषयोऽपि चैतन्यस्य विषयतां सम्पादयतीति न काप्यनुपपत्तिः। एतेन—ज्ञानाज्ञानयोरेकविषयत्वं—व्याख्यातम्; अज्ञानमपि हि स्वोपधानदशायामेव ब्रह्म विषयीकरोति; स्वानुपधानदशायां स्वस्यैवाभावात्। तथा च ज्ञानाज्ञानयोरुभयोरप्युपाध्यविषयकत्वे सत्युपहितविषयकत्वात् समानविषयत्वमस्त्येव। एतेन—उपाधिविषयज्ञानानामज्ञानानिवर्तकत्वं व्याख्यातम्; अज्ञानस्योपाध्यविषयत्वेन समानविषयत्वाभावात्, समानविषयत्वेनैव तयोर्निवर्त्यनिवर्तकभावात्। वस्तुतस्तु—शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम्; अन्यथा शशविषाणं तुच्छमित्यादिशब्दजन्यवृत्तिविषये तुच्छे व्यभिचारस्य दुरुद्धरत्वात्। एवं च सति शुद्धस्य वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वेऽपि न तत्र व्यभिचारः;

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान की समानविषयता भी सिद्ध हो जाती है—अज्ञान भी अपनी उपाधिता के समय ब्रह्म को विषय करता है और अखण्डाकार ज्ञान भी शुद्ध ब्रह्म को विषय करता है। जब अज्ञानरूप उपाधि का सम्बन्ध नहीं रहता, तब अज्ञान ही समाप्त हो जाता है, उस समय ब्रह्म को विषय कैसे करेगा ? अत एव उपाधिविषयक ज्ञानों में अज्ञान की अनिवर्तकता भी स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि मूलाज्ञान किसी उपाधि को विषय नहीं करता, अतः उपाधिविषयक ज्ञान से उसकी समानविषयता नहीं होती और समानविषयक होने के कारण उन दोनों में निवर्त्य-निवर्तकभाव माना जाता है। वस्तुतः केवल वृत्ति-विषयत्व दृश्यत्व का लक्षण नहीं, अपितु शब्दाजन्य वृत्ति-विषयत्व। अन्यथा 'शशविषाणं तुच्छम्'—इस शब्द से जनित वृत्ति के विषयभूत तुच्छ में व्यभिचार दुरुद्धर हो जाता है, क्योंकि सदसद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व वहाँ नहीं और शब्द-जन्य वृत्ति-विषयत्वरूप दृश्यत्व वहाँ रहने से व्यभिचारी है।

न्यायामृतम्

अथ प्राचां रीत्या माऽस्तु दृग्विषयत्व मात्रं दृश्यत्वम्, किन्त्वाधुनिकरीत्या फलव्याप्यत्वमिति द्वितीयोऽस्त्विति चेत्, फलं हि मद्रीत्या व्यवहारो वा? भट्टरीत्या ज्ञातता वा? त्वद्रीत्या वृत्तिप्रतिफलितं चैतन्यं वा? तद्भिव्यक्तं विषयाधिष्ठानचैतन्यं वा? नाद्यः, हानादेर्गगनादावभावात्। अभिलापस्य चात्मन्यपि भावात्। न द्वितीयः, ज्ञाततायाः मम घटादौ परस्याप्यतीतादावभावात्। न तृतीयचतुर्थौ, अतीतादावसिद्धेः। तदपि स्वसत्ताकाले फलव्याप्यमिति चेन्न, नित्यातीन्द्रियेऽसिद्धेः। तदपि योगिनं प्रति फलव्याप्यमिति चेन्न, चित्सुखेन "न च योगिप्रत्यक्षगम्यतयाऽपरोक्षत्वम्, धर्मादीनां चोदनैकप्रमाण (गम्य) योग्यत्वाद्"—इत्युक्तत्वेन तद्विरोधात्। तुच्छमपि तुच्छत्वेन योगिनं प्रत्यपरोक्षमिति सुवचत्वाच्च। पक्षैकदेशे साक्षिवेद्याविद्यान्तःकरणतद्धर्मसुखादौ दृष्टान्ते शुक्तिरूप्ये च फलव्याप्यत्वाभावाच्च।

नापि साधारणमिति तृतीयः (पक्षः), ब्रह्मणि वृत्तिव्याप्यत्वरूपविशेषस्य सत्त्वेन (दृश्यत्वरूप) सामान्यस्यापि सत्त्वात्।

नन्वस्तु तर्हि चतुर्थः, अतीतादेरपि कदाचित् स्वाकारवृत्तिप्रतिफलितचिद्विषयत्वात्, अविद्यादेरपि साक्षिविषयत्वात्। नित्यातीन्द्रियस्यापि ज्ञातत्वेनाज्ञातत्वेन

अद्वैतसिद्धिः

तुच्छशुद्धयोः शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वानभ्युपगमात्। यद्वा—सप्रकारकवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम्, प्रकारश्च सोपाख्यः कश्चिद्धर्मः; तेन निष्प्रकारकज्ञानविषयीभूते शुद्धे निरुपाख्यधर्मप्रकारकज्ञानविषयीभूते तुच्छे च न व्यभिचारः। अभावत्वस्यापि सोपाख्यत्वादभावत्वप्रकारकज्ञानविषयीभूते अभावे न भागासिद्धिः। उपाख्या चास्तीतिधीविषयत्वादीत्यन्यत्। एतेन वृत्तिव्याप्यफलव्याप्ययोः साधारणं व्यवहारप्रयोजकविषयत्वरूपं दृश्यत्वमपि हेतुः; ब्रह्मणि तुच्छे च व्यभिचारपरिहारोपायस्योक्तत्वात्। यद्वा दृश्यत्वं चिद्विषयत्वम्, तच्च यथा-कथंचिच्चित्सम्बन्धित्वरूपं हेतुः, तच्च न चैतन्ये;

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अथवा सप्रकारक वृत्ति की विषयता को दृश्यत्व कहा जा सकता है। अखण्डाकार वृत्ति सप्रकारक नहीं, निष्प्रकारक होती है, अतः ब्रह्म में व्यभिचार नहीं होता। यहाँ 'प्रकार' पद से ऐसे सोपाख्य धर्म का ग्रहण किया जाता है, जो 'अस्ति'—इस प्रकार के ज्ञान का विषय हो। शश-विषाण आदि तुच्छ पदार्थों का ज्ञान तुच्छत्वप्रकारक होता है, 'तुच्छत्व' धर्म को सोपाख्य धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'इह शशविषाणमस्ति'—इस प्रकार की बुद्धि ही नहीं होती [यहाँ भी उपाख्या का अर्थ सत्त्वेन प्रतीयमानता है। सोपाख्यता धर्मी का विशेषण है, अतः सोपाख्य धर्मिवृत्ति धर्म को सोपाख्य धर्म इसलिए कह दिया गया है कि धर्म और धर्मी का अभेद होता है, अत एव सिद्धि व्याख्या में सोपाख्य का अर्थ किया गया है—सोपाख्यत्वरूपः कश्चिद्धर्मः]।

इसी रीति से वृत्तिव्याप्य और फलव्याप्य में समान रूप से रहनेवाले व्यवहार-प्रयोजक-विषयत्वरूप दृश्यत्व के तृतीय विकल्प का भी समर्थन किया जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म और शश-विषाणादि तुच्छ में व्यभिचार के परिहार का मार्ग प्रशस्त कर दिया गया है।

अथवा चैतन्य-विषयत्व को दृश्यत्व कहा जा सकता है। चैतन्य-विषयत्व का तात्पर्य यथाकथञ्चित् चैतन्य-सम्बन्धित्व से है। चैतन्य-सम्बन्धित्व स्वयं चैतन्य में सम्भव

न्यायामृतम्

वा साक्षिविषयत्वात्। दृग्रूपा(पस्या)त्मनस्तु तदविषयत्वादिति चेन्न, नित्यातीन्द्रियं पूर्वं न ज्ञातम् इदानीं शब्देन ज्ञातमितिवत् शुद्धं ब्रह्म पूर्वं न ज्ञातमिदानीं वेदान्तेन ज्ञातमित्यनुभवेन ब्रह्मणि व्यभिचारात्। तद्व्यवहारजनने तद्विषयत्वस्य तन्त्रत्वेन स्वव्यवहारहेतोश्चितोऽप्यभिधानस्याभिधेयत्ववच्चिद्विषयत्वाच्च। कल्पितभेदेन बिम्बप्रतिबिम्बयोर्लिङ्गलिङ्गिभाववज्जीवब्रह्मणोर्ज्ञातृज्ञेयभाववच्चात्मनोऽपि स्वाकारवृत्तिप्रतिफलितचिद्विषयत्वसंभावाच्च। अन्यथा तया तदज्ञाननिवृत्त्ययोगात्। तदाकारवृत्त्यैव च तन्निवृत्तौ घटादावपि तथात्वापातेनासिद्धेः। अज्ञानाविरोधिस्फुरणरूपत्वस्य चात्मनीव घटादावपि सुवचत्वात्। अस्फुरणरूपेष्वतीन्द्रियेष्विवैन्द्रियकेष्वपि वृत्तिविषयत्वमात्रेण व्यवहारादिसम्भवे तत्प्रतिफलितचैतन्यविषयत्वस्य तदभिव्यक्तचैतन्यविषयत्वस्य वा कल्पनायोगाच्च। घटादावन्धकारानिवर्तकप्रभाया इवाज्ञानाविरोधिज्ञानस्याननुभवाच्च। अन्यथा इच्छाद्य(द्याकारा)न्तःकरणवृत्तिप्रतिफलितं तद्व्यङ्ग्यं वा इच्छादिकं परोक्षवृत्तिप्रतिफलितं तद्व्यङ्ग्यं वा परोक्षज्ञानं तमोनिवर्तकप्रभाप्रतिफलितं तद्व्यङ्ग्यं वा प्रभान्तरं च कल्प्यं स्यात्। तमेव भान्तम्" इ(त्यादि)तिश्रुत्यर्थस्तु प्रतिकर्मव्यवस्थाभङ्गे वक्ष्यते। चैतन्याविषयस्याप्यापरोक्ष्यं च चैतन्याभिव्यञ्जकत्वाधर्मावश्यकेनेन्द्रियजन्यत्वप्रयुक्तेन वृत्तिगतेन साक्षात्कारत्वरूपविशेषेणैवोपपन्नम्। इच्छादिवृत्त्यनिष्ठेन परोक्षवृत्तिगतेन ज्ञानत्वरूपविशेषेण विषयस्य ज्ञातत्ववत्स्मृत्याद्यनिष्ठेनानुभवादिगतेन विशेषेण तद्विषयस्यानुभूतत्वानुमितत्वादिवच्च। अन्यथा परोक्षत्वापरोक्षत्वे एकज्ञानत्वव्याप्ये न स्याताम्।

न पञ्चमः, अत्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वाद्वितीयत्वादिविशिष्टव्यवहारे तदपेक्षानियमात्। नन्वात्मनि विशिष्टव्यवहारे विशेषणोपनायकमानापेक्षानियमेऽपि स्वरूप-

अद्वैतसिद्धिः

अभेदे भेदनान्तरीयकस्य संबन्धस्याभावाद्, अतो न व्यभिचारः। तुच्छे च व्यभिचारः परिहरणीयः। यद्वा—स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षानियतिरूपं दृश्यत्वं हेतुः; संविच्छब्देन विषयाभिव्यक्तं वा वृत्त्यभिव्यक्तं वा (शुद्धं वा) चैतन्यमात्रमभिप्रेतम्, तथा च घटादौ नित्यातीन्द्रिये साक्षिभास्ये च सर्वोऽपि व्यवहारः स्वातिरिक्तसंवि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं, क्योंकि अभिन्न वस्तु में अपना सम्बन्ध बनता नहीं; किसी वस्तु को किसी वस्तु का सम्बन्धी तभी कहा का सकता है, जब कि उन दोनों वस्तुओं का नियमतः भेद हो। स्वयं अपने में ब्रह्म का सम्बन्ध न रहने से व्यभिचार भी नहीं होता। शश-विषाणादि तुच्छ पदार्थों में व्यभिचार का परिहार करने के लिए उक्त दृश्यत्व का सत्त्वेन प्रतीयमानत्व विशेषण लगा देना चाहिए।

अथवा दृश्यत्व के विकल्पों में पञ्चम विकल्प 'स्वव्यवहारगत स्वभिन्नसंविद्व्याप्यत्वरूप दृश्यत्व को मिथ्यात्वानुमान का हेतु कहा जा सकता है। 'संवित्' शब्द से विषयाभिव्यक्त या विषयाकार वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य अथवा चैतन्यमात्र विवक्षित है। अतः घटादि पदार्थों के अपरोक्ष व्यवहार में विषयाभिव्यक्त चैतन्य, धर्माधर्मादि सदा अतीन्द्रिय पदार्थों के परोक्ष व्यवहार में वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य तथा साक्षिभास्य अज्ञानसुखादि के अपरोक्ष व्यवहार में चैतन्य मात्र नियमतः अपेक्षित है। फलतः समस्त परोक्षापरोक्ष-व्यवहार में व्यवहर्तव्य वस्तु से भिन्न संवित् की नियमतः अपेक्षा

न्यायामृतम्

मात्रव्यवहारे तदनपेक्षेति चेन्न, घटादावपि तथेत्यसिद्धेः। ननु घटादौ स्वरूपमात्र-व्यवहार एव नास्ति, आत्मनि तु सुषुप्तावस्तीति चेन्न, एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शेन तस्य विशिष्टत्वेनैव सिद्धेः। नन्वात्मनि विशिष्टव्यवहारे तदपेक्षायामपि न विशेष्यांशे तदपेक्षा, स्वप्रकाशत्वात्। घटादौ तदंशेऽपीति चेन्न, नियतिपदवैयर्थ्यात्। आसंसारमज्ञानावृतस्य शुद्धस्य स्वव्यवहारे अनधिगतार्थबोधकवेदान्तजन्याज्ञाननिवर्तकवृत्त्यपेक्षानियमाच्च। वृत्त्यन्यसंविदपेक्षायाश्च तव नित्यातीन्द्रिये, मम घटादावप्यभावादियुक्तत्वाच्च। न च घटादावपि वृत्त्याऽज्ञाने निवृत्ते व्यवहारार्थं संविदन्तरापेक्षा अनुभूयते। एतेन स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तस्वावच्छिन्नसंवित्सापेक्षत्वं दृश्यत्वमिति निरस्तम्।

न षष्ठः घटादौ विशेष्यवत्फलव्याप्यत्वाभावरूपविशेषणस्याप्युक्तन्यायेन सत्त्वेनाविद्यादौ शुक्तिरूप्यादौ च विशेषणवद्विशेष्यस्यापि सत्त्वेन विशिष्टरूपस्वप्रकाशत्वव्यतिरेकरूपहेतोः पक्षैकदेशे दृष्टान्ते चाभावात्। अत्रोक्तं चित्सुखेन—"शुक्तिरूप्यादौ विशेषण-

अद्वैतसिद्धिः

त्सापेक्ष इति नासिद्धिः। व्यवहारश्च स्फुरणाभिवदनादिसाधारणः। तत्र ब्रह्मणः स्फुरणरूपे व्यवहारे नित्यसिद्धे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षा नास्तीति नियतिपदेन व्यभिचारवारणम्। स्वगोचरयावद्व्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदपेक्षायां पर्यवसानात्। अत एवास्वप्रकाशत्वरूपं दृश्यत्वमपि हेतुः; स्वप्रकाशत्वं हि स्वापरोक्षत्वे स्वातिरिक्तानपेक्षत्वम्, 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मे'ति श्रुतेः। तथा चान्यानधीनापरोक्षत्वं पर्यवसितम् ; तन्निरू-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होने के कारण घटादि में दृश्यत्व हेतु की असिद्धि नहीं है। व्यवहार पदार्थ यहाँ स्फुरण-अभिवदनादि-साधारण विवक्षित है [विवरणकार ने कहा है—"व्यवहारः अभिज्ञा, अभिवदनम्, उपादानम्, अर्थक्रिया इति चतुर्विधः (विवरण पृ० ६२)। अर्थात् व्यवहार चार प्रकार का होता है—(१) ज्ञानात्मक व्यवहार, (२) शब्दात्मक व्यवहार, (३) हानोपादानात्मक व्यवहार तथा (४) प्रयोजन-सिद्धि या फलावाप्ति। इनका ही सङ्कलन यहाँ सिद्धिकार ने किया है]। लक्षण-घटक 'नियति' पद के प्रभाव से दृश्यत्व का यह लक्षण पर्यवसित होता है कि जिस वस्तु का समस्त व्यवहार ज्ञानान्तर-सापेक्ष हो, उसे दृश्य कहा जाता है। 'प्रपञ्च-भिन्नं ब्रह्म'—इस प्रकार के ब्रह्म-व्यवहार में ज्ञानान्तर की अपेक्षा होने पर भी साक्षी के स्फुरण रूप व्यवहार में स्वातिरिक्त संवित् की अपेक्षा नहीं, क्योंकि वह स्फुरण नित्य सिद्ध है, अतः ब्रह्म में व्यभिचार नहीं होता।

'नियति' पद-घटित लक्षण का तात्पर्य इस प्रकार है—जिस पदार्थ को स्वविषयक यावद् व्यवहार में स्व-भिन्न संवित् की अपेक्षा होती है, उसे दृश्य कहते हैं [घटादि व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक प्रपञ्च का सकल व्यवहार स्वातिरिक्त चैतन्य के अधीन है, अतः न तो पक्ष में स्वरूपासिद्धि है और न दृष्टान्त में साधन-विकलता]।

अतएव अस्वप्रकाशत्वरूप दृश्यत्व हेतु भी निर्दुष्ट है, क्योंकि स्वप्रकाशत्व का अर्थ होता है—'स्वविषयक अपरोक्षता में स्वातिरिक्त चिदनपेक्षत्व।' ऐसा ही श्रुति कहती है—"यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" (बृह० ३।४।१)। अर्थात् अपरोक्षता दो प्रकार की होती है—(१) गौण अपरोक्षता तथा (२) मुख्य अपरोक्षता। घटादिगत

न्यायामृतम्

मस्ति न तु विशेष्यम् , अध्यस्तत्वात् । अपरोक्षव्यावहारायोग्येऽपि तत्र तद्व्यवहारस्तु अधिष्ठानभूतसाक्षिगतापरोक्ष्याध्यासाद्युक्तः । इदमिति व्यवहारायोग्येऽपि तस्मिन्नधिष्ठानगतेदन्त्वारोपादिदमितिव्यवहारवत् । यद्यपि घटादिरप्यध्यस्तः, तथापि तत्र सत्त्वमिवाऽऽपरोक्ष्यं व्यावहारिकं रूप्यादौ तु प्रातिभासिकम्'' इति । तन्न, सर्वव्यावहारिकोपादाने ब्रह्मज्ञानात्प्रागबाधिते श्रुत्यादिसिद्धे च व्यावहारिकेऽज्ञाने अन्तःकरणादौ च योग्यत्वस्यापि व्यावहारिकत्वात् । न ह्यापरोक्ष्यैकरसेन साक्षिणा साक्षाद्वेद्ये अज्ञानादावापरोक्ष्यं प्रातिभासिकम् । वृत्तिद्वारा तद्वेद्ये घटादौ तु व्यावहारिकमिति युक्तम् । शिष्टं स्वप्रकाशत्ववादे वक्ष्यते ।

अद्वैतसिद्धिः

पितभेदवत्त्वं हेतुः । तच्च नित्यपरोक्षे अन्याधीनापरोक्षे च घटादावस्तीति नासिद्धिः । न च—ब्रह्मणोऽपि ब्रह्मप्रतियोगिककाल्पनिकभेदवत्त्वात्तत्र व्यभिचारः, अकल्पितभेदस्य चाप्यसिद्धत्वादिति—वाच्यम् ; तद्भेदस्यान्यानधीनापरोक्षत्वरूपधर्मानिरूपितत्वात्, जीवत्वेश्वरत्वादिरूपस्य अन्यस्यैवधर्मस्य तन्निरूपकत्वात् । एवं चावेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावरूपं दृश्यत्वमपि हेतुः । न च—फलव्याप्यत्वाभावविशिष्टं यदपरोक्षव्यव-

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

अपरोक्षता गौण होती है, अतः उसमें वृत्त्यभिव्यक्त चिदन्तर की अपेक्षा होती है। ब्रह्मगत अपरोक्षता (साक्षात्) मुख्य होती है, इसमें किसी अन्य संवित् की अपेक्षा नहीं होती । इस प्रकार अन्यानधीनापरोक्षत्व ही स्वप्रकाशत्व पर्यवसित होता है । उस स्वप्रकाशत्व से निरूपित भेदवत्त्व (अस्वप्रकाशत्व) हेतु है । [चन्द्रिकाकार ने मूलस्थ 'तन्निरूपित' शब्द का अर्थ किया है—'तदवच्छिन्नानुयोगिताक' । अर्थात् अन्यानधीनापरोक्षत्व से अवच्छिन्न है अनुयोगिता जिसकी, ऐसा जो भेद—'अन्यानधीनापरोक्ष (ब्रह्म) दृश्यं न भवति' । उस भेद की दृश्यगत प्रतियोगिता का अवच्छेदक दृश्यत्व ही मिथ्यात्व-साधक हेतु है । यद्यपि स्वप्रकाशत्व की अपेक्षा अन्यानधीनापरोक्षत्व गुरु धर्म होने के कारण अवच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि न्याय-सिद्धान्त है— "सम्भवति लघौ धर्मे गुरौ तदभावात्" (अ० नि० पृ० १) अर्थात् यदि लघु धर्म सुलभ हो, तब गुरु धर्म में अवच्छेदकता नहीं मानी जाती । तथापि विट्ठलेश उपाध्याय ने कहा है—"गुरुधर्मस्यानुयोगितावच्छेदकत्वोपगमात् ।" वस्तुतः ग्रन्थकार धर्मी के समान धर्म को भी भेद का निरूपक मानकर ऐसा कह रहा है, आगे भी कहेगा ।

वह अस्वप्रकाशत्वरूप दृश्यत्व हेतु नित्य परोक्ष (धर्मादि) और पराधीनापरोक्षत्व वाले घटादि पदार्थों में विद्यमान है, अतः भागासिद्धि नहीं । यहाँ सन्देह होता है कि स्वप्रकाश ब्रह्म का भेद काल्पनिक विवक्षित है ? या पारमार्थिक ? ब्रह्म का काल्पनिक भेद तो ब्रह्म में भी है, अतः अमिथ्या ब्रह्म में ऐसा अस्वप्रकाशत्व व्यभिचारी हो जाता है । पारमार्थिक भेद तो कहीं भी अद्वैती मानते ही नहीं । किन्तु वह सन्देह निराधार है, क्योंकि काल्पनिक भेद ही विवक्षित है । ब्रह्म में भी जो काल्पनिक भेद होगा, वह 'ब्रह्म न स्वप्रकाशम्' या 'ब्रह्म नान्यानधीनापरोक्षम्'—इस प्रकार का सम्भव नहीं, अपि तु 'जीवो न ब्रह्म', 'ईश्वरो न ब्रह्म'—इस प्रकार का ही होगा । वह अन्यानधीनापरोक्षत्व धर्म से निरूपित नहीं, अपि तु जीवत्व और ईश्वरत्वादि अन्य धर्मों से ।

इसी प्रकार चित्सुखाचार्य की पद्धति से 'अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वा-

न्यायामृतम्

किं चास्वप्रकाशत्वस्य पंचमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ व्यभिचारः। यत्तु प्रमाणवस्त्वन्यतराधीनवृत्तिविषयत्वं दृश्यत्वम्। तुच्छस्य घटादिवत्प्रमाणाधीनवृत्तिविषयत्वस्य प्रातिभासिकवद्वस्त्वधीनवृत्तिविषयत्वस्य चाभावान्न तत्र व्यभिचार इति। तत्त्वतितुच्छम्, प्रमाणाधीनवृत्तिविषयत्वस्यामिथ्यात्वेन व्याप्तेः। प्रमाणशब्देन ज्ञापकोक्तौ तु तुच्छे व्यभिचारः, तज्ज्ञानस्यापि ज्ञापकाधीनत्वात्, धीमात्रशरीररूप्यादिवृत्तौ वस्तुपरतन्त्रत्वस्याप्यभावाच्च। वस्तुपरतन्त्रशब्देनासदविषयकत्वस्यासद्विलक्षणविषयकत्वस्य चोक्तौ मद्रीत्या दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यात्। ब्रह्मणि व्यभिचारापरिहाराच्च। एवं च—

न धर्मादौ फलव्याप्तिर्वृत्तिव्याप्यत्वमात्मनि। अज्ञातत्वादिरूपेण चिद्वेद्यत्वं तु चित्यपि॥
अन्यापेक्षाभिलापत्वमस्त्यौपनिषदात्मनि। त्वदुक्तास्वप्रभत्वं च रूप्ये नास्त्यस्ति चात्मनि॥

इति दृश्यत्वहेतुभङ्गः।

अद्वैतसिद्धिः

-हारयोग्यत्वम्, तस्य ब्रह्मणीवाविद्यान्तःकरणादौ शुक्तिरूप्यादौ च सत्त्वेनासिद्धिसाधनवैकल्ये इति—वाच्यम्; अज्ञाननिवर्तकवृत्तिविषयत्वयोग्यत्वस्यापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वपदेन विवक्षितत्वात्, तस्य चाविद्यादौ शुक्तिरूप्यादौ चासत्त्वात् नासिद्धिसाधनवैकल्ये। यथा च घटादेः फलव्याप्यत्वम्, तथाग्रे वक्ष्यामः। अविद्यानिवृत्तेः पञ्चमप्रकारत्वपक्षे तत्रै व्यभिचारवारणाय ज्ञानकालवृत्तित्वं हेतुविशेषणं देयम्, तेनैव तुच्छेऽपि न व्यभिचारः। एवमेव सर्वेषु हेतुषु व्यभिचारपरिहाराय यतनीयम्। सद्विविक्तत्वमात्रे तु साध्ये तुच्छे पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ च न व्यभिचारगन्धोऽपीति सर्वमवदातम्॥

॥ इति अद्वैतसिद्धौ दृश्यत्वहेतूपपत्तिः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भावरूप दृश्यत्व' को भी हेतु बनाया जा सकता है। यदि कहा जाय कि चित्सुखाचार्य ने 'अवेद्यत्व' घटक वेद्यत्व का अर्थ फल-व्याप्यत्व किया है—"फलव्याप्यतालक्षण वेद्यत्वस्यातीतानागतयोर्नित्यानुमेयेषु च धर्मादिष्वभावात्" (चित्सु० पृ० १७)। फलव्याप्यत्वाभाव-विशिष्ट अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यत्वरूप स्वप्रकाशत्व ब्रह्म के समान अविद्या, अन्तःकरण, शुक्ति-रूप्य आदि में भी है, फिर तो अविद्यादि में स्वप्रकाशत्वाभाव या अस्वप्रकाशत्वरूप हेतु असिद्ध होने से भागासिद्धि और दृष्टान्त में साधन-वैकल्य दोष होता है। तो वैसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व' शब्द से अज्ञान-निवर्तकवृत्तिविषयत्व विवक्षित है। वह न तो अविद्यादि में है और न शुक्ति-रूप्यादि में। क्योंकि अविद्या और शुक्ति-रूप्यादि साक्षिभास्य होते हैं, प्रमाण-जन्य वृत्ति के विषय नहीं होते। अतः असिद्धि और साधन-वैकल्य दोष क्यों होगा? घटादि में जैसे फल-व्याप्यत्व होता है, वह आगे प्रतिकर्म-व्यवस्था के प्रकरण में कहेंगे।

इष्टसिद्धिकार अविद्या की निवृत्ति को 'सत्, असत्, उभय तथा अनुभय'—इन चारों से भिन्न पञ्चम प्रकार मानते हैं— 'अज्ञाननिवृत्तेः प्रकारान्तरसम्भवात्" (इष्ट० पृ० ८५)। उस अविद्या-निवृत्ति में सदसद्भिन्नत्वरूप साध्य के न रहने पर भी दृश्यत्व हेतु रहता है, अतः व्यभिचारी हो जाता है। उस व्यभिचार को हटाने के लिए अज्ञान-

: ११ :

जडत्वहेतुविचारः

न्यायामृतम्

जडत्वमप्यज्ञातृत्वं वा ? अज्ञानत्वं वा ? अस्वप्रकाशत्वं वा ? अनात्मत्वं वा ? पराभिप्रेतं वा ? नाद्यः, त्वन्मते पक्षनिक्षिप्तस्याहमर्थस्यैव ज्ञातृत्वात्, शुद्धात्मनोऽप्यज्ञातृत्वाच्च। शुद्धेऽपि कल्पितं ज्ञातृत्वमस्तीति चेन्न, कल्पितेन हेत्वभावेन व्यभिचारापरिहारात्। कल्पितस्य ज्ञातृत्वस्याभावो हेतुरिति चेन्न, गौरोऽहं जानामीति कल्पितज्ञातृत्ववति देहादौ तदभावासिद्धेः। धर्मिसमसत्त्वस्य ज्ञातृत्वस्याभावो हेतुरिति चेन्न, तादृशज्ञातृत्ववत्यन्तःकरणे तदभावासिद्धेः। शुद्धे तादृशज्ञातृत्वाभावाच्च।

न द्वितीयः, वृत्तिज्ञाने भागासिद्धेः। यदि च सांख्यवेदान्तिनां तु करणव्युत्पत्त्या बुद्धिवृत्तिर्ज्ञानमिति विवरणोक्तेर्वृत्तिर्ज्ञप्तिः, तर्हि परोक्षवृत्त्या स्वविषये अज्ञाननिवृत्तिव्यवहारस्मृतयो न स्युः, तासां ज्ञप्तिकार्यत्वात्। धर्माधर्मादिकं च जानामीत्यनुभवश्च न स्यात्। किं चात्मनि व्यभिचारः। तथा हि आत्मरूपं ज्ञानं सविषयं निर्विषयं वा ? आद्येऽपि स्वविषयं परविषयं वा ? नाद्यः, स्ववृत्तिविरोधेन परैरस्वीकारात्। ननु स्वकर्मकत्वाभावेऽपि स्वव्यवहारजननयोग्यत्वरूपं स्वविषयत्वमस्ति। तत्स्वभावस्यापि स्फुरणस्य तद्व्यवहारजनकतया तद्विषयत्वमिति चित्सुखोक्तेरिति चेन्न,

अद्वैतसिद्धिः

जडत्वमपि हेतुः। ननु—किमिदं जडत्वम् ? अज्ञातृत्वं वा? अज्ञानत्वं वा ? अनात्मत्वं वा ? नाद्यः; त्वन्मते पक्षनिक्षिप्तस्यैवाहमर्थस्य ज्ञातृत्वात्तत्रासिद्धेः, शुद्धात्मनोऽज्ञातृत्वेन तत्र व्यभिचाराच्च। नापि द्वितीयः; वृत्त्युपरक्तचैतन्यस्यैव ज्ञानत्वेन केवलाया वृत्तेः केवलस्य चैतन्यस्य चाज्ञानत्वेन वृत्तावसिद्धिपरिहारेऽपि चैतन्ये व्यभिचारतादवस्थ्यात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

काल-वृत्तित्व भी हेतु का विश्लेषण देना चाहिए। अज्ञान-काल में वृत्ति न तो अविद्या-निवृत्ति है और न शशविषाणादि तुच्छ पदार्थ, अतः उनमें व्यभिचार नहीं होता। इसी प्रकार मिथ्यात्व-साधक सभी हेतुओं के तुच्छादि में व्यभिचार दोष का परिहार कर देना चाहिए। केवल सद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व की सिद्धि अभिमत होने पर शशशृङ्गादि तुच्छ पदार्थ एवं अविद्या-निवृत्ति के पञ्चम प्रकार में व्यभिचार नहीं, क्योंकि सद्भिन्नत्वरूप साध्य भी वहाँ है और हेतु भी। 'दृश्यत्व' हेतु सर्वथा निर्दोष है ॥ ९ ॥

मिथ्यात्व-सिद्धि में केवल 'दृश्यत्व' हेतु ही सक्षम नहीं, अपितु 'जड़त्व' भी है।

द्वैतवादी—यह जड़त्व कहा है—(१) अज्ञातृत्व ? या (२) अज्ञानत्व ? या (३) अनात्मत्व ? प्रथम (अज्ञातृत्व) कल्प संगत नहीं, क्योंकि अद्वैतवाद में ज्ञाता अहंपदार्थ जीव भी पक्षभूत प्रपञ्च का एक भाग है, उसमें अज्ञातृत्व न रहने के कारण भागासिद्ध है। एवं शुद्ध ब्रह्म को शाङ्कर वेदान्त ज्ञाता नहीं मानता, अतः मिथ्यात्वाभाव के अधिकरणभूत शुद्ध-ब्रह्म में अज्ञातृत्व व्यभिचारी भी है। द्वितीय (अज्ञानत्व) भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि वृत्ति-विशिष्ट चैतन्य को ही ज्ञान माना जाता है, केवल वृत्ति और केवल चैतन्य में ज्ञानत्व का अभाव या अज्ञानत्व है। वृत्ति में इस हेतु के रहने पर पूर्ववत् भागासिद्धि तो नहीं होती, किन्तु शुद्ध चेतन में अज्ञानत्व

न्यायामृतम्

घटादावप्येतदन्यस्य ज्ञप्तिकर्मत्वस्याभावात्। न हि घटादावपि तदाकारवृत्तिः, तत्प्रतिबिम्बितचैतन्यं वा ज्ञप्तिः। तां च प्रति कर्मत्वं तत्कारकविशेषत्वं वा, तज्जन्यावरणाभिवरूपातिशययोगित्वं वेति युक्तम्। ज्ञातैकसति सुखादौ शुक्तिरूप्यादौ चोक्तरूपज्ञप्तिकर्मत्वाभावापातात्। ब्रह्मणोऽपि चरमवृत्तिविषयस्योक्तरूपां ज्ञप्तिं प्रत्युक्तरूपकर्मत्वापाताच्च। किं तु वृत्त्यभिव्यक्तं घटाद्यधिष्ठानचैतन्यं तज्ज्ञप्तिः। न च तस्य घटादावपि व्यवहारादन्यत्कृत्यमस्ति। इयांस्तु भेदः—घटादिः स्वान्यज्ञप्तिकर्म, चैतन्यं तु स्वस्वरूपज्ञप्तिकर्मेति। न द्वितीयः, मोक्षे पराभावात्। त्वन्मते च वर्तमानस्यैव साक्षात्साक्षिविषयत्वात्। वह्निरासीदित्याद्यनुमिताविव साक्षिज्ञाने मोक्षसुखयोरतीतविषयोल्लेखरूपोपप्लवापाताच्च। निर्विषयत्वे तु ज्ञानत्वमेव न स्यात।

तद्धि विषयानुल्लेखित्वम्, न तूल्लिखितस्य विषयस्यावर्तमानत्वम्, अत्यन्तासत्त्वं वा, येनातीतादिज्ञाने तुच्छज्ञाने च व्यभिचारः स्यात्। न च कदाचित्सविषयत्वमात्रेण ज्ञानत्वम्, सप्रतियोगिके अभावादौ सप्रतियोगिकत्ववत् सविषयके इच्छादौ घटादिज्ञाने च सविषयकत्वादेः स्वभावत्वदर्शनात्, परमपुरुषार्थे मोक्षे आनन्दाप्रकाशापाताच्च। अर्थप्रकाशत्वरूपज्ञानस्वभावाभावेऽपि ज्ञानत्वे घटादेरपि ज्ञानत्वापाताच्च। अर्थाप्रकाशात्मकजडव्यावृत्तेरपि अर्थप्रकाशात्मकत्वं विनाऽयोगाच्च।

अद्वैतसिद्धि

नापि तृतीयः; आत्मत्वस्यैव निरूपयितुमशक्यत्वात्। तद्धि न जातिविशेषः; त्वयात्मन एकत्वाभ्युपगमाद्, विशिष्टात्मनां भेदेऽपि तेषां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वात्। नाप्यानन्दरूपत्वम्, वैषयिकानन्दे तद्व्यतिरेकस्य हेतोरसिद्धेः, तस्याप्यात्मत्वे अज्ञानपक्षोक्तदोषः प्रसञ्जनीय इति—चेत्, मैवम्, द्वितीयतृतीयपक्षयोः दोषाभावात्। तथा हि—'अज्ञानत्वं जडत्वमि'ति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यभिचारी यथावत् है। तृतीय (अनात्मत्व) प्रकार भी उचित नहीं, क्योंकि जब आत्मत्व का ही निरूपण नहीं हो सकता, तब अनात्मत्व का निरूपण कैसे होगा? आत्मत्व का निरूपण यदि करें, तो क्या आत्मत्व को जाति विशेष कहा जायगा? या आनन्दरूपत्व? अद्वैतवाद आत्मा को एक मानता है, एक व्यक्ति में रहने वाले धर्म को जाति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्री उदयनाचार्य ने कहा है—

> व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
> रूपहानिरसम्बन्धो जातिवाधकसंग्रहः॥ (किर. पृ. ३३)

जातित्व के इन परिगणित छः वाधकों में एकव्यक्ति-वृत्तित्व भी है, अतः आत्मत्व धर्म को जाति कैसे कह सकते हैं? यद्यपि जीवरूप विशिष्ट आत्मा अनेक माने जाते हैं, तथापि वे सब प्रपञ्चरूप पक्ष के अन्तर्गत ही हैं, उनमें आत्मत्व जाति मानने पर अनात्मत्व हेतु भागासिद्ध हो जाता है। आनन्दरूपत्व को भी आत्मत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पक्षान्तर्गत विषयानन्द में आनन्दत्व है, अतः अनानन्दत्व रूप अनात्मत्व हेतु भागासिद्ध होगा। विषयानन्द को भी आत्मरूप मानने पर अज्ञान-पक्षोक्त दोष प्रसक्त होते हैं। अर्थात् जैसे केवल वृत्ति और केवल चैतन्य में ज्ञानत्व नहीं, वैसे ही आनन्दत्व भी नहीं रहता, अतः केवल चैतन्य में जैसे अज्ञानत्व व्यभिचारी है, वैसे अनानन्दत्वरूप अनात्मत्व भी व्यभिचारी है।

अद्वैतवादी—जडत्व के कथित सभी प्रकारों का खण्डन उचित नहीं, क्योंकि

अद्वैतसिद्धिः

पक्षे नात्मनि व्यभिचारः, अर्थोपलक्षितप्रकाशस्यैव ज्ञानत्वेन मोक्षदशायामपि तदनपायात्। नच–अभावे सप्रतियोगित्ववदिच्छाज्ञानादिष्वपि सविषयकत्वस्य स्वाभाविकत्वादिच्छायामिव ज्ञानेऽपि तस्य समानसत्ताकत्वमिति—वाच्यम्; ज्ञानस्य हि सविषयत्वं विषयसंबन्धः, स च न तात्त्विकः, किंत्वाध्यासिकः, वक्ष्यमाणरीत्या तात्त्विकसंबन्धस्य निरूपयितुमशक्यत्वात्, अतो न तस्य स्वाभाविकत्वम्; न हि शुक्तौ रूप्यं स्वाभाविकम्। एवं च ज्ञानोपाधिकस्यैव सविषयत्वस्य इच्छादिष्वभ्युपगमात् नतरां तत्र तस्य स्वाभाविकत्वम्। न चैवं ज्ञानवद् विषयसंबन्धं विनापि कदाचिदिच्छायाः सत्त्वापत्तिरिति—वाच्यम्; सविषयत्वप्रयोजकोपाध्यपेक्षया अधिकसत्ताकत्वस्य तत्र प्रयोजकत्वाद्, इच्छायाश्च तत्समानसत्ताकत्वात्। नच—त्वया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वितीय (अज्ञानत्व) और तृतीय (अनानन्दत्व) पक्ष में कोई दोष सिद्ध नहीं किया जा सकता। 'अज्ञानत्वं जड़त्वम्'—इस पक्ष को लेकर जो केवल आत्मा में व्यभिचार दिया था, वह उचित नहीं, क्योंकि विषयोपलक्षित प्रकाश को ही ज्ञान पदार्थ माना जाता है, मोक्ष-दशापन्न केवल आत्मा में भी अर्थोपलक्षित प्रकाशत्वरूप ज्ञानत्व ही रहता है, अज्ञानत्व नहीं, फिर अज्ञानत्व व्यभिचारी क्यों होगा ?

यदि कहा जाय कि अभाव, इच्छा और ज्ञानादि पदार्थ स्वभावतः सम्बन्धि-सापेक्ष होते हैं, घटरूप सम्बन्धी के न होने पर घट का अभाव, घट की इच्छा, घट का ज्ञान सम्भव नहीं होता। इच्छा और ज्ञान का यह भी स्वभाव होता है कि उनका विषय समानसत्ताक होता है, अतः मोक्षावस्था में आत्मरूप ज्ञान का स्वरूप तभी बन सकता है, जब कि उसका वैसा ही पारमार्थिक विषय हो, किन्तु अद्वैती मोक्ष में आत्मा से भिन्न और कुछ भी मानते नहीं, तब वहाँ ज्ञान की सत्ता क्योंकर सम्भव होगी ? तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञान का सविषयक होना जितना आवश्यक है, उतना उसके विषय का ज्ञान-समानसत्ताक होना आवश्यक नहीं। पारमार्थिक ज्ञान का पारमार्थिक विषय से कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता—यह आगे दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्ति-प्रकरण में विस्तार-पूर्वक कहा जायगा। यहाँ आध्यासिक विषय-सम्बन्ध अद्वैत वेदान्त भी मानता है। जैसे शुक्ति में रजत का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं होता, वैसे ही ज्ञान में विषय-सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं होता। इच्छा अपने जनक ज्ञान के विषय को लेकर ही विषयवती होती है, स्वतः नहीं। अतः इच्छादि में विषय-सम्बन्ध स्वाभाविक कदापि नहीं।

यदि कहें कि जैसे अद्वैत-सम्मत ज्ञान में विषय-सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं, आविद्यिक है, मोक्षावस्था में अविद्या के न रहने पर विषय-सम्बन्ध भी नहीं रहता, अतः विषय-सम्बन्ध-रहित केवल ज्ञान रहता है। वैसे ही इच्छा में विषय-सम्बन्ध यदि स्वाभाविक नहीं, तब विषय-सम्बन्ध के बिना केवल इच्छा की भी कभी सत्ता होनी चाहिए। तो वह कहना उचित नहीं, क्योंकि विषय-सम्बन्ध-रहित विशुद्ध ज्ञान की सत्ता इसलिए रहती है कि विषय-सम्बन्ध-प्रयोजक अविद्या की अपेक्षा उसकी अधिक (पारमार्थिक) सत्ता मानी जाती है, किन्तु इच्छा अविद्या के समान सत्तावाली है, अतः विषय-सम्बन्ध के बिना केवल इच्छा नहीं रह सकती।

न्यायामृतम्

एवं ज्ञात्रभावादपि न ज्ञानम्। न हि भोज्यभोक्तृरहिता भुक्तिरस्ति। यदि च ज्ञानस्यानादित्वात्तदनपेक्षा, तर्ह्यनादेः प्रागभावादेः प्रतियोगिनि, जातिरूपस्य धर्मस्य व्यक्तिरूपे धर्मिणि, जीवब्रह्मविभागस्य च धर्मिप्रतियोगिनोः, वेदरूपस्य शब्दस्य च वक्तृवाच्ययोः, अज्ञानस्य चाश्रयविषययोः, ब्रह्मसत्तायाश्च कर्तर्यपेक्षा न स्यात्। तथा चास्ति ब्रह्मेत्यादौ कर्तरि लकारो न स्यात्। अतीतादिज्ञानस्येश्वरज्ञानस्य चोत्पत्त्यर्थं विषयाद्यनपेक्षत्वेऽपि

अद्वैतसिद्धिः

मोक्षावस्थायामात्मनो निर्विषयत्वाङ्गीकाराद् आनन्दाप्रकाशे तदपुमर्थत्वं स्यादिति—वाच्यम्; तदा ह्यानन्द एव प्रकाशो न त्वानन्दस्य प्रकाशत्वम्, अर्थोपलक्षितप्रकाशत्वं वा तदास्त्येवेति न ज्ञानत्वहानिरित्युक्तम्। ननु—तथापि ज्ञातुरभावात् तदा न ज्ञानम्; न हि भोक्तृहीना भुजिक्रिया भवति। नच—अनादित्वेन क्रियारूपत्वाभावाद् अनपेक्षत्वमिति—वाच्यम्; अनादेः प्रागभावस्य प्रतियोगिनि, जातेर्व्यक्तौ, जीवब्रह्मविभागस्य धर्मिप्रतियोगिनोः, अज्ञानस्य चाश्रयविषययोः, ब्रह्मसत्तायाश्च कर्तर्यपेक्षादर्शनात्, अन्यथा 'अस्ति ब्रह्मे' त्यादौ कर्तरि लकारो न स्यात्। एवं चातीतादिज्ञानस्य ईश्वरज्ञानस्य च उत्पत्त्यर्थमर्थानपेक्षत्वेऽपि तन्निरूप्यत्वदर्शनेन ज्ञानस्य ज्ञातृज्ञेयनिरूप्यत्वं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पूर्वपक्षी कहता है कि मोक्षावस्था में आत्मरूप ज्ञान को यदि निर्विषयक माना जाय, तब आनन्दरूप विषय का ज्ञान से प्रकाश नहीं होगा, अज्ञात सुख में पुरुष की अभिलाषा या पुरुषार्थता नहीं होती, अतः मोक्षावस्था के आनन्द को पुरुषार्थ क्योंकर माना जा सकेगा ? किन्तु वैसा पूर्वपक्षी को नहीं कहना चाहिए, क्योंकि मोक्षावस्था में आनन्दप्रकाश होता है। हाँ, आनन्द का प्रकाश नहीं, अपि तु आनन्दरूप प्रकाश। यह कहा जा चुका है कि अर्थोपलक्षित प्रकाश विदेह कैवल्य में है, अतः आत्मा में ज्ञानत्व की हानि नहीं होती। अर्थात् मोक्ष में प्रकाशाभिन्न आनन्द या अनावृत आनन्द होता है, अनावृतानन्दत्व ही पुरुषार्थता है। इस पर विशेष विचार चतुर्थ परिच्छेद में किया जायगा।

द्वैतवादी—यद्यपि विदेह मोक्ष में अर्थोपलक्षित प्रकाश का कथञ्चित् उपपादन किया गया, तथापि उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहाँ ज्ञाता के न होने पर ज्ञान कैसे रहेगा ? कर्त्ता के विना क्रिया का होना सम्भव नहीं, जैसे भोक्ता के विना 'भोजन' क्रिया असम्भव है। 'ज्ञा' धातु का अर्थ ज्ञान भी एक क्रिया है, जो कि नियमतः अपने कर्त्ता की अपेक्षा करती है। यह कहना संगत नहीं कि 'आत्मरूप ज्ञान अनादि है, क्रियारूप नहीं, अतः उसे किसी की अपेक्षा नहीं;' क्योंकि अनादि पदार्थ भी नितान्त निरपेक्ष नहीं होते—अनादि प्रागभाव को अपने प्रतियोगी की, जाति को अपने आश्रय व्यक्ति की, जीव और ब्रह्म के भेद को अपने अनुयोगी एवं प्रतियोगी की, अज्ञान को अपने आश्रय और विषय की तथा ब्रह्म-सत्ता को कर्त्ता की नियमतः अपेक्षा देखी जाती है। ब्रह्म-सत्ता को निरपेक्ष मानने पर "अस्ति ब्रह्म" (त. उ. २।६।१) इत्यादि प्रयोगों में 'लट्' लकार नहीं हो सकेगा, क्योंकि "लः कर्मणि" (पा. सू. ३. ५. ६) इस सूत्र से सभी लकारों का विधान कर्त्ता में होता है, अतः वे कर्त्ता के वाचक होते हैं। इसी प्रकार अतीत ज्ञान और ईश्वर के ज्ञान को अपनी उत्पत्ति के लिए कर्त्ता की अपेक्षा न होने पर भी अपने निरूपण के लिए विषय की अपेक्षा होती है, क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय से निरूपित

न्यायामृतम्

तन्निरूप्यत्वदर्शनेन ज्ञानस्य ज्ञातृज्ञेयनिरूप्यत्वस्वभावत्वाच्च । इदमहं जानामीति ह्यनुभवः । उक्तं हि विवरणे—"ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वा" दिति । तथा च—

ज्ञातृज्ञेयविहीनं ते ब्रह्म ज्ञानात्मकं यदि ।
भोक्तृभोज्यविहीनापि भवेत्तर्हि भुजिक्रिया ॥

अद्वैतसिद्धिः

स्वभावः, अन्यथा 'इदमहं जानामी' त्यनुभवो न स्यात् , 'ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वा'-दिति विवरणविरोधश्च स्याद्—इति चेन्न; जातेर्व्यक्तिनिरूप्यत्वेऽपि कदाचित्तद्संबन्धवदुपपत्तेः, संबन्धप्रयोजकोपाध्यपेक्षया अधिकसत्ताकत्वात् । अत एव ज्ञानस्य सज्ञेयत्वं सज्ञातृत्वं च न स्वाभाविकम् । तथा हि—सज्ञेयत्वं तावत् ज्ञेयजन्यत्वं वा? ज्ञेयव्याप्यत्वं वा ? नाद्यः, परोक्षज्ञाने ईश्वरज्ञाने चाभावात् । नापि द्वितीयः, 'यदा ज्ञानं तदा अर्थ' इति कालिकव्याप्तौ पूर्ववद् व्यभिचाराद् , दैशिकव्याप्तिस्तु दूरनिरस्तैव, ज्ञातरितद्भावात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होना ज्ञान का स्वभाव होता है । अन्यथा 'इदमहं जानामि' इस प्रकार इदमर्थं (कर्म) और अहमर्थ (कर्त्ता) की अपेक्षा के विना ही 'जानाति' का प्रयोग होना चाहिए । विवरणकार ने स्पष्ट कहा है—"ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वम्" (पं. वि. पृ. २०३) । अतः ज्ञान को अत्यन्त निरपेक्ष मानने पर इस विवरण-वाक्य से विरोध होगा, क्योंकि विवरणकार ने उसी प्रकाश को ज्ञान कहा है, जो किसी कर्त्ता से जनित होकर किसी पदार्थ को विषय करता हो ।

अद्वैतवादी—द्वैतवादी का यह कहना उचित नहीं कि 'ज्ञान एक सकर्मक क्रिया है, जो कि कर्त्ता और कर्म के विना नहीं रह सकती,' क्योंकि आत्मरूप ज्ञान क्रिया नहीं है [आचार्य शङ्कर कहते हैं—"ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया, न; वैलक्षण्यात्" (ब्र. शां. भा. १।१।४)] । हाँ, ज्ञान विषय-सापेक्ष अवश्य है, किन्तु विषय की अपेक्षा व्यापक या अधिक सत्ता का होने के कारण ज्ञान वैसे ही विषय-सम्बन्ध के विना भी मोक्ष में रह जाता है, जैसे व्यक्ति-सापेक्ष घटत्वादि जाति व्यक्ति के विना भी मानी जाती है, क्योंकि व्यक्ति अनित्य है और जाति नित्य । अत एव "श्येनचितं चिन्वीत" (तै. सं. ५।४।११) में व्यक्ति-निरपेक्ष केवल श्येनत्व जाति की उपस्थिति मानी जाती है एवं शुक्ति में रजतत्व जाति का भान तार्किक मानते हैं । प्रागभावादि और उन के सम्बन्धी प्रतियोग्यादि समानसत्ताक हैं, अतः वे नियमतः सापेक्ष हैं, किन्तु यहाँ सविषयकत्व-प्रयोजक अविद्यारूप उपाधि की अपेक्षा ज्ञान की अधिक (पारमार्थिक) सत्ता होने के कारण विषय-सम्बन्ध के विना भी ज्ञान रह जाता है । अत एव ज्ञानगत सविषयत्व और सज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं । अर्थात् ज्ञानगत सविषयत्व क्या है—विषय-जन्यत्व ? या विषय-व्याप्यत्व ? प्रथम (विषय-जन्यत्व) कल्प का परोक्ष ज्ञान तथा ईश्वर के ज्ञान में अभाव है, क्योंकि न तो परोक्ष ज्ञान ही विषय-जन्य होता है और न ईश्वर-ज्ञान ही । द्वितीय (विषय-व्याप्यत्व) कल्प भी उचित नहीं, क्योंकि 'यदा ज्ञानम्, तदा विषयः'—इस प्रकार की कालिक व्याप्यता का अतीतादि विषय के वर्तमान ज्ञान में व्यभिचार दिखाया जा चुका है और 'यत्र ज्ञानम्, तत्र विषयः'—इस प्रकार की दैशिक व्याप्ति तो नितान्त असम्भव है—घटादिका ज्ञान ज्ञाता में है, किन्तु घटादि विषय वहाँ नहीं रहते ।

अद्वैतसिद्धिः

न च यदा 'अपरोक्षज्ञानं तदार्थं' इति कालिकव्याप्तौ नास्ति व्यभिचारः, आत्मा च 'यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्मे'ति श्रुतेरपरोक्षज्ञानरूप इति सोऽप्यर्थव्याप्त इति—वाच्यम्; ईश्वरज्ञाने योगिज्ञाने च व्यभिचारात्। 'यदैन्द्रियकं ज्ञानं तदार्थं' इति तु व्याप्तिः सर्वसंमता। न चात्मरूपे ज्ञाने ऐन्द्रियकत्वम् अस्तीति न तया विरोधः। ननु—'यदा अपरोक्षं ज्ञानं तदार्थं' इति व्याप्त्यनभ्युपगमे 'इदं रजत'मित्यपरोक्षज्ञानान्यथानुपपत्त्या अनिर्वचनीयरजतसिद्धिर्न स्यात्, अर्थं विनाप्यपरोक्षत्वोपपत्तेः—इति चेन्न, 'इदं रजतमहं जानामी'त्यनुसन्धीयमानं यत् ज्ञानविषयत्वं तस्याश्रयान्तरानुपपत्त्या अनिर्वचनीयरजतसिद्धेर्वक्ष्यमाणत्वात्। अत एव परोक्षभ्रमेऽपि अनिर्वचनीयार्थसिद्धिः। जन्यापरोक्षत्वेन वा

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यदि कहें कि 'यदा अपरोक्षं ज्ञानम्, तदा विषयः'—इस प्रकार की कालिक व्याप्ति में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं है। अद्वैत मत में "साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म" (बृह० ३।४।१) इस श्रुति के अनुसार आत्मा को अपरोक्ष ज्ञानरूप माना जाता है, अतः मोक्ष अवस्था में विषय के विना अपरोक्ष ज्ञान नहीं रह सकता। तो वह कहना उचित नहीं, क्योंकि उक्त व्याप्ति का ईश्वर के ज्ञान और योगी के ज्ञान में व्यभिचार पाया जाता है। अतः जैसे अतीत और अनागतादि विषयों के न रहने पर भी ईश्वर और योगी को उन का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है, वैसे ही विदेह कैवल्य में विषय-सम्बन्ध-रहित अपरोक्ष ज्ञान क्यों न रहेगा? यदा 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानम्, तदा विषयः'—इस प्रकार की व्याप्ति तो सर्व-सम्मत है, किन्तु इसका कुप्रभाव अद्वैत-मत पर नहीं, क्योंकि आत्मरूप ज्ञान अपरोक्ष होने पर भी इन्द्रिय-जन्य नहीं होता, अतः उसका विषय-सहचरित होना आवश्यक नहीं।

द्वैतवादी—'यदा अपरोक्षं ज्ञानम्, तदा विषयः'—इस व्याप्ति के न मानने पर 'इदं रजतम्'—इस अपरोक्ष बोध की उपपत्ति के लिए अनिर्वचनीय रजत की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि आपके आत्मरूप अपरोक्ष ज्ञान के समान विषय के विना ही इदं रजतम्'—इस प्रकार के अपरोक्ष बोध की उपपत्ति हो जायगी।

अद्वैतवादी—'यदा अपरोक्षं ज्ञानम्, तदा अर्थः'—यह व्याप्ति अद्वैत-सम्मत नहीं। अनिर्वचनीय रजत की जो सिद्धि की जाती है, वह इदं रजतम्'—इस अपरोक्ष बोध की अन्यथानुपपत्ति के लिए नहीं, अपि तु 'इदं रजतमहं जानामि'—इस अनुव्यवसायात्मक बोध के द्वारा गृह्यमाण जो व्यवसाय ज्ञान की रजतनिष्ठ विषयता है, उस विषयता का आश्रय आपणस्थ रजत नहीं हो सकेगी, क्योंकि असन्निकृष्ट रजत-निष्ठ विषयता इदन्त्वावच्छिन्न नहीं हो सकती—यह आगे कहा जायगा। यदि 'इदं रजतम्—इस अपरोक्ष बोध के अनुरोध पर ही अनिर्वचनीय रजत की कल्पना की जाती, तब परोक्ष भ्रम में अनिर्वचनीय वस्तु की सिद्धि न हो सकती, किन्तु वहाँ भी अनिर्वचनीय वस्तु की सिद्धि की जाती है, अतः परस्परावच्छेद्यावच्छेदकभावापन्न इदमाकार और रजताकार—दो वृत्तियों की विषयता का निर्वाह करने के लिए ही अनिर्वचनीय पदार्थ की कल्पना की जाती है।

अथवा 'यदा जन्यमपरोक्षं ज्ञानम्, तदा विषयः'—इस प्रकार की व्याप्ति को मान लेने में भी कोई दोष नहीं। इस व्याप्ति का योगज सन्निकर्ष से जन्य योगियों के

अद्वैतसिद्धिः

अर्थव्याप्यता, आर्षज्ञानस्यापरोक्षत्वानभ्युपगमात् । तथा च नानिर्वचनीयरजतसिद्ध्यनुपपत्तिः । एवं सज्ञातृकत्वमपि किं ज्ञातृजन्यत्वम् ? ज्ञातृव्याप्यत्वम् ? ज्ञातृसमवेतत्वं वा ? आद्ये ईश्वरज्ञाने व्यभिचारः; ज्ञाननित्यत्वस्य साधयिष्यमाणत्वाच्च । द्वितीयेऽपि अप्रयोजकता । न तृतीयः, ज्ञानजन्यत्ववत् ज्ञानसमवेतत्वस्यापि संभवात् , ज्ञानस्य गुणत्वक्रियात्वयोरनभ्युपगमेन द्रव्याश्रयत्वानुमानायोगात् , कदाचित् ज्ञातृज्ञेयसंबन्धेनैव अनुभवस्य विवरणवाक्यस्य च उपपत्तेः । 'अस्ति ब्रह्मे'ति च लकारो न ब्रह्मसत्तां प्रति ब्रह्मणः कर्तृत्वमाह, नित्यत्वेन तदसंभवात् , किन्तु साधुत्वार्थ इति द्रष्टव्यम् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतीतादिविषयक अपरोक्ष बोध में व्यभिचार नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि उस बोध को अपरोक्ष नहीं माना जाता, क्योंकि अतीतादि विषय के साथ अनावृत चित्तादात्म्य की स्थापना नहीं हो पाती । उक्त व्याप्ति के बल पर अनिर्वचनीय रजत की सिद्धि भी हो जाती है और मोक्ष-प्राप्त आत्मरूप ज्ञान में विषय-सम्बन्ध भी प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि वह जन्य अपरोक्ष नहीं ।

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि ज्ञान में सज्ञातृत्व का नियम होता है । वह सज्ञातृत्व क्या है—(१) क्या ज्ञातृजन्यत्व है ? या (२) ज्ञातृव्याप्यत्व ? अथवा (३) ज्ञातृसमवेतत्व ? प्रथम (ज्ञातृजन्यत्व) तो ईश्वर के ज्ञान में व्यभिचरित है, क्योंकि वहाँ ज्ञानत्व है, ज्ञातृजन्यत्व नहीं, अतः ज्ञानत्व का व्यापक न होने के कारण मुक्तात्मरूप ज्ञान में 'ज्ञानत्व' हेतु के द्वारा सज्ञातृत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती । विषयोपलक्षित ज्ञान की नित्यता आगे सिद्ध की जायगी । द्वितीय (ज्ञातृव्याप्यत्व) प्रकार में प्रयोजक या अनुकूल तर्क उपलब्ध नहीं कि विषयोपलक्षित प्रकाशरूप ज्ञान में ज्ञातृ-व्याप्यत्व मानना पड़े । तृतीय (ज्ञातृसमवेतत्व) पक्ष भी ज्ञानगत जन्यत्व (ज्ञातृजन्यत्व) के समान ही सम्भव हो जाता है । अर्थात् विशिष्ट ज्ञान में ज्ञातृजन्यत्व के समान ज्ञातृसमवेतत्व भी हो सकता है और शुद्ध आत्मरूप ज्ञान में ज्ञातृजन्यत्व के समान ज्ञातृसमवेतत्व भी नहीं । दूसरी बात यह भी है कि यदि ज्ञान को गुण या क्रिया माना जाय, तब उसे द्रव्य में समवेत मानना आवश्यक हो सकता है, किन्तु वेदान्त-सिद्धान्त में ज्ञान को न तो गुण माना जाता है और न क्रिया, अतः उसमें द्रव्य-समवेतत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता ।

यह जो द्वैतवादी की ओर से 'इदमहं जानामि'—इस अनुभव के आधार पर एवं 'ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्'—इस विवरण-वाक्य की दुहाई देकर ज्ञाता और ज्ञेय का नियत सम्बन्ध ज्ञान के साथ कहा गया था, कादाचित्क सम्बन्ध को लेकर उसका निर्वाह हो जाता है । अर्थात् विषय-वैशिष्ट्य-काल में ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध हो जाने मात्र से ज्ञान ज्ञाता और विषय का सम्बन्धी हो जाता है ।

यह जो कहा गया था कि "अनादिब्रह्मसत्तायाश्च कर्तर्यपेक्षादर्शनादन्यथा अस्ति ब्रह्मेत्यादौ कर्तरि लकारो न स्यात् ।" उसके सन्दर्भ में इतना ही कहना है कि वहाँ लट् लकार 'सत्ता' क्रिया के प्रति ब्रह्म को कर्त्ता नहीं कहता, क्योंकि ब्रह्म की सत्ता नित्य है, उसका कोई कर्त्ता नहीं हो सकता, अतः केवल पद-साधुत्व के लिए ही लकार प्रयुक्त हुआ है । [स्वयं न्यायामृतकार ने ब्रह्मसत्ता को अनादि कहा है, फिर उसका

न्यायामृतम्

किं चात्मा ज्ञानं चेत्, प्रमा ? भ्रमो वा ? नाद्यः, तद्विषयस्याविद्यादेस्तात्त्विकत्वापातात्। नान्त्यः, दोषाजन्यत्वात्। नन्वन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितस्स प्रमा, अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितस्तु भ्रम इति चेन्न, स्वभावप्रश्नं प्रत्यस्यानुत्तरत्वात्। स्वभावतो रूपद्वयहीनश्चेत् , स्वभावतो ज्ञानमपि न स्यात्। न तृतीयः, निरस्तत्वात्। चतुर्थेऽपि न ताबदात्मत्वं जातिविशेषः, आत्मन एकत्वात्। विशिष्टात्मनां भेदेऽपि तेषां पक्षनिक्षिप्तत्वात्।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—प्रमाभ्रमभिन्नं न ज्ञानम् , न चात्मस्वरूपं ज्ञानं प्रमा, तद्विषयस्याविद्यादेस्तात्त्विकत्वापातात्। न च अप्रमा, दोषजन्यत्वापाताद्—इति चेन्न; तार्किकसिद्धेश्वरज्ञानवद् घटादिनिर्विकल्पकवच्च स्वभावत उभयवैलक्षण्येनाप्युपपत्तेः, तत्रापि ईश्वरज्ञानस्य प्रमात्वे गुणजन्यत्वस्य, भ्रमत्वे दोषजन्यत्वस्य चापत्तेः, निष्प्रकारके च निर्विकल्पके तद्वति तत्प्रकारकत्वस्य तदभाववति तत्प्रकारकत्वस्य चानुपपत्तेः, जन्यसविकल्प-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कोई कर्त्ता, कारक या जनक कैसे होगा ? अद्वैत वेदान्त में सत् से भिन्न कोई 'सत्ता' क्रिया नहीं मानी जाती, वार्तिककार ने कहा है—

प्रकृत्यर्थातिरेकेण प्रत्ययार्थो न गम्यते।
सत्तेत्यत्र ततः स्वार्थस्तद्धितोऽत्र भवन् भवेत् ॥
सदेकत्वमशेषेषु वस्तुष्वव्यभिचारि हि।
व्यभिचारि ततोऽन्यद् यद्वस्त्वतोऽद्वैतमेव सत् ॥ (वृह. वा.पृ. १६७८)

अर्थात् 'सतो भावः सत्ता'—ऐसा यहाँ अर्थ नहीं किया जा सकता, अतः 'सदेव सत्ता'—कहना ही संगत है। सद् वस्तु ही एक अद्वैत स्वतन्त्र तत्त्व है, उसे किसी की अपेक्षा कैसे हो सकती है ? हाँ, केवल 'अस्' धातुरूप प्रकृति का प्रयोग साधु नहीं माना जाता, अतः यहाँ 'तिप्' प्रत्यय केवल पद को साधु बनाने के लिए किया गया है]।

द्वैतवादी—ज्ञान दो प्रकार का ही होता है—(१) प्रमा, (२) भ्रम। आत्मरूप ज्ञान को प्रमा मानने पर उसके विषयीभूत अविद्यादि को अबाधित या तात्त्विक मानना पड़ेगा। आत्मस्वरूप ज्ञान को भ्रम भी नहीं कह सकते क्योंकि वह दोष-जन्य नहीं होता, फलतः आत्मा को ज्ञानरूप नहीं कहा जा सकता।

अद्वैतवादी—तार्किक मत-सिद्ध ईश्वर का ज्ञान तथा घटादि का निर्विकल्पक ज्ञान जैसे प्रमा और भ्रम—दोनों से भिन्न माना जाता है, वैसे ही आत्मस्वरूप ज्ञान को भी उन दोनों से भिन्न तीसरी कोटि का ज्ञान माना जा सकता है। तार्किक प्रमा ज्ञान को गुण-जन्य और भ्रम ज्ञान को दोष-जन्य मानते हैं। ईश्वर का ज्ञान नित्य होता है, अतः उसे प्रमा और भ्रम—दोनों से भिन्न मानना पड़ता है। तार्किक प्रमा का लक्षण करते हैं—'तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानम्।' अर्थात् जहाँ यथार्थ रजत को देख कर जो 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान होता है, वह रजतत्व धर्मवाले धर्मी में रजतत्व को विषय करने के कारण प्रमा कहा जाता है। इसी प्रकार भ्रम का लक्षण करते हैं—'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानम्।' शुक्ति में रजत-ज्ञान वैसा ही है, क्योंकि वह रजतत्व धर्म के अभाववाले शुक्ति-पदार्थ में रजत्व को विषय करता है। किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान निष्प्रकारक होता है, अतः वह प्रमा और भ्रम—दोनों से भिन्न कहा गया है—"नापि प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम्" (भाषा० का० १३५)।

न्यायामृतम्

नापि ज्ञातृत्वं वा, ज्ञानत्वं वा, स्वप्रकाशत्वं वा, निरस्तत्वात् । नाप्यानन्दत्वम् , जन्मादिमत्यनात्मनि वैषयिकानन्देऽनानन्दत्वासिद्धेः । तस्याप्यात्मत्वे नीरपानजातात्क्षीरपानजं सुखमधिकमित्यनुभवेन "सैषानन्दस्य मीमांसा भवती"त्यादिश्रुत्या साधनतारतम्यादियुक्त्या च सिद्धमानन्दतारतम्यं च न स्यात् । अखण्डे स्वरूपानन्दे अभिव्यक्तितारतम्यस्याप्ययोगात् । विरोधिनो दुःखस्य सर्वात्मनाऽभावेऽपि सुखे तारतम्यानुभावाच्च । अन्तःकरणवृत्तिरूपज्ञानवत्तद्वृत्तिरूपसुखाभावे अहं सुखीत्यनुभवायोगाच्च । अनानन्दत्वस्य मिथ्यात्वं प्रत्यप्रयोजकत्वाच्च । नाप्यहंत्वम् , तदभावस्याहंकारेऽसिद्धेः, आत्मनि व्यभिचाराच्च । नापि प्रत्यक्त्वम् , उक्तादन्यस्य तस्याभावात् । नाप्यपरिच्छिन्नत्वम् , निरसिष्यमाणत्वात् । नाप्यबाध्यत्वम् , (हेतोः) साध्यावैशिष्ट्यात् । नाप्यात्मशब्दवाच्यत्वम् , अवाच्ये आत्मनि हेतोर्व्यभिचाराद् , आत्मशब्दवाच्ये देहादाव-

---

अद्वैतसिद्धिः

कत्वेन भ्रमप्रमान्यतरत्वनियमे चास्माकं क्षत्यभावाद् , विलक्षणवृत्तिद्वयोपरागेण च स्वभावतो भ्रमप्रमाविलक्षणस्याप्यात्मज्ञानस्य तदुभयरूपेण व्यवहारोपपत्तेः । न च—ज्ञानपदवाच्यभिन्नत्वविवक्षायाम् उपाधेरपि ज्ञानपदवाच्यत्वात्तत्रासिद्धिः, ज्ञानपदलक्ष्यभिन्नत्वविवक्षायां तु घटादेरपि ज्ञानपदलक्ष्यत्वात्तत्राप्यसिद्धिरिति—वाच्यम् ; ज्ञानपदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्नत्वविवक्षायामुक्तदोषाभावात् । एवमानन्दभिन्नत्वरूपमनात्मत्व-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यदि जन्य सविकल्पक ज्ञान के लिए यह नियम किया जाय कि वह भ्रम और प्रमा—दो ही प्रकार का होता है, तो अद्वैतवादी की कोई क्षति नहीं होती, क्योंकि आत्मरूप ज्ञान को न तो जन्य माना जाता है और न सविकल्पक । यद्यपि आत्मरूप ज्ञान स्वभावतः भ्रम और प्रमा से भिन्न होता है, तथापि भ्रम और प्रमारूप दो विलक्षण वृत्तियों के उपराग से आत्मरूप ज्ञान भ्रम और प्रमा के रूप में व्यवहृत होता है ।

द्वैतवादी—मिथ्यात्व-साधक जडत्व हेतु का जो 'अज्ञानत्व' अर्थ किया गया, वह अज्ञानत्व क्या ज्ञानपद-वाच्य-भिन्नत्व विवक्षित है ? या ज्ञानपद-लक्ष्य-भिन्नत्व ? प्रथम प्रकार वृत्तिरूप उपाधि में भागासिद्ध है, क्योंकि वृत्ति-विशिष्ट चैतन्य को ज्ञान पद का वाच्य माना जाता है, अतः ज्ञान पद-वाच्यत्व ही वृत्ति में है, तद्भिन्नत्व नहीं, वृत्ति भी पक्षभूत प्रपञ्च का एक भाग है । ज्ञान पद-लक्ष्य-भिन्नत्व की विवक्षा में घटादि भी ज्ञान पद के लक्ष्य हो सकते हैं, अतः घटादि जड़ वर्ग में ज्ञान पद-लक्ष्य-भिन्नत्वरूप-जडत्व हेतु असिद्ध हो जाता है ।

अद्वैतवादी—'ज्ञान' पद से जन्य जो प्रतीति, उसके विषयभूत विशेष्य से भिन्न को अज्ञानपदार्थ मानने पर कोई दोष नहीं होता । अर्थात् 'ज्ञान' पद के श्रवण से वृत्ति-विशिष्ट चैतन्य की जो प्रतीति उत्पन्न होती है, उस प्रतीति में वृत्ति का विशेषण रूप से और शुद्ध चैतन्य का विशेष्यरूप से भान होता है, अतः विशेष्यरूप शुद्ध चैतन्य-भिन्नत्व सकल जड़ वर्ग में रहने के कारण जड़त्व का ऐसा निर्दुष्ट स्वरूप है, जिसकी कहीं न तो असिद्धि है और न व्यभिचार । इसी प्रकार आनन्द-भिन्नत्वरूप अनात्मत्व का भी उपपादन कर लेना चाहिए—'आनन्दपदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्नत्वमनानन्दत्वम्' । वैषयिक आनन्द में जो अनानन्दत्व की भागासिद्धि कही थी, वह दोष इसलिए नहीं होता कि विषयानन्द भी ब्रह्मरूप ही है, प्रपञ्चरूप पक्ष के अन्तर्गत नहीं माना

न्यायामृतम्

सिद्धेश्च। नापि तल्लक्ष्यत्वम्, तत्प्रतिपाद्यत्वमात्रं वा, इन्द्रियाद्यवाच्यमशब्दलक्ष्ये हेतोर्भागासिद्धेः। नापि पराभिप्रेतम्, मया ज्ञातृत्वमात्मत्वमित्यङ्गीकारात्। तस्मान्न चतुर्थः। नापि पञ्चमः, मया अज्ञातृत्वं जडत्वमित्यङ्गीकारात्। एतेन तत्त्वशुद्ध्युक्तोऽचेतनत्वहेतुरपि निरस्त इति। इति जडत्वहेतुभंगः।

अद्वैतसिद्धिः

मुपपाद्यम्, वैषयिकानन्दस्यापि ब्रह्मरूपत्वात्, तदुपाधिमात्रस्यैवोत्पत्तिविनाशप्रतियोगित्वात्। न च – ज्ञानभिन्नत्वस्यानन्दभिन्नत्वस्य च काल्पनिकस्य ब्रह्मणि सत्त्वात् तत्र व्यभिचार इति – वाच्यम्; धर्मिसमानसत्ताकतद्भेदस्य हेतुत्वात्। अनौपाधिकत्वेन वा भेदो विशेषणीयः, तुच्छे पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ च व्यभिचारपरिहारः पूर्ववत्। एवम्—अस्वप्रकाशत्वं वा जडत्वम्, तच्च पूर्वमेवोपपादितमिति शिवम्॥

॥ इत्यद्वैतसिद्धौ जडत्वहेतूपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता। केवल उसकी उपाधिभूत वृत्ति ही उत्पत्ति-विनाशवाली होने से प्रपञ्चरूप पक्ष के अन्तर्गत होती है, विशेष्य शुद्ध ब्रह्म नहीं होता है।

यह जो कहा था कि ज्ञान या आनन्द का काल्पनिक भेद ब्रह्म में भी है, अतः ज्ञान-भिन्नत्व या अज्ञानत्व वहाँ व्यभिचारी है। उस पर हम यह अङ्कुश लगाएँगे कि ज्ञान या आनन्द का भेद वैसा ही लेना चाहिए, जैसा उसका अनुयोगी या धर्मी हो। अर्थात् धर्मिसमानसत्ताक भेद विवक्षित है। ज्ञानादि का भेद व्यावहारिक प्रपञ्च में व्यावहारिक हो सकता है, किन्तु ब्रह्म में पारमार्थिक नहीं। यदि कहा जाय कि "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" (तै. उ. २।४) इत्यादि श्रुतियों में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग देखकर कोई आनन्द और ब्रह्म का भेद सिद्ध करना चाहे, तब भेद का अनौपाधिकत्व विशेषण दे देना चाहिए। अर्थात् ज्ञान और आनन्द का औपाधिक भेद यत्र-तत्र व्यवहृत है, अनौपाधिक भेद स्वयं का स्वयं में कदापि सम्भव नहीं। शश-शृङ्गादि तुच्छ पदार्थों एवं पञ्चम प्रकार की अविद्या-निवृत्ति में सदसद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व के न होने पर भी 'जड़त्व' हेतु रहता है, अतः व्यभिचारी क्यों नहीं? इस शङ्का का समाधान पूर्व (पृ० ६२) प्रदर्शित रीति से कर लेना चाहिए। अर्थात् 'जड़त्व' हेतु का भी 'अज्ञान-काल-वृत्तित्व' विशेषण दे देना चाहिए। तुच्छादि पदार्थ काल-सम्बन्धी नहीं होते, अतः उनमें हेतु ही नहीं रहता, व्यभिचारी क्यों होगा? ॥ २ ॥

: १२ :

परिच्छिन्नत्वहेतुविचारः

न्यायामृतम्

परिच्छिन्नत्वमपि देशतः? कालतः? वस्तुतो वा ? नाद्यद्वितीयौ, देशकालाज्ञानेषु त्वदभिप्रेते वियदादे रूप्यादेश्च प्रतिपन्नोपाधिस्थनिषेधे चासिद्धेः। अवकाशरूपदेशस्य कालस्य चाऽपरिच्छिन्न(तयैव)त्वेनैव धर्मिग्राहिणा साक्षिणा "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः", "सदेव सोम्येदमग्रे", "दृष्ट्वैव तं मुच्यते", "अथ मर्त्योऽमृतो भवति", "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूद्"—इत्यादिश्रुत्या सदा सर्वत्र कार्यदर्शनादिति युक्त्या च सिद्धेः। "आकाशः संभूत" इत्यादिश्रुतेश्च भूताकाशविषयत्वात्। उक्तं चाकाशद्वैतमन्यत्र।

अत्र देशो नास्ति, इदानीं कालो नास्तीत्यस्य व्याहतत्वाच्च। ब्रह्म कुत्रचित्कदाचिद् देशं कालं च विनाऽस्तीत्यस्यापि व्याहतत्वाच्च। देशकालयोः स्वोपाधौ निषेधे विरोधेनाविरोधाय निषेधोपाधितया देशकालान्तरयोरावश्यकत्वाच्च। देशस्सर्वत्रास्ति कालस्सदास्ति, पूर्वः कालः—इत्याद्यबाधितप्रतीत्या तयोः स्वनिर्वाहकतया प्रमेयत्वादिवत्स्वसम्बन्धसंभवाच्च। अज्ञानस्य च सर्वदेशकालोपादानत्वेन सर्वगतं ब्रह्म प्रति विषयसम्बन्ध्यावरणत्वेन च देशादिपरिच्छेदायोगात्। प्रतिपन्नोपाधौ निषेधस्य च कुत्रचित्कदाचिदभावे तत्र तदा प्रतियोगिनः सत्त्वापातात्। तथा च—

कालादिर्न परिच्छिन्न अग्र आसीदथामृतः।
इत्यादिश्रुतिभिर्नो चेद् दुर्वारा व्याहितर्भवेत्॥

अद्वैतसिद्धिः

परिच्छिन्नत्वमपि हेतुः। तच्च देशतः कालतो वस्तुतश्चेति त्रिविधम्। तत्र देशतः परिच्छिन्नत्वम्—अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्। कालतः परिच्छिन्नत्वम्—ध्वंसप्रतियोगित्वम्। वस्तुतः परिच्छिन्नत्वम्—अन्योऽन्याभावप्रतियोगित्वम्। ननु समवायसंबन्धेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् आत्मनि व्यभिचारि तस्याप्याकाशादिवत् काप्यसमवेतत्वात्,

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

परिच्छिन्नत्वं हेतु भी मिथ्यात्व का साधक है। वह तीन प्रकार का होता है—(१) देशतः परिच्छिन्नत्व, (२) कालतः परिच्छिन्नत्व तथा (३) वस्तुतः परिच्छिन्नत्व। 'परिच्छेद' शब्द का यहाँ अर्थ व्यावृत्ति, अन्त या अभाव है। घट का किसी देश में परिच्छेद, व्यावृत्ति या अन्त है, यही घट का देशतः परिच्छेद है। घट का किसी काल में अन्त है, अतः यही इसका कालतः परिच्छेद है। घट घट वस्तु के रूप में ही है, पट वस्तु के रूप में नहीं, यही इसका वस्तुतः परिच्छेद है। दूसरे शब्दों में अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी को देशतः परिच्छिन्न, ध्वंसाभाव के प्रतियोगी को कालतः परिच्छिन्न तथा अन्योऽन्याभाव के प्रतियोगी को वस्तुतः परिच्छिन्न कहते हैं। इस प्रकार का परिच्छिन्नत्व ब्रह्म में नहीं है, क्योंकि वह सभी देशों में (विभु) है, सभी कालों में (नित्य) है और सभी वस्तुओं के रूप में (विश्वरूप) है, इसी लिए इसे "अनन्तं ब्रह्म" (तै. उ. २।१।१) कहा गया है।

द्वैतवादी—परिच्छिन्नत्व की कथित सभी परिभाषाएँ दोष-पूर्ण हैं—अत्यन्ताभाव समवाय, संयोग ? या सम्बन्ध सामान्य से विवक्षित है ? समवाय सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ब्रह्म में व्यभिचरित है। आकाशादि के समान ब्रह्म भी कहीं समवेत नहीं माना जाता। संयोग सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव

न्यायामृतम्

किं च कालादिपरिच्छिन्नत्वं न तावदेककालादिमात्रे सत्त्वम्, रूप्यादौ ममासिद्धेः। तेन त्रैकालिकनिषेधसाधने विरोधाच्च। नापि तथाधीमात्रम्, मात्रशब्देनैककालादिमात्रे सत्त्वरूपार्थाभावोक्तौ भ्रमोक्तौ च प्रपञ्चे ममासिद्धेः। प्रमाभ्रमसाधारणधीत्वसामान्योक्तावात्मन्यपि तादृशभ्रमसम्भवेन व्यभिचारात्। व्यावहारिकप्रमोक्तौ रूप्यादावभावात्। नापि कालान्तरादावसत्त्वम्, तेन स्वकालादावप्यसत्त्वसाधने प्रमाणविरोधस्याविशिष्टतया स्वकालादौ सत्त्वेन कालान्तरादौ सत्त्वसाधनापातात्। रूपान्तरेणासतो ब्रह्मणः स्वरूपेणाप्यसत्त्वापाताच्च। रूप्यादेर्वियदादेश्च स्वकालेऽप्यसद्विलक्षणस्वरूपाभावापाताच्च। एतेन यत्सत्, तत् सदा सर्वत्र सदेव। न हि रूपं कदाचित् कुत्रचिद् गन्धो भवति। तथा च यत्कदाचित्कुत्रचिदसत्तत्सदा सर्वत्रासदेवेति वाचस्पतीयं शून्यवाद्युक्तयुक्त्युद्गिरणं निरस्तम्। ननु देशपरिच्छिन्नत्वं सर्वमूर्तासंयोगित्वं वा, परममहत्परिमाणानधिकरणत्वं वा, महत्त्वानधिकरणपरिमाणाधिकरणत्वं वेति चेन्न, आद्ययोरसङ्गे निर्गुणे च ब्रह्मण्यपि भावाद्, अन्त्यस्य गुणादावप्यभावात्। कालपरिच्छिन्नत्वमन्योन्याभावादौ प्रतिवाद्यसिद्धं च। न तृतीयः, तद्धि भिन्नत्वम्। तस्य च तात्त्विकस्य प्रपञ्चेऽप्यभावात्। आत्मन्यप्यनृतव्यावृत्तिस्तात्त्विकीति वक्ष्यमाणत्वाच्च। कल्पितस्य त्वात्मन्यपि भावाद्, धर्मिसमसत्त्वस्य रूप्येऽपि ममाभावाद्, भिन्नत्वमात्रस्य चाध्यस्ताद्भेदेन सत्त्वेऽप्युपपत्तेः, सत्याद्भेदस्य चासिद्धेः।

अद्वैतसिद्धिः

संयोगसंबन्धेनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमाकाशादावसिद्धम्, तस्य यावन्मूर्तसंयोगित्वनियमाद्, अमूर्तनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभिप्राये तु आत्मनि व्यभिचारस्तदवस्थः, सर्वसंबन्धित्वाभावविवक्षायामपि सर्वसंबन्धशून्ये परमात्मनि व्यभिचारः, अज्ञाने सर्वसंबन्धिन्यसिद्धिश्च, ध्वंसप्रतियोगित्वमपि आकाशादावसिद्धम्, तेषां परैर्नित्यत्वाभ्युपगमात्, अन्योन्याभावप्रतियोगित्वं चात्मनि व्यभिचारि; तस्य जडनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगित्वाद्, अन्यथा जडत्वापत्तेः—इति चेन्न; अत्यन्ताभावे अन्योन्या-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की प्रतियोगिता आकाशादि में असिद्ध है, क्योंकि आकाशादि को विभु या सर्व मूर्तसंयोगी माना जाता है। अमूर्त द्रव्य-निष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व की विवक्षा होने पर यद्यपि आकाशादि में भागासिद्धि नहीं होती, क्योंकि आकाशादि अमूर्त द्रव्यों का परस्पर संयोग नहीं माना जाता, अतः अमूर्त-निष्ठ संयोगेन अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता आकाशादि में रह जाती है। तथापि आकाशादि के समान ही आत्मा का भी अमूर्त द्रव्यों के साथ संयोग नहीं माना जाता, अतः संयोगेन अमूर्त-निष्ठ अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता आत्मा में मिथ्यात्व से व्यभिचरित हो जाती है। सम्बन्ध सामान्य से अत्यन्ताभाव या सर्वसम्बन्धित्वाभाव की विवक्षा होने पर भी सर्वसम्बन्ध-शून्य असङ्ग ब्रह्म में व्यभिचार हो जाता है। अज्ञान सर्व प्रपञ्च का उपादान कारण होने से सर्व-सम्बन्धी है, अतः अज्ञान में सर्व सम्बन्धित्वाभाव-प्रतियोगित्व भागासिद्ध है। ध्वंस-प्रतियोगित्व भी आकाशादि में असिद्ध है, क्योंकि तार्किकगण आकाशादि को नित्य मानते हैं। अन्योऽन्याभाव-प्रतियोगित्व आत्मा में व्यभिचारी है, क्योंकि आत्मा को जड़वर्ग से भिन्न ही कहना होगा, नहीं तो वह भी जड़ हो जायगा।

अद्वैतवादी—परिच्छिन्नत्व के कथित प्रकारों पर दोष देना उचित नहीं, क्योंकि

अद्वैतसिद्धिः

भावे च प्रतियोगिसमसत्ताकत्वविशेषणेन आत्मनि व्यभिचारपरिहाराद्, अज्ञानाकाशादौ च स्वसमानसत्ताकात्यन्ताभावान्योन्याभावप्रतियोगित्वसत्त्वेन असिद्ध्यभावात्। अविद्याकाशादेर्व्यावहारिकस्य पारमार्थिकाभावपक्षे 'स्वान्यूनसत्ताके'ति विशेषणं देयम्। अत एव प्रातिभासिकशुक्तिरूप्यादेर्व्यावहारिकाभावप्रतियोगित्वेऽपि न साधनवैकल्यम्। निरुक्तमिथ्यात्वप्रकाराणामेवंरूपत्वाभावात् न साध्याविशिष्टता। ध्वंसप्रतियोगित्वं चाकाशादौ नासिद्धम्; 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इति श्रुतिसिद्धजन्यत्वेनानुमितत्वात्, 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इत्यत्र चात्मनिदर्शनत्वं स्वसमानकालीनसर्वगतत्वेन, आभूतसंप्लवावस्थायित्वेन चेति द्रष्टव्यम्। 'अतोऽन्यदार्त'मितिश्रुत्या अनात्ममात्रस्यैव विनाशित्वप्रतिपादनात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभाव में प्रतियोगि-समसत्ताकत्व विशेषण लगा देने से आत्मा में व्यभिचार का परिहार हो जाता है, क्योंकि समवायादि सम्बन्ध से आत्मा का अत्यन्ताभाव लिया जाता है, उसके प्रतियोगी आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है। आत्मा से भिन्न कुछ भी पारमार्थिक सत् नहीं माना जाता, अतः अत्यन्ताभाव भी अपारमार्थिक ही है, प्रतियोगिसमसत्ताक नहीं। आकाशादि में समानसत्ताकात्यन्ताभाव की प्रतियोगिता सुलभ है, अतः उसकी असिद्धि नहीं। अविद्या और आकाशादि व्यावहारिक पदार्थों के अभाव को यदि व्यावहारिक न मान कर पारमार्थिक माना जाय, तब प्रतियोगिसमानसत्ताकत्व के स्थान पर प्रतियोग्यन्यूनसत्ताकत्व विशेषण देना चाहिए। इस से एक विशेष लाभ यह भी होगा कि शुक्ति-रजतरूप दृष्टान्त में प्रातिभासिक रजत का अत्यन्ताभाव प्रातिभासिक न मान कर व्यावहारिक माना जाता है, वह प्रतियोगिसमानसत्ताक न होने पर भी प्रतियोग्यन्यूनसत्ताक तो है ही। अतः दृष्टान्त में साधन-वैकल्य नहीं होता।

यद्यपि मिथ्यात्व का द्वितीय लक्षण है—यावत्सदधिकरणकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व और परिच्छिन्नत्वरूप हेतु का भी अर्थ है—अत्यन्तभावप्रतियोगित्व। अतः साध्य के समान ही यह हेतु हो जाता है, इसे साध्याविशिष्टता दोष कहा जाता है, अर्थात् हेतु की सिद्धि से ही साध्य की सिद्धि हो जाने से सिद्ध-साधनता होती है। तथापि मिथ्यात्व के कथित सभी प्रकार तो ऐसे नहीं, इस अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वरूप हेतु के द्वारा सदसद्भिन्नत्वादि रूप साध्य की सिद्धि की जा सकती है, वहाँ साध्याविशिष्टता दोष नहीं है।

ध्वंस-प्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व हेतु की आकाशादि में जो असिद्धि कही जाती है, वह उचित नहीं, क्योंकि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः" (तै. उ. २।५) इस श्रुति-वाक्य से प्रतिपादित आकाशगत जन्यता के द्वारा ध्वंस-प्रतियोगित्व की अनुमिति की जा सकती है—'आकाशः ध्वंसप्रतियोगी, जन्यभावत्वात्, पटादिवत्।' "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" (छाँ. उ. ३।१४।३) इस श्रुति ने जो आत्मा की व्यापकता और नित्यता में आकाश का दृष्टान्त दिया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि आकाश अपने समय सर्वगत है और प्रलय-पर्यन्त स्थायी है। आकाश को सर्वथा नित्य मानने पर "अतोऽन्यदार्तम्" (बृह. ३।४।२) इस श्रुति से विरोध होता है,

न्यायामृतम्

एतेन यदुक्तं प्रमाणमालायाम्—"विवादाध्यासिताः स्वानुगतप्रतिभासे वस्तुनि कल्पिताः, विभक्तत्वात्, यथा सर्पमालादिकं स्वानुगते रज्ज्वा इदमंशे, सदर्थे च ब्रह्मण्यनुगच्छति पटादिकं विभज्यते सन् घटः सन् पट इति प्रतीतेः"— इति निरस्तम्। विभक्तत्वं हि न तावद्विभिन्नत्वम्, कादाचित्कत्वं वा, काचित्कत्वं वा, निरस्तत्वात्। नापि बाधकदशायां निषिध्यमानत्वम्, साध्यावैशिष्ट्यात्। नापि कदाचिदेव प्रकाशमानत्वम्, सुखदुःखा (दौ भागा) दिभागे असिद्धेः अप्रयोजकत्वाच्च। युक्तो हि सतोऽपि प्रकाशसामग्र्याः कादाचित्कत्वेन कदाचिदेवेच्छादिवत्प्रकाशोऽपि। नाप्यननुगतत्वम्, अननुगतानां घटपटादीनां चलनादौ रूपादौ द्रव्यत्वादौ ध्वंसादावनात्मत्वादौ च, खपुष्पनृश्रृङ्गादीनां चासति, आत्मनश्च सदर्थेऽनध्यासात्। अस्ति हि घटश्चलति, पटश्चलति, घटो रूपी, पटो रूपी, घटो द्रव्यम्, पटो द्रव्यम्, घटो ध्वस्तः, पटो ध्वस्तः, अनात्मा घटः, अनात्मा पटः, खपुष्पमसत्, नृश्रृंगमसत्, आत्मा सन्नित्यादिधीः। दृश्यते चैकत्रानेकेषामिवैकस्यापि रूप्यस्यानेकेषु शुक्तिवङ्गादिष्वध्यासः। एवं च सदर्थस्यैव घटादिष्वारोपः किं न स्यात्?

अद्वैतसिद्धि

अत एव घटादयः स्वानुगतप्रतिभासे वस्तुनि कल्पिताः, विभक्तत्वाद्, यथा सर्पमालादिकं स्वानुगतप्रतिभासे रज्ज्वा इदमंशे विभज्यते, 'एवं ब्रह्मण्यनुगच्छति घटादिकं विभज्यते, सन् घटः सन् पट' इति—आनन्दबोधोक्तमपि साधु। विभक्तशब्देन स्वसमानसत्ताकभेदप्रतियोगित्वरूपवस्तुपरिच्छेदस्य विवक्षितत्वात् न ब्रह्मतुच्छयोर्व्यभिचारः। न च—'खण्डो गौर्मुण्डो गौ'रित्येवमादिस्वानुगतप्रतिभासे गोत्वादौ व्यक्तीनामकल्पितत्वाद् व्यभिचार इति—वाच्यम्; सत्सामान्यातिरिक्तगोत्वा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि यह श्रुति कहती है—इस आत्मा से भिन्न सब कुछ आर्त या विनाशी है।

श्री आनन्दबोध भट्टारक ने जो अनुमान-प्रयोग किया है, वह भी निर्दुष्ट है— 'विवादाध्यासिता भावाः स्वानुगतप्रतिभासे वस्तुनि कल्पिताः, विभक्तत्वाद् यदित्थं तत् तथा, यथा सर्पधारादण्डमालावलीवर्दमूत्रित्वादीनि स्वानुगतप्रतिभासे रज्वा इदमंशे परिकल्पितानि" (प्र० मा० पृ० ७)। अर्थात् घटादि पदार्थ 'घटः सन् पटः सन्'—इस रूप से स्वानुगत सद्रूप ब्रह्म में कल्पित हैं, क्योंकि वे विभक्त या परस्पर व्यावृत्त होते हैं। उक्त अनुमान में 'विभक्त' शब्द से प्रतियोगिसमानसत्ताक भेदप्रतियोगित्वरूप वस्तु-परिच्छिन्नत्व विवक्षित है, अतः ब्रह्म और तुच्छ पदार्थों में हेतु व्यभिचरित नहीं होता।

यदि कहें कि 'खण्डो गौः, मुण्डो गौः'—इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर गो व्यक्तियों में अनुगतरूप से प्रतीयमान गोत्व जाति है, किन्तु गोत्व जाति में गो व्यक्तियों का अध्यास नहीं माना जाता, अतः उक्त नियम व्यभिचरित है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त स्थल पर अनुगत रूप में प्रतीयमान जो गोत्व जाति है, वह ब्रह्म ही है, उससे भिन्न और कोई सत्ता नहीं अर्थात् 'घटः सन्, पटः सन्'—आदि प्रतीतियों में अनुगतरूप से प्रतीयमान् सत्ता सामान्य ही गो व्यक्तियों में अनुगत गोत्व और घटादि व्यक्तियों में अनुगत घटत्वादि जाति कही जाती है, अतः सद्रूप ब्रह्म में गो व्यक्तियाँ कल्पित ही है, व्यभिचार क्यों होगा? वाक्यपदी (३।१।६२–३४) में कहा गया है—

न्यायामृतम्

एतेन विवादाध्यासितं सद्रूपे कल्पितम्, प्रत्येकं तदनुविद्धतया प्रतीयमानत्वात्, प्रत्येकं चन्द्रानुविद्धजलतरङ्गचन्द्रवदिति ब्रह्मसिद्धयुक्तं निरस्तम्। खण्डो गौर्मुण्डो गौरिति प्रत्येकं गोत्वानुविद्धस्यापि खण्डादेस्तत्रानध्यासात्।

अद्वैतसिद्धिः

द्विसामान्यानभ्युपगमात्, गोत्वाद्यभ्युपगमेऽपि गोत्वादिव्यञ्जकतावच्छेदकसामान्यानभ्युपगमाद् व्यक्तिविशेषाणामेवाननुगतानां सास्नादिमत्त्वाद्युपाध्यनुगतानां वा तद्व्यञ्जकत्ववद् व्यक्तिविशेषविशिष्टत्वेन सत्सामान्यस्यैव तत्तद्व्यवहारजनकत्वोपपत्तेः। अत एव—'घटादिकं, सद्रूपे कल्पितम्, प्रत्येकं तदनुविद्धत्वेन प्रतीयमानत्वात् प्रत्येकं चन्द्रानुविद्धजलतरङ्गचन्द्रवद्—इति ब्रह्मसिद्धिकारोक्तमपि साधु। ननु—सदर्थस्य ब्रह्मणः रूपादिहीनस्यासंसारमज्ञानावृतस्य शब्दैकगम्यस्य कथं घटः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सत्यासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ।
सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयः स्मृताः॥
सम्बन्धिभेदात् सत्तैव विद्यमाना गवादिषु।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः॥
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः।]

यदि गोत्वादि जातियों को पृथक् मान भी लिया जाय, तब भी गवादिव्यवहार की निर्वाहकता तत्तद्व्यक्ति विशेष के द्वारा अभिव्यञ्जित एक मात्र सत्ता सामान्य में ही मानना लाघव है, घटत्व, पटत्व, गोत्व—आदि अनन्त जातियों में व्यवहार-प्रयोजकता मानने में गौरव है। गोत्वादि का व्यञ्जक यदि सर्व व्यक्तिगत कोई एक धर्म होता, तब गोत्वादि के द्वारा ही व्यवहार-सम्पादन में लाघव था, किन्तु वैसा कोई अनुगत व्यञ्जक सुलभ नहीं। अगत्या जिन व्यक्तियों को सास्नादिमत्त्वेन रूपेण गोत्व-व्यञ्जक मानना पड़ता है, उन्हीं के द्वारा एक सत्ता सामान्य की अभिव्यक्ति से समस्त व्यवहारों के निर्वाह में लाघव है। अतः सर्वानुगत महा सत्ता या सद्रूप ब्रह्म में सब व्यक्तियों का कल्पित होना निश्चित है।

आचार्य मण्डन मिश्र की मिथ्यात्वानुमान-शैली भी सर्वथा निष्कलङ्क है—

प्रत्येकमनुविद्धत्वादभेदेन मृषा भवेत्।
भेदो यथा तरङ्गाणां भेदाद्भेदः कलावतः॥ (ब्र. सि. २।३१)

अर्थात् घटादि पदार्थ सद्रूप ब्रह्म में कल्पित हैं, क्योंकि प्रत्येक घटादि व्यक्ति में 'घटः सन्', 'पटः सन्' आदि रूप से सद्रूपता का अनुवेध प्रतीत होता है। जैसे जलतरङ्गगत प्रत्येक चन्द्र-प्रतिबिम्ब में 'अयं चन्द्रः',-'अयं चन्द्रः' इस प्रकार बिम्बभूत चन्द्र अनुविद्ध प्रतीत होता है, अतः सभी प्रतिबिम्ब व्यक्तियाँ एक आकाशस्थ बिम्ब चन्द्र में कल्पित हैं।

द्वैतवादी—'घटः सन्', पटः सन्'—आदि चाक्षुष प्रत्यक्ष में सद्रूप ब्रह्म का भान नहीं हो सकता। इसका पहला कारण यह है कि रूपवान् का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। किन्तु ब्रह्म रूप-रहित है—"अशब्दमस्पर्शमरूपम्" (मुक्तिको. २।७२)। दूसरा हेतु यह है कि वह संसार-पर्यन्त अज्ञान से आच्छन्न माना गया है—अज्ञानेनावृतं ज्ञानम् (गी० ५।१५)। तीसरा कारण यह है कि ब्रह्म औपनिषद अर्थात् केवल वेदान्त-वेद्य ही कहा जाता है—

न्यायामृतम्

किं च रूपादिहीनमासंसारमज्ञानावृतं शब्दैकगम्यं ब्रह्म सन् घटः सन् शब्द इत्यादिचाक्षुषादिज्ञाने न भाति, किन्त्वनित्यो घट इत्यादौ अनित्यत्वादिकमिव सत्त्वमपि घटगतमेव। न च स्वरूपेणाप्रत्यक्षस्यापि राहोश्चन्द्रावच्छेदेनेव ब्रह्मणोऽपि घटाद्यवच्छेदेन प्रत्यक्षतेति युक्तम्, शब्दाद्यवच्छिन्नस्य गगनादेः श्रावणादित्वापातात्। राहोस्तु दूरदोषेणाज्ञातस्य नीलस्य शुक्लभास्वरचन्द्रसम्बन्धाच्चाक्षुषता युक्तेति। इति-परिच्छिन्नत्वहेतुभङ्गः।

अद्वैतसिद्धिः

सन्नित्यादिबुद्धिविषयता स्यात् ? तथा च 'घटोऽनित्य' इत्यनेन घटगतानित्यतेव 'घटः स'न्नित्यनेनापि घटगतमेव सत्त्वं गृह्यते। नच—स्वरूपेणाप्रत्यक्षस्य राहोश्चन्द्रावच्छेदेनेव ब्रह्मणोऽपि घटाद्यवच्छेदेनैव प्रत्यक्षतेति—वाच्यम्, शब्दाद्यवच्छिन्नस्यापि गगनादेः श्रावणत्वाद्यापाताद्, राहोस्तु दूरदोषेणाज्ञातस्य नीलस्य योग्यस्य शुक्लभास्वरचन्द्रसंबन्धाच्चाक्षुषता उक्ता—इति चेन्न, यतः सदात्मना न ब्रह्मणो मूलाज्ञानेनावृतत्वम्; किंतु घटाद्यवच्छिन्नशक्त्यज्ञानेनैव; तथा च चक्षुरादिजन्यवृत्त्या तदावरणभङ्गे सति 'सन्घट' इत्यत्र ब्रह्मणः स्फुरणे बाधकाभावात्। नच—रूपादिहीनतया चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्तिः बाधिकेति—वाच्यम्, प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्येष्वेव रूपाद्यपेक्षानियमात्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृह. उ. ३।९।२६)। अतः यह मानना पड़ेगा कि 'घटः सन्'—यह प्रतीति घट में रहनेवाले सत्त्व धर्म को वैसे ही विषय कर रही है, जैसे 'घटोऽनित्यः'—यह प्रतीति घटगत अनित्यत्व धर्म को। यदि कहा जाय—यद्यपि ब्रह्म स्वरूपतः चाक्षुष प्रत्यक्ष के योग्य नहीं, तथापि घटादि पर आरूढ़ होकर वैसे ही दिखाई देने लगता है, जैसे आकाश में विचरता हुआ राहु सदैव नहीं दिखता, किन्तु चन्द्र-ग्रहण के समय चन्द्रारूढ़ राहु का श्याम कलेवर स्पष्ट दिखाई देने लगता है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अयोग्य पदार्थ भी यदि योग्य के सम्पर्क से योग्य हो जाता है, तब स्वरूपतः श्रोत्र-ग्रहण के अयोग्य आकाश को शब्द के सम्पर्क से श्रावण प्रत्यक्ष का विषय हो जाना चाहिए। अतः अयोग्य ब्रह्म घट के सम्बन्ध से कभी चाक्षुष प्रत्यक्ष के योग्य नहीं बन सकता। राहु का जो दृष्टान्त दिया गया, वह संगत नहीं, क्योंकि राहु का नील विग्रह अयोग्य नहीं, अपितु दूर दोष के कारण या गगनगत पार्थिव नीलिमा में समा (समभिव्याहृत हो) जाने के कारण दिखाई नहीं पड़ता था, चन्द्र का शुभ्र गौर कलेवर छूते ही विलग होकर प्रकट हो जाता है। इस प्रकार अयोग्य का किसी प्रकार योग्य होना सम्भव नहीं, अतः नीरूप ब्रह्म का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

अद्वैतवादी—ब्रह्म अवश्य संसार-अवस्था में मूलाज्ञान के द्वारा आवृत है, किन्तु आनन्दरूपेण, सद्रूप से आवृत नहीं। घटादि-विषयक तूलाज्ञान के द्वारा ही सद्रूपता आवृत होती है। चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा निःसृत अन्तःकरण की घटाकारवृत्ति उस तूलाज्ञान को भङ्ग कर देती है, अतः 'सन् घटः' के रूप में ब्रह्म का स्फुरण होने लगता है। यह जो कहा था कि ब्रह्म नीरूप है, उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष कैसे होगा ? उस का उत्तर यह है कि प्रत्यक्षता के लिए रूपादि का होना उसी वस्तु में अनिवार्य है, जिस का ग्रहण केवल एक नियत इन्द्रिय के द्वारा हो, किन्तु जो वस्तु सभी इन्द्रियों की साधारण विषय होती है,

अद्वैतसिद्धिः

सर्वेन्द्रियग्राह्यं तु सद्रूपं ब्रह्म, नातो रूपादिहीनत्वेऽपि चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्तिः, सत्तायाः परैरपि सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वाभ्युपगमाच्च । तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—

'अतोऽनुभव एवैको विषयोऽज्ञातलक्षणः ।
अक्षादीनां स्वतःसिद्धो यत्र तेषां प्रमाणता ॥' इति ।

कालस्य च रूपादिहीनस्य मीमांसकादिभिः सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वाभ्युपगमात् । नच—शब्दावच्छिन्नस्याकाशस्यापि श्रावणत्वं स्यादिति—वाच्यम्; स्वभावतो योग्यस्य हि केनचिन्निमित्तेन प्रतिरुद्धयोग्यताकस्यावच्छेदकादिना योग्यता संपाद्यते, यथा दूरदोषेण प्रतिरुद्धयोग्यताकस्य राहोश्चन्द्रसंबन्धेन । एवं चावरणेन प्रतिरुद्धयोग्यताकं ब्रह्म घटाद्यवच्छेदेन योग्यं भवति, नभस्तु स्वभावायोग्यमेव, न प्रतिरुद्धयोग्यताकम्, येन शब्दावच्छेदेन योग्यं भवेत् । यद्वा—द्रव्यग्रहे चक्षुषो रूपापेक्षा, न त्वन्यग्रहे, ब्रह्म तु न द्रव्यम्, 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घ'मिति श्रुत्या चतुर्विधपरिमाणनिषेधेन द्रव्यत्व-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उसमें रूपादि की अपेक्षा नहीं होती । विना रूप और स्पर्श के ही चक्षु और त्वक् इन्द्रियों के द्वारा 'घटः सन्'—यह प्रत्यक्ष हो जाता है । यह कई बार कहा जा चुका है कि सत्ता और ब्रह्म—दोनों एक ही तत्त्व हैं । सत्ता का प्रत्यक्ष तार्किक भी सभी इन्द्रियों से मानते हैं । श्री सुरेश्वराचार्य ने स्पष्ट कहा है—

अतोऽनुभव एवैको विषयोऽज्ञातलक्षणः ।
अक्षादीनां स्वतः सिद्धो यत्र तेषां प्रमाणता ॥ (बृह० वा० पृ० ३१३)

अर्थात् एक मात्र अनुभवरूप ब्रह्म ही अज्ञात होने से इन्द्रियादि प्रमाणों का विषय होता है । यद्यपि वह स्वतः प्रकाश है, अपने प्रकाशनार्थ अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं, केवल आवरण-भङ्ग करने के लिए ही प्रमाणों की अपेक्षा करता है । इतने से ही प्रमाणों की प्रमाणता भी निभ जाती है ।

नीरूप काल का ग्रहण सभी इन्द्रियों से वैयाकरण एवं मीमांसक भी मानते हैं—"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते" (वा० प० १।१२४) । अतः वेदान्त-सिद्धान्त में नीरूप ब्रह्म प्रत्यक्ष के योग्य क्यों नहीं होगा ? शब्द के सम्बन्ध से आकाश में जो श्रावण-प्रत्यक्षता की आपत्ति दी थी । वह तब प्रसक्त हो सकती थी, जब कि अयोग्य पदार्थ को किसी प्रकार योग्य माना जाता । हमारा कहना तो यह है कि जिस योग्य पदार्थ का ग्रहण किसी आगन्तुक प्रतिबन्धक के कारण नहीं हो पाता, उस का ग्रहण किसी उपाधि के माध्यम से होने लगता है, जैसे—राहु का चन्द्र के सम्बन्ध से । इसी प्रकार आवरण के द्वारा ब्रह्म की ग्राह्यता जब अवरुद्ध होती है, तब घटादि पदार्थों के योग से अवरोध दूर करके उसका प्रत्यक्ष किया जाता है । आकाश तो स्वभाव से प्रत्यक्षायोग्य ही होता है, अतः उसे किसी के भी सम्बन्ध से योग्य नहीं बनाया जा सकता ।

अथवा द्रव्य पदार्थ के ही चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूप की अपेक्षा होती है, ब्रह्म को द्रव्य नहीं कह सकते, क्योंकि "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" (बृह० उ० ३।८।८) इस श्रुति के द्वारा स्थूल, अणु, ह्रस्व तथा दीर्घ—चार प्रकार के परिमाणों का निषेध करके द्रव्यत्व का ही प्रतिषेध कर दिया गया है ।

अद्वैतसिद्धिः

प्रतिषेधात्, अतो नानुपपत्तिः। अस्तु वा द्रव्यम्; तथाप्यध्यस्तद्रव्यत्ववति गुणादौ रूपानपेक्षचाक्षुषत्वदर्शनेन धर्म्यन्यूनसत्ताकद्रव्यत्ववत्येव चक्षू रूपमपेक्षते। ब्रह्मणि च द्रव्यत्वं धर्म्यपेक्षया न्यूनसत्ताकमवेति न तद्ग्रहे रूपाद्यपेक्षा। कल्पितत्वं च स्वाभाववति प्रतीयमानत्वं वा, स्वरूपज्ञाननिवर्त्यत्वं वेत्यन्यदेतत्। तस्मात् परिच्छिन्नत्वमपि भवति हेतुरिति सिद्धम्॥

॥ इति परिच्छिन्नत्वहेतूपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यदि ब्रह्म को द्रव्य मान भी लिया जाय, तब भी ब्रह्म में उक्त श्रुति के द्वारा पारमार्थिक द्रव्यत्व का निषेध देख कर आध्यासिक द्रव्यत्व ही मानना होगा। जिस में द्रव्यत्व अध्यस्त हो, उस के प्रत्यक्ष में रूपवत्ता की अपेक्षा नहीं होती, जैसे अध्यस्त द्रव्यत्व के आधारभूत रूप, रस आदि गुणों के प्रत्यक्ष में रूपवत्ता अपेक्षित नहीं होती। घटादि व्यावहारिक द्रव्यों में द्रव्यत्व भी व्यावहारिक ही है, अतः यह निष्कर्ष निकला कि धर्मिसमानसत्ताक द्रव्यत्व के आधार की प्रत्यक्षता में ही रूपवत्ता अपेक्षित होती है। ब्रह्म में द्रव्यत्व आध्यासिक है, पारमार्थिक नहीं, अतः धर्मिसमानसत्ताक द्रव्यत्व का आधार ब्रह्म नहीं होता, फिर उसके प्रत्यक्ष में रूपवत्ता की अपेक्षा क्यों होगी? आध्यासिकत्व या कल्पितत्व का यहाँ अर्थ स्वाभाववाले में प्रतीयमानत्व किया जाय, अथवा ब्रह्म-ज्ञान-निवर्त्यत्व—यह और बात है। इस प्रकार परिच्छिन्नत्व भी मिथ्यात्व के साधन में एक सक्षम हेतु है।

: १३ :

अंशित्वहेतुविचारः

न्यायामृतम्

अंशित्वादिहेतुष्वपि मतद्वयेऽपि कार्यस्य कारणाभेदेन तदनाश्रितत्वात्सिद्ध-साधनम्। अनाश्रितत्वेनान्याश्रितत्वेन वोपपत्त्या अर्थान्तरं च। यदि च प्रत्यक्षबाधा-

---

अद्वैतसिद्धिः

चित्सुखाचार्यैस्तु--'अयं पटः, एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, अंशित्वाद्, इतरांशिवद्--इत्युक्तम्। तत्र तन्तुपदमुपादानपरम्, तेन स्वोपादाननिष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वलक्षणमिथ्यात्वसिद्धिः। नच--कार्यस्य कारणाभेदेन तदनाश्रितत्वात् सिद्धसाधनम्, अनाश्रितत्वेनान्याश्रितत्वेन वा उपपत्त्या अर्थान्तरं च इति--वाच्यम्, अभेदे कार्यकारणभावव्याहत्या कथंचिदपि भेदस्यावश्याभ्युपेयत्वात्। नच 'तदनन्य-त्वमारम्भणशब्दादिभ्य' इत्यधिकरणविरोधः; उपादानव्यतिरेकेणोपादेयं नास्तीत्यस्यैव तदर्थत्वात्। बाधात्तन्मात्राश्रितत्वेन पक्षविशेषणाद्वा नार्थान्तरम्। नच प्रकृतेऽपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

श्री चित्सुखाचार्य ने कहा है—"अयं पटः, एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, अंशित्वाद्, इतरांशिवत्" (चित्सु. पृ. ६९)। वहाँ 'तन्तु' पद उपादान कारण मात्र का उपलक्षक है, अतः मिथ्यात्व का व्यापक लक्षण इस प्रकार निष्पन्न होता है—अपने उपादान कारण में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का स्वगत प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है।

शङ्का—वेदान्त में कार्य और कारण का अभेद माना जाता है, अभिन्न पदार्थों में आश्रयाश्रयिभाव होता नहीं, अतः 'कार्यं कारणेऽस्ति'—यह प्रयोग नहीं कर सकते। फलतः कार्यम् उपादानकारणं न भवति—इस प्रकार का भेद तो सम्भव नहीं होता, किन्तु 'कार्यं कारणे नास्ति'—इस प्रकार का अत्यन्ताभाव और उस अत्यन्ताभाव का कार्य में प्रतियोगित्व स्वतः सिद्ध है, पहले से ही सिद्ध पदार्थ की सिद्धि करना सिद्ध-साधनता दोष कहलाता है। केवल इतना ही नहीं, अपि तु यदि कार्य कारण के आश्रित नहीं, तब या तो आकाशादि के समान अनाश्रित या उपादान कारण से भिन्न किसी और के आश्रित सिद्ध हो सकता है, मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, अतः अर्थान्तरता नामक निग्रहस्थान भी प्रसक्त होता है।

समाधान—कार्य और कारण में अभेद अवश्य माना जाता है, किन्तु सर्वथा अभेद मानने पर कार्य-कारणभाव सम्भव नहीं हो सकता—घट से घट की उत्पत्ति कहीं नहीं देखी जाती। अतः कार्य और कारण में कुछ भेद भी मानना अवश्यंभावी है। "तदनन्यत्वमारम्भणादिशब्देभ्यः" (ब्र० सू० २।१।१४) इस सूत्र में जो कहा गया है कि "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्, मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६।१।१) इस श्रुति का स्वारस्य कार्य और कारण की अनन्यता या अभेद में ही है। उसका तात्पर्य इतना ही है कि उपादान कारण से भिन्न कार्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, जैसा कि भाष्यकार कहते हैं—"तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः"। इसी लिए कार्य और कारण में भेदाभेदात्मक तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है। फलतः भेद को ध्यान में रख कर कार्य को कारण के आश्रित कहा जाता है, कारण में कार्य का अत्यन्ताभाव प्रसिद्ध नहीं, अतः सिद्ध-साधनता दोष नहीं होता। कार्य का अनाश्रित या अन्याश्रित होना अत्यन्त बाधित है। अथवा प्रपञ्चरूप पक्ष का 'कारणमात्राश्रितत्वं

न्यायामृतम्

देतत्तन्त्वारब्धस्य पक्षत्वेन पक्षधर्मताबलाद्वा नानाश्रितत्वादिकम्, तर्हि तत एवैतत्तन्तुष्वपि नासत्त्वम्। अपि चात्यन्ताभावः प्रामाणिकः? अप्रामाणिको वा? आद्येऽद्वैतहानिः अन्त्ये सिद्धसाधनम्। एतेनात्यन्ताभावमात्रं साध्यमिति निरस्तम्। अत्यन्ताभावो व्यावहारिक इति तु निरस्तम्।

नन्वभावरूपा धर्मा नाद्वैतं घ्नन्तीति मण्डनोक्तेरभावद्वैतं स्वीकृतमिति चेन्न, अभावे अभावत्वादेस्तदाश्रये चाभावाश्रयत्वादेः भावस्यावश्यकत्वाद्, अभावरूपप्रवृत्तिनिमित्तसम्भवेन ब्रह्मणोऽद्वितीयादिशब्दवाच्यत्वापातात्। अखण्डार्थेन वेदान्तेन ब्रह्माभावयोर्द्वयोरसिद्धेश्च। अन्यस्य च तत्त्वावेदकस्याभावात्। श्रौताद्वितीयपदस्याभावरूपद्वितीयनिषेध इव भावरूपद्वितीयनिषेधेऽपि मानान्तरेणात्र इति स्वपदेन च विरोधाविशेषे भावरूपद्वितीयनिषेधपरत्वेनैव संकोचः, न त्वभावरूपद्वितीयनिषेधपरत्वेनेत्यत्र हेत्वभावाच्च। भावस्यापि स्वाभावाभावत्वाच्च। अभेदस्याप्यन्योऽन्याभावप्रतियोगित्वेन तत्सत्यत्वासिद्धेश्च। भेदस्याप्यन्योन्याभावत्वेन तत्सत्यत्वापत्तेश्च। प्रध्वंसादेः प्रतियोगिना सह विरोधाय स्वतुल्यसत्त्वप्रतियोगिसापेक्षत्वाच्च। भावत्वानिर्वचने भावस्येवाभावत्वानिर्वचनेऽभावस्यापि सत्त्वासिद्धेरभावे सत्त्वार्थं तवाप्यभावत्वादिनिर्वच(ने)नप्रयासापाताच्च। अभावे दृश्यत्वादेर्व्यभिचारस्य(वा)चाभाववद्भावस्यापि सत्यत्वेऽपि दृश्यत्वोपपत्त्या अप्रयोजकत्वस्य(वा)चापाताच्च। अभावस्य प्रतियोगिघटितत्वेन भावादपि विशिष्याद्वैतविरोधित्वाच्च।

किं चात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं स्वरूपेण वा? पारमार्थिकत्वेन वा? नोभयमपि, निरस्तत्वात्। अन्या(न्यत्रा)समवेतस्यांशित्वमेतत्तन्तुसमवेतत्वं विना(ऽनुपपन्नमि)न युक्तमितिविरुद्धश्च। कस्यचित्पटस्य संयोगवृत्त्या एतत्तन्तुषु सत्त्वादनैकान्तिकश्च। समवाय-

अद्वैतसिद्धिः

बाधः; तस्योद्धरिष्यमाणत्वात्। न चात्यन्ताभावस्य प्रामाणिकत्वाप्रामाणिकत्वविकल्पावकाशः, तस्य प्रागेव निरस्तत्वात्। नच—कस्यचित् पटस्य संयोगवृत्त्यैतत्तन्तुषु सत्त्वेन तत्र व्यभिचार इति—वाच्यम्, तत्समवेतस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विशेषण दे देने से अर्थान्तरता दोष समाप्त हो जाता है।

यदि पक्षगत कारणमात्राश्रितत्व विशेषण के द्वारा कार्य में अनाश्रितत्व का जैसे बाध होता है, वैसे ही कार्य-निष्ठ अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वरूप प्रकृत मिथ्यात्वानुमान का भी बाध क्यों न होगा?—ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि आगे चल कर बाधोद्धार-प्रकरण में ऐसी शङ्काओं का निराकरण किया जायगा। न्यायमृतकार ने जो प्रश्न उठाया है—"अपि चात्यन्ताभावः प्रामाणिकः? अप्रामाणिको वा?" उसका उत्तर पहले ही पृ० २१ पर दिया जा चुका है कि अत्यन्ताभाव तात्त्विक होने पर भी ब्रह्मरूप ही है, अतः अद्वैत का हानिकारक नहीं।

यदि कहा जाय कि यह 'अंशित्व' हेतु उस पट विशेष में व्यभिचारी है, जो कि पक्षरूप पट के उपादन कारण तन्तुओं के साथ संयोग सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है, क्योंकि संयोग सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्वरूप साध्य उस पट में नहीं रहता और अंशित्व रहता है। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जब हम तन्तुओं में समवेत पट का अभाव सिद्ध करने पर तुले हुए हैं, तब भला संयुक्त पट का अत्यन्ता-

न्यायामृतम्

वृत्त्या एतत्तन्तुष्वसत्त्वं तु विशेषणासत्त्वेनापि युक्तम्। इह तन्तुषु पट इति प्रत्यक्ष-

अद्वैतसिद्धिः

मङ्गीकुर्वतः तत्संयोगिनस्तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाङ्गीकारेण पक्षसमत्वात्। न चा-व्याप्यवृत्तित्वेनार्थान्तरम्, पटतदभावयोरेकाधिकरणवृत्तौ विरोधस्य जगति दत्तजला-ञ्जलित्वप्रसङ्गात्, संयोगतदभावयोरप्येकाधिकरणवृत्तित्वानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा एतत्तन्तुत्वावच्छिन्नवृत्तित्वमत्यन्ताभावस्य विशेषणं देयम्, एवमेतत्कालीनत्वमपि। तेन कालान्तरीयाभावमादाय नार्थान्तरम्। न चेह तन्तुषु पट इति प्रत्यक्षबाधः; तस्य भ्रमसाधारणतया चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षवदप्रामाण्यशङ्कास्कन्दितत्वेनाबाधकत्वात्। बाधोद्धारे च विस्तरेणैतद्वक्ष्यामः। नच—अन्यासमवेतस्यांशित्वमेतत्तन्तु-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भाव वहाँ क्यों न सिद्ध होगा ? अर्थात् वह पट-विशेष भी पक्ष के समान ही है, वहाँ व्यभिचार का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता। 'जैसे कपि-संयोग के अधिकरणभूत वृक्ष में उसका अभाव भी रहता है—इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वह मिथ्या है, अपि तु न्याय की भाषा में उसे अव्याप्य वृत्ति कहा जाता है। वैसे ही पट के आधारभूत तन्तुओं में यदि पट का अभाव जैसे-तैसे सिद्ध कर दिया जाता है, तब भी उस पट में अव्याप्यवृत्तिता ही सिद्ध होगी, मिथ्यात्व नहीं'—यह आक्षेप भी संगत नहीं, क्योंकि पट और उस के अभाव को एक ही अधिकरण में मानने का अर्थ पट और पटाभाव के लोक-प्रसिद्ध विरोध को तिलाञ्जलि देना है। अतः यह मानना पड़ेगा कि कपि-संयोग का अधिकरण शाखा और उसके अभाव का अधिकरण मूल भाग है, दोनों भावाभाव एक अधिकरण में वर्तमान नहीं हो सकते। यदि उनकी एकाधिकरण-वृत्तिता मान भी ली जाय, तब भी मिथ्यात्व-घटक अत्यन्ताभाव का 'एतत्तन्तुत्वावच्छिन्नवृत्तित्व' विशेषण देकर अर्थान्तरता का परिहार किया जा सकता है। अर्थात् उन तन्तुओं के किसी एक भाग में प्रसञ्जित अत्यन्ताभाव को दूर करने के लिए कहा जाता है कि तन्तुओं के सम्पूर्ण कलेवर पर रहनेवाला अत्यन्ताभाव हमें अभिमत है, एकदेश में रहने वाला नहीं कि अव्याप्यवृत्तिता की ओर मुड़ जायँ। उक्त अत्यन्ताभाव का एतत्कालीनत्व भी विशेषण दे देना चाहिए, जिससे कि कालान्तरीय अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को लेकर अर्थान्तरता प्रसक्त न हो। 'पट का अपने उपादान कारणभूत तन्तुओं में रहना प्रत्यक्ष-सिद्ध है—"इह तन्तुषु पटः", अतः वहाँ पट के अत्यन्ताभाव का अनुमान इस प्रत्यक्ष से बाधित क्यों नहीं ?—'इस शङ्का के समाधान में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उक्त प्रत्यक्ष अप्रामाण्य की आशङ्का से ग्रस्त होने के कारण दुर्बल है, अतः मिथ्यात्वानुमान का बाधक नहीं हो सकता। जैसे चन्द्र-दर्शी साधारण मनुष्य को प्रत्यक्ष भ्रम होता है कि चन्द्रमा प्रादेशमात्र है। अंगूठा और तर्जनी को फैला देने पर जो दीर्घ परिमाण बनता है, उसे प्रदेश कहते हैं—"प्रदेशो देशमात्रे स्यात् तर्जन्यङ्गुष्ठसम्मिते" (मेदिनी)। उतने देश में चन्द्रमा का होना सम्भव नहीं, अतः चन्द्र-प्रादेश-प्रत्यक्षता के समान ही 'इह तन्तुषु पट':—यह प्रत्यक्ष भी भ्रमात्मक हो सकता है। इसकी विशेष चर्चा बाधोद्धार-प्रकरण में की जायगी।

यदि कहा जाय कि पक्षरूप पट में दोनों बातें प्रायः निर्विवाद-सिद्ध हैं कि वह अंशी है और अपने उपादान कारण से भिन्न तन्तुओं में समवेत नहीं। अंशी या

न्यायामृतम्

बाधितश्च। अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी न, एतत्तन्त्वारब्धत्वाद्व्यतिरेकेण पटान्तरवदिति सत्प्रतिपक्षश्च । न चाप्रसिद्धविशेषणता, एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्वात्, प्रागभावप्रतियोगित्ववदिति सामान्यतस्तत्सिद्धेः।

अद्वैतसिद्धिः

समवेतत्वं विना न युक्तमिति विरुद्धो हेतुरिति—वाच्यम्, एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽप्येतत्तन्तुसमवेतस्य सत्त्वेनांशित्वस्य साध्येनाविरोधात्। एतन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं हि एतत्समवेतत्वे प्रयोजकं न भवति, परमते केवलान्वयिधर्ममात्रस्य एतत्समवेतत्वापत्तेः, किन्त्वेतन्निष्ठप्रागभावप्रतियोगित्वादिकम्, तच्चैतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि न विरुद्धमित्युपपादितमधस्तात्। एतत्समवेतत्वं चैतदुपादानकत्वम्, न तु नित्यसंबन्धशालित्वम्, तस्यानभ्युमगमात्। ननु—अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी न, एतत्तन्त्वारब्धत्वाद्, व्यतिरेकेण पटान्तरवदिति प्रतिरोधः, न चाप्रसिद्धविशेषणत्वम्, एतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्वात्, प्रागभावप्रतियोगित्ववदिति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अवयवी का अर्थ होता है - अवयवों में समवेत। यदि वह अन्य तन्तुओं में समवेत नहीं, तब अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि वह अपने उपादान कारण तन्तुओं में समवेत है, अन्यथा उसमें अंशित्व नहीं बनता। इस प्रकार जिस अंशित्व हेतु के द्वारा जहाँ पट का अत्यन्ताभाव सिद्ध करना चाहते थे, वहाँ उसी हेतु से पट का भाव सिद्ध हो जाता है, ऐसे हेतु को विरुद्ध हेतु कहा जाता है। तो वैसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि प्रकृत पट में एतत्तन्तु-निष्ठ अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व और एतत्तन्तु-समवेतत्व—दोनों हैं, अतः प्रकृत साध्य का कोई विरोध अंशित्व हेतु के साथ नहीं, अतः वह विरुद्ध क्यों होगा? अंशित्व में जब तक एतत्तन्तु-निष्ठात्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व न हो, तब तक एतत्तन्तु-समवेतत्व नहीं रह सकता—यह नहीं कह सकते, क्योंकि एतत्तन्तु-समवेतत्व के लिए एतत्तन्तुनिष्ठ-अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व होना आवश्यक नहीं, अपि तु एतत्तन्तु-निष्ठ प्रागभाव का प्रतियोगित्व। उस का अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व से कोई विरोध नहीं, अतः एतत्तन्तु-समवेतत्व क्यों न रहेगा? यह पहले चतुर्थ मिथ्यात्व-निरूपण के अवसर पर कह आए हैं। एतत्समवेतत्व का अर्थ होता है—एतदुपादेयत्व, न कि समवाय रूप नित्य सम्बन्धशालित्व, क्योंकि समवाय नाम का नित्य सम्बन्ध अद्वैत वेदान्त में स्वीकृत नहीं है।

द्वैतवादी—उक्त मिथ्यात्वानुमान के प्रतिरोध में सत्प्रतिपक्ष-प्रयोग किया जा सकता है—यह पट एतत्तन्तुगत अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं हो सकता, क्योंकि इन्हीं तन्तुओं से आरब्ध है, जो एतत्तन्तुगत अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी नहीं, अपि तु प्रतियोगी ही होता है, वह इन तन्तुओं से आरब्ध नहीं होता, जैसे दूसरा पट।'

यदि कहा जाय कि इस प्रतिरोधी अनुमान में 'अप्रसिद्धविशेषणता' दोष है, क्योंकि केवल पक्षभूत पट ही इन तन्तुओं में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी है, अतः पक्ष से भिन्न कहीं पर यह साध्य प्रसिद्ध ही नहीं है। तो वह कहना संगत नहीं, क्योंकि (चित्सु, पृ० २१ पर प्रदर्शित अवेद्यत्व के समान) सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा

न्यायामृतम्

एतत्तन्त्वनारब्धत्वं चोपाधिः। न चैतत्तन्त्वारब्धसंयोगे साध्याव्यापकत्वम्, आवयोस्संयोगः स्वात्यन्ताभावासमानाधिकरण इति संमतेः। द्रव्यत्वावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वोपपत्तेश्च उपाधिरेव प्रयोजकः। साध्यवति ब्रह्मणि उपाधिवद्धेतोरभावात्। अनुकूलतर्काभावे च व्यतिरेकहीनस्याप्युपाधित्वाच्च। न ह्यंशित्वं साध्यं विना न युक्तम्। उक्तहेतुनैवैतत्पटार्थक्रियाकारित्वाद्यभावस्यापि सुसाधत्वादाभाससाम्यं च।

अद्वैतसिद्धिः

सामान्यतस्तत्प्रसिद्धेः। नच—आकाशात्यन्ताभावस्य घटादौ संसर्गाभावप्रतियोगित्वव्याप्यत्वग्रहात् तस्य च केवलान्वयित्वेन किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावात् तत्र व्यभिचार इति—वाच्यम्, संसर्गाभावप्रतियोगित्वानधिकरणे केवलान्वयिनि धर्मे सत्त्वेनाकाशात्यन्ताभावस्य संसर्गाभावप्रतियोगित्वाव्याप्यत्वेन व्यभिचाराभावाद्—इति चेन्न, यत्रैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्, तत्रैतत्तन्त्वारब्धत्वाभाव इति व्यतिरेकव्याप्तावेतन्निष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वस्योपाधित्वेन प्रतिरोधस्य हीनबलत्वाद्, एतत्तन्त्वारब्धत्वाभावव्यापकस्यैतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वस्य पक्षात्र्वृत्तेः पक्षवृत्तितया संदिह्यमानैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाव्यापकत्वात्, दृश्यत्वाद्यनुपपत्तिप्रतिकूलतर्कपराहतेर्वक्ष्यमाणत्वाच्च। अत एव एतत्तन्त्वनारब्धत्वमपि नोपाधिः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उक्त साध्य प्रसिद्ध किया जा सकता है—इन तन्तुओं में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व, किसी-न-किसी धर्मी में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है, क्योंकि संसर्गाभाव के प्रतियोगित्व का व्याप्य है, जैसे—प्रागभाव-प्रतियोगित्व।

यदि कहें कि इस सामान्यतोदृष्ट अनुमान का हेतु आकाशात्यन्ताभाव में व्यभिचारी है, क्योंकि आकाशात्यन्ताभाव में संसर्गाभाव-प्रतियोगित्व की व्याप्यता गृहीत होती है, किन्तु उसमें किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभाव की प्रतियोगिता नहीं, क्योंकि आकाशात्यन्ताभाव केवलान्वयी होता है, उसका अभाव कहीं भी नहीं रखा जा सकता। तो वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि प्रमेयत्वादि केवलान्वयी धर्मों में आकाशात्यन्ताभाव है, किन्तु संसर्गाभाव-प्रतियोगित्व वहाँ नहीं, अतः आकाशात्यन्ताभाव में संसर्गाभाव-प्रतियोगित्व की व्याप्यता ही गृहीत नहीं हो सकती। फलतः उक्त प्रतिरोधी अनुमान के जीते-जी अद्वैति-सम्मत मिथ्यात्वानुमान प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं कर सकता।

अद्वैतवादी—कथित प्रतिरोधी अनुमान निर्बल होने के कारण मिथ्यात्वानुमान का प्रतिरोध नहीं कर सकता। उसकी निर्बलता का कारण उसकी सोपाधिकता है। अर्थात् उक्त अनुमान में विवक्षित व्यतिरेक व्याप्ति है—यत्र एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्, तत्र एतत्तन्त्वारब्धत्वाभावः। इसमें एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्व उपाधि है, क्योंकि [उपाधि का जो लक्षण किया जाता है—'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः।' वह केवल अन्वय व्याप्ति की उपाधि में ही घटता है, व्यतिरेक व्याप्तिस्थलीय उपाधि में नहीं, अत एव श्री चित्सुखाचार्य ने कहा है—"केवलव्यतिरेकिणि चोपाधेरसम्भवात्" (चित्सु० पृ० २६)। यहाँ सर्व-साधारण उपाधि का लक्षण अभिमत है—'व्यापकव्यापकत्वे सति व्याप्याव्यापकः।' उक्त व्याप्ति में व्यापक है—'एतत्तन्त्वारब्धत्वाभाव' और व्याप्य है—'एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व] प्रकृत में 'एतन्निष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्व' रूप उपाधि उक्त व्याप्ति-घटक 'एतत्तन्त्वारब्धत्वा-

न्यायामृतम्

यत्तु विमतं ज्ञानव्यतिरेकेणासत् , ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वादिति विद्यासागरीयं बौद्धोक्तसहोपलम्भयुक्त्युद्गिरणम् , तत्र ज्ञानाद्भेदेनानुपलभ्यमानत्वं वा हेतुः?

अद्वैतसिद्धिः

उपाधिव्यतिरेकेण साध्यव्यतिरेके साध्यमाने सोपाधिकत्वस्योक्तत्वाद् , अव्याप्यवृत्तिसंयोगाभ्युपगमे तत्र व्यभिचाराच्च । अत एव यत्रैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् , तत्रैतत्तन्त्वनारब्धत्वमिति न साध्यव्यापकताग्रहोऽपि तत्रैव व्यभिचारादिति सर्वमनवद्यम् ॥

एवं च—'विमतं ज्ञानव्यतिरेकेणासत् , ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वात् , स्वप्नादिवदि'ति—विद्यासागरोक्तमपि साधु । ज्ञानव्यतिरेकेणासत्त्वमुक्तमिथ्यात्वान्यतमत्वं साध्यम् । ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वं चिदाभासे सत्त्येवोपलभ्यमानत्वं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भाव का पटान्तरमें व्यापक है और 'एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व' का अव्यापक है, क्योंकि पक्षरूप पट में 'एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व निश्चित नहीं, सन्दिग्ध तो है; किन्तु एतत्तन्तुनिष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्व' निश्चितरूप से नहीं रहता । 'जगत्' यदि मिथ्या न स्यात्, तर्हि दृश्यं न स्यात्'—इस प्रकार के दृश्यत्व की अन्यथानुपपत्तिरूप विपरीत तर्क के द्वारा उक्त पटादि का सत्यत्व-साधक प्रतिरोधी अनुमान पराहत (बाधित) भी है—यह आगे कहा जायगा ।

उक्त प्रतिपक्षानुमान के दूषित हो जाने से चित्सुखाचार्य-प्रदर्शित अनुमान में 'एतत्तन्त्वानरब्धत्व' भी उपाधि नहीं लगा सकते, क्योंकि इस उपाधि के अभाव को हेतु बनाकर 'एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप साध्य का अभाव सिद्ध करना होगा—'अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी न, एतत्तन्त्वारब्धत्वात्' । इस प्रकार वही प्रतिरोधी अनुमान फलित होता है, जिसकी व्यतिरेक व्याप्ति को एतन्निष्ठप्रागभावाप्रतियोगित्वरूप उपाधि के द्वारा दूषित किया जा चुका है ।

अव्याप्यवृत्ति संयोग को यदि मान लिया जाय, तब उक्त प्रतिरोधी अनुमान (अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी न, एतत्तन्त्वारब्धत्वात्) का हेतु एतत्तन्तु से आरब्ध एतत्तन्तुगत संयोग में व्यभिचारी भी है, क्योंकि अव्याप्यवृत्ति होने के कारण उक्त संयोग का अपने आधारभूत तन्तु में अभाव भी रहता है, अतः उस संयोग में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्वरूप साध्य नहीं, किन्तु एतत्तन्त्वारब्धत्वरूप हेतु विद्यमान है । अत एव प्रदर्शित एतत्तन्त्वनारब्धत्वरूप उपाधि में चित्सुखीयानुमान के एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप साध्य की व्यापकता भी सम्भव नहीं, क्योंकि एतत्तन्त्वारब्ध अव्याप्यवृत्ति संयोग में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व है, किन्तु एतत्तन्त्वनारब्धत्व नहीं, अतः उसे उपाधि नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि चित्सुखीय मिथ्यात्वानुमान सर्वथा अनवद्य (निर्दोष) है ।

"विमतं ज्ञानव्यातिरेकेणासत्, ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वात्, स्वप्नादिवत्"—यह विद्यासागरीय प्रयोग भी प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधन में समर्थ है । 'ज्ञानव्यतिरेकेणासत्' का अर्थ है—कथित पञ्चविध मिथ्यात्व-लक्षणों में से किसी भी एक लक्षण-द्वारा लक्षित अर्थ । वही इस अनुमान का साध्य है । 'ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्व' का अर्थ है—

न्यायामृतम्

ज्ञानविरहप्रयुक्तोपलब्धिविरहवत्त्वं वा ? आद्येऽसिद्धिः । घटस्य ज्ञानमिति हि धीः, न तु घटो ज्ञानमिति । नान्त्यः, ज्ञानस्योपलब्धित्वेन तद्विरहस्य तद्विरहाप्रयुक्तत्वात् । उपलब्धिसामग्रीविरहप्रयुक्तत्वाच्च ।

यत्तु विमतं मिथ्या, धीकाल एवान्यथाप्रमितत्वाच्चित्रनिम्नोन्नतादिवत् । भारूपवस्तुसंलग्नत्वात्सवितृच्छिद्रवत् । न चासिद्धिः, इदानीमेव "इदं सर्वं यदयमात्मे" तिश्रुत्या अशेषानात्मनः आत्मत्वप्रमितेः । घटादिकं स्फुरतीति भारूपवस्तुसंलग्नत्वाच्चेति कौमुद्युक्तम्, तत्राद्येऽन्यथेत्यस्य यद्यात्मत्वेनेत्यर्थः । तदा सदात्मत्वेन प्रमितत्वस्यामिथ्यात्वव्याप्तत्वाद् विरुद्धो हेतुः । यदि प्रतिपन्नोपाधिस्थनिषेधप्रतियोगित्वेनेति, तर्ह्यसिद्धिः, व्यर्थविशेषणता च । द्वितीयस्तु सवित्रादावात्मनि चानैकान्तिकः । तस्यापि सविता प्रकाशते आत्मा स्फुरतीति भारूपसंलग्नत्वादिति दिक् । एतेन नवीनानामनुमानानि निरस्तानि । आद्ये सिद्धसाध(नादि)नदोषात् । द्वितीये अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणशब्देनावयवावृत्तित्वोक्तावयव्यादेरपक्षत्वापातात् । स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वोक्तौ च तद्प्रतियोगिनि तत्प्रतियोगित्वस्य बाधितत्वात् । अनात्मत्वस्य निरस्तत्वाच्च । तृतीये स्वरूपेणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे साध्ये अत्यन्तासत्त्वापातात् । धर्मावच्छेदेन तत्प्रतियोगित्वे साध्ये अर्थान्तरत्वात् । नित्यद्रव्याणामपि काले सत्त्वेन दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्याच्च । चतुर्थे न व्यावहारिकप्रतियोगिक इत्यपि सुसाधत्वेनाभाससाम्यात् । वक्ष्यमाणदूषणगणग्रासाच्च । इत्यंशित्वादिहेतुभंगः ।

अद्वैतसिद्धिः

हेतुरिति न किंचिदनुपपन्नम् । एवमन्येषामपि प्रयोगा यथायोगमुपपादनीया इति शिवम् ॥ इत्यंशित्वहेतूपपत्तिः ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

चिदाभास के रहने पर ही उपलभ्यमानत्व । यह उक्त अनुमान का हेतु है । अतः किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं । इसी प्रकार कौमुदीकारादि अन्य आचार्यों के प्रयोग भी समर्थनीय हैं ।

—o—

: १४ :

दृश्यत्वादेः सोपाधिकत्वविचारः

न्यायामृतम्

सोपाधिकाश्च दृश्यत्वादयः। स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वस्य तद्-बाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वस्य वा पक्षाद्व्यावृत्तस्य समव्याप्तिमतो

अद्वैतसिद्धिः

ननु—दृश्यत्वादिहेतवः सोपाधिकाः तथाहि—स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्त-भानत्वं स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति निषेध्यत्वेन विषयत्वं वा विपक्षाद् व्यावृत्तं सम-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—दृश्यत्वादि हेतु सोपाधिक हैं, अतः वे प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधन में सक्षम नहीं हो सकते। उनमें दो उपाधियाँ स्पष्ट प्रतीत हो रही हैं। पहली उपाधि है—शुक्ति-रजतादि में स्वबाधकाभिमत ज्ञान-द्वारा अबाधित दोष-प्रयुक्त भानत्व' [शुक्ति-रजत को माध्वगण अलीक मानते हैं, अतः उसका वास्तविक बाधक सम्भव नहीं, हाँ, नेदं रजतम्' या 'इयं शुक्तिः'—इस प्रकार के ज्ञान को बाधकत्वेनाभिमत कह सकते हैं। उस बाधक ज्ञान के द्वारा अबाधित चाकचिक्यादि दोष हैं, जिनके कारण शुक्ति-रजत का भान होता है—यही उक्त उपाधि में साध्य की व्यापकता है, किन्तु पक्षभूत प्रपञ्च का बाधकत्वेनाभिमत ब्रह्म-ज्ञान है, उसके द्वारा वह अविद्या दोष भी बाधित हो जाता है, जिसके द्वारा प्रपञ्च का भान होता है,—यही उपाधि में साधन की अव्यापकता है]। दूसरी उपाधि है—स्व-बाधक ज्ञान के द्वारा अबाधित बाधक की बाध्यता या निषेध्यता। [शुक्ति-रजत का अपना बाधक ज्ञान 'नेदं रजतम्' है, उससे अबाधित वही बाधक ज्ञान है, जिसकी निषेध्यता शुक्ति-रजत में होती है—यही उपाधि में साध्य की व्यापकता है, किन्तु पक्षभूत प्रपञ्च का बाधक अखण्डाकार चरम वृत्ति या 'नेह नानास्ति' यह ज्ञान है, उसके द्वारा उसका भी कतक-रेणु के समान बाध हो जाता है, अतः दृश्यत्वादि के आधारभूत प्रपञ्च में 'स्वबाधकाबाधितबाधकनिषेध्यत्व' न होने से उपाधि में साधनाव्यापकता है]।

उक्त दोनों धर्म विपक्ष से व्यावृत्त हैं, साध्य के समव्याप्त हैं और व्यतिरेक व्याप्ति-वाले हैं, अतः उन्हें उपाधि माना जा सकता है [शतदूषणीकार आचार्य वेङ्कटनाथ ने उपाधि का लक्षण किया है—"साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तः साधनधर्मातिरिक्तो धर्म उपाधिः" (न्या० परि० पृ० १०८)। केवल 'दोष-प्रयुक्त भानत्व' को दृश्यत्वादि की उपाधि न मान लिया जाय, अतः साधनाव्यापक कहा। 'दोष-प्रयुक्तभानत्व' धर्म दृश्यत्वादि साधनों का व्यापक है, अव्यापक नहीं। किन्तु 'स्वबाधकाभिमत ज्ञान से अबाधि दोष-प्रयुक्त भानत्व' साधनाव्यापक होने से उपाधि है। सभी अनुमानों में 'पक्ष-भिन्नत्व' धर्म साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक होने से उपाधि बन जाता है, अतः उसकी व्यावृत्ति के लिए साध्य को समव्याप्त कहा गया है। साध्य का समव्याप्त वही धर्म होगा, जो साध्य का व्यापक भी हो और व्याप्य भी। पक्ष-भिन्नत्व प्रकृत मिथ्यात्वरूप साध्य का व्यापक तो है, किन्तु व्याप्य नहीं, क्योंकि 'यत्र यत्र पक्षभिन्नत्वम्, तत्र तत्र मिथ्यात्वम्'—ऐसा नियम शश-शृङ्गादि तुच्छ तथा ब्रह्म में व्यभिचरित हो जाता है, उनमें पक्ष-भिन्नत्व रहने पर भी अनिर्वचनीयत्वरूप मिथ्यात्व नहीं रहता।

न्यायामृतम्

व्यतिरेकव्याप्तिमतश्चोपाधित्वात् । न च पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वापर्वतीयवह्निसामग्री-युक्तत्वादेरिव पक्षमात्रव्यावर्तकविशेषणत्वात्पक्षेतरत्वम् । वह्निना धूमे साध्ये आर्द्रेन्धन-प्रभववह्निमत्त्वादेरिव वक्ष्यमाणानुकूलतर्कैस्साध्यव्यापकत्वनिश्चयात् । बाधिते पक्षे-

अद्वैतसिद्धिः

व्याप्तम्, अत एव व्यतिरेकव्याप्तिमदुपाधिः—इति चेन्न, ब्रह्मज्ञानमात्रबाध्ये देहात्मैक्ये मिथ्याभूते साध्याव्यापकत्वात्, पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादिवत् साधनवत्पक्षमात्रव्याव-र्तकविशेषणवत्त्वेन पक्षेतरत्वतुल्यत्वाच्च । न च बाधोन्नीतत्वात् सोऽप्युपाधिः. बाध-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यहाँ भी न्यायामृत तथा अद्वैतसिद्धि—दोनों में उपाधि का साध्य से समव्याप्त होना आवश्यक माना है। न्यायामृतकार ने 'पक्षाद् व्यावृत्तस्य' कह कर साधनाव्यापकत्व सूचित किया है। अद्वैतसिद्धिकार ने 'विपक्षाद् व्यावृत्तम्' विशेषण के द्वारा साध्यकी समव्याप्तता ध्वनित की है (उपाधि में साध्य की व्यतिरेक व्याप्ति का होना दोनों ग्रन्थकारों ने अनिवार्य माना है। उसका कारण यह है कि उपाधि के अभाव को हेतु बना कर साध्याभाव की सिद्धि की जाती है, वह तभी सम्भव होगा, जब कि उपाधि के अभाव में साध्याभाव की व्याप्ति हो, अत एव कहा गया है—"साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्ययः"] ।

अद्वैतवादी—मिथ्यात्व-साधक हेतु में उक्त दोनों धर्मों को उपाधि नहीं कह सकते, क्योंकि शरीर और आत्मा के ऐक्याध्यास में मिथ्यात्वरूप साध्य सर्व-सम्मत है, किन्तु वे दोनों धर्म नहीं रहते, अतः साध्य के व्यापक नहीं हैं, शरीर और आत्मा की एकता जिस अविद्या की देन है, उसका बाध उसी ब्रह्म-ज्ञान से होता है, जो कि शरीरात्मैकता का बाधक है, अतः देहात्मैक्य में न तो 'स्वबाधकाभिमताबाध्यदोष प्रयुक्तभानत्व' ही रहता है और न 'स्वबाधकाबाध्यबाधकबाध्यत्व', क्योंकि देहा त्मैकता की बाधक अखण्डाकार चरम वृत्ति स्वयं अपना भी बाध कर लेती है, अतः द्वितीय उपाधि भी साध्य की व्यापक नहीं। केवल इतना ही दोष इनमें नहीं, पक्षेत-रत्व की समानता भी है, क्योंकि पक्षरूप प्रपञ्च स्वबाधक ज्ञान-द्वारा बाधित अविद्या दोष से भासित होता है, उसे हटाने के लिए स्वबाधकाबाध्यदोष कह दिया गया है, जिस से कि पक्ष का ग्रहण न किया जा सके। अतः उक्त धर्म पक्ष-व्यावर्तक विशेषण से युक्त होने के कारण वैसे ही पक्षेतरत्व के समान है, जैसे कि 'पर्वतावयववृत्त्यन्यत्व।' [अर्थात् 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्'—यहाँ पर यद्यपि पर्वतावयवसमवेतान्यत्व महा-नसादि में रहने से साध्य का व्यापक और पर्वत में न रहने के कारण साधन का अव्यापक है, तथापि उसे धूम हेतु की उपाधि नहीं कह सकते, क्योंकि पर्वत के अवयवों में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान पर्वत ही है, तदन्यत्व और पर्वत-भिन्नत्व—दोनों समान धर्म ही हैं, पर्वत-भिन्नत्व को जैसे उपाधि नहीं माना जाता, वैसे ही पर्वतावयव-वृत्त्यन्यत्व को भी; नहीं तो 'पक्ष-भिन्नत्व' उपाधि से अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायगा। श्री गंगेश उपाध्याय ने भी कहा है—"पर्वतावयववृत्त्यन्यत्वादेरपि नोपाधि-त्वम्, पक्षमात्रव्यावर्त्तकविशेषणवत्त्वात्" (त० चि० पृ० १००९)] ।

उस 'पक्षेतरत्व' धर्म को भी उपाधि मान लिया जाता है, जो बाधोन्नीत हो, जैसे—'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात्'—यहाँ पर 'वह्निभिन्नत्व' को उपाधि माना जाता है,

न्यायामृतम्

तरत्वस्याप्युपाधित्वाच । इह च वक्ष्यमाणप्रत्यक्षादिबाधात् । यद्वा यथानुकूलतर्काभावान्मित्रातनयत्वेन श्यामत्वे साध्ये शाकपाकजत्वम्, तस्मिन्साध्ये श्यामत्वमुपाधिः, तथेहापि बाध्यत्वादिरूपे मिथ्यात्वे साध्ये विपरीतप्रमाविषयत्वदोषप्रयुक्तभानत्वादिकम्, तस्मिन्साध्ये मिथ्यात्वमुपाधिरस्तु । युगपदुभयसाधने त्वर्थान्तरम् । मिथ्यात्व एव विप्रतिपत्तेः । बाधो भ्रान्तिपूर्वकः विपरीतप्रमा तु नेति तयोर्भेदः ।

अद्वैतसिद्धिः

स्याग्रे निरसिष्यमाणत्वाद् । अपि च यद्व्यतिरेकस्य साध्यव्यतिरेकसाधकत्वं तस्यैव साध्यव्यापकत्वम्, इतरांशे अनुकूलतर्काप्रसरात् । तथा च 'क्षित्यादिकं, न कर्तृजन्यम्, शरीराजन्यत्वा' दित्यत्र यथा शरीरविशेषणवैयर्थ्यान्न शरीरजन्यत्वं कर्तृजन्यत्वव्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि 'वह्निरुष्णः'—इस प्रकार के बाध से वह उपोद्बलित है । [आशय यह कि 'पक्षेतरत्व' को उपाधि क्यों नहीं माना जाता ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री गङ्गेश उपाध्याय ने कहा है—"पक्षेतरत्वे अनुकूलतर्काभावेन व्यापकत्वानिश्चयात्" अर्थात् पक्ष में साध्य का सन्देह होता है, वहाँ साध्य रह भी सकता है और नहीं भी । यदि साध्य का वहाँ रहना मान लिया जाय, तब पक्षेतरत्व रूप उपाधि साध्य की व्यापक कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि उपाधि का पक्ष में न रहना निश्चित होता है—"पक्षवृत्तिश्चोपाधिर्न स्यात्" (त. चि. पृ. १०६०) । फिर उसमें उपाधि का लक्षण नहीं घटता । यदि किसी बाध के द्वारा पक्ष में साध्य का न रहना निश्चित हो जाय, तब पक्ष से बाहर साध्य का जहाँ-जहाँ निश्चय होता है, वहाँ-वहाँ पक्षेतरत्व भी है, अतः उसमें साध्य की व्यापकता निश्चित हो जाती है । इसे ही बाधोन्नीतोपाधिता कहा करते हैं] । बाधोन्नीत पक्षेतरत्व को अन्यत्र उपाधि माना जा सकता है, किन्तु प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में उसे उपाधि नहीं मान सकते, क्योंकि मिथ्यात्व के बाधक प्रमाणों का निरास बाधोद्धार-प्रकरण में आगे किया जायगा; अतः बाध के न रहने पर पक्ष में साध्य सम्भावित हो जाता है और पक्षेतरत्व सम्भावित भी नहीं, फिर साध्य का व्यापक न होने के कारण पक्षेतरत्व को उपाधि नहीं माना जा सकता ।

दूसरी बात यह भी है कि पक्षेतरत्व में साध्य-व्यापकता कथमपि सम्भव नहीं, क्योंकि मणिकार ने कहा है—"यद्व्यावृत्त्या साध्यं निवर्तते, स उपाधिः" (त० चि० पृ० १०३१) । अर्थात् जिस धर्म का अभाव साध्याभाव का साधक या व्याप्य हो, उस धर्म को ही साध्य-व्यापक या उपाधि कहा जाता है । जिस धर्म का अभाव साध्याभाव का व्याप्य नहीं होता, उसे उपाधि मानने में अनुकूल तर्क का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता । जैसे—'क्षित्यादिकं कर्तृजन्यम्, कार्यत्वात्'—यहाँ पर शरीरजन्यत्व को कर्तृजन्यत्व का व्यापक या उपाधि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शरीर-जन्यत्व का अभाव कर्तृजन्यत्वाभाव का व्याप्य नहीं हो सकता । इस का कारण यह है कि जैसे नीलरूप व्यर्थ विशेषण से घटित होने के कारण नील धूम को वह्नि का व्याप्य नहीं माना जाता, वैसे ही शरीर रूप व्यर्थ विशेषण से घटित होने के कारण शरीर जन्यत्वाभाव को कर्तृजन्यत्वाभाव का व्याप्य नहीं कहा जा सकता । आशय यह है कि जब केवल जन्यत्वाभाव कर्तृजन्यत्वाभाव को सिद्ध कर सकता है, तब शरीर-जन्यत्वाभाव

न्यायामृतम्

यद्वा अधिष्ठानाभिमतसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वमुपाधिः। ब्रह्मणोऽपि बौद्धकल्पितदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वात्। समव्याप्त्यर्थमधिष्ठानसमसत्ताकेति विशे-

अद्वैतसिद्धिः

पकम्, एवं 'वियदादिकं, न मिथ्या, स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वरहितत्वा'-दिति साध्यव्यतिरेकसाधने स्वबाधकाभिमताबाध्यभागस्य वैयर्थ्यात् स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वं न मिथ्यात्वव्यापकम्। दोषप्रयुक्तभानत्वं तु भवति साध्यव्यापकम्, तच्च साधनव्यापकमपीति नोपाधिः। दृश्यत्वादिनैव मिथ्यात्ववत्तस्यापि साधनात्। एवं द्वितीयोपाधावपि 'स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रती'ति विशेषणं व्यतिरेकसाधने व्यर्थम्। विशेष्यभागस्तु साध्यसाधनयोर्व्यापक इति नोपाधिः। अत एवाधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वमुपाधिः। अत्र च ब्रह्मणोऽपि बौद्धकल्पितदोषवद्धेतुजन्यक्षणिकत्वादिज्ञानविषयत्वात् समव्याप्तिसिद्ध्यर्थमधिष्ठान-

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

को व्याप्य या साधक क्यों माना जाय ? इसी प्रकार 'वियदादिकं न मिथ्या, स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्वरहितत्वात्'—इस प्रकार उपाध्यभाव के द्वारा साध्याभाव की सिद्धि करने में स्वबाधकाभिमताबाध्य—यह भाग व्यर्थ है, अतः स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषप्रयुक्तभानत्व धर्म मिथ्यात्व का व्यापक नहीं कहला सकता। केवल दोष-प्रयुक्तभानत्व तो मिथ्यात्व का व्यापक है, किन्तु वह साधन (दृश्यत्व) का भी व्यापक है, क्योंकि जैसे मिथ्यात्व की अनौपाधिक व्याप्ति दृश्यत्व में है, उसी प्रकार दोष-प्रयुक्त भानत्व की भी व्याप्ति दृश्यत्व में है; दृश्यत्व के द्वारा मिथ्यात्व के समान ही दोष-प्रयुक्तभानत्व की भी सिद्धि की जा सकती है।

इसी प्रकार द्वितीय उपाधि के अभाव को हेतु बनाकर साध्याभाव की सिद्धि करने पर 'स्वबाधकाबाध्यबाधकं प्रति'—इतना विशेषण व्यर्थ है। केवल निषेध्यत्वेन विषयत्व या निषेध्यत्व—इतना विशेष्य भाग उपाधि बन नहीं सकता, क्योंकि वह साधन (दृश्यत्व) का व्यापक ही है, अव्यापक नहीं।

न्यायामृतकार ने जो तीसरी उपाधि दी है—'अधिष्ठानत्वाभिमतसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषयत्वम्'। शुक्ति-रजतादि के अध्यास में अधिष्ठानत्वेन सम्मत शुक्ति है, उसके समान सत्तावाला दोष है—चाकचिक्यादि, उस दोष से युक्त विषयेन्द्रियादि-घटित सामग्री से जनित 'इदं रजतम्' ज्ञान की विषयता शुक्ति-रजत में है, अतः उक्त उपाधि साध्य की व्यापक है। प्रपञ्चाध्यास का अधिष्ठान ब्रह्म है, उसके समान सत्तावाला कोई ऐसा पारमार्थिक दोष प्रसिद्ध नहीं, जिससे युक्त सामग्री के द्वारा प्रपञ्च का ज्ञान उत्पादित हो, अतः उक्त उपाधि साधन की अव्यापक है। इस उपाधि में अधिष्ठान समसत्ताकत्व—यह दोष का विशेषण पक्षेतरत्व के समान पक्षमात्र का व्यावर्तक नहीं है, अपि तु उपाधि में साध्य की समव्याप्ति का लाभ करने के लिए है, अन्यथा बौद्धों का कहना है—'यत् सत्, तत् क्षणिकम्' (ज्ञान श्री० पृ० १)। वेद ब्रह्म को सत् कहता है—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छां. ६।२।१), "सदेव पुरस्तात् सिद्धं हि ब्रह्म" (नृसिंहो० ९।६)। अतः श्रुतिगत 'सत्', शब्द में क्षणिक वस्तु-बोधकत्व की कल्पना कर लेने पर उस से 'क्षणिकं ब्रह्म'—इस प्रकार का बोध होता है, उसकी विषयता ब्रह्म में भी है, किन्तु वहाँ मिथ्यात्वरूप साध्य नहीं रहता। किन्तु क्षणिकार्थ-

न्यायामृतम्

णम् , न तु पक्षव्यावृत्त्यर्थम्, येन पक्षेतरत्वं स्यात् । यद्वा वेदतात्पर्यविषयाद्धर्माधर्मादिरूपात्साक्षिवेद्यात्सुखदुःखादिरूपाद्वा पक्षैकदेशाद्व्यावृत्तं श्रुतितात्पर्याविषयत्वम्, दोषजन्यधीविषयत्वं वा पक्षमात्राद्व्यावृत्तं प्रतिभासमात्रशरीरत्वं वोपाधि । न च

अद्वैतसिद्धिः

समसत्ताकेति विशेषणम् , नतु पक्षमात्रव्यावृत्त्यर्थम् , अतो न पक्षेतरतुल्यतेत्यपास्तम् , ब्रह्मणीव ब्रह्मणि कल्पिते क्षणिकत्वादावपि मिथ्याभूते धर्मे अधिष्ठानसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानाविषयत्वादुपाधेः साध्याव्याप्तेः, व्यतिरेकसाधने व्यर्थविशेषणत्वस्योक्तत्वाच्च । नापि श्रुतितात्पर्याविषयत्वमुपाधिः, श्रुतितात्पर्यविषयत्वस्य ब्रह्ममात्रनिष्ठतया तदभावस्य साधनव्यापकत्वात् । नापि प्रातिभासिकत्वमुपाधिः, तद्धि ब्रह्मज्ञानेत-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

बोधकत्व की कल्पना प्रातिभासिक है, वैदिक शब्द की समानसत्ताक नहीं, अधिष्ठान समानसत्ताक दोषवद्धेतुजन्यज्ञान की विषयता ब्रह्म में नहीं, अत; साध्य-व्यभिचार नहीं होता ।

वह तीसरी उपाधि भी निरस्त हो जाती है, क्योंकि ब्रह्म के समान ही ब्रह्म गत कल्पित क्षणिकत्वादि धर्म में मिथ्यात्व के होने पर भी अधिष्ठानसमसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञानविषत्व नहीं रहता, अत: साध्य का व्यापक न होने के कारण उसे उपाधि नहीं कह सकते । एवं (यत्र-यत्र अधिष्ठान-समानसत्ताकदोषवद्धेतुजन्यज्ञान-विषयत्वाभाव: तत्र-तत्र मिथ्यात्वाभाव—इस प्रकार) उपाध्यभाव के द्वारा साध्याभाव की सिद्धि करने में 'अधिष्ठानसमसत्ताक'—यह विशेषण व्यर्थ है । जिस विशेषण के विना भी साधन साध्य की सिद्धि कर सकता है, उसे व्यर्थ माना जाता है ।

न्यायामृतकार-प्रदर्शित चौथी उपाधि है—'श्रुतितात्पर्याविषयत्वम्' । शुक्तिरजतादि में वेद के तात्पर्य की अविषयता रहने से यह उपाधि साध्य की व्यापक है । वेदों का तात्पर्य धर्म और ब्रह्म—दोनों में माना जाता है, अत: धर्मरूप पक्ष के एक भाग में वेद-तात्पर्याविषयत्व न रहने से साधन का अव्यापक है । किन्तु यह चौथी उपाधि भी संगत नहीं, क्योंकि वेदों का परम तात्पर्य ब्रह्म-बोधन में ही है, धर्मादि में केवल अवान्तर तात्पर्य है, परम तात्पर्य नहीं, इस प्रकार धर्मादि में श्रुति-तात्पर्य की अविषयता रहने के कारण साधन (दृश्यत्व) की भी व्यापक ही है, अव्यापक नहीं, फलत: इसे भी उपाधि नहीं माना जा सकता ।

न्यायामृतोद्भावित पाँचवीं उपाधि है—'प्रातिभासिकत्वम्' । शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक पदार्थों में ही मिथ्यात्व का निश्चय है, अत: प्रातिभासिकत्व धर्म मिथ्यात्व का व्यापक है और प्रपञ्चरूप पक्ष में प्रातिभासिकत्व न रहने से साधन (दृश्यत्व) का अव्यापक है । किन्तु इस उपाधि का प्रदर्शन करते समय न्यामृतकार का ध्यान शायद देह और आत्मा के ऐक्याध्यास में नहीं गया । देहात्मैक्याध्यास प्रातिभासिक नहीं, व्यावहारिक माना जाता है, वहाँ मिथ्यात्व निश्चित है, प्रातिभासिकत्व नहीं, क्योंकि प्रातिभासिकत्व का अर्थ होता है—ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व । देहात्मैक्य-भ्रम केवल ब्रह्म-ज्ञान से ही बाधित होता है, तदितर से नहीं । अत: साध्य का व्यापक न होने से वह उपाधि क्योंकर होगा ? व्यतिरेक-साधन में 'ब्रह्मज्ञानेतर' विशेषण पूर्ववत् व्यर्थ भी है ।

छठी उपाधि दी गई—'प्रातिभासमात्र शरीरत्वम्' । प्रातिभासिकत्व के समान ही

न्यायामृतम्

तत्रापि जगत्प्रतिभासमात्रशरीरं प्रतिकर्मव्यवस्थाद्ययोगादिति दिक् । इति दृश्यत्वादे सोपाधिकत्वम् ।

अद्वैतसिद्धिः

रबाध्यत्वम्, तस्य च देहात्मैक्ये मिथ्याभूतेऽप्यसत्त्वेन साध्याव्याप्तेः, व्यतिरेके व्यर्थविशेषणत्वाच्च । नापि प्रतिभासमात्रशरीरत्वमुपाधिः; दृष्टिसृष्टिपक्षे साधनव्यापकत्वात्, परेषामसिद्धेश्चेति ॥

॥ इति दृश्यत्वादीनां सोपाधित्वभङ्गः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रतिभासमात्रशरीत्व में साध्य (मिथ्यात्व) की व्यापकता तथा साधन (दृश्यत्व) की अव्यापकता घट जाती है । किन्तु दृष्टि-सृष्टिवाद के अनुसार ब्रह्मेतर निखिल प्रपञ्च प्रातिभासिक ही माना जाता है, अतः प्रतिभासमात्रशरीरत्व में दृश्यत्वरूप साधन की भी व्यापकता है, अव्यापकता नहीं, अतः यह उपाधि नहीं हो सकता । दूसरी बात यह भी है कि प्रतिभासमात्रशरीरत्व कहीं भी पराभिमत नहीं । माध्वगण असत्-ख्यातिवादी हैं, शुक्ति-रजतादि को अलीक मानते हैं, वहाँ प्रतिभासमात्रशरीरत्व नहीं, किन्तु सदसद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व रहता है, अतः साध्य का व्यापक न होने के कारण प्रतिभासमात्रशरीरत्व को उपाधि कैसे कह सकेंगे ?

: १५ :

दृश्यत्वादेराभाससाम्यविचारः

न्यायामृतम्

विमतं प्रातिभासिकम्, दृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवत्। ब्रह्म मिथ्या, व्यवहारविषयत्वादसद्विलक्षणत्वाद्वा शुक्तिरूप्यवदित्याभाससाम्यं च। जगतोऽप्रातिभासिकत्वग्राहि प्रत्यक्षम्, ब्रह्मणस्सत्यत्वश्रुतिश्चानुमानविरोधादप्रमाणम्। विपक्षे च गौरवम्। व्यवहृतिव्यवहार्ययोः सम्बन्धान्तराभावात्, सर्वव्यवहार्यं व्यवहृतावध्यस्तमित्यादि च बाधकमिति सुवचत्वात्। इति दृश्यत्वादेराभाससाम्यविवरणम्।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—विमतं, प्रातिभासिकम्, दृश्यत्वात्, ब्रह्म, मिथ्या, व्यवहारविषयत्वाद् असद्विलक्षणत्वाद्वा शुक्तिरूप्यवदित्याद्याभाससाम्यम्—इति चेन्न; जगतो व्यावहारिकसत्त्वबाधे व्यवहारानुपपत्तिः, ब्रह्मणो मिथ्यात्वे शून्यवादापत्तिश्चेति प्रतिकूलतर्कपराघातेन तयोरसाधकत्वात्, प्रकृते च प्रतिकूलतर्कस्य निरसिष्यमाणत्वात्। किंच

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—'विमतं प्रातिभासिकम्, दृश्यत्वात्' एवं 'ब्रह्म मिथ्या, व्यवहारविषयत्वात्' असद्विलक्षणत्वाद्वा, शुक्तिरूप्यवत्—ये दोनों अनुमान जैसे अनुमानाभास हैं, उसी प्रकार 'प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्'—यह अनुमान भी अनुमानाभास है [अर्थात् मिथ्यात्वानुमान में विशेषतः दोषों का परिस्फुरण न होने पर भी अनुमानाभास की समानता के कारण कार्य-क्षमता नहीं है। व्यावहारिक प्रपञ्च में जैसे मिथ्यात्व विवादास्पद है, वैसे प्रातिभासिकत्व। दृश्यत्व हेतु जैसे मिथ्यात्व का व्याप्य है, वैसे ही प्रातिभासिकत्व का भी, अतः दृश्यत्व हेतु यदि प्रपञ्च में मिथ्यात्व का साधक है, तब प्रातिभासिकत्व का साधक क्यों नहीं होगा ? यदि वह प्रातिभासिकत्व को सिद्ध नहीं कर सकता, तब मिथ्यात्व को भी सिद्ध नहीं कर सकेगा। यदि दृष्टि-सृष्टिवाद की ओट लेकर दृश्यत्व के द्वारा प्रसाधित प्रातिभासिकत्व को पिष्ट-पेषण मात्र माना जाय, तब वही दृश्यत्व व्यवहार-विषयत्व या असद्विलक्षणत्व के रूप में ब्रह्मगत मिथ्यात्व की सिद्धि करने लगेगा। यदि अद्वैतवाद में ब्रह्म पारमार्थिक सत् है, उस में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, तब द्वैतवाद में विश्व पारमार्थिक सत् है, उस में मिथ्यात्व क्यों कर सिद्ध होगा ?]।

अद्वैतवादी—उक्त अनुमानभासों की समानता का प्रदर्शन सम्भव नहीं, क्योंकि उक्त अनुमानाभास प्रतिकूल तर्क से पराहत हैं, किन्तु प्रपञ्च-मिथ्यात्वानुमान नहीं। अर्थात् 'प्रपञ्चो यदि प्रातिभासिकः स्याद्, व्यवहारनिर्वाहको न स्यात्'—इस तर्क से प्रथम तथा 'ब्रह्म यदि मिथ्या स्यात्, सर्वं शून्यं स्यात्'—इस तर्क से द्वितीय अनुमान पराहत है। आशय यह है कि प्रपञ्च यदि प्रातिभासिक मान लिया जाता है, तब उसकी अज्ञात सत्ता सम्भव नहीं होगी, अज्ञात इन्द्रियों में अभिमत प्रमा-जनकता या प्रत्यक्ष प्रमाणता का निर्वाह न हो सकेगा। प्रमाण के अभाव में प्रमा और प्रमाता भी क्या करेंगे ? इस प्रकार प्रमाता, प्रमाण प्रमा और प्रमेय--समस्त चतुर्वर्ग ही उपप्लुत और व्याकुलित हो जाता है। किन्तु ऐसे उपप्लवकारी प्रतिकूल तर्कों का सद्भाव प्रकृत (प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधन) में सिद्ध नहीं होता। प्रदर्शित प्रतिकूल तर्कों का समूलोन्मूलन आगे किया जायगा, अतः कथित आभासों की समानता प्रकृतानुमान में नहीं है।

अद्वैतसिद्धिः

प्रातिभासिकत्वं ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वम् ? प्रतिभासमात्रशरीरत्वं वा ? आद्ये साध्ये देहात्मैक्ये व्यभिचारः, अप्रयोजकत्वं च। द्वितीये दृष्टिसृष्टिमतेन सिद्धसाधनम्। एवं ब्रह्मणि मिथ्यात्वे साध्ये सोपाधिके सिद्धसाधनम्, अनुपाधिके व्यवहार-विषयत्वरूपो हेतुरसिद्धः। वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वाभ्युपगमेऽप्यप्रयोजकः। एवम-सद्विलक्षणत्वमपि ब्रह्मण्यसिद्धमेव। क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वं ह्यसत्त्वम्, सद्विलक्षणत्वं च क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वरूपम्, तच्च शुद्धे ब्रह्मणि नास्त्येव। नच—बाध्यत्वमसत्त्वम्, तद्विलक्षणत्वं चाबाध्यत्वम्, तच्च ब्रह्मण्यस्त्येवेति—वाच्यम्, अबाध्यत्वेन बाध्यत्वलक्षणमिथ्यात्वसाधने विरोधात्, शुक्तिरूप्यदृष्टान्तस्य साधन-विकलत्वाच्च, शून्यवादस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वाच्च। तस्मान्न दृश्यत्वादीनामाभास-साम्यमिति सिद्धम्॥ इति आभाससाम्यभङ्गः॥

—o—

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि प्रपञ्च में सिषाधयिषित प्रातिभासिकत्व क्या है—(१) ब्रह्मज्ञानेतर-बाध्यत्व ? अथवा (२) प्रतिभासमात्रशरीरत्व ? प्रथम कल्प में 'विमतं ब्रह्म ज्ञानेतरबाध्यं दृश्यत्वात्'—ऐसा अनुमान पर्यवसित होता है, वह देहा-त्मैकता में व्यभिचरित है, क्योंकि वहाँ ब्रह्मज्ञानेतर-बाध्यत्व नहीं और दृश्यत्व रहता है। कोई ऐसा तर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता कि ब्रह्मज्ञानेतर-बाध्यत्व के न रहने पर दृश्यत्व न माना जा सके, अतः अनुकूलतर्काभाव-प्रयुक्त हेतु में अप्रयोजकता दोष भी है। द्वितीय कल्प में अनुमान का आकार होता है—'विमतं प्रतिभासमात्रशरीरं दृश्य-त्वात्'। यह तो सिद्ध-साधनना है, क्योंकि दृष्टि-सृष्टिवाद में प्रपञ्च को प्रातिभासिक ही माना जाता है। इसी प्रकार द्वितीय अनुमान के द्वारा सोपाधिक (विशिष्ट) ब्रह्म में मिथ्यात्व सिद्ध करना अभीष्ट है ? या शुद्ध ब्रह्म में ? सोपाधिक ब्रह्म में मिथ्यात्व माना ही जाता है और निरुपाधिक (शुद्ध) ब्रह्म में व्यवहार-विषयत्वरूप हेतु ही असिद्ध है। यद्यपि विवरणकार के मत में शुद्ध ब्रह्म भी वेदान्त-जन्य वृत्ति का विषय माना जाता है वृत्तिरूप ज्ञान भी एक व्यवहार ही है, अतः वेदान्त-जन्य वृत्ति रूप व्यवहारविषयत्व हेतु निरुपाधिक ब्रह्म में है। तथापि वह अप्रयोजक है, अर्थात् मिथ्यात्व के बिना भी ब्रह्म में उसकी अवस्थिति मानने पर कोई अनुपपत्ति नहीं होती।

इसी प्रकार 'ब्रह्म मिथ्या, असद्विलक्षणत्वात्'—इस अनुमान का असद्विलक्ष-णत्वरूप हेतु भी ब्रह्म में असिद्ध है, क्योंकि असत्त्व का अर्थ किया जा चुका है—क्वचित् सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वम्। उस से विलक्षणत्व या भिन्नत्व का अथ होता है—'क्वचिदपि सत्त्वेन प्रतीत्यहर्वत्वम्। वह तो शुद्ध ब्रह्म में नहीं है। यदि कहा जाय कि असत्त्व का अर्थ होता है—बाध्यत्व, अतः असद्विवलक्षणत्व का अर्थ होगा—अबाध्यत्व। अबाध्य-त्वरूप हेतु शुद्ध ब्रह्म में सिद्ध है। तो वह कहना उचित नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व का अथ होता है—बाध्यत्व। अतः अनुमान का 'ब्रह्म बाध्यम्, अबाध्यत्वात्'—ऐसा आकार निष्पन्न होता है, जो कि नितान्त असङ्गत और व्याहत है। शुक्ति-रजत रूप दृष्टान्त में अबाध्यत्वरूप साधन असिद्ध भी है। ब्रह्म यदि असद्विलक्षण नहीं, तब असत् या शून्य हो जायगा—ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि शून्यवाद का निराकरण आगे किया जायगा। अतः दृश्यत्वादि हेतुओं में आभास की समानता नहीं है—यह सिद्ध हो गया।

: १९ :

प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वविचारः

न्यायामृतम्

सन् घट इत्यादिप्रत्यक्षबाधिताश्च दृश्यत्वादयः। ननु किमिदं सत्त्वं यत्प्रत्यक्षसिद्धं परजातिर्वा ? असद्वैलक्षण्यं वा ? अर्थक्रियाकारित्वं वा ? प्रमाविषयत्वं वा ? तद्योग्यत्वं वा ? भ्रमाऽविषयत्वं वा ? स्वसमानाधिकरणस्वसमानकालीननिषेधाप्रतियोगित्वं वा ? अबाध्यत्वं वा ? नाद्यः, सिद्धसाधनात्। न चतुर्थः, असति प्रमाणाप्रवृत्त्या तद्विषयत्वात्प्राक् सत्त्वस्य वक्तव्यतया, तस्य सत्त्वादन्यत्वात्। असतोऽपि

अद्वैतसिद्धिः

ननु—'सन् घट' इत्याद्यध्यक्षबाधितविषया दृश्यत्वादय—इति चेन्न; चक्षुराद्यध्यक्षयोग्यमिथ्यात्वविरोधिसत्त्वानिरुक्तेः। तथा हि—न तावत् प्रमाविषयत्वं, तद्योग्यत्वं, भ्रमाविषयत्वं वा तादृक्सत्त्वम्; चक्षुराद्यगम्यभ्रमप्रमाघटितत्वेन चक्षुराद्ययोग्यत्वाद्, वक्ष्यमाणदूषणगणग्रासाच्च। तथा हि—नाद्यः, असति प्रमाणाप्रवृत्तेः प्रमाविषयत्वात्प्राक् सत्त्वस्य वक्तव्यत्वेन तस्य तदन्यत्वात्, सत्त्वनिरूपणं विना सदर्थविषयकत्वरूपप्रमा[illegible]निरूपणे चान्योन्याश्रयात्, मिथ्याभूतस्यापि शुक्तिरजतसंसर्गस्य व्यवसायद्वारा साक्षाच्च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—दृश्यत्वादि हेतुओं का साध्य प्रपञ्च-मिथ्यात्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। अर्थात् 'सन् घटः', 'सन् पटः'—इत्यादि प्रत्यक्ष से घटादि प्रपञ्च की सत्ता सिद्ध होती है, अतः प्रपञ्च में सत्त्वाभावरूप मिथ्यात्व दृश्यत्वादि हेतुओं से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अद्वैतवादी—'सन् घटः' आदि चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा गृह्यमाण सत्ता यदि मिथ्यात्व का विरोधी या बाधक हो, तभी मिथ्यात्वानुमान का प्रत्यक्ष से बाध होगा, किन्तु ऐसे सत्त्व का निर्वचन सम्भव नहीं, जो मिथ्यात्व का विरोधी हो और चक्षुरादि के द्वारा ग्रहण-योग्य हो। वैसा सत्त्व (१) प्रमा-विषयत्व या (२) प्रमा-विषयतायोग्यत्व, अथवा (३) भ्रमाविषयत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि सत्त्व के ये सभी प्रकार प्रमा और भ्रम से घटित हैं, प्रमा और भ्रम का ग्रहण बाह्य इन्द्रियों से नहीं हो सकता, अतः कथित सत्त्व के तीनों प्रकार चक्षुरादि से गृहीत नहीं हो सकते एवं इन में और भी बहुत से दोष हैं। जैसे कि प्रथम (प्रमाविषयत्वं सत्त्वम्) कल्प अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि प्रमाण की प्रवृत्ति के पश्चात् ही प्रमाविषयत्व का ज्ञान होगा, किन्तु प्रमाण की प्रवृत्ति वहीं होती है, जहाँ सत्त्व रहता हो, क्योंकि प्रमाण का स्वभाव होता है कि वह सत्त्व-रहित असत् में प्रवृत्त ही नहीं होता। वार्तिककार ने कहा है—

सतोऽभिव्यञ्जकं मानं स्वभावोऽयं मितेर्भवेत्।
नाभिव्यनक्ति सविता शशशृङ्गं स्फुरन्नपि॥ (बृह. वा. पृ. ११०८)

अतः प्रमा-विषयता की उपस्थिति से पहले ही सत्त्व का निर्वचन करना होगा, क्योंकि प्रमा-विषयता सत्त्व से भिन्न है। पहले से सत्त्व का निरूपण न कर प्रमाविषयत्व के द्वारा निरूपण करने पर अन्योऽन्याश्रयता दोष प्राप्त होता है—सत्त्व का निरूपण होने पर प्रमाविषयत्व और प्रमाविषयत्व का निरूपण होने पर सत्त्व का निरूपण होगा। दूसरी बात यह भी है कि असत् पदार्थ में भी परम्परा से प्रमा-विषयता

न्यायामृतम्

व्यवसायद्वारा साक्षाच्चासत्त्वप्रकारकप्रमाविषयत्वाच्च । सत्त्वप्रकारकप्रमाविषयत्वे चात्माश्रयात् । असत्त्वाप्रकारकप्रमाविषयत्वे चासत्त्वस्य सत्त्वनिरूप्यत्वेनान्योन्याश्रयात् । अत एव न पञ्चमः । न षष्ठः, सतोऽप्यसत्त्वप्रकारकभ्रमविषयत्वात् । सत्त्वप्रकारकभ्रमाविषयत्वे चात्माश्रयात् । असत्त्वाप्रकारकभ्रमाविषयत्वे चान्योन्याश्रयात् । न सप्तमः, संयोगादावव्याप्तेः । शुक्तिरूप्यादेरधिकरणाद्यभावेनातिव्याप्तेश्च । नाप्यष्टमः, बाधस्य

अद्वैतसिद्धिः

निषेध्यत्वादिना प्रमाविषयत्वाभ्युपगमाच्च । नापि द्वितीयः, योग्यताया अनिरूपणात् । न तृतीयः, असिद्धेः, सर्वस्यैव क्षणिकत्वादिना भ्रमविषयत्वाभ्युपगमात् । अत एव नासत्त्वाप्रकारकप्रमाविषयत्वमपि, अन्योन्याश्रयाच्च । नापि सत्त्वप्रकारकप्रमाविषयत्वम्, आत्माश्रयात् । नाप्यसत्त्वप्रकारकभ्रमाविषयत्वं सत्त्वम्, अन्योन्याश्रयात् । नापि प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकसत्त्वनिषेधविरहः, आत्माश्रयात् । नापि सत्ता जातिरर्थक्रियाकारित्वमसद्वैलक्षण्यं वा, एतेषां मिथ्यात्वाविरोधित्वेन तत्प्रत्यक्षेण मिथ्यात्वानुमाने बाधाभावात् । नापि वेदान्त्यभिमतमिथ्यात्वाभावः सत्त्वम्, तुच्छेऽतिव्याप्तेः । नाप्यसद्विलक्षणत्वे सत्यनारोपितत्वम्, अनारोपितत्वं हि आरोपाविषयत्वम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

रह जाती है, अतः प्रमा-विषयत्व के द्वारा सत्त्व का निर्वचन सम्भव नहीं—अन्यथाख्यातिवाद में 'इदं रजतम्'—इस प्रकार के भ्रमात्मक व्यवसाय ज्ञान का विषय शुक्ति और रजत का असत् संसर्ग होता है। 'इदं रजतमहं जानामि'—इस प्रकार के प्रमात्मक अनुव्यवसाय का भी वह असत् संसर्ग अवश्य विषय होगा, क्योंकि 'ज्ञानवित्तिवेद्यो विषयः' के अनुसार व्यवसाय के विषय में अनुव्यवसाय की विषयता मानी जाती है। इतना ही नहीं, 'इदं रजतं न'—इस प्रकार के निषेधात्मक प्रमाज्ञान की साक्षात् विषयता भी उसी निषेध्यभूत असत् संसर्ग में मानी जाती है। फलतः परम्परया और साक्षात्—दोनों प्रकार से प्रमा-विषयता असत् में रह जाती है, अतः प्रमाविषयत्व को सत्त्व नहीं कहा जा सकता।

सत्त्व का द्वितीय (प्रमा-विषयत्व-योग्यता) निर्वचन भी समीचीन नहीं, क्योंकि योग्यता का ही निरूपण नहीं हो सकता।' भ्रमाविषयत्वं सत्त्वम्'—यह तृतीय परिभाषा भी असम्भव है, क्योंकि 'सर्वं क्षणिकम्'—इस प्रकार के भ्रम का विषय सब कुछ होता है, उससे भिन्न कुछ रहता ही नहीं, जिसे भ्रम का अविषय कहा जाय। अत एव असत्त्वाप्रकारकप्रमाविषयत्व को भी सत्त्व नहीं कह सकते, क्योंकि इस में पूर्वोक्त अन्योऽन्याश्रय दोष होता है। सत्त्वप्रकारकप्रमा-विषयत्व को सत्त्व मानने पर आत्माश्रय दोष होगा। 'असत्त्वप्रकारकभ्रमाविषयत्वं सत्त्वम्'—इस निरुक्ति में भी अन्योऽन्याश्रय दोष है। प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वं सत्त्वम्—यह निर्वचन भी आत्माश्रय दोष से ग्रस्त है। इसी प्रकार सत्ता जाति, अर्थ-क्रियाकारित्व या असद्भिन्नत्व को भी सत्त्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये सभी प्रकार मिथ्यात्व के विरोधी नहीं हैं, अतः इनका प्रत्यक्ष मिथ्यात्वानुमान का बाधक नहीं कहा जा सकता। वेदान्ति-सम्मत मिथ्यात्वाभाव को सत्त्व मानने पर शश-शृङ्गादि असत्पदार्थों में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वेदान्ति-सम्मत अनिर्वचनीयत्वरूप मिथ्यात्व का अभाव असत् पदार्थों में भी रहता है। 'असद्विलक्षणत्वे सति अनारोपितत्वं सत्त्वम्'—इस लक्षण में भी वही असम्भव

न्यायामृतम्

प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकसत्त्वनिषेधत्वेनान्योन्याश्रयात्। उच्यते—तवात्मनि यत्सत्त्वं तदेवेह मम। उक्तं हि—"यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशं स्याज्जगत्यपी"ति। तत्र

अद्वैतसिद्धिः

तच्चासंभवि। सर्वस्यापि क्षणिकत्वादिना आरोपविषयत्वात्। नाप्यस्तित्वप्रकारकप्रमां प्रति कदाचित साक्षाद्विषयत्वं कालसंबन्धित्वं वा सत्त्वम्, अस्तित्वं च वर्तमानत्वम्, न तु सत्त्वमतो नात्माश्रयः, अतीतादिरपि कदाचिद् वर्तत एवेति नाव्याप्तिः, आरोपितं च कालत्रयासंबन्धित्वेन बाधेन बोधितमिति न द्वितीयलक्षणेऽतिव्याप्तिरिति वाच्यम्, प्रमात्वस्य सत्त्वघटितत्वेन चक्षुराद्ययोग्यत्वेन च पूर्वोक्तदोषाद्, वर्तमानत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वेऽपि मिथ्यात्वाविरोधाच्च। द्वितीयमपि न मिथ्यात्वविरोधि; शुक्तिरूप्यस्यापि प्रतिभासकालसंबन्धित्वात्, बाधेन तात्त्विककालत्रयसंबन्धनिषेधेऽप्यतात्त्विककालसंबन्धस्यानिषेधात्। नापि तात्त्विककालसंबन्धित्वं तत्; तात्त्विकत्वस्याद्याप्यनिरूपणात्, निरूपणे वा शेषवैयर्थ्यात्। ननु—भवन्मते यत् सत्त्वं ब्रह्मणि, तदेवेह मम। उक्तं हि—'यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशं स्याज्जगत्यपि।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दोष है, जो कि भ्रमाविषयत्व-कल्प में था, क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है, जो कि आरोप (भ्रम) का विषय न हो, 'सर्वं क्षणिकम्'—इस आरोप की विषयता ही सर्वत्र है, उस का अभाव कहीं भी नहीं।

शङ्का—'अस्ति'—इस प्रकार की अस्तित्वप्रकारक प्रमा की कादाचित्क साक्षात् विषयता अथवा काल-सम्बन्धित्व को सत्त्व कह सकते हैं। यहाँ अस्तित्व का अर्थ सत्त्व नहीं, अपि तु वर्तमानत्व है, अतः सत्त्व के निरूपण में सत्त्व-ज्ञान की अपेक्षा या आत्माश्रय दोष नहीं होता। अतीतानागतादि पदार्थ भी तो कदाचित् वर्तमान होते हैं, अतः उनमें भी अव्याप्ति नहीं होती। पूर्वोक्त द्वितीय लक्षण में आरोपितत्व का अर्थ केवल कालासम्बन्धित्व नहीं, अपि तु बाध के द्वारा ज्ञापित त्रिकालासम्बन्धित्व है, अतः इस लक्षण की द्वितीय लक्षण से गतार्थता नहीं होती।

समाधान—प्रमात्व का स्वरूप सत्त्व से घटित है, अतः चक्षुरादि से उसका ग्रहण सम्भव नहीं—यह ऊपर कहा जा चुका है। प्रपञ्च में वर्तमानत्वप्रकारक प्रमा की विषयता रहने पर भी मिथ्यात्व का बाध नहीं होता। द्वितीय (कालसम्बन्धित्वं सत्त्वम्) लक्षण भी मिथ्यात्व का विरोधी नहीं, क्योंकि शुक्ति-रजतादि मिथ्या पदार्थों में भी प्रतीति-काल-सम्बन्धित्व माना ही जाता है। 'नासीत् न भविष्यति नास्ति'—इस प्रकार के त्रैकालिक सम्बन्ध का जो निषेध किया जाता है, वह तात्त्विक काल-सम्बन्ध का निषेध है, अतात्त्विक सम्बन्ध का नहीं। तात्त्विक काल-सम्बन्धित्व को भी सत्त्व नहीं कह सकते, क्योंकि तात्त्विकत्व का निरूपण अभी तक नहीं हो पाया है। तात्त्विकत्व का निरूपण हो जाने पर 'तात्त्विकत्वं सत्त्वम्'—इतना ही लक्षण पर्याप्त हो जाता है, शेष (काल-सम्बन्धित्व) की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

द्वैतवादी—सत्त्व की नूतन परिभाषा की क्या आवश्यकता? अद्वैतवादी ब्रह्म में जैसा सत्त्व मानता है, वैसा ही हम प्रपञ्च में मान लेंगे। कहा भी है—

यादृशं ब्रह्मणः सत्त्वं तादृशं स्याज्जगत्यपि।
तत्र स्यात् तदनिर्वाच्यं चेदिहापि तथास्तु नः॥

न्यायामृतम्

तदनिर्वाच्यं चेदिहापि तथाऽस्तु। सत्त्वानिर्वचनेऽपि तद्वदेव स्वरूपपारमार्थ्योपपत्तेः। यदि च तत्रानृतव्यावृत्तिमात्रं अबाधितस्वरूपं वा सत्त्वम्। बाधश्च प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधः, ज्ञानेननिवृत्तिर्वेति नान्योऽन्याश्रयः, तर्हिहापि तथाऽस्तु ब्रह्मसाऽस्यस्यै-वापेक्षितत्वात्। अपरिच्छिन्नत्वं तत्र सत्त्वमिति चेन्न, शुक्तिरूप्ययोः परिच्छिन्नत्वे ब्रह्म-शून्ययोश्चापरिच्छिन्नत्वे तुल्येऽपि सत्त्वासत्त्वयोर्व्यवस्थितत्वेन जगत्युक्तपारिभाषिक-सत्त्वाभावस्य ब्रह्मणि परिच्छिन्नत्वरूपसत्त्वाभावस्येवेष्टत्वात्।

अद्वैतसिद्धिः

तत्र स्यात्तदनिर्वाच्यं चेदिहापि तथास्तु नः॥' इति। न च—तत्रापरिच्छिन्नत्वं सत्त्वम्, तच्च न जगतीति—वाच्यम्; तुच्छस्यापरिच्छिन्नत्वेऽपि सत्त्वानभ्युपगमान्नापरिच्छि-न्नत्वं सत्त्वम्, किं त्वन्यदेव; तच्च ब्रह्मणीव भ्रमाधिष्ठानत्वाच्छुक्तिकादेरपि भवि-ष्यतीति—चेत्, नूनं विवाहसमये कन्यायाः पित्रा निजगोत्रं पृष्टस्य यदेव भवतां गोत्रं तदेव ममापि गोत्रमिति वदतो वरस्य भ्राता भवान्, यतो जामातृश्वशुरयोरेकगोत्रत्वे विवाहानुपपत्तिवज्जगद्ब्रह्मणोरेकसत्त्वे जगतोऽसत्त्वमेव स्यात्। तथा हि—स्वप्रकाशा-द्वितीयचैतन्यरूपत्वमेव ब्रह्मणः सत्त्वम्, तदेव चेज्जडस्यापि जगतस्तदा रजतत्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अर्थात् ब्रह्मगत सत्त्व का निर्वचन अवश्य मिथ्यात्व का विरोधी मानना पड़ेगा, नहीं तो ब्रह्म भी मिथ्या हो जायगा। ब्रह्म और प्रपञ्च-दोनों में हम एक ही सत्ता मानते हैं। यदि ब्रह्मगत सत्त्व अनिर्वचीय है, तब उसे प्रपञ्च में भी अनिर्वचनीय सत्त्व कहा जा सकता है। यदि कहा जाय कि अपरिच्छिन्नत्व को सत्त्व कहेंगे, वह प्रपञ्च में नहीं है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि शश-शृङ्गादि तुच्छ पदार्थों में भी अपरिच्छिन्नत्व रहने पर भी सत्त्व नहीं माना जाता, अतः अपरिच्छिन्नत्व को सत्त्व नहीं मान सकते, किन्तु उससे भिन्न ही सत्त्व कहना होगा, वह ब्रह्म के समान शुक्त्यादि में सिद्ध होकर रहेगा, क्योंकि शुक्त्यादि भी भ्रम के अधिष्ठान हैं।

अद्वैतवादी—द्वैतवादी से पूछा गया कि आप प्रपञ्च में कैसा सत्त्व मानते हैं? उत्तर मिला—जैसा आप का ब्रह्मगत सत्त्व है, वैसा ही। यह प्रश्नोत्तर-प्रसङ्ग वैसा ही है, जैसे कि विवाह के समय कन्या के पिता ने जामाता से पूछा—आपका गोत्र क्या है? वह उत्तर देता है—जो आप का गोत्र, वही मेरा। यहाँ द्वैतवादी भले ही अद्वैतवादी के जामाता बनने का सौभाग्य पा गया, किन्तु अनुभवी वृद्ध श्वसुर के घातक दाँव पर चढ़कर चारों खाने चित हो गया—एकगोत्रता का पता चलते ही विवाह ठप्प हो गया, वैसे ही ब्रह्म और प्रपञ्च में एक सत्ता मानने का परिणाम यह हुआ कि प्रपञ्च की पृथक् सत्ता से हाथ धोना पड़ा। अद्वैतवाद का तो कहना ही यह है कि ब्रह्मगत सत्ता से भिन्न प्रपञ्च की सत्ता नहीं मानी जाती। अतः जगत् असत् ही सिद्ध होता है, क्योंकि ब्रह्म गत सत्त्व का स्वरूप है—स्वप्रकाशाद्वितीयरूपत्व। यदि वही सत्ता जड़ जगत् की मानी जाती है, तब तो जगत् की जड़ता का वैसे ही बाध हो जायगा, जैसे कि शुक्ति-सत्ता से रजत का। जगत् यदि वस्तुतः स्वप्रकाशरूप है, तब आपाततः प्रतीयमान उस की जड़ता को मिथ्या ही मानना पड़ेगा। अर्थात् जगत् का मिथ्यात्व या आरोपितत्व तभी सिद्ध होगा, जब कि जड़ जगत् ब्रह्म में आरोपित हो, क्योंकि धर्माध्यास के लिए धर्मी पदार्थों का तादात्म्याध्यास आवश्यक होता है। फलतः जड़ जगत् ब्रह्म में आरोपित है,

न्यायामृतम्

सौहार्दे तु—त्रिकालसर्वदेशीयनिषेधाप्रतियोगिता ।
सत्तोच्यतेऽध्यस्ततुच्छे तं प्रति प्रतियोगिनी ॥

सर्वदेशकालसम्बन्धनिषेधाप्रतियोगित्वं सत्त्वम् । यदवच्छिन्ने संयोगस्तदवच्छिन्ने तदत्यन्ताभावो नेति न तत्राव्याप्तिः । गगनादेरप्यत्यन्ताभावः केवलान्वयी नेत्युक्तत्वान्न गगनाद्यव्याप्तिः । तुच्छमध्यस्तं च उक्तप्रतिषेधप्रतियोगीत्युक्तत्वान्नातिव्याप्तिरपि । अश्वे गोत्वं कदाचिदपि नास्तीत्यादौ तत्संसर्ग एव

अद्वैतसिद्धि

विरोधिशुक्तिसत्तया रजतस्येव जडत्वविरोधिस्वप्रकाशसत्तया जगतः स्वरूपतो मिथ्यात्वोपपत्तेः । चैतन्यस्यैवावच्छिन्नानवच्छिन्नाज्ञानविषयत्वेन सर्वभ्रमाधिष्ठानत्वाभ्युपगमान्न भ्रमाधिष्ठानत्वेन शुक्त्यादेः सत्त्वसिद्धिः । नन्वेवमपि सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वमसत्त्वं तुच्छानिर्वचनीयसाधारणम्, तदभावः सत्त्वम्, तच्च ब्रह्मणीव जगत्यपीति चेन्मः । न च संयोगेऽव्याप्तिः, तस्याव्याप्यवृत्तित्वानभ्युपगमात् । तदभ्युपगमे च व्याप्यवृत्तित्वेनाभावो विशेषणीयः । नापि वियत्यव्याप्तिः, तदत्यन्ताभावस्य केवलान्वयित्वानङ्गीकारेण लक्षणस्य विद्यमानत्वादेव । न हि कस्मिंश्चिद् देशे काले वा तस्याभावः, नित्यविभुत्वभङ्गप्रसङ्गात् । आकाशात्यन्ताभावस्य केवलान्वयित्वाभ्युपगमे च वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्वेनाभावो विशेषणीयः—इति चेन्न, चक्षुराद्ययोग्यानेकपदार्थघटितत्वेनैतादृशसत्त्वस्य ग्रहणे चक्षुरादेरसामर्थ्यात् । न हि सर्वदेशीयत्रैकालिक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मिथ्या है । यह जो कहा था कि शुक्ति भी ब्रह्म के समान भ्रम का अधिष्ठान है, अतः इसकी भी वही सत्ता होनी चाहिए । वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अज्ञान ही प्रातिभासिक रजत का उपादान कारण होता है, अतः शुक्त्यवच्छिन्न, चैतन्य ही रजत-भ्रम का तथा अनवच्छिन्न चैतन्य प्रपञ्च-भ्रम का अधिष्ठान माना जाता है, अतः शुक्त्यादि न तो भ्रम के अधिष्ठान हैं और न उनकी पृथक् सत्ता सिद्ध होती है ।

द्वैतवादी—अद्वैत-सम्मत जो मिथ्यात्व है—'सर्वदेशीयत्रैकालिकनिषेध-प्रतियोगित्व', उसे ही हम असत्त्व कहते हैं, वह जैसे शुक्ति-रजतादि में है, वैसे ही शशशृङ्गादि तुच्छ पदार्थों में भी । उस असत्त्व के अभाव को हम सत्त्व कहते हैं जो कि ब्रह्म के समान जगत् में भी रहता है । संयोग में उस सत्त्व की अव्याप्ति नहीं, क्योंकि उसे अव्याप्यवृत्ति नहीं माना जाता । यदि मान भी लिया जाय तब भी अभाव का व्याप्यवृत्तित्व विशेषण दे देने पर उसमें अव्याप्ति का परिहार हो जाता है । उस सत्त्व की आकाश में भी अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि आकाशात्यन्ताभाव को हम केवलान्वयी नहीं मानते अतः उक्त सत्त्व का लक्षण आकाश में भी घट जाता है, क्योंकि न तो किसी देश में उस का अभाव है और न किसी काल में, नहीं तो उसका विभुत्व और नित्यत्व समाप्त हो जायगा । यदि आकाशात्यन्ताभाव को केवलान्वयी मान लिया जाय, तब लक्षण-घटक अभाव का विशेषण लगा देंगे—'वृत्तिमत्प्रतियोगिक' । आकाश वृत्तिमान् नहीं, अतः उसका अभाव नहीं लिया जा सकेगा ।

अद्वैतवादी—आपने सत्त्व की जो परिभाषा की 'सर्वदेशीयत्रैकालिकवृत्तिमत्प्रतियोगिकव्याप्यवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्वाभावः' । वह चक्षुरादि के अयोग्य सर्वदेशका-

न्यायामृतम्

निषिध्यत इति मते देशपदमनपेक्षितम्। केचित्तु पराभिप्रेतमिथ्यात्वाभावो वाऽसद्विलक्षणत्वे सत्यनारोपितत्वं वा अस्तित्वप्रकारकप्रमां प्रति कदाचित्साक्षाद्विषयत्वं वा कालसम्बन्धित्वं वा सत्त्वम्। अस्तित्वं च वर्तमानत्वम्। अतीतादिरपि कदाचिद्वर्तत एव। आरोपितं तु कालत्रयासम्बन्धित्वेन बाधबोधितमिति न दोष इत्याहुः। इति सत्त्वनिरुक्तिः।

अद्वैतसिद्धिः

वृत्तिमत्प्रतियोगिकव्याप्यवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्वं कस्यापि प्रत्यक्षम्, येन तदभावः प्रत्यक्षो भवेत्। वृत्तिमत्प्रतियोगिकत्वव्याप्यवृत्तित्वपरित्यागेऽपि सर्वदेशीयत्वत्रैकालिकत्वयोरयोग्यत्वात्। ननु—स्वदेशकालवृत्तिनिषेधप्रतियोगित्वाभावे गृह्यमाणे कालत्रयमध्ये वर्तमानकालस्य सर्वदेशमध्ये प्रकृतदेशस्यापि प्रवेशेन तत्र निषेधप्रतियोगित्वाभावस्य गृहीतत्वात्तत्संवलितं कालत्रयवृत्ति सर्वदेशीयनिषेधप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं नानुमानेन ग्रहीतुं शक्यते—इति चेन्न, स्वदेशकालवृत्तिसकलनिषेधप्रतियोगित्वस्य चक्षुराद्ययोग्यत्वेन तदभावस्य सुतरां तदयोग्यत्वात्, स्वदेशकालवृत्तिर्यत्किचिन्निषेधाप्रतियोगित्वस्य मिथ्यात्वाविरोधित्वात्। स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावासामानाधिकरण्यस्य च स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभावाप्रसिद्ध्या केवलान्वयिनि, संबन्धभेदेन घटादौ चासिद्धेः, स्वात्यन्ताभावयावदधिकरणावृत्तित्वं वा, स्वात्यन्ताभावयत्किचिदधिकरणा-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

लादि अनेक पदार्थों से गर्भित है, अतः उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष कैसे होगा ? यदि 'वृत्तिमत्प्रतियोगिकव्याप्यवृत्तित्व'—इस अंश का परित्याग भी कर दें, तब भी सर्वदेशीयत्व और त्रैकालिकत्व ऐसे विशेषण रह जाते हैं, जिन का ग्रहण चक्षुरादि से नहीं हो सकता।

द्वैतवादी—यद्यपि सर्वदेशीय और त्रैकालिक निषेध के ग्रहण की योग्यता चक्षुरादि में नहीं, तथापि सर्व देश में सन्निहित देश और सर्व काल में वर्तमान काल भी आ जाता है। अतः सन्निहितदेशवृत्तिवर्तमाननिषेधप्रतियोगित्व के अभाव का चक्षुरादि से ग्रहण हो ही सकता है। इतने से ही सार्वदेशिकत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का अनुमान अवरुद्ध हो जाता है।

अद्वैतवादी—मिथ्या वस्तु का अपने देश और काल में यत्किञ्चित् निषेध (अभाव) ही चक्षुरादि से गृहीत हो सकता है, योग्यायोग्य-वृत्ति सकल निषेध नहीं, अतः न तो सकल निषेध-प्रतियोगित्व ही चक्षुरादि से गृहीत हो सकता है और न उसका अभावरूपसत्त्व। यत्किञ्चित् निषेध-प्रतियोगित्वाभाव तो उक्त मिथ्यात्व का विरोधी नहीं। दूसरी बात यह भी है कि प्रमेयत्वादि केवलान्वयी धर्मों का स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाव अप्रसिद्ध है, अतः स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाव की असमानाधिकरणता प्रमेयत्वादि में गृहीत नहीं हो सकती। तीसरी बात यह है कि संयोग सम्बन्ध से घटवाले देश में समवाय सम्बन्ध से घटात्यन्ताभाव रह जाता है, अतः घटादि में स्वप्रतियोगिकात्यन्ताभाव के असामानाधिकरण्य का ग्रहण भी सम्भव नहीं। यदि घटादि में स्वात्यन्ताभावाधिकरणावृत्तित्व चक्षुरादि से गृहीत होना माना जाता है, तब उस पर भी ये दो विकल्प होंगे—(१) स्वात्यन्ताभावसकलाधिकरणावृत्तित्व गृहीत होता है ? अथवा (२) स्वात्यन्ताभावयत्किञ्चिदधिकरणावृत्तित्व ? प्रथम पक्ष में असम्भव

अद्वैतसिद्धिः

वृत्तित्वं वेति विकल्पेन पूर्वोक्तदोषाच्च । तस्मात्तत्प्रकारान्तरस्य निरूपयितुमशक्यत्वा-न्मिथ्यात्वाविरोधित्वाच्च स्वसमानाधिकरणयावदत्यन्ताभावप्रतियोगित्वाभावरूपमेव सत्त्वमुपेयम् । तच्च न चक्षुरादियोग्यमित्युक्तम् । ननु—यस्मिन्कस्मिंश्चित् स्वदेशकाल-वृत्तिनिषेधे एतद्देशैतत्कालवृत्तिनिषेधत्वं ज्ञात्वा तेन प्रत्यासत्तिभूतेनोपस्थापितानां स्वदेशकालवृत्तिसकलनिषेधानां प्रतियोगित्वस्याभावो घटे ग्राह्यः, ततः सार्वदिक-सर्वदेशीयनिषेधप्रतियोगित्वस्य ग्रहणं घटे दुर्घटमिति—चेन्न; एवं सामान्यलक्षणया सर्वनिषेधेषूपस्थितेष्वपि तत्प्रतियोगित्वाभावस्य चक्षुरादिना ग्रहीतुमशक्यत्वात् । योग्यप्रतियोगिक एव हि संसर्गाभावो योग्यः । न चाशेषनिषेधानां प्रतियोगित्वमती-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और दूसरे में मिथ्याविरोधिता का पूर्वोक्त दोष प्रसक्त होता है । इस लिए सत्त्व का व्यापक स्वरूप चक्षुरादि के योग्य नहीं और यत्किञ्चित् सत्त्व से मिथ्यात्वानुमान का मार्गावरोध सम्भव नहीं होता । अन्ततो गत्वा 'स्वसमानाधिकरणयावदत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वाभावरूप सत्त्व ही मानना पड़ेगा, वह चक्षुरादि के ग्रहण-योग्य नहीं यह कह आए हैं ।

द्वैतवादी—यद्यपि लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्व-विरोधी सत्त्व का ग्रहण नहीं हो सकता, तथापि अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा अभिमत सत्त्व धर्म का ग्रहण अवश्य हो जायगा । अर्थात् जैसे यत्किञ्चित् धूम व्यक्ति में धूमत्व धर्म का प्रत्यक्ष हो जाने पर उस धूमत्वरूप सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष से सकल धूम का चाक्षुष प्रत्यक्ष हो जाता है, वैसे ही घट के यत्किञ्चित् निषेध में 'निषेधत्व' धर्म का प्रत्यक्ष हो जाने पर निषेधत्व-रूप सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के माध्यम से स्वदेशकाल-वृत्ति सकल निषेध-राशि का प्रत्यक्ष हो जाता है, अतः उसकी प्रतियोगिता का अभाव घट में सुग्राह्य हो जाता है । इस प्रकार के सत्त्व का ग्रहण हो जाने पर घट में सर्वदेशकाल-वृत्ति अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का अनुमान दुर्घट हो जाता है ।

अद्वैतवादी—सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति के द्वारा सकल निषेधों का प्रत्यक्ष हो जाने पर भी उन के प्रतियोगित्व का ग्रहण चक्षुरादि से नहीं हो सकता, क्योंकि वह प्रतियोगित्व किसी अतीन्द्रिय पदार्थ-निष्ठ भी हो सकता है । प्रतियोगित्व का ग्रहण न होने पर उस के अत्यन्ताभाव का भी ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि योग्यप्रतियोगिक संस-र्गाभाव का ही ग्रहण माना जाता है । वस्तुतः वेदान्त-सिद्धान्त से इन्द्रिय का सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष माना ही नहीं जाता, क्योंकि उस में कोई प्रमाण नहीं ।

शङ्का—सामान्य-प्रत्यासत्ति न मानने पर महानस में केवल महानसीय धूम के साथ चक्षु का संयोग होता है, अतः उसी में ही वह्नि-सामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति का ग्रहण होगा, पर्वतीयादि धूम में नहीं, फिर पर्वतीय धूम से पर्वत में वह्नि का अनुमान कैसे होगा ? आचार्य वाचस्पति कहते हैं—"वह्निव्याप्तिमात्रबलेन पक्षधर्मोऽपि हेतुर्न पक्षे साध्यं साधयेत् । असिद्धा हि तत्र स्वसाध्येन व्याप्तिः । तदेतत् षण्डकमुद्वाह्य मुग्धा-याः पुत्रप्रार्थनमिव । तस्मादन्तर्बहिर्वा सर्वोपसंहारेणाविनाभावोऽवगन्तव्यः" (ता० टी० पृ० ४३) । सर्वोपसंहारवती व्याप्ति का ग्रहण सामान्य लक्षणा की कृपा से ही होगा—महानस में ही महानसीय धूम और अग्नि का दर्शन हो जाने पर धूमत्व-सामान्य के

अद्वैतसिद्धिः

न्द्रियसाधारणं चक्षुरादियोग्यम् । वस्तुतस्तु—सामान्यं नेन्द्रियप्रत्यासत्तिः, मानाभावात् । न च—महानसीयधूमेन्द्रियसंयोगेन तत्रैव व्याप्तिग्रहे पर्वतीयधूमादनुमितिर्न स्यात्, सामान्यस्य च धूमत्वादेः प्रत्यासत्तित्वे तस्यापि प्रत्यासन्नत्वात्तत्र व्याप्तिग्रहे ततोऽनुमितिरिति—वाच्यम्, पर्वतीयधूमेन्द्रियसन्निकर्षदशायां धूमत्वेन प्रकारेण गृहीतस्मृतव्याप्तेस्तत्र वैशिष्ट्यग्रहसंभवात्, 'सुरभि चन्दन'मितिवद् विशेष्येन्द्रियसन्निकर्षविशेषणज्ञानासंसर्गाग्रहरूपाया विशिष्टज्ञानसामग्र्याः पूर्णत्वात् । व्याप्तिस्मृतिप्रकारेण वा पक्षधर्मताज्ञानस्य हेतुता, महानसीय एव धूमो धूमत्वेन व्याप्तिस्मृतिविषयो भवति, धूमत्वेन पर्वतीयधूमज्ञानं चापि जातम्, तच्च सामान्यलक्षणां विनैव, तावतैवानुमितिसिद्धेः । न च—सामान्यप्रत्यासत्तिं विना धूमो वह्निव्यभिचारी न वेति अनुभूयमानः संशयो न स्यात्, प्रसिद्धे धूमे वह्निसंबन्धावगमाद् अप्रसिद्धस्य चाज्ञाना-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वारा समस्त धूम तथा वह्नित्व-सामान्य के द्वारा सकल वह्नि व्यक्तियों का एवं उनकी व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है। उस में पर्वतीय धूम भी आ जाता है, वह भी अविनाभावरूप पुंस्त्व से समन्वित होकर अनुमिति बोध नामक पुत्र रत्न को जन्म दे डालता है।

समाधान—सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति को न मानने पर भी पर्वतीय धूम में व्याप्ति-संवलन सम्भव है—महानसीय धूम में जो प्रथमतः व्याप्ति का ग्रहण होता है, वह 'अयं धूमो वह्निव्याप्यः'—ऐसा नहीं, अपितु 'धूमो वह्निव्याप्यः'—इस प्रकार धूमत्व-प्रकारक ही होता है। पर्वतीय धूम को देखते ही स्मृति-पटल पर वही सामान्य व्याप्ति उभर कर पर्वतीय धूम से संवलित हो जती है। 'अयमपि धूमो वह्निव्याप्यः'—इस प्रकार के विशिष्ट प्रत्यक्ष की पूर्ण सामाग्री वहाँ सुलभ है—धूमरूप विशेष्य के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष, व्याप्तिरूप विशेषण का ज्ञान (स्मरण) तथा विशेष्य और विशेषण के मध्य असंसर्गाग्रह। इन्हीं तीनों कारणों से सर्वत्र विशिष्ट ज्ञान हुआ करता है। 'सुरभि चन्द्रनम्'—इस प्रकार के विशिष्ट प्रत्यक्ष में भी उक्त सामग्री मानी जाती है। वस्तुतः पर्वत में वह्नि की अनुमिति के लिए पर्वतीय धूम में व्याप्ति-वशिष्ट्य ही आवश्यक नहीं अपि तु व्याप्यतावच्छेदक और पक्षधर्मतावच्छेदक की एकता अपेक्षित होती है। अर्थात् जिस रूप से व्याप्ति का स्मरण हो उसी रूप से पक्षधर्मता का ज्ञान होना चाहिए। यहाँ 'धूमो वह्निव्याप्यः'—इस प्रकार धूमत्वेन रूपेण धूम की व्याप्ति का स्मरण होता है और 'धूमः पर्वतवृत्तिः'—इस प्रकार धूमत्वेन रूपेण ही पक्ष-वृत्तिता का ज्ञान होता है। यह तो सामान्य लक्षणा के बिना ही सुलभ हो जाता है, उतने से ही अनुमिति सिद्ध हो जाती है।

शङ्का—सामान्य-प्रत्यासत्ति के विना 'धूमो वह्निव्यभिचारी न वा ? यह संशय नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रसिद्ध धूम में वह्नि का सहचार गृहीत ही हो रहा है और अप्रसिद्ध धूम की उपस्थिति का साधन नहीं कि उस में उक्त सन्देह बन जाय। सामान्य लक्षणा मान लेने पर उसके द्वारा उपस्थापित अप्रसिद्ध धूम में उक्त सन्देह बन जाता है।

अद्वैतसिद्धिः

दिति वाच्यम् , प्रसिद्धधूम एव तत्तद्धूमत्वादिना व्याप्तिनिश्चयेऽपि धूमत्वेन तत्संशयोपपत्तेः। तथा चोक्तं मणिकृता—'घटत्वेनेतरभेदनिश्चयेऽपि पृथिवीत्वादिना तत्र संशयसिषाधयिषे भवत एवेति। निश्चितेऽप्यर्थे प्रामाण्यसंशयाहितसंशयवद् धूमत्वं वह्निव्यभिचारिवृत्ति न वेति संशयादपि तादृशसंशयोपपत्तेश्च। एतेन वायू रूपवान्न वेति संशयोऽपि व्याख्यातः। ननु—सिद्धे नेच्छा, किंतु असिद्धे, सा च स्वसमानविषयकज्ञानजन्या, तच्च ज्ञानं न सामान्यप्रत्यासत्तिं विना। न च—सिद्धगोचरसुखत्वप्रकारकज्ञानादेवाज्ञाते सुखे भवतीच्छा, समानप्रकारकत्वमात्रस्य नियामकत्वादिति—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—प्रसिद्ध धूम में ही उक्त सन्देह बन जाता है, क्योंकि उसमें तत्तद्धूमत्वादि व्याप्य रूप से वह्नि-सहचार निश्चित होने पर भी धूमत्वेन व्याप्ति का निश्चय न होने के कारण उक्त सन्देह हो जाता है। चिन्तामणिकार ने वैसा ही कहा है—"घटत्वेनेतरभेदनिश्चयेऽपि पृथिवीत्वादिना तत्र संशयसिषाधयिषे।" अर्थात् 'पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते, गन्धवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा जलादि'—इस प्रकार के केवल व्यतिरेकी प्रयोग में साध्य का संशय और साध्य की सिषाधयिषा अपेक्षित है, किन्तु घटादि प्रसिद्ध पृथिवी में इतर-भेद निश्चित ही है, अतः न तो उसका संशय होगा और न उसके सिद्ध करने की इच्छा। अतः संशय और सिषाधयिषा के सम्पादन का जो मार्ग मणिकार ने सुझाया है कि यद्यपि घटत्वादि व्याप्य धर्म से इतर-भेद निश्चित है, तथापि पृथिवीत्वेन सन्देहादि बन जायगा। उसी मार्ग पर हम भी चल रहे हैं कि व्याप्य धर्म से निश्चय होने पर भी व्यापकरूप से उसी धर्मी में सन्देह हो सकता है। दूसरी बात यह भी है कि जैसे निश्चित पदार्थ में भी निश्चयगत प्रमात्व-संशय होने पर संशय हो जाता है। अर्थात् 'घटज्ञानं प्रमा न वा ?'—इस प्रकार का संशय होने पर 'अयं घटो न वा ?'—इस प्रकार का सन्देह सर्वजनीन है। वैसे ही 'धूमत्वं 'वह्निव्यभिचारिवृत्ति न वा ?'—इस प्रकार संशय होने पर 'धूमो वह्निव्यभिचारी न वा ?'—इस प्रकार का संशय उपपन्न हो जायगा। इसी प्रकार 'वायुः रूपवान् न वा ?'—इस संशय का भी उपपादन किया जा सकता है। अर्थात् पार्थिव, जलीय और तैजस रूपों के अभाव का वायु में निश्चय रहने पर 'वायू रूपवान् न वा ?'—यह सन्देह कैसे हो गया ? इसका उत्तर है कि 'रूपत्वं पार्थिवादिरूपभिन्नरूपवृत्ति न वा ?'—इस प्रकार के सन्देह से जनित 'वायू रूपवान् न वा ?'—यह सन्देह बन जाता है।

द्वैतवादी—सिद्ध वस्तु के सिद्ध करने की इच्छा नहीं होती, किन्तु असिद्ध में ही इच्छा होती है। इच्छा का ही यह दूसरा स्वभाव होता है कि ज्ञात की इच्छा होती है, अज्ञात वस्तु की नहीं। अर्थात् इच्छा अपने विषय के ज्ञान से जन्य होती है। वह असिद्ध वस्तु का ज्ञान सामान्य प्रत्यासत्ति के बिना सम्भव नहीं। यदि कहा जाय कि 'यद्विषयकं ज्ञानम्, तद्विषयिणी इच्छा'—ऐसा नियम नहीं, अपि तु 'यत्प्रकारकं ज्ञानम्, तत्प्रकारिका इच्छा भवति'—यह नियम है। सुखत्वप्रकारक इच्छा के लिए सुखत्वप्रकारक ज्ञान मात्र की अपेक्षा होती है, वह सुखत्व-ज्ञान किसी प्रसिद्ध सुख में ही हो जाता है। अप्रसिद्ध की उपस्थिति आवश्यक नहीं, जिसके लिए सामान्य लक्षणा माननी पड़े।

अद्वैतसिद्धिः

वाच्यम् ; रजतत्वेन प्रकारेण रजते अनुभूयमाने घटादौ रजतत्वप्रकारकेच्छाप्रसङ्गात्। न च—प्रकाराश्रयत्वमपि नियामकम् ; रजतभ्रमाच्छुक्तिविच्छानुदयप्रसङ्गात्। तथा च समानप्रकारकत्वे सति समानविषयकत्वं तन्त्रम्। अत एवाख्यातिपक्षे रजतस्मरणस्यैव शुक्तौ प्रवर्तकत्वमित्यपास्तमिति—चेन्न, यतो रजतभ्रमाच्छुक्तिविच्छा नास्त्येव किं-त्वनिर्वचनीये रजत इत्यनिर्वचनीयख्यातौ वक्ष्यते। प्रकाराश्रयत्वं नियामकं वदन्न-ख्यातिवादी परमेवं विभीषणीयः। तथा च प्रकाराश्रयत्वस्य नियामकत्वादन्यथा-ख्यातिपक्षोऽपि निरस्त एव। न च—तर्हि भ्रमत्वं न स्याद्, इदं रजतमिति भ्रमत्वा-भिमतज्ञानस्य व्यधिकरणप्रकारत्वानभ्युपगमादिति—वाच्यम् ; बाधितविषयत्वेन हि भ्रमत्वं न तु व्यधिकरणप्रकारत्वेन, तस्यापि विषयबाधप्रयोज्यत्वादिति हि वक्ष्यते। ननु—अभावज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानजन्यत्वात् प्रौढप्रकाशयावत्तेजोविरहरूपस्य तमस-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रकार-घटित नियम मानने पर रजतत्वेन रूपेण रजत का अनुभव होने पर रजतत्वेन घटादि की इच्छा होनी चाहिए। यदि प्रकार के साथ-साथ उस के आश्रय का भी नियमन करें, तब रजत-भ्रम से शुक्ति की इच्छा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि शुक्ति रजत का आश्रय नहीं है। अतः समानप्रकारक और समान-विषयक ज्ञान को इच्छा का जनक मानना होगा। सुखत्वप्रकारक ज्ञान से सुखत्व के आश्रयीभूत असिद्ध सुख में ही इच्छा माननी पड़ेगी। अतः एव अख्याति वादी जो कहा करते हैं कि रजत के स्मरण से शुक्ति में उपादित्सा और प्रवृत्ति होती है, वह निरस्त हो जाता है, क्योंकि अन्य विषय के ज्ञान से न तो अन्य विषय की इच्छा होती है, न अन्य विषय में प्रवृत्ति। फलतः असिद्ध विषय की इच्छा का सम्पादन करने के लिए असिद्ध विषय का ज्ञान अनिवार्य है और असिद्ध वस्तु का ज्ञान सामान्य लक्षणा के बिना सम्भव नहीं है।

अद्वैतवादी—यह सत्य है कि रजत-भ्रम से शुक्ति की इच्छा नहीं होती किन्तु अनिर्वचनीय रजत की इच्छा होती है—यह अनिर्वचनीय ख्याति के निरूपण में कहा जायगा। प्रकार के साथ उस के आश्रय के नियमन से अख्यातिवादी को ही डराया जा सकता है, क्योंकि वह रजत के स्मरण से शुक्ति में प्रवृत्ति का प्रतिपादक है, उसका वह मनोरथ आप के उस नियम से चूर-चूर हो जाता है, किन्तु हम तो रजतत्वप्रकारक भ्रम ज्ञान से उसके आश्रयीभूत अनिर्वचनीय रजत में ही इच्छा और प्रवृत्ति के समर्थक हैं, अतः समानप्रकारक और समानविषयक ज्ञान से इच्छा की उत्पत्ति हमें अभीष्ट ही है। उक्त नियम से अन्यथाख्याति-वाद भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि रजतत्वप्रका-रक ज्ञान से रजतत्व के अनाश्रयीभूत शुक्ति में ही वह प्रवृत्ति मानता है। यदि कहा जाय कि रजत-भ्रम में यदि रजतत्व के आश्रय में ही उसका भान माना जाता हे, तब उसे प्रमा ज्ञान मानना पड़ेगा, क्योंकि शुक्ति-रजत ज्ञान को भ्रम भी माना जाता है और तद्वति तत्प्रकारक ज्ञान भी—ये दोनों मान्यताएँ परस्पर विरुद्ध हैं। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि तदभाववति तत्प्रकारकत्व या व्यधिकरणप्रकारत्व भ्रमत्व का प्रयो-जक नहीं अपितु बाधितविषयकत्व, क्योंकि व्यधिकरणप्रकारत्व भी विषय-बाध के ही अधीन होता है।

द्वैतवादी—अभाव का ज्ञान तभी होता है, जब उसके प्रतियोगी का ज्ञान हो।

अद्वैतसिद्धिः

प्रत्यक्षता न स्यात्, सामान्यप्रत्यासत्तिं विना प्रतियोग्यनुपस्थितेरिति—चेन्न, अस्मन्मते तमसो भावान्तरत्वात्। न च—तथापि तद्व्यञ्जकत्वात्तदपेक्षेति—वाच्यम्, स्वरूपसत एव तादृक्तेजोविरहस्य तमोव्यञ्जकत्वम्, न तु ज्ञातस्य मानाभावादित्यभ्युपगमात्। अन्येषां मते तादृक्तेजोविरहज्ञानस्यापेक्षितत्वेऽपि प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञानादेव तत्संभवेन तदर्थं सकलप्रतियोगिज्ञानजनिकायाः सामान्यप्रत्यासत्तेरनुपयोगात्। न च—गोत्वाभावज्ञानं गोत्वत्वप्रकारकज्ञानजन्यम्, तच्च गवेतरावृत्तित्वे सति सकलगोवृत्तित्वरूपं सामान्यप्रत्यासत्तिमन्तरेण न शक्यमवगन्तुमिति—साम्प्रतम्, यत्किञ्चिद्गोव्यक्तेरेव गोत्वत्वरूपत्वात्। एतेन प्रागभावप्रतीतिरपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रौढ प्रकाशाश्रित सकल तेज का अभाव ही अन्धकार है, उस की प्रत्यक्षता के लिए प्रतियोगिभूत प्रौढ प्रकाश वाले सकल तेज का ज्ञान अपेक्षित है, वह सामान्य लक्षणा के बिना सम्भव नहीं, अतः सामान्य-प्रत्यासत्ति माननी आवश्यक है।

अद्वैतवादी—हमारे मत में अन्धकार को एक स्वतन्त्र भाव पदार्थ माना जाता है, प्रौढ प्रकाशवाले तेज का अभाव नहीं, अतः प्रतियोगी का ज्ञान करने के लिए भी सामान्य-प्रत्यासत्ति की आवश्यकता नहीं। यदि कहा जाय कि अन्धकार को भाव पदार्थ मानने पर भी प्रौढ आलोक के रहने पर उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः प्रौढ प्रकाशवाले तेज के अभाव को व्यञ्जक मानना होगा, इस प्रकार व्यञ्जक का ज्ञान करने के लिए सामान्य-प्रत्यासत्ति आवश्यक हो जाती है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अन्धकार की अभिव्यक्ति के लिए प्रौढ प्रकाशवाले आलोकाभाव की ही अपेक्षा है, न कि उस के ज्ञान की, क्योंकि उस में कोई प्रमाण नहीं, अज्ञातरूप में स्वरूपतः विद्यमान आलोकाभाव ही अन्धकार की अभिव्यञ्जना कर देता हैं। जो लोग अन्धकार को प्रौढ प्रकाश वाले तेज का अभाव मानते हैं, उनके मत में भी उक्त आलोकाभाव का ज्ञान अपेक्षित होने पर भी सकल प्रतियोगि-ज्ञान आवश्यक नहीं, केवल प्रतियोगितावच्छेदक-प्रकारक किसी एक प्रतियोगी के ज्ञानमात्र से उस के अभाव का ज्ञान हो जाता है, न तो सकल प्रतियोगी का ज्ञान अपेक्षित होता है और न उसके लिए सामान्य-प्रत्यासत्ति। [आशय यह है कि विशिष्ट ज्ञान में विशेषण का ज्ञान तथा विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान में विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान अपेक्षित होता है। अभाव-ज्ञान को विशिष्ट बोध नहीं माना जाता कि प्रतियोगीभूत विशेषण ज्ञान की आवश्यकता पड़े। किन्तु अभाव-ज्ञान विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही माना जाता है, जिस में प्रतियोगितावच्छेदकरूप विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान मात्र अपेक्षित होता है, वैसा ज्ञान किसी एक प्रतियोगी में ही हो जाता है, सकल प्रतियोगी व्यक्तियों का ज्ञान अनिवार्य नहीं है]।

शङ्का—सामान्य-प्रत्यासत्ति के विना गोत्वाभाव का ज्ञान कैसे होगा? क्योंकि गोत्वाभाव का ज्ञान गोत्वत्वप्रकारक ज्ञान से उत्पन्न होता है, गोत्वत्व का अर्थ होता है—'गवेतरावृत्तित्वे सति सकलगोवृत्तित्व'। सकल गोव्यक्तियों का ज्ञान सामान्य-प्रत्यासत्ति की कृपा से हो सकता है, अन्यथा नहीं।

समाधान—गोत्वाभाव का प्रतियोगी गोत्व होता है, अतः गोत्वाभाव के ज्ञान में गोत्व का ज्ञान किसी-न-किसी स्वगत व्यावर्तक धर्म से होना चाहिए, वह व्यावर्त्तक धर्म गोत्वत्व नहीं, अपितु यत्किञ्चित् गो व्यक्ति। वस्तुतः भेद के समान गोत्व जाति ही

अद्वैतसिद्धिः

व्याख्याता। किं चानागतज्ञानस्यापेक्षितत्वे अनुमानादेव तद्भविष्यति; तथा च न्यायकुसुमाञ्जलौ—'शंका चेदनुमास्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्। व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः॥' इत्यत्र शङ्कोपपादकमनागतज्ञानमनुमानादेवेत्युक्तम्, अनुमानं च वर्तमानपाकः, पाकपूर्वकालीनः, पाकत्वादतीतपाकवदित्यादि। न च चरमपाके व्यभिचारः, साध्यसिद्ध्युपजीवकस्य व्यभिचारज्ञानस्यादोषत्वाद्, अन्यथा सिद्ध्यसिद्धिव्याघातात्। किं च शब्दादपि सकलधूमपाकादिगोचरज्ञानसंभवः। न च—शङ्कादिपूर्वं शब्दस्योपस्थितिनियमाभाव इति—वाच्यम्, कदाचिदेव शब्दादनुभूतस्य तदानीं प्रमुष्टतत्ताकस्मृतिसंभवात्। ननु—अनुमितेर्विशेषणज्ञानजन्यत्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्वयं व्यावृत है और गवादि व्यक्तियों का व्यावर्तक है, उसे गोत्वत्वरूप व्यावर्तकान्तर की अपेक्षा ही नहीं ऐसा ही अद्वैतरत्नरक्षण पृ० ३१ पर स्वयं सिद्धिकार ने ही कहा है—"किञ्चिद्धि वस्तु स्वतो व्यावृत्तमिति न्यायेन गोत्वे धर्मान्तराभावाच्च, अन्यथा जात्य व्यावृत्ता गोव्यक्तिर्जातिं व्यावर्तयिष्यति, व्यक्त्या च व्यावृत्ता जातिर्व्यक्तिमिति परस्पराश्रयापत्तेः।"

प्रागभाव की प्रतीति में उस भावी प्रतियोगी का ज्ञान अपेक्षित है, भावी प्रतियोगी का ज्ञान सामान्यलक्षणा के बिना सम्भव नहीं—यह कहना भी अनुचित है, क्योंकि प्रतियोगिगत घटत्वादिधर्मप्रकारक ज्ञान के द्वारा प्रागभाव की प्रतीति का भी निर्वाह हो जाता है। यदि भावी प्रतियोगी का ज्ञान अपेक्षित ही हुआ, तो वह अनुमान के द्वारा सम्पन्न हो सकता है, जैसा कि आचार्य उदयन ने कहा है—

> शङ्का चेदनुमाऽस्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम्।
> व्याघातावाधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः॥ (न्या. कु. ३।७)

अर्थात् धूमो व्यभिचारी, न वा ?—इस शङ्का का उपपादन करने के लिए अनागत धूम का ज्ञान अपेक्षित है, वह अनुमान से हो जायगा। भावी वस्तु के अनुमान का प्रकार यह है—'वर्तमानपाकः पाकपूर्वकालीनः पाकत्वाद्, अतीतपाकवत्'। वर्तमान पाक जिस पाक के पूर्वकालीन है, वही भावी पाक सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि अन्तिम पाक व्यक्ति में पाकत्व हेतु है, किन्तु उसमें पाकपूर्वकालीनत्व नहीं, अतः 'पाकत्व' हेतु व्यभिचारी है। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इसी अनुमान के द्वारा उपस्थित भावी अन्तिम पाक व्यक्ति में ही व्यभिचार-ज्ञान होगा, अतः उक्त अनुमान के द्वारा भावी पाक की सिद्धि पहले ही करनी होगी। यदि इस अनुमान से भावी अन्तिम पाक सिद्ध हो जाता है, तब व्यभिचार-ज्ञान क्या करेगा ? यदि भावी चरम पाक व्यक्ति की सिद्धि नहीं होती, तब व्यभिचार-ज्ञान किस में होगा ? दूसरी बात यह भी है कि शब्द प्रमाण के द्वारा भी सकल धूमादि व्यक्तियों का ज्ञान हो सकता है, उस के लिए सामान्यप्रत्यासत्ति की क्या आवश्यकता ? यद्यपि जहाँ-जहाँ व्यभिचार-शङ्का हो, वहाँ-वहाँ शब्द की उपस्थिति अनिवार्यरूप से हो—यह आवश्यक नहीं, तथापि कदाचित् शब्द के द्वारा भावी वस्तु की अनुभूति होती है, उसके संस्कार अन्तस्तल पर पड़े रहते हैं, उन्हीं के द्वारा भावी वस्तु का स्मरण व्यभिचार-शङ्का के पूर्व होता रहता है, हाँ, स्मृति ज्ञान के तत्तादि चिह्नों का प्रमोष हो जाने के कारण उस ज्ञान में स्मरणात्मकता का व्यवहार न हो, यह दूसरी बात है।

अद्वैतसिद्धिः

सामान्यप्रत्यासत्तिसिद्धिः, न चानुमानान्तराद्विशेषणज्ञानमनवस्थानादिति चेन्न, विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानादेव साध्यविशेषणकपक्षविशेष्यकानुमितिसंभवात् । एतेन—'सुरभि चन्दन' मित्यादिविशिष्टज्ञानाय कल्पिता ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिरपि निरस्ता, चन्दनत्वेन सुरभित्वानुमानोपपत्तेः, अन्यथा साध्यविशिष्टपक्षप्रत्यक्षोपपत्तेरनुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्गात् । न च—अभावसाध्यककेवलव्यतिरेकिणि साध्यप्रसिद्धेरनङ्गत्वात्तत्र क्लृप्ताया अनुमितिसामग्र्याः प्रत्यक्षसामग्रीतो बलवत्त्वमिति-वाच्यम्, अर्थापत्तिवादिभिरस्माभिस्तदनभ्युपगमात् । पर्वतवृत्तिधूमो वह्निव्याप्य इति परामर्शात् साध्यविशेष्यकपक्षविशेषणकानुमित्यभ्युगमे तु नैव काप्यनुपपत्तिः । अनुमितेः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—'पर्वतो वह्निमान्'—इस प्रकार की अनुमिति भी एक विशिष्ट-ज्ञान है, विशिष्ट ज्ञान सदैव विशेषण-ज्ञान से जनित होता है, अतः असन्निहित वह्निरूप विशेषण का ज्ञान करने के लिए सामान्य-प्रत्यासत्ति की शरण में जाना ही पड़ेगा । अनुमानान्तर से उसका ज्ञान करने पर अनवस्था होगी ।

समाधान—वह्नित्वादिरूप विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान से ही अनुमितिरूप विशिष्ट-ज्ञान हो जाता है, सामान्य लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं ।

जैसे सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति का निरास किया गया, उसी प्रकार 'सुरभि चन्दनम्'—इस प्रकार के ज्ञान का सम्पादन करने के लिए कल्पित ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति भी निरस्त हो जाती है, क्योंकि 'सुरभि चन्दनम्'—यह चाक्षुष नहीं कि जिस के लिए सौरभ के साथ चक्षु के ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष की आवश्यकता हो, अपितु उक्त ज्ञान अनुमानात्मक है, जिसमें सुरभित्व का अनुमान 'चन्दनत्व' हेतु के द्वारा किया जाता है । अन्यथा सर्वत्र अनुमान-स्थल पर ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा साध्य-विशिष्ट पक्ष का प्रत्यक्ष ही हो जायगा, अतः अनुमान मात्र का उच्छेद होगा ।

शङ्का—ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष को मान लेने पर अनुमान मात्र का उच्छेद तब प्रसक्त होता है, जब कि सर्वत्र प्रत्यक्ष की सामग्री अनुमान-सामग्री से प्रबल हो । किन्तु ऐसा नहीं, अप्रसिद्धसाध्यक केवल व्यतिरेकी अनुमान में साध्य का ज्ञान पहले नहीं हुआ करता, अतः ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा साध्य-विशिष्ट पक्ष का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । उस स्थल पर अनुमिति की सामग्री प्रत्यक्ष-सामग्री से भी अधिक बलवती होकर अनुमिति ज्ञान को ही जन्म दिया करती है ।

समाधान—वेदान्त-सिद्धान्त में केवल व्यतिरेक-व्याप्ति को अनुमान का अङ्ग ही नहीं माना जाता । उसके कार्य का सम्पादन अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा किया जाता है । अतः अन्वयव्याप्तिस्थलीय सभी अनुमानों में ज्ञानलक्षणा के द्वारा साध्य-विशिष्ट पक्ष का प्रत्यक्ष ही हो जायगा, अनुमानमात्र का उच्छेद प्रसक्त होता है, इसलिए ज्ञान-लक्षणा प्रत्यासत्ति को इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं माना जा सकता ।

यह जो कहा था कि अनुमिति में साध्यरूप विशेषण का भान करने के लिए सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति अपेक्षित है, वह तभी संगत हो सकता था, जब कि यह नियम मान लिया जाता कि अनुमिति में साध्य सदैव विशेषण ही रहता है । किन्तु ऐसे नियम में कोई प्रमाण नहीं, वस्तुस्थिति यह है कि 'पर्वतवृत्तिधूमो वह्निव्याप्यः'—इस प्रकार के परामर्श से साध्यविशेष्यक पक्षविशेषणक 'पर्वते वह्निः'—इस प्रकार की

अद्वैतसिद्धिः

पक्षविशेष्यत्वनियमे मानाभावात् । किं च धूमत्वादिसामान्यं न स्वरूपतः प्रत्यासत्तिः, धूलीपटले धूमभ्रमानन्तरं धूमत्वेन सकलधूमनिष्ठवह्निव्याप्तिग्रहानुदयप्रसङ्गात्, तत्र स्वरूपतो धूमत्वाभावात्, न चेष्टापत्तिः, तदुत्तरकालमनुमित्यनुदयापत्तेः, तथा च धूमत्वज्ञानं प्रत्यासत्तिरिति—वाच्यम्, तच्च धूमेन्द्रियसन्निकर्षदशायां धूमज्ञानात् प्राङ्नास्त्येव । निर्विकल्पके मानाभावाद्, विशिष्टज्ञानत्वेन विशेषणज्ञानत्वेन च कार्यकारणभावानभ्युपगमात्, अवश्यक्लृप्तकार्यकारणभावविशेषेणैव सर्वव्यवहारोपपत्तेः । न च धूमत्वेन सन्निकृष्टधूमव्यक्तिज्ञानानन्तरं तत्समानाकारमसन्निकृष्टधूमगोचरं ज्ञानान्तरमुत्पद्यत इत्यत्र मानमस्ति; धूमत्वेन पुरोवर्तिनं धूमं साक्षात्करोमि न

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अनुमिति होती है, अतः इस प्रकार की अनुमिति में न तो वह्नि विशेषण ही है और न उसके ज्ञान के लिए सामान्यलक्षणा की आवश्यकता ही है ।

'सामान्यलक्षणा' शब्द के श्री रघुनाथ शिरोमणि ने दो अर्थ किये हैं—"सामान्यं लक्षणं स्वरूपं यस्या इत्यर्थे सामान्यमेव प्रत्यासत्तिः, सामान्यं लक्षणं निरूपकं यस्या इत्यर्थे तु तज्ज्ञानम्" (दी० पृ० ७७३) । अर्थात् स्वरूपतः सामान्य तथा सामान्य-ज्ञान—दोनों को प्रत्यासत्ति माना गया है । उनमें धूमत्वादि सामान्य (जाति) को स्वरूपतः प्रत्यासत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि धूलिमय वात्याचक्र में धूम का भ्रम होने के पश्चात् धूमत्वेन उपस्थित सकल धूम-निष्ठ वह्नि-व्याप्ति का स्मरण होता है, वह नहीं होगा, क्योंकि धूलि-पटल में स्वरूपतः धूमत्व विद्यमान नहीं होता । इसे इष्टापत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि उस व्याप्ति-स्मरण के पश्चात् जो अनुमिति अनुभव-सिद्ध है, उसका अपलाप करना पड़ेगा । अतः यह सिद्ध हो गया कि धूमत्व प्रत्यासत्ति नहीं है, अपि तु धूमत्व-ज्ञान प्रत्यासत्ति है—यही कहना होगा । वह धूमत्व-ज्ञान धूम के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष की अवस्था में धूम-ज्ञान से पहले नहीं है । हाँ, नैयायिकों की रीति से केवल धूमत्व का निर्विकल्पक ज्ञान हो सकता है, किन्तु उस निर्विकल्पक ज्ञान में कोई प्रमाण नहीं । नैयायिकगण निर्विकल्पक की सिद्धि के लिए जो अनुमान-प्रयोग किया करते हैं—'विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यम्, विशिष्टज्ञानत्वात्, दण्डिपुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत् ।' अर्थात् धूमत्ववान् अयम्—इस प्रकार की विशिष्ट बुद्धि से पहले 'धूमधूमत्वे'—इस प्रकार का वैशिष्ट्य-रहित केवल धूमत्व का ज्ञान निर्विकल्पक होता है, वह कार्य-कारण-भाव वेदान्त में स्वीकृत नहीं, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान में विशिष्ट-विषयता का भान अपनी नियत सामग्री से ही हुआ करता है, जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय-सन्निकर्षादि-घटित सामग्री से तथा अनुमानादि परोक्ष ज्ञानों में परामर्शादि से विशिष्ट-विषयता का भान होता है, उसके लिए 'विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यम्'—यह कार्यकारणभाव मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है । इसी प्रकार सामान्य-प्रत्यासत्ति से उस की आश्रयी-भूत सकल व्यक्तियों का ज्ञान भी अनुभव-सिद्ध नहीं, क्योंकि 'पहले धूमत्वेन सन्निकृष्ट व्यक्ति का ज्ञान होता है, ठीक उसके उत्तर क्षण में सन्निकृष्टासन्निकृष्ट सकल व्यक्तियों को विषय करने वाला वैसा ही दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है'—इस प्रकार की प्रक्रिया नितान्त प्रमाण-रहित है । प्रत्युत यही एक अनुभूति होती है कि 'धूमत्वेन सन्निकृष्टमेव धूमं पश्यामि, न त्वसन्निकृष्टम् ।' किन्तु नैयायिक-प्रक्रिया के अनुसार जगतीतल पर विलसित सकल धूम व्यक्तियों का मैं साक्षात्कार कर रहा हूँ—ऐसा अनुव्यवसाय होना

अद्वैतसिद्धिः

व्यवहितमित्यनुभवाच्च। अन्यथा जगतीगतसकलधूमव्यक्तीरहं साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसीयेत। न चैवमनुभवमात्रशरणैरभ्युपेयते। किं च सामान्यप्रत्यासत्त्यङ्गीकारे यत् प्रमेयम्, तदभिधेयम्, यत्प्रमेयवत्, तदभिधेयवदित्यादिव्याप्तिपरिच्छेदे सार्वज्ञ्यापत्तिः। न चेष्टैव सा, परज्ञानविषयो घटो न वेत्यादिसंशयानुपपत्तेः। न च—घटत्वप्रकारकघटविषयकनिश्चयो घटसंशयविरोधी, प्रमेयमिति निश्चयस्तु घटविषयोऽपि न घटत्वप्रकारक इति—वाच्यम्, भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगिन एव प्रकारत्वात्, घटत्वस्यापि प्रमेयमिति ज्ञाने भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वात्, घटत्वप्रकारकनिश्चयस्य घटत्वज्ञानजन्यत्वविशेषणाददोष इति चेत्, न; विशेषणज्ञानत्वेनैव तस्य जनकता वाच्या, तस्याः प्रागेव निरासात्, स्वरूपसंबन्धविशेषाभ्युपगमे चानिर्वचनीयवादापत्तेः इत्यादिदूषणानि बहुतरमूहनीयानि। तस्मात् सामान्यप्रत्यासत्त्या निषेधमात्रप्रतियोगित्वोपस्थितौ तदभावग्रहाद् बाध इत्यनुपपन्नमेव॥ इति सामान्यप्रत्यासत्तिभंगेन लौकिकालौकिकप्रत्यक्षबाधोद्धारः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

चाहिए था, वह नहीं होता। केवल हम ही अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर ऐसा नहीं कह रहे हैं, अपितु खण्डनकार श्रीहर्ष मिश्र ने भी कहा है—"तथा सति एकं प्रमेयं प्रत्यक्षयतः प्रमेयत्वसामान्यप्रत्यासत्त्या विश्वमेव प्रत्यक्षं स्यात्। एवमभ्युपगच्छतश्च श्रद्दधीमहि ते सार्वज्ञ्यमिदम्, यदि जानासि किमस्मच्चेतसि विपरिवर्तते" (खं. खं. खा. पृ. ३२०)। अतो यत् प्रमेयम्, तदभिधेयम्—इस प्रकार की व्याप्ति का निश्चय हो जाने पर 'घटः परज्ञानविषयो न वा ?' इस प्रकार का संशय नहीं होना चाहिए, किन्तु होता है।

शङ्का—घटत्वप्रकारक घटविषयक निश्चय ही घट-संशय का विरोधी होता है, किन्तु 'प्रमेयम्'—यह निश्चय घटविषयक होने पर भी घटत्वप्रकारक नहीं होता, अतः उक्त संशय क्यों नहीं होगा ?

समाधान—प्रतीयमान वैशिष्ट्य के प्रतियोगी को ही प्रकार माना जाता है। 'प्रमेयम्'—इस प्रकार के ज्ञान में प्रतीयमान वैशिष्ट्य का प्रतियोगी घटत्व भी है, अतः घटत्वप्रकारक निश्चय होने पर उक्त संशय क्योंकर होगा ? यदि कहा जाय कि वही घटत्वप्रकारक निश्चय उक्त संशय का विरोधी होता है, जो कि घटत्व-ज्ञान से जन्य हो। किन्तु यहाँ प्रमेयत्व-ज्ञान से वह जनित है, अतः उक्त संशय का विरोधी नहीं होता। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि घटत्व-ज्ञान को विशेषण-ज्ञान होने के नाते ही घटत्वप्रकारक निश्चय का जनक मानना होगा। उसका निरास तो अभी करके ही आए हैं। यदि कहा जाय कि हम प्रकारता को प्रतीयमान वैशिष्ट्य-प्रतियोगित्व न मान कर स्वरूपसम्बन्ध-विशेष मानेंगे, वह प्रकारता 'प्रमेयम्'—इस प्रकार के ज्ञान की घटत्व में नहीं है। तो वह भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूप को स्व-सम्बन्ध नहीं कह सकते, सम्बन्ध के लिए भिन्न होना आवश्यक है। यदि स्व में भी स्व का औपाधिक भेद मानकर स्व के सम्बन्ध की कथञ्चित् उपपत्ति की जाय, तब अनिर्वचनीयतावाद की शरण लेनी पड़ेगी। इस विषय में जितना ही गम्भीरता से सोचेंगे, उतना ही दोषों का भण्डार खुलता जायगा। अतः सामान्य-प्रत्यासत्ति से सकल निषेधों की प्रतियोगिता उपस्थित

अद्वैतसिद्धिः

ननु— प्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रग्राहित्वे शुक्तिरूप्यादेः प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं कथं प्रत्यक्षं स्यात्? अथ तत्र रजतत्वविरोधिशुक्तित्वे साक्षात्कृते तदन्यथानुपपत्त्या च रजतत्वाभावे निश्चिते मिथ्यैव रजतमभादिति तादृङ्निषेधप्रत्ययः स्वसंबन्धसर्वावभासकेन साक्षिणैवोपपन्नः, तर्हि साक्षात् स्वविषयस्य गगनादेर्भाविकालनिषेधाप्रतियोगित्वं सकलकालग्राहिणा साक्षिणा गृह्यतामिति—चेन्न, साक्षिणो विद्यमानसर्वावभासकत्वेनाविद्यमानभाविबाधाभावभासकत्वानुपपत्तेः, साक्षिज्ञानस्य भ्रमप्रमासाधारणत्वेन प्रमाणाबाधकत्वाच्च। ननु—ज्ञानप्रामाण्यं गृह्णन् साक्षी घटादिगतमबाध्यत्वं गृह्णात्येव, न हि विषयाबाधमनन्तर्भाव्य प्रामाण्यग्रहणं नाम इति—चेन्न, व्यवहारकालाबाध्यत्वमात्रेण प्रवृत्तावपि संवादोपपत्तेः, तद्रूपगतप्रामाण्यस्य साक्षिणा ग्रहणेऽपि विरोधाभावात्। न हि घटादिज्ञानस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होती है, उसका अभाव सत्त्व है, उस सत्त्व का ग्राहक 'सन् घटः'—यह प्रत्यक्ष है, इससे मिथ्यात्वानुमान का बाध होता है—यह प्रक्रिया सर्वथा निर्मूल और अनुपपन्न है।

द्वैतवादी—मीमांसा-वार्तिककार श्री कुमारिल भट्टने कहा है—

सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना।
सामान्यं वा विशेषो वा ग्राह्यं नातोऽत्र कल्प्यते॥ (श्लो. वा. पृ. १६०)

अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण वर्तमान वस्तु का ही ग्राहक होता हैं, उस के द्वारा त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का ग्रहण कैसे होगा? यदि कहा जाय कि रजत-भ्रम-जनक दोष की निवृत्ति होने पर सर्वप्रथम 'इयं शुक्तिः'—इस प्रकार इदंपदार्थ में शुक्तित्व का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, पश्चात् रजतत्व-विरोधि शुक्तित्व की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति की सहायता से रजतत्वाभाव का निश्चय होता है, उसके अनन्तर 'मिथ्यैव रजतमभात्'—इस प्रकार का त्रैकालिक निषेध-बोध साक्षी के द्वारा होता है, क्योंकि साक्षी स्वसम्बन्धी सर्व पदार्थों का भासक होता है। तो वह कहना उचित नहीं, क्योंकि यदि साक्षी त्रैकालिक वस्तु का भासक है, तब साक्षि-भास्य गगनादि में भावी बाध के अप्रतियोगित्वरूप सत्यत्व का ग्रहण साक्षी से क्यों नही होता?

अद्वैतवादी—साक्षी सर्व-भासक होने पर भी विद्यमान का ही भासक होता है, अविद्यमान का नहीं। भावी बाध के अभाव का भासक नहीं हो सकता। सुखादि अंश में में साक्षी ज्ञान जैसे प्रमा होता है, वैसे ही शुक्ति-रजतांश में भ्रम, अतः त्रिकाल-निषेधाप्रतियोगित्व अंश में साक्षिज्ञान भ्रम है, अथवा प्रमा? इस प्रकार संशयापन्न भ्रम-प्रमासाधारण है, अतः अनुमान-प्रमाण का बाधक नहीं हो सकता।

शङ्का—वेदान्त-सिद्धान्त में ज्ञानगत प्रामाण्य साक्षिभास्य माना जाता है, प्रामाण्य या प्रमात्व का अर्थ होता है—अबाधितविषयकत्व, अतः घटादि-ज्ञानों में प्रमात्व का ग्रहण यदि साक्षी करता है, तब उस के घटादिरूप विषय में अबाधितत्व का भी ग्रहण अवश्य करेगा, अतः साक्षी-द्वारा गृहीत प्रामाण्य का जैसे किसी प्रमाण से बाध नहीं होता, वैसे ही उसके द्वारा गृहीत विषयगत अबाधितत्व या सत्यत्व का मिथ्यात्वानुमान से बाध क्योंकर होगा?

समाधान—घटादि-ज्ञानों के प्रामाण्य का स्वरूप केवल व्यवहार-काल में अबाधितविषयकत्व मात्र होता है, उसी का संवाद या समर्थन व्यवहार या प्रवृत्ति में पाया जाता

अद्वैतसिद्धिः

संवादिप्रवृत्तिजनकतावच्छेदकं प्रामाण्यं त्रिकालाबाध्यविषयकत्वम्। किंतु शुक्तिरूप्यादिज्ञानव्यावृत्तं व्यवहारकालाबाध्यविषयकसकलज्ञानवृत्ति व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्वमेव। तच्च न भाविकालबाधविरोधीत्युक्तम्। भाविकालबाधतदभावौ च न मानं विना साक्षिणा ग्रहीतुं शक्यौ, तस्य विद्यमानमात्रग्राहित्वादिति चोक्तम्। ननु—तर्हि देहात्मैक्यज्ञानमुष्णं जलमित्यादि ज्ञानं च प्रमा स्यात्, व्यवहारदशायां विषयाबाधाद्—इति—चेन्न, आब्रह्मज्ञानमबाधितत्वेन तेषामपि घटादिज्ञानसमानयोगक्षेमत्वात्। ननु—कालान्तरस्थमपि यद् बाधकं तदपि किं यत्कालावच्छेदेन अनेन स्वार्थो गृहीतस्तत्कालावच्छेदेनैव तन्निषेधति, उतान्यकालावच्छेदेन, आद्ये कथमस्य प्रामाण्यम्? अन्त्ये तु अनित्यत्वादिकमेव—इति चेन्न, अबाध्यत्वरूपप्रामाण्यस्य प्रपञ्च-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है। अतः साक्षी-भास्य प्रामाण्य से घटादि विषयों का व्यवहार-काल में अबाधितत्व मात्र सिद्ध होता है, इस से मिथ्यात्वानुमान का कोई विरोध नहीं होता। प्रमाणभूत ज्ञान ही सफल प्रवृत्ति का जनक होता है, अतः जनक ज्ञानगत विशेषणरूप प्रामाण्य ही सफल प्रवृत्ति का जनकतावच्छेदक माना जाता है। वह प्रामाण्य व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्व ही है, न कि त्रिकालाबाध्यविषयकत्व। व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्व शुक्ति-रजतादि-ज्ञानों में नहीं, किन्तु संवादि प्रवृत्ति-जनक सकल प्रमाण ज्ञानों में ही रहता है। इस प्रकार का साक्षिभास्य प्रामाण्य भाविकाल-बाध का विरोधी नहीं कि जिससे भाविकाल में विषयगत अबाधितत्व सिद्ध हो। साक्षी के द्वारा भाविकालीन बाध या बाधाभाव का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि वह विद्यमान मात्र का ग्राहक होता है—यह कहा जा चुका है।

शङ्का—यदि व्यवहार काल में जिसके विषय का बाध न हो, उसे प्रमाण ज्ञान माना जाय, तब देह और आत्मा की एकता का ज्ञान एवं जलादिगत उष्णता का ज्ञान प्रमाण ही मानना पड़ेगा, क्योंकि इनके विषयों का भी व्यवहार-दशा में बाध नहीं होता।

समाधान—ब्रह्म-ज्ञान होने से पहले-पहले जिन व्यवहार-निर्वाहक ज्ञानों के विषय बाधित नहीं होते, उन्हें, व्यवहारतः प्रमाण माना जाता है, अतः देहात्मैकतादि के ज्ञान भी घटादि ज्ञानों के समकक्ष ही हैं। भाष्यकार आचार्य शङ्कर ने इस विषय की व्यवस्था सुन्दरपाण्ड्याचार्य के वचनों से इस प्रकार की है—

"देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥" (ब्र. भा. १।१।४)

शङ्का—वेदान्त-सिद्धान्त में व्यवहारतः प्रमाणभूत घटादि-ज्ञानों का भाविकाल में बाध माना जाता है। वहाँ यह सन्देह होता है कि व्यावहारिक प्रमाणों के द्वारा जिस काल में अपने विषय का सद्भाव बताया जा रहा है, भावी बाधक क्या उसी काल में उनके विषयों का निषेध करता है? अथवा अन्य काल में? प्रथम कल्प में घटादिज्ञानों को प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसी काल में उनके विषय बाधित हो जाते हैं। द्वितीय कल्प में विषय की अनित्यता ही सिद्ध होती है, मिथ्यात्व नहीं, क्योंकि 'किसी काल में विषय का होना और अन्य काल में न होना'—यही तो विषय की अनित्यता है।

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञाने मयानङ्गीकारात् । यत्कालावच्छेदेनैवानेन स्वार्थो गृहीतस्तत्कालावच्छेदेनैव तन्निषेधाभ्युपगमात् । तच्च प्रामाण्यं मयाभ्युपेयते यद् व्यवहारदशायां विपरीतप्रमारूपबाधकस्यानुत्पन्नत्वादस्त्येव । न च—यद् भवतां घटादिबुद्धेः प्रातिभासिकबुद्धितो वैलक्षण्यं विषयस्य व्यावहारिकसत्त्वसाधकं, तदेवेह मम विषयस्य पारमार्थिकसत्त्वसाधकमस्त्विति—वाच्यम् , प्रातिभासिकबुद्धिवैलक्षण्यं हि घटादिबुद्धेः सप्रकारकज्ञानाबाध्यविषयत्वादिरूपम् , तन्न पारमार्थिकसत्त्वं घटादेः साधयितुं शक्तम् , देहात्मैक्यज्ञाने ब्रह्मज्ञानाव्यवहितभ्रमे च व्यभिचारात् । ननु—'घटस्सन्' 'रूप्यं मिथ्ये'ति प्रतीत्योरविशेषे कथं 'घटो मिथ्या, रूप्यमिथ्यात्वं न मिथ्ये'ति विशेषः ? न च तदपि मिथ्यैव, रूप्यतात्त्विकत्वापत्तेः– इति चेन्न , मिथ्यात्वमिथ्यात्वेऽपि यथा न रूप्यस्य तात्त्विकत्वं तत्रोपपत्तेरुक्तत्वात् । न च—पारमार्थिकसत्त्वस्य प्रत्यक्षागोचरत्वे तन्निषेधश्रुतीनां अप्रसक्तप्रतिषेधकता स्यादिति—वाच्यम् . तासां चक्षुरादिप्रसक्त-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—प्रथम कल्प ही अभिमत है, फिर भी व्यावहारिक प्रमाणता सुरक्षित रहती है, क्योंकि घटादि का बाधक ज्ञान व्यवहार-काल में उत्पन्न नहीं हुआ, इतने से ही व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्व उपपन्न हो जाता है । प्रपञ्च-ज्ञान के विषय को सर्वथा अबाधित हम नहीं कहते, किन्तु व्यवहार-दशा में अबाधित कहते हैं ।

द्वैतवादी—आप (अद्वैतवादी) शुक्ति-रजतादि प्रतिभासिक-ज्ञानों की अपेक्षा घटादि-ज्ञानों में जिस विलक्षणता को देख कर घटादि की व्यावहारिक सत्ता मानने के लिए बाध्य हुए हैं, उसी विलक्षणता के आधार पर हम घटादि की पारमार्थिक सत्ता सिद्ध करते हैं ।

अद्वैतवादी—शुक्ति-रजतादि का ज्ञान 'नेदं रजतम्'—इस प्रकार के सप्रकारक ज्ञान से बाधित होता है, किन्तु घटादि-ज्ञान नहीं, घटादि-ज्ञान का ब्रह्म-ज्ञानात्मक अखण्डाकार या निष्प्रकारक बुद्धि के द्वारा ही बाध होता है, अतः सप्रकारकज्ञानाबाध्यत्वरूप वैलक्षण्य के द्वारा हम घटादि की व्यावहारिक सत्ता सिद्ध करते हैं । उससे पारमार्थिक सत्त्व नहीं सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि 'प्रपञ्च-ज्ञानं पारमार्थिकसद्विषयकम् , सप्रकारकज्ञानाबाध्यत्वात्'—इस प्रकार के अनुमान का हेतु देहात्मैक्यज्ञान एवं अखण्डाकार वृत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षणोत्पन्न प्रातिभासिक भ्रम में व्यभिचरित है, क्योंकि उनमें सप्रकारकज्ञानाबाध्यत्व है, पारमार्थिकविषयकत्व नहीं ।

शङ्का—'घटः सन्' और 'शुक्तिरूप्यं मिथ्या'—दोनों प्रतीतियाँ समान हैं, फिर भी उनके विषयों में विषमता क्यों ? अर्थात् 'घट' मिथ्या है और 'शुक्ति-रजत-मिथ्यात्व' मिथ्या नहीं । मिथ्यात्व भी यदि मिथ्या है, तब शुक्ति-रजत में अबाधितत्व या तात्त्विकत्व प्रसक्त होता है ।

समाधान—मिथ्यात्व के मिथ्या होने पर भी रजत में तात्त्विकत्वापत्ति का परिहार विगत पृ० ४७ पर किया जा चुका है ।

शङ्का—पारमार्थिक सत्त्व यदि प्रत्यक्ष का विषय नहीं, तब पारमार्थिक सत्त्व की निषेधक श्रुतियों में अप्रसक्त-प्रतिषेधकता की प्रसक्ति होती है ।

समाधान—चक्षुरादि प्रमाणों के द्वारा प्रसाधित द्वैत की निषेधकता ही उन

अद्वैतसिद्धि

द्वैतनिषेधपरत्वात् , पारमार्थिकत्वेन द्वैतनिषेधपरत्वेऽपि नाप्रसक्तनिषेधकत्वम् , परोक्षप्रसक्तेः संभवात् , 'नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्य' इत्यादिवदप्रसक्तप्रतिषेधस्याप्युपपत्तेश्च । न च—अतात्त्विकप्रपञ्चे यदि तात्त्विकत्वमप्यध्यक्षेण न गृह्यते, कथं तर्हि तस्यातत्त्वावेदकत्वम् ? न हि तदेव तत्त्वेनावेदयत्तात्त्विकं नाम, दृश्यते च सार्वलौकिकः प्रपञ्चे पारमार्थिकत्वानुभव इति—वाच्यम् , न ह्यस्माकं तत्त्वावेदकत्वं तद्वति तत्प्रकारकत्वम् , तद्भिन्नत्वमतत्त्वावेदकत्वम् , किन्त्वबाधितविषयकत्वं तत्त्वावेदकत्वम् , बाधितविषयत्वं चातत्त्वावेदकत्वम् ;अबाधितविषयत्वं तु श्रौते ब्रह्मज्ञान एव, न तद्भिन्नज्ञाने, तात्पर्यवद्वेदत्वेनैव तत्त्वावबोधकत्वात् । तथा च प्रपञ्चप्रत्यक्षस्य तात्त्विकत्वागोचरत्वेऽप्यतत्त्वावेदकत्वं सङ्गच्छते । सार्वलौकिकी पारमार्थिकत्वप्रसिद्धिस्तु जलगतपिपासोपशमनसामर्थ्यप्रसिद्धिवत् परोक्षतयाप्युपपन्ना नापरोक्षत्वपर्यवसायिनी । तस्मादध्यक्षयोग्यस्य सत्त्वस्येहानिरुक्तितः । नाध्यक्षबाधो मिथ्यात्वलिङ्गस्यात्रोपपद्यते ॥

न लौकिकं न सामान्यजन्यं साक्ष्यात्मकं न च ।
प्रत्यक्षं बाधते लिङ्गं मिथ्यात्वस्यानुमापकम् ॥

इति प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वानिरुक्त्या प्रत्यक्षबाधोद्धारः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

श्रुतियों में मानी जाती है। अनुमानाभासादि के द्वारा परोक्षतया प्रसक्त पारमार्थिकत्व का निषेध मानने पर भी अप्रसक्त-प्रतिषेधकता प्रसक्त नहीं होती। जैसे अन्तरिक्षादि में अप्राप्त इष्टिका-चयन का निषेध "नान्तरिक्षे न दिवि" (तै० सं० ५।२।७) इस श्रुति से किया जाता है, वैसे ही यहाँ भी अप्रसक्त-प्रतिषेध मानने में कोई दोष नहीं है।

शङ्का—अतात्त्विक प्रपञ्च में यदि तात्त्विकत्व का ग्रहण प्रत्यक्ष नहीं करता, तब उसे अतत्त्वावेदक या भ्रमज्ञान-जनक कैसे कहा जायगा ? क्योंकि तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान को ही भ्रम माना जाता है, वह तभी सम्भव है, जब कि तात्त्विकत्वाभाववाले प्रपञ्च से तात्त्विकत्व का ग्रहण हो। तात्त्विक प्रपञ्च में ही यदि प्रत्यक्ष तात्त्विकत्व का भासक है, तब उसे अतत्त्वावेदक कौन कहेगा, क्योंकि वह तद्वति तत्प्रकारक ज्ञान का जनक है। प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व का अनुभव सर्वजनीन भी है।

समाधान—वेदान्त-सिद्धान्त में न तो तद्वति तत्प्रकारकत्व को प्रमा या तत्त्वावेदकत्व कहा जाता है और न तदभाववति तत्प्रकारकत्व को भ्रम या अतत्त्वावेदक। किन्तु अबाधितविषकत्व को तत्त्वावेदकत्व तथा बाधितविषयकत्व को अतत्त्वावेदकत्व कहा जाता है, श्रुति-जन्य ब्रह्म-ज्ञान में अबाधितविषयकत्व है, उससे भिन्न ज्ञान में नहीं। तत्परक (ब्रह्मपरक) वेद को ही तत्त्वावेदक माना जाता है। अतः प्रपञ्च का प्रत्यक्ष तात्त्विकत्व का ग्रहण न करता हुआ भी बाधितविषयक होने के कारण अतत्त्वावेदक कहा जा सकता है। यह जो कहा था कि प्रपञ्च की पारमार्थिकत्व-प्रसिद्धि सर्वजनीन है। वह प्रसिद्धि वैसी ही है, जैसी कि जल में प्यास बुझाने के सामर्थ्य की प्रसिद्धि। अर्थात् जलगत सामर्थ्य या शक्ति अतीन्द्रिय पदार्थ है, प्रत्यक्ष उसका ग्राहक नहीं, फिर भी सुनी-सुनाई प्रसिद्धि की प्रौढ़िमा उसे प्रत्यक्ष के रूप में ढाल देती है। अतः प्रत्यक्ष-योग्य सत्त्व का निरूपण नहीं किया जा सकता और न प्रत्यक्ष प्रमाण से मिथ्यात्वानुमान का बाध हो सकता है। अर्थात् मिथ्यात्वानुमापक हेतु का बाधक न तो लौकिक प्रत्यक्ष हो सकता है, न सामान्य-लक्षणा-जन्य अलौकिक प्रत्यक्ष और न साक्षिरूप प्रत्यक्ष।

न्यायामृतम्

: १७ :

सन् घट इति प्रत्यक्षेऽधिष्ठानानुवेधः

नन्विदं रूप्यमित्यत्रेदमितिवत् सन् घट इत्यत्रापि सन्नित्यधिष्ठानब्रह्मानुवेध एवेति चेन्न, चाक्षुषादिज्ञाने रूपादिहीनब्रह्मास्फुरणादित्युक्तत्वात्। नीलो घटः, मिथ्या रूप्यम् असन्नृशृंगमित्यादावपि नील इत्यादिरधिष्ठानानुवेध इत्यापाताच्च। नैल्यादिकं घटेऽस्ति सत्त्वं तु नेति चेन्न, अस्यारोपितत्वसिद्धयधीनत्वेनान्योऽन्याश्रयात्। अन्यथा सत्यं ज्ञानमित्यत्रापि सत्यमित्यधिष्ठानानुवेध इति स्यात्। न ह्यद्यापि ब्रह्मैव सद्रूपमन्यन्मिथ्येति सिद्धम्।

अद्वैतसिद्धिः

'किचेदं रूप्य' मित्यत्र इदमितिवत् 'सन् घट' इत्यत्रापि सदित्यधिष्ठानभूतं ब्रह्मैव भासते। न च—चाक्षुषादिज्ञाने रूपादिहीनस्य ब्रह्मणः कथं स्फुरणमिति—वाच्यम्, रूपादिहीनस्यापि कालादिन्यायेन स्फुरणस्य प्रागेवोपपादितत्वात्। नन्वेवं—'नीलो घटः मिथ्या रूप्यमसन्नृशृङ्ग'मित्यादावपि 'नील' इत्यादिरधिष्ठानानुवेध इति स्यात्, न च—नैल्यं घटादिष्वस्ति, सत्त्वं तु नेति—वाच्यम्, अस्यारोपितत्वसिध्युत्तरकालीनत्वेनान्योऽन्याश्रयाद्, अन्यथा 'सत्यं ज्ञान' मित्यत्रापि सत्यमित्यधिष्ठानानुवेध एव स्यात्—इति चेन्न, सन्नित्यस्य 'घट' इत्यनेन सामानाधिकरण्यस्य बाधितत्वात्। तथा हि—सत्ताजातिस्फुरणनिबन्धनं वा ? स्वरूपसत्त्वनिबन्धनं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'इदं रजतम्'—यहाँ पर जैसे इदंरूप से शुक्तिरूप अधिष्ठान का भान होता है, वैसे ही 'घटः सन्'—यहाँ पर सद्रूप से अधिष्ठानभूत ब्रह्म का। चाक्षुष ज्ञान में रूप-रहित ब्रह्म का भान कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर पहले (पृ० ७९ पर) दिया जा चुका है कि नीरूप कालादि पदार्थों का जैसे चाक्षुष ज्ञान में स्फुरण होता है, वैसे नीरूप ब्रह्म का भी हो जायगा। [अर्थात् 'घटः सन्'—यह प्रत्यक्ष यदि घटगत स्वतन्त्र सत्त्व को विषय करता, तब कथञ्चित् मिथ्यात्वानुमान का विरोध हो सकता था, किन्तु यह प्रत्यक्ष घट को सत् न कह कर उसके अधिष्ठान को सत् कहता है, अतः इससे प्रपञ्च-मिथ्यात्व के अनुमान की प्रगति रुक नहीं सकती]।

द्वैतवादी—यदि 'सन् घटः'—इस प्रतीति में सद्रूप से अधिष्ठान का अनुवेध माना जाय, तब 'नीलो घटः' में नीलरूप से, 'मिथ्या रजतम्' में मिथ्यात्वरूप से, तथा 'असत् नृशृङ्गम्' में असद्रूप से अधिष्ठान का ही स्फुरण होना चाहिए। यदि कहा जाय कि नीलता आदि धर्म घटादि में रहते हैं, अतः वहाँ अधिष्ठान का अनुवेध नहीं, किन्तु 'घटः सन्'—यहाँ सत्त्व घट का धर्म नहीं; अतः अधिष्ठान का अनुवेध माना जाता है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत्त्व घट का धर्म नहीं—यह बात तभी कह सकेंगे, जब कि सत्त्व का आरोपित होना सिद्ध हो जाय, नहीं तो अन्योऽन्याश्रय दोष होगा—'घट में सत्त्व का अभाव है, क्योंकि वह आरोपित है। घट में सत्त्व आरोपित है, क्योंकि घट में उसका अभाव है।' अथवा 'घटः सन्' के ही समान 'सत्यं ज्ञानम्' (तै० उ० २।१।१) यहाँ पर भी सत्यत्वरूप से अधिष्ठान का स्फुरण मानना पड़ेगा, तब तो ज्ञानरूप ब्रह्म की अपनी सत्यता ही समाप्त हो जाती है।

अद्वैतवादी—'सन् घटः' का अर्थ होता है—सत्तादात्म्यापन्नो घटः। घट में सत्तादात्म्य सम्भव नहीं, क्योंकि 'सन्' शब्द से सत्ता जाति का ? या स्वरूप सत्त्व का ?

अद्वैतसिद्धिः

वा? कालत्रयाबाध्यत्वनिबन्धनं वा ? सामानाधिकरण्यं स्यात् । न चाभावादिसाधारण-सत्प्रतीतौ सत्ताजातिस्फुरणं संभवति, अभावादिषु त्वयापि तदनङ्गीकारात् । न च क्वचित्साक्षात्सम्बन्धेन क्वचित् परम्परासम्बन्धेन सदिति प्रतीत्युपपत्तिः, विजातीय-सम्बन्धेन समानाकारप्रतीत्यनुपपत्तेः, अन्यथा सम्बन्धभेद एव न सिध्येत् । न च स्वरूपसत्त्वेनाभावादौ तत्प्रतीतिः, अननुगमात्, अननुगतेनापि अनुगतप्रतीतौ जाति-मात्रोच्छेदप्रसङ्गात् ; अत एव न सर्वत्रापि स्वरूपसत्त्वेनैव सद्व्यवहारः, एकेनैव सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्प्रतीत्युपपत्तौ बहूनां तद्धेतुत्वकल्पने मानाभावात् । नापि कालत्रयाबाध्यत्वनिबन्धनं तत्, तस्य चक्षुराद्यगम्यत्वस्योक्तत्वात्, 'सदिदं रजत' मित्यादिभ्रमे अभावाच्च । तस्मादेकं सर्वाधिष्ठानमेव सदिति सर्वत्रानुभूयत इति युक्तम्, नीलादेस्तु घटादिसामानाधिकरण्ये किमपि नास्ति बाधकम्, न वा नीलादेरधिष्ठानत्वं सम्भवति, प्रागसत्त्वात्, नीलपीतादिप्रातिस्विकानन्ता-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अथवा त्रिकालाबाध्यत्व का भान माना जाता है ? 'सत्ता' जाति का स्फुरण 'सन् अभावः' आदि में कैसे होगा ? क्योंकि अभावादि में सत्ता जाति आप भी नहीं मानते । "घटादि में सत्ता जाति का साक्षात् तथा 'सत् सामान्यम्', 'सन् विशेषः' 'सन् समवायः' तथा 'सन् अभावः'—इन प्रतीतियों में परम्परा सम्बन्ध (स्वाधिकरणवृत्तित्व) से सत्ता का भान होता है"—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विविध (अननुगत) सम्बन्धों से एकविध (अनुगत) प्रतीतियों का सम्पादन नहीं किया जा सकता। वार्तिककार कहते हैं—

सत्तातोऽपि न भेदः स्याद् द्रव्यत्वादेः कुतोऽन्यतः ।
एकाकारा हि संवित्तिः सद् द्रव्यं सन् गुणस्तथा ।। (वृह. वा. पृ. ३०४)

यदि विभिन्न सम्बन्धों से समानाकार प्रतीति मानी जाय, तब कहीं पर भी सम्बन्ध-भेद सिद्ध नहीं होगा । द्वितीय (स्वरूपसत्त्व) कल्प मान कर अभावादि में स्वरूपसत्त्व की प्रतीति भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप भिन्न होता है, एक नहीं, उस अननुगत स्वरूप के आधार पर समानाकार प्रतीतियों का निर्वाह हो जाने पर उसके लिए जातिरूप एक अनुगत धर्म की सिद्धि नहीं हो सकेगी, जातिमात्र का उच्छेद हो जायगा । अतः स्वरूप सत्ता के द्वारा भी 'घटः सन्' आदि का सद्व्यवहार सम्पादित नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब किसी एक सत्त्व के द्वारा ही सर्वत्र सत्प्रतीति उपपन्न हो जाती है, तब अनेक स्वरूपों को उसका हेतु मानना व्यर्थ है । तृतीय (त्रिकालाबाध्यत्व) कल्प में कथित चक्षुरादि के द्वारा अग्राह्यत्व दोष दिया जा चुका है एवं 'सदिदं रजतम्'—इत्यादि भ्रमों में त्रिकालाबाध्यत्व का अभाव भी है, अतः उसे सत्त्व नहीं कहा जा सकता । फलतः जगत् का अधिष्ठानभूत एक ही सत् तत्त्व सर्वत्र अनुगत रूप में प्रतीत होता है—यही मानना युक्ति-संगत है ।

सत्ता का घट के साथ सामानाधिकारण्य जैसे बाधित है, वैसे नीलादि का घटादि-सामानाधिकरण्य बाधित नहीं । दूसरी बात यह भी है कि नीलादि में अधिष्ठान बनने की योग्यता भी नहीं, इसका पहला कारण यह है कि घटादि की उत्पत्ति से पूर्व उनका सद्भाव ही नहीं । दूसरा कारण यह है, कि 'नीलो घटः' में नील, पीतो घटः' में पीत तथा 'रक्तो घटः' में रक्तादि अनेक पदार्थों को अधिष्ठान मानने में गौरव

अद्वैतसिद्धिः

धिष्ठानकल्पने गौरवात्, अधिष्ठेयेन तुल्ययोगक्षेमत्वाच्च । अधिष्ठेयविषमसत्ताकमेव ह्यधिष्ठानं भवति, 'मिथ्या रूप्यमसन्नृश्रृङ्ग' मित्यादौ मिथ्यात्वासत्त्वयोरधिष्ठानत्व-शङ्कापि नास्ति, शून्यवादापत्तेः । तत्र चानुपपत्तिरुक्ता, वक्ष्यते च । यत्तु—'सत्यं ज्ञानमनन्त' मित्यत्रापि तथा स्याद्—इति । तन्न, यतो न तत्र सत्तासम्बन्धेन सत्त्वम्, किंतु स्वरूपेणैवेत्युक्तदोषानवकाशात् । न चैवं घटादावपि स्वरूपेणैव तथात्वम्, पूर्वमेव निराकृतत्वात्, इति सन्घट इति प्रत्यक्षेऽधिष्ठानानुवेधनिरूपणम् ।

—o—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भी है । तीसरा कारण यह है कि अधिष्ठेय घटादि के समकक्ष ही नीलादि है, विषम सत्तावाले नहीं है, जब कि नियम यह होना है कि अधिष्ठान सदैव अधिष्ठेय की अपेक्षा विषमसत्ताक होता है । 'मिथ्या रूप्यम्', 'असत् नृश्रृङ्गम्'—यहाँ तो असदादि पदार्थों में अधिष्ठानता की शङ्का भी नहीं हो सकती, नहीं नो शून्यवाद की आपत्ति होगी । शून्यवाद में भ्रम-प्रमादि की अनुपपत्ति होगी—यह कहा भी जा चुका है और आगे भी कहा जायगा । यह जो कहा था कि 'सत्यं ज्ञानम्'—यहाँ पर भी ज्ञान का अधिष्ठान सत्य पदार्थ को होना चाहिए, वह युक्त नहीं, क्योंकि ज्ञान में सत्यता या सद्रूपता औपाधिक नहीं, अपितु स्वरूपतः ज्ञान सत् है । अर्थात् ज्ञान ब्रह्मरूप है और ब्रह्म सत्ता धर्म के सम्बन्ध से सद्रूप नहीं, किन्तु स्वरूपतः सद्रूप है । घटादि के स्वरूप अनन्त है, अननुगत हैं, अतः उन्हें स्वरूपतः सत् नहीं कहा जा सकता—यह ऊपर अभी कहा चा चुका है ।

: १८ :

प्रत्यक्षस्य न्यायैः प्राबल्यविचारः

न्यायामृतम्

ननु तथापि कथं प्रत्यक्षमात्यन्तिकाबाध्यत्वग्राहि ? तात्कालिकाबाधस्तु रूप्यादेरिवेष्ट इति चेत् , किं प्रत्यक्षमप्रमाणमेव ? उत प्रमाणमपि कथं सत्यत्व-ग्राहित्वात् त्रिकालाबाधग्रहाक्षमम् । आद्येऽपि स्वतःप्राप्तस्य तत्त्वावेदकत्व-प्रामाण्यस्य त्यागः किमनुमानविरोधाद् ? आगमविरोधाद्वा ? भाविबाधकशङ्कामात्रेण वा ? नाद्यौ, तयोः प्रामाण्ये तद्विरोधेनाक्षस्याप्रामाण्यम् , सति च तस्मिन्मानाविरोधेन तयोः प्रामाण्यमित्यन्योन्याश्रयात् । अक्षस्य तु प्रबलस्य प्रामाण्यम (नुमितिशाब्दाविरो)

अद्वैतसिद्धिः

किं च निश्चितप्रामाण्यमेव प्रत्यक्षमितरबाधकं भवेत् , न चात्र प्रामाण्यं निश्चितम् ; आगमविरोधाद् , अनुमानविरोधाद् , भाविबाधाभावानिर्णयाच्च ॥ ननु प्रत्यक्षमेव प्रबलमनुमानागमबाधकम् , नानुमानागमौ, प्रत्यक्षाप्रामण्ये तद्विरोधाभा-वेनानुमानागमयोः प्रामाण्यम् , तयोः प्रामाण्ये च तद्विरोधात् प्रत्यक्षाप्रामाण्यमित्य-न्योन्याश्रयात् । न हि प्रत्यक्षस्य प्रामाण्येऽप्येवमन्योऽन्याश्रयः, तस्यानपेक्षत्वाद् - इति चेन्न; चन्द्रतारकादिपरिमाणप्रत्यक्षे अनुमानागमविरोधेन तस्याप्रामाण्यदर्शनात्, तेनापि स्वप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमितराविरोधस्यावश्यमपेक्षणीयत्वात् । तथा चान्योऽन्या-श्रयतुल्यत्वात् परस्परविरोधेन प्रामाण्यसन्देहे सत्यनाप्तप्रणीतत्वादिना प्रमाजनक-त्वव्याप्तेर्वेदप्रामाण्यनिश्चये जाते तेन स्वतस्सम्भावितदोषस्य प्रत्यक्षस्य बाधात् । अस्मन्मते कान्योऽन्याश्रयः ? अन्यथा देहात्मैक्यप्रत्यक्षबुद्ध्या बाधाद् देहभिन्नत्वम-प्यात्मनो नागमानुमानाभ्यां सिद्ध्येत् ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'सन् घटः'—यह प्रत्यक्ष तभी मिथ्यात्वानुमान का बाधक हो सकता था, जब इसका प्रामाण्य पहले से ही निश्चित हो, किन्तु बाधित अर्थ को विषय करने के कारण इसका प्रामाण्य निश्चित नहीं। प्रत्यक्ष के विषय का बाध 'नेह नानास्ति'' (बृह. उ. ४।४।१९) आदि श्रुतियों, मिथ्यात्वानुमानों एव भावी बाधकों के द्वारा हो जाता है।

द्वैतवादी—प्रपञ्च-सत्यत्व-ग्राही प्रत्यक्ष ही प्रबल होने के कारण अनुमान और आगम का बाधक है, अनुमान और आगम इसके बाधक नहीं, अन्यथा इस प्रत्यक्ष के अप्रमाण होने पर उक्त अनुमान और आगम प्रमाण होंगे और उक्त अनुमान तथा आगम के प्रमाण हो जाने पर इस प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य आएगा—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय प्रसक्त होता है। प्रत्यक्ष को प्रथमतः प्रमाण मान लेने पर वह अन्योऽन्याश्रय दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि इसकी प्रमाणता अनुमानादि के अविरोध की अपेक्षा ही नहीं।

अद्वैतवादी—कोई प्रत्यक्ष स्वतः प्रमाण नहीं होता, क्योंकि चन्द्र-तारादि के परिमाण का प्रत्यक्ष अनुमान और आगम के विरोधी हो जाने के कारण अप्रमाण होता देखा गया है, अतः 'सन् घटः'—इस प्रत्यक्ष की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए अनुमान और आगम का अविरोध नियमतः अपेक्षित है। अतः प्रत्यक्ष को प्रमाण मान लेने पर भी अन्योऽन्याश्र बना रहेगा। हाँ, हमारी प्रक्रिया के अनुसार ही अन्योऽन्याश्रय दूर होगा कि आगम प्रमाण औरुषेय है, अनाप्तप्रणीत है, अतः इसका प्रामाण्य असन्दिग्ध है। इसके विपरीत प्रत्यक्ष में विविध दोषों की सम्भावना के कारण प्रामाण्य सन्दिग्ध है,

न्यायामृतम्

नुमानागमाविरोधापेक्षं नेति नान्योऽन्याश्रयः। न हि सिंहः शशशावकाभा(वं प्रतीक्ष्य) वमपेक्ष्य वनं गाहते। प्रत्यक्षस्यानुमित्यादितः प्राबल्यं च तदगृहीतरेखोपरेखादिविशेषग्राहित्वादनुमित्याद्यनिवर्तितदिङ्मोहादिनिवर्तकत्वाच्च जात्यैव। दृष्टं हि वह्निशैत्यानुमाने धर्म्यादेश्चक्षुरादिनापि सिद्धयानुपजीव्यत्वेऽपि औष्ण्यप्रत्यक्षस्य जात्यैव प्राबल्यम्।

अद्वैतसिद्धिः

ननु - प्रत्यक्षमनुमानाद्यपेक्षया जात्यैव प्रबलम्, कथमन्यथा औष्ण्यप्रत्यक्षेण वह्निशैत्यानुमितिप्रतिबन्धः? न च—तत्रोपजीव्यत्वनिबन्धनं प्रत्यक्षस्य बाधकत्वम्; धर्म्यादेश्चक्षुरादिनैव सिद्धेस्त्वचोऽनुपजीव्यत्वात्। किञ्च प्रत्यक्षस्य प्राबल्यमनुमानाद्यगृहीतरेखोपरेखादिग्राहकत्वादनुमानाद्यनिवर्तितदिङ्मोहादिनिवर्तकत्वाच्च—इति चेन्न; त्वाचप्रत्यक्षस्याप्युपजीव्यत्वेनैव शैत्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वसम्भवात्, चक्षुरादिना धर्म्यादिग्रहेऽपि त्वचं विना साध्यप्रसिद्धेरभावात्। तथा च न जात्या प्राबल्ये मानमस्ति ॥

तदगृहीतग्राहित्वमपि न प्राबल्ये प्रयोजकम्; प्रत्यक्षागृहीतधर्मादिग्राहकत्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतः आगम से इस प्रत्यक्ष का बाध हो जाता है, अन्योऽन्याश्रय कैसे होगा? यदि प्रत्यक्ष को पहले ही प्रमाण-पद पर अभिषिक्त कर दिया जाता है, तब देहात्मैकता का प्रत्यक्ष अनुमान और आगम के द्वारा देह से भिन्न आत्मा को कभी सिद्ध नहीं होने देगा।

१. प्रत्यक्ष का जात्या प्राबल्य-विचार—

द्वैतवादी—अनुमानादि की अपेक्षा प्रत्यक्ष जातितः ही प्रबल होता है, अर्थात् प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षत्व जाति का होना ही उसकी प्रबलता का कारण है, यदि नहीं, तब दहनगत औष्ण्य प्रत्यक्ष के द्वारा शैत्यानुमान का बाध कैसे होगा? यदि कहा जाय कि यहाँ प्रत्यक्ष की प्रबलता और बाधकता का-कारण उसकी उपजीव्यता है। अर्थात् वह्निरनुष्णः, कृतकत्वाद् घटवत्'—इस अनुमान में अपेक्षित पक्षरूप धर्मी की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होती है, अतः प्रत्यक्ष अनुमान का उपजीव्य है, अतः वह बाधक हो जाता है, उसकी बाधकता का कारण प्रत्यक्षत्व जाति नहीं। तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि वह्नि का चाक्षुष प्रत्यक्ष उपजीव्य है, वह बाधक नहीं, बाधक है—औष्ण्य-ग्राहक त्वाच प्रत्यक्ष, वह उपजीव्य नहीं। अतः त्वाच प्रत्यक्ष को जात्या प्रबल जानना होगा। जात्या उत्कर्ष को दो हेतु हो सकते हैं—(१) प्रत्यक्ष की जनक इन्द्रिय-सन्निकर्षादि-घटित सामग्री उत्कृष्ट है, अथवा (२) प्रत्यक्ष की कार्य प्रणाली में उत्कर्ष है। अर्थात् जो कार्य दूसरे प्रमाणों से नहीं सधता, प्रत्यक्ष उसका सम्पादन सहजतः कर देता है, जैसे अनुमानादि प्रमाणों से न तो वह्न्यादि प्रमेय में उतनी स्फुटता आती है और न दिग्भ्रम जैसे भ्रम ही दूर होते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से वह्न्यादि के कलेवर की एक-एक रेखा चमचमा उठती है और पूर्व-पश्चिम का समस्त भ्रम-भूत भाग जाता है भगवान् भास्कर का भव्य दर्शन पाते ही।

अद्वैतवादी—वह्नि-शैत्यानुमान का जैसे धर्मिग्राहक होने के कारण चाक्षुष प्रत्यक्ष उपजीव्य है, वैसे ही शैत्यरूप साध्य का ग्राहक होने के कारण त्वाच प्रत्यक्ष भी उपजीव्य होकर हीं त्वाच प्रत्यक्ष शैत्यानुमान का प्रतिबन्धक है। चक्षु से वह्निरूप धर्मी का ग्रहण हो जाने पर भी त्वगिन्द्रिय के बिना शैत्यरूप साध्य की प्रसिद्धि ही नहीं हो

न्यायामृतम्

"प्रावल्यमागमस्यैव जात्या तेषु त्रिषु स्मृतम्"—इति तु वैदिकार्थविषयम्। अत एवोक्तम्—"क च प्रत्यक्षतः प्राप्तमनुमागमबाधितम्" इति। उपक्रमाधिकरणन्यायेनोपसंहारादुपक्रमस्यैवानुपसंजातविरोधित्वाच्च। उक्तं हि—

असंजातविरोधित्वादर्थवादो यथाश्रुतः।
व्याख्येयस्तद्विरुद्धस्य विध्युद्देशस्य लक्षणा ॥ इति

अद्वैतसिद्धिः

परोक्षप्रमाणस्यैव प्रावल्यापत्तेः। नाप्यनुमानाद्यनिवर्तितदिङ्मोहादिनिवर्तकत्वेन प्रावल्यम्; एतावता हि वैधर्म्यमात्रं सिद्धम्। न च तावतेतरप्रमाणापेक्षया प्राबल्यं भवति, अन्यथा त्वाचप्रत्यक्षानिवर्तितवंशोरगभ्रमनिवर्तकत्वाच्चक्षुषोऽपि त्वगपेक्षया प्राबल्यं स्यात्। ततश्च चित्रनिम्नोन्नतज्ञानस्य चाक्षुषस्य तद्विरोधित्वाचज्ञानाद् बाधो न स्यात्। प्रत्युतागमस्यैव सर्वतः प्राबल्यं स्मार्यते—'प्राबल्यमागमस्यैव जात्या तेषु त्रिषु स्मृतम्' इति। न च—तद्वैदिकार्थविषयमिति—वाच्यम्; अद्वैतस्यापि वैदिकार्थत्वात्। 'क च प्रत्यक्षतः प्राप्तमनुमागमबाधितमिति' तु परीक्षितप्रामाण्यप्रत्यक्षविषयम्। ननु—प्रत्यक्षस्यासञ्जातविरोधित्वादुपक्रमन्यायेन प्राबल्यम्। उक्तं हि—'असंजातविरोधित्वादर्थवादो यथाश्रुतः। आस्थेयस्तद्विरुद्धस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सकती। अतः प्रत्यक्ष के जात्या प्रबल होने में कोई प्रमाण नहीं। यह जो कहा था कि अनुमानादि से अप्रकाशित रेखोपरेखा का प्रकाशक होने के कारण प्रत्यक्ष प्रबल है, वह भी प्रबलता का प्रयोजक नहीं, क्योंकि अगृहीत-ग्राहित्व को यदि प्रबलता का नियामक माना जाय, तब प्रत्यक्ष के द्वारा अगृहीत धर्माधर्मादि के ग्राहक होने के नाते आगमादि परोक्ष प्रमाण ही प्रत्यक्ष से प्रबल हो जायँगे। अनुमानादि से अनिवर्तित दिङ्मोहादि की निवर्तकता प्रत्यक्ष का वैधर्म्यमात्र है, प्रबलता का निर्णायक नहीं हो सकता। अन्यथा त्वाच प्रत्यक्ष के द्वारा अनिवर्तित दण्डगत सर्प-भ्रम का निवर्तक होने के कारण चक्षु को त्वगिन्दिय से प्रबल मानना होगा, फिर तो चक्षु के द्वारा अन्यथा-गृहीत चित्रादिगत निम्नोन्नतभाव का जो उसके विरोधी त्वाच ज्ञान से बाध होता है, वह नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रबल का दुर्बल से बाध नहीं होता। आगम से प्रत्यक्ष प्रबल नहीं, प्रत्युत प्रत्यक्ष से आगम का ही प्राबल्य प्रतिपादित है—'प्राबल्यमागस्यैव जात्या तेषु त्रिषु स्मृतम्।'' अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—इन तीनों में आगम ही जात्या प्रबल होता है। यदि कहा जाय कि यह वाक्य वैदिकार्थ-विषयक आगम की प्रबलता कह रहा है, तक अद्वत तत्त्व भी वैदिक अर्थ ही है, इसके प्रतिपादक उपनिषत् प्रमाण का प्राबल्य क्यों न होगा? यह जो माध्व वचन है कि ''क च प्रत्यक्षतः प्राप्तमनुमानागबाधितम्''। अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से प्राप्त (अवगत) अर्थ का अनुमान और आगम से बाध कहाँ देखा गया है? अर्थात् कहीं नहीं। वह कथन उस प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए संगत हो सकता है, जिस का प्रामाण्य परीक्षा की कसौटी पर खरा उतर चुका हो।

२. उपक्रम-प्राबल्य-न्याय से प्रत्यक्ष-प्राबल्य-विचार—

द्वैतवादी—प्रत्यक्ष प्रमाण असञ्जातविरोधी होने के कारण आगम से वैसे ही प्रबल है, जैसे उपक्रम का उपसंहार से प्राबल्य स्थापित किया गया है—

न्यायामृतम्

लिंगाच्छ्रुतेरिव शीघ्रगामित्वाच्च। उक्तं च—
प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा लोके बलाबलम्।
शीघ्रमन्थरगामित्वात्तथेह श्रुतिलिङ्गयोः ॥ इति ॥

अद्वैतसि०

विध्युद्देशस्य लक्षणा'—इति चेन्न; यत एकवाक्यस्थपरस्परसापेक्षपदत्वेन उभयोः साम्ये सत्युपक्रमस्थवेदपदानुरोधेनोपसंहारस्थर्गादिपदानां मन्त्रमात्रवाचिनां कृत्स्न-वेदपरत्वे निर्णीतेऽपि न प्रकृते तन्न्यायः सम्भवति, उभयोः साम्याभावाद्, गृहीत-प्रमाणभावश्रुत्यपेक्षया भ्रमविलक्षणत्वेनानिश्चितस्य प्रत्यक्षस्य न्यूनबलत्वाद्, अन्यथा 'इदं रजत'मिति भ्रमोऽपि 'इयं शुक्ति'रिति आप्तोपदेशापेक्षया प्रबलः स्यात्। एतेन लिङ्गात् श्रुतेरिव शीघ्रगामित्वात् प्रत्यक्षस्य प्राबल्यम्, तदुक्तम्–'प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा लोके बलाबलम्। शीघ्रमन्थरगामित्वात्तथैव श्रुतिलिङ्गयोः—' इत्यपास्तम्;

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

असञ्जातविरोधित्वाद् अर्थवादो यथा श्रुतः।
आस्थेयस्तद्विरुद्धस्य विध्युद्देशस्य लक्षणा ॥

[ऐतरेय ब्राह्मण (५।५६) में पहले एक अर्थवाद आया है—"त्रयो वेदा असृज्यन्त। अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात्सामवेदः।" इस उपक्रम के पश्चात् वहीं पर एक विधिवाक्य समाम्नात है—"उच्चैर्ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा, उच्चैः साम्ना।" अर्थात् ऋक् और साम का उच्चारण उच्च स्वर से तथा यजुः का उपांशु (नम्र) स्वर से उच्चारण किया जाय। इस विधि वाक्य में ऋक्, यजुः और साम पद से ऋङ्मन्त्र, यजुर्मन्त्र और साममन्त्र का ग्रहण है? अथवा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का? ऋगादि पद निसर्गतः ऋगादि मन्त्रों के वाचक होते हैं, किन्तु यहाँ उपक्रमगत अर्थवाद की एकवाक्यता स्थापित करने के लिए ऋगादि वेदों का ग्रहण सिद्धान्तित है—"वेदो वा प्रायदर्शनात्" (जै० सू० ३।३।२) अर्थात् स्वभावतः अर्थवाद दुर्बल तथा विधि वाक्य प्रबल माना जाता है, तथापि यहाँ अर्थवाद उपक्रम में होने से असञ्जातविरोधी है, अतः इसी का प्राबल्य मानकर ऋक्, यजुः और साम वेदों के उद्देश्य से उच्च स्वरादि का विधान माना जाता है, विधि वाक्य के अनुरोध पर उपक्रमस्थ अर्थवादगत ऋग्वेद की ऋङ्मन्त्र में लक्षणा नहीं कर सकते, अपि तु] असञ्जातविरोधी होने के कारण उसका यथाश्रुत वेदरूप अर्थ में तात्पर्य मानकर विधि-वाक्यगत ऋगादि पदों की ऋगादि वेद में लक्षणा की जाती है।

अद्वैतवादी—कथित एतरेय ब्राह्मण के एक ही महावाक्य में पठित अर्थवाद और विधि वाक्य दोनों समानरूप में परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं, अतः उपक्रमस्थ 'वेद' पद के अनुरोध पर उपसंहारस्थ मन्त्र-वाचक ऋगादि पदों का सम्पूर्ण वेद में तात्पर्य माना गया है। किन्तु प्रकृत में वह न्याय लागू नहीं होता, क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान—दोनों समान रूप में एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते, श्रुति की प्रमाणता पूर्व-निश्चित है और भ्रम-साधारण होने के कारण प्रत्यक्ष का प्रमाणभाव निश्चित नहीं, अतः यह दुर्बल है। आशय यह है कि जहाँ उपक्रम और उपसंहार—दोनों समकक्ष होते हैं, वहाँ ही उक्त न्याय प्रवृत्त होता है, किन्तु प्रकृत में प्रत्यक्ष और आगम दोनों समकक्ष नहीं, अपि तु प्रबल-दुर्बल हैं। फिर भी यदि यहाँ वह न्याय लागू होता है, तब

न्यायामृतम्

"यदाहवनीये जुहोति"—इत्यस्मात् "पदे जुहोति"—इत्यस्येव विशेषविषयत्वाच्च। प्रत्यक्षं हि विशिष्य घटसत्त्वग्राहि। श्रुतिस्तु सामान्येन द्वितीयनिषेधिका।

अद्वैतसिद्धिः

परीक्षितस्य मन्थरगामिनोऽपि प्राबल्यात्॥

न च—'यदाहवनीये जुहोती' त्यस्मात् 'पदे जुहोति'इत्यस्य विशेषविषयत्वेन प्राबल्यवद्, घटविषयसत्त्वग्राहिणः प्रत्यक्षस्य सामान्यतो द्वैतनिषेधकश्रुत्यपेक्षया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रथमोत्पन्न 'इदं रजतम्'—यह भ्रम ही पश्चाद्भावी 'इयं शुक्तिः' इस प्रकार के आप्तोपदेश से प्रबल हो जायगा।

उपक्रम-प्राबल्य-न्याय के आधार पर जैसे प्रत्यक्ष का प्राबल्य स्थापित नहीं किया जा सका, वैसे ही श्रुति-लिङ्ग-न्याय के अनुसार भी प्रत्यक्ष की प्रबलता सिद्ध नहीं की जा सकती। श्रुति-लिङ्ग-न्याय का स्वरूप पार्थसारथि मिश्र ने दिखाया है—

प्रत्यक्षे चानुमाने च यथा लोके बलाबलम्।
शीघ्रमन्थरवृत्तित्वात् तथेह श्रुतिलिङ्गयोः॥ (शा० दी० पृ० २४४)

अर्थात् लोक में जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल तथा अनुमान दुर्बल माना जाता है, वैसे ही यहाँ श्रुति प्रमाण लिङ्ग प्रमाण से प्रबल माना जाता है, क्योंकि श्रुति प्रमाण लिङ्ग की अपेक्षा शीघ्र कार्यकारी होता है [द्वितीया, तृतीयादि विभक्तियों को यहाँ श्रुति प्रमाण तथा शब्दादिगत बोधकत्व सामर्थ्य को लिङ्ग प्रमाण कहा गया है। 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे" (ऋ० सं० ८।५१।७) अर्थात् हे इन्द्र! तू कदापि घातक नहीं होता, अपि तु आहुति देने वाले यजमान पर प्रसन्न होता है—यह ऋचा इन्द्र देव की प्रतिपादिका होने के कारण ऐन्द्री कहलाती है। इस ऋचा का विनियोग किस कर्म में किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर दो प्रमाण पृथक्-पृथक् देते हैं—"ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते" (मै० सं० ३।२।४) इस विधि की द्वितीया-तृतीयारूप श्रुति प्रमाण का कहना है कि उक्त ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करना चाहिए तथा ऐन्द्री ऋचा के अभिधा शक्तिरूप लिङ्ग प्रमाण से अवगत होता है कि इस ऋचा के द्वारा इन्द्र देवता का उपस्थान करना चाहिए। इसका समाधान करते हुए महर्षि जैमिनि ने कहा—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१४) अर्थात् श्रुतिलिङ्गादि प्रमाणों का विरोध उपस्थित होने पर पूर्व-पूर्व प्रमाण की अपेक्षा उत्तरोत्तर प्रमाणों को दुर्बल समझना चाहिए, क्योंकि विनियोग की शैली में उत्तरोत्तर विप्रकर्ष होता जाता है, अर्थात् उत्तरोत्तर प्रमाण पूर्व-पूर्व प्रमाण के माध्यम से ही विनियोजक होता है, अतः उत्तरोत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व शीघ्र कार्यकारी होता है]। वैसे ही प्रकृत में सन् घटः—यह प्रत्यक्ष प्रमाण मिथ्यात्व-बोधक अनुमान और आगम दोनों से प्रबल है, अतः इसका बाधक होना अत्यन्त न्याय-संगत है—यह मतवाद भी इसलिए अपास्त (निरस्त) हो जाता है कि अस्वस्थ शीघ्रगामी से स्वस्थ मन्थरगामी बाजी मार जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण द्रुतगामी अवश्य है, किन्तु उसका प्रामाण्य सन्दिग्ध है। उसके विपरीत आगम का प्रामाण्य निश्चित है, अतः मन्दगामी होने पर भी प्राबल्य इसी का ही रहेगा—

३. सामान्य-विशेष न्याय से प्रत्यक्ष-प्राबल्य-विचार—

द्वैतवादी—'सन् घटः'—यह प्रत्यक्ष विशेषरूप से घटादि की सत्ता का साधक है

न्यायामृतम्

किं च यथा "यत्किंचित्प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशु चरति" इत्यत्रत्यस्य यत्किंचिच्छब्दस्य प्रकृतविशेषवाचित्वेन सामान्याविषयत्वेऽपि दीक्षणीयाव्यतिरिक्ते सावकाशत्वाद् "यावत्या वाचा कामयीत तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूयाद्"—इत्यनेन निरव-

अद्वैतसिद्धिः

प्राबल्यमिति—वाच्यम् ; सामान्यविशेषन्यायस्य निश्चितप्रमाणभावोभयविषयत्वाद्, अन्यथा 'अयं गौरश्व'इत्यादेरपि गौरश्वो न भवतीत्यादितः प्राबल्यं भवेत्।

न च—यथा 'यत्किञ्चित्प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशु चरन्ती' त्यत्रत्यस्य यत्किञ्चिच्छब्दस्य यत्किञ्चित्प्रकृतवाचित्वेन सामान्याविषयत्वेऽपि दीक्षणीयाव्यतिरिक्ते सावकाशत्वाद् 'यावत्या वाचा कामयीत तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूया'-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और 'नेह नानास्ति'—आदि आगम सामान्यरूप से प्रपञ्च का निषेध करते हैं, अतः यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण वैसे ही प्रबल रहेगा, जैसे कि "यदाहवनीये जुहोति" (तै० ब्रा० १।१।१०।५) इस सामान्य शास्त्र की अपेक्षा "पदे जुहोति" "वर्त्मनि जुहोति"—यह विशेष शास्त्र प्रबल माना गया है—"अविशेषेण यच्छास्त्रमन्याय्यत्वाद् विकल्पस्य तत्सन्दिग्धमाराद् विशेषशिष्टं स्यात्" (जै० सू० १०।८।१६) [अर्थात् सामान्यविषयक और विशेषविषयक शास्त्रों का जहाँ विरोध हो, वहाँ विशेष शास्त्र प्रबल होगा। "यदाहवनीये जुहोति"——यह सामान्यतः सभी आहुतियों का विधान आहवनीय अग्नि में ही करता है, किन्तु "पदे जुहोति" कहता है कि सोमयाग में सोमलता का क्रयण जिस गौ के बदले में किया जाता है, उसके उन पद-चिह्नों पर भूमि में होम किया जाय; जो कि गोष्ठ से लाते समय मार्ग में पड़े हैं। यह एक विशेष विषय है, अत इसमें आहवनीय-होम का विधान नहीं माना जाता]।

अद्वैतवादी—सामान्य-विशेष-न्याय वहीं लागू होता है, जहाँ दोनों प्रमाणों का प्रामाण्य निश्चित हो, अन्यथा "अयं गौरश्वः'—यह असंगत वाक्य भी गौरश्वो न भवति'—इस यथार्थ वाक्य का बाधक हो जायगा, क्योंकि असंगत वाक्य केवल एक सन्निहित गो में अश्वत्व का प्रतिपादन करता है, अतः विशेष है तथा द्वितीय वाक्य सभी गो व्यक्तियों में अश्वत्व का निषेध करता है, अतः सामान्यविषयक है, सामान्य से विशेष प्रबल होता है। किन्तु जब प्रामाण्याप्रामाण्य की ओर ध्यान देते हैं, तब ज्ञात होता है कि प्रथम वाक्य अप्रमाण और द्वितीय प्रमाण है, अतः द्वितीय ही बाधक है। उसी प्रकार 'सन् घटः'—यह प्रत्यक्ष सन्दिग्धप्रामाण्यक होने से दुर्बल और श्रुति वाक्य निश्चित रूप से प्रमाण होने के कारण प्रबल है—

४. सावकाश-निरवकाश-न्याय से प्रत्यक्ष-प्राबल्य-विचार—

द्वैतवादी—ज्योतिष्टोम के प्रकरण में दो वाक्य आये हैं—(१) "यावत्या वाचा कामयेत तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूयात्" अर्थात् दीक्षणीया इष्टि में मन्त्रों का उच्चारण जैसा चाहें, वैसा ही उच्च या मन्द स्वर में कर सकते हैं। (२) दूसरा वाक्य कहता है कि "यत्किञ्चित् प्राचीनमग्नीषोमीयात् तेनोपांशु चरन्ति" अर्थात् अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान करने के पूर्व विधीयमान 'दीक्षणीया इष्टि, यूप-गर्त-स्तरण और ऋत्विग्वरणादि अङ्गों का अनुष्ठान करते समय मन्त्रोच्चारण उपांशु (मन्द) स्वर में किया जाय। इन दोनों का विरोध उपस्थित होने पर मी. द. ९।१।६ में व्यवस्था दी गई है कि प्रथम

न्यायामृतम्

काशेन संकोचः, तथा वृत्त्यन्तरेण वा अनेकार्थत्वेन वा विषयान्तरपरत्वेन वा सावकाशायाः श्रुतेर्निरवकाशेनाक्षेण संकोचः किं न स्यात् ?

किं च पंचदशरात्रे प्रथमेऽहनि अग्निष्टुन्नामके नामातिदेशेन एकाहाग्निष्टुद्-

अद्वैतसिद्धिः

दित्यनेन निरवकाशेन संकोचस्तथा प्रत्यक्षेण निरवकाशेन वृत्त्यन्तरेणानेकार्थत्वेन वा विषयान्तरपरत्वेन सावकाशायाः श्रुतेः सङ्कोचः किं न स्यादिति—वाच्यम्; तात्पर्यलिङ्गै रुपक्रमादिभिर्द्वैतनिषेधपरत्वे अवधृते अद्वैतश्रुतेरपि निरवकाशत्वात्, प्रत्यक्षस्यापि व्यावहारिकद्वैतविषयतया सावकाशत्वाद्, विरुद्धयोश्च द्वयोरहं मनुष्य इत्यादिप्रत्यक्ष 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' इत्यादिश्रुत्योरिव तात्त्विकप्रामाण्यानुपपत्त्या कस्यचिद् व्यावहारिकं कस्यचित्तात्त्विकं प्रामाण्यमभ्युपेयम्; अत्यन्ताप्रामाण्यस्यान्याय्यत्वात्, तत्राद्वैतश्रुतेर्व्यावहारिकप्रामाण्यसम्भवे द्वैतग्राहिप्रत्यक्षादेस्तात्त्विकं प्रामाण्यं भवेत्, तदसम्भवे तु बलादेवाद्वैतश्रुतेस्तात्त्विकं प्रामाण्यमिति प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं पर्यवस्यतीति कृतबुद्धयो विदांकुर्वन्तु ॥

ननु—पञ्चदशरात्रे प्रथमेऽहन्यग्निष्टुन्नामके नामातिदेशेन एकाहाग्निष्टुद्धर्मभूता

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वाक्य निरवकाश है, तथा द्वितीय वाक्य को दीक्षणीया इष्टि से भिन्न क्रियाओं में अवकाश है, अतः काम-स्वर का बाध करके उपांशु स्वर का पालन किया जाता है। उसी प्रकार प्रकृत में प्रत्यक्ष प्रमाण निरवकाश है और अद्वैत श्रुति प्रत्यक्ष-भिन्न विषयों एवं अभेद-भावना आदि के प्रतिपादन में सावकाश है, अतः 'सन् घटः'—यह प्रत्यक्ष अपने विषय में आगमादि का बाध करके घटादि जगत् की सत्यता सिद्ध करता है।

अद्वैतवादी—तात्पर्य-ग्राहक उपक्रमादि छः लिङ्गों का नियन्त्रण अद्वैत श्रुति को एक मात्र सही दिशा प्रदान करता है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' अतः अद्वैत श्रुति निरवकाश है, अपने प्रपञ्च-पारमार्थिकत्व-निषेध के क्षेत्र में प्रत्यक्षादि का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकती। हाँ, प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्यता-सिद्धि में पूरा अवकाश है। अतः सावकाश-निरवकाश-न्याय की धारा यहाँ विपरीत-वाहिनी प्रतीत होती है कि इस के आधार प्रत्यक्ष दुर्बल और अद्वैत आगम प्रबल सिद्ध होता है। वस्तु-स्थिति तो यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण कहता है—'अहस्मीहैव सदने जानानः' और आगम कहता है—'अहमेवाधस्तादहनुपरिष्टात्' (छां० ७।२५।१)। यहाँ दोनों परस्पर टकरा जाते हैं, अतः किसी का व्यावहारिक और किसी का तात्त्विक प्रामाण्य मानना होगा। किसी एक को अत्यन्त अप्रमाण मानना, उसके साथ घोर अन्याय करना होगा। यदि प्रकृत में अद्वैत श्रुति को व्यावहारिक प्रामाण्य पाकर ही सन्तोष हो जाय, तब द्वैतग्राही प्रत्यक्ष तात्त्विक प्रामाण्य के पद पर प्रतिष्ठित हो सकेगा, परन्तु यदि अद्वैत श्रुति को उतने पर न मनाया जा सका, तब उसे तात्त्विक प्रामाण्य देना ही पड़ेगा और प्रत्यक्ष प्रमाण को व्यावहारिक प्रामाण्य मात्र पर ही सन्तोष करना पड़ेगा, इसी में उसकी ढकी भी रह जायगी—यह बात प्रत्यक्ष के पक्षपाती विद्वानों को अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए।

५. बहुबाधान्याय-न्याय से प्रत्यक्ष-प्राबल्य-विचार—

द्वैतवादी—'पञ्चदशरात्र' नाम के सत्र कर्म के प्रथम दिन में 'अग्निष्टुत्' नामक कर्म किया जाता है, उसमें 'सुब्रह्मण्या' नाम का निगद मन्त्र (देवाह्वान मन्त्र) बोला

न्यायामृतम्

संभूता सुब्रह्मण्याग्नेयी प्राप्ता। तस्या अल्पविषयायाश्चतुर्दशाहस्सु चोदकेन प्राप्तया ऐन्द्र्या बहुविषयया बाधः, बहुबाधस्यान्याय्यत्वात् । तथाद्वैतग्राहिप्रत्यक्षतदुपजीव्यनुमानकर्मकाण्डसृष्ट्यादिवाक्यसगुणोपासनावाक्यादिरूपबहुप्रमाणाबाधायाद्वैतवाक्यस्य प्रतीतार्थबाधः किं न स्यात्? तदुक्तम्—"बहुप्रमाणविरोधे चैकस्याप्रामाण्यं दृष्टं शुक्तिरजतादौ"—इति। इति प्रत्यक्षस्य जात्योपक्रमादिन्यायैश्च प्राबल्यम्।

अद्वैतसिद्धिः

सुब्रह्मण्याग्नेयी प्राप्ता, तस्या अल्पविषयायाश्चतुर्दशाहस्सु चोदकेन प्राप्तया ऐन्द्र्या सुब्रह्मण्यया बहुविषयया यथा बाधः, बहुबाधस्यान्याय्यत्वात्; तथाद्वैतग्राहिप्रत्यक्षतदुपजीव्यनुमानकर्मकाण्डसगुणोपासनावाक्यादिरूपबहुप्रमाणाबाधायाद्वैतवाक्यस्य प्रतीतार्थबाधः किं न स्यात्? तदुक्तम्—'बहुप्रमाणविरोधे चैकस्याप्रामाण्यमिष्टं शुक्तिरजतादिज्ञाने' इति—चेन्न; दृष्टान्ते बहुविषयया बाधोऽत्र बहुभिरिति वैषम्याद्, देहात्मैक्ये प्रत्यक्षानुमानशब्दाभासादिसत्त्वेऽपि देहात्मभेदबोधकस्यानन्य परत्वेनप्राबल्यवदत्रापि अनन्यपरत्वेनाद्वैतश्रुतेः प्राबल्याद्, विद्याविद्याभेदेन विद्वदविद्वत्पुरुषभेदेन च विरोधाभावादिति प्रत्यक्षस्य जात्युपक्रमन्यायादिभिः प्राबल्यनिराकरणम्॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता है। सुब्रह्मण्या दो प्रकार की है—(१) आग्नेयी (अग्निदेवताका) और (२) ऐन्द्री (इन्द्रदेवता का) इन दोनों में किस का अग्निष्टुत् में उच्चारण किया जाय? इस प्रकार का संशय होने पर नाम की समानता के कारण अग्निष्टुत् में आग्नेयी सुब्रह्मण्या प्राप्त हो रही है और 'पञ्चदशरात्र' कर्म के प्रकृति कर्म 'द्वादशाह' में ऐन्द्री सुब्रह्मण्या विहित है, अतः 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'—इस अतिदेश के आधार पर सम्पूर्ण 'पञ्चदशरात्र' में ऐन्द्री सुब्रह्मण्या प्राप्त हो रही है। इस विरोध का समाधान महर्षि जैमिनि करते हैं—"विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात् स्वधर्मत्वम्" (जै० सू० १२।२।२२)। अर्थात् विरुद्ध धर्मों की कर्त्तव्यता उपस्थित होने पर उस धर्म को प्राथमिकता देनी चाहिए, जो भूयोधर्म (जिसका क्षेत्र विस्तृत) हो। ऐन्द्री सुब्रह्मण्या पञ्चदशरात्र के प्रथम दिन को छोड़कर शेष चौदह दिनों में बोली जाती है, अतः उसके द्वारा आग्नेयी का बाध होना न्याय-संगत है, क्योंकि आग्नेयी केवल एक प्रथम दिन में किसी प्रकार प्राप्त हो गई थी, अतः स्वल्पविषयक है। इसी प्रकार द्वैतग्राही प्रत्यक्ष का परिवार और क्षेत्र विस्तृत है—प्रत्यक्षोपजीवी अनुमान, कर्म-काण्ड, उपासना-काण्ड, पुराण, इतिहास, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और पूर्वमीमांसा—ये सभी द्वैत के समर्थक हैं। इतने बड़े क्षेत्र पर प्रभुत्व रखनेवाले प्रत्यक्ष की मर्यादा को बनाये रखने के लिए एक छोटी-सी परिधि में सीमित अद्वैत श्रुति का बाधित हो जाना ही सर्वथा उचित है। कहा भी है—"बहुप्रमाणविरोधे चैकस्याप्रामाण्यं दृष्टं शुक्तिरजतादिज्ञाने।" अर्थात् 'इदं रजतम्'—यह भ्रम तो किसी एक व्यक्ति को ही होता है, किन्तु 'नेदं रजतम्'—यह बाधज्ञ-ज्ञान सैकड़ों व्यक्तियों को होता हैं, अतः यही प्रबल रहता है, 'नहीं तो एक व्यक्ति के लिए सैकड़ों के अनुभूत प्रमाणों का हनन होगा।

अद्वैतवादी—'पञ्चदशरात्र' में जो ऐन्द्री सुब्रह्मण्या को अबाधक कहा गया है, उससे बहुविषयक किन्तु एक ही बाधक की बाधकता सिद्ध होती है, किन्तु दार्ष्टान्त में प्रत्यक्ष, अनुमान, कर्म-काण्डादि बहुसंख्यक प्रमाणों के द्वारा अद्वैत श्रुति का बाध प्रस्तुत

: १९ :

प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वेन प्राबल्यविचारः

न्यायामृतम्

किं चोपजीव्यत्वात्प्राबल्यमक्षस्य श्रुतेः स्मृतित इव। तच्चाक्षेणानुमितिकारणस्य पक्षसाध्यहेतुव्याप्त्यादेः शाब्दधीहेतोः शब्दस्वरूपस्य, तद्धर्मस्य योग्यतादेः, उपक्रमोपसंहारैकरूप्यादेः, अनुमितिशाब्दधीस्वरूपतत्प्रामाण्यादेश्च ग्राह्यत्वात्। यदा हि घटो व्यापकः सत्त्वादित्यत्राक्षं धर्मिमात्रग्राहित्वेन, शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्ग-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—उक्तन्यायैः प्रत्यक्षस्य जात्या प्राबल्याभावेऽपि उपजीव्यत्वेन प्राबल्यम्; उपजीव्यत्वं चानुमानागमापेक्षिताशेषार्थग्राहकतया, सा च क्वचित् साक्षात् क्वचित्परम्परया, दृष्टं चापेक्षितैकदेशग्राहिणामप्युपजीव्यत्वम्, तद्विरुद्धग्रहणे तेन बाधश्च, यथा—घटविभुत्वानुमाने पक्षग्राहिणा अक्ष्णा, नरशिरश्शुचित्वानुमाने साध्यग्राहकेणा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

किया गया है, अतः दृष्टान्त-दार्ष्टान्त का वैषम्य हो रहा है, जो कि असंगत है। अनेक चूहे मिलकर भी बिल्लीं के कान नहीं काट सकते। देह और आत्मा की एकता के पक्ष में प्रत्बक्षाभास, अनुमानाभास, वचनाभासादि अनेक साक्षी हैं, फिर भी देहात्म-भेद-बोधक एक ही वाक्य उनसे प्रबल हो जाता है, क्योंकि वह वाक्य अनन्यपरक है और पूर्वोक्त त्रय अन्यपरक। अतः अनन्यपरक होने के कारण अद्वैत आगम की कथित प्रत्यक्षादि से प्रबल होना निश्चित है। हमारी तो यह व्यवस्था है कि प्रत्यक्षादि का क्षेत्र अविद्या-क्षेत्र और उसके अधिकारी अबोध प्राणी हैं, किन्तु अद्वैत आगम का क्षेत्र विद्या-क्षेत्र तथा अधिकारी विद्वान् है, अतः उनका कोई विरोध ही नहीं होता।

द्वैतवादी—असञ्जातविरोधित्व आदि न्यायों का सहारा लेकर 'सन् घटः'—इस प्रत्यक्ष का जात्या प्राबल्य सिद्ध न होने पर भी उपजीव्यत्वेन प्राबल्य मानना ही पड़ेगा। प्रत्यक्ष में उपजीव्यता यही है कि अनुमान और आगमादि के अपेक्षित व्याप्ति और संगति आदि पदार्थों की साधकता। प्रत्यक्ष के बिना व्याप्त्यादि का ग्रह न होने पर अनुमनादि पङ्गु हैं, अन्धे हैं, इनका सञ्चालन और मार्ग-दर्शन प्रत्यक्ष ही करता है, अतः वह अनुमानादि का उपजीव्य होता है। हाँ, यह सञ्चालक और मार्ग-दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण कहीं स्वयं साक्षात् करता है और कहीं परम्परया किसी अन्य के माध्यम से। जो जिसके अपेक्षित पदार्थों में से एक का भी समर्पण करता है, ऐसा उपजीव्य भी प्रबल देखा गया है और उस उपजीव्य के विरोध में उपजीवक का बाध भी, जैसे कि घटगत विभुत्वानुमान का बाध घट-ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है [क्योंकि चक्षुरादि से घट में अविभुत्व ही गृहीत होता है। नरकपालम् पवित्रम्, प्राण्यङ्गत्वात्, शङ्खवत् इस अनुमान का बाध शुचित्व-ग्राहक आगम प्रमाण से होता है, क्योंकि कौन वस्तु शुद्ध है ? कौन अशुद्ध ? इस विषय में आगम की व्यवस्था ही मानी जाती है, नर-मुण्ड के विषय में उसका कहना है—

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा।। (मनु० ५।८७)

अर्थात् मनुष्य की गीली हड्डी का स्पर्श यदि हो जाय, तो स्नान से शुद्धि होती है और सूखी हड्डी के स्पर्श से जो अशुद्धि आती है, उसकी निवृत्ति आचमन, गोस्पर्श या सूर्य-

न्यायामृतम्

त्वादित्यत्र शब्दः साध्यमात्रग्राहित्वेन, मनो विभु ज्ञानासमवाय्याधारत्वादित्यत्रानुमानं हेतुमात्रग्राहित्वेनाऽनुमानस्योपजीव्यम् । तदेह प्रत्यक्षं लिङ्गशब्दापेक्षितसर्वग्राहीति कथं नोपजीव्यम् ? चक्षुरादेः शब्दतज्जन्यज्ञानप्रामाण्याद्यग्राहित्वेऽपि तद्ग्राहिश्रोत्र-साक्ष्यादिसजातीयत्वात् । रूपादिधर्म्यंशे साक्षादुपजीव्यत्वाच्च प्राबल्यम् । दृष्टं च नरशिरःकपालाशुचित्वागमस्य तच्छुचित्वानुमानादुपजीव्यशुचित्वग्राहिशब्दसाजात्य-मात्रेण प्राबल्यम् । यद्यपीन्द्रियमनुमेयम् , तथापि तस्याज्ञातकरणत्वान्नानुमोपजीव्या ।

अद्वैतसिद्धिः

गमेन, मनोवैभवानुमाने ज्ञानासमवाय्याधारत्वहेतुग्राहकेणानुमानेन, किमु वक्तव्यम-पेक्षिताशेषग्राहिणा स्वविरुद्धग्राहकस्य बाधः ? चक्षुरादेश्च शब्दतज्जन्यज्ञानप्रामाण्या-द्यग्राहित्वेऽपि तद्ग्राहिश्रोत्रसाक्ष्यादिसजातीयत्वादुपजीव्यत्वम् । दृष्टं च नरशिरः-कपालाशुचित्वबोधकागमस्य तच्छुचित्वानुमानोपजीव्यशुचित्वागमसजातीयत्वेन तद-नुमानात् प्राबल्यम् । न चेन्द्रियमपि स्वज्ञानार्थमनुमानमुपजीवतीति सम एवोपजीव्यो-पजीवकभावः, अज्ञातकरणतया ज्ञानजननार्थमनुमानानपेक्षणाद् , अनुमानागमादिना तु ज्ञानजननार्थमेव तदपेक्षणादिति विशेषाद्—इति चेन्न, उपजीव्याविरोधात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दर्शन से होती है] । इसी प्रकार 'मनो विभु ज्ञानासमवायिसंयोगाधारत्वाद् , आत्म-वत्' (उपस्कार० पृ० १०२)—इस अनुमान का बाध हेतुग्राहक अनुमान के द्वारा होता है । [मन अतीन्द्रिव है, अतः उसका और उसमें हेतु का ज्ञान अनुमान के द्वारा ही हो सकेगा । मन का अनुमान ज्ञानायौगपद्य के द्वारा होता है—"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" (न्या० सू० १।१।१६) तथा उसी अयौगपद्य से मन में अणुत्व का भी ग्रहण होता है—"यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु" (न्या० सू० ३।२।५१) । इसीलिए मनोविभुत्वानुमान का बाध धर्मिग्राहक अनुमान से भी कहा गया है—"धर्मिग्राहकमानबाधिता वैभवहेतवः" (उपस्कार० पृ० १०३)] ।

जब अपेक्षित पदार्थ के किसी एक भाग के समर्पकरूप उपजीव्य से ही उपजीवक का बाध होता है, फिर भला अशेष अपेक्षित विषय के ग्राहकरूप उपजीव्व से उपजीवक का बाध क्यों न होगा ? यद्यपि चक्षु शब्द और शब्द-जन्य ज्ञान के प्रामाण्य का ग्राहक नहीं, तथापि शब्दादि के ग्राहक श्रोत्र और साक्षी—आदि का सजातीय होने से शब्द प्रमाण का उपजीव्य होता है । प्रबल का सजातीय भी प्रबल होता है । जैसे—नर-मुण्ड की शुचिता के अनुमान का उपजीव्य शुचित्व-ग्राहक आगम है—शङ्खशुचित्व-प्रतिपादक आगम और उसका सजातीय है—नरास्थि की अशुचिता का प्रतिपादक आगम, अतः यह भी उक्त अनुमान का बाधक होता है । यदि कहा चाय कि इन्द्रिय का ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है—'घटादिज्ञानं सकरणकम् , क्रियात्वात् छिदादिवत्' । अतः इन्द्रियों का उपजीव्य अनुमान ओर अनुमान का उपजीव्य इन्द्रिय—इस प्रकार दोनों में उपजीव्योपजीवकभाव समान है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि इन्द्रिय अज्ञात रह कर भी ज्ञान का जनक होता है, अतः इन्द्रिय को अपने ज्ञानोत्पादनरूप कार्य में तद्ग्राहक अनुमान की कोई अपेक्षा नहीं होती, किन्तु अनुमान और आगमादि को अपना कार्य करने में ही प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा होती है, अतः प्रत्यक्ष आगमादि का उपजीव्य ही है, अपने विषय में अवश्य आगमादि का बाधक होता है ।

न्यायामृतम्

अक्षप्रामाण्ये हि तत्सिद्धस्य व्याप्त्यादेर्योग्यतादेश्च बाधेनानुमेयस्य शब्दार्थस्य च बाधः स्यात्। अनुमेयस्य व्याप्त्यादिनानुमितिप्रामाण्यादिना शब्दार्थस्य च योग्यतादिना शाब्दधीप्रामाण्यादिना च तुल्ययोगक्षेमत्वाद्, अन्यथा प्रातिभासिकव्याप्त्यादिमता बाष्पाध्यस्तधूमेन तात्त्विको व्यावहारिको (वह्निः) वाग्निः व्यावहारिकव्याप्त्यादिमता च धूमेन तात्त्विकोऽग्निः व्यावहारिकेणाबाधेन विरुद्धधर्माधिकरणत्वेन च विश्वस्य जीवेशभेदस्य च तात्त्विक(स)त्वं सिध्येत्। प्रातिभासिकयोग्यतादिमताऽनाप्तवाक्येन च तात्त्विको व्यावहारिको वार्थः व्यावहारिकयोग्यतादिमता च लौकिकवाक्येनाग्निहोत्रादिवाक्येन च तात्त्विकोऽर्थः, सिध्येत्। प्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वेऽपि बिम्बरहितावृत्तिरूपा व्याप्तिरस्त्येव। न च धूमस्य तात्त्विकाग्निना न व्याप्तिः दृश्यत्वस्य तु तात्त्विकमिथ्यात्वेन व्याप्तिरित्यस्ति न(चा)द्यापि मिथ्यात्वप्रमाणं तत्त्वावेदकमन्यदतत्त्वावेदकमिति व्यवस्था सिद्धा, येन क्लृप्तनियमत्यागः। अकस्मात् यागे च दृश्यत्वस्य मिथ्यात्वनियमोऽपि त्याज्यः।

अद्वैतसिद्धिः

तथा हि—यत्स्वरूपमुपजीव्यते तन्न बाध्यते, बाध्यते च तात्त्विकत्वाकारः, स च नोपजीव्यते, कारणत्वे तस्याप्रवेशात्। तदुक्तम्—

'पूर्वसंबन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ। हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा॥' इति।

किंचापेक्षितग्राहित्वमात्रेण चेदुपजीव्यता, तया च बाधकत्वम्, तदाऽपेक्षितप्रतियोगिग्राहकत्वेन 'इदं रजत'मिति भ्रमस्य बाधोपजीव्यत्वात् कथं 'नेदं रजत'मिति बाधबुद्धिस्तद्विरुद्धोदियात्? अथ निषेध्यार्थसमर्पकतया प्रतियोगिज्ञानत्वेन तस्योपजीव्यत्वेऽपि तत्प्रामाण्यं नोपजीव्यम्, न हि प्रतियोगिप्रमा-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अद्वैतवादी—उपजीव्य का यहाँ विरोध ही नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक रूप में प्रत्यक्षादि स्वीकृत हैं और पारमार्थिक रूप में निराकृत, अतः जो रूप उपजीव्य है, वह बाधित नहीं और जो बाधित है, वह उपजीन्य नहीं। प्रत्यक्षादिगत तात्त्विकत्व अंश निराकरणीय है, आगम को अपने स्वरूप-सम्पादन में उसकी कोई अपेक्षा नहीं होती। खण्डनकार ने कहा है—

पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ। हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा॥

अर्थात् आगमादि का पूर्वज प्रत्यक्ष है—यह हमें भी मान्य है, हाँ, हेतुता में अनुपयुक्त प्रत्यक्षादिगत पारमार्थिक सत्त्व की कथा व्यर्थ है। दूसरी बात यह भी है कि अपेक्षितग्राहकत्व मात्र से यदि कोई उपजीव्य बनता है और उसमें बाधकता आ जाती है, तब 'इदं रजतम्'—यह भ्रम ज्ञान भी 'नेदं रजतम्'—इस बाध में अपेक्षित प्रतियोगी का समर्पक होने से उपजीव्य हो जायगा, तब ऐसे प्रबल उपजीव्य के जीते जी 'नेदं रजतम्' को उठने का साहस ही कैसे होगा?

शङ्का—'नेदं रजतम्'—इस बाध को प्रतियोगि-समर्पकत्वेन 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान की अपेक्षा अवश्य है, किन्तु इस में प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं, क्योंकि प्रतियोगी का ज्ञानमात्र अभाव-ज्ञान का जनक होता है, प्रतियोगी का प्रमा ज्ञान नहीं, इसी लिए प्रतियोगी के भ्रमात्मक ज्ञान से भी अभाव-ज्ञान प्रमा होता देखा जाता है अतः भ्रम के पश्चात् बाध ज्ञान क्यों न होगा?

न्यायामृतम्

ननु तथापि कथं प्रामाण्यमिथ्यात्वे विषयमिथ्यात्वम् ? प्रत्यक्षस्याप्रमाणत्वेन तद्विषयस्य श्रौतधीप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वेऽपि श्रुतेः प्रमाणत्वात्तद्बोध्याद्वैतस्य सत्यत्वोपपत्तेरिति चेन्न, रूप्यादिज्ञानेषु प्रामाण्यमिथ्यात्वे विषयमिथ्यात्वदर्शनात्। अर्थाबाधरूपप्रामाण्यस्यातात्त्विकत्वेऽर्थस्य तात्त्विकत्वायोगाच्च ।

यत्तूक्तं वाचस्पतिना—"उपजीव्यविरोधेन श्रुत्यप्रामाण्ये इदं रूप्यमिति पूर्वधीविरोधान्नेदं रूप्यमितिधीरप्रमा स्याद्"—इति। तन्न, यत्प्रामाण्यं स्वरूपसिद्ध्यर्थं अपवादनिरासार्थं वा यत्प्रामाण्यायत्तं तत्तस्योपजीव्यम्। इह न च व्याप्त्यादिज्ञाताप्रामाण्येऽनुमित्याद्यप्रामाण्यवत्सर्वज्ञ (त्वनिर्दुःख)त्वादिरूपब्रह्मबुध्यप्रामाण्ये ब्रह्मात्मैक्यबुध्यप्रामाण्यवच्च प्रतिषेध्यज्ञानाप्रामाण्ये प्रतिषेधकज्ञानाप्रामाण्यम्, येन तदुपजीव्यं स्यात्। यद्वा येन विना यस्यानुत्थानं तत्तस्योपजीव्यम्। इदं रूप्यमितिधीश्च

अद्वैतसिद्धिः

त्वेनाभावज्ञानजनकता, गौरवात्, प्रतियोगिभ्रमादप्यभावज्ञानदर्शनाच्च, किंतु तज्ज्ञानत्वेनैव, लाघवात्, अतस्तद्विरुद्धविषयकं ज्ञानमुदियादेवेति ब्रूषे, तुल्यमिदं प्रकृतेऽपि, पक्षज्ञानत्वादिना कारणता, न तु तत्प्रमात्वादिनापीति। अथ यत् प्रामाण्यं स्वरूपसिद्ध्यर्थमपवादनिरासार्थं च यत् प्रामाण्यमुपजीवति तत्तस्योपजीव्यम्, यथा स्मृतेरनुभवः, न च रजतभ्रमस्तथा—इति चेत्, तर्हि व्याप्तिधियोऽपि नानुमित्युपजीव्यत्वं स्यात्, लिङ्गाभासादपि वह्निमति वह्निप्रमादर्शनात्। ननु—येन विना यस्योत्थानं नास्ति तत्तस्योपजीव्यमित्येव वक्तव्यम्, तथा च रजतभ्रमस्योपजीव्यत्वमस्त्येव, न तु प्राबल्यम्, न ह्युपजीव्यत्वमात्रेण प्राबल्यम्, किंतु परीक्षिततया। परीक्षा च सजातीयविजातीयसंवादविसंवादाभावौ। न च तौ रजतभ्रमे स्तः, प्रकृते चाक्षस्य परीक्षितत्वेन प्राबल्यम्। अस्ति हि 'सन् घट' इति विशेषदर्शनजन्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—तब हम भी यही कहेंगे कि अनुमान को पक्ष-ग्राहकत्वेन प्रत्यक्ष की अपेक्षा है, प्रमात्वेन नहीं, अतः 'घटः सन्'—इस प्रकार के भ्रम के पश्चात् मिथ्यात्व-साधक अनुमान और आगम का उदय क्यों न होगा ?

शङ्का—जिसका प्रामाण्य अपने स्वरूप-सिद्धि या अपने अपवाद का निरास करने के लिए जिसके प्रामाण्य की अपेक्षा किया करता है, उसे उसका उपजीव्य माना जाता है, जैसे कि स्मृति का अनुभव। किन्तु रजत-भ्रम इस प्रकार का उपजीव्य नहीं होता, अतः उसके पश्चात् 'नेदं रजतम्' का उदय होना न्यायोचित ही है।

समाधान—जिसके प्रमात्व में जिसका प्रमात्व अपेक्षित हो, यदि वह उसका उपजीव्य होता है, तब व्याप्ति भी अनुमिति का उपजीव्य न बन सकेगी, क्योंकि अनुमिति को स्वगत प्रमात्व के लिए व्याप्ति-ज्ञान में प्रमात्व की अपेक्षा नहीं होती, लिङ्गाभास से भी वह्निवाले पक्ष में वह्नि की प्रमात्मक अनुमिति उत्पन्न होती देखी जाती है।

द्वैतवादी—जिस के बिना जिसका उत्थान नहीं होता, वह उसका उपजीव्य होता है। रजत-भ्रम अवश्य बाध-ज्ञान का उपजीव्य है, किन्तु प्रबल नहीं, क्योंकि केवल उपजीव्य हो जाना ही उस की प्रबलता का कारण नहीं होता, अपि तु परीक्षित होना। परीक्षा का अर्थ है—सजातीय प्रमाणों का संबाद और विजातीय प्रमाणों का विसंवादाभाव। रजतभ्रम में ये दोनों ही नहीं पाये जाते, अतः उपजीव्य होने पर भी वह प्रबल

न्यायामृतम्

प्रतिषेध्यार्पकतया धर्म्यर्पकतया चोपजीव्यैव । तथापि न दोषः, न ह्युपजीव्यत्वमेव प्राबल्ये तन्त्रम्, किं तु परीक्षितत्वविशिष्टम् । उक्तं हि—

यावच्छक्तिपरीक्षायामुपजीव्यस्य बाधने ।
दोषो नाशोधिते दोष उपजीव्यत्वमस्त्वलम् ॥" इति ।

न हि परत्वं प्राबल्ये तंत्रमिति त्वन्मतेपि परत्वमात्रं तन्त्रम् । किं तु परीक्षितत्वविशिष्टम् । अन्यथा प्रमानन्तरभ्रमस्य वेदात्परस्य बाह्यागमस्य च तत्त्वं स्यात् । परीक्षितत्वं च न तावत्प्रतिषेध्यार्पके शुक्तिरूप्याभेदज्ञानांशेऽस्ति । सजातीयविजातीयसंवादविसंवादभावाभावौ हि परीक्षा । न चात्र विशेषदर्शनजन्यस्वसमानविषयकज्ञानान्तररूपः सजातीयसंवादो वा रूप्यार्थक्रियादिरूपो विजातीयसंवादो नास्ति, प्रत्युत तद्विसंवाद एव । दृश्यते चोत्तरस्यैव संवादादिकमिति पूर्वधीर्बाध्या । जगत्सत्यत्वप्रत्यक्षे तु विशेषदर्शनजन्यं सन्घट इति ज्ञानान्तरं घटार्थक्रिया प्रत्यक्षे क्लृप्तदूरादिदोषाभावश्चास्तीति न तद्बाध्यम् । जीवेशाभेदश्रुतौ च निषेध्यार्पिका भेदश्रुतिः साक्षिप्रत्यक्षं च दोषत्वात्परीक्षितमिति न तदपि बाध्यम् । इत्थमेव च दोषाभावादिज्ञानरूपपरीक्षायामनाश्वासे वेदस्यापौरुषेयत्वेन तज्ज्ञाने त्वदुक्तानुमाने च योग्यानुपलंभादिना हेत्वाभासादिराहित्यज्ञाने ब्रह्ममीमांसायां च प्रत्यधिकरणं सिद्धांत्यभिप्रेतार्थ उपक्रमाद्यानुगुण्यज्ञाने चानाश्वासः स्यादिति प्रमाणतदाभासादिव्यवस्था न स्यात् । यद्यपि धर्म्यर्पके इदंज्ञानांशे परीक्षितत्वविशिष्टमुपजीव्यत्वमस्ति, तथापि तन्न बाध्यते । शिष्टमैक्यभंगे वक्ष्यते । प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वेन प्राबल्यविवरणम् ।

—०—

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञानान्तरं घटार्थक्रियाप्रत्यक्षे । क्लृप्तदूरादिदोषाभावश्च । एवमेव जीवेशाभेदश्रुतौ निषेध्यार्पकभेदश्रुतिः साक्षिप्रत्यक्षं चादोषत्वात् परीक्षितमिति, तदपि न बाध्यम् । एवमेव च दोषाभावादिज्ञानरूपपरीक्षायामपि अनाश्वासे वेदे पौरुषेयत्वाभावज्ञाने त्वदुक्तानुमाने च योग्यानुपलब्ध्यादिना हेत्वाभासादिराहित्यज्ञाने ब्रह्ममीमांसायां प्रत्यधिकरणं सिद्धान्त्यभिप्रेतार्थे उपक्रमाद्यानुगुण्यज्ञाने चानाश्वासः स्यादिति प्रमाण-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं कहा जा सकता । किन्तु प्रकृत में प्रत्यक्ष प्रमाण परीक्षित है, अतः आगमादि से प्रबल है । प्रत्यक्ष परीक्षित इस लिए कहा जाता है कि 'घटः सन्'—इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर प्रवृत्त पुरुष को घट का लाभ होता और वह प्रत्यक्ष दूरत्वादि दोषों से निर्मुक्त होता है—यही उसका सजातीय-संवाद और विजातीय।विसंवाद है । इसी प्रकार जीव और ईश्वर के भेद की निषेधिका श्रुति में भेद रूप निषेध्य की समर्पिका "द्वा सुपर्णा" (म० उ० ३।१।१) यह-श्रुति तथा साक्षिप्रत्यक्ष निर्दोष होने के कारण परीक्षित हैं, अतः अबाधित हैं । परीक्षा का यह वही पावन प्रकार है, जिसका उपदेश शबर स्वामी ने किया है—"प्रयत्नेनान्विच्छन्तो न चेद्दोषमवगच्छेमहि प्रमाणाभावाददुष्टमिति मन्येमहि" (शा. भा. १।१।५) । यदि इस परीक्षा में आप (अद्वैतवादी) का विश्वास नहीं, तब वेदगत पौरुषेयत्व के अभाव-ज्ञान में, प्रपञ्च-मिथ्यात्वानुमानगत योग्यानुपलब्धि-प्रसाधित हेत्वाभास के अभाव-ज्ञान में, ब्रह्म-मीमांसा के प्रत्येक अधिकरण से निर्णीत सिद्धान्तगत

अद्वैतसिद्धिः

तदाभासव्यवस्था न स्यात्--इति चेन्न, परीक्षा हि प्रवृत्तिसंवादविसंवादाभावदोषाभावादिरूपा, तया च स्वसमानदेशकालीनविषयाबाध्यत्वं प्रामाण्यस्य व्यवस्थाप्यते धूमेन स्वसमानदेशकालीनवह्निरिव। तथा च व्यवहारदशामात्राबाध्यत्वं देहात्मैक्यसाधारणं परीक्षितप्रमाणे व्यवस्थितमिति कथमत्यन्ताबाध्यत्वाभावग्राहकागमानुमानयोः प्रवृत्तिर्न स्यात्? तस्माद्विश्वस्य प्रमाणतदाभासव्यवस्था जीवेशभेदादिकं च व्यावहारिकमित्युपपन्नमेव सर्वं जगन्मिथ्येति॥

ननु—प्रत्यक्षाप्रामाण्ये तत्सिद्धस्य व्याप्त्यादेर्बाधेनानुमेयादेरनुमित्यादिप्रामाण्यस्य च बाधः, अनुमेयादेर्व्याप्त्यादिना अनुमितिप्रामाण्यादिना च समानयोगक्षेमत्वात्, अन्यथा प्रातिभासिकव्याप्त्यादिमता वाष्पाध्यस्तधूमेन तात्त्विको व्यावहारिको वाग्निर्व्यावहारिकव्याप्त्यादिमता धूमेन तात्त्विकोऽग्निर्व्यावहारिकेणाबाधेन विरुद्धधर्माधिकरणत्वेन च विश्वस्य जीवेशभेदस्य च तात्त्विकं सत्त्वं सिध्येत्—इति चेन्न; एतावता हि व्याप्त्यादिसमानसत्ताकमनुमेयं सिद्ध्यत्वित्यापत्तेः फलितोऽर्थः, स चास्माकमिष्ट एव; न हि ब्रह्मभिन्नं किंचिदप्यत्यन्ताबाध्यमस्ति। न चायमनुमेयादेर्व्याप्त्यादिना समसत्ताकत्वनियमोऽप्यस्ति; व्यभिचारिणापि लिङ्गेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उपक्रमादि की अनुरूपता के ज्ञान में भी अविश्वास हो जायगा, फिर तो प्रमाण और प्रमाणाभास की कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी।

अद्वैतवादी—यह सत्य है कि प्रवृत्ति-संवाद, विसंवादाभाव तथा दोषाभावादि ही परीक्षा का स्वरूप है। इस परीक्षा के द्वारा अपने देश और काल में ही विषयाबाध रूप प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है, अर्थात् परीक्षा यह कहती है कि 'सन् घटः'—इस प्रत्यक्ष का विषय मेरे (व्यावहारिक) काल में अबाधित है, जैसे कि धूम हेतु यह कहता है कि मेरे देश-काल में वह्नि है। फलतः परीक्षित प्रमाण में जो प्रमाणता सिद्ध होती है, उसका देहात्मैक्य-साधारण व्यवहार-कालाबाध्यत्व मात्र में पर्यवसान होता है। अतः इस प्रकार की प्रमाणता के आधार पर अत्यन्ताबाध्यात्वाभाव के ग्राहक आगम और अनुमान की प्रवृत्ति को क्योंकर रोका जा सकेगा? अतः हमारा विश्वास है कि प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था तथा जीवेश्वर-भेदादि सब कुछ व्यावहारिक मात्र है, पारमार्थिक नहीं, यह एक कटु सत्य है—सर्वं जगन्मिथ्या।

द्वैतवादी—प्रत्यक्ष यदि अप्रमाण है, तब उसके द्वारा प्रसाधित व्याप्त्यादि का बाध हो जायगा, व्याप्त्यादि का बाध हो जाने पर वह्न्यादि रूप अनुमेय तथा अनुमितिगत प्रामाण्य का भी बाध हो जायगा, क्योंकि अनुमेय एवं अनुमितिगत प्रामाण्य व्याप्ति के समकक्ष ही होते हैं। अन्यथा प्रातिभासिक व्याप्ति-संवलित वाष्पाध्यस्त धूम के द्वारा तात्त्विक या व्यावहारिक अग्नि, व्यावहारिक व्याप्ति-विशिष्ट धूम के द्वारा पारमार्थिक अग्नि, विरुद्ध-व्यावहारिक अबाध के द्वारा विश्व तात्त्विक तथा सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्व रूप व्यावहारिक विरुद्ध धर्मों की आधारता के द्वारा जीवेश्वर का तात्त्विक भेद सिद्ध हो जायगा।

अद्वैतवादी—आप के इस वक्तव्य का सार यही हुआ कि व्याप्त्यादि के द्वारा समानसत्ताक ही अनुमेय सिद्ध होगा। यह तो हमें अभीष्ट ही है, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न और कुछ भी अत्यन्ताबाध्य नहीं माना जाता। व्याप्त्यादि के समसत्ताक ही अनुमेयादि होते हैं—ऐसा कोई नियम भी नहीं, क्योंकि व्यभिचारी लिङ्ग के द्वारा भी

अद्वैतसिद्धिः

साध्यवति पक्षे अनुमितिप्रमादर्शनात्, ध्वनिधर्मह्रस्वत्वदीर्घत्वादिविशिष्टत्वेन मिथ्याभूतैरपि नित्यैर्विभुभिर्वर्णैः सत्या शाब्दप्रमितिः क्रियत इति मीमांसकैरभ्युपगमात्, गन्धप्रागभावावच्छिन्ने घटे तात्त्विकव्याप्त्यादिमतापि पृथिवीत्वेनातात्त्विकगन्धानुमितिदर्शनात्, प्रतिबिम्बेन च बिम्बानुमितिदर्शनात्। न च—तत्रापि बिम्बरहितावृत्तित्वरूपा व्याप्तिस्तात्त्विक्येवेति—वाच्यम्; एवंसत्यवृत्तिगगनादेरपि व्याप्यतापत्तेः। न च—तत्र बिम्बपूर्वकत्वमेवानुमीयते, बिम्बव्यतिरेकप्रयुक्तव्यतिरेकप्रतियोगित्वरूपेणाप्रातिभासिकेन हेतुनेति—वाच्यम्; प्रयुक्तत्वं हि न तज्जनकत्वजन्यत्वादिरूपम्; व्यतिरेकयोः परस्परं तदभावात्, किंतु व्याप्यव्यापकभावः, तथा च बिम्बव्यतिरेकव्यापकव्यतिरेकप्रतियोगित्वं हेतुः, स चाकाशादौ व्यभिचार्येव। तस्मात्तत्र प्रतिबिम्बेनैव बिम्बानुमानम्, अनुमेयस्य लिङ्गव्याप्त्यादिसमानसत्ताकत्वनियमस्यापास्तत्वात्। एतेन—शब्देऽपि योग्यतासमानसत्ताकेन शब्दार्थेन भवितव्यम्, योग्यतावाक्यार्थयोः समानसत्ताकत्वनियमादिति कथं वेदान्तवाक्यार्थो योग्यताबाधेऽप्यबाधितः स्यादिति—परास्तम्; वेदान्तवाक्ये अखण्डार्थरूपवाक्यार्थाबाधरूपाया योग्यताया अप्यबाधाच्च। न च—तथापि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

साध्यवाले देश में प्रमारूप अनुमिति देखी जाती है। ध्वनि के ह्रस्वत्वादि आरोपित धर्मों से युक्त शब्दों के द्वारा प्रमात्मक शाब्द ज्ञान होता है—ऐसा मीमांसक भी मानते हैं। इतना ही नहीं गन्ध-प्रागभावकालीन घट में तात्त्विक व्याप्त्यादि से युक्त पृथिवीत्व रूप तात्त्विक हेतु के द्वारा भी भ्रमात्मक गन्धानुमिति देखी जाती है। मिथ्या प्रतिबिम्ब से तो सत्य बिम्ब की अनुमिति प्रसिद्ध ही है। यदि कहा जाय कि बिम्बाभाववदवृत्तित्वरूप व्याप्ति तात्त्विक ही है, अतः उससे तात्त्विक बिम्ब की सिद्धि में कोई असंगति नहीं होती। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि बिम्बाभाववदवृत्ति को बिम्ब का व्याप्य मानने पर गगन को भी उसका व्याप्य मानना पड़ेगा, क्योंकि गगन सर्वत्र अवृत्ति है, अतः बिम्बाभाववाले देश में भी अवृत्ति है। यदि कहें कि 'अयं प्रतिबिम्बो बिम्बपूर्वकः, बिम्बाभावप्रयुक्ताभावप्रतियोगित्वात्'—इस प्रकार का अनुमान यहाँ अभिमत है, इसमें साध्य और साधन—दोनों समानसत्ताक तात्त्विक ही है, विषमसत्ताक नहीं। तो वह भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रयुक्तत्व का अर्थ यहाँ जनकत्व या जन्यत्व नहीं कर सकते, क्योंकि अभाव पदार्थ नित्य होते हैं, उनमें परस्पर जन्य-जनकभाव सम्भव नहीं, अतः प्रयुक्तत्व का अर्थ व्याप्य-व्यापकभाव ही करना होगा, फलतः बिम्बाभाव-व्यापकाभावप्रतियोगित्व ही साधन का स्वरूप निष्पन्न होता है, वह तो गगन में व्यभिचारी है, क्योंकि हेतु के रहने पर भी वहाँ बिम्बपूर्वकत्वरूप साध्य नहीं रहता। इसलिए प्रतिबिम्बरूप हेतु के द्वारा ही बिम्ब का अनुमान करना होगा, वहाँ अनुमेय में लिङ्गादि के समानसत्ताकत्व का नियम भंग हो जाता है। अत एव जो लोग कहा करते हैं कि शब्दगत योग्यता का समानसत्ताक ही शब्दार्थ होना चाहिए, क्योंकि योग्यता और शब्दार्थ में समानसत्ताकत्व का नियम होता है, अतः योग्यता का बाध होने पर भी वेदान्तवाक्यार्थ अबाधित कैसे रहेगा ? वह उनका कहना खण्डित हो जाता है, क्योंकि वेदान्त-वाक्य में अखण्डार्थरूप वाक्यार्थ की अबाधरूप योगता भी अबाधित होती है। अतः उससे अबाधित अर्थ का बोध उचित ही है।

शङ्का—वेदान्त वाक्य और उनकी प्रमाणता के मिथ्या होने पर भी तात्त्विक

अद्वैतसिद्धिः

वेदान्ततज्ज्ञानतत्प्रामण्यमिथ्यात्वे कथं तात्त्विकाद्वैतसिद्धिरिति—वाच्यम्; शब्दतज्ज्ञान-तात्त्विकत्वं हि न विषयतात्त्विकत्वे तन्त्रम्, इदं रजतमित्यनाप्तवाक्यस्य तज्जन्यभ्रमस्य च त्वन्मते तात्त्विकत्वेऽपि तद्विषयस्यातात्त्विकत्वात्। न च—ज्ञानप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वे विषयस्यापि मिथ्यात्वं शुक्तिरूप्यज्ञाने दृष्टमिति प्रकृतेऽपि ज्ञानप्रामाण्यमिथ्यात्वे विषय-स्यापि मिथ्यात्वं स्यादिति—वाच्यम्; प्रामाण्यमिथ्यात्वं हि न विषयमिथ्यात्वे प्रयोज-कम्, भ्रमप्रमाबहिर्भूते निर्विकल्पके विषयबाधाभावात्, किंतु तदभाववति तत्प्रकार-कत्वादिरूपमप्रामाण्यमेव तथा; तच्च प्रकृते नास्त्येव। न च—अर्थाबाधरूपप्रामाण्यस्य मिथ्यात्वादर्थस्यापि मिथ्यात्वं स्यदिति—वाच्यम्; अबाधितार्थविषयत्वं हि यत् प्रामाण्यं तस्य मिथ्यात्वम् प्रकृतं नार्थबाधात्; तद्बाधकप्रमाणासंभवात्, तस्य सर्व-बाधावधित्वात्, किंतु तद्विषयत्वरूपसंबन्धबाधात्तथा। तथा चाबाधितार्थविषयत्वरूप-प्रामाण्यमिथ्यात्वेऽपि नार्थो मिथ्या। विशिष्टस्यैकांशमिथ्यात्वेऽप्यपरांशसत्यत्वात्, यथा दण्डाबाधनिबन्धनदण्डिपुरुषबाधेऽपि पुरुषो न बाधित एवेति॥ इति अद्वैतसिद्धौ प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वभङ्गः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अद्वैतरूप अर्थ क्योंकर सिद्ध होगा ?

समाधान—शब्द और उसके ज्ञान की तात्त्विकता को विषयगत तात्त्विकता का प्रयोजक नहीं माना जाता, क्योंकि 'इदं रजतम्'—इस प्रकार के अनाप्त-वाक्य और उससे जन्य भ्रम आपके मत में तात्त्विक है, किन्तु उसका विषय अतात्त्विक होता है। माध्व-मत में शुक्ति-रजतरूप विषय को असत् और उससे ज्ञान को सत् माना जाता है।

शङ्का—ज्ञानगत प्रामाण्य के मिथ्या होने पर विषय का मिथ्या होना शुक्ति-रजत में देखा गया है, अतः प्रकृत में वेदान्त-प्रामाण्य के मिथ्या होने पर ब्रह्मरूप विषय को भी मिथ्या होना चाहिए।

समाधान—प्रामाण्य का मिथ्या होना विषय-मिथ्यात्व का प्रयोजक नहीं होता, क्योंकि भ्रम और प्रमा-दोनों कोटियों से बहिर्भूत निर्विकल्पक का विषय अबाधित होता है। अतः तदभाववति तत्प्रकारत्वादिरूप अप्रामाण्य को ही विषय-मिथ्यात्व का प्रयोजक मानना होगा, वह प्रकृत में नहीं है, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान को निष्प्रकारक माना जाता है, अतः उसमें तदभाववति तत्प्रकारकत्व कैसे रहेगा ?

शङ्का—अर्थाबाधरूप प्रामाण्य के मिथ्या होने पर अर्थ को मिथ्या मानना होगा।

समाधान—अबाधितार्थ-विषयकत्वरूप प्रामाण्य अखण्डाकार वृत्ति में माना जाता है, वृत्ति में विषय-बाधरूप मिथ्यात्व सम्भव नहीं, क्योंकि उसका विषय परमार्थ सत्य होता है, उसका बाधक प्रमाण असम्भव है। वह तो सर्व बाध का अवधि है। हाँ, वृत्ति में जो मिथ्यात्व-व्यवहार है, वह विषयित्वरूप सम्बन्ध के बाधित होने के कारण है। अतः अबाधितार्थविषयकत्वरूप वृत्तिगत प्रामाण्य के मिथ्या होने पर भी अर्थ मिथ्या नहीं होता, क्योंकि विशिष्ट पदार्थ का एक अंश मिथ्या होने पर भी दूसरा अंश सत्य हुआ करता है, जैसे दण्ड का बाध होने पर शुद्ध पुरुष बाधित नहीं होता, वैसे ही अबाधितार्थ-विशिष्ट विषयिता में से विषयिता का बाध हो जाने पर अबाधित अर्थ रूप विशेषण अबाधित ही रहता है।

: २० :

प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वविचारः

न्यायामृतम्

यदि तु प्रत्यक्षं लिंगबाध्यम् , तर्हि "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत् ,"—ऐन्द्र्या गार्ह-

अद्वैतसिद्धिः

किंच विपक्षबाधकसचिवमनुमानमपि प्रत्यक्षबाधकम् । ननु—एवमपि 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्' 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' 'शरमयं बर्हिर्भवती'ति श्रुतित्रयग्राहि प्रत्यक्षं यथाक्रम 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्ये'ति स्मृतिरूपेण सर्ववेष्टनश्रुत्यनुमानेन 'कदाचन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विपक्ष-बाधक तर्क से युक्त होकर प्रपञ्च-मिथ्यात्वानुमान भी 'सन् घटः'—इस प्रत्यक्ष का बाधक होता है ।

द्वैतवादी—प्रत्यक्ष प्रमाण यदि अनुमान के द्वारा बाधित हो जाता है, तब पूरा मीमांसा शास्त्र चौपट हो जायगा, क्योंकि मीमांसा दर्शन (१।१।२) में अनुमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष को प्रबल ठहराते हुए कहा गया है कि [स्मृति-वाक्य धर्म में साक्षात् प्रमाण नहीं होते, अपि तु स्मृति-वाक्य के द्वारा तत्सम श्रुति-वाक्य का अनुमान किया जाता है, अनुमित श्रुति वाक्य का समानार्थक यदि कोई अन्य प्रत्यक्ष श्रुति-वाक्य उपलब्ध हो, तब स्मृति-वाक्य से श्रुति-वाक्य का अनुमान अवरुद्ध हो जाता है, श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—

स्वातन्त्र्येण प्रमाणत्वं स्मृतेस्तावन्न सम्मतम् ।
वेदमूलानुमानं च प्रत्यक्षेण विरुध्यते ।।
वेदवाक्यानुमानं हि तावदेव प्रवर्तते ।
तदर्थविषयं यावत् प्रत्यक्षं नोपलभ्यते ।।
प्रत्यक्षेण श्रूयमाणे तु न विद्येतानुमानिकम् ।
न हस्तिनि दृष्टेऽपि तत्पदेनानुमेष्यते ।।
तावत्येव स्फुरन्त्यर्थाः पुरस्तादानुमानिकाः ।
यावत् प्रत्यक्षशास्त्रेण मूलमेषां न कृत्यते ।।

(तं० वा० पृ० १७२)

इसी प्रकार विरोधी प्रत्यक्ष श्रुति-वाक्य के विद्यमान होने पर भी स्मृति-वाक्य की अनुमान शक्ति कुण्ठित हो जाती है—"विरोधे त्वनपेक्षं स्याद् असति ह्यनुमानम्" (जै० सू० १।३।३) वार्तिककार ने भी कहा है—

प्रत्यक्षप्रतिरुद्धा हि श्रुतिर्नास्त्यानुमानिकी ।
नैराकांक्ष्यात् प्रमातृणामनुमानं न लभ्यते ।। (तं० वा० पृ० १७३)

अर्थात् श्रुति-वाक्य के द्वारा विरोध करने पर स्मृति से अनुमान की अपेक्षा ही नहीं रहती, क्योंकि श्रौत विरोध के न होने पर ही स्मृति-वाक्य से श्रुति-वाक्य का अनुमान हुआ करता हैं । जैसे कि "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत्"—यह श्रुति कहती है कि ज्योतिष्टोम याग में 'सदः' नामक मण्डप के बीचोबीच जो गूलर की शाखा गाड़ी जाती है, उसका स्पर्श करते हुए साम-गान करना चाहिए। इसके विरुद्ध एक स्मृति-वाक्य कहता है—"औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या" । अर्थात् गूलर की वह पूरी शाखा एक बड़े वस्त्र से लपेट देनी चाहिए। वस्त्र से वेष्टित शाखा का साक्षात् स्पर्श नहीं हो सकेगा,

न्यायामृतम्

पत्यमुपतिष्ठते," "शरमयं बर्हिर्भवति" इति श्रुतित्रयग्राहिप्रत्यक्षं च यथाक्रम मौदुम्बरी वा सर्वा वेष्टयितव्येतिस्मृतिरूपेण सर्ववेष्टनश्रुत्यनुमानेन "नेन्द्र ! सश्चसिदाशुष" इति मन्त्रसामर्थ्यरूपेण इन्द्रशेषत्वश्रुत्यनुमानेन चोदनालिङ्गसारूप्येण कुशश्रुत्यनुमानेन बाध्येतेति सर्वैव मीमांसोन्मूलिता स्यात् ।

अद्वैतसिद्धिः

स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुष' इति मन्त्रसामर्थ्यलक्षणेनेन्द्रशेषत्वश्रुत्यनुमानेन चोदनालिङ्गरूपेण कुशश्रुत्यनुमानेन च बाध्येतेति सर्वमीमांसोन्मूलिता स्यादिति—चेन्न; वैषम्यात् , तथा हि—किमिदमापाद्यते, श्रुतित्रयग्राहिप्रत्यक्षमनुमानैर्बाध्येतेति वा, प्रत्यक्षविषयीभूतश्रुतित्रयमिति वा । नाद्यः, विरोधाभावेन तद्बाध्यबाधकभावस्य शास्त्रार्थत्वाभावात् , अस्माभिरनभ्युपगमाच्च, अनुक्तोपालम्भमात्रत्वे निरनुयोज्यानुयोगा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतः इस स्मृति-वाक्य के द्वारा मूलभूत श्रुति-वाक्य का अनुमान वैसे ही बाधित हो जाता है, जैसे वह्निगत औष्ण्य-प्रत्यक्ष से शैत्यानुमान बाधित हो जाता है। इसी प्रकार "ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते" (मै० सं० ३।२।४) यहाँ प्रत्यक्ष-श्रुत ऐन्द्रीपदोत्तर तृतीया विभक्ति रूप श्रुति के द्वारा ["कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे" (मै० सं० १।५।४) इस] ऐन्द्री (इन्द्र प्रकाशक) ऋचा का विनियोग गार्हपत्य संज्ञक अग्नि के उपस्थान (अभिमन्त्रित करने) में किया गया है। उससे विपरीत ऐन्द्री ऋचा के बोधन-सामर्थ्य रूप लिङ्ग प्रमाण के द्वारा ऐन्द्री ऋचा में इन्द्रोपस्थान की अङ्गता का अनुमान प्रस्तुत किया जाता है—'ऐन्द्री ऋक् इन्द्रोपस्थानाङ्गम्, इन्द्रप्रकाशकमन्त्रत्वात् , वर्हिर्लवनमन्त्रवत्' । किन्तु यह अनुमान उक्त प्रत्यक्ष श्रुति प्रमाण से बाधित है, अतः उक्त ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्योपस्थान ही किया जाता है। इसी तरह 'सोमारौद्र' नाम की एक विकृति इष्टि में "शरमयं बर्हिः" (तै० सं० २।१।५) यह प्रत्यक्ष वाक्य वेदी में शर (सरकड़ा या सरपत) बिछाने का विधान कर रहा है। उसके विरुद्ध 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या"—इस न्याय की सहायता से प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास इष्टि में विहित कुशा की वहाँ प्राप्ति का अनुमान किया जाता है, किन्तु इस अनुमान का उक्त प्रत्यक्ष वाक्य से बाध किया जाता है—"चोदनालिङ्गसंयोगे तद्विकारः प्रतीयेत् प्रकृतिसन्निधानात्" (जै० सू० १०।४।२) अर्थात् प्रकृति (दर्शपूर्णमास) कर्म में विहित वर्हि का संयोग शरमय विशेष से होने के कारण शरमय बर्हि की ही प्राप्ति यहाँ रहेगी, कुशा की नहीं प्रत्यक्ष के द्वारा कथित तीनों अनुमानों का जो मीमांसा में बाध बताया गया है, वह सब अद्वैती के अनुसार अनुमान से प्रत्यक्ष का बाध मानने पर विपरीत हो जाता है।

अद्वैतवादी—हमारे बाध्य-बाधक भाव की अपेक्षा उक्त मीमांसा कथित बाध्य-बाधकभाव विषम (भिन्न) है। अर्थात् द्वैतवादी की यहाँ आपत्ति क्या यह है कि "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" "ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते", "शरमयं बर्हि"—इन तीनों श्रुतियों का प्रत्यक्ष कथित तीनों अनुमानों से बाधित हो जायगा ? अथवा प्रत्यक्ष की विषयीभूत इन तीनों श्रुतियों का बाध हो जायगा ? प्रथम पक्ष असंगत है, क्योंकि उक्त श्रुति-विषयक प्रत्यक्ष के साथ स्मृत्यादि हेतुक अनुमानों का कोई विरोध ही नहीं है, उनका बाध्य-बाधकभाव क्यों होगा ? हमने तो कभी ऐसा नहीं कहा कि अविरुद्ध

न्यायामृतम्

अग्न्यौष्ण्यप्रत्यक्षं च तच्छैत्यानुमित्या विवरणोक्तं आत्मस्थायित्वप्रत्यभिज्ञानं च बौद्धोक्तत्क्षणिकत्वानुमित्या बाध्येतेति कालात्ययापदिष्टोच्छेदः

अद्वैतसिद्धिः

पत्तेः। अत एव न द्वितीयः, प्रत्यक्षविषयीभूतश्रुतित्रयस्य लिङ्गबाधकत्वपरेऽपि शास्त्रे प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वे विरोधाभावात्, न हि शब्दप्रत्यक्षयोरैक्यमस्ति; शब्दस्य च सर्वप्रमाणापेक्षया बलवत्त्वमवोचाम। तस्मान्मौढ्यमात्रमेतन्मीमांसाविरोधोद्भावनम्। ननु—प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वे वह्न्यौष्ण्यप्रत्यक्षं शैत्यानुमानस्यात्मस्थायित्वप्रत्यभिज्ञानं च क्षणिकत्वानुमानस्य बाधकं न स्यात्, प्रत्युतानुमानमेव तयोर्बाधकं स्यात्—इति चेन्न; अर्थक्रियासंवादेन श्रुत्यनुग्रहेण च तत्र प्रत्यक्षयोः प्राबल्येनानुमानबाधकत्वात्। अपरीक्षितप्रत्यक्षं हि परीक्षितानुमानापेक्षया दुर्बलं, 'नीलं नभ' इति प्रत्यक्षमिव नभो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रत्यक्ष और अनुमान का बाध्य-घातक भाव होता है। अतः आपकी आपत्ति अनुक्तोपालम्भ मात्र है इस रीति से आप स्वयं 'निरनुयोज्यानुयोग' नाम के निग्रहस्थान से निगृहीत हो जाते हैं [सूत्रकार ने कहा है–''अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानयोगः'' (न्या०सू० ५।२।२३) अर्थात् निर्दोष वादी पर दोषारोपण का नाम निरनुयोज्यानुयोग है]। अत एव द्वितीय विकल्प भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि उक्त मीमांसा शास्त्र में विभक्तिरूपश्रुति को लिङ्ग (शब्दसामर्थ्यहेतुक श्रुत्यनुमान) प्रमाण का बाधक बताया है, प्रत्यक्ष प्रमाण को अनुमान का नहीं, अतः अनुमान प्रमाण के द्वारा 'सन् घटः'—इस प्रत्यक्ष का बाध होने में कोई मीमांसा-विरोध उपस्थित नहीं होता। श्रुतिरूप शब्द को बाधक कहने से श्रुतिविषयक प्रत्यक्ष में बाधकता नहीं आती, क्योंकि शब्द और प्रत्यक्ष-दोनों एक नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। शब्द को तो सब प्रमाणों की अपेक्षा बलवान् कह चुके हैं -''प्राबल्यमागमस्यैव जात्या तेषु त्रिषु स्मृतम्''। अतः मिथ्यात्वानुमान के द्वारा 'सन् घटः'—इस प्रत्यक्ष के बाध में मीमांसा-विरोधोद्भावन मूढता मात्र है।

द्वैतवादी—अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध मानने पर वह्निगत औष्ण्य-प्रत्यक्ष को शीतता के अनुमान का तथा आत्मगत स्थायित्व-प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष को क्षणिकत्वानुमान का बाधक नहीं कहा जा सकेगा, उलटे शीतानुमान को औष्ण्य-प्रत्यक्ष तथा क्षणिकत्वानुमान को स्थायित्व-प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष का ही बाधक कहना होगा।

अद्वैतवादी—परीक्षित प्रत्यक्ष को प्रबल तथा अपरीक्षित को दुर्बल कहा गया है। वह्निगत औष्ण्य-प्रत्यक्ष सुपरीक्षित है, क्योंकि दाह-पाकादि अर्थ-क्रिया का संवाद उस प्रत्यक्ष को सुदृढ़ बना रहा है। इसी प्रकार आत्मगत स्थायित्व-प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष का समर्थन आत्मा के स्थायित्व की बोधक श्रुतियों के द्वारा किया जाता है, अतः दोनों प्रत्यक्ष परीक्षित है, उन का प्रबल होना न्यायोचित है। अपरीक्षित प्रत्यक्ष परीक्षित अनुमान की अपेक्षा दुर्बल होता है, जैसे कि 'नीलं नभः'—यह प्रत्यक्ष गगनगत नीरूपता के अनुमान की अपेक्षया दुर्बल होता है, अतः सामान्यतो दृष्ट अनुमान के आधार पर अव्यवस्था का आपादन नहीं किया जा सकता अर्थात् एक प्रत्यक्ष के बाधित होने से सब प्रत्यक्ष बाधित या एक अनुमान के बाधक होने से समस्त अनुमान बाधक नहीं हो सकते।

न्यायामृतम्

स्यात्। तथा च शृङ्गित्वे पशुत्वं तन्त्रम्, न तु तद्विशेषो गोत्वादीत्यादितर्कानुगृहीतेन पशुत्वादिना शशादेस्तात्त्विकं व्यावहारिकं वा शृङ्गम्। गन्धवद्द्रव्यस्य भूतत्वेनाऽपृथिवीत्वं पदार्थत्वादिनाऽभिमतस्यानन्तत्वं सुखस्य निरुपाधिकेष्टत्वाभावः, दुःखस्य निरुपाधिकानिष्टत्वाभावः, असद्वैलक्षण्येन शुक्तिरूप्यस्यापि सत्यत्वम्, अप्रातिभासिकत्वादिना प्रपञ्चस्यादृश्यत्वम्, घटवृत्तित्वादिना दृश्यत्वस्य मिथ्यात्वाव्याप्यत्वं च स्यादिति व्यावहारिक्यपि व्यवस्था न स्यात्। न ह्यत्र प्रत्यक्षबाधादन्यो दोषोऽस्ति प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वे बाधकम्।

अद्वैतसिद्धिः

नीरूपत्वानुमानापेक्षया, अतो न सामान्यतो दृष्टमात्रेण सर्वसङ्करापत्तिः। नन्वेवं—पशुत्वेन शृङ्गानुमानमपि स्यात्, लाघवात् पशुत्वमेव शृङ्गित्वे तन्त्रम्, न तु तद्विशेषगोत्वादिकम्; अननुगतत्वेन गौरवादित्येतत्तर्कसध्रीचीनत्वेन प्रत्यक्षापेक्षया प्राबल्यात्, अनुकूलतर्कसाचिव्यमेव हि अनुमाने बलम्। एवं च येन केनचित् सामान्यधर्मेण सर्वत्र यत्किञ्चिदनुमेयम्, लाघवतर्कसाचिव्यस्य सत्त्वात्। तावतैव च प्रत्यक्षबाधकत्वादिति व्यावहारिक्यपि व्यवस्था न स्यात्, न ह्यत्र प्रत्यक्षबाधादन्यो दोषोऽस्ति—इति चेन्न; अयोग्यशृङ्गादिसाधने प्रत्यक्षबाधस्यासंभवेन तत्र व्याप्तिग्राहकतर्कस्याभासत्वस्य त्वयाऽपि वक्तव्यत्वेन व्यवस्थाया उभयसमाधेयत्वात्, न हि तर्काभाससध्रीचीनमनुमानं प्रमाणमिति केनाभ्युपेयते, अत उपपन्नं सत्तर्कसचिवमनुमानं प्रत्यक्षस्य बाधकमिति ॥ इति प्रत्यक्षस्यानुमानबाध्यत्वसिद्धिः ॥

—o—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—लाघव-मूलक तर्कादि के द्वारा परीक्षित अनुमान को भी प्रत्यक्ष का बाधक मानने पर बहुत कुछ प्रत्यक्ष-विरुद्ध सिद्ध हो जायगा, जैसे कि शशादि में पशुत्वरूपहेतु के द्वारा शृङ्गवत्ता का अनुमान होने लगेगा, क्योंकि पशुत्व को ही शृङ्गवत्ता का प्रयोजक (व्याप्य) मानने में लाघव है और अननुगत गोत्वादि धर्मों को प्रयोजक मानने में गौरव है। अनुकूल तर्क की सहकारिता ही अनुमान प्रमाण का बल माना जाता है। इस प्रकार जैसे-तैसे किसी सामान्य धर्म के द्वारा कुछ भी अनुमान किया जा सकेगा। लाघव तर्क की सहायता मात्र से अनुमान प्रत्यक्ष का बाधक हो जाता है, अतः समस्त व्यावहारिक व्यवस्था समाप्त हो जाती है। इस अनुमान का बाध एकमात्र प्रत्यक्ष के द्वारा हो सकता था, किन्तु उसे बाधक नहीं, अपितु अनुमान-बाधित ही माना जा रहा है।

अद्वैतवादी—पशुत्व हेतु के द्वारा शशादि में यदि प्रत्यक्ष-योग्य शृङ्ग सिद्ध किए जाँय, तब तो प्रत्यक्ष बाधक हो सकेगा, किन्तु यदि कोई प्रत्यक्ष के अयोग्य (सूक्ष्म या अदृश्य) शृङ्ग सिद्ध करना चाहे, तब वहाँ प्रत्यक्ष को बाधक के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, अतः वहाँ शृङ्ग-व्याप्ति-ग्राहक तर्क में आभासरूपता आपको भी माननी पड़ेगी, क्योंकि व्यावहारिकी व्यवस्था की सुरक्षा करना हम और आप—दोनों का कर्त्तव्य है। तर्काभास-सहित अनुमान को कोई प्रमाण ही नहीं मानता, अतः सत्तर्क-समन्वित अनुमान ही अपरीक्षित प्रत्यक्ष का बाधक होता है, सभी अनुमान सभी प्रत्यक्षों के नहीं।

: २१ :

प्रत्यक्षस्य शब्दबाध्यत्वविचारः

न्यायामृतम्

यदि चाक्षं शब्दबाध्यं तर्हि जैमिनिना तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिरि-त्याद्यर्थवादस्यादितिर्द्यौरित्यादि मन्त्रस्य च दृष्टविरोधेनाप्रामाण्ये प्राप्ते तदविरोधाय "गुणवादस्तु गुणादविप्रतिषेधः स्याद्" इत्यादिना गौणार्थता नोच्येत। तत्सिद्धिरि-त्यादितत्सिद्धिपेटिकयां च "यजमानः प्रस्तर" इत्यादेर्गौणार्थता नोच्येत। त्वया च

अद्वैतसिद्धिः

किं च परीक्षितप्रमाणभावशब्दबाध्यमपि प्रत्यक्षम्। ननु—प्रत्यक्षं यदि शब्दबाध्यं स्यात्तदा जैमिनिना 'तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चि'रित्याद्यर्थवादस्या'दितिर्द्यौ'रि-त्यादिमन्त्रस्य च दृष्टविरोधेनाप्रामाण्ये प्राप्ते 'गुणवादस्तु' 'गुणादविप्रतिषेधः स्या'दि-त्यादिना गौणार्थता नोच्येत, 'तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवायाद्'—इति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'सन् घटः'—यह प्रत्यक्ष केवल परीक्षित अनुमान से ही बाधित नहीं, परीक्षित-प्रामण्यक आगम प्रमाण से भी बाधित होता है।

द्वैतवादी—प्रत्यक्ष प्रमाण यदि शब्द प्रमाण से बाधित होगा, तब पूर्व मीमांसा तथा वेदान्त—दोनों विरुद्ध पड़ जाते हैं, क्योंकि ''तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः'' (तै. ब्रा. २।१।४) अर्थात् 'अग्नि से उठा धूम ही दिन में दिखाई देता है, अग्नि की ज्वाला नहीं'—इस प्रकार का अर्थवाद-वाक्य तथा ''अदितिर्द्यौः, अदितिरन्त-रिक्षम्'' (तै. आ. १) अर्थात् 'अदिति देवता ही द्युलोक तथा अन्तरिक्ष हैं—इस मन्त्र की प्रामाणिकता का विरोध करते हुए महर्षि जैमिनि ने कहा है—''दृष्टविरोधात्'' (जै. सू. १।२।२) अर्थात् उक्त अथवाद तथा मन्त्र—दोनों ही दृष्ट-विरुद्ध (प्रत्यक्ष-विरुद्ध) अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि न तो अग्निशिखा दिन में अदृश्य होती है और न अदिति देवता ही सब कुछ देखा जाता है, अतः उक्त दोनों वाक्य धर्म में प्रमाण नहीं—इस प्रकार के पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए कहा गया है—''गुणवादस्तु'' (जै. सू. १।२।१०), ''गुणादविप्रतिषेधः'' (जै. सू. १।२।४७) अर्थात् उक्त अर्थवाद तथा मन्त्र—दोनों गौणरूप में अपनी-अपनी विषय-वस्तु को प्रस्तुत कर रहे हैं। अर्थात् दूरता के कारण कह दिया गया है कि दिन में धूम ही दिखता है अग्नि-ज्वाला नहीं। एवं अदिति देव की प्रशंसा में कहा गया है—अदिति द्यु, अन्तरिक्ष, माता, पिता तथा पुत्रादि सब कुछ है, अतः उक्त दोनों वाक्य अप्रमाण कहीं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यदि प्रत्यक्ष प्रमाण नगण्य या शब्द से बाधित होता, तब उसके अनुरोध पर उक्त वाक्यों को मुख्यार्थक न मानकर गौणार्थक मानने की क्या आवश्यकता थी ?

इसी प्रकार 'तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवायात्'' (जै० सू० १।४।२३) इस 'तत्सिद्धि-पेटिका' नाम से प्रसिद्ध सूत्र में जो प्रत्यक्ष के विरोध पर ''यजमानः प्रस्तरः'' (तै. सं. २।६।५।३) इत्यादि वाक्यों की गौणार्थकता का प्रति-पादन किया गया है, प्रत्यक्ष के दुर्बल या बाधित होने पर वह सब व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि शब्द प्रमाण प्रबल है, प्रत्यक्ष का बाध करके जो चाहे कह सकता था। [तत्सिद्धि-पेटिका में कहा गया है कि (१) ''यजमानः प्रस्तरः'' इस वाक्य में प्रस्तर (एक मुट्ठीभर कुशा) को गौणरूप से यजमान इसलिए कह दिया गया है कि यजमान

न्यायामृतम्

प्रत्यक्षाविरोधाय तत्त्वम्पदयोर्लक्षणा नोच्येत, श्रुतिविरोधात्प्रत्यक्षस्यैवाप्रामाण्य-

अद्वैतसिद्धिः

तत्सिद्धिपेटिकायां 'यजमानः प्रस्तर' इत्यादेर्गौणार्थता नोच्येत, त्वयापि प्रत्यक्षाविरोधाय तत्त्वम्पदयोर्लक्षणा नोच्येत, श्रुतिविरोधे प्रत्यक्षस्यैवाप्रामाण्यसंभवात्, न च –तात्पर्यलिङ्गानामुपक्रमादीनामत्र सत्त्वान्नाद्वैतश्रुतीनाममुख्यार्थत्वमिति— वाच्यम्, 'यजमानः प्रस्तर' इत्यादावप्यपूर्वत्वाद्येकैकलिङ्गस्य तात्पर्यग्राहकस्य विद्यमानत्वात्। एकैकलिङ्गस्य तात्पर्यनिर्णायकत्वे लिङ्गान्तरमनुवादकमेव, त्वन्मते प्रत्यक्षसिद्धे भेदे श्रुतिरिव, किं बाहुल्येन इति–चेन्न, वाक्यशेषप्रमाणान्तरसंवादार्थक्रियादिरूपपरीक्षा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

के कार्य की सिद्धि प्रस्तर से होती है। (२) "आग्नेयो वै ब्राह्मणः" (तै. सं. २।३।३।३) में ब्राह्मण को अग्नि इसलिए कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति के मुख से अग्नि और ब्राह्मण—दोनों की जाति (उत्पत्ति तै. सं. ७।१।१ में) बताई गई है। (३) "आदित्यो यूपः" (तै. ब्रा. २।१।५) में यूप को आदित्य का सरूप (समान चमचमाता) देखकर आदित्य कह दिया है। (४) "अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः पशवो गोऽश्वाः" (तै. सं. ५।२।९।४) में गो और अश्व की प्रशंसा करने के लिए उनसे भिन्न गर्दभादि को अपशु कहा गया है। (५) "सृष्टीरुपदधाति" (तै. सं. ५।३।४।७) में कहा गया है कि जिन इष्टिकाओं के चयन में सृजिपद-घटित मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, उनको सृष्टि कहते हैं। वहाँ यद्यपि 'सृजि' पद सभी मन्त्रों में प्रयुक्त नहीं, तथापि भूम (बहुल) रूप में सृजि का प्रयोग होने के कारण पूरे मन्त्र-समूह को छत्रि-न्याय से सृष्टि कह दिया गया है (६) "प्राणभृत उपदधाति" (तै० सं० ५।३।१।२) यहाँ "अयं पुरो भुवः तस्य प्राणो भौवायनः" (तै० सं० ४।३।३।१) इस प्रथम मन्त्र में 'प्राण' पद का प्रयोग होने के कारण समूचे मन्त्र-समूह को प्राणभृत् कहा जाता है। इन सभी गौणी वृत्ति के छः निमित्तों का संकलन पार्थसारथि मिश्र ने किया है—

तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसालिङ्गभूमभिः।
षड्भिः सर्वत्र शब्दानां गौणी वृत्तिः प्रकल्पिता ॥ (शा. दी. पृ. ९०)]

अद्वैत वेदान्त में भी सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्वादि धर्मों का अभेद प्रत्यक्ष-विरुद्ध होने के कारण ही "तत्त्वमसि" (छा. उ० ६।८।७) इस वाक्य के 'तत्' और 'त्वम्'— दोनों पदों की भाग-त्याग लक्षणा प्रतिपादित है, उस की भी कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि आगम प्रमाण के विरोध में प्रत्यक्ष का बाध आप मान चुके हैं। यदि कहा जाय कि तात्पर्य-ग्राहक उपक्रमोपसंहारादि छः लिङ्ग 'तत्त्वमसि' के सन्दर्भ में विद्यमान है, अतः अद्वैत श्रुतियों का "यजमानः प्रस्तरः" के समान किसी गौण अर्थ में तात्पर्य नहीं माना जा सकता। तो वह कहना उचित नहीं क्योंकि "यजमानः प्रस्तरः" आदि में जब अपूर्वत्वादि (अनधिगत-बोधकत्व) रूप एक-एक लिङ्ग ही तात्पर्य-ग्रहण में पर्याप्त होता देखा गया है, तब बहुसंख्यक लिङ्गों की क्या आवश्यकता ? अतः यह मानना चाहिए कि एक ही लिङ्ग तात्पर्य-ग्राहक होता है, शेष वैसे ही अनुवादक मात्र होते हैं, जैसे कि अद्वैत-मत में प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रसाधित भेद की श्रुति अनुवादिका होती है।

अद्वैतवादी—प्रत्यक्ष प्रमाण को सर्वथा हम बाधित नहीं मानते, अपितु वाक्य-शेष, प्रमाणान्तर-संवाद, अर्थक्रियादि रूप परीक्षा से परीक्षित प्रत्यक्ष को व्यवहार-दश

अद्वैतसिद्धिः

परीक्षितस्य प्रत्यक्षस्य प्राबल्येन व्यवहारदशायामेव एतद्विरुद्धार्थग्राहिणो 'धूम एवाग्ने-र्दिवा ददृशे' 'अदितिर्द्यौः' 'यजमानः प्रस्तर' इत्यादेस्तद्विरोधेनामुख्यार्थत्वेऽप्यद्वैतागमस्य परीक्षितप्रमाणविरोधाभावेन मुख्यार्थत्वोपपत्तेः। प्रत्यक्षादेर्हि परीक्षया व्यावहारिक-प्रामाण्यमात्रं सिद्धम्; तच्च नाद्वैतागमेन बाध्यते, बाध्यते तु तात्त्विकं प्रामाण्यम्, तत्तु परीक्षया न सिद्धमेव, अतो न विरोधः। 'धूम एवाग्ने' रित्यादेस्तु मुख्यार्थत्वे प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं व्याहन्येत। अतो विरोधात्तत्रामुख्यार्थत्वमिति विवेकः। यत्तु—प्रत्यक्षाविरोधाय तत्त्वम्पदयोर्लक्षणा नाश्रीयेतेति—तन्न, षड्विधलिङ्गैर्गति-सामान्येन चाखण्ड एवावधार्यमाणस्य तात्पर्यस्यानुपपत्तेर्जीवेशगतसर्वज्ञत्वकिञ्चि-ज्ज्ञत्वादीनामैक्यान्वयानुपपत्तेश्च। तात्पर्यविषयीभूताखण्डप्रतीतिनिर्वाहाय लक्षणाङ्गी-करणस्यैवोचितत्वात्, तात्पर्यविषयीभूतान्वयनिर्वाहाय लक्षणाश्रयणस्य सर्वत्र दर्शनात्। न च—एवं सति अमुख्यार्थत्वं स्यादिति—वाच्यम्, तद्धि प्रतीयमानार्थ-परित्यागेनार्थान्तरपरत्वं वा? अशक्यार्थत्वं वा? नाद्यः, सामानाधिकरण्येन प्रतीय-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में प्रबल माना जाता है, अतः उसके विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक "धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे," "अदितिर्द्यौः," "यजमानः प्रस्तरः"—इत्यादि वाक्य गौणार्थक है, किन्तु अद्वैत श्रुतियों का विरोधी 'सन् घटः'—यह प्रत्यक्ष परीक्षित नहीं, अपितु भ्रमसाधारण है, अतः इस के अनुरोध पर वे अपने अद्वैतरूप मुख्य अर्थ का परित्याग नहीं कर सकतीं। परीक्षा के आधार पर प्रत्यक्षादि में केवल व्यावहारिक प्रामाण्य सिद्ध होता है, उसका अद्वैत आगम से बाध नहीं किया जाता, बाध किया जाता है—तात्त्विक प्रामाण्य का। प्रत्यक्षादि में तात्त्विक प्रामाण्य परीक्षा के द्वारा सिद्ध नहीं होता, अतः प्रकृत में कोई विरोध प्रसक्त नहीं होता। हाँ, "धूम एवाग्नेः"—इत्यादि को मुख्यार्थक मानने पर प्रत्यक्ष का व्यावहारिक प्रामाण्य बाधित हो जाता है, अतः प्रत्यक्ष-विरोध के आधार पर वे गौणार्थक माने जाते हैं—यह इनका अद्वैत श्रुतियों से अन्तर है।

यह जो कहा कि प्रत्यक्ष दुर्बल है, तो प्रत्यक्ष के विरोध से डर कर 'तत्' और 'त्वम्' पदों की लक्षणा नहीं करनी चाहिए थी। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष-विरोध से डर कर उक्त पदों की लक्षणा नहीं की जाती, अपितु वहाँ लक्षणा का प्रयोजक अन्वयानुपपत्ति तथा तात्पर्यानुपपत्ति है। अर्थात् उपक्रमादि षड्विध लङ्गों एव "गति-सामान्यात्" (ब्र० सू० १।१।१०) अर्थात् सभी वेदान्त-वाक्यों में एक चेतन तत्त्व की अवगति समानरूप से होती है। इस सूत्र की सहायता से एक अखण्ड चिन्मात्र में जो तात्पर्य निर्णीत होता है, उसकी अन्यथा (सर्वज्ञ ईश्वर तथा अल्पज्ञ जीव का भेद मानने पर) उपपत्ति नहीं हो सकती, अतः 'तत्' और 'त्वम्'—दोनों पदों की लक्षणा एक अखण्ड चैतन्य में की जाती है। इसी प्रकार ही तात्पर्य-विषयीभूत अखण्ड-प्रतीति का निर्वाह होता है। तात्पर्यविषयीभूत अन्वय की उपपत्यर्थ ही सर्वत्र लक्षणा की जाती है।

लक्षणा-पक्ष में वेदान्त-वाक्यों में अमुख्यार्थत्व की प्रसक्ति होती है—ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि इस पक्ष में अमुख्यार्थत्व क्या (१) प्रतीयमान शक्यार्थ का त्याग करके अर्थान्तर-परत्व है? अथवा (२) अवाच्यार्थत्व है? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि जैसे 'यजमानः प्रस्तरः'—इस वाक्य में प्रतीयमान यजमान और प्रस्तर के

न्यायामृतम्

सम्भवात्। एतेनाद्वैतवाक्यमनन्यपरत्वान्नामुख्यार्थं प्रस्तरवाक्यादिकं तु अन्यपरमिति वाचस्पत्युक्तं निरस्तम्। सत्यपि तात्पर्यलिंगे मानान्तरविरोधे प्रस्तरादिवाक्यवत् सोमेन यजेतेत्यादिवद्यानन्यपरत्वस्यैवायोगात्। न हि कुरूपाम्, असुरम् चोद्दिश्य अहो दर्शनीयेति सिंह इति च शतकृत्वः प्रयुक्तमपि वाक्यं वाच्यार्थपरम् भवति। न वा तत्त्वमसि वाक्यम् षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतमपि मानांतरविरुद्धं वाच्यार्थपरम्। किं चोपक्रमोपसंहारादिकं हि प्रत्येकम् तात्पर्यलिङ्गम्। अस्ति च

अद्वैतसिद्धिः

मानस्यैक्यस्यात्यागात्। नान्त्यः, जहदजहल्लक्षणाश्रयणेन शक्यैकदेशपरित्यागेऽपि 'सोऽयं देवदत्त' इत्यादिवाक्य इव शक्यैकदेशस्यान्वयाभ्युपगमात्, विशेषणबाधेन विशेष्यमात्रान्वयस्यैवात्र लक्षणाशब्देन व्यपदेशात्। तथा चोक्तं वाचस्पतिमिश्रैः— 'प्रस्तरादिवाक्यमन्यशेषत्वादमुख्यार्थम्, अद्वैतवाक्यं त्वनन्यशेषत्वान्मुख्यार्थमेव। उक्तं हि शाबरभाष्ये—'न विधौ परः शब्दार्थ इती'ति। यथा चापूर्वत्वाद्येकैकतात्पर्यलिङ्गेन 'यजमानः प्रस्तर' इत्याद्यर्थवादवाक्यानां न स्वार्थपरत्वं तथा वक्ष्यामः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अभेद का परित्याग करके यजमानकार्य-साधकः प्रस्तरः—ऐसा गौण अर्थ किया जाता है, वैसा 'तत्' त्वमसि'—इस वाक्य में प्रतीयमान तत् और त्वम् का सामानाधिकरण्य (एकार्थ-बोधकत्व अथवा बोध्यत्व सम्बन्धेन एकार्थ वृत्तित्व) है, उसका यहाँ परित्याग नहीं किया जाता, क्योंकि विवरणकार के मत में शुद्ध चैतन्य वृत्ति का विषय माना जाता है, अतः तत्पद-जन्य एवं त्वम्पद-जन्य लक्षणारूप वृत्ति की विषयता जो शुद्ध चैतन्य में प्रतीत होती है, वाक्यार्थ-बोध में उसका परित्याग नहीं किया जाता, अतः अमुख्यार्थत्वापत्ति क्यों होगी ? द्वितीय (अवाच्यार्थत्व) पक्ष में 'यजमान' पद के वाच्य अर्थ का त्याग करके यजमान-कार्य-साधन को 'यजमान' पद का गौण अर्थ मानकर अमुख्यार्थ जैसे स्वीकार किया गया है, वैसे 'तत्' त्वमसि'—इस वाक्य में नहीं, क्योंकि अद्वैत-सम्प्रदाय-प्रसिद्ध भाग-त्याग लक्षणा में सम्पूर्ण वाच्यार्थ का परित्याग नहीं किया जाता, केवल विरोधी विशेषण अंश का ही परित्याग वैसे ही किया जाता है, जैसे 'सोऽयं देवदत्तः—इस वाक्य में तत्ता और इदन्ता का परित्याग होने पर भी देवदत्तरूप विशेष्य अंश का परित्याग नहीं किया जाता। अतः शुद्ध चैतन्यरूप विशेष्यार्थ में 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अन्वय को ही यहाँ भागत्याग-लक्षणा शब्द से कहा जाता है। श्री वाचस्पत्ति मिश्र ने भी कहा है—"प्रस्तरादिवाक्यमन्यशेषत्वादमुख्यार्थम्, अद्वैतवाक्यं तु अनन्यशेषत्वान्मुख्यार्थमेव"। अर्थात् "यजमानः प्रस्तरः"—इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य प्रस्तर की यजमानरूपता के प्रतिपादन में नहीं, अपितु प्रस्तर की प्रशंसा में होता है, किन्तु अद्वैत-वाक्यों का अद्वैतरूप अर्थ के प्रतिपादन में ही तात्पर्य होता है, अतः अद्वैत-वाक्य मुख्यार्थक हैं। शबर स्वामी ने भी कहा है कि "न विधौ परः शब्दार्थः" अर्थात् अज्ञात-ज्ञापकरूप विधि-वाक्य में स्वार्थ से भिन्न अर्थ अभिप्रेत नहीं हुआ करता। इस प्रकार यह निश्चय हो जाता है कि उपक्रमोपसंहारादि छः लिङ्गों की सहायता से ही तात्पर्यार्थ का निर्णय होता है, एक-एक लिङ्ग से नहीं—अतः "यजमानः प्रस्तारः"—इत्यादि अर्थवाद वाक्यों में स्वार्थ-परता नहीं है यह बात आगे चल कर आगम-बाधोद्धार-प्रकरण में विस्तृतरूप से कही जायगी।

न्यायामृतम्

प्रस्तरादिवाक्येऽपूर्वता । त्वत्पक्षे च प्रत्यक्षसिद्धे भेदे श्रुतिरिवैकलिंगसिद्धे तात्पर्ये लिङ्गान्तरमनुवादकमेवेति किं तद्वाहुल्येन ? यच्चोक्तं वाचस्पतिना—"प्रस्तरादिवाक्यमन्यशेषत्वादमुख्यार्थम्, अद्वैतवाक्यं तु न तथा । उक्तम् हि शाबरभाष्ये न विधौ परः शब्दार्थ" इति । तन्न, अन्यशेषेऽपि प्रत्यक्षाविरुद्धे लोके "इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरे"त्यादौ "कामधेनु"रित्यादाविवाऽमुख्यवृत्तेर्वेदेऽपि "सोऽरोदीदि" त्यादि प्रस्तरादिवाक्य इवामुख्यवृत्तेरनाश्रयणात् । अनन्यशेषेऽपि "सोमेन यजेत" त्यादौ वैयधिकरण्येनाऽन्वये

अद्वैतसिद्धिः

ननु—अन्यशेषत्वानन्यशेषत्वे नामुख्यार्थत्वमुख्यार्थत्वयोः प्रयोजके, किं तु मानान्तरविरोधाविरोधौ, अन्यशेषेऽपि मानान्तराविरोधे 'इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरे'त्यादौ लोके 'सोऽरोदी'दित्यादौ च वेदे प्रस्तरादिवाक्यवदमुख्यवृत्तेरनाश्रयणाद्, अनन्यशेषेऽपि 'सोमेन यजेते' त्यादौ वैयधिकरण्येनान्वये विरुद्धत्रिकद्वयापत्त्या सामानाधिकरण्ये-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—न तो अन्यशेषत्व अमुख्यार्थकता का प्रयोजक होता है और न अनन्यशेषत्व मुख्यार्थकता का, किन्तु प्रमाणान्तर-विरोध अमुख्यार्थकता तथा प्रमाणान्तराविरोध मुख्यार्थकता का प्रयोजक होता है । अत एव "इयं गौ बहुक्षीरा" आदि अन्यशेष (गो-प्रशंसापरक) लौकिक एवं "सोऽरोदीद् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्" (तै. सं. २।५।२) इत्यादि वैदिक वाक्यों का प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध न होने के कारण स्वार्थ में तात्पर्य माना जाता है, "यजमानः प्रस्तरः" आदि वाक्यों के समान स्वार्थ उपेक्षित नहीं होता । एवं प्रमाणान्तर से विरोध हो जाने के कारण "सोमेन यजेत" (तै० सं० ३।२।२।७१) इत्यादि अनन्यशेषभूत वाक्य भी वाच्यार्थ से भिन्न लाक्षणिक अर्थपरक माने जाते हैं । अर्थात् यहाँ 'सोमेन यागम्, यागेनेष्टं भावयेत्—ऐसा सोम और याग का करणत्व और कर्मत्वात्मक वैयधिकरण्यरूप से भावना में अन्वय करने पर याग में विरुद्ध दो त्रिक धर्म प्राप्त होते हैं, अर्थात् जिस समय 'सोमेन यागम्' ऐसा अन्वय किया जा रहा है, उस समय याग में प्रधानत्व, अनुवाद्यत्व और उद्देश्यत्व—ये तीन धर्म प्राप्त होते हैं और उसी समय 'यागेनेष्टं भावयेत्'—ऐसा अन्वय करने पर याग में गुणत्व, विधेयत्व और उपादेयत्व—ये तीन धर्म मानने पड़ते हैं । प्रधानत्व का गुणत्व से अनुवाद्यत्व का विधेयत्व से तथा उद्देश्यत्व का उपादेयत्व से सहज विरोध होता है, जो पदार्थ जिस काल में प्रधान है, वह उसी काल में गौण कैसे होगा ? जो अनुवाद्य है, वह विधेय तथा जो उद्देश्य है, वह उसी काल में उपादेय नहीं होता । फलतः दोनों त्रिक परस्पर विरुद्ध हैं, अतः उन्हे विरुद्ध त्रिक-द्वय कहा जाता है । 'सोमेन यागेन भावयेत्'—ऐसा एक ही करणत्वरूप से सोम और याग का भावना में अन्वय करने पर प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि 'सोम' शब्द एक लता विशेष में रूढ है, अतः यागरूप क्रिया का वाचक नहीं होता, अतः दोनों पदों का भिन्न-भिन्न अर्थ होने के कारण 'सोमेन यागेनेष्टं भावयेत्'—यह अन्वय नहीं कर सकते, क्योंकि समानविभक्तिक पदों के द्वारा अभिन्न अर्थ का ही प्रतिपादन होता है, भिन्न-भिन्न अर्थों का नहीं । इसलिए प्रत्यक्षविरोध से बचने के लिए 'सोम' पद की सोमवान् में लक्षणा करके 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्'—ऐसा अन्वय किये जाने का आदेश दिया गया है—'तद्गुणास्तु विधीयेरन् अविभागाद् विधानार्थे न चेदन्येन शिष्टाः" (जै. सू. १।३।९) अर्थात् सोमादि गुण और

न्यायामृतम्

विरुद्धत्रिकद्वयापातात् सामानाधिकरण्येनान्वये प्रत्यक्षाविरोधाय सोमवता यागेनेति मत्वर्थलक्षणायाः विचारविधायके च जिज्ञासासूत्रे तद्विजिज्ञासस्वेत्यादिश्रुतौ च प्रत्यक्षाविरोधाय जिज्ञासाशब्देन विचारलक्षणायाः सर्वं खल्विदम् ब्रह्मेत्यादौ अमुख्यार्थतायाश्च स्वीकृतत्वाच्च । सर्वस्यापि वाक्यस्यावाच्ये ब्रह्मणि लक्षणाया एवेष्टत्वेनामुख्यार्थत्वनिषेधायोगाच्च । अन्वयानुपपत्तेस्तात्पर्यानुपपत्तेर्वा लक्षणाबीजस्य विध्यविधिसाधारण्याच्च । शाबरवचनं तु अनुवादमुख्यार्थत्वाय विधौ लक्षणा न युक्तेवम्परम् । तस्मान्न प्रत्यक्षं शब्दबाध्यम् । तदुक्तम्—

यजमानप्रस्तरत्वं यथानार्थः श्रुतेर्भवेत् । ब्रह्मत्वमपि जीवस्य प्रत्यक्षस्याविशेषतः ॥

इति प्रत्यक्षस्य शब्दबाध्यत्वे बाधकम् ।

अद्वैतसिद्धि

नान्वये प्रत्यक्षाविरोधाय च सोमवता यागेनेति मत्वर्थलक्षणाया आश्रयणात् । एवं विचारविधायके 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासे'ति सूत्रे 'तद्विजिज्ञासस्वे'ति श्रुतौ च मानान्तरविरोधेन विध्यन्वयाय जिज्ञासाशब्देन विचारलक्षणायाः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'त्यादौ चामुख्यार्थतायाः स्वीकृतत्वात्, सर्वस्यापि वाक्यस्यावाच्ये ब्रह्मणि लक्षणाया एवेष्टत्वेनामुख्यार्थत्वनिषेधायोगाच्च, अन्वयानुपपत्तेस्तात्पर्यानुपपत्तेर्वा लक्षणाबीजस्य विध्यविधिसाधारणत्वाच्च । शाबरं तु वचनमर्थवादमुख्यत्वाय विधौ न लक्षणेत्येवम्परम्, तस्मान्न प्रत्यक्षं शब्दबाध्यम्—इति चेन्न, भावानवबोधात् । तात्पर्यविषयीभूतार्थबोधकत्वं हि मुख्यार्थत्वम्, न शक्यार्थमात्रबोधकत्वम्, अन्यार्थतात्पर्यकत्वाच्चा-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यागादिरूप कर्म—दोनों का विधान एक विशिष्टरूप में किया जाय, यदि दोनों अन्य वाक्यों से विहित न हों। इसी प्रकार ब्रह्म विचार-विधायक "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र. सू. १।१।१) इस सूत्र तथा "तद् विजिज्ञासस्व" (तै. उ. ३।१) इस श्रुति में प्रमाणान्तर का विरोध होने के कारण 'जिज्ञासा' पद की विचार में लक्षणा की जाती है, अन्यथा जिज्ञासा (ज्ञान की इच्छा) में कर्तव्यता का विधान सम्भव नहीं, क्योंकि ज्ञान के समान इच्छा भी विषय के अधीन होती है, पुरुष के अधीन नहीं कि पुरुष जब चाहे तब इच्छा करे। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा. ३।१४।१) इत्यादि श्रुति वाक्यों में अमुख्यार्थत्व ही माना गया है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म किसी शब्द का वाच्य नहीं होता, अतः उसमें सभी पदों भी लक्षणा ही मानी जाती है, अमुख्यार्थत्व का निषेध श्रुतिवाक्यों में सम्भव नहीं। अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का प्रयोजक है, जो कि सब कहीं सम्भव है, चाहे विधि वाक्य हो, अथवा अविधि वाक्य। शबर स्वामी ने जो यह कहा है—"न विधौ परः शब्दार्थः"। उसका तात्पर्य इतना ही है कि अर्थवाद की अमुख्यता बनाए रखने के लिए विधि वाक्य में लक्षणा का निषेध किया गया है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण शब्द के द्वारा बाधित नहीं हो सकता।

अद्वैतवादी—हमारा भाव हृदयङ्गत न हो सकने के कारण यह आक्षेप किया गया है। जो वाक्य अपने तात्पर्य के विषयीभूत अर्थ का बोधक होता है, उसे मुख्यार्थक कहते हैं। केवल वाच्यार्थ के बोधक को मुख्यार्थक नहीं कहा जाता। इसी प्रकार जिस वाक्य का तात्पर्य अन्य अर्थ में हो, उसे अमुख्यार्थक माना जाता है, केवल लाक्षणिक

अद्वैतसिद्धिः

मुख्यार्थत्वम्, न लाक्षणिकत्वमात्रम्। तथा चाद्वैतागमस्य स्वतात्पर्यविषयीभूतार्थबोधकत्वनिर्वाहाय लक्षणाश्रयणेऽपि मुख्यार्थत्वमुपपन्नमित्यवोचाम। एवं च 'सोमेन यजेते' त्यादिविशिष्टविधेर्विशेषणे तात्पर्याभावान्मत्वर्थलक्षणायामपि स्वार्थापरित्यागाच्च नामुख्यार्थत्वम्। जिज्ञासापदे तु ज्ञाधातुनेष्यमाणज्ञानलक्षणाङ्गीकारानङ्गीकारमतभेदेऽपि सन्प्रत्ययस्य विचारे जहल्लक्षणाभ्युपगमस्योभयत्र तुल्यत्वात् शक्यार्थपरित्यागेऽपि विधितात्पर्यनिर्वाहात् नामुख्यार्थत्वम्। न हि वाक्यार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या पदमात्रे लक्षणायामपि वाक्यस्यामुख्यार्थत्वम्, प्रतीतस्यार्थस्यानन्यशेषत्वेन मुख्यत्वात्। यत्र पुनः प्रतीत एव वाक्यार्थोऽन्यशेषत्वेन कल्प्यते, तत्र वाक्यस्यामुख्यार्थत्वमेव। अन्यद्धि पदतात्पर्यमन्यच्च वाक्यतात्पर्यम्, 'सैन्धवमानय' 'गङ्गायां वसन्ती' त्यादौ वाक्यतात्पर्यैक्येऽपि पदतात्पर्यभेदात्, 'विषं भुङ्क्ष्वे'त्यादौ पदतात्पर्याभेदेऽपि वाक्यतात्पर्यभेदात्। अत एव 'इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरे'त्यादिवाक्यार्थस्यावश्यं क्रेतव्येति विधिशेषत्वेन तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वात्, 'सोऽरोदी' दित्यादिवाक्यार्थस्य च 'बर्हिषि रजतं न देयं हिरण्यं दक्षिणे'ति विधिशेषत्वेन रजतनिन्दाद्वारा तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वात्, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानि'ति वाक्यार्थस्य 'शान्त

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अर्थ की बोधकता को अमुख्यार्थकता नहीं कहते। अद्वैत-वाक्यों में तात्पर्य-विषयीभूत अर्थ की बोधकता का निर्वाह करने की लिए लक्षणा का सहारा लेने पर भी मुख्यार्थता उपपन्न हो जाती है—यह हमारा आशय है। इस प्रकार 'सोमेन यजेत'—इत्यादि गुण-विशिष्ट कर्म के विधायक वाक्यों का केवल सोमादि रूप विशेषण के विधान में तात्पर्य नहीं होता, अतः मत्वर्थलक्षणा का आश्रयण करने पर भी स्वार्थ का परित्याग न होने के कारण उनमें अमुख्यार्थत्व नहीं आता। 'जिज्ञासा' पद में 'ज्ञा धातु की इष्यमाण ज्ञान में लक्षणा कुछ (नृसिंहाश्रमादि आचार्य मानते हैं, कुछ नहीं, किन्तु 'सन्' प्रत्यय की विचार में जहती लक्षणा मानना उभयत्र समान है। लक्षणा-पक्ष में शक्यार्थ का त्याग हो जाने पर भी विचारगत कर्त्तव्यतारूप तात्पर्यार्थ का निर्वाह हो जाने के कारण अमुख्यार्थत्वापत्ति नहीं होती, क्योंकि वाक्यार्थ-प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति से एक पद की लक्षणा कर लेने मात्र से पूरा वाक्य अमुख्यार्थक नहीं हो जाता है अपितु वाक्य के द्वारा प्रतीयमान अर्थ किसी अन्य का शेष (अङ्ग) न होने के कारण मुख्य ही माना जाता है। जहाँ पर प्रतीयमान वाक्यार्थ की कल्पना किसी अन्य के शेषरूप में की जाती है, वहीं पर वाक्य को अमुख्यार्थक माना जाता है। पद-तात्पर्य कुछ और है तथा वाक्य-तात्पर्य कुछ और—'सैन्धवमानय,' 'गंगायां वसन्ति'—इत्यादि स्थलों पर वाक्य का तात्पर्य एक है, पदों का तात्पर्य भिन्न-भिन्न होता है। अत एव 'इयं गौ बहुक्षीरा'—इत्यादि वाक्यों में 'क्रेतव्या'—इस विधि की शेषता (पूर्ति) के लिए गो-प्राशस्त्य की लक्षकता मानी जाती है। 'सोऽरोदीत्'—इत्यादि वाक्य "बर्हिषि रजतं न देयम् (याग में चाँदी को दक्षिणा के रूप में नहीं देना चाहिए)—इस विधि की शेषता का निर्वाह करने के लिए रजतगत अप्राशस्त्य के लक्षक माने जाते हैं। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" तज्जलान् इत्यादि वाक्य भी "शान्त उपासीत"—इस विधि से विहित शम-विधि की शेषता के रूप में अप्रयत्न-सुलभत्वरूप प्राशस्त्य के लक्षक होते हैं, अतः यहाँ सर्वं खल्विदं—इस वाक्य के अर्थ को अमुख्य ही माना जाता है।

अद्वैतसिद्धिः

उपासीते'ति शर्मविधिशेषत्वेनात्यनायाससिद्धत्वरूपतत्प्राशस्त्यलक्षकत्वादमुख्यत्वमेव। अत एव—मानान्तरविरोध एव लक्षणेत्यपास्तम्, 'इयं गौः क्रय्या बहुक्षीरे'त्यादिना प्राशस्त्यलक्षणायां व्यभिचारात्, किं तु परमतात्पर्यविषयीभूतार्थप्रतीतिनिर्वाहायैव सर्वार्थवादेषु लक्षणा। एतावांस्तु विशेषः—विधिप्राशस्त्ये लक्षणातः प्रागर्थवादवाक्यार्थज्ञानम्, तस्य प्रमाणान्तरविरोधे बाध एव, यथा 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिद' दित्यादौ। अत एव तत्र गुणवादमात्रम्, प्रमाणान्तरप्राप्तौ त्वनुवादमात्रम् 'अग्निर्हिमस्य भेषज'मित्यादौ। अत एव तदुभयत्राबाधिताज्ञातज्ञापकत्वरूपप्रामाण्यशरीरानिर्वाहादप्रामाण्यम्। यत्र पुनः प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधौ न स्तस्तत्र प्रामाण्यशरीरनिर्वाहाद् भूतार्थवादत्वम्—यथा 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छ'दित्यादौ, अयमेव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस प्रकार जो लोग कहते थे कि प्रमाणान्तर का विरोध होने पर ही लक्षणा की जाती है, उनका वह कहना निरस्त हो जाता है, क्योंकि इयं गौ बहुक्षीरा'—इत्यादि वाक्यों की गोगत प्राशस्त्य की लक्षणा में व्यभिचार होता है, अर्थात् प्रमाणान्तर का विरोध न होने पर भी वहाँ लक्षणा की जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि वाक्य के परम तात्पर्य के विषयीभूत अर्थ की प्रतीति का निर्वाह करने के लिए ही सभी अर्थवाद वाक्यों में लक्षणा अपनाई जाती है। इतना अन्तर अवश्य रहता है कि अर्थवाद वाक्यों में लक्षणा से पहले वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, उसका प्रमाणान्तर से विरोध होने पर बाध हो जाता है, जैसे कि "प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्" (प्रजापति ने अपनी चर्बी नोचकर अग्नि में उसकी आहुति डाली) इत्यादि स्थल पर किसी का अपने शरीर की चर्बी को उखाड़कर अग्नि में प्रक्षिप्त करना प्रत्यक्ष-विरुद्ध होने के कारण बाधित हो जाता है। इसीलिए वैसे स्थलों पर गुणवाद मात्र माना जाता है। यदि अर्थवाद प्रतिपादित अर्थ लोक से प्रमाणान्तर से अवगत होता है, तब अर्थवाद-वाक्य को अनुवाद मात्र कहा जाता है, जैसे कि—"अग्निर्हिमस्य भेषजम्" (अग्नि शीत की निवारक है) इत्यादि वाक्य। इसलिए इन दोनों स्थलों पर अबाधित एवं अज्ञात अर्थ के बोधकत्व रूप-प्रामाण्य का निर्वाह न हो सकने के कारण अप्रामाण्य भी माना जाता है। जहाँ पर न तो प्रमाणान्तर का विरोध होता है और न प्रमाणान्तर से प्राप्ति, वहाँ प्रामाण्य का निर्वाह हो जाने के कारण यथाभूतार्थ-वादत्व माना जाता है। जैसे—"इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्" (इन्द्र ने वृत्रासुर पर वज्र का प्रहार किया) इत्यादि स्थल पर सत्यार्थवादत्व कहा गया है—

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥ (बृह० वा० पृ० १९२)

वेदान्त-सिद्धान्त में भूतार्थवाद के लिए देवताधिकरण-न्याय का व्यवहार किया जाता है। अर्थात् पूर्व मीमांसा के देवताधिकरण (जै० सू० ९।१।४) में देवताओं के शरीरादि का निराकरण करते हुए पार्थसारथमिश्र ने कहा है—"मन्दधियस्तु श्रद्धालवस्तात्पर्यमजानाना भ्राम्यन्तु नाम" (शा० दी० पृ० ५८०)। किन्तु वेदान्त के देवताधिकरण (ब्र० सू० १।४।८) में देव-विग्रहादि का समर्थन किया गया है और देव-विग्रहादि के प्रतिपादक वाक्यों को भूतार्थवाद कहा गया है।

अद्वैतसिद्धि

देवताधिकरणन्यायः । ननु--तर्ह्यादित्यो यूप' इत्यादौ वाक्यार्थप्रतीत्यर्थमेव लक्षणाङ्गीकारादमुख्यार्थत्वं न स्यात्, न स्याद्यद्यादित्यसदृशो यूप इति वाक्यार्थपर्यवसानं स्यात्, किं तु गुणवृत्त्या प्रतीतस्यापि वाक्यार्थस्य यूपे पशुं बध्नातीति विधिशेषत्वेन तत्प्राशस्त्यलक्षकत्वमस्त्येव, तेनैवामुख्यत्वम्, न त्वादित्यपदगौणतयेति तत्सिद्धिपेटिकायां सर्वोदाहरणेष्वप्यवान्तरवाक्यार्थप्रतीतये गुणवृत्तिप्रकाराः प्रदर्शिता इति द्रष्टव्यम् । कर्मप्राशस्त्यलक्षणा तु सर्वार्थवादसाधारणी तत्रास्त्येवेति नामुख्यार्थत्वानुपपत्तिः । अत उपपन्नं प्रस्तरादिवाक्यवैषम्यमद्वैतवाक्यस्य । यच्चोक्तमर्थवादमुख्यार्थत्वाय विधौ न लक्षणेत्येवंपरं शबरस्वामिवचनमिति, तन्न, अश्वप्रतिग्रहेष्टौ 'प्रतिगृह्णीया'दिति विधौ प्रतिग्राहयेदिति व्यवधारणकल्पनया अर्थवादानुसारेण प्रयोजक-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—वाक्यार्थ-प्रतीति के लिए जिन वाक्यों में लक्षणा मानी जाती है, उन्हें यदि अमुख्यार्थक नहीं माना जाता, तब "आदित्यो यूप"—इत्यादि वाक्यों में वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए ही लक्षणा की जाती है, अतः उनमें अमुख्यार्थत्व नहीं मानना चाहिए, किन्तु सभी अर्थवाद वाक्यों में लक्षणाश्रयण के कारण ही अमुख्यार्थत्व माना जाता है ।

समाधान—"आदित्यो यूपः"—इत्यादि में अवश्य ही अमुख्यार्थत्व न होता, यदि 'आदित्य के सदृश चमकीला यूप होता है'—इतने ही अर्थ में उस वाक्य का पर्यवसान होता । परन्तु वैसा नही, अपि तु गौणी वृत्ति से प्रतीयमान 'आदित्य सदृशो यूपः'—इस प्रकार का अर्थ 'यूपे पशुं बध्नाति'—इस विधि का शेष माना जाता है, अतः यूपगत प्राशस्त्य की लक्षकता "आदित्यो यूपः"—इस वाक्य में मानी जाती है, अतः उक्त वाक्य का केवल अपने स्वार्थ में पर्यवसान न मानकर स्वार्थ-प्रतीति के अनन्तर विधेय-प्राशस्त्य-लक्षणा के द्वारा विधि वाक्य से एकवाक्यता स्थापित की जाती है । इसी कारण 'आदित्यो यूपः'—इस वाक्य के अर्थ में अमुख्यता आ जाती है, न कि 'आदित्य' पद की गौणता के कारण । इसी प्रकार गत पृष्ठ (१३८) पर प्रदर्शित तत्सिद्धि-पेटिका के सभी उदाहरणों में अवान्तर वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए गौणी वृत्ति के अनेक प्रकार प्रदर्शित हुए हैं । कर्मगत प्राशस्त्य-लक्षणा भी उनमें है, जो कि सभी अर्थवाद वाक्यों में समानरूप से पाई जाती है, अतः उनमें अमुख्यार्थत्व की अनुपपत्ति नहीं है । सार यह है कि 'यजमानः प्रस्तरः'—इत्यादि वाक्यों का अत्यन्त वैलक्षण्य अद्वैत वाक्यों में सिद्ध हो गया, अतः उनकी समानता का प्रदर्शन केवल भावानवबोध के कारण था ।

यह जो कहा गया कि अर्थवाद वाक्यों की अमुख्यार्थता के लिए विधि-वाक्यों में लक्षणा नहीं की जाती इस अभिप्राय से ही शबर स्वामी ने कहा है—"न विधौ परः शब्दार्थः" । वह कहना उचित नहीं, क्योंकि अश्व-प्रतिग्रह इष्टि के 'प्रतिगृह्णीयाद्'—इस विधि पद की 'प्रतिग्राहयेत्' में व्यवधारण कल्पनात्मक लक्षणा मीमांसकों ने ही मानी है । [अर्थात् उक्त इष्टि का विधायक वाक्य है—"वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति । यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्" (तै० सं० २।३।१२।१) अर्थात् वरुण देवता जलोदर रोग के रूप से उसको

अद्वैतसिद्धिः

व्यापारलक्षणाया अङ्गीकरणात्, तस्माद्विधौ तात्पर्यवति वाक्ये प्रतीयमानवाक्यार्थातिरिक्तोऽन्यः शेषी नास्तीत्येवं परमेव तद्वचनम्। अतः सिद्धमद्वैतागमस्य लाक्षणिकत्वेऽपि मुख्यार्थत्वात् प्रत्यक्षबाधकत्वमिति शिवम्॥ इति प्रत्यक्षस्यागमबाध्यत्वम्॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पकड़ता है, जो अश्व का प्रतिग्रह लिया करता है, अतः जितने अश्वों का प्रतिग्रह करे उतने कपालों में पुरोडाश को संस्कृत कर वरुण देवता के उद्देश्य से याग करे। यहाँ सन्देह होता है कि यह प्रतिग्रह इष्टि दाता को करनी चाहिए? या दान लेनेवाले ब्राह्मण को? इस सन्देह का समाधान करते हुए कहा गया है—"सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात्" (जै० सू० ३।४।३१) अर्थात् वह अश्व-प्रतिग्रह इष्टि ऋत्विक् को दान लेने के लिए प्रेरयिता यजमान को करनी चाहिए, क्योंकि सन्दर्भ की पौर्वापर्य आलोचना से ऐसा ही प्रतीत होता है] इसे ही व्यवधारण कल्पना कहा जाता है। वार्तिककार कहते हैं—"यत्रान्यथाऽर्थः प्रतिभातः पौर्वापर्यालोचनेन व्यवधार्यान्यथा कल्प्यते, सा व्यवधारणकल्पना, तद्यथा—प्रतिगृह्णीयादिति श्रुतम्, प्रतिग्राहयेदिति कल्पयिष्यते" (तं० वा० पृ० ४३७)। अर्थात् "प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत् स स्वं देवतामार्च्छत्, स पर्यदीरयत् स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्, स निरवपत्, ततो वैष वरुणपाशादमुच्यत्" (तै० सं० २।३।१२।१) इस उपक्रम से यह अवधारण किया जाता है कि प्रजापति ने वरुणदेव को अश्व-दान दिया, फलस्वरूप प्रजापति को उसके देवता वरुण ने जलोदर का रूप धारण कर पकड़ लिया, प्रजापति ने जब चतुष्कपाल-संस्कृत पुरोडाश से प्रतिग्रह इष्टि की, तब वह जलोदर की पीड़ा से मुक्त हो गया। अतः प्रजापति के ही समान यजमान को ही इष्टि करनी चाहिए। विधिगत 'प्रतिगृह्णीयात्' क्रिया की लक्षणा प्रतिग्राहयेत् में की जाती है, तब उस वाक्य से यह अर्थ निष्पन्न हो जाता है कि जो जितने अश्व प्रतिग्रह में दे, वही यजमान उक्त प्रतिग्रह इष्टि करे। उचित भी यही है, क्योंकि "न केसरिणो ददाति"—यह निषेध वाक्य अश्व के समान सटावाले पशुओं के दान का निषेध करता है, अतः अश्व-दानरूप निषिद्धाचरण करनेवाले यजमान को ही प्रायश्चित्त के रूप में उक्त इष्टि करनी चाहिए। अतः "न विधौ परः शब्दार्थः"—इस शाबर वचन का यह अर्थ करना चाहिए कि तात्पर्यवाले वाक्य में प्रकृत वाक्य से अन्य शेषी वाक्य की कल्पना नहीं की जाती, जैसा कि अर्थवाद वाक्यों में विधिवाक्यरूप शेषी की कल्पना होती है, किन्तु विधि वाक्यों में अन्यार्थता की कल्पना नहीं होती। इसी प्रकार अद्वैत-आगम में लक्षणा मानने पर भी अन्यार्थता न होने के कारण मुख्यार्थता का निर्वाह हो जाता है। इसीलिए अद्वैत-आगम में सन् घटः—इस प्रत्यक्ष की बाधकता सिद्ध हो जाती है।

—०—

: २२ :

अपच्छेदन्यायवैषम्यविचारः

न्यायामृतम्

यत्तूक्तं वाचस्पतिना पूर्वस्य प्रत्यक्षस्य परेणागमेनापच्छेदन्यायेन बाध इति तन्न, न ह्यस्माभिः पूर्वत्वमात्रेण प्रत्यक्षबाधकतोक्ता, किन्तूपजीव्यत्वेन। न चापच्छेदे पूर्वमुपजीव्यम्। किं च प्रतिहर्त्रुद्गात्रोः क्रमेणापच्छेदे प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तसर्ववेदसदानस्य परेणोद्गात्रपच्छेदनिमित्तादाक्षिण्येन बाधेऽपि नात्यन्तबाधः प्रतिहर्तृ मात्रा-

अद्वैतसिद्धिः

किं चापच्छेदन्यायेनाप्यागमस्य प्राबल्यम्। यथा हि "पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिव' दित्यधिकरणे उद्गात्रपच्छेदनिमित्तकादक्षिणयागेन परेण प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकसर्वस्वदक्षिणयागस्य पूर्वसिद्धनिमित्तस्य बाध इति स्थितम्, तथेहापि उपजीव्यागमेन पूर्वस्य प्रत्यक्षस्य बाधः। ननु—प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकसर्वस्वदक्षिण-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अपच्छेद-न्याय के आधार पर भी आगम का ही प्राबल्य सिद्ध होता है। जैसा कि "पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्" (जै. सू. ६।५।५४) इस अधिकरण में बताया गया है कि नैमित्तिक कर्मों में प्रथमोपस्थित निमित्त दुर्बल तथा पश्चाज्जायमान निमित्त प्रबल होता है, अतः पश्चाद्भावी निमित्त के अनुसार ही कर्म किया जाता है। जैसे कि दर्शपूर्णमासरूप प्रकृतिभूत इष्टि कर्म में विहित कुशा की सोमारौद्र नामक विकृति में 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'—इस अतिदेश के आधार वर कुशा द्रव्य प्रथमतः ही उपस्थित है, किन्तु उस विकृति में "शरमयं बर्हिः"—इस वाक्य से पश्चात् विहित शर द्रव्य है, अतः पश्चाद्भावी शर द्रव्य से पूर्वभावी कुशा का बाध होता है। उसी प्रकार पूर्वभावी अपच्छेद का उत्तरभावी अपच्छेद से बाध होता है। अर्थात् ज्योतिष्टोम कर्म में बहिष्पवमान संज्ञक स्तोत्र का गान करने के लिए यज्ञशाला से बाहर निकलते समय ऋत्विक्गण एक विशेष पंक्ति में आबद्ध होकर चलते हैं। अर्थात् सब से आगे अध्वर्यु चलता है, उसके पीछे उसकी कच्छ पकड़ कर प्रस्तोता, प्रस्तोता की कच्छ पकड़ कर उसके पीछे प्रतिहर्त्ता, प्रतिहर्ता के पीछे उद्गाता, उद्गाता के पीछे ब्रह्मा और ब्रह्मा के पीछे यजमान चलता है। उनके इस सञ्चरण की उपमा पिपीलिका-सञ्चरण से दी जाती है। उस सञ्चरण के समय मार्ग में ही यदि किसी के हाथ से अपच्छेद हो जाता है अर्थात् कच्छ छूट जाती है, तब उसका भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त कर्म बताया गया है—"प्रस्तोता अपच्छिन्द्याद् ब्रह्मणे वरं दद्याद्, यदि प्रतिहर्त्ता सर्ववेदसं दद्याद्, यद्युद्गाता अदक्षिणं यज्ञमिष्ट्वा तेन पुनर्यजेत, तत्र तद्दद्यात् पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्"। अर्थात् यदि प्रतिहर्त्ता से अपच्छेद होता है, तब उस कर्म को सर्वस्व दक्षिणा देकर सम्पन्न किया जाय और यदि उद्गाता से अपच्छेद होता है, तब उस कर्म को बिना दक्षिणा के पूरा कर दुबारा उसी कर्म का अनुष्ठान किया जाय और उसमें वह दक्षिणा दी जाय जो पहले देनी थी। यदि पहले प्रतिहर्त्ता से और उसके पश्चात् उद्गाता से अपच्छेद होता है, तब पूर्वभावी प्रतिहर्त्ता के अपच्छेद में सर्वस्व दक्षिणापूर्वक अनुष्ठान का बाध करके पश्चाद्भावी उद्गाता के अपच्छेद में करणीय प्रणाली का ही अनुसरण किया जाता है। ठीक उसी प्रकार पूर्व भावी प्रत्यक्ष प्रमाण का पश्चाद्भावी आगम प्रमाण से बाध होता है।

द्वैतवादी—पूर्वभावी प्रतिहर्त्ता के अपच्छेद में कर्त्तव्य सर्वस्व दक्षिणापूर्वक

न्यायामृतम्

पच्छेदे द्वयोरपि युगपदपच्छेदे क्रमेणापच्छेदेऽपि प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य पश्चात्त्वे च "यदि प्रतिहर्तापच्छिद्यात्तर्हि सर्ववेदसं दद्यादि"ति शास्त्रप्रामाण्यसम्भवात्। अत एव षष्ठे "तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यादि"त्यधिकरणे द्वयोर्युगपदपच्छेदे विकल्प उक्तः। किं च "यद्युद्गाता जघन्यः स्यात्पुनर्यज्ञे सर्ववेदसं दद्यादि"त्यधिकरणे उद्गात्रपच्छेदस्य प्रतिहर्त्रपच्छेदात्परत्वे उद्गात्रपच्छेदनिमित्तके प्रथमप्रयोगं दक्षिणाहीनं समाप्य कर्तव्ये ज्योतिष्टोमस्य द्वितीयप्रयोगे "तद्दद्याद्यत्पूर्वस्मिन् दास्यन्स्यादि"ति या श्रुत्युक्ता दक्षिणा, सा पूर्वभाविप्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकपूर्वप्रयोगस्थसर्वस्वदित्साया अबाधेन सर्वस्वरूपैव न तु या ज्योतिष्टोमे नित्या द्वादशशतरूपा सा। तस्मान्न प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य सर्वथा बाधः किं तु प्रयोगान्तरे निक्षेप इत्युक्तम्। उक्तं हि टुप्टीकायाम्—"तस्य प्रयोगान्तरे

अद्वैतसिद्धिः

यागस्य प्रतिहर्तृमात्रापच्छेदे, युगपदपच्छेदे, क्रमेणापच्छेदेऽपि प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य पश्चात्त्वे चावकाश इति युक्तः उद्गात्रपच्छेदनिमित्तकादक्षिणयागेन बाधः, अन्यथा 'यदि प्रतिहर्ता अपच्छिद्येत सर्ववेदसं दद्या'दिति शास्त्रमप्रामाणं स्यात्, अत एव 'विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्या'दित्यधिकरणे द्वयोर्युगपदपच्छेदे विकल्प उक्तः। किं च 'यद्युद्गाता जघन्यः स्यात्पुनर्यज्ञे सर्ववेदसं दद्याद्यथेतरस्मि'न्नित्यधिकरणे उद्गात्रपच्छेदस्य प्रतिहर्त्रपच्छेदात्परत्वे उद्गात्रपच्छेदनिमित्तं पूर्वं प्रयोगं दक्षिणाहीनं सम्पाद्य कर्तव्यज्योतिष्टोमस्य द्वितीयप्रयोगे 'तद्दद्याद्यत्पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्' इति श्रुत्युक्ता या दक्षिणा सा पूर्वभाविप्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकपूर्वप्रयोगस्थसर्वस्वदित्साया अबाधेन सर्वस्वरूपैव, न तु या ज्योतिष्टोमे नित्या द्वादशशतरूपा। तस्मान्न प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य सर्वथा बाधः, किं तु प्रयोगान्तरे निक्षेप इत्युक्तम्, उक्तं हि टुप्टीकायाम्—'तस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कर्मानुष्ठान का जो बाध किया जाता है, वह सावकाश का ही बाध होता है,—क्योंकि उसको वहाँ अवकाश है, जहाँ केवल प्रतिहर्त्ता से अपच्छेद हो, या दोनों से एक ही समय अपच्छेद हो, अथवा पहले उद्गाता तथा पश्चात् प्रतिहर्त्ता से अपच्छेद हो। सावकाश होने के कारण ही तन्निमित्तक सर्वस्व दक्षिणापूर्वक अनुष्ठान का उद्गात्रपच्छेदनिमित्तक दक्षिणा-रहित कर्मानुष्ठान के द्वारा बाध होता है। अन्यथा "यदि प्रतिहर्त्ता अपच्छिद्यते सर्ववेदसं दद्यात्'—यह शास्त्र अत्यन्त अप्रमाण हो जायगा। अत एव जहाँ दोनों से एक काल में अपच्छेद होता है, वहाँ इसे पाक्षिक अवकाश प्रदान किया गया है—"विप्रतिषेधाद् विकल्पः स्यात्" (जै० सू० ६।५।५१) अर्थात् दो निमित्तों के एक साथ उपस्थित होने पर विकल्प का आश्रयण करना चाहिए।

दूसरी बात यह भी है कि पूर्वभावी निमित्त में सम्पादनीय अनुष्ठान का अत्यन्त बाध भी नहीं होता, किन्तु द्वितीय प्रयोग में उसे अवकाश दिया जाता है। "यद्युद्गाता जघन्यः स्यात् पुनर्यज्ञे सर्ववेदसं दद्याद् यथेतरस्मिन्" (जै० सू० ६।५।५५) इस सूत्र में स्पष्ट कहा है कि यदि पहले प्रतिहर्त्ता से और पश्चात् उद्गाता से अपच्छेद हो, तब प्रथम प्रयोग बिना दक्षिणा दिए ही पूर्ण करके द्वितीय प्रयोग में "तद् दद्याद् यत्पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्"—इस श्रुति में कथित पूर्व-प्राप्त दक्षिणा वही सर्वस्वदक्षिणा मानी गई है, जो कि प्रतिहर्त्ता के अपच्छेद में प्राप्त कर्म की निश्चित की गई है, न कि ज्योतिष्टोम की नियत एक सौ बारह गौएँ। अतः पूर्वभावी निमित्त में प्राप्त अनुष्ठान का

न्यायामृतम्

निक्षेपः क्रियत'' इति । अपि चैकस्मिन्नपि प्रयोगे क्रमिकाभ्यां निमित्ताभ्यां क्रतौ तत्तन्नैमित्तिककर्तव्यतयोर्बदरफले श्यामरक्तरूपयोरिव क्रमेणोत्पत्ते रूपज्ञानद्वयवच्छास्त्रद्वयमपि प्रमाणमेव । उक्तं ह्यपच्छेदाधिकरणे—''नैमित्तिकशास्त्रस्य ह्ययमर्थः निमित्तोपजननात्प्रागन्यथाकर्तव्यो ऽपि क्रतुर्निमित्ते सत्येवं कर्तव्य'' इति । ततश्चार्थस्यैव बदरफलस्येव श्यामरक्तरूपेण प्राक्तथाभूतस्य पश्चादन्यथाभावात् पूर्वशास्त्रस्य प्रामाण्यमेवन्न पूर्वशास्त्रस्याप्रामाण्यम् । न हि बदरफले श्यामत्वविज्ञानं अनन्तरस्य रक्तत्वस्यावगत्या मिथ्या भवतीति । तस्मात्—

पौर्वापर्यं विरोधश्च पूर्वाप्रामाण्यमेव च ।
नियमान्नास्ति यत्रासावपच्छेदनयो भवेत् ॥

न चैवं प्रकृते प्रत्यक्षप्रामाण्यस्यावकाशोऽस्तीति नापच्छेदन्यायः । एतेन सगुणसप्रप-

---

अद्वैतसिद्धिः

प्रयोगान्तरे निक्षेप' इति । अपि च क्रमिकनिमित्तद्वयेन क्रमेणादक्षिणसर्वस्वदक्षिणयोः प्रयोगयोः संभवेन विरोध एव नास्ति, यथा बदरफले क्रमिकनिमित्तवतोः श्यामरक्तरूपयोः । उक्तं ह्यपच्छेदाधिकरणे—'नैमित्तिकशास्त्रस्य ह्ययमर्थः, 'निमित्तोपजननात् प्रागन्यथाकर्तव्योऽपि क्रतुर्निमित्ते सत्यन्यथा कर्तव्यः' इति । तस्मादपच्छेदन्यायः सावकाशविषयः, अद्वैतागमेन प्रत्यक्षबाधे तु न प्रत्यक्षप्रामाण्यस्यावकाशोऽस्ति – इति चेन्न; उद्गात्रपच्छेदाभावे युगपदुभयापच्छेदे प्रतिहर्त्रपच्छेदस्य उद्गात्रपच्छेदे पश्चात्त्वे च ज्योतिष्टोमद्वितीयप्रयोगे प्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तकसर्वस्वदक्षिणयागप्रतिपादकशा-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अत्यन्त बाध न कर प्रयोगान्तर में निक्षेप मात्र किया जाता है, जैसा कि टुप्टीका में कहा गया है—''तस्य प्रयोगान्तरे निक्षेपः क्रियते'' (टुप्० पृ० १४७९) ।

वस्तुतः अपच्छेद-स्थल पर कोई विरोध या बाध्य-घातकभाव ही नहीं होता, क्योंकि क्रमशः दो निमित्तों के उपस्थित होने पर क्रमशः दक्षिणा-रहित अनुष्ठान के पश्चात् सर्वस्व दक्षिणा-प्रयुक्त प्रयोग सम्भव है, तब बाध्य-बाधकभाव कहाँ है ? जैसे कि बेर के फल में क्रमिक निमित्त के कारण क्रमशः श्याम और रक्त रूप । उनका कोई विरोध या बाध्य-घातक भाव नहीं होता ! अपच्छेदाधिकरण में पार्थसारथि मिश्र ने ऐसा ही कहा है—''नैमित्तिकशास्त्राणां ह्ययमर्थः—निमित्तोपजननात् प्रागन्यथा कर्तव्योऽपि क्रतुर्निमित्ते सत्यन्यथा कर्तव्य इति ।'' (शा. दी. पृ. ५०३) । अर्थात् किसी निमित्त की उपस्थिति से पूर्व जो कर्म किया जाता था, निमित्त के उपस्थित होने पर उसका बाध नहीं होता, अपितु उसके अनुष्ठान-प्रकार में केवल कुछ हेर-फेर मात्र हो जाता है । अतः यह सिद्ध हो गया कि अपच्छेदन्याय सावकाश की बाध्यता में ही लागू होता है, अद्वैत आगम से यदि प्रत्यक्ष का बाध किया जाता है, तब उसे कहीं पर भी अवकाश ही नहीं मिलता ।

अद्वैतवादी—प्रतिहर्त्ता के अपच्छेद में प्राप्त सर्वस्व दक्षिणापूर्वक ज्योतिष्टोमानुष्ठान का विधायक शास्त्र भी सावकाश है, क्योंकि उसे वहाँ पूरा अवकाश है, जहाँ उद्गाता से अपच्छेद नहीं होता, जहाँ दोनों से युगपद् अपच्छेद होता है, अथवा जब उद्गाता के अपच्छेद से पश्चात् प्रतिहर्त्ता के अपच्छेद में विहित ज्योतिष्टोम का द्वितीय प्रयोग किया जाता है । इन स्थलों पर वह जैसे सावकाश है, उसी प्रकार व्यावहारिक

न्यायामृतम्

श्रुत्योर्निर्गुणनिष्प्रपञ्चश्रुतिभ्यामपच्छेदन्यायेन बाध इति निरस्तम्। एतेनैव तत्पर-त्वात्परत्वाच्च निर्दोषत्वाच्च वैदिकम्। पूर्वस्य बाधकं नायं सर्प इत्याप्तवाक्यवद्"। इत्यानन्दबोधोक्तं निरस्तम्, यतः—

तत्परत्वमसिद्धत्वात्परत्वं व्यभिचारतः।
निर्दोषताऽन्यथासिद्धेः प्राबल्यं नैव साधयेत् ॥

असिद्धं हि मानान्तरविरोधे श्रुतेः तत्परत्वम्। परत्वं तु प्रमानन्तरभ्रमे व्यभिचारि। दृश्यते च "न क्त्वा सेडि"ति परं प्रति "मृडमृदे"त्यादिपूर्वं बाधकम्। निर्दोषत्वं तु अर्थान्तरे प्रामाण्येनान्यथासिद्धमिति। अपच्छेदन्यायवैषम्यम्।

अद्वैतसिद्धिः

त्वस्य सावकाशत्ववद्व्यावहारिकप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि सावकाशत्वात्, तत्रैकप्रयोगे विरोधवदत्रापि तात्त्विकत्वांशे विरोधात्। अत एव सगुणसप्रपञ्चश्रुत्योर्निर्गुणनिष्प्रप-ञ्चश्रुतिभ्यामपच्छेदन्यायेन बाध इति सुष्ठूक्तम्। तदुक्तमानन्दबोधाचार्यैः—'तत्परत्वा-त्परत्वाच्च निर्दोषत्वाच्च वैदिकम्। पूर्वस्य बाधकं नायं सर्प इत्यादिवाक्यवत् ॥' इति। ननु—मानान्तरविरोधे श्रुतेस्तत्परत्वमसिद्धम्, परत्वं तु प्रमानान्तरभ्रमे व्यभिचारि। दृश्यते च 'न क्त्वा सेडि'ति परं प्रति 'मृडमृदगुधकुशक्लिशवदवसः क्त्वे'ति पूर्वमपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रामाण्य में प्रत्यक्ष प्रमाण भी पूर्णतया सावकाश है, अतः आगम प्रमाण से उसका बाधित होना अनुचित नहीं। हाँ, एक ही प्रयोग में जैसे उक्त दोनों शास्त्रों का विरोध है, [क्योंकि एक शास्त्र कहता है उस प्रयोग में सर्वस्व दक्षिणा दी जाय और दूसरा कहता है कि बिल्कुल दक्षिणा न दी जाय] उसी प्रकार तात्त्विक अंश में प्रत्यक्ष और आगम—दोनों का विरोध है, क्योंकि एक कहता है कि प्रपञ्च मिथ्या है और दूसरा कहता है कि प्रपञ्च सत्य है। इसी प्रकार सगुण-प्रतिपादक श्रुति वाक्यों का निर्गुण-प्रतिपादक श्रुतियों के द्वारा तथा सप्रपञ्च-प्रतिपादक श्रुतियों का निष्प्रपञ्च-प्रतिपादक श्रुतियों के द्वारा अपच्छेद-न्याय से ही बाध किया जाना अत्यन्त समुचित है। आनन्द बोधाचार्य ने ठीक ही कहा है—

तत्परत्वात् परत्वाच्च निर्दोषत्वाच्च वैदिकम्।
पूर्वस्य बाधकं नायं सर्प इत्याप्तवाक्यवत् ॥ (प्र० मा० पृ० ४)

अर्थात् अद्वैत श्रुति तत्परक (स्वार्थपरक होने से मुख्यार्थक) है, परभावी अपच्छेद के समान प्रत्यक्ष प्रमाण से परभावी है एवं भ्रम, प्रमाद, करणादिगत दोषों से सर्वथा विनिर्मुक्त है, इसलिए वह अपने से पूर्वभावी प्रत्यक्ष का वैसे ही बाधक है, जैसे सर्प-भ्रम का 'नायं सर्पः—इस प्रकार का आप्त-वाक्य बाधक होता है।

द्वैतवादी—आनन्दबोधाचार्य ने जो कहा है कि अद्वैतागम तत्परक है अर्थात् उसका मुख्य तात्पर्य ब्रह्माद्वैत में है। वह सम्भव नहीं, क्योंकि द्वैत-सत्यत्व-ग्राही प्रत्य-क्षादि प्रमाणान्तर का विरोध है। अद्वैत आगम में प्रत्यक्ष की अपेक्षा जो परत्व (परभावित्व) है, उससे बाधकत्व का अनुमान (अद्वैतागमः प्रत्यक्षबाधकः, प्रत्यक्षात् परभावित्वात्) नहीं किया जा सकता, क्योंकि केवल परत्व हेतु 'न क्त्वा सेट्'' (पा० सू० १।२।१) इस सूत्र में व्यभिचरित है, अर्थात् इस सूत्र मे ''मृडमृदगुधकुश-क्लिशवदवसः क्त्वा'' (पा. सू. १।२७) इस सूत्र की अपेक्षा परभावित्व है, किन्तु

अद्वैतसिद्धिः

बाधकम् , निर्दोषत्वं त्वर्थान्तरप्रामाण्येनान्यथासिद्धम् , तदुक्तम्—'तत्परत्वमसिद्धत्वात्परत्वं व्यभिचारतः । निर्दोषताऽन्यथासिद्धेः प्राबल्यं नैव साधयेत्'—इति चेन्न, प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं, श्रुतेस्तु तात्त्विकमिति विरोधाभावेन तत्परत्वसिद्धेः । परशब्देन च मानान्तराबाधितपरत्वं विवक्षितम् , तेन प्रमानन्तरभ्रमे न व्यभिचारः, तस्य तदुत्तरभाविमानबाध्यत्वात् । 'न क्त्वा से'डित्यस्य तु पाठतः परत्वेऽपि स्वभावसिद्धकित्त्वस्यानेनापाकरणं विना पुनस्तत्प्रतिप्रसवार्थं 'मृडमृदे' त्यादेरप्रवृत्तेस्तदपेक्षया अर्थतः पूर्वत्वमेव, अपवादापवादे उत्सर्गस्यैव स्थितत्वादतो निर्दोषत्वमपि नान्यथासिद्धम् , तात्पर्यविषय एव प्रामाण्यस्याभ्युपेयत्वाद् इत्यबोधमात्रविजृम्भितमपच्छेदन्यायवैषम्याभिधानमिति ॥

॥ इत्यपच्छेदन्यायवैषम्यभङ्गः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पूर्व सूत्र की बाधकता नहीं, अपि तु बाध्यता ही है । अद्वैत आगम में जो निर्दोषत्व कहा गया, वह भी अन्यथासिद्ध है, प्रत्यक्ष की बाधकता का साधक नहीं हो सकता, अतः आनन्दबोध की उक्ति का प्रतिवाद इस प्रकार किया गया है—

तत्परत्वमसिद्धत्वात् परत्वं व्यभिचारतः । निर्दोषतान्यथासिद्धेः प्राबल्यं नैव साधयेत् ॥

अद्वैतवादी—प्रत्यक्षादि का व्यावहारिक प्रामाण्य है और श्रुति का तात्त्विक, अतः दोनों का कोई विरोध ही नहीं, अतः अद्वैतागम की अद्वैतपरता निर्विरोध सिद्ध है । यद्यपि केवल परत्व (परभावित्व) का व्यभिचारी होना हम भी मानते हैं, क्योंकि 'इयं शुक्तिः'—इस प्रकार के प्रमाज्ञान के पश्चात् भी 'इदं रजतम्'—इस प्रकार का भ्रम हो सकता है, उस भ्रम में परत्व होने पर भी पूर्व प्रमाज्ञान की बाधकता नहीं है, तथापि 'परत्व' शब्द से 'मानान्तराबाधितत्वे सति परत्व' विवक्षित है । प्रमा के पश्चात् भावी भ्रम अपने परभावी प्रमाज्ञान से बाधित है, अतः अबाधितत्वे सति परत्व उसमें नहीं, अतः व्यभिचारी नहीं होता ["अग्निहोत्रं जुहोति" (तै. सं. १।५।९।१) इस वाक्य की अपेक्षा "यवागूं पचति" यह वाक्य पाठतः पर है, तथापि अर्थ-क्रम के आधार पर पूर्वभावी माना जाता है, क्योंकि पक्व यवागू ही अग्निहोत्र कर्म की हवि है, अतः पश्चात् पाक निरर्थक हो जाता है—

हुत्वा हि पचमानस्य भवेद् द्वयमनर्थकम् ।
पाकश्चैव यवागूश्च तां पक्त्वा जुहुयादतः ॥ (शा. दी. पृ. ४३८) ।]

इसी प्रकार "मृडमृदगुधकुशक्लिशवदवसः क्त्वा"—यह सूत्र 'क्त्वा' प्रत्यय में कित्त्व का विधान करता है, जब कि 'क्त्वा' प्रत्यय निसर्गतः कित् है, अतः कित्त्व-निषेधक सूत्र "न क्त्वा सेट्"—इस पाठतः परभावी सूत्र का अर्थात् प्रथम प्रवृत्त होना आवश्यक है, इसके द्वारा निषिद्ध कित्त्व का प्रतिप्रसव (पुनरुज्जीवन) करने के लिए "मृडमृद"—इस सूत्र की प्रवृत्ति सार्थक हो जाती है । निसर्गतः कित्त्व के निषेध का निषेध हो जाने पर नैसर्गिक कित्त्व स्थित रह जाता है । फलतः 'न क्त्वा सेट्—इस अर्थतः पूर्वभावी सूत्र में विवक्षित परत्व नहीं रहता, फिर व्यभिचारी क्यों होगा ? निर्दोषत्व हेतु भी अन्यथा सिद्ध नहीं, क्योंकि तात्पर्य-विषयीभूत अद्वैतमात्र-सत्यत्व के प्रतिपादन में ही अद्वैत-आगम का प्रामाण्य स्वीकरणीय है । फलतः अपच्छेद-न्याय का यहाँ वैषम्योद्भावन अबोध-विजृम्भितमात्र है ।

। २२ ।

मिथ्यत्वानुमानस्याभाससाम्यविचारः

न्यायामृतम्

एवं बाधस्य लिंगादिबाध्यत्वे कालात्ययापदिष्टादेर्दोषता वा त्याज्या व्यवस्था-

---

अद्वैतसिद्धिः

ननु—यदि प्रत्यक्षबाधितमप्यनुमानं साधयेत्तदा वह्न्यनौष्ण्यमपि साधयेत्, तथा च कालात्ययापदिष्टकथा सर्वत्रोच्छिद्येत, न च—औष्ण्यप्रतियोगिकाभावे साध्ये पक्ष एव प्रतियोगिप्रसिद्धिरिति तत्र बाधः सावकाशः, प्रकृते तु सत्त्वं व्यावहारिकं प्रत्यक्षसिद्धम्, तदविरुद्धं च मिथ्यात्वम्, तस्य पारमार्थिकसत्त्वविरोधित्वादतो न व्यावहारिकसत्त्वग्राहकेणाध्यक्षेण बाध्यत इति—वाच्यम्, वह्निविशेषे औष्ण्याभावानुमाने शैत्यानुमाने वा तदभावात्, पक्षातिरिक्तस्य प्रतियोगिप्रसिद्धिस्थलस्य तत्र सत्त्वात्। न च—यत्र प्रत्यक्षं प्रबलं तत्र बाधव्यवस्था, न चात्र तथेति न बाध इति—वाच्यम्, प्रकृतेऽप्यौष्ण्यप्रत्यक्षसमकक्षस्य प्राबल्यप्रयोजकस्य विद्यमानत्वात्, अनौ-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—प्रपञ्च-सत्यत्व ग्राही प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा बाधित प्रपञ्च-मिथ्यत्वानुमान भी यदि अपने साध्य की सिद्धि कर देता है, तब वह्निगत औष्ण्य-ग्राही प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित वह्निगत शैत्यानुमान भी अपने साध्य की सिद्धि कर देगा, तब 'बाध' नाम का हेत्वाभास ही उच्छिन्न हो जायगा। यदि कहा जाय कि बाध का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता, क्योंकि जब 'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात्'—इस अनुमान में अपेक्षित औष्ण्याभावरूप साध्य की प्रसिद्धि के लिए उसके औष्ण्यरूप प्रतियोगी का ज्ञान करना होगा, वह्नि में औष्ण्य का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होगा, इस प्रकार उपजीव्यभूत प्रत्यक्ष के द्वारा वह्न्यनौष्ण्यानुमान बाधित हो जाता है, यहीं पर बाध की प्रसिद्धि सम्भव है, बाध का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता। हाँ, प्रकृत प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान में प्रपञ्च-सत्यत्व-ग्राही प्रत्यक्ष से बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण प्रपञ्च में व्यावहारिक सत्यत्व सिद्ध करता है, वह प्रपञ्च-मिथ्यात्व का विरोधी नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व पारमार्थिक सत्त्व का विरोधी है, अतः व्यावहारिक सत्त्व-ग्राही प्रत्यक्ष के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं होता। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यदि पक्ष में ही प्रत्यक्षतः साध्य-प्रसिद्धि को लेकर उपजीव्यभूत प्रत्यक्ष-बाध सावकाश है, तब जहाँ पक्षभूत अग्नि में औष्ण्य-प्रसिद्धि नहीं, अपि तु उससे भिन्न अग्नि में साध्य प्रसिद्ध है, उस पक्षभूत अग्नि विशेष में औष्ण्याभाव या शैत्य का अनुमान करने पर प्रतियोगि-ग्राहक प्रत्यक्ष का बाध सावकाश नहीं होता और न साध्याप्रसिद्धि ही है, क्योंकि पक्ष से भिन्न अग्नि में साध्य प्रसिद्ध है। यदि कहें कि जहाँ प्रत्यक्ष निर्दोष होने से प्रबल हो, वहाँ ही विरोधी अनुमान का बाध होता है, प्रकृत प्रपञ्च-मिथ्यात्वानुमान में प्रत्यक्ष प्रबल नहीं, अतः उस से अनुमान का बाध नहीं होता। तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रकृत प्रपञ्च-मिथ्यात्वानुमान में भी वही प्रबलता का प्रयोजक परीक्षितत्वादि धर्म विद्यमान है, जो कि वह्निगत औष्ण्य-प्रत्यक्ष में है, अतः चाहे वह्निगत अनौष्ण्य की अनुमिति हो, चाहे प्रपञ्चगत मिथ्यात्व की अनुमिति हो, दोनों में समानरूप से अपने-अपने विरोधी प्रत्यक्ष प्रमाणों की बाध्यता माननी आवश्यक है। दोनों अनुमितियों में कोई ऐसा अन्तर प्रतीत नहीं होता, जिस के आधार पर एक का प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध हो और दूसरी का

अद्वैतसिद्धिः

ण्यानुमितेर्मिथ्यात्वानुमितेश्च समानयोगक्षेमत्वात् । न च—मिथ्यात्ववादिनां प्रतिपन्नोपाधावौष्ण्यनिषेधग्राह्यनुमानेन मिथ्यात्वानुमितेः समत्वमिष्टमेवेति वाच्यम्,—औष्ण्यानौष्ण्ययोर्भावाभावरूपतया तदनुमितिसाम्येऽपि शैत्यानुमितिसाम्यस्यानभ्युपगमात्, शैत्यस्यौष्ण्याभावरूपत्वाभावात् । तस्माद् बाधस्य दोषता वा त्याज्या, औष्ण्यप्रत्यक्षायजमानत्वप्रत्यक्षादेः सत्त्वप्रत्यक्षापेक्षया विशेषो वा वक्तव्यः । न च—औष्ण्यप्रत्यक्षं परीक्षतोभयवादिसिद्धप्रामाण्यम्, सत्त्वप्रत्यक्षं तु न तथेति विशेष इति—वाच्यम्, सत्त्वप्रत्यक्षेऽपि प्रामाण्यासम्मतौ हेत्वभावात्, परीक्षायास्तुल्यत्वाद्—इति चेन्मैवम्, विरुद्धार्थग्राहित्वेन विशेषात्, प्रत्यक्षसिद्धायजमानत्वौष्ण्यादिवच्छब्दलिङ्गग्राह्ययजमानत्वानौष्ण्याद्यपि व्यावहारिकमिति समत्वात् प्रत्यक्षेण बाध्यते, प्रकृते तु सत्त्वं व्यावहारिकं प्रत्यक्षसिद्धं तद्विरुद्धं च न मिथ्यात्वम्, तस्य पारमार्थिकसत्त्वविरोधित्वात् । अतो न तद् व्यावहारिकसत्त्वग्राहकेणाध्यक्षेण बाध्यते । ननु—एवं वदतस्तव कोऽभिप्रायः ? किं तात्त्विकविषयत्वाद् बाधकतैव मिथ्यात्वानुमानादेर्न बाध्यता, उत सत्त्वमिथ्यात्व-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं । यदि कहा जाय कि अद्वैतबाद में उक्त दोनों अनुमानों की समानता अभीष्ट ही है, क्योंकि जैसे मिथ्यात्वानुमान के द्वारा भाव के आधार में अभाव की सिद्धि की जाती है, वैसे ही अनौष्ण्यानुमान के द्वारा औष्ण्य के आधार में औष्ण्याभाव की सिद्धि की जा रही है । तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि औष्ण्य और अनौष्ण्य—दोनों में भावाभावरूपता होने के कारण मिथ्यात्वानुमान की समानता सुलभ हो जाने पर भी वह्निगत शैत्यानुमान में मिथ्यात्वानुमान की समानता नहीं कह सकते, क्योंकि शैत्य को औष्ण्याभाव स्वरूप नहीं माना जा सकता, अतः या तो बाध को कहीं दोष ही नहीं मानना चाहिए अथवा वह्निगत औष्ण्य-प्रत्यक्ष एवं प्रस्तरगत अयजमानत्व के प्रत्यक्ष में घटगत सत्त्वावगाही प्रत्यक्ष की अपेक्षा कुछ अन्तर या विशेषता बतानी चाहिए । सत्त्व-प्रत्यक्ष को प्रमाण न मानने का कोई कारण ज्ञात नहीं होता । परीक्षा के आधार पर भी दोनों प्रत्यक्षों में समानता ही सिद्ध होती है । अतः दोनों प्रत्यक्षों में अपने विरोधी अनुमान की बाधकता भी समानरूप से ही सिद्ध होती है ।

अद्वैतवादी—वह्निगत औष्ण्य-प्रत्यक्ष जैसे वह्निगत अनौष्ण्यरूप साध्य के विरोधी समानसत्ताक औष्ण्य का ग्राहक है, वैसा 'घटः सन्'—यह सत्त्व-प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष-सिद्ध प्रस्तरगत अयजमानत्व, वह्निगत औष्ण्य के समान 'यजमानः' प्रस्तरः-इस द्वारा ग्राह्य यजमानत्व तथा 'वह्निरनुष्ण कृतकत्वात्'—इस अनुमान से ग्राह्य अनौष्ण्यादि भी व्यावहारिक हैं, अतः समानसत्ताक होने के कारण प्रत्यक्ष से बाधित होते हैं । किन्तु प्रकृत में घटगत सत्त्व व्यावहारिक ही प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है, उससे विरुद्ध मिथ्यात्व नहीं, अपितु पारमार्थिक सत्त्व मिथ्यात्व का विरोधी होता है, वह घटःसन्—इस प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता । फलतः प्रपञ्चगत मिथ्यात्व घटादिगत व्यावहारिक सत्त्वावगाही प्रत्यक्ष से कभी बाधित नहीं हो सकता ।

द्वैतवादी—आप के ऐसा कहने का अभिप्राय क्या है ? क्या तात्त्विक विषयक होने के कारण मिथ्यात्वानुमान में बाधकता ही रहती है, बाध्यता नहीं ? अथवा प्रपञ्च-सत्यत्वावगाही प्रत्यक्ष व्यावहारिक विषयक है और प्रपञ्च-मिथ्यात्वावगाही अनुमान

अद्वैतसिद्धिः

ग्राहिणोर्व्यावहारिकतात्त्विकविषययोः परस्परविरुद्धविषयत्वाभावात् न बाध्यबाधकभावः। अन्त्येऽपि किमध्यक्षसिद्धव्यावहारिकसत्त्वमगृहीत्वैव तदसिद्धस्य तात्त्विकसत्त्वस्यैवाभावं गृह्णात्यनुमानादि, उत प्रत्यक्षविषयीकृतस्यैव तात्त्विकमभावम्। नान्त्यः, प्रत्यक्षविषयाभावग्राहिणि तद्बाधकत्वोक्त्ययोगात्। न द्वितीयः, प्रत्यक्षागृहीतप्रतिषेधकत्वेनाप्रसक्तप्रतिषेधापत्तेः, प्रत्यक्षविषयस्य तात्त्विकत्वापत्तेश्च। न प्रथमः, उपजीव्यप्रत्यक्षविरोधेनानुमित्यादिविषयस्य तात्त्विकत्वासिद्धेः—इति चेन्न, प्रथमे द्वितीये च पक्षे अनुपपत्त्यभावात्। तथा हि–प्रथमे पक्षे न तात्त्विकत्वासिद्धि, यस्मा'दिदं रजत'मित्यनेन 'नेदं रजत'मित्यस्य बाधादर्शनात् परीक्षितमेव बाधकमभ्युपेयम्। परीक्षा च प्रवृत्तिसंवादादिरूपा व्यवहारदशायामबाध्यत्वं विनानुपपन्ना तद्दशा बाधग्राहिणं बाधते, नाद्वैतश्रुत्यनुमानादिकमित्युक्तमेव। द्वितीयेऽपि पक्षे नाप्रसक्तप्रतिषेधः, परोक्षप्रसक्तेः संभवात्। यत्तु केचिदात्मनि तात्त्विकसत्त्वप्रसिद्ध्या प्रसक्तिमुपपादयन्ति। तन्न, न हि प्रतियोगिज्ञानमात्रं प्रसक्तिः, किं तर्हि निषेधाधिकरणकप्रतियोगि-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तात्त्विकविषयक हैं, अतः परस्पर विरुद्धविषयक न होने के कारण उनमें बाध्य—बाधकभाव ही नहीं ? इस अन्तिम (द्वतीय) कल्प में भी क्या प्रत्यक्ष-सिद्ध व्यावहारिक सत्त्व को विषय न करके प्रत्यक्ष प्रमाण से असिद्ध तात्त्विक सत्त्व का ही अभाव अनुमानादि ग्रहण कर रहे हैं ? अथवा प्रत्यक्ष-सिद्ध प्रपञ्च का तात्त्विक अभाव ? यह सबसे अन्तिम कल्प उचित नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष-विषय के अभाव-ग्राही अनुमानादि में प्रत्यक्ष की बाधकता निश्चित है, अतः उसमें प्रत्यक्षाबाधकत्व कहना सम्भव नहीं। द्वितीय कल्प अर्थात् प्रत्यक्षासिद्ध तात्त्विक सत्त्व की निषेधकता अनुमानादि में मानने पर अप्रसक्त-प्रतिषेधता की प्रसक्ति होती है। एवं प्रत्यक्ष का विषय प्रपञ्च अनिषिद्ध या अबाधित होने के कारण तात्त्विक भी हो जायगा। प्रथम कल्प भी संगत नहीं, क्योंकि उपजीव्यभूत प्रत्यक्ष से बाधित होने पर अनुमान का विषय तात्त्विक कैसे होगा ?

अद्वैतवादी—प्रथम और द्वितीय पक्ष में कोई दोष या अनुपपत्ति नहीं है। प्रथम पक्ष में जो दोष दिया था कि उपजीव्यभूत प्रत्यक्ष से बाधित होने पर मिथ्यात्वानुमान के विषय में तात्त्विकता सिद्ध नहीं होगी वह उचित नहीं, क्योंकि 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्ष में उपजीव्यतामात्र आ जाने से वैसे ही पश्चाद्भावी अनुमान की बाधकता नहीं मानी जाती, जैसे कि 'इदं रजतम्'—इस भ्रमात्मक ज्ञान में 'नेदं रजतम्'—इस प्रमा ज्ञान की बाधकता नहीं होती। यह कई बार कहा जा चुका है कि परीक्षित प्रमाण ही बाधक होता है। परीक्षा के आधार पर प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता ही सिद्ध होती है, क्योंकि प्रवृत्ति-संवादादि रूप परीक्षण व्यवहार-काल में अबाध्यत्व के बिना अनुपपन्न है। अतः व्यवहार-दशा में उष्णत्वादि के बाधक अनुमानादि की ही बाधकता वह्निगत औष्ण्य-प्रत्यक्ष में हो सकती है, प्रपञ्च-सत्यत्वावगाही प्रत्यक्ष में अद्वैतावगाही आगम और अनुमानादि की बाधकता सम्भव नहीं—यह भी कहा जा चुका है। द्वितीय कल्प में जो अप्रसक्त-प्रतिषेधतापत्ति दी थी, वह भी उचित नहीं, क्योंकि प्रपञ्च में तात्त्विक सत्त्व यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं, तथापि अनुमानाभासादि के द्वारा परोक्षतः तात्त्विक सत्त्व की प्रसक्ति सम्भव है। जो लोग कहा करते हैं कि चैतन्य तत्त्व

न्यायामृतम्

एकं वा वक्तव्यम्। अत्रोक्तं खण्डने—तत्राक्षसिद्धस्पर्शनश्रुत्युष्णत्वायजमानत्वाद्विव-क्षिगशब्दग्राह्यसर्वदेष्टनश्रुत्यनुष्णत्वयजमानत्वादिकमपि व्यावहारिकम्। इह त्वक्षसिद्धं सत्यत्वं व्यावहारिकम्। लिंगशब्दग्राह्यं मिथ्यात्वं तु तात्त्विकम्। एवं च—

पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः।
विरोधादुपजीव्येन न बिभेति कदाचन॥ (खं० खा०) इति।

अद्वैतसिद्धिः

ह्यकम्। न चास्या निषेधाधिकरणम्, तस्मात्परोक्षप्रसक्तिरेव दर्शनीया। अथवा मा भूत् प्रसक्तिः, अभावप्रत्यक्षे हि संसर्गारोपत्वेन सोपयुज्यते, शब्दानुमानयोस्तु, तस्याः कोपयोगः। न चाप्रसक्तौ निषेधवैयर्थ्यम्, अनर्थनिवृत्तिरूपस्य प्रयोजनस्य विद्यमानत्वात्। न च प्रत्यक्षविषयतात्त्विकत्वापत्तिः, तद्विषयाधिकरणस्यैव पारमार्थिकत्वव्यतिरेकस्य बोधनात्। तथा च न काप्यनुपपत्तिः। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—'पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः। विरोधादुपजीव्येन न बिभेति कदाचन॥' इति। ननु—एवमप्यनौष्ण्यं तात्त्विकमिति तदनुमितिरपि न बाध्येत व्यावहारिकौष्ण्यग्राहिणाध्यक्षेण, एवं 'चादित्यो यूप' इत्यादावपि 'तात्त्विकादित्यतां यूपस्याश्रित्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में तात्त्विक सत्त्व प्रसिद्ध या प्रसक्त है और प्रपञ्च में उसका निषेध किया जाता है। उनका वह कहना उचित नहीं, क्योंकि कहीं पर भी प्रतियोगी की प्रसिद्धि का नाम प्रसक्ति नहीं, अपितु निषेध के अधिकरण में ही प्रतियोगी के ज्ञान का नाम प्रसक्ति है, चैतन्य तत्त्व निषेध का अधिकरण नहीं, अपितु प्रपञ्च ही है, अतः प्रपञ्च में तात्त्विक सत्त्व की प्रसक्ति परोक्षरूपेण ही उपपादनीय है। अथवा प्रतियोगी की प्रसक्ति न होने पर भी कोई क्षति नहीं, क्योंकि अभाव का जब प्रत्यक्ष करना हो, तब प्रतियोगी के संसर्ग का आरोप करने के लिए प्रतियोगी की प्रसक्ति आवश्यक होती है, अभाव विषयक शब्द और अनुमान में प्रतियोगी प्रसक्ति का क्या उपयोग ? 'प्रपञ्च में जब तात्त्विक सत्त्व प्राप्त ही नहीं, तब उसका निषेध व्यर्थ है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सर्वानर्थ की निवृत्ति सकार्याज्ञान की तात्त्विकता के निषेध पर ही निर्भर है। यह जो कहा था कि प्रत्यक्ष-सिद्ध व्यावहारिक विषय का निषेध न होने पर प्रपञ्च तात्त्विक हो जायगा। वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष-सिद्ध विषय के अधिकरण (प्रतिपन्नोपाधि) में ही जब उसका अभाव सिद्ध किया जाता है, तब उसकी तात्त्विकता कैसे सिद्ध होगी ? अतः अद्वैत आगम के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध हो जाने पर कोई अनुपपत्ति नहीं। खण्डनकार ने कहा है—

पारमार्थिकमद्वैतं प्रविश्य शरणं श्रुतिः।
विरोधादुपजीव्येन न बिभेति कदाचन॥ (खं० खं० पृ० २१९)

अर्थात् अद्वैत श्रुति अपने उपजीव्यभूत प्रत्यक्ष से कुछ भी भय न खाकर प्रपञ्च-सत्यत्व का पूर्णतया जो निराकरण कर रही है, वह सब पारमार्थिक अद्वैत तत्त्व की सुदृढ़ शरणागति की कृपा है।

द्वैतवादी—यदि अद्वैतागम का विषय तात्त्विक होने के कारण अद्वैतागम उपजीव्यभूत प्रत्यक्ष से बाधित नहीं होता, तब हम वह्निगत अनौष्ण्य को तात्त्विक मान लेते हैं, अतः अनौष्ण्यानुमिति भी व्यावहारिक औष्ण्य-ग्राही प्रत्यक्ष से बाधित नहीं

न्यायामृतम्

तत्र किं सत्यत्वमिथ्यात्वग्राहिणोर्व्यावहारिकतात्त्विकविषयकत्वाद्बाध्यबाधक-(भावो न)तैव नेति भावः, किं वा मिथ्यात्वग्राहितात्त्विकविषयकत्वाद्बाधकमेव न तु बाध्यमिति ? आद्येऽप्यनुमित्यादिकं किमक्षसिद्धव्यावहारिकसत्त्वस्याभावमगृहीत्वैव तदसिद्धस्य तात्त्विकसत्यत्वस्यैवाभावं गृह्णाति, किं वा तत्सिद्धस्यैव प्रतिपन्नोपाधौ तात्त्विकमभावम् ? नाद्यः, मिथ्यात्वश्रु(ते)त्यादेरप्रसक्तप्रतिषेधत्वापातात्। अक्षसिद्धस्य सत्त्वस्य प्रतिपन्नोपाधावभावाग्रहणे तस्य तात्त्विकत्वापाताच्च। न द्वितीयः, प्रतिपन्नोपाधौ तात्त्विकतदभावग्राहिण एव तद्बाधकत्वेनाबाधोक्त्ययोगात्। नान्त्यः, उपजीव्य-प्रत्यक्षबाधितस्य मिथ्यात्वस्य तात्त्विकत्वायोगात्। योगे वाऽनौष्ण्यमपि तात्त्विकं स्यात्। एवं च "आदित्यो यूप" इत्यादावपि—

तात्त्विकादित्यतां यूपस्याश्रित्य शरणं श्रुतिः।
विरोधादुपजीव्येन न बिभेति कदाचन॥ इति स्यात्।

अद्वैतसिद्धिः

शरणं श्रुतिः। विरोधादुपजीव्येन न बिभेति कदाचन॥' इत्याद्यपि स्यात्—इति चेन्न, अनौष्ण्यं तात्त्विकं स्यादिति कोऽर्थः ? यदि तत्त्वत औष्ण्यं नास्तीत्यर्थः, तदा अद्वैते पर्यवसानादिष्टापत्तिः। यदि व्यवहारतोऽपि नास्तीति, तदा व्यवहाराविसंवादादि-रूपपरीक्षितत्वविशिष्टमौष्ण्यप्रत्यक्षं बाधकमिति नानौष्ण्यस्य तात्त्विकत्वसिद्धिः। एतेन शैत्यानुमानं व्याख्यातम्। एवमादित्ययूपभेदस्य तत्त्वतो व्यवहारतो वा निषेधे योज्यम्। श्रुतेरन्यशेषतया आदित्ययूपाभेदपरत्वाभावेन परीक्षितप्रत्यक्षविरोधेन गौणा-र्थतया स्तावकत्वोपपत्तेश्च। अत एव—'तात्त्विकादित्यतां यूपस्ये'त्यादिना अद्वैतश्रुते

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होनी चाहिए। इसी प्रकार "आदित्यो यूपः"—इत्यादि वाक्यो में भी यूपगत तात्त्विक आदित्यरूपता मान कर आदित्य और यूप के व्यावहारिक भेद ग्राहक प्रत्यक्ष की बाध्यता नहीं रहेगी।

अद्वैतवादी—आपने जो यह कहा कि अग्नि में भी अनौष्ण्य तात्त्विक मान लेंगे—इस का क्या अर्थ है ? यदि अग्नि में तत्त्वतः औष्ण्य नहीं रहता—यह अर्थ है, तब अद्वैतवाद ही प्राप्त होता है, क्योंकि हम द्वैतमात्र का उसके आधार में तत्त्वतः निषेध करते हैं, अग्नि में औष्ण्याभाव मानना क्या कठिन है ? यदि आप का कहना यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से भी अग्नि में औष्ण्य नहीं है, तब व्यवहाराविसंवादरूप परीक्षा से परीक्षित औष्ण्य-प्रत्यक्ष आदित्यो यूपः का बाधक ठहरता है, अतः अनौष्ण्य तात्त्विक कैसे सिद्ध होगा ? इसी प्रकार 'वह्निः शीतः कृतकत्वात्'—यहाँ पर भी शीतत्व-सिद्धि का पर्यवसान औष्ण्य-निषेध में ही होगा, औष्ण्य-निषेध के विषय में वे ही तात्त्विक और व्यावहारिक निषेधों के विकल्प और वे ही दोष दिये जा सकते हैं। 'आदित्यो यूपः' में भी आदि-यूप-भेद का तात्त्विक निषेध अभिमत है? या व्यावाहिरक? प्रथम कल्प में अद्वैता-पत्ति और द्वितीय में तात्त्विकता की अनुपपत्ति होती है।

वास्तविकता यह है कि "आदित्यो यूपः"—यह वाक्य "यूपे पशुं बध्नाति"—इस विधि का शेष है, उसका यूप की प्रशंसा में ही तात्पर्य है, आदित्याभेद-परता सम्भव नहीं, अतः परीक्षित भेद-प्रत्यक्ष के द्वारा विरोध किए जाने पर उक्त वाक्य में गौणी वृत्ति के द्वारा स्तावकत्व निश्चित होता है। अतः 'आदित्यो यूपः'—इस वाक्य में अद्वैत

न्यायामृतम्

नन्विदमनौष्ण्यमतात्त्विकधिर्म्यांतर्गतेन जलाद्यनौष्ण्येन तुल्यस्वभावं चेन्न तात्त्विकम्। न चेदद्वैतस्यैव नामान्तरं स्यादिति चेत्, न, विश्वमिथ्यात्वमपि घटादितुल्यतया-ऽसिद्धेनाऽतात्त्विकेन रूप्यादिमिथ्यात्वेन समस्वभावं चेन्न तात्त्विकम्। न चेन द्वैतस्यैव नामान्तरं स्यादिति साम्यात्। ननु तात्त्विकत्वमात्रेण विलक्षणमपि तन्मिथ्यात्व-लक्षणयुक्तमिति चेदिदमपि तन्मात्रेण विलक्षणमपि स्पर्शत्वव्याप्यजातिविशेषवदाश्रय-त्वरूपानौष्ण्यलक्षणयुक्तमिति समम्। ननु प्रातिभासिकस्यैव मिथ्यात्वं व्यावहारिकं व्यावहारिकस्य तु तात्त्विकमिति चेन्न, जलादिस्थस्य प्रातिभासिकौष्ण्यस्याभाव एवं व्यावहारिकः, अग्न्यादिस्थस्य व्यावहारिकौष्ण्यस्य तु तात्त्विक इत्यापातात्। तस्मा-न्मिथ्यात्वं तात्त्विकं अनौष्ण्यं तु व्यावहारिकमिति व्यवस्था न युक्ता। अस्तु वा सा, तथापि तात्त्विकमिथ्यात्वानुमितिबाधेन सत्यत्वस्य व्यावहारिकत्ववत् व्यावहारिकानु-ष्णत्वानुमितिबाधेनैष्ण्यं नभोनैल्यवत् स्वार्थक्रियया सह स्वप्नवत् प्रातिभासिकं स्यात्। तत्त्वप्रदीपिकायां तु औष्ण्यधीप्रामाण्ये उभयसंमतिः, सत्त्वबुद्धौ तु नेत्युक्तम्, तन्न, इहाऽसंमतौ हेत्वभावात्। तत्त्वशुद्धौ तु मिथ्यात्वानुमितिः श्रुत्यनुगृहीतेति नाक्ष-बाध्या इतरा तु नेति तद्बाध्येत्युक्तम्। तन्न, मित्यात्वश्रुतेः (अग्निर्हिमस्य भेषज)मि-तिश्रुतेरनुमितहिमनिवारणशक्त्यनुवादित्ववदनुमितासत्यमिथ्यात्वानुवादित्वोपपत्तेः। मिथ्यात्वानुमितिस्तर्कानुगृहीता इतरा तु नेति चेन्न, तर्काणां मिथ्यात्वानुमिति-वदक्षबाधेनात्मक्षणिकत्वादितर्काणामिवाभासत्वात्। उक्तं च सुरेश्वरवार्तिके बौद्धम् प्रति—

अद्वैतसिद्धिः

'रात्रियो यूप' इत्यादिश्रुतिसाम्यापादनम्—अपास्तम्। न च—अनुमितिसिद्धमिथ्या-त्वग्राहकत्वे सत्यद्वैतश्रुतिरनुवादिका स्यात्, यथाऽ'ग्निर्हिमस्य भेषज'मित्यादिश्रुतिः प्रमाणान्तरगृहीतहिमनिवारणशक्त्यनुवादिकेति—वाच्यम्, स्वस्वचमत्कारानुसारिणो-ऽनुमानस्य सकलसाधारण्याभावेन तस्य श्रुत्यनुवादकत्वाप्रयोजकत्वात्। तदुक्तं—'तर्काप्रतिष्ठाना'दित्यत्र वाचस्पतिमिश्रैः—

> 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
> अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥' इति।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

श्रुति की समानता का प्रदर्शन निरस्त हो जाता है। यदि कहा जाय कि प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधक अनुमिति के द्वारा अधिगत मिथ्यात्व का गमक होने के कारण अद्वैत आगम वैसे ही अनुवादकमात्र है, जैसे कि अग्निर्हिमस्य भेपजम्"—यह वाक्य प्रमाणान्तर-सिद्ध शीत-निवारकत्व शक्ति का अनुवादक मात्र होता है। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि निर्विवाद-सिद्ध अर्थ के वोधक शव्द को अनुवादक कहा जाता है, अनुमान के द्वारा कल्पित अर्थ को निर्विवाद-सिद्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान तो प्रयोक्ता की वुद्धि का चमत्कार मात्र होता है, कोई एक अनुमान सर्व-सम्मत नहीं होता, जैसा कि सूत्र कारने कहा है—"तर्काप्रतिष्ठानात्" (ब्र. सू. २।१।११) अर्थात् तर्क या अनुमान को महापुरुष-परिगृहीतत्वेन प्रतिष्ठित नहीं कहा जा सकता। यह तथ्य वाचस्पति मिश्र ने वाक्यपदीय-वचन से सुस्पष्ट किया है—

> यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
> अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥ (वा. प. १।३४)

न्यायामृतम्

प्रत्यभिज्ञायमानेऽर्थे तदेवेदमिति ध्रुवे।
लिंगमाभासतामेति प्रत्यक्षार्थविरुद्धदृग् ॥ (बृह० वा० पृ० ३२२) इति।

नन्वनौष्ण्यस्यौष्ण्यनिरूप्यत्वात्तस्य चाग्न्यादावेव ग्राह्यत्वात्तत्र तदभावानुमा बाधिता, मिथ्यात्वं तु न सत्यत्वाभावः, किं तु भावान्तरम्। अभावत्वेऽपि तत्प्रतियोगि सत्त्वं ब्रह्मणि प्रसिद्धमिति चेन्न, औष्ण्यतदभावयोर्व्यावहारिकत्वतात्त्विकत्वाभ्यां प्रातिभासिकत्वव्यावहारिकत्वाभ्यां वा व्यवस्थोक्तेः। तत्र प्रतियोगिग्राहिण उपजीव्यत्वे इह च धर्म्यादिग्राहिणस्सुतरामुपजीव्यत्वाच्च। उष्णमात्रे शैत्यस्य उष्णविशेषे वानुष्णत्वस्य साधनेऽबाधापाताच्च। एतेनोष्ण्यात्यन्ताभावात्मकमनौष्ण्यं औष्ण्यमिथ्यात्वरूपमेवेति तस्य तात्त्विकतेष्टेति निरस्तम्, शैत्यस्यातद्रूपत्वात्। तस्मात्—

स्वतःप्रमात्वं प्रत्यक्षे लिंगाद्यैः स्वोपजीविभिः।
स्वविरोधान्मृत्यवस्थामापन्नैर्नैव बाध्यते ॥

मिथ्यात्वानुमितेरग्निशैत्यानमितिसाम्यम्।

अद्वैतसिद्धिः

दृष्टान्तीकृतश्रुतौ तु हिमनिवृत्तिकारणताया वह्नौ सर्वसाधारणप्रत्यक्षार्थापत्तिभ्यामवसेयत्वाद्वैषम्यम्, तस्मान्मिथ्यात्वानुमानस्य न वह्निशैत्यानुमितिसाम्यम्॥

॥ इति मिथ्यात्वानुमानस्य शैत्यानुमितिसाम्यभङ्गः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अर्थात् किसी कुशल तार्किक के द्वारा बड़े यत्न से तर्कित पदार्थ को उससे अधिक प्रखर प्रज्ञावाला तार्किक अन्यथा (उलट-पलट) कर देता है, अतः केवल एक अनुमान की ऊहा को उपनिबद्ध करने वाली अद्वैत श्रुति सर्वमत से अनुवादक नहीं कहा जा सकती, नहीं तो 'जन्माद्यस्य यतः'' (ब्र. सू. १।१।२) यह सूत्र तथा ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' (तै० उ० ३।१) इत्यादि श्रुति-वचन नैयायिकों के ईश्वरानुमान के अनुवादक मात्र होकर रह जायेंगे। हाँ, दृष्टान्त के रूप में उद्धृत ''अग्निर्हिमस्य भेषजम्''—यह श्रुति अवश्य सर्वमत से अग्नि में प्रत्यक्ष और अर्थापत्ति के द्वारा निर्णीत शीत-निवारकता की अनुवादिका है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का महान् वैषम्य है। फलतः मिथ्यात्वानुमान की वह्निगत शैत्यानुमिति से तुलना नहीं की जा सकती।

: २४ :

प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वविचारः

न्यायामृतम्

इदं रूप्यमिति प्रत्यक्षमपि नेदं रूप्यमिति सयुक्तिकबलवत्प्रत्यक्षेण बाध्यम्। न तु युक्त्यैव। गौरोऽहमित्याद्यपि मम शरीरमिति बलवत्प्रत्यक्षबाध्यं कर्दमलिप्ते वस्त्रे कृष्णं वस्त्रमितिवद् गौणं वा, उष्णं जलमित्यपि गौणमेव न तु लिंगादिबाध्यम्। यद्वा निश्चित-प्रव्यांतरसमभिव्याहाररूपदोषेण शंकिताप्रामाण्येन उष्णं जलमित्यनेनावकाशे दत्ते लिंगादिकं प्रवर्तते न तु तल्लिंगादिबाध्यम्। अहमिहैवास्मि सदने जानान इत्यादि तु प्रमाणमेव, जीवस्याणुत्वात्, न तु लिंगादिबाध्यम्। ज्वालैक्यप्रत्यक्षमपि निर्वापिता-रोपितदीपे चेद्भेदग्राहिप्रत्यक्षेण बाधितमेव जायते। अन्यत्रापि दीर्घोऽयं दीपो ह्रस्वो नेति प्रत्यक्षेण बाध्यते, न त्वनुमित्या। तादृशप्रत्यक्षाभावे तु न दीपभे(दमनुपश्यामः)दः। दूरस्थस्यायं सर्प इत्याद्यपि प्रत्यक्षं न शब्दमात्रेण बाध्यम्, किं तु नायं सर्प इत्याप्त-वाक्यमूलपरीक्षितप्रत्यक्षगौरवादेव। राजगौरवादिव राजभृत्येनामात्यः, श्रुतिगौरवा-

अद्वैतसिद्धिः

किं च परीक्षितत्वेनैव प्राबल्यम्, नोपजीव्यत्वादिना, अनुमानशब्दबाध्यत्वस्य प्रत्यक्षेऽपि दर्शनात्। तथा हि—इदं रजतमिति प्रत्यक्षस्यानुमानाप्तवचनाभ्यां, नभोनै-ल्यप्रत्यक्षस्य नीरूपत्वग्राहकानुमानेन, 'गौरोऽह'मित्यस्या'हमिहैवास्मि सदने जानान' इत्यस्य चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य चानुमानागमाभ्यां 'पीतः शङ्खस्तिक्तो गुड' इत्या-देश्चानुमानाप्तवचनाभ्यां बाधो दृश्यते। ननु—साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात्कारिविशेष-दर्शनमेव विरोधीत्यभ्युपेयम्; अन्यथा परोक्षप्रमाया अपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वोपपत्तौ वेदान्तवाक्यानामपरोक्षज्ञानजनकत्वव्युत्पादनप्रयासो व्यर्थः स्याद्—इति चेन्न, 'नायं सर्प' इत्यादिवाक्यादिना सविलासाज्ञाननिवृत्त्यभावेऽपि भ्रमगताप्रमाणत्व-ज्ञापनेन भ्रमप्रमाणत्वबुद्धेस्तद्विषयसत्यताबुद्धेश्च निवर्तनात्, तावता च भ्रमनिवर्तक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रमाणों का प्राबल्य परीक्षितत्व पर ही निर्भर है, उपजीव्यत्वादि पर नहीं, क्योंकि अनुमान और आगम का प्रत्यक्ष प्रमाण उपजीव्य है, फिर भी उनके द्वारा प्रत्यक्ष का बाध देखा जाता है। जैसे कि 'इदं रजतम्'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष का उसके विरोधि अनुमान और आप्त-वचन के द्वारा बाध होता है। इसी प्रकार गगनगत नीलिमा का प्रत्यक्ष नीरूपत्व-ग्राहक अनुमान से, 'अहं गौरः,' 'अहमिहैवास्मि सदने जानानः' एवं 'प्रदेशमात्रे चन्द्रः'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष का अनुमान और आगम से तथा 'पीतः शङ्खः,' 'पित्तो गुड़ः'—इत्यादि प्रत्यक्ष का विरोधी अनुमान और आप्त-वचन से बाध देखा जाता है।

शङ्का—नेदं रजतम्'—इत्यादि प्रत्यक्ष भ्रम का बाध विशेष-दर्शनरूप प्रत्यक्ष से ही मानना होगा, अन्यथा परोक्ष प्रमा से ही प्रत्यक्ष भ्रम की निवृत्ति हो जाने पर वेदान्त-वाक्यों में अपरोक्ष ज्ञान-जनकता के व्युत्पादन का प्रयास व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि वेदान्त-वाक्यजन्य परोक्ष प्रमा से ही भेद-भ्रम निवृत्त हो जाता है।

समाधान—'नायं सर्पः'—इत्यादि वाक्यों से जनित परोक्ष प्रमा के द्वारा सर्पा-ध्यास-सहित रज्जुविषयक अज्ञान की निवृत्ति न होने पर भी सर्प-भ्रमगत अप्रामात्व-ज्ञापन के माध्यम से भ्रमगत प्रमात्व एवं सर्पगत सत्यता की बुद्धि का निवर्तन माना

न्यायामृतम्

एव वा श्रुत्यनुसारिप्रकरणादिना लिंगादिकम्। उक्तं हि—

दुर्बलस्य प्रमाणस्य बलवानाश्रयो यदा।
तदापि विपरीतत्वं शिष्टाकोपे यथोदितम्॥ इति।

न हि प्रधानभूताचमनादिपदार्थविषयस्मृत्या पदार्थधर्मभूतक्रमविषया "वेदं कृत्वा वेदिं करोती"तिश्रुतिर्बाधितेत्यन्यत्रापि तया सा बाध्यते। अत एव नायं सर्प इत्युक्ते प्रतिवदन्ति—किमेवं वदसि केवलमपि पुनः परामृश्य पश्यसीति। ननु तथापि पीतः शंखः नीलं नभ इत्यादि प्रत्यक्षम्, श्वैत्यनीरूपत्वाद्यनुमित्यैव चन्द्रप्रादेशत्वप्रत्यक्षं चाप्रत्यक्षमूलशब्देनैव बाध्यं दृष्टमिति चेद्, उच्यते—द्विविधं हि ज्ञानम्—संदेहरूपमेकाका-(रनियतं चे)रं चेति। द्वितीयमप्यप्रामाण्यधीकलंकितं तदकलंकितं चेति द्वेधा। (अप्रमाण्यधी)कलंकितत्वमपि द्वेधा—बाधकाभिमतज्ञानोदयात् प्रागेव दोषज्ञानेन वा? अर्थाभावनिश्चयेन वा? तत्राद्यं यथा चंद्रप्रादेशत्वग्राहि, शैलाग्रस्थतरुपरिमाणादिज्ञाने दूरादेर्दोषत्वनिश्चयात्। द्वितीयं यथा सविशंखादौ सुषिरपीतत्वादिग्राहि, प्रागेव तत्र परीक्षितप्रत्यक्षेण सुषिराद्यभावनिश्चयात्। एवं च चंद्रप्रादेशत्वादिप्रत्यक्षेण प्रागेव

अद्वैतसिद्धिः

त्वव्यपदेशात्, भ्रमे प्रामाण्यविभ्रमस्य तद्विषये सत्यताविभ्रमस्य च परोक्षत्वेनापरोक्षबाधानपेक्षत्वात्, न हि दुष्टकरणाजन्यत्वमबाधितविषयत्वं वा प्रामाण्यं कस्यचित् प्रत्यक्षम्। न वा सर्वदेशसर्वकालसर्वपुरुषाबाध्यत्वरूपं विषयसत्यत्वम्। अतस्तयोः परोक्षप्रमाबाध्यत्वमुचितमेव। तयोश्च बाधितयोः रजतादिभ्रमः स्वरूपेण सन्नपि स्वकार्याक्षमत्वादसन्निवेति बाधित इत्युच्यत इत्यनवद्यम्। ननु—'इदं रजत' मित्यत्र सयुक्तिकं प्रत्यक्षं बाधकं, न युक्तिमात्रम्, 'गौरोऽहं' मित्यत्रापि मम शरीरमिति बलवत् प्रत्यक्षमेव बाधकम्, 'अहमिहैवास्मि सदने जानान' इति तु प्रमाणमेव, जीवस्याणुत्वाद्—इति चेन्न, रजताभेदशरीराभेदप्रत्यक्षयोर्जाग्रतोः युक्त्या प्रतिबन्धाक्षमत्वे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता है, इतने से ही उक्त परोक्ष प्रमा में भ्रम-निवर्तकत्व का व्यवहार हो जाता है। भ्रमगत प्रमात्व-भ्रम तथा सर्पादिविषयगत सत्यता-भ्रम स्वयं परोक्ष होने के कारण बाध के लिए अपरोक्ष ज्ञान की अपेक्षा नहीं करते, क्योंकि दुष्ट करणाजन्यत्व अथवा अबाधितविषयकत्वरूप प्रमात्व का प्रत्यक्ष किसी को नहीं हो सकता है और न सर्व देश-काल-पुरुषाबाध्यत्वरूप सत्यत्व। अतः ज्ञान-प्रामाण्य और विषय-सत्यत्व—दोनों का परोक्ष प्रमा से बाधित होना समुचित ही है। ज्ञानगत प्रमात्व और विषयगत सत्यत्व का बाध हो जाने के कारण रजतादि-भ्रम स्वरूपतः विद्यमान हो कर भी अपने पुरुष-प्रवर्तकत्वादि कार्य में सक्षम नहीं रहते, ऐसे कार्याक्षम, असत्कल्प भ्रमों को बाधित कह दिया जाता है। फलतः प्रत्यक्ष भ्रम का परोक्ष प्रमा से बाध मानने में कोई दोष नहीं।

शङ्का—'इदं रजतम्'—इस प्रत्यक्ष भ्रम का युक्ति-सहित प्रत्यक्ष प्रमाण ही बाधक होता है केवल युक्ति नहीं, क्योंकि युक्ति भी परोक्ष ज्ञान मात्र है। 'गौरोऽहम्"—इस भ्रम का भी 'मम शरीरम्—इस प्रकार का सबल भेद-प्रत्यक्ष ही बाधक होता है। 'अहमिहैवास्मि सदने जानानः'—यह ज्ञान तो प्रमात्मक ही है, क्योंकि जीव अणु-परिमाण का होता है, उस में परिच्छिन्नत्व का भान यथार्थ ही है।

समाधान—शुक्ति में रजताभेद-प्रत्यक्ष और आत्मा में शरीराभेदप्रत्यक्ष के

न्यायामृतम्

ज्ञातदूरादिदोषेण भ्रमाणत्वेन ज्ञातेन संदेहवत्स्वार्थपरिच्छेदपराङ्मुखेन निःशंकप्रवृत्त्यजनकेनावकाशे दत्ते पश्चाच्छब्दादिः प्रवर्तते, न तु तेन प्रत्यक्षबाधः। यथा प्रबलप्रत्यक्षबाधितस्याक्षस्यानन्तरं प्रवृत्तेन शब्दादिना न बाधस्तद्वत्। येन यस्य भ्रमत्वं ज्ञायते तत्तस्य बाधकम्। न च चन्द्रप्रादेशत्वादिप्रत्यक्षस्यागमादिना भ्रमत्वं ज्ञायते। अकलंकितं स्वार्थपरिच्छेदेऽभिनिविष्टं निःशंकप्रवृत्तिजननयोग्यम्, यथा अग्निरुष्ण एव, प्रस्तरो यजमानो नैव, घटस्सन्नेवेत्यादि। न ह्यत्र प्रागेव दूरादिदोषधीर्वाऽर्थाभावनिश्चयो वाऽस्ति। यदि च प्रत्यक्षे क्लृप्तदूरादिदोषाभावेऽप्यन्यः कल्प्येत, तर्हि श्रुतावपि शब्दे क्लृप्तविप्रलंभाद्यभावेऽप्यन्यः कल्प्येत। न चाविद्यकतैव दोषः, मेयाविद्यकत्वस्याद्याप्यसिद्धेः। मानाविद्यकत्वस्य तु श्रुतावपि सत्त्वात्। नाप्यनादिभेदभ्रमवासना दोषः, श्रौतज्ञानस्यापि प्रकृतिप्रत्ययादिभेदवासनाजन्यत्वात्। भेदधियोऽद्यापि भ्रांतित्वासिद्धेश्च। इदं चाकलंकितं प्रत्यक्षं साक्षिरूपं चेन्न केनापि बाध्यं न कस्याप्यवकाशदम्। बाह्यं तु प्रबलप्रत्यक्षेण बाध्यम्, न त्वन्येन बाध्यमन्यस्यावकाशदं वा।

अद्वैतसिद्धिः

तद्विषयप्रत्यक्षोत्पत्तेरेवानवकाशात्। न च तत्र परम्परासम्बन्धेन कर्दमलिप्ते वस्त्रे 'नीलं वस्त्र'मितिवद् 'गौरोऽह'मिति गौणम्; कर्दमवस्त्रयोरिव शरीरात्मनोर्भेदानध्यवसायेन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्। तथा चात्रैक्याध्यास एवोचितः। एवं चो'ष्णं जल'मित्यत्रापि यदि कर्दमवस्त्रयोरिव तोयतेजसोर्भेदग्रहः, तदा गौणतैव। यदि च शरीरात्मवद् भेदानध्यवसायस्तदाऽध्यास एव, तथा च युक्तिबाध्यमेवेति, तदप्युदाहरणम्। यत्त्वहमिहैवेति प्रमाणमित्युक्तम्, तन्न, आत्मन 'आकाशवत् सर्वगतश्च' इति सर्वगतत्वेन इहैवेति व्यवच्छेदस्याप्रमाणिकत्वात्। न च जीवोऽणुः, युगपदेव पादशिरोऽवच्छेदेन सुखदुःखानुभवात्। न ह्येकोऽणुरेकदा व्यवहितदेशद्वयावच्छिन्नो भवति। न च युगपत्प्रतीतिर्भ्रमः, उत्सर्गसिद्धप्रामाण्यपरित्यागे बीजाभावात्। विस्त-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जागरूक रहने पर भेदावगाही प्रत्यक्ष की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं। हाँ, युक्ति के द्वारा अभेद-भ्रम के प्रमात्व का बाध होने पर भेद-ग्राही प्रत्यक्ष की उत्पत्ति सम्भव है।

शङ्का—'गौरोऽहम्'—यह प्रतीति भ्रमात्मक नहीं, अपितु उसी प्रकार गौण है, जैसे कर्दम (कीचड़) से सने वस्त्र में 'नीलं वस्त्रम्'—यह प्रतीति गौणात्मक होती है।

समाधान—'नीलं वस्त्रम्'—यह व्यवहार करते समय कर्दम और वस्त्र के भेद का निश्चय रहता है, अतः यह प्रतीति गौणरूप है, किन्तु 'अहं गौरः'—यह व्यवहार करते समय शरीर और आत्मा के भेद का निश्चय नही रहता, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का वैषम्य हो जाने के कारण 'अहं गौरः'—इस प्रतीति को गौण न मान कर अभेद-भ्रम ही मानना पड़ेगा। इसी प्रकार 'उष्णं जलम्'—यहाँ पर भी कर्दम और वस्त्र के समान जल और अग्नि का भेद-ज्ञान है, तब इसे गौण ही मानना चाहिए और यदि शरीर और आत्मा के समान भेद का निश्चय नहीं, तब अध्यास या भ्रम है, जिसका कि युक्ति के द्वारा बाध होता है। अतः यह भी प्रत्यक्ष भ्रम की बाध्यता में एक दृष्टान्त हो सकता है। यह जो कहा कि "अहमिहैवास्मि"—यह ज्ञान प्रमात्मक है। वह उचित नहीं, क्योंकि "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः"—इत्यादि शास्त्र के आधार पर आत्मा की विभुता प्रमाणित है, उसे अणुपरिमाण नहीं माना जा सकता,

न्यायामृतम्

एवं चाकाशे समीपे नीरूपत्वनिश्चयाद् दूरे तद्धीर्दूरदोषजन्येति प्रागेव निश्चिता, न तु नीरूपत्वानुमितिबाध्या।

केचित्त्वाकाशो नीलिमोदेतीतिश्रुतेर्नभोनीलमेव समीपे तु भूसंनिकर्षस्य प्रतिबंधकत्वान्नैल्यानुपलम्भ इत्याहुः। अन्ये तु नैल्यधीः साक्षिप्रत्यक्षबाधिता। अचाक्षुषपिशाचान्योन्याभावस्य स्तम्भः पिशाचो न भवतीति चक्षुषेव साक्ष्ययोग्यरूपाभावस्यापि नीरूपत्वविशेषावकाशत्वग्राहिणा साक्षिणा ग्रहणात्। परमतेऽपि ह्याकाशं साक्षिवेद्यं निमीलितनेत्रस्य नीलं नभ इति धीश्च साक्षिरूपेत्याहुः। यद्वा अश्रावणे आकाशे श्रावणी शब्दाभावधीरिवाचाक्षुषेऽप्याकाशे रूपाभावधीर्वायाविव चाक्षुष्येव। दूरस्थस्य

अद्वैतसिद्धिः

रेण चैतदग्रे वक्ष्यामः। ननु—नभोनैल्यप्रत्यक्षस्य नीरूपत्वग्राहकानुमानेन न बाधः, लिङ्गाभावात्, न च परममहत्त्वद्रव्यानारम्भकत्वादेर्लिङ्गत्वम्, त्वन्मते असिद्धेः। निःस्पर्शत्वं तु तमसि व्यभिचारि। पृथिव्यादित्रयेतरभूतत्वादि चाप्रयोजकम्। तथा च नीरूपत्वग्राहकसाक्षिप्रत्यक्षमेव तद्बाधकं वाच्यम्, न च—रूपग्रहणासमर्थस्य साक्षिणः कथं नीरूपत्वग्राहकत्वमिति—वाच्यम्, पिशाचाग्राहकस्यापि चक्षुषस्तदभावग्राहकत्ववदुपपत्तेः, परेणापि साक्षिणोऽपि रूपवत्तमोग्राहकत्वाभ्युपगमाच्च, अचाक्षुषेऽपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतः सर्वगत आत्मा में 'अहमिहैव'—इस प्रकार परिच्छेद-भान प्रमात्मक नहीं हो सकता। जीव को अणु नहीं मान सकते, क्योंकि पैरों से लेकर शिर तक के सुख-दुःख का एक काल में अनुभव आत्मा को व्यापक सिद्ध कर रहा है। अणु पदार्थ एक काल में दो व्यवहित देशों में नहीं रह सकता। 'पाद और शिर में सुखादि की अनुभूति वस्तुतः क्रमिक है, उस में यौगपद्य का भान भ्रमात्मक है'—ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि सहज सिद्ध प्रमात्व के परित्याग का कोई कारण सुलभ नहीं। जीवाणुत्व-वाद का निराकरण विस्तार से आगे किया जायगा।

द्वैतवादी—गगनगत नीलिम-प्रत्यक्ष का नीरूत्वावगाही चाक्षुष प्रत्यक्ष से ही बाध होता है, अनुमान के द्वारा बाध नहीं हो सकता, क्योंकि गगनगत नीरूपत्व का अनुमापक कोई लिङ्ग सुलभ नहीं है। 'गगनं नीरूपम्, परममहत्परिमाणवत्त्वाद् द्रव्यानारम्भकत्वात् निःस्पर्शत्वाद् वा आत्मवत्'—इस प्रकार परममहत्परिमाणवत्त्वादि को लिङ्ग नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि आप (अद्वैतवादी) भूताकाश में परममहत्परिमाण एवं द्रव्यानारम्भकत्व नहीं मानते तथा 'निःस्पर्शत्व' हेतु अन्धकार में व्यभिचारी है, क्योंकि वहाँ निःस्पर्शत्व के रहने पर भी नीरूपत्व नहीं माना जाता। 'पृथिव्यादिद्रव्यत्रयभिन्नत्वे सति भूतत्व'—इस हेतु में अनुकूल तर्क के न होने से अप्रयोजकता दोष है। परिशेषतः नीरूपत्व-ग्राहक साक्षिप्रत्यक्ष को ही 'नीलं नभः'—इस भ्रम का बाधक मानना होगा। 'साक्षी रूप-ग्रहण-समर्थ न होने के कारण नीरूपत्व का ग्राहक कैसे होगा ?'—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे पिशाचरूप प्रतियोगी के ग्रहण में असमर्थ चक्षु को पिशाचाभाव का ग्राहक माना जाता है, उसी प्रकार रूपात्मक प्रतियोगी के अग्राहक साक्षी को भी रूपाभाव का ग्राहक माना जा सकता है। अद्वैतवादी साक्षी को रूप-ग्रहण के अयोग्य नहीं मानते, अपि तु रूपी तम का ग्रहण साक्षी के द्वारा ही मानते हैं। इसी प्रकार वायु में रूपाभाव का जैसे चाक्षुष

न्यायामृतम्

पुंसो यत्र नभःप्रदेशे नैल्यधीस्समीपस्थस्य तस्यैव तत्रैव चक्षुषैवानैल्यबुद्धेः। अन्यथाऽऽकाशस्य नीरूपत्वं न सिध्येत्, लिंगाभावात्। नत्पक्षे महत्त्वद्द्रव्यानारम्भकत्वादेरसिद्धेः। निस्स्पर्शत्वस्य तमसि व्यभिचारात् पृथिव्यादित्रयेतरत्वादेश्चाप्रयोजकत्वात्। एतैरेवाशब्दत्वस्याप्यापाताच्च। पञ्चीकरणेन रूपस्यापि सत्त्वेन बाधाच्च। यद्वा व्याप्ति-

अद्वैतसिद्धि

नभसि वायाविव चक्षुषैव रूपाभावग्रहणसंभवेन चाक्षुषप्रत्यक्षबाधाद्—इति चेन्न, 'नीलं नभ' इति प्रत्यक्षे जाग्रति रूपाभावग्रहणस्य चक्षुषा साक्षिणा चासम्भवात्। तथा च बलवती युक्तिरेव तद्बाधिका। न च लिङ्गाभावः, चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिरूपाविशेषितप्रतीतिविषयत्वाद् रूपवदिति लिङ्गसम्भवात्। न चाप्रयोजकत्वम्, नभो यदि सरूपं स्यात्तदा चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिप्रतीतौ रूपासम्बन्धितया विषयो न स्यादिति तर्कोपपत्तेः। न चेष्टापत्तिः, सविधे रूपासम्बन्धितया नभसः सिद्धेः सर्वजनसम्मतत्वात्। नभसः साक्षिवेद्यतायामपि चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधानमवर्जनीयमेव, अन्यथाऽन्धस्यापि तद्ग्रहणं स्यात्। न च—पञ्चीकरणाद्रूपवदारब्धत्वेन नभसो

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रत्यक्ष माना जाता हैं, वैसे ही आकाश में भी रूपाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष माना जा सकता है, अतः चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा ही 'नीलं नभः'—इस भ्रम का बाध होगा।

अद्वैतवादी—जब तक 'नीलं नभः'—यह प्रत्यक्ष विद्यमान है, तब तक रूपाभाव का ग्रहण न तो चक्षु के द्वारा हो सकता है और न साक्षी के द्वारा। वायु में रूपाभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष इसलिए हो जाता है कि वहाँ विरोधी (रूपवत्ता) का ज्ञान नहीं, किन्तु आकाश में वह विद्यमान है, अतः रूपाभाव का प्रत्यक्ष कैसे होगा ? अतः बलवती अनुमितिरूप युक्ति को ही उक्त भ्रम का बाधक मानना होगा। आकाश में रूपाभाव का अनुमापक लिङ्ग नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'नभो रूपात्यन्ताभाववत् चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिरूपाविशेषितप्रतीतिविषयत्वाद्, रूपवत्'—इस प्रकार अनुमान-प्रयोग किया जा सकता है [चक्षु के रहने पर आकाश में रूपाभाव की प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं, अतः 'नभो रूपात्यन्ताभाववत्'—यह प्रतीति चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी कही जाती है, उस प्रतीति का विषय आकाश रूप-विशेषित (आकाशं रूपवत्—इस प्रकार रूपवत्त्वेन) प्रतीत नहीं होता, अतः उक्त प्रतीति का विषय आकाश वैसे ही रूपाविशेषत कहा जाता है, जैसे—रूप। रूप की प्रतीति भी चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायिनी है और उसका विषय रूप भी रूप-विशेषित नहीं, क्योंकि सभी गुण निर्गुण माने जाते हैं, अतः रूप भी रूप-रहित ही होता है]। उक्त हेतु अप्रयोजक भी नहीं, क्योंकि 'आकाश यदि रूपवान् होता, तब चक्षुरन्वयव्यतिरेकानुविधायी प्रतीति में रूपाविशेषत प्रतीत न होकर रूपवत्त्वेन ही प्रतीत होता'—इस प्रकार की अनुकूल तर्क के आधार पर हेतु में अपने साध्य के साधन की पूर्ण क्षमता विद्यमान है। यदि कहा जाय कि तर्क से आपादित आकाश की रूपवत्त्वेन प्रतीति-विषयता में इष्टापत्ति है, क्योंकि 'नीलरूपवत् नभः'—ऐसी प्रतीति होती ही है। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि दूर-दूर गगन में नीलता का भ्रम होने पर भी अपने सन्निकट गगन में रूपवत्ता की प्रतीति किसी को भी नहीं होती। आकाश को साक्षी-वेद्य मानने पर भी चक्षुरिन्द्रिय का अन्वयव्यतिरेकानुविधान आवश्यक है, अन्यथा अन्धे को भी आकाश का भान हो जायगा।

न्यायामृतम्

प्रत्यक्षेण तन्मूलानुमित्या वा तद्बाधः। अनौष्ण्यहेतोस्तु न व्याप्तिः, अप्रयोजकत्वात्। मिथ्यात्वहेतौ तु घटधीवद् व्याप्तिधीरपि स्वार्थसत्त्वग्राहितयाऽनुमितिप्रतिकूलैव, न तु तस्या मूलम्। अथवा नीरूपत्वानुमितिरुपजीव्यव्याप्तिप्रत्यक्षाद्यविरुद्धा धर्मिग्राहकाबाधिता च। मिथ्यात्वाद्यनुमितिस्तूपजीव्यव्याप्तिप्रत्यक्षादिविरुद्धा धर्मिग्राहकबाधिता चेति वैषम्यम्। तस्मात्—

स्वार्थनिश्चयरूपेण निश्चला ह्यपरोक्षधीः।
विजातीयप्रमाणेन केवलेन न बाध्यते॥

अद्वैतसिद्धिः

नीरूपत्वं बाधितमिति—वाच्यम्, त्रिवृत्करणपक्षेऽस्य दूषणस्यानवकाशात्। पञ्चीकरणपक्षेऽपि अपञ्चीकरणदशायां यस्मिन् भूते यो गुणः स पञ्चीकरणाद्व्यवहारयोग्यो भवतीत्येतावन्मात्राभ्युपगमान्नाकाशे रूपारम्भप्रसङ्गः। न च—'नायं सर्प' इत्युक्तेऽपि किमेवं वदसि परम्? अपि पुनः परामृश्य पश्यसि? इति प्रतिवचनदर्शनान्न शब्दमात्रं रज्जुसर्पादिभ्रमनिवर्त्तकम्, किं तु प्रत्यक्षमेवेति—वाच्यम्, प्रतिवचनस्थले भ्रमप्रमादादिशङ्काक्रान्तत्वेन 'नायं सर्प' इत्यादेर्दुर्बलतया न भ्रमनिवर्तकत्वम्। यत्र तु तादृक्शङ्का-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार रूप-युक्त तन्मात्राओं से आरब्ध होने के कारण नभ में नीरूपता का अनुमान बाधित है।

समाधान—त्रिवृत्करण-पक्ष में नीरूपतानुमान का बाध नहीं होता [श्री वाचस्पति मिश्र ने सृष्टि के आरम्भ में श्रौत त्रिवृत्करण का ही समर्थन किया है—"यद्यप्याकाशाद्या भूतसृष्टिः, तथापि तेजोऽबन्नानामेव त्रिवृत्करणस्य विवक्षितत्वात्" (भामती० पृ० १६८) अर्थात् छान्दोग्य उपनिषत् (६।३।३) में "तासां त्रिवृत त्रिवृतमेकैकामकरोत्"—इस प्रकार तेज, जल और पृथिवी—इन तीनों का ही जो त्रिवृत्करण प्रतिपादित है, वही युक्ति-युक्त है। वाचस्पति के इस मतवाद की श्रेष्ठता कल्पतरुकार के शब्दों में इस प्रकार है—

सम्प्रदायाध्वना पञ्चीकरणं यद्यपि स्थितम्।
तथापि युक्तियुक्तत्वाद् वाचस्पतिमतं शुभम्॥ (क. त. पृ. १६८)]।

पञ्चीकरण-पक्ष में भी अपञ्चीकृत अवस्था में जिस भूत में जो गुण है, वही गुण पञ्चीकरण के द्वारा व्यावहार-योग्य होता है—इतना ही माना जाता है, अतः पञ्चीकरण-प्रक्रिया से आकाश में वह शब्द गुण व्यवहारास्पदमात्र हो जाता है, जो कि अपञ्चीकृत अवस्था में व्यवहार-योग्य नहीं था। अन्यदीय गुणों का प्रादुर्भाव अन्य में नहीं होता, अतः आकाश में रूप गुण का उत्पाद सम्भव नहीं।

शङ्का—सर्प-भ्रम का निवर्त्तक भी 'नायं सर्पः'—इस प्रकार का आप्त-वचन नहीं होता, क्योंकि 'नायं सर्पः'—इस प्रकार आप्त पुरुष के द्वारा कहे जाने पर भ्रान्त पुरुष कहता है कि 'क्या आप कह रहे हैं? आगे बढ़कर देखिए तो सही।' इस प्रतिवचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आप्त-पुरुष के वचन से उसका भ्रम दूर नहीं हुआ, अतः शब्द-रज्जु-सर्प-भ्रम का निवर्तक नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष को ही उसका निवर्तक मानना होगा।

समाधान—'नायं सर्पः—ऐसा सुनकर सभी भ्रान्त पुरुषों का वैसा प्रतिवचन नहीं होता, अपितु किसी-किसी का। उसका कारण यह है कि 'नायं सर्पः'—ऐसा कहनेवाले

अद्वैतसिद्धिः

नाक्रान्तत्वम् तत्र भ्रमनिवर्तकतैव । अत एव तादृक्शङ्कानाक्रान्तपित्रादिवचसि नेदकप्रतिवचनम्, किन्तु सिद्धवत्प्रवृत्त्यादिकमेव । ज्वालैक्यप्रत्यक्षमप्येवमेव युक्तिबाध्यम् । न च—निर्वापितारोपितस्थले स्पष्टतरभेदप्रत्यक्षबाधितन्तादित्यन्यत्रापि दीर्घेयं न ह्रस्वेति भेदप्रत्यक्षमेव तद्बाधकमिति—वाच्यम्; निर्वापितारोपितातिरिक्तस्थले तावदयं विचार:, तत्र च दीर्घेयं न ह्रस्वेति भेदप्रत्यक्षं वक्तुमशक्यम्; यैव ह्रस्वा सैवेदानीं दीर्घेति ह्रस्वत्व-दीर्घत्वाभ्यामुपस्थितयोरभेदस्य साक्षात्क्रियमाणत्वात् । तथा च ज्वालाप्रत्यभिज्ञापि युक्ति-बाध्यैव । सर्वदा पित्तदूषितनेत्रस्य 'पीतः शङ्खः' इति प्रत्यक्षे चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षे च परोक्षातिरिक्तस्य बाधकस्य शङ्कितुमप्यशक्यत्वाद् युक्त्यादिबाध्यतैव वक्तव्या । ननु—सर्वत्रैवात्र प्रकारान्तरेणासत्कल्पे प्रत्यक्षे मानान्तरप्रवृत्तिः । तथा हि—द्विविधं ज्ञानम् , द्विकोटिकमेककोटिकं च । अन्त्यमपि द्विविधं अप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितं तदकलङ्कितं च । तत्राद्यौ सर्वप्रमाणावकाशदौ; अर्थापरिच्छेदकत्वादप्रामाण्यशङ्काकलङ्कित-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यक्ति पर जिस भ्रान्त पुरुष का पूर्ण विश्वास नहीं, अपि तु वह समझ रहा है कि वक्ता ही भ्रान्त है, या यह प्रमाद से ऐसा कह रहा है अथवा वक्ता के नेत्रों में कोई दोष है। जहाँ पर भ्रान्त पुरुष का अपने पितृकल्प वक्ता की आप्तता और निर्भ्रान्तता पर अटल विश्वास होता है, वहाँ भ्रान्त पुरुष का भ्रम आप्त-वचन से निवृत्त हो जाता है, उस प्रकार का प्रतिवचन सुनने में नहीं आता, तथा निश्चित रूप में भ्रान्त पुरुष निडर होकर अपने कार्य में संलग्न हो जाता है । इसी प्रकार 'सेयं दीप-शिखा'—इस प्रकार के ज्वालागत एकता का भ्रमात्मक-प्रत्यक्ष भी केवल युक्ति से बाधित होता है ।

शङ्का—जहाँ पर दीपक को बार-बार बुझाया-जलाया जाता है, वहाँ स्पष्ट रूप से दीप-शिखाओं के भेद का प्रत्यक्ष होता है एवं उसी प्रत्यक्ष से शिखागत एकता का भ्रम निवृत्त होता देखा गया है। उसी के समान सन्तत दीप-ज्वाला-स्थल पर भी प्रखरता-मन्दता या ह्रस्वता-दीर्घता के रूप में भेद-प्रत्यक्ष उत्पन्न होकर एकता-भ्रम का बाध किया करता है ।

समाधान—जहाँ दीपक को बार-बार बुझाया-जलाया जाता है, वहाँ पर भी 'यह शिखा बड़ी है', 'यह ह्रस्व'—इस रूप में भेद-प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विरोधी अभेद-प्रत्यक्ष अभी तक बाधित नहीं हुआ है, अतः बार-बार बुझी-जली दीप-ज्वाला में भी 'यैव ह्रस्वा, सैवेदानीं दीर्घा जाता'—इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञा-दर्शन ही होता देखा जाता है, भेद-भान नहीं होता । अतः ज्वालागत प्रत्यभिज्ञात एकता का प्रत्यक्ष अनुमितिरूप युक्ति से ही बाधित हो सकता है। इसी प्रकार जिसके नेत्रों में असाध्य पीलिया रोग सदा के लिए बस गया है, उसके 'पीतः शङ्खः' प्रत्यक्ष भ्रम की एवं चन्द्र-प्रादेशिकत्व-प्रत्यक्ष भ्रम की निवृत्ति परोक्षातिरिक्त ज्ञान से सम्भव ही नहीं, अतः उन भ्रमों का बाध केवल युक्ति के आधार पर ही मानना पड़ेगा ।

द्वैतवादी—कथित सभी स्थलों पर अन्यान्य कारणों से प्रथमतः प्रत्यक्ष ज्ञानों के बाधित हो जाने के पश्चात् आगम और अनुमानादि की प्रवृत्ति होती है, उनके द्वारा पूर्व-प्रत्यक्ष का बाध नहीं होता । अर्थात् सभी ज्ञानों को दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है—(१) द्विकोटिक तथा (२) एककोटिक । एककोटिक ज्ञान भी दो प्रकार का होता है—(१) अप्रामाण्य की आशङ्का से कलङ्कित तथा (२) अकलङ्कित । इनमें

अद्वैतसिद्धिः

त्वाच्च। अप्रामाण्यधीकलङ्कितत्वं च द्वेधा भवति; दुष्टकरणकत्वनिश्चयादर्थाभावनिश्चयाच्च। तथा च शैलाग्रस्थितविटपिनां प्रादेशिकत्वप्रतीतिर्दूरदोषनिबन्धना दृष्टेति दूरतरस्थस्य चन्द्रमसः प्रादेशिकत्वप्रत्ययो दोषनिबन्धन एवेति निर्णीयते। एवमाकाशे समीपे नीरूपत्वनिश्चयाद् दूरे रूपवत्त्वधीर्दूरदोषजन्येति प्रागेव निश्चीयते। 'पीतः शङ्ख' इत्यादि प्रत्यक्षं तु प्राथमिकपरीक्षितप्रत्यक्षेण 'शङ्खो न पीत' इत्यर्थाभावनिश्चयादप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितमेवोत्पद्यते। एवं सवितृसुषिरादिप्रत्यक्षमपि। तथा च चन्द्रादिप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षं दूरादिदोषनिश्चयात् 'पीतः शङ्ख' इत्यदिप्रत्यक्षं प्राथमिकार्थाभावनिश्चयादेव बाधितमिति पश्चादनुमानागमादिप्रसर इति न ताभ्यां तद्बाधः। येन हि यस्य भ्रमत्वं ज्ञायते, तत्तस्य बाधकमित्युच्यते। न च चन्द्रप्रादेशिकत्वादिप्रत्यक्षस्यागमादिना भ्रमत्वं ज्ञायते; भ्रमत्वज्ञानोत्तरकालमेव तत्प्रवृत्तेः। अप्रमाण्यज्ञानाकलङ्कितं तु स्वार्थपरिच्छेदकं निःशङ्कप्रवृत्तिजननयोग्यम्। यथा 'वह्निरुष्ण एव' 'प्रस्तरो यजमानभिन्न एव' 'घटः सन्ने' वेत्यादि, तन्नान्यस्यावकाशदं नान्येन बाध्यम्। न ह्यत्र प्रागिव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्विकोटिक ज्ञान तथा अप्रामाण्य-शङ्का-कलङ्कित ज्ञान अपने क्षेत्र में सभी प्रमाणों को प्रवृत्त होने का अवसर देते हैं, क्योंकि द्विकोटिक ज्ञान में अर्थ-निश्चायकत्व नहीं होता एवं शङ्किताप्रामाण्यक ज्ञान में अप्रामाण्य की शङ्का के कारण अन्य प्रमाण के अवरोध की क्षमता ही नहीं होती। ज्ञान में अप्रामाण्य की आशङ्का दो प्रकार से होती है-- (१) दूषित सामग्री से उत्पन्न होने के कारण तथा (२) अर्थभाव का निश्चय होने के कारण। शैल-शिखरस्थ वृक्षावलि में प्रादेशिकत्व की प्रतीति दूरता दोष के कारण होतीं है, इसीलिए सुदूर गगन में विराजमान चन्द्रमा में प्रादेशिकत्व का भान विषय-दोष के कारण ही है—ऐसा निश्चय हो जाता है। इसी प्रकार समीपवर्ती आकाश में नीरूपता निश्चित होने के कारण दूर गगन में नीलरूपवत्ता की प्रतीति दोष-जनित है—ऐसा निर्णय सहज में ही हो जाता है। 'पीतः शङ्खः'—इत्यादि प्रत्यक्ष तो अर्थभाव-निबन्धन अप्रामाण्य की आशङ्का से कलङ्कित ही होता है, क्योंकि इस भ्रम से पूर्व परीक्षित प्रत्यक्ष के द्वारा शङ्ख में पीत रूप का अभाव निश्चित होता है। इसी कोटि का सूर्यगत छिद्रादि का प्रत्यक्ष भी होता है। अतः चन्द्रगत प्रादेशिकत्व का प्रत्यक्ष दोष-निश्चय एवं शङ्खगत पीतिमा का प्रत्यक्ष विषयाभाव के निश्चय से ही बाधित होने के कारण अपने क्षेत्र में मृत योद्धा के समान अपने विरोधी आगम और अनुमान की प्रगति का अवरोध नहीं करते। इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाया जा सकता कि आगम और अनुमान के द्वारा वे बाधित होते हैं, क्योंकि जिस प्रमाण के द्वारा जिस ज्ञान ने भ्रमरूपता का निश्चय होता है, उस प्रमाण को उस ज्ञान का बाधक माना जाता है। चन्द्र-प्रादेशिकत्व-प्रत्यक्ष में आगमादि के द्वारा भ्रमरूपता ज्ञात नहीं होती, अपितु पहले से ही दूरता दोष के कारण भ्रमत्व निश्चित हुआ होता है, आगम की प्रवृत्ति उसके पश्चात् होती है।

अप्रामाण्य की आशङ्का से विनिर्मुक्त ज्ञान अपनी विषय वस्तु का निश्चायक होने के कारण निष्कम्प प्रवृत्ति के उत्पादन की पूर्ण क्षमता रखता है, जैसे कि 'वह्निरुष्णः एव', 'प्रस्तरो यजमानभिन्न एव', 'घटः सन्नेव'—इत्यादि ज्ञान। ऐसे ज्ञान जागरूक सन्नद्ध योद्धा के समान अपने क्षेत्र में न तो अन्य विरोधियों को पैर रखने का अवसर ही प्रदान

अद्वैतसिद्धिः

दूरादिदोषधीर्वा अर्थाभावनिश्चयो वा कोट्यन्तरालम्बित्वं वास्ति। किं च क्वचित् प्रत्यक्षं प्रत्यक्षान्तरगौरवाद्युक्तिबाध्यं भवतु, क्वचिच्च लिङ्गादिकं श्रुतिगौरवाच्छ्रुत्यनुसारिप्रकरणादिबाध्यं भवतु, राजामात्य इव राजगौरवेण राजभृत्यबाध्यः, तथापि न युक्तिमात्रस्य प्रकरणमात्रस्य वा प्रत्यक्षलिङ्गादिबाधकत्वम्; प्रत्यक्षाद्यनुसारित्वस्य सर्वत्राभावात्, न हि प्रधानभूताचमनादिपदार्थविषयया 'आचामेदुपवीती दक्षिणाचार' इत्यादिस्मृत्या पदार्थधर्मभूतक्रमादिविषया 'वेदं कृत्वा वेदिं करोती'ति श्रुतिर्वेदकरणानन्तरं क्षुतनिमित्तकाचमनोपनिपाते बाध्यत इत्यन्यत्रापि तथा भवितव्यामिति चेत्,

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

करते हैं और न उनसे बाधित ही होते है, क्योंकि इन ज्ञानों में पूर्व-चर्चित मृतप्राय प्रत्यक्षों के समान दूरतादि दोषों तथा विषयाभाव-निश्चय के कारण अव्यवसायात्मकता या आन्दोलित रूपता नहीं होती।

दूसरी बात यह भी है कि जहाँ युक्ति किसी प्रत्यक्ष का बाध करती है, वहाँ प्रबलतर प्रत्यक्ष का बल पाकर ही बाध करती है, अकेली असहाय नहीं। जैसे कि पूर्व मीमांसा (३।३।१४) में वर्णित प्रकरण प्रमाण अपने से प्रबल लिङ्गादि प्रमाणों का भी जो बाघ कर दिया करता है, वह प्रबलतम श्रुतिप्रमाण का बल पाकर ही। लोक-व्यावहार में जैसे राजामात्य (प्रधान मन्त्री) को भी कभी-कभी एक साधारण भृत्य झुका देता है, वह राजा के बल-बूते पर ही। जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा हैं—

दुर्बलस्य प्रमाणस्य बलवानाश्रयो यदा।
तदापि विपरीतत्वं शिष्टाकोपे यथोदितम्॥
अत्यन्तबलवन्तोऽपि पौरजानपदा जनाः।
दुर्बलैरपि बाध्यन्ते पुरुषैः पार्थिवाश्रितैः॥ (तं. वा. पृ. ८८१)

तथापि न तो युक्तिमात्र से प्रत्यक्ष का बाध होता है और न सभी प्रकरण प्रमाणों से लिङ्गादि प्रमाणों का, क्योंकि सर्वत्र तो प्रत्यक्षान्तरादि का बल सुलभ नहीं होता श्रुति और स्मृति का विरोध होने पर कभी-कभी स्मृति भी श्रुति का बाध कर देती है, जैसे—''वेदं कृत्वा वेदिं करोति''—यह श्रुति-वाक्य कहता है कि वेद का निर्माण करने के अनन्तर वेदी का निर्माण किया जाय [एक मुट्ठी भर कुशा को मध्य से मोड़ कर उसमें इस ढंग से गाँठ लगाई जाती है कि बैठे हुए बछड़े के अगले घुटने के समान आकार बन जाय, उसे यहाँ वेद कहा गया है, यज्ञीय पात्रादि का सम्मार्जन उस से किया जाता है]। यदि वेद बनाने के पश्चात् अध्वर्यु को खाँसी या छींक आ जाय, तब ''क्षुते आचामेत्''—यह स्मृति-वाक्य कहता है कि आचमन करे। इस के अनुसार वेद-निर्माण के पश्चात् आचमन और आचमन के अनन्तर वेदी का निर्माण करना होगा, तब तो श्रौत क्रम वेद-वेदी-करण का पौर्वापर्यभाव बाधित हो जाता है। यद्यपि श्रुति सहजतः प्रबल और स्मृति दुर्बल मानी जाती है, तथापि स्मृति वाक्य एक आचमनरूप धर्मी पदार्थ का विधान करता है और श्रुति केवल क्रम का विधान करती है, जो कि पदार्थों का एक धर्म मात्र होता है, धर्मी को प्रधान और धर्म को गौण माना जाता है, अतः स्मृति का प्रमेय प्रबल तथा श्रुति का प्रमेय दुर्बल है। प्रमाण-बलाबल की अपेक्षा प्रमेय-बलाबल उत्कृष्ट होता है। फलतः प्रबल प्रमेय का बल पाकर यहाँ स्मृति श्रुति का भी बाध्यकर डालती है। इस का अर्थ यह कदापि नहीं कि सभी स्मृति वाक्य श्रुतियों के बाधक होते

अद्वैतसिद्धिः

मैवम्; यतो युक्तिरेवैषा । यद् यद् दूरस्थाल्पपरिमाणज्ञानम्, तत् तद् दूरदोषनिबन्धनमप्रमा, शैलाग्रस्थविटप्यल्पपरिमाणज्ञानवदिदमपि तथेति । तथा चैवंरूपया युक्त्यैव चन्द्रप्रादेशिकत्वादिप्रत्यक्षस्य बाधं वदन् युक्त्या न प्रत्यक्षस्य बाध इति वचनेनाजैषीः परं मन्दबुद्धे ! मन्दाक्षम्, न तु परम् । एवं 'पीतः शङ्खः' इति प्रत्यक्षेऽपि प्राचीनार्थाभावप्रत्यक्षं न बाधकम्, तस्येदानीमभावात् । न च तत्स्मृतिर्बाधिका, तस्या अनुभवाद् दुर्बलत्वात् । केवलं युक्त्युत्पादन एव सोपयुज्यते । तेन युक्त्यागमाभ्यामेवोदाहृतस्थलेषु बाधः । यत्तु—क्वचिद्युक्त्यादेर्बाधकत्वदर्शनमात्रेण सर्वत्र न बाधकत्वं वक्तुं शक्यम्, युक्त्यादिबाधकताया अनुस्त्रियमाणप्रत्यक्षगौरवनिबन्धनत्वात्—इत्युक्तम् । तदनुक्तोपालम्भनम्, न हि मया क्वचिद् दर्शनमात्रेण युक्तेर्बाधकता सर्वत्रोच्यते, अपि तु चन्द्रप्रादेशिकत्वशङ्खपीतत्वप्रत्यक्षादौ यावदागमादेर्बाधकताप्रयोजकं दृष्टं तावत्सत्त्वेन । न च तत्रानुस्त्रियमाणं प्रत्यक्षमस्ति, यद्गौरवेण बाधकतायामन्यथासिद्धिं ब्रूयाः । तस्माच्चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य प्रपञ्चसत्त्वप्रत्यक्षस्य च तुल्यवदेव बाध्यता, युक्त्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

हैं । इसी प्रकार यदि भ्रमात्मक प्रत्यक्ष कहीं आगम से बाधित हो जाता है, तब क्या 'सन् घटः'—ऐसा प्रमात्मक प्रत्यक्ष भी बाधित हो जायगा ? कदापि नहीं ।

अद्वैतवादी—आपने जो यह कहा कि शैल-शिखर पर अवस्थित वृक्षों में प्रादेशिकत्व का भान दूर दोष के कारण होता है, अतः चन्द्रगत प्रादेशिकत्व का भान भी दोष-प्रयुक्त निश्चित होता है । वह सब कुछ युक्ति-प्रदर्शन ही तो है—जो-जो दूरस्थाल्प परिमाण का ज्ञान होता, है वह सब दूर दोष-जनित भ्रम ज्ञान होता है, जैसे—शैल-शिखरस्थ वृक्षों में अल्प परिणाम का ज्ञान, चन्द्र-प्रादेशिकत्व-ज्ञान भी वैसा ही है । अतः इस प्रकार की युक्ति के द्वारा ही चन्द्रगत प्रादेशिकत्वादि—प्रत्यक्ष का आप बाध सिद्ध कर रहे हैं और कह रहे हैं कि युक्ति से प्रत्यक्ष का बाध नहीं होता, ऐसे विरुद्धाभिधान के द्वारा आपने अपने-जैसे मूर्ख को कहीं जीत लिया होगा, किसी बुद्धिमान् को नहीं जीत सकते। इसी प्रकार 'पीतः शङ्खः'—इस प्रत्यक्ष में भी पूर्वतन विषयाभाव-निश्चय बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि इस भ्रम के समय उस का अभाव हो चुका है । उसकी स्मृति अनुभव से दुर्बल होने के कारण भ्रमानुभव की बाधक नहीं हो सकती । हाँ, उस स्मृति का उपयोग 'अयं शङ्खो न पीतः, शङ्खत्वात् स्मर्यमाणशङ्खवत्'—इस प्रकार की युक्ति के सम्पादन में हो सकता है, अतः युक्ति और आगम के द्वारा ही उदाहृत स्थानों पर बाध होता है ।

यह जो कहा कि 'किसी एक स्थल पर युक्ति के द्वारा बाध देख कर सर्वत्र वैसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहाँ युक्ति में जो बाधकता आती है, वह किसी प्रबल प्रत्यक्षान्तर का बल पाकर ही ।' वह सब आप का कथन अनुक्तोपालम्भमात्र हैं, क्योंकि हमने कभी ऐसा नहीं कहा कि किसी स्थल पर युक्ति में बाधकता देख कर सर्वत्र युक्ति में बाधकता माननी चाहिए । अपि तु चन्द्रगत प्रादेशिकत्व एवं शङ्खगत पीतत्व के प्रत्यक्ष की आगमादि में जो कुछ भी बाधकता का प्रयोजक देखा गया, उसी प्रयोजक धर्म के रहने के कारण अन्यत्र भी आगमादि को बाधक कहा जाता है । वहाँ पर कोई ऐसा प्रत्यक्षान्तर सुलभ नहीं कि जिस का बल पाकर आगमादि में बाधकता अन्यथासिद्ध हो जाती । अतः चन्द्रगत प्रादेशिकत्व के प्रत्यक्ष तथा प्रपञ्चगत सत्यत्व के प्रत्यक्ष में

न्यायामृतम्

तदुक्तम्—"न हि दृष्टस्य वस्तुनो बलवद् दृष्टं विनाऽन्यद्बाधक"मिति। उक्तं च विवरणे एव—"यत्राविचारपुरस्सरमेव प्रत्यक्षावभासमप्यनुमानादिना बाधितमुच्छिन्न-व्यवहारं भवति, तत्र तथा भवतु, यत्र पुनर्विचारपदवीमुपारूढयोर्ज्ञानयोर्बलाबल-चिन्तया बाधनिश्चयस्तत्र नानुमानादिना प्रत्यक्षस्य मिथ्यात्वसिद्धिः।"

इति प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वे बाधकोद्धारः।

अद्वैतसिद्धिः

गमयोश्च तुल्यवदेव बाधकतेति। न हि चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षेऽपि प्रागेव दुष्टकरणक-त्वनिश्चयः, नैकट्यस्यापि क्वचिद् दोषत्वेन सर्वत्र परिमाणज्ञानाविश्वासप्रसङ्गात्, किन्त्वागमादिना बाधानन्तरमेव, तद्वत् प्रकृतेऽपि मिथ्यात्वसिद्ध्यनन्तरमेवाविद्या-रूपदोषनिश्चयः। तथा च सर्वात्मना साम्यम्। यत्तु—दृष्टस्य वस्तुनो बलवद् दृष्टं विना अन्यद्बाधकं नास्तीत्युक्तम्—तत् दुर्बलशब्दलिङ्गादिविषयम्। यदप्युक्तं विवरणे—'यत्राविचारपुरस्सरमेव प्रत्यक्षावभासमप्यनुमानादिना बाधितमुच्छिन्न-व्यवहारं भवति। तत्र तथा भवतु। यत्र पुनर्विचारपदवीमुपारूढयोर्ज्ञानयोर्बलाबल-चिन्तया बाधनिश्चयस्तत्र नानुमानादिना प्रत्यक्षस्य मिथ्यात्वसिद्धिः' (विवरण. पृ.२२७) इति, तदपि गृहीतप्रामाण्यकशब्दतदुपजीव्यनुमानातिरिक्तयुक्तिविषयम्, एकत्र प्रामा-ण्यनिश्चये बलाबलचिन्ताया एवानवकाशात्॥ इति प्रत्यक्षस्य लिङ्गाद्यबाध्यत्वे बाधकम्॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रायः एक-जैसी बाध्यता और युक्ति एवं आगम में एक-जैसी बाधकता सिद्ध होती है। चन्द्रगत प्रादेशिकत्व के प्रत्यक्ष में पहले से दुष्ट करण-जन्यत्व का निश्चय नहीं होता, अपितु आगमादि के द्वारा बाध हो जाने के पश्चात् दुष्टकरण-जन्यत्व का निश्चय होता है। अन्यथा दूरता के समान निकटता भी कहीं-न-कहीं दोष होती है, अतः निकट से देखी गई वृक्षों की उँचाई का ज्ञान भी दोष-जनित है, अतः पूरे परिमाण-ज्ञान पर से ही विश्वास उठ जायगा। अतः बाध ज्ञान के पश्चात् जैसे शैल-शिखरस्थ वृक्षगत अल्प परिमाण-दर्शन में दूरता दोष का निश्चय होता है, उसी प्रकार प्रपञ्चगत मिथ्यात्व-सिद्धि के अनन्तर ही 'घटः सन्'—इत्यादि प्रतीतियों में अविद्यारूप दोष का निश्चय होता है। अतः चन्द्रगत प्रादेशिकत्व तथा प्रपञ्चगत सत्यत्व के प्रत्यक्षों में समानरूप से युक्ति और आगम की बाध्यता सिद्ध होती है। यह जो कहा गया कि दृष्ट वस्तु का बलवत् प्रत्यक्ष को छोड़ कर अन्य कोई बाधक नहीं होता, वह दुर्बल आगम और लिङ्ग के लिए ही कहा गया है कि वे बाधक नहीं होते।

विवरणकार ने जो कहा है—जहाँ पर बिना कुछ अधिक सोचे-समझे ही प्रत्यक्ष भ्रम अनुमानादि के द्वारा सहसा बाधित होकर व्यवहारतः उच्छिन्न हो जाता है, वहाँ वैसा ही मान लेते हैं, किन्तु जहाँ पर विचार-चक्रारूढ़ दो ज्ञानों की बलाबल चिन्ता से बाध्य-बाधकभाव का निश्चय किया जाता है, वहाँ पर अनुमानादि के द्वारा प्रत्यक्ष में मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती। विवरणकार के उस वक्तव्य का भी यही आशय है कि गृहीतप्रामाण्यक शब्द और शब्दोपजीवी अनुमान से अतिरिक्त अप्रामाण्याशङ्का-कलङ्कित अनुमानादि के द्वारा प्रत्यक्ष में मिथ्यात्व-निश्चय नहीं होता, क्योंकि दोनों ज्ञानों में से किसी एक के प्रामाण्य का निश्चय हो जाने पर बला-बल चिन्ता के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता।

: २१ :

प्रत्यक्षस्य भाविबाधविचारः

न्यायामृतम्

नापि भाविबाधकशंकामात्रेणेति तृतीयः, उक्तरीत्या लिंगशब्दयोरबाधकत्वाद् ।

अद्वैतसिद्धिः

एवं च 'भाविबाधनिश्चयाच्चे'ति यदुक्तं, तदप्युपपन्नतरमेव, प्रकारान्तरेणाबाधितस्य चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षस्य यथा आगमेन बाधः, तथा प्रकारान्तरेणाबाधितस्य 'सन् घट' इत्यादिप्रत्यक्षस्य मिथ्यात्वबोधकागमेन बाध इति निर्णयात् । एवं च—भाविबाधशङ्कामादाय यत्परैर्दूषणमुक्तं तदनुक्तोपालम्भतया—अपास्तम् । वस्तुतस्तु—बाधशङ्कामादायापि प्रत्यक्षस्य बाधकतोद्धारः समीचीन एव. प्रत्यक्षशब्दयोर्बलाबलविचारात् प्राक् किमयं शब्द उपचरितार्थः, आहोस्वित् प्रत्यक्षमप्रमाणमिति शङ्कायामुभयोरबाधकत्वप्राप्तौ तात्पर्यलिङ्गैः श्रूयमाणार्थपरतया निश्चितस्यागमस्योपचरितार्थत्वशङ्काव्युदासेन लब्धावकाशत्वसंभवात् । न च—शब्दलिङ्गयोः प्रत्यक्षाबाधकतया प्रत्यक्षान्तरस्याप्रमाणतया शङ्क्यमानत्वेनाबाधकतया च बाधक-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यह जो गत पृ. ११८ पर कहा था—"न चात्र प्रामाण्यं निश्चितम्, आगमविरोधादनुमानविरोधाद् भाविबाधाभावनिर्णयाच्च ।" अर्थात् 'सन् घटः'—इस प्रत्यक्ष का प्रामाण्य आगम और अनुमान का विरोध एवं भावी बाधाभाव का अनिश्चय होने के कारण निश्चित नहीं। वहाँ भावी बाधाभाव का अनिश्चिय या भावी बाध का निश्चयरूप हेतु भी युक्ति-युक्त है। जैसे चन्द्रगत प्रादेशिकत्व का प्रत्यक्ष प्रकारान्तर से बाधित न होकर आगम प्रमाण से ही बाधित होता है, वैसे ही 'सन् घटः'—इत्यादि प्रत्यक्ष का प्रपञ्चगत मिथ्यात्व-बोधक आगम से बाध होता है। इस भावी बाध की आशङ्का को लेकर जो न्यायामृतकार ने दोष दिया है—"प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य त्यागः किमनुमानविरोधादागमविरोधाद्वा भाविबाधशङ्कामात्रेण वा ? (गत पृ० ११८। वह अनुक्तोपालम्भमात्र है, क्योंकि हमारी ओर से भावी बाध की शङ्का कभी नहीं की गई है। वस्तुतः भावी बाध की शङ्का को लेकर भी 'सन् घटः'—इस प्रत्यक्ष की मिथ्यात्वानुमानबाधकता का उद्धार समीचीन ही है। प्रत्यक्ष और आगम की बलाबल-चिन्ता से पहले यह शङ्का होती है कि क्या 'यह शब्द लक्षणा या गौणी वृत्ति के द्वारा स्वार्थ-प्रतिपादक है ? अथवा प्रत्यक्ष ही अप्रमाण है ? ऐसी अवस्था में यदि दोनों समान बल के पाए जाते हैं, तब तात्पर्य-ग्राहक उपक्रमादि लिङ्गों की सहायता से आगम की स्वार्थ-परता का निश्चय किया जाता है, जिस से कि आगम के औपचारिकार्थत्व की शङ्का दूर हो जाती है और आगम को प्रत्यक्ष की बाधकता का अवसर मिल जाता है।

शङ्का—शब्द और अनुमान जातितः दुर्बल होने के कारण प्रपञ्च-सत्यत्वावगाही प्रत्यक्ष के बाधक हो नहीं सकते। प्रत्यक्षान्तर इस का बाधक इस लिए नहीं हो सकता कि वह अप्रामाण्य की शङ्का से कलङ्कित है, अतः 'इस प्रत्यक्ष का कोई भी बाधक नहीं'—इस प्रकार बाधक-सामान्याभाव का निश्चय हो जाने पर इस के बाध की शङ्का युक्ति-युक्त नहीं।

समाधान—परीक्षित शब्द और अनुमान भी प्रत्यक्ष के बाधक हो सकते हैं—यह (गत पृ० १३४–१३८ पर) सिद्ध किया जा चुका है। अतः शब्द और अनुमान प्रत्यक्ष

न्यायामृतम्

अक्षस्याप्रमाणतयाशंक्यमानत्वात् , सर्वविशेषाभावे च सामान्यस्याप्यभावेन बाधकशंकाया अनुदयात् । किं च त्वन्मते जाग्रदादिज्ञानस्याप्रमाणत्वेन स्वप्नादेर्बाधासिद्धौ कथं तद्दृष्टान्तेनान्यत्र तच्छङ्का ? तदुक्तं वार्तिके बौद्धं प्रति "प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रज्ज्ञाने मृषा भवेत् । स्वप्नादिबुद्धिरस्माकं तव भेदोऽपि किंकृतः" इति । अपि च

अद्वैतसिद्धिः

सामान्याभावे निश्चिते बाधशङ्का न युक्तेति—वाच्यम् , शब्दलिङ्गयोः प्रत्यक्षबाधकत्वस्य व्यवस्थापितत्वात्प्रत्येकं विशेषाभावनिश्चयेऽपि विशेषाणामियत्तानवधारणदशायां संशयसंभवात् , प्रत्यक्षस्याप्रमाणतया शङ्क्यमानत्वेन शङ्काविरहोपपादकस्यासंभवदुक्तिकत्वाच्च । अथैवं—जाग्रदादिज्ञानस्याप्रमात्वे स्वप्नदृष्टस्य शुक्तिरूप्यादेश्च बाधासिद्धौ कथं दृष्टान्तसिद्धिः स्यादिति—चेन्न, आरोप्यसत्ताधिकसत्ताकविषयत्वेनापेक्षिकप्रमाणत्वेनान्यूनसत्ताकविषयत्वेन वा बाधकत्वात् । अत एव यदुक्तं बौद्धं प्रति भट्टवार्तिके—'प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रद्बोधे मृषा भवेत् । स्वप्नादिदृष्टिरस्माकं तव भेदोऽपि किंकृतः ॥' इति—तत्सङ्गच्छते । ननु—भ्रमकालीनापरोक्ष-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

के बाधक नहीं हो सकते—ऐसा कहना सर्वथा असंगत है । यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि शब्द और अनुमान उसके बाधक नहीं, तब भी किसी अन्य बाधक की शङ्का हो सकती है, क्योंकि बाधक-विशेषों की कोई इयत्ता नहीं है । यह जो कहा गया कि प्रत्यक्षान्तर अप्रामाण्य शङ्का से कलङ्कित है, वह कहना अत्यन्त असम्भव है ।

शङ्का—शब्द और अनुमान के द्वारा बाधित हो जाने के कारण जाग्रत्कालीन समस्त प्रत्यक्ष अप्रमा हो जाता है, अप्रमा ज्ञान से स्वाप्न-ज्ञान का बाध सम्भव नहीं, तब स्वप्न-दृष्ट शुक्ति-रजतादि बाधित नहीं हो सकते, अतः प्रपञ्च-मिथ्यात्वानुमान में अबाधित शुक्ति-रजत को दृष्टान्त क्योंकर बनाया जा सकेगा ?

समाधान—अद्वैत-सिद्धान्त में तीन प्रकार की सत्ता मानी जाती है—(१) प्रतीति-काल में अबाधित होने के कारण शुक्ति-रजतादि की प्रातिभासिक सत्ता, (२) व्यवहार-काल में अबाधित होने के कारण घटादि प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता तथा (३) सर्वथा अबाधित ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता । सत्ता में न्यूनाधिक भाव भी माना जाता है—पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर सत्ता अधिक (उत्कृष्ट) होती है । अतः शुक्ति-रजतादिरूप आरोप्य की प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा अधिक (व्यावहारिक) सत्ता को विषय करने के कारण व्यावहारिक ज्ञान और घटादिरूप आरोप्य की व्यावहारिक सत्ता की अपेक्षा अधिक पारमार्थिक सत्ता को विषय करने वाला अद्वैत-ज्ञान बाधक माना जाता है । स्वप्न-दृष्ट पदार्थ का स्वप्न दर्शन से भी बाध देखा जाता है, अतः बाध्य की अपेक्षा बाधक का अन्यूनसत्ताक होना अनिवार्य है । फलतः प्रातिभासिक शुक्ति-रजतादि आपेक्षिक प्रमाणभूत नेदं रजतम्-इत्यादि व्यावहारिक ज्ञानों से बाधित हैं, उन्हें दृष्टान्त क्यों नहीं बनाया जा सकता ? अतः बौद्धों के प्रति जो श्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है, वह अत्यन्त संगत है-

प्रतियोगिनि दृष्टे च जाग्रद्बोधे मृषा भवेत् ।
स्वप्नादिदृष्टिरस्माकं तव भेदोऽपि किंकृतः ॥ (श्लो० वा० पृ० २३७)

अर्थात् स्वप्न-दृष्ट गजादि के प्रतियोगी (विरोधी गजाभावादिरूप) जाग्रद्बोध के उदय

न्यायामृतम्

भ्रमकालीनापरोक्षबुद्ध्यविषयविशेषविषयैव धीर्बाधिका, न च तव विश्वबाधिका धीस्तद्विषया। किं च सप्रकारैव धीर्बाधिका, निर्विकल्पिकायाः सप्रकारकभ्रमाविरोधित्वात्। न च ते(तव)विश्वबाधिका धीः सप्रकारिका। किं च न तावत्सा सप्रकारा, नापि निष्प्रकारा शब्दजन्येति वक्ष्यते। न च त्वन्मते सा शब्दान्यजन्या।

अद्वैतसिद्धिः

बुद्ध्यविषयविशेषविषयैव धीर्बाधिका दृष्टा, न च विश्वबाधिका धीस्तथेति—चेन्न, अधिष्ठानतत्त्वज्ञानत्वेनैव भ्रमनिवर्तकत्वात्, विश्वनिवर्तकब्रह्मज्ञानस्य तथात्वात्। न च—सप्रकारिकैव धीर्भ्रमनिवर्तिका, इयं तु निष्प्रकारिका कथं तथेति—वाच्यम्, निवर्तकतायां सप्रकारकत्वस्य गौरवादप्रवेशात्। ननु—आवश्यकः सप्रकारकत्वनियमः, व्यावृत्ताकारज्ञानत्वेनैव भ्रमनिवर्तकत्वात्, अन्यथा अनुवृत्ताकारज्ञानादपि तन्निवृत्त्यापत्तेरिति—चेत्, सत्यम्, व्यावृत्ताकारत्वेन ज्ञानस्य भ्रमनिवर्तकता, न तु तत्र विशेषप्रकारकत्वनियमः। तथा हि—व्यावृत्ताकारता हि द्वेधा भवति, विशेषणाद् उपलक्षणाच्च। तत्राद्ये सप्रकारकत्वनियमः। द्वितीयेऽपि धर्मान्तरस्य यदुपलक्षणं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होने पर स्वाप्न ज्ञान मिथ्या हो जाता है, किन्तु आप (बौद्ध) के मत में ज्ञानों का बाध्य-घातकभाव कैसे सिद्ध होगा ?

शङ्का—भ्रमकालीन 'इदं रजतम्'—इस प्रकार के अपरोक्ष ज्ञान के अविषयीभूत शुक्तित्वेन शुक्तिरूप विशेष विषय को विषय करने वाला 'इयं शुक्तिः'—इस प्रकार का ज्ञान ही भ्रम का बाधक होता है, किन्तु वेदान्त-जन्य अखण्डाकार बुद्धि का विषयीभूत शुद्ध ब्रह्म को विशेष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह निर्विशेष माना जाता है, एवं घटः सन्—इत्यादि भ्रमरूप अपरोक्ष बोध का अविषय-भी नहीं, अपितु सद्रूपेण विषय ही है, अतः अद्वैत-बोध विश्व-विभ्रम का बाधक कैसे होगा ?

समाधान—अधिष्ठान-तत्त्वज्ञान भ्रम का निवर्तक होता है। विश्व-विभ्रम का निवर्तक ब्रह्मज्ञान अधिष्ठान-तत्त्व-ज्ञान है, अतः उसमें निवर्तकता निश्चित है। निवर्तक ज्ञान में सप्रकारकत्व का नियम नहीं कर सकते, क्योंकि गौरव होता है, अतः विश्व-विभ्रम-निवर्तक अखण्डाकार निर्विकल्पक बोध के सप्रकारक न होने पर भी कोई क्षति नहीं।

शङ्का—भ्रम-निवर्तक ज्ञान में सप्रकारकत्व का होना परम आवश्यक है, क्योंकि रजतावृत्ति शुक्तित्व प्रकारक ज्ञान ही भ्रम का विरोधी होता है, रजत और शुक्ति-उभय-वृत्ति चाकचिक्य प्रकारक ज्ञान विरोधी नहीं होता, अतः ब्रह्मज्ञान सप्रकारक न होने से विश्व-भ्रम का बाधक नहीं हो सकता।

समाधान—यह सत्य है कि व्यावृत्ताकार ज्ञान ही भ्रम का निवर्तक होता है, किन्तु विशेषप्रकारकत्व का होना उस में अनिवार्य नहीं। ज्ञानों में व्यावृत्ताकारता दो प्रकार से आती है—व्यावृत्ताकार ज्ञान में व्यावर्तक धर्म कहीं विशेषण होता है और कहीं उपलक्षण। विशेषण-पक्ष में सप्रकारकत्व अवश्य रहता है। उपलक्षण-पक्ष में भी जहाँ काकादि उपलक्षक उत्तृणत्वादि धर्मान्तर का उपस्थापक होता है, वहाँ भी सप्रकारकता होती है। किन्तु जहाँ स्वरूपतः ही उपलक्षण धर्म ज्ञान में व्यावृत्ताकारता का सम्पादक होता है, वहाँ सप्रकारकता न रह कर निष्प्रकारकता ही मानी जाती है। उसका

अद्वैतसिद्धिः

तस्माद् व्यावृत्ताकारत्वे सप्रकारकतैव । यदि तु स्वरूपोपलक्षणाद् व्यावृत्ताकारता, तदा निष्प्रकारकतैव, उपलक्षणस्य तत्राप्रवेशात्, स्वस्य च स्वस्मिन्नप्रकारत्वात् । न च—प्रमेयत्वादिवत् स्वस्यैव स्वस्मिन् प्रकारत्वमिति—वाच्यम्, त्वयापि केवलान्वयिन्येवागत्या तथाङ्गीकारात्, न तु सर्वत्र । अथ—आकारप्रकारयोरभेदाद् ब्रह्माकारतैव ब्रह्मबुद्धेस्तत्प्रकारतेति—चेत्, न, विशिष्टबुद्धेर्विशेष्याकारत्वेऽपि तदप्रकारकत्वात्, आकारप्रकारयोर्भेदात् । आकारश्च वृत्तिनिष्ठः कश्चिद्धर्मोऽसाधारणव्यवहारहेतुरिति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यावृत्ताकार ज्ञान में प्रवेश नहीं होता कि वह प्रकार बन जाय और उपलक्ष्यभूत व्यक्ति अपने में प्रकार बन नहीं सकती, [क्योंकि भासमान वैशिट्य के प्रतियोगी पदार्थ को प्रकार कहा जाता है । यह वहीं सम्भव है, जहाँ पर ज्ञान की विषयवस्तु विशिष्टात्मक हो, जैसे—'इयं शुक्तिः'—इस प्रकार के ज्ञान की विषय शुक्तित्व-विशिष्ट शुक्ति है, यहाँ प्रतीयमान वैशिष्ट्य का शुक्तित्व प्रतियोगी तथा शुक्ति अनुयोगी है, अतः इस ज्ञान को शुक्तित्वप्रकारक कहा जाता है । रजत-भ्रम का जनक शुक्ति-विषयक तूलाज्ञान भी शुक्तित्वप्रकारक होता है । शुक्तित्वप्रकारक अज्ञान के निवर्तक ज्ञान का भी शुक्तित्व-प्रकारक होना उचित ही है, किन्तु प्रपञ्च-भ्रम का जनक मूलाज्ञान निष्प्रकारक ब्रह्मविषयक है, अतः उसका निवर्तक ज्ञान भी निष्प्रकारक ब्रह्मविषयक ही होता है । द्वैताभावोपलक्षित ब्रह्म के ज्ञान में न द्वैताभाव ही प्रकार है और न ब्रह्म, अतः यह ज्ञान व्यावृत्ताकार होने पर भी सप्रकारक नहीं, आकार एवं प्रकार—दोनों एक नहीं, भिन्न-भिन्न तत्त्व होते हैं ।

शङ्का—जैसे प्रमेयत्वादि केवलान्वयी धर्म सर्वत्र रहते हैं । प्रमेयत्व में भी प्रमेयत्व का भान होता है—प्रमेयत्वं प्रमेयम्, अतः प्रमेयत्व स्व में भी प्रकार माना जाता है, वसे ही सत्ता सामान्यरूप ब्रह्म भी सर्वानुस्यूत है, स्व में भी उसका रहना अनुचित नहीं, अतः सद्विषयक ब्रह्मज्ञान भी सत्प्रकारक कहा जा सकता है ।

समाधान—वैशेषिक सिद्धान्त में प्रमेयत्व के आश्रय को ही प्रमेय माना जाता है, अतः अगत्या प्रमेयत्व में भी उन्हें प्रमेयत्व मानना पड़ता है, नहीं तो प्रमेयत्व को प्रमेय नहीं कहा जा सकेगा । किन्तु वेदान्त-सिद्धान्त में सत्ता के आश्रय को सत् नही कहा जाता, अपितु सत्तारूप को ही सत् कहा जाता है (द्र० पृ० १८) । अतः ब्रह्मज्ञान को ब्रह्मप्रकारक नहीं माना जाता ।

शङ्का—योगाचार-सम्मत ज्ञान की साकारता वैदिक मतवाद में अभ्युपगत नहीं, अपितु ग्राह्य वस्तु को ज्ञान का आकार माना जाता है, अत एव "नाकारभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः" (ज्ञानश्री० पृ० ३८६) इसका उत्तर देते हुए उदयनाचार्य ने कहा है—"न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः" (आत्म० पृ० २३०) अत आकार, ग्राह्य और प्रकार में कोई अन्तर नहीं । अखण्डाकार वृत्ति को आप ब्रह्माकार मानते हैं, उसी को ब्रह्मप्रकारक ज्ञान कहा जाता है ।

समाधान—आकार और प्रकार—दोनों का महान् अन्तर है । ग्राह्य को प्रकार नहीं विशेष्य कहते हैं और विशेष्य-वृत्ति धर्म को प्रकार कहा जाता है । ब्रह्माकार वृत्ति में ब्रह्म विशेष्य है, प्रकार नहीं, क्योंकि ब्रह्म ब्रह्म में वृत्ति नहीं—यह कह चुके हैं । 'घटः' इस प्रकार की वृत्ति में तीन धर्म रहते हैं—घटत्व की विषयिता, घट की विषयिता

न्यायामृतम्

किं च बाधिका धीर्भ्रमस्य तद्धेतोरज्ञानस्य तद्दोषस्याध्यस्तस्य द्रष्टुश्च न बाधिकेति

अद्वैतसिद्धिः

वक्ष्यते । तस्माद्यथाऽऽकाशपदाच्छब्दाश्रयत्वोपलक्षितधर्मिस्वरूपमात्रं ज्ञायते, तद्वद-त्रापि द्वितीयाभावाद्युपलक्षितब्रह्मस्वरूपज्ञानं व्यावृत्ताकारं द्वैतनिवर्तकमपरोक्षम् । यथा च शब्दात्तादृग्ज्ञानसंभवस्तथा वक्ष्यते । न च—बाधकधियां भ्रमतद्धेत्वज्ञानदोषा-ध्यस्तद्रष्ट्रादीनामबाधकत्वं दृष्टमिति कथं ब्रह्मज्ञानस्य तद्बाधकत्वं घटतामिति—वाच्यम्, यत्र हि स्वप्ने द्रष्टारं दुष्टकरणवन्तं कल्पयित्वा तस्य भ्रमं कल्पयति, तत्र जागरज्ञानेन सर्वेषां निवृत्तिदर्शनात् । जाग्रद्दशायामपि यदा मनुष्यप्रतिकृतौ चैतन्यं कल्पयित्वा तत्समीपवर्तिन्यनादर्शे एवादर्शत्वं कल्पयित्वा स्वप्रतिबिम्बमयं पश्यतीति कल्पयति, तदा नायं चेतनो न चायमादर्श इति प्रमया सर्वनिवृत्तिदर्शनाच्च नेयम-दृष्टचरी कल्पना । तथा चेयं शुक्तिरित्याद्यधिष्ठानज्ञानं रज्ज्वां सर्पभ्रममिव द्रष्ट्राद्यध्यासं मा निवीवृतत्, तत्कस्य हेतोः ? तदधिष्ठानसाक्षात्कारत्वाभावात्, ब्रह्मज्ञानं त्वाका-शादिप्रपञ्चभ्रममिव द्रष्टृदोषादिभ्रममपि निवर्तयेदेव, तत्कस्य हेतोः ? अशेषभ्रमा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तथा घट और घटत्व के सम्बन्ध की विषयिता। इनमें असाधारण या अन्य-व्यावृत्तरूप में घटादि के व्यवहार का नियामक घटत्व या घटत्व-विषयित्व को प्रकार कहते हैं। यह वहीं सम्भव है, जहाँ धर्म का धर्मी में विशेषण-विधया भान होता है, उपलक्षण-विधया भान होने पर नहीं। जैसे कि 'आकाश' पद-जन्य ज्ञान या वृत्ति में शब्दाश्रयत्व से उपलक्षित धर्मिस्वरूप मात्र का भान होता है, वैसे ही 'अद्वतीयम्'—इस पद से जनित वृत्ति में द्वितीयाभाव से उपलक्षित ब्रह्मस्वरूपमात्र की प्रतीति होती है, उसे द्वैत-निवर्त्तक होने के कारण व्यावृत्ताकार अपरोक्ष कहते हैं। शब्द से अपरोक्ष बोध कैसे सम्भव होता है, यह आगे चलकर तृतीय परिच्छेद के अन्त में कहा जायगा।

शङ्का—शुक्ति-रजतादि भ्रम के बाधक 'नेदं रजतम्' या 'इयं शुक्तिः'—इस प्रकार के ज्ञान में केवल भ्रम के विषयीभूत रजत की बाधकता देखी जाती हैं, किन्तु आप ब्रह्म-ज्ञान में प्रपञ्च-भ्रम, उसके हेतुभूत मूलाज्ञानरूप दोष, अध्यस्त प्रपञ्च तथा भ्रम-द्रष्टा—इन सब की बाधकता मानते हैं—यह दृष्ट-विरुद्ध अघटित घटना कैसे घटेगी ?

समाधान—स्वप्न में दुष्ट करण वाले किसी द्रष्टा को कल्पना कर उसके विस्तृत भ्रम की कल्पना की जाती है। जागने पर जाग्रद्बोध के द्वारा स्वप्न-कल्पित स्वप्न के समस्त द्रष्टा, दृश्य और दर्शन का बाध होता देखा जाता है। जागरित दशा में भी जब कोई पुरुष मानव की मृण्मय प्रतिमा में चैतन्य का आरोप करता है, उसके सम्मुखस्थ दीवार में दर्पण रूपता की कल्पना कर यह भी कल्पना कर लेता है कि यह चेतन मानव अपना प्रतिबिम्ब सामने के दर्पण में देख रहा है। उस समस्त भ्रम-परम्परा की निवृत्ति 'नायं चेतनः, न चायमादर्शः'—इस प्रकार की प्रमा से होती देखी जाती है। अतः एक ही प्रमा ज्ञान से भ्रम, उसके दृश्य एवं द्रष्टा के बाध की कल्पना अदृष्टचरी नहीं है। हाँ, इयं शुक्ति':—इस प्रकार की अधिष्ठान-प्रमा से केवल रजत-भ्रम ही निवृत्त होता है, रज्जुगत सर्प-भ्रमादि निवृत्त नहीं होते और न द्रष्टादि निवृत्त होते हैं। वह क्यों ? सर्प-भ्रम तथा द्रष्टादि के अधिष्ठान का साक्षात्कार न होने के कारण। किन्तु ब्रह्म-ज्ञान आकाशादि प्रपञ्च-विभ्रम के समान द्रष्टा, दोषादि द्वैत मात्र का निवर्त्तक होता है। उस

न्यायामृतम्

न भ्रमादिबाधो युक्तः । किं च दोषजन्यमेव बाध्यं न च साक्षिप्रत्यक्षं तज्जन्यम् । अद्वैत-ज्ञाने तु श्रुतितात्पर्यभ्रमो दोषः । किं च बाधकतुल्यमानसंवादि न बाध्यम् । द्वैतप्रत्यक्षं

अद्वैतसिद्धिः

धिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारत्वात् । एवं च बाधबुद्धित्वं न दोषाद्यबाधकत्वे प्रयोजकं, अपि तु तद्भ्रमाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारभिन्नत्वमिति द्रष्टव्यम् । ननु –कल्पितत्वादुक्तदृष्टान्ते तत् बाध्यताम्, इह तु कथमिति—चेत्, हन्त ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य कल्पित-त्वमङ्गीकुर्वतामस्माकमिदमनिष्टं महदापादितं देवानांप्रियेण । ननु—साक्षिप्रत्यक्षं न बाध्यम्, दोषाजन्यत्वात्, प्रत्युत श्रुतिजनिताद्वैतज्ञानमेव बाध्यम्, तात्पर्यभ्रम-रूपदोषजन्यत्वादिति—चेत्, न, चैतन्यस्य स्वरूपतया दोषाजन्यत्वेऽपि तदवच्छेदि-काया अविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वात्, तत्प्रतिफलितचैतन्यस्यैव साक्षिपदार्थत्वात् । अद्वैततात्पर्यग्रहस्य च प्रत्यक्षाद्यविरोधेन प्रमारूपतया दोषत्वाभावात् न तज्जन्यम-द्वैतज्ञानं बाध्यम्, भ्रमजन्यत्वस्य विषयबाधाप्रयोजकत्वाच्च । न च—बाधकतुल्यमान-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का कारण यह है कि वह अशेष भ्रम के अधिष्ठानभूत वस्तु का तत्त्व-साक्षार होता है । अतः द्वैतवादी जो यह अनुमान करना चाहता था कि 'ब्रह्मज्ञानं न दोषादिनिवर्तकम्, बाधबुद्धित्वात्, नेदं रजतमिति बाधबुद्धिवत् ।' उसमें अधिष्ठान-तत्त्वसाक्षारभिन्नत्व उपाधि है । अर्थात् दोषादि की अबाधकता का व्याप्य अधिष्ठान-तत्त्वसाक्षार-भिन्नत्व है, बाधबुद्धित्व नहीं ।

शङ्का—स्वप्न और जाग्रत् के कथित दृष्टान्तों के आधार पर कल्पित त्रिपुटी का बाध हो सकता है, किन्तु ब्रह्मज्ञान से पारमार्थिक त्रिपुटी-प्रपञ्च का बाध कैसे होगा ?

समाधान—कल्पित वस्तु की ही निवृत्ति बाध ज्ञान से होती है, आकाशादि प्रपञ्च की कैसे होगी ?—ऐसा प्रश्न अद्वैतवादी से करना निरी भूल है, क्योंकि अद्वत-सिद्धान्त में ब्रह्म से भिन्न समस्त प्रपञ्च को कल्पित ही माना जाता है । ब्रह्म-ज्ञान से उसकी निवृत्ति होने में कोई आपत्ति ही नहीं रह जाती ।

शङ्का—ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा मूलाज्ञान और ताज्जनित प्रपञ्च का बाध हो सकता है, किन्तु साक्षिरूप प्रत्यक्ष नित्य है, उस में अविद्या दोष-जन्यत्व न होने के कारण बाधि-तत्व नहीं हो सकता, प्रत्युत श्रुतिजनित अद्वैत-ज्ञान ही तात्पर्य-भ्रमरूप दोष से जनित होने के कारण बाधित होता है ।

समाधान—चैतन्य स्वरूपतः दोषाजन्य होने पर भी चैतन्य की अवच्छेदिका अविद्या-वृत्ति दोष-जन्य होती है, उस वृत्ति में प्रतिफलित चैतन्य को साक्षी कहा जाता है, अतः अविद्या-वृत्ति से अवच्छिन्न साक्षी प्रत्यक्ष भी दोष-जनित होने के कारण ब्रह्म-ज्ञान से बाधित होता है । यह जो कहा कि अद्वैत-ज्ञान तात्पर्य-भ्रमरूप दोष से जनित है, वह कहना सम्भव नहीं, क्योंकि तात्पर्य-निर्णायक उपक्रमादि षड्विध लिङ्गों के द्वारा अद्वैत तत्त्व में श्रुति के तात्पर्य का ग्रह होता है, वह तात्पर्य-ग्रह भ्रम नहीं, अपितु प्रत्य-क्षादि से अनधिगत और अबाधितविषयक होने के कारण प्रमा कहा जाता है, उससे जनित ब्रह्म-ज्ञान को न तो दोष-जनित कह सकते हैं और न बाधित । यदि उसे भ्रम से जन्य मान भी लिया जाय, तब भी उसका विषय बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि 'ब्रह्मज्ञानं बाधितविषयकम्, दोषजन्यत्वात्, शुक्तिरजतज्ञानवत्'—यह अनुमान भ्रमात्म-

न्यायामृतम्

चाद्वैतश्रुतितुल्यद्वैतश्रुतिसंवादि । किं च बाधकधीबोध्यं न बाध्यम् । भेदश्च बाधक-

अद्वैतसिद्धिः

ताकद्वैतश्रुतिसंवादिद्वैतप्रत्यक्षं कथं बाध्यमिति—वाच्यम्, द्वैतस्य प्रत्यक्षादिलौकिकमानसिद्धत्वेन तद्बोधकश्रुतेरनुवादकतया फलवदज्ञातस्वार्थतात्पर्यकाद्वैतश्रुतिसाम्याभावात् । ननु—बाधकधीबोध्यं न बाध्यम्, भेदश्च बाधकधीबोध्यः, तया स्वविषयस्य भिन्नत्वेनैव ग्रहान्नेदं रजतमितिवद्, अभिन्नतयोदासीनतया वा ग्रहणे बाधकत्वायोगादिति—चेत्, न; बाधकधियो भेदविषयत्वानभ्युपगमाद्, इयं शुक्तिरित्येव बाधबुद्ध्युदयात् । तस्यास्तु नेदं रजतमिति भेदबुद्धिः फलम् । व्यावृत्ताकारतैव बाधधिय

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कव्याप्ति-ज्ञान से जनित प्रमात्मक अनुमिति में व्यभिचरित है, क्योंकि उसमें दोषजन्यत्व होने पर भी बाधितविषयकत्व नहीं रहता—यह पहले कहा जा चुका है ।

शङ्का—'घटः सन्'—इत्यादि द्वैत-प्रत्यक्ष अद्वैत-श्रुति से बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि अद्वैत-श्रुति के समानकक्ष 'विश्वं सत्यम्'—इत्यादि श्रुतियों से वह संवादित और समर्थित है ।

समाधान-द्वैत-श्रुति को अद्वैत-श्रुति के समकक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों के द्वारा अधिगत पदार्थ की गमक होने के कारण द्वैत श्रुति अनुवादक मात्र है और सप्रयोजन एवं अज्ञात स्वार्थ में जिस का तात्पर्य निर्णीत हो चुका है, ऐसी अद्वैत श्रुति की समानता द्वैत-श्रुति में कदापि नहीं हो सकती ।

शङ्का—'इदं रजतम्'—इस प्रकार के अभेद-भ्रम का 'नेदं रजतम्'—इस प्रकार का भेद-निश्चय बाधक होता है । बाधक ज्ञान के द्वारा बोधित भेद कभी बाधित नहीं होता । बाध बुद्धि अपने शुक्तिरूप विषय का रजत-भिन्नत्वेन ही ग्रहण करती है—'नेदं रजतम्' । इसी लिए उसे बाधक माना जाता है । यदि बाध बुद्धि शुक्ति को रजताभिन्नत्व या किसी तटस्थ रूप से ग्रहण करती, तब उसे बाधक ही नहीं माना जा सकता था, क्योंकि भ्रम-विषय के विरोधी विषय को विषय करने वाला निश्चय ही बाधक कहा जाता है । अतः प्रपञ्च-विभ्रम के बाधक अद्वैत-निश्चय के द्वारा बोधित द्वैत-भेद अद्वैत-ज्ञान के द्वारा ही बाधित नहीं होना चाहिए, अन्यथा बाधित-विषयक ज्ञान को प्रमा नहीं कहा जा सकेगा । उसके द्वारा भेद यदि बाधित नहीं होता, तब उसमें ब्रह्म-भिन्न निखिल प्रपञ्च की बाधकता का सिद्धान्त असंगत हो जाता है ।

समाधान—भ्रम-विषय के विरोधी विषय को विषय करनेवाला प्रमा ज्ञान बाधक नहीं कहलाता, अपितु भ्रम-विषय के मूल कारण पर प्रहार करने वाले निश्चय को बाधक कहते हैं । शुक्ति-रजत और उसके भ्रम का मूल कारण है—शुक्ति का अज्ञान । उसका विनाश करने के लिए शुक्तिरूप अधिष्ठान का साक्षात्कार आवश्यक हैं, अतः बाध बुद्धि मुख्यरूप से भेद को विषय नहीं करती, अपितु 'इयं शुक्ति':—इस प्रकार की बाध बुद्धि का उदय प्रथमतः होता है । उस का 'नेदं रजतम्'—यह ज्ञान फलमात्र माना जाता है । बाध बुद्धि में व्यावृत्ताकारता आवश्यक है । उभयानुगत इदन्त्वाकारता को अनुवृत्ताकारता तथा शुक्तित्वाकार को व्यावृत्ताकार माना जाता है । ब्रह्म-ज्ञान में द्वैताभावोपलक्षितत्व के बल पर व्यावृत्ताकारता आ जाती है—यह कहा जा चुका है, अतः भेद में बाध बुद्धि की बोध्यता ही नहीं होती, उसका बाध होने में कोई रुकावट नहीं ।

न्यायामृतम्

धीबोध्यः। तथा च स्वविषयस्य भेदाभिन्नतयौदासीन्येन वा ग्रहे बाधकत्वायोगेन भिन्नतयैव ग्राह्यत्वात्। तस्मान्न बाधशंका युक्ता। कथं चेयं शंका ? रूप्यादिबाधेऽपि बाधकशंकापातेनाबाधितबाधरूपकोटयप्रसिद्धेः, बाधितबाधशंकायाश्चाबाध्यत्वाविरोधित्वात्, भाविबाधेऽपि बाधशंकापातेन स्वव्याघाताच्च। तदुक्तं वार्तिके बौद्धं प्रति—

अद्वैतसिद्धिः

आवश्यकी। सा च स्वरूपोपलक्षणवत्यास्मिन्प्रकारकब्रह्मज्ञानेऽपि अस्तीति न बाधकधीबोध्यत्वं भेदस्य। ननु—स्वप्नविलक्षणफलपर्यन्तपरीक्षायामपि चेच्छङ्का स्यात्, तदा अद्वैतश्रुतितत्प्रत्यक्षतत्प्रामाण्यशङ्कायामद्वैतश्रुतिरपि न सिद्धयेत्। बाधेऽपि बाधशङ्कायामबाधितबाधप्रसिद्धिरपि न स्याद्, बाधितबाधशङ्कायाश्चाबाध्यत्वाविरोधित्वात्। भाविबाधेऽपि बाधशङ्कापातेन स्वक्रियाव्याघातश्च स्यात्। शङ्काप्रत्यक्षेऽपि शङ्कायां शङ्कापि न सिद्धयेत्। एवं सर्वत्र शङ्काप्रसरात् सर्वविप्लवापत्तिरिति—चेत्, मैवं मंस्थाः, यतः समत्वेन प्रमाणान्तरे उपस्थित एव निश्चितेऽपि सत्त्वादौ शङ्का भवतीति ब्रूमः, न तु निश्चितमात्रे शङ्का भवतीति। तथा च यदुक्तं बौद्धं प्रति भट्टवार्तिके 'दुष्टज्ञानगृहीतार्थप्रतिषेधोऽपि युज्यते। गृहीतमात्रबाधे तु स्वपक्षोऽपि न सिद्धयति॥'

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—स्वप्न-विलक्षण (व्यावहारिक) जलादि का दर्शन होता है, द्रष्टा उधर चल पड़ता है, जल मिलते ही पीता और स्नान करता है, आश्वस्त होकर सोचता है कि मेरी प्रवृत्ति सफल हो गई—इस प्रकार उपभोगात्मक फल-पर्यन्त परीक्षा के द्वारा जल-ज्ञान के प्रमात्व में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता—यह सर्वजनीन अनुभव है। किन्तु वहाँ पर भी यदि भावी बाध की आशङ्का से प्रमात्व-निश्चय नहीं माना जाता, तब प्रमात्व कहीं भी निश्चित न होकर सर्वथा उच्छिन्न ही हो जायगा। अद्वैत श्रुति, उसके प्रत्यक्ष तथा उसके प्रामाण्य में भी भावी बाध की आशंका हो सकती है, अतः न तो अद्वैत श्रुति ही सिद्ध होगी और न तज्जन्य अद्वैत-प्रमा। अद्वैत-मत में ब्रह्म-ज्ञान को ऐसा बाध-प्रत्यय माना जाता है, जिसका बाध कभी नहीं होता, इस प्रकार का अबाधित बाध भी क्योंकर सिद्ध होगा ? क्योंकि सभी बाधों के भावी बाध की शंका हो सकती है। प्रपञ्च के बाध में बाध की आशङ्का होने पर प्रपञ्च की अबाध्यता बनी रहेगी, क्योंकि अबाधित बाध ही अबाध्यता का विरोधी होता है, बाधित बाध नहीं। इसी प्रकार भावी बाध में भी बाध की आशङ्का हो सकती है, तब तो अद्वैत-वाद में स्वक्रिया-व्याघात होता है, क्योंकि जिस शङ्का के आधार पर 'घटः सन्'—इत्यादि प्रत्यक्ष की बाधकता समाप्त की जाती है, उसी शङ्का के द्वारा भावी बाध की बाधकता भी समाप्त हो रही है। इस प्रकार कोई शङ्का भी कैसे सिद्ध होगी ? क्योंकि शङ्का को सिद्ध करने वाले उसके प्रत्यक्षादि में भी शङ्का हो सकती है। शङ्का की यह बाढ़ पूरे विश्व को आप्लावित और विप्लावित कर सकती है।

अद्वैतवादी—शङ्का से आप इतना भय मत मानिए, क्योंकि निश्चित वस्तु मात्र में शङ्का होती है—ऐसा हम नहीं कहते, अपि तु विरुद्धार्थ-साधक समान बल वाले प्रमाणान्तर के उपस्थित होने पर ही निश्चित घटादि-सत्त्व में शङ्का होती है—यह हम कहते हैं। अतः वह भी उपालम्भ हम पर लागू नहीं होता, जो कि सर्वत्र विरोधाशङ्की बौद्ध के प्रति भट्ट-वार्तिक में कहा गया है—

न्यायामृतम्

दुष्टज्ञानगृहीतार्थप्रतिषेधोऽपि युज्यते ।
गृहीतमात्रबाधे तु स्वपक्षोऽपि न सिध्यति ॥ इति ।

न च धीमात्रे न बाधशंका, किं तु साक्षात्कार इति युक्तम्, विशेषहेत्वभावात् वृत्तिरूपाद्वैतसाक्षात्कारे तत्प्रसंगाच्च । नापि शब्दाजन्यसाक्षात्कारे तच्छंका, मुक्तस्वरूपानन्दसाक्षात्कारे तत्प्रसंगात् । वेदान्तजन्यधीप्रामाण्यग्राहि साक्षिप्रत्यक्षमप्यतत्त्वावेदकमेव तत्त्वावेदकत्वेन गृह्णातीति शंकया तत्त्वज्ञानाय वेदान्तश्रवणादिस्वक्रियाविरोधाच्च । शंकाग्राहि साक्षिप्रत्यक्षमपि अशंकामेव शंकात्वेन गृह्णातीति शंकया स्वव्याघाताच्च ।

अद्वैतसिद्धिः

इति, तदपि न विरुध्यते; गृहीतमात्रबाधस्य तच्छङ्कायाश्चानुक्तेः । ननु—सत्त्वादिप्रत्यक्षे क्लृप्तदूरादिदोषाभावनिश्चये कथं शङ्कोदयः, न च—क्लृप्तानामभावनिश्चयेऽप्यक्लृप्तस्य शङ्का स्यात्; शब्दे क्लृप्तवक्तृनिबन्धनदोषस्य नित्यत्वेन वेदे अभावेऽपि दोषान्तरशङ्कायाः सुवचत्वात् । न च—स्वाप्नप्रत्यक्षे तदा दूराद्यभावनिश्चयेऽप्यप्रामाण्यदर्शनेन तद्वदत्रापि शङ्केति—वाच्यम्; शून्यमेव तत्त्वमिति स्वाप्नवेदेऽपि तदा भ्रान्त्यादिदोषाभावनिश्चयेऽप्यप्रामाण्यदर्शनस्य वेदेऽपि समानत्वात्; स्वप्नवैषम्यानुभवस्तूभयत्रापि समान—इति चेत्, न; सत्त्वप्रत्यक्षाद्वैतागमयोः क्लृप्तदोषाभावनिश्चयस्य समानत्वेन प्रामाण्यशङ्कायामप्रतिबन्धकत्वात् । न हि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दुष्टज्ञानगृहीतार्थप्रतिषेधो हि युज्यते ।
गृहीतमात्रबाधे तु स्वपक्षोऽपि न सिध्यति ॥ (श्लो० वा० पृ० २२५)

अर्थात् 'दुष्ट कारण-जन्य ज्ञान के द्वारा गृहीत वस्तु का बाध उचित है, शून्यवादी गृहीत वस्तु मात्र का यदि बाध करता है तब उसका अपना पक्ष (शून्यवाद) भी सिद्ध नहीं होगा ।' यह दोष हम पर इसलिए लागू नहीं होता कि हम गृहीत मात्र में बाध की शङ्का नहीं करते ।

द्वैतवादी—घटादि प्रपञ्चगत सत्त्व के प्रत्यक्ष में दूरत्वादि नियत दोषों के अभाव का निश्चय होने पर बाधितत्व वा भ्रमरूपता की शङ्का ही कैसे होगी ? प्रत्यक्ष के निश्चित दूरत्वादि दोषों के अभाव का निश्चय होने पर भी यदि अनिश्चित दोषों की शङ्का सम्भावित हो, तब अपौरुषेय वेद में पुरुष-प्रयुक्त दोषों के अभाव का निश्चय होने पर भी अनिश्चित दोषों की आशङ्का क्यों न हो सकेगी ? स्वाप्न प्रत्यक्ष में दूरत्वादि दोषों के अभाव का निश्चय होने पर भी अप्रामाण्य-शङ्का होती देखकर यदि जाग्रत् प्रत्यक्ष में भी शङ्का का प्रसङ्ग उपस्थित किया जाय, तब स्वाप्न अद्वैतागम में भ्रान्त्यादि-दोषों के अभाव का निश्चय होने पर भी शून्य तत्त्व के प्रतिपादकत्व की शङ्का के समान जाग्रत्कालीन अद्वैतागम में भी शङ्का का समान प्रसङ्ग-प्रस्तुत किया जा सकता है । जाग्रत्कालीन अद्वैतागम में यदि स्वाप्न वेद का वैलक्षण्य दिखाकर शङ्कापत्ति का प्रतीकार किया जाय, तब जाग्रत् प्रत्यक्ष के प्रसङ्ग में भी वही किया जा सकता है ।

अद्वैतवादी—जाग्रत्कालीन घटादिगत सत्त्व-प्रत्यक्ष और अद्वैतागम—दोनों में निश्चित दोषाभाव के निश्चय की समानता दिखाकर भी प्रामाण्य-शङ्का की प्रगति नहीं

न्यायामृतम्

नापि शब्दान्यजन्यसाक्षात्कारे तच्छंका, दशमस्त्वमसीति शब्दाभासजन्यसाक्षात्कारेऽपि बाधदर्शनेन विशेषहेत्वभावात्। विश्वान्यप्रत्यक्ष एव तच्छंकेति सुवचत्वाच्च। अद्वैतश्रुत्यनुमानादिग्राहि प्रत्यक्षमपि तात्त्विकीं व्यावहारिकीं वा अनेकमेव सद्वितीयमिति श्रुतिमेव व्यावहारिकेण प्रातिभासिकेन वा एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति श्रुतित्वेन गृह्णातीत्यादिशंकया मिथ्यात्वादिश्रुत्यादेरेवासिद्ध्यापत्तेश्च। शून्याद्वैतं तत्त्वमिति सद्वैतं तत्त्वमिति च श्रुतेरभावग्राहिप्रत्यक्षमपि तात्त्विक्यां व्यावहारिक्यां वा तस्यां श्रुतौ सत्यामेव व्यावहारिकं प्रातिभासिकं वा तदभावं गृह्णातीति शंकया शून्याद्वैतादिसिद्ध्या(पाताच्च)पत्तेश्च। न चात्माद्वैतश्रुतिविरोधादुक्तशंकानुदयः, तस्या एव संदिह्यमानत्वात्। न च तत्त्वतो द्वैतश्रुत्या व्यवहारदशायामद्वैतश्रुतित्वेन गृहीतया मिथ्यात्वसिद्धिः। वह्नित्वेन ज्ञाताद् गुंजापुंजाद् दाहापत्तेः। भेदश्रुतित्वेन पूर्वपक्षिणा ज्ञातेनाद्वैतवाक्येन द्वैतसिद्ध्यापत्तेश्च। न चाद्वैतश्रुतितत्प्रामाण्यादेरप्यन्यत्राद्दष्टस्तात्त्विकसत्त्वविरोधी तत्त्वावेदकेनैव बाधः शंक्यः न तु स्वप्नादौ दृष्टः व्यावहारिकसत्त्वविरोधी अतत्त्वावेदकेन बाध इति राजाज्ञास्ति। अप्रातिभासिकत्वधीस्तु तात्त्विकत्वधीरिव युक्ता।

न चैवं ब्रह्मतत्त्वज्ञानात्तन्निवृत्तिश्रुतिविरोधः, अत्राप्यनिवृत्तिश्रुतिरेव निवृत्तिश्रुतितया गृहीतेति शंकोदयात्। किं चापरीक्षिते रूप्यादिप्रत्यक्षे दोषबाधयोर्दर्शनेन परीक्षिते जगत्प्रत्यक्षेऽपि तदाशंकायां लिंगशब्दाभासयोस्तद्दर्शनेनाद्वैतलिंगशब्दयोरपि तच्छंका। बाधिते अक्षलिंगाद्याभासेऽपि भ्रमबाधितप्रमादृष्टांतेनाबाधशंकापि स्यादितिप्रमाणतदाभासव्यवस्था न स्यात्। तदुक्तम्—निर्दोषानुमायास्सदोषत्वं सदोषानुमाया निर्दोषत्वमित्यव्यवस्थे"ति। श्रुतिर्नित्यत्वान्निर्दोषेति चेन्न, त्वन्मते श्रुतिनित्यताया आकल्पं स्थितिमात्ररूपत्वेन आकाशादिवत्प्रतिकल्पं तस्या उत्पत्तेः। तस्याः प्रमाकरणत्वेऽपि मम द्वैत इव ब्रह्ममीमांसायां प्रत्यधिकरणं पूर्वपक्ष्यभिमतार्थ इव च तवाद्वैते तात्पर्यधीः भ्रम इति शंकया तज्जन्याद्वैतधियः प्रमात्वासिद्धेश्च। उपक्रमोपसंहारतदैकरूप्यग्राहिप्रत्यक्षेऽप्युक्तन्यायेन शंकोदयेन तदैकरूप्यासिद्धेश्च। किं च प्रत्यक्षे क्लृप्तदोषाणामभावोऽत्र विनिश्चितः। अन्यस्य कल्पना नित्ये वेदेऽपि न निवार्यते। स्वाप्नप्रत्यक्षेऽपि तदा दूराद्यभावनिश्चयोऽस्तीति चेन्न, स्वाप्ने शून्यमेव तत्त्वमिति वेदेऽपि तदा भ्रान्त्याद्यभावनिश्चयस्य सत्त्वात्। स्वप्नवैषम्यानुभवस्तूभयत्र समः। किं च न तावत्साक्षिणि बाधशंका, तस्य नित्यानुभवरूपतया वेद इव तात्पर्यभ्रांतेरप्ययोगेन

अद्वैतसिद्धिः

सत्प्रतिपक्षे उभयत्र दोषाभावनिश्चयः किमत्र तत्त्वमिति जिज्ञासां प्रतिबध्नाति; विरुद्धविशेषादर्शनकालिकस्यैव विशेषदर्शनस्य शङ्काप्रतिबन्धकत्वात्; अवच्छेदकवृत्त्यनित्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

रोकी जा सकती, क्योंकि सत्प्रतिपक्ष-स्थल पर दोनों पक्षों में दोषाभाव के निश्चय से 'किमत्र तत्त्वम् ?' इस प्रकार की शङ्का अवरुद्ध नहीं हुआ करती। आशय यह है कि दो विरुद्ध पक्षों की एक कोटि में विशेषादर्शन और दूसरी कोटि में विशेष-दर्शन हो, तभी शङ्का का प्रतिबन्ध किया जा सकता है, दोनों कोटियों में विशेषादर्शन रहने पर शङ्का अवश्य होगी। अतः बाध-शङ्का का अवरोध न तो लौकिक सत्त्व-प्रत्यक्ष में किया जा सकता है और न साक्षि प्रत्यक्ष से, क्योंकि साक्षी की अवच्छेदिका वृत्ति के

न्यायामृतम्

वेदादप्यनाशंकितदोषत्वात् । प्रमाणाजन्यत्वमात्रेण तदप्रामाण्ये, गुणाजन्यत्वमात्रेण वेदस्याप्यप्रामाण्यापातात् । नापि बाह्यप्रत्यक्षे, तत्रापि निःशंकं साक्षिग्राह्यसुखादि-पर्यन्तपरीक्षया तन्निरासात् । उक्तं हि—"न परीक्षानवस्था स्यात्साक्षिसिद्धे त्वसंशया-दि"ति । "न हि बाधः क्वचिद् दृष्टो दुःखाद्यनुभवस्य तु" इति च । ननु स्वाप्नजल-प्रत्यक्षेऽपि स्वाप्नावगाहनपानतज्जन्यसुखपर्यन्ता परीक्षास्तीति चेन्न, स्वाप्नस्य शून्यमेव तत्त्वमिति वेदस्याप्यपौरुषेय(त्वादिज्ञा)त्वज्ञानषड्विधतात्पर्यलिंगज्ञानानुग्राहकतर्कानुसं-धानब्रह्माद्वैतश्रुतिप्रतियोगिकप्राबल्यनिर्णयस्वाप्नशून्यसाक्षात्कारतज्जन्यशून्यभावापत्ति-रूपमोक्षपर्यन्ता परीक्षास्तीति फलपर्यन्ताद्वैतश्रुतावप्यनाश्वासापातात् । स्वाप्नवैष-म्यानुभवेनाश्वासस्तूभयत्र सम इत्युक्तम् । अन्यथा परस्यापि प्रातिभासिकवैलक्षण्यं न सिध्येत् । एवं च—

अद्वैतसिद्धिः

त्वेन च साक्षिप्रत्यक्षस्य दोषजन्यत्वोक्तेः । अत एव यदुक्तं तार्किकैः—'तदेव ह्याशङ्क्यते यस्मिन्नाशङ्क्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा न भवन्तीति । उक्तं च भट्टवार्तिके बौद्धं प्रति—'इह जन्मनि केषांचिन्न तावदुपपद्यते । योग्यवस्थागतानां तु न विद्मः किं भविष्यति ॥' इति । तथा च प्रामाण्यस्योत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वादिह चोत्पत्तिस्वत-स्त्वापवादस्य दोषस्य ज्ञप्तिस्वतस्त्वापवादस्य बाधस्य चादर्शनात्; निर्मूलशङ्कायाश्च स्वक्रियाविरोधेनानुत्थानाभ्युपगमात् सुस्थं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमिति—तदपि निरस्तम्; आगमादिप्रमाणमूलकशङ्काया एव स्वीकारात् । रूप्यादिनिषेधस्य तु 'नेदं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दोष-जनित होने के कारण साक्षी भी दोष-जन्य हो जाता है। सुषुप्ति में सुखाकार अविद्या-वृत्ति मानी जाती है।

नैयायिकों ने जो कहा है—"तदेव हि आशङ्कयते, यस्मिन् आशङ्कयमाने स्वक्रिया-व्याघातादयो दोषा न भवन्ति" (न्या० कु० ३।७)। अर्थात् आशङ्का तभी तक उठाई जा सकती है, जब तक स्वक्रिया-व्याघात न हो। श्री कुमारिल भट्ट ने भी सर्वार्थबाध-वादी बौद्धों को सामने रख कर कहा है—

> इह जन्मनि केषाञ्चिन्न तावदुपपद्यते ।
> योग्यवस्थागतानां तु न विद्मः किं भविष्यति ।। (श्लो० वा० पृ० २३९)

अर्थात् इस जन्म में तो किसी को सर्व-बाध होता नहीं, योग-सिद्धि प्राप्त कर लेने पर न जाने क्या हो जायगा ? आशय यह है कि सर्व-बाध सम्भव नहीं। ज्ञानगत प्रमात्व स्वतः (ज्ञान-जनक सामग्री से) ही उत्पन्न होता है और स्वतः (ज्ञान-ग्राहक सामग्री से) ही गृहीत होता है। 'घटः सन्'—इत्यादि प्रत्यक्ष में स्वतः प्राप्त प्रमात्व का अपवादरूप दोष तथा स्वतः गृहीत प्रमात्व का अपवादक बाध उपलब्ध नहीं होता एवं निराधार शङ्का का स्वक्रिया-व्याघात के कारण उत्थान ही नहीं होता, फलतः प्रत्यक्षगत प्रामाण्य सुव्यवस्थित हो जाता है।

वह नैयायिकों और भाट्ट वार्तिक के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त भी इस लिए निरस्त हो जाता है कि निराधार शङ्का का उत्थान अवश्य नहीं होता, किन्तु प्रपञ्च-मिथ्यात्व-प्रतिपादक आगम के आधार पर सत्त्वावगाही प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य की आशङ्का हो सकती है। 'नेदं रजतम्'—इस प्रकार के शुक्ति-रजत-बाधक ज्ञान में अप्रामाण्य-शङ्का

न्यायामृतम्

स्वाप्नाद्विशेषस्यासिद्धौ प्रपंचस्याद्वयश्रुतिः ।
स्यात्फलेन सह स्वाप्नी सिद्धौ शंकाक्षजे कुतः ॥
न हि प्रत्यक्षशब्दत्वकृतं वैषम्यमीक्ष(क्ष्य)ते ।
बाधाबाधकृतस्त्वेव विशेषः सम्प्रदृश्यते ॥

तस्मात् त्वयाप्यौत्सर्गिकस्य प्रामाण्यस्य बलवद्बाधकदर्शनैकापोद्यत्वेन सप्तमरसशंका-तुल्येन शङ्कामात्रेणानपवादात् स्वव्याघातादिना शङ्कानुदयाच्च श्रुतेः प्रामाण्यनिश्चय इति वाच्यम् । उक्तं हि खण्डने—

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि ।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम् ॥ इति ।

(प)तत्प्रत्यक्षेऽपि तुल्यम् । उक्तं हि सुरेश्वरेणापि—

अद्वैतसिद्धिः

रजत'मित्यादेरद्वैतश्रुत्यनुगुणत्वेन नाप्रामाण्यशङ्कास्कन्दनम् । अतो न वृद्धिमिच्छतो मूलहान्यापत्तिः । नापि 'सन्घट' इत्यादे 'नेदं रजत'मित्यनेन समानयोगक्षेमता; अद्वैतश्रुतिविरोधाविरोधाभ्यां विशेषात् । अत एव—सौषुप्तिकानन्दानुभवस्याप्य-प्रामाण्ये कथमात्मन आनन्दरूपता तात्त्विकी, आनन्दश्रुतेरनुभूतातात्त्विकानन्दानुवादक-त्वोपपत्तेरिति—अपास्तम् ; आनन्दस्य ब्रह्मरूपत्वेनाद्वैतश्रुतिविरोधाभावेन तदप्रामा-ण्यप्रयोजकाभावात् । अत एव नानन्दश्रुतेरप्रामाण्यम् । तदुक्तं खण्डने—

'अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि ।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलां ॥' इति ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सम्भव नहीं, क्योंकि वह बाध अद्वैत श्रुति के अनुगुण है, विरुद्ध नहीं, अतः न्यायामृतकार ने जो (पृ.१८४ पर) दोष दिया है—"वृद्धिमिच्छतो मूलहान्यापत्तेः ।" वह दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि समस्त प्रपञ्चगत मिथ्यात्व के लोभ में शुक्ति-रजतगत निश्चित मिथ्यात्व हाथ से नहीं जाता । 'सन् घट':—इस प्रत्यक्ष में 'नेदं रजतम्'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष की समानता भी सम्भव नहीं, क्योंकि घटादि-सत्त्वावगाही प्रत्यक्ष अद्वैत-श्रुति से विरुद्ध तथा रजत-निषेध-प्रत्यक्ष उस के अनुरूप है । पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि सुषुप्ति-कालीन आनन्दानुभव यदि अप्रामाण्य-शङ्का के कारण प्रमाण नहीं होता, तब आत्मा में आनन्दरूपता सिद्ध नहीं होती और यदि वह आनन्दानुभव प्रमाण है, तब अद्वैतानन्द-श्रुति में अनुवादकता आ जाती है । वह कथन भी खण्डित इसी लिए हो जाता है कि आनन्द ब्रह्म-स्वरूप है, अतः सौषुप्तिक आनन्दानुभव अद्वैत-श्रुति से विरुद्ध न होने के कारण अप्रामाण्य की आशङ्का से कलङ्कित नहीं होता । अतः एव आनन्द-श्रुति में अप्रा-माण्य भी नहीं आता, खण्डनकार ने कहा है—

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि ।
अबाधात् तु प्रमामत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलाम् ॥ (खं० खा० पृ० १०४)

अर्थात् खपुष्पादि अत्यन्त असत् पदार्थ का भी ज्ञान शब्द के द्वारा होता है, किन्तु 'आदित्यो यूप':—इत्यादि शब्दों का वाच्यार्थ जहाँ बाधित हो जाता है, वहाँ शब्द का स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं माना जाता और 'आनन्दो ब्रह्म' (तै० ३।२।६) यह श्रुति अबाधि-तार्थ की बोधिका होने के कारण अपने स्वतःप्रामाण्य-पद पर अचल रहती है । सुरेश्व-रवार्तिक में भी कहा है—

न्यायामृतम्

अतोऽवबोधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात् ।
अबाधाच्च प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छ्रुतेः ।" इति ।

तस्मात्—अहेतुकार्यशंकेव स्वक्रियादिविरोधतः ।
भाविबाधकशंका न युक्ताध्यक्षे श्रुताविव ॥

उक्तं ह्युदयनेन—"तदेव ह्याशंक्येत यस्मिन्नाशंक्यमाने स्वक्रियाव्याघातो न भवतीति' उक्तं च वार्तिके बौद्धं प्रति—

इह जन्मनि केषांचिन्न तावदुपलभ्यते ।
योग्यवस्थागतानां तु न विद्मः किं भविष्यति ।। (श्लो. वा. पृ. २३९) इति ।

न हि सम्भवति शब्दानुमानाभासयोः रूप्यादिधीप्रामाण्यग्राहिप्रत्यक्षस्य च बाधं पदार्थत्वस्य च मिथ्यात्वव्यभिचारं स्वैरिण्याश्चानियमं पश्यन्नपि परीक्षितत्वाद्वेदांत-तदनुकूलानुमानयोः वेदान्तधीप्रामाण्यग्राहिप्रत्यक्षस्य चाबाधं दृश्यत्वस्य च मिथ्यात्वा-व्यभिचारं स्वमातुश्च नियमं निश्चिनोति । जगत्प्रत्यक्षस्य तु परीक्षितस्याप्यपरीक्षित-रूप्यादिप्रत्यक्षदृष्टान्तमात्रेणाबाधं न निश्चिनोतीति । परीक्षितप्रत्यक्षेऽप्यनाश्वासे हि नैकापि व्यवस्था सिध्येत्, तदवसानत्वात्सर्वस्य । न हि श्रुतेऽनुमिते वा दृष्ट इवा-श्वासः । किं चैवं न हिंस्यादित्यस्याग्नीषोमीये व्यभिचारदर्शनेनान्यत्रापि तदाशंक्ये-तेत्युत्सर्गापवादन्यायो भज्येत । उक्तं हि—

उत्सर्गतोऽपि यत्प्राप्तमपवादविवर्जितम् ।
व्यभिचार्यप्रवादेन मानमेव भविष्यति ॥ इति ।

एवं च—बाधाभावोऽत्र निर्णीतः शशशृंगाद्यभाववत् ।
अन्यथा शशशृंगादिरपि शंक्येत बाधवत् ॥

तस्मात्प्रामाण्यस्योत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वादिह चोत्पत्तिस्वतस्त्वापवादस्य दोषस्य ज्ञप्तिस्वतस्त्वापवादस्य बाधकस्य चादर्शनात् निर्मूलशाङ्कायाश्च स्वक्रियाविरोधादिना-नुत्थानात्सुस्थं प्रत्यक्षप्रामाण्यम् ।

अद्वैतसिद्धिः

उक्तं च सुरेश्वरवार्तिके—

'अतोऽवबोधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात् ।
अबाधाच्च प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छ्रुतेः ॥' इति ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतोऽवबोधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात् ।
अबाधाच्च प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छ्रुतेः ।। (बृह० वा० पृ० २८२)

जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण अज्ञात-ज्ञापक है, दुष्ट कारण से जनित नही तथा अबाधित है, अतः वस्तु की सिद्धि में प्रमाण माना जाता है, वैसे ही अद्वैत-श्रुति भी अज्ञान, संशय और विपर्यवरूप त्रिविध अप्रामाण्य से रहित होने के कारण अद्वैतार्थ में परमार्थतः प्रमाण मानी जाती है । इस वार्तिक में व्यावहारिक प्रामाण्य को लेकर प्रत्यक्ष को दृष्टान्त बनाया गया है । प्रत्यक्षादि में तात्त्विक प्रामाण्य न होने पर भी व्यावहारिक प्रामाण्य माना जाता है, अतः अद्वैत-बाद में स्वक्रिया-व्याघात नहीं, अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रामाण्य का निराकरण करते हुए भी उसे प्रमाण के रूप में उदाहृत करना विरुद्ध नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष को व्यवहारतः प्रमाण माना ही जाता है । अत एव मनु-वचन से भी विरोध

न्यायामृतम्

किं च नेदं रूप्यमिति प्रत्यक्षप्रामाण्यमावश्यकम् , अन्यथा इदं रूप्यमित्यस्याप्रामाण्यं न स्यादिति वृद्धिमिच्छतो मूलहान्यापत्तेः । तथा च तत्तुल्ययोगक्षेमं सन्घट इत्यादि-प्रत्यक्षं कथं न प्रमाणम् ? किं च सौषुप्तिकानन्दानुभवस्याप्रामाण्ये कथमात्मन आनन्द-रूपता तात्त्विकी, आनन्दश्रुतेरनुभूतातात्त्विकानन्दानुवादित्वोपपत्तेः । किं च "स्मृतिः प्रत्यक्ष" मित्यादिश्रुत्या, "प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमा" इति मनुस्मृत्या च सिद्धं तत्प्रामाण्यम् । न च सकृत्प्रयुक्तस्य प्रमाणशब्दस्य श्रुतौ तत्त्वावेदकत्वमर्थः, प्रत्यक्षेऽतत्त्वावेदकत्वमिति युक्तम् । इति प्रत्यक्षस्य भाविबाधकशङ्काभङ्गः ।

अद्वैतसिद्धिः

अत्र चाक्षादिवदिति निदर्शनं व्यावहारिकप्रामाण्यमात्रेणेति द्रष्टव्यम् । एवं च तात्त्विक-प्रामाण्याभावेऽपि प्रत्यक्षादीनां व्यावहारिकप्रामाण्याभ्युपगमात् न स्वक्रियाव्याघातः ।

न वा 'प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमाः ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥'

इत्यादि स्मृतिविरोधः । तस्मात्सिद्धं बाधनिश्चयेन तच्छङ्कया वा प्रत्यक्षादेरद्वैतागमा-नुमानाद्यविरोधित्वम् ॥

इति भाविबाधोपपत्त्या प्रत्यक्षबाधोद्धारः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं होता—

प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ।। (मनु० १२।१०५)

अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान के व्यावहारिक प्रामाण्य को दृष्टि में रख कर ही मनु ने धर्म-शुद्धि के लिए प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्र—इन तीन प्रमाणों की आवश्यकता बताई है । अतः प्रपञ्च-सत्त्वावगाही प्रत्यक्ष निश्चित या अभिशङ्कित बाध से बाधित होने के कारण प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधक अनुमान और आगम का विरोधी नहीं हो सकता—यह सिद्ध हो गया ।

: २६ :

प्रत्यक्षस्य पारमार्थिकसत्त्वग्राहित्वम्

न्यायामृतम्

नापि प्रत्यक्षं कालत्रयाबाध्यत्वग्रहाक्षममिति द्वितीयः, तद्धि न कालत्रयेऽपि सत्त्वम्, मन्मतेऽप्यनित्यप्रपंचे तदभावात्। किं तु कालत्रयवृत्तियदसत्त्वं तदभावः स च कदाचित्सत्त्वे गृहीतेऽपि गृहीत एवेति प्रतिपन्नोपाधौ सत्त्वग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदुपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वाभावसिद्धिः।

स्वकाले ह्यस्तितां गृह्णन् साक्षात्कारस्त्रिकालगम्। प्रतिषेधं निरुंधानो गृह्णात्येवात्यबाध्यताम्॥

वेदेऽपि हि विषयस्याबाध्यत्वे ज्ञानप्रामाण्यमेव तंत्रं न तु शब्दत्वं वा वर्तमानकालाद्यनवच्छेदेन स्वविषयसत्त्वग्राहित्वं वा सर्वकालादिसम्बन्धित्वेन स्वविषयसत्त्वग्राहित्वं वा तन्त्रम्, उक्तप्रकारत्रययुक्तानाप्तवाक्यविषयस्यात्यन्ताबाध्यत्वापातात्। तच्च तत्त्वावेदनरूप प्रामाण्यं श्रौतज्ञानस्येवाक्षजज्ञानस्याऽपि ज्ञानग्राहिणा साक्षिणा गृह्यते, प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वात्। न च रूप्यादिज्ञानेष्विव बाधो वा दोषो वा निश्चितः, येन तदपोद्येत। तदुक्तम्—

यदि स्वतस्त्वं प्रामाण्ये विश्वसत्ता कथं न ते। प्रामाण्यस्य च मर्यादा कालतो व्याहता भवेत्॥

इयांस्तु भेदः—"तत्सत्यम्"—इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मणो वर्तमा(नकालाद्य)नादिकालाद्यनवच्छेदेन सत्ता गृहीतेति तत्र सा तदनवच्छिन्ना, प्रत्यक्षेण तु घटादेस्तदवच्छिन्ना सा गृहीतेति तत्र सा तदवच्छिन्नेति। यद्देशकालप्रकारा(द्य)वच्छेदेन तु यस्य येन सत्ता गृहीता तदवच्छेदेन तस्याबाध्यत्वं प्रामाण्यप्रयुक्तम् उभयसाधारणमिति प्रमाणेन प्रत्यक्षेण नित्यत्वाद्यसिद्धावपि स्वोपाधौ त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वरूपमात्यन्तिकाबाध्यत्वं सिध्यत्येव। कालान्तरादिस्थमपि हि बाधकं किं यत्कालाद्यवच्छेदेनानेन स्वार्थो गृहीतस्तदवच्छेदेनैव तन्निषेधति? अन्यावच्छेदेन वा? आद्ये कथमस्य प्रामाण्यम्? अन्त्ये त्वनित्यत्वादिकमेव स्यान्न तु मिथ्यात्वम्। किं चानागतकालग्राही साक्षी स्वविषयस्य गगनादेः साक्षात्स्वाविषयस्य घटादेरपि निर्दोषतद्धीप्रामाण्यग्रहणद्वारा भाविबाधाभावं गृह्णात्येव। न हि विषयाबाधमनन्तर्भाव्य प्रामाण्यग्रहणं नाम। त्यक्तव्यं च परेणैव प्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रग्राहित्वम्, अन्यथा रूप्यादेः प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं प्रत्यक्षं न स्यात्। किं च—

प्रातिभासिकवैधर्म्यं तव येन प्रसिध्यति। घटादेः परमार्थत्वं मम तेनैव सेत्स्यति॥

अस्ति हि त्वन्मतेऽपि घटादेर्व्यावहारिकसत्त्वाय तज्ज्ञाने रूप्यादिधीतो विशेषः। तथा च तेनैव विशेषेण तात्त्विकत्वसिद्धिः। किं च

यद्यक्षसिद्धं विश्वस्य सत्यत्वं नैव तात्त्विकम्।
तर्ह्यक्षसिद्धं रूप्यादिमिथ्यात्वं तात्त्विकं कथम्॥

न हि घटस्सन् रूप्यं मिथ्येति प्रत्यक्षयोर्मात्रयापि विशेषोनुभूयते। रूप्यमिथ्यात्वस्य कालान्तरबाध्यत्वे च रूप्यं तात्त्विकं स्यात्। किं च—

पारमार्थिकसत्यत्वं न चेत्प्रत्यक्षगोचरः। तन्निषेधश्रुतीनां स्यादप्रसक्तनिषेधता॥

किं च—अतत्त्वं तात्त्विकत्वेन प्रपंचं नावभासयेत्।
अक्षं यदि तदा तस्याऽतत्त्वावेदकता कथम्॥

न हि व्यावहारिकं तथैव गृह्णद् अतत्त्वावेदकं भवति, किं तु पारमार्थिकत्वेन। अनुभूयते च जगति लौकिकानां पारमार्थिकत्वधीः। तस्मात्प्रत्यक्षस्य प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वाभावग्राहित्वात्तद्बाधिता दृश्यत्वादयः। इति प्रत्यक्षस्य पारमार्थिकसत्त्वग्राहित्वम्। [अस्य खण्डलकस्योद्धारः ११३ तमे पृष्ठे द्रष्टव्यः]

: २७ :

मिथ्यात्वानुमानस्यानुमानबाधविचारः

न्यायामृतम्

अनुमानबाधिताश्च दृश्यत्वादयः। तथा हि—ब्रह्मप्रमान्येन वा वेदान्ततात्पर्यप्रमाजन्यज्ञानान्येन वा मोक्षहेतुज्ञानान्येन वा अबाध्यत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यद्विमतं वा, सद्वा पारमा(परमार्थ)र्थिकसद्वा, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वाद्, अनिषेध्यत्वेन प्रमां प्रतिसाक्षाद्विषयत्वाद्, अनिषेध्यत्वेने-

अद्वैतसिद्धिः

स्यादेतत्—अध्यक्षस्य भिन्नविषयत्वादिना बाधाक्षमत्वेऽपि अनुमानमेव बाधकं स्यात्। तथा हि—ब्रह्मप्रामान्येन वेदान्ततात्पर्यप्रमितिजन्यज्ञानान्येन वा मोक्षहेतुज्ञानान्येन वा अबाध्यत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यत्, विमतं वा, सत्, परमार्थसद्वा, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वाद्, ब्रह्मवद्, व्यतिरेकेण शशशृङ्गवद्वेति—चेन्न; त्वन्मते प्रातिभासिकस्याप्यसत्त्वेन व्यर्थविशेषणतया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—जैसे पर्वतविषयक प्रत्यक्ष से वह्निविषयक अनुमिति का बाध नहीं होता, क्योंकि दोनों भिन्नविषयक हैं और समानविषयक प्रमाणों का ही बाध्य-बाधक भाव होता है, वैसे ही प्रपञ्चगत व्यावहारिक सत्त्वावगाही प्रत्यक्ष को पारमार्थिक सत्त्व-निषेधक अनुमान और आगम का बाधक नहीं कह सकते, क्योंकि समानविषयक नहीं। तथापि प्रपञ्च-मिथ्यात्वानुमान के विरोध में सक्षम अनुमानों का प्रदर्शन किया जा सकता है—जो ब्रह्म-प्रमा या वेदान्त-तात्पर्य प्रमिति-जन्य प्रमा अथवा मोक्ष-साधन-भूत प्रमा से भिन्न ज्ञान के द्वारा बाधित नहीं—ऐसा असत्त्वानधिकरण तथा ब्रह्म-भिन्न (व्यावहारिक) प्रपञ्च अथवा विवादास्पद प्रपञ्च, सत् या पारमार्थिक सत् होता है, क्योंकि शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक एवं खपुष्पादि असत् से विलक्षण है, जैसे—ब्रह्म। अथवा यन्नैवं तन्नैवं यथा शशशृङ्गम्—इस प्रकार का व्यतिरेकी उदाहरण दिया जा सकता है [यहाँ पर न्यायामृतकार ने तीन प्रकार से पक्ष का निर्देश किया है—(१) ब्रह्मप्रमान्येनाबाध्यत्वे सत्यसत्त्वानाधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यत्। (२) वेदान्ततात्पर्यप्रमाजन्यज्ञानान्येनाबाध्यत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यत्। (३) मोक्षहेतुज्ञानान्येनाबाध्यत्वे सत्यसत्त्वानाधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यत्। शुद्ध ब्रह्म वृत्ति-व्याप्य होता है—इस प्रकार विवरणकार के मत से प्रथम पक्ष-निर्देश किया गया, किन्तु भामतीकार के अनुसार अखण्डकार वृत्ति को ब्रह्म-प्रमा नहीं कह सकते, क्योंकि भामतीकार शुद्ध ब्रह्म को वृत्ति-व्याप्य नहीं मानते, अतः वेदान्ततात्पर्यप्रमा-जन्य प्रमा पद से निर्विकल्पक बोध का निर्देश किया गया है। शाब्द-बोध में तात्पर्य-ज्ञान को हेतु न मानने वाले आचार्यों के मत से 'मोक्षहेतुज्ञान' पद से निष्प्रकारक प्रमा का अभिधान किया गया है। असत् पदार्थों में व्यभिचार-निवारणार्थ असत्त्वानधिकरण तथा प्रातिभासिक में व्यभिचार-निवृत्ति के लिए प्रातिभासिकत्वानधिकरण तथा असत् में ही व्यभिचार-वारणार्थ असद्विलक्षणत्व कहा गया है।

अद्वैतवादी—आप (द्वैतवादी) के अनुमान-प्रयोग समीचीन नहीं हैं, क्योंकि आप के मत में शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक पदार्थों को भी असत् ही माना जाता है, असद्विलक्षण मात्र कह देने से प्रातिभासिक की व्यावृत्ति हो जाती है, अतः हेतु का प्रातिभासिक-

न्यायामृतम्

इवरं प्रति साक्षादपरोक्षत्वात् , सप्रकारकाबाध्यार्थक्रियाकारित्वाद् , आरोपितमिथ्यात्वकत्वात् , कल्पकरहितत्वाच्च, आत्मवत् । प्रातिभासिकस्य(रूप्यादेः)बाधकं हि ज्ञानं ब्रह्मप्रमान्यद् , वेदान्ततात्पर्यप्रमाजन्यज्ञानान्यत् , मोक्षहेतुज्ञानान्यच्चेति तस्यापक्षत्वाय पक्षे सतीत्यन्तं वैकल्पिकमाद्यं विशेषणत्रयम् । तत्रापि ब्रह्मवृत्तिव्याप्यमितिमतेनाऽऽद्यं विशेषणम् , ब्रह्म वृत्तिव्याप्यमपि नेतिमतेन तु द्वितीयतृतीये । तत्रापि शाब्दप्रमां प्रति तात्पर्यप्रमाहेतुरिति मतेन द्वितीयम् , अन्योन्याश्रयान्न हेतुरिति मतेन

अद्वैतसिद्धिः

०व्याप्यत्वासिद्धेः, अस्मन्मतमाश्रित्य हेतूकरणे च देहात्मैक्ये ब्रह्मज्ञानेतराबाध्ये व्यभिचारात् । न हि प्रातिभासिकत्वं ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वादन्यत् । त्वया हि प्रातिभासिकस्य शुक्तिरूप्यादेरपक्षत्वाय सत्यन्तमाद्यं विशेषणत्रयं विकल्पेन पक्षे प्रक्षिप्तम् । तत्र ब्रह्म वृत्तिव्याप्यमिति मतेनाद्यम् , तदनभ्युपगमे तु शाब्दप्रमां प्रति तात्पर्यप्रमा हेतुरिति मतेन द्वितीयम् , अन्योन्याश्रयत्वात् न सा हेतुरिति मतेन तृतीयम् । तथा च प्रातिभासिकस्यासत्त्वानधिकरणत्वमङ्गीकृतमेव, अन्यथा तुच्छवारकासत्त्वानधिकरणत्वविशेषणेनैव तद्व्यावृत्तावेतावत्प्रयासवैयर्थ्यापत्तेः । एवं च देहात्मैक्यस्यापि पक्षत्वे बाध एव । बाधे च सति पक्षविशेषणस्य पक्षत्वस्यासिद्ध्याश्रयासिद्धिरपि । अत एव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

त्वानधिकारण विशेषण व्यर्थ है, व्यर्थ विशेषण-घटित हेतु में व्याप्यत्वासिद्धि दोष माना जाता है। हमारे अद्वैतवाद का आश्रयण कर यदि उक्त विशेषण को सार्थक कहा जाय, तब अद्वैत-सम्मत देहात्मैक्य-भ्रम में हेतु का व्यभिचार है, क्योंकि वहाँ सत्त्व या पारमार्थिक सत्त्वरूप साध्य नहीं है और प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्व-विशिष्ट असद्विलक्षणत्वरूप हेतु रहता है। देहात्मैक्य को प्रातिभासिक नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान इतर 'नेदं रजतम्'—इत्यादि ज्ञानों से बाधित पदार्थ को ही प्रातिभासिक कहा जाता है, किन्तु देहात्मैक्य ब्रह्मज्ञानेतर ज्ञान के द्वारा बाधित नहीं, अपितु ब्रह्म-ज्ञान मात्र से ही बाधित होता है। आपने शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक पदार्थों को पक्ष से बाहर रखने के लिए विकल्परूप में 'ब्रह्मप्रमान्य, वेदान्ततात्पर्यप्रमाजन्यान्य तथा मोक्षहेतुज्ञानान्य ज्ञान के द्वारा अबाधित'—इस प्रकार पक्ष के तीन विशेषण दिये हैं। उन में ब्रह्म वृत्तिव्याप्य होता है—इस मत को लेकर प्रथम (ब्रह्म प्रमान्याबाधित) विशेषण तथा शाब्द प्रमा में तात्पर्य-प्रमा हेतु होती है—इस मत को मान कर द्वितीय (वेदान्ततात्पर्यप्रमितिजन्यज्ञानान्येन) विशेषण रखा गया है। अन्योऽन्याश्रय दोष के कारण तात्पर्य-प्रमा को शाब्द प्रमा में हेतु नहीं माना जा सकता इस मत को ध्यान में रख कर तृतीय (मोक्षहेतुज्ञानान्येन) विशेषण रखा है। इन विशेषणों के रखने का अभिप्राय स्पष्ट है कि प्रातिभासिक ज्ञान में असत्व नहीं माना गया है, अन्यथा असद्वारक असत्त्वानधिकरण विशेषण से ही उसकी व्यावृत्ति हो जाती, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्व कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस विशेषण से यही सिद्ध होता है कि अद्वैत वेदान्तमत के अनुसार ही अनुमान-प्रयोग किया गया है, इस मत में ऐसा देहात्मैक्याध्यास अभ्युगत है, जिस की निवृत्ति ब्रह्मज्ञान से ही होती है। उसका पक्ष में प्रवेश मानने पर उस में सत्त्व या पारमार्थिक सत्त्व बाधित होता है, साध्य का बाध हो जाने पर साधकबाधकमानाभावरूप पक्षता सिद्ध नहीं होती, पक्ष में पक्षत्व का न रहना, आश्रया-

न्यायामृतम्

तृतीयम् । यद्वा एतद्विशेषणस्थाने स्वबाधकाभिमताऽबाध्यदोषजन्यज्ञानाऽविषयत्वे सतीति वा स्वबाधकाभिमताबाध्यबाधाविषयत्वे सतीति वा समानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानाबाध्यत्वे सतीति वा विशेषणं देयम् । प्रातिभासिकविषयकज्ञानहेतुदोषः तद्बाधश्च न प्रातिभासिकबाधकबाध्यौ । तथा चरमसाक्षात्कारानन्तरं समानाधिकरणकर्मान्तरानुदय(वत्)इव शुक्तिसाक्षात्कारानन्तरं तदनुदयाभावात् प्रातिभासिकं समानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानबाध्यमिति तद्व्यवच्छेदः ।

अद्वैतसिद्धिः

स्वबाधकाभिमताबाध्यदोषजन्यज्ञानाविषयत्वे सतीति वा स्वबाधकाभिमताबाध्यबाधाविषयत्वे सतीति वा स्वसमानाधिकरणकर्मप्रागभावसमानकालीनज्ञानाबाध्यत्वे सतीति वा विशेषणप्रक्षेपेऽपि न निस्तारः, देहात्मैक्ये पूर्वोक्तदोषाव्यावृत्तेरेव । यत्तु—प्रथमे साध्ये व्यावहारिकसत्त्वमादाय सिद्धसाधनम् , द्वितीयसाध्ये तु वादिनः परमार्थत्वविशेषणं व्यर्थम् ; व्यावर्त्याप्रसिद्धेः—इति । तन्न, व्यावहारिकसत्त्वं सत्त्वेन व्यवहारमा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सिद्धि दोष कहलाता है । इन्हीं दोषों के कारण इन विशेषणों का प्रक्षेप करने से भी कोई लाभ नहीं होता अर्थात् स्व (प्रतिभासिक शुक्ति-रजतादि) के बाधकत्वेन अभिमत (नेदं रजतम्) ज्ञान के द्वारा अबाधित (चाकचिक्यादि) दोष-जन्य (इदं रजतम्) ज्ञान की घटादिगत अविषयता, अथवा स्व-बाधकाभिमत (नेदं रजतम्) ज्ञान के द्वारा अबाध्य (नेदं रजतम्) बाधक ज्ञान की घटादिगत अविषयता, अथवा स्व (नेदं रजतम्) के समानाधिकरण कर्म-प्रागभाव-कालीन (नेदं रजतम्) ज्ञान की घटादिगत अबाध्यता—इन विशेषणों का पक्ष में प्रक्षेप करने पर भी देहात्मैक्य-भ्रम में पूर्व प्रदर्शित व्यभिचाररूप दोष से पीछा नहीं छूटता [आशय यह है कि उक्त तीनों विशेषण भी शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक पदार्थों की व्यावृत्ति करने के लिए रखे गये है, क्योंकि (१) शुक्ति-रजतादि का बाधकत्वेन अभिमत 'नेदं रजतम्' ज्ञान है, उस ज्ञान से अबाध्य दोष चाकचिक्यादि है, उस दोष से जन्य 'इदं रजतम्' ज्ञान की विषयता ही रजत में है, अविषयता नहीं । (२) इसी प्रकार 'नेदं रजतम्'—इस बाधक से अबाधित नेदं रजतम्—यही बाधक ज्ञान है, उसकी विषयता ही शुक्ति-रजत में है । (३) एवं 'नेदं रजतम्'—इस ज्ञान के समानाधिकरण भावी अदृष्ट का जनक प्रागभाव है, उस प्रागभाव का समान कालीन वही 'नेदं रजतम्' ज्ञान है, उसकी बाध्यता ही शुक्ति-रजत में है, अबाध्यता नहीं । 'स्व' पद से प्रपञ्च-बाधक ब्रह्म-ज्ञान का ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि उसके समानाधिकरण कोई भी कर्म-प्रगभाव नहीं मिल सकता, ब्रह्म-ज्ञान के उदय होते ही सभी कर्मों का क्षय हो जाता है—"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" (मुं० २।२।८)। भावी कोई कर्म उत्पन्न ही नहीं होता, जिसका प्रागभाव ब्रह्म-ज्ञान-काल में माना जा सके । इस से भी यही सिद्ध होता है कि प्रातिभासिक पदार्थ-वादी अद्वैत वेदान्ती के मत से ही इन विशेषणों से गर्भित पक्षवाले अनुमान-प्रयोग किये गये हैं, अतः अद्वैत-सम्मत देहात्मैक्य में व्यभिचार या आंशिक बाध दोष अवश्य प्रसक्त होता है ।]

जो यह दोष दिया जाता है कि अद्वैत वेदान्त की ओर से प्रथम 'सत्' माध्व में प्रपञ्चगत व्यावहारिक सत्त्व को लेकर सिद्ध-साधनता दोष दिया जा सकता है और द्वितीय 'परमार्थसत्'—इस प्रकार के साध्य में माध्व मत से 'परमार्थ' पद की व्यर्थता का दोष

न्यायामृतम्

व्यावहारिकसत्त्वं सत्त्वेन व्यवहारमात्रमिति मतानुसारेणाद्यं साध्यम् , अर्थगतं मायिकं सत्त्वमिति मतानुसारेण द्वितीयम् । न च वादिनः पारमार्थिकत्वविशेषणं व्यर्थं व्यावर्त्याप्रसिद्धेरिति युक्तम् । सत्त्वेन धीमात्ररूपस्यापारमार्थिकसत्त्वस्य मन्मतेऽपि सत्त्वात् । अनिर्वाच्यलक्षणे सदसत्त्वानधिकरणत्वे सतीतिविशेषणव्यावर्त्यस्य सदसत्त्वस्येव परप्रसिद्धत्वमात्रेण व्यावर्त्यत्वोपपत्तेश्च । परार्थानुमाने परं प्रति सिद्धसाधनोद्धारस्यापि मत्प्रयोजनत्वाच्च । जन्यकृत्यजन्यानीत्यत्र मीमांसकं प्रति जन्यत्वस्येवेहाऽपि मां

अद्वैतसिद्धिः

त्रमिति मतेन प्रथमप्रयोगाद् , अ(र्थ)नुगतं पृथग्व्यावहारिकं सत्त्वमिति तु मते द्वितीयः प्रयोगः । न च विशेषणं व्यर्थम् , परार्थानुमाने परं प्रति सिद्धसाधनोद्धारस्य तत्प्रयोजनत्वाद् , ईश्वरानुमाने जन्यकृत्यजन्यानीत्यत्र मीमांसकं प्रति जन्यत्वस्येव विश्वपारमार्थकत्ववादिनं प्रति परमार्थत्वस्य प्रमेयत्वादिवदुपरञ्जकत्वेन विशेषणत्वोपपत्तेश्च । तस्मात् पूर्वोक्त एव दोषः । हेतौ च व्यर्थविशेषणत्वदोपः । यद्यपि मतद्वयेऽपि अप्रामाणिकस्यापि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दिया जा सकता है, क्योंकि माध्वगण ब्रह्म-प्रपञ्च-सधारण एक प्रकार की ही सत्ता मानते हैं, व्यावहारिक और पारमारिक—दो सत्ताएँ नहीं, इसलिए 'परमार्थ' पदका व्यावर्त्य पदार्थ ही माध्व मत में प्रसिद्ध नहीं ।

वह दोष संगत नहीं, क्योंकि प्रथम (सत्त्व) साध्य उस मत को लेकर प्रयुक्त हुआ है, जिस में व्यावहारिक सत्त्व पृथक् नहीं माना जाता, अपितु सत्त्वेन व्यवहारयोग्यता सामान्य का ग्रहण किया गया है, अर्थात् पारमार्थिक सत्त्व को ही सत्त्व समझा गया है, अतः अद्वैत-मतानुसार प्रपञ्च में पारमार्थिक सत्त्व न होने के कारण सिद्ध-साधनता नहीं होती । द्वितीय (परमार्थसत्त्व) साध्य का प्रयोग व्यावहारिक सत्त्व को पृथक् प्रपञ्चमात्रानुगत सत्त्व मान कर किया गया है । इस साध्य में परमार्थत्वरूप विशेषण माध्व-मत से व्यर्थ होने पर भी अद्वैत-मत से व्यर्थ नहीं, क्योंकि परार्थानुमान परमत को ध्यान में रख कर ही किया जाता है, अतः परमार्थत्व विशेषण की यही सार्थकता है कि पर (अद्वैती) वादी प्रपञ्च में व्यावहारिक सत्त्व की इष्टापत्ति के द्वारा सिद्ध-साधनता का उद्भावन नहीं कर सकता । परकीय मतानुसार सिद्ध-साधन-वारक विशेषण का उपादान श्रीगङ्गेशोपाध्याय ने ईश्वरानुमान में किया है—अदृष्टाद्वारकोपादानगोचरजन्यकृत्यजन्यानि समवेतानि जन्यानि, अदृष्टप्रागभावव्याप्यप्रागभावप्रतियोग्युपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यानि, समवेतत्वे सति प्रागभावप्रतियोगित्वात् , यदेवं तदेवं यथा घटः" (न्या० चि० पृ० १९५०) । इस अनुमान में कृतिगत जन्यत्व विशेषण की व्यर्थता का सन्देह उठाकर समाधान किया गया है—न च जन्यत्वविशेषणव्यावर्त्याप्रसिद्धिः, प्रमेयो घट इतिवदव्यवर्त्तकत्वेऽपि तदुपरक्तबुद्धेरुद्द्देश्यत्वेन तस्योपरञ्जकत्वात् (न्या० चि० पृ० १९५१) अर्थात् यह अनुमान-प्रयोग अनीश्वर वादी मीमांसकों को सामने रख कर किया गया है, मीमांसकगण कृतिमात्र को जन्य ही मानते हैं किसी कृति को नित्य नहीं, अतः उनके मत में कृति का जन्यत्व विशेषण व्यर्थ है, उसका व्यावर्त्य नित्य कृति प्रसिद्ध ही नहीं, हाँ, न्याय-मत से वह सार्थक है, क्योंकि न्याय-सिद्धान्त में नित्य और अनित्य दो प्रकार की कृति मानी जाती है—जीव की कृति (प्रयत्न) नित्य तथा ईश्वर की कृति नित्य होती है, अतः कृतिगत नित्यत्व

न्यायामृतम्

प्रति परमार्थत्वस्य प्रमेयत्वादिवदुपरञ्जकत्वेन विशेषणत्वोपपत्तेश्च । अन्यथा प्रपञ्चः परमार्थसद्विविक्त इति त्वदीयप्रयोगेऽपि परमार्थत्वविशेषणं मां प्रति व्यर्थं स्यात् । न चाऽद्यहेतौ वादिनं प्रति प्रातिभासिकत्वाप्रसिद्ध्या तदनधिकरणत्वाप्रसिद्धिः, मतद्वयेऽप्यप्रामाणिकस्यापि निषेधप्रतियोगित्वात् । आरोपितत्वेनोभयसम्मतत्वरूपस्य वा प्रतिभासमात्रशरीरत्वरूपस्य वा तस्य प्रसिद्धेश्च । अन्यथा त्वन्मतेऽपि मिथ्यात्वानु-

---

अद्वैतसिद्धिः

निषेधप्रतियोगित्वाभ्युपगमादारोपितत्वेनोभयसंमतत्वरूपस्य वा प्रतिभासमात्रशरीरत्वरूपस्य वा प्रातिभासिकत्वस्य प्रसिद्धिरस्ति, अन्यथा सिद्धान्तेऽपि मिथ्यात्वानुमाने प्रातिभासिकान्यस्यैव पक्षीकर्तव्यत्वाद्दोषसाम्यं स्यात् , तथापि हेतौ प्रातिभासिकत्व-विशेषणं व्यर्थम् , अनधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वमात्रस्यैव परमार्थसत्त्वसाधकत्वोपपत्तेः, शुद्धमेव हि ब्रह्म दृष्टान्तत्वेनाभ्युपेयम् , धर्मवतो दृष्टान्तत्वे साध्यवैकल्यापत्तेः । साध्यं तु बाधाभावरूपत्वादधिकरणस्वरूपमेव न धर्मः, धर्म्यतिरिक्ताभावानभ्यु-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की व्यावृत्ति के लिए जन्यत्व विशेषण सार्थक होता है । तथापि मीमांसक-मत में जैसे कृति का जन्यत्व विशेषण प्रमेयत्वादि के समान किसी धर्म का व्यावर्त्तक न होने पर भी उद्देश्यभूत बुद्धि का उपरञ्जक होने के कारण सार्थक माना जाता है, वैसे ही विश्व को परमार्थ सत् माननेवाले माध्व के मत में परमार्थत्व विशेषण । उसी प्रकार से स्वोपरागमात्र का बोधक होता है, जैसे 'प्रमेयो घटः'—इस वाक्य में प्रमेयत्व विशेषण सर्व-प्रमेयत्ववादी के लिए किसी धर्म का व्यावर्तक न होने पर भी उपरञ्जक होने के कारण सार्थक माना जाता है । इस लिए परमार्थ पद की व्यर्थता का दोषारोपण माध्व-मत पर नहीं किया जा सकता, अपितु पूर्वोक्त देहात्मैक्याध्यास में व्यभिचार तथा हेतु-घटक प्रातिभासिकत्व विशेषण के वैयर्थ्य का प्रदर्शन किया जा सकता है ।

यद्यपि अद्वैती और माध्व-दोनों के मतों में अप्रामाणिक पदार्थ भी निषेध का प्रतियोगी माना जाता है । अर्थात् प्रमितमात्र का ही निषेध होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, अपि तु प्रसिद्धमात्र का निषेध होता है । प्रातिभासिकत्व की प्रसिद्धि दोनों मतों में है, चाहे उसे आरोपितत्वेनोभय-सम्मत कहा जाय या प्रतिभासमात्रशरीरत्व । अन्यथा (प्रमाण-सिद्ध पदार्थ का निषेध मानने पर) अद्वैत-सम्मत प्रपञ्च-मिथ्यात्व के अनुमान में प्रातिभासिक-भिन्न प्रपञ्च को ही पक्ष बनाया जाता है, अतः वहाँ भी प्रातिभासिक का निषेध कैसे होगा ? क्योंकि शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक पदार्थ प्रमाण-सिद्ध नहीं माने जाते उनका निषेध नहीं हो सकेगा, अतः प्रसिद्धमात्र का निषेध मानना आवश्यक है । तथापि सत्यत्वानधिकरणत्वे सति असद्विलक्षणत्वात् इस हेतु में 'प्रातिभासिकत्व' अंश व्यर्थ है, अनधिकरणत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्वात्'—इतना ही हेतु प्रपञ्च की परमार्थ सत्ता सिद्ध करने में समर्थ है । निर्धर्मक ब्रह्म को उक्त अनुमान में दृष्टान्त बनाया गया है, वह धर्ममात्र का अनधिकरण है, असत्त्व का भी अनधिकरण है । सधर्मक विशिष्ट ब्रह्म को दृष्टान्त बनाने पर उसमें साध्य (परमार्थ सत्त्व) की वैकल्यापत्ति होगी । निर्धमक ब्रह्म में सत्त्वरूप साध्य इस लिए रह जाता है कि बाधाभावस्वरूप है और बाधाभाव ब्रह्म का स्वरूप है, धर्म नहीं, क्योंकि धर्मी से अतिरिक्त अभाव नहीं माना जाता—यह (गत पृ०२१ पर) कहा जा चुका है ।

न्यायामृतम्

माने प्रातिभासिकान्यस्यैव पक्षीकर्तव्यत्वाद्दोषसाम्यम्। न चाद्यहेतौ प्रातिभासिकत्व-विशेषणस्याऽसिद्धिवारकत्वं दोषः। "शरीराजन्यत्वाद्, अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वाद्, विमतं सौरभविशेषवद्धूमरहितम्, चन्दनप्रभववह्निरहितत्वाद्, विमतं निर्धूमम् आर्द्रेन्धनप्रभववह्निरहितत्वा" दित्यादावसिद्धिवारकविशेषणास्यापि स्वीकारात्। किं चानधिकरणत्वस्य दृष्टान्तेऽप्यभावेन प्रातिभासिकत्वस्य चक्षुस्तैजसत्वानुमाने रूपादीनां

अद्वैतसिद्धि

पगमस्योक्तत्वात्। तथा च चक्षुस्तैजसत्वानुमाने रूपादिषु मध्य इत्यस्यासिद्धिवारकस्यापि व्याप्तिग्रहौपयिकत्वेन व्यभिचारवारकविशेषणतुल्यतया यद्यपि सार्थकत्वम्, व्यभिचारवारकस्यापि सार्थकत्वे व्याप्तिग्रहौपयिकत्वमात्रस्य तन्त्रत्वात्, तथापि 'क्षित्यादिकं न कर्तृजन्यं शरीराजन्यत्वा'दित्यत्र शरीरस्येव व्याप्तिग्रहानुपयोगित्वेन प्रातिभासिकत्वस्य वैयर्थ्यमेव, आकाशादावजन्यत्वकर्तृजन्यत्वाभावयोरिव निर्धर्मके ब्रह्मण्यनधिकरणत्वपरमार्थसत्त्वयोर्व्याप्तिग्रहोपपत्तेः। तथा चैकामसिद्धिं परिहरतो

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यद्यपि प्रातिभासिकत्व अंश को छोड़ कर अनधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वात्'—यह हेतु पक्षरूप प्रपञ्च में स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि प्रपञ्चत्वादि धर्मों के अधिकरणरूप प्रपञ्च में अनधिकरणत्व कैसे रहेगा? इस स्वरूपासिद्धि को हटाने के लिए प्रातिभासिकत्व विशेषण सार्थक हो जाता है। असिद्धि-वारक विशेषण भी सार्थक माना जाता है। जैसे कि "चक्षुः तैजसम्, रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वाद् आलोकवत्" (लक्षणावली पृ०११) इस अनुमान में 'रूपादिषु मध्ये'—इतना अंश न देने पर स्वरूपासिद्धि हो जाती है, क्योंकि चक्षु में केवल रूप की व्यञ्जकता नहीं, अपि तु रूपत्वादि की भी व्यञ्जकता होती है। उक्त अंश के देने पर रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द—इन पाँच विशेष गुणों में से चक्षु केवल रूप का व्यञ्जक है—यह अर्थ निकलता है, इस प्रकार अवधारण के द्वारा रूपेतर समस्त पदार्थों की व्यञ्जकता का निषेध नहीं होता, अपितु केवल रूपेतर चार विशेष गुणों की व्यञ्जकता का निषेध प्राप्त होता है, जो कि संगत ही है। 'रूपादिषु मध्ये'—यह विशेषण प्रकृत व्याप्ति-निश्चय का उपयोगी भी है, अन्यथा यत्र-यत्र केवलरूपव्यञ्जकत्वम्, तत्र-तत्र तैसजत्वम्'—इस व्याप्ति का भंग आलोकरूप दृष्टान्त में ही हो जाता है, क्योंकि रूपमात्र-व्यञ्जकत्वरूप साधन का आलोक में अभाव है। इसी प्रकार व्यभिचार-वारक विशेषण भी अव्यभिचाररूप व्याप्ति के ग्रहण में उपयोगी होता है। फलतः असिद्धि-वारक 'प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्व' में प्रातिभासिकत्वादि विशेषणों की भी व्यभिचार-वारक विशेषण के समान सार्थकता होती है, क्योंकि दोनों प्रकार के विशेषणों में सार्थकता का प्रयोजक व्याप्ति-ग्रहोपयोगित्वरूप धर्म समानरूप से रहता है।

तथापि 'अनधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्व' हेतु का ब्रह्मरूप दृष्टान्त में वैकल्य नहीं, अतः प्रतिभासिकत्वरूप विशेषण व्याप्ति-ग्रह का उपयोगी न होने के कारण ही व्यर्थमात्र है, जैसे—'क्षित्यादिकं न कर्तृजन्यम्, शरीराजन्यत्वात् आकाशवत्'—इस अनुमान में 'शरीर' विशेषण व्याप्ति-ग्रह का अनुपयोगी होने के कारण व्यर्थ है, क्योंकि आकाशादि दृष्टान्त में अजन्यत्वरूप साधन और कर्तृजन्यत्वाभावरूप साध्य की व्याप्ति के समान निर्धर्मक ब्रह्मरूप दृष्टान्त में अनधिकरणत्व रूप साधन और परमार्थसत्त्वरूप साध्य

न्यायामृतम्

मध्य इत्यस्येव व्याप्तिग्रहौपयिकत्वाद् व्यभिचारवारकेऽपि तदौपयिकत्वस्यैव तन्त्रत्वान्न दोषः। यत्किञ्चिदनधिकरणत्वस्य प्रातीतिकेऽपि सत्त्वाद्व्यभिचारवारकमेवेदं विशेषणमिति केचित्। न च व्यावहारिकसत्त्वेनाप्याद्यहेतोरुपपत्त्याऽप्रयोजकता। ब्रह्मण्यसत्प्रातिभासिकव्यावृत्तिरूपहेतुं प्रति व्यावर्तकतया प्रयोजकत्वेन क्लृप्तपरमार्थसत्त्वत्यागस्य विश्वमिथ्यात्वसिद्धिं विनाऽयोगेनान्योन्याश्रयाद्, अन्यथातिप्रसंगात्। न च ब्रह्मणि ज्ञानत्वानंदत्वादिरूपब्रह्मत्वमेव तत्प्रयोजकम्, अपृथिवीव्यावृत्तिं प्रति पृथिवीत्वस्येवा-

अद्वैतसिद्धिः

द्वितीयासिद्ध्यापत्तिः। स्वरूपासिद्धिपरिहारार्थं विशेषणं प्रक्षिपतो व्याप्यत्वासिद्धिरित्यर्थः, व्याप्तावनुपयोगस्य दर्शितत्वात्। किं च व्यावहारिकसत्त्वमात्रेणैवोपपत्तेः, उक्तहेतोरप्रयोजकत्वम्, परमार्थसत्त्वे बाधानुपपत्तिलक्षणप्रतिकूलतर्कपराघाताच्च। ननु—ब्रह्मण्यसत्प्रातिभासिकव्यावृत्तिरूपं हेतुं प्रति व्यावर्तकतया प्रयोजकत्वेन परमार्थसत्त्वं क्लृप्तम्, अपृथिवीव्यावृत्तिं प्रति पृथिवीत्वस्येवासद्व्यावृत्तिं प्रति तद्विरुद्धसत्त्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की व्याप्ति गृहीत होती है। अतः व्यर्थ विशेषण से घटित होने के कारण 'प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वरूप' हेतु में व्याप्यत्वासिद्धि दोष हो जाता है। 'प्रातिभासिकत्व' विशेषण न देने पर स्वरूपासिद्धि और देने पर व्याप्यत्वासिद्धि को ध्यान में रख कर ही श्रीउदयनाचार्य ने कहा है—"एकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयासिद्ध्यापत्तिः" (आत्म० वि० पृ० ८३४) अर्थात् स्वरूपासिद्धिका परिहार करने के लिए 'प्रातिभासिकत्व' विशेषण का प्रक्षेप करने पर व्याप्यत्वासिद्धि होती है। 'प्रतिभासिकत्व' विशेषण का व्याप्ति-ग्रह में कोई उपयोग नहीं है—यह दिखाया जा चुका है [श्री गङ्गेशोपाध्याय ने भी कहा है—'व्याप्तिविरहश्च व्यर्थविशेणादौ, तदुक्तम्—एकामसिद्धिं परिहारतो द्वितीयापत्तिरिति" (असिद्धि० पृ० १८६६)। आचार्य मथुरानाथ व्यर्थ-विशेषण-घटित हेतु-प्रयोग में 'अधिक' संज्ञक निग्रहस्थान मानते हैं, व्याप्यत्वासिद्धि नहीं। इस सन्दर्भ में आचार्य उदयन के वचन को भी अशुद्ध कह दिया है—"वस्तुतो व्यर्थविशेशणत्वेऽपि स्वव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्यरूपा व्यातिर्दुर्वारा। न चैवमेकामसिद्धिमित्याचार्याभिधानविरोध इति वाच्यम्, व्यर्थविशेषणतया व्याप्तिविरहस्याभ्युपगमेऽपि तदभिधानस्याशुद्धात्वात् शरीराजन्यत्वाभावस्याप्यखण्डतया व्यर्थविशेषणत्वस्यैव तत्राभावात्" (असिद्धि० पृ० १८६७)]।

दूसरी बात यह भी है कि द्वैतवादी के 'विमतं परमार्थसत्, प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वात्'—इस प्रतिपक्ष-प्रयोग के द्वारा प्रपञ्च में व्यावहारिक सत्त्व मान लेने मात्र से हेतु गतार्थ हो जाता है, पारमार्थिक सत्त्व का वह प्रयोजक (साधक) क्यों होगा ? कोई भी सद्धेतु अपने आधार में उसी साध्य का साधक होता है, जिसके बिना वह अनुपपन्न हो और जिस के बिना भी उपपन्न हो जाय, उसका साधक नहीं होता। प्रकृत हेतु पारमार्थिक सत्त्व के बिना भी व्यावहारिकसत्त्वमात्र से उपपन्न हो जाता है, अतः व्यावहारिक सत्त्व की ही सिद्धि कर सकता है, पारमार्थिक सत्त्व की नहीं। व्यावहारिक प्रपञ्च में पारमार्थिक सत्त्व का मानना बाधानुपपत्तिरूप प्रतिकूल तर्क से पराहत भी है—'यदि घटादिप्रपञ्चः पारमार्थिकः स्यात् तर्हि वेदान्तजन्यज्ञानबाध्यो न स्यात्।'

न्यायामृतम्

सद्व्यावृत्तिं प्रति तद्विरुद्धसत्त्वस्यैव प्रयोजकत्वेन क्लृप्तत्वात्। अन्यथा सत्यज्ञानादि- वाक्ये ज्ञानपदेनैवानृतव्यावृत्तिसिद्धौ सत्यपदवैयर्थ्यं स्यात्। प्रपंचेऽसत्प्रातीतिकव्या-

अद्वैतसिद्धिः

स्यैव प्रयोजकत्वात्। ज्ञानत्वानन्दत्वादिकं तु न तत्प्रयोजकम्, साक्षादसत्त्वाविरोधि- त्वात्, प्रपञ्चे तदभावाच्च, तथा च ब्रह्मविश्वसाधारणं परमार्थसत्त्वमेव तत्प्रयोजकम्, न च—विश्वमिथ्यात्वात्परमार्थसत्त्वमपि न विश्वसाधारणम्, ज्ञानत्वानन्दत्वादिव- दिति—वाच्यम्, अन्योऽन्याश्रयापत्तेः—इति चेद्, अयुक्तमेतत्, न हि प्रातिभासिका- सतोरेका व्यावृत्तिरुभयो वा समव्याप्ता, येनैकप्रयोजकप्रयोज्या भवेत्, किंतु प्राति- भासिकव्यावृत्तिप्रयोजकं ब्रह्मविश्वासत्साधारणमेव वक्तव्यम्, असत्यपि प्रातिभासि- कत्वाभावात्, एवमसद्व्यावृत्तावपि प्रयोजकं ब्रह्मविश्वप्रातिभासिकसाधारणमेव वक्तव्यम्, प्रातिभासिकेऽप्यसत्त्वाभावात्। तथा च तत्प्रयोजकद्वयसमावेशादेव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—उक्त प्रतिपक्षानुमान में असत् और प्रातिभासिक के भेद को हेतु बनाया गया है। ब्रह्मरूप दृष्टान्त असत् और प्रतिभासिक—इन दोनों से भिन्न क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि ब्रह्म पारमार्थिक सत् होने के कारण उन दोनों से भिन्न है। अर्थात् ब्रह्मगत सर्व-सम्मत पारमार्थिक सत्त्व को ही उक्त उभय-भेद का प्रयोजक मानना होगा। प्रयोजक का अर्थ होता है—अनुमापक हेतु। 'ब्रह्म असत्प्राति- भासिकभिन्नम्, पारमार्थिकसत्त्वात्'—इस प्रकार पारमार्थिक सत्त्व वैसे ही उक्त उभय की व्यावृत्ति या भेद का साधक है, जैसे कि पृथिवी में स्वेतर-भिन्नत्व का प्रयोजक पृथिवीत्व होता है। असद्भेद का प्रयोजक असत्त्व-विरुद्ध सत्त्व को मानना पड़ेगा, ज्ञानत्व आनन्दत्वादि को नहीं, क्योंकि वे साक्षात् असत्त्व के विरोधी नहीं हैं तथा प्रपञ्च में उनका अभाव भी है। निष्कर्ष यही निकला कि ब्रह्म और प्रपञ्च-उभय में समानरूप से रहने वाला परमार्थ सत्त्व ही उक्त उभय-भेद का प्रयोजक है। 'प्रपञ्च मिथ्या है, अतः परमार्थ सत्त्व भी ब्रह्म तथा प्रपञ्च इन दोनों का साधारण 'धर्म नहीं'—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि प्रपञ्च में अभी तक मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हुआ, प्रपञ्च में पारमार्थिक सत्त्वाभाव के द्वारा मिथ्यात्व और मिथ्यात्व के द्वारा पारमार्थिक सत्त्वाभाव सिद्ध करने पर अन्योऽन्याश्रय दोष हो जाता है, अतः मिथ्यात्व-सिद्धि से पूर्व प्रपञ्च में परमार्थ सत्त्व मानना होगा।

अद्वैतवादी—आप का आक्षेप अयुक्त है, क्योंकि यदि प्रातिभासिक भेद और असद्-भेद—ये दोनों भेद एकरूप या समनियत होते, तब अवश्य दोनों भेद प्रपञ्च-ब्रह्म- साधारण परमार्थसत्त्वरूप एक प्रयोजक से प्रयोज्य होते, किन्तु दोनों भेदों का स्वरूप और परिधि भिन्न-भिन्न है, अतः प्रातिभासिक-व्यावृत्ति का प्रयोजक धर्म वही होगा, जो ब्रह्म, प्रपञ्च और असत्—इन तीनों का साधारण धर्म हो, क्योंकि ब्रह्म और प्रपञ्च के समान असत् में भी प्रातिभासिक का भेद रहता है। इसी प्रकार असत् की व्यावृत्ति का भी वही प्रयोजक होगा, जो ब्रह्म, प्रपञ्च और प्रातिभासिक—इन तीनों में समान रूप से रहता हो, क्योंकि ब्रह्म और प्रपञ्च के समान प्रातिभासिक पदार्थ भी असत् से भिन्न होता है। इस प्रकार ब्रह्म में विभिन्न दो व्यावृत्तियों के भिन्न-भिन्न प्रयोजक दो धर्मों का समावेश होने के कारण ब्रह्म में असत् और प्रातिभासिक दोनों

न्यायामृतम्

वृत्तौ सत्यामपि प्रमात्वाभावाच्च । न च द्वितीये तत्त्वावेदकप्रमोक्तावसिद्धिः, अतत्त्वावेदकप्रमोक्तौ त्वप्रयोजकतेति वाच्यम्, प्रामाण्यातत्त्वावेदकत्वयोर्व्याहतत्वात्। प्रत्यक्षस्य तत्त्वावेदकतोक्तेश्च । अनुमानादेश्च परेणापि मिथ्यात्वादौ प्रमाणीकरणात्।

अद्वैतसिद्धिः

ब्रह्मण्युभयव्यावृत्त्युपपत्तौ नीलत्वघटत्वरूपावच्छेदकद्वयसमावेशोपपन्ननीलघटत्ववन्नातिरिक्तप्रयोजककल्पनायामस्ति किंचिन्मानमिति कृतबुद्धय एव विदांकुर्वन्तु। नित्यत्वं चोपाधिः, तुच्छप्रातिभासिकयोर्नित्यत्वव्यतिरेके साध्यव्यतिरेकदर्शनात्।

अत एवानिषेध्यत्वेन प्रमां प्रति साक्षाद्विषयत्वादित्यपि न हेतुः । किं च प्रमात्वं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का भेद मानना होगा, परमार्थ सत्त्वरूप एक धर्म को नहीं। जैसे कि घट की प्रयोजक या साधक दण्डादि सामग्री तथा घटगत नीलरूप का प्रयोजक कपालगत नील रूप होता है, इन दोनों प्रयोजकों से भिन्न नीलघटत्व की प्रयोजक सामग्री की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं। उसी प्रकार असत् और प्रातिभासिक की व्यावृत्ति का क्लृप्त प्रयोजक ब्रह्म विश्वान्यतरत्व ही है, उससे अतिरिक्त ब्रह्म और विश्व दोनों में एक विजातीय सत्त्व की कल्पना निष्प्रमाण है। व्यावृत्ति-प्रयोजकता का यह रहस्य सूक्ष्म मनीषा-सम्पन्न विद्वान् ही समझ सकते हैं।

१. 'विमतं परमार्थसत् प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सति असद्विलक्षणत्वाद्, ब्रह्मवत्'—इस प्रतिपक्ष-प्रयोग में नित्यत्व उपाधि भी है, क्योंकि 'नित्यत्व' धर्म ब्रह्मरूप दृष्टान्त में रहने के कारण सत्त्वरूप साध्य का व्यापक तथा प्रपञ्चरूप पक्ष में न रहने से साधन का अव्यापक है। परमार्थसत्त्वरूप साध्य की केवल अन्वय व्याप्ति ही नित्यत्व में नहीं, अपि तु व्यतिरेक व्याप्ति भी है, क्योंकि शशशृङ्गादि असत् तथा शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक पदार्थ में नित्यत्व का अभाव होने से परमार्थसत्त्व का भी अभाव है। अतः साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक होने के कारण 'नित्यत्व' धर्म उक्त हेतु में उपाधि है।

२. [न्यायामृतकार ने—प्रपञ्च में परमार्थ सत्त्व सिद्ध करने के लिए छः हेतुओं का प्रयोग किया है—(१) प्रातिभासिकत्वानधिकरणत्वे सत्यसत्त्वानधिकरणत्वात्, (२) अनिषेध्यत्वेन प्रमां प्रति साक्षाद् विषयत्वात्, (३) अनिषेध्यत्वेनेश्वरं प्रति साक्षादपरोक्षत्वात्, (४) सप्रकारकाबाध्यार्थक्रियाकारित्वात्, (५) आरोपितमिथ्यात्वकत्वात्, (६) कल्पकरहितत्वाच्च। इनमें से प्रथम हेतु में प्रदर्शित प्रतिकूल तर्क से विरोध तथा नित्यत्व उपाधिरूप दोष द्वितीय हेतु में भी है। यद्यपि इस द्वितीय हेतु में उपात्त तीनों विशेषण सार्थक हैं। अर्थात् 'नेदं रजतम्'—इस प्रमा की निषेध्यत्वेन विषयता शुक्ति-रजत में है, किन्तु उसमें परमार्थसत्त्व नहीं—इस व्यभिचार का परिहार करने के लिए अनिषेध्यत्वेन कहा है। इसी प्रकार 'इदं रजतम्'—इस भ्रम की विषयता को हटाने के लिए 'प्रमां प्रति'—यह विशेषण रखा है और 'इदं रजतम्—इत्याकारक ज्ञानवानहम्' इस प्रकार के अनुव्यवसायरूप प्रमा ज्ञान की विषयता भी परम्परया शुक्ति-रजत में है, उसकी व्यावृत्ति के लिए 'साक्षाद् विषयता' कहा। तथापि] कथित प्रतिकूल तर्क पराहति तथा व्याप्यत्वासिद्धि रूप दोषों के कारण यह द्वितीय हेतु भी असद् हेतु है।

न्यायामृतम्

विपक्षे व्याघातात्। विषयबाधे प्रामाण्यायोगात्। नापि तृतीयेऽसिद्धिः, त्वयापीशस्य जगत्कर्तृत्वशास्त्रयोनित्वादिना कुलालपाणिन्यादिवदनिषेध्यत्वेन तद्द्रष्टृत्वोक्तेः। अन्यथेशस्य तत्पालनादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्। विपक्षे चेशस्य भ्रांतिः स्यात्, सा च श्रुत्या-

अद्वैतसिद्धिः

तद्वति तत्प्रकारकत्वम् ? तत्त्वावेदकत्वं वा ? आद्ये दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यम्। न हि परमार्थसतः शुद्धस्य ब्रह्मणः सप्रकारकज्ञानविषयत्वम्। न च धर्मवतो दृष्टान्ततेत्युक्तम्, तस्य पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेन निश्चितसाध्यवत्त्वाभावात्। द्वितीये तत्त्वावेदकत्वस्याबाधितविषयत्वरूपत्वेन साध्याविशेषपर्यवसानाद्धेतुग्रहे सिद्धसाधनम्। हेत्वग्रहे तु स्वरूपासिद्धिः। यत्तु—प्रमाविषयत्वमात्रेणैव परमार्थत्वोपपत्तौ विशेषणे व्यर्थे इति। तन्न, पुरोवर्तिनं रजततया जानामीत्याद्यनुव्यवसायरूपप्रमाविषये प्रातिभासिके व्यभिचारवारकत्वात् साक्षात्पदस्य, तत्रैव च मिथ्यात्वप्रमितेः साक्षाद्विषये व्यभिचारवारकत्वाद् अनिषेध्यत्वेनेत्यस्य न ह्यनुव्यवसायमिथ्यात्वप्रमे भ्रमे न भवतः।

नाप्यनिषेध्यत्वेनेश्वरं प्रति साक्षादपरोक्षत्वं हेतुः, सत्यत्वसिद्धिं विना अनिषेध्यत्वेनेत्यंशस्यासिद्धेः। तथा चान्योन्याश्रयः। न चेश्वरज्ञानविषयस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस द्वितीय हेतु में यह भी जिज्ञासा होती है कि जो 'प्रमां प्रति'—यह कहा है, वहाँ प्रमा कैसी विवक्षित है ? तद्वति तत्प्रकारत्व ? अथवा तत्त्वावेदकत्व ? प्रथम प्रकार की प्रमा-विषयता तो ब्रह्मरूप दृष्टान्त में असिद्ध हैं, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म किसी सप्रकारक ज्ञान का विषय नहीं होता। विशिष्ट ब्रह्म को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि वह तो प्रपञ्चरूप पक्ष के ही अन्तर्गत है, उसमें साध्य सन्दिग्ध है, निश्चित नहीं। तत्त्वावेदकत्वरूप प्रमा की विषयता और परमार्थ सत्त्वरूप साध्य का कोई अन्तर नहीं, अतः साध्यस्वरूप हेतु की पक्ष में सिद्धि मानने पर सिद्ध-साधनता और न मानने पर स्वरूपसिद्धि दोष हो जाता है। इस द्वितीय हेतु में जो यह दोष दिया जाता है कि 'प्रमा-विषयत्वात्'—इतने हेतु से ही परमार्थ सत्त्व की सिद्धि की जा सकती है, अतः अनिषेध्यत्वेन तथा साक्षात्—ये दो विशेषण व्यर्थ हैं। यह दोष संगत नहीं, क्योंकि 'पुरोवर्तिनं रजततया जानामि'—इस प्रकार की अनुव्यवसायरूप प्रमा के परम्परया (स्वविषय व्यवसाय-विषयत्व सम्बन्ध से) विषयीभूत शुक्ति-रजत में व्यभिचार-निवारणार्थ 'साक्षात्' पद तथा 'नेदं रजतम्'—इस प्रकार की मिथ्यात्व-प्रमा के साक्षात् निषेध्यत्वेन विषयीभूत शुक्ति-रजत में ही व्यभिचार-निवृत्ति करने के लिए 'अनिषेध्यत्वेन'—यह विशेषण सार्थक है। उक्त अनुव्यवसाय तथा मिथ्यात्व-प्रमिति को भ्रम नहीं कह सकते कि 'प्रमा' विशेषण से ही उसकी निवृत्ति हो जाती। अतः इस हेतु के विशेषण दलों की सार्थकता होने पर भी यह पूर्वोक्त व्याप्यत्वासिद्धि आदि-दोषों से ही दूषित है।

३. न्यायामृतकार का तृतीय 'अनिषेध्यत्वेन ईश्वरं प्रति साक्षादपरोक्षत्वात्'—यह हेतु भी अपने साध्य-साधन की क्षमता नहीं रखता, क्योंकि ईश्वर को अनिषेध्य या सत्य प्रपञ्च का अपरोक्ष ज्ञान होता है—यह तभी कहा जा सकता है, जब कि व्यावहारिक प्रपञ्च में सत्यत्व सिद्ध हो जाय। ईश्वर को अनिषेध्यरूप से प्रपञ्च का साक्षात्कार होता है, अतः प्रपञ्च सत्य है–ऐसा मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि प्रपञ्च में सत्यता सिद्ध होने पर ईश्वर को उसका अनिषेध्यत्वेन अपरोक्ष ज्ञान होगा और ईश्वर

न्यायामृतम्

द्धिविरुद्धा । चतुर्थेऽर्थक्रियायाः सत्यायाः पक्षे सपक्षे च परं प्रत्यसिद्धया व्याप्तिपक्षधर्मतयोरयोगाद्, असत्यायाश्चैन्द्रजालिकादौ व्यभिचारात्सप्रकाबाध्यत्वेन सा विशेषिता । व्यभिचारस्त्वस्य निरसिष्यते । सत्यस्य साक्षिणोऽज्ञानादिसाधकत्वान्न दृष्टान्तः साधनहीनः । असङ्गा व्यतिरेकदृष्टान्तः । असाधारण्यस्यागृह्यमाणविशेषत्वावस्थायामेव दोषत्वात् । विपक्षे व्याघातः । ब्रह्मणि हेतुत्वं प्रति अकारणासदादिव्यावृतस्य परमार्थ-

अद्वैतसिद्धि

तस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः, मिथ्याभूतस्य मिथ्यात्वेनैव ग्रहणाद्, ऐन्द्रजालिकवद् भ्रान्तत्वायोगाद्, अन्यथा सविषयकभ्रमज्ञातृत्वेन भ्रान्तत्वस्य दुर्वारत्वापत्तेः । अथ—निषेध्यत्वेन ज्ञाने तत्पालनार्थमीश्वरस्य प्रवृत्तिर्न स्यात्—न, ऐन्द्रजालिकप्रवृत्तिवदीश्वरप्रवृत्तेरपि तथाविधत्वात् ।

नापि सप्रकारकाबाध्यार्थक्रियाकारित्वं हेतुः सप्रकारकजाग्रद्बोधाबाध्यस्वप्नजलावगाहनप्रियासङ्गमादिविशेषिताप्रमाणीभूतज्ञानस्यार्थक्रियाकारित्वदर्शनेन तद्विषये तत्र

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

को प्रपञ्च का अनिषेध्य या अबाध्यरूप से अपरोक्ष होने पर प्रपञ्च में सत्यता सिद्ध होगी । प्रपञ्च को मिथ्या मानने पर भी उसके ज्ञाता ईश्वर में भ्रान्तता नहीं आती, क्योंकि जैसे ऐन्द्रजालिक (जादूगर) अपनी कल्पित वस्तु को मिथ्या देखता है, उसी प्रकार ईश्वर को भी मिथ्या वस्तु का मिथ्यात्वेन ही बोध होता है, इस लिए वह सत्यद्रष्टा और निर्भ्रान्त माना जाता है । [आशय यह है कि गगनगत नीलिमा का ज्ञान भ्रान्त और अभ्रान्त—दोनों को होता है, उन में इतना अन्तर होता है कि भ्रान्त पुरुष को भ्रम-काल में विशेष-दर्शन नहीं होता और अभ्रान्त को होता है, अतः विशेष-दर्शनकालीन बाधितविषयक ज्ञान भ्रम नहीं कहलाता और न उसका द्रष्टा भ्रान्त माना जाता है । ईश्वर और जादूगर-दोनों को बाधित-विषयक ज्ञान विशेष-दर्शन-कालीन होता है, अतः वह भ्रम नहीं] । अन्यथा [विशेष-दर्शन-कालीन बाधित-विषयक ज्ञान को भ्रम मानने पर] 'इदं रजतमिति ज्ञानं भ्रमः'—इस प्रकार बाधित-विषयक भ्रम ज्ञान को भ्रम रूप में देखनेवाले ईश्वर में भ्रान्तत्व प्रसक्त होगा, क्योंकि उसका ज्ञान भी परम्परया बाधितविषयक होता है । यदि कहें कि ईश्वर जब प्रपञ्च को निषेध्य समझता है, तब उसके संरक्षण में उस की प्रवृत्ति कैसे होगी ? तो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐन्द्रजालिक की अपनी कल्पित वस्तुओं के संरक्षण में जैसे प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार ईश्वर की भी प्रवृति बन जाती है । [''मायावी मायया क्रीडति'' (शां० उ० ३।१।२) इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादित सृष्टि-प्रवर्तक माया तत्त्व का ही लीला, क्रीड़ा और स्वभावादि शब्दों से निर्देश किया गया है—''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'' (ब्र० सू० २।१।३३), विश्वक्रीडारतिर्देवः'' (मै० उ० ६।१), ''स्वभावमेके कवयो वदन्ति'' (श्वेता० ६।२) इन का सङ्कलन आचार्य गौड़पाद ने किया है——

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।

देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ।। (मां. का. १।९)] ।

४. प्रतिपक्ष-प्रयोग का चतुर्थ हेतु सप्रकारकाबाध्यार्थक्रियाकारित्व' भी सद्धेतु नहीं, क्योंकि जैसे व्यावहारिक जलावगाहनादि अर्थक्रिया (प्रयोजन) निर्विकल्पक ब्रह्म-ज्ञान से बाधित होने पर भी किसी सप्रकारक ज्ञान से बाधित नहीं होते, अतः

अद्वैतसिद्धिः

व्यभिचारात्। अथ तत्र ज्ञानमेव सुखादिजनकं; तच्चाबाध्यमेवेति मतम्, तदसत्, ज्ञानमात्रस्य हि तादृक्सुखाजनकत्वेन किंचिद्विशेषितस्यैव तथात्वं वाच्यम्, ज्ञाने च विशेषो नार्थातिरिक्तः। तदुक्तम्—'अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्—' इति। अर्थेनेत्यर्थ एवेत्यर्थः। तथा च मिथ्याभूतविशेषितस्य जनकत्वाभ्युपगमे मिथ्याभूतस्यापि जनकत्वाद्व्यभिचार एव। तथा चोक्तं शास्त्रदीपिकायां बौद्धं प्रति—'अथ सुखज्ञानमेवार्थक्रिया तच्चाव्यभिचार्येव। न हि क्वचिदप्यसति सुखे सुखज्ञानमस्तीत्याशङ्क्य सत्यमेतन्न तु तेन पूर्वज्ञानप्रामाण्याध्यवसानं युक्तम्; अप्रमाणेनापि प्रियासङ्गमविज्ञानेन स्वप्नावस्थायां सुखदर्शनाद्'—इति। ननु—विषयविशेषोपलक्षितस्यैव ज्ञानस्य सुखजनकत्वमस्तु, तत् कुतो विषयस्य जनकत्वमिति—चेन्न, स्वरूपाणामननुगततया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सप्रकारक ज्ञान से अबाधित अर्थक्रिया की जनकता व्यावहारिक जलादि में है, वैसे ही स्वप्न-दृष्ट स्त्री के सम्पर्क से जो सुख विशेष होता है, वह भी उन आचार्यों के मत में केवल निष्प्रकारक ब्रह्म-ज्ञान से बाधित होता है, जो स्वप्न-सृष्टि का अधिष्ठान ब्रह्म को मानते हैं। इस प्रकार स्वप्न-दृष्ट स्त्री आदि विषयों में परमार्थ सत्त्वरूप साध्य के न रहने पर भी सप्रकारक ज्ञान से अबाधित अर्थक्रिया की जनकता रह जाती है, अतः व्यभिचार है।

यदि कहा जाय कि स्वप्न-दृष्ट विषय सुखादि रूप अर्थक्रिया के जनक नहीं, अपि तु उनका ज्ञान होता है, वह तो परमार्थ सत् ही होता है। तो वह कहना उचित नहीं, क्योंकि विषय-रहित ज्ञान मात्र उक्त सुखादि का जनक नहीं हो सकता, अपि तु किसी-न-किसी विशेषता से युक्त ज्ञान को ही सुखादि का जनक मानना होगा, ज्ञान में विशेषता विषय-वैशिष्ट्य को छोड़ कर और कुछ भी नहीं, जैसा कि आचार्य उदयन ने कहा है—

अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्।
क्रियैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम्॥ (न्या० कु० ४।४)

"अर्थात् निराकारा च नो बुद्धिः" (शा० भा० १।१।५) इस प्रकार शबर स्वामी के कथनानुसार ज्ञान स्वयं निराकार या निर्विशेष होता है, उसमें विषय को लेकर वैसे ही विशेषता आती है, जैसे धर्माधर्म में यागादि क्रियाओं के द्वारा। अतः मिथ्याभूत स्वप्न-दृष्ट स्त्री आदि विषयों से युक्त ज्ञान में सुखादि की जनकता मानने पर मिथ्याभूत विषय में अर्थक्रिया-जनकत्व अवश्य रहेगा, जो कि परमार्थ सत्त्व से व्यभिचरित है। श्री पार्थसारथि मिश्र ने भी बौद्धों को उद्देश्य करके शास्त्रदीपिका पृ० २२ में कहा है—'यदि आप कहें कि सुख-ज्ञान ही अर्थ क्रिया-कारी होता है, क्योंकि कहीं पर भी सुख के अभाव में उसका ज्ञान नहीं रहता। तो आपका वह कहना सत्य है, तथापि उतने मात्र से सुख-ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि मिथ्याभूत कामिनी-संगमन-विज्ञान से भी स्वप्न में सुखानुभूति देखी जाती है।

शङ्का—विषय को ज्ञान का विशेषण नहीं मान सकते, क्योंकि अतीतादिविषयक ज्ञान भी अर्थक्रिया-कारी होता है, अतः विषय को उपलक्षण मानकर विषयोपलक्षित ज्ञान को ही क्रिया-कारी मानना होगा, इस प्रकार जनकता की परिधि से बाहर रहने के कारण विषय में जनकत्व क्यों होगा ?

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञानत्वादेश्चातिप्रसक्ततया अनुगतानतिप्रसक्तोपलक्ष्यतावच्छेदकाभावादुपलक्षणत्वासम्भवात्। ननु—विशेषणत्वमप्यसम्भवि, अनागतज्ञानजन्यैतत्कालाविद्यमानस्य विषयस्य पूर्वभावित्वरूपजनकत्वासम्भवाद्—इति चेन्न, स्वव्यापारजन्ये व्यापारिणोऽसतो जनकत्ववत् स्वज्ञानजन्येऽप्यसतो जनकत्वसम्भवात्, अतीतानागतावस्थस्यासत्त्वधर्माश्रयत्वेनैवाभ्युपगमाद्, अन्यथा ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वतज्ज्ञानविषयत्वादीनामनाश्रयत्वापत्तेः, प्रमाणबलात् कारणत्वाभ्युपगमस्यात्रापि तुल्यत्वात्। किञ्च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—काकादि के समान विषय को ज्ञान का उपलक्षण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जैसे 'काकवत् गृहम्'—में काक उड़ जाता है, फिर भी उस गृह पर उत्तृणत्वादि कुछ ऐसी विशेषता छोड़ जाता है, जिसके माध्यम से अनुपस्थित काक भी उस गृह का उपलक्षण बना रहता है। किन्तु विषय अनुपस्थित होकर ज्ञान में कुछ ऐसी विशेषता या उपलक्ष्यतावच्छेदक धर्म को उपस्थापित नहीं कर सकता, जो कि ज्ञानगत अर्थक्रिया-जनकता का नियामक या अवच्छेदक हो सके। ज्ञानत्व और गुणत्वादि धर्म न तो विषय के द्वारा उपस्थापित होते हैं और न जनकता के अवच्छेदक ही हो सकते हैं, क्योंकि जनकता का अवच्छेदक वही धर्म हो सकता है, जो कि जनकता का समनियत (अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति) धर्म हो, ज्ञानत्वादि धर्म वैसे नहीं, अतः उन्हें जनकता का उपलक्ष्यतावच्छेदक नहीं कहा जा सकता। स्वरूपतः ज्ञानों में सुख-जनकता सम्भव नहीं, क्योंकि अननुगत स्वरूपों का संग्राहक जब तक कोई एक धर्म न हो, तब तक कार्य-कारणभाव की लघु परिभाषा नहीं की जा सकती। अतः विषय को उपलक्षण न मानकर ज्ञान का विशेषण ही मानना होगा, उसे ज्ञानगत अर्थक्रिया-जनकतावच्छेदक की कक्षा से बाहर नहीं रखा जा सकता।

शङ्का—विषय को ज्ञान का विशेषण भी नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि भावी वस्तु के ज्ञान-काल में वह विद्यमान नहीं होता, अतः भावी विषय में जनकता कैसे होगी, क्योंकि जनकता का अर्थ होता है—पूर्ववृत्तित्व। अर्थात् कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में रहनेवाला पदार्थ ही कार्य का कारण होता है, किन्तु भावी वस्तु वैसी नहीं हो सकती।

समाधान—कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में कारण का रहना आवश्यक नहीं, क्योंकि यागादि क्रियाएँ धर्माधर्मादि रूप अदृष्टों को उत्पन्न कर नष्ट हो जाती हैं, उनके चिरकाल पश्चात् स्वर्गादि फलों का लाभ होता है, फिर भी यागादि में जैसे स्वर्गादि की जनकता मानी जाती है, वैसे ही अविद्यमान विषय में भी अपने ज्ञान से जनित कार्य की जनकता सम्भव है। अतीत और अनागत पदार्थ जनकत्वरूप धर्म के आश्रय कैसे होंगे? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अतीतादि पदार्थ जैसे असत्त्व, ध्वंस-प्रतियोगित्व और प्रागभाव-प्रतियोगित्वादि के आश्रय होते हैं, वैसे ही जनकत्वरूप धर्म के आश्रय हो जायंगे। यदि अतीत और आनागत पदार्थ किसी धर्म के आधार नहीं बन सकते, तब ध्वंस-प्रतियोगित्व, प्रागभाव-प्रतियोगित्व तथा ज्ञान-विषयत्वादि धर्म अनाश्रय हो जायंगे। जैसे ''यजेत स्वर्गकामः'' आदि प्रमाणों के आधार पर अविद्यमान यागादि में स्वर्गादि की जनकता बन जाती है, वैसे ही अतीत-ज्ञान से सुखानुभूति रूप प्रमाण के द्वारा अविद्यमान विषय में भी जनकता सिद्ध हो जाती है।

अद्वैतसिद्धिः

स्वरूपाबाध्यस्य विषयाबाध्यत्वदर्शनेन विषयबाधे स्वरूपबाधस्यावश्यकतया स्वप्नादिज्ञानं सदेवेत्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्, अनादित्वस्य विषमव्याप्तस्योपाधित्वाच्च। न च—अर्थक्रियाकारित्वं प्रति परमार्थत्वस्य ब्रह्मणि प्रयोजकत्वेनावधारणादकारणककार्योत्पत्तिरूपविपक्षबाधकतर्केण हेतोः साध्यव्यापक(व्याप्य)तया तदव्यापकतयोपाधेः साध्याव्यापकत्वमिति—वाच्यम्, प्रातिभासिकरज्जुसर्पादौ भयकम्पादिकार्यकारित्वदर्शनेन प्रातिभासिकसाधारणस्य तुच्छव्यावृत्तस्य प्रतीतिकालसत्त्वस्यैवार्थक्रियाकारित्वं प्रति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पूर्ववादी का जो यह कहना है कि स्वाप्न पदार्थों का ज्ञान सत् होता है, वही सुखादि का जनक होता है, वह कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि स्वाप्न वस्तु के ज्ञान को सत् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि उसका विषय बाधित होता है, जिस ज्ञान का बिषय बाधित होता है, उस ज्ञान का स्वरूपतः बाधित होना आवश्यक होता है, जिस ज्ञान का स्वरूपतः बाध नहीं होता, उसका विषय भी बाधित नहीं हो सकता।

'विमतं परमार्थसत्, सप्रकारकाबाध्यार्थक्रियाकारित्वाद् ब्रह्मवत्'—इस चतुर्थ हेतु में 'अनादित्व' धर्म उपाधि भी है। ब्रह्मरूप दृष्टान्त में साध्य के साथ 'अनादित्व' धर्म भी है, अतः अनादित्व में साध्य की व्यापकता तथा प्रपञ्चरूप पक्ष में अनादित्व के न रहने से साधन की अव्यापकता निश्चित होती है। हाँ, अनादित्वरूप उपाधि परमार्थसत्त्वरूप साध्य की समव्याप्त नहीं, अपितु विषम व्याप्त है। क्योंकि यत्र-यत्र अनादित्वम्, तत्र-तत्र परमार्थसत्त्वम्'—यह व्याप्ति अविद्यादि छः अनादि पदार्थों में भंग हो जाती है, अतः अनादित्वरूप विषमव्याप्त उपाधि के द्वारा उक्त हेतु सोपाधिक होकर व्याप्यत्वासिद्ध हो जाता है।

शङ्का—साध्य-व्यापक धर्म को उपाधि कहा जाता है, किन्तु अनादित्व धर्म में परमार्थसत्त्वरूप साध्य की व्यापकता सम्भव नहीं, क्योंकि 'यद् यद् अर्थक्रियाकारि, तत्तत् परमार्थसत्'—इस प्रकार अर्थक्रिया-कारित्वरूप हेतु की प्रयोजकता (व्यापकता) परमार्थसत्त्वरूप साध्य में निश्चित होती है, प्रपञ्चरूप पक्ष में भी 'यदि अयं परमार्थसत् न स्यात्, तदार्थक्रिया-कारी न स्यात्'—इस प्रकार विपक्ष-बाधक तर्क के द्वारा अर्थक्रिया-कारित्वरूप हेतु में साध्य की व्याप्यता सुदृढ़ हो जाती है [मुद्रित पुस्तक में यहाँ 'हेतोः साध्यव्यापकतया'—यह पाठ उपलब्ध होता है और हस्त-लिखित प्रति में 'हेतोः साध्यव्याप्यतया'—ऐसा पाठ है, जो कि उचिततर प्रतीत होता है, मुद्रित पाठ में बहुव्रीहि का समाश्रयण कर साध्यव्यापककतया अर्थ करना होगा]। 'अनादित्व' धर्म हेतु का अव्यापक या न्यून देश-वृत्ति है, अतः हेतु के व्यापकीभूत साध्य का व्यापक या अधिक देश-वृत्ति अनादित्व नहीं हो सकता, फलस्वरूप उसे उपाधि नहीं कह सकते।

समाधान—जो परमार्थ सत् नहीं ऐसे रज्जु-सर्पादि प्रातिभासिक पदार्थों में भी भय, कम्पादि रूप अर्थ-क्रिया की जनकता देखी जाती है, अतः परमार्थ सत्त्व को अर्थक्रिया-कारित्व का प्रयोजक नहीं मान सकते, अतः घटादि प्रपञ्च में अर्थक्रिया-कारित्व का निश्चय होने पर भी परमार्थ सत्त्व का निश्चय नहीं, अतः परमार्थ सत्त्व में अर्थक्रिया-कारित्वरूप हेतु की व्यापकता निश्चित नहीं हो सकती, अपि तु प्राति-

न्यायामृतम्

सत्त्वस्यैव प्रयोजकत्वेन क्लृप्तत्वात् । न च पंचमेऽसिद्धिः, परमतेऽपि जगन्मिथ्यात्वस्यारोपितत्वात् । अत्र च हेत्वंतर्गतं मिथ्यात्वं सत्त्वाभावोऽभिप्रेत इति नासत्यनैकांत्यम् ।

अद्वैतसिद्धिः

प्रयोजकत्वात्, प्रातिभासिकस्यार्थक्रियाकारित्वानभ्युपगमे सप्रकारकबाध्येति हेतुविशेषणवैयर्थ्यापत्तेः, कस्मिन्नपि देशे कस्मिन्नपि काले केनापि पुरुषेणाबाध्यत्वं हि परमार्थसत्त्वम् , तदपेक्षया प्रतीतिकालसत्त्वस्य लघुत्वाच्च । किञ्च शुद्धस्यार्थक्रियाकारित्वाभावात् साधनविकलत्वम् , उपहितस्य पक्षनिक्षेपात् साध्यविकलत्वम् ।

आरोपितमिथ्यात्वकत्वादित्यपि न हेतुः; आरोपितत्वं प्रातिभासिकत्वं चेत् , प्रपञ्चे हेतोरसिद्धिः, तत्सिद्धेः पारमार्थिकसिद्ध्युत्तरकालीनत्वात् । व्यावहारिकत्वं चेत् , शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारः; उभयसाधारण्येऽप्ययमेव दोषः ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक—इन तीनों में वर्तमान प्रतीति-काल-सत्त्व या असद्भिन्नत्व को ही अर्थक्रिया-कारित्व का प्रयोजक मानना होगा । रज्जु-सर्पादि प्रातिभासिक पदार्थों को अर्थक्रिया-कारी न मानने पर 'सप्रकाराबाध्यत्व' विशेषण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि प्रातिभासिक में मिथ्या अर्थक्रिया-कारित्व मान करके ही, उसकी व्यावृत्ति के लिए सप्रकारा-बाध्यत्व विशेषण दिया गया है । परमार्थ सत्त्व का अर्थ होता है—'किसी भी देश और काल में किसी भी पुरुष के द्वारा अबाध्यत्व' । उसकी अपेक्षा प्रतीति-काल-सत्त्व लघु भी है, अतः इसे ही अर्थक्रिया-कारित्व का प्रयोजक मानना न्याय-सङ्गत भी है ।

दूसरी बात यह भी है कि मायोपाधिक ब्रह्म में ही जगत्कर्तृत्वादि माना जाता है, शुद्ध ब्रह्मरूप दृष्टान्त में अर्थक्रिया-कारित्व का अभाव होने के कारण दृष्टान्त में साधन-वैकल्य भी होता है । मायोपाधिक ब्रह्म परमार्थ सत् नहीं माना जाता, अतः उसको दृष्टान्त बनाने पर साध्य-विकलता होती है ।

५. 'विमतं परमार्थसद्, आरोपितमिथ्यात्वकत्वात्'—इस प्रयोग में प्रदर्शित पञ्चम हेतु भी अहेतु है, क्योंकि द्वैतवादी प्रपञ्च को परमार्थ सत् मानता है, अतः प्रपञ्च में शुक्ति-रजत के समान अनारोपित या स्वाभाविक मिथ्यात्व नहीं, अपि तु आरोपित मिथ्यात्व ही है । यहाँ जिज्ञासा होती है कि आरोपितत्व का क्या अर्थ है ? (१) प्रातिभासिकत्व ? या (२) व्यावहारिकत्व ? अथवा (३) उभय-साधारण ? प्रथम कल्प मानने पर घटादिप्रपञ्च में स्वरूपासिद्धि हो जाती है, क्योंकि वहाँ प्रातिभासिक मिथ्यात्व नहीं रहता । जैसे शुक्ति रजत्व प्रातिभासिक तभी कहा जा सकता है, जबकि रजतत्व का विरोधी रजतत्वाभाव वहाँ परमार्थतः हो, वसे ही प्रपञ्च में प्रातिभासिक मिथ्यात्व तभी कहा जा सकता है, जबकि मिथ्यात्व का विरोधी सत्यत्व या परमार्थसत्त्व वहाँ निश्चित हो जाय, किन्तु प्रपञ्च में परमार्थसत्त्व अभी तक सिद्ध नहीं हो पाया है । आरोपितत्व का व्यावहारिकत्व अर्थ करने पर शुक्ति-रजतादि में व्यभिचार हो जाता है, क्योंकि शुक्ति-रजत में 'मिथ्यात्व' धर्म तो व्यावहारिक माना जाता है, किन्तु परमार्थसत्त्व रूप साध्य नहीं रहता । उभय-साधारण-पक्ष में भी यह व्यभिचार दोष विद्यमान है ।

न्यायामृतम्

न च षष्ठेऽसिद्धिः, चिन्मात्रस्याद्रष्टृत्वेनान्यस्य च कल्पितत्वेनाकल्पकत्वात्। अत्र चाकल्पितत्वस्य साध्यत्वान्नासति व्यभिचारः। विपक्षे व्याघातः। कल्पकं विना कल्पनाऽयोगात्।

अद्वैतसिद्धिः

कल्पकरहितत्वादित्यपि न हेतुः, असति व्यभिचाराद्, यथाश्रुतस्यासिद्धेश्च। ननु नासिद्धिः, शुद्धं हि चैतन्यं न कल्पकम्, अद्रष्टृत्वात्, नोपहितम्, कल्पितत्वादेवान्यथानवस्थानात्, तथा च यावद्विशेषाभावे कल्पकसामान्याभावसिद्धिः—इति चेन्न, शुद्धस्याप्यनाद्यविद्योपधानवशेन कल्पकत्वोपपत्तेः। कल्पकत्वं हि कल्पनां प्रत्याश्रयत्वं, विषयत्वं, भासकत्वं वा, तच्च सर्वं कल्पनासमसत्ताकत्वेन शुद्धत्वाव्याघातकम्। तदुक्तं संक्षेपशारीरके—'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला। पूर्वसिद्धतमसो

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

६. विमतं परमार्थसत् कल्पकरहितत्वात्'—इस प्रयोग में न्यायामृतकार-सम्मत षष्ठ हेतु भी असत् हेतु है, क्योंकि खपुष्पादि असत् पदार्थों में परमार्थसत्त्व के न रहने पर भी कल्पक-रहितत्त्व रहता है, अतः व्यभिचारी है। यथाश्रुत अर्थ के अनुसार कल्पक-रहित्व हेतु प्रपञ्चरूप पक्ष में स्वरूपतः असिद्ध भी है, क्योंकि कल्पित प्रपञ्च का कल्पक मायोपाधिक ब्रह्म माना जाता है, अतः कल्पक-राहित्य वहाँ कैसे रहेगा ?

शङ्का—स्वरूपासिद्धि नहीं है, क्योंकि अद्वैत मत में शुद्ध ब्रह्म अद्रष्टा-अकर्त्ता है, कल्पक नहीं हो सकता और मायोपहित ब्रह्म स्वयं कल्पित होने के कारण कल्पक नहीं हो सकता, अतः कल्पक-राहित्य प्रपञ्च में सिद्ध है। उपहित ब्रह्म को प्रपञ्च का कल्पक मानने पर अनवस्था दोष होता है, क्योंकि प्रपञ्च का कल्पक उपहित और इस उपहित का कल्पक दूसरा उपहित और दूसरे का तीसरा—इस प्रकार कल्पक-परम्परा की कहीं समाप्ति ही नहीं। शुद्ध और उपहित—दो ही प्रकार के कल्पक हो सकते थे, वे दोनों जब न्यायतः कल्पक नहीं ठहरते, तब कल्पक-सामान्य का अभाव मानना ही होगा।

समाधान—शुद्ध और उपहित—दोनों प्रकार के चेतन विश्व-कल्पना के कल्पक हो सकते हैं। उपहित के समान शुद्ध ब्रह्म में भी अनादि अविद्यारूप उपाधि के माध्यम से प्रपञ्च-कल्पकत्व उपपन्न हो जाता है, क्योंकि कल्पकत्व का अर्थ कल्पना के प्रति आश्रयत्व, विषयत्व या भासकत्व ही हो सकता है, वह सब कुछ (तीनों प्रकार का कल्पकत्व) मिथ्या और कल्पना-समसत्ताक है, अतः शुद्ध की शुद्धता अक्षुण्ण एवं अव्याहत रहती है, जैसा कि श्री सर्वज्ञातममुनि (सं० शा० १।३१९ में) कहा है—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥

अर्थात् निर्विभाग केवल (विशुद्ध) चेतन ही अविद्या का आश्रय भी है और विषय भी। कल्पना का पश्चाद्भावी उपहित चेतन अपने से पूर्व-सिद्ध अज्ञान का न तो आश्रय हो सकता है और न विषय। वार्तिककार भी शुद्ध को ही कल्पक मानते हैं—

अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्॥ (बृह० वा० पृ० ६८८)

अर्थात् जब सारा संसार अज्ञान-कल्पित होकर भी जिसकी शुद्धता कलङ्कित न कर सका, उस का कल्पकत्व धर्म के समारोप से क्या बिगड़ता है ?

न्यायामृतम्

किं च विमतं न सद्विलक्षणम्, असद्विलक्षणत्वाद्, आत्मवत्। न च शुक्तिरूप्ये

अद्वैतसिद्धिः

हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥' इति। अस्तु वोपहितस्य (कल्पितस्य) कल्पकत्वम्, न चानवस्था; अविद्याध्यासस्याध्यासान्तरानपेक्षत्वात्, स्वपरसाधारण-सर्वनिर्वाहकत्वोपपत्तेः, अकल्पितस्य कल्पकत्वादर्शनाच्च, कल्पितप्रतिबिम्बविशिष्टाद-र्शादेरादर्शान्तरे प्रतिबिम्बकल्पकत्वदर्शनाच्च। बिम्बस्य द्वितीयादर्शसंमुखत्वाभावेन तत्र कल्पकत्वायोगाद्; अन्यथा अतिप्रसङ्गात्। विस्तरेण चैतदग्रे वक्ष्यामः। तदेवं निराकृताः परमार्थसत्त्वे साध्ये षडपि हेतवः। एवमन्येऽपि निराकार्याः।

अथ—विमतं, न सद्विलक्षणम्, असद्विलक्षणत्वादात्मवदिति अनुमानान्तरं भवि-ष्यतीति—मतम्। तन्न; प्रातिभासिके शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारात्। न च—तत्रासद्विल-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अथवा मायोपहित ब्रह्म को ही कल्पक मानना चाहिए। इस पक्ष में आपादित अनवस्था दोष इस लिए प्राप्त नहीं होता कि जैसे प्रपञ्च की कल्पना के लिए अविद्या की कल्पना या अध्यास अपेक्षित है, वैसे अविद्या की कल्पना के अन्य-कल्पना की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि अविद्या अनादि तथा स्व-पर-कल्पना की निर्वाहिका मानी जाती है। यदि ध्यान से देखा जाय तो अकल्पित में कल्पकत्व न होकर कल्पित में ही कल्प-कत्व सिद्ध होगा। यह सर्व-विदित है कि प्रतिबिम्ब-रहित विशुद्ध दर्पण अपने सम्मुखस्थ दूसरे दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब का प्रक्षेप या प्रकल्पन नहीं करता, अपि तु प्रतिबिम्ब-कल्पना-समन्वित दर्पण ही अपने सामने के दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब की कल्पना किया करता है। इस प्रकार द्वितीय दर्पणस्थ प्रथम दर्पण के प्रतिबिम्ब की कल्पना का श्रेय बिम्बभूत मुखादि को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि मुख द्वितीय दर्पण के सम्मुख न होकर प्रथम दर्पण के ही सम्मुख होता है। असम्मुखस्थ मुखादि बिम्ब को प्रतिबिम्ब का कल्पक मानने पर दर्पण के पृष्ठस्थ पदार्थों का भी प्रतिबिम्ब दिखना चाहिए। कल्पित में कल्पकत्व की क्षमता का उपपादन विस्तार से आगे किया जायगा। न्यायामृतकार ने प्रपञ्च में परमार्थसत्त्व के साधन में प्रयुक्त छहों हेतुओं का निराकरण कर दिया गया, इसी प्रकार अन्य हेतुओं का भी निराकरण कर देना चाहिए।

२. प्रपञ्च-सत्यत्व-साधक द्वितीय अनुमान-प्रकार—

द्वैतवादी—विश्व का सत् और असत्—दो कोटियों में विभाजन किया जा सकता है। जो सत् नहीं, वह असत् तथा जो असत् नहीं, उसे लोक में सत् माना जाता है, अतः 'विवादास्पद (व्यावहारिक) प्रपञ्च सत् से भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि असत् से भिन्न है, जैसे कि आत्मा'—इस अनुमान-प्रयोग के द्वारा प्रपञ्च में असद्वैलक्षण्य या सत्त्व सिद्ध किया जा सकता है।

अद्वैतवादी—उक्त अनुमान-प्रयोग समीचीन नहीं, क्योंकि शुक्ति-रजतादि प्राति-भासिक पदार्थों में असद्विलक्षणत्व हेतु अपने साध्य से व्यभिचरित है, क्योंकि प्रातिभा-सिक पदार्थ सत् और असत्—दोनों कोटियों से विलक्षण माने जाते हैं, अतः उनके लिए 'नासद्विलक्षणम्'—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

शङ्का—जैसा कि उपर कहा जा चुका है कि जो सत् नहीं, उसे असत् कहते हैं, प्रातिभासिक पदार्थ सत् नहीं माने जाते, अतः असत् होते हैं, उन में असद्विलक्षणत्वरूप

न्यायामृतम्

व्यभिचारः। तस्यासद्विलक्षणत्वेन तद्विरुद्धसद्विलक्षणत्वायोगात्। विमतं न चैतन्याज्ञानकार्यं न चैतन्याज्ञानकार्यधीविषयो वा न चैतन्याज्ञानकार्यसत्त्ववद्वा चैतन्यज्ञानबाध्यं

अद्वैतसिद्धिः

क्षणत्वहेतुरेव नास्तीति—वाच्यम्; असद्विलक्षणत्वाभावे हि अपरोक्षतया प्रतीतिरेव न स्यात्। ननु—तर्ह्यसद्विलक्षणत्वे तद्विरुद्धसद्विलक्षणत्वायोगः, तथा च साध्यस्यापि विद्यमानत्वान्न व्यभिचार—इति चेन्न; सत्त्वे सर्वजनसिद्धबाधविरोधाद्, गजादौ गोवैलक्षण्येऽपि तद्विरुद्धाश्ववैलक्षण्ययोगवत् सद्वैलक्षण्येऽप्यसद्वैलक्षण्ययोगोपपत्तेः प्रथममिथ्यात्वनिरुक्तावुक्तत्वात्।

ननु—विमतं, न चैतन्याज्ञानकार्यम्, न तत्कार्यधीविषयः, न तत्कार्यसत्त्ववत्, न तज्ज्ञानबाध्यसत्त्ववद्वा, तस्मिन्नपरोक्षेऽप्यनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानत्वाद्, यदेवं तदेवम्, यथा घटे अपरोक्षेऽप्यनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानः पटो न घटाज्ञानकार्यादिः; विपक्षे च तदापरोक्ष्ये तदज्ञानव्याहतिरेव बाधिका, न चासिद्धिः; अधिष्ठानतया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

हेतु ही नहीं रहता, व्यभिचारी क्यों होगा ?

समाधान—शुक्ति-रजतादि प्रतिभासिक पदार्थों को असत् से विलक्षण मानना होगा, अन्यथा शश-शृङ्गादि के समान ही उनकी भी प्रतीति नहीं हो सकेगी, अतः असद्विलक्षणत्व हेतु वहाँ रहने से अवश्य व्यभिचरित है।

शङ्का—शुक्ति-रजतादि प्रतिभासिक पदार्थों को यदि असद्विलक्षण मानते हैं, तब उनमें उस से विरुद्ध सद्विलक्षणत्व नहीं रह सकता, इस प्रकार वहाँ हेतु भी है और साध्य भी, तब व्यभिचार कैसे ?

समाधान—शुक्ति-रजतादि यदि सद्विलक्षण नहीं, तब सत् हैं, सत् का बाध नहीं होता, अतः सर्वजन-प्रसिद्ध शुक्ति-रजतादि का बाध कैसे होगा ? गजादि में गो-भेद रहने पर भी उससे विरुद्ध अश्व-भेदरूप धर्म जैसे रह जाता है, वैसे ही शुक्ति-रजतादि में सद्वैलक्षण्य होने पर भी उस से विरुद्ध असद्वैलक्षण्य उपपन्न हो जाता है--यह विगत पृ० १७ पर कह चुके हैं।

३. प्रपञ्च-सत्यत्व-साधक तृतीय अनुमान-प्रकार—

द्वैतवादी—विवादास्पद (व्यावहारिक) प्रपञ्च चैतन्य के अज्ञान का कार्य या चैतन्याज्ञान-जनित ज्ञान का विषय, या चैतन्याज्ञान से जनित सत्तावान्, अथवा चैतन्य-ज्ञान से बाधित सत्तावान् नहीं होता, क्योंकि चैतन्य का अपरोक्ष ज्ञान रहने पर भी अनिषेध्यत्वेन साक्षात् भासमान है, जिसका अपरोक्ष ज्ञान रहने पर जो अनिषेध्यत्वेन साक्षात् प्रतीयमान होता है, वह उसके अज्ञान का कार्यादि नही माना जाता, जैसे—घट का अपरोक्ष बोध होने पर भी अनिषेध्यत्वेन साक्षात् प्रतीयमान पट घट के अज्ञान का कार्यादि नहीं होता। यहाँ विपक्ष-बाधक तर्क भी है—यदि चैतन्यापरोक्षेऽपि चैतन्याज्ञानं तत्कार्यम् चानिषेध्यत्वेन साक्षात् प्रतीयेत, तर्हि ज्ञानाज्ञानयोविरोध उच्छिद्येत।' प्रपञ्च-प्रतीति काल में भी 'घटः सन्'—इस प्रकार घटादि के अधिष्ठान रूप चैतन्य का एवं सुषुप्ति-काल में 'सुखमहमस्वाप्सम्'—इस प्रकार सुखादि-साक्षी के रूप में चैतन्य का अपरोक्ष बोध माना जाता है, अतः पक्ष में हेतु की असिद्धि भी नहीं है [न्यायामृतकार ने इस अनुमान-प्रयोग में पाँच साध्यों का निर्देश किया है—

न्यायामृतम्

वा चैतन्यज्ञानबाध्यसत्त्ववद्वा तस्मिन्नपरोक्षेऽपि अनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानत्वाद् , यदेवं तदेवम्, यथा पटेऽपरोक्षेऽप्युक्तभानवान् घटो न पटाज्ञानकार्यादिः । चैतन्यं चाधिष्ठानतया सुखादिसाक्षित्वेन चेदानीमप्यपरोक्षमिति नासिद्धिः । शंखत्वादावपरोक्षेऽपि भासमानं पीतत्वादिकं न तदज्ञानकार्यं किं तु श्वेतत्वाज्ञानकार्यादिकमिति न व्यभिचारः । अत्राप्यापरोक्ष्यस्याज्ञानविरोधित्वात् सति तस्मिन्नज्ञानांगीकारे व्याघातः । एवमुत्तरत्रापि विपक्षे बाधकमुन्नेयम् ।

अद्वैतसिद्धिः

सुखादिसाक्षित्वेन चेदानीमपि चैतन्यापरोक्ष्याद्—इति चेन्न; सामान्याकारेणापरोक्ष्येऽपि शुक्त्यादौ रजतादेरनिषेध्यत्वेन साक्षाद्भासमानतया तत्र व्यभिचारात् । अथ व्यावृत्ताकारेण यस्मिन् भासमाने यदनिषेध्यत्वेन साक्षाद् भासते, न तत्तदज्ञानकार्यादीति व्याप्तिरिति मन्यसे, तर्ह्यसिद्धिः, नहि चैतन्यमिदानीं भ्रमनिवर्तकत्वाभिमतव्यावृत्ताकारापरोक्षप्रतीतिविषयः, तथा सत्यधिष्ठानमेव न स्यात् । यदा तु वेदान्तवाक्यजन्यवृत्तौ व्यावृत्ताकारतया अपरोक्षं, तदा अनिषेध्यत्वेन प्रपञ्चे आपरोक्ष्यशङ्कापि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(१) न चैतन्याज्ञानकार्यम्, (२) न चैतन्याज्ञानकार्यधीविषयः, (३) न चैतन्याज्ञानकार्यसत्त्ववत्, (४) न चैतन्यज्ञानबाध्यसत्त्ववत्, (५) न चैतन्यज्ञानबाध्यम् । इन में अद्वैतसम्मत प्रपञ्चगत ब्रह्माज्ञान-कार्यत्व का निषेध प्रथम, वृत्तिज्ञानमात्र की विषयता द्वितीय, अज्ञान-जन्य व्यावहारिक सत्त्व का निषेध तृतीय, ब्रह्म-ज्ञान-बाधित व्यावहारिक सत्त्व का निषेध चतुर्थ तथा ब्रह्म-ज्ञान-बाधितत्व का निषेध पञ्चम साध्य में किया गया है । अद्वैतसिद्धि में अन्तिम साध्य का उल्लेख नहीं है] ।

अद्वैतवादी—आपके सभी अनुमान-प्रयोग दूषित हैं, क्योंकि हेतु के, यस्मिन्नपरोक्षे'—इस दल से अधिष्ठान का सामान्याकार अपरोक्ष विवक्षित है ? अथवा विशेषाकर ? प्रथम कल्प मानने पर हेतु व्यभिचारी होता है, क्योंकि 'इदं रजतम्'—इस प्रकार शुक्ति का सामन्यरूपेण अपरोक्ष होने पर भी रजत का निषेध नहीं होता, अपितु अनिषेध्यत्वेन साक्षाद् भासमानत्वरूप हेतु शुक्ति-रजत में रह जाता है, किन्तु वहाँ आपका साध्य नहीं रहता, क्योंकि उस में शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य के अज्ञान की कार्यता ही है, कार्यता का अभाव नहीं । द्वितीय कल्प के अनुशार विशेषाकारावगाही अपरोक्षज्ञान अभिमत होने पर स्वरूपासिद्धि दोष होता है, क्योंकि व्यवहार-दशा में चैतन्य का 'घटः सन्'—इस प्रकार सामान्यतः भान होने पर भी अद्वैतानन्दत्वादि विशेषाकार से अपरोक्ष नहीं माना जाता, घटादि प्रपञ्च में अनिषेध्यत्वेन भासमानता चैतन्य-विशेषाकारापरोक्षकालीन नहीं । व्यवहार-दशा में चैन्य का विशेषाकारेण अपरोक्ष मानने पर उसे विश्वविभ्रम का अधिष्ठान ही नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि सामान्यतः ज्ञात और विशेषाकारेण अज्ञात पदार्थ को ही अधिष्ठान माना जाता है । जब अद्वैतानन्दादि—विशेषाकारावगाही वेदान्त-वाक्य-जन्य निर्विकल्प अपरोक्ष साक्षात्कार उत्पन्न होता है, तब प्रपञ्च में त्रैकालिक निषेध्यता आजाने के कारण अनिषेध्यत्वेन अपरोक्षता का सन्देह भी नहीं कर सकते । अतः [द्वैतवादी के हृदय में जो यह प्रसुप्त संदेह था कि प्रपञ्च यदि चैतन्य के अज्ञान का कार्य है, तब 'घटः सन्'—इस रूप में चैतन्य का अपरोक्ष बोध हो जाने पर निषिद्ध न होकर अनिषेध्यत्वेन क्यों प्रतीत होता रहता है ? उस शङ्का का समाधान यही है कि]

न्यायामृतम्

विमतं नात्मन्यध्यस्तम्, तत्त्वसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयत्वाद्, यदेवं तदेवं यथा पटसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयो घटो न तत्राध्यस्तः। न चासिद्धिः, ईशजीवन्मुक्तयोरात्मसाक्षात्कारवतोरपि जगद्रक्षणभिक्षाटनशिष्यबोधनादौ प्रवृत्तेः। शंखेऽध्यस्तमपि पीतत्वं

अद्वैतसिद्धिः

नास्ति। अतः प्रमाणजन्यासाधारणाकारभानस्यैवाज्ञानविरोधित्वान्नापरोक्षतामात्रेणाज्ञानपराहतिप्रसङ्गः। यत्त्वज्ञानपदेन ज्ञानाभावोक्तौ सिद्धसाधनम्; अनिर्वचनीयाज्ञानोक्तौ च तस्य खपुष्पायमाणत्वेन प्रतियोग्यप्रसिद्धिरिति। तत्तुच्छम्; असत्प्रतियोगिकाभावं स्वीकुर्वतः पराभ्युपगममात्रेणैव प्रतियोगिप्रसिद्धिसंभवात्।

ननु—विमतं, नात्मन्यध्यस्तम्; आत्मसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा घटसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयो घटो न तत्राध्यस्तः, न चासिद्धिः, ईशजीवन्मुक्तयोरात्मसाक्षात्कारवतोरपि जगद्रक्षणभिक्षाटनादौ प्रवृत्तेः, शङ्खे अध्यस्तमपि पीतत्वं न शङ्खश्वेतत्वसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषय इति न तत्र व्यभिचार—इति चेन्न;

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रमाण-जन्य चैतन्य का विशेषाकारावगाही अपरोक्ष भान ही अज्ञान का विरोधी होता है, व्यवहार-दशा में 'घटः सन्'—इत्यादि रूप में सामान्यतः अपरोक्ष भान मात्र से मूलाज्ञान पराहत नहीं होता, फलस्वरूप प्रपञ्च की अनिषेध्यत्वेन प्रतीति होती रहती है।

द्वैतवादी के उक्त अनुमान-प्रयोग में जो यह दोष दिया जाता है कि 'चैतन्याज्ञान'—में 'अज्ञान' पद से ज्ञानाभाव विवक्षित है? अथवा अद्वैति-सम्मत अनिवर्चनीय अज्ञान? प्रथम कल्प में सिद्ध-साधनता दोष है, क्योंकि ज्ञानाभाव की कार्यता प्रपञ्च में अद्वैती भी नहीं मानता। द्वितीय कल्प में अप्रसिद्ध-विशेषता दोष है, क्योंकि आप (माध्व) अनिर्वचनीय अज्ञान नहीं मानते, अतः आपके मत से अनिर्वचीयाज्ञान-कार्यत्वरूप प्रतियोगी की अप्रसिद्धि होने के कारण आज्ञानकार्यत्वाभावरूप साध्य अत्यन्त अप्रसिद्ध है। वह दोष अत्यन्त नगण्य है, क्योंकि माध्व असत्प्रयोगिक अभाव मानता है, अतः वह कह सकता है कि अनिर्वचनीय अज्ञान हमारे मत में यद्यपि असत् है, फिर भी असत्प्रतियोगिक अभाव को हम प्रसिद्ध मानते हैं, दूसरी बात यह भी है कि आप (अद्वती) तो मानते ही हैं, अतः अज्ञान-कार्यत्वरूप प्रतियोगी प्रसिद्ध हो जाता है।

४. प्रपञ्च-सत्यत्व-साधक चतुर्थ अनुमान-प्रकार—

द्वैतवादी—विवादास्पद, (प्रपञ्च) आत्मा में अध्यस्त नहीं, क्योंकि, आत्मा का जिन्होंने साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे ईश्वर तथा शुकदेवादि जीवन्मुक्त महापुरुषों की प्रवृत्ति का विषय होता है, जिस वस्तु का साक्षात्कार हो जाने पर भी द्रष्टा पुरुष की जिस पदार्थ में प्रवृत्ति देखी जाती है, वह पदार्थ उस वस्तु में अध्यस्त नहीं होता, जैसे कि घट के साक्षात् दर्शन करनेवाले पुरुष की पट में प्रवृत्ति होती है, अतः वह पट कभी भी घट में अध्यस्त नहीं होता। प्रपञ्चरूप पक्ष में उक्त हेतु असिद्ध नहीं, योंकि तत्त्वदर्शी परमेश्वर की जगत् के रक्षा तथा शुक, वासदेवादि जीवन्मुक्त महापुरुषों की भिक्षाटनादि में प्रवृत्ति प्रसिद्ध है। किन्तु शङ्ख का जिसने साक्षात्कार कर लिया, उस पुरुष की शङ्खाध्यस्त पीतरूपादि के व्यवहार में कभी प्रवृत्ति नहीं होती, अतः प्रकृत हेंतु विपक्षवृत्ति न होने के कारण व्यभिचारी भी नहीं है।

अद्वैतवादी—कथित हेतु शङ्ख-पीतिमादि में व्यभिचारी न होने पर भी दर्पणादिगत

न्यायामृतम्

न शंखतत्त्वसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषय इति न व्यभिचारः। विमतं नेश्वरमायाकल्पितम्, तं प्रत्यपरोक्षत्वात्, यदेवं तदेवं यथा चैत्रं प्रत्यपरोक्षो घटो न चैत्रमायाकल्पितः। विमतं न जोवकल्पितम्, तस्मिन्सुषुप्तेऽप्यवस्थितत्वात्, आत्मवत्। न चाऽसिद्धिः, प्रत्यभिज्ञानात्, तस्यात्यंताप्रामाण्ये च क्षणिकवादापातात्। बाधकाभावाच्च। अदृष्टादेरप्यभावेन

अद्वैतसिद्धिः

प्रतिबिम्बे व्यभिचारात्। स हि मुखैक्यसाक्षात्कारवत्प्रवृत्तिविषयो मुखेऽध्यस्तः। तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानत्वस्योपाधित्वाच्च।

एवं च—विमतं, नेश्वरमायाकल्पितम्, तं प्रत्यपरोक्षत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा चैत्र प्रत्यपरोक्षो घटो न चैत्रमायाकल्पितः; विमतं, न जोव(माया)कल्पितम्, तस्मिन् सुषुप्तेऽप्यवस्थितत्वात्, आत्मवत्, न चासिद्धिः, प्रत्यभिज्ञानाद्; अदृष्टादेरभावे पुनरुत्थानायोगाच्च—इत्यपि निरस्तम्; आद्ये ऐन्द्रजालिकं प्रत्यपरोक्षे तन्मायाकल्पिते व्यभिचारात्, मायाविद्ययोरभेदेन देहात्मैक्यभ्रमे व्यभिचाराच्च। द्वितीये त्वसिद्धेः। न च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मुखादि के प्रतिविम्ब में व्यभिचारी है, क्योंकि मुखका साक्षात्कार कर लेनेवाले पुरुष की मुखादि बिम्बाध्यस्त प्रतिविम्ब में प्रवृत्ति-विषयता देखी जाती है। अतः दर्पणादि-सन्निधान-प्रयुक्त प्रतिबिम्ब-विभ्रम के समान ही प्रपञ्च-भ्रम में भी विशेष-दर्शी पुरुष की प्रवृत्ति बन जाती है। उक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध भी है, क्योंकि उसमें 'तद्व्यतिरेकेणोपलभ्यमानत्व' उपाधि है। पटादि दृष्टान्त में घट-व्यतिरेकेण उपलभ्यमानत्व रहने के कारण यह साध्य का व्यापक तथा शुक्ति-रजतादिरूप प्रपञ्च में शुक्त्यादि-व्यतिरेकेण उपलभ्यमानत्व नहीं, अतः वह साधन का अव्यापक है [आशय यह है कि भेद-दर्शन अभेद-भानरूप अध्यास का प्रतिबन्धक होता है, पट में घट-भेद-दर्शन होने के कारण अध्यस्त नहीं, उसके दृष्टान्त से भेद-दर्शन-रहित प्रपञ्च विभ्रम का अपलाप नहीं किया जा सकता]।

५. प्रपञ्च-सत्यत्व-साधक पञ्चम अनुमान-प्रकार—

द्वैतवादी—विवाद-ग्रस्त (व्यावहारिक) प्रपञ्च ईश्वर की माया से कल्पित नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर के प्रति वह अपरोक्ष है, जो पदार्थ जिस पुरुष का अपरोक्ष होता है, वह पदार्थ उस पुरुष की माया से कल्पित नहीं होता, जैसे कि चैत्र के प्रति अपरोक्ष-भूत घट चैत्र की माया से कल्पित नहीं होता। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि विवादास्पद प्रपञ्च जीव-कल्पित नहीं, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में जीव का विलय हो जाने पर भी अवस्थित रहता है, जैसे—ब्रह्म, सुषुप्ति-काल में प्रपञ्च भी विलीन हो जाता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि घटादि प्रपञ्च का सुषुप्ति में अभाव मानने पर सुषुप्ति से उत्थित जीव को 'सोऽयं घटः'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी? इसी प्रकार सुषुप्ति से जीव के उत्थापक अदृष्टादि प्रपञ्च का विलय मानने पर सुषुप्ति से जीव का कभी उत्थान ही नहीं होगा, अतः अदृष्टादि की अवस्थिति माननी पड़ेगी।

अद्वैतवादि—उक्त अनुमान-प्रयोगों में प्रथम हेतु ऐन्द्रजालिक के प्रति अपरोक्षभूत उसकी माया से कल्पित पदार्थों में व्यभिचारी है एवं माया और अविद्या के अभेद-मत से देहात्मैक्य में भी व्यभिचार है, क्योंकि इस मत के अनुसार अविद्यारूप माया के द्वारा कल्पित देहात्मैकता में जीव के प्रति अपरोक्षता होने पर भी जीव-कल्पितत्वाभाव नहीं रहता। द्वितीय (तस्मिन् सुषुप्तेऽप्यवस्थितत्वरूप) हेतु तो पक्ष में असिद्ध ही है,

न्यायामृतम्

पुनरुद्बोधायोगाच्च । सामान्येनात्मसत्यत्वे मिथ्यात्वं नात्मान्यसर्ववृत्ति, मिथ्यामात्र-

अद्वैतसिद्धिः

प्रत्यभिज्ञया प्रपञ्चस्य स्थायित्वसिद्धेर्नासिद्धिः; सुषुप्तिकालस्थायित्वासाधकत्वस्य प्रत्यभिज्ञाया दृष्टिसृष्टिसमर्थने वक्ष्यमाणत्वात्, अदृष्टादेः कारणात्मनाऽवस्थितत्वेन पुनरुत्थानसंभवाच्च ।

मिथ्यात्वं आत्मान्यसर्ववृत्ति न, मिथ्यामात्रवृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववद् इत्यपि न; मिथ्यात्वन्यूनवृत्तित्वस्योपधित्वात् । मिथ्यात्वं च सदसद्विलक्षणत्वं, सद्विलक्षणत्वमात्रं वा । आद्ये सिद्धसाधनम्, तस्यात्मान्यसर्वमध्यपतितासद्वृत्तित्वाभावात् । द्वितीये तु हेतौ मिथ्यापदस्य सदद्वैलक्षण्यपरत्वे स्वरूपासिद्धिः; सद्वैलक्षण्यरूपे पक्षे तुच्छसाधारणे सदसद्विलक्षणेतरावृत्तित्वरूपहेत्वभावात् । तस्यापि सद्वैलक्षण्यमात्र-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि सुषुप्ति काल में वस्तुतः समस्त प्रपञ्च प्रलीन ही हो जाता है, जागने पर जीव को जो प्रत्यभिज्ञा होती है, वह 'तदेवेदमौषधम्' के समान सादृश्य-मूलक ही होती है— यह दृष्टि-सृष्टि-समर्थन के अवसर पर विस्तार से कहा जायगा । जीवोत्थापक अदृष्टादि की स्वरूपतः अवस्थिति न होने पर भी कारण रूपेण अवस्थिति रह जाने के कारण जीव का उत्थान सम्भव हो जाता है ।

६. प्रपञ्च-सत्यत्व-साधक षष्ठ अनुमान-प्रकार—

द्वैतवादी—'मिथ्यात्व' धर्म आत्मा से भिन्न समस्त प्रपञ्च में नहीं रहता, क्योंकि प्रपञ्चान्तर्गत केवल मिथ्या पदार्थों में ही उसका रहना माना जाता है, जैसे कि शुक्ति-रजतत्व । इस प्रकार प्रपञ्च का अधिक भाग मिथ्यात्व-शून्य सिद्ध होता है, उसमें रहने के कारण दृश्यत्वादि हेतु व्यभिचारी हो जाते हैं, अतः उन से मिथ्यात्व का अनुमान क्योंकर होगा ?

अद्वैतवादी—उक्त अनुमान में 'मिथ्यात्व-न्यूनवृत्तित्व' उपाधि है । रज्जु-सर्पादि मिथ्या पदार्थों में मिथ्यात्व रहता है, किन्तु शुक्ति-रजतत्व नहीं, अतः शुक्ति-रजतत्वरूप दृष्टान्त में मिथ्यात्व-न्यूनवृत्तित्व धर्म रहने के कारण साध्य का व्यापक तथा मिथ्यात्व-रूप पक्ष में न रहने के कारण साधन का अव्यापक है। इस प्रकार सोपाधिक हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हो जाता है, अपने साध्य-साधन की योग्यता खो बैठता है । दूसरी बात यह भी है कि पक्षरूप में निर्दिष्ट मिथ्यात्व का स्वरूप क्या सदसद्विलक्षणत्व विवक्षित है ? अथवा केवल सद्विलक्षणत्व ? प्रथम पक्ष में सिद्ध-साधनता दोष है, क्योंकि सदस-द्विलक्षणत्वरूप धर्म आत्मा से भिन्न समस्त असदादि प्रपञ्च में नहीं रहता । द्वितीय पक्ष में 'मिथामात्रवृत्तित्वात्'— इस हेतु के घटक 'मिथ्या' पद का सदसद्वैलक्षण्य अर्थ करने पर 'सद्विलक्षणत्वम्, न आत्मान्यसर्ववृत्ति, सदसद्विलक्षणमात्रवृत्तित्वात्'— यह अनुमान का आकार पर्यवसित होता है, जिसमें स्वरूपसिद्धि है, क्योंकि सद्विलक्षणत्वरूप पक्ष में सदसद्भिन्न अनिर्वचनीयमात्र-वृत्तित्व नहीं । आशय यह है कि 'सदसद्विलक्षणमात्र-वृत्तित्व' का अर्थ होता है—सदसद्विलणेतरावृत्तित्वे सति सदसद्विलक्षणवृत्तित्व । किन्तु सद्विलक्षणत्व में सदसद्विलक्षणेतर असत् पदार्थ की वृत्तिता ही है, अवृत्तित्व नहीं । हेतु-घटक 'मिथ्या' पद का सद्विलक्षणत्व अर्थ करने पर सन्दिग्धानैकान्तिकत्व दोष हो जाता है । निश्चित साध्याभाव के आधार में सन्दिग्ध हेतु को सन्दिग्धानैका-

न्यायामृतम्

वृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववत्। आत्मा परमार्थसदन्यः, परमार्थसद्भावान्यो वा, पदार्थत्वात्, अनात्मवत्। आत्मा यावत्स्वरूपमनुवर्तमानानात्मवान्, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानभावरूपानात्मवान्वा, स्वज्ञानाबाध्यानात्मवान्वा, स्वज्ञानाबाध्यभावरूपानात्मवान्वा,

अद्वैतसिद्धिः

परत्वे संदिग्धानैकान्तिकता; साध्याभाववत्यात्मभेदे हेतुसन्देहात्। अप्रयोजकत्वादिकं च पूर्वोक्तं दूषणमनुवर्तत एव।

आत्मा, परमार्थसदन्यः, परमार्थत्वादनात्मवत्। न च कल्पितात्मप्रतियोगिकभेदेनार्थान्तरम्; कल्पितमिथ्यात्वेन मिथ्यात्वानुमानेऽपि सिद्धसाधनापत्तेरित्यपि न; व्यावहारिकपदार्थमादाय सिद्धसाधने अतिप्रसङ्गाभावात्, अनानन्दत्वस्योपाधित्वाच्च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्तिक कहते हैं। आत्मा का भेद आत्मा से अन्य समस्त प्रपञ्च में रहता है, अतः आत्मभेद में आत्मान्यसर्ववृत्तित्वाभावरूप साध्य का अभाव निश्चित है और मिथ्यामात्रवृत्तित्वरूप हेतु सन्दिग्ध है, क्योंकि मिथ्यात्व यदि केवल सद्भिन्नत्व है, तब तो आत्म-भेद में मिथ्यामात्र-वृत्ति होगा और मिथ्यात्व यदि सदसद्भिन्नत्व है, तब उसमें मिथ्यामात्रवृत्तित्व न होकर असद्वृत्तित्व भी होगा। इसी प्रकार विपक्ष-बाधक तर्काभावमूलक हेतु में अप्रयोजकत्वादि पूर्वोक्त दोष भी उक्त अनुमान में हैं।

७. प्रपञ्च-सत्यत्व-साधक सप्तम अनुमान-प्रकार—

द्वैतवादि—आत्मा परमार्थसत् (प्रपञ्च) से भिन्न होता है, क्योंकि पदार्थ है, जैसे—अनात्म वस्तु। अर्थात् जैसे घटादि अनात्म पदार्थ परमार्थसद्रूप आत्मा से भिन्न होते हैं, वैसे ही आत्मा भी परमार्थसद्रूप घटादि प्रपञ्च से भिन्न होगा, अतः घटादि प्रपञ्च परमार्थ सत्य है। यदि कहा जाय कि आत्मा में भी आत्मा का काल्पनिक भेद माना जा सकता है, भेद का परमार्थद्रूप आत्मा ही प्रतियोगी है, इस अनुमान का इतना ही उद्देश्य था कि भेद के प्रतियोगी को परमार्थ सत् सिद्ध करना, वह आत्म-सत्यता से ही पूरा हो जाता है, फलतः इस अनुमान से प्रपञ्च में परमार्थ सत्यत्व सिद्ध न होकर आत्मा में परमार्थ सत्त्व सिद्ध होने के कारण अर्थान्तरता नाम का निग्रहस्थान उपस्थित हो जाता है। तो ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यही दोष अद्वैतवादी के 'प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात्'—इस मिथ्यात्वानुमान में दिया जा सकता है कि प्रपञ्च में काल्पनिक मिथ्यात्व को लेकर यह अनुमान गतार्थ हो जाता है, वास्तविक मिथ्यात्व सिद्ध नहीं कर सकता, अतः प्रपञ्च की सद्रूपता अक्षुण्ण रह जाती है। इस लिए 'अर्थान्तरता' दोष दोनों पक्षों में समान होने के कारण उद्भावित नहीं हो सकता, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—

> तस्माद् ययोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
> नैकस्तत्र नियोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥ (श्लो. वा. पृ. ३४१)

अद्वैतवादि—द्वैतवादी का यह अनुमान भी उचित नहीं, क्योंकि उक्त अनुमान के द्वारा प्रपञ्च में जो सद्रूपता सिषाधयिषित है, वह व्यावहारिक सद्रूपता को लेकर सिद्धसाधनतामात्र है। प्रपञ्च में व्यावहारिक सत्यत्व मानने पर किसी प्रकार का मिथ्यात्वानुमान-विरोधादि अतिप्रसङ्ग भी नहीं होता। उक्त अनुमान में आनन्दत्वाभाव उपाधि भी है, क्योंकि दृष्टान्तरूप अनात्मपदार्थों में आनन्दत्वाभाव साध्य का व्यापक है तथा

अद्वैतसिद्धिः

अथ आत्मा, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानानात्मवान्, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानभावरूपानात्मवान् वा स्वज्ञानाबाध्यानात्मवान्, स्वज्ञानाबाध्यभावरूपानात्मवान्वा, पदार्थत्वाद्, भावत्वाद्वा घटादिवद् इति। अत्र पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्त्यभ्युपगमपक्षे सिद्धसाधनपरिहाराय साध्ययोर्भावरूपपदमनात्मविशेषणमित्यपि मन्दम्। 'यावत्स्वरूप' मित्यस्य यत्किंचित्स्वरूपपरत्वे सिद्धसाधनाद्, आत्मस्वरूपपरत्वे साध्याप्रसिद्धेः। न हि यावदात्मस्वरूपमनुवर्तमानोऽनात्मा प्रसिद्धोऽस्ति; तथा सत्यनुमानवैयर्थ्यात्। अथ—स्वरूपपदस्य समभिव्याहृतपरत्वाद् व्याप्तिग्रहदशायां दृष्टान्तस्वरूपं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आत्मरूप पक्ष में आनन्दत्वाभाव नहीं, किन्तु 'पदार्थत्व' हेतु वहाँ भी है, अतः उपाधि में साधन की अव्यापकता भी है। सोपाधिक पदार्थत्वरूप हेतु के द्वारा आत्मा में परमार्थसत्प्रतियोगिक भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता।

८. प्रपञ्च-सत्यत्व-साधन में अष्टम अनुमान-प्रकार—

द्वैतवादी—आत्मा कभी अकेला नहीं रहता—"एकाकी न रमते" (महो० १।१) सदैव द्वैत की रङ्गस्थली पर लीला-विलास किया करता है। आत्मा यदि सदातन है, तब द्वैत जगत् का भी त्रैकालिक भाव ही मानना होगा, त्रैकालिक अभाव नहीं—इस आशय का अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है—(१) 'आत्मा ऐसे अनात्म पदार्थों से संवलित होता है, जो कि आत्मा के यावत्स्वरूप अनुवर्तमान होते हैं अर्थात् सदातन होते हैं, अथवा (२) आत्मा यावत्स्वरूपम् अनुवर्तमान भावरूप द्वैत जगत् से युक्त होता है, अथवा (३) आत्मा अपने ज्ञान-द्वारा अबाधित अनात्म प्रपञ्च से युक्त है, अथवा (४) आत्मा अपने ज्ञान-द्वारा अबाधित भावरूप अनात्म प्रपञ्च से युक्त होता है, क्योंकि पदार्थ है अथवा भाव पदार्थ है, जैसे—घटादि [इष्टसिद्धिकारादि कुछ आचार्य अविद्या-निवृत्ति को भाव, अभाव, भावाभाव तथा अभावाभाव—इन चारों कोटियों से भिन्न मानते हैं। जैसा कि श्रीआनन्दबोध ने कहा है—

न सन्नासन्न सदसन्नोभयो नापि तत्क्षयः।
यक्षानुरूपो हि बलिरित्याचार्या व्यचीचरन्॥ (न्या. म. पृ. ३५५)

इसकी चर्चा पृ० ६२ पर आचुकी है। इस प्रकार की] अविद्या-निवृत्ति में सिद्ध-साधनता का परिहार करने के लिए द्वितीय तथा चतुर्थ साध्य में 'भावरूपत्व' अनात्म पदार्थ का विशेषण दिया गया है।

अद्वैतवादी—उक्त अनुमान भी निरर्थक से ही हैं, क्योंकि साध्यगत 'यावत्स्वरूपम्'—इस विशेषण से यत्किञ्चित् स्वरूप विवक्षित है? या आत्मस्वरूप? प्रथम पक्ष में सिद्ध-साधनता है, क्योंकि यत्किञ्चित्स्वरूप से घटस्वरूप ले सकते हैं, घट का स्वरूप जब तक है, तब तक अनुवर्तमान घटगत गुणादि हैं, उन का आश्रय (अधिष्ठान) आत्मा माना ही जाता है। द्वितीय (आत्मस्वरूप) पक्ष में साध्याप्रसिद्धि दोष है, क्योंकि अद्वैत सिद्धान्त में जब तक आत्मा का स्वरूप है, तब तक कोई भी अनात्म पदार्थ अनुवर्तमान नहीं माना जाता, मोक्षदशा में आत्मा का स्वरूप अवस्थित होने पर भी किसी अनात्म वस्तु का अनुवर्तन प्रसिद्ध नहीं। मोक्ष-दशा में भी यदि किसी अनात्मवस्तु की अवस्थिति मानी जाती है, तब वही अनात्म वस्तु सत्य प्रसिद्ध हो जाती है, उसके लिए अनुमान-प्रयोग निरर्थक हो जाता है। यदि कहा जाय कि 'स्वरूप' पद

न्यायामृतम्

पदार्थत्वाद्भावत्वाद्वा घटवत्। विमता बंधनिवृत्तिः स्वप्रतियोगिविषयविषयकज्ञानाबाध्या अनात्मसमानकालीना, उक्तज्ञानाबाध्यभावरूपानात्मसमानकालीना वा, बंधनिवृत्तित्वात्, निगडबंधनिवृत्तिवदित्यादीनि द्रष्टव्यानि।

अद्वैतसिद्धिः

पक्षधर्मताग्रहदशायां चात्मस्वरूपमेव प्राप्यत इति न साध्याप्रसिद्धिर्न वा सिद्धसाधनमिति—चेन्न; शब्दस्वभावोपन्यासस्यानुमाने अनुपयोगात्। स्वज्ञानाबाध्येत्यत्र स्वशब्देऽपि तुल्योऽयं दोषः।

अत एव—विमता, बन्धनिवृत्तिः, स्वप्रतियोगिविषयविषयकज्ञानाबाध्यानात्मसमकालीना, उक्तज्ञानाबाध्यभावरूपानात्मसमानकालीना वा, बन्धनिवृत्तित्वात्; निगडबन्धनिवृत्तिवदित्यपि—निरस्तम्; पक्षदृष्टान्तयोर्बन्धपदार्थस्यैकस्याभावेन स्वरूपासिद्धिसाधनवैकल्यान्यतरापातात्। स्वपदे चोक्तः साध्याप्रसिद्धिदोषः। हेतौ च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्व-समभिव्याहृत वस्तु का बोधक होता है, जैसे—घटः स्वरूपेण वर्तते, पटः स्वरूपेण वर्तते—आदि स्थलों पर 'स्वरूप' पद कभी घट तथा कभी पट को कहता है, वैसे ही 'स्वरूप' पद व्याप्ति-ग्रहण के समय दृष्टान्तस्वरूप का तथा आत्मरूप पक्ष में हेतु-वृत्तिता-ग्रहण के समय पक्षरूप आत्मस्वरूप का बोधक होता है, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'सैन्धव' पद कभी लवण को एवं कभी सिन्धु देश-प्रसूत अश्व को कहता है'—इस प्रकार शब्द के स्वभाव-विशेष का प्रतिपादन शाब्दबोध के समय ही उपयोगी होता है, अनुमान में नहीं। यहाँ तो 'स्वरूप' पद पदार्थों के असाधारण तत्तद्रूप को कहता है, पक्ष-दृष्टान्तरूप उभय-साधारण रूप को नहीं कह सकता, पक्ष और दृष्टान्त—दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है, अतः पक्षस्वरूपता को लेने पर दृष्टान्त में व्याप्ति-ग्रहण और दृष्टान्तस्वरूपता का ग्रहण करने पर पक्ष-वृत्तिता का ग्रहण सम्भव नहीं होता, अनुमान के लिए व्याप्ति एवं पक्षधर्मता—दोनों का निश्चय अपेक्षित होता है, उसके बिना अनुमान की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'स्वज्ञानाबाध्य'—यहाँ पर भी वही 'स्व' पद की अनुगमरूप-परता दोष समान है।

अत एव यह अनुमान-प्रयोग भी निरस्त हो जाता है—'विवादास्पद बन्ध की निवृत्ति अपने प्रतियोगीभूत विषय को विषय करने वाले ज्ञान के द्वारा अबाधित स्वसमान-कालीन अनात्म पदार्थ अथवा भावरूप अनात्मपदार्थ के सम-सामयिक होती है, क्योंकि बन्ध की निवृत्ति हैं, जैसे हथकड़ी-वेड़ीरूप बन्धन की निवृत्ति कटी हुई हथकड़ी और वेड़ी के समान-काल में होती है।' अर्थात् अज्ञानरूप बन्धन की निवृत्ति को पक्ष तथा हथकड़ीं आदि रूप बन्धन की निवृत्ति को दृष्टान्त बनाया गया है। 'बन्धन' पद एकार्थक न हो कर नानार्थक है, अतः दृष्टान्त में जो बन्ध-निवृत्तित्व है, उसका पक्ष में अभाव होने के कारण स्वरूपासिद्धि और पक्ष में जो बन्धन-निवृत्तित्व है, उसका ग्रहण करने पर दृष्टान्त में साधन-वैकल्य हो जाता है। कथित साध्याप्रसिद्धिरूप दोष भी यहाँ है, क्योंकि अज्ञानरूप बन्ध की निवृत्ति का अज्ञान प्रतियोगी है, उस अज्ञान का विषय होता है—शुद्ध ब्रह्म, तद्विषयक अखण्डाकार वृत्ति के द्वारा निखिल अनात्म पदार्थ का बाध हो जाता है, उस समय कोई अनात्म पदार्थ उभय मत-प्रसिद्ध ही नहीं, प्रसिद्धि मानने पर पूर्व-चर्चित सिद्ध-साधनता तथा अनुमान-प्रयोग

न्यायामृतम्

विशिष्यानात्मसत्यत्वे तु आत्मधीः न स्वविषयविषयकधीबाध्या, धीत्वात्,

अद्वैतसिद्धिः

बन्धेतिविशेषणवैयर्थ्याद् व्याप्यत्वासिद्धिः। अप्रयोजकत्वं च कस्याश्चिन्निवृत्तेरनात्म-समानकालीनत्वदर्शनं निवृत्तिमात्रस्य तथात्वसाधने; संसारकालीनाया दुःखनिवृत्तेः समानाधिकरणदुःखप्रागभावकालीनत्वदर्शनमिव दुःखनिवृत्तिमात्रस्य तथात्वसाधने।

एवं—सामान्यानुमानेषु निराकृतेषु विशिष्यानुमानं भविष्यति—

१. आत्मधीः, न स्वविषयविषयकधीबाध्या, धीत्वात् शुक्तिधीवत्—इत्यपि बाल-भाषितम्; स्वविरोध्यविषयक(प्रत्ययविषयक)त्वस्योपाधित्वात्, अन्धोऽयं रूपज्ञानवा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की व्यर्थता का दोष प्राप्त होता है। इसी प्रकार जब निवृत्ति मात्र को हेतु बनाना पर्याप्त होता है, तब 'बन्ध'—इस विशेषण की क्या आवश्यकता? व्यर्थ विशेषण-घटित हेतु व्याप्यत्वासिद्ध होता है।

विपक्ष-बाधक तर्क के अभाव में अप्रयोजकता दोष भी यहाँ है, क्योंकि किसी एक लौकिक बन्ध-निवृत्ति का अनात्म पदार्थ के समानकालीन होना वैसे ही लौकिका-लौकिक समस्त बन्ध-निवृत्ति में अनात्म पदार्थ की सम-सामयिकता का प्रयोजक नहीं माना जाता, जैसे कि 'विमतदुःखनिवृत्तिः समानाधिकरणदुःखप्रागभावसमानकालीना, दुःखनिवृत्तित्वात्, संसारकालीनदुःखनिवृत्तिवत्'—यहाँ पर सांसारिक दुःखनिवृत्ति में स्व-प्रागभाव-समकालीनता का दर्शन चरम दुःखनिवृत्ति की समकालीनता का प्रयोजक नहीं माना जाता। अन्यथा दुःख-प्रागभावासमानकालीन दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष की चर्चा ही व्यर्थ हो जायगी।

प्रपञ्च-सत्यत्व-साधक विशेषानुमान—

१. **द्वैतवादी**—चरम साक्षात्काररूप आत्म-ज्ञान स्वविषयविषयक स्वात्मक ज्ञान के द्वारा बाधित नहीं होती, क्योंकि ज्ञान है, जैसे—शुक्ति-ज्ञान। अर्थात् कतक-रज आदि कुछ पदार्थ ऐसे होते है, जो अपने द्वारा भी बाधित होते हैं, किन्तु ज्ञान मात्र का यह स्वभाव होता है कि वह स्व के द्वारा बाधित नहीं होता, अतः मोक्ष अवस्था में भी कम-से-कम अखण्डाकार वृत्तिरूप अनात्म पदार्थ अबाधित मानना आवश्यक है।

अद्वैतवादी—द्वैतवादी का उक्त अनुमान-प्रयोग बाल-प्रलाप मात्र है, क्योंकि ज्ञान का साक्षात् विरोध अज्ञान के साथ ही होता है, अन्य के साथ नहीं, अतः अखण्डा-कार चरम वृत्तिरूप ज्ञान भी अपने विरोधी ब्रह्मविषयक अज्ञान का ही निवर्तक होता है, अपना नहीं, किन्तु ब्रह्मविषयक अज्ञान निखिल अनात्म प्रपञ्च का उपादान कारण होता है, उपादान के न रहने पर प्रपञ्चरूप उपादेय भी निवृत्त हो जाता है, चरम वृत्तिरूप ज्ञान भी उसी उपादेयभूत प्रपञ्च के ही अन्तर्गत हैं, अतः उस का बना रहना सम्भव नहीं। शुक्ति का ज्ञान भी शुक्ति के अज्ञान का ही निवर्तक होता है, उसके निवृत्त हो जाने पर उसके उपादेयभूत रजत की निवृत्ति होती है, स्वयं शुक्ति-ज्ञान की नहीं, क्योंकि शुक्ति-ज्ञान का उपादान शुक्ति का अज्ञान नहीं होता, अपितु ब्रह्म का ही अज्ञान होता है। इस प्रकार उक्त अनुमान में 'स्वोपादानानिवर्तकत्व' उपाधि है, शुक्ति-ज्ञान अपने उपादानभूत ब्रह्माज्ञान का निवर्तक नहीं, उपाधि में साध्य की व्यापकता है और चरम वृत्तिरूप ज्ञानात्मक पक्ष में स्वोपादानभूत ब्रह्माज्ञान की निवर्तकता होने के

न्यायामृतम्

शुक्तिधीवत् । आत्माधिष्ठानकभ्रमहेतुः न स्वकार्यभ्रमाधिष्ठानज्ञानबाध्यः, भ्रमक (हेतु) त्वाद्, यदेवं तदेवं यथा शुक्त्यधिष्ठानकभ्रमहेतुः काचादिः। शुक्त्यज्ञानमपि पक्षतुल्यम् ।

अद्वैतसिद्धिः

नित्यन्धस्य रूपविषयतया कल्पितं यद् ज्ञानं तस्य रूपं नान्धगम्यमिति स्वविषयविषयक-प्रत्ययबाध्यत्वदर्शनेन व्यभिचारात् । कल्पितत्वात्तत्र तद्बाधने प्रकृतेऽपि वृत्तेः कल्पितत्वं समम् । धीपदेन चैतन्यमात्रविवक्षायां तु सिद्धसाधनमेव ।

२. आत्माधिष्ठानकभ्रमहेतुः, न स्वकार्यभ्रमाधिष्ठानज्ञानबाध्यः, भ्रमहेतुत्वाद्, यदेवं तदेवम्, यथा शुक्त्यधिष्ठानकभ्रमहेतुकाचादी'त्यपि न साधु; व्यावृत्ताकाराधि-ष्ठानज्ञानानवधित्वस्य स्वकार्यभ्रमाधिष्ठानानारोपितत्वस्य वा उपाधित्वाद्, दूरादिदोषा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कारण उपाधि में साधन की अव्यापकता निश्चित होती है । शुक्ति-ज्ञान अपना निवर्तक इस लिए नहीं कि स्वविरोध्यविषयक है और चरम ज्ञान अपना निवर्तक इस लिए होता है कि स्वविरोधिविषयक है, अतः स्वविरोध्यविषयकत्व मौलिक उपाधि है । उक्त अनुमान का 'धीत्वात्' यह हेतु व्यभिचारी भी है, क्योंकि 'अन्धोऽयं रूप-ज्ञानवान्'—इस प्रकार के कल्पित ज्ञान में स्वविषयविषयक ('रूपं नान्धगम्यम्'—इस प्रकार के) ज्ञान की वाध्यता के रहने पर भी 'धीत्व' हेतु वहाँ रहता है । यदि कहा जाय कि 'अन्धोऽयं रूपज्ञानवान्'—यह कल्पित होने के कारण स्वविषयविषयक ज्ञान के द्वारा वाधित होता है, तब प्रकृत में चरम वृत्तिरूप ज्ञान भी अविद्या-कल्पित होने के कारण स्वविषयविषयक ज्ञान के द्वारा वाधित मानना होगा । 'आत्मधी' का अर्थ यदि चैतन्यरूप मान किया जाय, तब सिद्ध-साधनता दोष है, क्योंकि चैतन्य की अवाध्यता हम भी मानते हैं ।

२. **द्वैतवादी**—अद्वैतवादी जो माना करते हैं कि भ्रम के बाधक अधिष्ठान-साक्षात्कार के द्वारा जो भ्रम के हेतुभूत अज्ञानरूप दोष का भी बाध होता है, वह उचित नहीं, उसके विरोध में अनुमान-प्रयोग किया जा सकता है—आत्माधिष्ठानक प्रपञ्च-विभ्रम का हेतु (अज्ञानादि) अपने प्रपञ्चरूप कार्य के अधिष्ठानभूत ब्रह्म के ज्ञान से बाधित नहीं होता, क्योंकि भ्रम का हेतु है, जैसे—शुक्तिरूप अधिष्ठानाश्रित रजत-भ्रम का हेतु चाकचिक्यादि दोष ।

अद्वैतवादी—यह अनुमान-प्रयोग भी समीचीन नहीं, क्योंकि उसमें 'व्यावृत्ताका-राधिष्ठानज्ञानानवधित्व' अथवा 'स्वकार्यभ्रमाधिष्ठानानारोपितत्व' उपाधि है । [रजता-धिष्ठानभूत शुक्ति ही 'नेदं रजतम्'—इस प्रकार के व्यावृत्ताकार ज्ञान में रजत ही अवधि है, चाकचिक्यादिदोष नहीं, अतः उक्त दृष्टान्त में उपाधि की साध्य-व्यापकता निश्चित होती है । 'नेह नाना'—इस प्रकार के व्यावृत्ताकार ज्ञान की अवधि ही अज्ञानादि द्वैत है, अतः यह उपाधि साधन की अव्यापक है । इसी प्रकार काचादि दोष अपने कार्यभूत रजत-भ्रम के अधिष्ठानरूप शुक्ति में आरोपित नहीं, अतः उपाधि में साध्य की व्यापकता है और प्रकृत के अज्ञानादि दोष अपने कार्यभूत प्रपञ्च विभ्रम के अधिष्ठानरूप ब्रह्म में आरोपित ही हैं, अतः इस उपाधि में साधन की अव्यापकता भी निश्चित है । आशय यह है कि अविद्यादि दोष ब्रह्मरूप अधिष्ठान में आरोपित होने के कारण वाधित तथा काचादि दोष शुक्तिरूप अधिष्ठान में आरोपित न होने के कारण अबाधित होते हैं] ।

न्यायामृतम्

ब्रह्मान्यदनादि परमार्थसद्, अनादित्वाद् ब्रह्मवत्। दोषजन्यत्वज्ञानात्पूर्वं सतोऽप्यनादेरनाद्यध्यस्तत्वे ब्रह्मापि अनाद्यनन्ताध्यस्तं स्यात्। ब्रह्म कालाद्यसंबद्धं नावतिष्ठते,

अद्वैतसिद्धिः

दुपलादौ यत्र चाकचिक्यकल्पना तेन चाकचिक्यदोषेण शुक्ताविव रजतकल्पना, तत्राधिष्ठानज्ञानेन चाकचिक्यरूप्ययोरुभयोरपि बाधदर्शनेन व्यभिचाराच्च।

३. ब्रह्मान्यदनादि, परमार्थसद्, अनादित्वाद्, ब्रह्मवदित्यपि न भद्रम्; तत्र ध्वंसाप्रतियोगित्वस्योपाधित्वात्। ४. ब्रह्म, देशकालसंबन्धं विना नावतिष्ठते, पदार्थत्वाद्, घटवदित्यपि न, कालसंबन्धं विना नावतिष्ठत इत्यस्य यदा ब्रह्म तदावश्यं कालसंबन्ध इत्येवंरूपा व्याप्तिरर्थः। तथा च सिद्धसाधनम्। न हि यस्मिन् काले ब्रह्म तस्मिन् काले ब्रह्मणः कालसंबन्धो नास्ति। एवं च यत्रात्मा तत्र कालसंबन्ध इति दैशिकव्याप्तावपि सिद्धसाधनम्। न हि देशकालासंबन्धः कदाप्यस्ति। परममुक्तौ तु न देशो न काल इति सुस्थिरं सिद्धसाधनम्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जहाँ दूरादि दोष के कारण काले पाषाण-खण्ड में चाकचिक्य (चमकीलापन) की कल्पना करने के पश्चात् शुक्ति के समान ही उस काले पाषण में रजत की कल्पना की जाती है, वहाँ पाषाणरूप अधिष्ठान के यथार्थ ज्ञान के द्वारा कल्पित चाकचिक्य तथा रजत—दोनों का बाध देखा जाता है, अतः 'भ्रमहेतुत्वरूप हेतु व्यभिचारी भी है।

३. द्वैतवादी—ब्रह्म से भिन्न जीवादि छः अनादि पदार्थ परमार्थ सत् होते हैं, क्योंकि अनादि हैं, जैसे—ब्रह्म। अर्थात् ब्रह्म से भिन्न अनादि पदार्थों में दोष-जन्यत्व का ज्ञान जब तक नहीं होता, तब तक उन्हें मिथ्या या अध्यस्त नहीं कह सकते, नहीं तो अनादि ब्रह्म को भी मिथ्या मानना होगा। यदि अनादि ब्रह्म सत्य है, तब अनादि होने के नाते जीवादि को भी परमार्थसत् मानना ही पड़ेगा।

अद्वैतवादी—केवल अनादि पदार्थ को परमार्थ सत् नहीं माना जाता, अपि तु अनादि अनन्त पदार्थ सत्य होता है, ब्रह्म अनादि अनन्त है और जीवादि अनादि सान्त हैं, अतः वे परमार्थ सत् नहीं हो सकते। इस प्रकार अनन्तत्व या ध्वंसाप्रतियोगित्व उक्त अनुमान में उपाधि है [ब्रह्मरूप दृष्टान्त में ध्वंसाप्रतियोगित्व रहने के कारण साध्य का व्यापक तथा जीवादि पक्षभूत अनादि पदार्थों में ध्वंसाप्रतियोगित्व न रहने के कारण साधन का अव्यापक है]।

४. द्वैतवादी—ब्रह्म देश-काल-सम्बन्ध के बिना नहीं रह सकता, क्योंकि पदार्थ है, जैसे—घटादि। अर्थात् यह सर्व-साधारण अनुभव है कि कोई भी पदार्थ किसी देश और किसी काल में रहता है, ब्रह्म भी जिस "अधःस्विदासीत्" (छां० ७।२५।१) के अनुसार देश और "स एवाद्य स उ श्व" (बृह० १।५।२३) के अनुरूप जिस काल में रहता है, उस देश और काल को तो ब्रह्म के समकक्ष ही परमार्थ सत् मानना होगा।

अद्वैतवादी—आप के 'देशकालसम्बन्धं बिना नावतिष्ठते'—इस कथन का क्या तात्पर्य है? क्या जिस देश या जिस काल में ब्रह्म रहता है, उस देश और काल का सम्बन्ध ब्रह्म में अभिप्रेत है? या जिस देश और काल में ब्रह्म नहीं रहता, उसका भी सम्बन्ध ब्रह्म में विवक्षित है?—प्रथम पक्ष में सिद्ध-साधनता है, क्योंकि संसारावस्था में ब्रह्म के साथ देश-काल-सम्बन्ध शास्त्र-प्रतिपादित अत एव अभ्युपगत है। मोक्ष

न्यायामृतम्

पदार्थत्वाद्, घटवत् । ब्रह्मान्यद्वेदैकगम्यं धर्मादि, परमार्थसत्, श्रुतितात्पर्यविषयत्वाद् ब्रह्मवत् । साक्षिवेद्यं सुखादि परमार्थसद्, अनिषेध्यत्वेन दोषाजन्यज्ञानं प्रति

अद्वैतसिद्धि

५. ब्रह्मान्यद्वेदैकगम्यं धर्मादि, परमार्थसत्, श्रुतितात्पर्यविषयत्वाद्, ब्रह्मवदित्यपि न साधु; परमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्वस्योपाधित्वात् ।

६. साक्षिवेद्यं सुखादि, परमार्थसद्, अनिषेध्यत्वेन दोषाजन्यज्ञानं प्रति साक्षाद्विषयत्वाद्, आत्मवदित्यपि न; शुक्तिरूप्यादिषु व्यभिचारात् । तेषां दोषजन्यवृत्तिविषयत्वेऽपि दोषाजन्यसाक्षिविषयत्वात्, शुद्धस्य वृत्तिविषयत्वानभ्युपगमे दृष्टान्तस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अवस्था में न देश-कालादि की सत्ता रहती है और न उनका ब्रह्म के साथ सम्बन्ध ।

५. **द्वैतवादी**—ब्रह्म से भिन्न केवल वेद के द्वारा बोधित धर्मादि पदार्थ, परमार्थ सत् होते हैं, क्योंकि श्रुति के तात्पर्य की विषयता उनमें होती है, जैसे—ब्रह्म ["चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै० सू० १।१।२) तथा "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र० सू० १।१।३) इन सूत्रों के आधार पर एवं 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' (ऋ० १०।९०।१६) एवं औपनिषदं पुरुषम्" (बृह० ३।९२।६) इत्यादि वैदिक वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि वेदों का मुख्य तात्पर्य धर्म और ब्रह्म के प्रतिपादन में ही होता है । श्रुति-तात्पर्य का एक विषय ब्रह्म यदि परमार्थ सत् है, तब दूसरा धर्मरूप विषय भी सत्य हीं होगा, नहीं तो ब्रह्म भी असत् हो जायगा] ।

अद्वैतवादी—यद्यपि धर्म और ब्रह्म—दोनों में ही श्रुति-तात्पर्य की विषयता होती है, तथापि धर्म में पारमार्थिकत्वेन श्रुति-तात्पर्य की विषयता नहीं और ब्रह्म में है, अतः ब्रह्म ही परमार्थ सत् है, धर्म नहीं । धर्मादि केवल व्यावहारिक सत् हैं—यह कहा जा चुका है । इस प्रकार उक्त अनुमान में 'पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयता' उपाधि है । वह ब्रह्मरूप दृष्टान्त में रहने के कारण साध्य की व्यापक तथा धर्मादिरूप पक्ष में न रहने के कारण साधन कीं अव्यापक है ।

६. **द्वैतवादी**—साक्षिवेद्य सुखादि परमार्थ सत् होते हैं, क्योंकि दोषाजन्य ज्ञान के प्रति अनिषेध्यत्वेन साक्षात् विषय होते हैं, जैसे—आत्मा [सुखादि में दोषाजन्य ज्ञान की विषयता का उपपादन करने के लिए पक्ष का विशेषण दिया है—साक्षिवेद्य । साक्षिरूप ज्ञान नित्य होने के कारण दोष-जन्य नहीं । नेदं रजतम्'—इस प्रकार के निषेध के निषेध्यत्वेन साक्षात् विषयीभूत रजत में व्यभिचार-वारणार्थ हेतु का विशेषण दिया—अनिषेध्यत्वेन । इदं रजतम्'—इस प्रकार के भ्रम ज्ञान के अनिषेध्यत्वेन साक्षात् विषयीभूत रजत में व्यभिचार न हो, इसलिए दोषाजन्य ज्ञान के प्रति कहा गया है, 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान भ्रम होने के कारण दोष-जनित होता है । 'इदं रजतमहं जानामि'—इस प्रकार के अनुव्यवसाय ज्ञान के परम्परया विषयीभूत रजत में व्यभिचार-वारणार्थ साक्षात् विषय कहा है] ।

अद्वैतवादी—उक्त हेतु शुक्ति-रजतादि में व्यभिचारी है, क्योंकि शुक्ति-रजतादि दोष-जन्य अविद्या-वृत्ति के विषय होने पर भी दोषाजन्य साक्षिरूप ज्ञान के विषय होने के कारण हेतु शुक्ति-रजतादि में रह जाता है, किन्तु परमार्थ सत्त्वरूप साध्य नहीं रहता । उक्त अनुमान में शुद्ध ब्रह्म को दृष्टान्त बनाया गया है, भामतीकार के मत में

न्यायामृतम्

साक्षाद्विषयत्वाद्, आत्मवत्। विमतं परमार्थसत्, स्वविषयकसाक्षात्कारात्पूर्वभावित्वाद् आत्मवत्। न चाऽसिद्धिः, त्वन्मतेऽपि प्रतिकर्मव्यवस्थार्थं स्वविषयसा-

अद्वैतसिद्धिः

साधनविकलत्वाच्च। दोषजन्यज्ञानाविषयत्वविवक्षायां चाऽसिद्धो हेतुः; साक्ष्यवच्छेदिकाया अविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वात्। असद्गोचरशाब्दज्ञानात्मकविकल्पस्य दोषाजन्यत्वेनासति व्यभिचाराच्च। आत्मनो वृत्तिविषयत्वाभ्युपगमे दोषजन्यदेहात्मैक्यभ्रमविषयत्वात् साधनविकलो दृष्टान्तः, तदनभ्युपगमे तु अविषयत्वमात्रस्यैव परमार्थसत्त्वसाधकत्वोपपत्तौ दोषजन्यज्ञानेति विशेषणवैयर्थ्याद्व्याप्यत्वासिद्धिः, तावन्मात्रं च पक्षे स्वरूपासिद्धमित्यन्यत्र विस्तरः।

७. विमतं, परमार्थसत्, स्वविषयज्ञानात्पूर्वभावित्वाद्, आत्मवदित्यपि न, दृष्टि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शुद्ध ब्रह्म को वृत्ति का विषय ही नहीं माना जाता, अतः दोषाजन्य ज्ञान की विषयता न रहने के कारण दृष्टान्तरूप ब्रह्म में साधन की विकलता भी है। दोषाजन्यज्ञान-विषयत्व से दोष-जन्य ज्ञान की अविषयता विवक्षित होने पर यद्यपि दृष्टान्तगत साधन-विकलता दोष हट जाता है, तथापि साक्षिवेद्य सुखादिरूप पक्ष में स्वरूपासिद्धि हो जाती है, क्योंकि साक्षी के दोष-जनित न होने पर भी साक्षी की अवच्छेदिका सुखाकार अविद्यावृत्ति दोष-जनित होती है, अतः साक्षी ज्ञान को भी दोष-जनित ही माना जाता है, उसकी विषयता ही वहाँ है, अविषयता नहीं। इसी प्रकार खपुष्पादि असत् पदार्थों में हेतु व्यभिचारी भी है, क्योंकि उनमें परमार्थ सत्त्वरूप साध्य के न रहने पर भी दोषाजन्य शाब्दज्ञानात्मक विकल्प वृत्ति की विषयता मानी जाती है, जैसे कि योगसूत्रकार ने कहा है—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (यो. सू. १।९)। दृष्टान्तरूप शुद्ध ब्रह्म को वृत्ति का विषय मानने पर उस में साध्य-विकलता होती है, क्योंकि दोष-जनित देहात्मैक्यरूप भ्रम ज्ञान की विषयता ही उसमें है, अविषयता नहीं। शुद्ध ब्रह्म को वृत्ति का विषय न मानने पर हेतु का 'दोषजन्यज्ञान'—इतना अंश व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि 'अविषयत्वात्'—केवल इतना ही हेतु परमार्थसत् ब्रह्म में प्रसिद्ध होने के कारण अपने साध्य के साधन में सक्षम है। व्यर्थ विशेषण-घटित हेतु व्याप्यत्वा सिद्ध होता है। 'अविषयत्वात्'—इतना ही हेतु रखने पर पक्ष में स्वरूपासिद्धि हो जाती है, क्योंकि साक्षी के विषयीभूत सुखादि में अविषयत्वरूप हेतु नहीं रहता।

७. **द्वैतवादी**—विवादास्पद (व्यावहारिक) प्रपञ्च परमार्थ सत् है, क्योंकि अपने ज्ञान के पूर्व काल में रहता है, जैसे—आत्मा। [आशय यह है कि खपुपादि असत् पदार्थों की किसी भी काल में सत्ता होती ही नहीं, शुक्ति-रजतादि प्रातीतिक पदार्थों की भी अपनी प्रतीति के वर्तमान काल में ही सत्ता मानी जाती है, प्रतीति के पूर्व काल में नहीं, किन्तु घटादि व्यावहारिक पदार्थ अपनी प्रतीति के जनक होने के कारण पूर्वभावी होते हैं, अतः उन्हें परमार्थ सत् मानना आवश्यक है]।

अद्वैतवादी—उक्त अनुमान में पहला दोष स्वरूपासिद्धि है, क्योंकि जो आचार्य घटादि प्रपञ्च को दृष्टि-सृष्टि अर्थात् दृष्टि-समानकालीन सृष्टि मानते हैं, उनके मत से दृष्टि, प्रतीति या स्वविषयक ज्ञान के पूर्व काल में प्रपञ्च की सत्ता असिद्ध है। आगे चल

न्यायामृतम्

साक्षात्कारात्पूर्वं घटादेर्भावात् । अन्योऽन्याभाव(वातिरि)व्यतिरिक्तैतद्घटसमानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिकाभावत्वम्, एतद्घटसमानकालीनावृत्ति, अन्योन्याभावव्यतिरिक्तैतद्घटसमानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिकाभावमात्रवृत्तित्वाद्, एतद्घटप्रतियोगिकप्रागभावत्ववदित्याद्यूह्यम् ।

अद्वैतसिद्धिः

सृष्टिपक्षे असिद्धेः । विषमव्याप्तस्यानादित्वस्योपाधित्वाच्च । ८. अन्योन्याभावातिरिक्तैतद्घटसमानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिकाभावत्वं, एतद्घटसमानकालीनवृत्ति, अन्योन्याभावातिरिक्तैतद्घटसमानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिकाभावमात्रवृत्तित्वात्, एतद्घ-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कर दृष्टि-सृष्टि-प्रकारण में इसका विस्तारपूर्वक उपपादन किया जायगा । उक्त अनुमान में दूसरा दोष व्याप्यत्वासिद्धि है, क्योंकि 'अनादित्व' उपाधि है । [आत्मरूप दृष्टान्त में रहने के कारण अनादित्व धर्म साध्य का व्यापक तथा घटादिरूप पक्ष में न रहने के कारण साधन का अव्यापक है । उपाधि दो प्रकार की होती है—साध्य की समव्याप्त तथा विषमव्याप्त] अनादित्वरूप उपाधि विषम व्याप्त अर्थात् साध्य का केवल व्यापक है, व्याप्य नहीं, क्योंकि अविद्यादि अनादि पदार्थों में अनादित्व के रहने पर भी परमार्थ सत्त्वरूप साध्य नहीं रहता ।

८. **द्वैतवादी**—अद्वैतवादी जो घटादि प्रपञ्च को मिथ्या अर्थात् जिस काल में जो वस्तु जहाँ रहती है, उसी काल में वहाँ वस्तु का अभाव माना करते हैं, वह उचित नहीं, क्योंकि अन्योऽन्याभाव से अतिरिक्त एतद् घट-समानाधिकरण, एतद् घटप्रतियोगिक अभावत्व, एतद्घट-समानकालीन पदार्थ में अवृत्ति होता है, क्योंकि वह केवल अन्योऽन्याभाव से अतिरिक्त एतद्घट-समानाधिकरण, एतद्घटप्रतियोगिक अभाव में रहता है, जैसे एतद्घटप्रागभावत्व ।

किसी वस्तु का अत्यन्ताभाव अपने आधार में रहता ही नहीं, यदि मान भी लिया जाय, तब भी उस काल में कदापि नहीं रह सकता, जिस काल में वस्तु वहाँ विद्यमान है, हाँ, जैसे घट का प्रागभाव या ध्वंस घट के आधारभूत कपालों में तभी रहता है, जब कि घट नहीं होता, अतः जब घट के देश-काल में घट का अत्यन्ताभाव नहीं रह सकता, तब उसे मिथ्या नहीं सत्य ही मानना होगा ।

[अन्योऽन्याभावातिरिक्तत्व—यह एतद्घटसमानाधिकरण एतद्घटप्रतियोगिक अभाव का विशेषण बाध-वारण करने के लिए दिया गया है, अन्यथा घट के आधारभूत कपालों में घट का अन्योऽन्याभाव घट की वर्तमान-दशा में ही माना जाता है, उसमें एतद्घटप्रतियोगिक अभावत्व अवृत्ति नहीं, वृत्ति ही है, अतः साध्य का बाध हो जाता । उक्त विशेषण देने पर अन्योऽन्याभाव से अतिरिक्त घट-समानाधिकरण अभाव पद से घट प्रागभावादि का ग्रहण होता है, वे घट-समानकालीन नहीं होते, अतः एतद्घटसमानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिकाभावत्व अन्य किसी घट-कालीन पदार्थ में नहीं रहता, फलतः साध्य का बाध नहीं होता है ।

घट के अनाधारभूत तन्त्वादि में रहनेवाले घट-कालीन घटाभाव में एतद्घटप्रतियोगिकाभावत्व रह जाने से फिर बाध दोष होता है, अतः एतद्घटसमानाधिकरण—यह अभाव का विशेषण दिया है, तन्त्वादिगत अभाव एतद्घटसमानाधिकरण

न्यायामृतम्

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावपक्षे व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नेति विशेषणीयम्। अनेन च स्वसमानाधिकरणः स्वसमानकालीनः अन्योऽन्याभावव्यतिरिक्तो योऽभावः, तद्प्रतियोगित्वरूपसत्त्वसिद्धिः। अत्र चाऽनुकूलतर्का वक्ष्यन्त इति नोपाध्याभाससाम्यादिशंका। तथा च—

असत्प्रातीतिकान्यत्वात् प्रमाणविषयत्वतः।
अर्थक्रियाकारितादेर्विश्वं सत्यमिति स्थितम्॥

विश्वमिथ्यात्वस्यानुमानबाधः।

अद्वैतसिद्धिः

टप्रागभावत्ववद्, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावपक्षे व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नेत्यपि विशेषणीयम्। अत्र च स्वसमानाधिकरणः स्वसमानकालीनो योऽत्यन्ताभावस्तद्प्रतियोगित्वलक्षणसत्त्वसिद्धिरित्यपि न साधु, साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकस्यैतद्घटप्रति-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न होने से नहीं लिया जा सकता।

एतद्घटप्रतियोगिकाभावत्व न कह कर अन्योऽन्याभावातिरिक्तैतद्घटसमानाधिकरणत्वम्—इतना ही कहने पर उस प्रकार के कपालगत रूपादि-वृत्ति एतद्घट-समानाधिकरणत्व में एतद्घटकालीनवृत्तित्व सिद्ध करने पर बाध हो जाता है, अतः एतद्घटप्रतियोगिकाभावत्व कहा गया है। इसी प्रकार अभावत्व का एतद्घटप्रतियोगिकत्व विशेषण न देने पर पटात्यन्ताभावत्वादि को लेकर बाध हो जाता। अभावत्व न कह कर एतद्घटप्रतियोगिकत्व मात्र कहने पर घटप्रतियोगिक समवायादि को लेकर बाध हो सकता था। अभाव के समान ही सम्बन्ध, सादृश्यादि पदार्थ भी सप्रतियोगिक और सानुयोगिक माने जाते हैं। इस प्रकार पक्षगत सभी विशेषण प्रायः सफल हैं]।

कतिपय आचार्य वस्तु का पर रूपेण भी अभाव माना करते हैं, जिसकी ओर श्री कुमारिल मिश्र ने संकेत किया है—

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चिद् रूप किञ्चित् कदाचित्॥ (श्लो. वा. अभाव. १२)

अर्थात् घटत्व को स्वरूप और पटत्वादि को घट का पर रूप कहते हैं। जहाँ घट घटत्वेन सत् है, वहाँ ही पटत्वेन उसका अभाव है—इसे ही व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव कहा करते हैं। घट की अपेक्षा भिन्न पटादि अधिकरण में रहने वाले पटत्वादि पर रूप को व्यधिकरण धर्म कहते हैं, उस व्यधिकरण धर्म से अवच्छिन्न है प्रतियोगिता जिसकी, ऐसा 'पटत्वेन घटो नास्ति'—इस वाक्य के द्वारा अभिलपित अभाव व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक होता है। इस परिपाटी से जो वस्तु जिस समय जहाँ है, वहाँ भी उसी समय उस का अभाव माना ही जाता है, अतः] व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को लेकर प्रसक्त बाध दोष का निराकरण करने के लिए एतद्घटप्रतियोगिक अभाव का एक और विशेषण दे देना चाहिए—व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताक। इस प्रकार 'अन्योऽन्याभावातिरिक्तैतद्घटसमानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिकव्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वम्'—इतना पक्ष का रूप निखर आता है। इस अनुमान के द्वारा घटादि प्रपञ्च में स्वसमानाधिकरण स्वसमानकालीन अत्यन्ताभाव की अप्रतियोगिता या पारमार्थिक सत्ता सिद्ध हो जाती है।

अद्वैतसिद्धिः

योगिकजन्यजनकान्यतरमात्रवृत्तित्वस्योपाधित्वात् । न च—पक्षीभूतधर्मस्यात्यन्ताभाववृत्तित्वसन्देहे साधनाव्यापकत्वसन्देह इति—वाच्यम्, विपक्षबाधकतर्कानवतारदशायां सन्दिग्धोपाधेरपि दूषणत्वसम्भवाद्, घटात्यन्ताभावत्वे च व्यभिचारात्, संयोगसम्बन्धेन घटवत्यपि भूतले समवायसंबन्धेन घटात्यन्ताभावसत्त्वात् साध्याभाववति तत्र हेतोर्वृत्तेरित्यलमतिविस्तरेण ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ विश्वसत्यत्वानुमानभङ्गः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अद्वैतवादी—उक्त अनुमान-प्रयोग भी साधु नहीं अर्थात् प्रपञ्च की परमार्थ सत्ता का साधन नहीं कर सकता, क्योंकि सोपाधिक है। यहां 'एतद्घटप्रतियोगिकजन्यजनकान्यतरमात्रवृत्तित्व' उपाधि है [एतद्घटप्रतियोगिक एतद्घट का जनक प्रागभाव तथा एतद्घटप्रतियोगिक एतद्घट से जनित ध्वंस—इन दोनों में से ही अन्यतर अभाव की वृत्तिता एद्घट-प्रागभावत्व रूप दृष्टान्त में है, अतः यह उपाधि साध्य की व्यापक है और 'अन्योऽन्याभावातिरिक्तैतद्घट-समानाधिकरणैतद्घटप्रतियोगिकाभावत्व' से एतद्घटप्रतियोगिकात्यन्ताभाव-वृत्ति तादृश अभावत्व का भी ग्रहण होता है, उसमें उक्तान्यतरमात्र-वृत्तित्व नहीं, अतः उपाधि में साधन की अव्यापकता सिद्ध होती है। उपाधि में साध्य की समव्याप्ति का लाभ करने के लिए उपाधि में 'मात्र' पद दिया गया है। जो लोग उपाधि में साध्य की समव्याप्ति का होना अनिवार्य नहीं मानते, उनके मत में 'मात्र' पद की कोई आवश्यकता नहीं] यह उपाधि समग्र साध्य की व्यापक नहीं, क्योंकि एतद्घटासमानकालीन तत्तद्व्यक्तित्व में साध्य के रहने पर भी उपाधि नहीं रहती, अतः कहा गया है कि यह उपाधि विशुद्ध या निरवच्छिन्न साध्य की व्यापक नहीं, अपितु साधनावच्छिन्न साध्य की व्यापक है।

शङ्का—उपाधि में साधन की अव्यापकता का निश्चय अनिवार्य होता है, किन्तु उपाधि में साधन की अव्यापकता सन्दिग्ध है, क्योंकि पक्षीकृत अभावत्वरूप धर्म में अत्यन्ताभाव-वृत्तित्व सन्दिग्ध है। सन्दिग्धोपाधि के द्वारा पक्ष में साध्याभाव अथवा हेतु में व्यभिचारित्व का अनुमान नहीं किया जा सकता।

समाधान—विपक्ष-बाधक तर्क की अस्फूर्ति-दशा में सन्दिग्धोपाधि को भी व्यभिचार-संशय का उन्नायक माना जाता है, श्री गंगेश उपाध्याय ने कहा है—"सन्दिग्धानैकान्तिकवद् व्यभिचारसंशयाधायकत्वेन दूषकत्वात्" (न्या० चि० पृ० १०५८) अर्थात् जैसे सन्दिग्धानैकान्तिक दोष माना जाता है, वैसे ही सन्दिग्धोपाधि को भी व्यभिचार-संशय का उन्नायक होने के कारण हेतु-दूषक माना जाता है।

उक्त अनुमान का हेतु व्यभिचारी भी है, क्योंकि संयोग सम्बन्ध से घट वाले देश में भी समवाय सम्बन्ध से घटात्यन्ताभाव रहता है। उसके धर्मभूत घटात्यन्ताभावत्व में एतद्घट-समानकालीनावृत्तित्वरूप साध्य के न रहने पर भी एतद्घटप्रतियोगिकाभावमात्रवृत्तित्वरूप हेतु रहता है। इस प्रकार साध्याभाववाले देश में वर्तमान होने के कारण हेतु का व्यभिचारी होना निश्चित है।

: २८ :

मिथ्यात्वे विशेषानुमानानि

अद्वैतसिद्धिः

मिथ्यात्वे च विशेषतोऽनुमानानि—(१) ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यब्रह्मान्यासत्त्वानधिकरणत्वं पारमार्थिकसत्त्वाधिकरणावृत्ति, ब्रह्मावृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववत्, परमार्थसद्भेदवच्च। (२) विमतं मिथ्या, ब्रह्मान्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। (३) परमार्थसत्त्वं, स्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोग्यवृत्ति, सदितरावृत्तित्वाद्, ब्रह्मत्ववत्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधन में विशेषानुमान—

१. ब्रह्म-ज्ञानेतर ज्ञान के द्वारा अबाधित तथा ब्रह्म से भिन्न (व्यावहारिक) प्रपञ्चगत असत्त्वानधिकरणता, पारमार्थिक सत्त्व के अधिकरण में अवृत्ति है; क्योंकि ब्रह्म में अवृत्ति है, जैसे—शुक्ति-रजतत्व अथवा परमार्थ सत् वस्तु का भेद। [यहाँ जिस असत्त्वानधिकरणत्व धर्म को पक्ष बनाया गया है, वह असत्त्वानधिकरणत्वधर्म प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा ब्रह्म—इन तीनों में रहता है। प्रातिभासिक-वृत्ति असत्त्वानधिकरणत्व को पक्ष बनाने पर सिद्ध-साधनता होती है, क्योंकि उसका पारमार्थिक सत् में न रहना सर्वाभ्युपगत है, अतः उस आंशिक सिद्ध-साधनता से बचने के लिए ब्रह्म-ज्ञानेतराबाध्यवृत्तित्व विशेषण दिया। ब्रह्म-वृत्ति असत्त्वानधिकरणता को पक्ष बनाने पर बाध होता है, क्योंकि उसमें पारमार्थिक सत् की वृत्तिता ही है, अवृत्तिता नहीं, अतः ब्रह्म-भिन्न-वृत्तित्व पक्ष का विशेषण दिया गया है। असत्त्वाभाव को पक्ष न बनाकर असत्त्वानधिकरणता को पक्ष बनाने का रहस्य यह है कि जो आचार्य एक ही असत्त्वाभाव का रहना सर्वत्र मानते हैं, उनके मत से कथित दोष-प्रसक्ति की सम्भावना समाप्त करने के लिए असत्त्वानधिकरणता कहा है, जो कि अधिकरणता के भेद से भिन्न-भिन्न मानी जाती है, सर्वत्र एक नहीं। शुक्ति-रजतत्वादि दृष्टान्त में ब्रह्मावृत्तित्वरूप हेतु तथा पारमार्थिकसत्त्वानधिकरणवृत्तित्वरूप साध्य की व्याप्ति निश्चित है, उसी व्याप्ति के बल पर व्यावहारिक प्रपञ्चमात्र-वृत्ति असत्त्वानधिकरणत्वरूप धर्म में पारमार्थिक सत्त्वाधिकरणावृत्तित्व सिद्ध हो जाने पर प्रपञ्च में अपारमार्थिकत्व सिद्ध हो जाता है]।

२. विवादास्पद (व्यावहारिक) प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न है, जैसे-शुक्ति-रजत। [यहाँ विगत पृ० ४३ पर प्रदर्शित सद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व विवक्षित है, सदसद्विलक्षणत्व नहीं, अन्यथा असत् पदर्थ में सदसद्भिन्नत्वरूप साध्य के न रहने पर भी ब्रह्मान्यत्वरूप हेतु के रहने पर व्यभिचार हो जाता है। प्रपञ्चरूप पक्ष में सद्भिन्नत्वरूप साध्य की सिद्धि हो जाने से द्वैति-सम्मत पारमार्थिक सत्त्व समाप्त हो जाता है]।

३. परमार्थसत्त्व अपने अधिकरण में रहनेवाले अन्योऽन्याभाव के प्रतियोगी में अवृत्ति होता है, क्योंकि सत् से भिन्न में अवृत्ति है, जैसे—ब्रह्मत्व। [साध्य-घटक **'स्व'** पद परमार्थसत्त्व का बोधक है, परमार्थसत्त्व के परमार्थ सत् रूप अधिकरण में **'परमार्थ सत् न'**—इस प्रकार का अन्योऽन्याभाव नहीं मिल सकता, अपितु 'अपरमार्थ सत् **न'**—ऐसा ही अन्योऽन्याभाव मिलता है, उसके प्रतियोगीभूत अपरमार्थ सत् में परमार्थ सत्त्व अवृत्ति है ही। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि परमार्थ सत्त्व परमार्थ सत् से भिन्न पदार्थ में नहीं रहता, अतः एक (ब्रह्म) वस्तु ही परमार्थ सत् माननी होगी, उससे भिन्न व्यावहारिक प्रपञ्च को अपरमार्थ या मिथ्या मानना ही होगा। माध्व मत में

अद्वैतसिद्धिः

(४) ब्रह्मत्वमेकत्वं वा सत्त्वव्यापकम्, सत्त्वसमानाधिकरणत्वाद्, असद्वैलक्षण्यवत्। (५) व्याप्यवृत्तिघटादिः, जन्याभावातिरिक्तस्वसमानाधिकरणाभावमात्रप्रतियोगी, अभावप्रतियोगित्वाद्, अभिधेयत्ववत्। अभिधेयत्वं हि परमते केवलान्वयित्वादन्योऽन्याभावमात्रप्रतियोगी। स च समानाधिकरण एव। अस्मन्मते तु मिथ्यैवेति,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पूरा जड़-चेतन प्रपञ्च ही परमार्थ सत् है, अतः परमार्थ सत्त्व के अधिकरणीभूत घट में पटरूप परमार्थ सत् का अन्योऽन्याभाव सुलभ है, उसके प्रतियोगीभूत पट में वृत्ति ही है, अवृत्ति नहीं, अतः परमार्थसत्त्वव्याप्यधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिक—यह अन्योऽन्याभाव का विशेषण देना चाहिए। घट में 'पटो न'—इस प्रकार पटत्वरूप व्याप्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिक अन्योऽन्याभाव मिल सकता है, 'परमार्थं सत् न'—इस प्रकार का नहीं, अतः विवश होकर वहाँ 'अपरमार्थं सत् न'—ऐसा ही अन्योऽन्याभाव लेना होगा, उसके प्रतियोगीभूत असत् पदार्थ में परमार्थ सत्त्व नहीं रहता, अतः किसी प्रकार का बाधादि दोष प्राप्त नहीं होता]।

४. ब्रह्मत्व अथवा ब्रह्मगत एकत्व (अद्वितीयत्व) धर्म परमार्थ सत्त्व का व्यापक होता है, क्योंकि सत्त्व के अधिकरण में वृत्ति है, जैसे—असद्भेद ['यत्र-यत्र परमार्थंसत्त्वम्, तत्र-तत्र ब्रह्मत्वम्'—ऐसी व्याप्ति के सिद्ध हो जाने पर ब्रह्मत्वाभाव के अधिकरणीभूत प्रपञ्च में परमार्थ सत्त्व का अभाव या मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। यहाँ भी सद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व ही विवक्षित है। यद्यपि सत्त्व सामान्य की व्यापकता ब्रह्मत्व में सम्भव नहीं, क्योंकि प्रातिभासिक पदार्थों में प्रातिभासिक सत्त्व तथा व्यावहारिक प्रपञ्च में व्यावहारिक सत्त्व होने पर भी वहाँ ब्रह्मत्व नहीं रहता और सत्त्व का पारमार्थिक सत्त्व अर्थ करने पर असद्भेद में परमार्थ सत्त्व-व्यापकता नहीं बनती, क्योंकि शुक्ति-रजतादि अनिर्वचनीय पदार्थों में असद्भेद के रहने पर भी ब्रह्मत्व नहीं है। तथापि 'सत्त्वव्यापक' पद से परमार्थ सत्त्व-व्यापकत्व ही अभीष्ट है और असद्भेद को माध्व की दृष्टि से दृष्टान्त बनाया गया है, माध्वगण शुक्ति-रजतादि को भी असत् ही मानते हैं, असद्भिन्न नहीं]।

५. व्याप्यवृत्ति घटादि, जन्याभाव से अतिरिक्त अपने अधिकरण में रहनेवाले अभाव मात्र के प्रतियोगी होते हैं, क्योंकि अभाव के प्रतियोगी हैं, जैसे—अभिधेयत्व। [यदि घटादि अपने आधार में विद्यमान जन्याभावातिरिक्त अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं, तब वे अवश्य मिथ्या हैं। अद्वैत-सिद्धान्त में कपि-संयोगादि को भी अव्याप्य वृत्ति नहीं, व्याप्य वृत्ति ही माना गया है (द्र० पृ० ३४)। अतः घटादि के अव्याप्य वृत्तित्व की सम्भावना और सिद्ध-साधनता का परिहार करने के लिए घटादि का 'व्याप्यवृत्तित्व' विशेषण दिया गया है। जन्याभावातिरिक्त अन्योऽन्याभाव की प्रतियोगिता को लेकर सिद्ध-साधनता का उद्भावन न किया जा सके, अतः अभावमात्र कहा गया है। निखिल अभाव में अत्यन्ताभाव भी आ जाता है, उसकी प्रतियोगिता घटादि में माध्व मत-सिद्ध नहीं, अतः सिद्ध-साधनता प्रसक्त नहीं होती]। माध्व-दृष्टि से अभिधेयत्वादि धर्म केवलान्वयी माने जाते है, उनमें जन्याभावातिरिक्त अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता न होने पर भी अन्योऽन्याभाव की प्रतियोगिता को लेकर दृष्टान्तता बन जाती है। अद्वैत-मत में अभिधेयत्वादि केवलान्वयी नहीं माने जाते, क्योंकि ब्रह्म में सब का अभाव है, अतः एव उनमें मिथ्यात्व भी अभीष्ट है, अतः उभय मत से अभिधेयत्वरूप

अद्वैतसिद्धिः

नोभयथापि साध्यवैकल्यम् । (६) अत्यन्ताभावः, प्रतियोग्यवच्छिन्नवृत्तिः, नित्याभावत्वादन्योऽन्याभाववत् । (७) अत्यन्ताभावत्वं प्रतियोग्यशेषाधिकरणवृत्तिमात्रवृत्ति, प्रतियोग्यवच्छिन्नवृत्तिमात्रवृत्ति वा, नित्याभावमात्रवृत्तित्वाद् , अन्योऽन्याभावत्ववत् । (८) घटात्यन्ताभावत्वं (स्व)प्रतियोगिजनकाभावसमानाधिकरणवृत्ति, एतत्कपालसमानकालीनैतद्घटप्रतियोगिकाभाववृत्तित्वात् , प्रमेयत्ववत् । (९) एतत्कपालमेतद्घटात्यन्ताभावाधिकरणमाधारत्वात्पटादिवत् । (१०) ब्रह्मत्वं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दृष्टान्त में साध्य का सद्भाव सिद्ध है, साध्य-वैकल्य नहीं होता ।

६. अत्यन्ताभाव अपने प्रतियोग्यवच्छिन्न देश में रहता है, क्योंकि नित्य अभाव है, जैसे—अन्योऽन्याभाव । [अत्यन्ताभाव यदि अपने प्रतियोगी के आधार में रह जाता है, तब उसको मिथ्या बना कर ही रहेगा । अन्योऽन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव—दोनों ही नित्य अभाव माने जाते हैं । अन्योऽन्याभाव यदि अपने प्रतियोगी के आधार में रह जाता है, तब नित्याभाव होने के नाते अत्यन्ताभाव भी अपने प्रतियोगी की प्रतिपन्न उपाधि में अवश्य रहेगा] ।

७. अत्यन्ताभावत्व अपने प्रतियोगी के अशेषाधिकरण में रहनेवाले अभाव मात्र में वृत्ति है अथवा अपने प्रतियोगी से अवच्छिन्न देश में रहने वाले अभाव मात्र में वृत्ति है, क्योंकि नित्याभाव मात्र में वृत्ति होता है, जैसे—अन्योऽन्याभावत्व । 'स्वप्रतियोग्यशेषाधिकरणवृत्ति' का अर्थ है—स्वप्रतियोग्यधिकरणता-व्यापक अभाव । उसकी वृत्तिता अत्यन्तभावरूप पक्ष और अन्योऽन्याभावत्वरूप दृष्टान्त में समन्वित है । समवायिकरण से अन्यत्र कार्य का अत्यन्ताभाव मानने वाले आचार्यों की दृष्टि से एवं अव्याप्यवृत्ति पदार्थों में सिद्ध-साधनता हटाने के लिए केवल प्रतियोग्यधिकरणवृत्ति न कह कर प्रतियोग्यशेषाधिकरणवृत्ति कहा गया है । अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभाव को नित्य माना जाता है, अतः नित्याभाव की वृत्तिता पक्ष और दृष्टान्त— दोनों में स्पष्ट है] ।

८. घटात्यन्ताभावत्व अपने (घटरूप) प्रतियोगी के जनक (घट-प्रागभाव) के कपालरूप अधिकरण में रहनेवाले (घटात्यन्ताभाव) में रहता है, क्योंकि एतत्कपाल-समानकालीन एतद्घटप्रतियोगिकघटात्यन्ताभाव में वृत्ति है, जैसे—प्रमेयत्व । [कार्य के प्रागभाव का अधिकरण समवायिकारण माना जाता है, उस में भी यदि कार्य का अत्यन्ताभाव रहता है, तब उसे निश्चितरूप से मिथ्या मानना पड़ेगा । कपाल-ध्वंस-जन्य घट-ध्वंस को छोड़ कर घट के सभी अभाव कपाल-समानकालीन माने जाते हैं । उसी प्रकार के अत्यन्ताभाव की वृत्तिता (अत्यन्ताभावत्वरूप) पक्ष एवं अन्योऽन्याभाव की वृत्तिता प्रमेयत्वरूप दृष्टान्त में अभिमत है] ।

९. यह कपाल इसी घट के अत्यन्ताभाव का अधिकरण होता है, क्योंकि आधार है, जैसे—पटादि । [पटादि में पट के रूपादि की अधिकरणता एवं घटात्यन्ताभाव प्रसिद्ध होने के कारण दृष्टान्तता निभ जाती है । पक्षातिरिक्त सभी आधारों में यदि घटात्यन्ताभाव सुलभ है, तब आधार होने के कारण कपाल में भी घटात्यन्ताभाव रहेगा ही, अपने समवायिकारण में कार्य का अत्यन्त (त्रैकालिक) अभाव होना ही कार्य का मिथ्यात्व है । समावायिकरण में वस्तु की प्रतीति व्यावहारिकमात्र है, वास्तविक नहीं] ।

अद्वैतसिद्धिः

न परमार्थसन्निष्ठान्योऽन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकम् , ब्रह्मवृत्तित्वादसद्भेलक्षण्यवत् । (११) परमार्थसत्प्रतियोगिको भेदो न परमार्थसन्निष्ठः, परमार्थसत्प्रतियोगिकत्वात् , परमार्थसत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिकाभाववत् । (१२) भेदत्वावच्छिन्नं सद्विलक्षणप्रतियोग्यधिकरणान्यतरवद् , अभावत्वाच्छुक्तिरूप्यप्रतियोगिकाभाववत् ।

---

१०. ब्रह्मत्व धर्म परमार्थ सत् पदार्थ में रहनेवाले अन्योऽन्याभाव का प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म में रहता है, जैसे—असत् का भेद । [प्रपञ्च यदि परमार्थ सत् होता, तब प्रपञ्चरूप परमार्थ सत् में रहनेवाले 'ब्रह्म न'—इस प्रकार के भेद का प्रतियोगितावच्छेदक ब्रह्मत्व हो जाता, किन्तु ब्रह्मत्व में यदि वैसी अवच्छेदकता नहीं है, तब प्रपञ्च को परमार्थ सत् नहीं कह सकते, मिथ्या ही कहा जायगा । 'यद् यद् ब्रह्मवृत्ति, तत्-तत् न परमार्थसदनुयोगिकभेदप्रतियोगितावच्छेदकम्'—इस प्रकार की व्याप्ति ब्रह्म-वृत्ति असद्भेद में पाई जाती है, अतः असद्भेद को दृष्टान्त बनाया गया है । जैसे परमार्थसत् न असद्भिन्नं (ब्रह्म) इस प्रकार का भेद प्रसिद्ध नहीं, वैसे ही 'परमार्थ सत् ब्रह्म न'—इस प्रकार का भी भेद सुलभ नहीं । यद्यपि अनिर्वचनीयता-वाद में परमार्थसत्, असद्भिन्नं शुक्ति-रजतम् न'—ऐसा कहा जा सकता है, तथापि माध्व मत में शुक्तिरजत को भी असत् ही माना जाता है, असद्भिन्न नहीं, अतः 'परमार्थ सत् असद्भिन्नं न'—ऐसा नहीं कहा जा सकता, फलस्वरूप असद्भेद में परमार्थसन्निष्ठ भेद की प्रतियोगितावच्छेदकता सम्भव न होने से दृष्टान्तरूपता बन जाती है] ।

११. परमार्थसत्प्रतियोगिक भेद परमार्थसत् में नहीं रहता, क्योंकि परमार्थसत्प्रतियोगिक है, जैसे—परमार्थसत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव । [यदि दो परमार्थसत् होते, तब एक परमार्थसत् का भेद दूसरे परमार्थ सत् में रह जाता, किन्तु जब परमार्थसत् का भेद परमार्थसत् में नहीं रह सकता, तब एक (ब्रह्म) ही परमार्थ सत् और उस से भिन्न प्रपञ्च को अपरमार्थसत् या मिथ्या ही मानना होगा । परमार्थसत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को दृष्टान्त बनाया गया है । माध्व मत में परमार्थत्व को प्रमेयत्वादि के समान केवलान्वयी माना जाता है, अतः परमार्थसत्त्व अत्यन्ताभाव का प्रतियोगितावच्छेदक नहीं माना जा सकता, परमार्थसत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव कहीं नहीं रह सकता, परमार्थसत् में क्योंकर रहेगा ? एवं अद्वैत मत में परमार्थसत्त्व धर्म तत्तद्धीविषयत्व की अपेक्षा गुरु होने के कारण अभाव-प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता, अतः परमार्थसत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव अप्रसिद्ध होने के कारण परमार्थसत् में नहीं रहता—इस प्रकार उसे उभय-मत-सम्मत दृष्टान्त बनाया गया है] ।

१२. भेदत्वावच्छिन्न (निखिल भेद) या तो सत्प्रतियोगिक होता है, या सदनुयोगिक, क्योंकि अभाव है, जैसे—शुक्ति-रजतप्रतियोगिक अभाव । [यहाँ भेद मात्र को पक्ष बनाया गया है । भेद एक अभाव होने के नाते नियमतः प्रतियोगी और अनुयोगी से निरूपित होता है, किन्तु ऐसा कोई भी भेद सम्भव नहीं, जिसका प्रतियोगी भी सत् हो और अनुयोगी भी, हाँ उसके प्रतियोगी और अनुयोगी में से कोई एक ही सत् हो सकता है, वह ब्रह्म है, उस से भिन्न प्रपञ्च असत् या मिथ्या । शुक्ति-रजत को सत् कोई

अद्वैतसिद्धिः

(१३) परमार्थसन्निष्ठो भेदः, न परमार्थसत्प्रतियोगिकः, परमार्थसदधिकरणत्वात्, शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकभेदवत्। (१४) मिथ्यात्वं ब्रह्मतुच्छोभयातिरिक्तत्वव्यापकम्, सकलमिथ्यावृत्तित्वात्, मिथ्यात्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वाद्वा, दृश्यत्ववत्। (१५) दृश्यत्वं परमार्थसदवृत्ति, अभिधेयमात्रवृत्तित्वाच्छुक्तिरूप्यत्ववत्। (१६) दृश्यत्वं परमार्थसद्भिन्नत्वव्याप्यम्, दृश्येतरावृत्तिधर्मत्वात्, प्रातिभासिकत्ववत्। (१७) उभयसिद्धमसद्विलक्षणं मिथ्यात्वासमानाधिकरणधर्मानधिकरणम्,

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भी नहीं मानता, अतः शुक्ति-रजत सद्भेद का प्रतियोगी भी है और अनुयोगी भी उसमें अन्यतररूपता निश्चित है, अतः उसे दृष्टान्त के पद पर अभिषिक्त किया गया है] ।

१३. परमार्थसत् में रहने वाला भेद परमार्थसत्प्रतियोगिक नहीं होता, क्योंकि परमार्थसदनुयोगिक है, जैसे—शुक्ति-रजतप्रतियोगिक भेद। [दो परमार्थ सत् नहीं होते, ब्रह्म उभय-सम्मत परमार्थ सत् है, अतः उससे भिन्न प्रपञ्च को असत् मानना होगा। शुक्ति-रजत प्रतियोगिक भेद का प्रतियोगी उभय मत से परमार्थसत् नहीं, किन्तु असत् या प्रातिभासिक है। परमार्थसत् ब्रह्म में शुक्तिरजत का भेद है ही, अतः हेतु और साध्य—दोनों का रहना वहाँ निश्चित होने से दृष्टान्तता बन जाती है] ।

१४. मिथ्यात्व धर्म ब्रह्म और तुच्छ—उभय के भेद का व्यापक होता है, क्योंकि सकल मिथ्या पदार्थों में वृत्ति है अथवा मिथ्यात्व के अधिकरण में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, जैसे—दृश्यत्व । [ब्रह्म और तुच्छ—इन दोनों से अतिरिक्तता जहाँ-जहाँ शुक्ति-रजत एवं प्रपञ्च में है, वहाँ-वहाँ मिथ्यात्व यदि है, तब प्रपञ्च को मिथ्यात्व के पञ्जे से कोई छुड़ा नहीं सकता। दृश्यत्व भी ब्रह्म और तुच्छ—दोनों से अतिरिक्त प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक प्रपञ्च में रहता है। इस प्रकार 'यत्र-यत्र ब्रह्मतुच्छोभयातिरिक्तत्वम्, तत्र-तत्र मिथ्यात्वम्—यह व्याप्ति दृश्यत्व में निश्चित है, अतः उसे दृष्टान्त बनाया गया है] ।

१५. दृश्यत्व धर्म परमार्थसत् में अवृत्ति है, क्योंकि अभिधेय मात्र में रहता है, जैसे—शुक्ति-रजतत्व। ["यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै० उ० २।४,५) इत्यादि श्रुति-वाक्यों से नितान्त स्पष्ट है कि ब्रह्म शब्द-शक्ति की परिधि से बाहर है, अनभिधेय है। मिथ्यात्व-साधक 'दृश्यत्व' धर्म प्रातिभासिक और व्यावहारिक प्रपञ्च में ही सीमित है और यह उभय-विध प्रपञ्च ही अभिधेय है, अतः अभिधेय मात्र वृत्ति दृश्यत्व परमार्थ सत् (ब्रह्म) में कैसे रह सकता है और जिसमें रहता है, वह परमार्थ सत् क्योंकर होगा ? फलतः प्रपञ्च को अपरमार्थ सत् या मिथ्या ही मानना पड़ेगा। शुक्ति-रजतत्व में अभिधेय मात्र-वृत्तित्व और परमार्थ सद्-वृत्तित्व निश्चित है] ।

१६. दृश्यत्व धर्म परमार्थ सद्भिन्नत्व का व्याप्य होता है, क्योंकि दृश्येतर में अवृत्ति धर्म है, जैसे—प्रातिभासिकत्व । [यत्र-यत्र दृश्यत्वम्, तत्र-तत्र परमार्थ सद्भिन्नत्वम्'—इस प्रकार परमार्थसद्भिन्नत्व का व्याप्य दृश्यत्व धर्म जिस प्रपञ्च में है, उसमें अपने व्यापकीभूत परमार्थसद्भिन्नत्व या मिथ्यात्व का आपादक क्यों न होगा ? दृश्यत्व धर्म दृश्येतर (ब्रह्म) में अवृत्ति है—यह निर्विवाद-सिद्ध है] ।

१७. उभय-मत-सिद्ध असद्भिन्न (व्यावहारिक) प्रपञ्च मिथ्यात्व के असमानाधि-

अद्वैतसिद्धिः

आधारत्वाच्छुक्तिरूप्यवत् । (१८) प्रतियोग्यवच्छिन्नो देशः, अत्यन्ताभावाश्रयः, आधारत्वात्कालवत् । (१९) आत्मत्वावच्छिन्नं परमार्थसत्त्वाधिकरणप्रतियोगिकभेदत्वावच्छिन्नरहितं परमार्थसत्वात्, परमार्थसत्वावच्छिन्नवत् । परमार्थसति परमार्थसद्भेदाङ्गीकारवादिमतेऽपि स भेदो न परमार्थसत्त्वावच्छिन्ननिष्ठः, किन्तु घटत्वाद्यवच्छिन्ननिष्ठ एव । (२०) शुक्तिरूप्यं मिथ्यात्वेन प्रपञ्चान्न भिद्यते, व्यवहारविषयत्वाद्, ब्रह्मवत् । साध्यसत्त्वमत्र त्रेधा—स्वस्यामिथ्यात्वेनोभयोर्मिथ्यात्वेनोभयोरमिथ्यात्वेन वा । तथा-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

करणीभूत (सत्यत्वादि) धर्मों का अनधिकरण होता है, क्योंकि आधार है, जैसे—शुक्ति-रजतत्व । [माध्व असत्ख्यातिवादी हैं, अतः उनके मत में शुक्ति-रजत भी असत् ही है, असद्भिन्न नहीं । हाँ, व्यावहारिक प्रपञ्च को दोनों वादी असद्भिन्न मानते हैं । ब्रह्म असद्विलक्षण होने पर भी निर्धमक है, उसमें 'आधारत्व' धर्म न रहने के कारण उसे पक्ष नहीं बनाया जा सकता । व्यावहारिक प्रपञ्च में जितने भी धर्म रहते हैं, वे सभी मिथ्यात्व के समानाधिकरण हैं, अतः मिथ्यात्वासमानधिकरण धर्मों की उसमें अनधिकरणता जो सिषाधयिषित है, वह अनुचित नहीं कही जा सकती । यद्यपि सदसद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व का असमानाधिकरण असत्त्वरूप धर्म माध्व मत से शुक्ति-रजत में प्रसिद्ध है, तथापि यहाँ असद्भिन्नत्व ही मिथ्यात्व विवक्षित है, अतः असत्त्व धर्म भी मिथ्यात्व का समानाधिकरण धर्म ही है, असमानाधिकरण नहीं, मिथ्यात्वासमानाधिकरणीभूत सत्यत्वादि धर्मों का अनधिकरण होने के कारण शुक्ति-रजत को दृष्टान्त बनाना अनुचित नहीं] ।

१८. प्रतियोगी का आधारभूत देश अत्यन्ताभाव का आश्रय होता है, क्योंकि आधार है, जैसे—काल । [काल सभी भावाभाव पदार्थों का आधार माना जाता है, अतः उसमें प्रतियोगी भी है और उसका अत्यन्ताभाव भी । काल के ही समान प्रपञ्च भी आधारत्व धर्म का आश्रय है, अतः प्रतियोगी और उसके अत्यन्ताभाव का आश्रय होगा । इस प्रकार 'स्वात्यन्ताभावाधिकरणे प्रतीयमानत्वं मिथ्यात्वम्'—इस चतुर्थ मिथ्यात्व-लक्षण का समन्वय प्रपञ्च में संगत हो जाता है] ।

१९. आत्मत्वावच्छिन्नपदार्थ, परमार्थसत्त्व के अधिकरणीभूत पदार्थ के पूर्ण भेद से रहित होता है; क्योंकि परमार्थ सत् है, जैसे—परमार्थसत् । [जैसे परमार्थ सत् में परमार्थ सत् का भेद नहीं रहता, वैसे ही यदि आत्मा में भी परमार्थसत् का भेद नहीं रहता, तब प्रपञ्च को परमार्थ सत् नहीं कह सकते, क्योंकि आत्मा में प्रपञ्च का भेद रहता है । यत्किञ्चित् घटादिरूप सत् पदार्थ का भेद लेकर सिद्ध-साधनता द्वैतवादी न दिखा सके, अतः परमार्थसत्त्वाधिकरण का अर्थात् परमार्थसत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद का निवेश दिया गया है, माध्व मत में भी 'आत्मा प्रपञ्चो न भवति'—ऐसा ही प्रपञ्चत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद ही लिया जा सकता है, 'आत्मा परमार्थसत् न'—इस प्रकार का परमार्थसत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद नहीं । परमार्थसत् का यत्किञ्चित् भेद लेकर सिद्ध-साधनतोद्भावन को रोकने के लिए भेदत्वावच्छिन्न यावद्भेद का ग्रहण किया गया है] ।

२०. शुक्ति-रजत मिथ्यात्वेन प्रपञ्च से भिन्न नहीं, क्योंकि व्यवहार का विषय है, जैसे—ब्रह्म । यहाँ प्रतियोगिभेदाभावरूप साध्य की सत्ता किसी अनुयोगी में तीन प्रकार

अद्वैतसिद्धिः

न्तिमपक्षस्यासंभवात् पक्षे साध्यसिद्धिपर्यवसानं मध्यमपक्षेण, दृष्टान्ते तु प्रथमपक्षेणेति विवेकः। (२१) विमतं मिथ्या, मोक्षहेतुज्ञानाविषयत्वे सत्यसदन्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। (२२) मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वं परमार्थसत्त्वव्यापकम्, परमार्थसत्त्वसमानाधिकरणत्वात्, पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्ववत्। (२३) एतत्पटात्यन्ताभावः, एतत्तन्तुनिष्ठः, एतत्पटानाद्यभावत्वाद्, एतत्पटान्योन्याभाववत्। तन्तुनाशजन्यपट-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

से हो सकती है—(१) आधार यदि अमिथ्या है, या (२) यदि भेद के अनुयोगी और प्रतियोगी—दोनों मिथ्या हैं, अथवा (३) यदि दोनों अमिथ्या हैं। इन में अन्तिम पक्ष तो असम्भव-ग्रस्त है। पक्ष में साध्य की सिद्धि मध्यम (उभयोर्मिथ्यात्वेन) कल्प से ही पर्यवसित होती है तथा दृष्टान्त में प्रथम (स्वस्यामिथ्यात्वेन) कल्प से साध्य का समन्वय होता है। ['घटः पटो न भवति'—यह भेद प्रसिद्ध है और घटो-घटो न भवति'—यह भेद प्रसिद्ध नहीं, इस का कारण स्पष्ट है कि जहाँ घटत्व-पटात्वादि भेदक धर्म भिन्न होते हैं, वहाँ ही भेद प्रसिद्ध होगा इसीलिए घट का भेद घट में सम्भव नहीं, क्योंकि वहाँ प्रतियोगितावच्छेदक और अनुयोगितावच्छेदकरूप भेदक धर्मों का भेद नहीं है। यही कारण शुक्ति-रजत में प्रपञ्च-भेद के न होने में भी है, क्योंकि 'मिथ्यामिथ्या न भवति'—ऐसा भेद सम्भव नहीं। शुक्ति-रजत और प्रपञ्च—दोनों को सत्य मानना किसी वादी के लिए भी सम्भव नहीं, अगत्या दोनों को मिथ्या ही मानना होगा। ब्रह्मरूप दृष्टान्त में साध्य इस लिए रह जाता है कि वह मिथ्या नहीं, अमिथ्या या परमार्थसत् है। मिथ्यात्वलिङ्गक या मिथ्यात्व-प्रयुक्त भेद वहीं रहेगा, जहाँ मिथ्यात्व होगा, जहाँ (ब्रह्म में) मिथ्यात्व धर्म ही नहीं रहता, वहाँ 'इदं भिन्नम्, मिथ्यात्वात्'—यह क्योंकर कहा जा सकेगा ? अतः मिथ्यात्वलिङ्गक प्रपञ्चप्रतियोगिक भेद का अभाव ही ब्रह्म में मानना आवश्यक है] ।

२१. विवादास्पद (व्यावहारिक प्रपञ्च) मिथ्या है, क्योंकि मोक्ष के हेतुभूत ज्ञान का अविषय तथा असत् पदार्थ से भिन्न है, जैसे—शुक्ति-रजत। ["ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" (छां. उ. २।२३।१), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (माण्डू. उ. ३।२।९), "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै. उ. २।१।१) इत्यादि श्रुतियां नितान्त स्फुटरूप में ब्रह्म-विषयक ज्ञान को मोक्ष का कारण बता रही हैं, क्योंकि वही वह सत्याधिष्ठान है, जिस में मिथ्या बन्धन अध्यस्त है, अतः मोक्ष के हेतुभूत ज्ञान की अविषयता शुक्ति-रजत के समान प्रपञ्च को मिथ्या सिद्ध कर रही है] ।

२२. मोक्ष-हेतु ज्ञान-विषयत्व परमार्थसत्त्व का व्यापक होता है, क्योंकि परमार्थसत्त्व का समानाधिकरण धर्म है, जैसे पारमार्थिकत्वेन श्रुति-तात्पर्य-विषयत्व। [मोक्ष के हेतुभूत ज्ञान की विषयता यदि सत्त्व की व्यापक सिद्ध हो जाती है, तब प्रपञ्च में परमार्थसत्त्व का अभाव ही मानना पड़ेगा, क्योंकि उसके व्यापकीभूत मोक्ष-हेतु ज्ञान-विषयत्व का वहाँ अभाव है, व्यापक के न रहने पर व्याप्य कदापि नहीं रह सकता। उपक्रमादि लिङ्गों की सहायता से श्रुतियों के तात्पर्य की जो पारमार्थिकत्व-समानाधिकरण विषयता है, वह भी साध्य और हेतु से युक्त है, अतः उसे दृष्टान्त बनाया गया है] ।

२३. इस पट का अत्यन्ताभाव इन्हीं तन्तुओं में रहता है, क्योंकि इस पट का

अद्वैतसिद्धिः

नाशस्य कदापि तन्तुवृत्तिता नास्तीति तत्र व्यभिचारवारणायानादिपदम्। यस्य पटस्याश्रयविभागेन नाशस्तदत्यन्ताभावस्य पक्षत्वे त्वनादिपदमनादेयमेव। अत्र चैतत्पटप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नस्य पक्षीकरणान्न संबन्धान्तरेणात्यन्ताभावमादायांशतः सिद्धसाधनम्, पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वात्। समवायसम्बन्धावच्छिन्नो व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नश्च यः एतत्पटात्यन्ताभावः, स एव वा पक्षः। तन्तुशब्देन च पटोपादानकारणमुक्तम्। तत्र च प्रागभावस्य सत्त्वान्न तेन व्यभिचारः। कार्यकारणयोरभेदेन सिद्धसाधनादि दूषणानि प्रागेव तत्त्वप्रदीपिकानुमानोपन्यासे निराकृतानि। (२४) यद्वा—समवायसम्बन्धावच्छिन्नोऽयमेतत्पटात्यन्ताभावः, एतत्तन्तुनिष्ठः, एतत्पटप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वात्, संबन्धान्तरावच्छिन्नैत-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का अनादि अभाव है, जैसे इस पट का अन्योऽन्याभाव। तन्तु-ध्वंस-जन्य पट का ध्वंस कदापि तन्तुओं में वृत्ति नहीं हो सकता, अतः उस ध्वंस में एतत्तन्तु-निष्ठत्व के न रहने पर भी एत्पटाभावत्वरूप हेतु रह जाता, व्यभिचारी हो जाता, इस लिए हेतु-घटक अभाव का अनादित्व विशेषण देकर 'एतत्पटानाद्यभावत्वात्' कहा गया है, ध्वंस अनादि नहीं होता, अतः उस का ग्रहण नहीं कर सकते। जिस पट का ध्वंस उसके असमवायिकारणभूत तन्तु-संयोग के नाश से होता है, यदि उस पट के अत्यन्ताभाव को पक्ष बनाया जाय, तब अनादि पद नहीं देना चाहिए, क्योंकि असमवायिकारण-नाश-जन्य पट के नाश में एतत्तन्तुनिष्ठत्व भी है और एतत्पटाभावत्व भी, अतः व्यभिचार की सम्भावना नहीं। यहाँ एतत्पट के सभी अत्यन्ताभावों को सामूहिक रूप से पक्ष बनाया गया है, अतः समवाय सम्बन्ध से पट के अधिकरण में संयोग सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव को लेकर आंशिक सिद्ध-साधनता नहीं दिखाई जा सकती, क्योंकि किसी एक अत्यन्ताभाव के सिद्ध होने पर भी सभी अत्यन्ताभाव तो सिद्ध नहीं हैं। पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अर्थात् समग्र पक्ष में जब साध्य की अनुमिति अभिप्रेत हो, तब पक्ष के एक देश में साध्य सिद्धि को दोष नहीं माना जाता—इसकी चर्चा विगत पृ० ६ पर आ चुकी है।

अथवा पटात्यन्ताभाव मात्र को पक्ष न बनाकर समवायसम्बन्धावच्छिन्नव्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नैतत्पटप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव को ही पक्ष बनाया जाता है। श्रीचित्सुखाचार्य के इस अनुमान-प्रयोग में साध्य-घटक तन्तु पद से पट का उपादानकारण प्रतिपादित है, उसमें पट का प्रागभाव रहता है, अतः उस प्रागभाव में एतत्तन्तुनिष्ठत्व और एतत्पटानाद्यभावत्व—दोनों विद्यमान हैं, व्यभिचार नहीं है। कार्य और कारण का अभेद मानकर सिद्ध-साधनादि दोषों का परिहार तत्त्वप्रदीपिका के इस अनुमान की चर्चा में विगत पृष्ठ ८१ पर किया जा चुका है।

२४. अथवा 'समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक यह इस पट का अत्यन्ताभाव इन्हीं तन्तुओं में रहता है, क्योंकि इस पट का अत्यन्ताभाव है, जैसे—संयोगादि सम्बन्धान्तर से इस पट का अत्यन्ताभाव'—इस प्रकार विशेषरूप से किसी एक व्यावहारिक पट में मिथ्यात्व सिद्ध कर लेना चाहिए। [इस पट का यदि संयोगेन अत्यन्ताभाव अपने समवायिकारण में रहता है, तब समवायेन अत्यन्ताभाव भी अवश्य रहेगा, क्योंकि वह भी घट का ही अभाव है और यह भी। यदि इस पट का समवायेन अत्यन्ताभाव अपने उपादान कारण में ही सिद्ध हो जाता है, तब वह अवश्य मिथ्या होगा]।

अद्वैतसिद्धिः

त्पटात्यन्ताभाववदिति विशिष्यानुमानम् । (२५) अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्वे सत्युक्त-पक्षतावच्छेदकवत् , स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्मत्वात् , संयोग-वत् । न च विश्वात्यन्ताभावे व्यभिचारः, तस्याधिकरणस्वरूपत्वे अनात्मत्वहेतोरेवा-भावाद् , अतिरिक्तत्वे तस्य मिथ्यात्वेनात्यन्ताभावप्रतियोगितया साध्यस्यैव सत्त्वात् । न च—अत्यन्ताभावस्यात्यन्ताभावे तत्प्रतियोगित्वलक्षणमिथ्यात्वासिद्धिरिति—वाच्यम् ; अभावे अभावप्रतियोगित्वस्य भावगताभावप्रतियोगित्वाविरोधित्वात् , प्रागभावस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि तत्प्रतियोगित्वस्य घटादौ सर्वसिद्धत्वात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

२५. [न्यायामृतकार ने जो विगत पृ०१६८ पर प्रपञ्च-सत्यत्व-साधन में पक्ष बनाया है, उसी को अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्व से विशेषित कर हम यहाँ पक्ष बना कर कहेंगे—] 'अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्वे सति ब्रह्मप्रमान्येनाबाध्यत्वे सति असत्त्वा-नधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यत्, स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्मत्वात्, संयोगवत् ।' अर्थात् अव्याप्यवृत्तिता का अनधिकरण, ब्रह्म-प्रमान्य प्रमा से अबाधित, असत्त्व का अनधिकरणभूत, ब्रह्मेतर (व्यावहारिक) प्रपञ्च अपने आधार में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है, क्योंकि अनात्म पदार्थ है, जैसे—संयोग । [द्वैतवादि-सम्मत अव्याप्य वृत्ति संयोगरूप अनात्म पदार्थ यदि अपने अधिकरण में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, तब व्याप्य वृत्ति घटादि अनात्म प्रपञ्च भी अपने आधार में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी क्यों न होगा ? इतने से ही वह मिथ्या हो जाता है] ।

शङ्का—प्रपञ्चात्यन्ताभाव नित्य है, अतः अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव अप्रसिद्ध होने के कारण अत्यन्ताभाव में स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्वरूप साध्य नहीं रह सकता, किन्तु अनात्मत्वरूप हेतु वहाँ रहता है, अतः व्यभिचारी क्यों न कहा जाय ?

समाधान—प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव आत्मरूप ही है, उससे भिन्न नहीं, अतः उसमें आत्मत्व ही है, अनात्मत्व नहीं रहता, व्यभिचारी क्योंकर कहा जायगा ? यदि प्रपञ्चात्यन्ताभाव को आत्मस्वरूप न मान कर भिन्न माना जाता है, तब उसमें अनात्मत्व के साथ मिथ्यात्व या स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्वरूप साध्य भी रह जाता है, व्यभिचार नहीं होता ।

शङ्का—प्रपञ्च को मिथ्या बनाने के लिए प्रपञ्च के अधिकरण में प्रपञ्चात्यन्ताभाव की सत्ता माननी होगी, किन्तु प्रपञ्चात्यन्ताभाव भी यदि मिथ्या है, तब प्रपञ्चात्यन्ता-भाव भी अपने अधिकरण में नहीं रहेगा, अतः उसकी प्रतियोगिता प्रपञ्च में न रह सकेगी, फलतः प्रपञ्च में स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व कैसे बनेगा ?

समाधान—प्रपञ्च-निष्ठ प्रतियोगिता के निरूपक अत्यन्ताभाव का विद्यमान होना आवश्यक नहीं, जैसे अविद्यमान प्रागभाव भी घटादिगत प्रतियोगिता का निरूपक होता है, उसी प्रकार अविद्यमान प्रपञ्चात्यन्ताभाव भी प्रपञ्चगत प्रतियोगिता का निरूपक क्यों न होगा । अभाव में अपने अभाव की प्रतियोगिता का भावगत प्रथम अभाव की प्रतियोगिता के साथ कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि प्रागभाव में अपने अत्यन्ताभाव

अद्वैतसिद्धिः

उपपादितत्वेतन्मिथ्यात्वमिथ्यात्वे । अत्र चाव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणशब्देनैकदेशावच्छेदेनाविद्यमानत्वं पक्षविशेषणं विवक्षितम् । एतेन—स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वोक्तौ बाधः । अवयववृत्तित्वानधिकरणत्वोक्तौ घटादीनामपक्षत्वापत्तिरिति दूषणद्वयमपास्तम् । अनात्मत्वहेतुस्तु जडत्वहेतुव्याख्यानेनैव व्याख्यातः । (२६) अत एव नित्यद्रव्यान्यदव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणमुक्तपक्षतावच्छेदकवत् , केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगि, पदार्थत्वात् , नित्यद्रव्यवदित्यपि साधु । दृष्टान्तश्चायं पररीत्या , स्वमते तु शुक्तिरूप्यवदित्येव । न च—स्वरूपेणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे अत्यन्तासत्त्वापातः, तद्वैलक्षण्यप्रयोजकाभावदिति—वाच्यम् , उत्पत्तिनिवृत्त्योरन्यतरप्रतियोगित्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की प्रतियोगिता के रहने पर भी प्रागभाव की घटादि में प्रतियोगिता लोक-प्रसिद्ध है। विगत पृष्ठ ४५ पर मिथ्यात्व-मिथ्यात्व के निरूपण में इसका उपपादन किया जा चुका है।

यहाँ 'अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरण' शब्द के द्वारा एकदेशावच्छेदेन अविद्यमानत्वम्—यह पक्ष का विशेषण विवक्षित है। अर्थात् अपने आधार के एक देश मात्र में न रहनेवाला घटादि प्रपञ्च पक्ष बनाया गया है। कोई भी पदार्थ अव्याप्य वृत्ति नहीं होता—यह विगत पृष्ठ ३४ पर कहा जा चुका है। पूर्व पक्षी की ओर से जो ये दो दोष दिये जाते है कि स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव का अर्थ होता है—स्वाधिकरण-वृत्ति अत्यन्ताभाव, यह सम्भव नहीं, क्योंकि घटादि के जो अपने कपालादि अधिकरण हैं, उनमें घटादि का अभाव सम्भव नहीं, बाधित है। इसी प्रकार घटादि में स्वावयव-वृत्तित्व प्रमाणसिद्ध है, अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरण या अवयववृत्तित्वानधिकरण कहने से पक्ष-कोटि में घटादि का संग्रह नहीं होता—इस प्रकार के वे दोनों दोष निरस्त हो जाते हैं, क्योंकि कथित बाध का उद्धार प्रत्यक्ष-बाधोद्धारादि प्रकरणों में किया जा चुका है और घटादि में स्वावयव-वृत्तित्व-साधक ज्ञानों में भ्रमरूपता का उपपादन किया जा चुका है। 'अनात्मत्व' हेतु का निरूपण भी पूर्वोक्त जड़त्व हेतु के निर्वचन में आ चुका है।

२६. अत एव यह अनुमान-प्रयोग भी समीचीन है—नित्य द्रव्य से भिन्न, अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरण, ब्रह्म-प्रमा-भिन्न प्रमा से अबाधित, असत्त्वानधिकरणीभूत ब्रह्म-भिन्न (व्यावहारिक) प्रपञ्च केवलान्वयी अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है, क्योंकि पदाभिधेय है, जैसे—नित्य द्रव्य। आकाशादि को वैशेषिक नित्य द्रव्य एवं अवृत्ति पदार्थ मानते हैं, उनका कोई अधिकरण प्रसिद्ध न होने के कारण कहीं नहीं रहते, अर्थात् केवलान्वयी अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं, अतः वैशेषिक-दृष्टि से नित्य द्रव्य को यहाँ दृष्टान्त बनाया गया है, अद्वैत-रीति से शुक्ति-रजत ही दृष्टान्त है। यदि कहा जाय कि प्रपञ्च का स्वरूपतः केवलान्वयी अत्यन्ताभाव मानने पर खपुष्पादि के समान अत्यन्त असत् ही मानना होगा, क्योंकि केवलान्वयी अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता ही असद्रूपता है, जो कि दोनों में समान है, अतः भेद-प्रयोजक और कोई धर्म प्रतीत नहीं होता। तो वैसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि व्यावहारिक प्रपञ्च में उत्पत्ति और नाश—इन दोनों में से किसी एक की प्रतियोगिता मानी जाती है और खपुष्पादि असत् पदार्थों में नहीं, क्योंकि असत् पदार्थ न कभी उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं। [यद्यपि प्रपञ्च-घटक अनादि पदार्थ उत्पन्न नहीं होते, तथापि विनष्ट होते हैं, अतः उनमें प्रागभाव-प्रतियोगित्व न होने पर भी ध्वंस-प्रतियोगित्व रहता है, जो कि असत् पदार्थ

परिहारात्। (२७) आत्मत्वावच्छिन्नधर्मिको भेदो न परमार्थसत्प्रतियोगिकः, आत्माप्रतियोगिकत्वात् , शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकभेदवत्। न च घटपटसंयोगे व्यभिचारः, हेतुमत्तया निर्णीते अङ्कुरादाविव साध्यसन्देहस्यादोषत्वात्। एवमन्येऽपि प्रयोगा यथोचितमारचनीया विपश्चिद्भिरिति दिक्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

से उनका भेदक है। घटादि रूप सादि और सान्त पदार्थों में प्रागभाव और ध्वंस--इन दोनों का प्रतियोगित्व रहता है, जो कि असत् का भेदक है। ब्रह्म सर्वत्र सत्तारूपेण विद्यमान है, अतः केवलान्वयी अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता उसमें नहीं रहती और न पदार्थत्वरूप हेतु ही उसमें रहता है, क्योंकि वह किसी पद की शक्ति का विषय नहीं माना जाता]।

२७. आत्मत्वावच्छिन्नानुयोगिताक भेद, परमार्थसत्प्रतियोगिक नहीं होता, क्योंकि आत्माप्रतियोगिक या अनात्मप्रतियोगिक है, जैसे--शुक्ति-रजत प्रतियोगिक भेद। [शुक्ति-रजत में सर्व-सम्मत अनात्मरूपता होने के कारण शुक्ति-रजत के भेद में अनात्मप्रतियोगिकत्व निश्चित है, अतः उसे दृष्टान्त बनाना सर्वथा न्याय-संगत है। दृष्टान्त में व्याप्ति-निश्चय हो जाने पर, पक्ष-वृत्ति साध्यव्याप्त हेतु के द्वारा परमार्थ-प्रतियोगिकत्वाभाव रूप साध्य की सिद्धि हो जाती है, प्रपञ्च-भेद परमार्थ सत्प्रतियोगिक नहीं, अतः प्रपञ्च परमार्थ सत् न होकर मिथ्या सिद्ध हो जाता है]।

शङ्का—घट और पट के संयोगमें आत्माप्रतियोगिकत्व हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि न तो घट आत्मा है और न पट, अतः घट और पट के संयोग में आत्माप्रतियोगित्व हेतु रह जाता है [सम्बन्ध और सादृश्यादि पदार्थ भी सप्रतियोगिक और सानुयोगिक होते हैं, यह कहा जा चुका है]। घट और पट के संयोग में हेतु के रहने पर भी साध्य का सन्देह है। यदि वहाँ साध्य नहीं, तब साध्याभाववद्वृत्ति हो जाने से हेतु व्यभिचारी है, अन्यथा नहीं—इस प्रकार व्यभिचार-सन्देह या सन्दिग्ध व्यभिचार है, निश्चित व्यभिचार के समान सन्दिग्ध व्यचिार भी व्याप्ति का घातक माना जाता है, व्याप्ति-रहित हेतु के द्वारा पक्ष में साध्यानुमिति नहीं हो सकती।

समाधान—सन्दिग्ध व्यभिचार वहाँ ही व्याप्ति-ज्ञान का विरोधी होता है, जहाँ व्याप्ति-ग्राहक तर्क न हो, अन्यथा प्रायः सभी पक्षों में साध्य का सन्देह ही रहता है, वहाँ सर्वत्र अनुमिति का उच्छेद ही हो जायगा। प्रकृत में व्याप्ति-ग्राहक तर्क विद्यमान है, तर्कों का प्रदर्शन आगे चल कर किया जायगा, अतः यहाँ सन्दिग्ध व्यभिचार वैसे ही दोष नहीं, जैसे कि 'क्षित्यादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वाद् घटवत्'—इस प्रकार ईश्वर-साधक अनुमान का हेतु (कार्यत्व) यवाङ्कुरादि में निश्चित है, किन्तु सकर्तृकत्वरूप साध्य सन्दिग्ध है। फिर भी व्याप्ति-ग्राहक तर्क रहने के कारण साध्य-सन्देह को वहाँ दोष नहीं माना जाता। इसी प्रकार प्रपञ्च-मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए अन्यान्य अनुमान-प्रयोगों की रचना अद्वैतवादी विद्वानों को कर लेनी चाहिए, यहाँ तो केवल दिग्दर्शन कराया गया है।

अद्वैतसिद्धिः

'हेतवोऽभीष्टसिद्ध्यर्थं सम्यञ्चो बहवश्च नः ।
अल्पाः परस्य दुष्टाश्चेत्यत्र स्पष्टमुदीरितम् ॥
अभीष्टसिद्धावनुकूलतर्कबलाबलं चात्र परीक्ष्य यत्नात् ।
प्रवक्ष्यते दोषगणः परेषां न खेदनीयं तु मनोऽधुनैव ॥'
इत्यद्वैतसिद्धौ विश्वमिथ्यात्वे विशेषतोऽनुमानानि ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रपञ्च-सत्यत्व-सिद्धि के लिए न्यायामृतकार ने ८–९ अनुमान-प्रयोग किये हैं, जिनका निराकरण पूर्व प्रकरण में किया जा चुका है। यहाँ अद्वैतसिद्धि में भी प्रपञ्च-मिथ्यात्वरूप अभीष्ट साध्य सिद्ध करने के लिए सत्ताईस अनुमान-प्रयोग दिखाए गये हैं। न्यायामृतकार से हमारी विशेषता यह है कि हमारे साध्य-साधन में सक्षम हेतु अधिक एवं निर्दोष हैं और न्यायामृत-प्रदर्शित हेतु संख्या में कम एवं सदोष हैं—यह तथ्य यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है। प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधक अनुमानों के अनुकूल और प्रतिकूल तर्कों के बलाबल की परीक्षा सावधानी से पहले कर लेने के पश्चात् दोषों का प्रदर्शन किया जायगा, अतः यहाँ अनुकूल तर्कों का प्रदर्शन तथा प्रतिकूल तर्कों का निराकरण न देख कर निराश होने की आवश्यकता नहीं।

: २६ :

मिथ्यात्वानुमानस्यागमबाधविचारः

न्यायामृतम्

किं च "विश्वं सत्यं यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघम्", "याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्य" इत्यादिश्रुतिभिः, "असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वर" मित्यादिस्मृतिभिः, "नाभाव उपलब्धेः, वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदि" त्यादिसूत्रैश्च बाधिता दृश्यत्वादयः।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—अस्तु शब्दबाधः, तथाहि—'विश्वं सत्यम्', 'यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघम्', 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः' इत्यादिश्रुतिभिः 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वर' मित्यादिस्मृतिभिः 'नाभाव उपलब्धेः' 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिव' दित्यादिसूत्रैश्च विश्वस्य सत्यत्वप्रतिपादनादिति—चेन्न; श्रुतेस्तत्परत्वाभावात्। तथा हि—'विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्चन प्र मिनन्ति व्रतं वाम्। अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगात' मिति ऋक्संहिताद्वितीयाष्टकवाक्यस्यायमर्थः—हे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधक दृश्यत्वादि हेतुओं का शब्द प्रमाण के द्वारा बाध होता है—"विश्वं सत्यम्" (ऋ० २।७।३), "यच्चिकेत सत्यमित् तन्न मोघम्" (ऋ० ८।१।१७), "याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः" (ईशा० ८) इत्यादि श्रुतियों "असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्" (गी० १६।८) इत्यादि स्मृतियों तथा "नाभाव उपलब्धेः" (ब्र० सू० २।२।२८) "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" (ब्र० सू० २।२।२९) इत्यादि सूत्रों के द्वारा जगत् की सत्यता का प्रतिपादन किया गया है। [विश्वं सत्यम्—इस वाक्य में प्रत्यक्ष-प्राप्त जगत्सत्यत्व की अनुवादकता का सन्देह किया जा सकता है, किन्तु 'यच्चिकेत' और 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्'—इन वाक्यों में वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि इन दोनों वाक्यों में परमेश्वर के द्वारा सत्य जगत् की रचना का प्रतिपादन किया गया है, जो कि वेद को छोड़ कर और किसी प्रमाण के द्वारा अधिगत ही नहीं हो सकता, जिसकी अनुवादकता का सन्देह होता, अतः यच्चि-केत'—इस वाक्य के द्वारा ईश्वर के सत्योपादान-गोचर अपरोक्ष बोध और 'याथा-तथ्यतो व्यदधात्'—इस वाक्य के द्वारा परमार्थ सत् जगत् का सर्जन प्रतिपादित है, अतः इस प्रकार के वैदिक वाक्यों के द्वारा मिथ्यात्व-साधन का अवश्य बाध होता है। केवल इतना ही नहीं "असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्" (गी० १६।८) इत्यादि स्मृति-वाक्यों में कहा गया है कि जो नास्तिकगण जगत् को सत्ता-शून्य तथा ईश्वरवि-रचित नहीं मानते, वे अत्यन्त भ्रान्त और मिथ्यावादी हैं। "नाभाव उपलब्धेः" (ब्र० सू० २।२।२८) तथा "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" (ब्र० सू० २।२।२९) इत्यादि सूत्रों में महर्षि बादरायण ने भी शून्यवाद और विज्ञानवाद का निराकरण करते हुए कहा है कि जो जीता-जागता जगत् सर्वानुभव-सिद्ध है, उसे शून्य या स्वप्न के समान निरा काल्पनिक एवं मिथ्या नहीं कह सकते।

अद्वैतवादी—द्वैतवादी का वक्तव्य यथार्थ नहीं, क्योंकि कथित ऋचा-भाग का जो अर्थ द्वैतवादी के मस्तिष्क में है, उसमें उसका मुख्य तात्पर्य नहीं। वह पूरी ऋचा इस प्रकार है—

अद्वैतसिद्धि

इन्द्राब्रह्मणस्पती ! मघवाना मघवानौ धनवन्तौ मघमिति धननाम, मखवन्ता विति वा। विश्वं सर्वं सत्यं कर्म, सद्भूतत्वात् , फलस्यावश्यंभावित्वाद्वा। तादृशं कर्म युवोरित् युवयोः, इत् इत्थमवधारणे वा। युवामेवोद्दिश्य सर्वाणि कर्माण्यनुष्ठेयानीत्यर्थः। आपो व्यापनशीला देवताः, चनेत्येतत्पदद्वयसमुदायः, एकपद्यं त्वध्यापकसंप्रदायसिद्धम्। वां युवयोर्व्रतं संकल्पं कर्म वा न प्रमिनन्ति न हिंसन्ति (मीङ् हिंसायां, क्रैयादिकः,) किंत्वनुमोदन्त इति यावत्। नोऽस्माकं हविर्दध्यादिकं अन्नं च पुरोडाशादिकं च। अच्छ अभिलक्ष्य वाजिना वेगवन्तावश्वाविव। युजा युक्तौ सन्तौ। जिगातं देवयजनमागच्छतम्। (जिगातिर्गतिकर्मा जौहोत्यादिकः) अन्नं घासं प्रति अश्वाविवेति वा। यद्वा—हे इन्द्राब्रह्मणस्पती ! विश्वं सर्वं सत्यं सत्यत्वेन परिदृश्यमानं जगत्, युवोरित् युवयोरेव, युवाभ्यामेव सृष्टम्। अथवा—युवयोरेव विश्वं सर्वं स्तोत्रं, सत्यं यथार्थम् , यद्यत् गुणजातं स्तुत्या प्रतिपाद्यते तत्सर्वं युवयोर्विद्यमानमेव न त्वारोपितमित्यर्थः। आपो व्यापनशीला देवताः, अबुपलक्षितानि पञ्चमहाभूतानि वा। युवयोर्व्रतं जगदुपादानाख्यं कर्म न हिंसन्ति। इत्थं महानुभावौ युवां जिगातम्। शेषं पूर्ववद्व्याख्येयम्। तथा च स्तुतिपरतया नास्य विश्वसत्यत्वे तात्पर्यम्॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

"विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्च न प्र मिनन्ति व्रतं वाम्।
अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नो अन्नं युजेव वाजिना जिगातम्॥"

ऋक्संहिता के (२।७।३।१२) द्वितीय अष्टकस्थ मन्त्र का पूरा अर्थ इस प्रकार है—

(१) हे इन्द्र और ब्रह्मणस्पति ! मघवाना (मघवानौ) धनवानो ! या मखवानो ! यह विश्व (समस्त) यागादि कर्म सत्य अर्थात् निश्चित रूप से फलप्रद है, ये समस्त कर्म (युवोः इत्) आप दोनों के ही हैं। आप ही इनके देवता हैं, आपके उद्देश्य से ही सभी कर्म अनुष्ठेय हैं। (आपः चन) व्यापनशील देवगण भी आप दोनों के संकल्प या कर्मरूप व्रत का हनन या विरोध नहीं करते, अपितु अनुमोदन करते हैं। आप दोनों हमारे दधि आदि हवि एवं पुरोडाशादि अन्न को अभिलक्ष्य कर (वाजिनौ इव) वेगवान् अश्व-युगल के समान एक साथ इस वेदी में (जिगातम्) पधारिये अथवा (अन्नम्) हरी-हरी घास की ओर लपकते हुये घोड़ों के समान शीघ्र आइए।

(२) अथवा उक्त मन्त्र का ऐसा अर्थ किया जा सकता है—हे इन्द्र और ब्रह्मणस्पति ! यह सत्य प्रतीत होनेवाला (विश्व) जगद् आप दोनों का ही है, आप दोनों के द्वारा ही विरचित है। व्यापनशील देवता अथवा जलोपलक्षित पञ्च महाभूत आपके इस जगदुपादान-संज्ञक कर्मरूप व्रत को तोड़ नहीं सकते। आप दोनों हमारी हवि का सेवन करने के लिए वेग से आइए।

(३) अथवा आप दोनों का (विश्व) समग्र स्तुति कर्म सत्य है, यथार्थ है अर्थात् आपके जिन गुणों की प्रशंसा की जा रही है, वे सब आपलोगों में वस्तुतः विद्यमान हैं, उत्प्रेक्षित नहीं हैं, आपके क्रिया-कलाप का देवगण भी विरोध नहीं करते, आप हमारे देव-यजन में शीघ्र आइए। इन सभी अर्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मन्त्र केवल स्तुति-परक है, जगत् की सत्यता के प्रतिपादन में इस का तात्पर्य कदापि नहीं है। 'यच्चिकेत् सत्यमित्' ऋक्संहिता के इस (८।१।१७) मन्त्र का पूर्ण विग्रह इस प्रकार है—

अद्वैतसिद्धिः

'शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीलः। यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता' इत्यस्यापि अष्टमाष्टकस्थस्येन्द्रस्तुतिपरतया न विश्वसत्यत्वे तात्पर्यम्। तथा हि—शाक्मना शाक्तैव शाक्मा तेन शाक्मना, बलेन। शाकः शक्तः, स्वशक्त्यैव सर्वं कर्तुं शक्त इत्यर्थः। न हीन्द्रस्य सहायान्तरापेक्षास्ति, इन्द्रत्वादेव। अरुणः अरुणवर्णः कश्चित् शोभनवर्णः पक्षी आगच्छतीत्यध्याहारः; उपसर्गश्रुतेः। यो महो महान् शूरः विक्रान्तः, सनात् पुराणः, अनीलः अनीडः नीडस्याकर्ता। न हीन्द्रो अग्निवत् कुत्रचिदपि यज्ञे निकेतनं करोति। एवं सुपर्ण इत्यादिरूपकेणेन्द्रमाह। स इन्द्र इदमिदानीं कर्तव्यमिति यच्चिकेत जानाति, तत्सत्यमित्सत्यमेव, न मोघं न व्यर्थम्। स्पार्हं स्पृहणीयं वसु निवासार्हं धनं जेता जयति शत्रुभ्यः सकाशात्। उत अपि, दाता ददाति च स्तोतृभ्यः। जेता दातेति तृन् तेन 'न लोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। एवमेवान्यदपि सत्यत्वप्रतिपादकमुन्नेयम्। 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधा'-दित्यपि वाक्यं न प्रपञ्चसत्यत्वे प्रमाणम्। तस्य पूर्वसृष्टप्रकारेण सर्जनमर्थः, न तु

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

"शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीलः।
यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता॥"

इस मन्त्र का भी इन्द्र की स्तुति में ही तात्पर्य है, विश्व की सत्यता के साधन में नहीं, जैसा कि इसके शब्दार्थ से स्पष्ट प्रतीत होता है—(शाक्मना) अपनी शक्ति से ही इन्द्र सभी कार्य करने में (शाकः) शक्त है, क्योंकि इन्द्र इतना सशक्त है कि उसे किसी कार्य में दूसरे की सहायता अपेक्षित नहीं, स्वयं सर्व सामर्थ्यवान् है। अरुण (रक्त) वर्ण का कोई (सुपर्णः) पक्षी आ रहा है (केवल आङ् उपसर्ग के द्वारा गच्छति का अध्याहार कर आगच्छति का लाभ हो जाता है)। यह (यः) जो (महः) महान् शूर विक्रान्त सनातन है, जिसका कहीं भी (अनीड़ः) घोंसला नहीं, क्योंकि यज्ञ में अग्नि के समान इन्द्र का कहीं निकेतन नहीं होता। वह सुपर्णरूप इन्द्र अपने जिस कर्त्तव्य का (चिकेत) निश्चय कर लेता है, वह सत्य होकर ही रहता है, उसका पौरुष कदापि (मोघ) व्यर्थ नहीं होता। वह (स्पार्ह) सदा स्पृहणीय (वसु) धन का विजेता है और दाता भी है, क्योंकि अपने स्तावकों उपासकों को पुष्कल धन देता है (यहाँ जेता और दाता—दोनों शब्द 'तृन्' प्रत्ययान्त हैं, अतः इन के योग में समभिव्याहृत पद के उत्तर षष्ठी विभक्ति का निषेध किया गया है—"न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" (पा० सू० २।३।६९) इस सूत्र के द्वारा षष्ठी विभक्ति का निषेध हो जाने के कारण मन्त्र में 'वसु' पद के उत्तर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग नहीं किया गया है। इसी प्रकार आपाततः विश्व-सत्यता के प्रतिपादक अन्य मन्त्रों का भी उचित अर्थ प्रदर्शित कर यह सिद्ध कर देना चाहिए कि किसी भी वैदिक वाक्य का तात्पर्य जगत् की पारमार्थिक सत्ता के प्रतिपादन में नहीं है।

"याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्'—यह वाक्य भी विश्व-सत्यता में प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि उस वाक्य का इतना ही अर्थ विवक्षित है कि पूर्व कल्प में जैसी सृष्टि थी, ठीक वैसी ही सृष्टि ईश्वर ने बनाई। इस से न तो जगत् की सत्यता ही प्रमाणित होती है और न जगत्सर्जन में सत्यता। जिन वैदिक वाक्यों में किसी देवता की स्तुति प्रतीत नहीं होतीं, वहाँ भी "अग्निर्हिमस्य भेषजम्'—इत्यादि के समान केवल प्रत्यक्ष-

न्यायामृतम्

न चायं प्रत्यक्षप्राप्तानुवादः, त्वन्मते सन् घट इत्यस्य सदर्थस्य व्यावृत्तघटाद्यन्यानुवृत्तब्रह्मत्वेन घटादिसत्त्वस्याऽप्राप्तेः। यच्चिकेतेत्यादिवाक्यद्वये ईश्वरस्य मानान्तराप्राप्तसत्यजगत्स्रष्टृत्वस्यैवोक्तेश्च। पृथिवी इतरभिन्ना, न हिंस्यात्सर्वा भूतानीत्यादाविव एकदेशे विधेयसिद्धावपि विश्वमात्रे तदसिद्ध्यानुवादकत्वाच्च। अनुवा-

अद्वैतसिद्धिः

जगत्सत्यत्वं जगत्सर्जनगतसत्यत्वं वा। यत्र च स्तुत्यादिपरत्वं नास्ति, तत्रापि प्रत्यक्षसिद्धानुवादकतया 'अग्निर्हिमस्य भेषज' मित्यादिवाक्यवन्न तत्परत्वम्। न च—त्वन्मते सर्वत्र ब्रह्मसत्त्वस्यैव स्फुरणात्तदतिरिक्तस्य कालत्रयाबाध्यत्वरूपस्य घटादिसत्त्वस्य प्रत्यक्षेणाप्राप्तेः तद्बोधकत्वेन श्रुतेर्नानुवादकत्वमिति—वाच्यम्; इतरसत्त्वबाधपुरस्सरत्वाद् ब्रह्मसत्त्वस्फुरणाभ्युपगमस्य तत्रैव सत्यादिपदप्रवृत्तिस्वीकारेण तदतिरिक्तविश्वसत्यत्वस्य शाब्दबोधाविषयत्वात् तदादायानुवादकत्वापरिहारात्। अथ—'पृथिवी इतरभिन्ना 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानी' त्यादौ घटादावेकदेशे प्रत्यक्षेण, ब्राह्मणादावेकदेशे वाक्यान्तरेण, विधेयसिद्धावपि सर्वत्रासिद्धत्वाद् यथा नानुवादकत्वं, तथा विश्वमात्रसत्यत्वस्य प्रत्यक्षेप्राग्राह्यत्वात् नानुवादकत्वमिति—(मन्यसे), मैवम्; दृष्टान्ते

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सिद्ध पदार्थ की अनुवादकता मात्र होती है, न कि जगत्-सत्यता की प्रतिपादकता।

शङ्का—'विश्वं सत्यम्'—इस मन्त्र में जो प्रपञ्च की सत्यता का प्रतिपादन किया गया है, वह प्रत्यक्षावगत सत्यता का अनुवाद नहीं हो सकता, क्योंकि अद्वैत-मत के अनुसार घटः सन्'—आदि अनुभूतियों में ब्रह्म की सत्ता का ही सर्वत्र स्फुरण माना जाता है। उससे भिन्न त्रिकालाबाध्यत्वरूप घटादि प्रपञ्चगत सत्ता प्रत्यक्ष से अधिगत ही नहीं है, अतः प्रत्यक्ष-ज्ञात सत्त्व की अनुवादकता श्रुति में कैसे बनेगी ?

समाधान—प्रपञ्च में ब्रह्म की सत्ता ही प्रतीत होती है—ऐसा हम तब कहते हैं, जब कि ब्रह्म से अन्यत्र त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व का बाध हो जाता है। बाध से पहले-पहले प्रपञ्च की अपनी स्वतन्त्र सत्ता प्रतीत होती है, उसी सत्त्व में 'विश्वं सत्यम्'—इत्यादि मन्त्रों के सत्यादि पदों की प्रवृत्ति सम्भव है, अतः प्रत्यक्ष-प्राप्त सत्त्व की अनुवादकता श्रुतियों में सम्भव हो जाती है।

द्वैतवादी—जैसे 'पृथिवी इतरभिन्ना, पृथिवीत्वात्'—इस व्यतिरेकी अनुमान में पृथिवी के एक देशभूत घटादि में इतर-भेद प्रत्यक्ष-सिद्ध होने पर भी पृथिवीत्वावच्छेदेन सकल पृथिवी में प्रसिद्ध न होने के कारण सिद्ध-साधनता या अनुवादकता अनुमान में नहीं मानी जाती अथवा जैसे 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'—इत्यादि वाक्यों से ब्राह्मणादि कुछ प्राणियों की हिंसा का निषेध प्राप्त होने पर भी सभी प्राणियों की हिंसा का निषेध प्राप्त न होने के कारण 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'—इस वाक्य में अनुवादकता नहीं मानी जाती, वैसे ही कतिपय घटादि अर्थों की सत्ता प्रत्यक्ष-सिद्ध होने पर भी विश्वमात्र की सत्ता प्रत्यक्षावगत न होने के कारण 'विश्वं सत्यम्'—इत्यादि श्रुतियों में अनुवादकता नहीं माना जा सकती।

अद्वैतवादी—दृष्टान्त में पृथिवीत्व और हिंसात्व धर्म एक सर्वानुगत जाति होने के कारण तदवच्छेदेन इतर-भेद अथवा हिंसा-निषेधरूप विधेय की प्राप्ति न होने के कारण अनुवादकत्व सम्भव नहीं, किन्तु प्रकृत में 'विश्वत्व' नाम का सर्वानुगत एक

न्यायामृतम्

दकत्वं हि वाक्यस्य न ज्ञातज्ञापकत्वमात्रम्, अतिप्रसंगात्, किं तु ज्ञातमात्रज्ञापकत्वम्। एकशाखास्थविधिवाक्यैकार्थशाखांतरस्थविधिवाक्यस्य पुरुषांतरं प्रतीव येन पुंसा वादिविप्रतिपत्त्यादिना प्रत्यक्षेण विश्वसत्यता न निर्णीता, तं प्रत्यर्थवत्त्वाच्च। अनुवादकत्वं तु सर्वाविवादस्थले सावकाशम्। अत एव त्वयापि बृहदारण्यकभाष्ये देहान्यात्मबोधिकायाः "अस्तीत्येवोपलब्धव्य" इति श्रुतेः प्रत्यक्षप्राप्तानुवादित्वमाशंक्य

अद्वैतसिद्धिः

हि पृथिवीत्वं च हिंसात्वं च एकोऽनुगतो धर्म इति तदवच्छेदेन विधेयस्याप्राप्तत्वेन तत्र नानुवादकत्वं युक्तम्, इह तु विश्वत्वं नाम नैको धर्मोऽस्ति, किंतु विश्वशब्दः सर्वनामत्वात्तेन तेन रूपेण घटपटादीनामुपस्थापकः। तेषु च प्रत्येकं सत्त्वं गृहीतमेवेति कथं नानुवादकत्वम्? प्रकारवैलक्षण्याभावात्। न च—एकशाखास्थविधिवाक्यैकार्थशाखान्तरस्थविधिवाक्यस्य पुरुषान्तरं प्रतीव येन पुंसा वादिविप्रतिपत्त्यादिना घटादिसत्ता प्रत्यक्षेण न निर्णीता, तं प्रत्यर्थवत्त्वेन नानुवादकत्वमिति—वाच्यम्, एवं सत्यनुवादस्थलस्यैवाभावप्रसङ्गात्। न च सर्वाविवादस्थलमेवोदाहरणम्. सर्वाविवादस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

धर्म नहीं माना जाता, अपितु 'विश्व शब्द सर्वनाम होने के कारण तत्तद्रूप से घट-पटादि का उपस्थापक होता है, घट-पटादि प्रत्येक व्यक्ति में सत्त्व गृहीत है ही, अतः अनुवादकत्व क्यों न होगा? पुरोवाद और अनुवाद में विभिन्नता नहीं होनी चाहिए, 'घटः सन्'—यह पुरोवाद भी घटत्वादिरूप से सत्त्व का अवगाही है और 'विश्वं सत्यम्'—यह अनुवाद भी बुद्धि-विषयतावच्छेदकीभूत घटत्वादि रूप से ही सत्त्व या सत्यत्व का अवगाही होता, अतः प्रकार-वैलक्षण्य न होने के कारण अनुवादकत्व निश्चित है।

शङ्का—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (श. ब्रा. ११।५।६) यह विधि वाक्य त्रैवर्णिक पुरुष के लिये केवल अपनी एक स्वकीय शाखा के अध्ययन का विधान करती है। एक ही प्रकार के वाक्य विभिन्न शाखाओं में आते हैं, जैसे—"अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि वाक्य। उनमें एक वाक्य विधायक तथा समानार्थक शाखान्तरस्थ वाक्य अनुवादक हैं—ऐसा नहीं माना जाता, अपितु सभी वाक्य विधायक हैं, अपने-अपने अधिकारी के लिए अज्ञात-ज्ञापक ही माने जाते हैं, जैसा कि शाखान्तराधिकरण (जै०सू० २।४।१) में वार्तिककार ने कहा है—"तत्र नाम पुनरुक्तता भवति, यत्र पूर्वोक्तोऽर्थस्तस्यैव पुंसः सन्निहितो भवति" (तं० वा० पृ० ६३९)। इसी प्रकार 'घटः सन्'—यह प्रत्यक्ष तथा 'विश्वं सत्यम्'—यह श्रुति-वाक्य समानार्थावगाही होने पर भी अनुवादक नहीं, क्योंकि अपने प्रत्यक्ष पर विश्वास रखनेवाले व्यक्ति के लिए 'घटः सन्'—यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, अज्ञातार्थ-प्रकाशक है, किन्तु विविध मत-मतान्तरों के चक्कर में फँसे जिस आस्तिक व्यक्ति का प्रत्यक्ष पर से विश्वास उठ गया है, उसके लिए 'विश्वं सत्यम्'—यह वाक्य ही अज्ञात-ज्ञापक होने के कारण प्रमाण है, सार्थक है। उसके लिए श्रुति-वाक्य न अनुवादक है और न व्यर्थ।

समाधान—यदि अनुवाद को भी विवाद-स्थल पर विशेष निर्णायक होने के कारण अनुवाद न माना जाय, तब अनुवाद की कथा ही समाप्त हो जायगी, क्योंकि न्यायामृत-कथित निर्विवाद-स्थल न मिलेगा और न कोई अनुवाद प्रसिद्ध होगा। शाखान्तरस्थ

अद्वैतसिद्धिः

निश्चेतुमशक्यत्वात् । पुरोवादपूर्वकत्वादनुवादस्यायं पूरोवाद इत्यस्यैवाभावात् न शाखान्तरस्थवाक्यस्यानुवादकत्वप्रसङ्गः ।

यत्तु—बृहदारण्यकभाष्ये देहभिन्नात्मबोधिकायाः 'अस्तीत्येवोपलब्धव्य' इत्यादिश्रुतेः प्रत्यक्षप्राप्तानुवादित्वमाशंक्य वादिविप्रतिपत्तिदर्शनादित्यादिना तत्परिहृतम् ; तथा च प्रत्यक्षसिद्धसत्त्वग्राहकत्वेऽपि वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थकत्वेन नानुवादकत्वं प्रकृतेऽपीत्युक्तम् । तदयुक्तम् ; भाष्यार्थानवबोधात् । तथा हि—तत्र वादिविप्रतिपत्तिदर्शनेन देहव्यतिरिक्तत्वेनात्मनः प्रत्यक्षतैव नास्ति । अन्यथा प्रत्यक्षप्रामाण्यवादिनश्चार्वाकादेस्तत्र विप्रतिपत्तिर्न स्यादित्युक्तम्, न तु वादिविप्रतिपत्तिनिरासेनास्तीत्यादेस्सार्थकत्वम्, अननुवादकत्वं वा । तथा चोक्तं तत्रैव—तस्माज्जन्मान्तरसंबन्ध्यात्मास्तित्वे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वाक्य के लिए जो अननुवादकता कही गई है, उसका कारण यह है कि जो दो वादों के विषय में यह निर्णीत हो कि 'अयं पूर्वकालीनो वादः', 'अयं पश्चात्कालिको वादः'' । अर्थात् यह पहले कहा गया और यह पश्चात् इस प्रकार का निश्चय हो जाने पर ही पश्चाद्भावी वाद को अनुवाद कहा जा सकेगा, किन्तु समग्र वेद अपौरुषेय तथा अनादि है, उसकी शाखाओं में पौर्वापर्य सम्भव नहीं । [वेद वह वृक्ष नहीं, जिसमें शाखाएँ क्रमशः प्रस्फुटित होती हैं, अपितु प्रतिपाद्य विषय वस्तु की सर्वत्र एकता होने पर भी प्रतिपादन की शैली के भेद से शाखा-भेद का व्यवहार होता है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

एकस्य वेदवृक्षस्य किञ्चित्कर्मफलाश्रयात् ।
एवं शाखाः प्रसिध्यन्ति बहुशाखैकवृक्षवत् ।। (तं. वा. पृ. ६३९)]

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि बृहदारण्यक-भाष्य में देह-भिन्नात्म-बोधक ''अस्तीत्येवोपलब्धव्यः'' (का० ६।१३) इस श्रुति में 'ममायं देहः'—इत्यादि प्रत्यक्ष के द्वारा अवगत देह-भेदरूप अर्थ की अनुवादकता का सन्देह उठा कर वादि-विवाद-स्थल पर विशेष निर्णायक होने के कारण अननुवादकता स्थापित की है—''तत्प्रत्यक्षविषययेवेति चेन्न, वादिविप्रतिपत्तिदर्शनात्'' (बृह० शां० भा० पृ० ६) । अर्थात् प्रत्यक्ष के विषय में चार्वाक-बौद्धादि का विवाद देखकर प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं रहता, अतः 'ममायं देहः—इत्यादि प्रत्यक्ष के द्वारा देहात्म-भेद सिद्ध नहीं हो सकता, अतः 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः'—इस श्रुति के द्वारा देहात्म-भेद की प्रमा उत्पन्न की जाती है, उसी प्रकार विवाद-ग्रस्त प्रत्यक्ष के द्वारा विश्व-सत्यता सिद्ध नहीं हो सकती, अतः विश्वं सत्यम्'—इस वाक्य के द्वारा विश्व की सद्रूपता प्रमाणित होती है । न्यायामृतकार का वह कथन भी संगत नहीं, क्योंकि न्यायामृतकार भाष्य के भावार्थबोध से वञ्चित है । भाष्यकार ने वहाँ यह नहीं कहा है कि वादिवि-प्रतिपत्ति का निरास करने के कारण ''अस्तीत्येवोपलब्धव्यः'—यह श्रुति सार्थक एवं अननुवादक है, अपितु इतना ही कहा है कि वादि-विवाद के कारण देह-व्यतिरिक्त आत्मा का प्रत्यक्ष ही नहीं होता, अन्यथा प्रत्यक्ष-प्रामाण्य-वादी चार्वाकादि का आत्मा की देह-व्यतिरिक्तता में वैमत्य न होता । वहीं पर भाष्यकार ने अत्यन्त स्पष्ट कहा है कि ''तस्मात् जन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारविशेषोपाये च शास्त्रं प्रवर्तते'' (बृह. शा. भा. पृ. ५) । अर्थात् जन्मान्तर में भी आत्मा का अस्तित्व रहता है और जन्मान्तर में इष्ट-प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहार का उपाय यह है—इस प्रकार का बोध शास्त्र के द्वारा ही होता है,

न्यायामृतम्

वादिविप्रतिपत्तिदर्शनादित्यादिना तत्परिहृतम्। द्वयोः प्रणयंतीतिवाक्यस्यावैयर्थ्याय चातुर्मास्यमध्यपर्वणोश्चोदकाप्राप्तप्रणयनांतरप्रापकत्ववद् इहापि श्रुतेरवैयर्थ्याय तत्सत्य-मित्यादिश्रुतिवद् वर्तमानमात्रग्राहिप्रत्यक्षाप्राप्तकालत्रयाबाध्यत्वरूपसत्यत्वप्रापकत्वाच्च।

अद्वैतसिद्धिः

जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहाविशेषोपाये च शास्त्रं प्रवर्तत इति। ननु—चातुर्मास्यमध्य-पर्वणोः 'द्वयोः प्रणयन्ती'ति वाक्यस्य चोदकप्राप्ताग्निप्रणयनव्यतिरिक्ताग्निप्रणयनविधा-पकत्ववत् प्रत्यक्षप्राप्तव्यावहारिकसत्त्वविलक्षणत्रिकालनिषेधाप्रतियोगित्वरूपसत्त्वप्रा-पकत्वं प्रकृतेऽस्त्विति—चेन्न; त्रैकालिकसत्त्वनिषेधकश्रुतिविरोधेन विश्वसत्यत्वश्रुतेस्त्रै-कालिकसत्त्वपरत्वाभावात्। न च— वैपरीत्यमेव किं न स्यात्? विनिगमकाभावादिति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रत्यक्षादि से नहीं।

शङ्का—जैमिनि-मीमांसा (७।३) में यह विचार किया गया है कि चातुर्मास्य-संज्ञक इष्टि के चार पर्व (खण्ड) होते हैं—(१) वैश्वदेव, (२) वरुणप्रघास, (३) शाकमेध तथा (४) शुनासीर। वहाँ "द्वयोः प्रणयन्ति"—यह विधि वाक्य श्रुत है, जिसका अर्थ है—चातुर्मास्य इष्टि के मध्यम दो (वरुणप्रघास तथा शाकमेध) पर्वों में अग्नि का प्रणयन करना (गार्हपत्य कुण्ड से आहवनीय कुण्ड में अग्नि ले जाना) चाहिए। चातुर्मास्य कर्म इष्टि होने के कारण दर्शपौर्णमास कर्म की विकृति है, अतः 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' —इस सहज-सिद्ध अतिदेश वाक्य के द्वारा दर्शपौर्णमास-विहित अग्नि-प्रणयनरूप अङ्ग भी चातुर्मास्य के चारों पर्वों में प्राप्त है, तब चातुर्मास्य-प्रकरणगत "द्वयोः प्रणयन्ति"—इस प्रत्यक्ष श्रुत वाक्य के सामर्थ्य से यह सिद्ध होता है कि 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'—इस अतिदेश वाक्य के द्वारा प्राकृत अग्नि-प्रणयन चातुर्मास्य के मध्यभावी दो पर्वों को छोड़कर प्रथम (वैश्वदेव) और चतुर्थ (शुनासीर) में ही प्राप्त होता है, अतः मध्यभावी दो पर्वों में अप्राप्त अग्नि-प्रणयन का विधान 'द्वयोः प्रणयन्ति'—इस वाक्य के द्वारा किया जाता है। ठीक उसी प्रकार 'विश्वं सत्यम्'—इत्यादि श्रुति के सामर्थ्य से यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा प्रपञ्च में केवल व्यावहारिक सत्त्व का ही बोध होता है, पारमार्थिक सत्त्व (त्रिकाला-बाधितत्व) का नहीं, अतः पारमार्थिक सत्त्व की प्रमापकता 'विश्वं सत्यम्—इत्यादि श्रुतियों में सिद्ध होती है, अनुवादकता नहीं।

समाधान—"नेह नानास्ति किञ्चन" (बृह० ४।४।१९) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रपञ्च में पारमार्थिक सत्त्व का निषेध देखकर एक साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है कि 'विश्वं सत्यम्'—इत्यादि श्रुतियों का तात्पर्य प्रपञ्च की पारमार्थिक सत्ता के प्रतिपादन में नहीं हो सकता।

शङ्का—जैसे पारमार्थिक सत्त्व-निषेधक श्रुतियों के अनुरोध पर यह निर्णय किया जाता है कि 'विश्वं सत्यम्'—इत्यादि श्रुति वाक्यों का अपने मुख्यार्थ में तात्पर्य नहीं, वैसे ही विशेष विनिगमक के अभाव में ठीक उसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि 'विश्वं सत्यम्'—इत्यादि श्रुतियाँ विश्व की पारमार्थिक सत्ता का बोधन करती हैं और उनके अनुरोध पर यह निर्णय किया जाता है कि 'नेह नानास्ति किञ्चन'—इत्यादि श्रुतियों का अपने मुख्य स्वार्थ में तात्पर्य नहीं।

अद्वैतसिद्धिः

वाच्यम् ; तात्पर्यान्यथानुपपत्तिगतिसामान्यानामेव विनिगमकत्वात् । अद्वैतश्रुतिर्हि षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेता । तत्र त्रिविधं तात्पर्यलिङ्गम् प्रामाण्यशरीरघटकमर्थनिष्ठम- ज्ञातत्वमबाधितत्वं प्रयोजनवत्त्वं च । त्रिविधं तु शब्दनिष्ठमतिप्रसङ्गवारकमुपक्रमोप- संहारयोरैकरूप्यम् अभ्यासः, अर्थवादश्चेति । तत्र शब्दनिष्ठलिङ्गत्रये तावन्न विवादः, सर्वासामेवोपनिषदामेवं प्रवृत्तत्वात् । मानान्तरासिद्धतया मोक्षहेतुज्ञानविषयतया च अज्ञातत्वं सप्रयोजनत्वं च निर्विवादमेव । अबाधितत्वमात्रं सन्दिग्धम् । तच्चान्यथा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—[परस्पर विरोधी वाक्यों में कौन स्वार्थ-परक है और कौन नहीं—इसका निर्णय उपक्रमादि छः प्रकार के लिङ्गों पर निर्भर हैं, अतः उन पर- व्यापक दृष्टि से कुछ विचार करना आवश्यक है—

उपक्रमोपसहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ।।

जैसे पर्वत में संशयाक्रान्त अप्रकट अग्नि का गमक होने के कारण धूम को लिङ्ग कहा जाता है, क्योंकि 'लीनमर्थं गमयति'—यही 'लिङ्ग' शब्द का 'व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होता है । उसी प्रकार विवाद-स्थलों के विनिगमक या विशेष निर्णायक होने के कारण उप- क्रमादि को लिङ्ग कहा जाता है । शब्द को प्रमाण या प्रमा-जनक तथा शाब्द ज्ञान को प्रमा या प्रमाण ज्ञान कहते हैं] । उक्त छः प्रकार के लिङ्गों में तीन प्रमा के घटक या प्रमेयरूप अर्थ में रहते हैं और तीन प्रमा-जनक शब्द में । उनमें अपूर्वता, उपपत्ति और फल—ये तीन अर्थ में रहते हैं । प्रमा का पूरा कलेवर है—अनधिगताबाधितप्रयोजनवदर्थ- विषयक ज्ञान । प्रतिपाद्य विषय वस्तु की अनधिगतता को अपूर्वता, अबाधितत्वको उप- पत्ति और प्रयोजनवत्ता को फल कहा करते हैं । जैसे त्रैवर्णिक शरीर-घटक यज्ञोपवीतादि चिह्न त्रैवर्णिकिता के लिङ्ग कहे जाते हैं, वैसे ही प्रमा-शरीर-घटक होने के कारण अपूर्व- त्वादि को तात्पर्य-विषयता या प्रमेयता का लिङ्ग माना जाता है । अवशिष्ट तीन लिङ्ग शब्दनिष्ठ होते हैं—उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता, अभ्यास और अर्थवाद । किसी प्रकरण या शास्त्र के आरम्भ और उपसंहार की एकवाक्यता जिस विषय वस्तु को लेकर होती है, उसी वस्तु में समग्र प्रकरण का शास्त्र का तात्पर्य माना जाता है, जैसा कि "वेदो वा प्रायदर्शनात्" (जै० सू० ३।३।२) में झलक पड़ती है । अभ्यास का अर्थ जैमिनि के शब्दों में "एकस्यैवं पुनः श्रुतिः" (जै० सू० २।२।२) अर्थात् 'तत्त्वमसि', 'तत्त्व- मसि'—इस प्रकार किसी एक अर्थ का बोध कराने के लिए अविशेष शब्द के पुनः श्रवण का नाम अभ्यास है । अभ्यास के द्वारा अभ्यस्यमान वस्तु में उत्कर्ष या तात्पर्या- तिरेकता प्रतीत होती है, जैसा कि निरुक्तकार कहते हैं—"अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति" (नि० दैवत-काण्ड) । आचार्य मण्डनमिश्र और वाचस्पति मिश्र आदि ने भी इसी का प्रदर्शन किया है । प्रशंसादि के बोधक वाक्यों को अर्थवाद कहते हैं । अर्थवाद भी विषय वस्तु के प्राशस्त्य का सूचक होने के कारण तात्पर्य-ग्रह में उपयोगी होता है । इनमें शब्द-निष्ठ तीनों लिङ्ग निर्विवाद हैं, क्योंकि प्रायः सभी उपनिषत् वाङ्मय कथित त्रिविध लिङ्गों के पर्यावरण में ही सक्रिय पाया जाता है । अर्थ-निष्ठ लिङ्गों में भी प्रमाणान्तर से अनधिगत होने के कारण अज्ञातत्व और मोक्ष के हेतुभूत ज्ञान का विषय होने के कारण सप्रयोजनत्व निश्चित है । केवल

अद्वैतसिद्धि

नुपपत्त्या गतिसामान्येन च निर्णीयते । न हि सर्वप्रपञ्चनिषेधरूपमद्वैतं व्यावहारिकम्; येन तत्र श्रुतेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं स्यात्; अतस्तत्र तात्त्विकमेव प्रामाण्यम्, द्वैतसत्यत्वं तु व्यावहारिकम्; अतस्तत्र न श्रुतेस्तात्त्विकं प्रामाण्यम्; परस्परविरुद्धयोर्द्वयोस्तात्त्विकत्वायोगाद्, वस्तुनि च विकल्पासंभवात्, तात्त्विकव्यावहारिकप्रामाण्यभेदेन च व्यवस्थोपपत्तेः, स्तुति(अतत्)परत्वेनावधारितस्य विश्वसत्यत्ववाक्यस्यैवान्यथा व्याख्यातुमुचितत्वात् । तथा हि—चतुर्धा हि सामानाधिकरण्यम्—अध्यासे 'इदं रजत' मित्यादौ, बाधायां 'स्थाणुः पुमानि' त्येवमादौ विशेषणविशेष्यभावेन 'नीलमुत्पल' मित्यादौ, अभेदेन 'तत्त्वमसी'त्येवमादौ । अत्र च बाधायामध्यासे वा सामानाधिकरण्योपपत्तेर्न सत्यत्वबोधकश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुतिबाधकत्वम् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अर्थ-निष्ठ अबाधितत्व सन्दिग्ध या विवाद-ग्रस्त है । उसके निर्णायक हैं—तात्पर्यान्यथानुपपत्ति और गतिसामान्य । अन्यथानुपपत्ति के आधार पर अद्वैत श्रुति का पारमार्थिक प्रामाण्य निश्चित होता है, क्योंकि उसका विषय अद्वैत तत्त्व सर्वथा अबाधित है । विश्व-सत्यत्व-बोधक वाक्यों का वैसा प्रामाण्य सम्भव नहीं, क्योंकि उनका विषय सर्वथा अबाधित नहीं । "गतिसामान्यात्" (ब्र० सू० १।१।१०) में भी भाष्यकार ने कहा है—"महच्च प्रामाण्यकारणमेतद् यद्वेदान्तवाक्यानां चेतनकारणत्वे समानगतित्वम्" अर्थात् सभी वेदान्त वाक्यों के द्वारा साक्षात् या परम्परया एक मात्र अद्वैत तत्त्व की (गति) अवगति होती है, अतः प्रपञ्च की त्रैकालिक सत्ता के निषेधक वाक्यों का ही स्वार्थ में तात्पर्य मानना होगा, विश्व-सत्यत्व-प्रतिपादकों का नहीं । परस्पर विरुद्धार्थ-प्रतिपादक दोनों वाक्यों का तात्त्विक प्रामाण्य सम्भव नहीं, क्योंकि एक वस्तु के (विकल्प) विरुद्ध दो आकार कभी नहीं हो सकते । उक्त दोनों वाक्यों में एक का तात्त्विक प्रामाण्य और दूसरे का व्यावहारिक प्रामाण्य मानने से ही उचित व्यवस्था बन सकती है । जब यह निश्चित हो जाता है कि 'विश्वं सत्यम्'—यह वाक्य स्वार्थपरक नहीं, तब उसकी अन्यथा व्याख्या करनी उचित ही है । अर्थात् 'विश्वं सत्यम्'—यहाँ पर विश्व और सत्य—दोनों पदों का सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है । वह सामानाधिकरण्य चार प्रकार से हो सकता है—(१) अध्यास में, जैसे 'इदं रजतम्'—इत्यादि स्थल पर शुक्ति के इदंरूप सामान्य आकार में रजत का तादात्म्येन अध्यास होने के कारण इदमभिन्न रजत की प्रतीति होती है । (२) बाध में भी सामनाधिकरण्य-प्रतीति होती है, जैसे—"स्थाणुः पुमान्" । अर्थात् स्थाणु में पुरुष-भ्रान्ति के निवृत्त हो जाने पर जो यह व्यवहार होता है—स्थाणुः पुमान्, उसका यह अर्थ होता है कि जिसको पहले स्थाणु समझा गया था, वह स्थाणु नहीं, अपितु पुरुष है । (३) विशेषण-विशेष्यभाव-स्थल पर भी सामानाधिकरण्य का व्यावहार होता है, जैसे—नीलमुत्पलम् । यहाँ नील विशेषण तथा उत्पल विशेष्य है, दोनों का अभेदरूप से उल्लेख होता है । (४) अभेद-सामानाधिकरण्य भी देखा जाता है, जैसे—'तत् त्वमसि' (छां० उ० ६।८।७) इत्यादि में । इन चार प्रकार के सामान्याधिकरण्य-व्यवहारों में 'विश्वं सत्यम्—यह बाध अथवा अध्यास-स्थलीय सामानाधिकरण्य माना जा सकता है, अर्थात् जो यह विश्व प्रतीत होता है, वह विश्व नहीं, अपितु सत्य (ब्रह्म) ही है अथवा सत्य ब्रह्म में अध्यस्त विश्व का आध्यासिक तादात्म्य 'विश्वं सत्यम्'—व्यवहार का जनक होता है ।

न्यायामृतम्

अन्यथा आत्मन आनन्दत्वश्रुतिरपि सुखं सुप्तोऽस्मीति प्रत्यक्षप्राप्ताऽतात्त्विकानंदत्वानुवादिनी स्यात्। अनुवादकत्वं तु अप्राप्तविषयांतराभावे सावकाशम्। निगमनवत्, तत्त्वमसीति नवकृत्वोऽभ्यासवत्, पिपासितस्य एकजलविषयकलिंगशब्दप्रत्यक्षरूपप्रमाणसंप्लववत्, त्व(न्मते)त्पक्षे प्रत्यक्षसिद्धभावरूपाज्ञाने "तम आसीदि"त्यादिश्रुतिवत्, श्रुतेरैक्यतात्पर्ये षड्विधलिंगवच्च प्रत्यक्षानादिवासनिरासेन दार्ढ्यार्थत्वाच्च। अनुवादकत्वं तु यत्र दाढर्यं प्रागेव सिद्धं, तत्रैव। तदुक्तम्—"बहुप्रमाणसंवादश्च दाढर्यहेतुरेवे"ति।

अद्वैतसिद्धिः

ननु आत्मन आनन्दत्वबोधिका श्रुतिरपि 'सुखं सुप्तोऽस्मी'ति साक्षिप्रत्यक्षसिद्धानन्दानुवादिनी सत्त्वश्रुतिवद्भवेत्—इति चेन्न; साक्षिण उपहितानन्दविषयत्वेन श्रुतेश्च निरुपाधिकानन्दविषयत्वेन भिन्नविषयत्वादनुवादत्वायोगात्। तदा हि स्वरूपानन्दो गृह्यते। स्वरूपं चाज्ञानोपहितमेव साक्षिविषयः। ननु—'तत्त्वमसी'त्यादौ नवकृत्वोऽभ्यासवत् पिपासितस्य जलगोचरप्रमाणसंप्लववदैक्ये षड्विधतात्पर्यलिङ्गवद्भावरूपाज्ञाने प्रत्यक्षसिद्धे 'तम आसी'दित्यादिश्रुतिवत् सत्त्वश्रुतिर्दार्ढ्यार्था—इति चेन्न; अशेषविशेषग्रा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस प्रकार व्यवस्थित हो जाने के कारण 'विश्वं सत्यम्'—यह श्रुति कथित षड्विध लिङ्ग-समन्वित अद्वैत श्रुति की बाधक नहीं हो सकती।

शङ्का—यदि घटः सन्—इत्यादि प्रत्यक्ष से ज्ञात प्रपञ्च गत सत्त्व का अनुवादमात्र 'विश्वं सत्यम्'—यह श्रुति करती है, तब 'सुखं सुप्तोऽस्मि'—इस प्रकार साक्षि-प्रत्यक्ष से प्राप्त सुख का अनुवाद मात्र 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० ३।९।३४) यह श्रुति करेगी, अतः इसके आधार पर आत्मा में आनन्दरूपता सिद्ध कैसे होगी ?

समाधान—आनन्द-श्रुति में अनुवादकता तब हो सकती थी, जब कि श्रुति-गम्य आनन्द का ही साक्षि-प्रत्यक्ष से भान होता, किन्तु साक्षि-प्रत्यक्ष अविद्या-वृत्ति से उपहित आनन्द का ग्रहण करता है, अनुपहित आनन्द का नहीं, अतः अनधिगत अनुपहित आनन्द की बोधिका होने के कारण आनन्द-श्रुति अनुवादिती नहीं हो सकती।

शङ्का—यह कहा जा चुका है कि तात्पर्य-ग्राहक अभ्यासरूप लिङ्ग के द्वारा प्रतिपाद्य विषय का उत्कर्ष या दाढर्य सम्पादित होता है, अनुवादमात्र नहीं, अतः जैसे छान्दोग्य उपनिषत् के छठे अध्याय में 'तत्त्वमसि' के नौ बार अभ्यास से जीव-ब्रह्म की एकता में दृढता आती है। प्यासे व्यक्ति के लिए एक ही जलरूप विषय की अनुमान और प्रत्यक्षादि विविध प्रमाण पुष्टि करते हैं, उपक्रमादि षड्विध लिङ्ग एक ही विषय के बोधक होकर विषय की दृढ़ता सिद्ध करते हैं। 'न किञ्चिदवेदिषम्'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष से अवगत भावरूप अज्ञान को ही "तम आसीत्' (ऋ० १०।१२९।३) यह श्रुति सुदृढ़ करती है। उसी प्रकार प्रत्यक्ष-गृहीत प्रपञ्चगत सत्त्व की सुदृढ़ीकरण में 'विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति का सदुपयोग क्यों नहीं हो सकता ?

समाधान—स्वतः प्रामाण्य-वाद में किसी भी प्रमाण को अपने विषय की दृढ़ता के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती। जब प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा विषय का पुंखानुपुंख ग्रहण हो जाता है, तब उस विषय की दृढ़ता हेतु प्रमाणान्तर की अपेक्षा ही

न्यायामृतम्

किं च यथा "षड्विंशतिरस्य वंक्रय" इति मंत्रस्याऽश्वमेधे चोदकप्राप्तस्य "चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबंधो" रिति वैशेषिकमंत्रेणाऽपोदितस्य प्रतिप्रसवार्थं षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादि"ति वचनम्, तथा प्रत्यक्षप्राप्तस्य जगत्सत्त्वस्याऽद्वैतश्रुत्याऽऽपाततोऽ-

अद्वैतसिद्धिः

हिप्रत्यक्षप्राप्तदार्ढ्यार्थमन्यानपेक्षणात्। पिपासितस्य शब्दलिङ्गानन्तरं जले प्रत्यक्षमपेक्षितम्, न तु प्रत्यक्षानन्तरं शब्दलिङ्गे। न च—तर्हि 'तम आसी'दित्यादेः न किंचिदवोदिषमिति प्रत्यक्षसिद्धाज्ञानदार्ढ्यार्थत्वं न स्यादिति—वाच्यम्, 'तम आसी'दित्यस्य सृष्टिपूर्वकालसंबन्धित्वेनाज्ञानग्राहितया सुषुप्तिकालसंबन्धित्वेनाज्ञानग्राहकं प्रत्यक्षमपेक्ष्य भिन्नविषयत्वेनैव प्रामाण्यसंभवात्।

ननु—'षड्विंशतिरस्य वंक्रय' इति मन्त्रस्याश्वमेधे चोदकप्राप्तस्य 'चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धो'रिति वैशेषिकमन्त्रेणापोदितस्य षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादिति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं होती, सत्त्व-श्रुति का उसमें उपयोग नहीं हो सकता, वह केवल सत्त्वानुवादिनी मात्र है। प्यासे व्यक्ति को भी शब्द, लिङ्गादि परोक्ष-बोधक प्रमाणों के अनन्तर प्रत्यक्ष की अपेक्षा होती है, प्रत्यक्ष के अनन्तर और किसी शब्दादि की आकाङ्क्षा नहीं रहती।

शङ्का—यदि प्रत्यक्ष के अनन्तर शब्दादि की अपेक्षा नहीं रहती, तब सुषुप्तिकालीन साक्षि प्रत्यक्ष से सिद्ध अज्ञान की दृढ़ता में 'तम आसीत्'—इस श्रुति का उपयोग न होकर अनुवाद मात्र में तात्पर्य मानना होगा, अनुवादक शब्द को प्रमाण नहीं माना जाता, अतः 'तम आसीत्,—इस श्रुति को प्रमाण नहीं माना जा सकेगा।

समाधान—'तम आसीत्'—यह श्रुति सृष्टि के पूर्व काल के जिस अज्ञान को सिद्ध कर रही है, सौषुप्तिक साक्षि प्रत्यक्ष उस का प्रकाश न कर सुषुप्ति-कालीन अज्ञान का ही प्रकाश करता है, अतः प्रत्यक्ष से अनधिगत विषय का प्रकाशक होने के कारण 'तम आसीत्'—इस श्रुति को प्रमाण माना जाता है।

शङ्का—['ज्योतिष्टोम' कर्म सोम-याग होने पर भी उसके अङ्गभूत कर्मों में अग्नीषोमीय, सवनीय और आनुबन्ध्य—तीन पशु-याग किये जाते हैं। उनमें अग्नीषोमीय पशु-याग सभी पशु-यागों की प्रकृति माना जाता है, अतः इसी पशु-याग के सभी अङ्ग-कलापों की प्राप्ति 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—इस अतिदेश (चोदक) वाक्य के द्वारा अन्य विकृतिभूत पशु-यागों में हुआ करती है। अग्नीषोमीय पशु का संज्ञपन (हनन) करने के पश्चात्, उसकी पसलियाँ गिन-गिन कर निकाली जाती हैं] छाग-मृग आदि पशुओं के दोनों पार्श्वों में १३-१३ पसलियाँ, सब मिलाकर छब्बीस पसलियाँ होती हैं, जिन्हे वंक्रि कहते हैं। [पसलियों के निकालतेसमय "षड्विंशतिरस्य वंक्रयः"—यह मंत्र बोला जाता है। अभिषिक्त चक्रवर्ती राजा के द्वारा अनुष्ठेय 'अश्वमेध' कर्म सोम-याग का एक प्रकार होने पर भी, उसके सोमाभिषव के दिन तीन पशु-याग किये जाते हैं—एक अश्व, एक तूपर (सींग-रहित छाग) तथा एक गोमृग (गवय)। इनमें भी पसलियों की गणना के समय वही मन्त्र प्राप्त होता है, किन्तु "चतुस्त्रिंशद् वाजिनो देवबन्धोः वङ्क्रीरश्वस्य" (ऋ० अष्ट २ अ० ३ व. १०) यह ऋचा कहती है कि अश्व के शरीर में चौंतीस पसलियाँ होती हैं, अतः वहाँ 'चतुस्त्रिंशदस्य वङ्क्रयः"—यह बोला जायगा। तूपरादि में छब्बीस ही पसलियाँ होती हैं, अतः वहाँ अश्व-वंक्रि की गणना न

न्यायामृतम्

पोदितस्य प्रतिप्रसवार्थं सत्त्वश्रुतिः किं न स्यात् ? दृश्यंते हि मृदमृदेत्याद्याः प्रतिप्रसवार्थं विधयः। तस्मात्—

धर्मिप्रमातृधर्मादिभेदाच्च द्वैतगीर्वृथा । अहिंसावाग्भिन्नशालावाग्निप्रणयनादिवत् ॥

किं च प्रत्यक्षम् , प्रमाणं चेत्तद्बाधो मिथ्यात्वानुमानादेः, न चेत्कथं सत्त्वश्रुतिरनुवादः ? श्रुतेः सदर्थत्वायाऽननुवादकत्वाय च प्रत्यक्षाऽप्राप्ततात्त्विकसत्त्वविषयत्वो-

अद्वैतसिद्धिः

वचनवत् प्रत्यक्षप्राप्तजगत्सत्त्वस्य मिथ्यात्वश्रुत्यापाततोऽपोदितस्य प्रतिप्रसवार्थं सत्त्वश्रुतिः—इति चेन्न, मिथ्यात्वश्रुतेः प्रत्यक्षबाधकत्वाभ्युपगमे तस्याः बलवत्त्वेन तद्विरोधात् सत्यत्वश्रुतेरन्यपरत्वाद् देवताधिकरणन्यायासंभवाच्च प्रतिप्रसवार्थत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् ।

ननु—सत्त्वप्रत्यक्षप्रामाण्ये तेनैव मिथ्यात्वश्रुत्यनुमानादिबाधः, तदप्रामाण्ये न तेन सत्त्वश्रुतेरनुवादकत्वम्—इति चेन्न, प्रत्यक्षाप्रामाण्येऽपि तत्सिद्धबोधकस्यानुवाद-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

बोल दी जाय, अतः उसके प्रकरण में एक दूसरा 'षड्विंशतिरित्येव ब्रूयात्'—यह वाक्य निर्दिष्ट हुआ है । यहाँ यह स्पष्ट है कि जो प्राकृत षड्विंशति संख्या मध्य में चतुस्त्रिंशत्-विधान से बाधित हो गई थी, उसी का प्रतिप्रसव (पुनरुज्जीवन) 'षड्विंशतिरित्येव ब्रूयात्'—इससे किया जाता है । ठीक उसी प्रकार 'घटः सन्'—इत्यादि प्रत्यक्ष से प्राप्त जो प्रपञ्चगत सत्त्व 'नेह नानास्ति किंचन'—इत्यादि वाक्यों से बाधित होता है, उसी का प्रतिप्रसव 'विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति के द्वारा किया जाता है, अनुवाद नहीं किया जाता । प्रतिप्रसव की चर्चा विगत पृ० १५२ पर आ चुकी है ।

समाधान—'नेह नानास्ति किंचन'—इत्यादि प्रपञ्च-मिथ्यात्व-बोधक श्रुति यदि 'सन् घटः'—इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण की बाधिका मानी जाती है, तब उसे प्रबल मानना होगा, प्रबल श्रुति के विरोध में 'विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति को स्वार्थपरक न मानकर विश्व की प्रशंसादि अन्य अर्थ में ही उसका तात्पर्य मानना होगा, अतः उससे विश्व-सत्यता का प्रतिपादन कैसे होगा ? यद्यपि देवताधिकरण (ब्र० सू० १।३।८) में यह सिद्ध किया गया है कि कर्म-प्रशंसापरक वाक्यों से भी देवता के विग्रह आदि का जैसे प्रतिपादन माना जाता है, वैसे ही विश्व-प्रशंसापरक 'विश्वं सत्यम्'—इस वाक्य से भी विश्व की सत्यता का प्रतिपादन हो सकता है, तथापि विश्व-सत्यता के बाधक प्रमाणों के रहते वैसा सम्भव नहीं हो सकता, देवता-विग्रह आदि का बाधक प्रमाण न होने के कारण प्रशंसा-परक वाक्यों से भी वैसा सम्भव हो सका, अतः देवताधिकरण-न्याय यहाँ लागू नहीं होता । यह जो कहा गया कि विश्व-सत्यता के प्रतिप्रसव में 'विश्वं सत्यम्' का उपयोग है, वह सम्भव नहीं, क्योंकि जिस 'नेह नानास्ति किंचन' श्रुति ने विश्व-सत्यत्व-प्रमापक प्रत्यक्ष का बाध कर डाला, वह इस विश्व-सत्यता-प्रतिपादक श्रुति को कब छोड़ेगी, निश्चित रूप से इसका भी बाध कर डालेगी, बाधित वाक्य से प्रतिप्रसव भी नहीं हो सकता ।

शङ्का—प्रपञ्च-सत्त्वावगाही प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जाता है ? या नहीं ? यदि माना जाता है, तब उसी से ही प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधक अनुमान और श्रुत्यादि का बाध

न्यायामृतम्

पपत्तेः । न हि प्रमाभ्रमयोरेकविषयता । किं च—

यथा नापहरेद् द्वैताभावश्रु त्यर्थमक्षधीः । तथा नोपहरेद् द्वैतश्रु त्यर्थमपि दुर्बला ॥
प्रत्यक्षं प्रमाणत्वेन निश्चितं चेत्ताद्बाधो मिथ्यात्वानुमानादेः, अनिश्चितं चेत्प्रत्यक्षं

अद्वैतसिद्धिः

कत्वसंभात् । न हि प्रमितप्रमापकत्वमनुवादकत्वम् , किंतु पश्चाद्वादकत्वमात्रम् । पश्चात्त्वं च प्रमाणावधिकमप्रमाणावधिकं चेति न कश्चिद्विशेषः । न च श्रु तेः सर्वसिद्ध-प्रमाणभावायाः सदर्थत्वायाननुवादकत्वाय च प्रत्यक्षाप्राप्ततात्त्विकसत्त्वविषयत्वमवश्यं वक्तव्यम् , तथा चाप्रमाणेन प्रत्यक्षेण कथं श्रु तेरनुवादकत्वमिति—वाच्यम् ; सत्त्वांशस्थ प्रत्यक्षसिद्धत्वेऽपि वाक्यार्थस्य क्रियादिसमभिव्याहारसिद्धस्यापूर्वत्वेन तद्विषयतयैवाननुवादकत्वोपपत्तावद्वैतश्रु तिविरुद्धतात्त्विकसत्त्वकल्पनायास्तदर्थमयोगात् । परमार्थसद्विषयता तु सर्वश्रु तीनां शुद्धब्रह्मतात्पर्यकत्वेनैव, अवान्तरतात्पर्यमादाय

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

हो जायगा । यदि उसे प्रमाण नहीं माना जाता, तब उसको लेकर 'विश्वं सत्यम्'—इस श्रु ति में अनुवादकता नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि एक प्रमाण से प्रकाशित पदार्थ के प्रकाशक वाक्य को ही अनुवादक कहा जाता है ।

समाधान—'घटः सन्'—इस प्रत्यक्ष के प्रमाण न होने पर भी उस के द्वारा भासित पदार्थ के बोधक वाक्य को अनुवादक कहा जा सकता है, क्योंकि किसी प्रमाण से प्रमित वस्तु के प्रापक वाक्य की ही अनुवादक नहीं कहा जाता, अपितु समान वस्तु के दो क्रमिक वादों में पश्चाद्भावी वाद को अनुवाद माना जाता है, चाहे वह किसी प्रमाणभूत वाद के पश्चात् हो, चाहे किसी अप्रमाणभूत वाद के पश्चात् हो, कोई अन्तर नहीं पड़ता, अतः घटः सन्'—इस प्रकार के भ्रम से अवभासित प्रपञ्च-सत्त्व के ग्राहक 'विश्वं सत्यम्'—इस वाक्य को अनुवादक ही कहा जायगा ।

शङ्का—श्रुति स्वतः प्रमाण है, उस की प्रमाणता या प्रमा-जनकता निर्विवाद-सिद्ध है, अनधिगताबाधित अर्थ-विषयक ज्ञान को ही प्रमा कहते हैं, अतः 'विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति का प्रामाण्य-रक्षण एवं उसके विषय की अनधितगत सत्ता सिद्ध करने के लिए यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि 'घटः सन्'—प्रत्यक्ष के द्वारा अनधिगत पारमार्थिक सत्त्व को 'विश्वं सत्यम्'—यह श्रुति सिद्ध करती है, अतः पारमार्थिक सत्त्व के अनवगाही प्रत्यक्ष के द्वारा श्रुति में अनुवादकता नहीं आ सकती ।

समाधान—'विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति को अननुवादक सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसे प्रत्यक्ष के द्वारा अनधिगत पारमार्थिक सत्त्व की बोधिका माना जाय, अपितु प्रत्यक्ष के द्वारा अप्रकाशित 'विश्व-प्रशंसा की बोधकता मान लेने मात्र से उस में अननुवादकत्व सुरक्षित हो जाता है, क्रियाकारकादि-समभिव्याहार-सिद्ध स्तुतिरूप अर्थ में अपूर्वता (अनधिगतता) स्पष्ट है, उसको विषय करती है यह विश्वं सत्यम् श्रुति । इसमें अद्वैत श्रुति के विरुद्ध पारमार्थिक सत्त्व-साधकता की **कल्पना** अत्यन्त अनुचित है । परमार्थ सद्विषयकता तो सभी श्रुतियों में शुद्ध ब्रह्म को **विषय करने** के कारण ही बनती है । कर्म-काण्ड की श्रुतियों का भी परम तात्पर्य **शुद्ध ब्रह्म में ही** है, केवल अवान्तर तात्पर्य को लेकर ही उनमें व्यावहारिक सत् कर्म **की बोधकता** मानी जाती है—यह आगे चल कर कर्म-काण्ड-प्रामाण्य के उपपादन में कहा **जायगा** ।

न्यायामृतम्

मिथ्यात्वश्रुतिविषयापहार इव सत्त्वश्रुतिविषयापहारेऽप्यशक्तम्, स्वप्रामाण्यनिर्णयाय श्रुतिसंवादापेक्षं सत्र श्रुत्यनुवादकत्वापादकम्। अग्न्यौष्ण्यप्रत्यक्षस्य प्रामाण्यानिश्चयेऽग्निर्हिमस्य भेषजमित्यादिरप्यनुवादो न स्यादेव। अन्यथा "सत्यं ज्ञानम्, नेह नाने" त्यादिश्रुतिरप्यनुवादिनी स्यात्। ब्रह्मसत्त्वस्य लोकतो भ्रमाधिष्ठानत्वादिलिंगेन च

अद्वैतसिद्धिः

व्यावहारिकसद्विषयतेति कर्मकाण्डप्रामाण्योपपादने वक्ष्यते। न च—प्रत्यक्षं स्वप्रामाण्यनिर्णयार्थं श्रुतिसंवादमपेक्षत इति न तेन श्रुतेरनुवादकत्वम्, अन्यथा 'सत्यं ज्ञानम्' 'नेह नाने'त्यादिश्रुतिरप्यनुवादिनी स्यात्, ब्रह्मसत्त्वस्य लोकतो भ्रमाधिष्ठानत्वेन लिङ्गेन च मिथ्यात्वस्य दृश्यत्वाद्यनुमानेनावेदमूलप्रवाहानादिविज्ञानवादादिना च प्राप्तेरिति—वाच्यम्, यदि हि दृष्टेऽप्यर्थे प्रत्यक्षं स्वप्रामाण्यनिर्णयाय श्रुतिसंवादमपेक्षेत तदा श्रुतिसंवादविरहिणि दृष्टे कुत्रापि निश्शङ्कप्रवृत्तिः न स्यात्, न स्याच्चैव'मग्निर्हिमस्य भेषजमित्याद्यपि अनुवादकम्। न चेष्टापत्तिः, मानान्तरगृहीतप्रमाणभावप्रत्यक्षनिर्णीते

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—'सन् घटः'—इत्यादि प्रत्यक्ष अपने प्रामाण्य की उपपत्ति के लिए 'विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति के संवाद की अपेक्षा नहीं करता, अतः इस श्रुति में अनुवादकत्व मानने की आवश्यकता नहीं, अन्यथा (विश्व-सत्यत्व-श्रुति में प्रत्यक्षप्राप्त सत्यत्व की अनुवादकता मानने पर) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म," 'नेह नानास्ति किंचन"—इत्यादि श्रुतियों को भी अनुवादक मानना होगा, क्योंकि इन का तात्पर्य अद्वैत ब्रह्म-सत्त्व एवं जगत्-मिथ्यात्व के बोधन में ही है, ब्रह्म सत्त्व की अवगति सत्-स्फुरणादि सर्व लोकानुभूति के द्वारा, भ्रमाधिष्ठानत्व-लिङ्गक (ब्रह्म सत्, भ्रमाधिष्ठानत्वात्) अनुमिति के द्वारा हो जाती है तथा जगत्-मिथ्यात्व का ज्ञान दृश्यत्वादिलिङ्गक (प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यात्) अनुमिति के द्वारा एवं वेद-बाह्य विज्ञप्ति-मात्रता-वादादि के द्वारा हो जाता है।

समाधान—पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—दृष्ट और अदृष्ट (लौकिक तथा अलौकिक) दृष्ट विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण अपने प्रामाण्य-निर्णय के लिए श्रुति-संवाद की अपेक्षा नहीं करता। यदि करता है, तब श्रुति-संवाद-रहित दृष्ट विषय में प्रत्यक्ष के आधार पर कहीं भी निःशङ्क प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'—इत्यादि श्रुतियों में सर्वमत-सिद्ध अनुवादकता भी सिद्ध न होगी, क्योंकि 'अग्निरुष्णः'—यह प्रत्यक्ष भी अपनी प्रामाणिकता के लिए अग्निर्हिमस्य भेषजम्—इस श्रुति के संवाद की अपेक्षा करता है, अतः यह श्रुति अर्थतः प्रथम प्रवृत्त पुरोवादरूप मानी जायगी, अनुवाद नहीं। 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'—इक प्रकार के निर्विवादरूप से मानन्तर-प्राप्त विषय के प्रापक वादों को भी अनुवाद न मानने पर जगत् से अनुवादकत्व की कथा ही उच्छिन्न हो जायगी। यह जो पूर्व पक्षी ने कहा था कि "सत्यं ज्ञानम्", "नेह नानास्ति"—इत्यादि श्रुतियों में अनुवादकत्व की आपत्ति होगी, वह भी अनुचित है, क्योंकि 'सत्यं ज्ञानम्'—इस श्रुति के द्वारा जिस ब्रह्मत्व-समानाधिकरण सत्त्व का प्रतिपादन होता है, उसका ग्रहण 'घटः सन्'—इत्यादि प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं होता, इस के द्वारा केवल घटत्वादि-समानाधिकरण सत्त्व का ही प्रकाश होता

न्यायामृतम्

विश्वमिथ्यात्वस्य च दृश्यत्वाद्यनुमानेनाऽवेदमूलप्रवाहानादिविज्ञानवादादिना च प्राप्तेः। उक्ता हि मंत्राधिकरणे मंत्रलिंगप्राप्तबोधकस्यापि तदर्थशास्त्रस्याऽनुवादकता ' उक्ता च त्वयैवेक्षत्यधिकरणे सदेवेत्यादिवाक्यस्य प्रधानपरत्वे सांख्यस्मृतिप्राप्तानुवादिता। किं च सत्त्वश्रुतेः सत्त्वप्रत्यक्षानपेक्षत्वान्न सापेक्षानुवादत्वं निरपेक्षानुवादित्वं तु धारावाहिकज्ञान इव नाप्रामाण्यहेतुः। उक्तं हि नयविवेके—"सापेक्षानुवादे हि न

अद्वैतसिद्धिः

मानान्तरस्याननुवादकत्वे जगत्यनुवादकत्वकथोच्छेदप्रसङ्गात्। न च 'सत्यं ज्ञानम्' 'नेह नाने'त्यादेरप्यनुवादकतापत्तिः, अनुवादकता हि न तावत् प्रत्यक्षेण, ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन सत्त्वादिकं ह्यनेन प्रतिपादनीयम्, तच्च न प्रत्यक्षगम्यम्। नाप्यनुमानेन, न हि तर्कः सर्वदेशकालीनपुरुषसाधारण इत्यादिना प्रागेव निराकृतत्वात्। नापि प्रवाहानादिविज्ञानवादिमतेन, तस्यापौरुषेयश्रुत्यवधिकपूर्वत्वाभावात्।

न च—सत्त्वप्रत्यक्षानपेक्षत्वात् न सापेक्षानुवादकत्वम्, निरपेक्षानुवादकत्व तु धारावहनवन्नाप्रामाण्यहेतुः; उक्तं हि नयविवेके—'सापेक्षानुवादे हि न प्रमितिः, न तु दैवादनुवादे, धारावहनवदिति' इति—वाच्यम्; यतो लाघवादनुवादकत्वमेवाप्रामाण्ये

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

हैं। अनुमान या तर्क के द्वारा भी ब्रह्मत्व-समानाधिकरण सत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती, [क्योंकि तर्क की सार्वभौम क्षमता एवं सर्वजनीनता का निराकरण पहले ही पृ० १५८ पर किया जा चुका है। और-तो-और तार्किक-शिरोमणि श्री रघुनाथ भट्टाचार्य कहते हैं कि विद्वन्मण्डली तर्क के आधार पर जिस पक्ष को निर्दोष तथा जिसे सदोष स्थापित कर चुकी है। मेरी सरस्वती जब कल्पना की ऊँची उड़ान भरने लग जाय, तब उन स्थापनाओं को उलटा ही समझ लेना चाहिए अर्थात् निर्दोष को सदोष तथा सदोष को निर्दोष सिद्ध कर देना हमारे बायें हाथ का खेल है—

विदुषां निवहैरिहैकमत्याद् यददुष्टं निरटङ्कि यच्च दुष्टम्।
मयि कल्पनाधिनाथे रघुनाथे मनुतां तदन्यथैव॥ (न्या. चि. पृ. १९८५)

ऐसी तर्क-प्रणाली से ब्रह्म-सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती]। यह जो कहा गया था कि विज्ञानवाद के धरातल पर आविष्कृत विज्ञानमात्र-सत्ता का प्रतिबिम्बन या अनुवाद 'सत्यं ज्ञानम्'—इस श्रुति में पाया जाता है, वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि विज्ञानवाद का प्ररोहण अधिक-से-अधिक आज से ढाई हजार वर्ष-पूर्व ही हुआ था और अपौरुषेय श्रुति-वाक्य अनादि काल से चले आ रहे हैं, अतः विज्ञानवाद को श्रुति के पूर्वकाल या पुरोवाद नहीं माना जा सकता।

शङ्का—'विश्वं सत्यम्'—यह वाक्य भी अपौरुषेय है, अनादि है, इसका उपजीव्य भी 'घटः सन्'—यह सत्त्व-प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अतः श्रुति में स्मृति आदि ज्ञानों के समान सापेक्ष अनुवादकता न मान कर निरपेक्ष अनुवादकता ही माननी पड़ेगी, निरपेक्ष अनुवादकता अप्रामाण्यकी प्रसञ्जिका नहीं हो सकती, क्योंकि धारावाहिक-स्थल पर द्वितीयादि ज्ञानों में निरपेक्ष अनुवादकता के रहने पर भी अप्रामाण्य नहीं माना जाता। नयविवेक में श्री भवनाथ मिश्र ने कहा है—"सापेक्षानुवादे हि न प्रमितिः, न तु दवादनुवादे धारावहनवत्"।

समाधान—अनुवादकत्वमात्र को अप्रामाण्य की प्रयोजकता मानने में लाघव है, सापेक्ष अनुवादकता को नहीं, क्योंकि महर्षि जैमिनि ने 'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणम्"

न्यायामृतम्

प्रमितिः, न तु द्वैवादनुवादे धारावाहिकवदि"ति। उक्तं च वाचस्पत्ये "यत्र तु प्रमाणांतरसंवादः, तत्र प्रमाणांतरादिवार्थवादादपि सोऽर्थः प्रसिद्ध्यति द्वयोः परस्परानपेक्षयोः प्रत्यक्षानुमानयोरिवैकस्मार्थे प्रवृत्तेः प्रमात्रपेक्षया त्वनुवादत्वं प्रमाता ह्यव्युत्पन्नः प्रथमं यथा प्रत्यक्षादिभ्योऽर्थमवगच्छति, न तथाऽऽम्नायतस्तत्र व्युत्पत्य-

अद्वैतसिद्धिः

प्रयोजकम्, न तु सापेक्षानुवादकत्वम्; अनधिगतार्थबोधकत्वस्य प्रामाण्यघटकत्वस्य तावतैव गतार्थत्वात्। न च तर्हि धारावहनबुद्धावप्रमाण्यम्, तस्याः वर्तमानार्थग्राहकत्वेन तत्तत्क्षणविशिष्टग्राहकतया अनुवादकत्वाभावात्, किं च श्रुतेरतत्परत्वे प्राप्तत्वमात्रमेव प्रयोजकम्, अन्यथा वैफल्येन स्वाध्यायविधिग्रहणानुपपत्तेः। अपि चेयं सत्त्वश्रुतिरपि सत्त्वप्रत्यक्षसापेक्षत्वात् सापेक्षानुवादिन्येव। न हि सत्त्वप्रत्यक्षं विना तन्मूलशक्यशक्त्या-दिग्रहमूलकशब्दप्रवृत्तिसंभवः। अत एव "यत्र तु प्रमाणान्तरसंवादस्तत्र प्रमाणान्तरा-दिवार्थवादादपि सोऽर्थः प्रसिध्यति, द्वयोः परस्परानपेक्षयोः प्रत्यक्षानुमानयोरिवै-कार्थे प्रवृत्तेः, प्रमात्रपेक्षया त्वनुवादकत्वम्। प्रमाता ह्यव्युत्पन्नः प्रथमं प्रत्यक्षादिभ्यो

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

(जै० सू० १।१।५) इतना ही कहा है, अर्थात् प्रामाण्य के शरीर में अनधिगतार्थ-बोधकत्व का ही प्रवेश किया है, इससे अधिगतार्थ-बोधकता ही अप्रामाण्य का नियामक सिद्ध होती है। धारावाहिक ज्ञानस्थल पर द्वितीयादि ज्ञानों में प्रथम ज्ञान से अनधिगत द्वितीयादि क्षणों को विषय करने के कारण प्रमाणता सुरक्षित रह जाती है, किन्तु कौन-सी श्रुति स्वार्थपरक है, कौन नहीं ? इस प्रश्न का यही उत्तर है कि जो अप्राप्तार्थ-बोधक है, वह स्वार्थपरक और जो प्राप्तार्थ-बोधक है, वह स्वार्थपरक नहीं हो सकती, स्तुत्यादि अन्य अर्थ में ही उसका तात्पर्य मान कर सप्रयोजन अर्थ-बोधकता का उपपादन किया जाता है, अन्यथा प्राप्त अर्थ के बोधन से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध न होने के कारण 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'—इस विधि की विषयता प्राप्तार्थ-बोधक श्रुति में नहीं बन सकेगी, क्योंकि सप्रयोजन अर्थ का बोध ही उस विधि का उद्देश्य माना जाता है।

दूसरी बात यह भी है कि 'विश्वं सत्यम्'—यह श्रुति सापेक्षानुवादिनी है, निरपेक्षानुवादिका नहीं, क्योंकि इसे सत्त्वावगाही प्रत्यक्ष की नियमतः अपेक्षा है, सत्त्व-प्रत्यक्ष के बिना सत्यादि पदों का शक्ति-ग्रह ही नहीं हो सकेगा, शक्ति-ग्रह के बिना कोई भी शब्द बोधक ही नहीं हो सकता, जैसा कि मण्डन मिश्र ने कहा है—

"लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः" (ब्र. सि. पृ. ८२)

अतः 'विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति में अपेक्षित प्रत्यक्षरूप प्रमाणान्तर से ही प्रथमतः सत्त्व की उपस्थिति होती है, उसी का अनुवाद उक्त श्रुति करती है। अत एव "जहाँ भी प्रमाणान्तर से विसंवाद न होकर संवाद ही होता है, वहाँ जैसे प्रमाणान्तर से पदार्थ की उपस्थिति मानी जाती है, वैसे प्रमाणान्तर-संवादी अर्थवाद वाक्य से भी उसी अर्थ की उपस्थिति मानी जाती है, जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'—यहाँ पर, क्योंकि अग्निगत उष्णतारूप एक ही विषय का बोध 'अग्निरुष्णः'—यह प्रत्यक्ष तथा अग्निर्हिमस्य भेषजम्—यह श्रुति दोनों वैसे ही कराते हैं, जैसे समान विषय के बोधक परस्पर-निरपेक्ष प्रत्यक्ष और अनुमान। हाँ प्रमाता की अपेक्षा 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'

न्यायामृतम्

पेक्षत्वादि" ति। किं च वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वान्न निष्प्रयोजनानुवादत्वम् । सप्रयोजनानुवादत्वं तु विद्वद्वाक्य इव स्वार्थपरत्वाविरोधि । अत एव मीमांसकैर्विद्वद्वाक्यस्य समुदायद्वित्वापादनरूपप्रयोजनत्वेनानुवाद्यस्वार्थपरत्वाद्वाक्यैकवाक्यतोक्ता ।

अद्वैतसिद्धिः

यथार्थमवगच्छति, न तथाऽऽम्नायतः, तत्र व्युत्पत्त्यपेक्षत्वाद्"—इति वाचस्पत्युक्तमप्येतमर्थं संवदति, तेनाम्नायस्य व्युत्पत्त्यपेक्षत्वेन प्रत्यक्षसापेक्षत्वस्यैवोक्तेः। न च—वादिविप्रतिपत्तिनिरासप्रयोजनवत्त्वेन न निष्प्रयोजनानुवादकत्वं सप्रयोजनानुवादकत्वं तु न स्वार्थपरत्वविरोधि, विद्वद्वाक्ये समुदायद्वित्वापादनरूपप्रयोजन-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अनुवादक ही माना जाता है, क्योंकि अव्युत्पन्न प्रमाता जैसा प्रथमतः प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अर्थ-बोध करता है, वैसा शब्द प्रमाण से नहीं, शब्द से बोध होने के लिए संगति-ग्रह की अपेक्षा होती है"—ऐसा भा० पृ० ३४३ पर वाचस्पति मिश्र ने वैदिक वाक्यों की सापेक्षता को स्वीकार करते हुए यह भी कहा है—भूतार्थानामपि वेदान्तानां न सापेक्षतया प्रामाण्यविघातः, न चानधिगन्तृता नास्ति येन प्रामाण्यं न स्यात्, जीवस्य ब्रह्मताया अन्यतोऽनधिगमात्" (भामती० पृ० १०६)। किन्तु 'विश्वं सत्यम्'—यह श्रुति प्रत्यक्ष से अनधिगत अर्थ की बोधिका न होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकती ।

शङ्का—प्रत्यक्ष के द्वारा प्रपञ्च-सत्यत्व गृहीत होने पर भी विज्ञानवाद, शून्यवाद और ब्रह्मवादादि विविध विवादों के कारण विश्वसनीय नहीं होता, अतः कथित वादि-विप्रतिपत्तियों का निरास करने में यदि सत्यत्वानुवादिनी श्रुति का सदुपयोग होता है, तब उसे अवश्य प्रमाण एवं स्वार्थपरक मानना होगा, क्योंकि सप्रयोजन अनुवादकत्व की सार्थकता और प्रामाण्य विद्वद्वाक्यों (विद्वत्पद-घटित वाक्यों) में माना गया है । ['दर्शपूर्णमास' संज्ञक कर्म के प्रकरण में पाँच वाक्यों के द्वारा छः कर्मों का विधान किया गया है—"यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति" (तै० सं० २।६।३।३), "तावब्रूतामग्नीषोमावाजस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्" (शां० ब्रा० ३।६), "ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्" (तै० सं० २।५।२।३), "एन्द्रं दध्यमावास्यायाम्" (तै० सं० २।५।४।१) तथा "ऐन्द्रं पयोऽमावस्यायाम्" अर्थात् 'आग्नेय याग, उपांशु याज तथा अग्नीषोमीय याग'—ये तीन कर्म पूर्णमासी तिथि में एवं 'एक आग्नेय याग तथा दो ऐन्द्र याग'—ये तीन कर्म अमावास्यां तिथि में विहित हैं। पूर्णमासी में विहित तीनों कर्मों का 'पौर्णमास' तथा अमावास्या में विहित तीनों यागों का 'दर्श' नामकरण करते हुए अनुवादरूप में कहा गया है—"य एवं विद्वान् पौमासीं यजते यावद् उक्थ्येनोपाप्नोति तावदुपाप्नोति । य एवं विद्वानमावास्यां यजते यावदतिरात्रेणोपाप्नेति, तावदुपाप्नोति" (तै० सं० २।६।९।१)। अर्थात् प्रजापति ने यागों की रचना कर उन्हें तराजू में तोला तो 'पौर्णमास' कर्म उक्थ्यसंस्थाक ज्योतिष्टोम तथा 'अमावस्या' कर्म अतिरात्रसंस्थाक ज्योतिष्टोम के बराबर उतरा, अतः इस तुला कर्म का जो विद्वान् 'पौर्णमासी' कर्म करता है, वह उक्थ्य के समान तथा जो विद्वान् 'अमावास्या' कर्म करता है, वह अतिरात्र के समान फल प्राप्त करता है । उक्त दोनों विद्वत्पद से घटित वाक्यों को विद्वद्वाक्य कहा जाता है । पूर्व मीमांसा (२।२।३) में इस पर विचार किया गया है] । दोनों विद्व-

न्यायामृतम्

स्वार्थपरत्वाभावे ह्यर्थवादवत् पदैकवाक्यतोच्येत। किं चानुवादत्वेऽपि नैष्फल्यमात्रं न त्वप्रामाण्यम्, याथार्थ्यमेव प्रामाण्यं न त्वनधिगतार्थत्वमित्यन्यत्रोक्तत्वात्। किं चाय-

अद्वैतसिद्धिः

वत्त्वेनानुवाद्यस्वार्थपरतया दृष्टत्वात्, अत एव तत्र वाक्यैकवाक्यतोक्ता; अन्यथा अर्थवादवत् पदैकवाक्यतैव स्यादिति--वाच्यम्; प्रत्यक्षसिद्धे वादिविप्रतिपत्तिनिरासरूपप्रयोजनवत्त्वेन प्रमाणान्तरस्य सप्रयोजनतया स्वार्थपरत्वोक्तौ 'अग्निर्हिमस्य भेषज' मित्याद्यपि तेनैव प्रयोजनेन सप्रयोजनं स्वार्थपरं च स्यात्। तथा च न प्रत्यक्षसिद्धे वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थमन्यापेक्षा, दृष्टान्ते तु समुदायानुवादेन द्वित्वसम्पादनस्योद्देश्यस्यान्यतो लब्धुमशक्यतया तेन प्रयोजनेन स्वार्थपरत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात्। एतदभिप्रायं च पूर्वोक्तं नयविवेकवाक्यम्। न च--अनुवादत्वेऽपि नैष्फल्यमात्रम्, न त्वप्रामाण्यम्, याथार्थ्यमेव प्रामाण्यं, न त्वनधिगतार्थत्वे सति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वाक्यों के द्वारा पौर्णमासी के तीन कर्मों का 'पौर्णमास' तथा अमावास्या के तीन कर्मों का 'दर्श' पद से अनुवाद करने का प्रयोजन है—"दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"—इस (फल-सम्बन्ध-बोधक) अधिकार वाक्य में कथित दोनों तिथियों में विहित छः कर्मों का द्विवचनान्त-प्रयोग से ग्रहण, तीन-तीन कर्मों के दो समूहों का द्विवचनान्त पद से उल्लेख उचित ही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्रयोजन अनुवादक वाक्य स्वार्थपरक होते हैं, अतः एव विद्वद्वाक्यों की अधिकार वाक्य के साथ वाक्यैकवाक्यता मानी गई है, पदैकवाक्यता नहीं, क्योंकि "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति" (तै० सं० २।१।१) इत्यादि अर्थवादों के समान जिन वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता, उन की 'प्रशस्तम्'—के समान किसी एक पद में लक्षणा की जाती है और उस एक पद की विधि-वाक्य के साथ एकवाक्यता की जाती है, उसे पदैकवाक्यता कहा जाता है, किन्तु दर्श-पौर्णमास के छः कर्मों के अनुवादक विद्वद्वाक्यों की अधिकार वाक्य के साथ किसी प्रकार की लक्षणा के विना ही एकवाक्यता इसी लिए बन जाती है कि विद्वद्वाक्य स्वार्थपरक होते हैं।

समाधान—प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु के अनुवादक 'विश्वं सत्यम्'—इत्यादि वाक्यों का यदि वादि-विप्रतिपत्ति-निरास प्रयोजन मान कर सार्थक्य या प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है तब 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'—इत्यादि सभी अनुवाद-वाक्यों की उसी प्रयोजन को लेकर सार्थकता, सप्रयोजनता का उपपादन किया जा सकता है, निष्प्रयोजन अनुवाद की कथा ही उच्छिन्न हो जायगी, अतः यह मानना अनिवार्य है कि प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु में न तो वादि-विवाद ही होता है और न उसके निरास के लिए किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा ही हुआ करती है। विद्वद्वाक्यों का जो दृष्टान्त दिया गया है, वहाँ दो कर्म-समूहों का दो पदों से अनुवाद कर द्विवचन की उपपत्ति अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं, अतः विद्वद्वाक्यों को सप्रयोजनानुवादी मान कर स्वार्थपरक माना गया है। उक्त नयविवेक के वाक्य का भी यही तात्पर्य है कि सप्रयोजनानुवादक ही वाक्य स्वार्थपरक होता है, निष्प्रयोजनानुवादक नहीं।

शङ्का—यदि 'विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति को अनुवादक भी मान लिया जाय,

न्यायामृतम्

मनुवादो न तावद्वायुर्क्षेपिष्ठादिवाक्यवत्स्तुत्यर्थः, नापि "दध्ना जुहोती"त्यत्र जुहोति-

अद्वैतसिद्धिः

याथार्थ्यमिति--वाच्यम्, तात्पर्यविषये शब्दः प्रमाणम् 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इत्यभियुक्ताभ्युपगमाद्, अन्यथा स्वाध्यायविधिग्रहणानुपपत्तेरुक्तत्वाच्च। न ह्यन्यतः सिद्धेऽर्थे शास्त्रतात्पर्यम्, अतो न तत्र प्रामाण्यम्, यदाहुर्भट्टाचार्याः--'अप्राप्ते शास्त्रमर्थव'दिति।

ननु--अयमनुवादो न 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते' त्यादिवत् स्तुत्यर्थः, न वा

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तब भी इसमें निष्प्रयोजनता मात्र कह सकते हैं, अप्रामाण्य नहीं, क्योंकि यथार्थ ज्ञान को ही प्रमाण कहा जाता है—"यथार्थं ज्ञानं विद्या" (किर० पृ० ५१२)। यदि 'अनधिगतत्वे सति याथार्थ्यम्'—यह प्रामाण्य का लक्षण किया जाय, तब अनुवादक वाक्यों में अधिगत-बोधकता होने के कारण अप्रामाण्य आ सकता था, किन्तु वह लक्षण उचित नहीं, क्योंकि स्मृति-प्रामाण्याधिकरण में शबरस्वामी ने कहा है—"प्रमाणं स्मृतिः" (शा० भा० पृ० १६५)। मन्वादि-स्मृति ग्रन्थों में श्रौत-वाक्यों के द्वारा अधिगत धर्म का ही प्रतिपादन मात्र स्वीकार किया गया है, अतः यथार्थता या अर्थाव्यभिचार ही प्रमा का प्रमात्व है, 'विश्वं सत्यम्'—इस वाक्य में भी यथार्थ बोध-जनकता होने के कारण प्रामाण्य मानना अत्यन्त न्याय-संगत है।

समाधान—प्रमा ज्ञान में अनधिगतविषयकत्व आवश्यक है, महर्षि जैमिनि ने कहा है—"अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्" (जै० सू० ६।२।१८) अर्थात् अज्ञात अर्थ के बोधन से ही शास्त्रों में प्रयोजनवत्ता या प्रमाणता आती है। इसी लिए वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"अबाधितानधिगतासन्दिग्धबोधकत्वं हि प्रमाणानां प्रामाण्यम्" (भामती पृ० १०८)। "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः"—ऐसा कह कर प्राचीन आचार्यों ने स्पष्ट किया है कि विशेषतः शब्द का प्रामाण्य उसी अर्थ में होता है, जो तात्पर्य-ग्राहक लिङ्गों से निर्णीत हो, उनमें 'अपूर्वता नाम का लिङ्ग अनधिगतार्थकता का ही स्फोरक माना जाता है। पहले भी कहा जा चुका है कि शब्द केवल प्रतीतार्थ मात्र का बोधक नहीं होता, अन्यथा अर्थवाद वाक्यों को प्रतीतार्थ के प्रतिपादन में अर्थवत्ता सम्भव न होने के कारण "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इस विधिवाक्य से अर्थवादादि वाक्यों के अध्ययन का विधान सम्भव नहीं हो सकेगा। इस लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात प्रपञ्च-सत्यत्व के प्रतिपादक 'विश्वं सत्यम्'—इत्यादि वाक्यों का प्रामाण्य स्वीकरणीय नहीं है, श्री कुमारिलभट्ट ने स्पष्ट कहा है—

"सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा" (श्लो० वा० पृ० २११) इससे यह भी निश्चित हो जाता है कि स्मृतिज्ञान की प्रमाणता सर्वाभ्युपगत सिद्धान्त नहीं, अतः केवल यथार्थ ज्ञान को प्रमा नहीं माना जा सकता, मन्वादि स्मृति-ग्रंथों में तो—

"विप्रकीर्णार्थसंक्षेपात् सार्थत्वादस्ति मानता" (जै० न्या० मा० १।३।२)। अर्थात् श्रुतियों में बिखरे हुए धर्म-कलाप का संकलन भी विशेष प्रयोजन रखता है।

शङ्का—'विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति को जो प्रत्यक्षप्राप्त प्रपञ्च-सत्यत्व का अनुवादक माना जाता है, वहाँ जिज्ञासा होती है कि यह अनुवाद क्या प्रशंसार्थक है? अथवा किसी अन्य वस्तु का विधान करने के लिए? प्रथम पक्ष सम्भव नहीं, क्योंकि

न्यायामृतम्

रिधान्यविधानार्थः, विधानाय प्रमाणानूदितस्य तात्त्विकत्वनियमात्। न हि "व्रीहीन् प्रोक्षती" त्यादावारोपितव्रीह्यादेर्धर्मी:, अनुवाद्यस्यासत्त्वे ह्याश्रयासिद्धौ धर्मिधर्मसंसर्गरूपानुमितिवेद्य इवाऽनुवाद्यविधेयसंसर्गरूपवाक्यार्थो बाधितः स्यात्। नापि नेह

अद्वैतसिद्धिः

'दध्ना जुहोती' त्यादिवदन्यविधानार्थः,(अनुवाद्यत्वेऽपि) अन्यविधानाय प्रमाणानूदितस्य तात्त्विकत्वनियमात्, नहि 'व्रीहीन् प्रोक्षती' त्यादावारोपितव्रीह्यादेर्धर्मी:, अनुवाद्यस्यासत्त्वे ह्याश्रयासिद्धौ धर्मधर्मिसंसर्गरूपानुमितिवेद्य इवानुवाद्यविधेयसंसर्गरूपवाक्यार्थो बाधितः स्याद्-इति चेन्न, अस्यानुवादस्याप्राप्तप्रामाण्यप्राप्त्यर्थत्वात्। न च प्रमाणानूदितस्य तात्त्विकत्वनियमः, स्वप्नाध्याये, शुक्तौ 'नेदं रजत' मिति वाक्ये च व्यभिचारात्। अथ तत्र ज्ञानविषयतया निषेध्यतया चानुवाद इति न तात्त्विकत्वम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जैसे "वायव्यं श्वेतमालभेत भूमिकामः" (तै० सं० २।१।१) इस श्रुति के द्वारा विहित वायुदेवताक श्वेतछागद्रव्यक याग की स्तुति करने के लिए उक्त विधि के वाक्य-शेषभूत "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (तै० सं० २।१।१) इस वाक्य के द्वारा वायु देवता की प्रशंसा की जाती है, वैसा यहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि 'विश्वं सत्यम्'—वाक्य किसी विधि का वाक्य-शेष नहीं कि विधेय की स्तुति कर सके। द्वितीय कल्प भी संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि "अग्निहोत्रं जुहोति" (तै० सं० १।५।९।५) इस विधि वाक्य से विहित होम का "दध्ना जुहोति"—यह वाक्य 'जुहोति' पद से अनुवाद कर दधि द्रव्य का जो विधान करता है, वहाँ यह नियम होता है कि होम-जैसी अनुवाद्य वस्तु पारमार्थिक होती है, आरोपित नहीं, अन्यथा "व्रीहिभिर्यजेत" (आप० श्रौ० ६।३१।१३) इस विधि से विहित व्रीहि यदि अतात्त्विक है, तब "व्रीहीन् प्रोक्षति"--यह वाक्य किसके उद्देश्य से प्रोक्षण का विधान करेगा ? अनुमान-स्थल पर प्रत्यक्षावगत पर्वतादि का अनुवाद कर 'पर्वतो वह्निमान्--इस वाक्य के द्वारा वह्निमत्ता का विधान किया जाता है, वहाँ पर्वतरूप आश्रय यदि अतात्त्विक या असिद्ध हैं, तब अनुमान में जैसे आश्रयासिद्धि दोष आ जाने के कारण धर्म-धर्मि-संसर्ग की अनुमिति जैसे बाधित हो जाती है, वैसे ही 'विश्वं सत्यम्'--इत्यादि वाक्यों में उद्देश्यभूत विश्व यदि असिद्ध है, तब उद्देश्य-विधेय-संसर्ग-बोधरूप शाब्द बोध भी बाधित हो जायगा, अतः विश्वरूप अनुवाद्य या उद्देश्य को तात्त्विक मानना आवश्यक है।

समाधान—'विश्वं सत्यम्'--यह वाक्य प्रत्यक्ष-प्राप्त विश्व का अनुवाद करके सत्यत्व का प्रापक ही माना जाता है। प्रमाण से अनूदित वस्तु का तात्त्विक होना अनिवार्य नहीं, क्योंकि विश्वं सत्यम्, प्रमाणानूदितत्वाद्, होमादिवत्' इस अनुमान का छान्दोग्योपनिषत् के स्वप्नाध्याय में परिपठित वाक्यों एवं 'नेदं रजतम्', 'नायं भुजङ्गमः'—इत्यादि वाक्यों में व्यभिचार है। वहाँ "यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति" (छां० ५।२९) इत्यादि प्रमाण वाक्यों के द्वारा अनूदित स्वाप्न प्रपञ्च तात्त्विक नहीं होता।

शङ्का—स्वाप्न प्रपञ्च का ज्ञान-विषयत्वेन तथा रजतादि का निषेध्यत्वेन अनुवाद होता है, अतः उनके अतात्त्विक होने पर भी विश्वं सत्यम्—यहाँ पर विश्व व्यवस्थाप्यतया अनूदित है, अतः इसका तात्त्विक होना आवश्यक है।

न्यायामृतम्

नानेति निषेधार्थः। तत्रैव किं चनेत्यनुवादकांशस्य सत्त्वात्। न हि "न सुरां पिबेदिति-निषेधाय सुरां पिबेदिति वाक्यान्तरमपेक्षितम्। अत्र चापश्च न प्रमिनन्तीत्य-

अद्वैतसिद्धिः

तर्हि प्रकृतेऽपि 'नेह नाने'ति निषेधार्थत्वादस्यानुवादस्य न तात्त्विकत्वमिति गृहाण। अत एव न वाक्यार्थस्यासत्त्वप्रसङ्गः, तात्पर्यविषयस्य सत्त्वात्। अथ 'किं चने' त्यनेनैवानुवादस्य कृतत्वात् किमधिकेनेति चेन्न, सामान्यतो निषेधस्य हि 'किं चने' त्यनेन निषेध्यसमर्पणेऽपि विशिष्य निषेधे विशिष्य निषेध्यसमर्पणस्योपयोगात्। अथ—निषेधवाक्यस्य न निषेध्यसमर्पकवाक्यान्तरापेक्षा, अन्यथा 'न कलञ्जं भक्षये' दित्यादावपि निषेध्यसमर्पणार्थं 'कलञ्जं भक्षये' दित्यादिवाक्यान्तरसापेक्षत्वप्रसङ्गः— इति चेन्न, सर्वत्रापेक्षानियमाभावात्, सति संभवे प्रकृते त्यागायोगात्, 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती'त्यदौ वाक्यान्तरप्राप्तस्य निषेधदर्श-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—निषेध्यतया अनूदित वस्तु यदि तात्त्विक नहीं होती, तब "नेह नानास्ति किंचन" (बृह० ४।४।१९) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा निषेध्य होने के कारण विश्व भी अतात्त्विक ही रहेगा। अत एव 'विश्वं सत्यम्'—इस वाक्य से जनित शाब्द बोध भी बाधित नहीं होता, क्योंकि तात्पर्यतः अभिप्रेत प्रपञ्च-सत्यत्व-निषेधरूप अर्थ सत् ही माना जाता है।

शङ्का—'नेह नानास्ति किंचन'—इस श्रुति के घटक 'किंचन' पद से ही निषेध्यभूत प्रपञ्च का जब अनुवाद लभ है, तब विश्वं सत्यम्'—इस वाक्य के द्वारा निषेध्य का अनुवाद व्यर्थ है, अतः 'विश्वं सत्यम्'—यह श्रुति विश्वगत सत्यत्व की व्यवस्थापिका ही है, निषेध्यानुवादनी नहीं।

समाधान—'नेह नानास्ति किञ्चन'—इस वाक्य के द्वारा निषिध्यमान प्रपञ्च का सामान्यतः अनुवाद मात्र 'किंचन' पद के द्वारा होता है, विशेषरूप से निषेध्य की उपस्थिति 'विश्वं सत्यम्'—इस वाक्य के द्वारा वैसे ही होती है, जैसे कि "चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहित विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थं शक्नोति अवगमयितुम्, नान्यत् किञ्चन, इन्द्रियम्" (शाबर० पृ० १३) इस भाष्य-वचन के द्वारा चोदना में भूतादि पदार्थों के बोधन का सामर्थ्य केन्द्रित करने के लिए सामान्यतः अन्य का निषेध कर उस की विशेष उपस्थिति 'इन्द्रियम्'—पद के द्वारा की गई है।

शङ्का—"नेह नानास्ति किं चन"—इत्यादि निषेध वाक्यों को वाक्यान्तर के द्वारा निषेध्य की उपस्थिति अपेक्षित नहीं होती, अपितु अपने ही शरीर के घटक 'किंचन' आदि पदों से ही निषेध्य की उपस्थिति कराई जाती है। यदि निषेध वाक्य को निषेध्य-समर्पण हेतु वाक्यान्तर की अपेक्षा मानी जाय, तब "न कलञ्जं भक्षयेत्"—इस वाक्य को भी निषेध्यभूत कलञ्ज (विषैले बाण के द्वारा मारे गये पशु के मांस अथवा रक्त लशुन) की उपस्थिति कराने के लिए 'कलञ्जं भक्षयेत्'—इस प्रकार के वाक्यान्तर की अपेक्षा होगी, जो कि सुलभ नहीं, अतः उक्त निषेध असम्भव हो जायगा।

समाधान—सर्वत्र निषेध्य-समर्पक वाक्यान्तर की अपेक्षा नहीं होती, हाँ यदि वैसा वाक्यान्तर सुलभ है, तब उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती, जैसे कि "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" (मै० सं० ४।७।६) इस वाक्यान्तर से प्राप्त अतिरात्र-

न्यायामृतम्

लौकिकस्य प्रमाणस्य विधेयस्य सत्त्वाच्च। यत्तन्नेत्यादिनिषेधार्थानुवादलिंगाभा-

अद्वैतसिद्धिः

नाच्च। न च तद्वदेव विकल्पापत्तिः, सिद्धे वस्तुनि विकल्पायोगात्, षोडशिग्रहणाग्रहणवाक्ययोरुभयोरपि मानान्तराप्राप्तविषयत्वेन तुल्यबलत्ववदिह सत्त्वश्रुतेर्मानान्तरप्राप्तविषयत्वेन निषेधश्रुतेश्चाप्राप्तविषयत्वेन तुल्यबलत्वाभावाच्च। अत एव निषेधवाक्यप्राबल्यात्तदनुरोधेनेतरन्नीयते।

अथ—अप्राप्तान्यप्राप्त्यर्थत्वेऽप्यलौकिकस्य 'आपश्च न प्र मिनन्ती' इत्यादिपदार्थसंसर्गस्य विधेयस्य सत्त्वान्न निषेध्यार्थानुवादकत्वमिति—चेन्न, तदन्यपरत्वस्य प्रागे-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

संस्थाक ज्योतिष्टोम याग में षोडशिसंज्ञक पात्र के ग्रहण (सोम-रस-पूरित करने) का निषेध ''नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति''—इस निषेध वाक्य के द्वारा षोडशि-ग्रहण का निषेध किया जाता है। उसी प्रकार 'विश्वं सत्यम्'—इस वाक्य से प्राप्त प्रपञ्च-सत्यत्व का निषेध 'नेह नानास्ति किंचन'—इस वाक्य के द्वारा किया जाता है। यदि कहा जाय कि किसी श्रुति-वाक्य से प्राप्त वस्तु का दूसरे श्रुति-वचन से निषेध करने पर विकल्प माना जाता है, अर्थात् जिसका मन चाहे, वह षोडशि-ग्रहण करे और जिसका मन न चाहे, वह षोडशि-ग्रहण न करे। उसी प्रकार प्रपञ्चगत सत्यत्व और मिथ्यात्व का विकल्प होना चाहिए। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि क्रिया के सम्पादन में पुरुष स्वतन्त्र होता है, अतः षोडशि पात्र में सोम-रस के ग्रहण और अग्रहण का विकल्प सम्भव है, किन्तु सिद्ध वस्तु में किल्प सम्भव नहीं होता, नहीं तो शुक्ति-शकल रजत भी हो सकेगा और नहीं भी, अतः 'इदं रजतम्' तथा नेदं रजतम्'—दोनों वाक्यों को प्रमाण ही मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह भी है कि ''अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' और ''नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति''—ये श्रुति-वाक्य प्रमाणान्तर से अनधिगत पदार्थ के प्रापक होने के कारण समानबलवाले हैं, अतः वहाँ दोनों के पूर्णतया नहीं तो पाक्षिक प्रामाण्य का रक्षण करने के लिए विकल्प-प्रणालि अपनाई जाती है, किन्तु प्रकृत में 'विश्वं सत्यम्'—यह वाक्य प्रत्यक्ष-प्राप्त प्रपञ्च-सत्त्व का अनुवादक मात्र है और 'नेह नानास्ति'—यह वाक्य प्रमाणान्तर से अनधिगत मिथ्यात्व का गमक होने के कारण सत्त्व-श्रुति से प्रबल है, दोनों में समबलता न होने के कारण विकल्प न होकर बाध्य-बाधक-भाव ही उचित है।

शङ्का—'विश्वं सत्यम्'—यह मन्त्र-भाग यदि प्रमाणान्तर से प्राप्त का प्रापक या अनुवादक माना जाता है, फिर भी निष्प्रयोज नहीं, क्योंकि इस मन्त्र-भाग के अनन्तर ही 'आपश्च न प्रमिनन्ति व्रतं वाम्'—इस प्रकार इन्द्र-व्रत के अहिंसनरूप अज्ञात पदार्थ का संकीर्तन है, अतः अप्राप्त अलौकिक विधेय अंश के साथ विश्व-सत्यता के संसर्ग की स्थापना की जाती है अर्थात् 'हे इन्द्र! जो यह विश्व सत्य है, वह आप के ही अकाट्य व्रत का फल है'—इस प्रकार की संगति बिठाने के लिए ही विश्व-सत्यता का अनुवाद है, कथित निषेध्य पदार्थ का समर्पण करने के लिए नहीं।

समाधान—उक्त मन्त्र का इन्द्र और ब्रह्मणस्पति—इन दोनों देवताओं की स्तुति में तात्पर्य दिखाया जा चुका है, अतः वह किसी विधेय अंश का प्रतिपादक न होने के कारण उसके साथ विश्व-सत्यता का संसर्ग नहीं जोड़ा जा सकता, अगत्या निषेध्यभूत

न्यायामृतम्

वाच । तदभावेऽपि निषेधायानुवादे "तत्सत्य" मित्याद्यपि "न सत्तन्नासदुच्यते, असद्वा इदमग्र आसीदि"ति निषेधाय ब्रह्मसत्तानुवादकं स्यात्—

सर्वप्रत्ययवेद्ये च ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते ।
प्रपंचस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते ॥

इति मण्डनोक्त्या सन् घट इत्यत्रापि ब्रह्मसत्ताप्रतीतेः

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता ।
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥

इति सुरेश्वरोक्त्या सद् घटज्ञानमित्यत्रापि तत्प्रतीतेश्च । सत्सुखस्फुरणं अहोऽस्मीत्यादौ

अद्वैतसिद्धिः

वोक्तत्वात् । ननु 'यत्तन्ने'ति निषेधानुवादलिङ्गाभावान्नानुवादः, न; यत्किंचिल्लिङ्गाभावेन लैङ्गिकाभावस्य वक्तुमशक्यत्वात् । ननु - तर्हि 'तत्सत्यमि' त्याद्यपि 'न सत्तन्नासदुच्यत' इति, 'असद्वा इदमग्र आसी'दिति च निषेधाय 'सन् घटः' 'सद् घटज्ञानम्' 'सत्सुखस्फुरण' मित्यादिसिद्धब्रह्मसत्त्वानुवादि स्याद् - इति चेन्न; ब्रह्मत्वसामानाधि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रत्यक्ष-प्राप्त विश्व-सत्यता का अनुवादक ही माना जायगा ।

शङ्का—जैसे "या ते अग्नेऽयाशया तनूः" (तै० सं० १।२।११) इत्यादि मन्त्रों में अनुवाद के चिह्नरूप यद्—आदि पदों का प्रयोग है, वैसा ही यदि प्रकृत में यद् विश्वं सत्यम्, तन्न'—ऐसा कोई निषेध्यानुवाद-सूचक पद प्रयुक्त होता, तब अनुवादकता मानी जा सकती थी, किन्तु अनुवाद का जब कोई यहाँ लिङ्ग (चिह्न) हीं नहीं, तब अनुवाद-कत्वरूप लैङ्गिक धर्म की सिद्धि कदापि नहीं की जा सकती ।

समाधान—अग्नि के साधक अनेक लिङ्ग होते हैं—धूम, आलोक, दाह, पाक आदि । इनमें किसी एक लिङ्ग के अभावमात्र से अग्निरूप लैङ्गिक वस्तु का अभाव नहीं कहा जा सकता [तप्त अयः पिण्ड से धूम नहीं निकलता, तब क्या वहाँ अग्नि नहीं ? इसी प्रकार अनुवादकता का चिह्न केवल 'यत्' पद का प्रयोग नहीं, अपितु वाक्यान्यर-समभिव्याहार आदि कई लिङ्ग होते हैं, अतः केवल 'यत्' पद का प्रयोग न देखकर अदननुबादकता का निर्णय नहीं किया जा सकता । 'दध्ना जुहोति'—इत्यादि अगणित स्थल ऐसे दिखाये जा सकते हैं, जहाँ 'यत्' पद का प्रयोग न होने पर भी अनुवादकता मानी जाती है । जिस वाक्य की प्रतिपाद्य वस्तु प्रमाणान्तर से अवधृत है, उसे अनुवादक माना जाता है, 'विश्वं सत्यम्'—यह वाक्य भी वेसा ही है, अतः अनुवादक क्यों न होगा ?] ।

शङ्का—यदि निश्चित चिह्न के अभाव में भी अनुवादकता स्थापित की जा सकती है, तब "तत् सत्यम्" (छां. ६।८।७) इत्यादि श्रुतियों को भी "न सत् तन्नासदुच्यते" (गी. १३।१३), "असद्वा इदमग्र आसीत्" (तै. उ. २।७) इत्यादि निषेध-वाक्यों के निषेध्यभूत सत्यता का अनुवादक ही मानना पड़ेगा, क्योंकि 'तत् सत्यम्'—इसकी प्रतिपाद्य ब्रह्म-सत्ता 'सन् घटः सद् ब्रह्मज्ञानम्,' सत् सुखस्फुरणम्'—इत्यादि प्रत्यक्ष के द्वारा अधिगत ही है ।

समाधान—यह कहा जा चुका है कि घटः सन्—इत्यादि प्रत्यक्ष के आधार पर केवल घटत्वादि-सामानाधिकरण्येन सत्त्व अधिगत होता है, ब्रह्मत्व-सामानाधि-

न्यायामृतम्

नु तत्प्रतीतौ न विवादः। शुद्धचित एव सुखस्फुरणत्वाद् अज्ञानाद्यध्यासाधिष्ठानत्वाच्च। अधिकस्फुरणेऽपि चिदस्फुरणाभावात्। ब्रह्मशब्दानुल्लेखेऽपि अखंडार्थनिष्ठवाक्यबोध्यं यद् ब्रह्म तत्सत्त्वप्रतीतेः। एवमानन्दश्रुतिरपि अदुःखमसुखं सममित्यादिनिषेधाय प्रत्यक्षप्राप्तानंदानुवादिनी स्यात्। किं चैवं नेह नानेतिश्रुतिरेव विश्वं सत्यमित्यबाध्यत्वरूपबाधनिषेधाय विज्ञानवादादिप्राप्तविश्वबाधानुवादिनी किं न स्यात्? किं च धर्माधर्मस्वर्गनरकादेर्न प्रत्यक्षादिना प्राप्तिः, शब्दप्राप्तस्य शब्देन निषेधायानुवादे एतच्छाखास्थाग्नीषोमीयवाक्यस्य न हिंस्यादिति निषेधाय शाखान्तरोक्ताग्नीषोमीयहिंसानुवादित्वं स्यात्। सत्यं ज्ञानमित्यादेरपि इदं वा अग्रे नैव किं च नासीदिति निषेधाय तत्सत्यमित्यादिवाक्योक्तब्रह्मसत्तानुवादित्वं स्यात्। तस्मान्नानुवादिनी श्रुतिः।

नापि व्यावहारिकसत्त्वपरा, वैय्यर्थ्यात्, न हि कोऽपि प्रपंचे व्यावहारिकसत्यतां नोपैति; अप्राप्ते च शास्त्रमर्थवत्। किं च व्यावहारिकशब्देनाबाध्योक्ताविष्टाप्तिः, बाध्योक्तौ श्रुतिश्चिरानुवृत्तदृढभ्रांतिहेतुत्वेनात्यंताप्रमाणं स्यात्। न च मिथ्या-

अद्वैतसिद्धिः

करण्येन सत्त्वस्य प्रत्यक्षादिभ्योऽप्राप्तेः शून्यवादप्रसङ्गेन तस्य निषेधायोगाच्च। यदिदं सर्वं यदयमात्मे' त्यत्रानुवादलिङ्गसम्भवेन कल्पनाच्च। एवमानन्दश्रुतेरपि, 'अदुःखमसुखं सम' मिति निषेधाय न प्रत्यक्षप्राप्तानन्दानुवादित्वम्, दुःखसाहचर्येण सुखस्यापि वैषयिकस्यैव ग्रहणेन तन्निषेधाय ब्रह्मरूपसुखानुवादायोगात। एतच्च सर्वमुक्तं विवरणे— "निष्प्रपञ्चास्थूलादिवाक्यानुसारेण 'इदं सर्वं यदयमात्मे' त्यादीनि निषेध्यसमर्पकत्वेनैक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

करण्येन नहीं, अतः ब्रह्मत्व-समानाधिकरण सत्त्व का बोध 'तत् सत्यम्'—इत्यादि श्रुति-वाक्यों से ही होता है, अतः उन्हें अनुवादक नहीं कह सकते। ब्रह्म की सत्ता का निषेध भी सम्भव नहीं, अन्यथा शून्यवाद का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। यह जो कहा गया कि 'विश्वं सत्यम्'—में अनुवाद का कोई यत् 'पद आदि लिङ्ग नहीं, वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि "यदिदं सर्वम्" (बृह. ३।१।३), "यदयमात्मा" (बृह. १।४।७) इत्यादि वाक्यों में अनुवाद के 'यत्' पद रूप लिङ्ग को देख कर 'विश्वं सत्यम्'—इत्यादि वाक्यों में भी उस की कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" बृह. (३।९।३४) यह श्रुति भी "असुखदुःखोऽद्वयः परमात्मा"—(नृसिंहो. ९।७) इत्यादि श्रुतियों में निषेध करने के लिए सौषुप्तिक प्रत्यक्ष-सिद्ध आनन्द का अनुवाद करती है—यह कहना भी असंगत हो जाता है, क्योंकि यहाँ दुःख के सहचार से सुख भी वैषयिक ही गृहीत हुआ है, वैषयिक सुख का निषेध करने के लिए उसी का अनुवाद करना उचित होता है, ब्रह्मरूप सुख का नहीं। यह सब कुछ विवरण में कह दिया गया है—निष्प्रपञ्चास्थूलादिवाक्यानुसारेण "इदं सर्वं यदयमात्मा"—इति निषेध्यसमर्पकत्वेन एकवाक्यतां प्रतिपद्यन्ते, सुषुप्तौ निष्प्रपञ्चतायां पुरुषार्थत्वदर्शनात्" (वि. पृ. ३८४-८५) अर्थात् सप्रपञ्च-वाक्य निष्प्रपञ्च-वाक्य में अपेक्षित निषेध्य का उपस्थापक होने के कारण एकवाक्यतापन्न होता है, अतः "इदं सर्वं यदयमात्मा"—इत्यादि सप्रपञ्च-वाक्य निषेध्य के समर्पक होकर निष्प्रपञ्च वाक्यों के साथ एक वाक्यता पन्न होते हैं, इस प्रकार उनमें पुरुषार्थ-साधनता आती है, क्योंकि सुषुप्तिगत निष्प्रपञ्चता में पुरुषार्थत्व देखा जाता है।

न्यायामृतम्

त्वच्छ्रुतिविरोधात्तदिष्टम्। त्वत्पक्षे तस्या लक्षणया अखंडचिन्मात्रपरत्वेन जगत्सत्त्वाविरोधित्वात्। असद्वा इत्यादिश्रुतिविरोधेन तत्सत्यमित्यादेरपि प्रातिभासिकसत्त्वपरत्वापाताच्च। सत्त्वश्रुतिविरोधेन मिथ्यात्वश्रुतिरेवाप्रमाणमित्यपि सुवचत्वाच्च। न च षड्विधतात्पर्यलिंगवत्त्वादद्वैतवाक्यं प्रबलम्, लिंगानि हि तात्पर्यज्ञापकानि, न त्वर्थतथात्वस्य। अस्ति चात्रापि वाक्यशेषे आपश्च न प्रमिनंतीति प्रामाणिकत्वरूपा, न मोघमित्यर्थक्रियाकारित्वरूपा चोपपत्तिस्तात्पर्यलिंगम्। लिंगबहुत्वं तु त्वत्पक्षे प्रमाणबाहुल्यवद्व्यर्थमित्युक्तम्। यदि च सत्त्वश्रुतिः प्रत्यक्षप्राप्तार्थत्वान्न स्वार्थपरा, तर्हि मिथ्यात्वश्रुतिरपि तद्विरुद्धार्थत्वात्तथा स्यात्, मानान्तरप्राप्तिवत्तद्विरोधस्याप्यतात्पर्यहेतुत्वात्। यदि तु मिथ्यात्वश्रुतिः प्रत्यक्षागृहीतत्रिकालाबाध्यत्वनिषेधपरा, तर्हि सत्त्वश्रुतिरपि तदगृहीततद्विधिपरास्तु। न च सुषुप्तौ निष्प्रपञ्चतायाः पुरुषार्थत्वदर्शनात्, फलवत्संनिधावफलं तदंगमिति न्यायेन निष्प्रपञ्चवाक्यानुसारेण सप्रपञ्चवाक्यं नेयमिति विवरणोक्तं युक्तम्। तस्या मूर्च्छायामपुरुषार्थत्वस्यापि दर्शनात्। मूर्च्छायां प्रपञ्चस्याज्ञानमेव न त्वभाव इति चेत्, समं सुषुप्तावपि। यदि च मूर्च्छादुःखयोगेनैवापुरुषार्थः, तर्हि सुषुप्तिरपि सुखयोगेनैव पुरुषार्थः। अस्ति च "द्वितीयाद्वै

अद्वैतसिद्धिः

वाक्यतां प्रतिपद्यन्ते, सुषुप्तौ निष्प्रपञ्चतायाः पुरुषार्थत्वदर्शनाद्"-इति। अथ-निष्प्रपञ्चता न पुरुषार्थः। मूर्च्छायां तत्त्वादर्शनात्, न च—तदा तदज्ञानमात्रं न तु तदभाव इति—वाच्यम्, समं सुषुप्तावपीति--चेन्न, मूर्च्छायां स्वरूपसुखस्फुरणाभावात्। तथा च सूत्रम्--"मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषाद्"-इति। सुषुप्तिमुक्तिकालीननिष्प्रपञ्चतायां स्वरूपसुखानुभवेन तस्याः पुरुषार्थत्वात्। तथा च श्रुतिः--"द्वितीयाद्वै भयं भवति"-इति। अथ 'तस्मादेकाकी न रमते' इति श्रुतेः सप्रपञ्चतापि पुरुषार्थः, न; तस्या दुःखसाधनत्वेन पुरुषार्थत्वायोगात्, कर्मकाण्डवदस्याः श्रुतेः अविवेकिपुरुषपरत्वाच्च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का--निष्प्रपञ्चता या प्रपञ्च-शून्यता को पुरुषार्थ नहीं कह सकते, क्योंकि मूर्च्छा अवस्था की निष्प्रपञ्चता में पुरुषार्थता नहीं देखी गई है। 'मूर्च्छा में प्रपञ्च का अज्ञानमात्र होता है, निष्प्रपञ्चता नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सुषुप्ति में भी वैसा ही कह सकते हैं।

समाधान--सुषुप्ति में निष्प्रपञ्चता के साथ जो आत्मस्वरूप सुख का स्फुरण होता है, मूर्च्छा में उसका अभाव होता है, जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—"मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात्" (ब्र. सू. ३।२।१०) अर्थात् मुग्ध या मूर्च्छा की अवस्था में ज्ञानेन्द्रियों का उपरम तथा कर्मेन्द्रियों का अनुपरम होने के कारण सम्पूर्ण सुषुप्ति न होकर अर्ध ही होती है, क्योंकि मूर्च्छा में हाथ-पैरों में क्रिया देखी जाती है, सुषुप्ति में नहीं। सुषुप्ति और मुक्ति—दोनों में पूर्ण निष्प्रपञ्चता के साथ स्वरूप सुख का अनुभव होने के कारण पुरुषार्थता श्रुति-सिद्ध है—"द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृह. १।४।२) अर्थात् द्वैत-प्रपञ्च भय (दुःख) का कारण होने के कारण निष्प्रपञ्चता को ही पूर्ण अभयरूपता कहा जाता है। सुषुप्ति में केवल निष्प्रपञ्चता ही नहीं सुखानुभूति भी होती है—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसावृते।
स्वरूपं महदानन्दं भुङ्क्ते विश्वविवर्जितः॥ (वराहो. २।६२)

न्यायामृतम्

भयं भवती''ति श्रुतिरिव "तस्मादेकाकी न रमत" इत्यपि श्रुतिः। सति च भेदज्ञानस्यमोक्षसाधनत्वे "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेती''त्याद्याः

अद्वैतसिद्धि

ननु—'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेती'ति भेदज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वश्रवणात् कथं न सप्रपञ्चता पुरुषार्थ- इति चेन्न, मतेः पूर्वं ममापि प्रेरकपृथक्त्वेष्टेः, सगुणब्रह्मज्ञानवत् प्रेरकत्वेन ब्रह्मज्ञानस्यापि परम्परयोपकारकत्वात्। 'एकधैवानुद्रष्टव्य' मित्यादिवाक्यस्वारस्यादभेदज्ञानस्यैव साक्षात् मोक्षहेतुत्वात्। अत एव प्रेरकत्वज्ञानस्य जोषहेतुत्वमुक्तम्। तथोत्तरत्रापि 'वेदविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा ये विमुक्तास्तदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोक' इत्यभेद एव श्रूयते। अतो न भेदज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वम्। एतेन--'नेह नाने'ति श्रुतिरेव विरुद्धं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का--बृहदारण्यक (१।४।३) में निष्प्रपञ्चता की अपुरुषार्थता का स्पष्ट प्रतिपादन है--"तस्मादेकाकी न रमते।" पूर्ण सुखरूपता अद्वैत या अकेले में नहीं होती, अतः निष्प्रपञ्चता को भी पुरुषार्थ क्योंकर माना जा सकता है ?

समाधान--यह सर्वानुभव-सिद्ध है कि सप्रपञ्चता दुःख का साधन है, पुरुषार्थ नहीं, हाँ अविवेकी पुरुष जैसे कर्म-काण्ड के अधिकारी होते हैं, वैसे ही "एकाकी-न रमते"---इस श्रुति के भी वे ही विषय होते हैं।

शङ्का--श्रुतियों में भेद-ज्ञान को मोक्ष का साधन बताया गया है---"पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" (श्वेता. १।६) अर्थात् आत्मा (जीव) तथा प्रेरिता (ईश्वर) को भिन्न-भिन्न पूर्णतया समझ लेने पर अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, अतः भेद, द्वैत या सप्रपञ्चता पुरुषार्थ नहीं ?

समाधान—मति या तत्त्व-ज्ञान के पूर्व जीव और ईश्वर का ज्ञान उपासना के द्वारा कल्याण का साधन है—यह हम भी स्वीकार करते हैं, जैसे सगुण ब्रह्म का ज्ञान मुमुक्ष का महान् उपकारक होता है, वैसा ही जीव और ईश्वर के भेद का ज्ञान भी। किन्तु "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृह. ४।१।२) इस श्रुति के द्वारा ब्रह्मैकत्व-ज्ञान को ही मोक्ष का साधन बताया गया है। [वार्तिकार श्री सुरेश्वराचार्य ने ब्रह्मगत नानात्व को ध्येयमात्र बताते हुए ज्ञेयरूपता एकत्व में सिद्ध की है—

स्वतस्तस्य च सम्प्राप्तेर्विनाप्यागमशासनात्।
ध्येयत्वेनेह सर्वेषां खरोष्ट्रादेरपीक्षणात्॥
एकधैवानुविज्ञेयमिति च श्रुतिशासनात्।
भेददृष्ट्यपवादाच्च मृत्योरिति विनिन्दनात्॥ (बृह. वा. पृ. १९६१)

अर्थात् भेद निसर्गतः प्राप्त है, अतः श्रुति का उसमें तात्पर्य नहीं, तात्पर्य अभेद-बोधन में ही है]। अतः एव ब्रह्मगत प्रेरकत्व-ज्ञान को जोष (प्रीति-श्रद्धा या भक्ति) का ही हेतु बताया गया है—"पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टः"। इसी प्रकार वहीं पर आगे चल कर भी कहा गया है—

"अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः।" (श्वे. १।७)
तदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः।" (श्वे. २।१४)

अर्थात् ब्रह्म में विलय तथा एकत्वापादन अभेद-पक्ष में ही बनता है, अत भेद-ज्ञान को

अद्वैतसिद्धिः

सत्यम्'—इत्यबाध्यत्वरूपबाधनिषेधाय विज्ञानवादादिप्राप्तविश्वनिषेधानुवादिनी किं न स्यादिति--निरस्तम्, भावाभावयोः परस्परविरहरूपत्वे समेऽपि भावग्रहो निरपेक्षत्वात् नाभावग्रहमपेक्षते, अभावग्रहस्तु सप्रतियोगितया भावग्रहमपेक्षते, अतो 'नेति नेति' श्रुतेरेव सत्त्वश्रुत्यपेक्षा, न तु सत्त्वश्रुतेर्नेति श्रुत्यपेक्षा, अन्यथा अन्योन्याश्रयापत्तेः।

ननु--उत्सर्गापवादन्यायोऽस्तु, यथा हि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानी'ति श्रुतिरविशेषप्रवृत्तापि हिंसात्वसामान्यस्य प्रत्यक्षादिप्राप्तत्वात्तन्निषेध्योपस्थितौ नाग्नीषोमीयवाक्यमपि निषेध्यसमर्पणायापेक्षते, तथा 'नेति ने' त्यादिश्रुतिरविशेषप्रवृत्तापि प्रत्यक्षप्राप्तघटादिसत्त्वरूपनिषेध्यमादाय निराकाङ्क्षा सती न प्रत्यक्षाप्राप्तधर्माधर्मादिसत्यत्वबोधिकां 'विश्वं सत्य' मित्यादिश्रुतिमपि निषेध्यसमर्पणायापेक्षितुमर्हति। यत्र तु मानान्तरेण निषेध्यस्याप्राप्तिस्तत्र निषेधश्रुतिः निषेध्यसमर्पणाय श्रुत्यन्तरमपेक्षत एव, यथा षोडशिग्रहणाग्रहणयोः। मानान्तरेण निषेध्योपस्थितावपि वाक्यापेक्षणे अग्नीषो-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कथमपि मोक्ष का हेतु नहीं कहा जा सकता। अत एव जो शङ्का की जाती थी कि "नेह नानास्ति"—यह श्रुति ही 'विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति से प्रतिपादित सत्यत्व या अबाध्यत्व का निषेध करने के लिए विज्ञानवादि-मत-सिद्ध विश्व-निषेध की अनुवादिनी क्यों नहीं हो सकती ? उसका निरास भी हो जाता है। अर्थात् भाव और अभाव—दोनों में परस्पर एक दूसरे की अभावरूपता समान होने पर भी भाव का ज्ञान निरपेक्ष होने के कारण अभाव-ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु अभाव-ज्ञान सप्रतियोगिक होने के कारण भाव-ज्ञान की अपेक्षा करता है, अतः "नेति-नेति" (बृह. २।३।६) यह श्रुति ही सत्त्व-प्रतिपादक विश्वं सत्यम्—इस श्रुति की अपेक्षा करती है, न कि सत्त्व-प्रतिपादक श्रुति "नेति-नेति"—इस श्रुति की अन्यथा अन्योऽन्याश्रय दोष हो जायगा।

द्वैतवादि--उत्सर्गापवाद-न्याय या सामान्य-विशेष-न्याय के आधार पर विश्वं सत्यम्' यह श्रुति ही 'नेह नानास्ति' की बाधिका ठहरती है, जैसे—"न हिंस्यात् सर्वा भूतानि"—यह सामान्य श्रुति हिंसा-सामान्य का निषेध करती है, किसी विशेष हिंसा का नहीं, अतः इसमें अपेक्षित निषेध्यभूत सामान्य हिंसा के रूप में प्रत्यक्ष-सिद्ध राग-प्राप्त हिंसा का ही ग्रहण हो जाता है, अतः 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'—यह विधि वाक्य अपने निषेध्य की उपस्थिति कराने के लिए 'अग्नीषोमीयमालभेत'—की अपेक्षा नहीं करती। वैसे ही 'नेति-नेति'—यह सामान्य निषेध भी 'घटः सन्'—इत्यादि प्रत्यक्ष से प्राप्त घटादि-सत्त्वरूप निषेध्य को लेकर गतार्थ हो जाता है, अपने निषेध्य की उपस्थिति के लिए 'विश्वं सत्यम्,—की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि यह श्रुति विशेषरूप से अतीन्द्रिय धर्मा-धर्मादि प्रपञ्च की सत्यता का प्रतिपादन करती है। जहाँ पर प्रत्यक्षादि-रूप प्रमाणान्तर से प्रतियोगी की उपस्थिति नहीं होती, वहाँ ही निषेध-श्रुति अपने निषेध्य का समर्पण करने के लिए श्रुत्यन्तर की अपेक्षा करती है, जैसे—'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'—यह निषेध वाक्य अपने प्रतियोगीभूत षोडशि-ग्रहण की उपस्थिति के लिए "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति"—इस श्रुति की अपेक्षा करता है, क्योंकि षोडशि-ग्रहण का लाभ प्रत्यक्षादि से नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष के द्वारा प्रतियोगी की उपस्थिति

अद्वैतसिद्धिः

मीर्याहिंसाया अपि निषेध्यत्वेनाधर्मत्वं स्याद्--इति चेत् , मैवम् , अग्नीषोमीयवाक्यस्य निषेधविषयन्यूनविषयत्वेनानन्यशेषतया स्वार्थतात्पर्यवत्त्वेन च न निषेध्यसमर्पणद्वारेण निषेधवाक्यशेषता, विश्वं सत्य' मित्यादेस्तु निषेधविषयसमविषयत्वेन स्वार्थतात्पर्य-रहितत्वेन च निषेध्यसमर्पणद्वारेण निषेधवाक्यशेषतोचितैव। अत एव प्रत्यक्षाप्राप्तधर्मादिसत्त्वोपस्थापनेन वाक्यसाफल्यमपि। स्वार्थतात्पर्यरहितत्वेन च नाग्नीषोमीयवाक्यतुल्यत्वमित्युक्तम्। अतो दृश्यत्वादिहेतोर्धर्माद्यंशेऽपि श्रुत्या न बाधः।

अथवा—व्यावहारिकसत्त्वपरेयं विश्वसत्यत्वश्रुतिः। न च व्यावहारिकसत्त्वे सर्वाविप्रतिपत्तेस्तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यम् , दशाविशेषे स्वर्गनरकादिसत्त्वप्रतिपादनेन तत्प्राप्तिपरिहारार्थं प्रवृत्तिनिवृत्त्योरेव तत्प्रयोजनत्वात्। व्यावहारिकत्वं च ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं न त्वबाध्यत्वम् , मिथ्यात्वबोधकश्रुतिविरोधात्। न चैवं दृढभ्रान्तिजनकत्वाद् अत्यन्ताप्रामाण्यापत्तिः, स्वप्नार्थप्रतिपादनवदुपपत्तेः। एतावानेव विशेषः—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होने पर भी यदि निषेध शास्त्र अपने निषेध्य की उपस्थिति कराने के लिए श्रुत्यन्तर की अपेक्षा करता है, तब अग्निषोमीय-हिंसा भी प्रत्यक्ष-प्राप्त हिंसा के समान ही अधर्म हो जायगी। अतः यह अनुमान-प्रयोग यहाँ फलित होता है—'नेति-नेति'—इति निषेधः स्वप्रतियोगिसमर्पणाय न विश्वं सत्यमिति वाक्यमपेक्षते, निषेधसामान्यत्वात्, न हिंस्यात् सर्वा भूतानि—इति निषेधवत्।'

अद्वैतवादी—इस अनुमान-प्रयोग में न्यूनविषयकत्व या स्वार्थतात्पर्यरहितत्व उपाधि है, अर्थात् 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि—इस निषेध की अपेक्षा 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'—यह वाक्य न्यून विषयक होने के कारण निषेध्य-समर्पकत्वेन अपेक्षित नहीं, अतः उक्त उपाधि में साध्य-व्यापकत्व निश्चित है। पक्षभूत नेति-नेति—निषेध की अपेक्षा 'विश्वं सत्यम्'—यह वाक्य न्यूनविषयक नहीं, अपितु समानविषयक है, अतः अपेक्षित है। दूसरी बात यह भी है कि 'विश्वं सत्यम्—इस वाक्य का स्वार्थ में तात्पर्य भी नहीं, अतः निषेध्य-समर्पण के द्वारा निषेध वाक्य का ही अङ्ग या वाक्यशेष माना जाता है। स्वार्थ में तात्पर्य न होने के कारण ही धर्मादिगत सत्यता प्रतिपादन के द्वारा 'विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति की न तो सफलता मानी जा सकती है और न स्वार्थ-परक अग्नीषोमीय वाक्य की तुलना ही की जा सकती है। जब यह निश्चित हो गया कि 'विश्वं सत्यम्'—इसका इन्द्रादि देवता की प्रशंसा में ही तात्पर्य है, धर्मादि की सत्यता-प्रतिपादन में नहीं, तब इसके द्वारा धर्मादि में भी मिथ्यात्व-साधक दृश्यत्वादि का बाध या पदावरोध नहीं किया जा सकता।

अथवा 'विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति का व्यावहारिक सत्ता के प्रतिपादन में ही तात्पर्य है। 'प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता निर्विवाद-सिद्ध है, अतः व्यावहारिक सत्ता का प्रतिपादन व्यर्थ या निष्प्रयोजन है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि परलोक-सत्ता विषयक विवाद की दशा में 'विश्वं सत्यम्'—यह श्रुति स्वर्ग नरकादि की सत्ता सिद्ध कर स्वर्ग-प्राप्त्यर्थ धर्म में प्रवृत्त तथा नरक-परिहारार्थ अधर्म से निवृत्त कराती है, यही उसका प्रयोजन या साफल्य है। व्यवहारिकत्व का अर्थ ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व ही होता है, केवल अबाध्यत्व नहीं, अन्यथा मिथ्यात्व-बोधक श्रुति से इसका विरोध हो जायगा। 'मिथ्या प्रपञ्च को एक क्षण के लिए भी सत्य कह देना भ्रान्ति को जन्म देना

अद्वैतसिद्धिः

तत् प्रातिभासिकम्, इदं तु व्यावहारिकमिति। ननु—मिथ्यात्वश्रुतेर्लक्षणया अखण्ड-चिन्मात्रपरत्वेन सत्त्वबोधनाद् अविरोधित्वमेव, न; अखण्डार्थबोधस्य द्वितीयाभाव-बुद्धिद्वारकत्वेन जगत्सत्यत्वविरोधित्वात्। न च प्रपञ्चसत्यत्वश्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्गः, अतत्त्वावेदकत्वस्यावान्तरतात्पर्यमादायेष्टत्वात्, परमतात्पर्येण तु तत्त्वावेदकत्वं सर्वश्रुतीनामपि समम्, प्रातिभासिकव्यावृत्तस्य व्यावहारिकस्य तद्वति तत्प्रकारक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है और 'विश्वं सत्यम्'—यह श्रुति तो कह रही हैं कि अनन्त काल तक यदि ब्रह्म ज्ञान नहीं होता, तब यह प्रपञ्च अनन्त काल तक सत्य बना रहेगा—ऐसा कहना तो एक दीर्घ या दृढ़ भ्रान्ति का जनक है, तब इस श्रुति को प्रमाण क्योंकर कहा जा सकेगा ? इस प्रश्न का सीधा उत्तर है कि स्वप्न-सत्यता-प्रतिपादक "समृद्धि तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने" (छां. ५।२।९) इत्यादि श्रुतियों के समान ही "विश्वं सत्यम्"—इसका भी प्रामाण्य बन जायगा। अन्तर केवल इतना ही है कि स्वाप्न पदार्थ प्रातिभासिक और विश्व-सत्यता व्यावहारिक है। [अर्थात् अवाधित अर्थ विषयक ज्ञान के साधन को प्रमाण कहा जाता है, अबाधित अर्थ तीन प्रकार का होता है—अत्यन्त अबाधित, व्यवहार काल में अबाधित तथा प्रतीति काल में अवाधित। ब्रह्म अत्यन्त अबाधित है, अतः उसके बोधक महावाक्य मुख्यरूप से प्रमाण होते हैं। व्यवहार कालाबाधित वस्तु के बोधक साधन को व्यवहारतः प्रमाण तथा प्रातीतिकार्थ-बोध-जनक को प्रतीतितः प्रमाण कहा जाता है, इसी आपेक्षिक प्रामाण्य को लेकर सर्वत्र प्रामाण्य-व्यवहार निभ जाता है]।

शङ्का—यह जो कहा गया कि विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति को अवाधितत्वरूप सत्त्व का बोधक मानने पर मिथ्यात्व-श्रुति से विरोध होगा, वह कहना उचित नहीं, क्योंकि "नेह नानस्ति किंचन"—यह मिथ्यात्व-श्रुति यदि प्रपञ्च को बाधित कहती, तब विरोध उपस्थित होता, किन्तु मिथ्यात्व-श्रुति का लक्षणा के द्वारा अखण्ड अद्वैत चिन्मात्र में तात्पर्य माना जाता है। फिर भी 'विश्वं सत्यम्'—के साथ उसका विरोध हो सकता था, यदि इसका सखण्ड सद्वैत ब्रह्म में तात्पर्य होता, किन्तु यह तो विश्व की सत्यता कह रही है, अतः किसी प्रकार भी विरोध नहीं होता।

समाधान—यह सत्य है कि "नेह नानास्ति किंचन" का तात्पर्य अखण्ड अद्वितीय ब्रह्ममें है। अद्वतीय का अर्थ होता है—द्वितीयसत्त्वाभावोपलक्षित ब्रह्म, इसमें उपलक्षणीभूत द्वितीयसत्त्वाभाव का द्वितीय-सत्त्व-प्रतिपादक 'विश्वं सत्यम्'—वाक्य के साथ सीधा विरोध है। 'विश्वं सत्यम्'—यह श्रुति यदि मिथ्यात्व-श्रुति से वाधित हो जाती है, तब इसमें अत्यन्त अप्रामाण्य प्रसक्त होगा'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इस श्रुति का विश्व-सत्यता में केवल अवान्तर तात्पर्य माना जाता है, परम तात्पर्य नहीं, अवान्तर तात्पर्य को लेकर यदि अतत्त्वावेदकत्वरूप अप्रामाण्य का आपादन किया जाता है, तो उसमें इष्टापत्ति है। हाँ, परम तात्पर्य तो सभी वेदान्त वाक्यों का विशुद्ध ब्रह्म में ही माना जाता है, अतः तत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्य सुस्थिर हो जाता है। अवान्तर तात्पर्य को लेकर भी व्यावहारिक प्रामाण्य विद्यमान है, क्योंकि 'प्रातिभासिकभिन्नत्वे सति तद्वति तत्प्रकारकत्वम्'—यही तो व्यावहारिक प्रामाण्य है, जिसका 'विश्वं सत्यम'—इस वाक्य में निराकरण नहीं किया जा सकता, अतः वह अव्याहत है।

अद्वैतसिद्धिः

स्वादिरूपस्य निराकर्तुमशक्यत्वात्, सांव्यावहारिकं प्रामाण्यमव्याहतमेव। 'असद्वा इदमग्र आसी'दित्यादिश्रुत्यनुरोधेनापि 'तत्सत्य'मित्यादिश्रुतिर्न ब्रह्मणि व्यावहारिकसत्त्वपरा, ब्रह्मणो व्यवहारातीतत्वात्, तस्यापरमार्थत्वेन च निरधिष्ठानतया शून्यवादापत्तेः, किंचित्तत्त्वमगृहीत्वा च बाधानुपपत्तेः। अत एव सत्यत्वश्रुतिविरोधेन मिथ्यात्वश्रुतिरेवान्यपरेत्यपि न, षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेतत्वेन मिथ्यात्वश्रुतेरनन्यपरतया प्रबलत्वाद्, वैदिकतात्पर्यविषयस्य च तात्त्विकत्वनियमेन तात्पर्यज्ञापकानामपि लिङ्गानामर्थतथात्व एव पर्यवसानात्। सत्त्वश्रुतिवाक्यस्थपदानां चान्यपरत्वान्न सत्त्वे तात्पर्यलिङ्गाशङ्का।

ननु—यदि सत्त्वश्रुतिः प्रत्यक्षप्राप्तार्थत्वान्न स्वार्थपरा, तर्हि मिथ्यात्वश्रुतिरपि तद्विरुद्धार्थत्वात् स्वार्थपरा न स्यात्, तत्प्राप्तितद्विरोधयोस्तात्पर्याभावहेत्वोरुभयत्रापि समत्वाद्—इति चेन्न, प्रत्यक्षापेक्षया चन्द्राधिकपरिमाणबोधकागमस्येव मिथ्यात्वबो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यह जो कहा जाता है कि यदि मिथ्यात्व-श्रुति से विरोध न हो, इस लिए 'विश्वं सत्यम्'—का केवल व्यावहारिक सत्यता के प्रतिपादन में तात्पर्य माना जाता है, तब 'असद्वा इदमग्र आसीत्'' (छां० ३।१९।१) इस निषेध वाक्य के विरोध से बचने के लिए लिए ''तत्सत्यम्'' (तै० उ० २।६) इस श्रुति का भी ब्रह्मगत व्यावहारिक सत्त्व के प्रतिपादन में तात्पर्य मानना होगा। वह कहना अनुचित है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म किसी भी शब्दात्मक, ज्ञानात्मक या क्रियात्मक व्यवहार का विषय ही नहीं, तब उसमें व्यावहारिक सत्त्व कैसे सम्भव होगा ? ब्रह्म को भी यदि व्यावहारिक मान लिया जाय, तब उसका अधिष्ठान कौन होगा ? निरधिष्ठान भ्रम मानने पर शून्यवाद की प्राप्ति होगी, क्योंकि किसी तत्त्व के ध्रुवीकरण के विना आरोपित का बाध नहीं किया जा सकता, शास्त्रदर्पणकार ने कहा है—

> वाधितोऽपह्नवो मानैर्व्यावहारिकमानता।
> मानानां तात्त्विकं किञ्चिद् वस्तु नाश्रित्य दुर्भणा ।। (शा. द. २।२।५)

अत एव प्रपञ्च-सत्यत्व-श्रुति के विरोध से अपनी रक्षा करने के लिए मिथ्यात्व-श्रुति अन्यार्थ परक है—यह कहना भी असंगत हो जाता है, क्योंकि षड्विध लिङ्गों से सनाथ होने के कारण प्रबल है, पर्वत की चट्टान है, इससे टकराने वाली वस्तु ही चूर-चूर हो जायगी, इसका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, फिर यह अपने केन्द्र से हटकर क्यों मार्गान्तर अपनाएगी ? वैदिक तात्पर्य-विषयक प्रमाण में तात्त्विकत्व नियत है, तात्पर्य-ग्राहक लिङ्गों का श्रौत अर्थ के तथात्व या अबाधितत्व में ही पर्यवसान होता है। 'विश्वं सत्यम्'—इस श्रुति के घटक सत्यादि पदों का तात्पर्य इन्द्रादि की स्तुति में ही हैं, विश्व-सत्यत्व में नहीं—यह सिद्ध किया जा चुका है।

शङ्का—यदि 'विश्वं सत्यम्'—यह श्रुति प्रत्यक्ष-प्राप्त-प्रापक मात्र होने के कारण स्वार्थ परक नहीं है, तब मिथ्यात्व-श्रुति भी 'विश्वं सत्यम्'—से वाधित होने के कारण स्वार्थ परक नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे अनुवादकता स्वार्थपरत्वाभाव का हेतु है, वैसे ही बाधितत्व भी।

समाधान—प्रबल के अनुरोध पर निर्बल में ही स्वार्थपरता का अभाव होता है, इसके विपरीत नहीं। जैसे 'प्रदेशमात्रे चन्द्रः'—इस प्रत्यक्ष से चन्द्रगत अधिक परिमाण-

न्यायामृतम्

श्रुतयः । यदि चाद्वैतवाक्यस्य निषेधवाक्यत्वात्प्राबल्यम्, तर्हि "क्विति च" इति वृद्धिसूत्रात् क्ङिति चेति तन्निषेधसूत्रस्याऽग्नीषोमीयवाक्यादहिंसावाक्यस्य षोडशिग्रहणवाक्यादग्रहणवाक्यस्य सत्यज्ञानादिवाक्यादसद्वा इत्यादिवाक्यस्य प्राबल्यापातेनाहिंसा पारमार्थिको धर्मः, अग्नीषोमीयहिंसा तु व्यावहारिको धर्म इत्यादि स्यात् ।

अद्वैतसिद्धिः

धकागमस्यापि बलवत्त्वेन प्रत्यक्षप्राप्तानुवादिसत्त्वश्रुत्यपेक्षयापि बलवत्त्वात्, (प्राप्तार्थाप्राप्तार्थयोर्विरोधे प्राप्तार्थस्याप्राप्तविध्यर्थत्वेनान्यशेषत्वनियमादप्राप्तार्थस्यैवानन्यशेषत्वेन बलवत्त्वात् ।) अन्यथोभयोरपि अप्रामाण्यापत्तेः । तदुक्तं संक्षेपशारीरके—'अतत्परा तत्परवेदवाक्यैर्विरुध्यमाना गुणवाद एवेति ।' अत एवानन्यशेषमिथ्यात्वश्रुतिविरोधात् न प्रत्यक्षागृहीतत्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्यत्वपरा जगत्सत्यत्वश्रुतिरित्युक्तम् । अद्वैतश्रुतेश्च प्राबल्ये निरवकाशत्वतात्पर्यवत्त्वादिकमेव प्रयोजकम्, न निषेधवाक्यत्वम् । एतेन—निषेधवाक्यत्वेन प्राबल्ये क्विति तद्धिते वृद्धिविधायकात् 'क्विति चे'ति सूत्रात् सामान्यतो गुणवृद्धिनिषेधकं 'क्ङिति चे'ति सूत्रं बलवत् स्याद्, अग्नीषोमीयवाक्यादहिंसावाक्यम्, षोडशिनो ग्रहणवाक्यादग्रहणवाक्यम्, 'सत्यं ज्ञानमनन्त'मित्यादिवाक्याद् 'असद्वा इदमग्र आसी'दित्यादिवाक्यं च बलवत् स्यादित्यपास्तम् । सामान्यविशेषभावा-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

बोधक आगम प्रबल होता है, वैसे ही मिथ्यात्व-बोधक श्रुति प्रबल है, प्रत्यक्षावगत प्रपञ्च-सत्त्वानुवादक विश्वसत्यत्व-श्रुति की अपेक्षा बलवती है, अन्यथा दोनों सुन्दोपसुन्द के समान परस्पर टकराकर अपने प्रामाण्य-प्राण से हाथ धो बैठेगीं, संक्षेप शारीरक में वही कहा गया है—

> भेदश्रुतिस्त्वन्यपरा समस्ता, समस्तवेदेषु न तत्परासौ ।
> अतत्परा तत्परवेदवाक्यैः, विरुध्यमाना गुणवाद एव ॥ (सं. शा. ३।२८४)

अर्थात् समस्त वेदों में सभी भेद-बोधक श्रुतियाँ स्वार्थपरक नहीं होती । स्वार्थ में जिनका तात्पर्य नहीं—ऐसे वाक्यों को स्वार्थपरक अद्वैत-श्रुतियों से विरुद्ध होने के कारण गुणवाद (स्तुतिपरक) ही माना जाता हैं । अत एव स्वार्थ-तात्पर्यवती प्रबल मिथ्यात्वश्रुति का विरोध देखकर 'विश्वं सत्यम्'—यह श्रुति प्रत्यक्षागृहीत पारमार्थिक सत्त्व की बोधिका नहीं मानी जा सकती—यह कहा जा चुका है । 'एकमेवाद्वितीयम्'—इत्यादि जगन्मिथ्यात्व-बोधक अद्वैत श्रुतियों की प्रबलता का कारण निरवकाशत्व तथा स्वार्थ परत्वादि ही है, निषेध वाक्यत्व नहीं । अत एव जो लोग कहा करते हैं कि निषेध वाक्यत्व को प्रबलता का प्रयोजक मानने पर वृद्धि-विधायक "क्विति च" (पा. सू. १।२।११८) इस सूत्र की अपेक्षा सामान्यतः गुण और वृद्धि का निषेधक "क्ङिति च" (पा. सू. १।१।५) यह सूत्र, अग्नीषोमीय वाक्य की अपेक्षा 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'—यह वाक्य, षोडशि-ग्रहणवाक्य की अपेक्षा नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'— यह वाक्य तथा सत्यं ज्ञानम्—इस वाक्य की अपेक्षा 'असद्वा इदमग्र आसीद्—यह वाक्य प्रबल हो जायगा । उन का वह कहना इसी लिए निरस्त हो जाता है कि निषेध वाक्यत्व को हम प्रबलता का प्रयोजक नहीं मानते, अपितु सावकाशत्व को निर्बलता और निरवकाशत्व को प्रबलता का प्रयोजक मानते हैं. सामान्य निसर्गतः दुर्बल तथा विशेष

न्यायामृतम्

प्रत्यक्षप्राबल्यप्रस्तावे उक्तप्रकारेणाऽद्वैतवाक्याद् द्वैतवाक्यस्यानुपसञ्जातविरोधित्व-शीघ्रगामित्वविशेषविषयत्वनिरवकाशत्वादिना प्राबल्याच्च। न च स्मृतिसूत्रे शून्य-वादिनिरासार्थे तन्मते जगतोऽत्यन्तासत्वात्, मन्मते असद्विलक्षणत्वादिति वाच्यम्, अर्थक्रियाकारित्वादिना शशशृङ्गादिवैलक्षण्यस्य तन्मतेऽपि सत्वात् प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वेन तद्वैलक्षण्यस्य त्वन्मतेऽप्यभावात्। सूत्रे स्वप्नवैलक्षण्योक्त्ययो-गाच्च। व्यावहारिकसत्त्वेन स्वप्नवैलक्षण्यस्य तन्मतेऽपि सत्त्वात्।

अद्वैतसिद्धिः

दिना सावकाशत्वनिरवकाशत्वादिरूपबलवैपरीत्यात्, 'विश्वं सत्य' मित्यादेस्तु व्यावहारिकसत्त्वविषयतया अन्यशेषतया च सावकाशत्वादेः प्रागुक्तत्वात्। तस्मान्न सत्त्वश्रुतिविरोधः। नापि

'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ॥ (गी० १६।८-९)

इत्यादिस्मृतिविरोधः, सद्विविक्तत्ववादिनो मम जगत्यसद्वैलक्षण्याङ्गीकारेण तत्प्रतिपादकस्मृतिविरोधाभावात्। ननु—'नाभाव उपलब्धेः' 'वैधर्म्याच्च न स्वप्ना-दिव'दिति सूत्रद्वयेन जगतः पारमार्थिकसत्त्वबोधनेन विरोधः, न चानेन शून्यवादि-निरासार्थेनासद्वैलक्षण्यमात्रप्रतिपादनान्न विरोधः, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणस्यासद्वैलक्ष-ण्यस्य शून्यवादिमतेऽपि सत्त्वेन तन्मतनिरासार्थत्वानुपपत्तेः, निषेधाप्रतियो-गित्वरूपस्यासद्वैलक्षण्यस्य त्वयाप्यनङ्गीकाराद्, असद्वैलक्षण्यमात्रस्य साधने सूत्रे स्वप्नवैलक्षण्योक्त्ययोगाच्च, व्यावहारिकसत्यत्वमात्रेण स्वप्नवैलक्षण्यस्य त्वयाप्यङ्गी-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रबल होता है, किन्तु सामान्य यदि निरवकाश है, तब प्रबल तथा विशेष यदि सावकाश है, तब दुर्बल होता है। 'विश्वं सत्यम्'—इत्यादि वाक्य व्यावहारिक सत्यता तथा अन्यपरता को लेकर सावकाश हैं—यह पहले कहा जा चुका है। इस लिए प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधन का न तो 'वश्वं सत्यम्'—इस वाक्य से कोई विरोध है और न "असत्यमप्रतिष्ठं ते"—इत्यादि स्मृति-वाक्यों से, क्योंकि इन स्मृति-वाक्यों में उनकी निन्दा की गई है, जो कि प्रपञ्च को असत् मानते हैं, किन्तु हम तो प्रपञ्च को असत् नहीं असत् से भिन्न अनिर्वचनीय मानते है।

"नाभाव उपलब्धेः" तथा "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्"—इन दोनों सूत्रों के साथ भी मिथ्यात्वानुमान का कोई विरोध नहीं, क्योंकि इन सूत्रों के द्वारा जगत् का अत्यन्त अभाव माननेवाले शून्यवादियों का निराकरण किया गया है और हम जगत् को अत्यन्त असत् नहीं, व्यवहारतः सत्य ही मानते हैं।

शङ्का—कथित सूत्र शून्यवाद का निराकरण करते हैं, क्योंकि शून्यवादी प्रपञ्च को अत्यन्त असत् मानते हैं, किन्तु अद्वैत वेदान्त प्रपञ्च को असत् से भिन्न मानता है—ऐसा आप अद्वैत वेदान्तियों को कहना शोभा नहीं देता, क्योंकि शून्यवादी भी प्रपञ्च को असत् से विलक्षण मानते हैं, अतः शून्यवाद का भी इन सूत्रों से निराकरण नहीं हो सकता। निषेधाप्रतियोगित्वरूप असद्वैलक्षण्य न आप मानते हैं और न शून्यवादी। इन सूत्रों के द्वारा असद्वैलक्षण्य मात्र की सिद्धि करने पर स्वप्न के वैधर्म्य या वैलक्षण्य का प्रतिपादन असंगत भी हो जाता है, क्योंकि जैसे आप प्रपञ्च में व्यावहारिक सत्ता

न्यायामृतम्

द्वे सत्त्वे समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोके संवृतिसत्यत्वं सत्त्वं च परमार्थतः॥
सत्त्वं तु द्विविधं प्रोक्तं सांवृतं पारमार्थिकम्।
सांवृतं व्यावहार्यं स्यान्निवृत्तौ पारमार्थिकम्॥

इति बौद्धोक्तेः। तस्माच्छ्रुत्यादिबाधो दुर्वारः।

किं च त्वयापि तत्तत्प्रमाणसिद्धा पदार्थाः पक्षीकर्तव्याः। तैश्च ते सत्त्वेनैव सिद्धा इति तत्तन्मानबाधः। अग्निरासीद् वृष्टिर्भविष्यति रूप्यं मिथ्येत्यादिधीरपि स्वविषयसत्त्वं गृह्णाति, अन्यथा तदुचितप्रवृत्त्याद्ययोगादिति।

विश्वमिथ्यात्वस्यागमादिबाधः।

अद्वैतसिद्धिः

कारात्, असद्वैलक्षण्यमात्रस्य तन्मतेऽपि सत्वाच्च, तदुक्तं बौद्धैः—'द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना' इति—चेन्न, सूत्रार्थानवबोधात्। तथा हि—सद्रूपाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य सर्वमसदित्यनुमानेन विरोधसन्देहे 'न सन्नासन्न सदसन् न चानुभयतत्त्वकम्। विमतं तर्कपीडयत्वान्मरीचिषु यथोदकम्॥' इति ब्रह्मसाधारण्यान्निस्तत्त्वतायां प्राप्तायां सूत्रेण परिहारः। सतो ब्रह्मणो नाभावः न शून्यत्वम्, उपलब्धेः सत्त्वेन प्रामाणात् प्रतीतेः। तथा च किञ्चित्परमार्थसदवश्यं शून्यवादिनापि स्वीकार्यम्, अन्यथा बाधस्य निरवधिकत्वप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः। स च न प्रपञ्चमिथ्यात्वविरोधी। तथा चोक्तं—

'बाधितोऽपह्नवो मानैः व्यावहारिकमानता।
मानानां तात्त्विकं किंचिद् वस्तु नाश्रित्य दुर्भणा॥' इति।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मानकर स्वप्न-वैलक्षण्य मानते हैं, उसी प्रकार शून्य वादी भी सांवृतिक सत्ता मानकर असद्वैलक्षण्य का उपपादन करते हैं, आचार्य नागार्जुन ने स्पष्ट कहा है—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं सत्यं च परमार्थः॥ (मा. शा. पृ. २१५)

अर्थात् पारमार्थिक तथा सांवृतिक—दो प्रकार की सत्ताओं को मान कर भगवान् बुद्ध ने धर्मोपदेश किया है।

अद्वैतवादी—उक्त सूत्रों का अर्थ आप द्वैतवादी नहीं समझ पाये हैं, क्योंकि शास्त्र-दर्पण में श्रीस्वामी अमलानन्द सरस्वती ने कहा है—प्रथम समन्वयाध्याय में सद्रूप ब्रह्म से जगत्सृष्टि का उपपादन देख कर सन्देह हो गया कि "सर्वमसत् तर्कपीडयत्वात्—इस अनुमान से पूर्वोपपादन विरुद्ध है, अथवा नहीं ? इस पर पूर्वपक्ष किया गया—'विवादास्पद प्रपञ्च को सत्, असत्, सदसत् तथा अनुभय कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी पक्ष तर्क से बाधित हैं, जैसे—मरुमरीचि में जल। अतः ब्रह्म से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त सब कुछ निस्तत्त्व है'—इस पूर्व पक्ष का परिहार करते हुए कहा है—"नाभाव उपलब्धेः" अर्थात् ब्रह्म का अभाव (शून्यत्व) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रमाणों के आधार पर उसकी उपलब्धि होती है, अतः शून्यवादी को भी कोई एक तत्त्व परमार्थ सत् अवश्य मानना होगा, नहीं तो सभी प्रपञ्च के बाध

अद्वैतसिद्धिः

नापि स्वप्नवैधर्म्योक्त्ययोगः, तस्याः 'विमतं निस्तत्त्वं तर्कपीड्यत्वात् मरुमरीचिकाजलव'दित्यनुमाने बाध्यत्वप्रमाणाग गम्यत्वदोषजन्यत्वाद्युपाधिप्रदर्शनपरत्वात् विज्ञानवादनिराकरणपरेणापि नानेन सूत्रेण विरोधः। रूपादिरहितब्रह्मजगदुपादानत्वप्रतिपादकसमन्वयस्य नीलाद्याकारं विज्ञानं साधयता अनुमानेन विरोधसन्देहे—

'स्वप्नधीसाम्यतो बुद्धेर्बुध्या ऽर्थस्य सहेक्षणात्।
तद्भेदेनानिरूप्यत्वात् ज्ञानाकारोऽर्थ इष्यताम्॥

विमता धीः, न ज्ञानव्यतिरिक्तालम्बना, धीत्वात्, स्वप्नधीवत्। विपक्षे च ज्ञानाभानेऽप्यर्थभानप्रसङ्गो बाधकः। नहि भिन्नयोरश्वमहिषयोः सहोपलम्भनियमोऽस्ति। तस्मान्न ज्ञानातिरिक्तं सदिति प्राप्ते परिहारसूत्रम् 'नाभाव उपलब्धे'रित्यादि।

'बाधेन सोपाधिकतानुमाने उपाद्यभावेन सहोपलम्भः।
सारूप्यतो बुद्धितदर्थभेदस्थूलार्थभङ्गो भवतोऽपि तुल्यः॥'

सूत्रार्थस्तु नाभावः—ज्ञानातिरिक्तस्यार्थस्य नासत्वम्, किंतु व्यवहारदशाबाध्यार्थक्रियाकारित्व रूपं सत्त्वमेव। उपलब्धेः—ज्ञानातिरेकेण प्रमाणैरुपलब्धेः। स्वप्नवैधर्म्योक्तिः बाध्यत्वाद्युपाधिप्रदर्शनाय। तेन बाधात् सोपाधिकत्वाच्च पूर्वानुमानं दुष्टमित्यर्थः। तस्मान्नैवमपि विरोधशङ्काः। तदुक्तं तस्मान्न ज्ञानाकारोऽर्थः, किंतु

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

की अवधि क्या होगी? बाध-धारा की विश्रान्ति कहाँ होगी? अर्थात् अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा (सर्वापह्नव) समस्त प्रपञ्च का बाध एवं बाधक प्रमाणों की व्यावहारिक मानता तब तक सिद्ध नहीं की जा सकती, जब तक कोई एक वस्तु तात्त्विक न मान ली जाय। इसी प्रकार स्वप्न-वैधर्म्य-कथन भी असंगत नहीं, क्योंकि उसके द्वारा 'विमतं निस्तत्त्वम्, तर्कपीड्यत्वात्'—इस अनुमान में बाध्यत्व, प्रामाणागम्यत्व या दोष-जन्यत्व की उपाधि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यदि "नाभाव उपलब्धेः", 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'—इन सूत्रों का विज्ञान-वाद के निराकरण में तात्पर्य माना जाता है, तब भी कोई असंगति नहीं होती, क्योंकि समन्वयाध्याय में प्रतिपादित नीरूप ब्रह्म की उपादानता पर जब कटाक्ष करते हुए कहा गया कि 'घटादि प्रपञ्चो ज्ञानाकारः, सहोपलम्भात्, स्वाप्नार्थवत्।' या 'विमतं ज्ञानं न स्वव्यतिरिक्तार्थविषयकम्, ज्ञानत्वात्, स्वाप्नज्ञानवत्।' यदि घटादि ज्ञान के आकार नहीं, तब ज्ञान का भाव न होने पर भी उनका भान होना चाहिए—इस प्रकार की तर्क से विपक्ष का बाध किया जाता है, क्योंकि जो पदार्थ अश्व-महिष के समान परस्पर भिन्न होते हैं, उनका सहोपलम्भ नहीं होता, अतः ज्ञान से भिन्न कुछ भी सत् नहीं। इस प्रकार के योगाचारोक्त कटाक्ष का परिमार्जन करते हुए सूत्रकार ने कहा—"नाभाव उपलब्धेः"। अर्थात् ज्ञान-व्यतिरिक्त घटादि पदार्थों का अभाव नहीं हो सकता, अपि तु व्यवहार काल में अबाध्य अर्थक्रिया की जनकता होने से सत्त्व ही मानना हो गया, क्योंकि प्रमाणों के द्वारा उनकी ज्ञान से भिन्न उपलब्धि होती है। स्वप्न-वैधर्म्योक्ति पूर्वोक्त अनुमान में बाध्यत्वादि उपाधियों के प्रदर्शनार्थ ही है। अतः विज्ञानाकारता साधक अनुमान बाधित तथा सोपाधिक होने के कारण अत्यन्त दुष्ट है। यही शास्त्रदर्पण में कहा है—"तस्मान्न ज्ञानाकारोऽर्थः

अद्वैतसिद्धिः

बाह्यः, स चार्थक्रियाकारित्वसत्त्वोपेतोऽपि अद्वैतश्रुतिवशाद् ब्रह्मणि कल्पितो न परमार्थसन्निति सिद्धान्तस्य सुगतमताद्भेद इति। उक्तं चात्मतत्त्वविवेके—

'न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्ति-
स्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्रीः।
नो चेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वं
तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः॥' इति।

धर्मिग्राहकमानबाधश्च प्रागेव परिहृत इति शिवम् ॥

इति विश्वमिथ्यात्वस्यागमादिबाधोद्धारः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

किन्तु बाह्यः, स चार्थक्रियाकरित्वसत्त्वोपेतोऽपि अद्वैतश्रुतिवशाद् ब्रह्मणि कल्पितो न परमार्थसन्निति न सिद्धान्तस्य सुगतमतादभेदः।" अर्थात् घटादि पदार्थ ज्ञान के आकार नहीं, वे अर्थक्रिया कारित्वरूप सत्त्व से युक्त होने पर भी अद्वैत-श्रुति-सिद्ध ब्रह्म में कल्पित हैं, परमार्थ सत् नहीं—यह अद्वैत वेदान्त का बौद्ध-मत से अन्तर है। ऐसा ही आत्मतत्त्वविवेक (पृ. २३०) में भी कहा गया है—

"न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिस्तद्बाधने बलिनि वेदनये जयश्रीः।
नो चेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वं तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः॥"

अर्थात् ज्ञान श्री ने जो यह कहा है कि—

"नाकारभेदवधूय धियोऽस्ति वृत्तिस्तद्बाधने बलिनि मध्यनये जयश्री।
नो चेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वं चेतो निराकृतिमतस्य तु कोऽवकाशः॥"

अर्थात् अपने आकार को छोड़ कर अन्यत्र ज्ञानों की प्रवृत्ति (विषयता) नहीं होती। यदि अर्थ के अत्यन्त बाधक प्रमाण की प्रबलता को स्वीकार कर लिया जाता है, तब भी विजयश्री का मुकुट माध्यमिक-शून्यवाद के उन्नत मस्तक को अलङ्कृत करेगा, चित् (ज्ञान) निराकारवादी मीमांसकों के हाथ पराजय को छोड़ कर और कुछ नहीं लगता।' योगाचार की इस चुनौती का सामना करते हुए आचार्य उदयन ने कहा है कि 'जब तक ग्राहक (ज्ञान) से ग्राह्य (विषय) का भेद नहीं माना जाता, तब तक ज्ञानों का ग्राह्य के साथ (वृत्ति) सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। घटादि ग्राह्य प्रपञ्च के बाधक प्रमाणों का सिक्का जम जाने पर विजय-वैजयन्ती (वेद-नय) वेदान्त-मत के हाथ आती है, नहीं तो ग्राह्य-ग्राहक रूप में व्यवस्थित इस विश्व को अनिन्द-नीयरूप में जैसा-का-तैसा स्वीकार करना होगा, तथागत-मत को इस में हस्त-क्षेप करने का कोई अवसर नहीं मिलता।' शून्यवाद या विज्ञानवाद के द्वारा उद्भावित मिथ्यात्वानुमानों का धर्मि-ग्राहक प्रमाण से बाध पहले ही (पृ० ११९ पर) निराकृत किया जा चुका है।

: १० :

असतः साधकत्वविचारः

न्यायामृतम्

किं चैतैरेव प्रयोगैः स्वप्रतिज्ञाहेतूदाहरणादिप्रापितानां साध्यसाधनव्याप्त्यादीनां मिथ्यात्वं न बोध्यते चेत् , सर्वमिथ्यात्वासिद्धिः, बोध्यते चेत्परस्परव्याहतिः, बाधस्वरूणसिद्धिव्याप्यत्वासिद्ध्यादिकं च स्यात् । परमार्थसत्त्वस्यैव साधकत्वे

अद्वैतसिद्धिः

ननु—सत्त्वसाधकानां मिथ्यात्वसाधकानुमानेभ्यः प्राबल्यम् , मिथ्यात्वसाधकप्रतिज्ञाद्युपनीतपक्षादीनां मिथ्यात्वाबोधने सर्वमिथ्यात्वासिद्धिः, तद्बोधने परस्परव्याहतिराश्रयासिद्ध्यादिकं चेति—चेन्न, मिथ्यात्वसाधकप्रतिज्ञाद्युपनीतपक्षादीनां मिथ्यात्वबोधनेऽपि व्याहत्यभावात् , प्रतिज्ञादिभिस्तेषां त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वाप्रतिपादनात् । ननु—साधकत्वान्यथानुपपत्त्या परमार्थसत्त्वमायाति, परमार्थसत एव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधक अनुमान की अपेक्षा प्रपञ्च-सत्यत्व-साधक प्रमाण प्रबल हैं, क्योंकि मिथ्यात्व-साधक अनुमान अपने प्रतिज्ञादि के द्वारा उपस्थापित पक्षादि में मिथ्यात्व सिद्ध करता है ? अथवा नहीं ? यदि नहीं, तब समग्र प्रपञ्च में आप का अभीष्ट मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता और यदि उनमें भी मिथ्यात्व सिद्ध करता है, तब परस्पर विरोध होता है, क्योंकि प्रतिज्ञादि वाक्य अपने प्रतिपाद्य पक्षादि में सत्यत्व-बोधन करते हैं और अनुमान उनमें मिथ्यात्व । इसी प्रकार पक्षादि के असत् हो जाने पर अनुमान में आश्रयासिद्धि—आदि दोष भी प्राप्त होते हैं ।

अद्वैतवादी—मिथ्यात्व-साधक प्रतिज्ञादि यदि अपने प्रतिपाद्य पक्षादि में सत्यत्व सिद्ध करते और अनुमान उनमें मिथ्यात्व, तब अवश्य परस्पर व्याघात होता, किन्तु प्रतिज्ञादि वाक्य अपने प्रतिपाद्यभूत पक्षादि में त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्यत्व सिद्ध नहीं करते । [यद्यपि प्रतिज्ञादि तीन या पाँच अवयव मिलकर व्याप्ति-ज्ञानरूप अनुमान प्रमाण को जन्म देते हैं, प्रतिज्ञादि वाक्य स्वयं शब्द प्रमाण के रूप में पक्षादि के ज्ञान को पैदा करते हैं । मीमांसक-मर्यादा के अनुसार ज्ञानमात्र को स्वतः प्रमाण या अबाधितविषयक माना जाता है, इस प्रकार प्रतिज्ञादि वाक्य अपने शाब्द ज्ञान के माध्यम से पक्षादि में अबाधितत्व और अनुमान प्रमाण के माध्यम से पक्षादि में बाधितत्वरूप मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं, अतः प्रतिज्ञादि में स्व-व्याघातकत्व ही कहना चाहिए, परस्पर-व्याघातकत्व नहीं । तथापि "पिता वै जायते पुत्रः" के अनुसार पिता-पुत्र के व्याघात में स्व-व्याघातकत्व रहने पर भी इतना धूमिल या नगण्य-सा हो गया कि न्यायामृतकार ने परस्पर-व्याहति का ही आरोप किया था, वस्तुतः पूर्व प्रवाहित आगम-विरोध-धारा की ही यह एक उपधारा है कि प्रतिज्ञादि वाक्यों से मिथ्यात्वानुमान का विरोध दिखाया गया, अतः परस्पर-व्याहति कहना समयोचित है । यहां सारस्वत प्रवाह में उसी के प्रतिबिम्बन की प्रतिक्रिया में यह स्मरण दिला दिया गया कि प्रतिज्ञादि वाक्य रूप व्यावहारिक प्रमाणों के द्वारा पक्षादि में व्यवहार-कालाबाधितत्व मात्र उपनीत होता है, त्रिकालाबाधितत्व नहीं, इतने मात्र से प्रमाणता स्वतः प्रमाणता का निर्वाह हो जाता है एवं आश्रयासिद्धि आदि दोष भी प्रसक्त नहीं होते] ।

द्वैतवादी—अर्थापत्ति प्रमाण से पक्षादि में परमार्थ सत्त्व सिद्ध होता है—पक्षादि

न्यायामृतम्

तंत्रत्वात् । तथा हि न तावद्धीमात्रं तत्र तन्त्रम्, तुच्छस्यापि तत्प्रसंगात् । नाप्यपरोक्षधीः, अपरोक्षसत्त्वधीर्वा तन्त्रम्, नित्यातीन्द्रिये तदभावात् । हृदे प्रपंचे चापरोक्षभ्रांतिसिद्धेन धूमेनात्यंताबाधेन च वह्नेः पारमार्थिकसत्त्वस्य चासिद्धेश्च । वह्नित्वेनाज्ञातस्यापि वह्नेर्दाहकत्वाच्च । अमृतत्वेन ज्ञातस्यापि विषस्यासंजीवकत्वाच्च । अत एव न त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधिता सत्त्वधीस्तंत्रम्, गौरोऽहं नीलं नभ इत्यादि भ्रांतिसिद्धेन

अद्वैतसिद्धिः

साधकत्वात्, साधकतायाः प्राक्सत्त्वघटितत्वात्, न तु धीमात्रविषयत्वम्, अपरोक्षधीविषयत्वम्, सत्त्वेन तादृशधीविषयत्वं वा साधकताप्रयोजकम्, तुच्छे नित्यातीन्द्रिये चातिव्याप्त्यव्याप्तिभ्याम् । तत्त्वेन ज्ञानमपि न तत्र प्रयोजकम्, वह्नित्वेनाज्ञातेऽपि वह्नौ दाहकत्वदर्शनाद्, वह्नित्वेन ज्ञातेऽपि गुञ्जापुञ्जे तददर्शनाच्च । नापि त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधितासत्त्वप्रतीतिस्तन्त्रम्, आत्मनो गौरत्वेनानित्यत्वस्य नभसो नैल्येन स्पर्शवत्त्वस्य चापत्तेः, 'गौरोऽहं नीलं नभ' इत्यादिप्रतीतावपि त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधाद्, यौक्तिक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में परमार्थ सत्त्व के बिना साध्य-साधकत्व अनुपपन्न है, अतः वह परमार्थ सत्त्व का आपादक होता है । लोक में परमार्थ सत् पदार्थ ही कार्य का साधक देखा जाता है । कारणता का लक्षण होता है—नियतप्राक्कालसत्त्वे सत्यन्यथासिद्धिशून्यत्वम्, अतः प्राक्कालसत्त्व ही कारणता का घटक होता है, प्रतीति मात्र-विषयत्व, अपरोक्ष ज्ञान विषयत्व अथवा सत्त्वेन अपरोक्ष ज्ञान के विषयत्व को साधकता का प्रयोजक नहीं माना जा सकता, क्योंकि-विषयत्व शशशृङ्गादि तुच्छ पदार्थों में अतिव्याप्त है, उसकी व्यावृत्ति के लिए अपरोक्ष ज्ञान-विषयत्व या सत्त्वेन अपरोक्ष ज्ञान-विषयत्व को साधकता का नियामक मानने पर धर्माधर्मादि नित्य अतीन्द्रिय पदार्थों में अव्याप्ति हो जाती है । यदि कहा जाय की मीमांसक-मत-सिद्ध याग, दानादि क्रियाओं में प्रत्यक्ष धर्मतारूप सामान्यलक्षणा के द्वारा निखिल धर्मों का ज्ञान हो जाता है, अतः तद्रूपत्वेन ज्ञात पदार्थ को साधक माना जा सकता है । तो वह भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह्नित्वेन अज्ञात वह्नि में भी दाह पाकादि की साधकता अनुभूत है और वह्नित्वेन ज्ञात गुञ्जा-राशि में दाहादि की साधकता नहीं देखी जाती । तीन-चार वार किसी वस्तु का ज्ञान हो गया और विषय वस्तु बाधित नहीं हुई—इतने मात्र से उस ज्ञान को प्रमाण और उसके विषय को अर्थक्रियाकारी माना जाता है, जैसे कि श्री कुमारिलभट्ट ने कहा है—

> एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः ।
> प्रार्थ्यते तावदेवैकं स्वतः प्रामाण्यमश्नुते ।। (श्लो० वा० पृ० ६४)

अतः तीन-चार कक्षाओं में अनुगत तद्रूपत्वेन वस्तु का ज्ञान साधकता का प्रयोजक है—यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि 'अहं गौरः', 'नीलं नभः'—इत्यादि प्रतीतियाँ भी हैं, अतः उक्त प्रतीतियों के आधार पर आत्मा में गौर रूप तथा रूपवत्ता के कारण (आत्मा अनित्यः, अनित्यरूपवत्त्वात्'—इस अनुमान से सिद्ध) अनित्यता, इसी प्रकार आकाश में नीलरूप तथा नीलरूपाव्यभिचरित स्पर्श भी मानना पड़ेगा । यदि कहा जाय कि 'आत्माकाशौ न रूपवन्तौ विभुत्वात्, कालादिवत्'—इस प्रकार की युक्ति (अनुमान) के द्वारा आत्मा और आकाश में रूपवत्ता का बाध होता है । तब तो अद्वैत-मत में भी उस प्रकार का यौक्तिक बाध दिखाया जा सकता है, क्योंकि प्रपञ्च में सत्त्व-ज्ञान को अद्वैती भी अनुमान-बाधित ही मानते हैं ।

न्यायामृतम्

गौरत्वनीलत्वादिना आत्माकाशादेरपि अनित्यत्वस्पर्शवत्त्वाद्यापाताच्च। गौरोऽहमित्यादावपि तत्कक्ष्यासु प्रत्यक्षाबाधात्। यौक्तिकादिबाधस्य च त्वन्मते प्रकृतेऽपि भावात्। एतेन लोकप्रसिद्धिस्तंत्रमितीष्टसिद्ध्युक्तं निरस्तम्, एतेनैव त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधिता वादिप्रतिवादिप्राश्निकानां सत्त्वधीस्तंत्रमिति निरस्तम्। निपुणेन बौद्धेनोक्तधीविषयभ्रान्त्यादिमत्त्वेन व्युत्पादितैः शून्याद्वैतादिहेतुभिस्तत्सिद्ध्यापातात्। एतेनैव यादृश्या

अद्वैतसिद्धिः

बाधस्य त्वन्मते प्रकृतेऽपि भावादिति—चेन्न, यादृश्या बुद्ध्या तव नभोनैल्यादिधीव्यावृत्तया घटादौ सत्त्वसिद्धिः, तादृग्बुद्धिविषयत्वस्यैव साधकत्वे तन्त्रत्वात्। अत एव लोकप्रसिद्धिस्तन्त्रमितीष्टसिद्ध्युक्तमप्युक्ताभिप्रायेण सम्यगेव। एवं त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधिता वादिप्रतिवादिप्राश्निकादीनां सत्त्वबुद्धिस्तन्त्रमित्युपपन्नमेव। गुञ्जापुञ्जस्य वह्नित्वे आत्मनो गौरत्वे नभसो नीलत्वे च तादृग्बुद्धिविषयत्वस्य तवाप्यसंप्रतिपत्तेः, अन्यथा तेषामपि तत्र सत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्।

अथ—यादृश्या शब्दे क्लृप्तदोषरहितया बुद्ध्या तव ब्रह्मणि सत्त्वसिद्धिः तादृश्या प्रत्यक्षे क्लृप्तदोषरहितया मम जगति सत्त्वसिद्धिरस्तु साधकतुल्यत्वादिति—चेन्न, ब्रह्मसत्त्वबुद्धिवद् जगत्सत्त्वबुद्धेरबाधितत्वाभावात्, त्रिकालाबाध्यत्वरूपस्य सत्त्वस्य प्रत्यक्षाविषयताया उक्तत्वाच्च। न च—बुद्धिविषयत्वस्य तन्त्रत्वे वह्नित्वेना-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अद्वैतवादी—'नीलं नभः'—इत्यादि प्रातिभासिक प्रतीति से भिन्न जैसी 'घटः सन्'—इत्यादि व्यावहारिक बुद्धि के द्वारा आप (द्वैतवादी) घटादि में सत्त्व सिद्ध करते हैं, वैसी ही व्यावहारिक बुद्धि की विषयता को हम कार्य-साधकता का प्रयोजक मानते हैं, अत एव आचार्य श्री विमुक्तात्मा ने कहा है—"लोकप्रसिद्धिरपि तन्त्रम्"- (इष्ट० पृ०)। आचार्य श्री हर्ष ने भी यही कहा है—"यादृश्या हि धियाः त्रि चतुरकक्षा बाधानवबोधविश्रान्तया वस्तुसत्त्वनिश्चयस्ते, तादृश्यैव विषयीकृतस्य ममापि कारणतानिश्चयः" (खण्ड० पृ० ७१)। अतः तीन-चार कक्षा तक वादी, प्रतिवादी और मध्यस्थ की अबाधितार्थ विषयक बुद्धि को ही साधकता का नियामक मानना युक्ति-युक्त है। गुञ्जा-राशि में वह्नित्व, आत्मा में गौरता तथा आकाश में नीलता का ज्ञान वैसा नहीं—यह आप भी मानते हैं, अन्यथा उनकी भी घटादि के समान सत्ता सिद्ध हो जायगी।

द्वैतवादी—आप की जैसी श्रुतियों में निर्दोष बुद्धि के द्वारा ब्रह्म की सत्ता सिद्ध होती है, वैसी ही प्रत्यक्ष में हमारी निर्दोष बुद्धि के द्वारा जगत् की सत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि दोनों के साधक प्रमाण तुल्य क्षमता रखते हैं।

अद्वैतवादी—ब्रह्म में सत्त्व-बुद्धि के समान जगत् में सत्त्व-बुद्धि अबाधित नहीं होती, क्योंकि त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं—यह कहा जा चुका है। श्रुति ब्रह्म में त्रिकालाबाध्यत्वरूप पारमार्थिक सत्त्व की सिद्धि करती है किन्तु सन् घटः'—इत्यादि प्रत्यक्ष प्रपञ्च में केवल व्यवहार-कालाबाध्यत्वरूप व्यावहारिक सत्त्व, अतः दोनों साधक प्रमाणों की एक जैसी क्षमता नहीं।

द्वैतवादी—आपका जो यह कहना है कि प्रपञ्च सत् नहीं, अपितु सद्रूपेण वैसे ही ज्ञात है, जैसे शुक्ति, रजत नहीं रजतरूपेण ज्ञात है। अत एव उसमें साधकता होती है

न्यायामृतम्

तव सत्त्वसिद्धिस्तादृशी धीर्मम तंत्रमिति खंडनोक्तं निरस्तम्, यादृश्या शब्दे क्लृप्तदोषहानया तव ब्रह्मणि सत्त्वसिद्धस्तादृश्या प्रत्यक्षे क्लृप्तदोषरहितया मम जगति सत्त्वसिद्धेः। अन्यथा शुक्तिरूप्यादिप्रत्यक्षदृष्टान्तेन जगत्प्रत्यक्ष इव पूर्वपक्षिप्रतिपन्न-श्रुत्यर्थदृष्टान्तेन त्वत्प्रतिपन्नेऽपि श्रुत्यर्थे दोषान्तरशंका कालान्तरभाविबाधशंका च स्यात्। नापि परप्रसिद्धं सत्त्वं तन्त्रम्, तेन स्वार्थानुमानायोगात्। परार्थप्रयोगस्य च तत्पूर्वकत्वात्। परप्रसिद्धमात्रेण हेतुना वास्तवसाध्यासिद्धेश्च। न च मिथ्यात्वमपि परीत्यैव न तु वास्तवमिति वाच्यम्, बौद्धरीत्या मिथ्याभूतस्यात्मन इव जगतो वस्तुतस्सत्त्वापातात्। मिथ्यात्वस्य तत्त्वावेदकश्रुतिवेद्यत्वाच्च। तदुक्तं वार्तिके बौद्धं प्रति—

योऽपि तावत्परासिद्धः स्वयं सिद्धोऽभिधीयते।
भवेत्तत्र प्रतीकारः स्वतोऽसिद्धे तु का क्रिया॥ इति।

नापि व्यावहारिकसत्त्वं तन्त्रम्, प्रपंचमिथ्यात्वसिद्धेः प्राक् तदसिद्ध्यान्योन्या-

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञातस्य वह्नेरदाहकत्वप्रसङ्गः, अमृतत्वेन ज्ञातस्य च विषस्य सञ्जीवकत्वप्रसङ्ग इति—वाच्यम्, वह्नौ तादृग्बुद्धिविषयत्वस्येश्वरादिसाधारणस्य सत्त्वात्, विषे सञ्जीवकत्व-प्रसङ्गस्य नभोनैल्यादितुल्यत्वात्। वस्तुतस्तु—ज्ञाताज्ञातसाधारणं व्यावहारिकं सत्त्व-मेव साधकत्वे तन्त्रम्, तच्च ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वमेव, तच्च न मिथ्यात्वघटितम्, अत्यन्ताबाध्ये ब्रह्मज्ञानबाध्ये च तुल्यत्वात्। अत एव नेदं परमार्थसत्त्वव्याप्यम्। एवं च परमार्थसत्त्वस्य साधकतायामतन्त्रत्वेन तदभावेऽपि न साधकतानुपपत्तिः।

एतेन—व्यावहारिकत्वं ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वं वा? व्यावहारिकविषयत्वे सति सत्त्वं वा? सत्त्वेन व्यवहारमात्रं वा? नाद्यः, मिथ्यात्वसिद्धेः प्राक् तदसिद्ध्या अन्योन्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उसके अनुसार जब किसी मनुष्य को वह्नित्वेन वह्नि ज्ञात नहीं, तब उसमें दाह-साधकता नहीं होनी चाहिए एवं अमृतत्वेन ज्ञात विष में सञ्जीवकत्व होना चाहिए।

अद्वैतवादी—वह्नि में दाह-साधकता के लिए केवल वह्नित्वेन ज्ञान की विषयता अपेक्षित है, यदि किसी मनुष्य के ज्ञान की विषयता वहाँ नहीं, तब ईश्वर के ज्ञान की विषयता से निर्वाह हो जायगा। विष में अमृतत्वेन ज्ञान आकाशगत नीलता-ज्ञान के समान प्रातिभासिक है, साधकता की प्रयोजकता में प्रातिभासिक ज्ञान से भिन्न ज्ञान का ही ग्रहण होता है—यह कहा जा चुका है।

वस्तुतः ज्ञाताज्ञात-साधारण, व्यावहारिक सत्त्व ही साधकता का प्रयोजक है, व्यावहारिक सत्त्व का स्वरूप ब्रह्मज्ञानेतरा-बाध्यत्व है, जो कि मिथ्यात्व-घटित नहीं, अर्थात् केवल मिथ्या प्रपञ्च में ही नहीं रहता, ब्रह्म में भी ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व रहता है। अत एव वह परमार्थ सत्त्व का भी व्याप्य नहीं, क्योंकि परमार्थ सत्त्व का व्याप्य होने पर ब्रह्मज्ञानेतराबाध्य देहात्मैकत्वादि में परमार्थ सत्त्व मानना पड़ेगा। इस प्रकार परमार्थ सत्त्व साधकता का प्रयोजक नहीं, अतः प्रपञ्च में उसका अभाव होने पर भी साधकत्व की अनुपपत्ति नहीं। द्वैतवादी जो यह आक्षेप किया करते हैं कि व्यावहारिकत्व क्या ब्रह्म-ज्ञान-बाध्यत्व है? या व्यावहारिक-विषयत्व-विशिष्ट सत्त्व? अथवा सत्त्वेन व्यवहार मात्र? प्रथम पक्ष में अन्योऽन्याश्रय दोष है, क्योंकि मिथ्यात्व-सिद्धि के पहले

न्यायामृतम्

श्रयापातात् । प्रातिभासिकेन हेतुव्याप्त्यादिना व्यावहारिकसाध्यसिद्ध्यदर्शनेन हेतुव्याप्त्यादेरनुमितिविषयसमसत्ताकत्वनियमेन व्यावहारिकेण पारमार्थिकासिद्धेश्च । किं च व्यावहारिकसत्त्वस्याबाध्यत्वरूपसत्त्वविशेषत्वेऽस्मदिष्टसिद्धिः, सत्त्वेन व्यवहारमात्रत्वे चोक्तदोषः । भ्रांतेर्बहुकालानुवृत्तिश्चाप्रयोजिका । तथा च—

व्यावहार्यं यदा सत्त्वमस्माकं तर्हि का क्षतिः ।
न चेदसत् साधकत्वं नास्तीत्यत्र किमागतम् ॥

अद्वैतसिद्धिः

श्रयात् । नापि द्वितीयः, तस्यास्माकं मिथ्यात्वाविरोधित्वेनेष्टत्वात् । न तृतीयः, सत्त्वाभावे साधकत्वानुपपत्तेरिति—निरस्तम्, उक्तनिरुक्तेरदुष्टत्वात् । न च—हेत्वादीनां व्यावहारिकसत्त्वे साध्यस्यापि व्यावहारिकसत्त्वमेव स्यादनुमितिविषयसाध्यस्य परामर्शविषयहेतुना समानसत्ताकत्वनियमादिति—वाच्यम्, दृश्यत्ववन्मिथ्यात्वस्यापि व्यावहारिकत्वेन समानसत्ताकत्वस्येष्टत्वात्, समानसत्ताकत्वनियमासिद्धेश्च, धूलीपटले धूमभ्रमादपि वह्न्यनुमितिप्रमादर्शनाद्, गन्धव्याप्यपृथिवीत्वप्रमातोऽपि गन्धप्रागभावावच्छिन्ने घटे पक्षे बाधास्फूर्तिदशायामनुमितिभ्रमदर्शनाच्च । मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वेऽपि तत्त्वावेदकश्रुतिवेद्यत्वोपपत्तिः, सत्त्वेन सत इव मिथ्यात्वेन मिथ्याभूतस्यापि प्रमाणगम्यत्वाविरोधाद्, एकांशे तत्त्वावेदकत्वाभावेऽपि अपरांशे तत्त्वावेदकत्वोपपत्तेः ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ब्रह्म-ज्ञान-बाध्यत्व का निश्चय ही नहीं होता, इसके द्वारा प्रपञ्च में मिथ्यात्व का एवं मिथ्यात्व के द्वारा इसका निश्चय करने में परस्पराश्रयता अवश्य होगी । द्वितीय (व्यावहारिक विषयत्व-विशिष्ट सत्त्व) तो हमारे द्वैतवाद में मिथ्यात्व का विरोधी होने के कारण अभीष्ट ही है । तृतीय (सत्त्वेन व्यवहार मात्र) पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि प्रपञ्च में यदि सत्त्व नहीं, अपितु सत्त्वेन व्यवहारमात्र है, तब उसमें साधकत्व नहीं बन सकता । द्वैतवादी का वह आक्षेप भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि व्यावहारिक सत्त्व का ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व-निर्वचन करने पर कोई दोष प्रसक्त नहीं होता ।

शङ्का—दृश्यत्वादि हेतु यदि व्यावहारिक मात्र हैं, तब मिथ्यात्वरूप साध्य में भी व्यावहारिक सत्त्व मात्र होगा, क्योंकि अनुमिति के विषयीभूत साध्य और परामर्श के विषयीभूत हेतु में समानसत्ताकत्व का होना अनिवार्य है ।

समाधान—दृश्यत्व के समान मिथ्यात्व में भी व्यावहारिक सत्त्व हमें अभीष्ट है, किन्तु साध्य में हेतु-समानसत्ताकत्व का नियम नहीं, क्योंकि धूली-पटल में धूम-भ्रम से भी वह्नि की अनुमिति प्रमा देखी जाती है, इसके विपरीत गन्ध-व्याप्य पृथिवीत्व की प्रमा से भी उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न घाट में उस समय भ्रमात्मक गन्धानुमिति हो जाती है, जिस समय वहाँ गन्ध के बाध का स्फुरण नहीं होता । प्रपञ्चगत मिथ्यात्व मिथ्या होने पर भी तत्त्वावेदक श्रुति का वेद्य हो सकता है, क्योंकि सत्यत्वेन सत्य के समान ही मिथ्यात्वेन मिथ्याभूत पदार्थों के प्रमाण-गम्य होने में कोई विरोध नहीं । मिथ्यात्व-बोधक श्रुति के प्रतिपाद्य मिथ्यात्व अंश में अतत्त्वरूपता के रहने पर भी मिथ्यात्व-घटक अत्यन्ताभाव के तात्त्विक होने के कारण श्रुति में तत्त्वावेदकत्व का निर्वाह हो जाता है ।

न्यायामृतम्

तदुक्तं वार्तिके बौद्धं प्रति

तस्माद्यन्नास्ति नास्त्यैव यन्नास्ति परमार्थतः।
तत्सत्यमन्यन्मिथ्यैव न सत्यद्वयकल्पना ॥
तुल्यार्थत्वेऽपि तेनैव मिथ्यासंवृतिशब्दयोः।
वञ्चनार्थमुपन्यासो लालावक्त्रासवादिवत् ॥ इति ।

अज्ञानादेः सिद्धिपर्यन्तसाधके स्वरूपेण परमार्थसति साक्षिणि व्यावहारिकसत्त्वाभावाच्च । न च साक्ष्यप्यविद्यावृत्तिप्रतिबिंबित एवाज्ञानादिसाधकः । त्वयैव "चैत्ररागः स्वविषयानित्यज्ञानातिरेकिणा । तदध्यक्षेण संवेद्यः प्रत्यक्षत्वाद् घटादिवद्" इति सुखादेर्नित्यधीवेद्यत्वोक्तेः । अज्ञानसुखादेर्ज्ञातैकसत्त्वाभावापाताच्च । अविद्यावृत्तिं प्रति तदप्रतिबिंबितस्यैव साधकत्वाच्च । साक्षिगतसाधकताया अज्ञानाधीनत्वेऽपारमार्थिकतया प्रातीतिकस्याज्ञानसत्त्वस्य साक्षिणा सिद्धिं विनाऽयोगेनाऽन्योऽन्याश्रयाच्च । एतेन तवासत इव मम सतोऽपि साधकत्वे विमतिरित्यानंदबोधाद्युक्तं निरस्तम् । नापि सत्तात्रयं

अद्वैतसिद्धि

ननु - व्यावहारिकत्वं साधकतायामतन्त्रम्, अज्ञानादिसाधके परमार्थसति साक्षिणि तदभावादिति—चेन्न, ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वस्यात्यन्ताबाध्येऽपि सत्त्वस्योक्तत्वात् । त्रैविध्यविभागे पारमार्थिकव्यावृत्तव्यावहारिकत्वनिरुक्तावपि जनकतायां तत्साधारण्येऽप्यदोषात् । वस्तुतस्तु—साक्ष्यप्यज्ञानोपहित एवाज्ञानादिसाधकः, स च व्यावहारिक एव, अनुपहितेन परमार्थसदाकारेण तस्यासाधकत्वात्, एवं च व्यावहारिकसत्त्वमेव सर्वत्र साधकतायां प्रयोजकमिति स्थितम् । यथा चाज्ञानोपहितस्य साक्षित्वेऽपि नात्माश्रयादिदोषः, तथोक्तं दृश्यत्वहेतूपपादने प्राक्, अग्रे च वक्ष्यते । यत्र च यत्साधकं व्यावहारिकम्, तत्र तद् व्यावहारिकम्, यत्र तु साधकं प्रातीतिकम्, तत्र

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—अद्वैतवादी का यह कहना कि व्यावहारिक सत्त्व ही साधकता का प्रयोजक होता है, उचित नहीं, क्योंकि अज्ञानादि के साधक साक्षी में व्यावहारिक सत्त्व न होने पर भी साधकता मानी जाती है ।

समाधान—साक्षी में भी ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूप व्यावहारिक सत्त्व विद्यमान है, अतः उसका साधकत्व से व्यभिचार नहीं दिखाया जा सकता । सत्ता के जब तीन विभाग किये जाते हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक, तब ब्रह्मरूप पारमार्थिक वस्तु में अवृत्ति ही व्यावहारिक सत्त्व की परिभाषा की जाती है—'ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वे सति ब्रह्मभिन्नत्वम्' किन्तु साधकता-प्रयोजक व्यावहारिक सत्त्व के ब्रह्मवृत्ति होने में कोई दोष नहीं होता । वस्तुतः साक्षी भी अज्ञान से उपहित होकर ही अज्ञान का साधक होता है, अतः व्यावहारिक ही माना जाता है, अज्ञान से अनुपहित परमार्थ सद्रूप से साक्षी अज्ञान का साधक नहीं होता । इस प्रकार यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि व्यावहारिक सत्त्व ही साधकता का प्रयोजक होता है । अज्ञानोपहित साक्षिता मानने पर भी अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता—यह दृश्यत्व हेतु के उपपादन के अवसर (पृ० ५६) पर कहा जा चुका है और आगे भी कहा जायगा । अतः जहाँ जिस वस्तु का साधक पदार्थ व्यावहारिक होता है, वहाँ वह वस्तु व्यावहारिक और जहाँ साधक प्रातिभासिक होता है, वहाँ साध्य भी प्रातिभासिक ही होता है, व्यावहारिक

न्यायामृतम्

द्वयं वा तंत्रम् , अननुगमात् । प्रयोज्यवैजात्याभावेन तृणारणिमणिन्यायासंभवाच्च । नापि सत्त्रयानुगतं सद्द्वयानुगतं वा सत्त्वसामान्यं तंत्रम् , अपरमार्थसतोऽसत्त्वेन तत्र सत्त्वस्य विरुद्धत्वात् । तदुक्तं वार्तिके बौद्धं प्रति—

सत्यत्वं न च सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः ।
विरोधान्न हि सिंहत्वं सामान्यं वृक्षसिंहयोः ॥

अपरमार्थसतः अबाध्यत्वरूपसद्विशेषत्वे च शाबलेयस्य गोविशेषत्ववत् प्रपञ्चस्यापि ब्रह्मवत् सद्विशेषत्वात् सद्वैलक्षण्यं न स्यात् । किं च यद्यारोपितानारोपितानुगतं सामान्यं स्यात्तर्हि ब्राह्मणो यजेतेत्यादिसामान्यविधिं प्रति ब्राह्मण्यामब्राह्मणाज्जात आरोपितब्राह्मण्यादिरपि नियोज्यः स्यात् । निषेधस्य तु आरोपितेनापि ब्राह्मण्येन हीनो विषयः स्यात् । अस्तु वा तदनुगतं सामान्यं तथापि तस्य तंत्रत्वे स्वाप्नेनाद्वैत-साक्षात्कारेणाश्वमेधादिना च तत्फलस्य द्वैतश्रुत्यादिना च द्वैतस्य धूमाभासेन च वह्नेर्व्यावहारिकेण च विरुद्धधर्मेण पारमार्थिकस्य जीवेश्वरभेदस्य सिद्धिः स्यात् ।

अद्वैतसिद्धिः

फलमपि तथैव, न तु व्यावहारिकमिति सर्वविधिप्रतिषेधादिव्यवहारासङ्करः । अत एव लोकस्यापि व्यतिक्रमे विचारस्य यादृच्छिकवाङ्मात्रतापत्तिरित्युदयनोक्तमपि—निरस्तम् , व्यावहारिकसत्त्वेन लोकमर्यादानतिक्रमात् । भट्टाचार्यवचनानि विरुद्धत्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं—इस व्यवस्था को मान लेने पर किसी प्रकार का विधि-प्रतिषेध-व्यावहार-साङ्कर्य नहीं होता । अतः उदयनाचार्य ने जो यह कहा है कि "लोकस्यापि व्यतिक्रमे विचारस्य यादृच्छिकबाधाद् भ्रान्तत्वापत्तिः" (आत्म० पृ० २३२) । अर्थात् सत् में साधकता और असत् में असाधकता—यह एक लौकिक मर्यादा है, इसका उल्लङ्घन करने पर कोई भी विचार स्थिर नहीं रह सकता, जब जिस ज्ञान को चाहें, बाधित तथा भ्रान्त कह सकते हैं । वह आचार्य का कथन भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि व्यावहारिक सत्त्व के आधार पर लौकिक साधकत्व-मर्यादा का अतिक्रमण नहीं होता । आचार्य श्री कुमारिल भट्ट के बौद्ध-सिद्धान्त-खण्डन-परक कतिपय वचनों की बौछार अद्वैत वेदान्त तक भी आती हैं, किन्तु वह प्रतिकूल नहीं, अनुकूल ही है--इसकी विशेष चर्चा त्रिविध सत्ता-निरूपण के अवसर पर की जायगी । [''द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदशना'—इस पर भट्टपाद का सीधा प्रहार है—

संवृतेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतो न्वयम् ।
सत्यं चेत् संवृतिः केयं मृषा चेत् सत्यता कथम् ॥
सत्यत्वं न हि सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः ।
विरोधान्न हि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्षसिंहयोः ॥
तुल्यार्थत्वेऽपि तेनैषां मिथ्यासंवृतिशब्दयोः ।
वञ्चनार्थ उपन्यासो लालावक्त्रासवादिवत् ॥ (श्लो० निरा० ६-८)

'संवृति' शब्द का वाच्यार्थ जादूगर की वह माया या दर्शकों का वह अज्ञान है, जो कि वास्तविकता का संवरण करता है । माया स्वयं में एक मिथ्या पदार्थ है, अतः संवृति का भी अर्थ मिथ्या पदार्थ ही हुआ, फलतः संवृति में मिथ्यात्व का रहना आवश्यक है । अब 'संवृतिसत्य' शब्द पर ध्यान दिया जाय । इसका वाच्यार्थ वह पदार्थ होगा,

न्यायामृतम्

अत एव धर्मितुल्यसत्त्वं वा असद्विलक्षणत्वं वा न तंत्रम्, गौरवाच्च। ननु धूमाभासस्यासाधकत्वं नासत्त्वात् किं तु व्याप्त्यभावाद्, बहुलोर्ध्वतादिवदाभासविवेकस्यापि व्याप्त्यर्थत्वादिति चेन्न, अस्याः कल्पनाया असतः साधकत्वसिद्धिसापेक्षत्वेनान्योऽन्याश्रयात्। आभासेऽप्यारोपितव्याप्तेरारोपिताभासविवेकस्य च सत्त्वाच्च। प्रकृतेऽपि दृश्यत्वस्यारोपितस्य ब्रह्मण्यपि सत्त्वेन व्याप्त्यर्थमेव हेत्वादिसत्त्वस्योपेक्षितत्वाच्च। हेत्वाद्यारोपस्य सर्वत्र सौलभ्येनासिद्ध्यादेरदोषतापाताच्च। आश्रयादेरसत्त्वनियमाभावेऽपि व्याप्त्यादेस्तन्नियमाच्च। नाप्यप्रातिभासिकत्वं तंत्रम्, तुच्छेऽतिप्रसक्तेः। नाप्यप्रातिभासिकसत्त्वं तंत्रम्, गौरवात्। व्यावहारिकतात्त्विकानुगतसत्त्वसामान्यस्याभावाच्च। नाप्यसद्विलक्षणत्वे सति प्रातिभासिकवैलक्षण्यं तंत्रम्, अतिगौरवात्। अन्यथा प्रवृत्तौ न संसर्गग्रहो हेतुः, किं तूपस्थितासंसर्गाग्रह इति भ्रांतिर्न सिद्ध्येत्। किं चासतः साधकत्वं विप्रतिपन्नत्वात्साध्यम्। तत्साधकं च न तावत् त्वन्मते सद्, अपसिद्धांतात्। नाप्यसत्, प्रतिवादिनस्तत्साधकत्वे विप्रतिपत्त्यानवस्थानात्। न च सतः साधकत्वेऽप्ययं दोषः, त्वन्मते सतः साक्षिणः साधकत्वाद्, उक्तं हि—

साधकत्वं सतस्तेन साक्षिणा सिद्धिमिच्छता। स्वीकृतं ह्यविशेषसाध्यासाधकता पुनः॥

औत्सर्गिकप्रामाण्येन सिद्धत्वाच्च। तत्रापि व्यवहारे उपायांतराभावेन स्वच्छायावद् दुर्लङ्घ्यलोकमर्यादासिद्धत्वाच्च। न च सिद्धिरप्यसतीत्युक्ते निस्तारः, अन्योऽन्याश्रयात्। अन्यथा प्रतीतिरप्यत्यंतासतीति सुवचत्वेन प्रतीत्या असद्वैलक्षण्यं न सिध्येत्। एतेन सल्लक्षणयोगित्वायोगित्वे एव साधकत्वासाधकत्वयोस्तंत्रे, न तु सत्त्वासत्त्वे इति खंडनोक्तं निरस्तम्, हेतुव्याप्त्यादेरसत्त्वेऽसिद्ध्यव्याप्त्याद्यसल्लक्षणापाताच्च। एतेन मिथ्यात्वाविशेषेऽपि स्वप्नवद्धेतुतदाभासव्यवस्थेति निरस्तम्, तद्वदेव वास्तवसाध्यासिद्ध्यापातात्। तस्मान्नासत्यात् सत्यसिद्धिः। तदुक्तं वार्तिके बौद्धं प्रति—

साधकं चेदवश्यं च परमार्थास्तिता भवेत्। सिद्धिर्नापरमार्थेन परमार्थस्य युज्यते॥

उक्तं च बौद्धधिक्कारे—"लोकस्यापि व्यतिक्रमे विचारस्य यादृच्छिकवाङ्मात्रत्वापत्तेः" इति असतः साधकत्वे बाधकविवरणम्।

अद्वैतसिद्धिः

भासमानानि सत्त्वत्रैविध्यनिरूपणायामविरोधेन व्याख्यास्यन्ते। तस्मात् पक्षादिसर्वमिथ्यात्वसाधनेऽपि न व्याहतिः॥ इत्यद्वैतसिद्धौ असतः साधकत्वोपपत्तिः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जिसमें संवृतित्व या मिथ्यात्व तथा सत्यत्व—दोनों धर्म रहते हों, यह नितान्त असम्भव है, क्योंकि उक्त दोनों धर्म प्रकाशत्व और अन्धकारत्व के समान अत्यन्त विरोधी है, ऐसी परिस्थिति में संवृतिसत्य, व्यवहारसत्य आदि शब्दों का प्रयोग एक विडम्बना मात्र है।' इस आलोचना के जाल में अद्वैत वेदान्तियों को भी उम्बेक भट्ट ने फँसा लिया है—'तच्चैतदात्माद्वैतवादिभिरपीष्टमेव बाह्यार्थप्रपञ्चमिथ्यात्वं वदद्भिः" (तात्पर्य. पृ. १९६)। इस आघात के प्रत्याघात में त्रिविध सत्ता-निरूपण के अवसर पर सर्वज्ञात्ममुनि के (सं. शा. १।१९८) ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया गया है—

आकाशादौ सत्यता तावदेका प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या।
तत्सम्पर्कात् सत्यता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र॥

'सत्य' शब्द की परिभाषा जटिल होते हुए भी प्रतिकर्म-व्यवस्था में पूर्ण सक्षम है]।

: ३१ :

असतः साधकत्वाभावे बाधकविचारः

न्यायामृतम्

नन्वसत्यमपि प्रतिबिंबं बिंबस्य, स्वाप्नार्थश्च शुभाशुभयोः, स्फटिकलौहित्यं चोपाधिसंनिधानस्य, रेखारोपितवर्णश्चार्थस्य, वर्णदैर्घ्यादिकं च नगो नाग इत्यादावर्थभेदस्य, शंकाविषं च मरणस्य, सवितृसुषिरादि चारिष्टादेः साधकं दृष्टमिति चेन्न, प्रतिबिंबस्वरूपस्य त्वन्मतेऽपि सत्यत्वात्। स्वाप्नस्य च मन्मते सत्यत्वात्। त्वन्मतेऽपि पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यतीत्यादिश्रुत्या ज्ञानमेव सूचकम्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां च

अद्वैतसिद्धिः

ननु—सत्त्वापेक्षया तुच्छविलक्षणत्वादेर्गौरवतरत्वेन साधकत्वे कथं तन्त्रत्वमिति—चेन्न, त्रिकालबाधविरहरूपस्य सत्त्वस्य लघुत्वाभावात्, जात्यादिरूपस्य तस्य मिथ्यात्वाविरोधित्वाद्, उभयसिद्धे सद्विविक्ते साधकत्वदर्शनेन पारमार्थिकसत्त्वस्य साधकत्वाप्रयोजकत्वाच्च। तथा हि—प्रतिबिम्बे बिम्बसाधकत्वं तावदस्ति। तस्य बिम्बात्मना सत्त्वेऽपि प्रतिबिम्बाकारेणासत्त्वात् परमार्थसत्त्वं न साधकत्वे प्रयोजकम्। एवं स्वाप्नार्थस्यासतोऽपि भाविशुभाशुभसूचकत्वम्। यद्यपि तत्रत्यदर्शनस्यैव सूचकत्वम्—'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यती' त्यादिश्रुतिबलात्, तथापि दर्शनमात्रस्यातिप्रसक्तत्वेन विषयोऽप्यवश्यमपेक्षणीय एव। एवं स्फटिकलौहित्यस्य उपाधि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—साधकतादि का नियामक धर्म यदि लघु सुलभ है, तब गुरु धर्म नहीं माना जाता। 'सत्त्व' धर्म की अपेक्षा तुच्छ-भिन्नत्व आदि धर्म गुरु हैं, अतः वे साधकता के प्रयोजक क्योंकर हो सकेंगे ?

अद्वैतवादी—'सत्त्व' धर्म शब्दतः लघु होने पर भी अर्थतः गुरु है, क्योंकि सत्त्व का अर्थ होता है—त्रिकाल बाध-रहितत्व, यह तो तुच्छ-भिन्नत्व की अपेक्षा गुरु है। सत्ता जाति को सत्त्व मानने पर उसका मिथ्यात्व के साथ कोई विरोध नहीं यह (विगत पृ. ९७ पर) कहा जा चुका है। जब उभय-मत-सम्मत सद्भिन्न पदार्थों में कार्यसाधकता की अनुभूति होती है, तब पारमार्थिक सत्त्व को साधकता का प्रयोजक मानने की कोई आवश्यता नहीं, जैसे कि प्रतिबिम्ब किसी के मत में सत् नहीं, फिर भी उसमें अपने बिम्ब की साधकता निर्विवाद है। जो लोग प्रतिबिम्ब को भी बिम्ब से अभिन्न मानकर उसे बिम्बरूपेण सत् मानते हैं, उनके मत में भी स्वरूपेण प्रतिबिम्ब सत् नहीं माना जाता, उसे स्वरूपेण साधक मामा जाता है, अतः परमार्थ सत्त्व साधकता का नियामक नहीं। इसी प्रकार स्वाप्न पदार्थ भी सत् नहीं, फिर भी उसमें भावी शुभाशुभ फल की सूचकता प्रमाण-सिद्ध है

"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धि तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥" (छां० ५।२।९)

यद्यपि स्वप्न के स्वप्न-कल्पित पदार्थों में फल-सूचकता न होकर उनके दर्शन में ही सूचकता मानी गई है—"पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति" (ऐ. आ. ३।२।४) और दर्शन सत् ही होता है, अतः वहाँ सत् में ही साधकता कही गई है, तथापि विषय-रहित केवल ज्ञान को साधक मानने पर शब्दादि से जन्य असत् के ज्ञान में भी साधकता होनी चाहिए, किन्तु होती नहीं, अतः विषय-विशिष्ट ज्ञान को ही साधक मानना होगा, फिर तो

न्यायामृतम्

स्वाप्नकामिन्यादिज्ञानमेवार्थक्रिया कारीत्युपपत्तेः। स्फटिकलौहित्यस्यापि प्रतिबिम्ब-

अद्वैतसिद्धिः

सन्निधानसाधकत्वं च। न च—लौहित्यं स्फटिके न मिथ्या, किंतु धर्ममात्रप्रतिबिम्ब इति न पृथगुदाहरणमिति—वाच्यम्। धर्मिभूतमुखादिनैरपेक्ष्येण तद्धर्मभूतरूपादिप्रतिबिम्बादर्शनात्, प्रतिबिम्बस्याव्याप्यवृत्तित्वनियमेन लौहित्यस्य स्फटिके व्याप्यवृत्तित्वप्रतीत्ययोगाच्च। लौहित्ये स्फटिकस्य त्वारोपे तस्य प्रतिबिम्बत्वम्, स्फटिके लौहित्यारोपे तु तस्य मिथ्यात्वमिति विवेकः। "स्फटिकमणेरिवोपधाननिमित्तो लोहितिमेति" लोहितिम्नो मिथ्यात्वं दर्शितं प्रतिबिम्बसत्यत्ववादिभिः पञ्चपादिकाकृद्भिः। एवं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विशेषण विधया स्वाप्न विषय में भी साधकता माननी पड़ती है। वस्तुतः स्वप्न-कालीन ज्ञान भी रजतादि-ज्ञान के समान अविद्या-वृत्ति मात्र होने के कारण मिथ्या ही होता है, सत्य नहीं। इसी प्रकार स्फटिक में आरोपित लौहित्य भो सत् नहीं, फिर भी जपाकुसुम के सन्निधान का साधक होता है।

शङ्का—स्फटिकगत रक्तत्व मिथ्या नहीं, अपि तु स्फटिक में धर्मि-निरपेक्ष रक्तत्व, रूप धर्ममात्र का का प्रतिबिम्ब होता है, अतः बिम्ब प्रतिबिम्ब के उदाहरण से गतार्थ हो जाता है, असत् की साधकता में इसे पृथक् उदाहरण नहीं माना जा सकता।

समाधान—स्फटिकगत लौहित्य को धर्मगात्र का प्रतिबिम्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि मुखादिरूप धर्मी को छोड़कर केवल मुख के गौरतादि धर्मों का प्रतिम्ब नहीं देखा जाता, जैसा कि पञ्चपादिका में कहा है—"न हि रूपमात्रनिष्ठश्चाक्षुषः प्रत्ययो दृष्टपूर्वः, नापि स्वाश्रयमनाकर्षद्रूपमात्रं प्रतिबिम्बितं क्वचिदुपलब्धपूर्वम्" (पं. पा. पृ. १०१)। दूसरी बात यह भी है कि प्रतिम्ब दर्पणादि में व्याप्यवृत्ति नहीं, अपितु अव्याप्यवृत्ति ही होता है, किन्तु लौहित्य स्फटिक में व्याप्यवृत्ति होता है, अतः इसे प्रतिम्ब नहीं मान सकते। मुखादि बिम्ब को तब प्रतिबिम्ब कह दिया जाता है, जब कि उसमें दर्पणस्थत्व का आरोप होता है, अतः लौहित्य में स्फटिक या स्फटिकस्थत्व का आरोप होने पर लौहित्य को प्रतिबिम्ब और प्रतिबिम्ब को सत्य माना जाता है, स्फटिक में लौहित्य का आरोप मानने पर लौहित्य को आभास और आभास को मिथ्या माना जाता है। प्रतिबिम्ब को सत्य माननेवाले पञ्चपादिकाचार्य ने स्फटिकगत लौहित्य को मिथ्या ही कहा है—"अन्तःकरणोपरागनिमित्तं मिथ्यैवाहंकर्तृत्वमात्मनः, स्फटिकमणेरिवोपधाननिमित्तो लोहितिमा" (पं. पा. पृ. १००)। फलतः स्फटिक-लौहित्य को प्रतिबिम्बरूप नहीं माना जा सकता, अपितु असत्य आरोप मात्र है, फिर भी उपाधि-सान्निध्य का कल्पक है। इसी प्रकार ककारदि वर्णों के सांकेतिक चिह्न विविध लिपियों में भिन्न-भिन्न बनाकर कह दिया जाता है कि यही 'क' वर्ण है। रेखा और वर्ण का वास्तविक तादात्म्य सम्भव नहीं, क्योंकि वर्ण मुख से उच्चरित होकर श्रोत्र से सुना जाता है, किन्तु रेखा हाथ से पृथिवी या कागज आदि पर बनाई जाती है और आँख से देखी जाती है, अतः लिपि और वर्ण का आरोपित या असत् तादात्म्य मानना होगा, वह भी सत्य अर्थ का बोधक होता है, भाष्यकार ने भी कहा है—"अकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः" (ब्र. सू. २।१।१४)। इस निदर्शन से भी यह सिद्ध होता है कि असत् में साधकता होती है।

न्यायामृतम्

त्वात् । रेखायाश्च वर्णे पदस्यार्थ इव संकेतितत्वेन रेखास्मारितवर्णस्यैवार्थबोधकत्वात् । अत एव रेखां दृष्ट्वा वर्णमुच्चारयन्ति । नगो नाग इत्यादौ दीर्घत्वादिकं स्वरूपसदेवार्थविशेषधीहेतुश्चेद्दीर्घध्वनिसाहित्यरूपं वा तद्व्यक्तत्वरूपं वा दीर्घत्वं वर्णगतं सत्यमेव

अद्वैतसिद्धिः

रेखातादात्म्येनारोपितानां वर्णानामर्थसाधकत्वम् । न च—रेखास्मारिता वर्णा एवार्थसाधका इति—वाच्यम्, आशैशवमयं ककारोऽयं गकार इत्यनुभवाद्, अभेदेनैव स्मरणाद्, विवेके सत्यपि दृढतरसंस्कारवशात् नारोपनिवृत्तिः । अत एव ककारं पठति लिखति चेति सार्वलौकिको व्यवहारः । वर्णारोपितदीर्घह्रस्वत्वादीनां च नगो नाग इत्यादावर्थविशेषप्रत्यायकत्वम् । न च—वर्णेष्वनारोपितध्वनिसाहित्यं तदभिव्यक्तत्वरूपं वा दैर्घ्यं प्रत्यायकम्, एवं ह्रस्वत्वादिकमपीति—वाच्यम्; ध्वनीनामस्फुरणेऽपि दीर्घो वर्ण इत्यादिप्रत्ययात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—अर्थ का बोध वर्ण से होता है, रेखा से नहीं, फिर भी यदि रेखा को वर्ण का स्वरूप मानकर अर्थ-बोध का जनक माना जाय, तब अवश्य असत् से सदर्थ की साधकता में रेखा-वर्ण का प्रस्तुतीकरण हो सकता था, किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि रेखा देखकर वर्ण का स्मरण और स्मृत वर्ण से अर्थ-बोध होता है ।

समाधान—स्मरण और अनुभव-दोनों में समान-विषयता निश्चित होती है । बचपन से ही जो मनुष्य यह अनुभव करता आया है कि यही रेखा वर्ण है, उसके वर्ण-स्मरण में भी रेखा-तादात्म्यापत्ति बनी रहती है, अतः रेखात्मक वर्ण से ही अर्थ-ज्ञान होता है—यह मानना पड़ेगा । सर्व-साधारण को तो लिपि और वर्ण का विवेक-ज्ञान भी नहीं होता, विशेषज्ञ यह अवश्य जानता है कि रेखा और वर्ण भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, फिर भी दृढ़तर संस्कार अभेदारोप को सँजोए रखते हैं, अत एव विशेषज्ञ-व्यक्ति भी यही व्यवहार करता है कि "अयं बालः ककारं लिखति पठति च" । इसी प्रकार ध्वनि धर्मभूत दीर्घता ह्रस्वता आदि भी वर्णों में आरोपित होकर अर्थ-विशेष के बोधक होते हैं, जैसा कि श्री वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"वर्णे ह्रस्वदीर्घत्वादयोऽन्यधर्मा अपि समारोपितास्तत्त्वप्रतिपत्तिहेतवः, न हि लौकिका नाग इति वा नग इति वा पदात् कुञ्जरं वा तरुं वा प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः" (भामती० पृ० १०) ।

शङ्का—"नादवृद्धिपरा" (जै. सू. १।१।१७) इस सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ह्रस्वत्वादि धर्म (नाद) ध्वनि के धर्म होते हैं, ध्वनि वह वायवीय तत्त्व है, जिससे वर्णात्मक शब्द की अभिव्यक्ति हुआ करती है, अतः वर्णगत दीर्घत्व का अर्थ होता है—दीर्घध्वनि-सहितत्व अथवा दीर्घध्वनि-व्यक्तत्व, यह तो वर्ण में आरोपित नहीं, वास्तविक ही है । इसी प्रकार वर्ण में ह्रस्वत्व भी ह्रस्वध्वनि-सहितत्व या ह्रस्वध्वनि-व्यङ्ग्यत्व होता है । अतः दीर्घत्वादि न तो असत् हैं और न असत् रूप में किसी अर्थ के साधक ।

समाधान—यदि ह्रस्वत्व और दीर्घत्व ध्वनि के ही धर्म हैं, वर्ण के नहीं, तब धर्मिरूप ध्वनि का अस्फुरण होने पर 'ह्रस्वो वर्णः', दीर्घो वर्णः'—इस प्रकार की प्रतीति नहीं होनी चाहिए । ध्वनि का अस्फुरण होने पर भी ह्रस्वत्वादि का स्फुरण यह सिद्ध करता है कि ह्रस्वत्वादि ध्वनि के धर्म नहीं होते, अपितु वर्ण के ही हैं । यदि

न्यायामृतम्

हेतुः, न ध्वनिगतं वर्णेष्वारोपितं हेतुः। ज्ञातं सद्धेतुश्चेद्वक्ष्यमाणरीत्या सवितृसुषिराविज्ञानमिवार्थावच्छिन्नं सत्यं ज्ञानमेव हेतुः। एतेन "यथा सत्यत्वाविशेषेऽपि चक्षुषा रूपज्ञानमेव जायते, न तु रसज्ञानम्, तथैवासत्त्वाविशेषेऽपि वर्णदैर्घ्यादिना सत्यं ज्ञायते, न तु धूमाभासादिने"ति वाचस्पत्युक्तं निरस्तम्। शंकाविषेऽपि शंकानिमित्तभयजन्या

अद्वैतसिद्धिः

ननु—आरोपितेन वर्णदैर्घ्यादिना कथं तात्त्विकार्थसिद्धिः, न ह्यारोपितेन धूमेन तात्त्विकवह्निसिद्धिरिति—चेन्न, साधकतावच्छेदकरूपवत्त्वमेव साधकतायाः प्रयोजकम्, न त्वारोपितत्वमनारोपितत्वं वा, धूमाभासस्य त्वसाधकत्वम्, साधकतावच्छेदकरूपव्याप्त्यभावात्, नासत्त्वाद्, अनाभासत्वग्रहश्च तत्र बहुलोर्ध्वतादिग्रहणवद्व्याप्तिग्रहणार्थमेवापेक्षितः। तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रैः—'यथा सत्यत्वाविशेषेऽपि चक्षुषा रूपमेव ज्ञाप्यते न रसः, तथैवासत्त्वाविशेषेऽपि वर्णदैर्घ्यादिना सत्यं ज्ञाप्यते, न तु धूमाभासादिने'ति। दृष्टं हि मायाकल्पितहस्त्यादेः रज्जुसर्पादेश्च भयादिहेतुत्वं सवितृसुषिरस्य च मरणसूचकत्वं शङ्काविषस्य च मरणहेतुत्वम्।"ननु—तत्र शङ्कैव भयमुत्पाद्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वे वर्ण के वास्तविक धर्म नहीं, तब उन्हें आरोपित या असत् मानना होगा।

शङ्का—वर्ण में दीर्घता यदि आरोपित है, तब उससे अनारोपित या तात्त्विक अर्थ-ज्ञान क्योंकर सिद्ध होगा? आरोपित धूम के द्वारा कभी तात्त्विक वह्नि सिद्ध नहीं होती।

समाधान—साधकतावच्छेदक धर्म जिसमें रहे, वही साधक होता है, वह चाहे आरोपित हो या अनारोपित। अनारोपितत्व धर्म न तो साधकता का प्रयोजक होता है और न आरोपितत्व असाधकता का, आरोपित धूम या धूमाभास इस लिए वह्नि का साधक नहीं होता कि वह साधकतावच्छेदकीभूत वह्नि-व्याप्ति आदि से रहित होता है, न कि असत् या आरोपित होने के कारण। यह जो कहा जाता है कि हेत्वाभास अनुमिति-साधक नहीं होता, अतः साधक में अनाभासता का होना आवश्यक है, वह अनाभासत्व साधकता का अवच्छेदक नहीं, अपितु वैसे ही साधकतावच्छेदकीभूत व्याप्त्यादि का ग्राहक मात्र है, जैसे—धूमगत अविच्छिन्नमूलता, बहुलता, ऊर्ध्वतादि विशेषण। वाचस्पति मिश्र ने कहा—'जैसे सत्यता के समान होने पर भी चक्षु के द्वारा रूप का ही भान होता है, रस का नहीं, वैसे ही असत् पदार्थों में भी वर्णगत दीर्घत्वादि के द्वारा सत्यार्थ का बोध होता है, धूमाभासादि के द्वारा नहीं। लोक में देखा भी जाता है कि माया के द्वारा कल्पित हस्ती, रज्जु-सर्पादि भय के जनक होते हैं, सूर्य में देखे गये छिद्र या काले धब्बे तथा शङ्का-विषादि मरण के कारण बन जाते हैं।' आगे चलकर आरम्भणाधिकरण में भी कहा है—"न च ब्रूमः सर्वस्मादसत्यात् सत्यस्योपजनः, यतः समारोपितधूमभावाया धूममहिष्या वह्निज्ञानं सत्यं स्यात्। न हि चक्षुषो रूपज्ञानं सत्यमुपजायते इति रसादिज्ञानेनादि ततः सत्येन भवितव्यम्, यतो नियमो हि स तादृशः सत्यानां यतः कुतश्चिदेव जायते, एवमसत्यानामपि नियमो यतः कुतश्चिदेवासत्यात् सत्यं जायते, कुतश्चिदसत्यम्। यथा दीर्घत्वादेर्वर्णेषु समारोपितत्वाविशेषेऽपि अजीनमित्यतः ज्यानिविरहमवगच्छन्ति सत्यम्, अजिनमित्यतश्च समरोपितदीर्घभावात् ज्यानिविरहमवगच्छन्तो भवन्ति भ्रान्ताः। न चोभयत्र दीर्घसमारोपं प्रति कश्चिदस्ति भेदः, तस्मादुपपन्नमसत्यादपि सत्यस्योदयः"। (भामती पृ. ४५९)।

न्यायामृतम्

धातुव्याकुलतैव मरणहेतुः, न च विषम्। स्वाप्नमन्त्रोऽपि फलसंवादी चेत् स्वप्नप्रतीतत्वेऽप्यात्मवत्सत्य एव स्वयंप्रतिभातवेदवद्दृष्टाभासते। भारतयुद्धादौ घटोत्कचादिभिः शक्तिविशेषात्सृष्टमर्थक्रियाकारिगजादिकं सत्यमेव । सवितृसुषिररज्जुसर्पादिज्ञानमेव चारिष्टभयादि हेतुर्न त्वर्थः, सत्यप्यर्थे तदज्ञाने भयाद्यभावात्। न चैवमनुमितिं प्रत्यपि हेतुव्याप्त्यादिज्ञानमेव कारणं न तु हेत्वादीति वाच्यम्, तज्ज्ञानमात्रस्य हेत्वाभासेऽपि सत्त्वात्। त्वन्मते वृत्तिरूपस्य तत्प्रतिबिंबितचैतन्यरूपस्य वा ज्ञानस्यापि मिथ्यात्वाच्च। सत्यसर्पादेस्त्वभिसर्पणदंशनादिरेवार्थक्रिया न तु भयादिः।

नन्वर्थानवच्छिन्नस्य ज्ञानस्य हेतुत्वेऽतिप्रसंगः, अवच्छिन्नस्य हेतुत्वेऽर्थोऽपि हेतुः स्यादिति चेन्न, घटावच्छिन्नस्य घटात्यंताभावध्वंसादेर्घटदेशकालभिन्नदेशकालादित्वेऽपि अवच्छेदकस्य घटस्य तदभाववद्, घटेच्छाब्रह्मज्ञानयोर्घटज्ञानवेदान्तसाध्यत्वे अपि घटब्रह्मणोस्तदभाववद्, घटप्रागभावस्य घटं प्रति, विशेषदर्शनाभावस्य च भ्रमं प्रति,

अद्वैतसिद्धिः

धातुव्याकुलतामुत्पादयतीति सैव मरणहेतुः, न तु शङ्कितं विषमपि, एवं सवितृसुषिरमायाकल्पितगजादीनामपि ज्ञानमेव तत्तदर्थक्रियाकारि, न त्वर्थोऽपि, तथा च सर्वत्रोदाहृतस्थलेषु ज्ञानमेव हेतुः, तच्च स्वरूपतः सत्यमेव, अन्वयव्यतिरेकावपि ज्ञानस्यैव कारणतां ग्राहयतः, न हि सन्निहितं सर्पमजानानो बिभेति। न च—अर्थानवच्छिन्नस्य ज्ञानस्य हेतुत्वेऽतिप्रसङ्गादर्थावच्छिन्नमेव ज्ञानं हेतुः, तथा चार्थोऽपि हेतुरेवेति—वाच्यम्, अर्थावच्छिन्नस्य ज्ञानस्य हेतुत्वेऽपि अवच्छेदकस्यार्थस्य ताटस्थ्येनाहेतुत्वोपपत्तेः (१) घटावच्छिन्नस्य तदत्यन्ताभावतद्ध्वंसादेर्घटदेशकालभिन्नदेशकालादित्वेऽप्यवच्छेदकस्य घटस्य तदभाववत्, (२) घटेच्छाब्रह्मज्ञानयोर्घटज्ञानवेदान्तसाध्यत्वेऽपि घटब्रह्मणोः तदभाववत्, (३) घटप्रागभावस्य घटं प्रति जनकत्वेऽपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—शङ्का-विष-स्थल पर शङ्कित विष, सूर्य में दृष्ट छिद्र तथा माया-कल्पित हस्ति, सर्पादि मरण के हेतु नहीं होते, अपितु चित्त-विह्वलता या विष की शङ्का तथा सर्पादि का ज्ञान अर्थक्रिया-कारी होता है, शङ्का भी सत्य है और हस्ति, सर्पादि का ज्ञान भी, असत्य विषय के साथ फल का अन्वय-व्यतिरेक न होकर सत्य ज्ञान के साथ ही अनुभव में आता है, अतः सर्पादि का भ्रम ही भयादि को जन्म देता है, असत्य सर्पादि नहीं, क्योंकि समीप में विद्यमान होने पर भी सर्प यदि अज्ञात है, तब भय का कारण नहीं होता। यह जो युक्ति दी जाती है कि 'केवल (विषय-रहित) ज्ञान को कारण मानने पर अतिप्रसङ्ग होता है, अतः विषय-विशिष्ट ज्ञान को ही हेतु माना जाता है, उसमें विशेषणरूप से प्रविष्ट विषय भी हेतु होता है।' वह युक्ति भी असंगत है, क्योंकि सर्पादि से विशिष्ट होकर ज्ञान भयादि का जनक नहीं माना जाता, अपितु सर्पादि से उपलक्षित ज्ञान, अतः सर्पादि विषय हेतुतावच्छेदक नहीं होता, तटस्थ रह कर ही ज्ञान में हेतुता का सम्पादकमात्र होता है। उपलक्षण-स्थल पर सर्वत्र उपलक्षित वस्तु ही अर्थ क्रिया-कारी होती है, उपलक्षक पदार्थ नहीं। जैसे—

(१) घट से उपलक्षित घटात्यन्ताभाव और घट-ध्वंसादि का ही घट के देश-काल से विरोध होता है, घट का नहीं।

(२) घट से उपलक्षित इच्छा ही घट से जन्य होती है, स्वयं घट नहीं। ब्रह्मो-

न्यायामृतम्

विहितनिषिद्धकरणाभावयोः प्रत्यवायार्दि प्रति, स्वर्गकामनायाश्च यागं प्रति, अतीतादिस्मृत्यादेर्दुःखादिकं प्रति, असद्विषयकपरोक्षज्ञानस्य च तद्व्यवहारं प्रति हेतुत्वेऽपि अवच्छेदकस्य घटस्य, विशेषदर्शनस्य, विहितनिषिद्धकरणयोः स्वर्गस्यातीतादेरत्यंतासतश्च तदभाववत्, चिकीर्षितघटबुद्धेर्घटहेतुत्वेऽपि घटस्य तदभाववत्, ब्रह्मज्ञानस्य तदज्ञाननिवतर्कत्वेऽप्युदासीनस्वभावस्य ब्रह्मणस्तदभाववत्। ब्रह्मज्ञानस्य जगत्प्रति परिणामिकारणत्वेऽपि ब्रह्मणस्तदभाववच्चार्थावच्छिन्नस्य हेतुत्वे पि अवच्छेदकार्थस्य कुरूणां क्षेत्रे वसतीत्यत्र कुरूणामिव ताटस्थ्येनाहेतुत्वोपपत्तेः। तथा च रज्जुसर्पादिधी-

अद्वैतसिद्धिः

घटस्याजनकत्ववत्, (४) विवेषादर्शनस्य भ्रमं प्रति जनकत्वेऽपि विशेषदर्शनस्य तदभाववत्, (५) विहिताकरणस्य प्रत्यवायजनकत्वेऽपि विहितकरणस्य तदभाववत्, (६) स्वर्गकामनायाः यागजनकत्वेऽपि स्वर्गस्य तदजनकत्ववत्, (७) अतीतादिस्मृत्यादेर्दुःखादिजनकत्वेऽप्यतीतादेस्तदजनकत्ववत्, (८) असद्विषयकपरोक्षज्ञानस्य तद्व्यवहारहेतुत्वेऽप्यसतस्तदभाववत्, (९) चिकीर्षितघटबुद्धेर्घटहेतुत्वेऽपि घटस्य तदहेतुत्ववत्, (१०) ब्रह्मज्ञानस्य तदज्ञाननिवर्तकत्वेऽप्युदासीनस्वभावस्य ब्रह्मणस्तदभाववत्, (११) ब्रह्माज्ञानस्य जगत्परिणामिकारणत्वेऽपि ब्रह्मणस्तदभाववच्च। न च--तथापि मिथ्यार्थे ज्ञानव्यावर्तकताऽस्तीत्यसतोऽपि हेतुत्वमिति--वाच्यम्, न हि व्यावृत्तिधीहेतुत्वं व्यावर्तकत्वम्, किन्तु व्यावृत्तिधीहेतुधीविषयत्वमेव, सत्यपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पलक्षित ज्ञान ही वेदान्त-जन्य होता है, ब्रह्म नहीं।

(३) घट का प्रागभाव ही घट का जनक होता है, स्वयं घट अपना जनक नहीं।

(४) स्थाणुत्व-व्याप्य शाखादिमत्तारूप विशेष का अदर्शन ही भ्रम का जनक होता है, विशेष पदार्थ या उसका दर्शन नहीं।

(५) सन्ध्या-वन्दनादि विहित कर्मों का न करना ही प्रत्यवाय का जनक होता है, विहित कर्मानुष्ठान नहीं।

(६) स्वर्गोपलक्षित कामना ही याग का अनुष्ठापक होती है, स्वर्ग नहीं।

(७) अतीत पदार्थों का स्मरण ही दुःखादि का जनक होता है, अतीतादि पदार्थ नहीं।

(८) असद्विषयक परोक्ष ज्ञान ही असद् वस्तु के व्यवहार का जनक होता है, स्वयं असत् वस्तु नहीं।

(९) चिकीर्षित घट से उपलक्षित ज्ञान ही घट के निर्माण का हेतु होता है, घट नहीं।

(१०) ब्रह्मोपलक्षित ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक होता है, उदासीन स्वभाव-वाला ब्रह्म नहीं।

(११) ब्रह्मोपलक्षित अज्ञान ही जगत् का परिणामी उपादान कारण होता है, ब्रह्म नहीं। व्यावृत्ति का साधक जब मिथ्या पदार्थ भी अपने ज्ञान का (व्यावर्त्तक) होता है, तब विषयीभूत मिथ्या पदार्थ में साधकता क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि व्यावृत्ति-ज्ञान के हेतु को व्यावर्त्तक नहीं माना जाता, अपितु व्यावृत्ति-ज्ञान के जनकीभूत ज्ञान की विषय वस्तु को व्यावर्तक कहा जाता है, क्योंकि विद्यमान रहते

न्यायामृतम्

साध्यभयादौ सर्पपूर्वकं फलेच्छासाध्ययागादौ फलवन्नैव कारणम्। नन्वथापि मिथ्यार्थं ज्ञानं प्रति व्यावृत्तिधीहेतुत्वरूपव्यावर्तकत्वमस्तीत्यसतोऽपि हेतुतेति चेन्न, यतो व्यावृत्तिधीहेतुधीविषयत्वमेव व्यावर्तकत्वम्, सत्यपि दण्डे तदज्ञाने व्यावृत्त्यज्ञानात्।

नन्वथाप्यवच्छेदकस्य मिथ्यात्वेऽवच्छिन्नस्यापि तन्नियमादसत्यस्य हेतुतेति चेन्न, तुच्छस्य ज्ञाने तुच्छाद्वैलक्षण्ये च तुच्छत्वस्य प्रातिभासिकाद्वैलक्षण्ये च प्रातिभासिकत्वस्य पञ्चमप्रकारायामात्मस्वरूपभूतायां वाऽनिर्वचनीयाज्ञाननिवृत्तौ च चतुर्थप्रकाररूपानिर्वचनीयत्वस्य पारमार्थिकात्मस्वरूपे तद्भिन्ने वानृतद्वैतस्याभावे ततो व्यावृत्तौ चानृतत्वस्यादर्शनात्। तत्रावच्छेदकानामसदादीनां ताटस्थ्येऽत्रापि विषयस्तथास्तु। वस्तुतस्त्वर्थानवच्छिन्नमेव ज्ञानं हेतुः। न चातिप्रसङ्गः, विषयावच्छेदमनपेक्ष्य स्वत एव सर्पज्ञानस्यासर्पज्ञानाद्व्यावृत्तेः। तथा हि सर्पज्ञानमसर्पज्ञानात्तावद्व्यावृत्तं व्यावृत्तिश्च व्यावर्तकाधीना न च विषयस्तत्संबंधो वा व्यावर्तकः, स्वरूपातिरिक्तद्विष्ठसम्बन्धाभावात्। असंबद्धस्य चाव्यावर्तकत्वात्।

अद्वैतसिद्धिः

दण्डे तदज्ञाने व्यावृत्त्यज्ञानात्। अथावच्छेदकस्य मिथ्यात्वे अवच्छिन्नस्यापि तन्नियमः, न, तुच्छज्ञाने तुच्छवैलक्षण्ये च तुच्छत्वस्य, प्रातिभासिकाद्वैलक्षण्ये प्रातिभासिकत्वस्य, पञ्चमप्रकारायामात्मस्वरूपभूतायां वा अनिर्वचनीयाज्ञानस्य निवृत्तौ चतुर्थप्रकरानिर्वचनीयत्वस्य, पारमार्थिकात्मस्वरूपे तद्भिन्ने वा अनृतद्वैतस्याभावेऽनृतत्वस्य चादर्शनात् तत्रावच्छेदकानामसदादीनां ताटस्थ्येऽत्रापि तथास्त्विति—चेत्, अत्रोच्यते—यदुक्तं ताटस्थ्यलक्षणमुपलक्षणत्वमेव सर्वत्रावच्छेदस्येति, तन्न, विशेषणत्वे सम्भवत्युपलक्षत्वायोगात्। विशेषणबाधपूर्वकत्वादुपलक्षणत्वकल्पनायाः, अन्यथा 'दण्डी प्रैषा-

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

पर भी दण्ड यदि अज्ञात है, तब दण्डी पुरुष का व्यावर्तक नहीं माना जाता।

अवच्छेदक (धर्म) के मिथ्या होने पर अवच्छिन्न (धर्मी) भी नियमतः मिथ्या होगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अवच्छेदक-वृत्ति धर्म का अवच्छिन्न में रहने का कोई नियम नहीं, जैसे कि अवच्छेदकीभूत तुच्छ में तुच्छत्व रहने पर भी तुच्छावच्छिन्न तुच्छ के ज्ञान में तुच्छत्व नहीं रहता, इसी प्रकार तुच्छ भेद में तुच्छत्व, प्रातिभासिक-भेद में प्रातिभासिकत्व नहीं देखा जाता। अज्ञान-निवृत्ति को कुछ लोग पञ्चम प्रकार मानते हैं और कुछ लोग आत्मस्वरूप, अतः अज्ञान में अनिर्वचनीयत्व रहने पर भी उसकी निवृत्ति में नहीं माना जाता, मिथ्या द्वैत के अभाव में मिथ्यात्व भी नहीं सिद्ध होता। फलतः रज्जु-सर्पादि असत् पदार्थ भयादि के जनक नहीं होते, अपितु उनका ज्ञान ही अर्थ क्रिया-कारी होता है।

अद्वैतवादि—अवच्छेदकीभूत पदार्थ सर्वत्र तटस्थ या उपलक्षण ही होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि अवच्छेदक को जहाँ विशेषण नहीं माना जा सकता, वहाँ ही उसे उपलक्षण माना जाता है। यदि अवच्छेदक में विशेषणता सम्भव है, तब उसमें उपलक्षणता नहीं मानी जाती, अन्यथा "दण्डी प्रैषान् अन्वाह" [दर्शपोर्णमासादि इष्टि कर्मों में प्रैषसंज्ञक, ऋत्विजों के लिए 'अग्नि यज'—इत्यादि आज्ञा-वाक्यों का प्रयोग अध्वर्यु किया कहता है और अनुवचनसंज्ञक ऋङ्मन्त्र का विशेषोच्चारण होता ऋत्विक्। इष्टि के विकृतिभूत पशुकर्म में प्रैष तथा अनुवचन—दोनों मैत्रावरुण के लिए विहित

अद्वैतसिद्धिः

न्वाह', 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ती'त्यादावपि वेदे दण्डलोहित्यादेरुपलक्षणत्वात्, तदभावेऽपि अनुष्ठानप्रसङ्गः, 'सर्वादीनि सर्वनामानी'त्यत्र सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा न स्यात्, 'जन्माद्यस्य यत' इत्यत्र जन्मनो ब्रह्मलक्षणत्वं न स्यात्, विशेषणार्थत्वेन तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसंभवेऽप्युपलक्षणार्थत्वेनातद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिस्वीकारप्रसङ्गात्। एवं 'असिपाणयः प्रवेश्यन्ता'मित्यादिलौकिकप्रयोगेऽपि। प्रतिबिम्बादिज्ञानानां जनकत्वे च विशेषणतया प्रतिबिम्बादीनामपि जनकत्वे बाधाभावात् नोपलक्षणत्वपक्षो युज्यते, उदाहृतस्थलेषु सर्वत्र बाधकमस्त्येवेति विशेषः। तथा हि—प्रथमे घटदेशकालौ गृहीत्वा तद्भिन्नदेशकालत्वं तदत्यन्ताभावादौ ग्राह्यम्, घटस्यापि तत्सं-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है—"मैत्रावरुणः प्रैष्यति च अन्वाह च"। सूत्रकार ने भी कहा है—"प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात्" (जै. सू. ३।७।४३)। प्रैष और अनुवचन करते समय 'दण्डी प्रैषानन्वाह' अर्थात् दण्ड के सहारे खड़ा होकर मैत्रावरुण प्रैष और अनुवचन करे।] यहाँ पर मैत्रावरुण का अवच्छेदकीभूत दण्ड यदि उपलक्षण है, तब दण्ड के न रहने पर भी वह प्रैष और अनुवचन कर सकेगा, जो कि विधि-विरुद्ध है। लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति"—यहाँ पर भी लोहित उष्णीष (लाल पगड़ी) यदि उपलक्षण है, तब उसके विना भी ऋत्विग्गण प्रचरण कर सकेंगे, किन्तु वह अवैध है।

इसी प्रकार "सर्वादीनि सर्वनामानि" (पा. सू. १।१।२७) इस सूत्र के द्वारा 'सर्व' शब्द की 'सर्वनाम' संज्ञा न हो सकेगी, क्योंकि 'सर्व' पद उपलक्षण होने के कारण सर्वादि गण में प्रविष्ट नहीं हो सकेगा। "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र. सू. १।१।२) यहाँ पर जन्म-कर्तृत्व, स्थिति-कर्तृत्व तथा लय-कर्तृत्व—तीनों ब्रह्म के स्वतन्त्र लक्षण माने जाते हैं, उनमें 'जन्म' पद के उपलक्षण होने के कारण प्रथम लक्षण के अभाव में दो ही ब्रह्म के तटस्थ लक्षण रह जाते हैं, जो कि भाष्यादि से विरुद्ध है, क्योंकि भाष्यकार ने कहा है—"जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः, जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः।" 'जन्म' को उपलक्षण मानने पर न तो तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि मान सकेंगे और न "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति च" (तै. उ. ३।१) इस श्रुति में निर्दिष्ट लक्षणत्रय से इस सूत्र की संगमनिका ही हो सकेगी?

इसी प्रकार 'असिपाणयः प्रवेश्यन्ताम्'—इत्यादि लौकिक प्रयोगों में भी असि के उपलक्षण होने पर असि-रहित पुरुषों का भी प्रवेश प्राप्त होगा, उसकी निवृत्ति के लिए असि-जैसे अवच्छेदकीभूत पदार्थों को विशेषण ही मानना होगा और 'असिः पाणौ येषाम्, ते असिपाणयः'—यहाँ तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि। प्रतिबिम्बादि-स्थल पर प्रतिबिम्ब-ज्ञान को बिम्ब का साधक मानने पर भी विशेषणविधया प्रतिबिम्ब में साधकता अबाधित है, जब तक विशेषणता का बाध न हो, तब तक उपलक्षणत्व-पक्ष युक्ति-युक्त नहीं कहा जा सकता। ऊपर जो उपलक्षणता-पोषक ग्यारह उदाहरण दिखाए है, वहाँ सर्वत्र विशेषणता के बाधक विद्यमान हैं—

(१) प्रथम घटात्यन्ताभाव और घट-ध्वंस में घट को विशेषण मानने पर विशिष्ट-वृत्ति धर्म को विशेषण में मानना होगा, अतः जैसे घटात्यन्ताभाव और घट-ध्वंस घट के देश और काल में नहीं रहते, वैसे विशेषणीभूत घट में भी घट-देशावृत्तित्व

अद्वैतसिद्धिः

आद्ये तद्देशकालभिन्नदेशकालत्वमेव व्याहतं स्यात् । द्वितीये त्विष्टापत्तिः, क्वचिद् घटज्ञानस्य घटेच्छाजनकत्ववद् घटं प्रत्यपि जनकत्वाद्, ब्रह्मणो वेदान्तसाध्यत्वे तु नित्यत्वविरोधः । तृतीये प्रागभाववद् घटस्य स्वजनकत्वे प्रतियोगिप्रागभावयोः समानकालीनत्वापत्तिः, स्वावधिकपूर्वत्वघटितजनकत्वस्य स्वस्मिन् व्याहतत्वं च । चतुर्थे पञ्चमे च प्रतियोगितदभावयोः सहावृत्त्या भ्रमप्रत्यवाययोरनुपपत्तिप्रसङ्गः । षष्ठे कामनायां कामनाविषयस्य यागजनकत्वे तस्य प्राक्सत्तया तत्कामनैव व्याहन्येत, सिद्धे इच्छाविरहात् । सप्तमे अतीतस्य जनकत्वे कार्याव्यवहितपूर्वकाले स्वस्वव्यापाऱ्यान्यतर-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और घट-कालावृत्तित्व मानना पड़ेगा, जो कि बाधित है, अतः यहाँ घट को उपलक्षण ही मानना होगा । अर्थात् विशेष्य के देश-काल में विद्यमान पदार्थ को ही विशेषण माना जाता है, घट में अपने विशेष्यभूत अत्यन्ताभाव और ध्वंस के देश-काल की विद्यमानता बाधित है, अतः यहाँ घट को उपलक्षण माना जाता है ।

(२) द्वितीय उदाहरण में जो यह कहा गया कि घटेच्छा में घट-ज्ञान की जन्यता के समान इच्छा के विशेषणीभूत घट में भी घट-ज्ञान की जन्यता प्राप्त होगी । उसमें इष्टापत्ति है, क्योंकि घटादि-निर्माण के पूर्व कुलाल के मस्तिष्क में भावी घट का आलोचनात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके पश्चात् ही घट की रचना होती है, अतः घट में घट-ज्ञान-जन्यत्व अभीष्ट ही है । हाँ, ब्रह्म-ज्ञान में ब्रह्म को विशेषण मानने पर ब्रह्म में भी वेदान्त-साध्यत्व प्राप्त होगा, जो कि नित्य ब्रह्म में बाधित है ।

(३) तृतीय उदाहरण घट-प्रागभाव में घट को विशेषण मानने पर जैसे घट-प्रागभाव में घट-पूर्वकाल-वृत्तित्व है, वैसे घट में भी घट-पूर्व काल-वृत्तित्व प्रसक्त होता है, जो कि व्याहत है, अतः घट-प्रागभाव का अर्थ घटोपलक्षित प्रागभाव ही करना होगा ।

(४) चतुर्थ उदाहरण 'विशेषदर्शनाभाव' में विशेषदर्शन पदार्थ को विशेषण मानने पर अदर्शन-काल में विशेष-दर्शन को रहना होगा, तब तो भ्रमरूप कार्य का जन्म ही नहीं होगा, क्योंकि विशेष-दर्शन भ्रम का विरोधी होता है, अतः विशेष-दर्शन को अपने अभाव का उपलक्षण ही मानना होगा ।

(५) पञ्चम उदाहरण 'विहित-करणाभाव' में भी विहित-करण यदि विशेषण है, तब अपने अभाव-काल में रहकर प्रत्यवाय को उत्पन्न नहीं होने देगा, अतः विहित-करण को उपलक्षण ही मानना होगा ।

(६) षष्ठ उदाहरण 'स्वर्ग-प्राप्ति-कामना' में स्वर्ग-प्राप्ति को विशेषण मानने पर कामना के काल में स्वर्ग-प्राप्ति माननी पड़ेगी, तब तो उसकी कामना ही अघटित हो जायगी, क्योंकि अप्राप्त वस्तु की कामना होती है, प्राप्त की नहीं ।

(७) सप्तम उदाहरण 'अतीत-स्मरण' में अतीत पदार्थ यदि विशेषण है, तब स्मरण-काल में रहकर ही दुःख का जनक हो सकेगा, क्योंकि कार्याव्यवहित पूर्व काल में अदृष्टादि के समान साक्षात् या यागादि के समान अदृष्टादि व्यापर-द्वारा परम्परया रहनेवाला पदार्थ ही कारण होता हैं, अतः अतीत पदार्थ दुःख का कारण तभी हो सकता है, जब कि दुःखोत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण में अतीत पदार्थ विद्यमान हो या उसका कोई व्यापार, किन्तु यह सम्भव नहीं ।

अद्वैतसिद्धिः

सत्त्वापत्तिः । अष्टमे असतो जनकत्वे निःस्वरूपत्वव्याघातः । नवमे चिकीर्षितघटज्ञानवत् स्वस्य जनकत्वे पूर्ववद् व्याघातः । दशमे उदासीनस्य ब्रह्मणो न निवर्तकत्वम्, स्वरूपतः उपहितस्यैव वृत्तिविषयत्वेन तस्याविषयत्वाद्, उपहितस्य च निवर्तकत्वमस्त्येव । एकादशे ब्रह्माज्ञानस्य परिणामिकारणत्वेऽपि न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्, कार्ये जडत्वोपलम्भात् । एवंविधबाधकबलेन तत्रोपलक्षणत्वस्वीकारात् । न च प्रकृते बाधकमस्ति, अव्यवहितदेशकालादिवृत्तित्वस्य प्रातिभासिकसाधारणत्वात् । इदानीमत्र सर्प इत्यादिप्रतीत्यविशेषात् । न हि क्वचिद् बाधकबलेन मुख्यपरित्यागः कृत इति सर्वत्र तथैव भविष्यति, उत्कर्षाद्यनुविधानाच्च । तथा हि—स्वप्ने जागरे चोत्कृष्टकलधौतदर्शनाद् उत्कृष्टं सुखम् उत्कृष्टसर्पादिदर्शनाच्चोत्कृष्टं भयादि दृश्यते, विषयस्याकारणत्वे तदुत्कर्षानुविधानं कार्ये न स्यात्, न ह्यकारणोत्कर्षः कार्यमनुविधत्ते इति न्यायात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(८) अष्टम उदाहरण 'असद्विषयक परोपक्ष ज्ञान' में खपुष्पादि असत् पदार्थ को ज्ञान का विशेषण मानकर व्यवहार का जनक मानने पर उसकी अपनी असद्रूपता ही समाप्त हो जाती है, क्योंकि व्यवहार का जनक होने के लिए उसे व्यवहार के पूर्व सत् होना पड़ेगा, असत् का सत् होना सम्भव नहीं ।

(९) नवम 'चिकीर्षित घट-ज्ञान' उदाहरण में भी द्वितीय घट-ज्ञान-कल्प में कथित व्याघात है--'स्वं यदि स्वस्य जनकं स्यात् स्वस्मात्पूर्वं स्यात्' ।

(१०) दशम 'ब्रह्म-ज्ञान' में उपहित ब्रह्म को विशेषण माना जा सकता है, क्योंकि वह भी अज्ञान का निवर्तक होता है किन्तु शुद्ध ब्रह्म को विशेषण मानने पर उसकी तटस्थता या उदासीनता ही समाप्त हो जाती है, अतः उसे उपलक्षण ही मानना होगा ।

(११) एकादश उदाहरण 'ब्रह्माज्ञान' में ब्रह्म को अज्ञान का विशेषण मानकर प्रपञ्च को उसका परिणाम माना जाता है, तब प्रपञ्च में अनभूयमान जड़ता की अनुपपत्ति होती है, क्योंकि सुवर्ण के परिणाम में सुवर्णता के समान चेतन के विकार में चैतन्यरूपता ही होनी चाहिए, जड़ता नहीं । इस प्रकार यह तथ्य स्थिर हो जाता है कि विशेषणता का बाध हो जाने पर ही उपलक्षणता मानी जाती है । किन्तु प्रकृत में किसी प्रकार का वाधक उपलब्ध न होने के कारण प्रातिभासिक के ज्ञान में प्रातिभासिक पदार्थ को विशेषण एवं कार्य-साधक मानने में कोई आपत्ति नहीं । कारणता का जो अव्यवहित प्राक्काल-सत्त्व लक्षण किया जाता है, वह भी प्रातिभासिक में भी विद्यमान है, उसके साक्ष्य में यह स्पष्ट प्रतीति है—'इदानीमत्र सर्पः ।' अतीतादि पदार्थों में प्रतीयमान कारणता बाधित हो जाती है तो सर्वत्र प्रतीत कारणता का अपलाप नहीं किया जा सकता । विषय-ज्ञान से जनित सुख-दुःखादि के तारतम्य का नियामक विषयगत तरतमभाव ही हो सकता है, ज्ञान में विषय-तारतम्य को छोड़कर स्वरूपतः किसी प्रकार का तारतम्य नहीं होता, जैसे कि स्वप्न या जागरण में रजत के एक छोटे टुकड़े को देखकर जो सुख होता है, बड़े टुकड़े को देखकर उससे अधिक एवं उससे भी बड़े रजत-खण्ड को देखकर और अधिक सुख, यहाँ तक सुमेरु के विशाल रजत शृङ्ग को देखकर महान् आनन्द होता है । यहाँ सुख का तारतम्य रजत के न्यूनाधिक भाव पर ही आधृत है । 'ज्ञान की अपनी प्रकर्षता का अनुविधान तज्जन्य सुखादि में होता'—ऐसा

अद्वैतसिद्धिः

न च ज्ञानप्रकर्षादेव तत्प्रकर्षः, ज्ञानेऽपि विषयगतप्रकर्षं विहायान्यस्य प्रकर्षस्याभावात्।

अथ ज्ञानगता जातिरेव प्रकर्षः, न, चाक्षुषत्वादिना सङ्करप्रसङ्गाद्, विषयप्रकर्षेणैवोपपत्तौ चाक्षुषत्वादिव्याप्यनानाजात्यङ्गीकारे गौरवान्मानाभावाच्च। किं च ज्ञानस्य भयादिजनकत्वे सर्पाद्यवच्छिन्नत्वमेव कारणतावच्छेदकमास्थेयम्। ज्ञानत्वेन जनकत्वे अतिप्रसङ्गात्। तथा च मिथ्यात्वावच्छिन्नत्वाकारेण ज्ञानस्य मिथ्यात्वाद् भ्रमस्थले ज्ञानमात्रस्य जनकत्वेऽपि मिथ्याभूतस्य जनकत्वमागतमेव जनकतावच्छेदकरूपेण च मिथ्यात्वे रूपान्तरेण च मिथ्यात्वे रूपान्तरेण सत्त्वमप्यसत्त्वात् नातिरिच्यते; अनुपयोगात्। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—'अन्यदा सत्त्वं तु पाटच्चरलुण्ठितवेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तमनुसरती'ति। स्वरूपेणापि तु भ्रमज्ञानस्य मिथ्यात्वमस्त्येव, स्वरूपतो

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं कह सकते, क्योंकि षिषयगत प्रकर्षता को छोड़कर ज्ञान में अन्य कोई भी प्रकर्षता सम्भव नहीं, अतः विषय को साधकता की कक्षा से बाहर रखकर ज्ञानगत साधकता का निर्वचन ही नहीं हो सकता।

शङ्का—ज्ञानगत प्रत्यक्षत्वादि के समान या प्रकाशगत उत्कृष्टत्व-अपकृष्टत्व के समान ज्ञान में ज्ञानत्व की व्याप्य उत्कृष्टत्वादि विविध जातियाँ रहती है, उन्हीं का उसके फल में प्रतिफलन होता है।

समाधान—ज्ञान में उत्कृष्टत्व-अपकृष्टत्व जातियाँ नहीं मानी जा सकतीं, क्योंकि चाक्षुषत्वादि जातियों से उनका साङ्कर्य हो जायगा। [साङ्कर्य भी जातित्व का बाधक होता है। साङ्कर्य का अर्थ होता है—'परस्पर परिहारवत्योर्जात्योरेकत्र समावेशः' (किर० पृ० ३३) उत्कृष्ट श्रावण ज्ञान में चाक्षुषत्व के न रहने पर भी उत्षृकृत्व रहता है और अपकृष्ट चाक्षुष ज्ञान में उत्कृष्टत्व के न रहने पर भी चाक्षुषत्व विद्यमान है। उत्कृष्ट चाक्षुष ज्ञान में चाक्षुषत्व और उत्कृष्टत्व—दोनों समाविष्ट हैं। सांकर्य दोष से बचने के लिए चाक्षुषत्वादि की व्याप्य नाना जातियाँ मानी जा सकती थीं किन्तु विषयगत प्रकर्ष से ही जब काम चल जाता है, तब चाक्षुषत्वादि-व्याप्य उत्कृष्टत्वादि नाना जातियाँ मानने में महान् गौरव है, एवं उनके मानने में किसी प्रमाण का समर्थन भी प्राप्त नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि सर्पादि-ज्ञानगत भयादि की जनकता का अवच्छेदक सर्पादिविषयकत्व ही है, ज्ञानत्व नहीं, क्योंकि ज्ञानत्व तो घटादि-ज्ञानों में भी है, वहाँ भयादि की जनकता नहीं। रज्जु-सर्पादि विषयकत्व ही ज्ञान में मिथ्यात्वापादक होता है, ज्ञानत्व नहीं। भ्रम-स्थल पर स्वरूपतः ज्ञान भयादि का जनक नहीं, अपितु सर्पादिविषयकत्वेन ही है, अतः रज्जु-सर्पादि मिथ्या पदार्थों मे भयादि की जनकता सिद्ध हो जाती है। वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है—"यद्यपि चाहिज्ञानमपि स्वरूपेण सत्, तथापि न तज्ज्ञानत्वेन भयहेतुरपि त्वनिर्वाच्याहिरूषितत्वेन तस्मादसत्यादपि सत्यस्योपजनः" (भामती पृ० ४५८-५९)। रज्जु-सर्पादि-विषयकत्वरूप से जब ज्ञान में मिथ्यात्व सिद्ध हो गया, तब ज्ञानत्वरूप से उसकी सत्यता असत्यता के ही बरावर है, क्योंकि इस प्रकार की सत्यता का कार्योपजनन में कोई उपयोग नहीं, खण्डनकार ने यही कहा है—"अन्यदा सत्त्वं तु पाटच्चरलुण्ठितवेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तमनुसरति" (खं० पृ० ४५)। अर्थात् जब रज्जु-सर्प-ज्ञान की सत्यता को सर्प घुस कर चुरा ले गया, तब ज्ञानत्व के जागने से क्या होता है? वस्तुतः ज्ञानत्वेन भी भ्रम-ज्ञान

अद्वैतसिद्धिः

बाधाभावे विषयतोऽप्यबाधप्रसङ्गात्। न च गुणजन्यत्वमुपाधिः, तस्याप्यापाद्यत्वेन वह्न्यनुमाने वह्निसामग्र्या इव साधनव्यापकत्वेनानुपाधित्वाद्, विषय इव मिथ्यात्वप्रयोजकदोषादिसमवहितसामग्र्या ज्ञानेऽपि अविशेषाच्च। तुच्छज्ञानतद्वैलक्षण्यादौ च तुच्छत्वादर्शनमबाधकम्, अवच्छेद्यावच्छेदकयोः सर्वत्र सारूप्यनियमानभ्युपगमात्, प्रकृते चावच्छेदक इवावच्छेद्येऽपि मिथ्यात्वप्रयोजकरूपतुल्यत्वेन सारूप्योपपत्तेः। सर्वसाधारणं चैकं कारणत्वमभ्युपगम्यैतदवोचाम। वस्तुतस्तु—दण्डतन्त्वादिसाधारणमेकं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

बाधित ही होता है, क्योंकि यदि वह स्वरूपतः बाधित न माना जाय, तब उसके विषय का भी बाध नहीं हो सकेगा। [माध्वमत में रज्जु-सर्पादि को असत् या बाधित माना जाता है और उसके भ्रमात्मक ज्ञान को सत् या अबाधित। अद्वैत सिद्धान्त में विषय और ज्ञान—दोनों को अविद्या-वृत्तिरूप ही माना जाता है, अतः अधिष्ठान-साक्षात्कार से दोनों का बाध हो जाता है, अतः माध्व मत के विरोध में यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि] 'यदि भ्रम-ज्ञानं स्वरूपतोऽबाध्यं स्यात्, तदा अबाधितविषयकं स्यात्।'

शङ्का—द्वेत मत के विरोध में उक्त तर्क के द्वारा जो यह अनुमान प्रतिफलित होता है—'रज्जु-सर्पादिविषयकं भ्रमज्ञानम्, अबाधितविषयकम्, स्वरूपतोऽबाधितत्वात् समीचीनज्ञानवत्।' उस अनुमान में 'गुण-जन्यत्व' उपाधि है [माध्वादि-सम्मत न्याय-मतवाद प्रमामात्र को गुण-जन्य मानता है—"भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षविशेषदर्शनादि-समवधाने प्रमा, तदभावे त्वप्रमेति प्रमायां गुणः अप्रमाया तदभावो हेतुः" (त. चि. पृ. ३४०)। प्रमामात्र में अबाधितविषयकत्व भी है, अतः उपाधि में साध्य-व्यापकत्व निश्चित है। रज्जु-सर्पादिविषयक भ्रम-ज्ञान में माध्वमत से स्वरूपतोऽबाधित्व है, किन्तु उस अप्रमा ज्ञान में गुण-जन्यत्व न रहने के कारण साधन का अव्यापक है]।

समाधान—गुण-जनित ज्ञान का स्वरूपतः बाध नहीं होता, यदि भ्रम ज्ञान स्वरूपतः अबाधित है, तब गुण-जन्य भी होगा, अतः जहाँ-जहाँ स्वरूपतः अबाधितत्व है, वहां-वहाँ गुण-जन्यत्व है—इस प्रकार गुण-जन्यत्व साधन का भी व्यापक होने के कारण वसे ही उपाधि नहीं है, जैसे वह्न्यनुमान में वह्नि-सामग्री धूम का व्यापक होने के कारण उपाधि नहीं मानी जाती। दूसरी बात यह भी है कि भ्रम-ज्ञान के विषय में मिथ्यात्व-प्रयोजक अविद्यादि का समवधान भ्रम-ज्ञान में भी है अर्थात् जिस अविद्या से सर्पादि विषय की उत्पत्ति होती है, उसी से भ्रम-ज्ञान भी उत्पन्न होता है, अतः वह किसी प्रकार भी अबाधित नहीं रह सकता। विषयरूप अवच्छेदक में मिथ्यात्व रहने से अवच्छिन्नरूप ज्ञान में भी मिथ्यात्व मानना ही पड़ेगा। यह जो शङ्का की गई कि तुच्छरूप अवच्छेदक में वृत्ति तुच्छत्व धर्म तुच्छ-भेदरूप अवच्छिन्न पदार्थ में नहीं देखा जाता, अतः अवच्छेदक-वृत्ति मिथ्यात्व भी अवच्छिन्न में क्योंकर रह सकेगा? उस शङ्का के समाधान में हमारा कहना यह है कि हम सर्वत्र अवच्छेदक और अवच्छिन्न पदार्थों का सारूप्य नहीं मानते, अपितु सारूप्य-प्रयोजक धर्म जहाँ उपलब्ध है, वहाँ ही सारूप्य होता है, सर्वत्र नहीं। प्रकृत में मिथ्यात्व-प्रयोजक धर्म दोनों में रहने के कारण अवच्छेदक (सर्पादि विषय) और अवच्छिन्न ज्ञान—दोनों मिथ्या हैं।

द्वैतवादियों का जो यह कहना था कि सत् ही साधक होता है, असत् नहीं, अर्थात् सर्वत्र सत्त्वावच्छिन्ना एक ही कारणता होती है, उसका परिमार्जन करने के लिए

अद्वैतसिद्धिः

कारणत्वं नास्त्येव, यत्र तव सत्त्वमवच्छेदकं, (तत्र न) मम तुच्छविलक्षणत्वादिकम्, किं तु कार्यतावच्छेदः घटत्वपटत्वादि, कारणतावच्छेदकं च दण्डतन्त्वादि। तद्भेदाच्च कारणत्वं भिन्नम्। यथा गोगवयसादृश्यमन्यद् भ्रातृभगिन्यादिसादृश्यमन्यत्, तत्र नैकमवच्छेदकम्, किंतु गवयत्वभगिनीत्वादिकमेव, तद्वदत्रापि दण्डत्वादिकमेव सत्त्वासत्त्वोदासीनमवच्छेदकं वाच्यम्। तथा च जनकत्वानुसारेण न सत्त्वासत्त्वसिद्धिः। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः —

'पूर्वसंबन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ।
हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा ॥' इति
अन्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः ॥' इति च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सर्वत्र तुच्छ-विलक्षणत्वावच्छिन्न एक कारणता को मान कर हमने भी अभी तक साधकता का उपपादन प्रस्तुत किया। वस्तुतः सर्वत्र एक कारणता होती नहीं, क्योंकि कार्यता और कारणता—दोनों सन्तुलित धर्म हैं, घटत्व-पटत्वादि विविध धर्मावच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारण भी कपालत्व तन्तुत्वादि विविध धर्मावच्छिन्ना ही होती है। कारणतावच्छेदक धर्मों के भेद से कारणता का भेद होना स्वाभाविक ही है। जैसे कि गो और गवय का सादृश्य भिन्न है तथा भ्राता और भगिनी का सादृश्य भिन्न, गवय-वृत्ति गोसादृश्य का अवच्छेदक गवयत्व तथा भगिनी-वृत्ति भ्रातृसादृश्य का अवच्छेदक भगिनीत्व होता है। उसी प्रकार प्रकृत में भी कारणता का अवच्छेदक न सत्त्व है और न असत्त्व, अपितु उनसे विलक्षण दण्डत्वादि, अतः जनकता या साधकता के माध्यम से प्रपञ्च की सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती। खण्डनकार ने यही कहा है—

पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ।
हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा ॥ (खं० पृ० ३८)
अन्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः ॥ (खं० पृ० ३०)

अर्थात् द्वैतवादी और हम (अद्वैतवादी) दोनों जब इस बात में एकमत हैं कि नियत पूर्व-सम्बन्धी पदार्थ को कारण कहा जाता हैं, तब इस कारण-तत्त्व से बाहर सत्त्व और असत्त्व की चर्चा व्यर्थ है, क्योंकि पूर्व-सम्बन्धी जो भी हो, वह कारण होता है, चाहे सत् हो या असत्। सत्ता-विशिष्ट पूर्व-सम्बन्धी को कारण कहने पर असत् कारण मानना होगा, क्योंकि सत्तारूप विशेषण में सत्ता न रहने के कारण सत्ता-विशिष्ट में भी सत्ता नहीं रह सकती, अतः वह असत् है। कारण-कोटि में सत्ता का अन्तर्भाव न करके सत्तोपलक्षित पूर्व सम्बन्धी के कारण मानने पर भी असत् कारण मानना पड़ता है, क्योंकि सत्ता-रहित पदार्थ ही सत्तोपलक्षित होता है। फलतः सत्कारणवादी इस उभयतः पाशा रज्जु के फन्दे से तभी छुटकारा पा सकता है, जब सत्त्वकारणतावाद का आग्रह छोड़ दे]।

शङ्का—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'—इत्यादि उपनिषद्वाक्य सदधिष्ठान का प्रतिपादन कर रहे हैं, अतः सत्कारणतावाद का निराकरण अद्वैतवाद के लिए आत्मघाती है, उसे खण्डन वाक्य की प्रतिध्वनि इस प्रकार प्रस्तुत करती है—

न्यायामृतम्

अथ संबंधान्तरमन्तरेण विशिष्टव्यवहारजननयोग्यं स्वरूपमेव वा ज्ञानमात्रनिष्ठ धर्मो वा संबंधः। तर्हि विषयमनन्तर्भाव्य ज्ञान एव विशेषः सिद्धः। किं च सर्पज्ञान-

अद्वैतसिद्धि

न चैवम् अन्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्ततः।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्ततः॥' इति

इति तवापि समानमिति—वाच्यम्, ममाधिष्ठाने स्वरूपत एव सत्ताङ्गीकारः, तव तु कारणे स्वरूपातिरिक्तसत्ताङ्गीकार इति विशेषात्। यत्तु अर्थो न ज्ञानस्य जनकतायामवच्छेदकोऽपि, मानाभावात्। न चातिप्रसङ्गः, विषयावच्छेदमनपेक्ष्यैव सर्पज्ञानस्यासर्पज्ञानाद्व्यावृत्तिसिद्धेः। तथा हि—सर्पज्ञानस्यासर्पज्ञानाद्व्यावृत्तिर्व्यावर्तकाधीना। न च विषयस्तत्सम्बन्धो वा व्यावर्तकः, स्वरूपातिरिक्तद्विष्ठसंबन्धाभावात्, असंबद्धस्य चाव्यावर्तकत्वात्। अथ संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टव्यवहारजननयोग्यं ज्ञानस्वरूपमेव वा ज्ञानमात्रनिष्ठः कश्चिद्धर्मो वा संबन्धः, तर्हि विषयमनन्तर्भाव्यैव ज्ञानात्तद्गतधर्माद्वा विशेषसिद्धिरित्यायातम्। किं च सर्पज्ञानमसर्पज्ञानाद्धर्म्यन्तरसंबन्धमनपेक्ष्य विलक्षणम्, तज्जनकविलक्षणजन्यत्वाद्, यवाङ्कुरात्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या।

अन्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्ततः।
नानाभावितसत्त्वं चेददिष्ठानमसत्ततः॥

अर्थात् अधिष्ठान तत्त्व में सत्ता का यदि प्रवेश किया जाय (सत्ता-विशिष्ट को अधिष्ठान माना जाय) तब सत्ता में सत्ता न रहने के कारण सत्ता-विशिष्ट अधिष्ठान को असत् ही मानना पड़ेगा और यदि अधिष्ठान में सत्ता का प्रवेश नहीं, तब तो अधिष्ठान कभी सत् हो ही नहीं सकता।

समाधान—अद्वैत-सिद्धान्त में जो अधिष्ठान को सत् माना जाता है, उसके लिए उस में सत्ता-वैशिष्ट्य या सत्ता के अन्तर्भाव की अपेक्षा नहीं, अधिष्ठान को सद्रूप ही माना जाता है, सत्तावान् नहीं, अतः सत्ता-रहित होने पर भी सत् है, किन्तु द्वैत-मत में सत्तावान् को सत् कहा जाता है, अतः कारण में सत्ता का अन्तर्भाव अपेक्षित है।

द्वैतवादी—विषय को ज्ञान-निष्ठ जनकता का अवच्छेद मानने में कोई प्रमाण नहीं। केवल (विषय-निरपेक्ष) ज्ञान को कारण मानने में किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग भी नहीं होता, क्योंकि विषय की अपेक्षा न करके सर्प-ज्ञान अपने से भिन्न असर्प-ज्ञान से स्वतः व्यावृत्त होता है। यह सत्य है कि सर्प-ज्ञान की इतर ज्ञानों से व्यावृत्ति व्यावर्त्तक के अधीन है, किन्तु विषय और विषय का सम्बन्ध व्यावर्त्तक हो नहीं सकता, क्योंकि विषय का ज्ञान के साथ स्वरूप ही सम्बन्ध माना जाता है, उससे भिन्न प्रकाश-घट-संयोग के समान कोई द्विष्ठ सम्बन्ध नहीं माना जाता, सम्बन्ध-रहित या असम्बद्ध विषय व्यावर्तक कैसे होगा ? सम्बन्धान्तर-निरपेक्ष विशिष्ट-व्यावहार की जनन-योग्यता ही ज्ञान का अपना स्वरूप होता है, अथवा केवल ज्ञान का असाधारण धर्म, व्यावृत्ति या भेद-ज्ञानरूप विशिष्ट व्यावहार के उत्पादन की क्षमता केवल ज्ञान में ही होती है विषय-सम्बन्ध की व्यावृत्ति में अपेक्षा ही नहीं होती।

ज्ञान की स्वतः व्यावृत्तता में अनुमान प्रमाण भी है—'सर्प-ज्ञान धर्म्यन्तर की अपेक्षा के विना ही असर्प-ज्ञान से विलक्ष होता है, क्योंकि असर्प-ज्ञान की जनक सामग्री

न्यायामृतम्

मसर्पज्ञानाद्धर्म्यंतरसंबंधमनपेक्ष्य विलक्षणम्, तज्जनकविलक्षणजन्यत्वाद्, यवांकुरात्कलमांकुरवत्। तज्जन्यविलक्षणजनकत्वाद्, यवबीजात्कलमबीजवत्। न च विलक्षणविषयसंबंधेनैव हेत्वोरुपपत्तेरप्रयोजकत्वम्, तथात्वे हि यवबीजतदंकुरविलक्षणजन्यजनके कलमांकुरतद्बीजे अपि कदाचिद्यवांकुरतद्बीजाभ्यां कलमांकुरत्वतद्बीजत्वरूपस्वाभाविकवैलक्षण्यं विनोपलक्षणभूतचैत्रादिसंबंधित्वमात्रेण विलक्षणे स्याताम्। साक्षात्कारोऽपि परोक्षज्ञानादन्यसंबंधित्वमात्रेण विलक्षणः स्यात्। गृहमपि संस्थानविशेषं विना विचित्रकाकहंसोपलक्षणत्वमात्रेण विचित्रकारणजं विचित्रकार्यकारि च स्यात्। अपि च ज्ञानस्य स्वकारणादुत्पत्तौ स्वकार्यकरणे च विषयः अभावस्य प्रतियोगीवोपलक्षणम्, अतीतादिज्ञानेऽसद्विषयकपरोक्षज्ञाने च तथा दर्शनात्। न हि तत्रार्थः अनिर्वाच्योऽप्यस्ति। उपलक्षणेन चान्यो व्यावर्तक उपस्थाप्यः, काकेन संस्थानविशेष इवेति स्वतो विशेषसिद्धिः। एवं च यथा प्रतियोगिनमनंतर्भाव्यैव घटस्याभावः, अभावांतराद् यथा च विषयमनंतर्भाव्यैव शिलोद्धरणकृतिर्माषोद्धरणकृतितः, यथा

अद्वैतसिद्धिः

कलमाङ्कुरवत्, तज्जन्यविलक्षणजनकत्वाद्वा, यवबीजात्कलमबीजवत्। न च विलक्षणविषयसंबन्धेनैव हेत्वोरुपपत्तावप्रयोजकत्वम्, तथात्वे हि यवबीजतदङ्कुरविलक्षण जन्यजनके कलमाङ्कुरतद्बीजेऽपि यवाङ्कुरतद्बीजाङ्कुराभ्यां कलमाङ्कुरतद्बीजत्वरूपस्वाभाविकवैलक्षण्यं विना कदाचिदुपलक्षणीभूतचैत्रादिसंबन्धित्वमात्रेण विलक्षणे स्याताम्। साक्षात्कारोऽपि परोक्षज्ञानादन्यसंबन्धितामात्रेण विलक्षणः स्यात्। एवं च यथा प्रतियोगिनमनन्तर्भाव्यैव घटस्याभावोऽभावान्तराद्, यथा च विषयमनन्तर्भाव्यैव शिलोद्धरणकृतिर्माषोद्धरणकृतितः, यथा चातीतादिज्ञानमसद्विषयकपरोक्षज्ञानव्यवहारो च ज्ञानान्तरादितः, यथा च घटस्मृतिर्घटानुभवाद्, यथा च घटस्य परोक्षज्ञानं तदपरोक्ष-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

से भिन्न सामग्री के द्वारा उत्पादित है, जैसे—जौ का अङ्कुर धान के अङ्कुर से अथवा असर्पज्ञान-जनित निर्भयतादि से भिन्न भयादि का जनक है, जैसे—यव का बीज कलम के बीज से।' यदि कहा जाय कि विभिन्न विषयों के संबन्ध से ही जब ज्ञानों का भेद निभ जाता है, तब कथित दोनों हेतु अप्रयोजक हैं। तो वैसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यदि विषय के संबन्ध से ज्ञानों के स्वाभाविक भेद का उपपादन किया जाता है, तब जगत् में कहीं भी स्वाभाविक भेद न रहेगा, यव-कलमादि के अङ्कुरों और बीजों का भेद भी उपलक्षणीभूत चैत्रादि व्यक्तियों के सबन्ध से उपपन्न हो जायगा. तथा प्रत्यक्ष ज्ञान भी परोक्ष ज्ञान से स्वतः भिन्न न होकर चैत्रादि के संबन्ध से ही भिन्न हो जायगा। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि स्वाभाविक भेद के उपपन्न न होने पर ही औपाधिक भेद होता है। प्रकृत में जैसे प्रतियोगी की अपेक्षा के बिना ही घट का अभाव पटादि के अभाव से, विषय की अपेक्षा के विना ही एक गुरु शिला उठाने की कृति (प्रयत्न) एक मासा भर वस्तु के उठाने की कृति से स्वतः ही भिन्न होती है, एवं जैसे अतीत-विषयक, असदादि-विषयक परोक्ष ज्ञान और व्यावहार विषय की अपेक्षा के बिना स्वतः ही भिन्न होता है, (अन्यथा उनके कार्यों का साङ्कर्य हो जायगा), वैसे ही सर्प-ज्ञान भी भ्रम होने के कारण असर्प-ज्ञान की अपेक्षा अधिक सामग्री का कार्य होने से अथवा स्वतः ज्ञानत्वेन भिन्न होता है। अभावादि में प्रतियोग्यादि को अवच्छेदक माना

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञानाद् विलक्षणम्। अन्यथा तत्तत्कार्यसङ्करः स्याद्, एवं सर्पज्ञानमपि रज्जौ सर्पज्ञानस्य भ्रमत्वेनाधिकजन्यत्वेऽपि सर्पज्ञानत्वेन तद्धेतुजन्यत्वात् स्वत एव वा असर्पज्ञानाद्विलक्षणमिति न कोऽपि दोषः। न चाभावादावपि प्रतियोग्यादेरवच्छेदकत्वं, ध्वंसादेः कृतेरतीतादिज्ञानस्य च सत्तासमये प्रतियोगिविषययोरसत्त्वाद्—इति। तन्न, सर्पज्ञानत्वावच्छिन्नस्यासर्पज्ञानाद् व्यावृत्तौ प्रयोजकं न तत्तत्स्वरूपमेव, सर्वज्ञानसाधारण्याभावात्, किन्त्वनुगतो धर्मः कश्चित्। सोऽपि सर्पज्ञानमात्रे न जातिरूपः, प्रत्यक्षत्वानुमानत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्, किंतूपाधिरूपः। स च स्वरूपसंबन्धेनाध्यासिकसंबन्धेन वा संबन्धिभूतविषयादन्यो न भवति, मानाभावात्। अत एव धर्म्यन्तरसंबन्धमनपेक्ष्य विलक्षणमित्युक्तानुमानं बाधितं द्रष्टव्यं व्यभिचारि च। तथा हि—घटसंयोगः, पटसंयोगान्न जात्या भिद्यते, तदवृत्तिजात्यनधिकरणत्वात्, किंतु घटरूपोपाधिनैवेति धर्म्यन्तरसम्बन्धमपेक्ष्यैव विलक्षणे घटसंयोगत्वावच्छिन्ने साध्याभाववति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता है—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि ध्वंस और प्रागभाव के समय उनके प्रतियोगी नहीं होते, शिला उठाने की कृति के समय शिला का स्पर्श नहीं होता तथा अतीतादि-ज्ञान के समय विषय उपस्थित नहीं होता, अतः वह अवच्छेदक, व्यावर्तक या विषेषण कैसे बन सकेगा ?

अद्वैतवादी—द्वैतवादी का उक्त प्रतिपादन उचित नहीं, क्योंकि सर्प-ज्ञान एक नहीं, अनेक हैं और सब का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता है। सर्पज्ञानत्वावच्छिन्न समस्त सर्पज्ञान का व्यावर्तक तत्तत् स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि भिन्न-भिन्न स्वरूपों में से कोई भी स्वरूप समस्त सर्प-ज्ञानों में अनुस्यूत नहीं, अपितु तत्तद्व्यक्ति मात्र में सीमित होता है, अतः समस्त सर्पज्ञान के भेद का अवच्छेदक नहीं हो सकता। उक्त भेद का वही धर्म अवच्छेदक होगा जो सभी सर्प-ज्ञानों में अनुगत हो। वह धर्म भी सर्प-ज्ञान मात्र में वर्तमान जातिरूप नहीं हो सकता, क्योंकि उसका प्रत्यक्षत्वादि से साङ्कर्य दिखाया जा चुका है, अतः उपाधिरूप ही उसे मानना होगा। वह उपाधि (द्वैति-सम्मत) स्वरूप सम्बन्ध या (अद्वैति-सम्मत) आध्यासिक तादात्म्य से सम्बन्धीभूत विषय ही हो सकता है, उससे भिन्न और किसी उपाधि के होने में कोई प्रमाण नहीं। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि ज्ञान अपनी व्यावृत्ति में नियमतः विषय-सम्बन्ध की अपेक्षा करता है, अतः उक्त अनुमान (सर्पज्ञानमसर्पज्ञानाद् धर्म्यन्तरसम्बन्धमनपेक्ष्य विलक्षणम्) बाधित हो जाता है।

केवल बाधित ही नहीं, व्यभिचारी भी है, क्योंकि 'घटसंयोगः पटसंयोगात् न जात्या भिद्यते, तदवृत्तिजात्यनधिकरणत्वात्' [जाति के द्वारा वे ही पदार्थ भिन्न होते हैं, जिनमें विभिन्न जातियाँ हों, जैसे घट-पटादि। घट-संयोग और पट-संयोग—दोनों में विभिन्न जातियाँ नहीं रहतीं, अपितु संयोगत्व, गुणत्व और सत्ता जाति दोनों में समान है। पट-संयोग में अवृत्ति द्रव्यत्व, घटत्व, रूपत्वादि जातियों में कोई ऐसी जाती सुलभ नहीं, जो घट-संयोग में रहती हो। घट-संयोगत्व पट-संयोगत्वादि कोई जातियाँ नहीं, अपितु सखण्ड उपाधियाँ हैं, जिनका अर्थ घटप्रातियोगिकत्वादि ही है, अतः इस अनुमान के द्वारा घटादि प्रतियोगी के भेद से ही घट-संयोग का भेद सिद्ध होता है, फलतः घट-संयोग में उक्त अनुमान का साध्य (धर्म्यन्तरसम्बन्धमनपेक्ष्य भिन्नत्व)

अद्वैतसिद्धिः

उक्तहेतुसत्त्वाद् व्यभिचारः, अप्रयोजकत्वं । न च—उपलक्षणीभूतचैत्रसंबन्धेनापि कलमाङ्कुरादेर्व्यावृत्ततापत्तिः, विपक्षबाधायामिष्टापत्तेः। न हि जातेर्व्यावर्तकत्वे उपाधिरव्यावर्तको भवति। एवं शिलोद्धरणमाषोद्धरणकृत्योः परस्परं जात्या व्यावृत्तावपि विषयरूपोपाधिनापि व्यावृत्तिरविरुद्धा। शिलोद्धरणे च जातिविशेषविशिष्टायाः कृतेर्जनकत्वेन तद्रहिताया माषोद्धरणकृतेस्तदनिष्पत्तिरदोषः। व्यावृत्तेरन्यतोऽपि सिद्धिसंभवे कार्यकारणभावादिनिर्वाहाय जातिविशेषस्यापि कल्पनात्, अतीतासद्विषयकज्ञानव्यवहारादौ चातीतासतोरेव व्यावर्तकत्वम्। न हि व्यावृत्तिधीजनकत्वं तत्, येन सत्त्वाभावे प्राक्सत्त्वशरीरतया न स्यात्, किं तु व्यावृत्तिधीजनकधीविषयत्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं रहता, किन्तु 'तज्जनकविलक्षणजन्यत्व' अथवा तज्जन्यविलक्षणजनकत्वरूप हेतु वहाँ भी रहता है, [क्योंकि पट-संयोग-जनक कर्मादि की अपेक्षा भिन्न कर्मादि से घट संयोग उत्पन्न एवं पट-संयोग से जनित पट-प्रत्याक्षादि की अपेक्षा भिन्न घट-प्रत्यक्षादि कार्य का घट-संयोग जनक होता है]।

बाधित और व्यभिचारी होने के साथ-साथ उक्त दोनों हेतु अप्रयोजक भी हैं, क्योंकि उक्त हेतुओं को यदि घट-संयोगादिरूप विपक्ष में वृत्ति माना जाता है, तब उसकी निवृत्ति के लिए कोई तर्क सुलभ नहीं विपक्ष-वृत्तिता का बाधक जो तर्क प्रदर्शित किया जा चुका है कि 'यदि धर्म्यन्तर-सम्बन्ध से ही सर्वत्र भेद सिद्ध किया जाता है, तब चैत्रादि के सम्बन्ध से ही यव-कलमादि के अङ्कुरों का भी भेद सम्पन्न हो जाता है, उनका जात्या स्वाभाविक भेद उच्छिन्न हो जायगा।' वह तर्क व्यर्थ है, क्योंकि वस्तु का व्यावर्तक एक ही धर्म होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, जाति के व्यावर्तक होने पर उपाधि व्यावर्तक नहीं रहती - यह बात नहीं, अतः शिलोद्धाणार्थ कृति और माषोद्धरणार्थ कृति का जात्या भेद होने पर भी विषयरूप उपाधि के द्वारा भी भेद प्रदर्शित किया जा सकता है। 'जब शिला और माषरूप विषय के सम्बन्ध से उनकी कृतियों का भेद सिद्ध हो जाता है, तब वहाँ जाति-विशेष मानने की क्या आवश्यकता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि माषोद्धरण-कृति से शिलोद्धरण नहीं होता—इसका कारण यह है कि जिस जातिवाली कृति से शिलोद्धरण सम्पन्न होता है, माषोद्धरण-कृति में उस जाति का अभाव होता है। दोनों कृतियों का अपने-अपने उद्धरणरूप कार्य के साथ सटीक कार्य-कारणभाव उपपन्न करने के लिए विभिन्न जातियों की कल्पना आवश्यक है। अतीत और असद्विषयक ज्ञान तथा व्यावहार का व्यावर्तक भी अतीत और असत् विषय ही होता है। अतीत और असत् पदार्थों में व्यावृत्ति-ज्ञान के अव्यवहित पूर्व-सत्त्व न होने पर भी व्यावर्तकता बन जाती है, क्योंकि व्यावृत्ति-जनकत्व को व्यावर्तकत्व न मान कर व्यावृत्ति-ज्ञान-जनक ज्ञान-विषयत्व को व्यावर्तकत्व का स्वरूप माना जाता है—यह कह आए हैं। वह तो अतीतादि में सुलभ ही है, क्योंकि अतीतादि-विषयक ज्ञान ही व्यावृत्ति-ज्ञान का जनक है और अतीतादि केवल उस ज्ञान के विषय हैं, जनक नहीं। यह जो पूर्व पक्ष में कहा गया कि 'अभावादि में भी प्रतियोगी अवच्छेदक नहीं होता, क्योंकि ध्वंसादि के समय प्रतियोगी सत् नहीं होता'—वह उदाहरण भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि व्यावर्तकत्व का अर्थ व्यावृत्ति-ज्ञान-जनकत्व नहीं, अपितु व्यावृत्ति-धीजनकधी-विषयत्व है, इस प्रकार का व्यावर्तकत्व

अद्वैतसिद्धिः

मित्युक्तम् । तच्चातीतादौ सुलभमेव । अत एवाभावादिनिदर्शनमपि निरस्तम् , उक्तरूपव्यावर्तकत्वस्यात्यन्तासत्यपि सम्भवेन कदाचित् सति संभवस्य कैमुतिकन्यायसिद्धत्वात् । ननु—विषयस्य व्यावर्तकत्वेऽपि सर्वत्र विशेषणत्वासंभवाद् उपलक्षणत्वमेव वाच्यम् , उपलक्षणेन चोपलक्ष्यगतस्वसंबन्धव्यतिरिक्तः कश्चिद्धर्म एवोपस्थाप्यते, काकेनेव गृहसंबन्धिना तद्गतसंस्थानविशेषः, तथा च स एव व्यावर्तक इति विषयसंबन्धमनपेक्ष्य स्वगतेनैव धर्मेण ज्ञानस्य व्यावृत्तिसिद्धिरिति—चेन्न, विषयस्य विशेषणत्ववदुपलक्षणत्वस्याप्यनभ्युपगमात् । येन हि स्वोपरागाद्विशेष्ये व्यावृत्तिबुद्धिर्जन्यते, तद्विशेषणं व्यावृत्तिबुद्धिकाले विशेष्योपरञ्जकमित्यर्थः, यथा गोत्वादि । येन च स्वोपरागमुदासीनं कुर्वता विशेष्यगतव्यावर्तकधर्मोपस्थापनेन व्यावृत्तिबुद्धिर्जन्यते तदुपलक्षणम् , यथा काकादि । यत्तु-विशेष्ये नोपरञ्जकम् , न वा धर्मान्तरोपस्थापकम् , अथ च व्यावर्तकं तदुपाधिः, यथा पङ्कजशब्दप्रयोगे पद्मत्वम्, यथा चोद्भिदादिशब्दप्रयोगे यागत्वावान्तरजातिविशेषः । अत्र हि पद्मत्वयागत्वावान्तरधर्मौ पङ्कजनिकर्तरि फलोद्भेदनकर्तरि च न धर्मान्तरमुपस्थापयतः, अप्रतीतेः, न वा स्वोपरक्तां बुद्धिं जनयतः, समुदाये शक्त्यन्तरानभ्युपगमाद् , अथ च कुमुदज्योतिष्टोमादिभ्यो व्यावर्तकावित्युपाधी एव ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जब अत्यन्त असत् खपुष्पादि में सम्भव हो गया, तब कदाचित् सत् प्रतियोगी में क्यों न रहेगा ?

शङ्का—ज्ञान के विषय में व्याजर्तकत्व मान लेने पर भी सर्वत्र विशेषणता संभव नहीं, अतः उपलक्षणता ही कहनी चाहिए। उपलक्षण के द्वारा उपलक्ष्य वस्तु में अपने सम्बन्ध से भिन्न कोई धर्म ही उपस्थापित किया जाता है, जैसे कि काकरूप उपलक्षण के द्वारा गृहगत उत्तृणत्वादि विशेष चिह्न व्यवस्थापित किया जाता है, अतः विषय-संबन्ध की अपेक्षा किये विना ज्ञानगत विशेष धर्म के द्वारा ज्ञान की व्यावृत्ति होती है ।

समाधान—उपलक्षण पदार्थ अवश्य उपलक्ष्यगत धर्म-विशेष का व्यवस्थापक होता है और वह धर्म-विशेष ही व्यावर्तक होता है, किन्तु विषय को न विशेषण माना जाता है और न उपलक्षण। जो धर्म विशेष्यगत अपने सम्बन्ध के द्वारा विशेष्य का व्यावर्तक होता है, उसे विशेषण कहते हैं। व्यावृत्ति-ज्ञान के समय विशेषण विशेष्य का विशेषक या उपरञ्जक होता है, जैसे—गोत्वादि । जो विशेष्यगत अपने उपराग को छिपा कर विशेष्यगत व्यवस्थापित चिह्नविशेष के द्वारा विशेष्य का व्यावर्तक होता है, उसे उपलक्षण कहते हैं, जैसे—काकादि । जो न तो विशेष्य का उपरञ्जक होता है और न धर्मान्तर का उपस्थापक, फिर भी विशेष्य का व्यावर्तक होता है, उसे उपाधि कहते हैं, जैसे—'पङ्कज' शब्द के प्रयोग में पद्मत्व अथवा उद्भिदादि शब्दों के प्रयोग में यागत्व-व्याप्य उद्भित्त्व जाति । यहाँ पद्मत्व और उद्भित्त्व—दोनों धर्म अपने-अपने विशेष्यभूत पङ्कज और उद्भित्सञ्ज्ञक याग में धर्मान्तर के उपस्थापक नहीं होते, क्योंकि वैसा कोई धर्मान्तर प्रतीत नहीं होता और न उपरञ्जक ही होते हैं, क्योंकि पङ्कज और उद्भिद्—जैसे यौगिक शब्दों की अवयवार्थ से अतिरिक्त पद्मरूप अर्थ में शक्ति नहीं मानी जाती जैसा कि श्रीकुमारिलभट्ट ने कहा है—'न च समुदायोऽर्थान्तरवाची लोके प्रसिद्धः" (तं० वा० पृ० ३२२)। फिर भी 'पङ्कज' पद अपने विशेष्य पद्म को कुमुदादि से और 'उद्भित्' पद अपने विशेष्यभूत याग-विशेष को अग्निष्टोमादि यागों से व्यावृत्त करता है,

न्यायामृतम्

चातीताविज्ञानमसद्विषयकपरोक्षज्ञानव्यवहारौ च ज्ञानांतरादितः। यथा च घटस्मृतिर्घटानुभवात्। यथा च घटस्य परोक्षज्ञानं तदपरोक्षज्ञानाद्विलक्षणम्, अन्यथा तत्तत्कार्यसंकरः स्यात्। न चाभावाद्यवच्छेदकप्रतियोग्यादिविशेषाद्संकरः। ध्वंसादेः कृतेरतीताविज्ञानस्य च काले प्रतियोगिविषययोरसत्त्वात्। पूर्वक्षणेऽसतश्च नियतपूर्ववृत्तित्वरूपकारणत्वव्याघातात्। उपलक्षणभेदमात्रेण च विलक्षणकार्याद्ययोगात्। अत्यन्तासतश्च कदाप्यभावात्। शिलोद्धरणार्थं माषोद्धारप्रयत्ने कृतेऽपि तदनिष्पत्तेश्च। तथा सर्पज्ञानमपि विषयमनंतर्भाव्यैव असर्पज्ञानाद्विलक्षणम्। उक्तप्रमाणैरनुभवेन च

अद्वैतसिद्धिः

इदं च प्राभाकराणां भाट्टानां च संमतमुदाहरणयुगलम्। तार्किकाणां त्वाकाशशब्दप्रयोगे शब्दाश्रयत्वमुदाहरणम्। अत एवाविद्यादिकं साक्षित्वादावुपाधिरिति सिद्धान्तो वेदान्तिनाम्। अतो यत्र विषयस्य विशेषणत्वं न संभवति, तत्कालासत्त्वात्, तत्रोपाधित्वाभ्युपगमान्नोपलक्षणत्वनिबन्धनदोषावकाशः, सन्देहे तु विशेषणत्वमेवाभ्यर्हितत्वादुपेयते। तस्माद्विषय एव सर्वत्र ज्ञाने व्यावर्तकः। एकविषयकस्मृत्यनुभवयोः परोक्षापरोक्षयोश्च विषयमनपेक्ष्य जात्या परस्परव्यावृत्तिदर्शनात्। सर्वत्र विषयनिरपेक्षा

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतः पद्मत्व और उद्भिद्त्वादि धर्म उपाधि हैं। उपाधि के कथित दोनों उदाहरण प्राभाकर तथा भाट्ट मत के अनुसार हैं [उद्भिदाधिकरण (जै० सू० १।४।१) में "उद्भिदा यजेत पशुकामः" (तां० ब्रा० १९।७।३) पर विचार करते हुए भाष्यकारने कहा है—:'उच्छब्दसामर्थ्याद् भिच्छब्दसामर्थ्याच्चोद्भिच्छब्दः क्रियावचनः—उद्भेदनं प्रकाशनं पशूनामनेन क्रियते।" उद्भिद् और बलभिद्—दोनों एकाह कर्म दर्शपूर्णमास के समान संयुक्त किए जाते हैं—उद्भिद्बलभिदौ चाहरतः संयुक्तौ" (का० श्रौ० सू० २२।१०।२१)]। तार्किक मत-सिद्ध उपाधि का उदाहरण है—'आकाश' शब्द के प्रयोग में शब्दाश्रयत्व। अत एव वेदान्त में अविद्यादि को साक्षी की उपाधि माना जाता।

[आचार्य अमलानन्द ने भी द्वैतवाद के प्रबल प्रहारों से वचने के लिए इसी त्रिपथगा का अनुसरण किया है—"न विशेषणम् अविद्या, नाप्युपलक्षणम्, किन्तूपाधिः। कः पुनरेषां भेदः? उच्यते—कार्यान्वयित्वेन विभेदकं हि विशेषणं नैल्यमिवोत्पलस्य। अनन्वयित्वेन तु भेदकानामुपाधिता उपलक्षणता च सिद्धा। तत्र च—

यावत्कार्यमुपस्थाय भेदहेतोरुपाधिता।
कादाचित्कतया भेदधीहेतुरुपलक्षणम्॥

नीलोत्पलमानय—इत्यत्र हि नैल्यं व्यावृत्तिप्रयुक्तानयनकार्यान्वयि सदुत्पल रक्ताद् व्यावर्तयति। अलक्तककाकौ तु स्फटिकगृहकार्ययोर्नान्वीयेते। अलक्तकं तु यावद्रक्तस्फटिकानयनमनुवर्तते, काकस्तु न चैत्रगृहगमनं यावदनुवर्तते" (कल्प० पृ० ४२१)]।

जहाँ अविद्यमान विषय को विशेषण नही माना जा सकता, वहाँ उपाधि माना करते हैं, उपलक्षण नहीं, अतः उपलक्षणपक्षीय दोषों को वहाँ कोई अवसर नहीं मिलता।

विशेषणत्व और उपाधित्व का सन्देह होने पर विशेषण पक्ष ही अभ्यर्हित एवं स्वीकरणीय है। इस विचार का निष्कर्ष यही निकला कि विषय ही सर्वत्र ज्ञान का व्यावर्तक होता है। 'एकविषयक स्मृति और अनुभव एवं परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञानों की

न्यायामृतम्

सिद्धस्य तस्य जातिरूपस्य विशेषस्याख्यातुमशक्यत्वात्। घटज्ञानमिति व्यवहारः क्षीरमाधुर्यं चाक्षुषज्ञानमितिवद्युक्तः। किं च त्वन्मते तत्तद्वृत्तेस्तत्तदाकारत्वेन चैतन्यस्य च तत्तत्प्रतिबिंबितत्वेन वा तदभिव्यक्तत्वेन वा मम तु तत्तज्ज्ञानस्य तत्तदीयस्वभावत्वेन वा तत्तद्व्यवहारजननशक्तत्वेन वा स्वत एव वैलक्षण्यम्। न हि गवयाकाररेखाया घटीयस्वभावस्य तदभावस्य वा दाहशक्तेर्वा यत्कार्यं तद्धेतुकोटौ गवयादेर्निवेशः। तस्माद्रज्जौ सर्पज्ञानस्य भ्रमत्वेनाधिकजन्यत्वेऽपि सर्पज्ञानत्वेन तद्धेतुजन्यत्वात् स्वत एवासर्पज्ञानाद् वैलक्षण्यमिति न कोपि दोषः। तदुक्तम्—

सर्पभ्रमादावपि हि ज्ञानमस्त्येव तादृशम्।
तदेवार्थक्रियाकारि तत्सदेवार्थकारकम्॥
अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्ततः।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्ततः॥

इत्यादिखंडनोक्ताऽसत्कारणता। अस्यैव श्लोकस्याकारप्र(क्षेपे)श्लेषेण पठितुं शक्यत्वात्—

अंतर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्ततः।
नांतर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्ततः॥

अद्वैतसिद्धिः

जातिरेव व्यावर्तिकेति न युक्तम्, भिन्नविषयके समानजातीये तदसंभवात्। न च—तत्रापि जातिरस्ति क्षीरादिमाधुर्यवदिति—वाच्यम्, चाक्षुषत्वादिना सङ्करस्योक्तत्वात्। न च—तव मते तत्तद्वृत्तेस्तत्तदाकारत्वेन चैतन्यस्य तत्प्रतिबिम्बितत्वेन तदभिव्यक्तत्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विषय की अपेक्षा के बिना ही परस्पर व्यावृत्ति देखकर सर्वत्र विषय-निरपेक्ष अनुभवत्वादि जातिमात्र को व्यावर्तक मानना चाहिए'—ऐसा कहना युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि भिन्न-विषयक समानजातीय दो ज्ञानों की परस्पर व्यावृत्ति जाति के द्वारा नहीं हो सकती, अगत्या विषय को उनका भेदक मानना होगा।

शङ्का—यह जो कहा गया कि घटानुभव और पटानुभव का परस्पर भेद विषय के माध्यम से ही हो सकता है, जाति के द्वारा नहीं, क्योंकि दोनों में एक अनुभवत्व जाति ही रहती है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि सभी अनुभवों में केवल एक अनुभवत्व जाति नहीं रहती, अपितु घटानुभव में जो अनुभवत्व-व्याप्य जाति रहती है, वह पटानुभव में नहीं, इस प्रकार प्रत्येक अनुभव में वैसे ही भिन्न-भिन्न जाति रहती है, जैसे कि इक्षु-माधुर्य, क्षीर-माधुर्य, गुड़-माधुर्यादि में मधुरत्व-व्याप्य भिन्न-भिन्न जातियाँ अनुभव-सिद्ध हैं, अतः भिन्न-भिन्न जातियों के द्वारा ज्ञानों का भेद होता है, विषय के द्वारा नहीं।

समाधान—कथित अनुभवत्व-व्याप्य जातियों का चाक्षुषत्वादि जातियों से सांकर्य दिखाया जा चुका है। सांकर्य दोष से बचने के लिए उक्त जाति को यदि तत्तद्व्यक्ति मात्र-पर्यवसित माना जाय, तब आकाशादि एक व्यक्ति में जैसे जाति नहीं रहती, वैसे ही यहाँ भी एक व्यक्ति-वृत्तित्व जातित्व का प्रतिबन्धक धर्म मिल जाता है।

द्वैतवादी—आप (अद्वैतवेदान्ती) के मत में जैसे घटादि के आकार की वृत्तियाँ एवं वृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्य स्वगत तत्तदाकारत्वादि अथवा तत्तद्व्यवहार-जनन-शक्त-

न्यायामृतम्

इत्यपि पठितुं शक्यत्वाच्च स्वव्याहता । "कथमसतः सज्जायेत"—इत्यादिश्रुत्या "नासतोऽदृष्टत्वाद्"-इत्यादिसूत्रेण, "असद्भ्यः शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनाद्"—इत्यादिस्वीयभाष्येण च विरुद्धाऽन्यत्रनिरस्ता च । तस्माद्धेतुव्याप्त्यादीनामसत्त्वेऽसिद्ध्यादि दुर्वारमिति असतः साधकत्वाभावे बाधकोद्धारः ।

अद्वैतसिद्धिः

वा मम तु तत्तज्ज्ञानस्य तत्तदीयस्वभावत्वेन तत्तद्व्यवहारजननशक्तत्वेन वा स्वत एव वैलक्षण्यमिति- वाच्यम् , विषयस्यैवाकारसमर्पकत्वेन स्वभावव्यवहारयोः परिचायकत्वेन च तन्नैरपेक्ष्येण व्यावर्तकताया वक्तुमशक्यत्वाद् , अस्माभिश्च तुच्छे जनकत्वस्यानुक्तत्वात् । विशेषणत्वोपाधित्वयोः संभवे च नोपलक्षणत्वमित्युक्तम् । न च 'कथमसतः सज्जायेते'ति श्रुत्या 'नासतोऽदृष्टत्वा'दिति सूत्रेण 'शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनाद्'—इत्यादिभाष्येण च विरोधः, तेषां तुच्छे जनकत्वनिषेधपरत्वाद् , अस्माभिश्च तुच्छे जनकत्वस्यानुक्तत्वात् । तस्मात् सद्विविक्तत्वं साधनमिति सिद्धम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ असतः साधकत्वाभावे बाधकम् ॥

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

त्वादि धर्मों के द्वारा व्यावृत्त होते हैं, वैसे ही हमारे मत में भी प्रत्येक ज्ञान स्वतः व्यावृत्त होता है, अपनी व्यावृत्ति के लिए विषय-संबन्ध की अपेक्षा नहीं करता ।

अद्वैतवादी—वृत्तिरूप ज्ञान या प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप ज्ञान स्वगत जिस विशेषता के कारण व्यावृत्त होते हैं, वह विशेषता विषय की ही देन है । विषय ही अपने आकार का समर्पण कर वृत्ति को साकार बनाता है, अतः विषय की अपेक्षा न कर वृत्ति या चैतन्य की व्यावृत्ति संभव नहीं । सौत्रान्तिक पद्धति के अनुसार यदि विषय को ज्ञानगत आकार-समर्पक माना जाता है, तब शशविषाणादि विषय को भी अपने ज्ञान में आकार-समर्पण-जनकत्व मानना होगा, जो कि संभव क्योंकर होगा ? इस शङ्का का समाधान यह है कि तुच्छ-विषयक परोक्ष ज्ञान तुच्छ से उत्पन्न न होकर शब्द-ज्ञानानुपाती विकल्प वृत्ति मात्र होता है, अतः वहाँ आकार-समर्पण की आवश्यकता ही नहीं । वस्तुतः हम तुच्छ विषयक ज्ञान को व्यवहार का जनक ही नहीं मानते कि तुच्छ में जनकता माननी पड़े । वर्तमान विषय अपने ज्ञान में विशेषण और अतीत विषय अपने परोक्ष ज्ञान में उपाधि होता है, विशेषणता और उपाधिता का सम्भव न होने पर ही विषय को उपलक्षण माना जाता है—यह सब कुछ कह चुके हैं । "कथमसतः सज्जायेत" (छां. ६।२।२) यह श्रुति तथा "नासतोऽदृष्टत्वात् (ब्र. सू. २।२।२६) यह सूत्र तुच्छ पदार्थ की कारणता का ही निषेध करते हैं, भाष्यकारने स्पष्ट किया है कि शश-विषाणादि तुच्छ पदार्थों से सत्कार्य कैसे होगा ? तुच्छ पदार्थ से किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती । हम तुच्छ को जनक नहीं मानते कि हमारा उक्त श्रुति सूत्र और भाष्य से विरोध हो, अतः व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक पदार्थों में ही सद्भिन्नत्वरूप असत्त्व रहता है और उसमें साधकता रहती है, साधकता के अनुरोध पर प्रपञ्च की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती—यह सिद्ध हो गया ।

: ३२ :

दृग्दृश्यसम्बन्धविचारः

न्यायामृतम्

अनुकूलतर्कहीनाश्च मिथ्यात्वहेतवः। अत्र केचिन्मायिभिक्षवः--

अन्यच्चेत्संविदो नीलं न तद् भासेत संविदि।

भासते चेत्कुतः सर्वो न भासेतैकसंविदि॥

नियामकं न संबंधं पश्यामो नीलतद्धियोः।

इत्यादिवदद्भिरात्मख्यातिवादिभिरुक्तं ग्राह्यलक्षणाभावाख्यं तर्कं भिक्षित्वाहुः। दृश्यस्य सत्यत्वे न तावज्ज्ञानं तदसम्बद्धं प्रकाशकम्, अतिप्रसंगात्, नापि संबद्धकम् आत्म-

अद्वैतसिद्धिः

ननु--मिथ्यात्वानुमानमप्रयोजकम्, सत्यत्वेऽपि दृश्यत्वोपपत्तेरिति चेन्न, दृक्-दृश्यसंबन्धानुपपत्तेः। नहि ज्ञानं ज्ञेयासंबद्धमेव प्रकाशकम्, अतिप्रसङ्गात्। नापि संबद्धम्, आत्मस्वरूपस्य तद्गुणस्य वा ज्ञानस्य ज्ञेयेन संयोगसमवाययोरभावात्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी--आप (अद्वैतवादी) का प्रपञ्च-मिथ्यात्वानुमान अप्रयोजक है, क्योंकि प्रपञ्च के सत्य होने पर भी उसमें दृश्यत्व बन सकता है [साध्य के विना जो हेतु अनुपपन्न हो, उसे ही साध्य का प्रयोजक या साधक कहा जाता है, किन्तु 'प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात्'--इस अनुमान का दृश्यत्व हेतु प्रपञ्च में मिथ्यात्व के विना ही उपपन्न हो जाता है, तब मिथ्यात्व का साधक क्योंकर होगा? 'घटं पश्यामि'--इस प्रकार ज्ञान और विषय का संबन्ध प्रत्यक्ष-सिद्ध है। वेदान्तदेशिक ने भी कहा है--आत्मख्यातिवादिभिरार्जितं ग्राह्यलक्षणायोगाख्यं तर्कं भिक्षित्वा दृग्दृश्ययोः संबन्धानुपपत्तिरिति नामान्तरेण पठन्ति, तदपि दृग्दृश्यसम्बन्धस्याबाधितप्रत्यक्षसिद्धत्वादेव निरस्तम्" (शत. पृ. ८८)। न्यायमृतकार ने यहाँ उसी का अनुवाद किया है]।

अद्वैतवादी--'जगत् यदि मिथ्या न स्यात्, दृश्यमपि न स्यात्, सत्यस्य दृश्यत्वानुपपत्तेः'--इस प्रकार का अनुकूल तर्क रहने के कारण दृश्यत्वादि हेतुओं को अप्रयोजक नहीं कहा जा सकता। यह निश्चित है कि ज्ञेय के साथ सम्बद्ध न होकर ज्ञान अपने ज्ञेय का प्रकाशक नहीं हो सकता, क्योंकि बिना संबन्ध के प्रकाश मानने पर एक ज्ञान से समस्त विश्व का प्रकाश हो जाना चाहिए। अतः यह व्यवस्था माननी पड़ेगी कि ज्ञान अपने संबन्धी ज्ञेय का ही प्रकाशक होता है। अब ज्ञान और ज्ञेय के संबन्ध पर विशद विचार करना होगा। ज्ञान को कुछ लोग आत्मस्वरूप मानते हैं और कुछ लोग आत्मा का गुण। दोनों पक्षों में ज्ञान का ज्ञेय के साथ संयोग या समवाय संबंध तो बन नहीं सकता, क्योंकि संयोग दो द्रव्यों का ही होता है। ज्ञान यदि आत्म-स्वरूप है, तब भी वेदान्त-वाक्यों के आधार पर गुणवत्ता और क्रियावत्ता न होने के कारण उसे द्रव्य नहीं कह सकते, उस पर भी वह असंग है, अतः संयोग-समवाय का वहाँ प्रवेश ही कैसे होगा? हाँ, जो लोग ज्ञान को आत्मरूप द्रव्य का गुण मानते हैं, वे अवश्य आत्मा और ज्ञान का समवाय मानते हैं, किन्तु ज्ञान का घटादि के साथ समवाय वे भी नहीं मानते। संयोग और समवाय से भिन्न कोई भी अन्य अनाध्यासिक संबन्ध सम्भव नहीं। ज्ञान और विषय का विषयविषयिभाव सम्बन्ध है--यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि सम्बन्ध वह तत्त्व है, जो कि स्वयं एक हो और (द्विष्ठ) दो सम्बन्धियों

न्यायामृतम्

गुणस्य ज्ञानस्य ज्ञेयेन संयोगसमवाययोरयोगात् । अन्यस्य च संबंधस्याऽभावात् विषयविषयिभावस्य चाऽद्विष्ठत्वेनासम्बन्धत्वाद् दुर्निरूपत्वाच्च । तथा हि—विषयत्वं किं ज्ञानजन्यफलाधारत्वम् ? ज्ञानजन्यहानादिबुद्धिगोचरत्वं वा ? ज्ञानकर्मत्वं वा ? ज्ञानाकारार्पकत्वं वा ? दृश्यमानत्वे सति तत्त्वं वा ? ज्ञानजन्यव्यवहारयोग्यत्वं वा ? यत्संनिकृष्टकरणेन यज्ज्ञानमुत्पद्यते, स तस्य विषय इति वा ? यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते, स तस्या विषय इति वा ? संबंधांतरमंतरेण यो यज्ज्ञानावच्छेदकः, स तस्य विषय इति वा ? आद्येऽपि फलं न तावज्ज्ञातता, अनंगीकाराद् अतीतादावसंभवाच्च । नापि हानादिः, गगनादौ तदयोगात् , कलधौतमलादेरपि तज्ज्ञानविषयत्वापाताच्च ।

अद्वैतसिद्धिः

अन्यस्य चानाध्यासिकस्य संबन्धस्याभावात् । न च विषयविषयिभावः सः, तस्य विषयत्वविषयित्वरूपस्य एकैकमात्रनिष्ठत्वेन द्विष्ठसंबन्धात्मकत्वासंभवाद् , दुर्निरूपत्वाच्च । तथा हि—(१) विषयत्वं किं ज्ञानजन्यफलाधारत्वम् ? किं वा (२) ज्ञानजन्यहानादिबुद्धिगोचरत्वम् ? उत (३) ज्ञानकर्मत्वम् ? (४) ज्ञानाकारार्पकत्वं वा ? (५) दृश्यमानत्वे सति तत्त्वं वा ? (६) ज्ञानजन्यव्यवहारयोग्यत्वं वा ? (७) यत्सन्निकृष्टकरणेन यद्ज्ञानमुत्पाद्यते तत्त्वं वा ? (८) यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते स तस्या विषयः, तथा च संविदि भासमानत्वमिति वा ? (९) संबन्धान्तरमन्तरा ज्ञानावच्छेदकत्वं वा ? आद्ये फलं न तावत् ज्ञातता, अनङ्गीकाराद् , अतीतादावभावाच्च । नापि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में रहनेवाला हो, जैसे एक ही संयोग घट और भूतल—दोनों में रहता है, किन्तु 'विषयविषयिभाव' ऐसा नहीं, क्योंकि 'विषयविषयिभाव' पद में प्रयुक्त भाव विषय और विषयी—दोनों के साथ जुड़कर विषयभाव और विषयिभाव—दो रूप निष्पन्न करता है, विषयभाव का अर्थ होता है—विषयत्व और विषयिभाव का विषयित्व। विषयत्व विषयमात्र में रहनेवाला धर्म है, जो कि विषयी में नहीं रहता एवं विषयित्व विषयी ज्ञान मात्र में रहता है, विषय में नहीं, इस प्रकार न तो विषयत्व को दृक् और दृश्य का सम्बन्ध कहा जा सकता है और न विषयित्व को, क्योंकि वे दो हैं, एक नहीं और एक-एक में रहनेवाले हैं, द्विष्ठ नहीं। यदि कहा जाय कि विषय-विषयिभाव का अर्थ होता है—विषयता-निरूपित विषयित्व अथवा विषयिता-निरूपित विषयत्व, पहला विषयिगत विषय का सम्बन्ध है और दूसरा विषयगत विषयी का सम्बन्ध। फिर भी वे दो-के-दो ही रहते हैं और उनमें कोई भी द्विष्ठ नहीं होता।

वस्तुतः विषयतादि का निरूपण भी सम्भव नहीं—विषयता का स्वरूप क्या (१) ज्ञान-जन्य फल की आधारता है? या (२) ज्ञान-जन्य हानोपादानादि-बुद्धि की विषयता? या (३) ज्ञान की कर्मता? या (४) ज्ञान-निष्ठ आकार-समर्पकता? या (५) दृश्यमानता-सहित ज्ञानाकार-समर्पकता? या (६) ज्ञान-जन्य व्यावहार की योग्यता? या (७) जिस से सन्निकृष्ट होकर इन्द्रियादि करण जिसका ज्ञान उत्पन्न करते हैं, तद्रूपता? या (८) जिस ज्ञान में जो पदार्थ अवभासित होता है, वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय अर्थात् ज्ञानावभासितता ही विषयता है? अथवा (९) सम्बन्धान्तर के विना ज्ञान की अवच्छेदकता? प्रथम पक्ष में 'फल' पद से भाट्ट-सम्मत ज्ञातता का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि हम लोगों में से कोई भी

न्यायामृतम्

नाप्यभिज्ञाभिलपने, तयोर्ज्ञेयानिष्ठत्वात् । न द्वितीयः, हानादिबुद्धीनां तदजन्यत्वाद्, गोचरताया एवाऽद्याप्यनिरूपणाच्च । न तृतीयः, ईश्वरज्ञानस्याऽतीतादिज्ञानस्य च कर्मकारकाजन्यत्वात् । न चतुर्थः, ज्ञानतदाकारयोरभेदेन सर्वेषां ज्ञानहेतूनां विषयत्वापातात् । न पंचमः, दृश्यमानताया एवाद्याप्यनिरूपणात् । न षष्ठः, योग्यतायां

अद्वैतसिद्धिः

हानादिः, गगनादौ तदभावात् , कलधौतमलादेरपि तज्ज्ञानविषयत्वप्रसङ्गाच्च । नाप्यभिज्ञाभिलपने, तयोर्ज्ञेयावृत्तित्वात् । न च - विषयविषयिभावेन ते तत्र स्त इति--वाच्यम् , तस्यैव विचार्यमाणत्वात् । अत एव न द्वितीयोऽपि । न तृतीयः, ईश्वरज्ञानस्यातीतादिज्ञानस्य च कर्मकारकाजन्यत्वेन निर्विषयत्वप्रसङ्गात् । न चतुर्थः, ज्ञानतदाकारयोरभेदेन सर्वेषां ज्ञानहेतूनां विषयत्वापाताद् , अनुमित्यादिविषये तदभावापाताच्च । न पञ्चमः, दृश्यमानत्वस्य विषयत्वघटितत्वेनात्माश्रयात् । न षष्ठः, योग्यतायां योग्यतान्तराभावात् । न च - योग्यता योग्यतां विनैव योग्या, यथा दृश्यत्वं दृश्यत्वान्तरं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ज्ञातता को ज्ञान का फल नहीं मानता एवं अतीत तथा भावी पदार्थों पर उनके ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न भी नहीं हो सकती, क्योंकि अतीतादि पदार्थों के अभाव में निराधार ज्ञातता क्योंकर उत्पन्न हो सकेगी ? यदि 'फल' पद से हानोपादानादि का ग्रहण किया जाता है, तब आकाशादि व्यापक द्रव्यों का त्यागादि सम्भव न होने के कारण उनमें विषयता का लक्षण अव्याप्त हो जाता है तथा चाँदी में मिश्रित राँगा-मिट्टी आदि में रजत-ज्ञान की विषयता अतिव्याप्त भी होती है, क्योंकि रजत-ज्ञान होने पर रजत के साथ उसमें मिश्रित राँगादि का भी ग्रहण होता है । 'फल' पद से प्रत्यभिज्ञा या शब्द-प्रयोग का ग्रहण करने पर ज्ञेय (विषय) में न तो प्रत्यभिज्ञा की आधारता है और न शब्द की, अतः प्रायः असम्भव ही हो जाता है । प्रत्यभिज्ञादि की विषयविषयिभाव सम्बन्ध से विषयगत आधारता का संपादन करने पर आत्माश्रयादि दोष होते हैं, क्योंकि विषयविषयिभाव का निरूपण हो रहा है, उसमें उसी की अपेक्षा पड़ गई । द्वितीय विकल्प भी इसीं दोष से दूषित है, क्योंकि ज्ञान-जन्य हानादि-बुद्धि की गोचरता या विषयता अपेक्षित हो जाती है, स्वयं अपने ही निरूपण में । तृतीय विकल्प ईश्वरीय ज्ञान के विषय एवं अतीतादि पदार्थों में विषयता का लक्षण अव्याप्त हो जाता है, क्योंकि ज्ञान का कर्म वही होगा, जो ज्ञान को उत्पन्न करे, किन्तु ईश्वरीय ज्ञान नित्य है, किसी कर्म या विषय से उत्पन्न नहीं होता और न अतीतादि पदार्थ ही किसी ज्ञान के कर्म होते हैं । चतुर्थ लक्षण ज्ञान की जनक चक्षुरादि सामग्री में भी अतिव्याप्त होता है, क्योंकि साकार विज्ञान-वाद में आकार और आकारी ज्ञान का अभेद माना जाता है, अतः आकार-जनक या ज्ञान-जनक—दोनों एक या पर्याय हैं, ज्ञान का जनक चक्षुरादि सामग्री घटादि-ज्ञान का विषय नहीं, फिर भी उसकी विषयता उसमें अतिव्याप्त होती है । केवल इतना ही नहीं, अपितु अनुमिति आदि के विषय में यह लक्षण अव्याप्त भी है, क्योंकि परोक्ष ज्ञान में विषय को स्वाकारार्पकत्व नहीं माना जाता । पञ्चम कल्प में भी आत्माश्रय दोष है, क्योंकि दृश्यमानत्व का दर्शन-विषयत्व ही अर्थ होता है, इस प्रकार विषयता के लक्षण में विषयता अपेक्षित है । छठा विकल्प योग्यता में अव्याप्त है, क्योंकि स्वज्ञान-विषयभूत योग्यता में योग्यतान्तर की सत्ता नहीं मानी

न्यायामृतम्

योग्यतांतराभावात्। न सप्तमः, नित्येश्वरज्ञानस्य निर्विषयत्वापातात्। अष्टमेऽपि संविदीति न तावदधिकरणसप्तमी, ज्ञानस्य ज्ञेयं प्रत्यनधिकरणत्वात्। नापि विषयसप्तमी, तस्यैव निरूप्यमानत्वात्, संविदो विषयत्वमर्थस्य विषयित्वमिति वैपरीत्यापाताच्च। नापि सति सप्तमी, भासमानताया एवाद्याप्यनिरूपणात्। न नवमः, यत्समवेतं

अद्वैतसिद्धिः

विनैव दृश्यमिति वाच्यम्, अवच्छेदकरूपापरिचये योग्यताया एव ग्रहीतुमशक्यत्वात्। न च ज्ञानविषयत्वं तदवच्छेदकम्, आत्माश्रयात्। न सप्तमः, नित्येश्वरज्ञानस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गात्। नाष्टमः, संविदीति न तावदधिकरणसप्तमी, ज्ञानस्य ज्ञेयानधिकरणत्वात्। नापि विषयसप्तमी, तस्यैव निरूप्यमाणत्वात्, संविदो विषयत्वं संवेद्यस्य च विषयित्वमिति वैपरीत्यापाताच्च। नापि सति सप्तमी, भासमानत्वस्य विषयताघटितत्वेनात्माश्रयात्। नापि नवमः, मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र रूपज्ञानसमवायस्य संबन्धान्तरं विनैव रूपज्ञानावच्छेदकस्य 'इदं रूप'मिति ज्ञानेऽपि विषयत्वापातात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाती। यदि जैसे दृश्यत्व में दृश्यत्वान्तर धर्म के न रहने पर भी दृश्यत्व माना जाता है, वैसे ही योग्यतान्तर के विना ही योग्यता योग्य मानी जाय, तब कोई पदार्थ योग्यता के सम्बन्ध से योग्य और कोई उसके विना ही योग्य—ऐसी व्यवस्था में योग्यता का कोई एक परिचायक या अवच्छेदक सुलभ न होने के कारण योग्यता का ग्रहण सम्भव नहीं हो सकता, ज्ञान-विषयता को योग्यता मानने पर आत्माश्रय दोष स्पष्ट है। सप्तम कल्प में ईश्वरीय ज्ञान निर्विषयक हो जाता है, क्योंकि ईश्वर-ज्ञान किसी कारण से उत्पन्न नहीं होता। अष्टम कल्प में जिज्ञासा होती है कि शालिकनाथ मिश्र ने जो यह कहा है कि—

> अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते।
> वेद्यः स एव नान्यद्धि विद्याद् वेद्यस्य लक्षणम्॥ (प्र. पं. पृ. ४८)

यहाँ 'संविदि' पद में सप्तमी विभक्ति क्या 'कटे आस्ते'—के समान औपश्लेषिक अधिकारणता में है ? या 'मोक्षे इच्छा अस्ति'—के समान विषय सप्तमी (वैषयिक अधिकारणता में) ? या 'गोषु दुह्यमानासु गतः' के समान सति सप्तमी (भावान्तर-लक्षक भावार्थक) है ? प्रथम पक्ष प्रकृत में घटता नहीं, क्योंकि संयोग सम्बन्ध से घटादि ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान अधिकरण नहीं। विषय-सप्तमी मानने पर आत्माश्रय दोष होता है, क्योंकि विषयता के विचार में विषयता अपेक्षित है। दूसरी बात यह भी है कि मोक्षे इच्छा का जैसा अर्थ मोक्षविषयिणी इच्छा होता हैं, वैसा ही यहाँ भी 'संविदि अर्थः' का अर्थ होगा—संविद्विषयकोऽर्थः, तब तो विषयविषयिभाव विपरीत हो जाता हैं। सति-सप्तमी मानने पर आत्माश्रय दोष है, क्योंकि इस पक्ष में 'यस्यां संविदि सत्यां (भासमानायाम्) योऽर्थो भासते—ऐसा कहना होगा। भासमानता और विषयता पर्याय शब्द हैं, अतः विषयता के निर्वचन में विषयता अपेक्षित हो जाती है। नवम विकल्प (सम्बन्धान्तरमन्तरा ज्ञानावच्छेदकत्व) भी उचित नहीं, क्योंकि 'मत्समवेतं रूपज्ञानम्'—यहाँ पर व्यभिचार है अर्थात् यहाँ भी मत्समवेतत्व या मत्समवाय रूप विशेषण का रूप-ज्ञान में सम्बन्धान्तर के विना ही भान होता है, अतः रूप-ज्ञान की विषयता समवाय में भी होनी चाहिए।

न्यायामृतम्

रूपज्ञानमित्यत्र रूपज्ञानात्मसमवायस्य संबंधांतरं विनैव रूपज्ञानावच्छेदकस्य तद्विषयत्वापातात्। तस्मात्सत्यत्वे दृश्यत्वानुपपत्तेर्दृग्दृश्ययोराध्यासिक एव संबंध इति।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—ज्ञानविषय इत्यभियुक्तप्रयोग एव ज्ञानविषययोः संबन्धः, यथा अभियुक्तस्य मन्त्र इति प्रयोगविषयत्वमेव मन्त्रलक्षणम्। न चान्योन्याश्रयः, पूर्वपूर्वप्रयोगमपेक्ष्योत्तरोत्तरप्रयोगादिति—चेन्न, एतावता हि ज्ञेयत्वमात्रं सामान्यतः स्यात्, न त्वेतज्ज्ञानविषयत्वम्। न चास्मिन् सादौ पूर्वप्रयोगमपेक्ष्य उत्तरोत्तरप्रयोगो वक्तुं शक्यते, तस्यानादिमात्रविश्रान्तत्वात्। किं च प्रयोगोऽपि स्वविषये सम्बन्ध इत्यात्माश्रयोऽपि।

ननु—यज्ज्ञानं यदभिलपनरूपव्यवहारकारणं स तस्य विषयः, करणपाटवाद्यभावेन व्यवहारानुदयेऽपि सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाववत्स्वरूपं कारणत्वमस्त्येव।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—जैसे विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद—वैदिक वाक्यों के इन पाँच प्रकारों में मन्त्र का लक्षण किया गया है—"तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" (जै. सू. २।१।३२) इस सूत्र में भाष्यकार ने कहा है—एवं जातीयकेषु अभियुक्ता उपदिशान्ति—मन्त्रानधीमहे।' अर्थात् अभियुक्तगण जिस वाक्य को मन्त्र कहते हैं, वही मन्त्र है। उसी प्रकार अभियुक्तगण जिसे विषय कह दें, उसे विषय समझना चाहिए। इस प्रकार अभियुक्त-प्रयोग को ही ज्ञान और विषय का संबन्ध कहा जा सकता है। यदि कहा जाय कि विषयता का ज्ञान होने पर ही अभियुक्तगण प्रयोग कर सकेंगे—'अयमस्य विषयः' और इस प्रयोग के द्वारा विषयता का ज्ञान होगा—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्व-पूर्व अभियुक्त-प्रयोग के द्वारा विषयता का ज्ञान करके उत्तरोत्तर अभियुक्त-प्रयोग होता जायगा।

समाधान—'ज्ञानविषयः'—इस प्रकार के अभियुक्त-प्रयोग के द्वारा केवल सामान्यतः विषय मात्र का ज्ञान हो सकता है, किन्तु 'अयमस्य विषय'—इस प्रकार के विशेष संबन्ध का ज्ञान उससे नहीं हो सकता, क्योंकि अनादि पदार्थों (विषयों) का ज्ञान पूर्व-पूर्व प्रयोगों के द्वारा करके अभियुक्त वैसा प्रयोग कर सकते हैं, किन्तु जो विषय आज उत्पन्न हुआ है, उसके लिए न तो पूर्व-पूर्व प्रयोग सुलभ है और न अभियुक्त-प्रयोग तब तक सभव है, जब तक उसकी विषयता का ज्ञान न हो, अतः सादि विषयों में आत्माश्रयता दोष के कारण विषयता या ज्ञान और विषय का संबन्ध ज्ञात नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि वह प्रयोग यदि सभी विषय और विषयी पदार्थों के सम्बन्ध का व्यवस्थापक है, तब अपने विषय के साथ भी अपने सम्बन्ध का व्यवस्थापक माना जायगा, अतः आत्माश्रय दोष इस प्रकार भी प्रसक्त होता है।

द्वैतवादी—जिस वस्तु का ज्ञान वस्तु-बोधक शब्दों के प्रयोगात्मक व्यवहार का कारण होता है, उस वस्तु को उस ज्ञान का विषय कहा जाता है। [किसी वस्तु का ज्ञान होने पर उस वस्तु के बोधक शब्द का प्रयोग होता है, अतः शब्द-व्यवहार जनक ज्ञान-जनकत्व—यह विषयता का लक्षण पर्यवसित होता है। गूँगा व्यक्ति किसी वस्तु का ज्ञान करके भी] वागिन्द्रिय के दूषित होने के कारण शब्द-प्रयोग नहीं कर पाता, फिर भी उसके ज्ञान में शब्द-व्यवहार की योग्यता वैसे ही बनी रहती है, जैसे, कि कुसूलस्थ बीज क्षेत्र-सलिलादि सहकारी कारण के अभाव में अङ्कुर को जन्म नहीं

अद्वैतसिद्धिः

न च निर्विकल्पकविषये अव्याप्तिः, तस्यानङ्गीकारात्। न च यत्तद्भ्यामननुगमो दोषः, कस्य को विषय इति अननुगतस्यैव प्रश्नविषयत्वेन तस्यादोषत्वात्। न च घटज्ञानानन्तरं प्रमादाद्यत्र पट इति व्यवहारस्तत्र घटज्ञानस्य पटाभिलपनरूपव्यवहारजनकत्वेन पटविषयत्वापत्तिः, समानविषयाभिलापं प्रत्येव ज्ञानस्य जनकतया घटज्ञानस्यभिन्नविषयतया तत्राजनकत्वादिति—चेन्न, अभिलपनरूपव्यवहारजननयोग्यत्वं न प्रातिस्विकरूपेण निर्णेयम्, अवच्छेदकत्वस्य फलनिर्णेयत्वात्, प्रतिस्वं च फलादर्शनाद्, अजनितफले प्रातिस्विकयोग्यतायां मानाभावात्, किंतु तत्र तत्रानुगततत्तद्व्यक्तिविषयत्वेन, तथा च आत्माश्रयः। अत एव—ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वम्, कर्मत्वं च न कारकविशेषः, येनातीतादौ तदभावो भवेत्, किंतु क्रियाधीनव्यवहारयोग्यत्वरूपातिशयवत्त्वम्, अन्यथा घटं करोतीत्यादावसिद्धं घटादि न जनकं सिद्धं च न कृतिकर्मेति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दे पाता, फिर भी उसमें अङ्कुर-जनन-योग्यता अक्षुण्ण रहती है। वह निर्विकल्पक ज्ञान हम नहीं मानते, जो व्यवहार का जनक नहीं होता, अतः निर्विकल्पक के विषय में विषयता-लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। "यज्ज्ञानं यद्व्यवहारजनकम्, स तस्य विषयः,"—इस लक्षण में यत्तदादि शब्दों के प्रयोग से अननुगम दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'कस्य ज्ञानस्य को विषयः'—इस प्रकार के अननुगतार्थक प्रश्न का वैसा ही उत्तर समुचित है। जहाँ घट-ज्ञान के अनन्तर प्रमाद से 'पट' शब्द का प्रयोग हो जाता है, वहाँ घट-ज्ञान की विषयता पट में इस लिए प्रसक्त नहीं होती कि समान-विषयक शब्द-व्यवहार की ही कारणता ज्ञान में मानी जाती है, अतः घट-ज्ञान से जनित पट-व्यवहार होता ही नहीं, अपितु प्रमादादि दोष-घटित सामग्री ही पट-व्यवहार को जन्म देती है, अतः घट-ज्ञान-जन्य शब्द-बोध्यत्व पट में प्राप्त ही नहीं होता, कि अतिव्याप्ति हो।

अद्वैतवादी—ज्ञान में शब्द-प्रयोगत्मक व्यवहार के जनन की योग्यता का निर्णायक कौन? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि व्यवहार-जनकतावच्छेदक धर्म ही उक्त योग्यता का परिचायक होता है, ज्ञान-निष्ठ तत्तद्व्यक्तित्व को व्यवहार-जनन-योग्यता का अवच्छेदक मानने में कोई प्रमाण नहीं, अतः ज्ञान-निष्ठ तद्विषयकत्व ही उक्त जनकता का अवच्छेदक धर्म होता है, अतः विषयता के निर्वचन में विषयता की अपेक्षा होने के कारण आत्माश्रय दोष होता है।

शङ्का—कुछ लोगों का कहना था कि ज्ञान-कर्मत्व को ही विषयता का लक्षण मानना चाहिए। कर्मत्व का अर्थ क्रिया-जनकत्वरूप कारकविशेष अर्थ करने पर अतीतादि विषय और ईश्वरीय ज्ञान के विषय में अव्याप्ति हो जाती है, अतः 'ज्ञान-कर्मत्व' पद से ज्ञानाधीन व्यवहार-योग्यत्व विवक्षित है, वह अतीतादि विषयों में भी अव्याप्त नहीं। अन्यथा (इस लक्षण को छोड़कर क्रिया-जनकत्व या कृति-जनकत्व को ही कर्म का लक्षण मानने पर) 'घटं करोति'—इत्यादि प्रयोगों में द्वितीया विभक्ति अनर्थक हो जायगी, क्योंकि द्वितीया विभक्ति असिद्ध या भावी घट में कर्मता का प्रतिपादन इस लिए नहीं कर सकता कि उसमें क्रिया-पूर्व सत्त्वरूप या क्रिया-जनकत्व नहीं और सिद्ध घट जैसे इच्छा का कर्म नहीं होता, वैसे कृति का भी कर्म नहीं होता, अतः ज्ञानाधीन-व्यवहार-योग्यत्व रूप कर्मत्व मानने पर ही द्वितीया विभक्ति का सार्थक्य भी होता है।

अद्वैतसिद्धिः

द्वितीयाविभक्तिरनर्थिका स्यादिति – निरस्तम्, व्यवहारयोग्यत्वं न व्यवहाररूपफलोपहितत्वम्, कुत्रचित् प्रतिरुद्धे व्यवहारे अव्याप्तेः। नापि तत्स्वरूपयोग्यत्वम्, विषयत्वादन्यस्य तस्यासंभवादिति पूर्वोक्तदोषात्। न च—अवच्छेदकाद् भिन्नं सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं तदिति—वाच्यम्, अनुगतावच्छेदकधर्मं विना तस्यापि ग्रहीतुमशक्यत्वात्। घटं करोतीत्यत्र सिद्धस्यैव कपालादेः कृतिकर्मता, (व्यापार्यतया) सिद्धस्यैव कृतिकर्मताङ्गीकारात्। अत एव निष्पादनावाचिधातुसमभिव्याहृतकर्मपदे शक्यावयवे निरूढलक्षणामाहुरसत्कार्यवादिनः। सत्कार्यवादिनां तु पूर्वं सतोऽप्यभिव्यञ्जनीयतया न कारकत्वकृतिकर्मत्वयोरनुपपत्तिः। एतेन – 'यस्यां संविदी' त्यादिपूर्वोक्तेऽपि न दोषः, संविदीति सति सप्तमी, भासमानत्वं च व्यवहारयोग्यत्वम्, तच्च सति कारणान्तरे व्यवहारावश्यम्भाव इत्येतदपि—निरस्तम्।

ननु – यः संबन्धान्तरमनपेक्ष्य यज्ज्ञानावच्छेदको यज्ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावश्च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—विषयता का उक्त निर्वचन भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि विषयता से अतिरिक्त उक्त व्यवहार-योग्यता को सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि जनन-योग्या दो प्रकार की होती है—फलोपधायकत्व (अव्यवहितोतरकालीनफलवत्त्व) और स्वरूपयोग्यत्व। प्रथम पक्ष मानने पर जहाँ किसी प्रतिबन्धक के कारण व्यवहाररूप फल प्रतिरुद्ध हो जाता है, वहाँ अव्याप्ति हो जायगी, ज्ञानगत स्वरूपयोग्यता विषयवत्ता को छोड़कर और कुछ भी नहीं कही जा सकती, अतः पूर्वोक्त आत्माश्रय दोष प्रसक्त होता है। 'सहकारी-विरह-प्रयुक्त कार्याभाववत्त्व' का तब तक ग्रहण सम्भव नहीं, जब तक विषयवत्त्वरूप अनुगत अवच्छेदक धर्म का ज्ञान न हो। यह जो कहा कि 'घटं करोति'—इस व्यवहार में असिद्ध घट कृति का जनक नहीं होता और सिद्ध कृति का कर्म नहीं होता, वह कहना संगत नहीं, क्योंकि घटं करोति का अर्थ होता है—'कपालं घटं निष्पादयति'। अतः कृति की कर्मता कपालादि सिद्ध पदार्थों में ही मानी जाती है, वे ही कार्य के जनक होते है। इसीलिए निष्पादनार्थक 'कृञ्'—आदि धातुओं के योग में कर्म (द्वितीयान्त) पद की स्व-शक्यार्थ के अवयवादि सम्बन्धी अर्थों में निरूढ़ लक्षणा (अनादितात्पर्य-ग्राहिणी अभिधाकल्प लक्षणा) असत्कार्यवादी तार्किकगण मानते हैं, अतः 'घटं करोति' का कपालं (घटवत्) करोति, 'रूपं करोति' का 'घटं (रूपवन्तं) करोति, 'सुखं करोति' का आत्मानं (सुखवन्तं) करोति, 'घटनाशं करोति' का भूतलम् (अघटं) करोति अर्थ किया जाता है। सत्कार्यवादी साङ्ख्य-मतवाद में तो लक्षणादि करने की कोई आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि कपालों में घट अव्यक्तरूप में पहले ही विद्यमान माना जाता है, उसी में अपनी अभिव्यञ्जिका कृति की जनकतारूप कर्मता बन जाती है। आचार्य शालिकनाथ का कहना था कि 'यस्यां संविदि योऽर्थो भासते, स विषयः'—यहाँ सति सप्तमी है और भासमानत्वं का अर्थ-व्यवहार-योग्यत्व है। व्यवहार-योग्यत्व का तात्पर्य सहकारी कारणान्तर के होने पर व्यवहार का अवश्यंभाव है'—यह भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि भासमानत्व विषयता का पर्यायमात्र है, अतः विषयता के निर्वचन में विषयता की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष है।

द्वैतवादी - जो पदार्थ सम्बन्धान्तर की अपेक्षा के बिना ही जिस ज्ञान का अवच्छेदक और ज्ञान से अनवच्छिन्न होता है, वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय कहा जाता

अद्वैतसिद्धिः

स तस्य विषयः, यद्यप्यात्मा स्वविषयज्ञानसमवायवान्, तथापि न तस्य ज्ञानावच्छेदे समवायापेक्षा, ज्ञानासमवायिनोऽपि घटादेस्तदवच्छेदकत्वदर्शनात्। यद्यपि च रूपज्ञानं मत्समवेतं ध्वस्तमिष्टमित्यादौ रूपज्ञानाविषया अप्यात्मसमवायेच्छाध्वंसादयः संबन्धान्तरमनपेक्ष्य ज्ञानावच्छेदकाः, तथापि समवेतेष्यमाणप्रतियोग्यात्मकरूपज्ञानावच्छिन्नस्वभावा एव, संबन्धेच्छादीनां संबन्धीष्यमाणाद्यवच्छिन्नस्वभावत्वादिति नातिव्याप्तिः। ज्ञानविषयस्तु न ज्ञानावच्छिन्नस्वभावः, ज्ञानस्य घटाद्यवच्छिन्नस्वभाव-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है [ज्ञान का अवच्छेदक या व्यावर्तक ज्ञाता पुरुष भी होता है—'चैत्रस्य ज्ञानम्' किन्तु ज्ञाता और ज्ञान के मध्य में समवायरूप सम्बन्धान्तर अपेक्षित होता है, अतः ज्ञाता पुरुष में विषयता की अतिव्याप्ति न हो, इस लिए 'सम्बन्धान्तरमनपेक्ष्य' कहा है]। यद्यपि आत्मा भी स्वविषयक ज्ञान का अवच्छेदक होने से विषय माना जाता है, किन्तु आत्मा और ज्ञान के मध्य में समवायरूप सम्बन्धान्तर विद्यमान है, तथापि आत्मरूप विषय को ज्ञान की अवच्छेदकता में अपने समवाय की अपेक्षा नहीं, अर्थात् 'कस्य ज्ञानम्? इस प्रश्न के उत्तर में 'आत्मनः'—इतना ही कहा जाता है, 'समवायिन आत्मनः'—यह कहने की आवश्यकता नहीं होती, नहीं तो 'घटस्य ज्ञानम्'—यहाँ पर भी 'समवायिनो घटस्य'—ऐसा कहना होगा, जो कि नितान्त असंगत है, क्योंकि घट ज्ञान का समवयायी नहीं होता, अतः सम्बन्धान्तर-निरपेक्ष विषय मात्र ज्ञान का अवच्छेदक माना जाता है, अतः आत्मा भी विषय होने के कारण अपने ज्ञान का अवच्छेदक होता है, समवायी होने के नाते नहीं। हाँ, ज्ञाता के रूप में आत्मा समवायी होकर ही घटादि-ज्ञान का अवच्छेदक होता है, उसकी व्यावृत्ति का प्रकार ऊपर कहा जा चुका है।

यद्यपि 'रूपज्ञानम् मत्समवेतम्, ध्वस्तम्, इष्टम्'—इत्यादि व्यवहारों में रूपज्ञान की विषयता आत्म-निष्ठ समवाय, ध्वंस और इच्छा में अतिव्याप्त होती है, क्योंकि वे तीनों सम्बन्धान्तर की अपेक्षा के विना ही ज्ञान के अवच्छेदक (विशेषण) हैं। तथापि उनमें ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावता नहीं है, क्योंकि समवाय, ध्वंस और इच्छा—तीनों ससम्बन्धिक पदार्थ होने के कारण अपने ज्ञानरूप सम्बन्धी (समवेत, प्रतियोगी और इष्यमाण) से अवच्छिन्न हैं—'ज्ञानस्य समवायः', 'ज्ञानस्य ध्वंसः', 'ज्ञानस्येच्छा'। अतः विषयता-लक्षण का उत्तरार्ध न घटने के कारण उनमें अतिव्याप्ति नहीं होती। रूप-ज्ञान का विषय ज्ञान से अवच्छिन्न नहीं होता, क्योकि ज्ञान जैसे रूपादि विषयों से अवच्छिन्न होता है—''रूपस्य ज्ञानम्', वैसे रूपादि विषय ज्ञानावच्छिन्नस्वाभाव वाले नहीं होते, अतः 'ज्ञानस्य रूपम्', 'ज्ञानस्य घटः', 'ज्ञानस्य पटः'—ऐसा व्यवहार नहीं होता।

यद्यपि जहाँ पर पहले घटादि का ज्ञान होता है, उसके पश्चात् उस ज्ञान की अनुमिति या अनुव्यवसाय होता है और उसके पश्चात् उक्त अनुमिति या अनुव्यवसाय को विषय करने वाला कोई तृतीय ज्ञान उत्पन्न होता है, वहाँ पर अनुमिति और अनुव्यवसाय अपने विषयीभूत ज्ञान से अवच्छिन्न हैं—'ज्ञानस्यानुमितिः', 'ज्ञानस्यानुव्यवसायः' तथा स्वविषयक तृतीय ज्ञान के अवच्छेदक भी हैं—'अनुमितेर्ज्ञानम्', 'अनुव्यावसायस्य ज्ञानम्', अतः तृतीय ज्ञान के विषयीभूत अनुमिति और अनुव्यवसाय में ज्ञानावच्छिन्न-

अद्वैतसिद्धिः

त्ववद् घटादेर्ज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्वादर्शनात्। यद्यपि स्वग्राहकज्ञानविषयीभूतं ज्ञान-विषयकानुमित्यनुव्यवसायादिकं (ज्ञानं) ज्ञानावच्छिन्नस्वभावम्, तथापि स्वयं यज्ज्ञानं प्रति विषयस्तदवच्छिन्नस्वाभावं नेति नाव्याप्तिरिति - चेन्न, मत्समवेतं रूप-ज्ञानमित्याकारकज्ञानस्यात्मसमवायविषयकत्वाभावप्रसङ्गाद्, आत्मसमवायस्य संब-न्धत्वेन संबन्धिभूतस्वज्ञानावच्छिन्नत्वाद्, घटस्य ज्ञानमिति प्रतीत्या घटावच्छिन्न-स्वभावत्वं यथा ज्ञानस्य, तथा ज्ञातो घट इति प्रतीत्या घटस्यापि ज्ञानावच्छिन्नस्व-भावत्वेनासंभवाच्च।

अथ—यज्ज्ञानं यदीयस्वभावम्, स तस्य विषयः, मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र तु समवाय एव रूपज्ञानावच्छिन्नस्वभावो, न तु रूपज्ञानं तदवच्छिन्नस्वभावम्। इदं च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्वभावता होने के कारण विषयता का लक्षण अव्याप्त होता है। तथापि अनुमिति और अनुव्यवसाय स्वयं जिस (तृतीय) ज्ञान के अवच्छेदक हैं, उस तृतीय ज्ञान से अवच्छिन्न नहीं, अपितु प्रथम घटादि-ज्ञान से अवच्छिन्न हैं, अतः विषयता-लक्षण-घटक 'ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावता' पद से स्वविषयकज्ञानानवच्छिस्वभावता की विवक्षा होने से अव्याप्ति नहीं होती है।

अद्वैतवादी—['रूपज्ञानं मत्समवेतम्' और 'मत्समवेतं रूपज्ञानम्'—इन दो प्रतीतियों में अन्तर है, पहली प्रतीति में केवल रूपावच्छिन्न ज्ञान का भान होता है और दूसरी प्रतीति में मत्समवेतत्व एवं रूप—उभयावच्छिन्न ज्ञान का, अतः पहली प्रतीति के घटक ज्ञान की विषयता केवल रूप में है, समवाय सम्बन्ध में नहीं, किन्तु द्वितीय प्रतीति-घटक ज्ञान की विषयता रूप और मत्समवाय (आत्मानुयोगिक समवाय) दोनों में है। प्रथम स्थल पर समवाय की व्यावृत्ति के लिए ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावता विशेषण दिया गया, अतः द्वितीय स्थल पर भी समवाय का ग्रहण नहीं किया जा सकेगा, अतः] 'मत्समवेतं रूपज्ञानम्'—इस रूप-ज्ञान की विषयता का लक्षण समवाय में अव्याप्त होता है, क्योंकि (मत्सवाय) आत्मानुयोगिक समवाय ज्ञान का सम्बन्ध है, अतः अपने सम्बन्धीभूत ज्ञान से नियमतः निरूपित या अवच्छिन्न होता है, अतः ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावता समवाय में नहीं घटती।

दूसरी बात यह भी है कि 'घटस्य ज्ञानम्'—इस प्रतीति के आधार पर जैसे ज्ञान में घटावच्छिन्नस्वभावता प्रतीत होती है, वैसे ही 'ज्ञातो घटः'—इस प्रतीति के द्वारा घट में ज्ञानावच्छिन्नस्वभावता स्थिर होती है—इस प्रकार विषय मात्र ज्ञेय है, ज्ञाना-वच्छिन्नस्वभावक ही है, ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावता असम्भव भी है।

शङ्का—'यज्ज्ञानं यदीयस्वभावम्, स तस्य विषयः'—यह विषयता का परिष्कृत लक्षण है। 'मत्समवेतं रूपज्ञानम्'—यहाँ पर समवाय सम्बन्ध ही ज्ञान से अवच्छिन्न होता है, रूप-ज्ञान समवाय से अवच्छिन्न नहीं, [क्योंकि एक ज्ञान के उद्देश्य से रूपीयत्व और मत्समवेतत्व—उभय का विधान करने में गौरव होता है, अतः रूप-ज्ञान के उद्देश्य से मत्समवेतत्व मात्र का विधान ही उचित है, अतः 'रूपज्ञानं मत्स-मवेतम्' और मत्समवेतं रूपज्ञानम्—इन प्रतीतियों में कोई अन्तर नहीं, फलतः समवाय न तो रूप-ज्ञान का अवच्छेदक है और न रूप-ज्ञान की विषयता का लक्षण वहाँ घटाना अभीष्ट है। उक्त लक्षण केवल ज्ञानीय विषयता का किया गया है, इच्छादि-विषयता-

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञानस्यैव विषयत्वमुक्तम्, न त्विच्छादिसाधारणमिति नाव्याप्तिरिति - चेन्न, यदीयस्वाभाव्यमिति तद्धितस्य यद्विषयकत्वार्थकत्वे आत्माश्रयाद्, अर्थान्तरस्य च निरूपयितुमशक्यत्वाद्, रूपज्ञानाभावाभावस्य रूपज्ञानरूपत्वेन रूपज्ञानस्याप्यभावीयतया तद्विषयत्वापत्तेः। ननु—ज्ञानजनककरणसन्निकर्षाश्रयत्वं तद्विषयत्वम्। न च रूपज्ञानकरणमनस्सन्निकर्षाश्रयस्यात्मनस्तद्विषयत्वापत्तिः, करणपदेनासाधारणज्ञानकरणस्यैव विवक्षितत्वात्। न चासाधारणज्ञानकरणचक्षुस्सन्निकर्षाश्रयस्य मानसोऽपि रूपज्ञानविषयत्वापत्तिः, सन्निकर्षपदेनाप्यसाधारणज्ञानजनकसन्निकर्षस्यैवोक्तत्वादिति—चेन्न, चक्षुर्मनस्संयोगस्यापि चाक्षुषज्ञानासाधारणकारणत्वेन मनसोऽपि चाक्षुषज्ञानविषयत्वापत्तेः, परोक्षविषये अव्याप्तेश्च। न च—तत्र लिङ्गज्ञानं करणम्, तत्र च लिङ्गिनः तद्व्याप्तत्वं सम्बन्धोऽस्तीति - वाच्यम्, लिङ्गस्यापि स्वज्ञानसम्बन्धित्वेनानुमितिविषयत्वापत्तेः। न चानुमितौ तद्व्याप्ततारूपसम्बन्ध एव विषयतानियामकः, व्यापकता-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

साधारण विषयता मात्र का नहीं, अतः इच्छादि की विषयता में इस लक्षण के न घटने पर अव्याप्ति दोष नहीं माना जा सकता।

समाधान—यह जो कहा गया कि 'यज्ज्ञानं यदीयस्वभावम्—यहाँ पर तद्धित प्रत्ययान्त 'यदीय' पद का यद्विषयकत्व अर्थ करने पर विषयता के लक्षण में विषयता का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रय दोष होता है। उससे भिन्न 'यदीय' पद का कोई और अर्थ सम्भव नहीं। 'अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता' (न्या. कु. ३।२) के अनुसार रूपज्ञानाभावाभाव रूपज्ञानस्वरूप है, अतः रूप-ज्ञान भी अभावीय होने के कारण रूप-ज्ञान में अभाव की विषयता प्रसक्त होती है।

द्वैतवादी—ज्ञान-जनक करण-सन्निकर्ष के आश्रय को ज्ञान का विषय कहा जाता है। फिर तो रूप-ज्ञान के जनक मनःसन्निकर्ष के आश्रयीभूत आत्मा में रूपज्ञान की विषयता क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उक्त लक्षण में 'करण' पद से असाधारण कारण गृहीत होता है, मन रूप-ज्ञान का साधारण कारण है, असाधारण नहीं, असाधारण कारण चक्षु है, उसके सन्निकर्ष की आश्रयता आत्मा में नहीं, अतः उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती। 'फिर भी रूप-ज्ञान के असाधारण कारणीभूत चक्षु के सन्निकर्ष की आश्रयता मन में होने के कारण मन रूप-ज्ञान का विषय क्यों नहीं?' इस शङ्का का समाधान यह है कि 'सन्निकर्ष' पद से भी ज्ञान-जनक असाधारण सन्निकर्ष विवक्षित है। मन का सन्निकर्ष साधारण सन्निर्ष है, सभी ज्ञानों में कारण है। असाधारण सन्निकर्ष रूप और चक्षु का ही सन्निकर्ष होता है, उसकी आश्रयता मन में न होने से अतिव्याप्ति नहीं होती।

अद्वैतवादी—उक्त लक्षण भी संगत नहीं, क्योंकि चक्षु और मन का सन्निकर्ष भी चाक्षुष ज्ञान का असाधारण कारण ही होता है, अतः मन में भी रूपादिविषयक चाक्षुष ज्ञान की विषयता प्राप्त होती है। परोक्षज्ञान के विषय में उक्त लक्षण की अव्याप्ति भी है, क्योंकि विषय-सन्निकर्ष की जन्यता परोक्ष ज्ञान मे नहीं होती, अतः ज्ञान-जनक सन्निकर्ष की आश्रयता भी परोक्ष विषय में नहीं होती। यदि कहा जाय कि अनुमित्यादि परोक्ष ज्ञान का करण होता है—लिङ्ग-ज्ञान, उसके स्वविषयीभूतलिङ्गव्यापकत्वरूप सन्निकर्ष की आश्रयता वह्न्यादि में रहने के कारण अव्याप्ति क्यों होगी?

अद्वैतसिद्धिः

वच्छेदकव्यापकसंबन्धादीनामविषयत्वापत्तेः । न च—ज्ञानकरणसन्निकर्षसमानाधिकरणो ज्ञानावच्छेदकत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मो विषयत्वम्, इदं च नित्यपरोक्षसाधारणमिति—वाच्यम्, वस्तुत्वादिकमेव विषयत्वमित्यापत्तेः, ज्ञानावच्छेदकत्वस्य रूपज्ञानाविषये समवायेऽपि सत्त्वेनातिव्याप्तेश्च । न च—ज्ञानज्ञेययोः स्वरूपसंबन्ध एव विषयत्वमिति—वाच्यम्, असिद्धेः। तथा हि—स्वरूपसंबन्ध इत्यस्य स्वरूपं संबन्ध इत्यर्थत्वे संयोगादावतिव्याप्तिः। न च तदुभयान्यत्वं विशेषणम्, हिमवद्विन्ध्ययोरपि स्वरूप-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि लिङ्ग-ज्ञानरूप करण का सामान्य सन्निकर्ष (स्व-विषयत्व) तो लिङ्ग में भी है, अतः लिङ्ग में भी अनुमिति की विषयता अतिप्रसक्त होती है। यदि लिङ्ग-ज्ञानरूप करण का स्वविषय-व्यापकत्वरूप विशेष सन्निकर्ष ही विवक्षित है, तब व्यापकतावच्छेदकीभूत वह्नित्व तथा व्यापकीभूत वह्नि और पर्वत के संयोगादि में अव्याप्ति होती है, क्योंकि 'पर्वतो वह्निमान्'—इस अनुमिति की विषयता वह्नित्व और पर्वत वह्नि-संयोग में भी है, किन्तु करण का स्वविषय-व्यापकत्वरूप सन्निकर्ष वहाँ नहीं रहता।

द्वैतवादी—ज्ञान-करण-सन्निकर्ष के समानाधिकरण ज्ञानावच्छेदकत्व के साक्षाद् व्याप्य धर्म को विषयत्व या विषयता का नियामक मानना चाहिए। यह लक्षण नित्य और परोक्षादि ज्ञानों के विषय में भी घट जाता है [घट-ज्ञान के करणीभूत चक्षुरादि का सन्निकर्ष जिस घट में है, उसी में विद्यमान ज्ञानावच्छेकत्व का साक्षाद् व्याप्य घटत्व धर्म ही घट-ज्ञान का घटगत विषयत्व है। 'घटस्य ज्ञानम्'—इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर घटादि में ज्ञान की अवच्छेदकता मानी जाती है, घटत्व-पटत्वादि उसी अवच्छेदकता के साक्षाद् व्याप्य धर्म होते हैं, अतः घटादि-ज्ञान की विषयता घटादि में निश्चित होती है]।

अद्वैतवादी—उक्त विशालकाय लक्षण की अपेक्षा 'वस्तुत्वमेव विषयत्वम्'—यह लघु लक्षण प्राप्त होता है, क्योंकि ज्ञान की अवच्छेदकता जब वस्तुमात्र में मानी जाती है, तब उसका साक्षाद् व्याप्य धर्म वस्तुत्व ही है। रूप-ज्ञान के अविषयीभूत समवाय सम्बन्ध में भी ज्ञान की अवच्छेदकता रहने के कारण विषयता अतिव्याप्त भी होती है।

द्वैतवादी—ज्ञान और ज्ञेय का स्वरूप सम्बन्ध ही विषयता है [ज्ञानश्री के साथ विस्तृत विचार-चर्चा के समय आचार्य-प्रवर श्री उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक पृ० ४३४ में कहा है—"न हि व्यावहारे प्रवर्त्तयितव्ये स्वभावप्रत्यासत्तिमवधूय ज्ञानज्ञेययोरपरः कश्चिद् विषयविषयिभावः।" वैशेषिक-प्रवर श्री वादिवागीश्वरचार्य ने भी विषयविषयिभाव सम्बन्ध की अतिरिक्तता का खण्डन किया है—"एतेन विषयविषयिभावरूपः सम्बन्धो निरस्तः, तन्नियामकेनैव नियमोपपत्तेः" (मान० पृ० १३८) इससे यह स्पष्ट है कि न्याय और वैशेषिक में विषयविषयिभाव को स्वरूपसम्बन्ध-विशेष ही माना जाता है। शतदूषणीकार ने भी इसकी आलोचना की है—'न च ज्ञानस्वरूपमेवार्थस्य तत्सम्बन्धः, सम्बन्धसम्बन्धित्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गः" (शत० पृ० ९०)]।

अद्वैतवादी—सम्बन्धी के स्वरूप में कभी सम्बन्धरूपता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि 'स्वरूपसम्बन्धः' का स्वरूपात्मक सम्बन्ध अर्थ करने पर शश-शृङ्गादि रूपरहित पदार्थों को छोड़ कर सभी पदार्थों को सम्बन्ध कहा जा सकता है, अतः संयोग,

अद्वैतसिद्धिः

संबन्धापत्तेः, संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वं स्वरूपसंबन्ध इति चेन्न, आत्मानं जानामीत्यत्राव्याप्तेः, तत्र संबन्धान्तरस्य समवायस्यैव सत्त्वाद् अतीन्द्रियाभावादावव्याप्तेश्च, न हि तस्य विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वे मानमस्ति, अन्यथा तेन विशिष्टप्रत्ययजननापत्तेः। किं च विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वं धर्मो वा संबन्धः, तादृशं स्वरूपद्वयमेव वा ? आद्ये स्वरूपस्य संबन्धत्वव्याघातः, प्रतीतिघटितस्यास्य चाक्षुषादिज्ञानागोचरत्वप्रसङ्गश्च। न द्वितीयः, अननुगमात्। किं चैवमभावभ्रमानुपपत्तिः, तत्रापि विशिष्टप्रतीतिसंभवे स्वरूपसंबन्धस्य सत्त्वात्। न च प्रमात्वघटितं तल्लक्षणम्, वास्तवसंबन्धसत्त्वे प्रमात्वस्याप्यापाद्यत्वात्। अन्यथा तत्र तस्याप्रमात्वे सम्बन्धाभावः, तस्मिंश्च तस्याप्रमात्वमित्यन्योन्याश्रयात्।

ननु—सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्वरूपस्य सम्बन्धत्वं संयोगत्वावच्छिन्नस्य दण्डीत्यादौ सम्बन्धत्ववद्, विशिष्टबुद्धिश्चा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समवायादि सम्बन्धों में स्वरूपसम्बन्ध का लक्षण अतिव्याप्त होता है। संयोग, समवाय से भिन्न स्वरूप को स्वरूप सम्बन्ध मानने पर हिमाद्रि और विन्ध्याद्रि के मध्य में स्वरूप सम्बन्ध को लेकर 'सम्बद्धौ'—यह प्रतीति प्रमा होनी चाहिए। सम्बन्धान्तर-निरपेक्ष विशिष्ट-प्रमा-जनन-योग्यता को स्वरूप सम्बन्ध का लक्षण करने पर 'आत्मानं जानामि'– यहाँ आत्मरूप विषय और उसके ज्ञान में समवायरूप सम्बन्धान्तर की अपेक्षा से ही 'ज्ञानवान् अहम्'—इस प्रकार की प्रतीति होती है, अतः इस विषय विषयिभाव में स्वरूप सम्बन्ध का लक्षण अव्याप्त हो जाता है। 'घटस्याभावः' के समान ही 'घटस्य ज्ञानम्'—यह विशिष्ट प्रतीति जिस योग्यता के आधार पर होती है, उसे स्वरूप सम्बन्ध मानने पर अतीन्द्रिय प्रतियोगी एवं अतीन्द्रिय विषय और ज्ञान के मध्य में विशिष्ट प्रतीति की जनन-योग्यता नहीं मानी जा सकती, अन्यथा कदाचिद् विशिष्ट प्रतीति भी प्रसक्त होगी, अतः अतीन्द्रिय वस्तु और उसके अभावादि के साथ स्वरूप सम्बन्ध में उक्त लक्षण अव्याप्त भी होता है।

दूसरी बात यह भी है कि विशिष्ट-प्रतीति जनन-योग्यत्वरूप धर्म को स्वरूप सम्बन्ध माना जाता है ? अथवा विशेष्य और विशेषण—इन दोनों के दो स्वरूपों को स्वरूप सम्बन्ध माना जाता है ? प्रथम पक्ष में वस्तु के धर्म को सम्बन्ध माना जाता है, स्वरूप को नहीं, अतः व्याघात होता है। प्रतीति-घटित धर्म को स्वरूप सम्बन्ध मानने पर प्रतीति के अचाक्षुष होने के कारण चाक्षुष ज्ञान और उसके विषय के साथ स्वरूप सम्बन्ध नहीं बन सकेगा। विशेषण और विशेष्य के प्रत्येक स्वरूप को सम्बन्ध मानने पर अननुगम दोष उपस्थित होता है।

अभाव-भ्रम भी एक विशिष्ट प्रतीति है, किन्तु वहाँ पर भी विशेष्य और विशेषण के स्वरूप को सम्बन्ध माना जा सकता है, अतः वह प्रतीति प्रमा ही होगी, भ्रम नहीं। विशिष्ट-प्रतीति-जनन-योग्यत्व का विशिष्ट-प्रमा-जनन-योग्यत्व अर्थ करने पर अभाव-भ्रम-स्थल पर भी वास्तविक सम्बन्ध के रहने पर प्रमात्व का भी आपादन किया जा सकता है—'विवादपदं ज्ञानं यदि विशेष्य-विशेषण-सम्बन्धविषयकं स्यात्, तदा प्रमा स्यात्।' यदि उक्त प्रतीति को भ्रम माना जाता है, तब विशेष्य और विशेषण के सम्बन्ध का अभाव मानना होगा एवं सम्बन्धाभाव के होने पर उक्त प्रतीति में भ्रमत्व—इस

अद्वैतसिद्धिः

वच्छेदकाविषयिण्येवावच्छेद्यविषया, अतो न स्वरूपसम्बन्धगोचरविशिष्टबुद्धेश्चाक्षुषत्वविरोधः। न च—तदभावप्रमाभ्रमयोः स्वरूपद्वयमात्रविषयत्वाविशेषात् प्रमाभ्रमव्यवस्थानुपपत्तिरिति—वाच्यम्, घटाभाववति घटाभावज्ञानत्वेन तद्भिन्नज्ञानत्वेन च व्यवस्थोपपत्तेः। ननु—अतिरिक्ताविषयत्वे तस्यैवानुपपत्तिः, न हि भवद्रीत्या तस्योभयात्मकत्वेन तदुभयसत्त्वेन व्यधिकरणप्रकारत्वरूपभ्रमत्वस्यैवाभावे भ्रमतदन्यत्वाभ्यां व्यवस्था संभवतीति—चेन्न, घटाभावाभावस्य घटत्वेन तद्वति घटाभावज्ञानस्य व्यधिकरणप्रकारकत्वसम्भवात्। किं च भ्रमस्य वस्तुगत्या यद् घटवत्, स विषयः, न तु प्रमाया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रकार अन्योऽन्याश्रय होता है।

द्वैतवादी—[यह जो आपत्ति की थी कि प्रतीति के चाक्षुष न होने के कारण प्रतीति-घटित योग्यत्वरूप स्वरूप सम्बन्ध भी चाक्षुष नहीं हो सकेगा, वह आपत्ति उचित नहीं, क्योंकि 'दण्डी पुरुषः'—इस ज्ञान की विषयता दण्ड, पुरुष और संयोग सम्बन्ध पर होती है, उस विषयता में जैसे दण्ड का दण्डत्वेन, और पुरुष का पुरुषत्वेन भान होता है, वैसे संयोग का संयोगत्वेन भान नहीं होता, अपितु संसर्ग-मर्यादा से संयोगादि का भान माना जाता है, अतः प्रतीति-घटित योग्यत्वरूप स्वरूप सम्बन्ध का प्रतीति-विशिष्टत्वेन भान नहीं माना जाता, अपि तु प्रतीति को छोड़कर केवल योग्यता का सांसर्गिक मर्यादा से भान होता है, अर्थात्] सम्बन्धान्तर-निरपेक्ष विशिष्ट प्रतीति-जनन-योग्यता के अवच्छेदकीभूत संयोगत्वादि से उपलक्षित संयोग को जैसे दण्डी पुरुषः में सम्बन्ध माना जाता है, वैसे ही चाक्षुष विशिष्ट बुद्धि भी प्रतीतिरूप अवच्छेदक पदार्थ को विषय न कर केवल योग्यतारूप सम्बन्ध को विषय करती है, अतः स्वरूप सम्बन्ध-गोचर विशिष्ट बुद्धि में चाक्षुषत्व का विरोध नहीं होता।

यह जो कहा था कि अभाव के प्रमा और भ्रम-दोनों ज्ञानों में विशेष्य और विशेषण के दो स्वरूपों का समानरूप से भान होता है, प्रमा और भ्रम की व्यवस्था अनुपपन्न होगी, वह भी कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रमा ज्ञान घटाभाव के आधार में घटाभाव को और भ्रम ज्ञान घटाभाव के आधार में घट को विषय करता है, अतः दोनों विलक्षण हैं [अर्थात् विशिष्ट बुद्धियों का अन्तर विशेषण और विशेष्य के भेद से हो जाता है, सम्बन्ध समान होने पर भी कोई अनुपपत्ति नहीं]।

यह जो शङ्का की गई थी कि भ्रम और प्रमा—दोनों ज्ञान यदि समान विषयक हैं अर्थात् विशेषण और विशेष्य तथा उनका स्वरूप समानरूप से दोनों ज्ञान विषय करते हैं, तब उनमें भ्रम-प्रमा की व्यवस्था क्योंकर उपपन्न होगी? क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध विशेषण और विशेष्य-उभयात्मक है, अतः वहाँ दोनों की सत्ता माननी होगी, तब व्यधिकरणप्रकारकत्वरूप (तदभाववति तत्प्रकारकत्वरूप) भ्रमत्व ही नहीं बनेगा, अतः 'यह ज्ञान भ्रम है और यह भ्रम से भिन्न'—ऐसी व्यवस्था सम्भव न हो सकेगी। तो वैसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि घटाभावाभाव घटरूप होता है, अतः घटवाले देश में घटाभाव का ज्ञान व्यधिकरणप्रकारक होने से भ्रमात्मक हो सकता है। दूसरी बात यह भी है कि घटाभावभ्रम में जो वस्तुतः घटवान् देश है, वह विशेष्य होता है और घटाभाव-प्रमा में घटवान् विशेष्य नहीं, अपितु घटाभाववान् देश ही विशेष्य होता है, अतः विषमविशेष्यकत्व होने के कारण भ्रम-प्रमा-व्यवस्था सुकर है।

अद्वैतसिद्धि:

इत्यतिरिक्तविषयत्वमस्त्येव । न चातीन्द्रियाभावे अव्याप्तिः, अत्यन्ताभावे प्रतियोगिदेशान्यदेशत्वं, प्रागभावादौ प्रतियोगिदेशत्वे सति प्रतियोगिकालान्यकालत्वम् ; अन्योन्याभावे प्रतियोगितावच्छेदकदेशान्यदेशत्वं, विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यतावच्छेदकम् । तदवच्छिन्नत्वं च विशिष्टप्रतीत्यजनकेऽप्यतीन्द्रियाभावे सुलभम् , न ह्यारण्यस्थो दण्डो न घटजननयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्न इति—चेत् ; नित्यस्यातीन्द्रियस्याकाशात्यन्ताभावादेर्विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वे अवश्यं विशिष्टप्रत्ययजनकत्व प्रसङ्गात् , नित्यस्य स्वरूपयोग्यस्य सहकारिसमवधाननियमात् ।

किं च विशिष्टस्य प्रत्यय इत्यत्र स्वरूपसम्बन्धस्य षष्ठ्यर्थत्वे आत्माश्रयः, सम्बन्धमात्रस्य तदर्थत्वे आत्मत्वादिविशिष्टात्मसम्बन्धिसमूहालम्बनविषये घटपटादावतिव्याप्तिः, तयोरपि विशिष्टसम्बन्ध्यविशिष्टविषयज्ञानजनकत्वात् । ज्ञानस्याभावः ज्ञातोऽभाव इति प्रतीत्योर्वैलक्षण्यं न स्यात् , ज्ञानाभावयोरुभयोरेवोभयत्र स्वरूपसंबन्धत्वे विषयकृतविशेषाभावात् । अत एव—विशिष्टप्रतीतिजनयोग्यत्वं ज्ञानज्ञेयादि-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतीन्द्रियाभावादि में अव्याप्ति भी नहीं, क्योंकि अत्यन्ताभाव में प्रतियोगी के देश से भिन्न देश-वृत्तित्व को विशिष्ट प्रतीति-जनन-योग्यता का अवच्छेदक माना जाता है, इसी प्रकार प्रागभावादि में प्रतियोगिसमानदेशत्व-युक्ति प्रतियोगि से भिन्न काल की वृत्तिता को तथा अन्योऽन्याभाव में प्रतियोगितावच्छेद-भिन्न देश-वृत्तित्व को विशिष्ट ज्ञान-जनन-योग्यतावच्छेदक कहते हैं । उक्त अवच्छेदक धर्मों से अवच्छिन्नता तो विशिष्ट प्रतीति के अजनकीभूत अतीन्द्रियाभाव में भी वैसे ही सुलभ है, जैसे कि घटादि के अजनकीभूत आरण्यस्थ दण्ड में घट-जनन-योग्यतावच्छेदक दण्डत्वावच्छिन्नत्व रहता है ।

अद्वैतवादी—आकाशात्यन्ताभाव-जैसे नित्य अतीन्द्रिय अभाव में यदि विशिष्ट प्रतीतिजनन-योग्यतावच्छेदकता मानी जाय, तब उससे कभी-न-कभी विशिष्ट प्रतीति भी वैसे ही होनी चाहिए, जैसे कि आरण्यस्थ दण्ड से घट की उत्पत्ति देखी जाती है, क्योंकि जब नित्य स्वरूप योग्यता है, तब उससे फल अवश्य होगा । स्वरूप योग्य पदार्थ वैसे ही सहकारी कारण से संवलित हो कर फलप्रद होता है, जैसे कि कुसूलस्थ बीज क्षेत्र-सलिलादि के सम्पर्क से अङ्कुरोत्पादक होता है किन्तु आकाशात्यन्ताभावादि से विशिष्ट प्रतीति कभी भी नहीं होती, अतः उसमें स्वरूप योग्यता की कल्पना नहीं की जा सकती, फलतः नित्यातीन्द्रिय आभाव में उक्त लक्षण की अव्याप्ति निश्चित है ।

दूसरी बात यह भी है कि विशिष्टस्य प्रतीतिः'—यहाँ पर षष्ठी का स्वरूप सम्बन्ध अर्थ करने पर आत्माश्रय दोष होता है । सम्बन्ध मात्र अर्थ करने पर आत्मत्व-विशिष्ट आत्म-सम्बन्धी समूहालम्बन ज्ञान के विषयीभूत घट-पटादि में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वे भी आत्मरूप विशिष्ट सम्बन्धी-विषयक विशिष्ट ज्ञान के जनक माने जाते हैं ।

'ज्ञानस्याभावः' और 'ज्ञातोऽभावः'—इन प्रतीतियों में भी कोई विशेषता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ज्ञान और अभाव का उभयत्र स्वरूप सम्बन्ध समान है, अतः विषय-प्रयुक्त वैलक्षण्य का अभाव है । अत एव जो यह कहा जाता था कि ज्ञान-ज्ञेयादि स्थल पर विशिष्ट प्रतीति-जनन-योग्यत्व को स्वरूप से अतिरिक्त सम्बन्ध माना जाता है, वह भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि अतीन्द्रिय नित्याभाव में अव्याप्त है । वहाँपर

अद्वैतसिद्धिः

स्थले अतिरक्तमेव सम्बन्ध इति—निरस्तम्, अतीन्द्रिये नित्याभावेऽव्याप्तेः। न हि तत्र विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यता, फलोपधानापत्तेः, प्रतीतिघटितस्य चाक्षुषादिप्रतीताविषयत्वप्रसङ्गाच्च। तस्मात्सत्यत्वे सम्बन्धानुपपत्तेराध्यासिक एव दृग्दृश्ययोः सम्बन्ध इति॥ इत्यद्वैतसिद्धौ प्रपञ्चसत्यत्वे दृग्दृश्यसम्बन्धभङ्गः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विशिष्ट प्रतीति-जनन-योग्यता के होने पर फल की अवश्यंभावता का प्रसङ्ग दिखाया जा चुका है। अचाक्षुष प्रतीति से घटित स्वरूप सम्बम्ध में अचाक्षुषता की आपत्ति जैसी-की-तैसी ही बनी हुई है। [अद्वैतरत्नरक्षण पृ० २२ पर स्वरूप सम्बन्ध की विशेष आलोचना की गई है—"स्वरूपमेव संबंध इति चेन्न, तस्य घटज्ञानपटयोरपि सत्त्वात्। स्वरूपविशेष इति चेन्न, तदनिर्वचनात्। संबंधान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यत्वमिति चेन्न, योग्यतावच्छेदकरूपापरिचये योग्यत्वस्यैव दुर्ज्ञेयत्वात्। तद्यदि घटत्वादिकं ज्ञानत्वं तदाऽतिप्रसक्तम्, यतः पटज्ञानस्यापि ज्ञानत्वं वर्तते घटस्य च घटत्वम्, तयोरपि स्वरूपसंबन्धत्वापत्तिः। नापि घटज्ञानत्वादिकम्, ज्ञानस्य घटीयत्वस्यैव विचार्यमाणत्वात्। तथा चान्योन्याश्रयः। तत्तत्स्वरूपमेव तथेति चेन्न, विशिष्टप्रत्ययस्यानियतहेतुकत्वापत्तेः। **किंच** प्रत्ययशब्देन ज्ञानमात्रं वा प्रमा वेति विवक्षितम्? **नाद्यः,** भ्रमजनकत्वस्य सर्वत्र संभवेनातिप्रसङ्गापत्तेः। **न द्वितीयः,** अन्योन्याश्रयापत्तेः। **तथाहि**—यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा, तथाच अस्तीति यदि विद्यमानता, तदा पाकरक्ते श्यामोऽयमिति धीः प्रमा न स्यात्, इदानीं तत्र तस्याविद्यमानत्वात्, 'स एवायमि'ति तत्तांशेऽप्रामाण्यापत्तेश्च, तस्मादस्तीति वृत्तिमात्रं वक्तव्यम्, वृत्तिश्च संबन्धः, स च संयोगः समवायः स्वरूपलक्षणो वा, तथा चान्योन्याश्रयः। अथ संबंधमात्रं तत्र ज्ञायते न तु विशेष इति चेत्, तदपि अविशिष्टप्रत्ययव्यावृत्तविशिष्टधीनियामकत्वमेव, तथा च धीपदेन ज्ञानमात्रविवक्षायामतिप्रसक्तिः, प्रमाविवक्षायां चात्माश्रयादिः। विशिष्टशब्दस्य संबंधघटितत्वेनात्माश्रयादिः। नियामकत्वं यदि जनकत्वम्, तदा संबंधेष्वननुगतेषु तदशक्यग्रहणम्, अनुगतस्य तु विचार्यमाणत्वमेव। किंचातीतानागतविषयस्थले विशिष्टप्रत्ययं प्रत्यजनकत्वात्तद्योग्यत्वस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वादव्याप्तिः। असदेव तज्जनकमिति चेत्, योग्यस्यापि तथैव जनकत्वोपपत्तावदृष्टकल्पनानुपपत्तिप्रसङ्गात्। दण्डादेरप्यसत एव जनकत्वापत्तौ जितमसद्वादिना। अथ तत्र ज्ञानमेव विशिष्टप्रत्ययजनकमिमि चेन्न; तस्य केवलस्यासंबंधत्वात्। द्वयं हि संबंधः। अगत्या तत्रैकमपि संबन्ध इति चेत्, तर्ह्यगत्या संबंधाभावेऽपि संबन्धबुद्धिरस्तु। तथा सति बुद्धिर्भ्रान्ता स्यादिति चेन्न, इष्टापत्तेः"]। अतः दृश्य पदार्थ के सत्य होने पर दृक् के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं बनता, अगत्या आध्यासिक सम्बन्ध ही पर्यवसित होता है।

: ३३ :

अनुकूलतर्कविचारः

न्यायामृतम्

अत्रोच्यते—सर्वस्यापि दृश्यस्य ब्रह्मात्मैकदृगध्यस्तत्वेऽपि कस्यचित्कदाचित्कंचित् प्रति प्रकाशाय त्वयापि तत्तत्संनिकृष्टेन्द्रियजन्यतत्तदाकारवृत्तिद्वारक एवाऽनावृतदृक्संबंधः स्वीकृतः। तथा च सत्यत्वेऽपि तद्द्वारक एव संबंधोऽस्तु, किमाध्यासिकसम्बन्धदुर्व्यसनेन ? न हिं त्वन्मते विज्ञानवादिमत इव तत्तदर्थास्तत्तज्ज्ञानेऽध्यस्ताः। सत्यायाः शुद्धदृशः स्वतो भेदाभावादुपाधिविशिष्टाया भेदेऽपि घटादिवन्मिथ्यात्वेन तदधिष्ठानत्वायोगात्। उपाध्युपलक्षितायास्सत्यत्वेऽप्यभेदात्। कथंचिद्भेदेऽपि वृत्ति-

अद्वैतसिद्धिः

स्यादेतत्—सर्वस्यापि दृश्यस्य ब्रह्मात्मकदृगध्यस्तत्वेऽपि कस्यचित् कदाचित् कञ्चित् प्रति प्रकाशाय त्वयाऽपि तत्तत्सन्निकृष्टेन्द्रियजन्यतत्तदाकारवृत्तिद्वारक एवानावृतदृक्सम्बन्धः स्वीकृतः, तथा च सत्यत्वेऽपि तद्द्वारक एव सम्बन्धोऽस्तु, किमाध्यासिकसम्बन्धदुर्व्यसनेन ? न हि भवतां विज्ञानवादिनामिव तत्तज्ज्ञाने तत्तदर्थाध्यासस्वीकारः, शुद्धदृशः स्वतो भेदाभावाद् उपाधिविशिष्टाया भेदेऽपि घटादिवत्तस्या अपि मिथ्यात्वेनाधिष्ठानत्वायोगादिति,—चेन्न, प्रकाशस्य साक्षात् स्वसंसृष्टप्रकाशकत्वनियमेन चैतन्यस्य परम्परासम्बन्धेन विषयप्रकाशकत्वायोगात्। न हि प्रदीपः परम्परासम्बद्धं प्रकाशयति, अतो विषयाधिष्ठानचैतन्यमनावृतमेव प्रकाशकम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—समस्त दृश्य प्रपञ्च के ब्रह्मरूप दृक् में अध्यस्त होने पर भी किसी पदार्थ का कदाचित् किसी ही प्रमाता के प्रति भान होने के लिए आप (अद्वैतवादी) को भी तत्तत्पदार्थ के साथ सन्निकृष्ट इन्द्रिय से जनित तत्तदाकार वृत्ति के द्वारा अनावृत दृक् (चेतन) का दृश्य के साथ सम्बन्ध मानना पड़ता है, अतः दृश्य प्रपञ्च के सत्य होने पर भी तत्तत्पदार्थ-सन्निकृष्ट इन्द्रिय से जनित तत्तदाकार वृत्ति के द्वारा दृक् का दृश्य के साथ सम्बन्ध उपपन्न हो जाता है, तब आध्यासिक सम्बन्ध के मानने का हठ क्यों किया जा रहा है ? क्योंकि आप (अद्वैतवेदान्ती) योगाचार के समान प्रत्येक पदार्थ को अपने ज्ञान मात्र में अध्यस्त नहीं मानते, अपितु एक शुद्ध ब्रह्म में ही समस्त दृश्य का अध्यास मानते हैं। शुद्ध चेतन का स्वतः भेद होता नहीं, उपाधि-विशिष्ट चेतन का भेद होने पर भी घटादि के समान वह भी मिथ्या होने के कारण अधिष्ठान नहीं बन सकता, क्योंकि अध्यस्त की अपेक्षा अधिक सत्तावाला पदार्थ ही अधिष्ठान हो सकता है। घटादि से उपलक्षित चेतन तो निर्विभाग एकात्मक ही है, अतः दृश्यता की उपपत्ति के लिए तत्तदिन्द्रिय-जन्य तत्तदर्थाकार वृत्ति के द्वारा अनावृत चेतन का सम्बन्ध आवश्यक है, वह सत्य दृश्य के साथ भी निभ जाता है, अतः आध्यासिक सम्बन्ध मानना व्यर्थ है।

अद्वैतवादी—आप (द्वैतवादी) का कथन संगत नहीं, क्योंकि प्रकाश का यह स्वभाव होता है कि वह साक्षात् स्व-सम्बन्धी वस्तु का ही नियमतः प्रकाशक होता है, अतः चैतन्य अपने परम्परया संबन्धी पदार्थ का प्रकाशक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रदीप में अपने परम्परा सम्बन्धी की प्रकाशकता नहीं देखी जाती, अतः अनावृत विषयाधिष्ठानरूप चेतन ही विषय का प्रकाशक होगा। विषयावरण का भङ्ग वृत्ति के द्वारा

न्यायामृतम्

द्वारकसम्बन्धात्प्रागध्यस्तत्वरूपे सम्बन्धे सत्यपि दृश्याप्रतीतेः। किं च किं घटाकार-वृत्तिप्रतिबिंबितं चैतन्यं घटप्रकाशकम् ? किं वा तदभिव्यक्तं घटाधिष्ठानचैतन्यम् ? नाद्यः, आध्यासिकसम्बन्धस्याऽतंत्रत्वापातात्। नांत्यः, आवश्यकेन वृत्तिप्रतिबिंबितेनैव प्रकाशोपपत्तौ तेनाधिष्ठानचिदभिव्यक्त्यादिकल्पनायोगात्। किं च घटाधिष्ठानस्य सत्यस्य चिन्मात्रस्य चरमसाक्षात्कारात्पूर्वं नाभिव्यक्तिः। अभिव्यक्तस्य तु घटाधिष्ठान-

अद्वैतसिद्धिः

आवरणभङ्गश्च वृत्त्या, अतो वृत्तेः पूर्वमाध्यासिकसंबन्धे विद्यमानेऽपि दृश्याऽप्रतीति-रुपपन्ना। अत एव--वृत्तिप्रतिविम्बितचैतन्यस्य घटप्रकाशकत्वे आध्यासिकसम्बन्ध-स्यातन्त्रतापातः, घटाभिव्यक्तचैतन्यस्य घटप्रकाशकत्वे आवश्यकेन वृत्तिप्रति-बिम्बितचैतन्येनैव घटप्रकाशोपपत्तौ तदधिष्ठानचिदभिव्यक्तिकल्पनायोग इति--निरस्तम्, परोक्षविलक्षणस्फुटतरव्यवहारार्थं विषयाधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तिकल्प-नाया युक्तत्वात्। न च--शुद्धचैतन्यस्य चरमसाक्षात्कारात्पूर्वं नाभिव्यक्तिः, अभि-व्यक्तस्य च घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य न तदधिष्ठानत्वम्, आत्माश्रयादिति--वाच्यम्, चरमसाक्षात्कारात् पूर्वमपि शुद्धचैतन्यस्याविद्यावशादधिष्ठानभूतस्य मूलाज्ञान-निवृत्तिलक्षणाभिव्यक्त्यभावेऽपि तदवस्थाविशेषादिनिवृत्तिलक्षणाभिव्यक्त्या विषय-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ही होता है, अतः वृत्ति के उदय होने से पूर्व दृग्दृश्य के आध्यासिक सम्बन्ध की विद्यमानता होने पर भी दृश्य की अप्रतीति उपपन्न हो जाती है। अत एव जो यह आक्षेप किया जाता था कि वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को घट का प्रकाशक मानने पर आध्यासिक सम्बन्ध व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि वृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्य में घटादि का अध्यास नहीं माना जाता। घटाभिव्यक्त घटाधिष्ठान चेतन को घट का प्रकाशक मानने पर उसकी अभिव्यक्ति के लिए घटाकार वृत्ति एवं वृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्य की कल्पना अनिवार्य है, अतः उसी वृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा सत्य घटादि का प्रकाश बन जाता है, अधिष्ठान-चेतन की अभिव्यक्ति माननी व्यर्थ हो जाती है। वह आक्षेप भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि विषयाधिष्ठान चैतन्याभिव्यक्ति के विना वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य ही कैसे बनेगा ? क्योंकि अधिष्ठान चेतन ही तो वृत्ति में प्रतिबिम्बित होता है। दूसरी बात यह भी है कि विषय का स्फुटतर भान प्रत्यक्ष ज्ञान से ही होता है, परोक्ष से नहीं, प्रत्यक्ष वृत्ति में ही अधिष्ठान चेतन अभिव्यक्त होता है, परोक्ष वृत्ति में नहीं, अतः अधिष्ठान चैतन्याभिव्यक्ति की कल्पना व्यर्थ नहीं।

शङ्का—अधिष्ठान चैतन्याभिव्यक्ति की कल्पना व्यर्थ ही है, क्योंकि शुद्ध चेतन ही प्रपञ्च का अधिष्ठान माना जाता है और शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति चरम साक्षात्कार के पूर्व होती नहीं। घटाकारवृत्ति से जिस घटावच्छिन्न चेतन की अभिव्यक्ति होती है, वह घटादि का अधिष्ठान नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसे घटादि का अधिष्ठान मानने में आत्माश्रयादि दोष होते हैं—घटादि का अध्यास होने पर ही घटावच्छिन्न चेतन की उपपत्ति और उसकी उपपत्ति हो जाने पर ही उसमें घटादि का अध्यास बनेगा।

समाधान—चरम साक्षात्कार से पहले भी शुद्ध अधिष्ठान की घटाद्याकार वृत्ति के द्वारा तूलाज्ञान-निवृत्तिस्वरूप अभिव्यक्ति हो जाती है, मूलाज्ञान-निवृत्तिरूप अभि-

न्यायामृतम्

चैतन्यस्य न तदधिष्ठानत्वम्, आत्माश्रयात्। किं च घटप्रकाशिकाया दृशो घटवन्मिथ्यात्वे न तदधिष्ठानत्वं सत्यत्वे दोषाजन्यत्वेन प्रमात्वात् सत्यं स्वविषयं प्रति नाधिष्ठानत्वमित्युभयतःपाशा रज्जुः। यत्तूक्तं ज्ञानज्ञेययोर्न सम्बन्ध इति तन्न, गुणगुण्यादेस्संयोगासंभवे समवायवत् ज्ञानज्ञेययोरुभयासंभवेऽन्यस्य संभवात्। अभाववद् भूतलं ज्ञातो घटः इष्टो घटः घटस्याभाव इत्यादिका परस्परासंयुक्तसमवेतविशेषणविशेष्यविषयकविशिष्टधीः, विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धविषयिका, विशिष्टधीत्वाद्, दंडीतिविशिष्ट-

अद्वैतसिद्धिः

प्रकाशकत्वोपपत्तेः। न च—घटप्रकाशिकायाः दृशो मिथ्यात्वेना धिष्ठानत्वं सत्यत्वे दोषाजन्यत्वेन प्रमात्वात् सत्यं स्वविषयं प्रति नाधिष्ठानत्वमित्युभयतःपाशा रज्जुरिति—वाच्यम्, यतो दोषाजन्यत्वं न प्रमात्वप्रयोजकम्, चैतन्यस्य सर्वत्र दोषाजन्यत्वात्, किंतु दोषाजन्यवृत्त्यवच्छिन्नत्वम्, प्रकृते च तदभावात् न विषयस्य सत्यत्वम्, अतो मिथ्याभूतविषयं प्रत्याधिष्ठानत्वं सत्याया दृशो युक्तम्।

ननु—तात्त्विकसम्बन्धासंभवे आध्यासिकसंबन्धकल्पनम्? स एव तु कुतः? क्लृप्तसंयोगबाधे गुणगुणिनोः समवायवत्तदुभयबाधे तृतीयस्य संभवात्। न च तत्र मानाभावः, समवायवदनुमनाध्यक्षयोः सत्त्वात्। तथा हि—परस्परासंयुक्तासमवेतविशेषणविशेष्यकविशिष्टधीर्विशेषणविशेषसंवलन्धविषया, विशिष्टधीत्वाद्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यक्ति चरम साक्षात्कार से ही होती है। तूलाज्ञान-निवृत्तिरूप अभिव्यक्ति के कारण घटादि पदार्थों का प्रकाश बन जाता है।

शङ्का—घट-प्रकाशक चेतन मिथ्या है? अथवा सत्य? यदि यिथ्या है, तब वह घट का अधिष्ठान नहीं बन सकता, क्योंकि सत्य ही अधिष्ठान हो सकता है, और यदि सत्य है, तब सत्य प्रकाश का विषय भी सत्य होगा, क्योंकि सत्य प्रकाश दोषों से अजनित होने के कारण प्रमात्मक ही माना जायगा, तब नो भ्रम ज्ञान का विषय जैसे मिथ्या होता है, उसी प्रकार प्रमा ज्ञान का विषय सत्य है, सत्य विषय की अधिष्ठानता उसमें अनुपपन्न हो जाती है—इस उभयतःपाशा रज्जु के फन्दे में अद्वैतिगण पड़ जाते हैं।

समाधान—दोषाजन्यत्व को प्रमात्व का प्रयोजक अद्वैत वेदान्त में नहीं माना जाता, क्योंकि चेतनात्मक ज्ञान नित्य होने से सर्वत्र दोषाजन्य ही है, अतः भ्रम-ज्ञान कोई होगा ही नहीं, अतः दोषाजन्य वृत्ति से अवच्छिन्न चेतन को प्रमा और दोष-जन्य वृत्ति से अवच्छिन्न चेतन को भ्रम माना जाता है, प्रकृत में घटाद्याकार अन्तःकरण की वृत्ति अविद्यारूप दोष से जनित होती है, अतः दोष-जन्य वृत्ति से अवच्छिन्न घटादिज्ञान न तो प्रमा है और न उसका घटादि विषय सत्य, अतः मिथ्याभूत घटादि की अधिष्ठानता सत्य चेतन में सुघट है।

द्वैतवादी—दृक् और दृश्य का यदि पारमार्थिक सम्बन्ध न बन सके, तब आध्यासिक माना जा सकता है, किन्तु तात्त्विक सम्बन्ध सूपपन्न है, हाँ, जैसे गुण और गुणी द्रव्य का संयोग नहीं बनता, अतः समवाय माना जाता है, वैसे ही प्रकृत में यदि संयोग और समवाय—दोनों नहीं बन सकते, तब कोई तृतीय सम्बन्ध सिद्ध होगा। उस तृतीय सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि समवाय के समान ही वह अनुमान और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमाणित है। उसके साधक अनुमान-प्रयोग

न्यायामृतम्

धीवत् । उक्ता जन्यप्रमा विशेषणविशेष्यसम्बन्धनिमित्तिका, अबाधितविशिष्टजन्यधीत्वात्, संमतवत् । विमता धीः, अबाधितविशेषणविशेष्यसम्बन्धविषयिका अबाधितविशिष्टधीत्वाद्, दंडीतिप्रमावदित्यनुमानात्तत्सिद्धेः । गोमांश्चैत्र इत्यादिधीरपि पक्ष एव । उक्तं हि—"षष्ठीस्थाने योगे" त्यत्र महाभाष्ये—"एकशतं षष्ठ्यर्था" इति । ते च स्वस्वामिभावादयः सम्बन्धाः षष्ठीदंडके पठिता इत्युक्तं कैयटे । प्रमितवस्त्वनुसारेण हि प्रक्रिया कल्प्या, न तु स्वकल्पितप्रक्रियानुरोधेन प्रमितित्यागः । न च

अद्वैतसिद्धिः

दण्डीति विशिष्टधीवद्; उक्ता जन्यप्रमा, विशेषणविशेष्यसंबन्धनिमित्तिका, अबाधितजन्यविशिष्टधीत्वात्, संमतवत्; विमता धीः, अबाधितविशेषणविशेष्यसंबन्धविषया, अबाधितजन्यविशिष्टधीत्वाद्दण्डीति विशिष्टधीवत् । गोमांश्चैत्र इत्यादिबुद्धेरपि पक्षकुक्षिनिक्षेप एवेति न तत्र व्यभिचारशङ्का । तथा च संयोगसमवायातिरिक्तसंबन्धसिद्धिरिति-चेन्न, प्रथमे द्वितीये चार्थान्तरम्, आध्यासिकसम्बंधस्यैव विषयत्वेन निमित्तत्वेन चोपपत्तेः । द्वितीये परोक्षधीषु व्यभिचारश्च । तृतीयेऽपि ब्रह्मज्ञानपर्यन्ताबाधितत्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस प्रकार हैं—(१) 'अभावद् भूतलम्', 'ज्ञातो घटः', 'घटस्याभावः'—इत्यादि परस्पर असंयुक्त और असमवेत विशेषण-विशेष्य से घटित विशिष्ट ज्ञान, विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध को विषय करता है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान है, जैसे—'दण्डी पुरुषः' विशिष्ट ज्ञान। (२) 'अभावद् भूतलम्'—इत्यादि परस्परासंयुक्त और असमवेत विशेषण-विशेष्य से घटित जन्य प्रमा, विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होती है, क्योंकि अबाधित, जन्य, विशिष्ट ज्ञान है, जैसे—उभय-सम्मत विशिष्ट प्रमा । (३) विवादास्पद ज्ञान विशेषण और विशेष्य के अबाधित सम्बन्ध को विषय करता है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान है, जैसे—'दण्डी पुरुषः'। गोमांश्चैत्र—इत्यादि विशिष्ट ज्ञान भी पक्ष के अन्तर्गत ही माने जाते हैं, अतः उनमें व्यभिचार नहीं दिखाया जा सकता। इन प्रयोगों के आधार पर संयोग और समवाय से अतिरिक्त दृग्दृश्य के तृतीय सम्बन्ध की सिद्धि हो जाती है।

अद्वैतवादी—प्रथम और द्वितीय अनुमान-प्रयोग में अर्थान्तरता दोष है, क्योंकि आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध को ही प्रथम साध्य-घटक विशिष्ट बुद्धि का विषय और द्वितीय साध्य-घटक विशिष्ट बुद्धि का निमित्त माना जा सकता है। द्वितीय प्रयोग का हेतु परोक्ष ज्ञानों में व्यभिचारी भी है, क्योंकि परोक्ष ज्ञान का विषय जनक या निमित्त नहीं माना जाता, अतः परोक्ष विशिष्ट बुद्धि में साध्य के न रहने पर भी विशिष्ट बुद्धित्वरूप हेतु के रहने से व्यभिचार है। तृतीय प्रयोग में विशेषण-विशेष्य के सम्बन्ध में अबाधितत्व कैसा विवक्षित है? ब्रह्म-ज्ञान-पर्यन्त अबाधितत्व? अथवा सर्वथा अबाधितत्व? प्रथम पक्ष में सिद्ध-साधनता है, क्योंकि समस्त प्रपञ्च ब्रह्म-ज्ञान-पर्यन्त अबाधित माना ही जाता है। द्वितीय पक्ष में दृष्टान्त साध्य-विकल हो जाता है, क्योंकि 'दण्डी पुरुषः'—में दण्ड और पुरुष का सम्बन्ध सर्वथा अबाधित नहीं माना जाता। वस्तुतः सर्वथा अबाधित सम्बन्ध अप्रसिद्ध है, क्योंकि सर्वथा अबाधित विषयक चरम अखण्डाकार वृत्ति केवल एक अखण्ड वस्तु मात्र को ही विषय करती है, सम्बन्ध को नहीं।

न्यायामृतम्

सम्बन्धद्वित्वमेव बाधकम्, अन्योन्याश्रयात्। अन्यथा सम्बन्धैक्यं समवायबाधकं स्यात्। नाप्यतीतादौ सम्बन्ध्यभावो वा ज्ञानज्ञेययोर्विप्रकर्षो वा बाधकः, अस्य संबंधस्य समवायवत् संबंध्यभावविप्रकर्षाद्यविरुद्धत्वेनैव धर्मिग्राहकेण सिद्धेः। अन्यथा

अद्वैतसिद्धि

सिद्धसाधनमेव। सर्वथा अबाधितधीविषयत्वे साध्ये साध्यवैकल्यम्। न च—तात्त्विकसम्बन्धबाधे आध्यासिकसंबन्धसिद्धिः, तथा च संयोगसमवायातिरिक्ततात्त्विकसम्बन्धबाधपर्यन्तं नाध्यासिकसम्बन्धसंभावना, तथा च कथमर्थान्तरसिद्धसाधनसाध्यवैकल्यानीति—वाच्यम्, तात्त्विकसंबन्धस्य व्यापकानुपलब्ध्या बाधात्। तथा हि—तात्त्विकसम्बन्धस्य व्यापको देशकालविप्रकर्षाभावः। स चातीतादिविषयकज्ञानादीनां नास्त्येवेति कथं तात्त्विकस्तेषां सम्बन्धः? न च—समवायवत् सम्बन्ध्यभाव-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—प्रथम प्रयोग में जिस आध्यासिक सम्बन्ध को लेकर अर्थान्तरता, सिद्धसाधनतादि दोष दिये गये हैं, उस आध्यासिक सम्बन्ध की सिद्धि तब तक सम्भावित नहीं, जब तक 'संयोग और समवाय से अतिरिक्त तृतीय तात्त्विक सम्बन्ध का बाध न हो जाय। तात्त्विक सम्बन्ध का अभी तक बाध नहीं हो सका है।

समाधान—व्यापकानुपलब्धि के द्वारा तृतीय तात्त्विक सम्बन्ध का बाध हो जाता है, क्योंकि तात्त्विक सम्बन्ध का व्यापक होता है—दैशिक और कालिक विप्रकर्ष का अभाव। [अर्थात् जिन पदार्थों का दैशिक विप्रकर्ष या व्यवधान होता है, उनका तात्त्विक सम्बन्ध नहीं होता, जैसे—हिमाचल और बिन्ध्याचल का। अथवा जिन पदार्थों का कालिक विप्रकर्ष होता है, उनका भी तात्त्विक संबन्ध नहीं होता, जैसे—भावी पुरुष और विनष्ट दण्डका। अतः 'यत्र-यत्र तात्त्विकः सम्बन्धः, तत्र-तत्र देशकालविप्रकर्षाभावः'—इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर देश-काल-विप्रकर्षाभाव में तात्त्विक संबन्ध की व्यापकता निश्चित होती है। व्यापक की अनुपलब्धि व्याप्य की प्रतिषेधिका या बाधिका होती है [श्री धर्मकीर्ति ने तीन प्रकार के लिङ्ग बताए हैं—"अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं चेति" (न्या. वि. पृ. १००)। इनमें स्वभाव और कार्य—दो हेतु विधायक और अनुपलब्धि को प्रतिषेधक माना है—"अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ, एकः प्रतिषेधहेतुः" (न्या. वि. पृ. १०८)। प्रतिषेधक हेतुओं में व्यापकानुपलब्धि व्याप्य का प्रतिषेधक होती है—"व्यापकानुपलब्धिर्यथा नात्र शिंशपा, वृक्षाभावादिति" (न्या० वि० पृ० १२९)]। अतीतादि पदार्थों एवं उनके वर्तमान ज्ञान का कालिक विप्रकर्ष रहने के कारण विप्रकर्षाभाव नहीं, अतः तात्त्विक संबन्ध क्योंकर सिद्ध होगा?

शङ्का—[देश-काल-विप्रकर्षाभाव का अर्थ है—एक देश और एक काल में रहना—यह संयोग के संबन्धियों के लिए तो कथञ्चित् कहा जा सकता है कि घटौ संयुक्तौ—यहाँ पर संयोग के संबन्धी दोनों घटों का देश-काल एक है, किन्तु समवाय संबन्ध के संबन्धी तो एक देश में होते ही नहीं, उनका एक काल में होना भी आवश्यक नहीं, क्योंकि अतीत श्याम रूप और वर्तमान रक्त घट का भी संबन्ध समवाय ही माना जाता है, अतः] जैसे समवाय संबन्ध के एक संबन्धी (श्यामरूप) के न होने अर्थात् दोनों संबन्धियों का कालिक विप्रकर्ष रहने पर भी समवाय माना जाता है एवं

न्यायामृतम्

हि पृथक्सिद्धयोरेव संयोगसम्बन्धदर्शनाद् अपृथक्सिद्धिः समवासंबंधस्य बाधिका

अद्वैतसिद्धिः

विप्रकर्षाद्यविरुद्धत्वेनैव तत्सिद्धिरिति—वाच्यम् , समवायस्यापि देशकालविप्रकृष्टयोः सम्बद्धव्यवहाराप्रयोजकत्वात् । न हि संबन्ध्यभावेऽपि सन् समवायोऽद्य विनष्टं घटं श्वस्तनेन रूपेण विशिनष्टि । न चाध्यासिकत्वे संबन्धस्य साध्ये धर्मिग्राहकमानबाधः, विशिष्टबुद्धित्वेन प्रथमं तात्त्विकातात्त्विकसाधारणसंबन्धस्यैव सिद्धेः ।

किं च संबन्धग्राहक एव तात्त्विकसंबन्धव्यापकानुपलब्धिरूपबाधसहकृत, आध्यासिकसंबन्धे पर्यवस्यति । अतो न धर्मिग्राहकबाधशङ्कापि । न चैवं—युतसिद्धयोरेव संयोगरूपसंबन्धदर्शनादयुतसिद्धिरपि समवायस्य बाधिका स्यादिति—वाच्यम् , युतसिद्धयोरपि क्वचित्संबन्धादर्शनेन युतसिद्धत्वस्य संबन्धाप्रयोजकत्वाद् ,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दैशिक विप्रकर्ष (रूप घट में और घट कपालों में) रहने पर भी रूप और घट का समवाय स्वीकृत है, वैसे ही ज्ञान और ज्ञेय का विप्रकर्ष रहने पर भी संबन्ध्यभाव और संबन्धी-विप्रकर्ष का अविरोधी कोई तात्त्विक संबन्ध क्यों न माना जा सकेगा ?

समाधान—'संबन्ध' पद का अर्थ होता है—संबद्ध-व्यवहार-प्रयोजक पदार्थ । अतीत श्याम रूप और रक्त घट अथवा वर्तमान घटत्व और विनष्ट घट में 'नीलं रक्तघटे समवेतम् या घटत्वं घटे समवेतम्'—ऐसा व्यावहार नहीं होता, वर्तमान रूप का घट के साथ 'एवं घटे समवेतम् या रूपघटौ संबद्धौ'—यह व्यवहार होता है, अतः देश-काल विप्रकृष्ट ज्ञान और ज्ञेय का संबद्ध-व्यवहार-प्रयोजक कोई तात्त्विक संबन्ध नहीं बन सकता ।

शङ्का—जिस संबन्धरूप धर्मी में आध्यासिकत्व धर्म सिद्ध किया जाता है, वह धर्मी प्रमाण-सिद्ध है ? अथवा नहीं ? यदि नहीं, तब आध्यासिकत्व धर्म किस में सिद्ध किया जायगा ? यदि वह प्रमाण-सिद्ध है, तब तात्त्विक है, उसमें आध्यासिकत्व की अनुमिति धर्मी के प्रमापक प्रमाण से ही बाधित हो जाती है ।

समाधान—'ज्ञानज्ञेययोर्विशिष्टबुद्धिः विशेषणविशेष्यसंबन्धविषया, विशिष्टबुद्धित्वाद् दण्डीति विशिष्टबुद्धिवत्'—इस व्यावहारिक अनुमान प्रमाण के द्वारा जो संबन्ध रूप धर्मी सिद्ध किया जाता है, वह तात्त्विकातात्त्विक-साधारण संबन्ध मात्र है, तात्त्विक नहीं, अतः उसमें आध्यासिकत्व सिद्ध किया जा सकता है । दूसरी बात यह भी है कि जैसे पर्वत में महानसीयादि अग्नियों का बाध देख कर वह्नि-साधक अनुमान ही पर्वत में पर्वतीय वह्नि की सिद्धि में पर्यवसित होता है, वैसे ही तात्त्विक संबन्ध के व्यापकीभूत देश-काल-विप्रकर्षाभाव की अनुपलब्धि देख कर संबन्ध-साधक उक्त अनुमान ही आध्यासिक संबन्ध में ही पर्यवसित होता है, अतः धर्मिग्राहक प्रमाण की बाध-शङ्का भी नहीं हो सकती ।

शङ्का—यदि व्यापकानुपलब्धि को व्याप्य का बाधक माना जाय, तब गुण-गुण्यादि अयुत-सिद्ध पदार्थों का समवाय भी सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि संयोग-स्थल पर युत-सिद्ध पदार्थों का ही संबन्ध देखा जाता है, अतः समवाय के व्यापक युत-सिद्ध-वृत्तित्व की अनुपलब्धि होने के कारण समवाय कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—संबन्धियों का युत-सिद्ध होना संबन्ध का प्रयोजक नहीं माना

न्यायामृतम्

स्यात् । ध्वंसादेश्चातीतादिना मिथ्यात्वलक्षणांतर्गतस्यात्यंताभावस्य च प्रतियोगिना वेदान्तनिष्ठशक्तितात्पर्ययोश्च ब्रह्मणा (ज्ञात्रा) जीवाश्रिताज्ञानस्य चाऽज्ञेयेन ब्रह्मणा व्यवहारस्य च व्यवहर्तव्येन ब्रह्मणा मुमुक्षायाश्च मोक्षेण त्वदुक्तदूषणस्य च दूष्येण त्वद्वाक्यस्य चाऽर्थेन ज्ञानस्य ज्ञेयेन संबंधो नेति त्वद्वाक्योक्तसंबंधाभावस्य स्वज्ञानेनाऽसंबंधात्स्वन्यायस्वक्रियास्ववचनविरोधाः स्युः । न हि ज्ञेयं ज्ञान इव प्रतियोगिशक्या

अद्वैतसिद्धिः

यस्मिन् सत्यवश्यं संबन्धः, स एव संबन्धस्य प्रयोजक इति समव्याप्तत्वाभावेन युतसिद्ध्यनुपलब्धेरबाधकत्वाद्, यत्र संबन्धस्तत्रावश्यं युतसिद्धिरिति विषमव्याप्तिकल्पनेऽपि मानाभावाद्, अनुकूलतर्कादर्शनात्, देशकालविप्रकर्षाभाववतां तु सर्वेषां संबन्धनर्शनेन विप्रकर्षे तददर्शनेन च समव्याप्ततया प्रयोजकस्य देशकालविप्रकर्षाभावस्यानुपलब्धेः संबन्धबाधकत्वस्यावश्यमङ्गीकरणीयत्वात् । न हि प्रयोजकाभावे प्रयोज्यसंभवः ।

नन्वेवं— ध्वंसादेरतीतादिना, मिथ्यात्वलक्षणान्तर्गतस्यात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिना, शक्तेः शक्येन अज्ञानस्याज्ञेयेन, इच्छाया इष्यमाणेन, व्यवहारस्य व्यवहर्तव्येन, वाक्यस्यार्थेन, वृत्तिरूपज्ञानस्य ज्ञेयेन, संबन्धो नेति त्वद्वाक्योक्तसंबन्धाभावस्य ज्ञानेनासंबन्धात् स्वन्यायस्वक्रियास्ववचनविरोधाः स्युः, न हि ज्ञाने ज्ञेयमिव प्रतियोग्यादि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता, क्योंकि सुमेरु और विन्ध्य-जैसे युत-सिद्ध पदार्थों का भी कोई संबन्ध नहीं देखा जाता । जिस पदार्थ के रहने पर संबन्ध अवश्यंभावी होता है, वही संबन्ध का प्रयोजक माना जाता है, किन्तु 'ययोः युत-सिद्धत्वम्, तयोरेव संबन्धः'—इस प्रकार की व्याप्यता युत-सिद्धत्व में नहीं, समव्याप्ति (व्यापकत्वे सति व्याप्यत्व) के निरूपक पदार्थ की अनुपलब्धि ही व्याप्य की बाधक मानी जाती है, युतसिद्धत्व की अनुपलब्धि वैसी नहीं, अतः संबन्ध की बाधकता उसमें नहीं हो सकती । 'यत्र संबन्धः तत्रावश्यं युतसिद्धिः'—इस प्रकार की विषम व्याप्ति की कल्पना में भी न तो कोई प्रमाण ही सुलभ है और न कोई अनुकूल तर्क । किन्तु प्रकृत मे सभी देश-काल-विप्रकर्षाभाववाले पदार्थों का ही संबन्ध देखा जाता है. विप्रकृष्ट पदार्थों का नहीं, अतः समव्याप्ति को लेकर देश-काल-विप्रकर्षाभाव में तात्त्विक संबन्ध की व्यापकता निश्चित है, उसकी अनुपलब्धि में संबन्ध की बाधकता अनिवार्यरूप से सिद्ध होती है, क्योंकि कहीं पर भी प्रयोजक के विना प्रयोज्य की सिद्धि नहीं होती ।

शङ्का—देश-काल-विप्रकर्षाभाव को तात्त्विक सम्बन्ध-बाध-पूर्वक अध्यासिक सम्बन्ध का प्रयोजक मानने पर विद्यमान ध्वंस का अतीत प्रतियोगी के साथ, मिथ्यात्व-घटक अत्यन्ताभाव का अपने प्रतियोगी के साथ, शक्ति का शक्य के साथ, अज्ञान का अज्ञेय के साथ, इच्छा का इष्यमाण के साथ, व्यवहार का व्यवहर्त्तव्य के साथ, वाक्य का वाक्यार्थ के साथ तथा 'वृत्तिरूप ज्ञान का ज्ञेय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता—इस प्रकार के भवदीय वाक्य से प्रतिपादित सम्बन्धाभाव का ज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध न बनने के कारण अद्वैतवेदान्ती के लिए स्वकीय न्याय, स्वकीय वचनादि का विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि ज्ञान में ज्ञेय के साथ प्रतियोगी आदि पदार्थ अपने अभावादि में अध्यस्त नहीं होते ।

न्यायामृतम्

ज्ञेयेष्यमाणव्यवहर्तव्याद्यः अभावशक्त्यज्ञानेच्छाव्यवहारादावध्यस्ताः । एतेन—

न्यायेऽद्वेऽन्यसाम्यात्किं दृढेऽन्यदपि बाध्यताम् ।
न ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम् ॥

अद्वैतसिद्धिः

कमभावादावध्यस्तमिति—चेन्न, यद्यप्युक्तन्यायसाम्येन ध्वंसादीनां स्वप्रतियोग्यादिभिस्तात्त्विकः संबन्धो नास्त्येव, अध्यासोऽपि न ज्ञानज्ञेयन्यायेन, उभयोरपि मिथ्यात्वात् । तथापि प्रतीयमानं प्रतियोग्यनुयोगिभावादिकं सर्वथा न निराकुर्मः, किंतु तात्त्विकाध्यासाभ्यां भिन्नमेव ज्ञेयकुक्षिनिक्षिप्तत्वात् मिथ्याभूतमङ्गीकुर्मः । स च संयोगादिवदतिरिक्तो वा स्वरूपं वा पराङ्गीकृतपदार्थान्तर्गतो वा तदतिरिक्तो वेत्यस्यां काकदन्तपरीक्षायां न नो निर्बन्धः । न च मिथ्यात्वसिद्धेः प्राक् तदसिद्ध्या अन्योन्याश्रयः, दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्त्या ज्ञेयमात्रस्याध्यासिकत्वे सिद्धे तन्मध्यपतितस्य प्रतियोग्यभावादिसंबन्धस्यापि मिथ्यात्वं, न तु प्रतियोग्यभावादिसंबन्धमिथ्यात्वसिद्ध्यनन्तरं दृश्यमिथ्यात्वसिद्धिरिति व्यवहारोपयुक्तसंबन्धसामान्यस्याप्रतिक्षेपात् न स्ववचनादिविरोधः । तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—

बाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात् किं ? दृढे तदपि बाध्यताम् ।
क ममत्वं मुमुक्षूणाम् अनिर्वचनवादिनाम्' ॥ इति ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—यद्यपि कथित नियम की समानता के आधार पर ध्वंसादि का अपने प्रतियोग्यादि के साथ कोई तात्त्विक सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, ज्ञान-ज्ञेय के समान आध्यासिक सम्बन्ध भी नहीं बनता, क्योंकि ध्वंसादि एवं उनके प्रतियोग्यादि—दोनों सम्बन्धी अध्यस्त (मिथ्या) ही है । तथापि प्रतीयमान प्रतियोगि-अनुयोगिभावादि संबन्धों का सर्वथा निराकरण हम (अद्वैवादी) नहीं करते 'अपितु तात्त्विक और आध्यासिक—दोनों से भिन्न वह सम्बन्ध दृश्य होने के कारण मिथ्याभूत व्यवहार-कालपर्यन्त अबाधित माना जाता है। वह सम्बन्ध संयोग के समान अतिरिक्त है या स्वरूप संबंध के समान अनतिरिक्त है, पराभ्युपगत पदार्थों के अन्तर्गत अथवा उनसे अतिरिक्त है—इस प्रकार काक-दन्त-परीक्षा के समान निष्प्रयोजन विचार-चर्चा में हमारा कोई विश्वास नहीं, किसी प्रकार का आग्रह नहीं । 'प्रपञ्च-मिथ्यत्व-सिद्धि से पहले उक्त मम्बन्ध में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, अपितु प्रपञ्च-मिथ्यात्व-सिद्धि से उक्त सम्बन्ध में मिथ्यात्व और उक्त सम्बन्ध में मिथ्यात्व सिद्ध होने पर प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध होगा'—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष क्यों नहीं ? इस शङ्का का समाधान यह है कि दृग्दृश्य-सम्बन्ध की अनुपपत्ति के आधार पर ज्ञेयमात्र में आध्यासिकत्व सिद्ध हो जाने के कारण ज्ञेय-मध्य-पतित (ज्ञेयान्तर्गत) प्रतियोग्यनुयोगिभावादि सम्बन्ध भी मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं, प्रतियोग्यनुयोगिभाव आदि सम्बन्धों की मिथ्यात्व-सिद्धि के अनन्तर प्रपञ्च की मिथ्यात्व-सिद्धि नहीं मानी जाती, अतः व्यवहारोपयोगी सम्बन्ध सामान्य का हम निरास नहीं करते कि स्व-वचन-विरोधादि का उपालम्भ हम पर आरोपित किया जाय । खण्डनकार ने कहा है—

बाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात् किं दृढे तदपि बाध्यताम् ।
क ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्विर्चनवादिनाम् ॥ (खं० पृ० २८०)

न्यायामृतम्

इति निरस्तम्, स्वव्याहतस्य न्यायाभासतया दार्ढ्याभावात्। अन्यथा जातिवाद्य-

अद्वैतसिद्धिः

न चादृढत्वं बाधस्य(न्यायस्य), व्यापकानुपलब्धिरूपतर्कस्योक्तत्वात्, स्वक्रिया-दिविरोधरूपप्रतिकूलतर्कस्य परिहृतत्वाच्च। अत एव न जातिवादिसाम्यम्, तेन हि नियमसापेक्षानित्यत्वसाधककृतकत्वादौ नियमानपेक्षेण दर्शनमात्रेण रूपवत्त्वादिकमा-पाद्यते, न त्वस्माभिस्तथानियमनिरपेक्षेण साहचर्यमात्रेण किंचिदापाद्यते। न चैवं—ज्ञानज्ञेययोरपि प्रतियोग्यभावादिसमकक्ष्य एव संबन्धोऽस्त्विति—वाच्यम्, परस्परा-ध्यासात्मकसंबन्धासंभवेनैव संबन्धान्तरकल्पनात्, तत्संभवे तस्यैव संबन्धत्वात्। न च—अज्ञानविषयस्य ब्रह्मणो विषयिण्यज्ञानेऽनध्यासेन विषयस्य विषयिण्यध्यासनियमो न सिद्ध इति—वाच्यम्, एवं नियमानभ्युपगमात्, किं तु ज्ञानाज्ञानयोरध्यास एव विषयेण संबन्धः। स च ज्ञाने ज्ञेयस्याज्ञेये चाज्ञानस्याध्यासाद् उपपद्यते। अत एवा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अर्थात् ज्ञान-ज्ञेय के तात्त्विक सम्बन्ध का देश-कालविप्रकर्षाभावानुपलम्भरूप बाधक यदि अदृढ़ (अनुकूल तर्क-रहित) है, तब ध्वंस और प्रतियोग्यादि का साम्य-प्रदर्शन व्यर्थ है, क्योंकि बाध की अदृढ़ता के कारण ही तात्त्विक संबंध का बाध नहीं होता और यदि उक्त बाध दृढ़ है, तब भी उक्त समता का प्रदर्शन व्यर्थ है, क्योंकि व्यापकानु-पलब्धिरूप बाध की दृढ़ता के कारण बाधित तात्त्विक संबंध ध्वंस-प्रतियोग्यादि के संबंध की समानता से पुनरुज्जीवित नहीं हो सकता, बल्कि उसी बाध से यदि ध्वंस-प्रतियोग्यादि का तात्त्विक संबंध भी प्रभावित होता है, तब उनके भी तात्त्विक संबंध की रक्षा के लिए हमें सक्रिय होने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि जो अनिर्व-चनीयता-वाद की धधकती ज्वाला में समस्त जगत् के तात्त्विकत्व की आहुति दे बैठा है, ऐसे मुमुक्षु पुरुष को कहाँ जागतिक ममता ? कि उसकी रक्षा के लिए सक्रिय हो]। ज्ञान-ज्ञेय के तात्त्विक संबंध का बाधक अदृढ़ नहीं, क्योंकि व्यापकानुपलब्धिरूप तर्क से उसे दृढ़ बनाया जा चुका है और स्वक्रिया-विरोधादि प्रतिकूल तर्क का परिहार भी किया जा चुका है कि सामान्यतः प्रतीयमान व्यवहार का निराकरण हम नहीं करते। इसीलिए जात्युत्तरवादी से हमारी समता नहीं, की जा सकती, क्योंकि 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवत्'—इस स्थापनानुमान में जात्युत्तरवादी उत्कर्ष समा (न्या० सू० ५।१।४) जाति का प्रयोग करता है—शब्दो यदि कृतकत्व साधर्म्येण घटवदनित्यः स्यात्, तर्हि घटादिवदेव रूपवानपि स्यात्।' यहाँ यह स्पष्ट है कि जातिवादी व्याप्ति की उपेक्षा कर केवल दृष्टान्त में रूपवत्ता को देख कर शब्द में उसका आपादन करता है, किन्तु हम (अद्वैतवादी) वैसा कभी नहीं करते, सदैव व्याप्त्यादि के आधार पर ही सदुत्तर प्रस्तुत किया करते हैं।

प्रतियोगी और अभावादि के संबंध का समकक्ष ज्ञान और ज्ञेय का अनाध्यासिक संबन्ध इस लिए नहीं माना जा सकता कि प्रतियोगी और अभावादि—दोनों मिथ्या हैं, उनमें से कोई भी अधिष्ठान बनने की योग्यता नहीं रखता, अतः उनमें अन्योऽन्याध्यास संभव न होने के कारण आध्यासिक संबंध नहीं माना जा सकता, किंतु प्रकृत में ज्ञान तत्त्व अपने शुद्ध रूप में सत्य है, उसे अधिष्ठान बनाकर ज्ञेय का उसमें अध्यास होता है।

शङ्का—विषय का विषयी में अध्यास होता है—ऐसा कोई नियम नहीं सिद्ध

न्यायामृतम्

पीत्थं वदेत्। न चेच्छायास्तज्ज्ञानजन्यत्वादन्यस्तत्सम्बन्धो नेति युक्तम्, ज्ञाने सन्निकर्षाधीनस्येव स्मृतावनुभवाधीनस्येव चेच्छायां ज्ञानाधीनस्य विषयसम्बन्धस्यानुभवात्। अन्यथा घटपटाविति ज्ञानजन्यायाः पटेच्छाया घटीयत्वापातात्। नित्येश्वरेच्छाया विषयाऽसम्बन्धापाताच्च, पुत्रादिधीजन्यसुखादेस्तद्विषयत्वापाताच्च। अज्ञानस्य च तज्ज्ञाननिवर्त्यत्वातिरिक्ततद्विषयत्वाभावे तन्निवर्त्यत्वमेव न स्यात्, तस्य समानविषयकज्ञाननिवर्त्यत्वात्। अज्ञानस्यान्धकारवद् आश्रयाच्छादकत्वेऽपि सविषयत्वस्य स्वीकृतत्वाच्च। यदि च भावाभावादेः सम्बन्धान्तरमन्तरेण तद्विशिष्टव्यवहारजननयोग्यस्वरूपात्मकः स्वभावसम्बन्धो वा असम्बन्धरूपं प्रतियोगित्वादिकं वा नियामकं सत्यसम्बन्धकार्यकारि, तर्हीहापि विषयत्वं तथैवास्तु। भावाभावादेरपि संबंधो मिथ्यैवेति चेन्न, प्रपंचमिथ्यात्वसिद्धेः प्राक् तदसिद्ध्याऽन्योन्याश्रयात्। घटस्याभाव इत्यादावभावसमसत्ताकसंबंधवद् घटस्य ज्ञानमित्यत्रापि ज्ञानसमसत्ताकसंबंधस्य स्वीकार्यत्वाच्च। अस्तु वा संयोगादिवत्तव विषयत्वमपि मिथ्यैव। न च तावता प्रस्तुतदृश्यमिथ्यात्वसिद्धिः, ज्ञानस्येव ज्ञेयस्य सत्यत्वेऽपि तत्संबंधमिथ्यात्वोपपत्तेः। न च संयोगादिरपि त्वन्मते तात्त्विकः। न च तावता दण्डे चैत्रोऽध्यस्तः। न चाध्यासिकसंबन्धोऽपि तात्त्विकः येनेच्छादौ क्लृप्तसंबंधत्यागेन ज्ञाने स आश्रीयेत। न चाभावादेः प्रतियोग्यादिना संबंधोऽस्ति, न तु ज्ञानस्य ज्ञेयेनेति युक्तम्, नियामकाभावात्। दृग्दृश्ययोस्संबंधो नेत्येतद्वाक्यजज्ञानस्य स्वज्ञेयेन, श्रवणमननादीनां च श्रोतव्यादिरूपेण ब्रह्मणा, चरमसाक्षात्कारस्य च साक्षात्कर्तव्येन ब्रह्मणा, असंबंधेन स्वक्रियादिविरोधापाताच्च। न

अद्वैतसिद्धिः

ध्यासिकसंबन्धव्यतिरेकप्रदर्शने अज्ञानस्याज्ञेयेनेत्यनुदाहरणम्।

ननु—श्रवणादीनां चरमसाक्षात्कारान्तानां स्वविषयेण ब्रह्मणा संबन्धानुपपत्तिः, न हि श्रवणादौ साक्षात्कारे वा ब्रह्माध्यस्तमिति—चेन्न, साक्षात्कारो हि वृत्तिर्वा ? तदभिव्यक्तचैतन्यं वा ? आद्ये तस्याः ब्रह्मण्यध्यस्यत्वेनाज्ञानाज्ञेययोरिव संबन्धोपपत्तेः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

किया जा सकता, क्योंकि ब्रह्माज्ञानरूपी विषयी में ब्रह्मरूपी विषय का अध्यास न होकर उलटा ब्रह्मरूप विषय में अज्ञानरूप विषयी का अध्यास माना जाता है।

समाधान—विषय का ही विषयी में अध्यास होता है—ऐसा नियम हम भी नहीं मानते, अपितु ज्ञान और अज्ञान का विषय के साथ आध्यासिक तादात्म्य संबन्ध होता है। वह ज्ञान में ज्ञेय का और अज्ञेय में अज्ञान का अध्यास होने से संपन्न हो जाता है, अतः आध्यसिक संबन्धाभाव के प्रदर्शन में अज्ञान और ब्रह्म का उदाहरण नहीं दिया जा सकता, क्योंकि विषयी में विषयाध्यास का यदि नियम किया जाता, तब उसका व्यभिचार वहाँ प्रदर्शित किया जा सकता था, किंतु 'विषयिण्येव विषयस्यैव अध्यासः'—ऐसा न कह कर भाष्यकार ने कहा है कि 'विषयविषयिणोरध्यासः'।

शङ्का—यह जो कहा कि विषयी का विषय के साथ आध्यासिक संबंध होता है, ऐसा भी नियम सम्भव नहीं क्योंकि श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कारादि का अपने विषयीभूत ब्रह्म के साथ आध्यासिक संबंध कैसे उपपन्न होगा ? ब्रह्मरूप विषय का न तो श्रवणादि में अध्यास होता है और न साक्षात्कार में।

समाधान—'साक्षात्कार' पद से वृत्ति विवक्षित है ? अथवा वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य ? वृत्ति का तो ब्रह्म में अध्यास होने के कारण अज्ञान और अज्ञेय के समान

न्यायामृतम्

हि दृग्दृश्ययोस्संबंधोनेति वाक्यज(न्य)ज्ञाने दृग्दृश्यसंबंधाभावभ्रमसाक्षात्कारादौ च ब्रह्माध्यस्तम्। ब्रह्मणि अध्यस्तस्य तत्साक्षात्कारत्वे घटसाक्षात्कारस्यापि तत्त्वापातात्। धर्मादौ तत्तात्पर्यादेरनध्यासाच्च। इहापि ज्ञेये ज्ञानाध्यासापाताच्च। एवं च—

दृग्दृश्ययोर्न संबन्ध इति वाक्योत्थसंविदि।
अनध्यासात्तदर्थस्य संबंधोऽन्यस्तयोर्मतः॥

अद्वैतसिद्धिः

अत एव श्रवणादिनापि मानसक्रियारूपेण न संबन्धानुपपत्तिः, द्वितीये तु अभेदेन तत्संबन्धानुपयोगात् तत्संबन्धानुपपत्तिर्न दोषाय। अत एव—चरमसाक्षात्कारस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वाद् यदि तद्विषयत्वं, तदा घटसाक्षात्कारस्यापि ब्रह्मण्यध्यस्तत्वात् तद्विषयत्वापत्तिरिति - निरस्तम्, घटसाक्षात्कारस्य घटाभिव्यक्तचैतन्यरूपत्वे ब्रह्मण्यनध्यासाद्, वृत्तिरूपत्वे तस्याः ब्रह्मण्यध्यासेऽपि नाधिष्ठानभूतस्य ब्रह्मणो विषयत्वम्, ब्रह्मविषयताप्रयोजकस्याध्यासविशेषस्य तत्राभावात्, तस्य च फलबलकल्प्यत्वात्, न हि चरमवृत्तौ ब्रह्माकारतावदत्राऽपि साऽनुभूयते, इच्छेष्यमाणयोस्तु ज्ञानद्वारक एव संबन्ध इति न पृथक्संबन्धापेक्षा। न च ज्ञाने सन्निकर्षाधीनस्येव स्मृतावनुभवाधीनस्येवेच्छायां ज्ञानाधीनस्य विषयसंबन्धस्यानुभवात् सन्निकर्षादिभ्यो भिन्न इव ज्ञानाद् भिन्न एव संबन्धो वक्तव्य इति वाच्यम्. संबन्धा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आध्यासिक सबन्ध उपपन्न हो जाता है। अत एव श्रवणादिरूप मानस क्रिया के साथ भी संबंध अनुपपन्न नहीं, क्योंकि उन क्रियाओं का ब्रह्म में अध्यास माना जाता है। 'साक्षात्कार' पद से वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य का ग्रहण करने पर ब्रह्म का उसके साथ अभेद होने के कारण कोई संबन्ध विवक्षित नहीं, अतः संबंधानुपपत्ति कोई दोष नहीं।

यह जो आक्षेप किया जाता था कि चरम साक्षात्कार यदि ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण ब्रह्मविषयक माना जाता है, तब घट-साक्षात्कार भी ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण ब्रह्मविषयक क्यों नहीं? वह आक्षेप भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि घट-साक्षात्कार घटाभिव्यक्त चैतन्यरूप होने के कारण ब्रह्म में अध्यस्त नहीं माना जाता। घट-साक्षात्कार यदि वृत्तिरूप माना जाता है, तब ब्रह्म में अध्यस्त होन पर भी अधिष्ठानभूत ब्रह्म को उसका विषय नहीं माना जाता, क्योंकि वृत्तिगत शुद्ध ब्रह्माकारता का प्रयोजक महावाक्य-जन्य अखण्डाकार वृत्ति-निष्ठ ब्रह्म तादात्म्यरूप अध्यास-विशेष का घटाकार वृत्ति में अभाव होने के कारण ब्रह्मविषयकत्व नहीं माना जाता। वह अध्यास-विशेष कहाँ होता है? और कहाँ नहीं? यह फल को देख कर ही जाना जा सकता है। ब्रह्म-साक्षात्कार में ब्रह्माकारता के समान घट-वृत्ति में ब्रह्माकारता अनुभूत नहीं होती। इच्छा और इष्यमाण का ज्ञान के द्वारा ही सम्बन्ध माना जाता है, अतः इच्छा और उसके विषय का पृथक् संबन्ध नहीं माना जाता, यह पहले कहा जा चुका है। अतः इच्छा के समान ज्ञान में भाविविषयकत्व का आरोप नहीं किया जा सकता।

शङ्का—जैसे ज्ञान में सन्निकर्ष के अधीन और स्मृति में अनुभव के अधीन विषय-संबन्ध अनुभूत होता है और सन्निकर्ष और अनुभव से भिन्न विषय-सम्बन्ध माना जाता है, वैसे ही इच्छा में भी ज्ञान के अधीन विषय-संबन्ध प्रतीत होता है, अतः ज्ञान

अद्वैतसिद्धिः

नुभवस्य ज्ञानद्वारकसंबन्धेनाप्युपपत्तेरतिरिक्तसंबन्धकल्पने मानाभावात्, ज्ञानाधीनसंबन्धान्तरस्याननुभवात्। ज्ञाने त्विन्द्रियसन्निकर्षादिना न संबन्धानुभवोपपत्तिः, इन्द्रियसन्निकर्षादीनामतीन्द्रियत्वेन तेषामनुमित्यादिनोपस्थितिं विनैव घटज्ञानमित्यादि संबन्धानुभवात्। स्मृतौ तु अनुभवाधीनसंबन्धस्य शङ्कैव नास्ति, अनुभवस्य तदानीमसत्त्वाद्, उभयोरपि ज्ञानत्वेन तुल्यवदेव सम्बन्धसम्भवाच्च। न च – समूहालम्बनजन्यैकविषयेच्छायामुभयविषयत्वापत्तिः, जनकज्ञानस्योभयविषयत्वादिति – वाच्यम्, अतिरिक्तसम्बन्धपक्षेऽपि तुल्यत्वात्। अथैकविषयावच्छेदेनैव ज्ञानस्य जनकत्वात् नोभयविषयत्वं, समं ममाऽपि, जनकज्ञाने जनकतावच्छेदकविषयत्वस्यैव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

से भिन्न ही इच्छा और इष्यमाण का स्वतन्त्र संबन्ध होना चाहिए।

समाधान—इच्छा और इष्यमाण वस्तु का संबन्ध अनुभव ज्ञान के माध्यम से जब उपपन्न हो जाता है, तब स्वतन्त्र संबंध की कल्पना व्यर्थ और निष्प्रमाण है। यह जो कहा कि इच्छा और इष्यमाण का ज्ञान के द्वारा संबन्धान्तर अनुभूत होता है, वह सत्य नहीं, क्योंकि वहां ज्ञान से भिन्न और किसी संबन्धान्तर की अनुभूति नहीं होती। ज्ञान में तो इन्द्रिय-सन्निकर्षादि को लेकर विषय-संबंध की अनुभूति उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि इन्द्रिय-सन्निकर्ष अतीन्द्रिय होता है, अतः उसकी प्रत्यक्ष से नहीं, अनुमित्यादि से ही उपस्थिति हो सकती है, किन्तु अनुमित्यादि के द्वारा इन्द्रिय-सन्निकर्षोपस्थिति की प्रतीक्षा के बिना ही 'घटस्य ज्ञानम्'—इस प्रकार ज्ञान में विषय-सम्बन्ध अनुभूत होता है, अतः इस संबन्ध को इन्द्रिय-सन्निकर्ष से भिन्न ही मानना पड़ता है। यह जो कहा कि स्मृति में अनुभव के द्वारा स्मर्यमाण का संबन्ध प्रतीत होता है, वह कहना भी नितान्त असंगत है, क्योंकि उस समय तक स्मृति-जनक अनुभव रहता ही नहीं कि उसके द्वारा कोई संबंध अनुभूत हो। दूसरी बात यह भी है कि स्मृति और अनुभव—दोनों ज्ञानत्वेन समान हैं, अतः जैसे अनुभव का अनुभूयमान के साथ स्वतंत्र संबंध प्रतीत होता है, वैसे ही स्मृति का स्मर्यमाण के साथ स्वतंत्र संबंध (विषय-विषयिभाव) माना जाता है।

शङ्का—यदि इच्छा और इष्यमाण का इच्छा-जनक ज्ञान के द्वारा ही संबंध माना जायगा, तब जहाँ 'घटपटौ स्तः'—इस प्रकार समूहालम्बन ज्ञान के पश्चात् केवल घट की इच्छा होती है—'घटो मे भूयात्।' वहाँ इच्छा में घट और पट-उभयविषयकत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि इच्छा का जनक समूहालम्बन ज्ञान उभयविषयक है।

समाधान—यह आपत्ति तो इच्छा और इष्यमाण का स्वतन्त्र सम्बन्ध मानने पर भी बनी रहेगी, अतः दोनों वादियों के लिए यह दोष समान है। यदि इस दोष का परिहार करने के लिए द्वैतवादी कहता है कि घट-पटोभय-विषयक समूहालम्बन ज्ञान भी केवल घटविषयकत्वावच्छेदेन ही घटेच्छा का जनक होता है, अतः इच्छा में उभयविषयकत्वापत्ति द्वैत मत में नहीं होती, तब वही समाधान हम भी अपना लेंगे [अर्थात् उक्त समूहालम्बन ज्ञान में घटविषयकत्व और पटविषयकत्व—दोनों धर्म रहते हैं, घटेच्छा की जनकता भी उसी ज्ञान में है, अतः घटविषयकत्व को ही उक्त जनकता का अवच्छेदक माना जाता है, क्योंकि समानाधिकरण धर्मों का अवच्छेद्य-अवच्छेदक-भाव होता है। इस प्रकार इच्छा का अपने विषय के साथ स्वजनकज्ञानविषयत्व को

न्यायामृतम्

यद्यपि ज्ञानं प्रकाशस्तथापीच्छादिवदान्तरत्वेन प्रदीपवैलक्षण्यात् , परोक्षवृत्तौ दर्शनाच्च

अद्वैतसिद्धिः

सम्बन्धत्वात् । न च नित्येश्वरेच्छाया विषयत्वसंबन्धानुपपत्तिः, तस्या अस्माभिरन ङ्गीकारात् , तार्किकाणामपि तत्साधकमानबलेन विलक्षणसंबन्धकल्पनेऽपि जन्यज्ञान-जन्येच्छयोरुक्तप्रकारेणैव विषयताभ्युपगमात् । न च—पुत्रादिधीजन्यसुखादेः पुत्रादि-विषयत्वापत्तिः, इच्छान्यायादिति वाच्यम् , वैषम्यात् । ज्ञानस्य समानत्वेऽपि इच्छादावेव सविषयत्वप्रतीतिः, न तु सुखादौ । वस्तुस्वाभाव्यात् त्वयाप्यस्यैवार्थस्य वक्तव्यत्वात् । अन्यथा स्फटिके जपाकुसुमसन्निधानाल्लौहित्यवल्लोष्ठेऽप्यापद्येत ।

अथ धर्मे तात्पर्यस्यानध्यासात्तात्पर्यसम्बन्धो न स्यात् , न, तात्पर्यं हि तत्प्रती-त्युद्देश्यकत्वम् , प्रतीतेश्च ज्ञेयान्तरेणेव धर्मेणाऽपि संवन्धोऽध्यस्य एव, प्रतीतिद्वारा च धर्मतात्पर्ययोः संबंध इत्यनुपपत्त्यभावात् । न च ज्ञानस्य प्रकाशत्वेन प्रदीप-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सम्बन्ध न मानकर] स्वजनकतावच्छेदक-निरूपकत्व सम्बन्ध माना जाता है, घटेच्छा की जनकता का अवच्छेदक घटविषयकत्व है, उसका निरूपक घट ही है, पट नहीं, अतः उक्त इच्छा में पटविषयकत्वापत्ति नहीं होती ।

इच्छा का अपने विषय के साथ जन्य-जनकभाव-घटित सम्बन्ध मानने पर ईश्वर की नित्य इच्छा के साथ विषय-सम्बन्ध कैसे बनेगा ? इस आशङ्का का समाधान यह है कि हम (अद्वैतवादी) ईश्वरीय इच्छा को नित्य नहीं मानते । ईश्वरीय इच्छा को नित्य माननेवाले तार्किकगण भी ईश्वर-साधक प्रमाण के आधार पर उसके नित्य ज्ञान को नित्य इच्छा को सिद्ध करते हैं । ईश्वर के ज्ञान और इच्छा में जन्य-जनकभाव न होने पर भी विलक्षण सम्बन्ध माना जाता है, जो कि इच्छा की विषयता का नियामक होता है । आत्मतत्त्वविवेक की अपनी व्याख्या में वर्धमान उपाध्याय ने कहा है—"इच्छादेर्हि विषयता याचितमण्डनन्यायेन, न स्वाभाविकी ।" जन्य-जनकभावापन्न ज्ञान और इच्छा की विषयता उक्त प्रकार की ही मानी जाती है ।

शङ्का—'यद्विषयकज्ञानजन्या या इच्छा, सा तद्विषयिणी'—इस नियम को व्यापक रूप देने पर यद्विषयकज्ञानजन्यं यत्, तत् तद्विषयकम्'—यह पर्यवसित होता है, फिर तो पुत्र-दर्शन-जन्य सुखादि में पुत्रादिविषयकत्व प्राप्त होता है, जो कि सम्भव नहीं, क्योंकि सुखादि पदार्थ ज्ञानादि के समान सविषयक नहीं माने जाते ।

समाधान—इच्छा और सुख का जनक ज्ञान समान होने पर भी उससे जनित इच्छा और सुखादि का स्वभाव समान नहीं, विषम है, क्योंकि इच्छादि में ही सविषयत्व की प्रतीति होती है, सुखादि में नहीं । वस्तु-स्वभाव के आधार पर यह व्यवस्था आप (द्वैतवादी) को भी माननी पड़ेगी, अन्यथा जपाकुसुम के सम्पर्क से स्फटिक में रक्तिमा के समान ही लोढ़ा-पत्थर में भी रक्तिमा प्रतिविम्बित होनी चाहिए ।

यह जो कहा कि धर्म में वैदिक तात्पर्य का अध्यास न होने के कारण धर्म के साथ तात्पर्य का सम्बन्ध नहीं होगा । वह कहना उचित नहीं, क्योंकि तात्पर्य का अर्थ होता है—तत्प्रतीत्युद्देश्यत्व (धर्मविषयक प्रतीति-जनकत्व) । घट-प्रतीति के साथ घट का जैसे आध्यासिक सम्बन्ध होता है, वैसे ही धर्म-प्रतीति के साथ धर्म का आध्यासिक सम्बन्ध होता है, वैदिक तात्पर्य के साथ धर्म का प्रतीति के द्वारा ही आध्यासिक सम्बन्ध

न्यायामृतम्

विप्रकृष्टेनापि प्रकाश्येन संबन्धो युक्तः, अन्यथा दीपवदेवाध्यासिकसंबन्धो न स्यात्।

किं च तवापि मते ज्ञेयस्य न स्वज्ञानेऽध्यस्तत्वनियमः, अनध्यस्तस्य तुच्छस्याविद्यानिवृत्तिः पंचमप्रकारेति मतेऽविद्यानिवृत्तेर्भावाद्वैतमते अभावस्य चाद्वग्रूपत्वेऽपि स्वज्ञानेऽनध्यासात्। अपरोक्षानुभवैकरसे ब्रह्मण्यध्यस्तस्य व्याव-

अद्वैतसिद्धिः

साम्येऽपि आन्तरत्वेन तद्वैलक्षण्यमङ्गीकर्तव्यम्, अत इच्छादिवद्विप्रकृष्टेनापि संबन्धः स्याद्, अन्यथा प्रदीपवदेवाध्यासिकसंबन्धोऽपि न स्यात्, परोक्षवृत्तौ विप्रकृष्टसंबन्धदर्शनाच्चेति—वाच्यम्, देशकालविप्रकर्षाभावस्य संबन्धसामान्यप्रयोजकत्वे संभवत्यान्तरप्रतियोगिकसंबन्धभिन्नसंबन्ध एवास्य प्रयोजकत्वमिति कल्पनाबीजाभावात्। इच्छायास्तु नेष्यमाणेन साक्षात्संबन्धः, किं तु ज्ञानद्वारकः परंपरासंबन्ध एवेत्युक्तम्। परोक्षस्थले तु यद्यप्यधिष्ठानचैतन्येन साक्षादेव संबन्धः, तथापि विषयाकारवृत्त्या साक्षात्संबन्धाभावाद् वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन विषयस्य परंपरासंबन्ध एव। ननु—तवापि मते ज्ञेयस्य न स्वज्ञानेऽध्यस्तत्वनियमः, अनध्यस्तस्य तुच्छस्य पञ्चमप्रकारत्वपक्षे अविद्यानिवृत्तेर्भावाद्वैतपक्षे अभावस्य चाऽद्वग्रूपत्वेऽपि स्वज्ञानेऽनध्यासाद्, अपरोक्षैकरसे ब्रह्मण्यध्यस्तस्य व्यावहारिकस्यातीतादेर्नित्यातीन्द्रियस्य च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होता है, अतः कोई अनुपपत्ति नहीं रह जाती।

शङ्का—ज्ञान यद्यपि प्रदीप के समान ही एक प्रकाश तत्त्व है, तथापि प्रदीप बाह्य प्रकाश है और ज्ञान आन्तरिक, अतः प्रदीप की अपेक्षा इसका वैलक्षण्य यह भी माना जा सकता है कि इच्छादि के समान ही इसका अपने विप्रकृष्ट विषय के साथ तात्त्विक सम्बन्ध होता है, अन्यथा (प्रदीप का वैलक्षण्य न मानने पर) प्रदीप के समान ही ज्ञान का अपने प्रकाश्य के साथ तात्त्विक ही सम्बन्ध होगा, आध्यासिक नहीं। दूसरी बात यह भी है कि आन्तरिक परोक्ष वृत्ति ज्ञान के साथ विप्रकृष्ट विषय का भी अनाध्यासिक सम्बन्ध देखा जाता है, अतः समग्र ज्ञान का अपने सन्निहितासन्निहित विषय के साथ तात्त्विक विषयविषयिभाव सम्बन्ध मानना चाहिए।

समाधान—समस्त प्रकाश और प्रकाश्य के सम्बन्ध का एक मात्र प्रयोजक है—देशकाल-विप्रकर्षाभाव। इस प्रयोजक सामान्य का केवल बाह्य प्रकाश में संकुचित करने का कोई आधार या तर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इच्छा की तुलना का निराकरण पहले ही किया जा चुका है कि इच्छा का अपने विषय के साथ ज्ञान-द्वारक ही परम्परा सम्बन्ध माना जाता है, स्वतन्त्र नहीं। परोक्ष ज्ञान-स्थल पर भी परोक्ष विषय का अपने अधिष्ठान चेतन के साथ साक्षात् आध्यासिक सम्बन्ध होता है। परोक्ष वृत्ति के साथ विषय का साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी वृत्त्यवच्छिन्न चेतन के साथ परम्परा सम्बन्ध होता है।

द्वैतवादी—आप (अद्वैतवादी) के मत में ज्ञेय के स्वकीय ज्ञान में अध्यास का नियम नहीं होता; क्योंकि शश-विषाणादि तुच्छ पदार्थ का उसके शब्द-जन्य ज्ञान में अध्यास नहीं माना जाता, इसी प्रकार पञ्चम प्रकारात्मक अविद्या-निवृत्ति तथा भावाद्वैत मत में (ब्रह्मसिद्धि-कारने कहा है—''अभावरूपा धर्मा नाद्वैतं घ्नन्ति'' (ब्र. सि. पृ.४) अर्थात् 'एकमेवाद्वितीयम्' का तात्पर्य यही है कि अभाव पदार्थों के ब्रह्म-भिन्न अनेक

न्यायामृतम्

हारिकस्यातीतादेर्नित्यातीन्द्रियस्य च परोक्षानुभवरूपे स्वज्ञानेऽनध्यासात्। स्मर्यमाणस्य च स्मृतिरूपे वृत्त्यात्मके स्वज्ञानेऽनध्यासात्। प्रातिभासिकस्य च प्रातिभासिके स्वज्ञाने व्यावहारिकस्य च वर्तमानघटादेर्व्यावहारिके स्वज्ञानेऽनध्यासात्। त्वन्मतेऽर्थवद् भ्रमरूपज्ञानस्यापि कल्पितत्वात्। अध्यस्ततुल्यत्वेन कल्पितस्य चानधिष्ठान-

अद्वैतसिद्धिः

परोक्षानुभवरूपे स्वज्ञानेऽनध्यासात्, स्मर्यमाणस्य च स्मृतिरूपे स्वज्ञानेऽनध्यासात्, प्रातिभासिकस्य च प्रातिभासिके स्वज्ञानेऽनध्यासात्, त्वन्मते भ्रमरूपज्ञानस्यापि कल्पितत्वादिति—चेत्, मैवम्, तुच्छस्याज्ञेयत्वेन ज्ञाने अध्यासाभावाद्, ज्ञेयस्य हि ज्ञानेऽध्यासः, तुच्छस्य तु न ज्ञेयतेत्यग्रे वक्ष्यते। पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तेरपि प्रतियोग्यधिकरणे ध्वंसस्यापि तत्र वृत्तेरवश्यंभावाद् अध्यास एव संबन्धः। वस्तुतस्त्वविद्यानिवृत्तेः पञ्चमप्रकारत्वं च भावाद्वैतं चानभ्युपगमपराहतम्। यथा चाविद्यानिवृत्तेर्ब्रह्मरूपत्वं सर्वाद्वैतं च तथोपरिष्टाद्वक्ष्यते। अपरोक्षैकरसे ब्रह्मण्यध्यस्तस्यातीतादेरनुमित्यादिरूपज्ञाने अनध्यासेऽपि यस्मिश्चैतन्ये तदध्यस्तं तदेव चैतन्यमनुमित्यादिरूप-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होने पर भी भावात्मक वस्तु एकमात्र ब्रह्म है, उसी ब्रह्म में अनन्त अभाव अभिन्न रूप से रहते हैं, अतः अभाव पदार्थों का अपने ज्ञान में अध्यास नहीं माना जाता। अपरोक्षैकरसात्मक ब्रह्म में अध्यस्त समग्र प्रपञ्चान्तर्गत अतीत एवं अतीन्द्रिय पदार्थों का अपने परोक्ष ज्ञान में अध्यास नहीं माना जाता। इतना ही नहीं, स्मर्यमाण पदार्थ का अपने स्मृतिरूप ज्ञान में अध्यास नहीं होता, शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक पदार्थों का अपने वृत्त्यात्मक ज्ञान में अध्यास नहीं माना जाता, क्योंकि आपके मत में वृत्त्यात्मक भ्रम ज्ञान को भी अविद्या-कल्पित ही माना जाता है, सत्य नहीं कि वह रजतादि के अध्यास का अधिष्ठान बन सके। फलतः ज्ञान का अपने विषय के साथ आध्यासिक सम्बन्ध अव्यभिचरित नहीं।

अद्वैतवादी—ज्ञेय का ज्ञान के साथ हम नियमतः आध्यासिक सम्बन्ध मानते हैं, इसका व्यभिचार-प्रदर्शन युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि शश-शृङ्गादि तुच्छ पदार्थ तो ज्ञेय ही नहीं माने जाते [शश-शृङ्गादि के आकार की विकल्प वृत्ति ज्ञानरूप नहीं होती, हाँ, दार्शनिकगण अपनी सांकेतिक भाषा में भले ही उसे ज्ञान कह दें, यह दूसरी बात है] आगे चलकर कहा गया है—"प्रतीत्यभावेऽपि असत् नृशृङ्गमिति विकल्पमात्रेणैव सर्वोपपत्तेः" (अद्वैत० पृ० ६३२)। अतः तुच्छ पदार्थ ज्ञेय क्योंकर होंगे ?

पञ्चम प्रकार की अविद्या-निवृत्ति का भी शुद्ध चेतन के साथ आध्यासिक सम्बन्ध है, क्योंकि सभी ध्वंस प्रतियोगी के अधिकरण में ही रहते है, आविद्या-निवृत्ति भी अविद्या का ध्वंस होने कारण अविद्या के आश्रयीभूत विशुद्ध चेतन में ही है। वस्तुतः अविद्यानिवृत्ति का पञ्चम प्रकार तथा भावाद्वैत का समर्थन हम नहीं करते [स्वयं ग्रन्थकार ने आगे चलकर कहा है—"ये तु पञ्चमप्रकारादिपक्षाः ते तु मन्दबुद्धिव्युत्पादनार्था इति न तत्समर्थनमर्थयामः" (अद्वैत० पृ० ८८५)]। अविधा-निवृत्ति की ब्रह्मरूपता तथा सर्वाद्वैत का प्रतिपादन आगे किया जायगा।

अपरोक्षैकरसात्मक ब्रह्म में अध्यस्त अतीतादि पदा अपने अनुमिति ज्ञान में अध्यस्त न होने पर भी जिस चेतन में वे अध्यस्त हैं, वही चेतन अनुमित्यादि रूप वृत्ति

न्यायामृतम्

त्वात् , प्रातिभासिकात् पूर्वमसत्यास्तत्प्रतीतेरधिष्ठानत्वायोगाच्च । त्वयापि रूप्यादिकमिदमंशावच्छिन्नचैतन्येऽध्यस्तम् , रूप्याकाराविद्यावृत्तिप्रतिबिंबितेन तु चैतन्येन प्रकाशत इत्यंगीकाराच्च । रूप्यादेः स्वज्ञानेऽध्यस्तत्वेऽधिष्ठानाज्ञानज्ञानाभ्यामध्यासजन्मनिवृत्त्योर्नियतत्वाद्रूप्यज्ञानस्याज्ञानज्ञानाभ्यां रूप्यभ्रमजन्मनिवृत्त्योः प्रसङ्गाच्च । ज्ञानं रूप्यमितिधीप्रसङ्गाच्च । घटादेः स्वसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यात् पूर्वं सत्त्वेन स्वज्ञानेऽध्यासायोगाच्च ।

अद्वैतसिद्धिः

वृत्त्यवच्छिन्नमिति नाध्यासानुपपत्तिः । अतिप्रसङ्गपरिहारार्थं चैतन्यस्य विषयसंबन्धे वृत्त्युपरागापेक्षायामपि नाधिष्ठानत्वेन तदपेक्षा । एवमेव नित्यपरोक्षस्थले स्मृतिस्थलेऽपि प्रातिभासिकस्य प्रातिभासिक्यां वृत्तावनध्यासेऽप्यधिष्ठानविषयकवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्य एवाध्यास इति न काप्यनुपपत्तिः ।

न च—रूप्यादिकमिदमंशावच्छिन्नचैतन्येऽध्यस्तम् , भासते च अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्येनेति विषयिणि ज्ञाने विषयस्याध्यासः कथमिति—वाच्यम् ; एकावच्छिन्न

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

से अवच्छिन्न होता है, अतः अध्यास की अनुपपत्ति नहीं है । विषय का चैतन्य में अध्यास मात्र से प्रकाश मानने पर सभी विषयों का सभी पुरुषों के लिए सर्वदा भानरूप अतिप्रसंग दूर करने के लिए चैतन्य का विषय के साथ सम्बन्ध वृत्ति के उपरागा पर आश्रित होता है, अर्थात् विषयाकार वृत्ति के द्वारा विषयाधिष्ठान चेतन उपरक्त होता है और उपरक्त चेतन से विषय का परिस्फुरण होता है । चेतन को अधिष्ठान बनने के लिए वृत्ति की अपेक्षा नहीं [आशय यह है कि चेतन में दो उपाधियाँ रहती हैं—(१) विषय-प्रकाशकत्व और (२) विषयाधिष्ठानत्व । विषय-प्रकाशकत्व में वृत्ति की अपेक्षा है, विषयाधिष्ठानत्व में नहीं, क्योंकि वह वृत्ति के पहले ही अनादि अविद्या-सिद्ध है] ।

इसी प्रकार नित्य परोक्ष-स्थल तथा स्मृति-स्थल पर प्रातिभासिक पदार्थों का प्रातिभासिक वृत्तिरूप ज्ञान में अध्यास न होने पर भी अधिष्ठान-विषयक वृत्ति में अभिव्यक्त चेतन में अध्यास होता है, अतः किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं ।

शङ्का—शुक्ति रजतादि इदमंशावच्छिन्न चेतन में अध्यस्त होते हैं और प्रकाशित होते हैं—अविद्या-वृत्ति-प्रतिविम्बित चैतन्य के द्वारा, अतः विषयी ज्ञान में विषय का अध्यास कैसे ?

समाधान—जैसे मठावच्छिन्न आकाश और मठान्तर्गत घटावच्छिन्न आकाश का भेद नहीं माना जाता, उसी प्रकार इदमंशावच्छिन्न चेतन्य और अविद्या-वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का भेद नहीं माना जाता, अतः विषयी ही अधिष्ठान होता है । दो परस्पर-निरपेक्ष उपाधियाँ ही उपहित की भेदिका मानी जाती हैं, जैसे भिन्न देश में स्थित घट स्वावच्छिन्न आकाश का मठावच्छिन्न आकाश से भेदक होता है । प्रकृत में चैतन्य के अवच्छेदक इदमंश तथा अविद्या-वृत्ति—दोनों उपाधियाँ परस्पर-निरपेक्ष नहीं, अतः उनमें चैतन्य-भेदकत्व नहीं माना जाता । विवरणकार ने भी कहा है—"एकफलमिति विषयावच्छिन्नं हि फलमवभासते, न ज्ञानावच्छिन्नम् । विषयश्च सत्यमिथ्यावस्तुनोरन्योऽन्यात्मकतया एकतामापन्नस्तेन एकविषयावच्छिन्नफलैकत्वोपाधौ सत्यमिथ्या-

न्यायामृतम्

ननु या घटसंनिकर्षजा वृत्तिर्न तया घटः प्रकाश्यः, येन च प्रकाश्यः घटाधिष्ठा-

अद्वैतसिद्धिः

एवापरावच्छेदेन निरपेक्षोपाधेरिवात्र भेदकत्वाभावात् । अत एव अभियुक्तैः फलैक्या-दैक्यं ज्ञानस्योच्यते । न च—रूप्यादेः स्वज्ञानेऽध्यस्तत्वे रूप्यज्ञानस्याज्ञाने भ्रमोत्पत्ति-स्तज्ज्ञानेन तन्निवृत्तिरिति च स्याद्, अधिष्ठानाज्ञानज्ञानाभ्यामध्यासस्य जन्मनिवृत्त्यो-र्नियतत्वाद्, ज्ञानं रजतमिति प्रतीतिप्रसङ्गाच्चेति—वाच्यम्; रजताकारवृत्त्यवच्छि-न्नचैतन्यस्य रजतभ्रमाधिष्ठानत्वानभ्युपगमाद्, इदमंशावच्छिन्नचैतन्यमेव तु रजत-भ्रमाधिष्ठानम् । तच्च दैवाद्रजताकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमपि, नैतावता भ्रमाधिष्ठानत्वे तदपेक्षा । तस्य च भ्रमविरोधिशुक्तित्वाद्याकारेणाज्ञानं भ्रमकारणम् । तेनाकारेण च ज्ञानं भ्रमनिवर्तकम् । अत एव न ज्ञानं रजतमिति भ्रमाकारापत्तिः, वृत्त्यवच्छिन्नस्यैव ज्ञान-त्वात्तस्य चाधिष्ठानत्वाभावात् । अधिष्ठानतादात्म्येन चारोप्यप्रतीतिरिति इदं रजत-मित्येव भ्रमाकारः ।

ननु—घटादेः स्वसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यस्वज्ञानात् पूर्वं सत्त्वेन तत्राध्यासो न

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ज्ञानद्वयमपि एकमित्युपचर्यते इति भावः । फलं च भग्नावरणा चित्, स्वप्रकाशत्वलक्षणे आवरणभङ्गे चित एव फलत्वात्" (पं० वि० पृ०२९) । अर्थात् इदमंशावच्छिन्न चैतन्यरूप सत्य तथा अविद्या-वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यरूप मिथ्या ज्ञान—दोनों में एकता का उपचार होता है ।

शङ्का—अधिष्ठान का अज्ञान अध्यास-जनक तथा अधिष्ठान का ज्ञान अध्यास का निवर्त्तक माना जाता है, अतः रजतादि का अपने ज्ञान में अध्यास मानने पर रजत-ज्ञानरूप अधिष्ठान के अज्ञान से भ्रम की उत्पत्ति तथा रजत-ज्ञान के ज्ञान से भ्रम की निवृत्ति होनी चाहिए । इसी प्रकार रजत-ज्ञान में रजत का अध्यास मानने पर 'ज्ञानं रजतम्'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए ।

समाधान—रजताकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य को रजत-भ्रम का अधिष्ठान नहीं माना जाता, अपितु इदमंशावच्छिन्न चतन्य ही रजत-भ्रम का अधिष्ठान होता है, वही यहाँ दैवात् रजताकार वृत्ति से अवच्छिन्न भी है, इतने मात्र से भ्रमाधिष्ठानत्व में उसकी अपेक्षा नहीं, क्योंकि वह रजताध्यास से पूर्व सिद्ध नहीं, किन्तु रजताध्यास से पूर्व सिद्ध इदमंशावच्छिन्न चैतन्य ही अधिष्ठान माना जाता है, उसी का भ्रम-विरोधी शुक्ति-त्वादि-आकारेण अज्ञान भ्रम का कारण होता है और शुक्तित्वाकारेण ज्ञान भ्रम का निवर्तक होता है । अत एव 'ज्ञानं रजतम्'—ऐसी प्रतीति की भी आपत्ति नहीं होती, क्योंकि रजताकार वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य ही ज्ञान-पदास्पद है, उसे अधिष्ठान नहीं माना जाता । अधिष्ठान से तादात्म्यापन्न अध्यस्त की प्रतीति होती है, इदमंशावच्छिन्न चैतन्य अधिष्ठान है, अतः 'इदं रजम्'—ऐसी ही प्रतीति होती है, जो कि सर्वथा न्याय-संगत है ।

शङ्का—स्व-सन्निकृष्ट इन्द्रिय से जन्य स्वकीय ज्ञान से पहले ही घटादि की सत्ता होती है, अतः घटादि का स्वकीय ज्ञान में अध्यास युक्ति-युक्त नहीं माना जा सकता । 'जो वृत्ति घट के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष से उत्पन्न होती है, उससे घट का प्रकाश नहीं होता और जिस घटाधिष्ठान चैतन्य से वह प्रकाशित होता हैं, वह घटेन्द्रिय-सन्निकर्ष से

न्यायामृतम्

नचैतन्येन, न तद् घटसन्निकर्षजन्यमिति चेन्न, त्वन्मतेऽपि वृत्तेरेवाज्ञानविरोधित्वात्। अज्ञाननिवर्तकादन्यस्य च ज्ञानस्यानुपलम्भात्, त्वयापि—

अद्वैतसिद्धिः

युक्तः। न च या घटेन्द्रियसन्निकर्षजा वृत्तिस्तया घटो न प्रकाश्यः, येन च प्रकाश्यो घटाधिष्ठानचैतन्येन न तत्सन्निकर्षजमिति – वाच्यम्, वृत्त्यतिरिक्तज्ञाने मानाभावात्। अज्ञाननिवृत्तेरपि तत एव भावादिति- चेन्न, वृत्त्युदयात् प्रागज्ञातार्थसिद्ध्यर्थं वृत्त्यतिरिक्तज्ञानस्यावश्यमभ्युपेयत्वात्। अन्यथा तस्य साधकाभावेन शशशृङ्गतुल्यतया सन्निकर्षतज्जन्यज्ञानहेतुत्वेन प्राक् सत्त्वकल्पना निष्प्रामाणिकी स्यात्। तस्माद्यादृशस्य घटादेरिन्द्रियसन्निकर्षाश्रयत्वेन ज्ञानकारणत्वम्, तादृशस्य साधकं किञ्चिन्मानमवश्यमभ्युपेयम्, अन्यथाऽन्वयव्यतिरेकयोरग्रहेण कार्यकारणभावाग्रहात् सर्वमानमेयादिव्यवस्थोच्छिद्येत। तच्च मानं न वृत्तिरूपम्; तदानीं वृत्तिकारणाप्रवृत्तेरिति तद्विलक्षणं नित्यं स्वप्रकाशमेकमेव लाघवाद्, वृत्तिगतोत्पत्तिविनाशजडत्वादिभिस्तदसंस्पर्शात्। तदेव च नानाविधोपाधिसंबन्धान्नानाविधव्यवहारभाग् भवति नभ इव घटमणिकमल्लिकाद्युपाधिभेदेन; तच्चाज्ञानसाधकत्वात्स्वरूपतो नाज्ञाननिवर्तकं, वृत्त्युपरक्तं त्वज्ञाननिवर्तकमिति न वृत्तेरनुपयोगः। तथा च सर्वाज्ञानसाधके साक्षिचैतन्ये तस्मिन्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उत्पन्न नहीं होता' ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वृत्ति से अतिरिक्त ज्ञान के मानने में कोई प्रमाण नहीं, अज्ञान की निवृत्ति भी उसी वृत्तिरूप ज्ञान से ही होती है। उसमें घट का अध्यास नहीं माना जाता, अतः ज्ञान में विषय का अध्यास क्योंकर होगा ?

समाधान--उक्त शङ्का उचित नहीं, क्योंकि घटाकार वृत्ति के उदय से पूर्व विषयगत अज्ञातत्व के प्रकाशनार्थ वृत्ति से अतिरिक्त साक्षीरूप ज्ञान अवश्य ही स्वीकरणीय है, अन्यथा अज्ञात विषय का साधक प्रमाण न होने के कारण अज्ञात विषय शशशृङ्ग के समान हो जाता है, अतः इन्द्रिय-सन्निकर्ष तथा तज्जन्य ज्ञान से पूर्व विषय-सत्ता की कल्पना ही निष्प्रमाण हो जायगी, इसलिए जिस अज्ञात घट के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है, उस घट का साधक कोई प्रमाण अवश्य मानना होगा, नहीं तो अज्ञात विषय के न होने पर ज्ञानरूप कार्य का अन्वय-व्यतिरेक किस कारण के साथ गृहीत होगा ? समस्त मान-मेयादि व्यवस्था उच्छिन्न हो जायगी। उस अज्ञात घटादि का साधक प्रमाण घटाकार वृत्तिरूप नहीं हो सकता, क्योंकि विषय के न होने पर वृत्ति का कारणभूत सन्निकर्ष किसके साथ होगा ? अतः वृत्तिरूप ज्ञान से भिन्न साक्षीरूप स्वप्रकाश नित्य ज्ञान लाघवात् एक ही मानना होगा। उसका वृत्तिगत उत्पत्ति, विनाश तथा जड़त्वादि से कोई संस्पर्श नहीं। वही नित्य ज्ञान नानाविध उपाधियों के सम्पर्क में आकर अनेक रूपों में वैसे ही व्यवहृत होता है, जैसे कि एक ही आकाश घट, मटका और मलिया से उपहित होकर घटाकाश, मणिकाकाश और मल्लिकाकाश आदि रूपों में व्यवहृत होता है। वह सामान्य चेतन अज्ञान का साधक होने के कारण स्वरूपतः अज्ञान का निवर्त्तक नहीं होता, अपि तु विषयाकार वृत्ति से उपरक्त होकर स्वकीय अज्ञान का निवर्तक होता है, अतः विषयाकार वृत्ति का उपयोग भी सिद्ध हो जाता है। उसी सर्वाज्ञान के साधकीभूत साक्षी चेतन में घटादि का अध्यास होता है, किसी प्रकार की अध्यासानुपपत्ति प्रसक्त नहीं होती। वैसा ही श्री सुरेश्वरा-

न्यायामृतम्

घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः ।
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुभवतो भवेत् ॥

इति वदता वृत्तिप्रतिबिंबितस्य घटानधिष्ठानस्य चैतन्यस्यैव घटानुभवत्वोक्तेश्च ।

अद्वैतसिद्धिः

घटादेरध्यास इति न काऽप्यनुपपत्तिः ? तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—

सर्वतीर्थदृशां सिद्धिः स्वाभिप्रेतस्य वस्तुनः ।
यदभ्युपगमादेव तत्सिद्धिर्वार्यते कुतः ॥ इति ।
सर्वतीर्थदृशां तावत्सामान्यं मानलक्षणम् ।
अज्ञातार्थावगमनं त्वदुक्ते तन्न युज्यते ॥
स्वतः सिद्धोऽथवासिद्धो देहादिस्ते भवन् भवेत् ।
प्रमाणानां प्रमाणत्वं नोभयत्रापि लभ्यते ॥
प्रमाणान्यन्तरेणापि देहादिश्चेत् प्रसिध्यति ।
वद प्रमाणैः कोऽन्वर्थो न हि सिद्धस्य साधनम् ॥
स्वतोऽसिद्धेऽप्रमेये तु नासतो व्यञ्जिका प्रमा ।
नाभिव्यनक्ति सविता शशश्टङ्गं स्फुरन्नपि ॥ इति ।

न च—'घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः ।
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुभवतो भवेत् ॥'

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

चार्य ने कहा है—

सर्वतीर्थदृशां सिद्धिः स्वाभिप्रेतस्य वस्तुनः ।
यदभ्युपगमादेव तत्सिद्धिर्वार्यते कुतः ॥ १ ॥
सर्वतीर्थदृशां तावत् सामान्यं मानलक्षणम् ।
अज्ञातार्थाधिगमनं त्वदुक्ते तन्न युज्यते ॥ २ ॥
स्वतः सिद्धोऽथवाऽसिद्धो देहादिस्ते भवन् भवेत् ।
प्रमाणानां प्रमाणत्वं नोभयत्रापि लभ्यते ॥ ३ ॥
प्रमाणान्यन्तरेणापि देहादिश्चेत् प्रसिध्यति ।
वद प्रमाणैः को न्वर्थो न हि सिद्धस्य साधनम् ॥ ४ ॥
स्वतोऽसिद्धेऽप्रमेये तु नासतो व्यञ्जिका प्रमा ।
नाभिव्यनक्ति सविता खरश्टङ्गं स्फुरन्नपि ॥ ५ ॥ (वृह.वा.पृ.१४०३-४)

[अर्थात् सभी शास्त्रकारों की स्वाभिमत वस्तुओं की सिद्धि जिस सर्वसाक्षी स्वप्रकाश तत्त्व को माने बिना नहीं हो सकती, उस साक्षी चैतन्य की सिद्धि का निराकरण क्योंकर होगा ? प्रायः सभी दार्शनिकों को प्रमाण का यह सामान्य लक्षण अभीष्ट है—'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम् ।' साक्षी तत्त्व का अभाव यदि आप (चार्वाकादि) कहते हैं, तब यह लक्षण संगत नहीं होगा । आप (स्वभाववादी) देहादि को स्वतः सिद्ध मानते हैं ? अथवा स्वतः असिद्ध ? दोनों पक्षों में प्रमाणों की प्रमाणता नहीं बन सकती, क्योंकि देहादि के स्वतः सिद्ध होने पर प्रमाण ज्ञात-ज्ञापकमात्र होने से व्यर्थ हैं और स्वतः खपुष्प के समान असिद्ध मानने पर प्रमाण कभी भी असत् (तुच्छ) पदार्थ के प्रकाशक न होने के कारण व्यर्थ हैं, प्रचण्ड मार्तण्ड भी खर-श्टङ्गादि असत् पदार्थों का प्रकाश कभी नहीं कर सकता] ।

न्यायामृतम्

किं च दृश्यत्वान्यथानुपपत्त्या मिथ्यात्वमित्यर्थापत्तिर्विवक्षिता ? किं वा सत्यत्वे दृश्यत्वं न स्यादित्यनुकूलतर्कमात्रम् ? नाद्यः, तत्सामग्र्यभावात्। आक्षेप्यस्योपपादकत्वं प्रमाणाविरुद्धत्वं चाक्षेपकस्यानुपपद्यमानत्वं प्रमितत्वं चेति ह्यर्थापत्तिसामग्री। न चाक्षेप्यं सम्बन्धि मिथ्यात्वमाक्षेपकस्य सम्बन्धस्योपपादकम्, किं तु प्रतिकूलमेव। न चाध्यस्तत्वरूपसम्बन्धस्य न तत्प्रतिकूलम्, तस्याद्याप्यसिद्धयानाक्षेपकत्वात्।

अद्वैतसिद्धि

इति वदता वृत्तिप्रतिबिम्बितस्य घटानधिष्ठानचैतन्यस्य घटानुभवत्वोक्तिविरोध इति—वाच्यम्। वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य घटाधिष्ठानचैतन्येन सह भेदाभावात्, चैतन्यस्यैकत्वात्। यथा चैकस्यैव चैतन्यस्य सर्वभासकत्वं तथा विस्तरेणोपपादितं 'नाभाव उपलब्धेरित्यस्मिन्नधिकरणे' भाष्यकृद्भिः।

ननु—दृश्यत्वान्यथानुपपत्त्या मिथ्यात्वमित्यर्थापत्तिर्विवक्षिता ? किं वा सत्यत्वे दृश्यत्वं न स्यादित्यनुकूलतर्कमात्रम् ? नाद्यः, तत्सामग्र्यभावात्। तथा हि—आक्षेप्यस्योपपादकत्वम्, प्रमाणाविरुद्धत्वम्, आक्षेपकस्यानुपपद्यमानत्वं, प्रमितत्वं चेत्यर्थापत्तिसामग्री। प्रकृते चाक्षेप्यं संबन्धिनो मिथ्यात्वं नाक्षेपकस्य सम्बन्धस्योपपादकम्, प्रत्युत प्रतिकूलमेव। न चाध्यस्तत्वरूपसंबन्धस्य न तत्प्रतिकूलत्वम्, तस्याद्याप्यसिद्धेर-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—घटाधिष्ठान चेतन को घट का ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विद्यारण्य स्वामी ने स्पष्ट कहा है—

घटोऽयमित्युक्तिराभासस्य प्रसादतः।
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुभवतो भवेत्॥ (पञ्च० कूटस्थ० २५)

अर्थात् 'अयं घटः'—इस प्रकार का व्यवहार वृत्तिगत चिदाभास की कृपा से तथा 'ज्ञातोऽयं घटः'—इस प्रकार का व्यवहार साक्षी के द्वारा होता है। अतः वृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्य ही घट का भासक होने से घट-ज्ञान कहा जाता है, घटाधिष्ठान चैतन्य नहीं।

समाधान—वृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्य का घटाधिष्ठान चैतन्य से भेद नहीं होता। चैतन्य सर्वत्र एक ही होता है। एक ही चेतन सर्वावभासक है—इस सिद्धान्त का स्वयं भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य ने ''नाभाव उपलब्धेः'' (ब्र. सू. २।२।३२९) सूत्र की व्याख्या में विस्तार-पूर्वक उपपादित किया है।

अद्वैतवादी—'दृश्यत्वान्यथोपपत्त्या मिथ्यात्वम्'—इस वचन-भङ्गी के द्वारा आप (अद्वैतवादी) को क्या अर्थापत्ति का प्रदर्शन करना अभीष्ट है ? अथवा 'सत्यत्वे दृश्यत्वं न स्यात्'—इस प्रकार का केवल अनुकूल तर्क विवक्षित है ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि अर्थापत्ति की सामग्री का वहाँ अभाव है। अर्थापत्ति की सामग्री होती है—'आक्षेप्य (रात्रि-भोजनादि) में (पीनत्वादि की) उपपादकता, प्रमाणाविरोध, आक्षेपक (पीनत्वादि) की (रात्रि-भोजन के विना) अनुपपद्यमानता तथा पीनत्वादि का प्रमित होना।' प्रकृत में दृश्यत्व (दृग्दृश्य-सम्बन्ध) आक्षेपक और दृश्यगत मिथ्यात्व आक्षेप्य है, किन्तु आक्षेप्यरूप मिथ्यात्व आक्षेपकरूप दृश्यत्व (दृग्दृश्य-सम्बन्ध) का उपपादक नहीं, उलटे विरोधी है, क्योंकि दृश्य का सत्यत्व ही विषयविषयिभावरूप सम्बन्ध के द्वारा दृश्यत्व का उपपादक होता है। यह कहना भी उचित नहीं कि दृग्दृश्य

न्यायामृतम्

न च मिथ्याभूतसम्बन्धस्य न तत्प्रतिकूलम्, स्वतः प्रमाणप्रत्यक्षसिद्धसम्बन्धस्य विनैव बाधकं मिथ्यात्वायोगात्। न च दृश्यमिथ्यात्वमेव बाधकम्, अन्योन्याश्रयात्। प्रत्यक्षादिविरुद्धं चाक्षेप्यं मिथ्यात्वम्। न च प्रत्यक्षाद्यविरुद्धसंबंधान्तरकल्पनेनैव दृश्यत्वोपपत्तौ प्रत्यक्षस्य स्वतःप्राप्ततत्त्वावेदकत्वत्यागो युक्तः। नाप्येकस्य दृश्यत्वस्योपपत्तये प्रमितानेकवस्तुत्यागो युक्तः। आक्षेपकं च न तावद् दृगध्यस्तत्वम्, तस्याक्षेप्याभिन्नत्वेन मां प्रत्यसिद्धेः। नापि दृग्विषयत्वरूपो दृक्सम्बन्धः, तवासिद्धेः। सिद्धौ वा तेनैव संबंधेन प्रकाशोपपत्त्याध्यस्तत्वं विनानुपपत्त्यभावात्। नापि दृगधीनसिद्धिकत्वम्, दृग्विषयत्वातिरिक्तसिद्ध्यसंमतेः। न च दृक्संबंधसामान्यमाक्षेपकम्, तच्च

अद्वैतसिद्धिः

नाक्षेपकत्वात्। प्रत्यक्षादिविरुद्धं चेदमाक्षेप्यम्। नाप्येकस्य दृश्यत्वस्योपपत्तये प्रमितानेकस्य त्यागो युक्तः। आक्षेपकं च न दृगध्यस्तत्वम्, तस्यैव फलत आक्षेप्यत्वात्। नापि दृग्विषयत्वरूपो दृग्संबन्ध, तवासिद्धेः। न दृगधीनसिद्धिकत्वम्, दृग्विषयत्वातिरिक्तस्य तस्यासिद्धेः। नान्त्यः, सत्त्वेऽप्युक्तरीत्या संबन्धान्तरेणैव दृश्यत्वस्योपपन्नतया अनुपपत्तेरेवाभावादिति—चेन्न, अनुकूलतर्कस्यैव प्रक्रान्तत्वेनार्थापत्तिर्वेत्यादिविकल्पानवकाशाद्, उभयथाप्यदोषाच्च। तथा हि—सत्यत्वे दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्तिः। मिथ्यात्वं च तदुपपादकम्। न च तत्संबन्धप्रतिकूलम्, मिथ्यात्वेऽपि शुक्तिरूप्यस्येदमंशेऽध्यस्तत्वरूपसंबन्धदर्शनेन संबन्धसामान्ये प्रतिकूलत्वाभावात्। आक्षेपकोऽपि दृग्विषयत्वरूपो दृक्संबन्ध एव अध्यासरूपस्य दृग्विषयत्वस्य ममाऽपि संप्रति-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

के आध्यासिक सम्बन्ध (दृश्यत्व) का दृश्यगत मिथ्यात्व उपपादक ही है, क्योंकि दृग्दृश्य का आध्यासिक सम्बन्ध तो अभी तक सिद्ध नहीं हुआ है। यह दृश्य-मिथ्यात्व-रूप आक्षेप्य प्रत्यक्षादि से विरुद्ध भी है। एक दृश्यत्व (दृगध्यस्तत्व) की सिद्धि के लिए अनेक प्रमित पदार्थों का त्याग उचित भी नहीं। दृगध्यस्तत्व को आक्षेपक नहीं मान सकते, क्योंकि दृगध्यस्तत्व ही फलतः मिथ्यात्वरूप आक्षेप्य ही होता है। दृग्विषयत्व-रूप दृक्सम्बन्ध भी आक्षेपक नहीं हो सकता, क्योंकि दृक्सम्बन्ध आप (अद्वैती) के मत में सिद्ध ही नहीं। दृगधीनसिद्धिकत्व को दृश्यत्व नहीं कह सकते, क्योंकि वह हमारे मत में सिद्ध नहीं।

अन्तिम (सत्त्वे दृश्यत्वं न स्यात्—इस प्रकार का अनुकूल तर्क) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि दृश्य के सत्य होने पर भी विषयविषयिभावरूप सम्बन्धान्तर के द्वारा ही दृश्यत्व उपपन्न हो जाता है, अनुपपत्तिरूप तर्क का अभाव है।

अद्वैतवादी—आप (द्वैतवादी) का विकल्प-जाल फैलाना उचित नहीं, क्योंकि मिथ्यात्वानुमान के लिए अनुकूल तर्क ही प्रक्रान्त है, अर्थापत्ति के विकल्प का अवसर ही नहीं। दोनों कल्पों में कोई दोष भी नहीं, क्योंकि दृश्य को सत्य मानने पर दृग्दृश्य-सम्बन्ध की अनुपपत्ति है, अतः दृश्यगत मिथ्यात्व उस सम्बन्ध का उपपादक होने से प्रतिकूल नहीं, क्योंकि शुक्ति-रजत मिथ्या है, फिर भी इदमंश में अध्यस्तत्वरूप संबन्ध देखा जाता है। आक्षेपक भी दृग्विषयत्वरूप दृक्सम्बन्ध ही है। अध्यासरूप दृग्विषयत्व हमें भी अभीष्ट है। तात्त्विक सम्बन्ध का ही हम निषेध करते हैं। यह जो कहा कि 'अध्यस्तत्व अभी तक सिद्ध नहीं हुआ', वह भी संगत नहीं, क्योंकि दृक् और दृश्य के

न्यायामृतम्

प्रसक्तविशेषप्रतिषेधेऽध्यस्तत्वरूपविशेषे पर्यवस्यतीति युक्तम्, तस्य घटस्य ज्ञानमितिधीसिद्धसम्बन्धसामान्यं प्रत्यविशेषत्वात्। न हि रूप्यस्य शुक्तिरित्यस्ति। नान्त्यः, सत्त्वेऽप्युक्तरीत्या संबंधान्तरेणैव दृश्यत्वोपपत्त्याऽप्रयोजकत्वात्। किं च न तावदनिर्वाच्यत्वाभाव आपादकः, तद्वतोऽपि तुच्छस्य परोक्षधीवेद्यत्वेन दृश्यत्वात्। नापि सत्त्वम्, सत्त्वेऽपि ब्रह्मणस्स्वव्यवहृत्येव घटस्यापि स्वज्ञानेन सम्बन्धोपपत्तेः।

अद्वैतसिद्धिः

पत्तेः, तात्त्विकस्यैव तस्य निषेधात्। न चाध्यस्तत्वस्याद्याप्यसिद्धिः दृक्संवन्धसामान्यस्याक्षेपकस्य प्रसक्तविशेषनिषेधेऽप्यध्यस्तत्वरूपविशेषपर्यवसानेनासिद्ध्यभावात्। न हि अध्यस्तसंवन्धत्वेनाक्षेपकता, किं तु संवन्धत्वेन। स चाध्यस्तत्वसंवन्धसंभावनयाप्यवाधित एवेति। न च - घटस्य ज्ञानमिति धीसिद्धसंवन्धसामान्यस्याध्यस्तत्वं न विशेषः, न हि रूप्यस्य शुक्तिररिति प्रतीतिरस्तीति—वाच्यम्, रूप्यस्य शुक्तिरिति प्रतीत्यभावेऽपि रूप्यस्य शुक्तिरधिष्ठानमिति प्रतीत्या अध्यस्तत्वस्य संवन्धविशेषत्वसिद्धेः, चैत्रस्य मैत्र इति प्रतीत्यभावेऽपि चैत्रस्य पिता मैत्र इति प्रतीतिवत्। आक्षेप्यमप्यत्र प्रमाणाविरुद्धमेव, अध्यक्षादिविरोधस्य प्रागेव परिहृतत्वात्। आक्षेपके च प्रमितत्वमनपेक्षितमेव, अप्रमितेनापि प्रतिविम्बेन विम्बाक्षेपदर्शनात्। तर्कपरतायामपि नाप्रयोजकता, सत्यत्वे सम्बन्धानुपपत्तेर्भवदुक्तन्यायखण्डनेन प्रथमत एवोपपादित-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सम्बन्ध-सामान्य का आक्षेपक प्रमाण ही प्रसक्त विशेष-निषेधपूर्वक अध्यस्तत्वरूप विशेष में पर्यवसित हो जाता है, अतः अध्यस्तत्व की असिद्धि कैसे? हाँ, आक्षेपक अध्यस्त-सम्बन्धत्वेन उसका आक्षेपक नहीं माना जाता, अपितु केवल सम्बन्धत्वेन। दृक् और दृश्य का सम्बन्ध जब अध्यस्त भी हो सकता है और अनध्यस्त भी, तब अध्यस्तत्व सम्भवित होने से भी अबाधित है।

शङ्का—'घटस्य ज्ञानम्'—इस अनुभूति के द्वारा सिद्ध सम्बन्ध सामान्य का अध्यस्तत्व को एक विशेष प्रकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अध्यस्तत्व में संबन्धरूपता ही सिद्ध नहीं, विशेष सम्बन्धरूपता कैसे सिद्ध होगी? अध्यस्तत्व को ज्ञान और ज्ञेय के सम्बन्ध सामान्य का एक प्रकार मानने पर 'घटस्य ज्ञानम्' के समान ही 'रजतस्य शुक्तिः'—ऐसा व्यवहार भी होना चाहिए, क्योंकि घटादि अध्यस्त पदार्थ षष्ठ्यन्त तथा अधिष्ठानरूप ज्ञान प्रथमान्त पद से निर्दिष्ट होता है, उसके अनुसार रजत का षष्ठ्यन्त तथा शुक्ति का प्रथमान्त पद से निर्देश होना चाहिए।

समाधान—'रजतस्य शुक्तिः'—ऐसी प्रतीति के न होने पर भी 'रजतस्य शुक्तिरधिष्ठानम्'—ऐसी प्रतीति के आधार पर अध्यस्त-अधिष्ठानभाव में सम्बन्ध विशेषरूपता वैसे ही सिद्ध हो जाती है, जैसे कि 'चैत्रस्य मैत्रः'—इस प्रतीति के न होने पर भी 'चैत्रस्य पिता मैत्रः'—इस प्रतीति के द्वारा पितृपुत्रभावरूप विशेष सम्बन्ध प्रतीत होता है। 'मिथ्यात्वरूप आक्षेप्य प्रमाण-सिद्ध नहीं, अपितु प्रमाण-विरुद्ध है'—यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि वह अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरोध का निराकरण पहले ही किया जा चुका है। यह जो कहा है कि अर्थापत्ति में आक्षेपकगत प्रमितत्व अपेक्षित होता है, वह उचित नहीं, क्योंकि अप्रमित प्रतिबिम्ब के द्वारा भी बिम्ब का आक्षेप देखा जाता है।

न्यायामृतम्

किं चाध्यासिकसम्बन्ध इति कोऽर्थः ? किं यः कश्चित्सम्बन्ध एवाध्यस्त इति ? किं वा तदध्यस्तत्वमेव सम्बन्ध इति ? आद्ये न दृश्यमिथ्यात्वसिद्धिरित्युक्तम्। नान्त्यः,

अद्वैतसिद्धिः

त्वात्। दृश्यत्वाभावस्यापादकमत्र सत्त्वमनिर्वाच्यत्वाभावो वा, त्रिकालाबाध्यत्वं वा, उभयथाऽपि न दोषः। न चानिर्वाच्यत्वाभावस्य तुच्छे परोक्षधीवेद्यतया दृश्येऽपि सत्त्वेन व्यभिचारः, कारणासामर्थ्येन तत्र तदाकारवृत्तिसमुल्लासेऽपि दृक्संबन्धरूपस्य दृश्यत्वस्य तुच्छत्वविरोधिनस्तत्राभावात्, तुच्छाकारताया वृत्तिगतत्वेऽपि वृत्तिसंबधस्य तुच्छगतत्वाभावोपपत्तेः। नापि—यथा सतो ब्रह्मणः स्वव्यवहृत्या संबन्धः, तथा घटादेरपि सत एव स्वज्ञानेन संबन्धोऽस्त्विति—वाच्यम्, दृष्टान्ते ब्रह्मण्यध्यासस्यैव व्यवहृतिसंबन्धत्वात्। तथा च उभयसंबन्धिसत्त्वे विषयविषयिभावानुपपत्तिः नाप्रयोजकत्वादिना परिभूयते।

एतेन—अध्यासिकः संबन्धो नाम अध्यस्तसंबन्धो वा? अध्यस्तत्वमेव वा ? आद्ये सम्बन्धस्य मिथ्यात्वेऽपि सम्बन्धिनो दृश्यस्य दृश इव मिथ्यात्वानुपपत्तिः, द्वितीये

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उक्त सन्दर्भ को तर्कपरक मानने में भी अप्रयोजकता नहीं, क्योंकि दृश्य को सत्य मानने पर दृक् और दृश्य के सम्बन्ध की अनुपपत्ति का उपपादन द्वैतवादी की तर्क-पद्धति का निरास करके किया जा चुका है।

'जगद् यदि सत् स्याद्, दृश्यं न स्यात्'—इस प्रकार के तर्क में दृश्यत्वाभाव का आपादक सत्त्व क्या अनिर्वाच्यत्वाभावरूप है ? अथवा त्रिकालाबाध्यत्व ? दोनों कल्प सदोष हैं। शश-शृङ्गादि तुच्छ पदार्थ भी परोक्ष ज्ञान के विषय होने के कारण दृश्य हैं, अतः अनिर्वाच्यत्वाभावरूप सत्त्व वहाँ व्यभिचारी है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि शशविषाणादि शब्दरूप कारण में स्वार्थ-प्रतिपादन का सामर्थ्य न होने के कारण वहाँ विकल्पाकार वृत्ति का समुल्लास होने पर भी दृक्सम्बन्धरूप दृश्यत्व नहीं रहता, अन्यथा वहाँ तुच्छत्व नहीं रह सकेगा, क्योंकि तुच्छत्व का दृश्यत्व विरोधी होता है। शब्द के प्रभाव से वृत्ति में तुच्छाकारता आने पर भी तुच्छ में वृत्ति का सम्बन्ध नहीं होता, अतः उन्हें दृश्य क्योंकर मान सकते हैं ? त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व पक्ष में जैसे सद्रूप ब्रह्म का अपने व्यवहार के साथ सम्बन्ध होता है, वैसे ही सद्रूप घटादि का भी अपने ज्ञान के साथ सम्बन्ध बन जायगा'—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दृष्टान्तरूप ब्रह्म का अपने व्यवहार के साथ अध्यासरूप ही सम्बन्ध होता है, अतः दोनों सम्बन्धियों के सत् होने पर विषयविषयिभाव की अनुपपत्ति अप्रयोजकत्वादि के आरोप से अभिभूत नहीं हो सकती और दृग्दृश्य के आध्यासिक सम्बन्ध को सिद्ध करके ही रहेगी।

यह जो आक्षेप किया जाता था कि आध्यासिक सम्बन्ध का अर्थ क्या अध्यस्त सम्बन्ध है ? अथवा अध्यस्तत्व ही सम्बन्ध है ? प्रथम पक्ष में सम्बन्ध के अध्यस्त होने पर दृश्यरूप सम्बन्धी भी दृक् के समान सत्य ही रहेगा, उसमें मिथ्यात्व नहीं बनता। द्वितीय पक्ष में ज्ञेय के समान व्यावहारिक ज्ञान को भी अद्वैती अध्यस्त ही मानते हैं, अतः उसमें ज्ञेय का अध्यास नहीं बनता, क्योंकि अधिष्ठान सत्य ही होता है। विषय का अपने ज्ञान में, उस ज्ञान का अपने ज्ञान में अध्यास मानने पर अनवस्था दोष भी प्रसक्त होता है। वह आक्षेप भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि ज्ञान का अर्थ यहाँ वृत्त्य-

न्यायामृतम्

त्वन्मते ज्ञेयवस्तुज्ञानस्याप्यध्यस्तत्वेन तत्र तस्यानध्यासादित्युक्तत्वात् । एवं च—

शाब्दवृत्तेर्हि विषयो ब्रह्म तत्र न कल्पितम् ।
यथा तथा दृग्विषयो दृश्यं न दृशि कल्पितम् ॥
अविद्याविषयो ब्रह्म ह्यविद्यायां न कल्पितम् ।
यथा तथा दृशा ग्राह्यं न विश्वं दृशि कल्पितम् ॥

तस्माद् दृग्दृश्ययेच्छेष्यमाणादेर्नाध्यासिकस्संबन्धः, किन्त्वन्य एव । कोऽसाविति चेत्, न; संबंधेनैवातिप्रसंगे निरस्ते विशेषजिज्ञासाया विशेषगतविशेषजिज्ञासाया इवानर्थ-

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञानस्याप्यध्यस्तत्वेन तत्र अध्यासानुपपत्तिः स्वस्वज्ञानपरंपरायामध्यासस्वीकारे अनवस्था चेति - निरस्तम्, ज्ञानं हि वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यम्, तत्रावच्छेदिकाया वृत्तेर्जड़ाया अध्यस्तत्वेऽप्यवच्छेद्यस्य चैतन्यस्य प्रकाशरूपस्य अनध्यस्तत्वेन तत्र दृश्यस्याध्यासाद् दृश्यमिथ्यात्वेऽप्यनवस्थाविरहस्योपपत्तेः । अत एव—शाब्दवृत्तिविषयो ब्रह्म न वृत्तौ कल्पितमविद्याविषयो ब्रह्माविद्यायां न कल्पितं यथा, तथा दृश्यं न दृशि कल्पितम्, तथा च दृग्दृश्यादेस्तात्त्विक एव सम्बन्धः, सामान्यसम्बन्धेनैवातिप्रसङ्गे निरस्ते विशेषजिज्ञासा विशेषोक्तिश्च विशेषजिज्ञासादिवदनर्थिकैवेति—निरस्तम्, वृत्त्यविद्ययोः ब्रह्मणोऽनध्यासेऽपि तयोरेव ब्रह्मण्यध्यासात् सम्बन्धोपपत्तेः, अतस्तत्र तात्त्विकसम्बन्धाभावात्, कथं तद्दृष्टान्तेन दृग्दृश्ययोरपि तात्त्विकसम्बन्ध इत्युच्यते ? तथा च प्रसिद्धविशेषे बाधिते सामान्यस्यैव बाधशङ्कया अतिप्रसङ्गे प्राप्ते विशेष-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वच्छिन्न चैतन्य है, उसमें अवच्छेदकीभूत वृत्ति के अध्यस्त होने पर भी अवच्छेद्यरूप चेतन्य वस्तु अनध्यस्त है, सत्य है, उसमें दृश्य का अध्यास होता है । दृश्य के मिथ्या होने पर भी अनवस्था नहीं होती, क्योंकि दृक् तत्त्व न तो दृश्य है और न अन्यत्र अध्यस्त ।

यह द्वैतवादी का जो आक्षेप था कि जैसे महावाक्य-जन्य शाब्द वृत्ति का विषय ब्रह्म उस वृत्ति में अध्यस्त नहीं माना जाता, अविद्या का विषय ब्रह्म अविद्या में अध्यस्त नहीं होता, वैसे ही दृश्य भी दृक् में कल्पित नहीं, अतः दृग्दृश्य का कोई तात्त्विक ही सम्बन्ध होता है । वह तात्त्विक सम्बन्ध कौन है ? इस प्रकार की विशेष जिज्ञासा और विशेष निर्वचन निरर्थक है, क्योंकि सम्बन्ध-सामान्य के प्रदर्शन मात्र से ही कोई अतिप्रसङ्ग नहीं होता ।' वह द्वैतवादी का आक्षेप भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि शाब्द वृत्ति और अविद्या में ब्रह्म का अध्यास न होने पर भी वृत्ति और अविद्या—दोनों ही ब्रह्म में अध्यस्त होती हैं, अतः आध्यासिक सम्बन्ध उपपन्न हो जाता है । जब ब्रह्म और शाब्द वृत्यादि का तात्त्विक सम्बन्ध ही नहीं, तब उसके दृष्टान्त से दृग्दृश्य में तात्त्विक सम्बन्ध कैसे सिद्ध होगा ? देश-काल-विप्रकर्ष होने के कारण ज्ञान और ज्ञेय के मध्य प्रसक्त संयोग-समवायरूप विशेष सम्बन्ध का बाध हो जाने पर सामान्यतः सम्बन्ध की बाधाशङ्का उठ खड़ी होती है, बिना सम्बन्ध के सभी पदार्थों का सभी ज्ञानों में सर्वदा भान होना चाहिए—इस प्रकार के अतिप्रसङ्ग का परिहार करने के लिए दृग्दृश्य में संयोग-समवायातिरिक्त विशेष सम्बन्ध की जिज्ञासा तथा आध्यासिक सम्बन्ध का उपपादन—दोनों सार्थक हैं ।

न्यायामृतम्

क्तत्वात्। प्रमाणस्य चोक्तत्वात्। संयोगसमवायान्तर्भावे च तल्लक्षणस्यैव बहिर्भावे तु तदितरत्वे सति सम्बन्धत्वादेर्लक्षणत्वाद्, विशेषसंज्ञायाश्च यथारुचि कल्प्यत्वात्।

यत्तु संबंधस्य सम्बन्धिभिन्नत्वेऽनवस्था, न चेत्संबन्धासिद्धिरिति संबंधसामान्यखण्डनम्, तदुक्तरीत्या स्वव्याहतम्। युक्तं च दृश्यत्वाद्यन्तरहीनस्यापि दृश्यत्वादेरिव सम्बन्धस्यापि क्वचित् स्वनिर्वाहकत्वम्। यदपि ज्ञानविषयत्वनिरुक्तिखण्डनम्, तत्प्र-

अद्वैतसिद्धिः

जिज्ञासाया विशेषोक्तेश्च साफल्यात्, न ते निरर्थिके। एतेन—सम्बन्धस्य प्रामाणिकत्वे यथाकथंचन लक्षणं भविष्यति। तथा हि—संयोगसमवायान्तर्भावे तल्लक्षणमेव लक्षणं भविष्यति, तदनन्तर्भावे तु तदुभयभिन्नसम्बन्धत्वमेव लक्षणमस्त्विति--निरस्तम्, उक्तयुक्त्या प्रामाणिकसंबन्धस्य संयोगसमवायान्तर्भावस्य च दूषितत्वात्। तदुभयबहिर्भूतसम्बन्धत्वं तु वयमपि न निराकुर्मः, किं तु तस्य प्रामाणिकत्वम्। किं च दृग्दृश्ययोः न तात्त्विकसम्बन्धः, सम्बन्धिभिन्नत्वे अनवस्थानात्। न च दृश्यत्वान्तरहीनस्य दृश्यत्वादेरिव सम्बन्धस्यापि स्वनिर्वाहकत्वं क्वचिद् भविष्यतीति—वाच्यम्, दृश्यत्वमपि दृक्संबन्ध एव। तस्य च स्वनिर्वाहकत्वं न मायिकत्वं विनेति नास्माकं प्रतिकूलमभ्यधायि देवानां प्रियेण, अभिन्नत्वे सम्बन्धत्वायोगात्। न चैवमाध्यासिकसंबन्धत्वेऽप्येतद्दोषप्रसङ्गः, तस्य मायिकत्वेन मायायाश्चाघटितघटनापटीयस्त्वेन सर्वानुपपत्तेर्भूषणत्वात्। न च—अतिप्रसङ्गनिराकरणार्थं दृग्दृश्ययोः संबन्धनिर्वचनं प्रकृतम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्यायामृतकारने जो यह आक्षेप किया है कि दृग्दृश्य का कोई प्रामाणिक सम्बन्ध होने पर उस सम्बन्ध का लक्षण भी कुछ-न-कुछ बन ही जायगा। संयोग या समवाय के अन्तर्गत उसे मानने पर उनके लक्षण से ही लक्षित हो जायगा। यदि संयोग और समवाय से भिन्न होगा, तब 'संयोगसमवायोभयभिन्नत्वे सति सम्बन्धत्वम्'—यह लक्षण बन जायगा। वह आक्षेप भी निराकृत हो जाता है, क्योंकि तात्त्विक सम्बन्ध के व्यापकीभूत देश-काल के विप्रकर्षाभाव की अनुपलब्धि के द्वारा संयोग-समवायन्तर्गत तात्त्विक संबंध का निरास किया जा चुका है। तदुभय-बहिर्भूत सम्बन्ध का निराकरण हम भी नहीं करते, केवल उस सम्बन्ध की प्रामाणिकता या तात्त्विकता का खण्डन करते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि दृग्दृश्य का तात्त्विक सम्बन्ध इस लिए भी नहीं हो सकता कि उसे सम्बन्धियों से भिन्न मानने पर अनवस्था होती है, क्योंकि उस सम्बन्ध को अपने सम्बन्धियों से सम्बन्धित होने के लिए सम्बन्धान्तर की अपेक्षा और उस सम्बन्धान्तर को अन्य संबंध की अपेक्षा होगी। जैसे दृश्यत्व धर्म दृश्यत्वान्तर के बिना ही दृश्य होता है, वैसे ही दृग्दृश्य का सम्बन्ध भी सम्बन्धान्तर के बिना ही अपने सम्बन्धियों से सम्बन्वित हो जायगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि दृश्यत्व भी दृक्सम्बन्ध ही है, दृश्यत्व में दृश्यत्वान्तर के बिना दृश्यत्व-निर्वाहकता मायिकत्व-प्रयुक्त ही है, वैसे ही प्रकृत सम्बन्ध में सम्बन्धान्तर के विना ही सम्बद्ध-व्यवहार की निर्वाहकता आध्यासिकत्व या मायिकत्व के कारण ही है, अतः संबंधान्तर के बिना निर्वाहकता का प्रदर्शन हमारे प्रतिकूल नहीं, अनुकूल ही है। संबंध यदि संबंधियों से अभिन्न है, तब उसमें संबंधत्व का व्यवहार ही नहीं होगा। आध्यासिक संबंध के विषय में भेदाभेदादि के विकल्प कदापि नहीं उठाए जा सकते, क्योंकि वह तो मायिक है, माया में समस्त अघटित-घटनाओं की अपूर्व क्षमता है, अनुपपन्नता उसका दूषण नहीं, भूषण ही है।

न्यायामृतम्

कृतानुपयुक्तम्। अनतिप्रसंगाय हि दृग्दृश्ययोस्संबंधो वाच्यः। न तु ज्ञानविषयत्वं निर्वक्तव्यम्। न च विषयत्वस्यानिरुक्तिमात्रेण विषयस्य मिथ्यात्वम्, विषयित्वस्यानिरुक्तावपि विषयीभूतदृग्वत् सत्त्वोपपत्तेः, स्वव्याहतं च। त्वयैव प्रमाणज्ञानं स्वविषयावरणेत्याद्युक्तेः, दृग्विषयत्वस्य हेतूकृतत्वाच्च। न च प्रमाणज्ञाने विषयोऽध्यस्तः,

अद्वैतसिद्धिः

न तु विषयत्वनिर्वचनम्, अतो विषयत्वखण्डनमनुक्तोपालम्भनमिति—वाच्यम्; विषयत्वखण्डनेन निरुच्यमानप्रकृतसंबन्धस्यैव खण्डनात्। न च—विषयित्वानिरुक्तावपि विषयिणः सत्यत्ववद् विषयत्वानिरुक्तावपि विषयः सत्यः स्यादिति वाच्यम्, विषयित्वानिरुक्तावपि विषयाध्यासेनैव तदुपपत्त्या विषयिणः सत्यत्वं युक्तम्, विषयत्वानिरुक्तौ तु विषयस्य सत्यत्वं न युक्तम्, विषयिणोऽनध्यस्तत्वेन विषयाध्यासमन्तरेणान्यस्योपपादकस्याभावत्। यत्र तु विषयिण एवाध्यासः, तत्र विषयः सत्य एव, यथाज्ञानविषयो ब्रह्म। न चोभयाध्यासः, शून्यवादप्रसङ्गात्। अन्यतराध्यासे च विनिगमकमनुवृत्तत्वव्यावृत्तत्वप्रकाशत्वजड़त्वादिकमेव। तस्माद्विषयिणो नित्यदृशोऽनध्यासाद् विषयस्यैवात्राध्यासः। न च—'प्रमाणज्ञानं स्वविषयावरणे' त्याद्युक्त्या दृग्विषयत्वरूपदृश्यत्वस्य हेतूकरणेन च त्वयाऽपि विषयत्वं निर्वाच्यमेवेति—वाच्यम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—सर्व विषय के सर्वत्र सर्वदा भान-प्रसङ्ग का परिहार करने के लिए दृग्दृश्य के सम्बन्ध का निर्वचन ही प्रसक्त है, विषयत्व का निर्वचन नहीं, अतः विषयत्व का खण्डन अकाण्ड-ताण्डव है।

समाधान—विषयत्व-खण्डन के माध्यम से निरुच्यमान (विषयविषयिभाव) सम्बन्ध का ही खण्डन किया जाता है, अर्थात् घटादिगत विषयता का निर्वचन नहीं हो सकता, अतः वह मिथ्या है और मिथ्या वस्तु के साथ आध्यासिक संबन्ध ही सिद्ध होता है। 'ज्ञानगत विषयित्व के निर्वचन के विना जैसे विषयी (ज्ञान) सत्य माना जाता है, वैसे ही घटादिगत विषयता का निर्वचन न हो सकने पर भी घटादि सत्य है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विषयी ज्ञान की सत्यता विषयाधिष्ठानता के कारण ही सम्पन्न हो जाती है, विषयिता निर्वचन की अपेक्षा नहीं करती, किन्तु विषयकी सत्यता विषयता निर्वचन पर ही निर्भर है, अतः विषयत्व-निर्वचन के विना विषयगत सत्यता सिद्ध नहीं हो सकती। विषयी तो अध्यस्त नहीं होता है, अतः उसमें विषयाध्यास के विना और कोई दृग्दृश्य-सम्बंध का उपपादक सम्भव नहीं। जहाँ विषयी ही अध्यस्त है, वहाँ विषय सत्य ही होता है, जैसे—अज्ञान का विषय ब्रह्म। आधाराधेय दोनों कभी अध्यस्त नहीं हो सकते, अन्यथा निराधार कल्पना या शून्यवाद प्राप्त होगा। अन्यतर के अध्यस्त होने में कौन कहाँ अध्यस्त होता है? इस के निर्णायक है—अनुवृत्तत्व-व्यावृत्तत्व प्रकाशत्व-जड़त्वादि। अर्थात् जो अनुवृत्त है, वह सत्य या अनध्यस्त होता है और जो व्यावृत्त है, वह अध्यस्त होता है, इसी प्रकार प्रकाशस्वरूप वस्तु अनध्यस्त और जड़ात्मक पदार्थ अध्यस्त होते हैं। इस लिए विषयिरूप नित्य दृक् का स्वरूपतः अध्यास नहीं होता, किंतु विषय का ही अध्यास होता है।

शङ्का—विवरणकार ने कहा है—"विवादगोचरापन्नं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वंतरपूर्वकम्" (पं. वि. पृ. ८५)

न्यायामृतम्

तद्ज्ञानजन्यं तज्ज्ञाननिवर्त्यं चाध्यासं प्रति विषयत्वाद्वा तदनुविद्धतया प्रतीयमानत्वविशेषाद्वान्यस्य तत्राध्यस्तत्वस्याभावाच्च। न ह्यनिर्वाच्यत्वादिरूपं साधारणमध्यस्तत्वं दृश्यविशेषस्य दृग्विशेषप्रकाश्यत्वे तन्त्रम्। किं च—

याद्दशं विषयत्वं ते वृत्तिं प्रति चिदात्मनः।
ताद्दशं विषयत्वं मे दृश्यस्यापि दृशं प्रति॥

नन्वनिर्वाच्यमेव विषयत्वं मया व्यवहृतमिति चेन्न, विषयत्वस्यानिर्वाच्यत्वेऽपि तव ब्रह्मवन्ममापि जगतस्सत्त्वोपपत्तेः। त्वयापि व्यावहारिकसत्त्वस्यासंकीर्णव्यवहारस्य च सिद्ध्यर्थं व्यवहाराविसंवादिनो लक्षणस्यापि प्रमाणवदविद्यादाविव वक्तव्यत्वाच्च। कथं च त्वया साध्यं मिथ्यात्वं निब्रुवता साधनं दृग्विषयत्वं न निर्वक्तव्यम्? न च तवापि घटादौ पटाद्यसंकीर्णव्यावहारिकपृथुबुध्नोदराद्याकाराद्यज्ञाने असंकीर्ण-

अद्वैतसिद्धिः

तत्त्वतोऽनिर्वाच्यत्वेऽपिऽप्यध्यस्तत्वेन घटादिसमकक्षनिर्वाच्यत्वस्य संभवात्।

ननु—कथं प्रमाणज्ञानविषयोऽध्यस्त इति—चेत्(न), प्रपञ्चविषयकज्ञाने तत्त्वावेदकत्वलक्षणप्रामाण्याभावादिति गृहाण। अत एव—याद्दशं विषयत्वं ते वृत्तिं प्रति चिदात्मनः। ताद्दशं विषयत्वं मे दृश्यस्यापि दृशं प्रतीति - निरस्तम्, चिदात्मनोऽनध्यासेऽपि वृत्तेस्तत्राध्यस्तत्वेन तद्दृष्टान्तेन प्रकृतेऽनध्यासस्य वक्तुमशक्यत्वात्।

स्यादेतत्—मिथ्यात्वं निर्वचता तत्साधनं दृश्यत्वादिकं निर्वक्तव्यमेव, न हि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इस अनुमान के घटक स्वविषयावरणेत्यादि वाक्य में उपनिबद्ध विषयता का परिचय देने के लिए तथा आपके मिथ्यात्वानुमानभूत के 'दृश्यत्व' हेतु के निर्वचन दृग्विषयत्वं दृश्यत्वम्' में भी विषयत्व का निर्वचन आप (अद्वैतवादी) के लिए भी आवश्यक है, अन्यथा विषयता-घटित वाक्यार्थ का बोध कैसे होगा ?

समाधान—विषयता का तत्त्वतः निर्वचन न हो सकने पर भी घटादि के समकक्ष निर्वाच्यत्व संभव है।

शङ्का—कथित विवरणादि-वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि घटादि विषय का अपने प्रकाशक प्रमाणभूत ज्ञान में अध्यास होता है, वह उचित नहीं, क्योंकि प्रमाण ज्ञान का विषय अबाधित होता है, अध्यस्त क्योंकर होगा ?

समाधान—प्रपञ्चविषयक ज्ञान को आपेक्षिक प्रमाण कहते हैं, वस्तुतः उसमें तत्त्वावेदकत्व न होने के कारण प्रमाणता नहीं मानी जाती। यह जो कहा है कि—

याद्दशं विषयत्वं ते वृत्तिं प्रति चिदात्मनः।
ताद्दशं विषयत्वं मे दृश्यस्यापि दृशं प्रति॥

[अर्थात् आप (अद्वैतवादी) के मत में चिदात्मगत वृत्ति की विषयता के समान ही दृक् की दृश्यगत विषयता हम (द्वैतवादी) मानते हैं]। वह भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि चिदात्मा का अध्यास न होने पर भी वृत्ति का चिदात्मा में अध्यास होता है, अतः उस दृष्टान्त के आधार पर प्रपञ्च को अनध्यस्त सिद्ध नहीं किया जा सकता।

द्वैतवादी—मिथ्यात्व-निर्वचन के समान मिथ्यात्व-साधक दृश्यत्वादि का भी निर्वचन करना आवश्यक है, क्योंकि 'अयं घटः, अयं पटः'—इस प्रकार का असङ्कीर्णाकार

न्यायामृतम्

घटादिव्यवहारः। नन्वसंकीर्णाकारज्ञानमात्रेण तदुपपत्तौ किं तन्निर्वचनेनेति चेत्, समं ममापि। इयांस्तु विशेषः तत्र स आकारः सद्विलक्षणः, मम तु सन्निति। अनिरुच्यमानोऽपि स तव येन मानेनाप्रातिभासिकः, तेनैव मम तात्त्विकोऽस्तु। न च लक्षणोक्त्यनुक्तिभ्यां सदसद्वैलक्षण्यरूपानिर्वचनीयत्वहानिलाभौ, ब्रह्मण्यपि श्रौतस्यापि जगत्कारणत्वादिलक्षणस्य कारणत्वादिखंडनरीत्या असम्भवात्। त्वयैव—

कीदृक्तत्प्रत्यगिति चेत्तादृगीदृगितिद्वयम्।
यत्र न प्रसरत्येतत्प्रत्यगित्यवधारय॥

इति ब्रह्मण्यपि दुर्निरूपत्वस्योक्तत्वाच्च। प्रपंचादावपि त्वदुक्तानिर्वाच्यत्वादिलक्षणसम्भवाच्च। "यत्कठिनं सा पृथिवी" त्यादिश्रुत्या पृथिव्यादीनामपि लक्षणोक्तेश्च।

अद्वैतसिद्धिः

घटपटाद्यसङ्कीर्णाकारज्ञानं विना तद्विलक्षणव्यवहारः, अथानिरुक्तासङ्कीर्णाकारज्ञानमात्रेण तदुपपत्तिः, तर्हि तुल्यं ममाऽपि। इयांस्तु विशेषः, यत्तव स आकारः सद्विलक्षणः, मम तु त्वन्मतसिद्धप्रातिभासिकवैलक्षण्यसाधकमानसिद्धसत्ताकः, न हि लक्षणोक्त्यनुक्तिभ्यां सदसद्वैलक्षण्यरूपानिर्वचनीयत्वहानिलाभौ, ब्रह्मण्यपि श्रौतस्यापि जगत्कारणत्वादिलक्षणस्य कारणत्वखण्डनरीत्या असंभवात्, त्वयैव—'कीदृक्तत्प्रत्यगिति चेत्तादृगीदृगिति द्वयम्। यत्र न प्रसरत्येतत्प्रत्यगित्यवधारये'ति ब्रह्मणोऽपि दुर्निरूपत्वोक्तेश्च, प्रपञ्चेऽपि त्वदुक्तानिर्वाच्यत्वसमकक्षलक्षणसंभवाच्च, 'यत्कठिनं सा

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यवहार घटादि के पृथुबुध्नादि असङ्कीर्णाकार ज्ञान के विना सम्भव नहीं, वही असङ्कीर्ण आकार घटादि का अपना लक्षण होता है। इसी प्रकार 'अस्य ज्ञानस्य अयं विषयः'—इस प्रकार के असङ्कीर्ण-व्यवहार का हेतुत्व ही विषयता का लक्षण सम्पन्न होता है। यदि आप (अद्वैतवादी) कहें कि यदि असङ्कीर्णाकार ज्ञानमात्र से असङ्कीर्ण व्यवहार उपपन्न हो जाता है, उसके निर्वचन की क्या आवश्यकता? तब हम (द्वैतवादी) भी आप का अनुमोदन करेंगे और निर्वचन की आवश्यकता नहीं समझेंगे। इतना अन्तर अवश्य है कि वस्तु का वह असङ्कीर्ण आकार आप (अद्वैतवादी) के मत में सद्विलक्षण है और हमारे मत में वह सत्। आप जिस प्रमाण के आधार पर उसे प्रातिभासिक से भिन्न सिद्ध करते हैं, उसी प्रमाण से हम उसे तात्त्विक सिद्ध करते हैं। लक्षण के निर्वचन मात्र से अनिर्वचनीयत्व की हानि और अनिर्वचन से अनिर्वचनीयता का लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि 'लक्षणानिर्वचनीयत्वम् अनिर्वाच्यत्वम्'—ऐसा आप नहीं मानते, अपितु आप 'सदसद्भिन्नत्वमनिर्वाच्यत्वम्' मानते हैं। नहीं तो कारणता खण्डन की तर्क-पद्धति से ब्रह्म के श्रुति-सूत्रोक्त (जगज्जन्मादिकारणत्वम्) लक्षण की निर्वचनीयता सम्भव नहीं, अतः ब्रह्म भी अनिर्वाच्य हो जायगा। स्वयं आपके अग्रजों ने भी ब्रह्म की दुर्निरूपणीयता मानी है—

कीदृक् तत्प्रत्यगिति चेत्तादृगीदृगितिद्वयम्।
यत्र न प्रसरत्येतत् प्रत्यगित्यवधारय॥ (पंचकोश० २६)

अर्थात् कैसा वह प्रत्यगात्मा है? इस प्रश्न का उत्तर है कि जिसे ऐसा-वैसा नहीं कहा जा सकता, उसे ही प्रत्यगात्मा समझो। यदि लक्षण-निर्वचन मात्र से सत्यत्व सिद्ध होता है, तब आप ने प्रपञ्च का लक्षण किया है—'सदसद्भिन्नत्वम्' अतः प्रपञ्च भी सत्य

न्यायामृतम्

तस्मात्प्रमितस्येत्थमिति निर्वक्तुमशक्यत्वं प्रतिपुरुषमुखं स्पष्टावाधितदृष्टिदृष्टविलक्षण-संस्थानविशेषस्येव सत्त्वेऽप्यद्भुतत्वादेव युक्तम्। उक्तम् हि—"अद्भुतत्वादनिर्वाच्यम्"—इति। न हि शुक्तिरूप्यस्येतरभेदकं रूप्यत्वं प्रातीतिकजातिरूपतया सुवचमिति तद्व्यावहारिम्। न वा मुखसंस्थानविशेषो दुर्वच इति स प्रातिभासिकः, न वा ब्रह्मण आनन्दत्वज्ञानत्वसत्यत्वस्वप्रकाशत्वादिकं खण्डनोक्तरीत्या दुर्वचमिति ब्रह्म तत्त्वतो नानन्दाद्यात्मकम्। तस्मान्निर्वचनायोग्यस्यापि विश्वस्येक्षुक्षीरादिमाधुर्यवद् ब्रह्मवच्च प्रामाणिकत्वादेव सत्त्वसिद्धेः सदसद्वैलक्षण्यरूपानिर्वाच्यत्वाय निरुक्तिखण्डनं शब्दसाम्याद् भ्रान्तिमूलम्। न च केषांचिन्निर्वचनाशक्तिमात्रेण वस्तूनां तदयोग्यत्वम्। उक्तं हि बौद्धधिक्कारे—"न हि जात्यंधेन नीलं द्रष्टुं वक्तुं न शक्यत इति अज्ञयेमनिर्वाच्यमेव तत्, दुरवगाहत्वेनापि तदुपपत्तेः" इति।

अद्वैतसिद्धिः

पृथिवी'त्यादिश्रुत्या पृथिव्यादीनामपि लक्षणत्वोक्तेश्च। तस्मादनिर्वाच्यत्वं न सत्त्वविरोधि। सत्त्वेऽप्यद्भुतत्वादेवानिर्वाच्यत्वोपपत्तेः। न च निर्वाच्यत्वमपि सत्त्वप्रयोजकम्, न हि शुक्तिरूप्यस्यापीतरभेदसाधकं रूप्यत्वं प्रातीतिकजातिरूपतया सुवचमपि सत्यम्। किं च ब्रह्मण आनन्दत्वज्ञानत्वसत्यत्वस्वप्रकाशत्वादि खण्डनोक्तरीत्या दुर्वचमिति ब्रह्म तत्त्वतोऽनानन्दाद्यात्मकं स्यात्। तस्मादिक्षुक्षीरादिमाधुर्यवदनिर्वाच्यमपि विषयत्वं सदेवेति। अत्रोच्यते—दृश्यत्वादेरनिर्वचनीयत्वं किं सत्त्वेन, उत स्वरूपेण। नाद्यः, सत्त्वेनानिर्वचनीयत्वेऽपि तत्तदाभासलक्षणानालिङ्गितत्वमात्रेण हेतुत्वोपपत्तेः तन्निर्वचनानपेक्षणात्। न द्वितीयः, तात्त्विकातात्त्विकसाधारणेन दृक्संबन्धित्वादिना रूपेण दृग्विषयत्वस्य निर्वक्तुं शक्यत्वात्। लक्षणोक्त्यनुक्त्योर्न सदसद्वैल-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सिद्ध हो जायगा। 'यत् कठिनम्, सा पृथिवी' (गर्भो० १) इत्यादि श्रुतियों के आधार पर पृथिव्यादि का लक्षण भी किया जा सकता है। फलतः प्रपञ्च में अनिर्वचनीयत्व सत्त्व का विरोधी नहीं होता, क्योंकि किसी सत्य पदार्थ के अद्भुत होने के कारण भी अनिर्वाच्य कह दिया जाता है। इसी प्रकार निर्वाच्यत्व को सत्त्व का प्रयोजक मानने पर शुक्ति-रजत को भी सत् मानना होगा, क्योंकि उसका भी व्यावहारिक रजतभेदक प्रातीतिक रजतत्व जाति के द्वारा निर्वचन किया जा सकता है। खण्डन-खण्ड-खाद्य की रीति से ब्रह्मगत आनन्दत्व, ज्ञानत्व, सत्यत्व तथा स्वप्रकाशत्वादि दुर्वच हैं, अतः ब्रह्म भी तत्त्वतः अनानन्द या दुःखादिरूप हो जायगा। इस लिए इक्षु और क्षीरादिगत माधुर्य के समान अनिर्वाच्य विषयत्व को सत् ही मानना होगा।

अद्वैतवादी—यह जो आपने कहा कि मिथ्यात्व-साधक दृश्यत्वादि का निर्वचन अद्वैतवादी को भी करना चाहिए, वह दृश्यत्वादि का सत्त्वेन निर्वचन करना चाहिए ? अथवा स्वरूपेण ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि साध्य-साधन के लिए लिङ्ग का सत् होना आवश्यक नहीं, अपितु हेत्वाभास-लक्षण-राहित्य। प्रक्रान्त दृश्यत्वादि हेतुओं की अनाभासता प्रतिपादित हो चुकी है, अतः निर्वचनीयता अपेक्षित नहीं। द्वितीय (स्वरूपेण) पक्षोक्त स्वरूपेण निर्वचन सम्भव नहीं, क्योंकि तात्त्विकातात्त्विक-साधारण दृग्विषयत्व का निर्वचन दृगध्यस्तत्व ही करना होगा, जो कि अनिर्वचनीय ही माना जाता है।

अद्वैतसिद्धि:

अन्यरूपानिर्वाच्यत्वहानिलाभकरत्वमिति यदवोच:, तदपि न, पूर्वोक्तव्यापकानुपलब्धिसहिताया लक्षणानिरुक्ते: उक्तरूपानिर्वचनीयत्वप्रयोजकत्वात्।

यत्त्वानन्दत्वादिना धर्मेण कीदृगित्यादिना स्वरूपेण च दुर्निरूपत्वाद् ब्रह्मणोऽप्यनिर्वचनीयत्वप्रसङ्ग इति, तन्न, आनन्दत्वादिधर्मवत्तया दुर्निरूपत्वेऽपि दु:खप्रत्यनीकत्वाद्युपलक्षितस्वरूपस्य सत्त्वेन निर्वक्तुं शक्यत्वात्। न चैवं प्रपञ्चे सत्त्वं शक्यनिर्वचनम्, बाधकसद्भावात्। अत एव—कठिनस्पर्शवत्त्वादिना पृथिवीत्वादीनां निर्वचनमस्त्येव, सत्त्वेऽप्यद्भुतत्वादिनानिर्वाच्यत्वोपपत्तिरिति—निरस्तम्, न हि निरुक्तिविरहमात्रेणानिर्वाच्यत्वं ब्रूम:, किंतु सत्त्वादिना निरुक्तिविरहेण। स च प्रपञ्चे बाधकादस्त्येव। न च—ज्ञाने विषयस्याध्यस्तत्वे तदज्ञानजन्यं तज्ज्ञाननिवर्त्यं चाध्यासं प्रति विषयत्वं तदनुविद्धतया प्रतीत्यभावश्च न संभवतीति - वाच्यम्, चैतन्यमात्राज्ञानजन्यत्वात्, तज्ज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च घटादिप्रपञ्चस्येत्युक्तत्वात्। सदिति प्रतीयमानाधिष्ठानचैतन्यानुविद्धतया प्रतीयमानत्वमप्यस्त्येव। तस्मात्सत्त्वे दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तिर्दृढैव॥ इत्यद्वैतसिद्धौ प्रपञ्चमिथ्यात्वानुकूलतर्कनिरूपणम्॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यह जो कहा कि लक्षण की उक्ति और अनुक्ति पर अनिर्वचनीयत्व की हानि या लाभ निर्भर नहीं, वह भी उचित नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त व्यापकानुपलब्धि-सहित लक्षणानिरुक्ति को कथित अनिर्वचनीयता का प्रयोजक सिद्ध किया जा चुका है। आनन्दत्वादि रूप से ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का अतिप्रसङ्ग भी संगत नहीं, क्योंकि आनन्दत्वादि धर्मवत्ता के रूप में दुर्निरूपित होने पर भी ब्रह्म दु:ख-विरोधित्वाद्युपलक्षित रूप से सुनिरूपित है। प्रपञ्चगत सत्त्व का निर्वचन संभव नहीं, क्योंकि सत्त्व के सभी पक्षों का बाध दिखाया जा चुका है। जो यह कहा कि 'कठिन स्पर्शवत्त्वादिरूप से पृथिव्यादि का निर्वचन हो सकता है एवं सत् वस्तु में भी अद्भुतत्व होने के कारण अनिर्वचनीयता का व्यवहार हो जाता है। वह भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि निरुक्ति-विरहमात्र को अनिर्वचनीयता हम नहीं मानते, अपितु सत्त्व और असत्त्व रूप से निर्वचनानर्हत्व को अनिर्वाच्यत्व कहते हैं। प्रपञ्च की सत्त्वादिरूपता में बाधादि का प्रदर्शन कर चुके हैं, अत: प्रपञ्च में सदसदनिर्वाच्यत्व सुस्थिर है।

यह जो कहा कि ज्ञान में विषय का अध्यास मानने पर ज्ञान के अज्ञान से भ्रम की उत्पत्ति एवं ज्ञान के ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति होनी चाहिए तथा 'ज्ञानं घट:'—इत्यादि प्रतीति होनी चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं, वह कहना भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि चैतन्यरूप ज्ञान के अज्ञान से अध्यास की उत्पत्ति तथा उसके ज्ञान से घटादि प्रपञ्चाध्यास की निवृत्ति का उपपादन किया जा चुका है। 'प्रपञ्च: सन्'—इस प्रकार अधिष्ठानानुविद्ध रूप से भी अध्यस्त की प्रतीति में इष्टापत्ति है। अत: दृश्यवर्ग को सत्य मानने पर दृग्दृश्य-सम्बन्ध की उपपत्ति न होने के कारण मिथ्या मानना अनिवार्य हो जाता है।

न्यायामृतम्

[1]न च तदनिर्वचनं यथा मंत्रस्य 'मन्त्र' इत्यभियुक्तप्रयोग एव लक्षणं तथा ज्ञानविषयस्यापि ज्ञानविषय इत्यभियुक्तप्रयोग एव लक्षणम्। न चान्योऽन्याश्रयः, पूर्वपूर्वप्रयोगस्य ज्ञानेनोत्तरोत्तरप्रयोगोपपत्तेः। अथवा यज्ज्ञानं यदभिलपनरूपव्यवहारकारणं स तस्य विषयः। करणपाटवाद्यभावेन व्यवहारानुदयेऽपि सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्स्वरूपं कारणत्वमस्त्येव। कदापि व्यवहाराजनकं तु निर्विकल्पकं नोपेयत इति नाव्याप्तिः। न च यत्त्वतत्त्वजात्योरभावेनाननुगमः, कस्य को विषय इत्यननुगतप्रश्ने अस्यायं विषय इत्यननुगतस्यैव वक्तव्यत्वात्। घटज्ञानानन्तरं प्रामादिके पट इतिव्यवहारे न घटज्ञानं हेतुरिति नातिव्याप्तिः। अत एव ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वमित्यत्रापि न दोषः, ज्ञानकर्मशब्देन ज्ञानाधीनव्यवहारयोग्यत्वरूपातिशयवत्त्वस्य विवक्षितत्वात्। न हि क्रियाजनकत्वविशेषः कर्मत्वम्, (पटं) घटं करोतीत्यादावभावात्। न ह्यसिद्धं जनकम्, नापि सिद्धं कृतिकर्म। अत एव यस्यां संविदीत्यादिलक्षणेऽपि न दोषः। यतस्संविदीति सतिसप्तमी। भासमानत्वं च व्यवहारयोग्यत्वम् योग्यत्वं च सति कारणान्तरे व्यवहारावश्यंभावः। योग्यत्वे च दृश्यत्वे दृश्यत्ववदाध्यासिकसंबन्धे आध्यासिकसम्बन्धवत्त्व तदेव वान्यद्वा योग्यत्वमस्ति। आत्माश्रयादिकं तु तद्वदेवोत्पत्त्याद्यप्रतिबंधकत्वाददोष इति नाव्याप्तिः।

अन्ये तु यस्संबन्धान्तरमनपेक्ष्य यज्ज्ञानावच्छेदको यज्ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावश्च, स तस्य विषयः। यद्यप्यात्मा स्वविषयकज्ञानेन समवायवान्, तथापि न तस्य तदवच्छेदे तदपेक्षा, स्वज्ञानासमवायिनोऽपि घटादेः स्वज्ञानावच्छेदकत्वदर्शनात्। यथात्मनः स्वानुमितिविषयत्वेऽपिनविषयत्वेन तत्र हेतुता, तद्वत्। यद्यपि च रूपज्ञानं मत्समवेतम्, रूपज्ञानमिष्टम्, रूपज्ञानं ध्वस्तमित्यादौ रूपज्ञानाविषया अप्यात्मसमवायेच्छाध्वंसादयस्संबन्धान्तरमनपेक्ष्य रूपज्ञानावच्छेदकाः, तथापि ते समवेतेष्यमाणाद्यात्मकरूपज्ञानावच्छिन्नस्वभावाः, सम्बन्धेच्छादीनां सम्बन्धीष्यमाणाद्यवच्छिन्नस्वभावत्वादिति नातिव्याप्तिः।। ज्ञानविषयस्तु न ज्ञानावच्छिन्नस्वभावः, ज्ञानस्य घटावच्छिन्नस्वभावत्ववद् घटादेर्ज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्वस्यादर्शनात्। यद्यपि स्वग्राहकज्ञानविषयभूतं ज्ञानविषयकानुमित्यनुव्यवसायादिकं ज्ञानावच्छिन्नस्वभावम्, तथापि स्वयं यज्ज्ञानं प्रति विषयः, तदवच्छिन्नस्वभावं नेति नाव्याप्तिः। अथवा यज्ज्ञानं यदीयस्वभावं स तस्य विषयः। मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र तु समवाय एव रूपज्ञानावच्छिन्नस्वभावः, न तु रूपज्ञानं तदवच्छिन्नस्वभावम्। प्रकृतस्य ज्ञानविषयत्वस्यैवेयं निरुक्तिर्नत्विच्छादिविषयत्वस्यापीति न तत्राव्याप्तिर्दोष इत्याहुः।

अथवा यत्सन्निकृष्टकरणेन यज्ज्ञानमुत्पद्यते, स तस्य विषयः। न चैवमाकाशसन्निकृष्टेन चक्षुरादिना शब्देन च जन्यं रूपादिज्ञानं प्रति आकाशस्य विषयतापत्तिः, सन्निकर्षस्यापि हेतुत्वेन विवक्षितत्वात्। न च चक्षुरादिनाकाशस्य सन्निकर्षो रूपादिज्ञानहेतुः। ननु तथापि पक्षसन्निकृष्टलिंगजानुमितिं प्रति पक्षः, श्रोत्रसन्निकृष्टवाक्यजशाब्दज्ञानं च प्रति श्रोत्रं विषयः स्यादिति चेन्न, अतीतादिलिंगादेर्ज्ञानेनानुमित्यादिदर्शनेन लिंगज्ञानवाक्यज्ञानयोरेव करणत्वात्। लिंगादिज्ञानस्य चात्मसन्निकर्षो नानुमित्यादिहेतुः, किं त्ववर्जनीयसन्निधिः।

---

१. अस्य प्रकरणस्य समीक्षणं पूर्वमेव गतम्, पृ० २९९–३०९।

व्याख्यानम्

ननु तथापि रूपादिज्ञानस्यात्मा विषयः स्यात् । तत्र मनसः करणत्वादात्ममनः-सन्निकर्षस्य च रूपादिधी (ज्ञान) हेतुत्वादिति चेन्न, असाधारणकारणत्वस्य विवक्षितत्वात्, मनसश्च साधारणत्वात् । तर्हि मनस्सन्निकृष्टचक्षुर्जन्यं रूपज्ञानं मनो-विषयं स्यादिति चेन्न, सन्निकर्षस्याप्यसाधारणहेतुत्वेन विवक्षितत्वात् । चक्षुर्मनः-सन्निकर्षस्य च सुखादिज्ञानसाधारणत्वात् । प्रत्यभिज्ञायामिन्द्रियस्य तत्तया संस्कारः लिङ्गज्ञानस्य च लिङ्गिना तद्व्याप्तिलिङ्गसम्बन्धः, वाक्यज्ञानस्य च तत्तद्वाक्यसन्निकर्षः । एवमन्यत्रापि सन्निकर्ष ऊह्यः । न हि संयोगादिरेव सन्निकर्षः, किं तु प्रत्यासत्तिमात्रम् । तच्चानतिप्रसंगाय तत्तादिना सह वक्तव्यमिति नाव्याप्तिः । यद्यपि लिङ्गज्ञानादेर्लिङ्ग्यादिना विषयित्वमेव सम्बन्धः, तथापि स इदानीमुभयसंमतेन सम्बन्धत्वेनैव ग्राह्यः, न तु विषयित्वेनेति नात्माश्रयः । इदं च नियतविषयकजन्यज्ञान-विषयलक्षणम् । अथवा यथा पाकजरूपवती पृथिवीत्यत्र पाकजरूपसमानाधिकरण-द्रव्यत्व (साक्षात्) व्याप्यजातिमत्त्वं विवक्षितम्, तथा 'ज्ञानकरणसन्निकर्षसमानाधि-करणः ज्ञानावच्छेदकत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मो विषयत्वमिति नाव्याप्तिरिति । इत्युभय-सम्बन्धानुपपत्तिभंगः ।

---

१. पदकृत्यं विचार्यते, तथा हि—अत्र धर्मो विषयत्वमित्युक्ते घटज्ञानविषयता द्रव्यत्वस्य स्यादत उक्तम्—ज्ञानावच्छेदकव्याप्येति । द्रव्यत्वस्य पटेऽपि विद्यमानत्वेन घटज्ञानावच्छेदकत्वव्याप्यत्वाभावात् । तावत्युक्ते घटज्ञानावच्छेदकत्वव्याप्ये एतद्घटत्वे सामान्याकारेण घटज्ञानविषयत्वरूपत्वं स्यादत उक्तम्—साक्षादिति । एतद्घटत्वादिकं तु न तथा, तस्य घटज्ञानावच्छेदकत्वव्याप्यघटत्वन्यूनवृत्तित्वात्, तद्व्याप्यान्यूनवृत्तित्वस्येह साक्षात्पदार्थतया विवक्षितत्वात् । धर्मपदं स्वरूपकथनम् । एवं चेद् देवदत्तात्मनोऽपि कर्तृतया ज्ञानावच्छेदकत्वेन देवदत्तात्मत्वेऽतिव्याप्तिः, 'यत्र देवदत्तात्मत्वम्, तत्र घटज्ञानावच्छेदकत्वम्'—इति व्याप्तेर्देवदत्तात्मनि सत्त्वात् । एवं च घटज्ञानावच्छेदकत्व-साक्षाद्व्याप्यधर्मभूतदेवदत्तात्मत्वे घटज्ञानविषयता स्यादतो ज्ञानकरणसन्निकर्षसमाना-धिकरणेति व्याप्यधर्मविशेषणम् । एवं देवदत्तात्मत्वे नातिव्याप्तिः, देवदत्तात्मत्वस्य ज्ञानकरणीभूतेन्द्रियार्थसन्निकर्षसमानाधिकरणत्वाभावादिति (श्री निवासाचार्यः) ।

: १४ :

प्रतिकर्मव्यवस्थाविचारः

न्यायामृतम्

यच्चोक्तम्—यथा तटाकोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति, तथा विषयेन्द्रियसंप्रयोगादिके सति सावयवं तैजसमन्तःकरणं चक्षुरादिद्वारेण निर्गत्य ध्रुवादिविषयपर्यंतं चक्षुर्वत् शीघ्रं दीर्घप्रभाकारेण परिणम्य विषयं व्याप्य तदाकारं भवति, सेयं वृत्तिरित्युच्यते। तत्र जीवचैतन्यमविद्योपाधिकं सत् सर्वगतमन्तःकरणोपाधिकं सत् परिच्छिन्नं चेति मतद्वयम्। तत्राद्ये

अद्वैतसिद्धिः

ननु—विश्वस्याध्यासिकत्वे प्रातिभासिकस्थल इव विषयेन्द्रियसन्निकर्षाधीनायाः प्रतिकर्मव्यवस्थायाः अनुपपत्तिरिति—चेन्न वृत्तेः पूर्वमेव घटादीनां चैतन्येऽध्यासेन प्रातिभासिकस्थलापेक्षया वैलक्षण्यात्। तथा हि-अन्तःकरणं चक्षुवंत्तेजोवयवि, तच्चेन्द्रियद्वारेण तत्संयुक्तं विषयं व्याप्य तदाकारं भवति। यथा नद्याद्युदकं प्रणाल्या निःसृत्य केदाराद्याकारं भवति, सैव वृत्तिरित्युच्यते। तत्र जीवचैतन्यमविद्योपाधिकं सत् सर्वगतं अन्तःकरणोपाधिकं सत् परिच्छिन्नमिति मतद्वयम्। तत्राद्ये विषय-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—समस्त प्रपञ्च यदि अध्यासिक है, तब प्रतिभासिक-स्थल के समान ही विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्षाधीन प्रतिकर्म-व्यवस्था (विषय-व्यवस्था) नहीं बन सकेगी [किस ज्ञान का कौन कर्म या विषय है ? इस प्रश्न का उत्तर प्रायः यही दिया जाता है कि जिस पदार्थ के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह पदार्थ उस ज्ञान का कर्म (विषय) होता है इस प्रकार प्रत्येक विषय की व्यवस्था को यहाँ प्रतिकर्म-व्यवस्था कहा गया है। अन्य दार्शनिकों ने भी विषय-व्यवस्था के अर्थ में प्रतिकर्म-व्यवस्था का व्यवहार किया है—"साकारवादप्रतिक्षेपेण निराकारादेव प्रत्ययात् प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्" (प्र. क. मा. पृ. ८६)। सांख्यादि मत-वादों में ज्ञान को क्रिया माना जाता है, अतः घटं करोति के समान घटं जानाति इत्यादि ज्ञान-व्यवहारों में विषय-वाचक पदोत्तर कर्मत्वार्थक द्वितीया विभक्ति का ही प्रयोग होता है। इन्द्रिय-सन्निकर्षाधीन विषय-व्यवस्था वहाँ ही हो सकती है, जहाँ ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व विषय सत् हो। प्रातिभासिक विषय की ज्ञान से पहले सत्ता ही नहीं मानी जाती कि ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष हो सके। प्रातिभासिक विषय के समान व्यावहारिक विषय भी अध्यस्त मात्र है, वस्तु सत् नहीं, अतः वहाँ भी प्रतिकर्म-व्यवस्था कैसे होगी]।

अद्वैतवादी—प्रातिभासिक विषय से व्यावहारिक विषय का अन्तर है [प्रातिभासिक वस्तु की अज्ञात सत्ता नहीं होती, किन्तु व्यावहारिक विषय की अज्ञात सत्ता मानी जाती है, उसी अज्ञात के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः अध्यास-वाद में भी प्रतिकर्म-व्यवस्था उपपन्न हो जाती है]। वेदान्त में ज्ञानोत्पत्ति की अपनी विशेष प्रक्रिया है—अन्तःकरण चक्षुरिन्द्रिय के समान तेजो धातु का एक अवयव है, वह अपने से जुड़ी इन्द्रिय की सुरंग में प्रविष्ट होकर उस सुरंग के दूसरे सिरे से जुड़े विषय के आकार में परिणत हो जाता है। उसी परिणति की परिभाषा 'वृत्ति' है। इस वृत्ति का उपयोग तीन प्रकार से होता है, क्योंकि जीव चैतन्य को कुछ

न्यायामृतम्

विषयप्रकाशकं जीवचैतन्यं द्वितीये ब्रह्मचैतन्यम्। सर्वगतत्वपक्षेऽपि जीवचैतन्यमविद्यानावृतमावृतं चेति मतद्वयम्। तत्राद्ये वृत्तिर्जीवचैतन्यस्य विषयोपरागार्था, द्वितीये त्वावरणाभिभवार्था। परिच्छिन्नत्वपक्षे तु जीवचैतन्यस्य विषयप्रकाशकब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्त्यर्था। अनावृतत्वपक्षे ह्यनावृतं सर्वगतमपि जीवचैतन्यं तत्तदाकारवृत्त्यैवोपरज्यते, न तु विषयैः, असंगत्वात्। यथा गोत्वादिकं सर्वगतमपि सास्नादिमद्व्यक्त्यैवोपरज्यते न तु केसरादिमद्व्यक्त्या, यथा वा प्रदीपप्रभा आकाशगन्धरसादिप्रदेशव्यापिन्यपि तान्न प्रकाशयति, रूपसंसर्गितया तदेव प्रकाशयति, तद्वत् केवलाग्न्यदाह्यस्यापि अयःपिण्डसमारूढाग्निदाह्यत्ववच्च केवलचैतन्याप्रकाश्यस्यापि घटादेस्तदाकारवृत्त्युपारूढचैतन्यप्रकाश्यत्वं युक्तम्। एवं चानावृतत्वपक्षे तत्तदाकारवृत्तिद्वारा चैतन्ये च तत्तदुपरागे तत्तत्प्रकाशः। आवृतत्वपक्षेऽपि तत्तदाकारवृत्त्या तत्तदवच्छिन्नचैतन्यावरणाभिभवे तत्तत्प्रकाशः। परिच्छिन्नत्वपक्षेऽपि तत्तज्जीवावच्छेदकांतःकरणीयतत्तद्विषयाकारवृत्त्या तत्तद्विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्याभिव्यक्तौ तत्त-

अद्वैतसिद्धिः

प्रकाशकं जीवचैतन्यम् द्वितीये ब्रह्मचैतन्यम्। आद्ये पक्षेऽपि जीवचैतन्यमविद्यानावृतम्, आवृतं च। तत्राद्ये वृत्तिर्जीवचैतन्यस्य विषयोपरागार्था। द्वितीये त्वावरणाभिभवार्था। परिच्छिन्नत्वपक्षे तु जीवचैतन्यस्य विषयप्रकाशकतदधिष्ठानचैतन्याभेदाभिव्यक्त्यर्था। अनावृतत्वपक्षे ह्यनावृतं सर्वगतमपि जीवचैतन्यं तत्तदाकारवृत्त्यैवोपरज्यते, न तु विषयैः, असङ्गत्वात्, यथा गोत्वं सर्वगतमपि सास्नादिमद्व्यक्त्याऽभिव्यज्यते, न तु केसरादिमद्व्यक्त्या, यथा वा प्रदीपप्रभा आकाशगन्धरसादिव्यापिन्यपि तानप्रकाशयन्ती रूपसंसर्गितया रूपमेव प्रकाशयति तद्वत्, केवलाग्न्यदाह्यस्यापि अयःपिण्डादिसमारूढाग्निदाह्यत्ववच्च केवलचैतन्याप्रकाश्यस्यापि घटादेस्तत्तदाकारवृत्त्युपारूढचैतन्यप्रकाश्यत्वं युक्तम्। एवञ्चानावृतत्वपक्षे तत्तदाकारवृत्तिद्वारा चैतन्यस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आचार्य सर्वगत या व्यापक और कुछ परिच्छिन्न मानते हैं। व्यापक अविद्योपाधिक और परिच्छिन्न अन्तःकरणोपाधिक होता है। व्यापक जीव भी दो प्रकार का है—(१) अविद्या से अनावृत्त और (२) अविद्या से आवृत। जीव के व्यापकत्व-पक्ष में विषय का प्रकाशक जीव चैतन्य और जीव के परिच्छिन्नत्व-पक्ष में विषय का प्रकाशक ब्रह्म चैतन्य माना जाता है। व्यापक जीव के अविद्यानावृतत्व-पक्ष में जीव चैतन्य के साथ विषयोपराग स्थापित करने में उक्त वृत्ति का उपयोग होता है, आवृतत्व-पक्ष में आवरण के अभिभव (नाश) में वृत्ति उपयुक्त होती है। परिच्छिन्न जीव के विषय-प्रकाशक ब्रह्म चैतन्य के साथ अभेद की अभिव्यक्ति वृत्ति के द्वारा ही होती है। अर्थात् व्यापक एवं अनावृत जीव चैतन्य स्वतः असङ्ग होने के कारण विषय-सम्पृक्त न होकर तब तक विषय का प्रकाशक नहीं होता, जब तक विषयाकार वृत्ति के द्वारा विषय-सम्पृक्त न किया जाय, जैसे गोत्व जति सर्वगत होने पर भी सास्नादि-युक्त व्यक्ति में ही अभिव्यक्त होती है केसरादि-संवलित अश्व-शरीर में नहीं। अथवा जैसे प्रदीप-प्रभा आकाश, रस, गन्धादि पर व्याप्त हो कर भी उनका प्रकाश नहीं करती, किन्तु रूप-संसृष्ट हो कर रूप का ही प्रकाश करती है। केवल अग्नि के द्वारा तृणादि का दाह न होने पर भी अयःपिण्डादि-समारूढ़ अग्नि के द्वारा दाह होता है, वैसे ही केवल चैतन्य से घटादि का

न्यायामृतम्

त्प्रकाश इति नातिप्रसंगः। विषयानुभवस्य ब्रह्मचित्त्वेऽपि वृत्त्या जीवचैतन्याभेदेनाभिव्यक्तत्वात् जीवचित्त्वमविरुद्धमिति प्रतिकर्मव्यवस्था युक्तेति।

तन्न, स्वसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यस्वज्ञानात्पूर्वं घटादेस्सत्त्वे प्रतीतिमात्रशरीरत्वव्याप्यकल्पितत्वायोगात्। न च कल्पितत्वविशेषः प्रातिभासिकत्वमेव तद्व्याप्यम्, गौरवात्। वह्नि प्रत्यपर्वतीयधूमस्य अप्रामाणिकत्वादिकं च प्रति प्रातिभासिकत्वस्यैव व्याप्यत्वापाताच्च। न च प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभावेऽपि ज्ञाननिवर्त्यत्वादिना कल्पितत्वोपपत्तिः। प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभावेनैव ज्ञाननिवर्त्यत्वाद्यभावस्याप्यापादनात्। प्रतीतेश्च विश्वस्य सत्यत्वेन वा मिथ्यात्वेऽपि स्वप्नवदिन्द्रियसन्निकर्षानपेक्षतयैवोपपत्तेश्च। व्यावहारिकत्वस्य च भ्रान्तिदैर्घ्यमात्रेणोपपत्तेश्च। तत्तदाकारपरोक्षवृत्ते-

अद्वैतसिद्धिः

तत्तदुपरागे तत्तदर्थप्रकाशः। आवृतत्वपक्षे तत्तदाकारवृत्त्या तत्तद्विषयावच्छिन्नचैतन्यावरणाभिभवेन तत्तदर्थप्रकाशः। अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपत्वे जीवस्यावच्छेदकान्तःकरणतत्तद्विषयाकारवृत्त्या तत्तद्विषयावच्छिन्नचैतन्याभिव्यक्तौ तत्तत्प्रकाशः।

यद्यपि प्रकाशकमधिष्ठानचैतन्यं सर्वगतं जीवचैतन्यं चान्तःकरणावच्छिन्नम्, तथापि चैतन्याभेदेनाभिव्यक्तत्वाद् व्यवस्थोपपत्तिः।

ननु—इयं प्रतिकर्मव्यवस्था नोपपद्यते, तथा हि—स्वसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यस्वज्ञानात् पूर्वं घटादेः सत्त्वे प्रतीतिमात्रशरीरत्वव्याप्तकाल्पनिकत्वायोगः। न च काल्प-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रकाश न होकर घटाद्याकार वृत्ति में उपारूढ़ चैतन्य के द्वारा प्रकाश होता है, जो कि अत्यन्त युक्ति-युक्त है। अतः व्यापक जीव के अनावृतत्व-पक्ष में तत्तदाकार वृत्ति के द्वारा विषय और चैतन्य का उपराग होने पर विषय का प्रकाश होता है। जीव के अविद्यावृतत्व-पक्ष में विषयाकार वृत्ति के द्वारा विषयावच्छिन्न चैतन्य के आवरण का अभिभव होने पर विषय का प्रकाश होता है। जीव के अन्तःकरणावच्छिन्नत्व-पक्ष में जीव के अन्तःकरण की विषयाकार वृत्ति के द्वारा विषयावच्छिन्न ब्रह्म चैतन्य की अभिव्यक्ति होने पर विषय का प्रकाश होता है। यद्यपि विषय-प्रकाशक ब्रह्म चैतन्य सर्वगत और जीव चैतन्य अन्तःकरण मात्र से अवच्छिन्न है, तथापि वृत्ति के द्वारा दोनों चैतन्यों के अभेद की अभिव्यक्ति से व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। [एक ही विषय-वस्तु के प्रतिपादन में विभिन्न प्रक्रियाओं का दर्शन समस्त वैदिक और अवैदिक वाङ्मय में होता है, उसकी उपादेयता का समर्थन करते हुए वार्तिककार ने कहा है—

प्रक्रियानियमो नास्ति नापि पुंव्युत्पत्तिप्रधानतः।
प्रतिश्रुतिविगीतिश्च प्रक्रियाणां समीक्ष्यते॥
यया-यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वी सा चानवस्थिता॥ (बृह. वा. पृ. ५१२)

आचार्य प्रज्ञाकर गुप्त का भी कहना है कि "यथा-यथा विनेयानां तत्त्वमार्गानुप्रवेशः सम्भवी, तथा-तथा भगवतो देशनेति न विरोधः" (प्र. वा. पृ. ३१)]।

द्वैतवादी—विषयेन्द्रिय-सन्निकर्षादि पर निश्रित यह विषय-व्यवस्था निर्दोष नहीं प्रतीत होती, क्योंकि अपने ज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व घटादि की अज्ञात सत्ता मानने पर आप के द्वारा अभ्युपगत प्रतीतिमात्रशरीरत्व या काल्पनिकत्व का विरोध

अद्वैतसिद्धिः

निकत्वविशेषः प्रातिभासिकत्वादिरेव तद्व्याप्तः, गौरवात् । न च प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभावेऽपि ज्ञाननिवर्त्यत्वादिनैव कल्पितत्वं भविष्यति, प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभावेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावस्याप्यापाद्यत्वात् , प्रतीतेर्विश्वसत्यत्वेन वा मिथ्यात्वेऽपि स्वप्नादिवदिन्द्रियसन्निकर्षनिरपेक्षतयैवोपपत्तेः, व्यावहारिकत्वस्यापि भ्रान्तिदैर्घ्यमात्रेणोपपत्तेश्चेति चेत् , मैवम् , प्रतीतिमात्रशरीरत्वस्य कल्पितत्वं न व्याप्यम् , दृग्दृश्यसंबन्धानुपपत्त्यादिसहकृतोक्तानुमानात् प्रपञ्चे कल्पितत्वे सिद्धे प्रत्यभिज्ञाबलाच्च स्थायित्वे तत्रैव व्यभिचारात् । न च—शुक्तिरूप्यादिप्रत्यभिज्ञासाम्यं प्रकृतप्रत्यभिज्ञाया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होता है । [अर्थात् दृष्टि-सृष्टि-वाद में प्रतीति के पूर्व वस्तु की सत्ता नहीं मानी जाती, अतः इन्द्रिय-सन्निकर्षादि ज्ञान के पूर्व सम्भावित नहीं । काल्पनिकत्व चाहे व्यावहारिक प्रपञ्चगत हो, चाहे प्रातिभासिक पदार्थों में, वह प्रातीतिकत्व से व्याप्त होता है—'यत्र-यत्र काल्पनिकत्वम्, तत्र-तत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्वम्'—इस व्याप्ति के आधार पर यह अनुमान-प्रयोग निष्पन्न होता है—'घटादिव्यावहारिकः प्रपञ्चः प्रतीतिमात्रशरीरः, काल्पनिकत्वात्, शुक्ति-रजतादिवत् ।' अतः व्यावहारिक जगत् की अज्ञात सत्ता मानी ही नहीं जा सकती] । यत्र-यत्र प्रातिभासिकत्वम्, तत्र-तत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्वम्'—ऐसी व्याप्ति मानने में गौरव है, क्योंकि प्रातिभासिकत्व तो काल्पनिकत्व का एक भेद है, अतः धूम को छोड़ कर नील धूम में जैसे वह्नि की व्याप्ति गौरव के कारण सम्भव नहीं, वैसे ही काल्पनिकत्व को छोड़ कर काल्पनिकत्व-विशेष प्रातिभासिकत्व में प्रतीतिमात्रशरीरत्व की व्याप्ति सम्भव नहीं । यदि कहा जाय कि उक्त अनुमान में 'यद्यत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्वं न स्यात्, तर्हि काल्पनिकत्वं न स्यात्'—इस प्रकार का अनुकूल तर्क सम्भव नहीं, क्योंकि प्रतीतिमात्रशरीरत्व का अभाव होने पर भी ज्ञान-निवर्त्यत्व के द्वारा काल्पनिकत्व सम्पन्न हो जाता है । तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि 'यद्यत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्वं न स्यात्, तर्हि ज्ञाननिवर्त्यत्वमपि न स्यात्'—इस प्रकार प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभाव के द्वारा ज्ञान-निवर्त्यत्वाभाव का भी आपादन किया जा सकता है । घटादि की प्रतीतिमात्र को देख कर भी घटादि के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष की कलपना नहीं कर सकते, क्योंकि उस प्रतीति को सत्य मानने पर विश्व-सत्यता भी माननी पड़ेगी, अतः उसे मिथ्या ही मानना होगा, मिथ्या प्रतीति तो स्वप्नादि में इन्द्रिय-सन्निकर्ष के विना ही हो जाती है, अतः उसके आधार पर इन्द्रिय-सन्निकर्ष की कलपना नहीं कर सकते । घटादि में प्रतीयमान व्यावहारिकत्व की उपपत्ति के लिए भी घटादि के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि शरीर में आत्मत्वादि के समान दीर्घ भ्रान्ति के कारण व्यावहारिकत्व का निर्वाह हो जाता है, उसके लिए विषय-सत्ता या विषयेन्द्रिय-सन्निकर्ष मानने की क्या आवश्यकता ?

अद्वैतवादी—'यत्र-यत्र कल्पितत्वम्, तत्र-तत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्वम्'—इस प्रकार की व्याप्ति सम्भव नहीं, क्योंकि दृग्दृश्य-सम्बन्धानुपपत्ति-सहकृत उक्त मिथ्यात्वानुमान के आधार पर प्रपञ्च में काल्पनिकत्व सिद्ध है, किन्तु 'सोऽयं घटः'—इत्यादि प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के द्वारा घटादि में स्थायित्व सिद्ध होता हैं, क्षणिक प्रतीतिमात्र

न्यायामृतम्

रिवापरोक्षवृत्तेरेव तत्तत्प्रकाशकत्वोपपत्तावपरोक्षवृत्त्युपरागादिमतश्चैतन्यस्य तत्तत्प्रकाशत्वकल्पनायोगाच्च। विषयापरोक्ष्यं त्वावश्यकेन वृत्तिगतविशेषेणैवेत्युक्तम्। न च परोक्षवृत्तिविषयस्यापि चैतन्योपरागाद्यस्ति, अभिव्यक्तापरोक्षैकरसचिदुपरागेण विषयस्याप्यापरोक्ष्यापातात्। वृत्तेरेवापरोक्षानुभवत्वे तत्प्रयुक्तं स्वप्रकाशत्वमपीच्छात्वज्ञानत्वादिकमिवांतःकरणानिष्ठमपि तदुपादेयवृत्तिनिष्ठमस्तु, अन्यथा अप-

अद्वैतसिद्धिः

इति—वाच्यम्, प्रतीत्यविशेषेऽपि वणिग्वीथीस्थशुक्तिरूप्ययोः परीक्षितत्वापरीक्षितत्वाभ्यां स्थायित्वास्थायित्वरूपविशेषसंभवात्। तथापि परोक्षवृत्तेरिवापरोक्षवृत्तेरपि प्रकाशकत्वमस्तु, किं तदुपरक्तचैतन्येनेति चेन्न, परोक्षस्थलेऽपि परोक्षवृत्त्युपरक्तचैतन्यस्यैव प्रकाशकत्वात्। अथ तत्राप्यपरोक्षैकरसचैतन्योपरागे विषयापरोक्ष्यप्रसङ्गः, न, विषयचैतन्याभिव्यक्तावेव विषयस्यापरोक्ष्यम्। न च परोक्षस्थले तदस्ति, विषयेन्द्रियसन्निकर्षाभावेन विषयपर्यन्तं वृत्तेरगमनाद्, अन्तरेव तत्र

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शरीरत्व सम्भव नहीं, अतः घटादि में व्यभिचार स्पष्ट है।

यद्यपि शुक्ति-रजतादि में भी सादृश्य-निबन्धन प्रत्यभिज्ञा हो जाती है, केवल प्रत्यभिज्ञा के आधार पर स्थिरत्व या स्थायित्व की कल्पना नहीं कर सकते, तथापि आपणस्थ व्यावहारिक रजत तथा शुक्ति में कल्पित रजत को संवाद-विसंवादादि-परीक्षा की कसौटी पर परखने से स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ति-रजत में सादृश्य-प्रयुक्त प्रत्यभिज्ञा और आपणस्थ रजत में स्थायित्वमूलक प्रत्यभिज्ञा है, अतः दोनों प्रत्यभिज्ञाओं में महान् अन्तर है।

शङ्का—परोक्ष-स्थल पर यह देखा गया है कि केवल परोक्ष वृत्ति से ही विषय का प्रकाश होता है, वृत्ति में अभिव्यक्त अधिष्ठान चैतन्य के द्वारा नहीं, अतः केवल अपरोक्ष वृत्ति में ही विषय-प्रकाशकत्व मानना उचित है, वृत्ति-प्रतिफलित चैतन्य में नहीं, अतः केवल अबाधित वृत्ति से प्रकाशित होने के कारण ब्रह्म के ही समान प्रपञ्च को भी सत्य ही मानना होगा।

समाधान—['प्रकाश' शब्द से यहाँ ज्ञान, परिस्फुरण या उन्मेष विवक्षित है, प्रदीप-जैसे जड़ तेजोद्रव्य का प्रकाश ज्ञान नहीं कहलाता अन्तःकरण भी एक तैजस वस्तु है, उसकी वृत्ति भी एक दीप-शिखा के समान जन्म-जात जड़िमा से समन्वित होती है, अतः उसमें विषयोन्मेष की क्षमता तब तक नहीं आ सकती, जब तक उसमें महाचैतन्य अपनी आभा न प्रकट करे]। परोक्ष-स्थल पर भी परोक्ष वृत्ति में उपरक्त चैतन्य ही विषय का प्रकाशक माना जाता है, केवल वृत्ति नहीं, अतः उसे दृष्टान्त बना कर केवल अपरोक्ष वृत्ति में प्रकाशकत्व की सिद्धि नहीं कर सकते। यदि परोक्ष वृत्ति में भी अपरोक्षैकरसात्मक चैतन्य का उपराग होता है, तब अपरोक्ष-स्थल के समान ही विषय की अपरोक्षता क्यों नहीं होती? इस शङ्का का समाधान यह है कि केवल वृत्ति में चैतन्योपराग से विषयगत अपरोक्षता नहीं आती, अपितु विषयाधिष्ठान चैतन्य की अभिव्यक्ति से ही विषय में अपरोक्षता आती है। परोक्ष-स्थल पर विषयचैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती, क्योंकि विषय के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष न हो सकने के कारण विषय-पर्यन्त वृत्ति की पहुँच ही नहीं होती, शरीर के अन्दर-ही-अन्दर समुल्लसित

न्यायामृतम्

रोक्षानुभवस्यापि तत्र स्यात्। न च घटं जानामीति सकर्मज्ञानरूपवृत्त्यन्या घटः प्रकाशत इत्यकर्मकप्रकाशरूपा चिदनुभवसिद्धेति वाच्यम्, क्रियैक्येऽपि करोति प्रयतते गच्छति चलतीत्यादाविव धात्वोः कर्मोपरागवाचित्वतदभावस्वभावत्वोपपत्तेः।

अद्वैतसिद्धिः

धीसमुल्लासात्। अपरोक्षस्थले तु प्रमातृचैतन्याभेदाभिव्यक्ताधिष्ठानचैतन्योपरागो विषयेऽस्ति, तत्र विषयस्य कर्मकारकत्वात्। न च वृत्तिगतविशेषादापरोक्ष्यम्, तत्र हि विशेषो विषयकृतश्चेदोमिति ब्रूमः। जातिकृतस्तु विशेषो न संभवति, सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञायां परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः संकरप्रसंगाद्, अव्याप्यवृतित्वात्, प्रमात्वादिना संकरप्रसङ्गाच्च। किं च वृत्तेर्जडत्वादेव न प्रकाशकत्वम्। न च—वृत्तावन्तःकरणावृत्त्यपि स्वप्रकाशकत्वं ज्ञानत्ववदिति—वाच्यम्, स्वप्रकाशात्मसंबन्धेनैव तस्याः प्रकाशत्वोपपत्तौ तत्स्वप्रकाशत्वे मानाभावात्। किं च घटं जानामीत्यनुभूयमानसकर्मक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होती है, किन्तु अपरोक्ष-स्थल पर विषयेन्द्रिय-सन्निकर्ष के कारण प्रमातृचैतन्य से अभिन्न होकर अभिव्यक्त जो विषयाधिष्ठान चैतन्य है, उसका तादात्म्याध्यासरूप उपराग विषय के साथ होता है, अतः उस अपरोक्ष बोध का विषय कर्म कारक बन कर अपरोक्ष कहलाता है।

'अपरोक्ष विषय का ग्रहण करने के कारण वृत्ति को अपरोक्ष नहीं माना जाता, अपितु वह वृत्ति स्वगत विशेषता के कारण ही अपरोक्ष कहलाती है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वृत्तिगत वह विशेषता यदि विषय-प्रयुक्त है, तब तो हमें इष्टापत्ति है। स्वगत (अपरोक्षत्व) जाति-प्रयुक्त वृत्ति में विशेषता मानने पर 'सोऽयं देवः'—इत्यादि प्रत्यभिज्ञा में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व का साङ्कर्य हो जाता है [केवल अपरोक्ष ज्ञान में अपरोक्षत्व है, परोक्षत्व नहीं, केवल परोक्ष वृत्ति में परोक्षत्व है, अपरोक्षत्व नहीं—इस प्रकार परस्पर व्यभिचरित परोक्षत्व और अपरोक्षत्व का एकत्र प्रत्यभिज्ञा में समावेश हो जाता है। अर्थात् तत्तांश में परोक्षत्व और इदन्ता अंश में अपरोक्षत्व है। जाति का नियम है कि वह अपने आश्रय में व्याप्यवृत्ति होती है, एकदेश में नहीं रहती, किन्तु परोक्षत्व और अपरोक्षत्व—दोनों प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के एक-एक अंश में रहते हैं, अव्याप्यवृत्ति हैं, अतः इन दोनों को जाति नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार प्रमात्वादि जातियों से भी इन का साङ्कर्य होता है, क्योंकि प्रमात्व को छोड़ कर भ्रम में अपरोक्षत्व और अपरोक्षत्व को छोड़ कर प्रमात्व परोक्ष प्रमा में रहता है, किन्तु अपरोक्ष प्रमा में प्रमात्व और अपरोक्षत्व—दोनों का समावेश है। दूसरी बात यह भी है कि जब अन्तःकरण में जड़ता है, तब उसकी परिणतिरूप वृत्ति में भी जड़ता होने के कारण प्रकाशकत्व नहीं बनता—यह कहा जा चुका है। यदि कहा जाय कि जैसे अन्तःकरण में न रहने पर भी ज्ञानत्व धर्म उसकी वृत्ति में माना जाता है, उसी प्रकार अन्तःकरण में अवर्तमान स्वप्रकाशत्व भी वृत्ति में माना जा सकता है, अतः केवल वृत्ति में प्रकाशकता बन जाती है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वप्रकाशभूत आत्मचैतन्य के सम्पर्क से ही जब वृत्ति में प्रकाशत्व उपपन्न हो जाता है, तब उसमें स्वतन्त्र स्वप्रकाशत्व के होने में कोई प्रमाण नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि वृत्ति को स्वप्रकाश वैसे ही नहीं माना जा सकता,

न्यायामृतम्

अन्यथा त्वत्पक्षेऽपि परिणतेरकर्मकत्वात्, परिणतिविशेषस्य वृत्तेस्सकर्मकज्ञानत्वं न स्यात्। अतीतं प्रकाशत इति धीश्च न स्यात्। एवं वक्ष्यमाणे इच्छादेरिवानुभाव्ये

अद्वैतसिद्धिः

वृत्त्यन्या संविद् घटप्रकाशरूपा घटः प्रकाशत इत्याकारकानुभवसिद्धैव। न च करोति यतते चलति गच्छतीत्यादावेकार्थत्वेऽपि सकर्मकाकर्मकत्वस्वभावत्वदर्शनाद् अत्राप्येकार्थत्वेऽपि तथा स्यादिति वाच्यम्, तत्राप्येकार्थत्वाभावात्। अनुकूलयत्नो हि कृञ्धात्वर्थः, यत्यर्थस्तु यत्नमात्रम्। एवं गम्यर्थ उत्तरसंयोगफलकः स्पन्दः, चलत्यर्थस्तु स्पन्दमात्रम्, तथा चैकार्थकत्वे कुत्रापि न सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवस्था। न च – त्वन्मते परिणतेरकर्मकत्वात् परिणतिविशेषभूताया वृत्तेः कथं सकर्मकत्वमिति—वाच्यम्, एकस्य हि सकर्मकत्वाकर्मत्वे एकरूपेण विरुद्धे न तु रूपान्तरेणापि, मानाभावात्, यथा स्थितेरकर्मिकाया अपि अगमनत्वेन रूपेण सकर्मकत्वम्, तथा परिणतित्वेन रूपेणाकर्मिकाया अपि वृत्तेः ज्ञानत्वेन सकर्मकत्वं भविष्यतीत्यदोषः। ननु तर्ह्यतीतः प्रकाशते इति धीर्न स्यात्, न, इष्टापत्तेः, तत्रापि वृत्तिप्रतिबिम्बित-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जैसे कि सकर्मक क्रिया को अकर्मक क्रिया। 'घटं जानामि'—इस अनुभव से प्रकाशित सकर्मक वृत्तिरूप गौण ज्ञान की अपेक्षा भिन्न जो अकर्मक 'घटः प्रकाशते'—इत्याकारक अनुभव के द्वारा प्रकाशित होता है, वह वस्तुतः स्वयंप्रकाश मुख्य ज्ञान है।

यद्यपि आपाततः यह प्रतीत होता है कि एक ही अर्थ के वाचक शब्दों का स्वभाव भिन्न-भिन्न होता है, एक शब्द उसी अर्थ को किसी रूप में प्रस्तुत करता है, तो दूसरा शब्द उसी अर्थ को किसी रूप में, जैसे एक ही कृति क्रिया का वाचक 'करोति' शब्द उसे सकर्मक क्रिया के रूप में प्रस्तुत करता है—'घटं करोति' और 'यतते' शब्द उसी अर्थ को अकर्मक रूप देता है—'घटाय यतते'। इसी प्रकार एक ही परिस्पन्दनरूप अर्थ का वाचक 'चलति' शब्द उस अर्थ को अकर्मक के रूप में और 'गच्छति' शब्द सकर्मक के रूप में उपस्थित करता है। 'जानाति' और 'प्रकाशते' की भी वही दशा है, पहला शब्द उसी अर्थ को सकर्मक के रूप में प्रतिपादित करता है—'घटं जानाति' तथा दूसरा शब्द उसी अर्थ को अकर्मकता का रंग देता है—'घटः प्रकाशते', अतः वृत्ति को सकर्म ज्ञान और प्रकाश को अकर्मक ज्ञान कह कर भेद नहीं डाला जा सकता।

तथापि थोड़ा-सा ही ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो दृष्टान्त-स्थल पर ही अर्थैकता है और न दार्ष्टान्त-स्थल पर, क्योंकि करोत्यर्थक 'कृञ्' धातु का अर्थ होता है—अनुकूल प्रयत्न और 'यति' धातु का अर्थ होता है—'अनुकूल-प्रतिकूल-साधारण प्रयत्न मात्र। इसी प्रकार 'गम्' धातु का अर्थ उत्तरोत्तर संयोग-जनक परिस्पन्दन अर्थात् आगे चलने पर ही गच्छति कहा जाता है और 'चल' धातु का स्पन्दन मात्र अर्थ होता है—आगे चला तो चला और पीछे चला तो चला। अतः एक ही अर्थ में सकर्मकत्व और अकर्मकत्व की व्यवस्था नहीं हो सकती सकर्मक ज्ञानरूप वृत्ति से भिन्न अकर्मक प्रकाश मानना ही पड़ेगा।

शङ्का—आप (अद्वैतवादी) के मत में 'परिणति' क्रिया को जब अकर्मक माना जाता है, तब वृत्तिरूप जानाति क्रिया को सकर्मक क्योंकर मान सकते हैं, क्योंकि वृत्ति भी तो एक अन्तःकरण की परिणति ही है।

न्यायामृतम्

स्वतःप्रवणस्यानुभवस्यान्यद्वारा तदुपरक्तत्वं घटाज्ञानविरोधिन्या वृत्तेर्न घटानुभवत्वं तद्विरोधिचैतन्यस्य तु तदित्यादिकं दृष्टविरुद्धं न कल्प्यम्। अन्यथा द्वेषविरोधिन्या वृत्तेर्नेच्छात्वम्, किं त्वन्यस्यैवेत्यादि स्यात्। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"—इति श्रुतिस्तु सूर्यादिप्रकाशस्येशाधीनत्वमेवाह, न त्वस्मदादिगतघटादिज्ञानस्य ब्रह्मत्वम्। सर्वशब्दस्य "सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ"—इत्यादाविव "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्"—इति प्रकृतसूर्यादिपरत्वात्। त्वन्मतेऽपि नित्यातीन्द्रियस्य चित्प्रकाश्यत्वाभावेन सर्वशब्दसंकोचाच्च। प्रकृतपरेदंशब्दसमभिव्याहाराच्च। एतद्वाक्यनिर्णायके "अपि स्मर्यते" इति सूत्रे त्वद्भाष्येऽपि "यदादित्यगतं तेज" इत्यादिस्मृतेरेवोदाहृतत्वाच्च। त्वन्मते ब्रह्मणो भानमात्रत्वेन भान्तमिति शतृप्रत्ययस्य तस्य भासेति षष्ठ्याः प्रपञ्चे ब्रह्मभानान्यभानाभावेनानुशब्दस्य चायोगाच्च। गच्छन्तमनुगच्छतीत्यादौ गमनादिभेदे सत्येवानुशब्दो दृष्टः।

अद्वैतसिद्धिः

चैतन्यसत्त्वेन प्रकाशत इत्यादि प्रयोगसंभवाच्च। ननु यथा अज्ञानविरोधिवृत्तावनुभवत्वं नास्ति, किंतु अन्यत्र, तथा द्वेषविरोधिवृत्तेरन्यत्रेच्छात्वमित्यपि स्यादिति—चेन्न, बाधकसत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषात्, अत्रेव तत्र सकर्मकाकर्मकविलक्षणक्रिया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—जो क्रिया जिस रूप में सकर्मक है, उसी रूप में अकर्मक नहीं हो सकती, किन्तु रूपान्तर से उसके अकर्मक होने में कोई विरोध नहीं होता। जैसे कि स्वरूपत अकर्मक 'स्थिति' क्रिया अगमन के रूप में सकर्मक मानी जाती है, वैसे ही परिणामरूपता से अकर्मक वृत्ति भी ज्ञान के रूप में सकर्मक हो जायगी।

शङ्का—'प्रकाशते' पद से यदि चैतन्यरूप प्रकाश अभिहित होता है, तब वर्तमान घट के लिए ही 'घटः प्रकाशते' कह सकेंगे, क्योंकि विद्यमान घट के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने पर जो वृत्ति उत्पन्न होती है, उसमें चैतन्य प्रतिफलित होता है, किन्तु अतीत वस्तु के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष न हो सकने के कारण चैतन्य तत्त्व उस में प्रतिफलित नहीं हो सकता, अतः 'अतीतः प्रकाशते' यह प्रयोग और प्रयोग-जन्य ज्ञान कैसे होगा ?

समाधान—पहली बात तो यह है कि 'अतीतः प्रकाशते'—ऐसा ज्ञान होता ही नहीं। यदि मान भी लिया जाय, तब अतीतविषयक परोक्ष वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को लेकर 'अतीतः प्रकाशते'—ऐसा प्रयोग हो सकता है।

शङ्का—जैसे आवरण-विरोधी वृत्तिरूप ज्ञान में अद्वैतमतानुसार अनुभवत्व न रह कर उससे भिन्न प्रकाशरूप ज्ञान में अनुभवत्व माना जाता है, वैसे ही द्वेष-विरोधी वृत्ति में इच्छात्व न रहकर कहीं अन्यत्र ही रहना चाहिए, यदि नहीं, तब अज्ञान-विरोधी वृत्ति में ही प्रकाशत्व और अनुभवत्वादि मानना चाहिए, अन्यत्र नहीं।

समाधान—द्वेष-विरोधी वृत्ति में इच्छात्व मानने पर किसी प्रकार का बाध उपस्थित नहीं होता, किन्तु आवरण-विरोधी वृत्ति में अनुभवत्व मानना प्रमाण-विरुद्ध है, क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि वृत्ति जड़ है, उसमें अनुभवरूपता बाधित है। दूसरी बात यह भी है कि अज्ञान-विरोधी वृत्ति में सकर्मकत्व तथा प्रकाश में अकर्मकत्व की अनुभूति के समान द्वेष-विरोधी वृत्ति और इच्छा में किसी प्रकार का सकर्मकत्व और अकर्मकत्व का विरोध नहीं प्रतीत होता, अपि तु 'घटं न द्वेष्टि' के

न्यायामृतम्

अस्तु वा चैतन्यस्य विषयप्रकाशत्वम्, तथापि अन्तःकरणस्य न देहान्निर्गतिः कल्प्या परो(क्षधी)क्षाद्वि वैलक्षण्याय विषयस्याभिव्यक्तापरोक्षचिदुपराग एव वक्तव्यः। चिदुपरागादौ चापरोक्षवृत्तस्तदाकारत्वमेव तंत्रम्, न तु प्रभाया इव वृत्तेस्तदावरणनिवर्तकत्वादौ तत्संश्लेषस्तंत्रम्। नेत्रान्निर्गच्छद्ध्रुवाद्याकारवृत्त्यैव स्वसंश्लिष्टनेत्रस्थकज्जलादेर्देहध्रुवमध्यवर्तिनः परमाण्वाकाशादेर्ब्रह्मणश्चापरोक्ष्या-

अद्वैतसिद्धिः

नुभवाच्च। यथा च वृत्त्यतिरिक्तभानसिद्धिस्तथा स्वयंज्योतिष्ट्वप्रस्तावे विस्तरेण वक्ष्यामः।

ननु—अस्तु चैतन्यस्य विषयप्रकाशकत्वम्, तथाप्यन्तःकरणस्य देहान्निर्गतिः न कल्प्या, परोक्षवैलक्षण्याय विषयस्याभिव्यक्तापरोक्षचिदुपराग एव वक्तव्यः, चिदुपरागादौ चापरोक्षवृत्तेस्तदाकारत्वमेव तन्त्रम्, तस्य च तत्संश्लेषं विनापि परोक्षवृत्तेरिव तत्सन्निकृष्टकरणजन्यत्वेनैवोपपत्तिः, न तु प्रभाया इव वृत्तेस्तदावरणनिवर्तकत्वादौ तत्संश्लेषस्तन्त्रम्, नेत्रान्निर्गच्छद्ध्रुवाद्याकारवृत्त्यैव स्वसंश्लिष्टनेत्रस्थकज्जलादेर्ध्रुवनेत्रमध्यवर्तिनः परमाण्वादेश्चापरोक्षत्वापातादिति—चेत्, न, विषयेष्वभिव्यक्त-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समान ही 'घटमिच्छति' में भी समान रूपता ही प्रतीत होती है। वृत्ति से भिन्न प्रकाश तत्त्व की सिद्धि पर विस्तारपूर्वक विचार स्वयंप्रकाशत्वोपपत्ति के प्रकरण में किया जायगा।

द्वैतवादी—मान लेते हैं चैतन्य में विषय-प्रकाशकता, तथापि अन्तःकरण के देह से बाहर निर्गमन की कल्पना सम्भव नहीं, क्योंकि परोक्ष विषय से अपरोक्ष का अन्तर डालने के लिए अपरोक्ष विषय में अभिव्यक्त अपरोक्ष चैतन्य का उपराग माना जाता है, चैतन्य के उपराग में अपरोक्ष वृत्ति की विषयाकारता ही नियामक होती है, विषयाकारता के लिए वृत्ति का विषय से सन्निकर्ष आवश्यक नहीं, क्योंकि सन्निकर्ष के विना ही परोक्ष वृत्ति विषयाकार हो जाया करती है। वहाँ केवल परोक्ष विषय से सन्निकृष्ट लिङ्गादि के ज्ञान से जनित होने के कारण वृत्ति विषयाकार हो जाती है, वृत्ति का विषय के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। जैसे दीपादि-प्रभा विषय से सन्निहित होकर विषय के अन्धकार को दूर करती है, वैसे ही नेत्र से निकल कर ध्रुव तारा आदि तक पहुँची वृत्ति भी यदि स्व-सन्निकृष्ट विषयों की प्रकाशिका मानी जाय, तब नेत्रस्थ कज्जल एवं नेत्र और ध्रुव तारा के मध्यवर्ती विशाल परमाणु-पुञ्जादि का अपरोक्ष होना चाहिए, अतः वृत्ति में सन्निकृष्टार्थ-भासकता अनुभव-विरुद्ध होने के कारण वृत्ति का शरीर से बाहर निःसरण नहीं माना जा सकता।

अद्वैतवादी—विषय में अभिव्यक्त चैतन्य के उपराग के लिए वृत्ति का केवल विषयाकार होना पर्याप्त नहीं होता, नहीं तो परोक्ष-स्थल पर भी चिदुपराग हो जाने के कारण विषय का अपरोक्ष भान होना चाहिए। अतः जैसे विषयावरण-निवर्तकता के लिए प्रभा के साथ विषय का संयोग आवश्यक होता है, उसी प्रकार तैजस अन्तःकरण की वृत्ति का विषय के साथ संश्लेष आवश्यक है, ध्रुवादि के साथ संयोग तब तक नहीं हो सकता, जब तक वृत्ति का बहिर्निर्गमन न माना जाय। [यह जो कहा गया कि वृत्ति में यदि स्वसंयुक्त-भासकता मानी जाती है, तब नेत्रस्थ कज्जल तथा ध्रुव-पर्यन्त अवस्थित

न्यायामृतम्

पातात्। द्वयोस्तंत्रत्वे च गौरवात्, तदाकारत्वस्य च तत्संश्लेषं विनापि परोक्षवृत्ताविव तत्सन्निकृष्टकरणजन्यत्वेनैवोपपत्तेः। न च स्वेतरहेतुसाकल्ये सत्यपि घटचक्षुस्सन्निकर्षाभावेनेव घटमनस्सन्निकर्षाभावेन घटानुभवाभावो दृष्टः। एवं च स्पार्शनज्ञानमप्यनुकूलितं स्यात्। चक्षुरादेरिव स्पर्शनस्य नियतगोलकद्वाराभावेनांतःकरणनिर्गत्ययोगात्। अन्यथेच्छाद्वेषादिरूपवृत्तयोऽपि देहान्निर्गत्य विषयान् गच्छेयुः।

अद्वैतसिद्धिः

चिदुपरागे न तदाकारत्वमात्रं तन्त्रम्, परोक्षस्थलेऽपि प्रसङ्गात्, किंतु तत्संश्लेषः, प्रभाया विषयसन्निकृष्टतेजस्त्वेनावरणाभिभावकत्वदर्शनात्, तैजसस्य मनसोऽप्यज्ञानरूपावरणाभिभवाय तत्संश्लेष आवश्यकः, भुवादिदेहमध्यवर्तिपरमाण्वादावतिप्रसङ्गस्तु तदाकारत्वप्रयोजकसामग्रीविरहादेव परिहरणीयः, अन्यथेन्द्रियसन्निकर्षादेर्विद्यमानत्वात् परमाण्वाद्याकारताया दुर्निवारत्वापत्तेः। तस्मात् प्रभावदविशेषान्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् क्लृप्तं सन्निकृष्टतेजस्त्वेनावरणाभिभावकत्वम्, तस्य तदाकारत्वरूपविशेषापेक्षायामपि न त्यागः। न हि पृथिवीत्वगन्धत्वादिना कार्यकारणभावे आवश्यके अनित्यगुणत्वद्रव्यत्वादिना तत्त्यागः। अत एव—तदितरहेतुसाकल्ये सति घटचक्षुःसन्निकर्षस्यैव घटानुभवजनकत्वम्, न तु घटमनःसन्निकर्षस्य, तद्विलम्बेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विपुल पीलु-कलापादि का प्रत्यक्ष होना चाहिए, वह कहना संगत नहीं, क्योंकि वृत्ति में स्व-संयुक्त योग्य विषय की भासकता मानी जाती है, योग्यायोग्य समस्त विषय की भासकता नहीं। तार्किकादि-मतों में भी चक्षु का परमाणु आदि से संयोग मात्र हो जाने के कारण चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु महत्त्व उद्भूतरूपादि-घटित जिस सामग्री से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, उसी सामग्री विशेष को हम वृत्ति की तदाकारता में प्रयोजक मानते हैं, इसी प्रकार सांख्योक्त अतिसमीपता को उसका प्रतिबन्धक माना जाता है, अतः नेत्रस्थ कज्जलादि की प्रत्यक्षतापत्ति नहीं होती]। फलतः प्रभा के साथ अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा जो विषय-सन्निकृष्ट तेजोधातु में आवरण-निवर्तकता निश्चित होती है, उसका वृत्ति की तदाकारत्वापेक्षा में भी त्याग नहीं किया जा सकता, क्योंकि विशेष सामग्री से कार्योत्पत्ति के अवसर पर भी सामान्य सामग्री का त्याग नहीं होता। जैसे 'अनित्यं गुणं प्रति द्रव्यं कारणम्'—इस सामान्य कार्य-कारणभाव का 'गन्धं प्रति पृथिवी कारणम्'—इस प्रकार के विशेष कार्य-कारणभाव में त्याग नहीं होता, अर्थात् पृथिवी स्वयं द्रव्य होने के नाते ही गन्धरूप अनित्य गुण का कारण है। उसी प्रकार तैजस द्रव्य ही घटादि का प्रकाशक होता है—इस सामान्य नियम का उल्लङ्घन वृत्ति की प्रकाशकता में भी नहीं हो सकता, वृत्ति एक तैजस द्रव्य होने के कारण ही घटादि का प्रकाशक है और तैजस द्रव्य स्व-सन्निकृष्ट मात्र का भासक होता है, अतः वृत्ति तदाकार होकर भी सन्निकृष्ट वस्तु के ही अपरोक्ष को जन्म देगी।

पूर्व पक्षी का जो यह कहना था कि घट और चक्षु का सन्निकर्ष ही अपनी इतर सहायक सामग्री से संवलित होकर घटानुभव का जनक होता है, घट और मन का सन्निकर्ष नहीं, क्योंकि प्रदीप और घट के रहने पर केवल चक्षु और घट के सन्निकर्ष से घट का प्रत्यक्ष हो जाता है, घट और मन के सन्निकर्ष की प्रतीक्षा नहीं होती। यदि वह भी कारण होता, तब उसके न होने से घटानुभव नहीं होता और उसके बिलम्ब

न्यायामृतम्

अस्तु वा देहान्निर्गतिस्तथापि विषयप्रकाशकं चैतन्यं किं—

घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवावभासयेत् । घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते ॥

इत्युपदेशसहस्र्यनुसारिभारतीतीर्थादिरीत्या वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यम्? किं वा

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता । संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥

इति सुरेश्वररीत्या वृत्तिप्रतिबिंबितचैतन्याभिव्यक्तं विषयविवर्ताधिष्ठानं चैतन्यम् ?

अद्वैतसिद्धिः

तद्विलम्बाभावादिति निरस्तम्, आवरणभङ्गे सन्निकृष्टतेजःकारणत्वावधारणेन तस्याप्यावश्यकत्वात् । न च—स्पार्शनप्रत्यक्षे चक्षुरादिवन्नियतगोलकद्वाराभावेनान्तःकरणनिर्गत्ययोगादावरणाभिभवानुपपत्तिरिति—वाच्यम्, सर्वत्र तत्तदिन्द्रियाधिष्ठानस्यैव द्वारत्वसंभवात् । न च—अन्तःकरणवृत्तित्वाविशेषादिच्छाद्वेषादिरूपवृत्तयोऽपि देहान्निर्गत्य विषयसंसृष्टा भवन्तीति कथं न स्वीक्रियत इति—वाच्यम्, आवरणाभिभावकतेजस्त्वस्य तत्प्रमापकस्य ज्ञानवत् तत्राभावात् ।

ननु घटप्रकाशकं चैतन्यमुपदेशसाहस्र्यनुसारेण घटाकारधीस्था चिद्वा? परागर्थप्रमेयेष्वित्यादिवार्त्तिकोक्तरीत्या धीप्रतिबिम्बितचैतन्याभेदाभिव्यक्तविषयाधि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

से घटानुभव में अवश्य विलम्ब होता । वह भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि जैसे तमोरूप आवरण की निवृत्ति में विषय-सन्निकृष्ट तेज की कारणता निश्चित है, वैसे ही अज्ञानरूप आवरण की निवृत्ति में विषय-सन्निकृष्ट मन की कारणता स्थिर है, अतः घटादि के अनुभव में मनःसन्निकर्ष भी आवश्यक है ।

शङ्का—चाक्षुष प्रत्यक्ष में तो चक्षु-गोलक के द्वारा अन्तःकरण का निर्गमन संभव है, किन्तु त्वाच प्रत्यक्ष में त्वगिन्द्रिय का कोई केन्द्र निश्चित नहीं, अतः मन कहाँ से निकलेगा ? विना मन के बाहर निकले विषयावरण की निवृत्ति कैसे उपपन्न होगी ?

समाधान—अन्य इन्द्रियों के समान त्वगिन्द्रय का भी अपना अधिष्ठान (केन्द्र) निश्चित है—त्वचा, उसी से मन का निर्गमन होता है । 'अन्तःकरण की इच्छा, द्वेषादि वृत्तियों का वहिर्निर्गमन नहीं माना जाता, अतः ज्ञानाख्य वृत्ति के भी बाहर निकलने की क्या आवश्यकता ? यदि इसका वहिर्गमन आवश्यक है, तब इच्छादि के लिए भी यह मानना होगा कि वे भी अपने विषय से संसृष्ट होती हैं'—ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ज्ञानाख्य वृत्ति जैसे विषय का आवरण भङ्ग करती है, वैसे इच्छादि वृत्तियाँ नहीं [इसीलिए 'जानाति इच्छति, यतते, करोति'—यह प्रवृत्ति का क्रम माना गया है । ज्ञनाख्य वृत्ति आवरण निवृत्त कर विषय को प्रशस्त करती है, पश्चात इच्छादि का उदय होता है, उनके समय विषयावरण होता ही नहीं, कि उन्हें बाहर निकलने की आवश्यकता हो । पूर्वपक्षी इस प्रकार का अनुमान करना चाहता था—'ज्ञानाख्या वृत्तिः बहिर्न गच्छति, अन्तःकरणवृत्तित्वाद्, इच्छादिवृत्तिवत् ।' सिद्धान्ती की ओर से उस अनुमान में आवरणानभिभावकत्व को उपाधि के रूप में प्रदर्शित किया गया, इच्छादि में आवरणानभिभावकत्व रहने के कारण साध्य-व्यापक और ज्ञानात्मक वृत्तिरूप पक्ष में न रहने के कारण साधन का अव्यापक है, सोपाधिक अनुमान से अभीष्ट-सिद्धि नहीं होती] ।

न्यायामृतम्

नाद्यः, आध्यासिकसंबंधस्यातंत्रत्वापातात् । नान्त्यः, आवश्यकेन विषयसंश्लिष्टवृत्तिप्रतिबिंबितचैतन्येनैव तदज्ञाननिवृत्तिवत्तत्प्रकाशस्याप्युपपत्तौ तदधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्त्याविकल्पनायोगादित्युक्तत्वात् ।

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञानचैतन्यं वा ? नाद्यः, आध्यासिकसंबन्धस्यातन्त्रतापातात् । न द्वितीयः, आवश्यकेन विषयसंश्लिष्टवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्येनैव तदज्ञाननिवृत्तिवत् तत्प्रकाशस्याप्युपपत्तौ किं विषयाधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तिकल्पनेनेति--चेन्न, प्रकाशकं तावद् अधिष्ठानचैतन्यम् । तच्चाध्यासेन विषयैः सह साक्षात्संबद्धम् , प्रकाशस्य च स्वयं भासमानस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—घट-प्रकाशक चैतन्य कौन है ? क्या घटाकार बुद्धि में स्थित चैतन्य है ? जैसा कि उपदेशसाहस्री में कहा गया है—

"व्यञ्जकस्तु यथालोको व्यङ्ग्यस्याकारतां गतः ।
व्यतिकीर्णोऽप्यसंकीर्णस्तद्वज्ज्ञः प्रत्ययैः सदा ।।
स्थितो दीपो यथायत्नः प्राप्तं सर्वं प्रकाशयेत् ।
शब्दाद्याकारबुद्धीर्ज्ञः प्राप्तास्तद्वत् प्रकाशयेत् ।।" (१६।५,६)

इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए श्रीविद्यारण्य स्वामी ने कहा है—

"घटैकाकारधीस्था चित् घटमेवावभासयेत्" (पं० कूट० ४) ।

अथवा बुद्धि-प्रतिबिम्बित चैतन्य ही विषयाधिष्ठान चैतन्य से वृत्ति के द्वारा अभिन्न होकर घटादि का प्रकाशक होता है, जैसा कि वार्तिककार और भाष्यकार का अनन्तर स्पष्ट करते हुए श्री विद्यारण्य स्वामी ने कहा है—

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता ।
संवित् सैव मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ।।
इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम् ।
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः साहस्र्यां विश्रुतो यतः ।। (पं० कूट० ११-१२)

['अर्थात् बाह्य घटादि विषयाकार वृत्ति में अभिव्यक्त जो घटाधिष्ठान चैतन्यरूप फल है, वही प्रमेय वस्तु माना जाता है—इस प्रकार वार्तिककार के कथन का तात्पर्य फलचेतनगत ब्रह्म-साम्य-प्रदर्शन में ही है, ब्रह्मरूपता के प्रदर्शन में नहीं, क्योंकि उनके गुरुवर शंकराचार्य ने उपदेशसाहस्री में ब्रह्म और फल का भेद ही बताया है, अभेद नहीं ।' यहाँ न्यायामृतकार ने मौलिक वचनों को उद्धृत न कर स्वामी विद्यारण्य के माध्यम से ही वार्तिककार और भाष्यकार का मत प्रस्तुत किया है] । यदि उपदेशसाहस्री के अनुसार घटाकार बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन को घट का प्रकाशक माना जाता है, तब दृश्य-प्रकाशनार्थ आध्यासिक सम्बन्ध की क्या आवश्यकता ? क्योंकि घट-प्रकाशक बुद्धि-प्रतिबिम्बित चिदाभास में घटादि का अध्यास नहीं माना जाता । इसी प्रकार वार्तिककार के मत में अधिष्ठान चैतन्य से अभेदाभिव्यक्ति की कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि केवल विषय-सन्निकृष्ट-वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य से ही अज्ञान-निवृत्ति के साथ-साथ विषय का प्रकाश भी उपपन्न हो जायगा ।

अद्वैतवादी—द्वैतवादी का उक्त विकल्प-निराकरण उचित नहीं, क्योंकि विषय का प्रकाशक तो निर्विवादरूप से विषयाधिष्ठान चैतन्य ही होता है । उसका विषयों के

न्यायामृतम्

किं च वृत्तेस्तदाकारत्वं न तावत्तद्विषयत्वम्, त्वयैव निरासात्। नापि तस्मिन् चैतन्योपरागयोग्यतापादकत्वं वा, तदज्ञानाभिभावकत्वं वा, तयोस्तदाकारत्वप्रयोज्यत्वेन तत्त्वायोगात्। नापि घटादिवत् पृथुबुध्नोदराद्याकारत्वम्, साकार-

अद्वैतसिद्धिः

स्वसंबद्धसर्वभासकत्वमपि क्लृप्तमेव, एतदनभ्युपगमे कल्पनान्तरे गौरवापत्तेः। तच्चानभिव्यक्तं निर्विकल्पकरूपमाच्छादितदीपवन्न प्रकाशकमिति तदभिव्यक्तिरपेक्षिता। तच्च परोक्षस्थले वृत्त्यवच्छेदेनैवाभिव्यज्यते, अपरोक्षस्थले तु वृत्तिसम्पर्कादापन्नजाड्याभिभवे विषयोऽभिव्यज्यते, वृत्तेर्विषयपर्यन्तत्वात्। न च परोक्षस्थलेऽप्येवं प्रसङ्गः, द्वाराभावेनान्तःकरणनिर्गत्यभावात्। ननु—वृत्तेस्तदाकारत्वं न तावत्तद्विषयत्वम्, त्वयैव निरासात्। नापि तस्मिन् चैतन्योपरागयोग्यतापादकत्वम्, तदज्ञानाभिभावकत्वं वा, उभयोरपि तदाकारत्वप्रयोज्यत्वेन तत्त्वायोगात्। नापि घटादिवत् पृथुबु-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

साथ साक्षात् आध्यासिक सम्बन्ध होता है। यह भी निश्चित है कि स्वयं भासमान प्रकाश ही स्व-सम्बन्धी वस्तु का भासक होता है, वृत्ति स्वयं भासमान न होने के कारण विषय का प्रकाश नहीं कर सकती। उसे प्रकाशक मानने में गौरव भी है। अधिष्ठान चैतन्य तब तक विषय का प्रकाश नहीं कर सकता, जब तक आच्छादित दीपक के समान स्वयं आवृत्त या अनभिव्यक्त है, अतः उसकी अभिव्यक्ति अपेक्षित है। वह प्रकाशक चैतन्य परोक्ष-स्थल पर विषयावच्छेदेन अभिव्यक्त न होकर केवल वृत्त्यवच्छेदेन ही अभिव्यक्त होता है और अपरोक्ष-स्थल वर वृत्ति के सम्पर्क से आवरण का अभिभव होने पर विषयावच्छेदेन भी अभिव्यक्त हो जाता है, क्योंकि वृत्ति विषय-पर्यन्त पहुँची होती है। परोक्ष-स्थल पर ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि विषयेन्द्रिय-सन्निकर्षरूप मार्ग प्रशस्त न होने के कारण अन्तःकरण-वृत्ति बाह्य विषय-पर्यन्त नहीं पहुँच पाती।

द्वैतवादी—'अन्तःकरण की वृत्ति विषयाकार होती है'—यहाँ वृत्ति में विषयाकारता से क्या विवक्षित है ? क्या घटादि-विषयकत्व ? या विषय में चैतन्योपरागयोग्यता-सम्पादकत्व ? अथवा विषयावरक अज्ञान-निवर्तकत्व ? प्रथम पक्ष सम्भव नहीं, क्योंकि विषयता या विषय-विषयिभाव का स्वयं आप (अद्वैतवादी) ही निराकरण कर चुके हैं। द्वितीय और तृतीय—दोनों तदाकारत्व-प्रयुक्त धर्म हैं, उन्हें तदाकारत्व नहीं कह सकते। [अर्थात् घट में चैतन्योपराग-योग्यता का सम्पादन वही वृत्ति कर सकती है, जो घटाकार हो चुकी है, एवं घटावरक आवरण की अभिभाव्यता भी घटाकार वृत्ति की ही देन है। प्रयोज्य धर्मों को अपने प्रयोजक धर्मों से अभिन्न नहीं माना जा सकता, नहीं तो आत्माश्रय दोष होगा]। जैसा योगाचार-वर्गीय बौद्धों का कहना है कि जैसे घटादि पदार्थ पृथुबुध्नादि विशेष आकार के होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान भी विषयाकार होता है। [आचार्य धर्मोत्तर ने कहा है—"यस्माद् हि विषयाद् विज्ञानमुदेति तद्विषयसदृशं तद् भवति, यथा नीलादुत्पद्यमानं नीलसदृशम्। तच्च सारूप्यं सादृश्यम् आकार इत्याभास इत्यपि व्यपदिश्यते" (न्या० वि० पृ० ८१) प्रज्ञाकर गुप्त भी ऐसा ही कहते हैं—"आकारणमाकारः उल्लेख इत्यर्थः, विषयसदृशता विषयोन्मुखता, तद्भेदाद् धियोऽधिगमभेदः—नीलस्य संवित्तिस्तदाकारस्य चेति" (प्र० वा० पृ० २२)] उसके अनुरूप वृत्तिगत आकार की परिभाषा करने पर बौद्ध-

न्यायामृतम्

वादापातात्, संस्थानहीनगुणकर्मजात्यभावादिवृत्तेस्तदाकारत्वायोगाच्च। घटपटौ पटतद्रूपे घटतदभावावित्यादिसमूहालंबनवृत्तेस्सर्वविषययोगिनिवृत्तेश्च युग-

अद्वैतसिद्धिः

पोदराद्याकारत्वम्, साकारवादापातात्, संस्थानहीनजातिगुणादिवृत्तेर्निराकारत्व-प्रसङ्गाच्च, घटपटाविति समूहालम्बने विरुद्धनानाकारत्वापत्तेश्चेति—चेन्न, अस्तीत्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सिद्धान्त (साकारवाद) मानना पड़ेगा, तथा आकार-हीन जाति, गुणादि की वृत्तियों को निराकार मानना होगा। इसी प्रकार प्रकाश-तिमिरादि विरुद्धाकार समूहालम्बन वृत्तियों के परस्पर-विरुद्ध नाना आकार मानने पड़ेंगे।

अद्वैतवादी—आप (द्वैतवादी) के प्रदर्शित सभी पक्षों से भिन्न वृत्तिगत विषयाकारता की हमारी परिभाषा है—घटोऽस्ति, पटोऽस्ति—इत्यादि व्यवहार-प्रतिबन्धक अज्ञान-निवर्तन की वृत्तिगत योग्यता ही विषयाकारता है [सौत्रान्त्रिकों का कहना है कि ज्ञान जिस विषय से उत्पन्न होता है, उसके सदृश आकार का होकर विषय-व्यवस्थापक बनता है। यद्यपि उसकी उत्पादिका सामग्री इन्द्रिय, देश, कालादि के भेद से विविध आकार की होती है, तथापि जैसे बालक अपने उत्पादक कारण-कलाप में से केवल माता-पिता का ही सारूप्य धारण करता है, वैसे ही ज्ञान केवल विषय का सादृश्य-लाभ करता है—

"सर्वमेव हि विज्ञानं विषयेभ्यः समुद्भवत्।
तदन्यस्यापि हेतुत्वे कथञ्चिद् विषयाकृतिः॥
यथैवाहारकालादेर्हेतुत्वेऽपत्यजन्मनि।
पित्रोस्तदेकस्याकारं धत्ते नान्यस्य कस्यचित्॥" (प्र.वा. १।३६८-६९)

एक ही ज्ञान अपने इसी सादृश्य या आकार के कारण प्रमाण तथा अर्थ-प्रतीति के रूप में प्रमिति या फल माना जाता है। सौत्रान्तिकों के साकारवाद की आलोचना प्रायः इतर सभी दार्शनिकों ने की है। स्वयं धर्मकीर्ति ने ज्ञानगत आकार विषय-जन्य न मानकर अनादिवासना-जन्य माना है। श्री कुमारिलभट्ट, पार्थसारथि मिश्र, जयराशिभट्ट, जयन्तभट्ट, प्रभाचन्द्राचार्यादि ने भी कहा है—

"स्वाकारस्य परिच्छेदो न चाकारान्तराद् विना।
तस्याप्येवं तथा च स्यान्नाकारान्तः कदाचन॥" (श्लो. वा. पृ. १५९)

"स्यादिदं ग्राह्यलक्षणम्, यद्यर्थस्याकारसमर्पकत्वे हेतुत्वे वा प्रमाणं स्यात्, न तु तदस्ति" (शा० दी० पृ० ५४)। "एवं च सति यदुक्तम्—

अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम्।
तस्मादर्थाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता॥ (प्र० वा० १।३०५-६)

"तन्मुग्धविलसितं सौगतानाम्" (तत्त्वो० पृ० ५३)। "यत्पुनरिदमभिहितमभ्युपगम्यापि बाह्यमर्थमप्रत्याख्येयः प्रतिकर्मव्यवस्थासिद्धये ज्ञानस्याकारयोग इति, तदपि न साम्प्रतम्, प्रतिकर्मव्यवस्थायाः प्रकारान्तरेणाप्युपपत्तेः" (न्या० मं० पृ० ५४२)। "अर्थाकारधारित्वं तु ज्ञानस्यानुपपन्नम्, प्रमाणविरोधात्" (न्या० कुमु० पृ० १६७)। आचार्य वाचस्पति और श्री उदयनाचार्य ने विस्तारपूर्वक साकारवाद की सक्षम समीक्षा की है। अतः वृत्तिगत विषयाकारता का अर्थ वृत्तिगत वह क्षमता या योग्यता विशेष है—

न्यायामृतम्

परिच्छिन्ननानाकारत्वायोगाच्च । चरमसाक्षात्कारस्य निराकारब्रह्माकारत्वायोगाच्च, तस्मात्पक्षत्रयमप्ययुक्तम् ।

किं च न तावद् विषयदृग्जीवचैतन्यमिति पक्षो युक्तः । तथा हि—तत्र विषयाध्यासो न तावद्विशिष्टे ब्रह्मणि चिन्मात्रे वा, दृग्दृश्ययोराध्यासिकसंबंधासिद्धेः । नापि जीवे, तस्यावच्छिन्नस्य स्वयंकल्पितत्वात् ! अत एव विषयदृग्ब्रह्मचैतन्यमिति पक्षो

अद्वैतसिद्धिः

दितद्विषयकव्यवहारप्रतिबन्धकाज्ञाननिवर्तनयोग्यत्वस्य, तत्सन्निकृष्टकरणजन्यत्वस्य वा तदाकारत्वरूपत्वात् । तदुभयं च स्वकारणाधीनस्वभावविशेषात् । न चात्माश्रयः, निवृत्तिजननस्वरूपयोग्यतया फलोपधानस्य साध्यत्वेन स्वानपेक्षणात् ।

ननु—दृशि विषयाध्यासस्वीकर्तुर्जीवचैतन्यं वा विषयदृक्? ब्रह्मचैतन्यं वा? नाद्यः, जीवे अवच्छिन्नचित्स्वरूपे कल्पिते अध्यासायोगात् । न च विषयदृक् जीवचैतन्यमेव, अध्यासस्तु ब्रह्मचैतन्य इति—वाच्यम्, दृश्ययोरेवाध्यासिकसंबन्धापत्तेः, अध्यस्ताधिष्ठानयोरुभयोरपि दृग्भिन्नत्वात् । अत एव न द्वितीयोऽपि, सविशेषब्रह्मणोऽपि कल्पितत्वेन तत्राध्यासायोगाच्च । न च—शुद्धचैतन्यमेकमेव, तदेवाधिष्ठानम्, तत्रावच्छेदकमविद्यादिकं नाधिष्ठानकोटौ प्रविशति, तदेव च जीवशब्देन ब्रह्मशब्देन च व्यपदिश्यते, उपाधिविशेषात् । तथा च जीवचैतन्यस्य दृक्त्वेऽपि दृश्याध्यासो नानु-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जिसके द्वारा विषय-व्यवहार सम्पन्न होता है] । अथवा विषय-सन्निकृष्ट करण-जन्यत्व को वृत्तिगत विषयाकारत्व कहा जा सकता है । यह दोनों प्रकार का आकार विशेष वृत्ति में अपने कारणों के अधीन स्वभाव विशेष से प्राप्त होता है । यदि कहा जाय कि वृत्ति जब विषयावरण को निवृत्त कर दे, तब उसमें अज्ञान-निवर्तन-योग्यत्वरूप विषयाकारता होती है और विषयाकार वृत्ति अज्ञान की निवर्तिका बनेगी—इस प्रकार अज्ञान-निवर्तन-योग्यता में अज्ञान-निवर्तन-योग्यता की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष होता है । तो वैसा नही कह सकते, क्योंकि योग्यता दो प्रकार की होती है—स्वरूपयोग्यता और फलोपधायकता । इन दोनों में साध्य-साधनभाव माना ही जाता है ।

द्वैतवादी—दृक् (ज्ञान) में विषयाध्यास-स्वीकर्त्ता अद्वैतवेदान्ती से पूछा जाता है कि वह विषय का द्रष्टा जीव चैतन्य को मानता है कि ब्रह्म चैतन्य को ? जीव तो स्वयं अवच्छिन्न चित्स्वरूप होने के कारण कल्पित है, उसमें विषयाध्यास सम्भव ही नहीं है । 'अध्यास ब्रह्म में ही माना जाय और विषय-द्रष्टा जीव रहेगा'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्म चेतन ही दृक् है, उससे भिन्न जीव और विषय-प्रपञ्च—दोनों दृश्य होते हैं, उनमें द्रष्टृदृश्यभाव मानने पर जीवरूप दृश्य अपने में अध्यस्त विषयरूप दृश्य का द्रष्टा माना जायगा, जो कि सर्वथा असंगत है, क्योंकि दो दृश्यों का आध्यासिक सम्बन्ध नहीं माना जाता । इसीलिए द्वितीय पक्ष (ब्रह्मचैतन्यमेव विषयदृक्) भी युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि विशेष ब्रह्म ही विषय-द्रष्टा माना जाता है, वह तो स्वयं कल्पित है, उसमें भी दृश्याध्यास नहीं हो सकता । यदि कोई शङ्का करे कि शुद्ध चैतन्य एक ही है, वही प्रपञ्च का अधिष्ठान है, वही अविद्यारूप उपाधि के कारण जीव और ब्रह्मादि शब्दों से अभिलपित होता है, अविद्या का अधिष्ठान कोटि में प्रवेश नहीं, अतः जीव चैतन्य के विषय-दृक् होने पर भी अध्यासानु-

न्यायामृतम्

न युक्तः, सविशेषस्य ब्रह्मणोऽपि कल्पितत्वात् । शुद्धस्य चासंसारमावृतत्वेन जगदान्ध्यापातात् । अनवच्छिन्नस्यावृतत्वेऽपि घटाद्यवच्छिन्नं वृत्त्या प्रकाश्यत इति चेन्न, अवच्छिन्नस्य कल्पितत्वेनात्माश्रयापातेन च घटाद्यनधिष्ठानत्वेनाध्यासिकसंबंधस्यासंभवत्वापातात् । विशिष्टज्ञानेऽधिकप्रकाशेऽपि चरमवृत्तिविषयस्य विशेष्यस्य प्रकाशेन तद्वैयर्थ्याच्च । न ह्यखण्डार्थपरवेदान्तजन्यायां तस्यां भावोऽभावो वा विशेषणमुपलक्षणं

अद्वैतसिद्धिः

पपन्न इति— वाच्यम् , शुद्धचैतन्यस्य आसंसारमावृतत्वेन जगदान्ध्यप्रसङ्गादिति—चेन्न, मूलाविद्यानिवृत्त्यभावेन सर्वत आवरणाभिभवाभावेऽपि घटाद्यवच्छेदेनावरणाभिभवाद् आन्ध्यविरहोपपत्तेः । ननु—तर्हीदानीमपि ब्रह्मस्फुरणे चरमवृत्तिवैयर्थ्यम् , अधिकभानेऽपि तस्य स्फुरणात् , न ह्यखण्डार्थवेदान्तजन्यायां वृत्तौ भावो अभावो वा विशेषणमुपलक्षणं वा प्रकारः प्रकाशत इति— चेन्न, [illegible]स्फुरणस्य चरमप्रवृत्तिप्रयुक्तत्वेन तस्याः साफल्यात् , प्रकारास्फुरणं तु तस्याः भूषणमेव, इदानीन्तनस्फुरणस्य सप्रकारकत्वेनोपाधिविषयत्वात् , 'एकधैवानुद्रष्टव्य'मित्यादिश्रुति-

उपाधि अविषयक ब्रह्म

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पपत्ति नहीं होती । तो उसकी वह शङ्का उचित न होगी, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म संसार-पर्यन्त मूलाज्ञान से आवृत्त रहता है, अतः वह स्वयं प्रकाशित न होने के कारण जगत् का प्रकाशक नहीं हो सकता, प्रकाश न हो सकने के कारण समस्त जागतिक व्यवहार विलुप्त हो जायगा ।

अद्वैतवादी—ब्रह्म चैतन्य को विषय-प्रकाशक मानने पर कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि घटाद्याकार वृत्ति से यद्यपि मूलाज्ञान निवृत्त नहीं होता, तथापि घटाद्यवच्छेदेन तूलाज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और घटादि का प्रकाश एवं तदाश्रित समस्त व्यवहार सम्पन्न हो जाता है, जगदान्ध्य-प्रसङ्ग नहीं होता ।

शङ्का—यदि संसारावस्था में ही घटाद्याकार वृत्ति से आवरण निवृत्त हो जाने पर ब्रह्म का ही प्रकाश होता है, तब चरम (महावाक्य-जन्य अखण्डाकार) वृत्ति की क्या आवश्यकता ? घटाद्याकार वृत्ति से तो ब्रह्म का ही प्रकाश नहीं होता, अपितु उससे अधिक घटादि का भी प्रकाश होता है और चरम या आखण्डाकार वृत्ति से केवल निर्विकल्पक ब्रह्म का ही भान होता है, वहाँ किसी भाव या अभाव पदार्थ का विशेषण, उपलक्षण या प्रकार विधया भान नहीं माना जाता ।

समाधान—अधिक भान वाञ्छनीय नहीं, अभीष्ट सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त शुद्ध ब्रह्म का भान चरम वृत्ति के द्वारा ही होता है, उसी में चरम वृत्ति का साफल्य समझा जाता है । चरम वृत्ति में किसी विशेषण या उपाधिरूप प्रकार का अस्फुरण दूषण नहीं, भूषण ही है, क्योंकि मूलाज्ञान की निवृत्ति उसी निष्प्रकारक ज्ञान से ही होती है । संसारावस्था का स्फुरण केवल ब्रह्मविषयक नहीं, अपितु सप्रकारक ब्रह्मविषयक होने के कारण उपाधिविषयक होता है । "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृह० ४।४।२०) यह श्रुति ब्रह्म का एकप्रकारेण (विज्ञानघनैकाकारेण) अनुदर्शन प्रतिपादित करती है, इससे यह तथ्य निकलता है कि शुद्ध चिन्मात्रविषयिणी मूलाविद्या शुद्ध चिन्मात्रविषयिणी विद्या से ही निवृत्त होती है, अतः अखण्ड चिन्मात्रविषयक ज्ञान ही मोक्ष का हेतु सिद्ध होता है ।

न्यायामृतम्

वा प्रकारः प्रकाशते । अन्तःकरणावच्छिन्नस्य जीवत्वे त्वन्मते तस्य सुषुप्त्यादावभावेन कृतहान्याद्यापाताच्च ।

किं चोपरागार्थत्वपक्षेऽपि चितः स्वतो वृत्तिमात्रोपरक्तत्वं न तावद्दर्पणे मुखस्येव प्रतिबिम्बितत्वम्, अनुद्भूतरूपांतःकरणे शब्दान्यप्रतिबिंबनोपाधितायाः अचाक्षुषे च

अद्वैतसिद्धिः

बलात् स्वसमानविषयज्ञानादेव चाज्ञाननिवृत्तेरखण्डचिन्मात्रज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वावधारणात् । न च—अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य जीवत्वे सुषुप्तिदशायां तदभावेन कृतहान्याद्यापत्तिरिति—वाच्यम्, तदाप्यस्य कारणात्मनाऽवस्थानात्, स्थूलसूक्ष्मसाधारणस्यान्तःकरणस्योपाधित्वात् । 'तदपीतेः संसारव्यपदेशा'दित्यस्मिन् सूत्रे चायमर्थः स्पष्टतरः । न च—वृत्त्युपरक्तत्वं चैतन्यस्य न तत्प्रतिबिम्बितत्वम्, दर्पणे मुखस्येवानुद्भूतरूपेऽन्तःकरणे शब्दान्यप्रतिबिम्बनोपाधितायाः अचाक्षुषचैतन्यस्य प्रतिबिम्बनायाश्चायोगादिति - वाच्यम्, उद्भूतरूपवत्त्वं न प्रतिबिम्बनोपाधिताप्रयोजकम्, अस्वच्छेऽपि लोष्टादौ प्रतिबिम्बापत्तेः, किन्तु स्वच्छत्वम्, तच्च प्रकाशस्वभावत्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीव मानने पर सुषुप्ति-अवस्था में अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन भी नहीं रहता, फलतः जीवोपार्जित धर्माधर्मादि कर्म-राशि फलोपभोग दिये बिना नष्ट हो जाती है—यही कृत-प्रणाश है, एवं सुषुप्ति से उत्थान होने पर अकृताभ्यागम अर्थात् अनुपार्जित कर्म-राशि के आधार पर ही जीवन चलेगा।

समाधान—सुषुप्ति अवस्था में भी अन्तःकरण अपने स्थूलरूप में न रहने पर भी सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहता है, अतः न तो जीव का ही अभाव होता है और न उसकी कर्म-राशि ही विनष्ट होती है। स्थूल के समान सूक्ष्म अन्तःकरण भी जीव की उपाधि माना जाता है—यह रहस्य "तदपीतेः संसारव्यपदेशात्" (ब्र० सू० ४।२।८) इस सूत्र में प्रकट किया गया है।

शङ्का—वृत्ति के उपरागार्थत्व-पक्ष में यह जो कहा जाता है कि चैतन्य वृत्त्युपरक्त या वृत्ति में प्रतिबिम्बित होता है, वह कहना अत्यन्त असंगत है, क्योंकि उद्भूत रूपवाला दर्पणादि पदार्थ ही प्रतिबिम्ब की उपाधि बना करता है, किन्तु अन्तःकरण अनुद्भूत रूपवाला होने से प्रतिबिम्बन की उपाधि नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि मुखादि—जैसे चाक्षुष द्रव्य का ही प्रतिबिम्ब देखा जाता है, किन्तु चैतन्य अचाक्षुष है, अतः उसका प्रतिबिम्ब ही संभव नहीं। यद्यपि गिरि-कन्दरादि-स्थित आकाश-जैसे अनुद्भूत रूपवाले पदार्थ में शब्द के समान अचाक्षुष वस्तु का भी प्रतिबिम्बन या प्रतिध्वनि देखी जाती है, तथापि शब्दान्य पदार्थों का प्रतिबिम्बन अनुद्भूत रूपवाले पदार्थ में नहीं देखा जाता।

समाधान—उद्भूतरूपवत्ता को प्रतिबिम्ब की उपाधिता का प्रयोजक (व्याप्य) नहीं माना जा सकता, अन्यथा 'यत्र यत्र उद्भूतरूपवत्त्वम्, तत्र तत्र प्रतिबिम्बः'—ऐसी व्याप्ति के अनुसार खुरदरे और अस्वच्छ लोढ़ा-पत्थर में भी प्रतिबिम्ब दिखाई देना चाहिए, अतः स्वच्छता को प्रतिबिम्ब की उपाधिता का अवच्छेदक मानना होगा, वह स्वच्छता मन और मानस परिणामरूप वृत्ति में प्रकाशस्वभावता के कारण सहज सिद्ध है, अतः मानस धरातल पर चैतन्य का प्रतिबिम्बन होने में कोई अनुपपत्ति नहीं।

न्यायामृतम्

चैतन्ये प्रतिबिम्बनस्य चायोगात्। नापि मूषास्थद्रुतसुवर्णादिवत् तदात्मना विकृतत्वम्, चितो निर्विकारत्वात्। नापि गोत्वादिवत् तदाश्रितत्वं तत्राभिव्यक्तत्वं वा, चित आकाशवत् अनाश्रितत्वात्। उपरागार्थत्वपक्षे चितोऽनावृतत्वेन सर्वत्राभिव्यक्तत्वाच्च। नापि घटाकाशादिवत् तदन्तस्थत्वं आकाशादिवत् सर्वगता चित् स्वतो वृत्यन्तस्था न तु घटाद्यन्तस्थेत्यस्यायोगात्। नापि प्रभाया रूपं प्रतीव प्रकाशकत्वम्, प्रभायास्तमोविरोधित्वस्य रूपं प्रतीव गन्धादीन् प्रत्यापि सत्त्वात्। न हि सा गन्धदेशस्थं तमो न निवर्तयति, प्रभायामज्ञानविरोधित्वस्य रूपं प्रत्यप्यभावात्। प्रभारूपग्राहिचक्षुस्सहकारित्ववद् गंधादिग्राहिघ्राणादिसहकारित्वस्याभावेऽपि चितो ग्राहकान्तरासहकारित्वेन दार्ष्टान्तिकानानुगुण्यात्। तस्माच्चितस्सर्गतत्वेन सर्वसंबंधा-

अद्वैतसिद्धिः

मनसस्तत्परिणामभूताया वृत्तेश्चास्त्येव, त्रिगुणात्मकस्याप्यज्ञानस्य स्वच्छसत्त्वात्मकताया अपि सत्त्वेन तत्रापि प्रतिबिम्बनोपाधिताया: सत्त्वात्। नापि चाक्षुषत्वं प्रतिबिम्बितत्वप्रयोजकम्, अचाक्षुषस्याप्याकाशादे: प्रतिबिम्बितत्वदर्शनात्।

ननु—चाक्षुषवृत्त्युपारूढचित: कथं रूपमात्रप्रकाशकत्वम्? न च प्रभावन्नियमः, वैषम्यात्, तथा हि—प्रभायां तमोविरोधित्वं रूपं प्रतीव गन्धादीन् प्रत्यपि समम्, न हि सा गन्धदेशस्थं तमो न निवर्तयति। न च - अज्ञानविरोधित्वलक्षणं प्रकाशकत्वं रूपं प्रत्येव, न तु रसादीन् प्रतीति—वाच्यम्, अज्ञाननिवर्तकत्वस्य वृत्तिभिन्नेऽनङ्गीकारात्, प्रभाया रूपग्राहकचक्षुःसहकारित्ववत् गन्धादिग्राहिघ्राणादिसहकारित्वाभावेऽपि चितो ग्राहकान्तरासहकारित्वेन तद्वत्सहकारिविलम्बेन विलम्बस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तथा च चितः सर्वगतत्वेन सर्वसम्बन्धाद्रूपादिवद् गुरुत्वादेरप्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

त्रिगुणात्मक अविद्या और उस की वृत्ति में भी स्वच्छ सत्त्वगुणात्मकता के कारण प्रतिबिम्ब सम्भव है। यह जो कहा था कि चाक्षुष द्रव्य का ही प्रतिबिम्ब होता है, चैतन्य चाक्षुष द्रव्य नहीं, वह कहना भी सत्य नहीं, क्योंकि आकाशादि-जैसे अचाक्षुष द्रव्य का भी जलादि में प्रतिबिम्ब देखा जाता है।

द्वैतवादी—घटाकार चाक्षुष वृत्ति में उपारूढ चैतन्य घट के केवल रूप का ही प्रकाशक क्यों? गन्धादि का भासक क्यों नहीं होता? जैसे सूर्यादि-प्रभा केवल रूप का प्रकाश करती है, उसी प्रकार चैतन्य के स्वभाव का नियमन नहीं कर सकते, क्योंकि प्रभा की अपेक्षा चैतन्य की विषमता है, अर्थात् तमोविरोधिनी प्रभा रूप, रस, गन्धादि सभी पदार्थों के तमोरूप आवरण का निवारण करती है, अज्ञानरूप आवरण का अपसारण नहीं करती, अतः गन्धादि का ज्ञान नहीं होता, किन्तु चैतन्य तो अज्ञानरूप आवरण का निवर्तन करता है, अत: रूप के समान गन्धादि का भी प्रकाश होना चाहिए। दूसरी विषमता यह भी है कि प्रभा को रूप-ग्राहक चक्षु की सहकारिता जैसे अपेक्षित है, वैसे गन्ध-ग्राहक घ्राणादि की नहीं, किन्तु चैतन्य को ग्राहकान्तर की सहकारिता अपेक्षित नहीं, अत: निरपेक्ष और स्वप्रकाश चैतन्य में गन्धादि की भी प्रकाशकता होनी चाहिए, क्योंकि चैतन्य सर्वगत और सर्व-सम्बन्धी है, गुरुत्वादि का भी आश्रय के माध्यम से अथवा साक्षात् सम्बन्धी है; अत: वृत्त्युपरक्त चैतन्य से गुरुत्वादि का भी प्रकाश होना चाहिए। यदि कहा जाय कि "असङ्गो ह्ययं पुरुषः"

न्यायामृतम्

प्रभादेरिव गुरुत्वादेरप्याश्रयद्वारा साक्षाद्वा चित्संबंधित्वात् , चित्संबंधित्वस्यैव च प्रकाशकत्वात् सर्वप्रकाशो दुर्वारः। "असंगो ह्ययम्" इति श्रुतिरीश्वरस्य तत्तत्कृत-लेपाभावपरा, "स यत्तत्र किंचित्पश्यति अनन्वागतस्तेन भवती" तिपूर्ववाक्यात्।

अद्वैतसिद्धिः

श्रयद्वारा साक्षाद्वा सम्बन्धित्वात् प्रकाशापत्तिः, वृत्त्युपरक्तचित्सम्बन्धस्यैव प्रकाश-कत्वात्। 'असङ्गो ह्ययं पुरुष' इति श्रुतिस्तु (ईश्वरस्य) तत्कृतलेपाभावपरा, न तु संबंध-निषेधिका, 'स यत्तत्र यत्किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवती'ति पूर्ववाक्यात्, 'यथा-काशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महा' नित्यादिस्मृतेश्चेति चेन्न, प्रभाया रूपरसा-दिदेशगततमोनाशकत्वं तत्संबंधाद्युज्यते, चैतन्यस्य तु स्वभावतोऽसंबद्धत्वात् तदाका-रवृत्त्या तदेकसंबन्धस्योपादानात् कथमन्यावभासकत्वप्रसङ्गः? स्वभावतो ह्यसङ्गत्वे 'असङ्गो ह्ययं पुरुष' इति श्रुतिः प्रमाणम्। न चैषा लेपाभावपरा, अकर्तृत्वप्रतिपादनाय संबन्धाभावपरत्वात्। यथाचैतत्तथा व्यक्तमाकरे। एवं स्मृतिरप्येतच्छ्रुत्यनुरोधेन नेया। अतः सर्वैः सह सम्बन्धाभावात् न सर्वावभासः, किंतु यदाकारा वृत्तिस्तस्यैव। अत एवे'दं रजत' मिति भ्रमे इदमाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन रजतभानानुपपत्तेः रजताकाराप्यविद्यावृत्तिरभ्युपेयते, स्वतश्चिद्बिम्बाग्राहके चैतन्यस्य तदाकारत्वायो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(बृह० ४।३।१५) यह श्रुति तथा "यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः" (गी० ९।६) इत्यादि स्मृति वाक्य चैतन्य में विषय-सम्बन्ध-जनित आसक्ति का अभाव बताते है, सम्बन्ध का निषेध नहीं करते, क्योंकि 'स यत्तत्र यत्किञ्चित् पश्यति अनन्वागतस्तेन भवति" (बृह० ४।३।१५) इस पूर्व वाक्य में ईश्वरीय आसक्ति-निषेध ही प्रक्रान्त है, संबन्ध-निषेध नहीं।

अद्वैतवादी—प्रभा और चैतन्य के समुचित वैषम्य की ओर आप (द्वैतवादी) का ध्यान नहीं गया—प्रभा निसर्गतः सङ्गी और सम्बन्धी है, अतः प्रभा के सम्पर्क से रूप, रसादि देशगत तमोनाशकत्व युक्ति-युक्त है, किन्तु चैतन्य स्वभावतः असङ्ग है, वृत्ति के द्वारा ही विषय-सम्बन्ध स्थापित होता है, केवल रूपाकार वृत्ति के द्वारा केवल रूप के साथ चित्सम्पर्क होता है, अतः रूपमात्र का प्रकाश होना स्वाभाविक है, गन्धाद्या-कार वृत्ति के न होने पर गन्धादि के साथ सम्बन्ध ही नहीं होता, फिर गन्धादि-प्रकाशकत्व-प्रसङ्ग क्यों होगा ? स्वभावतः चैतन्य की असङ्गता "असङ्गो ह्ययं पुरुषः"—इस श्रुति प्रमाण से प्रमाणित है। यह श्रुति केवल लेपाभावपरक नहीं हो सकती, क्योंकि जीव चैतन्य की अकर्तृता का प्रतिपादन करने के लिए स्वतः संसर्ग-निषेधपरक ही है यह तथ्य उसके भाष्य में स्पष्ट प्रतिपादित है—["स आत्मा यत्किञ्चित् तत्र स्वप्ने पश्यति पुण्यपापफलम् , अनन्वागतोऽनुबद्धस्तेन दृष्टेन भवति, नैवानुबद्धो भवति। यदि हि स्वप्ने कृतमेव तेन स्यात् तेनानुबध्येत" (बृह० ४।३।१५)। अर्थात् स्वाप्न धर्माधर्म का जीव न तो कर्त्ता है और उनके साथ उसका सम्बन्ध]। इस श्रुति के अनुरोध पर कथित गीता-वाक्य का भी वैसा ही अर्थ करना होगा, अतः चैतन्य का स्वतः समस्त विषयों से सम्बन्ध न होने के कारण सर्वावभास नहीं होता, किन्तु वृत्ति जिस विषय का आकार धारण करती है, उसी विषय से चैतन्य का सम्बन्ध होता है। अत एव 'इदं रजतम्'—इस भ्रम में इदमाकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य से रजत-भान न हो सकने के कारण रजताकार अविद्या वृत्ति भी मानी जाती है। विषयाकार वृत्ति के बिना घटादि

न्यायामृतम्

"यथाकाशस्थितो नित्यं वायुस्सर्वत्रगो महान्" त्यादिस्मृतेश्च। अपि च वृत्तितः पूर्वमाध्यासिकसम्बन्धोऽस्त्येव, अन्यस्तूपरागो न दृश्यत्वे तन्त्रमिति किं तदर्थया वृत्त्या ? किं च जीवचैतन्यमसंगं चेद्, ब्रह्मचैतन्यं सुतरां तथेति मायोपाधिकविषयोपरागत्वात् स्वतस्सार्वज्ञ्यं न स्यात्। ननु ब्रह्म सर्वोपादानत्वादुपाधिं विनैव स्वस्वरूपवत्

अद्वैतसिद्धिः

गात्, स्वतश्चिद्बिम्बग्राहके त्वन्तःकरणवृत्त्यादौ न वृत्त्यपेक्षेति नानवस्था। न च—आश्रयसंबन्धाविशेषेऽपि रूपाकारा वृत्तिर्न गन्धाद्याकारेति कुत इति—वाच्यम्, यथा तव चाक्षुषज्ञाने आश्रयसंबन्धाविशेषेऽपि न गन्धो विषयः, तथाऽस्माकमपि चक्षुर्द्वारकवृत्तौ न गन्धाद्याकारत्वम्, इन्द्रियविषयसंबन्धानां स्वभावस्य नियामकस्य समानत्वात्। ननु—आध्यासिकसंबन्धो वृत्तेः पूर्वमप्यस्त्येव, अन्यस्तूपरागो न दृश्यत्वे तन्त्रमिति किं तदर्थया वृत्त्येति—चेन्न, जीवचैतन्यस्याधिष्ठानचैतन्यस्य वाऽभेदाभिव्यक्त्यर्थत्वाद् वृत्तेः। अन्यथा मयेदं विदितमिति संबन्धावभासो न स्यात्।

ननु—जीवचैतन्यासङ्गत्वे ब्रह्मचैतन्यं सुतरामसङ्गम्; तथा च मायोपाधिकविषयोपरागत्वात् स्वतः सार्वज्ञ्यं न स्यात्। न च—ब्रह्म सर्वोपादानत्वादुपाधिं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विषय में चित्प्रतिबिम्ब-ग्रहण की क्षमता नहीं होती, अतः चैतन्य में विषयाकारतापत्ति और विषय-भासकता नहीं होती, किन्तु अन्तःकरण और उसकी वृत्ति में स्वयं चित्प्रतिबिम्ब-ग्रहण की योग्यता होती है, अतः अन्तःकरण तथा उसकी वृत्ति को चित्प्रतिबिम्ब-ग्रहण के लिए वृत्त्यन्तर की अपेक्षा नहीं होती, अतः अनवस्था दोष भी प्रसक्त नहीं होता।

शङ्का—घटात्मक आश्रय का सम्बन्ध रूप, गन्धादि गुणों के साथ समान होने पर भी रूपाकार ही वृत्ति होती है, गन्धाद्याकार नहीं—यह क्यों ?

समाधान—जैसे आप (द्वैतवादी) के मत में घटीय रूप और गन्धादि के साथ चक्षुःसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध समान होने पर भी चाक्षुष ज्ञान का विषय रूप ही होता है, गन्ध नहीं, वैसे ही हमारे (अद्वैतवादी के) मत में चक्षु-द्वारा निःसृत वृत्ति रूपाकार ही होती है, गन्धाद्याकार नहीं। इन्द्रिय, विषय और उनके सम्बन्धों का स्वभाव ही इसमें नियामक होता है, वह दोनों मतों में समान है।

शङ्का—घटादि व्यावहारिक प्रपञ्च स्वविषयक वृत्ति के उदय होने से पूर्व ही दृक् वस्तु में अध्यस्त है, उसी आध्यासिक सम्बन्ध के द्वारा घटादि में दृश्यत्व बन जाता है, अन्य किसी उपराग की अपेक्षा नहीं है, अतः दृश्यत्व-सम्पादनार्थ वृत्ति की क्या आवश्यकता ?

समाधान—जीव चैतन्य अन्तःकरणावच्छिन्न है, विषयाधिष्ठानरूप ब्रह्म चैतन्य से भिन्न है, अतः जीव को विषय-स्फुरण के लिए उसका ब्रह्म चैतन्य से अभेदाभिव्यञ्जन आवश्यक है, वह वृत्ति के बिना सम्भव नहीं, अन्यथा 'मयेदं विदितम्'—इस प्रकार प्रमाता (जीव) को विषय-स्फुरण के साथ आत्मीयता की अनुभूति उपपन्न न हो सकेगी।

द्वैतवादी—आप (अद्वैतवादी) के कथनानुसार यदि जीव चेतन असङ्ग है, तब ब्रह्म चैतन्य की असङ्गता तो अधिक प्रखर होगी, अर्थात् जीव का जैसे वृत्ति के द्वारा ही विषय-संग हो सकता है, वैसे ब्रह्म का भी होगा, तब ब्रह्म के मायोपाधिक

न्यायामृतम्

स्वाभिन्नं जगद्भासयतीति चेत्, उपादानत्वं हि न तावद्विशिष्टनिष्ठं परिणामित्वम्, आध्यासिकसंबंधस्यातंत्र्यापातात्, अनाद्यविद्यादिकं प्रति तदभावाच्च। नापि शुद्धनिष्ठमधिष्ठानत्वम्, सार्वज्ञ्यादेर्विशिष्टनिष्ठत्वात्।

आवरणाभिभवार्थत्वपक्षोऽप्ययुक्तः। विवर्ताधिष्ठानचिन्मात्रस्याज्ञानादिसाक्षित्वेन सदा प्रकाशनाद्, अन्यस्य चाज्ञानकल्पितस्याभावात्। किं चाज्ञानस्य नयन-

अद्वैतसिद्धिः

विनैव स्वस्वरूपवत्स्वाभिन्नं जगदवभासयतीति—वाच्यम्, उपादानत्वं न तावद्विशिष्टनिष्ठं परिणामित्वम्, आध्यासिकसंबन्धस्यातन्त्रतापत्तेः, अनाद्यविद्यादिकं प्रति तदभावाच्च, नापि शुद्धनिष्ठमधिष्ठानत्वम्, शुद्धस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादेरभावादिति—चेन्न, ब्रह्मणोऽसंगत्वेऽपि सर्वेषां तत्राध्यासेन मायोपाधिं विनैव तस्य सर्वप्रकाशकतया सार्वज्ञ्योपपत्तेः। न च—शुद्धनिष्ठमधिष्ठानत्वं नोपादानत्वम् सार्वज्ञ्याभावादित्युक्तमिति—वाच्यम्, अविद्याकल्पितानां सर्वज्ञत्वादीनां शुद्धे सत्त्वात्। अन्यथा तेषां तटस्थलक्षणत्वमपि न स्यात्। ननु—आवरणाभिभवार्थत्वपक्षो न युक्तः, विवर्ताधिष्ठानस्य चिन्मात्रस्याज्ञानादिसाक्षित्वेन सदा प्रकाशनात्, अन्यस्याज्ञानकल्पितस्यावरणस्याभावादिति—चेन्न, अज्ञानादिसाक्षित्वेन स्वप्रकाशेऽप्यशनाया-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सर्व विषय-प्रकाशकत्वरूप सार्वज्ञ्य की श्रौत चर्चा क्योंकर सम्भव होगी ? 'ब्रह्म सर्व प्रपञ्च का उपादान कारण होने से उपाधि के विना ही सर्वावभासक और सर्वज्ञ है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'उपादनता' पद से यदि परिणामित्वरूप उपादानता विवक्षित है, तब वह सविशेष ब्रह्म में सम्भव होगी, अतः दृश्यत्व के लिए आध्यासिक सम्बन्ध की तन्त्रता समाप्त हो जाती है और अविद्यादि अनादि पदार्थों की परिणामित्व-रूप उपादानता विशिष्ट चेतन में भी सम्भव नहीं। शुद्ध ब्रह्मनिष्ठ सर्वाधिष्ठानत्व को भी उपादनत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभी कहा जा चुका है कि शुद्ध में असङ्गता के कारण सर्वज्ञत्वादि सम्भावित नहीं, किन्तु उपादान होता है—सर्वज्ञान और सर्व-शक्ति से समन्वित चैतन्य।

अद्वैतवादी—ब्रह्म असङ्ग होने पर भी सर्व प्रपञ्च उसमें अध्यस्त है, किसी उपाधि के विना सर्व-प्रकाशक होने के कारण ब्रह्म में सार्वज्ञ्य उपपन्न हो जाता है। यह जो कहा गया कि शुद्ध-निष्ठ अधिष्ठानत्व को उपादानत्व नहीं कह सकते, क्योंकि शुद्ध में सर्वज्ञत्व नहीं है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि अविद्या-कल्पित सर्वज्ञत्वादि धर्मों की सत्ता ब्रह्म में मानी जाती है, अन्यथा सर्वज्ञत्वादि को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण भी नहीं माना जा सकेगा।

शङ्का—'आवरणाभिभवार्था वृत्तिः'—यह पक्ष भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि विवर्ताधिष्ठानरूप शुद्ध चैतन्य अज्ञानादि का भी भासक होने के कारण सदा प्रकाशमान है, उसमें आवरण है ही नहीं, जिसका अभिभव करने के लिए वृत्ति की सार्थकता हो। विशिष्ट चैतन्यगत आवरण के अभिभवार्थ भी वृत्ति का उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि विशिष्ट चैतन्य एक कल्पित पदार्थ है, उसे आवरण का आश्रय संक्षेपशारीककार नहीं मानते।

समाधान—अज्ञानादि का भासक स्वयंप्रकाश शुद्ध ब्रह्म भी अशनायादि से रहित

न्यायामृतम्

पटलवत्पुंगतत्वे चैत्रस्याज्ञाननाशेऽपि मैत्रस्य तदनाशादप्रकाशो युक्तः। विषयगतत्वे तु चैत्रगतया वृत्त्या अज्ञाने दीपेन तमसीव नाशिते मैत्रस्यापि प्रकाशः स्यात्।

अद्वैतसिद्धिः

घतीतत्वादिना प्रकाशाभावादावरणस्यावश्यत्वात्। ननु—अज्ञानस्य नयनपटलवत् पुंगतत्वे चैत्रस्याज्ञाननाशेऽपि मैत्रस्य तदनाशाद् अप्रकाशो युक्तः, विषयगतत्वे तु चैत्रार्जितया वृत्त्या अज्ञाने दीपेन तमसीव नाशिते मैत्रस्यापि प्रकाशः स्यादिति—चेन्न, चैत्रावरणशक्तेरेवाज्ञानगतायाश्चैत्रार्जितवृत्त्या नाशितत्वेन स पश्यति, न मैत्रः, तत्प्रतियोगिकावरणशक्तेरनाशाद्, आवरणशक्तीनां दृष्टृविषयभेदाभ्यां भिन्नत्वात्, तमस्तु न तथेत्येकानीतप्रदीपेनाप्यन्यान्प्रति प्रकाशो युज्यते। एतेन—एकाज्ञानपक्षे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अखण्डानन्दत्वादि विशेष रूप से संसारावस्था में प्रकाशित नहीं होता, अतः वह अवश्य आवरण से अवगुण्ठित होता है [प्रत्येक सन्दिग्ध और जिज्ञासास्पद वस्तु सामान्यत ज्ञात (अनावृत) तथा विशेषतः अज्ञात (आवृत) होती है। महर्षि कणाद सन्देह का वैसा ही लक्षण करते हैं—"सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः" (वै० सू० २।२।१७)। भाष्यकार भी ब्रह्म के विषय में कहते हैं—"तद्विशेषप्रतिपत्तेः" (ब्र० सू० १।१।२)। आचार्य वाचस्पति की भी यही व्यवस्था है—"तस्मात् सामान्यतः प्रसिद्धे धर्मिणि विशेषतो विप्रतिपत्तौ युक्तस्तद्विशेषेषु संशयः" (भामती० पृ० ८२)। धर्म के समान ब्रह्म की सन्दिग्धता और जिज्ञास्यता उसका सामान्यतः प्रकाशित और विशेषतः आवृत होना सिद्ध करती है]।

शङ्का—नेत्रगत काचादि दोष के समान विषयावरण यदि द्रष्टा पुरुष में माना जाय, तब तो चैत्रगत आवरण की निवृत्ति होने पर चैत्र को ही विषय का प्रकाश होगा, मैत्र को नहीं, क्योंकि मैत्र का आवरण निवृत्त नहीं हुआ, किन्तु आप (अद्वैतवादी) आवरण को विषयगत मानते हैं, चैत्र की घटाकार वृत्ति से घट का आवरण भंग हो जाने पर वैसे ही मैत्र को भी अनायास घट का दर्शन होना चाहिए, जैसे चैत्र के द्वारा प्रज्वलित दीपक से घट का अन्धकार नष्ट हो जाने पर मैत्रादि को भी घट का दर्शन होने लग जाता है।

समाधान—आवरण विषयगत होने पर भी आवरण की शक्तियाँ द्रष्टा और विषय के भेद से भिन्न-भिन्न होती हैं, अतः चैत्र की वृत्ति के द्वारा चैत्र के प्रति ही आवरण शक्ति नष्ट होती है, मैत्रादि-सम्बन्धी आवरण शक्ति नष्ट नहीं होती, अतः मैत्र को विषय का दर्शन नहीं होता। अन्धकार वैसा भिन्न-भिन्न नहीं होता, अतः एक पुरुष के द्वारा लाए गये प्रदीप के द्वारा अन्य पुरुषों को भी विषय का प्रकाश हो जाना युक्ति-युक्त ही है। इस अज्ञान-शक्ति-भेदीय व्यवस्था के आधार पर यह आक्षेप भी निरस्त हो जाता है कि 'एकाज्ञानवाद में केवल शुक्ति के ज्ञान से उस एक मात्र अज्ञान का नाश हो जाने पर तुरन्त मोक्ष की प्राप्ति हो जानी चाहिए। यदि शुक्ति के ज्ञान से वह अज्ञान नष्ट नहीं होता, तब रजतादि कार्य-सहित अज्ञान की निवृत्ति या बाध सिद्ध नहीं होता। इस आक्षेप का निरास इस लिए हो जाता है कि उस एक मूलाज्ञान की एक आवरण शक्ति के नष्ट हो जाने पर भी मूलाज्ञान का नाश न होने के कारण न ही सद्योमुक्ति की प्रसक्ति होती है और न शुक्ति-रजत के समूल नाश

न्यायामृतम्

अपि च किं "आत्माश्रयमात्मविषयं चाज्ञानमन्तरेणानात्मसु प्रतिविषयं भावरूपाज्ञानसद्भावे मानाभावादिति" विवरणोक्तरीत्याऽज्ञानमेकम् ? किं वा "अनन्तान्येव शुक्त्यज्ञानानि यद्यनन्तानि शुक्तिज्ञानानी" ति इष्टसिद्धिरीत्या प्रतिविषयमनेकानि ? नाद्यः, शुक्तिज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तौ सद्य एव मोक्षापातात्। अनिवृत्तौ रूप्यादेस्सविलासाविद्यानिवृत्तिरूपबाधायोगात्। नन्वस्मिन्पक्षे शुक्तिज्ञानेन रूप्यादेः स्वकारणे प्रवि-

अद्वैतसिद्धिः

शुक्तिज्ञानेन तदज्ञाननिवृत्तौ सद्य एव मोक्षापातः, अनिवृत्तौ रूप्यादेः सविलासाविद्यानिवृत्तिरूपबाधायोग इति—निरस्तम्, आवरणशक्तिनाशेऽपि मूलाज्ञाननाशाभावेन सद्यो मोक्षाभावस्य रूप्यादौ सविलासशक्तिमदविद्यानिवृत्तिरूपबाधस्य चोपपत्तेः।

ननु—एकाज्ञानपक्षे रूप्यादेः शुक्तिज्ञानेन स्वकारणे प्रविलयमात्रं क्रियते, मुद्गरप्रहारेणेव घटस्य, न त्वज्ञानं निवर्त्यत इति ते मतं न युक्तम्, यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति व्याप्तिबलात् ज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तिद्वारैवान्यविरोधित्वेनाज्ञानमनिवर्त्य रूप्यादिनिवर्तकत्वायोगात्, शुक्तिज्ञानेनाज्ञानानिवृत्तावभिव्यक्तचैतन्यसंबन्धाभावेन भ्रान्ताविव बाधेऽपि शुक्तेरप्रकाशापत्तेश्चेति—चेन्न, यतो ज्ञानमज्ञाननिवर्तकमिति व्याप्तेरुच्छेदविषयत्वात्, स्वकारणे सूक्ष्मरूपेणावस्थाने तदनङ्गीकारात्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

रूप बाध की अनुपपत्ति, क्योंकि शुक्ति के ज्ञान से शुक्त्यावरण-शक्ति-विशिष्ट अज्ञान का भी नाश माना जाता है। एक शक्ति-युक्त अज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी अनंत शक्ति-समन्वित अज्ञान बना रहता है।

द्वैतवादी—विवरणाचार्य ने जो यह कहा है कि 'अस्मिन् पक्षे शुक्तिकादिज्ञानेन रजताद्यध्यासानां स्वकारणे प्रविलयमात्रं क्रियते मुसलप्रहारेणेव घटस्य'' (पं० वि० पृ० ९९) अर्थात् एकाज्ञानपक्ष में शुक्ति के ज्ञान से अज्ञान का नाश न होकर रजतादि का केवल स्व-कारण में वैसे ही विलयमात्र हो जाता है, जैसे मूसल या मुद्गर के प्रहार से घट का मृत्तिका में विलय हो जाता है।' वह विवरणकार का कहना संगत नहीं, क्योंकि श्री पद्मपादाचार्य ने कहा है—''ज्ञानम् अज्ञानस्यैव निवर्तकम्'' (पञ्च० पृ० १०), अर्थात् ज्ञान अज्ञान का ही निवर्तक होता है—इस प्रकार के नियम या व्याप्ति के आधार पर ज्ञान साक्षात् अज्ञान का ही निवर्तक होता है। हाँ, अज्ञान-निवृत्ति के द्वारा उसके कार्यभूत रजतादि का निवर्तक हो सकता है, अज्ञान की निवृत्ति न कर कभी भी रजतादि का निवर्तक नहीं हो सकता। शुक्ति-ज्ञान से अज्ञान के निवृत्त न होने पर अधिष्ठान चेतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती, अतः अनावृत्त या अभिव्यक्त चेतन का शुक्ति के साथ सम्बन्ध न हो सकने के कारण रजत-बाध-दशा में भी शुक्ति का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए।

अद्वैतवादी—द्वैतवादी का कथित उपालम्भ समुचित नहीं, क्योंकि 'ज्ञानम् अज्ञानस्यैव निवर्तकम्'—इस व्याप्ति का तात्पर्य यह है कि 'ज्ञानम् अज्ञानस्यैव उच्छेदकम्, नान्यस्य', अर्थात् ज्ञान अज्ञान का ही उच्छेदक होता है, अज्ञान के कार्य का नहीं। हाँ, ज्ञान विलापक तो अज्ञान से भिन्न पदार्थ का भी होता है [वस्तु के सर्वथा अभाव को उच्छेद तथा स्थूल रूप छोड़ कर कारणरूप में स्थिति को विलय माना जाता है]। अतः

न्यायामृतम्

लयमात्रं क्रियते मुद्गरप्रहारेणेव घटस्य, न त्वज्ञानं निवर्तते, ब्रह्मज्ञानेन तु विरोधित्वाद् ज्ञानमेव निवर्तत इति चेन्न। ज्ञानस्याज्ञानद्वारैवान्यविरोधित्वेनाज्ञानमनिवर्त्य रूप्यादिनिवर्तकत्वायोगात्। शुक्तिज्ञानेनाज्ञानानिवृत्तावभिव्यक्तचैतन्यासंबंधेन भ्रांताविव बाधेऽपि शुक्तेरप्रकाशापाताच्च। न च खद्योतादिप्रकाशैर्महान्धकारस्येवाज्ञानस्यैकदेशेन नाशाद्वा भीरुभटवदपसरणाद्वा कटवत्संवेष्टनाद्वा चैतन्यस्याप्येकदेशेन प्रकाश इति युक्तम्, अनाद्यज्ञानचैतन्ययोर्निरवयवत्वात्। न च मण्यादिना वह्न्यादिगतदाहादिशक्तेरिव शुक्त्यादिज्ञानेनाऽविद्यागतावरणशक्तेरभिभवात् तत्तत्प्रकाशः। वृत्त्या च स्वोपादानभूताया अप्यविद्याया अभिभवो वृश्चिकवृक्षादिना गोमयमृदादेरिव युक्त इति वाच्यम्, चक्षुरादिजन्यशुक्तिवृत्ते रूपादिहीनशब्दैकगम्यशुद्धात्माविषयतया तदावरण-

अद्वैतसिद्धिः

शुक्तिज्ञानस्य चानवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपमूलाज्ञानानिवर्तकत्वेऽपि अवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपतूलाज्ञाननिवर्तकत्वेनाभिव्यक्तचैतन्यसंबन्धात् बाधदशायां रूप्यनिवृत्तिशुक्तिप्रकाशयोरप्युपपत्तेः। न च उपादेयभूतया वृत्त्योपादानभूताविद्याभिभवो न घटते, उपादेयेनोपादानाभिभवादर्शनादिति—वाच्यम्, वृश्चिकादिना गोमयादेरुपादानस्याप्यभिभवदर्शनात्। आरम्भवादानभ्युपगमाच्च न गोमयावयवानामुपादानत्वशङ्का।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कार्य को अपने कारण में सूक्ष्मरूपेण स्थिति के विषय में उक्त नियम लागू नहीं होता। शुक्ति-ज्ञान यद्यपि अनवच्छिन्न चैतन्य के आवरणभूत मूलाज्ञान का निवर्तक नहीं होता, तथापि शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य के आवरणभूत तूलाज्ञान का निवर्तक होता है, अतः अभिव्यक्त चैतन्य के सम्बन्ध से रजत-बाध की दशा में रजत की निवृत्ति और शुक्ति का प्रकाश—दोनों सम्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् शुक्ति के साक्षात्कार से रजत का बाधमात्र माना जाता है, उच्छेद नहीं, क्योंकि बाधित रजत सूक्ष्मरूप से तूलाज्ञान में और बाधित तूलाज्ञान सूक्ष्मरूपेण मूलाज्ञान में अवस्थित रहता है, मूलाज्ञान का उच्छेद चरम वृत्ति से होता है।

शङ्का—पटादि उपादेय वस्तु से तन्त्वादि उपादान का अभिव नहीं होता, अतः उपादेयभूत वृत्ति के द्वारा उपादानभूत अज्ञान का अभिभव क्योंकर होगा ?

समाधान—वृश्चिकादि उपादेय के द्वारा उपादानभूत गोमय आदि का अभिभव देखा जाता है, अर्थात् वृश्चिक जिन गोबर-कणों से उत्पन्न होता है, वे कण वृश्चिक-शरीर के रूप में परिणत हो जाते हैं, अपने रूप में नहीं रहते, अतः अभिभूत हो जाते हैं। कार्य-कारणभाव में आरम्भवाद नहीं माना जाता, अतः न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि गोबर के कुछ कणों को वृश्चिक-शरीर का उपादान या समवायिकारण माना जाता है और समवायिकारण का कार्य के द्वारा अभिभव नहीं होता। वह न्यायामृतकार का कहना उचित नहीं, क्योंकि अद्वैतवेदान्त में परिणामवाद माना जाता है, आरम्भवाद नहीं। [आरम्भवाद में कार्य से भिन्न समवायिकारण की सत्ता मानी जाती है, अतः समवायिकारण का अपने रूप में अवस्थान माना जाता है, अभिभव नहीं होता, किन्तु परिणामवाद में उपादेय से भिन्न परिणामी उपादान की सत्ता नहीं मानी जाती, अतः सुवर्णादि का कटकादि-रूप में परिणाम हो जाने पर स्वरूपाभिभव सम्भव हो जाता है]।

न्यायामृतम्

शक्त्यप्रतिबंधकत्वात् । शुक्तिवृत्तेस्तदवच्छिन्नचिद्विषयत्वेन तत्प्रतिबंधकत्वे च तयैव तदा शुद्धात्मप्रकाशापातात् । अविद्याकल्पितमप्रसक्तप्रकाशं च जडं प्रति चाविद्याया इवाविद्यागतावरणशक्तेरप्ययोगाद् , अस्वीकाराच्च जडविशिष्टात्मानं प्रति, तत्स्वीकारे च विशेषणानावरकविशिष्टावरकशक्त्यभिभवस्य विशेष्यावरकशक्त्यभिभवं विनाऽयोगेन शुक्तिवृत्त्यैव तदा शुद्धात्मप्रकाशापातात्। प्रच्युतगोमयत्वाद्यवस्था एव पार्थिवावयवा वृश्चिकाद्युपादानानीति न वृश्चिकादिनोपादानस्वभावाभिभवः । शिष्टमविद्यानिवर्तकभंगे वक्ष्यते ।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—चक्षुरादिजन्यशुक्त्यादिवृत्तेः सप्रकारिकायाः निष्प्रकारकशुद्धचैतन्याविषयतया तदावरणरूपमूलाज्ञानाभिभवाभावेऽप्यवच्छिन्नविषयया तया अवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपतूलाज्ञानाभिभवो युज्यत इति ते मतमयुक्तम् , अवच्छिन्ने अविद्याकल्पिते अप्रसक्तप्रकाशे मूलाविद्याया इव तदावरणशक्तेरयोगात् , त्वयानभ्युपगतत्वाच्च, जडविशिष्टात्मानं प्रति तदभ्युगमे च विशेषणानावरकविशिष्टावरकशक्त्यभिभवस्य विशेष्यावरकशक्त्यभिभवं विनाऽयोगेन शुक्त्याकारवृत्त्यैव शुद्धात्मप्रकाशापातादिति चेन्न, अनवबोधात् । न ह्यविद्याकल्पितेऽवच्छिन्ने अस्माभिरविद्या वा तच्छक्तिर्वाभ्युपेयते, किं तु चैतन्यमात्र एव, तस्मिंस्तु सर्वं जडमध्यस्तमस्तीत्येकाश्रयाश्रितत्वसंबन्धात् जडावच्छिन्नचैतन्यमावृतमिति व्यपदेशः, घटाद्याकारवृत्त्या तु तदधिष्ठानचैतन्याभि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—चक्षुरादि से जन्य शुक्त्यादि की वृत्ति सप्रकारक होती है, अतः वह निर्विकल्पक शुद्ध चैतन्य को विषय न करने के कारण शुद्ध चैतन्य के आवरणभूत मूलाज्ञान का अभिभव नहीं कर सकती, किन्तु अवच्छिन्न चैतन्य को विषय करने के कारण उसके आवरणभूत तूलाज्ञान का अभिभव कर देती है—यह जो आप (अद्वैतवादी) का मत है, वह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि अवच्छिन्न चैतन्य अविद्या से कल्पित होने के कारण घटादि जड़ वस्तु के समान ही जैसे मूलाज्ञान का आश्रय नहीं होता, वैसे ही मूलाज्ञान की अवस्थारूप तूलाज्ञान का भी आश्रय नहीं बन सकता [आशय यह है कि प्रकाश जहाँ प्रसक्त है, वहां ही आवरण का सार्थक्य माना जाता है, अप्रसक्तप्रकाशात्मक जड़-वर्ग पर आवरण निरर्थक है। शुक्त्याद्यवच्छिन्न चैतन्य जड़भूत अविद्या का कार्य होने से जड़ात्मक है, प्रकाशशील नहीं, अतः उस पर कोई भी आवरण नहीं माना जा सकता] । शुक्तिरूप जड़ वस्तु से विशिष्ट चैतन्य पर यदि तूलाज्ञानरूप आवरण माना जाता है, तब शुक्तिरूप जड़ विशेषण के अनावरक किन्तु शुक्ति-विशिष्ट चैतन्य के आवरक तूलाज्ञान की आवरण शक्ति का अभिभव तभी हो सकता है, जब कि विशेष्यभूत शुद्ध चैतन्य के आवरण का अभिभव हो, अतः शुक्त्याकार वृत्ति के द्वारा ही शुद्ध चैतन्य का प्रकाश हो जाता है, सद्यो मोक्ष-प्राप्ति होनी चाहिए।

अद्वैतवादी—अद्वैत-सिद्धान्त का ज्ञान न होने के कारण उक्त शङ्का का हो जाना स्वाभाविक है, क्योंकि अविद्या-कल्पित अवच्छिन्न चैतन्य में हम अविद्या अथवा उसकी आवरण शक्ति नहीं मानते, किन्तु चैतन्यमात्र में ही मानते हैं। उसी चैतन्य वस्तु में समस्त जड़ जगत् अध्यस्त है, अतः एकाश्रयाश्रितत्व (अविद्या और जड़ जगत् का सामानाधिकरण्यरूप) सम्बन्ध से जड़ावच्छिन्न चैतन्यगत आवरण है—ऐसा लोक-व्यवहार

अद्वैतसिद्धि:

व्यक्तौ तदवच्छेदेनैव तन्निष्ठावरणाभिभवो जायत इति न शुद्धात्मप्रकाशापत्ति:। तदुक्तं संक्षेपशारीरके—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धितमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचर:॥'
बहु निगद्य किमत्र वदाम्यहं शृणुत संग्रहमद्वयशासने।
सकलवाङ्मनसातिगता चिति: सकलवाङ्मनसव्यवहारभाक्॥'

इति च। तस्मादविद्यायां सत्यामपि शक्त्यभिभवाद्वा, तूलाज्ञाननाशाद्वा, अवस्था-विशेषप्रच्यवाद्वा, एकदेशनाशाद्वा, भीरुभटवदपसरणाद्वा, कटवत्संवेष्टनाद्वा, आवरण-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

हो जाता है। वस्तुत: जड़ावच्छिन्न चैतन्य में अविद्या नहीं रहती, किन्तु शुद्ध चैतन्य में ही रहती है। शुक्त्याद्याकार वृत्ति के द्वारा शुक्त्यधिष्ठान चैतन्य की अभिव्यक्ति होने पर शुक्त्यवच्छेदेन शुक्ति के अधिष्ठानभूत चैतन्यगत आवरण का अभिभव होता है, शुद्ध चैतन्य का प्रकाश नहीं होता। शुद्ध चैतन्य ही अविद्या का आश्रय और विषय होता है, जैसा कि संक्षेपशारीरक में कहा है—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचर:॥
बहु निगद्य किमत्र वदाम्यहं शृणुत संग्रहमद्वयशासने।
सकलवाङ्मनसातिगता चिति: सकलवाङ्मनसव्यवहारभाक्॥

[अर्थात् अविद्या का आश्रय तथा विषय शुद्ध चैतन्य ही होता है। अनादि अविद्या का आश्रय जीव नहीं हो सकता, क्योंकि वह अविद्या का पश्चाद्भावी है। बहुत बोलने से क्या लाभ ? एक वाक्य में सुनिए अद्वैत वेदान्त का अनुशासन—सकलवाङ्मनसातीत निर्विकल्पक चैन्य ही सकल कायिक, वाचनिक और मानसिक व्यवहार का विषय होता है]। अत: अविद्या के रहने पर भी (एकाज्ञान-पक्ष में) उसकी शक्ति का अभिभव, (नानाज्ञानवाद में) तूलाज्ञान या अवस्था-विशेष के क्षरण या एक अंश के नाश, या भीरु योद्धा के समान पलायन अथवा चटाई के समान संवेष्टित हो जाने के कारण आवरण-भङ्ग, अनिर्मोक्ष और भ्रम-बाध की उपपत्ति हो जाती है [आशय यह है कि जीवन्मुक्ति आदि की उपपत्ति के लिए यह मानना आवश्यक हो जाता है कि अज्ञान की निवृत्ति-काल में भी अज्ञान की सत्ता रहती है। इसकी उपपत्ति में आचार्यों ने विविध युक्तियों से काम लिया है—(१) तत्त्व-ज्ञान से अविद्या की आवरण शक्ति मात्र का अभिभव होता है, विक्षेप शक्ति का नहीं। (२) मूलाज्ञान या अवस्थाज्ञान अनन्त होते हैं, उनमें एक का नाश होने पर भी अन्य की सत्ता रह जाती है। (३) जैसे खद्योत के चमकने से महान्धकार का एक नन्हा-सा भाग नष्ट होता है, वैसे ही वृत्ति से अज्ञान का एक भाग ही नष्ट है, समस्त अज्ञान नहीं। (४) जैसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वी को देख कर भीरु योद्धा रण-प्राङ्गण से अपसरण कर जाता है, वैसे ही वृत्ति का उदय होने पर अज्ञान वृत्ति के विषय से हट जाता है। (५) जैसे बड़ी चटाई का कुछ भाग लपेट देने पर वह देश अनावृत हो जाता है, वैसे ही वृत्ति के द्वारा अज्ञान का कुछ भाग वेष्टित हो जाता है और चेतन अनावृत हो जाता है। इस प्रकार वृत्ति के द्वारा आवरण का अभिभव भी हो

न्यायामृतम्

न च मूलाज्ञानस्यैवावस्थाविशेषा रजताद्युपादानानि शुक्तिज्ञानेन साध्यासं निवर्तन्त इति वाच्यम्, तेषामज्ञानविशेषत्वेऽनेकाज्ञानवादापातात्। न चेत्साक्षाज्ज्ञानेन निवृत्तेर्भ्रमोपादानतायाश्चायोगात्, तेषामिव रूप्यस्यैवोपादाननिवृत्तिं विना निवृत्तिप्रसंगाच्च। शुक्त्यज्ञानं नष्टमित्यनुभवविरोधाच्च। द्वितीयेऽप्येकया वृत्या किं सर्वत-

अद्वैतसिद्धिः

भङ्गानिर्मोक्षबाधानामुपपत्तिः।

ननु—अवस्थाविशेषाणामज्ञानाभिन्नत्वे एकाज्ञानपक्षक्षतिः, अज्ञानभिन्नत्वे च साक्षात् ज्ञानेन निवृत्तिः भ्रमाद्युपादानत्वं च न स्यात्, तेषामिव रूप्यस्यैवोपादाननाशं विना नाशप्रसङ्गश्च, शुक्त्यज्ञानं नष्टमित्यनुभवविरोधश्चेति—चेन्न, यतोऽवस्था तावदवस्थावतोऽभिन्नैव, अज्ञानैक्यं तु सर्वावस्थानुस्यूतैकाकारमादाय। एवं चाज्ञानावस्थाया अज्ञानत्वेन न ज्ञानसाक्षान्निवर्त्यत्वाद्यनुपपत्तिः। यत्त्ववस्थाविशेषाणामिव रूप्यस्यैवोपादाननिवृत्तिं विना निवृत्त्यापादनम्, तदयुक्तम्, अज्ञान एव ज्ञानस्य साक्षाद्विरोधावधारणेनाज्ञानावस्थायास्तदभिन्नायाः ज्ञानसाक्षान्निवर्त्यत्वार्हत्वात्, न तु रूप्यादीनाम्, अनीदृक्त्वात्। अनेकाज्ञानपक्षे तु शङ्कापि नोदेति।

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

जाता है और सम्पूर्ण अज्ञान का नाश न होने के कारण मोक्षापत्ति भी नहीं होती और रजतादि भ्रमों का बाध भी हो जाता है]।

द्वैतवादी—विवरणाचार्य ने जो यह कहा है कि "अथवा मूलाज्ञानस्यैव अवस्थाभेदाः रजताद्युपादानानि शुक्तिकादिज्ञानैः सहाध्यासेन निवर्तन्ते" (पं० वि० पृ० ९९)। वहाँ जिज्ञासा होती है कि वे अवस्थाज्ञान क्या मूलाज्ञान से अभिन्न हैं? अथवा भिन्न? अभिन्न होने पर एक मूलाज्ञान अनेक अवस्थाज्ञानों से अभिन्न हो कर अनेक हो जाता है, अतः विवरणकार का एकाज्ञानपक्ष समाप्त हो जाता है। यदि अवस्था विशेष को अज्ञान से भिन्न माना जाता है, तब ज्ञान से उनकी निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि ज्ञान साक्षात् अज्ञान का ही निवर्त्तक होता है, अज्ञान से भिन्न वस्तु का नहीं। एवं अवस्था-विशेष में भ्रम की उपादानता भी न होगी, क्योंकि अज्ञान ही भ्रम का उपादान माना जाता है। फिर भी वृत्ति के द्वारा अवस्था-विशेष की निवृत्ति मान लेने पर उनके उपादानभूत मूलाज्ञान की निवृत्ति के विना ही अवस्थाज्ञान का नाश हो जाता है, वैसे ही उपादानभूत अवस्थाज्ञान के नाश के विना ही शुक्ति-वृत्ति से रजतादि का नाश हो जाना चाहिए। फिर तो विवरणकार की "शुक्तिकादि ज्ञानैः सहाध्यासेन निवर्तन्ते"—यह अनुभूति विरुद्ध पड़ जाती है।

अद्वैतवादी—अवस्था सदैव अवस्थावान् पदार्थ से अभिन्न होती है। फिर भी अज्ञानानेकत्वापत्ति नहीं होती, क्योंकि जैसे माला के सभी पुष्पों में एक सूत्र अनुस्यूत होकर अपनी एकता बनाए रखता है, वैसे ही सभी अवस्थाज्ञानों में मूलाज्ञान अनुस्यूत होकर 'न जानामि'—इस रूप में अपनी एकता सुरक्षित रखता है। अज्ञान की अवस्था भी अज्ञान से अभिन्न होकर अज्ञानरूप ही है, अतः ज्ञान के द्वारा साक्षात् निवर्त्यत्व की उसमें अनुपपत्ति भी नहीं होती। यह जो कहा कि अवस्था-विशेष के समान ही रजतादि की भी उपादानभूत अज्ञान की निवृत्ति के विना ही निवृत्ति होनी चाहिए। वह युक्त नहीं, क्योंकि अज्ञान के साथ ही ज्ञान का साक्षात् विरोध अवधारित है, अतः

न्यायामृतम्

दज्ञानानां निवृत्तिः ? उतैकतदज्ञानस्य ? आद्ये शुक्तेः पुनः कदाप्यप्रकाशो न स्यात् । अन्त्ये तदापि प्रकाशो न स्याद् , एकस्यावरणस्य निवृत्तावपि अन्यस्य सत्त्वात् । अयं

अद्वैतसिद्धिः

ननु—अस्मिन्पक्षे एकया वृत्त्या सर्वतदज्ञानस्य निवृत्तिः ? उत एकतदज्ञानस्य ? आद्ये पुनः शुक्तेः कदाप्यप्रकाशो न स्यात् , अन्त्ये वृत्तिकालेऽपि प्रकाशो न स्यात् , एकस्यावरणस्य निवृत्तावप्यावरणान्तरानिवृत्तेरिति— चेन्न, एकया वृत्त्या एकाज्ञाननाशेऽपि तयैवावरणान्तराणां प्रतिरुद्धत्वाद् , यावत् सा तिष्ठति तावत्प्रकाशः, तस्यामपगतायां पुनरप्रकाशश्चोपपद्यते, अज्ञानस्य ज्ञानप्रागभावस्थानीयत्वात् । यथा तव एकं ज्ञानमेकमेव प्रागभावं नाशयति, तन्नाशरूपेणोदयात् प्रागभावान्तरनिबन्धनमज्ञातत्वादि व्यवहारं च प्रतिबध्नाति, तथा ममाप्येकं ज्ञानमेकमेवाज्ञानं निवर्तयति, अज्ञानान्तरनिबन्धनं च प्रयोजनं प्रतिबध्नातीति किमनुपपन्नम् ? अत्र च प्रतिबन्ध-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अज्ञान से अभिन्न अवस्था-विशेषों में भी अज्ञानात्मकता के कारण निवर्त्यत्व बन जाता है, किन्तु रजतादि का अपने उपादान से वैसा अभेद नहीं माना जाता, अतः उपादानभूत अवस्थाज्ञान की निवृत्ति के बिना रजतादि की निवृत्ति नहीं हो सकती । अनेक अज्ञान-पक्ष में तो किसी प्रकार के दोष की आशङ्का भी नहीं हो सकती [अवस्थाज्ञान की कल्पना एक अज्ञान के पक्ष में तथा तूलाज्ञान की कल्पना नाना अज्ञान-पक्ष में होती है, इन दोनों पक्षों का प्रदर्शन विवरणाचार्य ने ही किया है] ।

द्वैतवादी—एक विषय में नाना अज्ञान होते हैं—इस पक्ष में एक वृत्ति के द्वारा उस विषय के सभी अज्ञानों की निवृत्ति होती है ? अथवा उस विषय के एक ही अज्ञान की ? प्रथम पक्ष में शुक्ति-वृत्ति के द्वारा सभी शुक्ति-विषयक अज्ञानों की निवृत्ति हो जाने के कारण भविष्य में कभी भी शुक्ति का अप्रकाश नहीं होना चाहिए । यदि शुक्तिवृत्ति से शुक्ति के केवल एक अज्ञान की निवृत्ति होती है, अन्य अनेक अज्ञान शुक्ति को अपने चङ्गुल में दबोचे ही रहते हैं, तब शुक्त्याकार वृत्ति के समय भी शुक्ति का प्रकाश नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसके एक आवरण की निवृत्ति हो जाने पर भी दूसरे आवरण बने ही रहते हैं ।

अद्वैतवादी—एक वृत्ति के द्वारा एक ही अज्ञान का नाश होने पर भी उसी वृत्ति के द्वारा दूसरे आवरणों को प्रतिरुद्ध या कार्याक्षम कर दिया जाता है, अतः जब तक वह वृत्ति रहती है, तब तक विषय का प्रकाश उपपन्न हो जाता है और उस वृत्ति के अस्त होते ही विषय पर अन्धकार छा जाता है । अज्ञान को ज्ञान-प्रागभाव का स्थानापन्न समझा जा सकता है । जैसे आप (द्वैतवादी) के मत में एक ज्ञान अपने एक ही प्रागभाव का नाश करता है, क्योंकि उसी प्रागभाव के नाश का रूप लेकर वह ज्ञान प्रकट होता है, वही ज्ञान अपने अन्य प्रागभावों के द्वारा आपादित अज्ञातत्वादि व्यवहार का प्रतिबन्ध भी कर देता है । वैसे ही हमारे मत (अद्वैतवाद) में भी एक ज्ञान एक ही अज्ञान को निवृत्त करता और अज्ञानान्तर-प्रयुक्त अज्ञातत्वादि व्यवहार को प्रतिरुद्ध भी करता है, इसमें अनुपपत्ति क्या ? यहाँ पर 'प्रतिबन्ध' पद से कार्यानुत्पत्ति की वह प्रयोजकता विवक्षित है, जो कि कारणाभाव और प्रतिबन्धक मण्यादि के समान प्रतिबन्धक पदार्थों में रहती है, क्योंकि कारण का अभाव होने पर भी कार्य

न्यायामृतम्

च दोषः अवस्थाविशेषपक्षेऽपि योज्यः। कथं च सादिशुक्त्यादेस्तदवच्छिन्नचैतन्यस्य वाऽनाद्यज्ञानविषयत्वम् ? निर्विषयस्यावरणस्यानवस्थानात्। न च पूर्वमनवच्छिन्ना-

अद्वैतसिद्धिः

पदेन कार्यानुत्पत्तिप्रयोजकत्वं कारणाभावप्रतिबन्धकसाधारणमभिहितम्। एवमवस्थाविशेषपक्षेऽपि प्रकाशाप्रकाशावुपपादनीयौ। एवममूर्तस्याज्ञानस्य यद्यपि दण्डादिना गवादीनामिवापसारणं करादिना कटादीनामिव संवेष्टनं च न संभवति, तथापि कार्याक्षमत्वसाम्येनापसारणसंवेष्टनपक्षौ योजनीयौ। यथा हि उत्तेजकाभावसहकृतस्य मणेः प्रतिबन्धकतायामुत्तेजकसत्त्वे प्रतिबन्धककार्याक्षमत्वम्, तथा वृत्त्यभावसहकृतस्याज्ञानस्य प्रतिबन्धकतायां वृत्तौ सत्यां तत्कार्यानुदय इति द्रष्टव्यम्।

ननु चैतन्यस्य निरवयवत्वात् तस्यैकदेशेन प्रकाशो न युज्यते, अथाकाश इव तत्तदर्थावच्छिन्नत्वमेकदेशशब्दार्थः, तर्हि नागन्तुकपदार्थावच्छिन्नं चैतन्यमनाद्यज्ञानस्य विषयः, निर्विषयस्यावरणस्यायोगात्। प्रागनवच्छिन्नावरणमेवेदानीमवच्छिन्नावरणं जातमित्यपि न, अवच्छिन्नचैतन्यज्ञानेनैवानवच्छिन्नावरणनाशापत्तेः। एतेन व्यक्तितः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की अनुत्पत्ति होती है और प्रतिबन्धक के रहने पर भी। इसी प्रकार अज्ञान के अवस्था-विशेष-पक्ष में भी वस्तु के प्रकाश और अप्रकाश की व्यवस्था कर लेनी चाहिए।

यद्यपि जैसे दण्डादि से गवादि का अपसारण होता है, वैसे वृत्ति के द्वारा अज्ञान का अपसारण नहीं हो सकता, क्योंकि अज्ञान गवादि के समान मूर्त पदार्थ नहीं, अमूर्त वस्तु है, अत एव हाथ से चटाई के समान उसका संवेष्टन भी सम्भव नहीं। तथापि अपसारण और संवेष्टन के द्वारा अपसारित गवादि और संवेष्टित चटाई में कार्य-क्षमता नहीं रहती, वैसे ही वृत्ति के द्वारा अवस्थित अज्ञानान्तरों में कार्याक्षमत्व लाया जाता है. अतः कार्याक्षमत्व की समानता को ध्यान में रखकर यहाँ अज्ञान के अपसारण और संवेष्टन को प्रस्तुत किया गया है। जैसे आप के मत में उत्तेजकाभाव-सहकृत मणि में ही दाहादि कार्य की प्रतिबन्धकता मानी जाती है और उत्तेजक के उपस्थित होने पर विद्यमान प्रतिबन्धक मणि में दाह-प्रतिबन्धनरूप कार्य की अक्षमता आपादित होती है, वैसे ही वृत्त्यभाव-सहकृत अज्ञान में विषय-प्रकाश की प्रतिबन्धकता या आवरकता होती है, वृत्ति के रहने पर अज्ञान की उस आवरकता का उदय नहीं होता।

द्वैतवादी—चतन्य निरवयव पदार्थ हैं, अतः उसके एक अवयव या एक देश का प्रकाश सम्भव नहीं। यदि कहा जाय कि आकाश के समान ही चैतन्य में घटाद्यवच्छिन्नत्व ही 'एकदेश' शब्द का पारिभाषिक अर्थ है, तब सादि घाटि पदार्थों से अवच्छिन्न चैतन्य भी सादि होने के कारण अनादि अज्ञान का विषय न हो सकेगा, तब घटाकार वृत्ति के द्वारा निवर्तनीय अज्ञान को घटावच्छिन्न चैतन्य-विषयक न कह कर निर्विषयक ही मानना होगा, जो कि सम्भव नहीं, क्योंकि निर्विषयक आवरण होता ही नहीं। यदि कहें कि घटादि की उत्पत्ति से पहले अनवच्छिन्न चेतन ही अनादि अज्ञान का विषय था, घट के उत्पन्न होने पर चैतन्य घटावच्छिन्न हो गया और वह अनवच्छिन्नावरण सावच्छिन्नावरण बन गया। तो वह कहना भी संगत

न्यायामृतम्

वरणमिदानीमवच्छिन्नावरणं जातम्, शुक्तिज्ञानेनैव मोक्षापातात्। एतेन व्यक्तितः पूर्वं जातिरिव विषयात् पूर्वमज्ञानमस्तीति निरस्तम्, प्रतिविषयमनेकाज्ञानांगीकारायोगात्।

अद्वैतसिद्धिः

पूर्वं जातिरिव विषयात्पूर्वमज्ञानमस्तीति निरस्तमिति—चेन्न, अनाद्यज्ञानविषये अनादिचैतन्ये तत्तदागन्तुकपदार्थावच्छेदाभ्युपगमाद्, 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवले' त्युक्तत्वात्। यदवच्छिन्नगोचरा च वृत्तिस्तदवच्छेदेनैवावरणापसारणात् नानवच्छिन्नचैतन्यावरणभङ्गप्रसङ्गः। अत एव वृत्तिविषयावच्छिन्नचैतन्यात् प्रागज्ञानमस्तीत्यभिप्रायेण विषयात्प्रागज्ञानमस्तीति साधूक्तम्। तस्मादधिष्ठानचैतन्यं स्वाध्यस्तं भासयतीति सिद्धम्।

तदयमत्र निष्कर्षः—यद्यपि विषयप्रकाशकं विषयाधिष्ठानभूतं प्रमेयचैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं तु तस्य प्रमातृ, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं तु प्रमाणम्, तथापि यदीयान्तःकरणवृत्त्या विषयपर्यन्तं चक्षुरादिद्वारा निस्सृतया यत्प्रकाशकं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं, क्योंकि तब तो घटावच्छिन्न चैतन्य के ज्ञान से उक्त अनवच्छिन्नावरणरूप मूलाज्ञान का नाश हो जाने के कारण सद्यो मोक्षापत्ति होती है। 'व्यक्ति की उत्पत्ति से पहले जाति के अस्तित्व की भाँति विषय की उत्पत्ति से पूर्व अज्ञान का अस्तित्व होता है—यह कथन भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि जैसे प्रलय-काल में सभी व्यक्तियां के नष्ट हो जाने पर भी निराश्रय गोत्वादि जाति की अवस्थिति मानी जाती है, वैसे घटादि विषय की उत्पत्ति से पूर्व या नाश के पश्चात् घटाज्ञान का अवस्थान नहीं माना जा सकता, क्योंकि निराश्रय और निर्विषयक अज्ञान सिद्ध ही नहीं होता।

अद्वैतवादी—यह सिद्ध किया जा चुका है कि अनादि अज्ञान का अनादि चैतन्य ही विषय और आश्रय होता है। उसी अनादि-सिद्ध चैतन्य वस्तु में अविद्या के द्वारा सादि पदार्थ भी अध्यस्त होने के कारण चैतन्य का अवच्छेदक माना जाता है। अनादि चैतन्य-विषयक ही अज्ञान होता है—यह सिद्धान्त संक्षेपशारीरिक के "आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला"—इस प्रमाण से प्रमाणित किया जा चुका है। घटावच्छिन्न चैतन्य-विषयक ज्ञान से अनादि अज्ञान की निवृत्ति का आपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान या वृत्ति जिस विषय से अवच्छिन्न चैतन्य को विषय करती है, उसी विषय से अवच्छिन्न चैतन्य के आवरण की भञ्जिका मानी जाती है, निरवच्छिन्नावरणभूत मूलाज्ञान की नहीं। अत एव 'विषयात् पूर्वमज्ञानमस्ति'—यह पूर्वाचार्यो का कहना भी अत्यन्त समुचित है, क्योंकि उसका तात्पर्य यही है कि घटावच्छिन्न चैतन्य से पहले अनवच्छिन्न चैतन्य विषयक अज्ञान रहता है। इसलिए अधिष्ठान चैतन्य ही विषयाकार वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त होकर अपने में अध्यस्त समस्त जगत् को अवभासित करता है—यह सिद्ध हो गया।

यहाँ तक के वक्तव्य का निचोड़ यह है कि यद्यपि विषय का प्रकाशक विषयाधिष्ठानभूत चैतन्य प्रमेय, अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य उसका प्रमाता और अन्तःकरण-वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण कहलाता है। तथापि जिस व्यक्ति के अन्तःकरण की वृत्ति चक्षु के द्वारा बाहर निकलकर जिस अधिष्ठान चैतन्य से प्रमाता के अभेद की अभि-

न्यायामृतम्

यत्तूक्तं कौमुद्यां ज्ञानेन तत्प्रागभावनिवृत्तावप्ययं विकल्पः समः। ततश्च सत्स्वप्यनंतेष्वज्ञानेषु बहुजनसंकीर्णदेशे वैद्युतनिपातवत् त्रिदोषहरौषधवच्च ज्ञानमितराज्ञानापसारणेनैकमज्ञानं नाशयतीति, तन्न, न हि मन्मते ज्ञानप्रागभावाः आवरणानि किंतु दंडप्रागभाववद् हेत्वभावरूपाः। नापि ज्ञानं तन्निवर्तकत्वेन हेतुः, किं तु दण्डादिवत् स्वरूपेणैव एवं च एको दण्ड इवैकं ज्ञानं स्वसजातीयांतरप्रागभावे सत्यपि स्वकार्यं जनयेदेव। कार्योत्पत्तौ हि कारणसत्ता तंत्रम्, न तु कारणजातीयसर्वप्रागभावनिवृत्तिः, असम्भवात्। त्वन्मते तु वृत्तेरावरणनिवर्तकत्वादेकस्मिन्नज्ञाने निवृत्तेऽप्यन्यस्य यवनिकान्तरवत् सत्त्वात् कालान्तर इव वृत्तिकालेऽप्यप्रकाशः स्यात्। न चालोकाभावस्तम इति मते तमः कुडयादिवदावरणम्, हेत्वभावरूपत्वात्। नाप्यालोकस्तन्निवर्तकत्वेन ज्ञानहेतुः, किंतु स्वरूपेणैव। नाप्येकैकालोकाभावस्तमः किंत्वाऽऽलोकत्वावच्छिन्नतदभावः। न चैकस्मिन्नप्यालोके सति सोऽस्ति। भाविज्ञाननिवर्त्यमज्ञानं त्वेतज्ज्ञानकालेऽप्यस्तीति वैषम्यम्। न चेहाप्यज्ञानसमुदाय एवावरणं एकेन च ज्ञानेनैकस्मिन्नज्ञाने निवृत्ते स नास्तीति प्रकाशोपपत्तिरिति वाच्यम्, वृत्तिनाशेऽपि समुदायाभावस्य सत्त्वेन सदा प्रकाशापातात्। अयुक्तं चाऽमूर्तानामज्ञानानामपसारणम्। तस्मादनुकूलतर्कहीना मिथ्यात्वहेतवः। इति प्रतिकर्मव्यवस्थाभंगः।

अद्वैतसिद्धिः

चैतन्यं यत्प्रमातृचैतन्याभेदेनाभिव्यज्यते तमेव स एव जानाति नान्यं नान्यो वा। अत एवैकवृत्त्युपारूढत्वलक्षणैकलोलीभावापन्नं प्रमातृप्रमाणप्रमेयचैतन्यं भवति। ततस्तदवच्छेदेनाज्ञाननिवृत्त्या (वृत्त्या) भासमानं प्रमेयचैतन्यमपरोक्षं फलमित्युच्यते। तत् स्वयं भासमानं सत् स्वाध्यस्तं घटाद्यपि भासयतीति तत् फलव्याप्यमित्युपेयते। यन्निष्ठा च यदाकारा वृत्तिर्भवति तन्निष्ठं तदाकारमज्ञानं सा नाशयतीति नियमात् प्रमातृप्रमेयोभयव्यापिन्यपरोक्षवृत्तिः स्वावच्छेदेनावरणमपसारयति, प्रकाशस्य स्वावच्छेदेनावरणापसारकत्वदर्शनात्। अतः प्रमात्रवच्छिन्नस्यासत्त्वावरणस्य प्रमेयावच्छिन्नस्याभानावरणस्य चापसारणाद् घटोऽयं मे स्फुरतीत्याद्यपरोक्षव्यवहारः। परोक्षस्थले तु

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यक्ति करती है, वही व्यक्ति उसी विषय को जानता है, न तो अन्य व्यक्ति उस विषय को जानता है और न उक्त प्रमाता व्यक्ति अन्य असम्बद्ध विषय को। इसी लिए जब एक ही वृत्ति में उपारोहणरूप एकलोलीभाव को प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय—तीनों चैतन्य प्राप्त होते हैं, तब उस विषय से अवच्छिन्न चैतन्य के अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर अनावृत प्रमेय चैतन्य अपरोक्ष फल कहा जाता है। वह स्वयं प्रकाशमान होकर अपने में अध्यस्त घटादि को भी प्रकाशित करता है, अतः घटादि पदार्थ उक्त फल के व्याप्य होते हैं। जिस प्रमाता में जिस विषय के आकार की वृत्ति होती है, उसी प्रमाता में उसी विषय के अज्ञान को वह वृत्ति नष्ट किया करती है—ऐसा नियम होने के कारण प्रमाता और प्रमेय—उभय-व्यापिनी अपरोक्ष वृत्ति (स्वावच्छेदेन) अपने घर से ही आवरण की यवनिका फाड़ फेंकती है, क्योंकि प्रकाश का यह नियम होता है कि वह स्वावच्छेदेन अन्धकार का अपसारण किया करता है। अतः प्रमातृ चैतन्यगत असत्त्वापादक और प्रमेय चैतन्यगत अभानापादक आवरण का अपसारण हो जाने पर 'घटोऽयं

अद्वैतसिद्धिः

इन्द्रियसन्निकर्षलक्षणद्वाराभावादन्तःकरणनिस्सरणाभावेन विषयपर्यन्तं वृत्तेरगमनाद्विषयावच्छिन्नप्रमेयचैतन्येन सह प्रमातृचैतन्यस्यैकवृत्त्युपारूढत्वाभावेनापरोक्षतयाऽभिव्यक्त्यभावेऽपि प्रमातृप्रमाणचैतन्ययोरेकलोलीभावापत्त्या प्रमात्रवच्छिन्नमसत्त्वावरणमात्रं निवर्तते, तावन्मात्रस्य वृत्त्यवच्छिन्नत्वात्। इदमेव सुषुप्तिव्यावृत्तिशब्देन विवरणाचार्यैर्व्याख्यातम्। विषयावच्छिन्नाभानावरणतत्कार्यसद्भावेऽपि प्रमात्रवच्छिन्नासत्त्वावरणनिवृत्त्या अनुमानादौ व्यवहारोपपत्तिः। अत एव जानाम्यहं पर्वते वह्निरस्तीति, स तु कीदृश इति मे न भातीत्यादिव्यवहारः। त्रयाणामेकलोलीभावे अपरोक्षत्वम्, द्वयोरेकलोलीभावे तु परोक्षत्वमिति न सङ्करः। वृत्तेश्च विषयेण समं साक्षादेवापरोक्षस्थले संबन्धः, परोक्षस्थले त्वनुमितेरनुमेयेन तद्व्याप्यज्ञानजन्यत्वम्, शाब्द्याः संसर्गेण सह तदाश्रयवाचकपदजन्यत्वम्, स्मृतेः स्मर्तव्येन सह तद्विषयानुभवजन्यत्वम्। एवमन्यत्रापि परम्परासंबन्ध एवेति परोक्षापरोक्षविभागः। विस्तरेण व्युत्पादितास्माभिरियं प्रक्रिया सिद्धान्तबिन्दौ। तस्माद्विषयस्य मिथ्यात्वेऽपि प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तेरिति दिक्॥ इत्यद्वैतसिद्धौ प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तिः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मे भाति'—इत्यादि व्यवहार प्रवृत्त होता है। परोक्ष-स्थल पर विषयेन्द्रिय-सन्निकर्षरूप द्वार के न होने पर अन्तःकरण बाहर निःसृत न होकर विषय-पर्यन्त वृत्ति के रूप में नहीं पहुँच पाता, अतः विषयावच्छिन्न प्रमेय चैतन्य के साथ प्रमातृ चैतन्य एक वृत्ति में उपारूढ़ नहीं होता, फलतः प्रमाता और प्रमाण रूप दो चैतन्यों का ही एकलोलीभाव होने के कारण प्रमातृ चैतन्यगत केवल असत्त्वापादक आवरण ही निवृत्त हो पाता है, क्योंकि प्रमातृ चैतन्य ही परोक्ष वृत्ति से अवच्छिन्न होता है। असत्वापादक आवरण की निवृत्ति को ही विवरणाचार्य ने 'सुषुप्तिव्यावृत्ति' शब्द से प्रतिपादित किया है—"सुषुप्तौ जानामीति व्यवहारो न जायते परोक्षवृत्त्या तु जानामीति व्यवहारो जायते, प्रमातृगतासत्त्वापादकाज्ञाननाशात्, अतः परोक्षवृत्तिदशायां सुषुप्तिव्यावृत्तिर्भवति" (पं० वि० पृ० ८५)। विषयावच्छिन्न अभानापादक अवरण और उसका कार्य (विषयाभान) रहने पर भी प्रमातृगत असत्त्वापादक आवरण के निवृत्ति हो जाने से अनुमेयादि में 'अस्ति'—इस प्रकार का व्यवहार उपपन्न हो जाता है। इसीलिए (असत्त्वापादक आवरण के निवृत्त और अभानापादक आवरण के निवृत्त न होने के कारण) 'जानाम्यहं पर्वते वह्निरस्ति, स तु कीदृश इति न भाति'—इस प्रकार का व्यवहार होता है। प्रमाता प्रमाण और प्रमेयरूप तीनों चैतन्यों का एकलोलीभाव होने पर विषयापरोक्षत्व और प्रमाता तथा प्रमाण—इन दो चैतन्यों की एकात्मता होने से परोक्षत्व होता है, अतः परोक्षत्व और अपरोक्षत्व का साङ्कर्य नहीं होता। अपरोक्ष-स्थल पर वृत्ति का विषय के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है, किन्तु परोक्ष-स्थल पर अनुमिति वृत्ति का अनुमेय के साथ विषय-व्याप्य-ज्ञान-जन्यत्व, शाब्द ज्ञानात्मक वृत्ति का अपने विषयीभूत संसर्ग के साथ संसर्गाश्रय-वाचक पद-जन्यत्व तथा स्मृति वृत्ति का स्मर्तव्य विषय के साथ स्मर्त्तव्य विषयविषयक अनुभव-जन्यत्वरूप परम्परा सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी परम्परा सम्बन्ध ही होता है। विस्तार-पूर्वक सिद्धान्तबिन्दु में हमने इस प्रक्रिया का व्युत्पादन किया है। फलतः विषय के मिथ्या होने पर भी प्रतिकर्म-व्यवस्था बन जाती है।

: ३५ :

प्रतिकूलतर्कविचारः

न्यायामृतम्

प्रतिकूलतर्कहताश्चैते । तथा हि—१. यदि विश्वं कल्पितं स्यात्, तदा साधिष्ठानादिकं स्यात्। भ्रान्तेस्सदृशं सत्यं चाधिष्ठानं प्रधानं दोषमज्ञानं बाधकज्ञानं द्रष्टारं देहेन्द्रियादिकं च विनायोगात्। निस्सामान्ये निर्विशेषे चात्मनि अधिष्ठानत्वे तन्त्रस्य सामान्यतो ज्ञातत्वे सत्यज्ञातविशेषवत्त्वस्याभावात्। उक्तं हि—

अधिष्ठानस्य कार्त्स्न्येन ज्ञानेऽज्ञाने च न भ्रमः।
ज्ञाताज्ञातविभागस्तु निर्विशेषे न युज्यते ॥ इति ।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—मिथ्यात्वानुमानं प्रतिकूलतर्कपराहतम्। तथा हि—विश्वं यदि कल्पितं स्यात्, सत्याधिष्ठानं स्यात्, न चैवम्, सामान्यतो ज्ञातत्वे सत्यज्ञातविशेषवत्त्वस्याधिष्ठानत्वप्रयोजकस्य निर्विशेषे निस्सामान्ये च ब्रह्मण्यसंभवादिति चेन्न, स्वरूपेण ज्ञातत्वे सति विशेषेणाज्ञातत्वस्याधिष्ठानत्वप्रयोजकत्वेनाज्ञातविशेषवत्त्वस्याप्रयोजकत्वात्। 'पुरुषो न वेति संशयधर्मिणः स्थाणोरप्यन्यत्र ज्ञातस्थाणुत्वरूपविशेषवत्त्वात् तत्राज्ञातविशेषवत्त्वमपि न प्रयोजकम्, विशेषवत्त्वेनाज्ञातत्वस्यैव लघुत्वेन प्रयोजकत्वात्। तथा च निस्सामान्ये निर्विशेषे च ब्रह्मणि स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानात् परिपूर्णत्वानन्दत्वादिना चाज्ञानादधिष्ठानत्वमुपपन्नम्। वस्तुतस्तु—कल्पितसामान्यविशेषवत्त्वं ब्रह्मण्यपि सुलभमेव, अकल्पितसामान्यविशेषवत्त्वं चाप्रसिद्धम्। न च तत्कल्पने अन्योन्याश्रयः, कल्पितसामान्यविशेषाणां प्रवाहानादित्वात्, सत्त्वानन्दत्वादीनामेव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

१. प्रथम तर्क—

द्वैतवादी—आप (अद्वैतवादी) के द्वारा प्रदर्शित प्रपञ्च-मिथ्यात्वानुमान प्रतिकूल तर्क से पराहत है—'विश्वं यदि कल्पितं स्यात्, साधिष्ठानं स्यात्।' अर्थात् प्रत्येक शुक्ति-रजतादि कल्पित वस्तु किसी-न-किसी अधिष्ठान में अध्यस्त होती है, किन्तु समस्त प्रपञ्च ही यदि कल्पित है, तब उसका अधिष्ठान कौन होगा ? सामान्यतः ज्ञात और विशेषतः अज्ञात शुक्त्यादि पदार्थ ही अधिष्ठान बनता है, ब्रह्म, सर्वथा सामान्य-विशेष भाव से रहित है, अतः उसमें विश्व-कल्पना की अधिष्ठानता सम्भव नहीं।

अद्वैतवादी—अधिष्ठानता का प्रयोजक धर्म होता है—स्वरूपेण ज्ञातत्व-विशिष्ट विशेषेणाज्ञातत्व। अर्थात् सामान्यरूप से ज्ञायमान और विशेषरूप से अज्ञायमान वस्तु अधिष्ठान होती है, उसमें सामान्य और विशेष धर्मों की विद्यमानता अपेक्षित नहीं होती। जैसे कि 'पुरुषो न वा ?' इस प्रकार के संशय का स्थाणुरूप धर्मी अन्यत्र स्थाणुत्वरूप विशेष धर्मेण ज्ञात है, अतः स्थाणु में भी अज्ञात विशेष धर्मवत्ता को संशय का हेतु नहीं माना जा सकता, केवल विशेषवत्त्वेन अज्ञातत्व को ही संशय का प्रयोजक मानने में लाघव है। फिर तो ब्रह्म भी स्वप्रकाशत्वेन ज्ञात और परिपूर्णत्व आनन्दत्वादि विशेष रूपेण अज्ञात होने के कारण विश्व-विभ्रम का अधिष्ठान बन सकता है।

वस्तुतः कल्पित सामान्य और विशेष धर्म ब्रह्म में भी सुलभ हैं, पारमार्थिक सामान्य और विशेष धर्म उसमें प्रसिद्ध नहीं। ब्रह्म में विश्व की कल्पना के लिए सामान्य-विशेष धर्मों की कल्पना में अन्योऽन्याश्रयादि दोष नहीं उद्भावित हो सकते, क्योंकि

न्यायामृतम्

ननु न सामान्यज्ञानं सद्विशेषाज्ञानं च तत्र तन्त्रम्, गौरवात्। किंतु स्वरूपज्ञानं विशेषाज्ञानं च, लाघवात्। तच्च स्वप्रकाशे निर्विशेषे चात्मन्यस्तीति चेन्न त्वन्मतेऽपि भ्रान्तेस्संकारादित्रयजन्यत्वात्। सामान्याकाराज्ञाने च संस्कारानुद्बोधात्। असद्विशेषाज्ञानस्य च बाधकालेऽपि सत्त्वात्। वल्मीके स्थाणुत्वभ्रमनिवर्तकस्यापि पुंस्त्वभ्रमस्य वल्मीकत्वप्रमानिवर्त्यत्वेनांततो भ्रमकालाज्ञाताधिष्ठानविशेषप्रमां विना भ्रमा-

---

अद्वैतसिद्धिः

कल्पितव्यक्तिभेदेन सामान्यत्वात्, परिपूर्णानन्दत्वादीनां च विशेषत्वात्। अत एव सामान्याकारज्ञानं विना संस्कारानुद्बोधात् कथमध्यास इति न वाच्यम्, सदात्मना स्वरूपज्ञानस्यैव सामान्यज्ञानत्वात्। न ह्यध्यसनीयं सदात्मना न भाति। एतावानेव विशेषः—यदधिष्ठानं स्वत एव सदात्मना भाति, अध्यसनीयं तु तत्संबन्धात्। ननु—अधिष्ठानतिरोधानं विना भ्रमासंभवः, प्रकाशरूपतिरोधाने तु तदध्यस्ताविद्यादेः प्रकाशानुपपत्तिरिति—चेत्, न, एकस्यैवानन्दाद्यात्मना तिरोहितस्य सदात्मना प्रकाशसंभवात्। तदुक्तं वार्तिककारपादैः—

यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिशम्।
तमप्यपह्नुतेऽविद्या नाज्ञानस्यास्ति दुष्करम्॥' इति।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उत्तरोत्तर अध्यास में पूर्व-पूर्व अध्यास की हेतुता अनादि प्रवाह के आधार पर मानी ही जाती है। सत्ता सामान्यात्मक ब्रह्म ही माया-कल्पित घट-पटादि में 'घटः सन्', 'पटः सन्'—इत्यादि रूप से प्रतीयमान सत्त्वादिरूप सामान्य, तथा परिपूर्णत्व, आनन्दत्वादि विशेष धर्म माने जा सकते हैं। इसी लिए यह आक्षेप भी समाप्त हो जाता है कि ब्रह्म में जब तक सामान्य और विशेष धर्म न माने जायँ, तब तक सामान्यादि का अनुभव नहीं हो सकता, अनुभवाहित संस्कारों के अभाव में सामान्यादि धर्मों की कल्पना या अध्यास कैसे होगा? क्योंकि इस प्रकार की शङ्का के समाधान में कहा जा सकता है कि सद्रूप से ब्रह्म के स्वरूप-ज्ञान को ही सामान्य-ज्ञान कहा जा सकता है। अध्यसनीय पदार्थों में सद्रूपेण अधिष्ठान की प्रतीति नहीं होती—ऐसा नहीं कह सकते। यद्यपि अध्यस्त और अधिष्ठान—दोनों ही सद्रूप से प्रतीत होते हैं, तथापि अधिष्ठान स्वतः सद्रूप से तथा अध्यस्त पदार्थ सद्रूप अधिष्ठान की तादात्म्यापत्ति के कारण सद्रूपेण प्रतीत होता है—यह दोनों सद्रूपों का अन्तर है।

शङ्का—ब्रह्मरूप अधिष्ठान तो सदा प्रकाशमान और अतिरोहित है, किन्तु अधिष्ठान के तिरोधान के बिना अध्यास सम्भव नहीं होता। यदि प्रकाशरूप ब्रह्म का तिरोधान मान लिया जाता है, तब उसमें अध्यस्त अविद्यादि का प्रकाश अनुपपन्न हो जायगा।

समाधान—एक ही ब्रह्म का आनन्दादिरूप से तिरोधान और सद्रूप से प्रकाश सम्भव है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिशम्।
तमप्यपह्नुतेऽविद्या नाज्ञानस्यास्ति दुष्करम्॥ (बृह० वा० पृ० १३९)

(अर्थात् जिस साक्षी के प्रकाश से ही अविद्यादि दिन-रात प्रकाशित होते हैं, अविद्या उसका भी अपलाप या तिरोधान कर डालती है, अतः अविद्या के लिए कोई कार्य

न्यायामृतम्

निवृत्तेश्च। (ननु) अथ भ्रमविरोधिज्ञानाभावस्तत्र तन्त्रम्, न तु विशेषाज्ञानम्। विश्वभ्रमोपादानाज्ञानस्य च श्रवणादिजन्यमात्ममात्रविषयं वृत्तिज्ञानं विरोधि न तु चिद्रूपज्ञानमिति चेन्न, तस्याविद्याविषयभंगे निरसिष्यमाणत्वात्।

किं चात्मानात्मनोर्दृग्दृश्यत्वात्मत्वानात्मत्वादिना भेदज्ञानान्न तदधिष्ठानाध्यस्तभावः। उक्तम् हि त्वयैव—

तत्तेदन्ते स्वतान्यत्वे त्वत्ताहन्ते परस्परम्।
प्रतिद्वन्द्वितया लोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः ।। इति।

स्त्वयमात्मेति पर्ययौ"—इति च। अपि चाधिष्ठानतिरोधानं विनाध्यासासम्भवस्य त्वयापि सम्मतत्वात् प्रकाशमात्रस्वभावस्य चात्मनः तिरोधाने प्रकाशनिह्नवत्वेन कथं तदधीनप्रकाशस्याविद्यादेरध्यस्तस्य प्रकाशः ? किं च घटाद्यनुविद्धत्वेनाप्रतीतस्यात्मनः

अद्वैतसिद्धिः

न च बाधकालेऽपि सद्विशेषाज्ञानमस्तीति—वाच्यम्, परिपूर्णानन्दत्वादेः सत एव विशेषत्वेन तदा तदज्ञानाभावात्, धर्मत्वमात्रस्यैव कल्पितत्वात्। यद्वा—भ्रमविरोधिज्ञानाभाव एव तन्त्रम्, न तु विशेषाज्ञानम्, विश्वोपादानगोचराज्ञानस्य श्रवणादिजन्यमात्ममात्रविषयकं वृत्तिरूपं ज्ञानं विरोधि, न तु चिद्रूपं स्वतः सिद्धं ज्ञानम्, भ्रमविरोधिनश्च वृत्तिरूपस्य ज्ञानस्येदानीमभावोऽस्त्येव। ननु—आत्मानात्मनोर्दृग्दृश्यत्वात्मानात्मत्वादिना भेदज्ञानात् कथमध्यस्ताधिष्ठानभाव—इति चेन्न, इदमनिदं न भवतीति पुरोवर्त्यपुरोवर्तिनोर्भेदग्रहेऽपीदं रजतमित्यध्यासवत् सन् घट

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दुःसाध्य नहीं। ब्रह्म ज्ञान और प्रमाण ज्ञान—दोनों ही विषय वस्तु के भासक होते हैं, किन्तु उनका अन्तर यह है कि ब्रह्मरूप ज्ञान आवृत होकर भी भासक होता है और प्रमाण ज्ञान अनावृत होकर ही भासक होता]।

शङ्का—आप (अद्वैतवादी) का सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म पूर्णानन्दरूप है, पूर्णत्व और आनन्दत्वादि धर्मोंवाला नहीं, तब ब्रह्म में न कोई विशेष धर्म रहता है और न उसका भ्रम-बाध के समय भान ही होगा, शुक्तित्वादि विशेष धर्मों का ज्ञान हुए बिना अध्यास की निवृत्ति ही नहीं होती।

समाधान—जिस के ज्ञान से भ्रम की निवृत्ति होती है, उसे ही विशेष धर्म कहते हैं। पूर्णत्वादि के ज्ञान से अध्यास का बाध होता है, अतः उन्हें विशेष धर्म कहना होगा, ब्रह्म का रूप होने पर भी पूर्णत्व आनन्दत्वादि में ब्रह्म की धर्मता केवल कल्पित होती है। अथवा भ्रम का प्रयोजक भ्रम-विरोधी ज्ञान का अभाव ही होता है, विशेषादर्शन नहीं। प्रपञ्चोपादान विषयक अज्ञान का श्रवणदि-जन्य आत्ममात्र विषयक वृत्तिरूप ज्ञान ही विरोधी होता है, स्वतः सिद्ध चिद्रूप ज्ञान नहीं। भ्रम काल में वृत्तिरूप भ्रम-विरोधी ज्ञान का अभाव होता ही है।

शङ्का—आत्मा और अनात्म पदार्थों का दृक्त्व-दृश्यत्व आत्मत्व-अनात्मत्वादि रूप से भेद ज्ञान रहने पर अध्यास नहीं हो सकता, जैसा कि भामतीकार ने कहा है—"अध्यासो हि भेदाग्रहेण व्याप्तः, तद्विरुद्धश्चेहास्ति भेदग्रहः, स विरोधितया भेदाग्रहं निवर्तयन् तद्व्याप्तमध्यासमपि निवर्तयति" (भामती पृ०)।

समाधान—शुक्ति-रजत-स्थल पर जैसे शुक्ति और रजत का पुरोवर्तित्व और

न्यायामृतम्

कथं तदधिष्ठानत्वम् ? न च सन् घट इति स्फुरति घट इति चात्मा तदनुविद्धतया भातीति युक्तम्, चाक्षुषादिज्ञाने रूपादिहीनात्माप्रतीतेरित्युक्तत्वात्। न च स्वप्रकाश-सदर्थभूतं घटाधिष्ठानं चैतन्यं स्वत एव भातीति युक्तम्, घटस्यापि तत्संबंधेन स्फुरण-सम्भवे वृत्तिवैयर्थ्यात्। घटः स्फुरतीत्यस्य च स्फुरणानुभवत्वेन घटानुभवत्वा-योगात्। नन्वथापि न प्रधानं भ्रमहेतुः, किंतु तत्संस्कारः, स च तत्प्रमयेव तद्-

अद्वैतसिद्धिः

इत्याद्यध्यासो भविष्यति। न हि रूपान्तरेण भेदग्रहो रूपान्तरेणाध्यासविरोधी, सन् घट इत्यादिप्रत्यये च सद्रूपस्यात्मनो घटाद्यनुविद्धतया भानान्न तस्य घटाद्यध्यासाधि-ष्ठानतानुपपत्तिः, सद्रूपेण च सर्वज्ञानविषयतोपपत्तेर्न रूपादिहीनस्याप्यात्मनः काल-स्येव चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्तिः।

ननु—विश्वं यदि कल्पितं स्यात्तदा सप्रधानं स्यात्, न चैवम्, तस्मात् न कल्पितमिति- चेन्न, अत्रापि प्रधानस्य सजातीयस्य सत्त्वात्, पूर्वप्रपञ्चसजातीयस्यै-वोत्तरप्रपञ्चस्याध्यसनात्। अध्यासो हि स्वकारणतया संस्कारमपेक्षते, न तु संस्कार-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अपुरोवर्तित्व रूप से भेद रहने पर भी इदन्त्व और रजतत्वरूप से भेद-ज्ञान न होने के कारण रजताध्यास होता है, उसी प्रकार 'सन् घटः'—यह अध्यास भी हो जायगा। रूपान्तर से भेद-ग्रह न तो रूपान्तर से भेदाग्रह को रोक सकता है और न उसके अध्यास रूप कार्य को, अतः आत्मा और अनात्म पदार्थों का आत्मत्व-अनात्मत्वरूप से भेद-ग्रह होने पर भी सत्त्व-घटत्वादिरूप से भेदाग्रह तथा उसके आधार पर 'सन् घटः' अध्यास बन जाता है। घट-पटादि में सद्रूप से अनुस्यूत सत् चैतन्य में घटादि-अध्यास की अधिष्ठानता अनुपपन्न नहीं हो सकती। सद्रूपेण आत्मा चाक्षुषाचाक्षुषादि सर्व ज्ञानों का विषय भी हो जाता है, अतः रूप-रहित होने पर भी आत्मा काल के समान ही चाक्षुष ज्ञान का विषय होता है, नैयायिकों ने भी रूप-रहित सत्तादि का चाक्षुष भान माना है—"सत्तागुणत्वे च सर्वेन्द्रियग्राह्ये समवायोऽभावश्च तथा" (न्या० वा० पृ० २०४)। वैयाकरणों ने भी माना है—"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते" (वाक्य० १।१२४)।

२. द्वितीय तर्क—

द्वैतवादी—'विश्वं यदि कल्पित स्यात्, तदा सप्रधानं स्यात्। ['अर्थात् अध्यास एक प्रकार से औपचारिक या गौण प्रतीति है, गौण प्रतीति प्रधान प्रतीति के बिना सम्भव नहीं, जैसे 'सिंहो माणवकः'—इस प्रकार की गौण प्रतीति तब तक सम्भव नहीं, जब तक वास्तविक या प्रधान सिंह की प्रतीति न हो, प्रधान सिंह के अनुभव से जनित संस्कार ही माणवकरूप गौण सिंह के जैसे प्रत्यायक माने जाते है, वैसे ही आपणस्थ वास्तविक रजत के अनुभव से उत्पादित संस्कार ही शुक्तिरूप औपचारिक रजत के प्रत्यायक होते हैं, अतः निष्कृष्ट तथ्य है कि प्रत्येक काल्पनिक वस्तु का वास्तविक प्रधान रूप प्रसिद्ध होता है, अतः] यदि दृश्यमान प्रपञ्च अध्यस्त या काल्पनिक मात्र है, तब इसका वास्तविक या प्रधान रूप कहीं अन्यत्र अवस्थित होना चाहिए, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं, अतः इसे काल्पनिक नहीं कहा जा सकता।

अद्वैतवादी—प्रपञ्चाध्यास में अपेक्षित प्रधानभूत सजातीय प्रपञ्च की सत्ता हमें भी स्वीकृत है, क्योंकि पूर्व-पूर्व प्रपञ्च के सजातीय प्रपञ्च का ही अध्यास होता है। अध्यास

न्यायामृतम्

भ्रमेणापि। अत्र च पूर्वपूर्वप्रपंचभ्रम अनादिः। न च प्रमाजन्य एव संस्कारो भ्रमहेतुः, सत्यपि संस्कारे प्रमाजन्यत्वाभावेन भ्रमाभावादर्शनात्। न च तार्किकस्येवाध्यस्तमेव देशान्तरादौ सदित्यावयोर्मतम्। मैवम्, एवं सत्याधिष्ठानधीरेव भ्रमहेतुः तद्धीश्च भ्रमरूपानादिरिति शून्यवादिरीत्याधिष्ठानस्याप्यसत्त्वापातेनाधिष्ठानत्वेन ब्रह्म सदिति त्वदुक्त्ययोगात्। अधिष्ठानवत्प्रधानस्याप्यत्राधात्। तथा च—

प्रधानमिव धीमात्रादधिष्ठानमपि भ्रमे।
हेतुस्सुगतरीत्या स्याद्वाधस्तु द्वयोस्समः॥

अद्वैतसिद्धिः

विषयस्य सत्यताम्, अनुपयोगात्। न च—प्रमाजन्य एव संस्कारो भ्रमहेतुः, अतो विषयसत्यत्वमावश्यकमिति—वाच्यम्, मानाभावाद्, विपरीते लाघवाच्च। अत एव—अध्यस्तसजातीयं पूर्वमध्यस्तापेक्षयाऽधिकसत्ताकमपेक्षणीयमित्यपि—निरस्तम्, सत्यतावदधिकसत्ताया अप्यनुपयोगात्। पूर्वं तज्ज्ञानमात्रमपेक्ष्यते, तच्चास्त्येव। ननु—एवमधिष्ठानस्यापि ज्ञानमात्रमेव हेतुः, न तु तदिति न सदधिष्ठानापेक्षा स्यादिति शून्यवादापत्तिरिति—चेन्न, अधिष्ठानस्य ज्ञानद्वारा भ्रमाहेतुत्वेऽप्यज्ञानद्वारा भ्रमहेतुत्वेन सत्त्वनियमात्। भ्रमोपादानाज्ञानविषयो ह्यधिष्ठानमित्युच्यते, तच्च सत्यमेव, असत्यस्य सर्वस्याप्यज्ञानकल्पितत्वेनाज्ञानाविषयत्वात्, तदसत्यत्वे तज्ज्ञानस्य भ्रमाबाधकत्वप्रसङ्गात्, जगति भ्रमबाधव्यवस्था च न स्यात्। बाधेन हि किंचिद्विरुद्धं तत्त्वमुपदर्शयता आरोपितमतत्त्वं बाधनीयम्, उभयाध्यासे तु किं केन बाध्येत ? अत

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की कारण-कोटि में संस्कार मात्र प्रविष्ट होता है, संस्कार-विषय का सत्यत्व नहीं, क्योंकि सत्यत्व उपयोगी नहीं। 'प्रमा-जन्य संस्कार ही भ्रम का हेतु होता है, अतः प्रमात्व में अपेक्षित विषय-सत्यत्व आवश्यक है'—ऐसी कल्पना में कोई प्रमाण नहीं, प्रत्युत विपरीत भ्रम-प्रमा-साधारण अनुभव-जन्य संस्कार मात्र को हेतु मानने में ही लाघव है। अत एव 'अध्यस्त से अधिक सत्ताक पदार्थ की सत्ता अध्यास में अपेक्षित होती है'—यह आग्रह भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि विषय-सत्यता के समान ही अधिक सत्ता भी अनुपयुक्त है। वस्तु के अध्यास से पहले वस्तु का ज्ञान मात्र अपेक्षित होता है, वह तो प्रकृत में है ही।

शङ्का—अध्यास में यदि अध्यसनीय विषय का ज्ञानमात्र अपेक्षित है, विषय-सत्ता आवश्यक नहीं, तब अधिष्ठान के भी ज्ञानमात्र को हेतु मानकर अधिष्ठान की सत्ता को भी तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए, फिर तो शून्यवाद आ धमकता है।

समाधान—अधिष्ठान में अध्यास की हेतुता ज्ञान के द्वारा (ज्ञान-विषयत्वेन) भी है और अज्ञान के द्वारा (अज्ञान-विषयत्वेन) भी, क्योंकि भ्रम के उपादानभूत अज्ञान के विषय को ही अधिष्ठान कहा जाता है। अज्ञान का विषय सत्य ही होता है, असत्य नहीं, क्योंकि असत्यमात्र अज्ञान-कल्पित अज्ञान-पश्चाद्भावी होता है, अनादि अज्ञान का विषय नहीं हो सकता—यह कहा जा चुका है। अधिष्ठान यदि असत्य मान लिया जाय, तब उसका ज्ञान भ्रम का निवर्तक न हो सकेगा और जगत् में भ्रम-बाध-व्यवस्था ही न हो सकेगी, क्योंकि भ्रम का बाधक ज्ञान तभी ही भ्रम का बाध कर सकता है, जब कि भ्रम के अतात्त्विक विषय से विरुद्ध किसी तात्त्विक वस्तु को विषय

न्यायामृतम्

एतत्प्रपञ्चासाध्यार्थक्रियाकारिणश्च तात्त्विकप्रपञ्चान्तरस्याभावे स्वोचितार्थक्रियाकारिणः श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्त्यादिकस्यास्यैवात्मन इव स्वोपाधौ निषेधायोगेन तत्र तात्त्विकत्वा-

अद्वैतसिद्धिः

एव भगवता भाष्यकारेण—"सत्यानृते मिथुनीकृत्ये" त्युक्तम् । ननु एतत्प्रपञ्चासाध्यार्थक्रियाकारिणः प्रपञ्चान्तरस्याभावेन स्वोचितार्थक्रियाकारिणोऽस्य न मिथ्यात्वमिति—चेन्न, स्वाप्नमायादौ व्यभिचारात्, स्वोचितार्थक्रियाकारित्वस्य पारमार्थिकसत्त्वाप्रयोजकत्वात् । नापि श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्त्यादिमत्त्वं सत्त्वे तन्त्रम्, स्वप्नप्रपञ्चे व्यभिचारात्, तस्यापि "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथस्सृजते" इत्यादिश्रुत्योत्पत्त्यादिप्रतिपादनात् । न च कल्पाद्यभ्रमायोगः, कल्पान्तरीयसंस्कारस्य तत्र हेतुत्वात् । न च जन्मान्तरीयसंस्कारस्य कार्यजनकत्वेऽतिप्रसंगः, अदृष्टादिवशेन क्वचिदुद्बोधेऽप्यन्यत्रानुद्बोधोपपत्तेः, कार्योन्नेयधर्माणां यथाकार्यमुन्न-

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

करे । अध्यास और अधिष्ठान—दोनों यदि मिथ्या हैं, तब किससे किस का बाध होगा ? अत एव भगवान् भाष्यकार ने कहा है—'सत्यानृते मिथुनीकृत्य' (ब्र. सू. भा. १।१।१) अर्थात् दो परस्पर-विरोधी सत्य और असत्य पदार्थों का ही तादात्म्यावभास अध्यास कहलाता है ।

शङ्का—शुक्ति-रजत को इस लिए मिथ्या माना जाता है कि विषयोचित भूषण-निर्माणादि कार्य-सम्पादन की योग्यता उसमें न होकर उससे भिन्न आपणस्थ रजत में होती है, किन्तु घटादि प्रपञ्च जब स्वोचित अर्थ क्रिया-कारी है, इससे भिन्न और कोई प्रपञ्च नहीं, तव इसे मिथ्या क्योंकर कहा जा सकता है ?

समाधान—उक्त शङ्का का तात्पर्य 'प्रपञ्चः सत्यः स्वोचितार्थक्रियाकारित्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं यथा शुक्तिरजतम्'—इस अनुमान में है । यह स्वप्न के मिथ्या स्त्री आदि एवं आसुरी माया-रचित पदार्थों में व्यभिचारी है, क्योंकि उनमें स्वोचित अर्थ-क्रिया-क्षमता रहने पर भी सत्यत्व नहीं रहता, अतः स्वोचित अर्थ-क्रिया-कारित्व पारमार्थिक सत्त्व का साधक नहीं हो सकता । श्रुति-स्मृति आदि प्रमाणों से प्रपञ्च की उत्पत्त्यादि सिद्ध होने के कारण भी प्रपञ्च में सत्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि स्वाप्न प्रपञ्च में ही व्यभिचार है, स्वाप्न प्रपञ्च की भी उत्पत्त्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित है—"न तत्र रथा न रथयोगा, न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" (बृह० ४।३।१०) किन्तु उसकी सत्यता नहीं मानी जाती ।

'पूर्व संस्कार को भ्रम का हेतु मानने पर कल्प के आरम्भ में पूर्व संस्कार सुलभ न होने के कारण भ्रम कैसे हो सकेगा ? इस शङ्का का समाधान यह है कि सृष्टि अनादि है, अतः कल्प के आरम्भ में भी पूर्वकल्पीय संस्कार सुलभ हैं, उन्हें भ्रम का हेतु माना जा सकता है । 'जन्मान्तरीय संस्कार यदि जन्मान्तर के आरम्भक हैं, तब इस जन्म में बिना अध्ययनादि के ही स्वाध्याय-स्मरणादि हो जाना चाहिए'—इस अतिप्रसङ्ग के निराकरण में कहा जा सकता है कि किसी-किसी को अदृष्ट विशेष के आधार पर पूर्व जन्म के संस्कार उद्‌बुद्ध होकर जाति-स्मरता प्रदान करते हैं, सभी के वैसे अदृष्ट नहीं होते, अतः उनके संस्कार अनुद्‌बुद्ध रह जाते हैं । फल के बल पर अनुमेय धर्मों की कल्पना फल के अनुरूप ही की जाती है । यदि पूर्व जन्म के संस्कार हेतु न माने जाँय,

न्यायामृतम्

पाताच्च। त्वन्मते प्रातिभासिकरूप्ये त्रैकालिकनिषेधस्य व्यावहारिकरूप्यविषयत्ववद् व्यावहारिकप्रपंचेऽपि नेह नानेति त्रैकालिकनिषेधस्य पारमार्थिकप्रश्चान्तरविषयत्वावश्यंभावाच्च। प्रातिभासिकस्यैव पारमार्थिकत्वाकारेण त्रैकालिकनिषेध इति तु निरस्तम्। कल्पाद्यभ्रमायोगाच्च कल्पान्तरीयसंस्काराद् भ्रमोत्पत्तौ च नारिकेरद्वीपवासिनो गुंजापुंजादावग्न्यारोपः स्यात्। एतज्जन्मन्यननुभूतातिक्तरसस्यापि बालस्य गुडादावास्यगतपित्तद्रव्यनिष्ठतिक्तत्वारोपस्तु अनन्यगतिकत्वाज्जन्मान्तरीयसंकारजन्यः। यद्वा माषराशिस्थमष्यां माषाभेदारोप इव गृह्यमाणारोपोऽयं न तु संस्कारजन्यः। किं च चैत्रेण मैत्रे संस्काराध्यासोऽपि मैत्रस्य भ्रमादर्शनाद् जगद्भ्रमहेतुसंस्कारस्य सत्त्वं दुर्वारम्। न च स्वेनाध्यस्तसंस्कारादेव भ्रमः, भ्रमात्पूर्वं स्वस्य कार्यानुमेयसंकाराध्यासनियमाभावात्।

अद्वैतसिद्धिः

यनात्, अन्यथ जातस्य स्तन्यपानादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्। ननु—चैत्रेण मैत्रे संस्काराध्यासेऽपि मैत्रस्य भ्रमादर्शनात् जगद्भ्रमहेतुसंस्कारस्य सत्त्वं दुर्वारम्, न च स्वेनाध्यस्तात्संस्काराद्भ्रमः, भ्रमात् पूर्वं स्वस्य कार्यानुमेयसंस्काराध्यासनियमाभावादिति—चेन्न, शुक्तिरूप्यस्य कुण्डलाजनकत्ववच्चैत्राध्यस्तसंस्कारस्य मैत्रभ्रमाजनकत्वेऽपि वणिग्वीथीस्थरूप्यस्य कुण्डलजनकत्ववत्स्वेनाध्यस्तस्य संस्कारस्य वियदाद्यध्यासजनकत्वोपपत्तेः। तत्प्रतीत्यभावेऽपि तदध्यासस्य पूर्वं सत्त्वात् कृत्स्नस्यापि व्यावहारिकपदार्थस्याज्ञातसत्त्वाभ्युपगमात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तब बालक की माता के स्तन-पान में प्रवृत्ति कैसे होगी ? [क्योंकि इष्ट-साधनता का ज्ञान ही प्रवर्तक होता है, इस जन्म में इष्ट-साधनता की अनुभूति स्तन-पान में हुई नहीं, अतः उसमें इष्ट-साधनता का स्मरण प्रवर्तक है, स्मरण पूर्वजन्मार्जित संस्कारो से ही हो सकता है, अतः पूर्व जन्म के संस्कारों में इस जन्म के व्यवहार की जनकता निश्चित है, जैसे कि न्याय-सूत्रकार ने कहा है -"प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्" (न्या० सू० ३।१।२२)।

शङ्का—[जिन जन्मान्तरीय संस्कारों को इस जन्म के व्यवहार का जनक माना जाता है, उन्हें सत्य मानना होगा, मिथ्या या अध्यस्त संस्कारों में व्यवस्थित कार्यक्षमता नहीं होती, अन्यथा] चैत्र के द्वारा मैत्र में संस्कारों का अध्यास होता है—'अयं मैत्रः सर्पसंस्कारवान्', उन अध्यस्त संस्कारों के द्वारा भी मैत्र को सर्प-भ्रम होना चाहिए, किन्तु नहीं होता, अतः प्रपञ्च-विभ्रम के हेतुभूत संस्कारों की पारमार्थिक सत्ता अटल है। 'अन्य के द्वारा अध्यस्त संस्कार भ्रम के हेतु नहीं होते, अपितु स्वयं अपने द्वारा अपने में अध्यस्त संस्कार ही भ्रम के जनक होते हैं'—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि माता-पिता के गुण-दोष-जनित संस्कार भी बालक की जीवन-यात्रा के पाथेय माने जाते हैं।

समाधान—यद्यपि-जैसे शुक्ति-रजत में कुण्डलादि की जनकता नहीं होती, वैसे ही चैत्राध्यस्त संस्कारों में मैत्रगत भ्रम की जनकता नहीं होती, तथापि आपणस्थ रजत में कुण्डल-जनकता के समान स्वयं अपने द्वारा अध्यस्त संस्कारों में मैत्रादि के वियदाद्यध्यास की जनकता बन जाती है। मैत्र को अपने संस्कारों की प्रतीति न होने पर भी उसमें संस्कारों की सत्ता निश्चित है, क्योंकि संस्कारादि-घटित समस्त प्रपञ्च की 'अज्ञात

न्यायामृतम्

यत्तूक्तं विवरणे गुणादिहीने ब्रह्मणि गुणादिकृतसादृश्याभावेऽपि केतकीगन्धसदृशस्सर्पगन्ध इति धीबलात् गन्ध इवेहापि सादृश्यान्तरं वा रक्तस्फटिक इत्यादिवत् सादृश्यं विनैवाध्यासोऽस्त्विति। तन्न, इह कल्पितस्यासादृश्य-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—प्रातिभासिकरूप्ये त्रैकालिकनिषेधस्य त्वन्मते व्यावहारिकरूप्यविषयत्ववद् व्यावहारिकप्रपञ्चेऽपि 'नेह नाने'ति त्रैकालिकनिषेधस्य पारमार्थिकप्रपञ्चान्तरविषयताऽवश्यं वाच्येति—चेन्न, भ्रमबाधवैयधिकरण्यापातेनास्य पक्षस्यानङ्गीकारपराहतत्वात्। अङ्गीकारेऽपि व्यावहारिकनिषेधे पारमार्थिकविषयत्वं न संभवति, अप्रतीतस्य निषेधायोगात्। प्रतीत्या सहाध्यासातिरिक्तसंबन्धाभावेन पारमार्थिके प्रतीतत्वाभावात्। ननु—प्रधानाधिष्ठानयोः सादृश्याभावात्कथमध्यासः? अथ निर्गुणयोरपि गुणयोः सादृश्यवदत्रापि किंचित्सादृश्यं भविष्यतीति, तन्न, निर्धर्मके ब्रह्मणि तस्याप्यध्यासाधीनत्वेनान्योन्याश्रयात्। यद्यपि सादृश्यं सोपाधिकाध्यासे न कारणम्, व्यभि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सत्ता मानी जाती है।

शङ्का—प्रातिभासिक रजत की प्रतीति-काल में सत्ता होने के कारण शुक्ति में प्रातिभासिक रजत का त्रैकालिक निषेध न होकर उससे अधिक सत्तावाले व्यावहारिक रजत का निषेध आप (अद्वैतवादी) मानते हैं, तब व्यावहारिक प्रपञ्च के आधार में व्यावहारिक का त्रैकालिक निषेध न कर उससे अधिक सत्तावाले पारमार्थिक प्रपञ्च का निषेध मानना चाहिए, इस प्रकार पारमार्थिक प्रपञ्च यदि सिद्ध हो जाता है, तब प्रपञ्च मात्र को मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

समाधान—शुक्ति में प्रसक्त प्रातिभासिक रजत का निषेध कर अप्रसक्त व्यावहारिक का निषेध मानने पर भ्रम और बाध का वैयधिकरण्य हो जायगा कि प्राप्त कुछ और, बाध्य कुछ और। अतः शुक्ति में व्यावहारिक रजत के निषेध का पक्ष स्-भ्युपगत नहीं। यदि शुक्ति में व्यावहारि रजत का निषेध मान भी लिया जाय, तब भी व्यावहारिक प्रपञ्च के आधार में पारमार्थिक प्रपञ्च का निषेध नहीं माना जा सकता, क्योंकि पारमार्थिक प्रपञ्च प्रतीत होता है? या नहीं? यदि प्रतीत नहीं होता; तब उसका निषेध भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रतीत पदार्थ का ही निषेध होता है, अप्रतीत का नहीं। यदि प्रतीत होता है, तब उसे अध्यस्त ही मानना होगा, क्योंकि उसका भी अपनी प्रतीति के साथ अध्यास से भिन्न और कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता—यह दृग्दृश्य-सम्बन्धानुपपत्ति के प्रकरण में सिद्ध किया जा चुका है, अतः प्रतीत प्रपञ्च को पारमार्थिक कदापि नहीं माना जा सकता।

३. तृतीय तर्क—

द्वैतवादी—शुक्ति में रजत का अध्यास तब हो सका, जब कि प्रधानभूत व्यावहारिक रजत और शुक्तिरूप अधिष्ठान में चाकचिक्यरूप सादृश्य था। दो पदार्थों की समानाकारता या समानगुणता का नाम ही सादृश्य है, प्रपञ्च-विभ्रम में अपेक्षित पूर्व प्रपञ्चरूप प्रधान और निराकार निर्गुण ब्रह्म में किसी प्रकार का सादृश्य नहीं बन सकता, अतः ब्रह्म में प्रपञ्च-भ्रम क्योंकर होगा? यहाँ यह प्रतिकूल तर्क प्रस्तुत है—'विश्वं यदि कल्पितं स्यात्, तदा प्रधानाधिष्ठानयोः सत्यं सादृश्यं स्यात्।' विवरणकार

न्यायामृतम्

स्याप्यविद्याध्यासाधीनत्वेनान्योन्याश्रयात् । रक्तस्फटिक इत्यस्य सोपाधिकभ्रमत्वेन निरुपाधिके सादृश्यनियमाच्च, रक्तद्रव्यस्फटिकयोरपि द्रव्यत्वादिना सदृशत्वाच्च ।

अद्वैतसिद्धिः

चारात्, तथापि निरुपाधिकाध्यासेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यावश्यमपेक्षणीयत्वात् सोपाधिकेऽपि 'रक्तः स्फटिक' इत्यादौ द्रव्यत्वादिना सादृश्यस्य सत्त्वाच्चेति—चेन्न, अविद्याध्यासस्यानादित्वेन कारणानपेक्षस्य सादृश्यानपेक्षत्वाद्, अन्तःकरणाध्यासे त्वविद्यासंबन्धित्वस्यैव सादृश्यस्य विद्यमानत्वात् । वस्तुतस्तु—न भ्रमे सादृश्यापेक्षानियमः, निरुपाधिकेऽपि 'पीतः शङ्ख' इत्यादौ व्यभिचारात् । 'रक्तः स्फटिक' इत्यादावपि द्रव्यत्वादिना सादृश्यमस्तीत्यपि न, प्रधानमात्रवृत्तितया प्रागवगतमध्याससमये चाधिष्ठानवृत्तितया गृहीतं यत् तदेव हि सादृश्यं विपर्ययप्रयोजकमिति त्वयापि वाच्यम्, न तु प्रागेव प्रधानाधिष्ठानोभयवृत्तितया गृहीतम्, तस्य संशायकत्वात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ने जो निराकर और निर्गुण पदार्थों का सादृश्य दिखाया है—"गुणावयवसामान्याभावेऽपि केतकीगन्धसदृशः सर्पगन्धः" (पं० वि० पृ० ६१)। उसके आधार पर प्रपञ्च का सादृश्य ब्रह्म में तभी बनाया जा सकता है, जब कथित कल्पित गन्धगत विलक्षण सादृश्य के समान ही ब्रह्म में किसी सादृश्य की कल्पना की जाय, अतः सादृश्याध्यास और प्रपञ्चाध्यास का परस्पर अन्योऽन्याश्रय हो जाता है। यद्यपि 'रक्तःस्फटिकः' के समान सोपाधिक अध्यास में सादृश्य व्यभिचरित होने के कारण अध्यास का हेतु नहीं, तथापि आत्मानात्मादि के निरुपाधिक अध्यास की अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर सादृश्य में कारणता अवश्य अपेक्षणीय है। विवरणकार ने भी कहा है—"भूयोऽवयवसामान्यसादृश्याभावाद् आत्मनि कर्तृत्वादेः अहङ्काराद्युपाधिनिमित्तविभ्रमेऽपि, शरीराद्यध्यासस्य सोपाधिक-भ्रमत्वाभावाद् द्रष्टरि अहङ्कारादिशरीरान्तपदार्थाध्यासस्यासम्भवं प्राप्तमङ्गीकरोति" (पं० वि० पृ० ६०)। 'रक्तः स्फटिकः' इत्यादि सोपाधिक भ्रम में तो जपा-कुसुम और स्फटिक का द्रव्यत्वादिरूप से सादृश्य विद्यमान है, अतः सादृश्य के बिना भ्रम सम्भव नहीं, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने कहा है—सर्वत्र रजतोदकादिभ्रमे शुक्तिरजतयोर्वा मरुमरीचिकासलिलयोर्वा सारूप्यमेव निमित्तं प्रतीमः" (ता० टी० पृ० ८३)।

अद्वैतवादी—अविद्यादि षड्विध अनादि पदार्थों के अध्यास में किसी भी कारण की अपेक्षा न होने के कारण सादृश्य भी अनपेक्षित ही है। अन्तःकरणादि सादि पदार्थों के अध्यास में अविद्या-सम्बन्धित्वरूप सादृश्य विद्यमान ही है। वस्तुतः भ्रम में नियमतः सादृश्य की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि 'पीतः शङ्खः'- इत्यादि निरूपाधिक अध्यास में सादृश्य न होने पर भी भ्रम देखा जाता है, अतः सादृश्य व्यभिचारी है। 'रक्तः स्फटिकः' इत्यादि सोपाधिक अध्यास में भी द्रव्यत्वादि रूप से सादृश्य है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो भ्रम से पूर्व प्रधानमात्र-वृत्तितया और अध्यास के समय अधिष्ठान-वृत्तितया गृहीत हो, वही सादृश्य भ्रम का कारण आप को भी मानना होगा, किन्तु जो सादृश्य भ्रम से पहले प्रधान और अधिष्ठान—उभय-वृत्तित्वेन निश्चित हो, उसे विपर्यय का कारण नहीं, संशय का कारण माना जाता है। द्रव्यत्वादि रूप सादृश्य ऐसा ही है अर्थात् जपा-कुसुम और स्फटिक—उभय में वृत्ति देखा गया है, अतः वह भ्रम का कारण

अद्वैतसिद्धिः

द्रव्यत्वादि च लोहितालोहितवृत्तितया प्राग्गृहीतमिति न विपर्ययप्रयोजकम्। किं च सादृश्यं न स्वतो भ्रमकारणम्, मानाभावात्, किं तु संस्कारोद्बोधेन सामग्रीसंपादकतया, संस्कारोद्बोधश्च न सादृश्यैकनियतः, अदृष्टादिनापि तत्संभवात्। तदुक्तम्—'सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' इति। चिन्तादिकं च प्रणिधानसूत्रे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं माना जा सकता।

दूसरी बात यह भी है कि सादृश्य को स्वतः भ्रम का कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं, किन्तु वह संस्कारोद्बोधन के द्वारा भ्रम की सामग्री का सम्पादक होता है। संस्कारों का उद्बोधन केवल सादृश्य पर निर्भर नहीं, अदृष्टादि के द्वारा भी हो सकता है, जैसा कि कहा गया है—"सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः।" चिन्तादि का व्याख्यान 'प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः" (न्या० सू० ३।२।४१) इस सूत्र में [भाष्यकार ने प्रस्तुत किया है—

१. **प्रणिधान**—मन की एकाग्रता (सुस्मूर्षया मनसो धारणम्)।
२. **निबन्ध**—एक सूत्र में आबद्ध पदार्थ परस्पर एक-दूसरे के स्मारक होते हैं।
३. **अभ्यास**—पुनरावृत्ति
४. **लिङ्ग**—व्याप्य को लिङ्ग या हेतु कहा जाता है। व्याप्य पदार्थ चार प्रकार के होते हैं—
   (१) संयोगी—पर्वत-संयोगी धूम अग्नि का स्मारक होता है।
   (२) समवायी—गो शरीर के समवायी विषाणादि गो के स्मारक होते हैं।
   (३) एकार्थसमवायी—आम्र-समवेत रूप अपने समवायी में समवेत स्पर्शादि का स्मारक होता।
   (४) विरोधी—संघर्ष-रत सर्प नकुल का और नकुल सर्प का स्मारक होता है।
५. **लक्षण**—सांकेतिक चिह्न, जैसे कपिध्वज को देख कर अर्जुन का स्मरण।
६. **सादृश्य**—गवय-दर्शन से गो का स्मरण होता है, क्योंकि दोनों में सादृश्य होता है।
७, **परिग्रह**—स्वामी और दासादि के पारस्परिक आवर्जन परस्पर के स्मारक होते हैं।
८. **आश्रयाश्रित**—ग्राम का आश्रय ग्राम-नायक अपने क्षेत्र का स्मारक होता है।
९. **सम्बन्ध**—गुरु-शिष्यभावादि सम्बन्ध के आधार पर एक से दूसरे का स्मरण होता है।
१०. **आनन्तर्य**—'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' में वेद-करण के अनन्तर वेदि-करण का स्मरण होता है।
११. **वियोग**—विरह-व्यथा से एक दूसरे का स्मरण करता रहता है।
१२. **एककार्यकारिता**—एक कार्य में रत व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे का स्मरण करते है।
१३. **विरोध**—प्रतिद्वन्द्विता के कारण एक दूसरे का स्मरण करता है।
१४. **अतिशय**—उपनयनादि संस्कार संस्कर्ता आदि के स्मारक होते है।
१५. **प्राप्ति**—दानादि-प्राप्ति दाता की स्मारिका होती है।
१६. **व्यवधान**—म्यान तलवार का राज-प्रासाद अन्दर की चहल-पहल का स्मारक होता है।
१७. **सुख-दुःख**—सुख और दुःख अपने पुण्य-पाप कृत्यों के स्मारक होते हैं।

न्यायामृतम्

न च दोषादिकं विना भ्रमशंकयः, अप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वाद्यापातात् । एवं द्रष्ट्रभावेऽपि न भ्रमशंक्यः, भ्रमस्य समानाश्रयप्रमानिवर्त्यत्वेन ज्ञानस्य ज्ञातृसापेक्षत्वेन च द्रष्टुरवश्यंभावात् । एवं देहेन्द्रियाद्यभावेऽपि न भ्रमशंक्यः । प्रलये सत्यप्यज्ञानादौ देहादेरभावेन प्रमाया इव करणजन्यभ्रमस्याप्यदर्शनात् । न च रूप्याद्यध्यासे दोषादीनां

अद्वैतसिद्धिः

व्याख्यातम् । तथा चान्यतः संस्कारोद्बोधे सति सादृश्यमनुपयोगि । तदुक्तं विवरणे—'निरुपाधिकभ्रमकार्यदर्शनमेव गुणावयवसामान्याभावेऽपि केतकीगन्धसदृशः सर्पगन्ध इतिवत् सादृश्यान्तरं वा, शङ्खपीतिमादाविव कारणान्तरं वा कल्पयती'ति । ननु—दोषं विना भ्रमस्वीकारे तदप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वापत्तिः, दोषजन्यत्वस्वीकारे तु दोषस्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

१८. **इच्छाद्वेष**—इच्छा या स्नेह से मित्र और द्वेष से शत्रु का स्मरण होता है ।
१९. **भय**—भय के कारण मृत्यु का स्मरण होता ही रहता है ।
२०. **अर्थित्व**—याचना दाता का स्मरण दिलाती रहती है ।
२१. **क्रिया**—रथादि की क्रिया या रचना रथकार का स्मरण कराती है ।
२२. **राग**—रागियों का राग लीला-विलास का स्मरण देता रहता है ।
२३. **धर्माधर्म**—धर्म और अधर्म के आधार पर जन्मान्तरीय सुख-दुःखादि का स्मरण होता है ।

भाष्यकार पक्षिलस्वामी ने यह भी कहा है कि—"निदर्शनं चेदं स्मृतिहेतूनाम्, न परिसंख्यानम्", अर्थात् स्मृति-जनक संस्कारों के इतने ही उद्बोधक नहीं, अनन्त है, यह सूत्र तो दिग्दर्शन मात्र है] । अतः सादृश्य को छोड़कर किसी अन्य उद्बोधक के द्वारा संस्कार का उद्बोधन हो जाने पर सादृश्य का कोई उपयोग नहीं रह जाता [इसीलिए संक्षेपशारीरककार कहते हैं—

"सादृश्यधीप्रभृति न त्रितयं निमित्त-
मध्यासभूमिषु जगत्यनुगच्छतीदम् ।
ब्राह्मण्यजातिपरिकल्पनमात्मनीष्टम्,
जात्या न साम्यमुपलब्धमिहास्ति किञ्चित् ॥" (सं० शा० १।२८)

अर्थात् सादृश्य-ज्ञान, करण-दोष तथा संस्कार—तीनों सर्वत्र अध्यास की सामग्री में उपलब्ध नहीं होते, अतः अध्यास के कारण ही नहीं माने जा सकते, क्योंकि आत्मा में ब्राह्मणत्वादि जाति का जहाँ अध्यास होता ही है, वहाँ आत्मा में ब्राह्मणत्वादि का कोई सादृश्य नहीं पाया जाता] । विवरणाचार्य ने भी कहा है—"निरुपाधिकभ्रमकार्यदर्शनमेव गुणावयवसामान्याभावेऽपि केतकीगन्धसदृशः सर्पगन्ध इतिवत् सादृश्यान्तरं वा शङ्खपीतादाविव कारणान्तरं वा कल्पयति" (पं० वि० पृ० ६१) । [अर्थात् 'शङ्खः पीतः'—इत्यादि निरुपाधिक भ्रम में गुणवत्त्व या भूयोऽवयवसामान्यवत्त्वरूप सादृश्य सम्भव नहीं, क्योंकि पीतरूपात्मक गुण में न गुणवत्ता ही है और न अवयववत्ता, अतः निरुपाधिक भ्रम में या तो उक्त सादृश्य से भिन्न कुछ और ही सादृश्य की परिभाषा करनी होगी या सादृश्य को छोड़ कर संस्कारोद्बोधक कारणान्तर ही मानना होगा] ।

४. चतुर्थ तर्क—

द्वैतवादी—[काच-कामलादि दोषों को भ्रमादि का हेतु मानकर ही भ्रमादिगत अप्रामाण्य (अप्रमात्व) में परतस्त्व का उपपादन किया जाता है—

न्यायामृतम्

देहेन्द्रियान्तानां व्यावहारिकं वा करणादिसमं वा सत्त्वं तन्त्रमिति जगदध्यासेऽपि तथेति वाच्यम्, दोषादीनां व्यावहारिकसत्त्वस्याद्याप्यसिद्ध्यान्योन्याश्रयात्। परमार्थ-(पारमार्थिक)सत्त्वस्य त्वौत्सर्गिकप्रामाण्येन सिद्धत्वात्। इह साक्षिरूपाज्ञानादि-प्रतीतौ करणाभावाच्च, रूपाद्यध्यासे करणादेरप्यधिष्ठानसमस(त्ताकत्वे)त्वेनेहापि तथा-

अद्वैतसिद्धिः

ऽध्यसनीयत्वेनानवस्थापत्तिरिति - चेन्न, अनाद्यविद्याध्यासस्य दोषानपेक्षत्वात्। साद्यध्यासस्य चाविद्यादोषजन्यत्वात् नाप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम्, नाप्यनवस्था। अन्यथा तार्किकाणामप्यनादिप्रमा गुणं विनापीति प्रामाण्यपरतस्त्वं भज्येत। जन्य-प्रमामात्रस्य गुणजन्यत्वं तु जन्याध्यासमात्रस्य दोषजन्यत्वेन समम्। ननु - लाघवेन प्रथमोपस्थितत्वेन च प्रवृत्तिमात्रं प्रति ससर्गभिय इव धूममात्रं प्रति वह्नेरिव चाध्यास-मात्रं प्रति दोषादीनां जनकत्वादविद्याध्यासोऽपि कथं क्लृप्तकारणेन विना भवतु ?

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः।
वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र सम्भवो दुष्टकारणात्॥ (श्लो० वा० पृ० ६१)

अर्थात् अप्रमा ज्ञान तीन प्रकार का होता है—मिथ्या ज्ञान या भ्रम, संशय और अज्ञान। इनमें प्रथम दो भावात्मक होने के कारण दोष-सहित इन्द्रियों से उत्पन्न होते हैं]। यदि दोष के विना ही भ्रम माना जाता है, तब भ्रमगत अप्रामाण्य में भी प्रामाण्य के समान ही स्वतस्त्व मानना होगा, फिर तो बौद्ध सिद्धान्त मानना पड़ेगा और भ्रम को दोष-जनित मानने पर अनवस्था होती है, क्योंकि दोष भी प्रपञ्चान्तर्गत एक अध्यसनीय पदार्थ है, उसके अध्यासार्थ अन्य दोष और अन्य दोष के अध्यासार्थ अन्य दोष की आवश्यकता होगी। इस प्रकार यह एक चतुर्थ प्रतिकूल तर्क उपस्थित होता है—'विश्वं यदि कल्पितं स्यात्, तदा सत्यदोषोपेतं स्यात्'।

अद्वैतवादी—अविद्या-जैसे अनादि पदार्थों के अध्यास में तो दोष की अपेक्षा ही नहीं और सादि अध्यास अविद्यारूप दोष से जनित है, अतः भ्रमगत अप्रामाण्य में स्वतस्त्वापत्ति नहीं होती। अविद्यारूप दोष अनादि है, अतः उसके अध्यास में दोषान्तर की अपेक्षा न होने से अनवस्थापत्ति भी नहीं होती। अन्यथा (अनादि-अध्यास के दोष-जन्य न होने मात्र से अध्यासगत अप्रामाण्य में स्वतस्त्वापत्ति मानने पर) तार्किक मत में भी अनादि ईश्वरीय प्रमा के गुण-जन्य न होने मात्र से प्रमात्व में नैयायिक मत-सिद्ध परतस्त्व भंग हो जायगा। जन्य प्रमा में गुण-जन्यत्व यदि प्रामाण्य-परतस्त्व का साधक है, तब जन्य अध्यास में दोष-जन्यत्व अप्रामाण्य-परतस्त्व का साधक क्यों न होगा ?

शङ्का—अख्यातिवादी प्रभाकर मिश्र प्रवृत्तिमात्र में असंसर्गाग्रह को हेतु मानते हैं, उनके आलोचकों का कहना है कि असंसर्गाग्रह की अपेक्षा संसर्गग्रह लघु एवं प्रथम उप-स्थित है, क्योंकि असंसर्ग का अर्थ होता है—संसर्गाभाव, संसर्गाभाव में अपेक्षित संसर्गरूप प्रतियोगी की प्रथमतः उपस्थिति अनिवार्य है। इसी प्रकार जैसे महानसीय वह्नित्वेन कारणता और महानसीय धूमत्वेन कार्यता की अपेक्षा धूमत्वेन-वह्नित्वेन कार्य-कारण-भाव मानने में लाघव भी है और महानसीय धूमत्वादि की अपेक्षा धूमत्वादि की उपस्थिति पहले भी होगी, वैसे ही लाघव और प्रथमोपस्थिति को ध्यान में रखकर

न्यायामृतम्

त्त्यापाताच्च, दोषादेरध्यस्तत्वे तदभावस्य तात्त्विकत्वापातेनातात्त्विकेन च तात्त्विक-कार्यप्रतिबंधायोगेन दुष्टतया बौद्धकल्पितवेदजन्यज्ञानस्येव जगज्ज्ञानस्य प्रामाण्या-पाताच्च, दोषाद्यध्यासस्यापि दोषान्तरापेक्षत्वेनानवस्थाद्यापाताच्च, कस्यचिद्दोषा-भावेऽप्यारोपे अप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं स्यात् ।

न चानादित्वेन वा भेदवत् स्वनिर्वाहकत्वेन वाविद्याख्यदोषस्य तदनपेक्षा, तत एवाधिष्ठानानपेक्षापातात् । विषयस्यानादित्वेऽपि प्रतीतेर्दोषाजन्यत्वे अप्रामाण्या-योगाच्च । "अविद्यारोपे तस्या एव दोषत्वे लाघवेन जगदारोपेऽपि तस्या एव दोषत्वा-पाताच्च" स्वनिर्वाहकत्वे भेदो भिन्न इतिवदज्ञानमज्ञातमिति व्यवहारसम्भवेऽपि प्रतीति-

अद्वैतसिद्धिः

अन्यथा संसर्गधीरपि प्रवृत्तिविशेषे वह्निरपि धूमविशेषे हेतुरिति स्यात्, तथा-चाख्यातिवादश्चानुमानमात्रोच्छेदश्चापद्येयाताम् । किं च अविद्यारूपविषयस्यानादि-त्वेऽपि तत्प्रतीतेर्दोषाजन्यत्वे प्रामाण्यापातः, अप्रामाण्यप्रयोजकस्य दोपजन्य-स्याभावात् ।

अथ भेदवदविद्याख्यदोषस्य स्वपरनिर्वाहकत्वम्, एवमपि भेदो भिन्न इतिवद् 'अज्ञानमज्ञात'मिति व्यवहारो भवतु, प्रतीतिमात्रशरीरस्य स्वविषयधीहेतुत्वं कुतः ? स्वस्य स्वस्मात् पूर्ववृत्तित्वासंभवादिति चेन्न, अध्यासत्वस्य लघुत्वेऽपि प्रथमो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अध्यासत्वेन और दोषत्वेन कार्य-कारणभाव मानना ही उचित है, जन्याध्यासत्वेन विशेष-दोषत्वेन नहीं । सादि अध्यास-स्थल पर जो कार्य-कारणभाव निश्चित हुआ है, अविद्यादि अनादि पदार्थों का अध्यास उसका अपवाद क्योंकर होगा ? नहीं तो संसर्ग-ग्रह में भी केवल संवादि प्रवृत्ति एवं वह्नि में केवल अपर्वतीय धूम की ही कारणता बनेगी और भ्रम-स्थल पर असंसर्गाग्रह को ही हेतु कहा जा सकेगा, तब तो प्रभाकर-सम्मत अख्यातिवाद तथा अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायगा] । फलतः अविद्या के अध्यास में भी दोष की अपेक्षा और उस दोष के अध्यास में दोषान्तर की अपेक्षा रूप अनवस्था दुरुद्धर है ।

दूसरी बात यह भी है कि अनादि अविद्यारूप विषय की प्रतीति यदि दोष-जन्य नहीं, तब उस में प्रामाण्य की प्राप्ति होगी, क्योंकि अप्रामाण्य-प्रयोजक दोष-जन्यत्व न रहने के कारण उसे अप्रमा कदापि न माना जा सकेगा । यदि कहा जाय कि 'घटो भिन्नः' इस प्रकार के व्यवहार में एक भेद अपेक्षित होता है, 'भेदो भिन्नः'—इस व्यवहार में भेदान्तर और भेदान्तर के भिन्नत्व-व्यवहार में भेदान्तर की अपेक्षा—इस प्रकार की अनवस्थापत्ति का निराकरण एक ही भेद को स्वपर-प्रतीति का निर्वाहक मान कर जैसे किया जाता है, वैसे ही अविद्या दोष को भी स्वपर-अध्यास का प्रयोजक मान कर अनवस्थापत्ति का परिहार क्यों नहीं किया जा सकता ? तो वैसा कहना संगत नहीं, क्योंकि अविद्या का स्वरूप सम्पन्न हो जाने पर 'भेदो भिन्नः'—के समान 'अविद्या अविदिता'—यह व्यवहार बन जायगा, किन्तु अविद्या के प्रतीतिमात्रात्मक स्वरूप के सम्पादन में अविद्यारूप दोष को हेतु क्योंकर माना जा सकता है ? नहीं तो 'स्वं यदि स्वस्य जनकं स्यात्, तदा स्वपूर्ववृत्ति स्यात्'— ऐसा प्रतिकूल तर्क उपस्थित होता है ।

समाधान—यद्यपि अध्यासत्व धर्म लघु भी है और प्रथम उपस्थित भी, तथापि

न्यायामृतम्

मात्रशरीरस्वविषयधीहेतुत्वेन स्वस्य स्वस्मात्पूर्वभावित्वायोगाच्च, बाधकज्ञानस्यापि बाध्यत्वे बाधपरंपरयानवस्था (देवं) था वक्ष्यमाणत्वाच्च। रूप्याद्यध्यासेऽधिष्ठानस्यापि तदेव सत्त्वं तंत्रमितीहाप्यधिष्ठानस्यापि तथात्वापत्तेश्च। न च तत्राधिष्ठानज्ञानाबाध्यं सत्त्वं तन्त्रम्, दोषादीनां तु व्यावहारिकं तंत्रमिति वैरूप्यकल्पनमसति बाधके युक्तम्। न चेह दोषादीनां मिथ्यात्वमेव बाधकम्, अन्योऽन्याश्रयात्। न च कतिपयाध्यासे प्रातिभासिकाध्यासे साद्यध्यासे वा दोषादिसत्त्वं तंत्रम्, न त्वधिष्ठानेतरसर्वाध्यासे व्यावहारिकाध्यासे वा अनाद्यध्यासे वेति युक्तम्, अधिष्ठानेतरसर्वाध्यास एवायुक्त इत्युच्यमानत्वात्। लाघवेन प्रथमोपस्थितत्वेन च प्रवृत्तिमात्रधूममात्रे प्रति संसर्गधी वह्निरिवाध्यासमात्रं प्रति तस्य तंत्रत्वाच्च। अन्यथा संसर्गधीवह्नी अपि संवादिप्रवृत्त्य-पर्वतीयधूमौ प्रति हेतू स्यातामित्यनुमानमात्रोच्छेदः। एवं साधिष्ठानेऽध्यासे प्राति-

अद्वैतसिद्धिः

पस्थितत्वेऽपि न दोषजन्यतायां तन्त्रत्वम्, दोषस्यापि दृश्यत्वेनाध्यसनीयतयाऽन-वस्थापत्तेः। यथा नित्यज्ञानवादिनां ज्ञानत्वस्य न शरीरजन्यतादाववच्छेदकत्वम्, न वा गुणजन्यत्वस्य प्रामाण्यप्रयोजकत्वम्, बाधकबलात्, तद्वत् जन्याध्यासं प्रत्येव दोषादीनां कारणत्वम्, गुणाजन्यत्वेऽप्यबाधितविषयतया नित्यज्ञानप्रामाण्यवत् दोषा-जन्यत्वेऽपि बाधितविषयतयाऽनाद्यध्यासस्याप्यप्रामाण्योपपत्तिः। बाधितविषयत्वेऽपि न दोषजन्यत्वमवच्छेदकम्, दोषजन्यत्वेऽप्यवच्छेदकान्तरान्वेषणेऽनवस्थापातात्। बाधितविषयत्वस्य दोषाजन्यवृत्तित्वेऽपि दोषजन्यत्वस्य तद्व्याप्यत्वोपपत्तेः। अत एव शबरस्वामिना 'यस्य दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनो नान्य' इति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दोष-जन्यत्व का प्रयोजक (व्याप्य) नहीं हो सकता [अर्थात् 'यत्र-यत्र अध्यासत्वम्, तत्र-तत्र दोषजन्यत्वम्'—ऐसी व्याप्ति मानने पर दोषाध्यास में दोषान्तर-परम्परा की अपेक्षारूप अनवस्था प्राप्त होती है। पर्वतीय अग्नि में पर्वतीय धूम की कारणता मानने पर कोई दोष प्रसक्त नहीं होता, अतः वहाँ वह्नित्वेन-धूमत्वेन कार्यकारणभाव बनाया जा सकता है, प्रकृत में अध्यासत्वेन-दोषत्वेन नहीं]। जैसे ईश्वरीय ज्ञान को नित्य मानने वाले तार्किकों के मत में न ज्ञानत्व को शरीर-जन्यता का अवच्छेदक माना जा सकता है और न गुण-जन्यता को प्रामाण्य का प्रयोजक, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान में शरीर जन्यत्व और गुण-जन्यत्व—दोनों का बाध हो जाता है। वैसे ही अनादि अध्यास-वाद में जन्य अध्यास की ही कारणता दोषादि में मानी जा सकती है, अध्यासमात्र की नहीं। ईश्वरीय ज्ञान गुणाजन्य होने पर भी अबाधितविषयक होने के कारण जैसे प्रमाण माना जाता है, वैसे ही दोषाजन्य होने पर भी बाधितविषयक होने के कारण अनादि अध्यास में अप्रामाण्य बन जाता है। बाधितविषयकत्व में भी दोष-जन्यत्व को अवच्छेदक या व्यापक नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोषाध्यास में भी अवच्छेद-कान्तर की अपेक्षा होने से अनवस्था प्रसक्त होती है। दोषाजन्य अनादि अविद्याध्यास में बाधितविषयकत्व रहने के कारण दोष-जन्यत्व में बाधितविषयत्व की व्याप्यता बन जाती है—यद्-यद् दोषजन्यम्, तत्तद् बाधितविषयम्।' अत एव शबर स्वामी ने 'यस्य च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनो नान्यः'' (जै० सू० १।१।५) इस प्रकार कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि दुष्टकरण-जन्यत्व के विना भी

न्यायामृतम्

भासिकाध्यासे वा साद्यध्यासे वाऽधिष्ठानसत्त्वं तंत्रम्, न तु सर्वाध्यासे व्यावहारिकाध्यासे वा अनाद्यध्यासे वेति च स्यात्। तस्मादध्यासमात्रेऽधिष्ठानस्य दोषादीनां चाधिष्ठानज्ञानाबाध्यं सत्त्वं तंत्रमिति जगदध्यासहेतुदोषादयो ब्रह्मज्ञानाबाध्याः स्युः। एवं च—लोकेऽधिष्ठानवत्सत्यो दोषादिर्भ्रमकारणम्।

दृष्टोऽतो ब्रह्मवत्सत्यो दोषादिस्स्याज्जगद्भ्रमे ॥

अद्वैतसिद्धिः

वदता दुष्टकरणजन्यत्वमन्तरेणापि अर्थान्यथात्वमप्रामाण्यप्रयोजकमुक्तम्। अविद्याध्यासरूपस्य साक्षिचैतन्यस्याविद्याजन्यत्वानभ्युपगमात् न प्रतीतिमात्रशरीरत्वव्याघातः 'अहमज्ञ' इत्याद्यभिलापकारणीभूतवृत्तिरूपाध्यासं प्रति त्वविद्यायाः कारणत्वमस्त्येव, घटादीनामिव स्वप्रत्यक्षं प्रति। वह्निविशिष्टधियोस्तु बाधकाभावात् सामान्येनैव धूमप्रवृत्ती प्रति हेतुतेति न पूर्वोक्तदोषापातः। ननु—अविद्याध्यासस्यानादित्वेन दोषाद्यनपेक्षावदधिष्ठानानपेक्षापि स्यादिति—चेन्न, जनकत्वेनाधिष्ठानानपेक्षायामप्याश्रयत्वेन तदपेक्षानियमात्। परममहत्त्वादेराश्रयापेक्षावद् अध्यासस्य साधिष्ठानकत्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अर्थान्यथात्व (बाधितविषयकत्व) को अप्रामाण्य का प्रयोजक माना जाता है। [क्योंकि असमीचीन या अप्रमाण ज्ञान के दो वैकल्पिक रूप बताए हैं कि अप्रमाण ज्ञान या तो दुष्ट इन्द्रियों से उत्पन्न होता है या बाधितविषयक होता है, अप्रमा ज्ञान का पूरा कलेवर दोष-जन्य नहीं होता]।

अविद्याध्यासरूप साक्षी चैतन्य में अविद्या-जन्यत्व, न होने पर भी प्रतीतिमात्रशरीरत्व का व्याघात नहीं होता, क्योंकि अविद्या की स्थिति-पर्यन्त ही अविद्या-साक्षी की स्थिति मानी जाती है, सदातन नहीं। अविद्या का साक्षिरूप प्रत्यक्ष निर्विकल्पक और अनादि है, अतः अविद्यारूप विषय से जनित नहीं, किन्तु 'अहमज्ञः'—इस प्रकार वृत्तिरूप प्रत्यक्ष सादि और सविकल्पक माना जाता है [सविकल्पक का अर्थ धर्मकीर्ति के शब्दों में 'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना'' (न्या० बि० पृ० ४७) यहाँ अभिलाप का अर्थ है—विषय-वाचक 'घटादि' शब्द, उसके वाच्य-वाचकभावरूप संसर्ग के योग्य भान जिन विषयों का होता है, ऐसे जाति, गुण, क्रिया, नाम और द्रव्य को विकल्प कहा जाता है, इनको विषय करने वाले ज्ञान को सविकल्पक माना जाता है,]। उस सविकल्पक वृत्ति की अविद्या में कारणता मानी ही जाती, क्योंकि उस वृत्ति का अविद्या उपादान कारण भी है और विषय भी। घटादि विषयों में अपने प्रत्यक्ष की कारणता निश्चित ही होती है। यह जो कहा कि जैसे विशिष्ट ज्ञान में प्रवृत्तिमात्र की और वह्नि में धूम की कारणता निश्चित है, वैसे ही अध्यासमात्र की दोष में हेतुता माननी चाहिए। वह कहना संगत नही, क्योंकि दृष्टान्त-स्थल पर किसी प्रकार का बाध उपलब्ध न होने के कारण कथित कार्य-कारणभाव मानने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु प्रकृत में प्रदर्शित बाध के कारण अध्यास मात्र में दोष को हेतु नही माना जा सकता, अतः पूर्वोक्त अनवस्था दोष प्राप्त नहीं होता।

शङ्का—अविद्याध्यास अनादि होने के कारण यदि दोष की अपेक्षा नहीं करता, तब अधिष्ठान की अपेक्षा क्यों करता है ?

समाधान—अविद्याध्यास जनकत्वेन अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु

अद्वैतसिद्धिः

नियमेनात्रापि परतन्त्रत्वस्य समत्वात् , भास्यस्याविद्याध्यासस्य भासकतयाप्यधिष्ठानापेक्षणाच्च । अविद्याद्यवच्छिन्नस्य चैतन्यस्याविद्यादिसकलद्वैतद्रष्टृत्वात् तस्यैव चान्तःकरणावच्छेदेन प्रमातृत्वाद् , भ्रमप्रमयोः सामानाधिकरण्योपपत्तेर्भ्रमस्य समानाधिकरणप्रमानिवर्त्यत्वमुपपद्यते ।

ननु देहेन्द्रियादिकं विना कथमन्तःकरणाध्यासः ? काऽत्रानुपपत्तिः ? अधिष्ठानापरोक्षत्वं हि अपरोक्षभ्रमे कारणम् , तद् यत्राधिष्ठानं स्वतो नापरोक्षम् , यथा शुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्यम् , तत्र तदपरोक्षतार्थं देहेन्द्रियाद्यपेक्षा, प्रकृते चाविद्यावच्छिन्नं चैतन्यमधिष्ठानम् , तत्र चैतन्यस्य स्वप्रकाशत्वेनाविद्यायाश्च तदध्यस्तत्वेन तेनैव साक्षिणा अपरोक्षत्वात् कुत्र देहेन्द्रियाद्यपेक्षा ? अथैवं प्रलये देहेन्द्रियाद्यभावेऽप्यज्ञानसद्भावेनान्तःकरणाध्यासप्रसङ्गः, न, तदा देहेन्द्रियादिसर्जनविलम्बहेतुनैव तद्विलम्ब-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आश्रयत्वेन वैसे ही अपेक्षा करता है, जैसे वैशेषिक मत में नित्य सिद्ध परम-महत्त्व और परमाणुत्व परिमाण को जनकत्वेन द्रव्य की अपेक्षा न होने पर भी आश्रयत्वेन अपेक्षा होती है। यदि कहा जाय कि परममहत्त्व गुण है, पराश्रित होना ही गुण की गुणता है, तो अध्यास के विषय में भी वही तर्क प्रस्तुत किया का सकता है कि अध्यास भी नियमतः अधिष्ठान के आश्रित होता है, अनाश्रित भ्रम कदापि नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि अध्यास एक भास्य पदार्थ है, भासकत्वेन चैतन्यरूप अधिष्ठान की अपेक्षा करता है। [''अज्ञानिनो भ्रमो भ्रान्तो बाध्यते स च मुच्यते'' (इष्ट० पृ० १९३) इस सिद्धान्त के आधार पर अज्ञान, भ्रम और उसके निवर्तक प्रमा ज्ञान को एक ही आधार में होना चाहिए, तभी बन्ध और मोक्ष का सामानाधिकारण्य बनेगा, किन्तु आप भ्रम का द्रष्टा साक्षी को मानते हैं और भ्रम-निवर्तक प्रमा ज्ञान जीव में फिर तो बन्ध-मोक्ष का सामानाधिकरण्य कैसे बनेगा ? इस शङ्का का समाधान यह है कि] अविद्योपलक्षित जो साक्षी चेतन अविद्यादि सकल द्वैत का द्रष्टा माना जाता है, वही अन्तःकरण से अवच्छिन्न होकर प्रमाता माना जाता है, अतः जिसमें भ्रम, उसी में भ्रम-निवर्तक प्रमा-ज्ञान—इस प्रकार का सामानाधिकरण्य बन जाता है।

शङ्का—सर्वानर्थ प्रपञ्च का मूलभूत अहङ्कराध्यास सर्व-प्रथम होता है, उसके समय देह, इन्द्रियादि होते नहीं, अतः देह इन्द्रियादि के विना अन्तःकरणाध्यास कैसे होगा ? इसमें अनुपपत्ति क्या ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अपरोक्ष भ्रम में अधिष्ठान का अपरोक्ष ज्ञान आवश्यक होता है, जैसे कि रजताध्यास उसी को होता है, जो इदमर्थ का अपरोक्ष करता है, अपरोक्ष बोध देह इन्द्रियादि के विना हो नहीं सकता।

समाधान—देह, इन्द्रियादि की अपेक्षा वहाँ ही होती है, जहाँ अधिष्ठान का स्वतः अपरोक्ष नहीं होता, जैसे कि शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य का स्वतः अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता, अतः वहाँ उसका अपरोक्ष बोध उत्पन्न करने के लिए देह, इन्द्रियादि की अपेक्षा होती है, प्रकृत में अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ही अधिष्ठान है, वह तो स्वप्रकाश है और अविद्या उसी में अध्यस्त है, वही साक्षी अविद्या का अपरोक्ष करता है, अतः देह, इन्द्रियादि की अपेक्षा क्योंकर होगी ?

शङ्का—प्रलय में देह, इन्द्रियादि का अभाव होने पर भी अज्ञान का सद्भाव है, अतः अन्तःकरणाध्यास होना चाहिए।

अद्वैतसिद्धिः

संभवाद्, अन्यथा तदा देहेन्द्रियादिकमपि कुतो नोत्पद्येत ? न च—दोषादीनामध्यस्तत्वेन तदभावस्य तात्त्विकत्वाद् अतात्त्विकेन तात्त्विककार्यप्रतिबन्धस्यायुक्तत्वात्। बौद्धेन दुष्टतया कल्पितस्य वेदजन्यज्ञानस्येव कल्पितदोषजन्यस्य द्वैतविज्ञानस्य प्रामाण्यापात इति वाच्यम्, बौद्धकल्पितस्य प्रातिभासिकदोषस्य व्यावहारिकवेदापेक्षया न्यूनसत्ताकत्वेन तदप्रामण्याप्रयोजकत्वेऽप्यविद्याख्यदोषद्वैतप्रपञ्चयोः समसत्ताकत्वेन कार्यकारणभावनियमेन च कारणीभूताविद्याख्यदोषाभावे कार्यभूतद्वैतप्रपञ्चतद्विज्ञानयोरभावनियमेन नाविद्यामिथ्यात्वेन द्वैतज्ञानसत्यतापातः, कारणमिथ्यात्वे कार्यमिथ्यात्वस्यावश्यकत्वाद्, ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूपव्यावहारिकत्वस्य बाध्याबाध्यसाधारणस्य मिथ्यात्वसिद्ध्यनपेक्षत्वात् न सत्त्वविभागासिद्धिः। ननु दोषादीनां रूप्यादिभ्रमहेतूनां पारमार्थिकसत्त्वमौत्सर्गिकप्रामाण्येन सिद्धमिति परमार्थसतामेव तेषां हेतुत्वमिति—चेन्न, व्यावहारिकप्रामाण्यस्य साक्षिणा ग्रहणेऽपि त्रिकालाबाध्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—प्रलय में देह, इन्द्रियादि के जनक अदृष्टों के निरुद्ध होने के कारण ही अन्तःकरणाध्यास भी नहीं होता, अन्यथा प्रलय में देह, इन्द्रियादि भी क्यों नहीं उत्पन्न होते ?

शङ्का—आध्यासिक प्रपञ्च का अभाव तात्त्विक माना जाता है, अतः दोषादि का अभाव भी तात्त्विक होना चाहिए, क्योंकि दोषादि भी अध्यस्त ही होते हैं। तात्त्विक दोषाभाव की अवस्था में द्वैत-प्रमा होती है, अतः अध्यस्त या अतात्त्विक दोषों के द्वारा द्वैत-प्रमात्व का बाध वैसे ही नहीं होगा ? जैसे कि वेद-जन्य ज्ञान में बौद्ध-कल्पित अनृतत्वादि दोषों के द्वारा आपादित अप्रामाण्य के रहने पर भी वेद-जन्य ज्ञान का प्रामाण्य निरस्त नहीं माना जाता।

समाधान—बौद्ध-कल्पित प्रातिभासिक दोष व्यावहारिक वेद की अपेक्षा न्यून-सत्ताक होने के कारण वेद-जन्य ज्ञान में अप्रामाण्याधायक नहीं होता, किन्तु प्रकृत में अविद्या दोष के मिथ्या होने पर भी द्वैत ज्ञान में सत्यत्व नहीं आ सकता, क्योंकि कारणीभूत अविद्या और कार्यभूत द्वैत प्रपञ्च—दोनों समानसत्ताक हैं, अविद्या का अभाव होने पर न तो द्वैत प्रपञ्च ही रह सकता है और न उसका ज्ञान, अतः अविद्यारूप कारण के मिथ्या होने के कारण प्रपञ्च-ज्ञान रूप कार्य में भी मिथ्यात्व ही रहेगा, सत्यत्व नहीं आ सकता। ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूप व्यावहारिकत्व को मिथ्यात्व-सिद्धि की अपेक्षा नहीं, क्योंकि वह बाध्यभूत प्रपञ्च तथा अबाध्यरूप ब्रह्म—दोनों में माना जाता है, अतः मिथ्यात्व-सिद्धि के पहले ही व्यावहारिक सत्त्व का विभाग सिद्ध हो जाता है, व्यावहारिक वेद-ज्ञान-प्रमात्व का बाध बौद्ध-कल्पित प्रातिभासिक दोष से कदापि नहीं हो सकता।

शङ्का—जिस प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रामाण्य स्वाभाविक माना जाता है, उसके द्वारा रजतादि भ्रम के जनकीभूत दोषों का सत्त्व सिद्ध होता है, क्योंकि परमार्थ सत् दोष ही भ्रम के जनक देखे जाते हैं, अतः प्रपञ्च-भ्रम के जनक अविद्यादि दोषों में अपारमार्थिकत्व क्यों होगा ? उनके अपारमार्थिक न होने पर उनके कार्यभूत प्रपञ्च में भी अपारमार्थिकत्व कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—ज्ञान-ग्राहक साक्षी के द्वारा ज्ञानगत ज्ञान-समानसत्ताक ज्ञानत्व के

अद्वैतसिद्धिः

स्वरूपतात्त्विकप्रामाण्यं न केनापि गृह्यत इति प्रत्यक्षबाधोद्धारे प्रागेवाभिहितत्वात् । न च—रूप्याद्यध्यासे दोषादीनामधिष्ठानसमसत्ताकत्वं दृष्टमिति इहापि तथेति—वाच्यम्, साधर्म्यसमजात्युत्तरत्वात् । वस्तुतस्तु सर्वत्र चैतन्यस्यैवाधिष्ठानत्वेन कुत्रापि दोषादीनामधिष्ठानसमसत्ताकत्वाभावात् । न च—बाधकं ज्ञानं सत्यमेव वक्तव्यम्, अन्यथा बाधपरम्परया अनवस्थापत्तेरिति—वाच्यम्, वेदान्तवाक्यजन्यचरमचित्तवृत्तेः कतकरजोन्यायेन स्वपरबाधकतयाऽनवस्थाया अभावात् । दृश्यत्वमात्रेण युगपत्कृत्स्नबाधसंभवात् । न हि गुहायां न शब्द इति शब्दः स्वं न निषेधति, अन्यथा स्वस्य स्वेनानिषेधे तत्राप्यनवस्थापत्तिः, शब्दमात्रनिषेधानुभवविरोधश्च । यद्यपि बाधकज्ञानं वृत्त्युपरक्तचैतन्यरूपं स्वतः सत्यमेव, तथापि तदवच्छेदिकाया वृत्तेर्दृश्यत्वेन मिथ्यात्वाद् बाधोपपत्तिः ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समान ही ज्ञानगत व्यावहारिक प्रमात्व का भी ग्रहण होता है, त्रिकालाबाध्यत्वरूप प्रमात्व का ग्रहण साक्षी से नहीं हो सकता, क्योंकि काल-त्रय की पहले उपस्थिति न होने के कारण उसके साथ साक्षी का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता—यह पहले ही साक्षिबाधोद्धार-प्रकरण में कहा जा चुका है ।

शङ्का—रजतादि के अध्यास में काच-कामलादि दोष शुक्त्यादिरूप अधिष्ठान के समान (व्यावहारिक) सत्तावाले देखे गये हैं, अतः अविद्यारूप दोष को भी ब्रह्मरूप अधिष्ठान के समानसत्ताक पारमार्थिक ही होना चाहिए ।

समाधान—उक्त शङ्का साधर्म्यसमा जाति नाम का असदुत्तर है । अर्थात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के अन्तर को ध्यान में न रख कर केवल दोषत्वरूप साधर्म्य के आधार पर कह दिया गया है कि अविद्या दोष को अधिष्ठान-समसत्ताक होना चाहिए, किन्तु व्यावहारिक अधिष्ठान बाधित और ब्रह्म सर्वथा अबाधित है, दोनों की समानता संभव नहीं । वस्तुतः रजतादि के अध्यास में भी शुक्त्यादि को अधिष्ठान नहीं, चैतन्य को ही अधिष्ठान माना जाता है, जो कि पारमार्थिक है, अतः अधिष्ठान-समसत्ताकत्व दोषों में कहीं पर भी नहीं होता ।

शङ्का—प्रपञ्च-बाधक चरम वृत्तिरूप साक्षात्कार को परमार्थ सत्य ही मानना होगा, उसे भी बाधित मानने पर बाध-परम्परापत्ति के कारण अनवस्था होगी, अतः मोक्षावस्था में उक्त वृत्तिरूप द्वैत की सत्ता का अपलाप नहीं हो सकता ।

समाधान—चरम वृत्तिरूप साक्षात्कार के बाधित होने पर भी बाधक-परम्परा की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि उक्त वृत्ति को ही कतक-रज के समान स्व-पर उभय का बाधक माना जाता है । उक्त वृत्ति और प्रपञ्च—दोनों का एक ही रूप से बाध हो जाता है—'दृश्यं नास्ति' । जैसे कि 'गुहायां न शब्दः'—इस एक ही बाध के द्वारा 'घटादि' शब्द तथा 'शब्द' शब्द—दोनों का बाध हो जाता है, वैसे ही प्रकृत में भी स्वबाधकत्व मानना अनुचित नहीं । यदि स्व से स्व का निषेध नहीं होता, तब शब्द परम्परा के निषेध में भी अनवस्था होनी चाहिए, किन्तु वहाँ एक ही निषेध से स्व-पर साधारण सभी शब्द-कदम्ब का निषेध अनुभव-सिद्ध है । यद्यपि बाधक ज्ञान वृत्त्युपरक्त चैतन्य ही होता है, जो कि स्वतः सत्य है, तथापि उसकी अवच्छेदिका वृत्ति दृश्य होने के कारण मिथ्या ही होती है ।

न्यायामृतम्

किं चार्थस्यासत्यत्वेऽपि ज्ञानं सदेवेति वक्ष्यमाणत्वाद्वित्तिरूपं तद्विशिष्टचिद्रूपं वा घटादिज्ञानं सत्यं स्यात्। किं च बन्धस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वत्वे तदभावार्थं यत्नो न स्यात्। अत्यन्ताभावस्यासाध्यत्वात्। न च पारमार्थिकत्वाकारेणात्यन्ताभावः स्वरूपेण तु निवृत्तिरिति युक्तम्। तस्य निराकारे ब्रह्मणीव स्वरूपाबाधेनाप्युपपत्तेः। गौरनाद्यन्तवतीत्यादिश्रुत्यनुसरणाय पारमार्थिकत्वाकारेण निवृत्तिः स्वरूपेण त्वनुवृत्तिरित्यापाताच्च। न च तत्प्रतीत्युच्छेदार्थं यत्नः, तस्या अपि मिथ्यात्वात्। अन्यथा मोक्षेऽपि बन्धप्रतीत्यापत्त्या प्रातीतिकबन्धापातात्।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—बन्धस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वे तदभावार्थं यत्नो न स्यात्, अत्यन्ताभावस्यासाध्यत्वात्, अत एव न तत्प्रतीत्यभावार्थमपि यत्नः, तस्या अपि मिथ्यात्वाद्; अन्यथा मोक्षेऽपि बन्धप्रतीत्या तद्दशायामपि प्रातिभासिकबन्धापातात्। अथ पारमार्थिकत्वाकारेण मिथ्यात्वम्, स्वरूपेण तु निवृत्तिरेव, न, तस्याः स्वरूपाबाधेनाप्युपपत्तेरिति—चेन्न, सत्यस्य ब्रह्मणो निवृत्त्यदर्शनेन स्वरूपतो मिथ्यात्वाभावे निवृत्त्ययोगात् मिथ्यात्वं निवृत्त्यनुकूलमेव। न च तदर्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तिः, अधिष्ठान-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

५. पञ्चम तर्क—

द्वैतवादी—अज्ञानरूप बन्ध जब कल्पित और ऐसा मिथ्या मात्र है कि तीनों कालों और तीनों लोकों में हुआ ही नहीं, तब उसका बाध करने के लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासनादिरूप भगीरथ-प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता? क्योंकि वस्तु का अत्यन्ताभाव यत्न-साध्य नहीं, अयत्न-साध्य नित्य ही होता है। जैसे बन्ध मिथ्या है, अतः उसकी निवृत्ति के लिए प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता, वैसे ही बन्ध की प्रतीति भी मिथ्या है, उस प्रतीति का अभाव करने के लिए भी प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं। यदि प्रतीति को मिथ्या नहीं माना जाता, तब मोक्ष अवस्था में बन्ध की प्रतीति के रहने पर उसका बन्धरूप प्रातीतिक विषय भी रहेगा। 'प्रपञ्च या प्रपञ्च-प्रतीति की निवृत्ति स्वरूपतः मिथ्या नहीं, अपितु पारमार्थित्वाकारेण, अतः उस निवृत्ति का स्वरूपतः बाध करने के लिए यत्न की अपेक्षा है'—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस निवृत्ति का स्वरूपतः बाध न होने पर भी पारमार्थिकत्वाकारेण अत्यन्ताभाव होने मात्र से कृतकृत्यता हो जाती है, अतः उस निवृत्ति का स्वरूपतः बाध करने की कोई आवश्यकता नहीं, उसके लिए भी प्रयत्न निरर्थक है [जैसे ब्रह्म निराकार है, उसका पारमार्थिकत्वाकारेण अभाव रहने पर भी निराकारत्वेन भाव ही रहता है, जैसे घट का पटत्वेन अभाव रहने पर भी घटत्वेन भाव रहता है एवं जैसे प्रातिभासिक का व्यावहारिकत्वेन अभाव रहने पर भी प्रातिभासिकत्वेन भाव ही रहता है, वैसे ही मोक्षावस्था में व्यावहारिक या अपारमार्थिक प्रपञ्च का पारमार्थिकत्वेन अभाव रहने पर भी अपारमार्थिकत्वेन या प्रातीतिकत्वेन भाव अवश्य रहेगा, वह न तो उस रूप से बाधक है और न उसका अभाव करने की आवश्यकता, फलतः यह पञ्चम तर्क उपस्थित होता है—'विश्वं यदि कल्पितं स्यात्, तदा तन्निवृत्यर्थं' प्रयत्नो न स्यात्।'

अद्वैतवादी—जैसे ब्रह्म स्वरूपतः सत्य है, उसकी निवृत्ति कभी भी नहीं होती, वैसे प्रपञ्च यदि स्वरूपतः मिथ्या नहीं, सत्य ही है, तब उसकी भी निवृत्ति सम्भव नहीं,

न्यायामृतम्

किं च बंधस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वे तन्निदिध्यासनसाध्यतत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वं

अद्वैतसिद्धिः

नसाक्षात्कारानन्तरं तथैव, ततः पूर्वं तु कण्ठगतविस्मृतचामीकरप्राप्तय इव भ्रमबाधकज्ञानोत्पत्तये प्रवृत्त्युपपत्तेः। अत्यन्ताभावाधिकरणे च प्रतियोगिवत्तन्निवृत्तिरप्युपपादितैव। न च—त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिनि तुच्छे निवृत्तिर्न दृष्टेति कथं तादृशि प्रपञ्चे सा स्यादिति—वाच्यम्, यथाकथंचित् सजातीयेऽदर्शनस्याप्रयोजकत्वात्। अन्यथा अनुत्पन्ने निवृत्तिर्न दृष्टेति प्रागभावोऽपि न निवर्तेत। तस्मात् स्वभावविशेष एव तुच्छनित्यविलक्षणो निवृत्तिप्रयोजक इति वाच्यम्। सा च निवृत्तिरधिकरणस्वरूपेति पक्षे घटनाशार्थं मुद्गरपातादाविव मननादौ प्रवृत्तिरूहनीया। अतिरिक्तेति पक्षे त्वनिर्वचनीया, पञ्चमप्रकारा चरमवृत्तिरूपा वा सा, सर्वथा जन्यैवेति न काप्यनुपपत्तिः।

ननु—बन्धस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वे तन्निदिध्यासनसाध्यतत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रपञ्च के मिथ्या होने से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है, अतः उसका मिथ्या होना निवृत्ति के अनुकूल ही है। यह जो कहा कि अयत्न-साध्य निवृत्ति के लिए यत्न करने की आवश्यकता नहीं। वह कहना तत्त्व-साक्षात्कार के अनन्तर वैसा ही है, उससे पूर्व कण्ठगत विस्मृत सुवर्ण-हार की प्राप्ति के लिए जैसे प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही प्रपञ्च विभ्रम के बाध-ज्ञान की उत्पत्ति के लिए प्रयत्न सफल है। पारमार्थिकत्वेन अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रपञ्च या प्रपञ्च-प्रतीति की जो सत्त्वापत्ति दी, उसका भी द्वितीय मिथ्यात्व-लक्षण के अवसर पर उपपादन किया जा चुका है [कि स्वरूपतः मिथ्या वस्तु की सत्त्वापत्ति कैसी? वह केवल अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमान मात्र है, तत्त्व-साक्षात्कार से वह भी समाप्त हो जाती है, जैसे शुक्ति का साक्षात्कार हो जाने पर रजत और रजत-प्रतीति कुछ भी नहीं रहती, वैसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार के अनन्तर न प्रपञ्च की प्रतीति रहती है और न प्रातीतिक प्रपञ्च]।

शङ्का—जब कि त्रैकालिक निषेध के प्रतियोगीभूत खपुष्पादि तुच्छ पदार्थों की निवृत्ति नहीं देखी जाती, तब त्रैकालिक निषेध-प्रतियोगीभूत प्रपञ्च की निवृत्ति कैसे होगी?

समाधान—यद्यपि तुच्छ पदार्थ भी त्रैकालिक अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है और प्रपञ्च भी, तथापि इतनी समानतामात्र के आधार पर प्रपञ्च-निवृत्ति की अनुपपत्ति नहीं लादी जा सकती, अन्यथा अनुत्पन्न घटादि पदार्थों की निवृत्ति नहीं देखी जाती, अतः अनुत्पन्न प्रागभाव की भी निवृत्ति अनुपपन्न हो जायगी। तुच्छ और नित्य ब्रह्म का प्रपञ्चगत वैलक्षण्यरूप स्वभाव विशेष ही निवृत्ति का प्रयोजक माना जाता है, अर्थात् तुच्छ पदार्थ दृश्य न होने के कारण निवृत्त नहीं होता और प्रपञ्च दृश्य है, अतः निवृत्त होता है—इसमें अनुपपत्ति क्या? प्रपञ्च-निवृत्ति ब्रह्मरूप अधिकरण का स्वरूप ही है—इस पक्ष में घट-नाशार्थ मुद्गर-प्रहारादि के समान ही बन्ध-नाशार्थ मननादि में मुमुक्षु की प्रवृत्ति बन जाती है। बन्ध की निवृत्ति को अधिकरण से जो अतिरिक्त मानते हैं, उनके मत में प्रपञ्च-निवृत्ति चाहे अनिवर्चनीय मानी जाय, या पञ्चम प्रकारात्मक, अथवा चरम वृत्तिरूप, सर्वथा जन्य ही है, अतः उसकी उत्पत्ति के लिए प्रयत्न निरर्थक नहीं।

६-७ षष्ठ और सप्तम तर्क—

द्वैतवादी—छठा प्रतिकूल तर्क है—'विश्वं यदि ब्रह्मणि कल्पितं स्यात्, तदा

न्यायामृतम्

श्रवणादिनियमादृष्टसापेक्षब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्वं च न स्यात्। न हि देवतानिदिध्यासन-साध्यतत्साक्षात्कारनिवर्त्यं दुरितं तत्राध्यस्तं न वा दूरगमनादिनियमादृष्टसापेक्षसेतु-दर्शननिवर्त्यं दुरितं तत्राध्यस्तम्। न च नियमादृष्टं न बन्धनिवृत्तौ हेतुः, किं तु ब्रह्मा-

अद्वैतसिद्धिः

श्रवणादिनियमादृष्टसापेक्षब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्वं च न स्यात्, न हि देवतानिदिध्यासन साध्यतत्साक्षात्कारनिवर्त्यं दुरितं तत्राध्यस्तम्, न वा दूरगमनादिनियमादृष्टसापेक्ष-सेतुदर्शननिवर्त्यं दुरितं तत्राध्यस्तमिति—चेन्न, आत्माध्यस्तगौरत्वादेः शुक्त्याद्यध्य-स्तरूप्यादेश्च तत्तत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वदर्शनेन प्रपञ्चस्यापि ब्रह्मण्यध्यस्ततया तत्साक्षा-त्कारनिवर्त्यत्वस्यावश्यकत्वात्। न हि शुक्त्याद्यध्यस्तं रूप्यादि शुक्त्यादिज्ञानं विना निवर्तते। देवतादर्शनादिना तु प्रायश्चित्तसमकक्ष्येण दुरितस्य कारणात्मनावस्थानमात्रं कि ते, न तु शुक्तिज्ञानेन रूप्यस्येव निवृत्तिः, अधिष्ठानाज्ञानरूपोपादानकस्यारोपितस्य त न्निवृत्तिं विना निवृत्त्ययोगात्, अज्ञाननिवृत्तिश्चाधिष्ठानज्ञानादेवेत्युक्तं प्राक्। श्रवणा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तन्निदिध्यासनसाध्यसाक्षात्कारनिवर्त्यं न स्यात्।' इसी प्रकार सातवाँ तर्क है—'विश्वं यदि ब्रह्मणि कल्पितं स्यात्, तदा श्रवणादिनियमादृष्टसापेक्षब्रह्मज्ञाननिवर्त्यं न स्यात्।' अर्थात् अद्वैतवादियों का जो यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म में अध्यस्त बन्ध ब्रह्म के साक्षात्कार से निवृत्त होता है और ब्रह्म-साक्षात्कार ब्रह्म के निदिध्यासन से उत्पन्न होता है, वह सिद्धान्त सम्भव नहीं, क्योंकि 'यत्साक्षात्कारनिवर्त्यं यत्, तत् तत्राध्यस्तम्'—इस प्रकार की व्याप्ति के आधार पर उक्त सिद्धान्त स्थिर किया जाता है, किन्तु वह व्याप्ति उस दुरित (पाप) में व्यभिचरित है, जो कि देवता के साक्षात्कार से निवृत्त होता है, किन्तु देवता में अध्यस्त नहीं होता। अथवा जैसे दूर गमन-साध्य नियमादृष्ट-सापेक्ष सेतु-दर्शन से निवृत्त होने वाला पाप सेतु में अध्यस्त नहीं होता, वैसे ही श्रवणादि-साध्य नियमादृष्ट-सहकृत ब्रह्म-दर्शन से निवर्तनीय बन्ध ब्रह्म में अध्यस्त नहीं हो सकता ["व्रीहीन-वहन्ति"—इस वाक्य में जैसे नियम विधि मानी जाती है—व्रीहीनवहन्यादेव', नियम-जन्य अदृष्ट को फलापूर्व का सहायक माना जाता है, वैसे ही "आत्मा श्रोतव्यः"—इस वाक्य में विवरणानुयायी नियम विधि मानते हैं और नियम-जन्य अदृष्ट ब्रह्म-दर्शन का सहायक माना जाता है। तृतीय परिच्छेद में श्रवण-विधि पर विशेष विचार किया गया है]।

अद्वैतवादी—आत्मा में अध्यस्त गौरत्वादि की निवृत्ति आत्मा के साक्षात्कार तथा शुक्ति में अध्यस्त रजतादि की निवृत्ति शुक्ति के साक्षात्कार से देखकर यह निश्चय होता है कि ब्रह्म में अध्यस्त प्रपञ्च की निवृत्ति ब्रह्म के साक्षात्कार से अवश्य होगी, क्योंकि शुक्त्यादि में अध्यस्त रजतादि की निवृत्ति शुक्त्यादि-साक्षात्कार के विना कभी नहीं देखी जाती। किन्तु देवता-दर्शनादि और सेतु-दर्शन से दुरित की निवृत्ति नहीं होती, अपितु उसके प्रायश्चित्त-समकक्ष कारण में उसकी सूक्ष्मरूपेण अवस्थितिमात्र की जाती है, क्योंकि अधिष्ठानाज्ञानरूप उपादान के कार्यभूत आरोपित पदार्थ की निवृत्ति उपादनभूत अज्ञान की निवृत्ति के बिना सम्भव नहीं, अज्ञान की निवृत्ति अधिष्ठान के ज्ञान से ही होती है—यह पहले ही कहा जा चुका है। यह जो कहा गया कि श्रवणादि-नियम-साध्य अदृष्ट की सहायता से ब्रह्म-साक्षात्कार मुक्ति का कारण है, वह भी संगत

न्यायामृतम्

परोक्ष एवेति युक्तम्, अवघातसाध्यवैतुष्यान्यापूर्वस्येव श्रवणसाध्यापरोक्षान्यमुक्तेरेव तत्साध्यत्वात्। अन्यथा श्रवणनियमादृष्टसाध्ये साक्षात्कारे श्रवणनिरपेक्षस्योपायान्तरस्याप्रसक्त्या तत्प्रसक्त्यधीननियमविध्ययोगात्। न च परोक्षज्ञानमेव श्रवणादपरोक्षज्ञानं तु नियमादृष्टादिति युक्तम्, श्रवणविधौ परोक्षज्ञानप्रवाहरूपनिदिध्यासनसाध्यापरोक्षज्ञानस्यैव दृशिनोद्देशात्, साक्षात्कर्तव्य इति श्रुत्यन्तराच्च, त्वन्मते परोक्ष-

अद्वैतसिद्धिः

दिनियमादृष्टं च न मुक्तिं प्रति कारणम्, किंतु ब्रह्मापरोक्ष्यं प्रति।

ननु - अवघातसाध्यवैतुष्यान्यापूर्वस्येव श्रवणादिसाध्यापरोक्ष्यान्यमुक्तेरेव तत्साध्यत्वम्, अन्यथा श्रवणनियमादृष्टसाध्ये साक्षात्कारे श्रवणनिरपेक्षस्योपायान्तरस्याप्रसक्त्या तत्प्रसक्त्यधीननियमविध्ययोगात्, न च—परोक्षज्ञानं श्रवणाद्, अपरोक्षं तु नियमादृष्टादिति—युक्तम्, श्रवणादिविधौ परोक्षज्ञानप्रवाहरूपनिदिध्यासनसाध्यापरोक्षस्यैव दृशिनोद्देशात्, त्वन्मते परोक्षज्ञाने कामनाया अयोगेन तस्योद्देश्यत्वायोगा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं, क्योंकि श्रवणादि-नियम-साध्य अदृष्ट मोक्ष का साधन नहीं होता, अपितु ब्रह्म-साक्षात्कार का ही साधन होता है—यह ''सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः'' (ब्र. सू. ३।४।२६) में सुस्पष्ट प्रतिपादित है।

शङ्का—जैसे ''व्रीहीनवहन्ति''—यहाँ पर 'अवघात' क्रिया का फल होता है—व्रीहिगत वैतुष्य (धान की भूसी का उतर जाना)। किन्तु 'अवघातेनैव वैतुष्यं कार्यम्'—इस प्रकार के नियम से साध्य नियमादृष्ट का फल वैतुष्य से भिन्न परमापूर्व होता है, वैसे ही प्रकृत में श्रवण-साध्य ब्रह्म-साक्षात्कार से भिन्न मुक्ति ही नियमादृष्ट का फल होना चाहिए, अन्यथा (अन्यत्र क्रिया और नियमादृष्ट का फल-भेद होने पर भी श्रवण क्रिया और श्रवण-नियम-साध्य अदृष्ट का एक ही ब्रह्म-साक्षात्काररूप फल मानने पर) 'श्रोतव्यः' में नियम विधि ही सम्भव नहीं हो सकेगी, क्योंकि [वार्तिककार ने कहा है—

विधिरत्यन्तमाप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति कीर्त्यते॥ (तं० वा० पृ० १५२)

अर्थात् अत्यन्त अज्ञात अर्थ के बोधक विधि वाक्य को अपूर्व विधि, पाक्षिक अप्राप्त-प्रापक वाक्य को नियम विधि तथा उभय-प्राप्त साधनों या साध्यों में से एक के निवर्तक वाक्य को परिसंख्या विधि कहा जाता है। इसके अनुसार वितुषीभाव के लिए जब अवघात-निरपेक्ष नख-विदल से कोई काम लेना चाहता है, तब अवघात प्राप्त नहीं, पाक्षिक अप्राप्त-प्रापक होने के कारण 'व्रीहीनवहन्ति' को नियम विधि कह सकते हैं, किन्तु] 'श्रोतव्यः' में आत्म-साक्षात्काररूप फल का सम्पादन करने के लिए श्रवण-निरपेक्ष कोई अन्य साधन प्राप्त ही नहीं है कि उसकी निवृत्ति के लिए श्रवण का विधान किया जाय। 'श्रवण से परोक्ष और नियमादृष्ट से अपरोक्ष उत्पन्न होता है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः'' (बृह० उ० २।४।५) इस श्रवण-विधि में निदिध्यासन का अर्थ परोक्ष वृत्ति का सजातीय प्रवाह होता है, उसके फल का निर्देश 'द्रष्टव्य' पदगत दृशिरूप प्रकृति से किया गया है, अतः यहाँ दृशि का अर्थ परोक्ष ज्ञान कदापि नहीं हो सकता, अपितु अपरोक्ष ज्ञान ही करना होगा।

न्यायामृतम्

ज्ञाने कामनायोगेन तस्योद्देश्यत्वायोगाच्च । आपरोक्ष्यस्यैव नियमादृष्टसाध्यत्वेऽपि तत्साध्यदेवतापरोक्ष्यनिवर्त्यदुरितवद्ध्यस्तत्वायोगाच्च । किं च कल्पितत्वे स्वधीहेतुत्विद्रियासन्निकर्षात् प्रतिकर्मव्यवस्था न युक्ता स्यात् ।

अद्वैतसिद्धिः

चेति—चेन्न, तत्र क्रत्वर्थस्य नियमापूर्वस्य परमापूर्वसाधकत्वेऽपि पुरुषार्थहिरण्यधारणादिनियमादृष्टस्य तदभाववत् श्रवणादिसाध्यसाक्षात्कारान्यफलाभावेऽपि तेनैव फलवत्त्वोपपत्तेः, 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' इति न्यायात् 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

निदिध्यासनरूप परोक्ष ज्ञान से अपरोक्ष बोध का उत्पन्न होना उचित ही है । वही अपरोक्ष ज्ञान श्रवण का फल है, परोक्ष नहीं । एक ही 'दृशि' शब्द यदि निदिध्यासन के लिए अपरोक्ष और श्रवण के लिए परोक्ष की उपस्थिति कराता है, तब वैरूप्य, वाक्यभेदादि दोष प्राप्त होते हैं । दूसरी बात यह भी है कि भ्रम की निवृत्ति अधिष्ठान के अपरोक्ष ज्ञान से ही होती है, परोक्ष बोध से नहीं, अतः मैत्रेयी के अभिकामित अमृतत्वसाधन का उपदिदिक्षु आचार्य याज्ञवल्क्य 'द्रष्टव्य' पद से परोक्ष बोध मात्र का निर्देश कभी नहीं कर सकता, परोक्ष बोध तो पहले से ही मुमुक्षु को है । उसमें कामना ही नहीं बन सकती, कामना अपरोक्ष ज्ञान की और उपदेश परोक्ष का—यह भी संगत प्रतीत नहीं होता ।

समाधान—क्रिया और तन्नियम-साध्य अदृष्ट का सर्वत्र फल-भेद होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि [अङ्ग कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रधान क्रिया (यज्ञ या क्रतु) के अङ्ग तथा (२) कर्त्ता पुरुष के अङ्ग । 'व्रीहीनवहन्ति' से विहित अवघात दर्शपूर्णमासरूप क्रतु का अङ्ग और 'सुवर्णं हिरण्यं धार्यम्' (तै० ब्रा० २।२।४।५) से प्रतिपादित सुवर्ण-धारण करना पुरुषार्थ या पुरुष का साक्षात् अङ्ग होता है, उससे पुरुष में सीधा सुकृत उत्पन्न होता है, यज्ञादि के द्वारा नहीं । इन दोनों प्रकार के अङ्गों में] क्रत्वर्थभूत अवघातादि-नियम-साध्य अपूर्व तो अवघात के फल से भिन्न उत्पत्त्यपूर्व के द्वारा परमापूर्व का साधक है, किन्तु पुरुषार्थभूत हिरण्य-धारणादि-नियम-साध्य अदृष्ट क्रिया-फल से भिन्न फल का जनक नहीं होता, अपितु परमापूर्व का ही साधक होता है—यह पूर्व मीमांसा (जै० सू० ३।४।१२) में निर्णीत है । इसी प्रकार पुरुषार्थभूत श्रवणादि-नियम-साध्य अदृष्ट श्रवण-साध्य ब्रह्म-साक्षात्कार से भिन्न फल का आरम्भक न होकर उसी का ही जनक होता है, मुक्ति का नहीं, जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—"सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" (ब्र० सू० ३।४।२६) [अर्थात् सभी विहित कर्मों की ब्रह्म-साक्षात्कार में अपेक्षा होती है, क्योंकि "विविदिषन्ति यज्ञेन" (बृह० उ० ४।४।२२) यह श्रुति यज्ञादि का विनियोग ज्ञान की उत्पत्ति में ही कर रही है । जैसे अश्व स्वोचित रथाकर्षणादि कर्म में ही अपेक्षित होता है, महारथी के शत्रु-संहाररूप कर्म में नहीं, वैसे ही समस्त साधनों का उपयोग तत्त्व-साक्षात्कार की उत्पत्ति में ही होता है, तत्त्व-साक्षात्कार के आवरण-निवर्तनरूप कार्य में नहीं, क्योंकि उस को वह स्वयं अकेले ही सम्पन्न करता है, जैसा कि भट्टपाद ने कहा है—

> आत्मलाभे च भावानां कारणापेक्षता भवेत् ।
> लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु ॥ (श्लो० वा० पृ० ६०)

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञाने परिसमाप्यते' इति स्मृतेश्च। अत्र सर्वाखिलपदाभ्यां कर्मशब्दवाच्यापूर्वमात्रस्य ज्ञाने समाप्तिर्दर्शिता, मोक्षस्याविद्यानिवृत्तिरूपस्य ज्ञानातिरिक्तासाध्यत्वनियमाच्च। ज्ञाने त्वसंभावनादिनिवृत्त्या प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्त्या च दृष्टादृष्टांशोपयोगः। सामान्यपुरस्कारेण च प्रसक्तस्य साधनान्तरस्य निवृत्तिः सर्वत्र नियमविधेः फलम् , विशेषरूपेण त्वपूर्वविधित्वमेव। यथा हि 'व्रीहीनवहन्ती'त्यादावपूर्वसाधनीभूतव्रीहिवैतुष्ये (विशिष्य) अवघातातिरिक्तसाधनान्तराप्रसक्तावपि व्रीहिवैतुष्यमात्रे प्रसक्तस्य नखविदलनादेर्निवृत्तिः, विशिष्य कार्यकारणभावबोधनात् , तथा निर्विशेषब्रह्मात्माभेदसाक्षात्कारप्रतिब-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अर्थात् दीपादि को अपने स्वरूप-लाभ (उत्पादन) में सामग्री की अपेक्षा होती है, अन्धकार-निवर्तनरूप कार्य में नहीं, उसे तो वह स्वयं ही किया करता है]। श्री मद्भगवद्गीता भी ज्ञान के उत्पादन में सभी कर्मों का उपयोग बताती है—"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" (गी० ४।३३)। इस गीता-वाक्य में 'सर्वं' और 'अखिल' पदों के द्वारा कर्म शब्दोपलक्षित परमापूर्व और नियमापूर्व—दोनों का ग्रहण कर उनकी क्षमता ज्ञानोत्पादन तक ही बताई गई है, मोक्ष तक नहीं, क्योंकि मोक्ष का स्वरूप है—"अविद्यास्तमयो मोक्षः" (ब्र० सि० पृ० ११९)। अविद्या की निवृत्ति ज्ञानैकसाध्य होती है, अन्य से नहीं हो सकती, अन्यथा ज्ञान व्यर्थ हो जाता है, जैसा कि वार्तिक (बृह० वा० पृ० ७७६) में कहा है—

संसारानर्थनाशो हि विद्यायाः प्रार्थ्यते फलम्।
विद्यामृतेऽपि तच्चेत् स्याद् ध्रुवं विद्या निरर्थिका॥

तत्त्व-ज्ञान की उत्पत्ति में ही दृष्टादृष्ट कर्मों का विविध मार्गों से उपयोग होता है, अर्थात् श्रवण से प्रमाणगत असम्भावना, मनन से प्रमेयगत असम्भावना तथा निदिध्यासन से विपरीत भावना की निवृत्ति होती है। यज्ञादि-साध्य अदृष्ट के द्वारा ज्ञान-प्रतिबन्धक दुरित की निवृत्ति होती है।

[श्रवण-विधि को प्रकटार्थकारादि ने अपूर्व विधि और विवरणकारादि ने नियम विधि माना है—इसका रहस्य यह है कि] प्रत्येक नियम विधि वस्तुतः अपूर्व विधि ही होती है, किन्तु जब उद्देश्य पदार्थ का केवल सामान्य आकार ध्यान में रख कर किसी साधन का विधान किया जाता है, तब साधनान्तर प्रसक्त होता है और उसकी निवृत्ति के लिए नियम करने पर विधि-वाक्य को नियामक या नियम विधि माना जाता है, जैसे 'व्रीहीनवहन्ति'—यहाँ पर उद्देश्यभूत व्रीहि के दो आकार हो सकते हैं—एक लौकिकालौकिक-साधारण (सामान्य) व्रीहि द्रव्य और दूसरा दृष्टादृष्टगणात्मक अलौकिक यूपादि के समान दर्शपूर्णमासापूर्व-साधनीभूत प्रोक्षणादि-संकार-संस्कृत अलौकिक (विशेष) व्रीहि। विशेष व्रीहि के उद्देश्य से तो केवल अवघात श्रुति-विहित है, नख-विदलनादि साधनान्तर प्राप्त ही नहीं हैं। हाँ, सामान्य व्रीहि के तुष-विमोचनार्थ लौकिक अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर अवघात, नख-विदलन, पाषाणघर्षणादि प्राप्त हैं, उनकी निवृत्ति के लिए व्रीहीनवहन्ति का 'व्रीहीनवहन्त्येव'—ऐसा अभिप्राय मान कर नियमविधित्व का स्वरूप सम्पन्न होता है, किन्तु विशेष उद्देश्य को ध्यान में रखने पर न तो साधनान्तर की प्राप्ति होती है और न उसके निवृत्त्यर्थ नियम-विधित्व की आवश्यकता, केवल अलौकिक व्रीहि के उद्देश्य से अप्राप्त अवघात रूप साधनमात्र का

न्यायामृतम्

किं च यदि जगत्कल्पितं स्यात्तदा त्वन्मतेऽपि "जन्माद्यस्य यत" इति सूत्रे "यतो वे" त्यादिश्रुतौ च जन्माद्युक्तिः "ईक्षतेर्नाशब्दम्"—इति सूत्रे "तदैक्षत" इत्यादिश्रुतौ च ईश्वरस्येक्षापूर्वककर्तृत्वोक्तिः "लोकवत्तु लीलाकैवल्यं" इति सूत्रे "आप्तकामस्य का स्पृहे"ति श्रुतौ च प्रयोजनाभावेऽपि लीलया सृष्ट्याद्युक्तिः, "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वाद्" इति सूत्रे "पुण्येन पुण्यं लोकं नयती"त्यादिश्रुतौ च कर्मसापे-

अद्वैतसिद्धिः

न्धनिवृत्तौ श्रवणाद्यतिरिक्तसाधनान्तराप्रसक्तावप्यात्मज्ञानमात्रप्रतिबन्धनिवृत्तौ साङ्ख्यादिशास्त्रस्यापि प्रसक्तेः, तन्निवृत्तिर्विशिष्य वेदान्तवाक्यविचारविधानादिति परमगम्भीरोऽयं ग्रन्थार्थः।

८ ननु—यदि विश्वं कल्पितं स्यात्, तदा 'जन्माद्यस्य यत' इति सूत्रे 'यतो वा इमानी'त्यादिश्रुतौ च जन्माद्युक्तिः, 'ईक्षतेर्नाशब्द'मिति सूत्रे 'तदैक्षते'त्यादिश्रुतौ च ईश्वरस्येक्षापूर्वककर्तृत्वोक्तिः, 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति सूत्रे 'आप्तकामस्य का स्पृहे'त्यादिश्रुतौ च प्रयोजनाभावेऽपि लीलया सृष्ट्याद्युक्तिः, 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वादि'ति सूत्रे 'पुण्येन पुण्यं लोकं नयती'त्यादिश्रुतौ च कर्मसापेक्षत्वेनावैषम्योक्तिः, 'तेजोऽतस्तथा ह्याहे'ति सूत्रे 'वायोरग्नि'रित्यादिश्रुतौ च तेज आदेर्वाय्वादिजन्यत्वोक्तिः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विधान होने से अपूर्व विधि ही मानी जाती है। वैसे ही आत्म-दर्शन के उद्देश्य से श्रवणादि के विधायक 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः''— इस वाक्य में आत्मा के दो स्वरूप हो सकते हैं—एक सामान्य चेतन, जिसका समस्त आत्मवादी सांख्यादि दर्शनों में प्रतिपादन है और दूसरा विशेष अशनायादि से रहित अखण्डैकरस वेदान्तैकवेद्य औपनिषद पुरुष। सामान्य चैतन्यात्मा का ज्ञान कराने के लिए सांख्यादि दर्शन भी आगे आ सकते हैं, उन्हें पीछे हटाने के लिए वेदान्तमात्र के श्रवण का नियमन करने के लिए उक्त वाक्य को नियम विधि माना जा सकता है, किन्तु वेदान्तैक-समधिगम्य विशेष आत्मा का साक्षात्कार कराना और किसी के बल-बूते का है नहीं, अतः उसके उद्देश्य से सर्वथा अप्राप्त वेदान्त-श्रवण के विधायक वाक्य को अपूर्व विधि ही कहा जायगा। यह एक परम गम्भीर विचार है।

८. अष्टम तर्क—

द्वैतवादी—आठवाँ प्रतिकूल तर्क है—'यदि विश्वं कल्पितं स्यात्, तदा तज्जन्माद्युक्तिरयुक्ता स्यात्।' अर्थात् विश्व यदि कल्पनामात्र है, तब "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० १।१।२) इस सूत्र और "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै० उ० ३।२) इत्यादि श्रुतियों में विश्व की व्यवस्थित सृष्टि का प्रतिपादन, "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (ब्र० सू० १।१।५) इस सूत्र एवं "तदैक्षत" (छां० ६।२।३) इत्यादि श्रुतियों में ईश्वर के ईक्षणपूर्वक विश्व-कर्तृत्व का कथन, "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (ब्र० सू० २।१।३३) इस सूत्र में तथा "आप्तकामस्य का स्पृहा" (मां. का. ९) इत्यादि श्रुतियों में निष्काम ईश्वर की लीला-सृष्टि का वर्णन, "वैषम्यनैर्घृणये न सापेक्षत्वात्" (ब्र० सू० २।१।४) इस सूत्र तथा "पुण्येन पुण्यं लोकं नयति" (प्रश्नो० ३।७) इत्यादि श्रुतियों में कर्मानुरूप जीवों के फल-दाता ईश्वर की अपक्षपातता का उल्लेख, "तेजोऽतस्तथा ह्याह" (ब्र० सू० २।३।१०) इस सूत्र और "वायोरग्निः" (तै० उ० ३।१।१) इत्यादि श्रुति-

न्यायामृतम्

वायोरग्नेरुत्पत्तिवचनम्, "तेजोऽतस्तथा ह्याह" इति सूत्रे "वायोरग्नि"रित्यादिश्रुतौ च तेज आदेर्वाय्वादिजन्यत्वोक्तिः, "विपर्ययेण तु क्रम" इति सूत्रे "पृथिव्यप्सु प्रलीयत" इति "श्रुतौ च पृथिव्यादीनामबादौ लयोक्तिरित्याद्ययुक्तम् स्यात्। न हि कल्पितस्य रूप्यादेर्जन्मादिकमीक्षापूर्वं स्रष्टृत्वं वा तद्भ्रान्तेः प्रयोजनापेक्षा वा जीवस्य सुखदुःखैश्वर्यादिविषयभ्रान्त्येश्वरस्य वैषम्यादिप्रसक्तिर्वा एकस्य कल्पितस्य कल्पितान्तरादुत्पत्तिर्वा तत्र लयो वा दृष्टः युक्तो वा। रूप्यादौ च जन्मेक्षापूर्वस्रष्टृत्वाभावेऽध्यस्तत्वमेव तंत्रम्, न तु तद्विशेषः प्रातिभासिकत्वं तंत्रम्, ज्ञाननिवर्त्यत्वेऽपि तस्यैव तंत्रत्वापातात्, अनुमानमात्रोच्छेदस्योक्तत्वाच्च।

अद्वैतसिद्धिः

'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते चे'ति सूत्रे 'पृथिव्यप्सु प्रलीयत'इत्यादिस्मृतौ च पृथिव्यादीनामबादौ लयोक्तिरित्याद्ययुक्तं स्यात्, न हि कल्पिते तत्तद्विरोधशङ्का तन्निराकरणं च युक्तमिति—चेन्न, प्रपञ्चस्य कल्पितस्यापि व्यावहारिकसत्त्वाभ्युपगमेन तद्दशायां विरोधशङ्कातत्परिहारयोरुचितत्वात्, इन्द्रजालादावध्यस्तेऽप्यैन्द्रजालिकादेरीक्षापूर्वकस्रष्टृत्वादेर्दर्शनाच्च। यथा च कल्पितस्यापि जन्माद्युपपत्तिस्तथाऽनिर्वचनीयवादे वक्ष्यते। स्वप्नेऽपि सृष्ट्यादेः श्रुत्या प्रतिपादनाच्च। अध्यस्तस्यापि सर्पस्य भयकम्पादिजनकत्ववत् वाय्वादीनां तेजआदिजनकत्वमप्युपपन्नम्, 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्स' इति सूत्रे च तत्तद्भावापन्नस्य ब्रह्मण एव कारणत्वाभिधानात्। अबादौ पृथिव्यादिलयोक्तिरपि तत्तद्भावापन्नचैतन्ये व्याख्येयेति नाधिष्ठानातिरिक्ते लयोक्तिः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वाक्यों में तेज आदि की वायुगत कारणता की उक्ति, ''विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च'' (ब्र० सू० २।३।१४) इस सूत्र एवं पृथिव्यप्सु प्रलीयते'' (विष्णुपुराण) इत्यादि स्मृति-वाक्यों में पृथिव्यादि का जलादि में लयाभिधान निराधार और असंगत हो जायगा, क्योंकि कल्पित पदार्थ में न तो सृष्ट्यादि की अनुपपत्ति की शङ्का हो सकती है और न उसकी निवृत्ति के लिए सृष्ट्यादि की व्यवस्था का वर्णन।

अद्वैतवादी—कल्पित पदार्थ प्रातिभासिकमात्र ही होता है—ऐसा नहीं, व्यावहारिक सत्ताक जगत् को भी अध्यस्त या काल्पनिक माना जाता है। उसकी व्यवहार-दशा में अनुपपत्ति की आशङ्का और उसके समाधानस्वरूप सृष्ट्यादि का वर्णन अनुचित नहीं, जादूगर के काल्पनिक माया-जाल में भी ईक्षण-पूर्वक रचना देखी जाती है। कल्पित जगत् की उत्पत्त्यादि की उपपत्ति अनिर्वचनीयवाद में विस्तार से की जायगी। यह भी कहा जा चुका है कि स्वाप्न पदार्थों की सृष्टि का प्रतिपादन श्रुतियों में उपलब्ध होता है। अध्यस्त सर्पादि से भयादि की उत्पत्ति के समान ही वायु आदि से जलादि की उत्पत्ति भी सम्भव है। ''तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः'' (ब्र० सू० २।३।१३) इत्यादि सूत्रों में तत्तद्भावापन्न सद्रूप ब्रह्म को ही जगत् का कारण बताया गया है, उसी प्रकार जलादि में पृथिव्यादि की लयोक्ति का भी उपपादन किया जा सकता है। ईश्वर ने विषम सृष्टि क्यों बनाई? एवं भयङ्कर नरकों में प्राणियों को डाल कर जो नैर्घृण्य (निष्ठुरता) दिखाई, वह क्यों? इस प्रकार की शङ्का तथा जीवों के पुण्य-पाप की सापेक्षता दिखाकर उसके समाधान का सम्बन्ध उपासना अवस्था से है, परमार्थाद्वैत अवस्था से नहीं। उपासनावस्था में जीव, ईश्वरादि-विभाग का आपाततः परिणामवाद

न्यायामृतम्

न चेश्वरस्य मायाविवद् भ्रामयितृत्वात्प्रयोजनाद्यप्रसक्तिः। भ्रामयितुरीश्वरस्यापि सपरिकरस्य जीवैरध्यस्तत्वात्। न हीश्वरः स्वेन वा चिन्मात्रेण वाध्यस्तः।

अद्वैतसिद्धिः

वैषम्यनैर्घृण्यप्रयोजनादिशङ्कापरिहारादिकं तूपासनावस्थायाम्। 'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकव'दिति आपाततः परिणामवादाभ्युपगमेन, 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य' इति तु विवर्तवादे परमसिद्धान्तदशायां न शङ्का न चोत्तरम्, मायाविन इवेश्वरस्य स्वप्रतिबिम्बभूतजीवभ्रमयितृत्वेन सर्वविरोधनिरासोपपत्तेः।

ननु—ईश्वरस्यापि सपरिकरस्य जीवेनाध्यस्तत्वात् कथं भ्रमयितृत्वम्। न अविद्योपहितचित एवानादेरीश्वरत्वेनान्तःकरणोपहितजीवकल्पितत्वायोगात्, जीवकल्पित-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मान कर समर्थन सूत्रकार ने भी किया है—"भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत्" (ब्र० सू० २।१।१३)। अर्थात् 'ब्रह्म ही यदि भोक्ता और भोग्यात्मक है, तब भोक्ता और भोग्य का अभेद होना चाहिए'—इस प्रकार के आक्षेप का समाधान है—स्यात् लोकवत्, लोक में जैसे उदकरूप से अभेद रहने पर भी जल के विकारभूत फेन, बुद्बुदादि के रूप से भेद होता है, वैसे ही भोक्ता और भोग्य का भेद होता है। किन्तु अद्वैत वेदान्त का प्रधान सिद्धान्त विवर्तवाद है—"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य." (ब्र० सू० २।१।१४) इस सूत्र में भाष्यकार ने कहा है—"अभ्युपगम्य चेयं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षण विभागं स्याल्लोकवदिति परिहारोऽभिहितः, न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति।" अर्थात् "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छां० ६।१।१) यह श्रुति स्पष्ट कहती है कि घटादि विकार असत्य, उनमें अनुगत मृत्तिका ही जैसे (आपेक्षिक) सत्य होती है, वैसे ही भोक्ता, भोग्य, प्रेरयिता आदि भेद से भिन्न अनन्त प्रपञ्च मिथ्या है, सर्वानुगत एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है। श्रीवाचस्पति मिश्र ने भी कहा है—"इमां शङ्कामापाततोऽविचारितलोकसिद्धदृष्टान्तोपदर्शनमात्रेण निराकरोति सूत्रकारः—स्यात् लोकवदिति (भामती पृ० ४५३)। "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः"—इस प्रकार के विवर्तवादरूप परम सिद्धान्त की अवस्था में न तो कोई शङ्का ही होती है और न किसी उत्तर की ही अपेक्षा रहती है। मायावी परमेश्वर ही अपने प्रतिबिम्बभूत जीवों का भ्रामयिता होता है, जैसे कि श्रुति कहती है—"देवस्यैष महिमा तु लोके, येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्" (श्वेता० ६।१)। इस पक्ष में समस्त विरोध का निरास हो जाता है। कल्पतरु (पृ० ४८२) में भी कहा है—

प्रतिबिम्बगताः पश्यन् ऋजुवक्रादिविक्रियाः।
पुमान् क्रीडेद् यथा ब्रह्म तथा जीवस्थविक्रियाः॥

शङ्का—आप के अद्वैतवाद में ईश्वर भी तो जीव के द्वारा कल्पित माना जाता है, फिर वह जीव का प्रेरक कैसे होगा ?

समाधान—अविद्योपहित चेतन ईश्वर है, वह अनादि होने के कारण अन्तःकरणोपहित चैतन्यरूप जीव के द्वारा कल्पित नहीं हो सकता। जीव-कल्पितत्व-पक्ष में प्रेरकत्वादि धर्मों से युक्त ही ईश्वर की कल्पना होती है, अतः उसमें भ्रमयितृत्व उपपन्न हो जाता है, जैसा कि संक्षेपशारीरक में कहा है—

परिकल्पितोऽपि सकलज्ञतया गुरुरेव पूर्णमवबोधयति।
परिकल्पितोऽपि मरणाय भवेद् उरगो यथा न तु नभो मलिनम्॥ (२।२२७)

न्यायामृतम्

न च कल्पकं विना कल्पना। न च जीवानां वाय्वादिभ्योऽग्न्याद्युत्पत्तिभ्रमो वाऽस्ति, यः श्रुतेरालम्बनं स्यात्। न च भ्रान्तिं विना कल्पितमस्ति। न चैतद्वाक्यजभ्रान्तिसिद्धालम्बनेनैव एतद्वाक्यस्य प्रामाण्यम्, बौद्धागमस्यापि तत्प्रसंगात्। त्वन्मते भ्रान्तिहेतूनां देहेन्द्रियादीनां पृथिव्यादिकार्यत्वात्। ईश्वरस्य चाभ्रान्तत्वात्। भ्रान्तत्वे वा तद्भ्रान्तेरपि देहादिकार्यत्वादिति दिक्। तस्मान्नानुमानं विश्वमिथ्यात्वे मानम्।

इति मिथ्यात्वहेतूनां प्रतिकूलतर्काः।

अद्वैतसिद्धिः

त्वपक्षेऽपि तादृग्धर्मविशिष्टतयैव कल्पनेन तस्य भ्रमयितृत्वाद्युपपत्तेः, 'परिकल्पितोऽपि मरणाय भवेदुरगो यथा न तु नभो मलिन'मिति न्यायात्। ननु—न जीवानां वाय्वादिभ्योऽग्न्याद्युत्पत्तिरिति भ्रमोऽस्ति, यः स्वाप्नभ्रम इव श्रुतेरालम्बनं स्यात्, न च भ्रान्तिं विना कल्पितमस्ति, न चैतद्वाक्यजभ्रान्तिकल्पितमेव एतद्वाक्यालम्बनम्, वेदस्य भ्रमजनकत्वप्रसङ्गाद्, अनुवादे तु न दोषः। न चेश्वर एव तत्कल्पकः, तस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। तदभ्युपगमेऽपि न निस्तारः, भ्रान्तेर्देहेन्द्रियादिकार्यत्वात् तेषां च पृथिव्यादिकार्यत्वात्, पृथिव्याद्युत्पत्तेः प्राक् भ्रान्त्ययोगादिति—चेन्न, भ्रान्तिमात्रे देहेन्द्रियाद्यपेक्षायाः प्रागेव निरासाद्, ईश्वराध्यस्तवाय्वादिहेतुकाग्न्याद्युत्पत्त्यालम्बनत्वेन वेदस्य भ्रमाजनकत्वाद्, अध्यस्तस्य चाध्यस्तत्वेन स्फुरणान्न मायाविन इव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

[अर्थात् कल्पित होने पर भी सर्वज्ञ गुरु वैसे ही ब्रह्म का बोध कराता है, जैसे कि कल्पित सर्प ही मृत्यु का निमित्त बना करता है, नील गगन नहीं]।

शङ्का—'वायु आदि से अग्न्यादि की उत्पत्ति होती है'—यह भ्रम किसका है? जीव का? अथवा ईश्वर का? 'जीव का यह भ्रम है और "वायोरग्निः" (तै० उ० ३।१।१) इस श्रुति का वही स्वाप्न भ्रम के समान आलम्बन है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनादि अज्ञान पश्चाद्भावी जीव की कल्पना नहीं हो सकता—यह कहा जा चुका है। भ्रान्ति के बिना वाय्वादि से अग्न्यादि की उत्पत्ति की कल्पना नहीं कर सकते। "वायोरग्निः" (तै० उ० ३।१।१) इस वाक्य से जनित भ्रान्ति ही इस वाक्य का विषय है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुति यदि भ्रम-ज्ञान का जनक है, तब उसमें प्रामाण्य नहीं बन सकता। हाँ, यदि वह लोक-सिद्ध का अनुवादमात्र करती है, तब तो उसके प्रामाण्य पर किसी प्रकार का आघात नहीं आता, क्योंकि उस वाक्य को उस अंश में प्रमाण ही नहीं माना जाता। 'वायु से अग्नि की उत्पत्ति होती है'—यह भ्रान्ति ईश्वर की भी नहीं बन सकती, अन्यथा ईश्वर को भी जीव के समान ही भ्रान्त मानना होगा। ईश्वर को भ्रान्त मान लेने पर भी काम नहीं चलता, क्योंकि भ्रान्ति देहेन्द्रियादि का ही एक कार्य है, देहादि प्रथिव्यादिभूतों से उत्पन्न होते हैं, अतः पृथिव्यादि की उत्पत्ति से पहले भ्रान्ति सम्भव नहीं। परिशेषतः वाय्वादि से अग्न्यादि की उत्पत्ति को भ्रम न कह कर परमार्थ ही कहना होगा, तभी ही उक्त श्रुति में प्रामाण्य भी सुरक्षित रह सकेगा।

समाधान—भ्रान्ति में देहेन्द्रियादि की अपेक्षा का निराकरण पहले ही किया जा चुका है। ईश्वर में अध्यस्त वाय्वादि से अग्न्यादि की उत्पत्ति का प्रतिपादन श्रुति में होने पर भी श्रुति में अप्रामाण्यापत्ति नहीं होती, क्योंकि श्रुति उसका व्यावहारिक

अद्वैतसिद्धिः

ईश्वरस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः । न चाध्यस्तत्वे उत्पत्त्याद्यनुपपत्तिः, अनध्यस्तस्य काप्युत्पत्त्याद्यदर्शनेनाध्यस्तत्वस्यैव तदुपपादकत्वात्, सत्कार्यवादासत्कार्यवादनिषेधेनानिर्वचनीयकार्यवादमात्रे कार्यकारणभावपर्यवसानात् । तदेवं कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्याद्वैते ब्रह्मणि कल्पनोपपत्तेर्न प्रतिकूलतर्कपराहतिः ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणि कृत्स्नकल्पनोपपादनेन प्रतिकूलतर्कनिराकरणम् ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सत्ता की दृष्टि से ही प्रतिपादन करती है, सर्वथा अबाधितरूप से नहीं। अपने में अध्यस्त प्रपञ्च को ईश्वर अध्यस्तरूप से ही जानता है, अतः ईश्वर भी भ्रान्त क्यों होगा ? हाँ, उसे यथार्थरूप से जानने पर ईश्वर को भ्रान्त कहा जा सकता था। 'तद्वति तत्प्रकारकत्वरूप व्यावहारिक प्रामाण्य उक्त ईश्वरादि ज्ञान में विद्यमान होने के कारण उसके ज्ञान को भ्रम नहीं कह सकते। अध्यस्त प्रपञ्च की उत्पत्ति आदि भी अनुपपन्न नहीं, क्योंकि अनध्यस्त ब्रह्म की कहीं पर भी उत्पत्त्यादि नहीं देखी गई, अतः अध्यस्त पदार्थ की ही उत्पत्त्यादि सम्भावित है। उत्पत्ति के पूर्व आकाशादि की ब्रह्म में सत्ता है ? अथवा नहीं ? इत्यादि विकल्प-जाल का यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं, क्योंकि सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद—दोनों का निराकरण करके अनिर्वचनीयवाद में ही कार्य-कारणभाव का पर्यवसान माना गया है, अतः समस्त कार्य उत्पत्ति के पूर्व और पश्चात् सदसदुभय-भिन्न अनिर्वचनीयमात्र है। इस प्रकार सकल प्रपञ्च की एक अद्वितीय ब्रह्म में कल्पना उपपन्न हो जाती है, प्रतिकूल तर्कों का प्रहार उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। इसी लिए संक्षेपशारीरककार ने विवर्तवाद को ही अपना मुख्य सिद्धान्त माना है—

> आरम्भवादः कणभक्षपक्षः, संघासवादस्तु भदन्तपक्षः ।
> सांख्यादिपक्षः परिणामवादः, वेदान्तपक्षस्तु विवर्तवादः ॥ (२।६३)

: ३६ :

सामान्येन मिथ्यात्वश्रुतिविचारः

न्यायामृतम्

नापि श्रुतिः । श्रुत्या स्वस्वरूपस्वप्रामाण्यतद्धेतुयोग्यतादेर्मिथ्यात्वाबोधने प्रत्यक्षादिसिद्धतत्सत्यत्वोपजीवने ब्रह्मेतरसर्वमिथ्यात्वासिद्धेः । सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति महाभाष्योक्तन्यायेन प्रत्यक्षादिसिद्धघटादिमिथ्यात्वासिद्धेश्च । बोधने श्रुतिबोध्यार्थस्य तात्त्विकत्वासिद्धेः । शब्दबोध्यस्य शब्दतत्प्रामाण्ययोग्यतादिना समसत्ताकत्वनियमादित्युक्तत्वात् । सदर्थे स्वाप्नदेवतादिवाक्येऽपि योग्यताप्रामाण्ये अपि सती एव शब्दस्वरूपमपि मम सत्यम्, तव तु न तच्छब्दत्वेन

अद्वैतसिद्धिः

एतदनुमानम् 'एकमेवाद्वितीयम्'—इत्यादिश्रुतिरप्यनुगृह्णाति । ननु श्रुत्या स्वस्वरूपस्वप्रामाण्यस्वयोग्यतादेर्मिथ्यात्वाबोधनेन प्रत्यक्षादिसिद्धतत्सत्त्वोपजीवनेन च ब्रह्मेतरसकलमिथ्यात्वासिद्धिः, 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्ये'ति न्यायेन प्रत्यक्षादिसिद्धघटादिमिथ्यात्वासिद्धिश्च, योग्यतादिमिथ्यात्वबोधने च श्रुत्यर्थस्यातात्त्विकत्वापत्तिः, शब्दबोध्यस्य शब्दतत्प्रामाण्ययोग्यतादिना समसत्ताकत्वनियमात् । न च सदर्थे स्वाप्नदेवतावाक्ये व्यभिचारः आप्तत्वापौरुषेयत्वायोगेन तस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरजतवत्'—इस अनुमान की पुष्टि "एकमेवाद्वितीयम्" (छां० ६।२।१) यह श्रुति भी कर रही है । २

द्वैतवादी—प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा प्रसाधित शब्द-स्वरूप, शब्द-प्रामाण्य और शब्द-योग्यता की सत्ता का उपजीवन (उपाश्रयण) कर जो अद्वैत-श्रुति प्रकाश में आई और अपने सत्यभूत अर्थ का बोध कराती है, वह अपने उपजीव्यभूत स्वरूप, प्रामाण्य और योग्यता को मिथ्या या असत् कभी नहीं कह सकती, अतः उक्त श्रुति के द्वारा ब्रह्मेतर समस्त प्रपञ्च का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता । अपने उपजीव्य का बाध कोई भी नहीं किया करता, क्योंकि महर्षि पतञ्जलि की परिभाषा है—सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" [अर्थात् अपने जिस उपजीव्य का सन्निपात (संश्लेष या उपाश्रयण) कर जो विधि प्रवृत्त होती है, वह अपने उस उपजीव्य के विघात का निमित्त कभी नहीं बनती । 'ष्णान्ता षट्' (पा० सू० १।१।२४) के भाष्य का यह एक वाक्य 'कृन्मेजन्तः' (पा० सू० १।१।३९) के भाष्य में महत्त्वपूर्ण परिभाषा का आकार धारण कर लेता है, वहीं पर इसके अनेक प्रयोजनों की चर्चा भी की गई है] । दूसरी बात यह भी है कि प्रत्यक्षादि के द्वारा प्रमापित घटादि का मिथ्यात्व भी उस श्रुति से सिद्ध नहीं हो सकता ।

यदि उक्त श्रुति अपने उपजीव्यभूत योग्यतादि का मिथ्यात्व-बोधन करती है, तब श्रुति-प्रतिपादित अद्वैतरूप अर्थ भी मिथ्या या अतात्त्विक हो जायगा, क्योंकि शब्द के द्वारा जनित बोध और बोधित अर्थ नियमतः शब्दगत प्रामाण्य और योग्यता के समानसत्ता का होता है । यदि कहा जाय कि 'यत्र-यत्र शब्दत्वम्, तत्र-तत्र स्वस्वरूपादिसमानसत्ताकार्थबोधकत्वम्'—इस व्याप्ति का व्यभिचार सदर्थक कल्पित स्वाप्नदेवतावाक्य में है, क्योंकि वहाँ शब्दत्व रहने पर भी कल्पित स्वस्वरूपादि के समानसत्ताक अर्थ-बोधकत्व नहीं, अपितु अधिकसत्ताक अर्थ की बोधकता होती है । तो वैसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि स्वप्न-कल्पित देवता का वाक्य न तो आप्त-वाक्य है और न

अद्वैतसिद्धिः

शब्दत्वेन प्रामाण्यायोगात्, किं तूपश्रुतिवत्ताद्दशशब्दज्ञानं लिङ्गत्वेन प्रमाणमिति—चेन्न, निर्दोषशब्दत्वेन तस्य शब्दविधयैव प्रामाण्यसंभवाद्, आप्तत्वापौरुषेयत्वयोर्दोषाभाव एवोपक्षयाद् व्याप्त्याद्युपस्थितिकल्पने गौरवाद्, वक्तुः कल्पितत्वेऽपि तद्गतदो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अपौरुषेय वाक्य, अतः वह शब्द प्रमाण ही नहीं, अपितु उस वाक्य का ज्ञान वैसे ही सदर्थ का अनुमापक होता है, जैसे उपश्रुति [भविष्य-सूचक अन्यार्थक शब्द को उपश्रुति कहा जाता है—

नक्तं निर्गत्य यत्किञ्चिच्छुभाशुभकरं वचः ।
श्रूयते तद्विदुर्धीरा देवप्रश्नमुपश्रुतिम् ॥

आज भी शकुन-विचारक लोग अपने हृदय में चिन्तित प्रश्न का उत्तर पाने के लिए अँधेरी रात में घर से बाहर निकल पड़ते हैं और लोगों की आपसी बात-चीत को सुन कर अपने प्रश्न का उत्तर कूत लेते हैं। महाभारत (उद्योग० १४।१-४) में उपश्रुति नाम की देवी का उल्लेख है, जिसकी सहायता से इन्द्राणी ने छिपे इन्द्र का पता लगाया था। कादम्बरी-कथा में रानी विलासवती के परिजन भी उपश्रुति के द्वारा शकुन विचारते थे—"परिजनोऽपि अस्याः सततमुपश्रुत्यै निर्जगाम" (कादम्बरी पृ० १३०)। न्यायामृत की व्याख्या में भी श्रीनिवास ने वैसे ही अन्यार्थक शब्दों को उपश्रुति कहा है, जिन्हें सुनकर शाकुनिक अपने प्रश्न का उत्तर निकाल लेता है]। फलतः शब्दार्थ में शब्दादि-समानसत्ताकत्व का नियम अक्षुण्ण रहता है और अद्वैत श्रुति यदि मिथ्या है, तब उसका अर्थ भी मिथ्या ही होगा—अद्वैतश्रुतिबोधितोऽर्थो मिथ्या, मिथ्याशब्दप्रतिपादितत्वात् प्रतारकवाक्यप्रतिपादितार्थवत् ।

अद्वैतवादी—['एकमेवाद्वितीयम्'—इत्यादि अतात्त्विक वाक्यों से भी वैसे ही सत्य अर्थ का बोध होता है, जैसे कि कल्पित स्वाप्न देवतादि के शब्द से। यह जो कहा गया कि स्वाप्नदेवता के वाक्य शब्द प्रमाण-विधया बोधक नहीं, अपितु उनका ज्ञान धूम-ज्ञान के समान सत्य अर्थ का अनुमापक होता है। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि] स्वाप्न देवता के वाक्य भी शब्दप्रमाण-विधया ही अर्थ के बोधक होते हैं। वे भी आप्त वाक्य हैं। हाँ, आप्त वाक्य का अर्थ 'आप्तस्य वाक्यम्' नहीं है, किन्तु निर्दोष वाक्य होता है, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"आप्ता प्राप्ता युक्तेति यावत्, आप्ता चासौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः" (सां० त० कौ० ५)। इस प्रकार का निर्दोष वाक्य चाहे पौरुषेय हो या अपौरुषेय—दोनों शब्द प्रमाण के अन्तर्गत ही माने जाते हैं, शब्दगत आप्तोच्चरितत्व और अपौरुषेयत्व केवल शब्द की निर्दोषता सिद्ध करते हैं, प्रामाण्य में साक्षात् उपयोगी नहीं होते। दोषों के माध्यम से आनेवाला अप्रामाण्य न आने पाये, प्रमाण तो शब्द स्वतः ही होता है—

यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदान्यन्नैव मृग्यते ।
निवर्तते हि मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयत्नतः ॥
तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता ।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानैरपोद्यते ॥ (श्लो० वा० २।५२-५३)

स्वाप्नदेवता का वाक्य भी निर्दोष शब्द होने के नाते शब्द प्रमाण होता है। उसे साक्षात् प्रमाण न मान कर उसके ज्ञान को अनुमापक मानने में व्याप्त्यादि कल्पना-

अद्वैतसिद्धिः

स्वार्थसंवादेन कल्पयितुमशक्यत्वाच्च। तथा च शब्दसमसत्ताकत्वस्य व्यभिचाराद् योग्यतादिसमसत्ताकत्वनियमासिद्धेरप्रयोजकत्वाच्च, परोक्षत्वानित्यत्वाद्युपाधिसंभवाच्च श्रुत्या योग्यतादिसकलमिथ्यात्वबोधनेऽपि तदर्थस्य न मिथ्यात्वम्, मिथ्यात्वप्रयोजकरूपाभावात्। महाभाष्योक्तन्यायोदाहरणमपि न युक्तम्, विषयवैषम्यात्। तथा हि— 'शतानि सहस्राणी'त्यत्र सर्वनामस्थानसंज्ञकशिसन्निपातेन विहितो नुम् 'ष्णान्ता षडि'ति षट्संज्ञाद्वारा 'षड्भ्यो लुगि'ति शिस्वरूपसर्वनामस्थानस्य पञ्चेत्यादाविव लुङ्निमित्तं न भवति, तत्सन्निपातेनैव विहितत्वात्, तत्सद्भावनियमेनैव विहितत्वादि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रयुक्त महान् गौरव होगा। स्वाप्न देवतारूप वक्ता के कल्पित होने पर भी उसमें प्रतारकत्वादि दोषों की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि उसका वाक्य अविसंवादी (निर्भ्रान्त) अर्थ का बोधक होता है। अतः सविधि साधित स्वाप्न देवता और उसके वाक्य सर्वथा निर्दोष हैं। इस प्रकार के देवता-वाक्य में व्यभिचार हो जाने के कारण शब्द-बोधित अर्थगत शब्दादि-समानसत्ताकत्व का नियम भंग हो जाता है [विगत पृ० १३१–३२ पर भी इस नियम का निराकरण किया जा चुका है]। इस नियम के बल पर द्वैतवादी का जो अनुमान-प्रयोग था—'अद्वैतश्रुतिबोधितोऽर्थो मिथ्या, कल्पित-शब्दप्रतिपादित्वात्, प्रतारकवाक्यार्थवत्।' उस में परोक्षत्व और अनित्यत्व उपाधि है। दृष्टान्तीभूत प्रतारकवाक्य-प्रतिपादित अर्थ में परोक्षत्व और अनित्यत्व रहने से साध्य के व्यापक तथा पक्षभूत साक्षात् अपरोक्ष नित्य चैतन्य में न रहने के कारण साधन के अव्यापक हैं। सोपाधिक अनुमान सर्वथा अक्षम और नगण्य होता है। अतः श्रुति यदि अपने स्वरूप, प्रामाण्य और योग्यत्व में मिथ्यात्व-बोधन भी कर देती है, तो भी उसके द्वारा समर्पित अखण्ड अर्थ में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता।

महाभाष्योक्त सन्निपात-परिभाषा का विरोध-प्रदर्शन भी उचित नहीं, क्योंकि दृष्टान्त जोर दार्ष्टान्त का वैषम्य है—'शत' प्रकृति से 'जस्' प्रत्यय करने पर "जश्शसोः शिः" (पा. सू. ७।१।२०) इस सूत्र से 'जस्' को 'शि' का आदेश होता है, "शि सर्वनामस्थानम्" (पा. सू. १।१।४२) से 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है, "लशक्वतद्धिते" (पा. सू. १।३।८) से शकार की इत् संज्ञा और "तस्य लोपः" (पा. सू. १।३।९) से उसका लोप होकर 'शत + इ' रूप होता है, "प्रत्ययलोपे प्रत्यय-लक्षणम्" (पा. सू. १।१।६१) से लुप्त शिसंज्ञक सर्वनामस्थान को निमित्त मानकर "नपुंसकस्य झलचः" (पा. सू. ७।१।७२) से नुम् का आगम होने पर 'शत + न् + इ' रूप होता है, "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ" (पा. सू. ६।४।८) इस सूत्र से उपधा-दीर्घ होकर 'शतानि' रूप सम्पन्न होता है। यदि "ष्णान्ता षट्" (पा. सू. १।१।२४) से शतन् की षट् संज्ञा मानकर "षड्भ्यो लुक्" (पा. सू. ७।१।२२) से षट्संज्ञक प्रकृति से परे जस् का लुक् कर दिया जाता है, तब प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययनिमित्तक उपधा-दीर्घ का अभाव होने पर शतम्, सहस्रम् ही रह जाता है, शतानि सहस्राणि सिद्ध नहीं होते, अतः सन्निपात परिभाषा के आधार पर यहाँ शिप्रत्यय का लुक् नहीं होगा, क्योंकि सर्वनामस्थानसंज्ञक शि प्रत्यय के सन्निपात (निमित्त) से विहित नुमागम षट् संज्ञक होकर अपने उपजीव्यभूत शि प्रत्यय के लोप का मिमित्त नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि "प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्" सूत्र से लुप्त शिप्रत्यय को भी निमित्त मानकर

न्यायामृतम्

मानम् , आप्त्यपौरुषेयत्वयोरभावात् । किं तु याद्दच्छिकसंवादि वा उपश्रुतिवत्ताद्दशशब्दज्ञानं लिंगत्वेन प्रमाणं वा । न च तात्त्विकसर्वमिथ्यात्वपरश्रुतिबलादिह समस्तसाकत्वनियमभंगः । "स्वर्गकामो यजेते" त्यादि विधेरुपजीव्याग्निविद्यावद्विषयकत्वेनेव

अद्वैतसिद्धिः

त्यर्थः । अलुप्तस्यैव सर्वनामस्थानस्य नुम्निमित्तत्वात् , 'न लुमताङ्गस्ये'ति लुमता लुप्तेऽङ्गकार्यनिषेधात् । तथा चालुप्तप्रत्ययत्वेन यत्र निमित्तता, तत्र सन्निपातलक्षणन्यायावतारः, यत्र तु 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमि'ति न्यायेन लुप्तेऽपि प्रत्यये कार्यं भवति, तत्रालुप्तत्वविशेषणनैरपेक्ष्येण प्रत्ययत्वमात्रेणैव निमित्तत्वात् न सन्निपातलक्षणन्यायावतारः, प्रत्ययसद्भावस्य तत्रानुपजीव्यत्वात् । एवं स्थिते यद्यमिथ्याभूतत्वेन प्रत्यक्षादेर्निमित्तता स्यात् , तदा प्रत्ययस्यालुप्तत्वेन निमित्ततायामिव भवेदेतन्न्यायावतारः। प्रत्यक्षादेस्तु स्वरूपेणैव निमित्तता स्वप्नाद्यर्थस्याप्यर्थक्रियाकारित्वदर्शनेन प्रागेवोपपादिता । अतो यद् बाध्यते तात्त्विकत्वं तन्नोपजीव्यम् , यच्चोपजीव्यमर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणव्यावहारिकप्रामाण्यं तच्च न बाध्यत इति किं केन सङ्गतम् ? तदुक्तं टीकाकृद्भिः— 'उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वा'दिति । अत एव– ज्योतिष्टोमादिविधेरुपजीव्याग्निविद्यावद्विषयत्वेनेव द्वैतनिषेधस्यापि स्वोपजीव्ययोग्यतादीतरविषयत्वेन सङ्कोचस्य वा सृष्ट्यादि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नुमागम हो जायगा, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि "न लुमताङ्गस्य" (पा. सू. १।१।६३) से उसका निषेध हो जाता है, अतः शिप्रत्यय को बचाना आवश्यक है, उपजीव्य-विरोध दिखा कर ही सन्निपात परिभाषा के द्वारा उसे सुरक्षित किया जाता है और शतानि सहस्राणि के प्रचलित रूपों को साधुता प्रदान की जाती है । जहाँ पर "प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्" (पा. सू. १।१।६१) का बाध नहीं होता और लुप्त प्रत्यय को निमित्त मानकर भी नैमित्तिक कार्य का सम्पादन किया जाता है, वहाँ सन्निपात परिभाषा लागू नहीं होती, क्योंकि लुप्त प्रत्यय भी उस कार्य का उपजीव्य बन जाता है, प्रत्यय का सद्भाव आवश्यक नहीं ।

प्रकृत में यदि अमिथ्याभूत प्रत्यक्षादि को अद्वैत श्रुति अपना उपजीव्य बनाती, तब शि प्रत्यय की सुरक्षा के समान ही प्रत्यक्षादि को मिथ्यात्व के उदर-प्रवेश से बचाने के लिए सन्निपात परिभाषा की दुहाई दी जा सकती थी । किन्तु प्रत्यक्षादि वैसे ही अपारमार्थिक रूप में ही अद्वैत श्रुति के उपजीव्य हैं, जैसे कि कल्पित स्वाप्न देवतावाक्य के आश्रित अर्थक्रियाकारी यथार्थ अर्थ-बोध । स्वाप्नार्थ की अर्थ-क्रिया-कारिता पहले ही दिखाई जा चुकी है । अतः अद्वैत श्रुति के द्वारा जो प्रत्यक्षादिगत तात्त्विकत्व अंश बाधित होता है, वह इस श्रुति का उपजीव्य नहीं और जो प्रत्यक्षादिगत अर्थ-क्रिया-कारित्वरूप व्यावहारिक प्रामाण्य इस श्रुति का उपजीव्य है, वह इसके द्वारा बाधित नहीं होता । टीकाकार आचार्य वाचस्पति ने भी कहा है—"प्रमितावनपेक्षत्वेऽप्युत्पत्तौ प्रत्यक्षापेक्षत्वात् तद्विरोधादनुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यमिति चेत्, न उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात् । न हि आगमज्ञानं सांव्यावहारिकं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमुपहन्ति, येन कारणाभावान्न भवेद्, अपि तु तात्त्विकम्, न च तत् तस्योत्पादकम्, अतात्त्विकप्रमाणभावेभ्योऽपि सांव्यावहारिकप्रमाणेभ्यस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिदर्शनात्" (भामती० पृ० ९–१०) ।

जो यह शङ्का की जाती है कि जैसे "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"— इस

न्यायामृतम्

द्वैतनिषेधस्यापि स्वोपजीव्ययोग्यतादीतरविषयकत्वेन संकोचस्य वा सृष्ट्यादि-श्रुतेरिव कल्पितविषयत्वस्य वोपपत्तौ श्रुतेस्तात्त्विकसर्वमिथ्यात्वपरत्वकल्पनेऽन्यो-न्याश्रयात् । तस्मात् —

शब्दार्थतद्योग्यतयोस्तुल्यत्वाद्योग्यता सती ।
न चेद्वेदोऽप्रमाणं स्याद् वृषलोद्वाहमंत्रवत् ॥

अद्वैतसिद्धिः

श्रुतेरिव कल्पितविषयत्वस्य वोपपत्तौ न तात्त्विकसर्वमिथ्यात्वकल्पनं युक्तमिति— अपास्तम् , दृष्टान्ते अग्निविद्यादेरिव दार्ष्टान्तिके योग्यतादेस्तात्त्विकस्यानुपजीव्यत्वात् । न हि योग्यता तात्त्विकयोग्यतात्वेन निमित्तम् , किं तु योग्यतात्वेनैव । सकलद्वैता-भावस्याधिकरणस्वरूपत्वेन तदधिकरणस्य च ब्रह्मणः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'तत्सत्यं स आत्मे'त्यादिश्रुत्या सत्यत्वप्रतिपादनात् , न सृष्ट्यादिश्रुतेरिव कल्पितविषयत्वोप-पत्तिः । तस्माद्योग्यतादेर्मिथ्यात्वेऽपि वेदान्तबोध्यं सत्यमेवेति स्थितम् । यथा चावि-द्यातत्कार्यस्य स्वरूपतो निषेधेऽपि तुच्छवैलक्षण्यं, पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधे वा पारमार्थिकत्वधर्मशून्यस्यापि ब्रह्मणः स्वरूपेण सत्त्वं, तथोपपादितमधस्तात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वाक्य से विहित कर्म में त्रैवर्णिक से भिन्न का अधिकार नहीं, क्योंकि उक्त कर्म में आधान-सिद्ध अग्नि और स्वाध्यायाध्ययन-सिद्ध, विद्या की नियमतः अपेक्षा है, अतः यह साधन-सम्पत्ति जिन त्रैवर्णिकों के पास है, वे ही उक्त कर्म के अधिकारी माने जाते हैं, अतः यद्यपि उक्त विधि वाक्य में 'स्वर्गकामः'— यह सामान्य निर्देश मात्र है, तथापि उपजीव्य अग्नि और विद्या को दृष्टि में रखकर 'स्वर्गकामः त्रैवर्णिकः' इस प्रकार अधिकारी का संकोच किया जाता है, वैसे ही द्वैत-मिथ्यात्व-बोधक आगम के भी बाध्य क्षेत्र का संकोच करना चाहिए कि 'अद्वैतागमोपजीव्यं यद् द्वैतम्, तद्भिन्नं मिथ्या'। अथवा सृष्टि-प्रतिपादक वाक्यों का कल्पित सृष्टि के प्रतिपादन में जैसे संकोच किया जाता है, वैसे ही सर्व-मिथ्यात्व-प्रतिपादक श्रुति का कल्पित द्वैत के मिथ्यात्व-प्रतिपादन में ही संकोच करना आवश्यक है। वह शङ्का भी इसी लिए निरस्त हो जाती है कि दृष्टान्त में आधान-साधित अग्नि और स्वाध्यायाध्ययन-साध्य विद्या जैसे ज्योतिष्टोम कर्म का उप-जीव्य है, वैसे दार्ष्टान्त में शब्दगत तात्त्विक योग्यतादि उपजीव्य नहीं, क्योंकि योग्यता केवल तात्त्विकातात्त्विक-साधारण योग्यतात्वेन ही अपेक्षित है, तात्त्विक योग्यतात्वेन नहीं। इसी प्रकार जब सकल द्वैताभाव को ब्रह्मरूप और ब्रह्ममात्र की सत्यता "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१।१) "तत्सत्यं स आत्मा" (छां० उ० ६।८।७) इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित है, तब सृष्ट्यादि श्रुतियों के समान मिथ्यात्व-प्रतिपादक आगम का संकोच नहीं किया जा सकता, सृष्टि-प्रतिपादक आगम का भी परम तात्पर्य सर्वा-ध्यासाधिष्ठानभूत ब्रह्म की सत्यता में ही है, केवल अवान्तर तात्पर्य सृष्टिरूप अध्यारोप के प्रदर्शन में होता है, अतः कल्पित सृष्टि के प्रतिपादन में सृष्टि-श्रुति का संकोच किया जा सकता है। फलतः शब्दगत योग्यतादि के मिथ्या होने पर भी वेदान्त-वाक्य-बोध्य अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है। अविद्या और उसके कार्य प्रपञ्च का स्वरूपतः निषेध होने पर अथवा पारमार्थिकत्वेन द्वैत का निषेध होने पर भी प्रपञ्च में असद्वैलक्षण्य होता है तथा पारमार्थिकत्व-धर्म-शून्य ब्रह्म का भी स्वरूपतः सत्त्व होता है—यह प्रथम मिथ्यात्व-

न्यायामृतम्

एवं श्रुतिः स्वबोध्यं द्वितीयाभावमपि निषेधति चेत्, स्वव्याघातः। न चेत्सर्वमिथ्यात्वासिद्धिरिति।

किं चोक्तरीत्या श्रुत्याप्यविद्याकार्यस्य विश्वस्य न स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधः। पारमार्थिकत्वेन निषेधस्तु निर्धर्मकस्यात्मनोऽपि। अपि च "तत्त्वमसी"त्यनेन प्रत्यक्षाविरोधाय तत्त्वंपदलक्षितयोरैक्यमिव मिथ्यात्वश्रुत्यापि तदविरोधाय प्रत्यक्षादिसिद्धादन्यस्यैव मिथ्यात्वं बोध्यमिति न तत्सिद्धविश्वमिथ्यात्वसिद्धिः। अन्यथा "नेह नाने"

अद्वैतसिद्धिः

ननु—तत्त्वमस्यादिवाक्येन प्रत्यक्षाद्यविरोधाय तत्त्वंपदलक्षितयोरैक्यमिव मिथ्यात्वश्रुत्यापि तदविरोधाय प्रत्यक्षादिसिद्धादन्यस्यैव मिथ्यात्वं बोध्यम्, अन्यथा प्रत्यक्षाद्यनुग्रहाय व्यावहारिकमपि सत्त्वं न कल्प्येत, 'नेह नाने'त्यादिनिषेधेनात्यन्तासत्त्वबोधनाद्—इति चेन्न, विशिष्टयोरैक्ये विशेषणयोरप्यैक्यापातेन सर्वत्र विशिष्टाभेदपरवाक्यस्य लक्षितविशेष्यैक्यपरत्वनियमेन 'तत्त्वमसी'त्यत्रापि तथाभ्युपगमात्। तदुक्तम्—

अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः।
घटते न यदैकता तदा न तरां तद्विपरीतरूपयोः॥ इति।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

निरूपण के अवसर पर कहा जा चुका है।

शङ्का—जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध न हो, इस लिए 'तत्त्वमसि' में तत् और त्वम् पदों की लक्षणा मानीजाती है और लक्षित पदार्थों की एकता स्थापित की जाती है, वैसे ही प्रपञ्च-मिथ्यात्व-श्रुति के द्वारा भी प्रत्यक्षादि के विरोध से बचने के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध घटादि प्रपञ्च को छोड़ कर कल्पित पदार्थों का ही मिथ्यात्व प्रतिपादन करना चाहिए, नहीं तो प्रत्यक्षादि के अनुरोध पर जो घटादि का व्यावहारिक सत्त्व माना जाता है, उसको भी तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए, क्योंकि "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृह० उ० ४।४।१९) इस श्रुति के द्वारा प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव ही प्रतिपादित है, प्रपञ्च की व्यावहारिकता को भी नहीं छोड़ा गया है।

समाधान—लक्षणा का प्रयोजन प्रत्यक्षादि-विरोध की निवृत्ति नहीं, अपितु भेद-भ्रम-निवृत्ति ही प्रयोजन माना जाता है। दो विशिष्ट पदार्थों के अभिन्न होने पर उनके विशेषणों का भी अभेद प्रसक्त होता है, अतः सर्वत्र विशिष्टाभेद-बोधक वाक्यों का तात्पर्य लक्षित विशेष्य भाग की एकता में माना जाता है, जिससे कि उनके भेद-भ्रम की निवृत्ति हो जाती है। 'तत्त्वमसि'—इत्यादि महावाक्यों में भी उसी प्रक्रिया का अवलम्बन किया जाता है, जिससे ब्रह्म और जीव के भेद-भ्रम की निवृत्ति हो जाती है। संक्षेपशारीरक (१।१६७) में कहा है—

अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः।
घटते न यदैकता तदा नतरां तद्विपरीतरूपयोः॥

[अर्थात् दण्ड-कुण्डलादि अविरुद्ध विशेषणों से घटित दण्डी देवदत्त और कुण्डली देवदत्त का ही जब अभेद नहीं बन सकता, तब तत्ता और इदन्ता के समान परस्पर विरुद्ध विशेषणों से युक्त विशिष्ट पदार्थों के अभेद की कभी सम्भावना ही नहीं की जा सकती। अतः 'दण्डी कुण्डली देवदत्तः' के समान 'सोऽयं देवदत्तः' में भी लक्षणा ही मानी जाती है, यदि प्रत्यक्ष-विरोध-स्थल पर ही लक्षणा होती, तब दण्डी कुण्डली में लक्षणा नहीं

न्यायामृतम्

तिनिषेधाद्विश्वस्यात्यन्तासत्त्वं तात्त्विकं स्यात्यन्यथानुपपत्तिसिद्धमसद्वैलक्षण्यं त्वतात्त्विकं स्यात्। किं च श्रुतेस्तात्पर्यं चैतन्यमात्रे वा ? द्वितीयाभावविशिष्टे वा ? तदुपलक्षिते वा ? नाद्यः, विश्वमिथ्यात्वासिद्ध्या इष्टापत्तेः। तस्य स्वप्रकाशस्य नित्यसिद्धत्वेन श्रुतेर्वैयर्थ्याच्च । न द्वितीयः, श्रुतेरखंडार्थत्वहानेः। अत एव न तृतीयः, काकवदितिवद् द्वितीयाभाववदिति सप्रकारज्ञानहेतुत्वे अखण्डार्थत्वायोगात्। चिन्मात्रस्य नित्यसिद्धत्वेनान्यस्य च मुमुक्षवज्ञेयत्वेन काकेन संस्थानविशेषस्येव द्वितीयाभावे-

अद्वैतसिद्धिः

मिथ्यात्वबोधकश्रुतौ तु नास्ति प्रत्यक्षादिविरोधः, तात्त्विकत्वांशस्यानुपजीव्यत्वाद्, व्यावहारिकसत्त्वस्य चोपजीव्यत्वान्नात्यन्तासत्त्वकल्पनमित्यस्याप्युक्तप्रायत्वात्। ननु—श्रुतेस्तात्पर्यं चैतन्यमात्रे वा ? द्वितीयाभावविशिष्टे वा ? तदुपलक्षिते वा ? नाद्यः, विश्वमिथ्यात्वासिद्धेरिष्टापत्तेः, तस्य स्वप्रकाशतया नित्यसिद्धत्वेन श्रुतिवैयर्थ्याच्च। न द्वितीयः, अखण्डार्थत्वहानात् । अत एव न तृतीयः, काकवदितिवद् द्वितीयाभाववदित्यनेनापि सप्रकारकज्ञानजननेनाखण्डार्थत्वायोगात्, चिन्मात्रस्य नित्यसिद्धत्वेन तदन्यस्य च मुमुक्षवज्ञेयत्वेन काकेन संस्थानविशेषस्येव द्वितीयाभावेनोपलक्ष्यस्यान्यस्याभावात् तस्योपलक्षणत्वायोगाच्चेति—चेन्न, काकस्य संस्थानविशेष इव द्वितीयाभावस्य स्वरूपमेवोपलक्ष्यमित्युपलक्ष्याभावनिबन्धनोपलक्षणत्वानुपपत्तेर-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

हो सकती थी, क्योंकि एक ही देवदत्त में दण्ड और कुण्डल का समन्वय देखा जाता है, प्रत्यक्ष-विरोध नहीं] । मिथ्यात्व-बोधक श्रुति का तो प्रत्यक्ष के साथ कोई विरोध ही नहीं, क्योंकि द्वैतगत तात्त्विकत्व अंश उस श्रुति का उपजीव्य नहीं, केवल व्यावहारिक सत्त्व ही उपजीव्य है, उसका बाध नहीं किया जाता, अतः अद्वैत श्रुति का केवल प्रपञ्च की पारमार्थिक सत्ता के निषेध में तात्पर्य है, सर्वथा सत्ता के निषेध में नहीं—यह कई बार कहा जा चुका है।

शङ्का—अद्वैत-श्रुति का तात्पर्य चैतन्यमात्र में है ? या द्वितीयाभाव-विशिष्ट चैतन्य में ? अथवा द्वितीयाभावोपलक्षित चैतन्य में ? प्रथम पक्ष द्वैतवादी को भी अभीष्ट ही है, क्योंकि श्रुति के चैतन्यमात्र-परक होने पर द्वैत जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता एवं शुद्ध चैतन्य स्वयं प्रकाश होने से नित्य सिद्ध है, उसके बोधन में श्रुति का सार्थक्य भी नहीं होता। द्वितीय पक्ष आप को भी अभीष्ट नहीं, क्योंकि विशिष्ट-बोधक वाक्य में अखण्डार्थकत्व नहीं बनता। अत एव तृतीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि उपलक्षक काकादि-घटित 'काकवद् गृहमम्'—यह वाक्य जैसे काकवत्त्वप्रकारक ज्ञान का ही जनक माना जाता है, वैसे ही 'द्वितीयाभाववत् चैतन्यम्'—यह वाक्य भी सप्रकारक ज्ञान का ही जनक है, अखण्डार्थक नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि जब काक घर के जिस ऊँचे बाँस पर बैठा था स्वयं उड़ गया, किन्तु अपना प्रतिनिधित्व (परिचायकत्व) उस बाँस को दे गया, तब काक को उपलक्षता की पदवी मिली, किन्तु प्रकृत में द्वितीयाभावरूप उपलक्षक अपनी अनुपस्थिति में किसको अपना प्रतिनिधि बनाएगा ? यहाँ तो 'न हि किञ्चिदस्ति।' किसी उपलक्ष्य वस्तु के न होने पर उपलक्षणता भी नहीं बनती।

समाधान—जैसे काक का उपलक्ष्य गृहगत उत्तृणत्वादि आकार-विशेष होता

न्यायामृतम्

णोपलक्ष्यस्यान्यस्याभावेन तस्योपलक्षणत्वायोगाच्च । किं च श्रुतिबोध्यस्य विशेषणस्य वोपलक्षणस्य वा द्वितीयाभावस्य सत्त्वे अद्वैतहानिः । मिथ्यात्वे च दण्डहीने दण्डीति वाक्यवत् काकहीने काकवदित्यादिवाक्यवच्चाद्वैतवाक्यस्यातत्त्वावेदकता स्यात् । न च

अद्वैतसिद्धिः

भावात् । उपलक्षणत्वे हि उपलक्ष्यसत्त्वमात्रं तन्त्रम् , न तु तस्य स्वरूपातिरिक्तत्वमपि, गौरवाद् , उपलक्ष्यतावच्छेदकरूपाभावेऽपि स्वतोव्यावृत्तजातिवदुपलक्ष्यत्वसंभवात् । अत एव न सप्रकारकत्वापत्तिः, काकवदित्यत्राप्युपलक्षणस्याप्रकारत्वात् , किं तु स्वरूपातिरिक्तधर्मस्य तत्रोपलक्षणत्वेन सप्रकारत्वम् , इह तु तन्नेति वैषम्यम् । न चोपलक्षणवैयर्थ्यम् , अनर्थनिवृत्तिहेतुत्वेन द्वितीयाभावद्वारकस्वरूपज्ञानस्योद्देश्यत्वात् , तस्य प्रागसिद्धत्वात् । न च मिथ्यात्वासिद्धयेष्टापत्तिः, अवान्तरतात्पर्यस्य तत्रापि सत्त्वात् , तद्द्वारैव स्वरूपचैतन्ये महातात्पर्यात् ।

अत एव—श्रुतिबोध्यस्य विशेषणस्योपलक्षणस्य वा द्वितीयाभावस्य सत्त्वे अद्वैतहानिः, असत्त्वे चादण्डे दण्डीति वाक्यवत् काकहीने काकवदिति वाक्यवच्चाद्वैत-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है, वैसे ही द्वितीयाभाव का भी उपलक्ष्य चैतन्य का अपना स्वरूप ही होता है, अतः उपलक्ष्य के न होने के कारण जो उपलक्षणता की अनुपपत्ति दी, वह लागू नहीं होती। उपलक्षणता के लिए उपलक्ष्य की सत्ता मात्र अपेक्षित होती है, न कि उपलक्ष्य का स्वरूप से अतिरिक्त होना, नहीं तो स्वरूपातिरिक्तत्व-प्रवेश-प्रयुक्त गौरव होगा। यदि कहा जाय कि उपलक्ष्यतावच्छेदक उत्तृणत्व गृहत्वादि के समान निर्धर्मक ब्रह्म में उपलक्ष्यतावच्छेदक धर्म के न रहने पर द्वितीयाभाव में उपलक्षणता नहीं बन सकती, तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वतो व्यावृत्त जाति विशेषादि पदार्थों के समान व्यावर्त्तक धर्मान्तर के न होने पर भी ब्रह्म में उपलक्ष्यता सम्भव है। अतः एव अखण्डाकारकत्व-विरोधी सप्रकारकत्व भी अद्वैत-बोध में प्राप्त नहीं होता, 'काकवद् गृहम्'—यहाँ पर भी उपलक्षणीभूत काक को प्रकार नहीं माना जाता, अपितु उत्तृणत्वादि को प्रकार माना जाता है, अतः एव दृष्टान्त से दार्ष्टान्त का एक यह भी वैषम्य है कि दृष्टान्त में काक के द्वारा उपस्थापित उत्तृणत्वादि का प्रकार-विधया भान होता है, किन्तु दार्ष्टान्तिभूत चैतन्य में द्वैताभाव के द्वारा उपस्थापित चैतन्य-स्वरूपमात्र का भान होता है। चैतन्य स्वयंप्रकाश नित्य सिद्ध है, उपलक्षण की क्या आवश्यकता? ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि सर्वानर्थ के मूलभूत मूलाज्ञान की निवृत्ति के लिए द्वितीयाभावोपलक्षित निर्विभाग चितिरूप अधिष्ठान का ज्ञान ही अपेक्षित होता है, वह निष्प्रकारक ज्ञान द्वैत-बाध के पूर्व नहीं होता। यह जो कहा था कि अद्वैत श्रुति को द्वितीयाभावोपलक्षित चैतन्य-परक मानने पर उससे द्वैत-मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती, वह भी उचित नहीं, क्योंकि अवान्तर तात्पर्य द्वैताभाव के बोधन में भी होता है, द्वैताभाव-बोधन के द्वारा ही स्वरूप चैतन्य की बोधक होने के कारण अद्वैत श्रुति का परम तात्पर्य सिद्ध होता है। यह जो आक्षेप किया जाता था कि श्रुति-बोध्य विशेषण या उपलक्षण स्वरूप द्वैताभाव के ब्रह्म में विद्यमान रहने पर अद्वैत-क्षति होती है और विद्यमान न रहने पर श्रुति में वैसे ही तदभाववति तत्प्रकारक बोधरूप भ्रम की जनकता होने के कारण अतत्त्वावेदकता प्रसक्त होती है, जैसे दण्डरूप विशेषण-रहित पुरुष के लिए प्रयुक्त 'अयं दण्डी' अथवा काकरूप उपलक्षण से रहित घर के लिए प्रयुक्त 'काकवद्

न्यायामृतम्

तत्रातात्पर्याअतत्त्वावेदकता, आद्यपक्षान्तर्भावापाताच्च ।

किं चातात्पर्यं हि मानान्तरप्राप्त्या वा, यथा वायुर्क्षेपिष्ठत्वादौ ? तद्विरोधाद्वा, यथात्मवपोत्खननादौ ? उद्देश्यविशेषणत्वादिना वा यथा ग्रहैकत्वादौ ? नाद्यः, त्वयैव-

अद्वैतसिद्धिः

वाक्यस्यातत्त्वावेदकत्वापत्तिरिति—निरस्तम्, आद्ये द्वितीयाभावसत्त्वेन द्वितीयाभावासिद्ध्यापादनस्यानुचितत्वाद्, अभावस्याधिकरणातिरेकानभ्युपगमाच्च। द्वितीये तु सृष्ट्यादिवाक्यवदुपलक्ष्यस्वरूपसत्यत्वमादाय तत्त्वावेदकत्वात्, मुख्यतात्पर्यविषयस्यासत्यतायामेवातत्त्वावेदकत्वाभ्युपगमात्। अत एव महातात्पर्याभिप्रायेण चैतन्यमात्रे तात्पर्यमित्याद्यपक्षेऽपि न दोषः, अवान्तरतात्पर्येण मिथ्यात्वसिद्धेरपि स्वीकारेणेष्टापत्तेरप्यसंभवात् ।

ननु—द्वितीयाभावे महातात्पर्याभावः किं प्रमाणान्तरप्राप्त्या, यथा वायुर्क्षेपिष्ठत्वादौ ? उत तद्विरोधित्वेन, यथात्मवपोत्खननादौ ? उतोद्देश्यविशेषणत्वादिना यथा

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

गृहम्'—यह वाक्य। वह आक्षेप भी अत एव निरस्त हो जाता है कि प्रथम (विशेषण) पक्ष में द्वितीयाभाव की सत्ता ब्रह्म में अभ्युपगत है, अतः द्वितीयाभाव की असिद्धि का आपादन अनुचित है। द्वितीयाभाव को ब्रह्मरूप अधिकरण से भिन्न नहीं माना जाता, अतः द्वैतापत्ति नहीं होती। द्वितीय (उपलक्षण) पक्ष में सृष्ट्यादि वाक्यों के समान उपलक्ष्यस्वरूप ब्रह्म की सत्यता को लेकर श्रुति में तत्त्वावेदकता बन जाती है [अर्थात् अध्यारोप और अपवाद—दोनों ही निष्प्रपञ्च ब्रह्म के तटस्थ लक्षण हैं - 'द्वैतवद् ब्रह्म द्वैताभाववत् ।' सृष्ट्यादि-प्रतिपादक वाक्यों का प्रतिपाद्य 'द्वैतवद् ब्रह्म' और द्वैत-निषेधक वाक्यों का अभिधेय द्वैताभाववद् ब्रह्म है। दोनों प्रकार के वाक्यों के अवान्तर तात्पर्य का विषय बाधित होने पर भी महातात्पर्य का विषयीभूत शुद्ध चैतन्य तत्त्व अबाधित है, उसी को लेकर दोनों प्रकार के वाक्यों में अबाधितार्थ-बोधकत्वरूप तत्त्वावेदकत्व घट जाता है]। मुख्य तात्पर्य के विषयीभूत पदार्थ के बाधित होने पर ही वाक्य में अतत्त्वावेदकता आती है। अत एव शङ्का ग्रन्थ में कथित तीन विकल्पो में प्रथम (चैतन्यमात्रे तात्पर्यम्) पक्ष में भी कोई दोष नहीं, क्योंकि महातात्पर्य के अभिप्राय से यह कहना नितान्त संगत है कि अद्वैत वाक्य का चैतन्यमात्र में तात्पर्य है। अवान्तर तात्पर्य को लेकर द्वैत में मिथ्यात्व-सिद्धि भी मानी जाती है, अतः द्वैतवादी इष्टापत्ति नहीं कह सकते।

शङ्का—द्वितीयाभाव में महातात्पर्य का अभाव इस लिए है कि वह प्रमाणान्तर से वैसे ही अवगत है, जैसे कि (१) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अवगत वायु की क्षिप्रगामिता के प्रतिपादन में 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'' (तै० सं० २।१।१) इस अर्थवाद का तात्पर्य नहीं माना जाता, अपि तु वायुदेवताक कर्म की प्रशस्तता के बोधन में ही तात्पर्य माना जाता है। अथवा

(२) द्वितीयाभाव प्रमाणान्तर से विरुद्ध है, अतः उसमें अद्वैतश्रुति का वैसे ही परम तात्पर्य नहीं, जैसे कि ''स आत्मनो वपामुदखिदत्'' [तै० सं० (२।१।२) में आया है कि प्रजापति ने अपने शरीर की चर्बी निकाल कर अग्नि में डाली, तब अग्नि से तूपर (बिना सींग का छाग) उत्पन्न हुआ, उससे तूपर-याग सम्पन्न किया। किसी यजमान का अपनी चर्बी की आहुति डालना प्रत्यक्षादि से विरुद्ध है, अतः इस वाक्य

न्यायामृतम्

द्वितीयाभावस्य मानान्तराप्राप्त्युपगमात् । द्वितीयेऽपि विरोधिमानं न तावद् द्वैतग्राहि-प्रत्यक्षादि, तस्यैव त्वन्मते श्रुतिबाध्यत्वात् । नाप्यद्वैतवाक्यान्तरम् , तस्याप्यात्म-मात्रपरत्वे द्वितीयाभत्वाविरोधित्वात् । न हि विशेष्यविषयं "अग्निहोत्रं जुहोती"ति वाक्यं विशिष्टविषयेण "दध्ना जुहोती"ति वाक्येन विरुद्धम् । द्वितीयाभावपरत्वे त्वेक-विषयत्वेन सुतरामविरोधित्वात् । ननु स्वयमेव स्वविहितमपि द्वितीयाभावं द्वितीय-

अद्वैतसिद्धिः

ग्रहैकत्वादौ ? नाद्यः, त्वयैव द्वितीयाभावस्य प्रमाणान्तरप्राप्त्यनभ्युपगमात् । द्वितीयेऽपि विरोधिमानं न तावत्प्रत्यक्षादि द्वैतग्राहि, त्वन्मते तस्यैव श्रुतिबाध्यत्वात् , नाद्वैतवाक्यान्तरम् , तस्यात्ममात्रपरत्वे द्वितीयाभावाविरोधित्वात् , न हि विशेष्य-विषयं 'अग्निहोत्रं जुहोती'ति वाक्यं विशिष्टविषयेण 'दध्ना जुहोती'ति वाक्येन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का अपने वाच्यार्थ में जैसे तात्पर्य नहीं माना जाता, वैसे ही अद्वैत श्रुति का द्वितीया-भाव में तात्पर्य नहीं माना जाता, क्योंकि द्वैताभाव का प्रतिपादन द्वैतावगाही प्रत्यक्षादि से विरुद्ध है] ।

(३) द्वितीयाभाव किसी उद्देश्य का विशेषण है, अतः उसमें वैसे ही तात्पर्य जैसे कि "ग्रहं सम्मार्ष्टि"—इस वाक्य से विहित सम्मार्जन के उद्देश्यभूत ग्रहगत एकत्व [लकड़ी के टुकड़े को खोद कर बनाए गये डमरू के आकारवाले जिन गिलासों में सोम-रस ग्रहण किया (भरा) जाता है, उन्हे ग्रह कहते हैं । भिन्न-भिन्न देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न ग्रह होते हैं । उनमें रस भरते समय कुछ रस जो ग्रह के बाहरी भाग पर लग जाता है, उसको एक कपड़े से पोंछ दिया जाता है । पोंछने का नाम ही सम्मार्ग या सम्मार्जन है । 'ग्रहं सम्मार्ष्टि'—इस वाक्य में एकवचनान्त 'ग्रह' शब्द से उद्देश्य का निर्देश किया गया है, जब कि ग्रह दश होते हैं, अतः इस सन्देह का हो जाना स्वाभाविक है कि क्या एक ही ग्रह का सम्मार्जन होगा ? अथवा सभी ग्रहों का ? इस संशय के निराकरण में सिद्धान्त स्थापित किया गया है—"सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम्" (जै० सू० ३।१।१२) अर्थात् सभी ग्रहों का सम्मार्जन होगा, 'प्रतिप्रधानं गुणावृत्तिः'—इस न्याय से प्रधानभूत ग्रह जितने भी होंगे उनके उद्देश्य से सम्मार्जन-रूप गुण (अङ्ग) का अनुष्ठान औत्सर्गिक है, अतः उद्देश्यगत संख्या की विवक्षा न होने के कारण यहाँ एकत्व अविवक्षित है, वैसे ही द्वितीयाभाव यदि किसी उद्देश्य का विशेषण है, तब उसमें भी तात्पर्याभाव हो सकता है] ।

कथित तीनों प्रकारों में से प्रथम (प्रमाणान्तर-प्राप्तत्व) उचित नहीं, क्योंकि अद्वैतवेदान्ती उसकी प्रमाणान्तर से प्राप्ति नहीं मानते । द्वितीय पक्ष मे भी विरोधी प्रमाण द्वैतावगाही प्रत्यक्षादि नहीं हो सकते, क्योंकि अद्वैतमत में प्रत्यक्षादि अद्वैत-श्रुति से बाधित माने जाते हैं । "एको द्रष्टा अद्वैतो भवति"—इत्यादि वाक्यान्तर को भी विरोधी प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रथम वाक्य के समान ही इसका भी तात्पर्य एक चैतन्यमात्र में माना जाता है, अतः द्वितीयाभाव का यह वैसे ही विरोधी ही नहीं होता, जैसे कि केवल विशेष्यभूत होम का विधायक 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य दधि-विशिष्ट होम-विधायक 'दध्ना जुहोति'—इस वाक्य से विरुद्ध नहीं माना जाता । यदि द्वितीय वाक्य को द्वैताभाव-परक माना जाता है, तब दोनों वाक्य समान

न्यायामृतम्

त्वान्निषेधतीति स्वविरोधादेवातात्पर्यमिति चेन्न, निषेधस्य स्वविहितनिषेधेतरद्वितीय-विषयत्वावश्यंभावात्। अन्यथा "क्ङिति चे"ति किन्निमित्तकवृद्धिप्रतिषेधोऽपि किन्निमित्तकत्वात्" क्ङिति चे"ति सूत्रविहितकिद्विशेषनिमित्तकवृद्धि "न हिस्यादि"त्येतदपि

अद्वैतसिद्धिः

विरुध्यते, द्वैताभावपरत्वे त्वेकविषयत्वेन सुतरामविरोधात्। नापि तृतीयः, 'ग्रहं संमार्ष्टी'त्यत्र संमार्जनस्येवाखण्डार्थपरे वाक्ये विधेयान्तरस्याभावेन विशेष्यस्य शास्त्रगम्यस्य चिन्मात्रस्याप्राप्तत्वेनोद्देश्यत्वायोगाच्च द्वितीयाभावस्योद्देश्यविशेषणत्वानुपपत्तेः, अविवक्षाहेतोरनुवाद्यत्वस्याप्यभावाच्चेति—चेन्न, स्वयमेव स्वबोधितमपि द्वितीयाभावं द्वितीयत्वादेव निषेधतीति स्वविरोधादेव श्रुतेस्तत्रातात्पर्यात्। मानविरोधित्वमात्रस्य तात्पर्याभावे प्रयोजकत्वात् स्वविरोधेऽपि न क्षतिः।

ननु—एकेनैव प्रमाणेनैकस्य प्राप्तिनिषेधावनुपपन्नौ, न, रूपभेदेनाविरोधात्। द्वितीयाभावस्वरूपं हि शास्त्रेण प्राप्यते। तस्य च प्राप्यतावच्छेदकरूपं द्वितीयाभावत्वम्, तच्च न निषेध्यतावच्छेदकम्, किं तु द्वितीयत्वमेव निषेध्यमात्रानुगतम्। तत्र तदनभ्युपगमे तु न तस्य निषेध्यत्वम्, न वा तेनात्मनः सद्वितीयत्वापत्तिरिति न कोऽपि दोषः। यत्र तु प्राप्यतावच्छेदकमेव निषेध्यतावच्छेदकं, तत्र प्राप्तिनिषेधशास्त्रयोरतुल्यविषयत्वेऽपि विशेषशास्त्रविषयपरित्यागेन सामान्यशास्त्रप्रवृत्तिः, तुल्यविषयत्वे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विषय के प्रतिपादक होने से एक-दूसरे के विरोधी कभी नहीं माने जा सकते। तृतीय (उद्देश्य-विशेषणता) पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि "ग्रहं सम्मार्ष्टि"—इस वाक्य में एकत्व और सम्मार्जनरूप दो विधेय पदार्थों के समान "नेह नानास्ति" किञ्चन"—इस वाक्य में विधेयान्तर का निर्देश नहीं कि अनेक विधेय के प्रतिपादन में वाक्य-भेद-प्रसक्ति के कारण एक (एकत्व के समान) विधेय की अविवक्षा होती। दूसरी बात यह भी है कि उद्देश्य सदैव प्रमाणान्तर से ज्ञात होता है किन्तु प्रकृत में चैतन्य मात्र प्रमाणान्तर से प्राप्त (ज्ञात) नहीं, अतः वह उद्देश्य बन भी नहीं सकता, जिसका द्वितीयाभाव विशेषण बन जाता। अविवक्षा का एक कारण अनुवाद्यत्व भी होता है, द्वितीयाभाव में वह भी नहीं।

समाधान—अद्वैत-श्रुति द्वैतमात्र का निषेध करती हुई उस द्वितीयाभाव का भी निषेध करती है, जो कि अधिकरण से भिन्न द्वितीय वस्तु है। अतः अद्वैत-श्रुति स्वयं विरोधी होने के कारण द्वितीयाभाव में तात्पर्य नहीं रखती। केवल प्रमाण-विरोधित्व ही तात्पर्याभाव का प्रयोजक होता है, स्व-विरोध हो या पर-विरोध—इसका कोई नियम नहीं। एक ही प्रमाण रूपान्तर से प्रापक और रूपान्तर से निषेधक माना जा सकता है। 'नेह नानास्ति'—इस वाक्य के द्वारा द्वितीयाभाव की द्वितीयाभावत्वेन प्राप्ति होती है और द्वितीयत्वेन निषेध होता है, प्राप्यतावच्छेदक द्वितीयाभावत्व और निषेध्यतावच्छेदक द्वितीयत्व होता है, अतः कोई असंगति नहीं होती। द्वितीयाभाव यदि अधिकरण से भिन्न नहीं है, तब न उसमें द्वितीयत्व होता है और न उसके निषेध की आवश्यकता, क्योंकि उससे द्वैतापत्ति ही नहीं होती।

जहाँ पर प्राप्यतावच्छेदक धर्म ही निषेध्यतावच्छेदक होता है, वहाँ प्रापक और निषेधक—दोनों शास्त्रों के समानविषयक होने पर भी विशेष शास्त्र के विषय को छोड़

न्यायामृतम्

हिंसात्वादग्नीषोमीयहिंसां "इदं वा अग्रे नैव किंचनासीदि"त्येतदपि "सदेवे"त्यादिवाक्योक्तं ब्रह्मापि प्रतिषेधेत्। स्वविरोधो हि वाक्यान्तरविरोधादपि यत्नेन परिहार्यः। अद्वैतवाक्यस्य द्वितीयाभावे अतात्पर्यादविरोध इति चेन्न, द्वितीयाभावस्य स्वेन निषेधे सति स्वविरोधादेव तत्रातात्पर्यमतात्पर्ये च सति स्ववचनविरोधाभावान्निषेध इत्यन्योऽन्याश्रयात्। अपि चैवं मम माता वन्ध्या मूकोऽहमित्यादावपि विरोधो न स्यात्। सुवचं हि तत्रापि मात्रादिशब्दप्रापितमातृत्वादिकं वन्ध्यादिपदेनैव निषिध्यत इति षोडशिग्रहणादावष्टदोषदुष्टोऽपि विकल्पश्च न स्याद्, अग्रहणवाक्येन ग्रहणनिषेधापातात्। प्रतियोगिनो द्वितीयस्य मिथ्यात्वात्तदभावोऽपि मिथ्येति तु निरस्तम्।

किं च स्वेनैव निषिद्धस्य द्वितीयाभावस्य द्वितीयस्येव विशेषणत्वेन, उपलक्षण-

अद्वैतसिद्धिः

त्वगत्या विकल्प इति न निषेधस्यासङ्कोचेन प्रवृत्तिः, यथा 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानी'ति निषेधशास्त्रस्य 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेते'त्यादिप्राप्तिशास्त्रविषयेतरविषयत्वं, अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती' त्यादिप्राप्तिनिषेधशास्त्रयोस्तु विकल्पेनैकविषयत्वम्, एकस्यैव हिंसात्वस्य षोडशिग्रहत्वस्य च प्राप्तिनिषेधयोरवच्छेदकत्वात्, तत्र निषेधशास्त्रस्यासंकुचद्वृत्तित्वे प्राप्तिशास्त्रस्य सर्वात्मना वैयर्थ्यापत्तिः, प्रकृते च द्वितीयत्वेन रूपेण निषेधस्यैव शास्त्रार्थत्वान्न कस्यापि वैयर्थ्यशङ्का। अत एव—द्वितीयाभावनिषेधे पुनर्द्वितीयोन्मज्जनापत्तिरिति—निरस्तम्। उपपादितमेतत् मिथ्यात्वमिथ्यात्वसाधने। यथा प्रतियोग्यभावयोर्निषेध्यतावच्छेदकैक्ये नैकनिषेधेऽपर-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कर अन्यत्र सामान्य शास्त्र की प्रवृत्ति मानी जाती है, जैसे कि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि"—यह सामान्य शास्त्र "अग्नीषोमीयमालभेत"—इस विशेष शास्त्र के विषयीभूत यागीय हिंसा को छोड़ कर अन्य सभी हिंसाओं का निषेध करता है। जहाँ पर समानविषयक दो विरोधी शास्त्रों का समान-विशेषभाव नहीं होता, वहाँ अगत्या विकल्प माना जाता है, जैसे—"अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" (मैं० सं० ४।७।६) तथा "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" में [ज्योतिष्टोम नाम के सोमयाग के चार प्रयोग या संस्थाएँ होती हैं—(१) अग्निष्टोम, (२) उक्थ्य, (३) षोडशी तथा (४) अतिरात्र। इसी रतिरात्र कर्म में षोडशी नाम के ग्रह में सोम रस ग्रहण और उसका निषेध—दोनों का वैकल्पिक अनुष्टान माना जाता है]। उक्त दोनों स्थलों पर एक ही हिंसात्व और ग्रहत्व धर्म प्राप्ति और निषेध—दोनों का अवच्छेदक माना जाता है, यहाँ यदि निषेध शास्त्र की निरङ्कुश प्रवृति मानी जाती है, तब प्राप्ति-शास्त्र सर्वथा व्यर्थ हो जाता है, अतः निषेध शास्त्र का या तो क्षेत्र संकुचित किया जाता है या वैकल्पिक अनुष्ठान, किन्तु प्रकृत में द्वितीयत्वेन रूपेण अवान्तर तात्पर्य विषयीभूत निषेध का प्रतिपादन होने पर किसी की वैयर्थ्यापत्ति नहीं होती।

अत एव जो यह आक्षेप किया जाता था कि द्वितीयाभाव का निषेध करने पर द्वितीय का उन्मज्जन या पुनरुज्जीवन होना चाहिए। वह आक्षेप भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि द्वितीयाभाव के साथ-साथ जब द्वितीयत्वेन रूपेण द्वितीय का भी निषेध हो जाता है, तब उन्मज्जन किसका? विगत मिथ्यात्व-मिथ्यात्व-निरूपण में यह सब कुछ कहा जा चुका है।

न्यायामृतम्

त्वेन वा पुनरुपादानमयुक्तम् । न तृतीयः, अहं संमार्ष्टीत्यत्र संमार्गस्येवेहाखंडार्थपरे विधेयान्तरस्याभावेन विशेष्यस्य शास्त्रगम्यस्य चिन्मात्रस्याप्राप्ततयोद्देश्यत्वायोगेन च द्वितीयाभावस्योद्देश्यविशेषणत्वाभावादविवक्षाहेतोर्निर्णीतविशेषणत्वस्याभावाच्च । कर्मकाण्डादापातप्रतीतधर्मेण पुंसा तत्प्रकारविशेषस्येव वेदान्तादापातप्रतीतब्रह्मणा मुमुक्षुणाप्यद्वितीयत्वादितत्प्रकारस्यैव जिज्ञासितत्वाच्च, शब्दाद्धीस्थस्यापि द्वितीयाभावस्य तात्पर्याविषयत्वेन द्वैतमानविरोधेन चात्मवपोत्खननादेरिव व्यावहारिकसत्त्वासिद्धेश्च । अवान्तरतात्पर्यविषयत्वात्तत्सिद्धिरितिचेन्न, द्वितीयाभावस्योपक्रमे उपसंहारे च प्रतीतस्य प्रकारणिकत्वेन सुषुप्तौ फलवत्त्वदर्शनेन चान्यशेषत्वायोगेनावान्तरतात्पर्याविषयत्वात्, स्वप्रकाशचैतन्यस्य चोक्तरीत्या प्राप्ततया महातात्पर्याविषयत्वाच्च, प्रमाणावान्तरतात्पर्यविषयस्यान्यशेषत्वेऽपि महातात्पर्यविषयसमसत्ताकत्वनियमाच्च । अवान्तरतात्पर्यविषयस्य द्वितीयाभावस्य द्वितीयवद् व्यावहारिकत्वे श्रुत्या प्रत्यक्षादिबाधायोगाच्च । न हि कदापि तदभावे तत्राप्रमितं तत्तत्रारोपितं तस्माद् द्वितीयाभावस्य मिथ्यात्वे श्रुतेरतत्त्वावेदकत्वप्रसंगो दुर्वारः । तस्मान्न मिथ्यात्वेन श्रुतिर्मानम् ।

सामान्येन मिथ्यात्वश्रुतिनिरासः ।

अद्वैतसिद्धिः

सत्त्वापत्तिरिति । न च—स्वेनैव निषिद्धस्य द्वितीयाभावस्य द्वितीयस्येव विशेषणत्वेनोपलक्षणत्वेन वा पुनरुपादानं न युक्तमिति—वाच्यम्, अभावबुद्धौ निषिद्धस्यापि प्रतियोगिनः 'सा शुक्ति' रित्यत्र प्रतिषिद्धस्यापि पूर्वप्रतीतरजतस्योपलक्षणतयोपादानदर्शनाद्, असङ्कीर्णज्ञानप्रयोजकत्वस्य प्रकृतेऽपि तुल्यत्वात् । तस्मात् 'एकमेवाद्वितीय' मित्यादिश्रुतिर्विश्वमिथ्यात्वे प्रमाणमिति सिद्धम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ सामान्येन मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—'नेह नानस्ति'— इस वाक्य के द्वारा निषिद्ध द्वितीयाभाव को द्वितीय के समान ही न विशेषण बनाया जा सकता है और न उपलक्षण । [अर्थात् जैसे द्वैतवति ब्रह्मणि द्वैतं नास्ति—यह नहीं कहा जा सकता, वैसे ही द्वैताभाववति ब्रह्मणि द्वैतं नास्ति—यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रथम वाक्य से आहार्य बोध और द्वितीय से शाब्द बोधाभाव प्रसक्त होता है, अतः न तो विधेयाभाव ही उद्देश्यतावच्छेदक हो सकता है और न विधेय] ।

समाधान—'नात्र रजतम्'—इस ज्ञान में निषिद्ध रजतरूप प्रतियोगी का भी 'सा शुक्तिः'—यहाँ पर उपलक्षण विधया ग्रहण देखा जाता है, क्योंकि ज्ञान की व्यावृत्ताकारता या असङ्कीर्णाकारता के लिए किसी उपलक्षण का होना आवश्यक होता है, वह द्वितीयाभाव की उपलक्षणता में भी है । फलतः 'एकमेवाद्वितीयम्'— यह श्रुति विश्व-मिथ्यात्व में प्रमाण होकर मिथ्यात्वानुमान का पोषण करती है ।

: ३७ :

अद्वैतश्रुतेर्बाधविचारः

न्यायामृतम्

किं च न तावदेकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुतिस्तत्र मानम्, शब्दस्य हि नापातप्रतीत एवार्थः, "आज्यैः स्तुवते", "आकाशादेव समुत्पद्यन्त" इत्यादेरपि चित्राज्याधिकरणाकाशाधिकरणपूर्वपक्षरीत्या घृतगगनाद्यर्थत्वस्य "अन्धो मणिमविदत्" "मूढब्रवीदि" त्यादेरपि प्रतीतार्थपरत्वस्य च प्रसंगेन मीमांसावैयर्थ्यात्। "बिभेत्यल्पश्रुताद्वेद" इति स्मृतेश्च "कश्छन्दसां योगमावेद धीर" इति श्रुत्या च स्वार्थस्य गहन-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—आपातप्रतिपन्न एव न तावच्छ्रुत्यर्थः, 'कश्छन्दसां योगमावेद धीर' इति श्रुत्या 'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेद'इति स्मृत्या च वेदार्थस्यातिगहनतोक्तेः, मीमांसावैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च, किन्तु मानान्तरेण पूर्वोत्तरेण चाविरुद्ध एवार्थः, अविरोधग्रहणार्थं च मीमांसासाफल्यम्, अत एव 'आज्यैः स्तुवते' 'आकाशादेव समुत्पद्यन्त' इत्यादावापातप्रतीतघृतगगनादिपरित्यागेनाज्याकाशादिपदानां सामपरमात्माद्यर्थत्वं स्थापितं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—आपाततः प्रतीयमान अर्थ ही वस्तुतः श्रुति का मुख्य अर्थ नहीं होता, क्योंकि "कश्छन्दसां योगमावेद धीरः" (ऋ० ८।६।११) इस श्रुति तथा "बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदः" (म० भा० १।२५१) इस स्मृति के द्वारा वेदार्थ को अतिगहन बताया गया है। आपात-प्रतिपन्न अर्थ को ही यदि मुख्यार्थ मान लिया जाय, तब मीमांसा (विचार-शास्त्र) की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती, अतः पूर्वोत्तर प्रमाणों से अविरुद्ध अर्थ में ही श्रुतियों का तात्पर्य मानना होगा, प्रमाणान्तरों से अविरोध-स्थापन में ही मीमांसा शास्त्र का साफल्य हो जाता है। अतः एव "आज्यैः स्तुवते" एवं "आकाशादेव समुत्पद्यन्ते" (छां० १।९।१) इत्यादि वाक्यों में आपाततः प्रतीयमान घृत और गगन का परित्याग करके 'आज्य' और 'आकाश' पदों के द्वारा क्रमशः साम-स्तोत्र तथा परमात्मा का निरवद्य प्रतिपादन चित्राधिकरण (जै. सू. १।४।३) तथा आकाशाधिकरण (ब्र. सू. १।१।२२) में स्थापित किया गया है [ताण्डयमहाब्राह्मण में आया है—"पञ्चदशान्याज्यानि"। साम संहिता के उत्तरार्चिक में १।१।४ से १।१।७ तक जो चार स्तोत्र पढ़े हैं, उनकी आज्य संज्ञा है। 'आज्य' नामकरण का ताण्डयमहाब्राह्मण में ही एक रोचक उपाख्यान दिया है—प्रजापति ने अग्निष्टोमरूप यज्ञ बना कर देवताओं को प्रदान किया। देवों में विवाद खड़ा हो गया कि इस यज्ञ में प्रथम अधिकार किस का? परस्पर कुछ निर्णय न हो सका, तब प्रजापति की ही शरण में आकर निर्णय माँगा। प्रजापति ने उक्त चारों स्तोत्र एक शिला-फलक पर लिख दिये और देवताओं से कहा—दूर से दौड़ कर आओ जो पहले इन स्तोत्रों को छू ले, उसका प्रथम और उसके अनन्तर जिस क्रम से छूते जायँ, यज्ञ में वही क्रम समझा जायगा। उस घुड़दौड़ में जिन स्तोत्रों को अवधि या आजि बनाया गया था, उन्हें आज्य कहते—"यदाजिमीयुः तदाज्यानामाज्यत्वम्"। इन चार आज्य स्तोत्रों की बारह ऋचाओं की आवृत्ति विशेष के द्वारा पन्द्रह संख्या सम्पन्न की जाती है। अतः आज्य का घृत अर्थ न होकर स्तोत्र विशेष होता है।

इसी प्रकार "इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते" (छां. १।९।१) में सन्देह किया गया है कि श्रुतिगत 'आकाश' पद का भूताकाश अर्थ है? अथवा पर

न्यायामृतम्

त्वोक्तेश्च। किं तु मानान्तरेण पूर्वोत्तरेण चाऽविरुद्धः। उक्तं हि "शास्त्रं हि शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्"—इत्यत्र वार्तिके—

असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम्।
ताद्रूप्येण परिच्छेदस्तद्विपर्ययतोऽपि च॥ इति।
विषयाविषयो ज्ञात्वा तेनोत्सर्गापवादयोः।
बाधाबाधो विवेक्तव्यो न तु सामान्यदर्शनात्॥
अन्य एवैकदेशेन शास्त्रस्याऽर्थः प्रतीयते।
अन्यश्च परिपूर्णेन समस्तांगोपसंहृतो॥ इति च

उक्तं च—विरुद्धवत्प्रतीयन्ते आगमा यत्र ये मिथः।
तत्र दृष्टानुसारेण तेषामर्थोऽन्ववेक्ष्यते॥ इति।

अत्र च प्रत्यक्षादिविरोधः स्पष्टः।

अद्वैतसिद्धिः

पूर्वोत्तरमीमांसयोश्चित्राकाशाद्यधिकरणेषु, अन्यथा तत्तत्पूर्वपक्षाभ्युपगमापत्तेः, तथाचोक्तं वार्तिककारैः शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानमित्यत्र—

असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम्।
ताद्रूप्येण परिच्छेदस्तद्विपर्ययतोऽपि च॥
विषयाविषयौ ज्ञात्वा तेनोत्सर्गापवादयोः।
बाधाबाधौ विवेक्तव्यौ न तु सामान्यदर्शनात्॥
अन्य एवैकदेशेन शास्त्रस्यार्थः प्रतीयते।
अन्यस्तु परिपूर्णेन समस्ताङ्गोपसंहृतौ॥' इति।

अन्यत्राप्युक्तम्—

विरुद्धवत्प्रतीयन्त आगमा यत्र ये मिथः।
तत्र दृष्टानुसारेण तेषामर्था विवक्षिताः॥' इति,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ब्रह्म ? सिद्धान्त स्थापित किया गया—"आकाशस्तल्लिङ्गात्" (ब्र. सू. १।१।२२) अर्थात् 'आकाश' शब्द से यहाँ पर ब्रह्म का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि समस्त भूतों की उत्पत्ति का आधार होना—यह तो पर ब्रह्म का लिङ्ग या सामर्थ्य है]। यदि कथित मीमांसा-द्वयी का उपयोग किये बिना ही आपाततः प्रतीत अर्थ को ही ग्राह्य मान लिया जाता है, तब 'आज्य' शब्द से घृत और 'आकाश' पद से गगन का ही ग्रहण होगा। वार्तिककार श्रीकुमारिल भट्ट ने भी वैसा ही कहा है—

असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम्।
ताद्रूप्येण परिच्छित्तिस्तद्वियर्ययतोऽपि वा॥ (श्लो० वा० पृ० ३६२)
विषयाविषयौ ज्ञात्वा तेनोत्सर्गापवादयोः।
बाधाबाधौ विवेक्तव्यौ न तु सामान्यदर्शनात्॥ (तं० वा० पृ० १७२)
अन्य एवैकदेशेन शास्त्रस्यार्थः प्रतीयते।
अन्यस्तु परिपूर्णेन समग्राङ्गोपसंहृतौ॥ (तं० वा० पृ० ९२३)
विरुद्धवत् प्रतीयन्ते आगमा यत्र ये मिथः।
तत्र दृष्टानुसारेण तेषामर्था विवक्षिताः॥

न्यायामृतम्

अत्रोक्तं खण्डने—प्रत्यक्षं नियतविषयं तथा च घटपटौ भिन्नाविति प्रत्यक्षज्ञानेन बाधकत्वेनाभिमतात् स्वस्माद् बाध्यत्वेनाभिमतं श्रौतमैक्यज्ञानं भिन्नमित्यग्रहणात्तत्र लब्धपदा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" त्यात्मैक्यश्रुतिस्तयोस्तावदैक्यं गृह्णाति। तथा च प्रत्यक्षधीः स्वाभिन्नमैक्यज्ञानं न बाधते। एवं च निर्बाधा श्रुतिस्सर्वाद्वैते पर्यवस्यति। न च बाध्यबाधकधियोर्ज्ञानान्तरेण भेदग्रहः, अनवस्थाभयाधत्र बुद्धिपरम्पराविच्छेद-स्तत्रैव चरमज्ञाने श्रुतेरवकाशात्। तदुक्तम्—

सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा।
निवृत्तावद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते॥ इति।

तन्न, प्रत्यक्षादिप्रसक्तो हि भेदः 'नेह नानेत्यादिश्रुत्या' निषेध्यः, अप्रसक्त-प्रतिषेधायोगात्। तथा च यत्र यत्राद्वैतश्रुतिस्तिष्ठासति तत्र-तत्र प्रागेव प्रत्यक्षादिना

अद्वैतसिद्धिः

तथा च प्रत्यक्षादिविरोधात् पूर्वोत्तरविरोधाच्च नाद्वैतपरत्वमेकमेवेत्यादिवाक्या-नामिति—चेन्न, द्वैतप्रत्यक्षस्य चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षवत् संभाविताप्रामाण्यतया अद्वैत-श्रुतिविरोधित्वाभावात्। यथा च श्रुत्या प्रत्यक्षं बाध्यते, तथा प्रपञ्चितमधस्तात्। किं च प्रत्यक्षं नियतविषयम्, श्रुतिः सर्वविषया, तथा च यत्र प्रत्यक्षेण भेदो न गृहीतः, तत्रैवाभेदश्रुतेरवकाशः। ननु—ययोरैक्यं श्रुत्या बोध्यते तयोर्भेदः प्रसक्तो ? न वा ? नान्त्यः, अप्रसक्तप्रतिषेधापातात्, नाद्यः, प्रसञ्जकप्रमाणविरोधेनैक्यस्य बोधयितुम-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

[अर्थात् भाष्यकार ने जो शास्त्रं शब्दविज्ञानाद् असन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्" (जै० सू० १।१।५) यह शब्द का लक्षण किया है और जो "एकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः"—यह अनुमान का लक्षण किया है, वहाँ 'असन्निकृष्ट' शब्द से अनुवाद और बाध—इन दोनों का त्याग अभिमत है। अतः विषय-अविषय और बाधाबाध को ध्यान में रख कर किसी तथ्य का विवेचन करना चाहिए, केवल आपततः प्रतीति के आधार पर नहीं, क्योंकि किसी प्रकारण के एक भाग मात्र को देखने पर कुछ और ही अर्थ प्रतीत होता है और समग्र प्रकारण का अवगाहन करने पर कुछ और ही निष्कर्ष निकलता है। जहाँ पर दो शास्त्रीय वाक्यों का विरोध-सा प्रतीत होता है, वहाँ पूर्वोत्तर-दर्शन के आधार पर उनका रहस्य समझना चाहिए]। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध एवं श्रुति के पूर्वोत्तर वाक्यों का विरोध देख कर 'एकमेवाद्वितीयम्, नेह नानास्ति" आदि वाक्यों का अद्वैत में तात्पर्य सम्भव नहीं है।

अद्वैतवादी—द्वैतावगाही प्रत्यक्ष तो चन्द्रगत प्रादेशिकत्वावगाही प्रत्यक्ष के समान भ्रममात्र है, अद्वैत श्रुति के विरोध की क्षमता उसमें नहीं। निर्दोष श्रुति के द्वारा सदोष प्रत्यक्ष का बाध आगम-बाध्यत्व-प्रकरण में दिखाया जा चुका है। दूसरी बात यह भी है कि प्रत्यक्ष का क्षेत्र सीमित है और अद्वैत श्रुति का व्यापक, जहाँ पर प्रत्यक्ष की गति नहीं, वह जिन पदार्थों का भेद सिद्ध नहीं कर सका, अद्वैत श्रुति वहाँ तो निराबाध होकर अभेद का बोध करा सकती है।

शङ्का—जिन पदार्थों का अभेद श्रुति बोधित करती है, उन में भेद की कभी प्राप्ति हुई ? अथवा नहीं ? अन्तिम पक्ष तो अत्यन्त जघन्य है, क्योंकि अप्राप्त वस्तु का कभी प्रतिषेध होता नहीं। प्रथम पक्ष भी उचित इस लिए नहीं कि भेद-प्रापक प्रमाण के

न्यायामृतम्

भेदो ग्राह्य इति कथं यामिकगृहे चोर इव श्रुतिस्तत्र तिष्ठेत् ? एवं च—

प्रत्यक्षाप्रसक्तं चेद्प्रसक्तनिषेधता ।
श्रुतेः स्यात्तत्प्रवृत्तं चेत्तद्बाधः सुस्थिरः श्रुतेः ॥

किं च चरमधीः प्रत्यक्षाद्यसिद्धा चेत्, तदभेदः श्रुतेरपि दुर्ग्रहः । न हि श्रुतेर्घटादौ तदभेदे च तात्पर्यं घटादेः प्राप्तत्वात्, श्रौतस्य किंचनादिशब्दस्य घटादावनुवादकता, चरमबुद्ध्यादौ तु विधायकतेत्युक्तौ च वैरूप्यापातात् । अथ चरमधीः

अद्वैतसिद्धिः

शक्यत्वादिति –चेन्न, अन्त्यपक्षाभ्युपगमे दोषाभावात् । अप्रसक्तप्रतिषेध इति च किमप्रसिद्धप्रतियोगित्वम् ? किं वा निष्प्रयोजनत्वमिति विवेचनीयम् । नाद्यः, अन्यत्र प्रसिद्धस्यैव भेदस्य भेदत्वेनोपस्थितस्य परस्परप्रतियोग्यनुयोगिभावेनान्यत्र निषेधसंभवात् । न च तत्रैव प्रसिद्धिस्तन्त्रम्, निषेधप्रमामात्रोच्छेदप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, अनर्थनिवृत्तेरेव प्रयोजनत्वात्, 'नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्य' इत्यादौ स्तुतिमात्रप्रयोजनेनाप्यप्रयोजनेनाप्यप्रसक्तनिषेधदर्शनाच्च ।

अथ श्रुत्या ययोरभेदो बोध्यते तयोरुपस्थितिरस्ति ? न वा ? नान्त्यः, अनुपस्थितयोरभेदबोधनायोगात् । आद्ये सा किं श्रुतिजन्या, प्रत्यक्षादिजन्या वा । नाद्यः, श्रुतेर्मानान्तरागोचराभेदमात्रपरत्वेन घटाद्युपस्थितेस्तज्जन्यत्वाभावेन सर्वाद्वैतासिद्धेः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विरोध करने पर अद्वैत श्रुति अभेद का बोध क्योंकर करा सकेगी ?

समाधान—अन्तिम पक्ष मानने पर कोई दोष नहीं, क्योंकि अप्राप्त का प्रतिषेध नहीं होता—इसका अर्थ क्या अप्रसिद्धप्रतियोगिकत्वापत्ति है ? अथवा निष्प्रयोजनत्वपत्ति ? प्रथम पक्ष संगत नहीं, क्योंकि अन्यत्र भेद की प्रसिद्धि जिस प्रतियोग्यनुयोगिभाव से होती है, उसी रूप का अन्यत्र स्मरण कर निषेध किया जा सकता है । 'अद्वैत श्रुति जिन पदार्थों के भेद का निषेध कर रही है, उनमें ही भेद की प्रसिद्धि अपेक्षित है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तब तो निषेध-प्रमा को कहीं भी स्थान नहीं मिलेगा, जहाँ निषेध ज्ञान करना है, वहाँ निषेध्य की प्राप्ति होने पर निषेध सम्भव नहीं और निषेध्य की प्राप्ति न होने पर निषेध की कोई आवश्यकता ही नहीं । द्वितीय (निष्प्रयोजनत्वापत्ति) पक्ष भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि द्वितीय-निषेध का परम प्रयोजन है—अनर्थ-निवृत्ति, निष्प्रयोजन निषेध भी देखा जाता है—"नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्यः" (तै० ब्रा० ५।३।७) अर्थात् अन्तरिक्ष में न तो इष्टिका-चयन प्राप्त है और न उसके निषेध का कोई विशेष प्रयोजन, केवल 'सुवर्णं निधाय चेतव्यम्'—इस वाक्य से विहित चयन के धरातल पर पहले सोने के कुछ कण रखने का जो विधान है, उसी की प्रशंसा में ही उसका तात्पर्य होता है ।

शङ्का—अद्वैत श्रुति के द्वारा जिन दो पदार्थों का अभेद बताया जा रहा है, उन दानों की उपस्थिति निषेध-काल में है ? अथवा नहीं ? अन्तिम पक्ष सम्भव नहीं, क्योंकि अनुपस्थित पदार्थों का अभेद-बोधन हो ही नहीं सकता । प्रथम पक्ष में जिज्ञासा होती है कि उन दो पदार्थों की उपस्थिति क्या श्रुति-जन्य है ? अथवा प्रत्यक्षादि से जन्य ? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि श्रुतियों का प्रमाणान्तरागोचर अभेद मात्र में तात्पर्य माना जाता है, अतः घटादि द्वैत जगत् की उपस्थिति श्रुति-जन्य नहीं हो

न्यायामृतम्

प्रत्यक्षादिसिद्धा, तर्हि तदभेदोऽपि तेनैव सिद्ध इति नाद्वैतश्रुतेरवकाशः। श्रुत्यापि हि बाध्यबाधकत्वेनाभिमतयोरितरभिन्नत्वेन बुद्धिस्थयोरेवाभेदो बोध्यः। यस्य कस्यचिद्रूपेण केनचिदभेदबोधने बाधकस्य बाध्याभेदासिद्धेः। एवं चोभयतःपाशा रज्जुः।

अद्वैतसिद्धिः

श्रुतिस्थकिंचनेत्यादिपदानामनुवादकत्वाभ्युपगमात्। द्वितीये तु तयोर्भेदोऽपि प्रत्यक्षादिसिद्ध इति काद्वैतश्रुत्यवकाशः? मैवम्, यत् प्रत्यक्षादिना गृह्यते, तद्भेदोऽपि तेन गृह्यत एवेति नियमाभावात्। तथा हि—न तावत्पदार्थस्वरूपज्ञानमेव भेदज्ञानम्, अभेदभ्रमोच्छेदप्रसङ्गात्। स्वरूपभेदवादिनामपि स्वरूपज्ञानाद् घटत्वादिप्रकारकात् भेदत्वप्रकारकं भेदज्ञानं विलक्षणमेव, अन्यथा भेदाग्रहनिबन्धनव्यवहारानुदयप्रसङ्गात्। अत एव स्वरूपज्ञानोत्तरकालमवश्यं भेदज्ञानमित्यपि न, अनवस्थाप्रसङ्गाच्च। तथा हि—'घटपटौ भिन्नौ जानामी'ति घटपटभेदधीः स्वप्रकाशा वा, अनुव्यवसायसिद्धा वा, साक्षिसिद्धा वा, न स्वप्रतियोगिकभेदविषया, भेदधियः प्रतियोगिधीजन्यत्वनियमेन प्रतियोगिधीव्यक्तिभिन्नव्यक्तित्वावश्यकत्वात्, स्वस्या एव स्वजन्यत्वानुपपत्तेः। ज्ञानान्तरेण च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सकती। अनुपस्थित पदार्थों में अभेद-बोधन जब नहीं हो सकता, तब सर्वाद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता। 'नेह नानास्ति किञ्चन'—इस श्रुति के 'किञ्चन' शब्द से घटादि की प्रथमोपस्थिति सम्भव नहीं, क्योंकि 'किञ्चन' पद को अनुवाद मात्र माना जाता है, अतः द्वैत की प्रथमोपस्थिति प्रत्याक्षादि प्रमाणों से ही कहनी होगी। द्वितीय (प्रत्यक्षादि-जन्यत्व) पक्ष में पदार्थों के समान उनका भेद भी प्रत्यक्षादि से सिद्ध है, अतः अद्वैत श्रुति को पैर रखने का कहाँ अवकाश?

समाधान—जो पदार्थ प्रत्यक्षादि से गृहीत होता है, उसका भेद भी प्रत्यक्षादि से गृहीत होगा—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि पदार्थ के स्वरूप-ज्ञान को ही भेद-ज्ञान नहीं कहा जा सकता, अन्यथा अभेद-भ्रम का ही उच्छेद हो जायगा, [क्योंकि अभेद-भ्रम में भी वस्तु के स्वरूप का तो ज्ञान होता है, उतने मात्र से भेद का भी ज्ञान हो जाता है, अतः अभेद-भ्रम हो ही नहीं सकता]। जो लोग भेद को वस्तु का स्वरूप ही मानते हैं, वे भी वस्तु के स्वरूप-ज्ञान को भेद-ज्ञान नहीं मानते, अपितु घटत्वादि प्रकारक वस्तु के स्वरूप-ज्ञान से भिन्न ही भेदत्व-प्रकारक भेद-ज्ञान मानते हैं। अन्यथा वस्तु के स्वरूप-ज्ञान से ही सर्वत्र भेद-ज्ञान हो जायगा, भेद का अग्रहण कहीं होगा ही नहीं, तब भेदाग्रह-निबन्धन जो अख्याति-वाद में इदं रजतम्—इत्यादि व्यवहार बताया जाता है, वह सर्वथा अनुपपन्न हो जायगा। इसी लिए 'स्वरूप-ज्ञान के पश्चात् अवश्य भेद-ज्ञान होता है'—यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि अनवस्था प्रसक्त होती है। अर्थात् घटपटौ भिन्नौ जानामि'—इस प्रकार की घटपट-भेद बुद्धि चाहे प्राभाकर मतानुसार स्वयंप्रकाश हो, या न्याय-सम्मत अनुव्यसाय-सिद्ध हो, अथवा अद्वैत-मतानुसार साक्षि-सिद्ध हो, सर्वथा भेद-बुद्धि स्व-प्रतियोगिविषयिणी नहीं हो सकती, क्योंकि भेद-ज्ञान अपने प्रतियोगी के ज्ञान से जनित होता है, अतः प्रतियोगि-ज्ञान और भेद-ज्ञान—दोनों एक समय में नहीं रह सकते, फलतः प्रतियोगि-ज्ञान व्यक्ति से भिन्न ही भेद-ज्ञान व्यक्ति का स्वरूप मानना होगा, क्योंकि कोई भी कार्य स्वयं अपने से उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि घट-ज्ञान घट-भेद का घट-भेद-ज्ञान घट-भेद-ज्ञान के भेद का ग्राहक नहीं हो

अद्वैतसिद्धिः

तत्रैवमहे क्वचिद् भेदधीधाराविश्रान्तिरवश्यं वाच्या, अन्यथा सुषुप्तिविषयान्तरसञ्चारादिकं न स्यात्। अतः तत्रापि चरमभेदधीरेवोदाहरणम्। तथा च बाधकत्वाभिमता या घटपटभेदधीः स्वभेदाविषया भासते, तया सह बाध्यत्वाभिमताया ऐक्यश्रुतेः ऐक्यं बोधयित्वा निर्बाधा सती श्रुतिः सर्वाभेदे पर्यवस्यति। न ह्यभेदेऽपि बाध्यबाधकभाव, स्वस्यापि स्वबाधकतापत्तेः। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—

'सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा।
निवृत्तावद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते ॥' इति।

न च—सिद्धान्ते घटतद्धीभेदग्राहिणा स्वप्रकाशेन साक्षिणा स्वस्मिन्नितरभेदस्यापि ग्रहणान्नानवस्था, अन्यथा स्वस्य घटादिभ्योऽभेदसंशयः स्यादिति—वाच्यम्, साक्षिणः स्वप्रकाशत्वेऽपि स्वनिष्ठेतरप्रतियोगिकभेदग्रहे इतरप्रतियोग्युपस्थितिसापेक्षत्वात्। अन्यथा स्वस्यान्तःकरणाद्यभेदभ्रमो न स्यात्। स्वप्रकाशेन भेदाग्रहेऽपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सकता, तब ज्ञानान्तर को ही उत्तरोत्तर भेद का ग्राहक मानना होगा—भेद-ग्राहक ज्ञान की इस धारा का कहीं विश्राम अवश्य मानना चाहिए, अन्यथा न तो कभी सुषुप्ति हो सकेगी और न विषयान्तर का सञ्चार ही हो सकेगा, अतः विश्रान्त या चरम भेद-ज्ञान ही उस स्थल का उदाहरण है, जहाँ स्व-भेद-विषयकत्व नहीं, वहीं पर अद्वैत श्रुति विरोधी के अभाव में निर्बाधरूप से अभेद-बोधन करा सकती है। घट-पट-भेद-ज्ञान भी स्व-भेद-विषयक नहीं, घट-पट-भेद-ज्ञान ही अद्वैत श्रुति का बाधक कहा जाता है, किन्तु वह जब अद्वैत श्रुति से अपना भेद-ग्रह नहीं कर सकता, तब उसके साथ अद्वैत श्रुति अपना अभेद-स्थापन करती हुई धीरे-धीरे पूरे विश्व में फैल जाती है और सर्वाभेद में पर्यवसित हो जाती है। अभेद हो जाने पर घट-पट-भेद-ज्ञान अद्वैत श्रुति का बाधक नहीं हो सकता, नहीं तो उसे अपना भी बाधक मानना पड़ेगा। खण्डनकार ने यही कहा है—

सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा।
निवृत्तावद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते ॥ (खं० पृ० ९७)

[अर्थात् जब भेद-ज्ञानरूपी बाध बुद्धि-परम्परा अनवस्था के भय से किसी-न-किसी कक्षा में विश्रान्त या निवृत्त हो जाता है, तब अद्वैत-वाक्यरूपी पार्ष्णिग्राह-स्थानीय वाहिनी के द्वारा वह (भेद-बुद्धि) विजित हो जाती है, क्योंकि बाध-बुद्धि-परम्परा एक विस्तृत लम्बे क्षेत्र में दौड़ते-दौड़ते थक जाती है, अतः शत्रु की पृष्ठ-लग्न सेना के द्वारा जीत ली जाती है]।

शङ्का—अन्यत्र कुछ भी होता रहे, अद्वैत-मत में विषय-सहित वृत्ति ज्ञान साक्षी का विषय माना जाता है, स्वेतर-भेद का भी ग्राहक साक्षी होता है, अनवस्था प्रसक्त नहीं होती। साक्षी यदि घटादि से अपने भेद का ग्राहक नहीं माना जाता, तब साक्षी का घटादि के साथ अभेद संशय होना चाहिए। अतः इस मत में अद्वैत श्रुति की अवतरण-भूमि सुलभ नहीं होती।

समाधान—यद्यपि साक्षी स्व-प्रकाश होता है, तथापि वह स्वनिष्ठ इतरप्रतियोगिक भेद का ग्रहण तभी कर सकता है, जब कि उसके प्रतियोगीभूत इतर पदार्थ का ग्रहण करे, अन्यथा साक्षी का अन्तःकरणादि के साथ अभेद-भ्रम नहीं होना चाहिए घटादि के साथ साक्षी का अभेद-भ्रम इस लिए नहीं होता कि घटादि-भेद स्वप्रकाश

अद्वैतसिद्धिः

मानान्तरेण भेदग्रहात् न घटाद्यभेदसंशय इति न किंचिदेतत् । स्यादेतत् 'घटपटौ भिन्ना'विति प्रत्यक्षं स्वस्याद्वैतज्ञानादिना भेदं विनानुपपत्तेस्तमप्याक्षिपतीति सर्वत्र भेदस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि नाद्वैतश्रुतेरवकाशः । अत्रोच्यते—आक्षेपो हि अनुमानमर्थापत्तिर्वा ? तत्र विवादाध्यासिता बुद्धिः सर्वतो भिन्नेति नानुमानं संभवति, स्वतोऽपि भेदसाधने बाधाद् , दृष्टान्तस्य च साध्यविकलत्वात् । यतः कुतश्चिद् भेदसाधने त्वनुमानाविषये लब्धावकाशा श्रुतिरभेदं बोधयिष्यति । न च स्वव्यतिरिक्तात् सर्वतो भिन्नेति साध्यम् , अद्वैतवादिनं प्रत्यप्रसिद्धविशेषणत्वात् । एतेन—सर्वं सर्वस्माद्भिन्नमिति वाक्यमपि—निरस्तम् , तदुक्तम्—

'हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये सर्वं पक्षयताऽऽस्थिते ।
किञ्चित्तु त्यजता दत्ता सैव द्वारद्वयश्रुतेः ॥' इति ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

साक्षी से गृहीत न होने पर भी प्रामाणान्तर से गृहीत हो जाता है ।

शङ्का—घटपटौ भिन्नौ—यह प्रत्यक्ष अपने अद्वैतज्ञान के साथ भेद के विना अनुपपन्न होकर उस का भी आक्षेप कर लेता है, अतः सर्वत्र भेद का प्रत्यक्ष न होने पर भी अर्थापत्ति आदि से भान हो जाता है, अतः अद्वैत श्रुति वहाँ अपना अभेद-स्थापन नहीं कर सकती ।

समाधान—आक्षेप का अर्थ या तो (१) अनुमान होता है, या (२) अर्थापत्ति । इनमें से—

(१) 'विवादाध्यासिता बुद्धिः सर्वतो भिन्ना बुद्धित्वात्'—इस अनुमान के द्वारा सर्व-भेद का भान नहीं हो सकता, क्योंकि सर्व प्रपञ्च में स्वयं वह अनुमानात्मक बुद्धि भी आ जाती है, स्व से स्व का भेद-साधन बाधित है । दृष्टान्त में भी साध्य-वैकल्य है, क्योंकि दृष्टान्त में दृष्टान्त का भेद सम्भव नहीं, अतः सर्व भेद क्योंकर सुलभ होगा ? फलतः अनुमान के द्वारा सर्व-भेद का साधन सम्भव नहीं, किसी-किसी से ही भेद-साधन करने पर जिसका भेद-साधन नहीं होता, वहाँ ही अद्वैत श्रुति उतर कर अभेद-बोधन कर देती है । यदि कहा जाय कि 'विवादाध्यासिता बुद्धिः स्वभिन्नात् सर्वस्माद् भिन्ना'—इस प्रकार भेद सिद्ध किया जायगा, उस सर्व में अभेद-ज्ञान भी आ जाता है, अतः वहाँ अभेदागम अभेद-बोधन कैसे करेगा ? तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि अद्वैतवादी के प्रति तो स्व-भिन्नत्व विशेषण व्यर्थ ही है, क्योंकि स्व-भिन्न कुछ माना ही नहीं जाता, जैसा कि खण्डनकार ने भी कहा है—''स्वव्यतिरिक्तादिति अद्वैतवादिन्यव्यवच्छेदकम्'' (खं० पृ० १०२) । अत एव 'सर्वं सर्वस्माद् भिन्नम्'—यह प्रयोग भी निरस्त हो जाता है, जैसा कि खण्डनकार ने ही कहा है—

हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये सर्वं पक्षयताऽऽस्थिते ।
किञ्चित्तु त्यजता दत्ता सैव द्वारद्वयश्रुतेः ॥ (खं० पृ० १०२)

[अर्थात् भेद-साधक अनुमान का यदि 'सर्वं' सर्वस्माद् भिन्नम्'—यह आकार रखा जाता है, तब सब कुछ पक्ष-कुक्षि में ही समा जाता है, हेतु, दृष्टान्तादि का अभाव हो जाता है और ऐसे पक्ष का ज्ञान किसी सर्वज्ञ को ही सकता है, अतः अनुमान-प्रयोक्ता इसी में सर्वज्ञत्व भी प्रसक्त होता है । यदि कुछ पदार्थों को पक्ष से बाहर रखा जाता है, तब उन पदार्थों में भेद सिद्ध न होगा और अद्वैत श्रुति के प्रवेश का वही द्वार मिल

अद्वैतसिद्धिः

नाप्यर्थापत्तिः सर्वभेदविषया, स्वाविषयत्वात् । ययोर्हि भेदं विना यत्रानुपपत्तिर्गृहीता, तयोस्तत्र भेदग्रहेऽप्यनुपपत्तावनुपपत्त्यन्तराग्रहणात् । सर्वत्र तद्ग्रहणे तु धाराविश्रान्तौ चरमधीरुदाहरणम् । तदुक्तम् —

'आद्यधीवेद्यभेदीयाप्यन्यथानुपपन्नता ।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम् ॥' इति ।

ननु यावदुपपादकं तत्सर्वमर्थापत्तेर्विषयः, न तु यत्किंचिदुपपादकम्, तथा चार्थापत्तेरितरस्माद् भेदाभावे तत्रैवाभेदश्रुतेर्लब्धावकाशत्वाद् घटपटभेदासिद्ध्यापत्तेरर्थापत्तिभेदस्यापि घटपटभेदोपपादकत्वेनार्थापत्तिविषयत्वं वाच्यम्, अन्यथा दृग्दृश्यसं-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता है, वहीं पर अभेद-बोधन कर देगी] ।

(२) आक्षेप का दूसरा अर्थ अर्थापत्ति भी नहीं कर सकते, क्योंकि अर्थापत्ति अपने को विषय नहीं कर सकती, अतः स्व-भेद-साधन उससे नहीं हो सकता, क्योंकि स्व से स्व का भेद कैसे सम्भव होगा ? आशय यह है कि जिन पदार्थों के भेद के बिना जो अनुपपन्न होता है, उसके द्वारा उन्हीं पदार्थों का भेद सिद्ध होता है, अन्य पदार्थों का नहीं, जैसे घट-पट-भेद के बिना घटपटौ भिन्नौ—यह प्रमा अनुपपन्न है, अतः इस प्रमा के द्वारा घट और पट का ही भेद सिद्ध होगा, स्वयं अर्थापत्ति से उनका भेद नहीं, क्योंकि अपने भेद के बिना 'घटपटौ भिन्नौ'—इस प्रमा की अनुपपत्ति नहीं देखी जाती । अनुपपत्ति ज्ञान से भी अनुपपत्ति का भेद सिद्ध करने के लिए यदि अन्य अनुपपत्ति का सहारा लिया जाता है, तब अनवस्था होगी । अनुपपत्तिज्ञान-धारा की अविश्रान्ति मानने पर सुषुप्ति का अभाव प्रसक्त होता है और कहीं विश्रान्ति मानने पर वहीं अद्वैत श्रुति के अवतरण का स्थल सुलभ हो जाता है, जैसा कि खण्डनकार ने कहा है—

आद्यधीवेद्यभेदीयाप्यन्यथानुपपन्नता ।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम् ॥ (खं० पृ० १०२)

['घटपटौ भिन्नौ'—यह भेद-प्रत्यक्ष आद्य धी है, उसका वेद्य भेद केवल घटपट का भेद है, उस भेद की आक्षेपिका अन्यथानुपपन्नता (अर्थापत्ति) अद्वैत-श्रुति को कुण्ठित नहीं कर सकती, क्योंकि प्रतीयमान अनुपपन्नता ही भेद सिद्ध कर सकती है, अप्रतीयमान नहीं, उस अनुपपत्ति के ज्ञान से उसी अनुपपत्ति के द्वारा उसका भेद सिद्ध नहीं किया जाता, अतः वहीं अद्वैत श्रुति पहुँच कर अपना काम करने लग जायगी] ।

शङ्का—घट-पट के भेद-ज्ञान का जितना भी उपपादक है, वह सब-का-सब अर्थापत्ति का विषय होता है, न कि यत्किञ्चिद् उपपादक । अर्थापत्ति का अद्वैत श्रुति से यदि भेद नहीं, तब उसी में अद्वैत श्रुति घुस कर भेद मात्र का उच्छेद कर डालेगी, तब घट-पट का भी भेद कैसे सिद्ध होगा ? अतः घट-पट के भेद-ज्ञान का उपपादक अर्थापत्ति और अद्वैत श्रुति का भेद भी है, वह भी समग्र उपपादक-समूह में प्रविष्ट होकर अर्थापत्ति का विषय हो जाता है—यह कहना होगा, अन्यथा (स्व में स्वविषयकत्व न मानने पर) दृक्-दृश्य-सम्बन्धानुपपत्ति के द्वारा जो प्रपञ्चगत अध्यस्तत्वरूप मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है, वह भी सिद्ध न होगा । इसी प्रकार ज्ञाननिवर्त्यत्व की अन्यथानुपपत्ति के द्वारा कल्प्यमान प्रपञ्च-मिथ्यात्व प्रपञ्चान्तर्गत अन्यथानुपपत्ति

अद्वैतसिद्धिः

बन्धानुपपत्तिर्ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तिश्च स्वमिथ्यात्वविषया न स्यात्, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति श्रुतिः 'नेह नाने'ति ब्रह्मणि भेदमात्रनिषेधानुपपत्तिश्च स्वाभेदविषया न स्यात्, तथा च तत्रापि श्रुत्यन्तरमर्थापत्त्यन्तरं वा वाच्यमिति तवाप्यनवस्थापत्तिः—इति। मैवं बोचः, वस्तुत उपपादकत्वं नार्थापत्तिविषयत्वे तन्त्रम्, किंतूपपादकत्वेन ज्ञातत्वम्, अन्यथा अर्थापत्तिभ्रमानुपपत्तेः। तथा च येन रूपेणोपपादकत्वं गृहीतं, तद्रूपावच्छिन्नमुपपादकमर्थापत्तेर्विषयः। तत्र यद्यर्थापत्तिगतभेदसाधारणमुपपादकतावच्छेदकमेकं भवेत्, तदा सोऽपि भायादेव। न चैवमस्ति, तदनिरूपणात्। तथा हि—घटपटभिन्नत्वमनुपपाद्यम्, तदुपपादकं च न सर्वभिन्नत्वम्, स्वतोऽपि भेदापत्त्या तदसंभवात्। नापि स्वातिरिक्तसर्वभिन्नत्वम्; अद्वैतवादिनं प्रति स्वातिरेकविशेषणासिद्धेः, स्वत्वाननुगमाच्च। तथा च तेन तेन रूपेण तत्तद्भिन्नत्वमेव उपपादकमुपेयम्। अत उपपादक-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में भी ज्ञान-निवर्त्यत्व रहने के कारण पर्यवसित होता है, वह भी सिद्ध न होगा। ऐसे ही "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां० ३।१४।१) यह श्रुति ब्रह्म के साथ सर्वभेद का प्रतिपादन करती हुई अपना अभेद भी ब्रह्म में सिद्ध करती है, वह भी सिद्ध न होगा। एवं "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृह० उ० ४।४।१९) यह श्रुति ब्रह्म में भेद मात्र का निषेध करती हुई अपने भेद का भी जो निराकरण करती है, वह भी न हो सकेगा। उक्त श्रुतियों को स्वकीय अभेदादि के बोधन में श्रुत्यन्तर की अपेक्षा होने पर अनवस्थाप्रसक्त होगी।

समाधान—यत्र-यत्र उपपादकत्वम्, तत्र अर्थापत्ति-विषयत्वम्'—इस प्रकार वस्तुतः उपपादकत्व अर्थापत्ति-विषयता का प्रयोजक नहीं होता, अपितु उपपादकत्वेन ज्ञातत्व। अन्यथा अर्थापत्तिरूप भ्रम उपपन्न न होगा, क्योंकि वही अर्थापत्ति भ्रमरूप होगी, जो वस्तुत अनुपपादक को विषय करे, यदि अर्थापत्ति सर्वत्र वस्तुतः उपपादक को ही विषय करती है, तब अर्थापत्ति सर्वत्र प्रमा रूप ही रहेगा। जब कि वस्तुतः अनुपपादक को उपपादकत्वेन अर्थापत्ति विषय करती है, तब भ्रमरूप हो सकेगी। अतः जिस रूप से उपपादकता ज्ञात होती है, उस रूप से अवच्छिन्न पदार्थ को अर्थापत्ति का विषय मानना होगा। अब यदि सर्व भेद-साधारण कोई एक धर्म उपपादकता का अवच्छेदक हो सकता, तब अर्थापत्ति का स्वयं अपना भेद भी विषय हो सकता है, किन्तु सर्व भेद-साधारण कोई एक धर्म उपपादकता का अवच्छेदक सम्भव नहीं, अन्यथा अर्थापत्ति में स्वयं अपना भेद भी उपपादकतावच्छेदक से अवच्छिन्न होगा, जो कि सम्भव नहीं, क्योंकि घटपटौ भिन्नौ'—यह प्रत्यक्ष स्वगत अद्वैत-ज्ञानीय भेद के बिना अनुपपन्न होकर उसका भी आक्षेपक माना जाता है, किन्तु उक्त प्रत्यक्ष तभी सर्व-भेद को विषय कर सकता है, जब कि स्वगत स्वकीय भेद को विषय करे, जो कि सम्भव नहीं। स्वातिरिक्त सर्वभेद को उपपादक मानने में अद्वैतवादी के लिए व्यर्थविशेषणता कही जा चुकी है।

दूसरी बात यह भी है कि स्व-व्यतिरिक्तत्व-घटक स्वत्व का अनुगम भी नहीं होता। फलस्वरूप अननुगत तत्तद्रूप से तत्तद्भिन्नत्व को ही उपपादक कहना होगा। इस प्रकार उपपादकता के अवच्छेदक धर्म नाना हो जाते हैं, अतः एक अनुपपत्ति-ज्ञान में दूसरी अनुपपत्ति का ज्ञान और दूसरे अनुपपत्ति-ज्ञान में तीसरे अनुपपत्ति-ज्ञान की अपेक्षा में अन-

अद्वैतसिद्धिः

तावच्छेदकनानात्वान्न सर्वमुपपादकमर्थापत्तेर्विषय इति पृथक्पृथगनुपपत्तिज्ञानापेक्षायां सर्वत्रानुपपत्तिज्ञाने अनवस्थानात् क्वचिद्धाराविश्रान्तौ तत्रैव लब्धावकाशा श्रुतिः सर्वाद्वैते पर्यवस्यतीति किमनुपपन्नम् ? दृष्टान्ते च सर्वत्र स्वसाधारणमुपपादकतावच्छेदकमेकमेवेति तदवच्छिन्नतया स्वस्यापि भानमिति वैषम्यम्। तथा हि—दृश्यत्वावच्छिन्नमिथ्यात्वं विना दृक्संबन्धानुपपत्तिग्रहात्तदवच्छिन्नमिथ्यात्वमर्थापत्तेर्विषय इति स्वमिथ्यात्वमपि स्वविषयः, एवमेव ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तेरपि स्वविषयत्वम्, तत्रापि दृश्यत्वादेरेकस्यैवावच्छेदकत्वात्। एवं च ब्रह्मणि सर्वाभेदबोधिकायाः श्रुतेर्भेदमात्रनिषेधान्यथानुपपत्तेश्च स्वाभेदविषयत्वमविरुद्धम्। न हि सर्वभेदे स्वभेदापत्तिरिव सर्वाभेदे स्वाभेदो दोषाय। तस्मादद्वैतश्रुतिर्बाध्यबाधकयोरैक्यबोधनेन निराबाधा सर्वाद्वैतं प्रतिपादयति।

ननु—शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात् कथमादावल्पविषया बुद्धिः पश्चाद् बहुविषया भवतीत्युच्यत इति—चेन्न, श्रुतितो द्रागेव जातायाः सर्वविषयाया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वस्था होती है। इस धारा की कहीं विश्रान्ति मानने पर वहीं अद्वैत श्रुति अवतीर्ण होकर सर्वाभेद सिद्ध कर देगी—इसमें अनुपपत्ति क्या ? दृष्टान्त-स्थल पर उपपादकतावच्छेदक सर्वसाधारण एक होने के कारण सर्वत्र स्वविषयकत्व बन जाता है, जैसे कि दृश्यत्वावच्छिन्न-मिथ्यात्व के विना दृक्-सम्बन्ध की अनुपपत्ति है, अतः दृश्यत्वावच्छिन्न-मिथ्यात्व अर्थापत्ति का विषय माना जाता है, इस प्रकार स्वगत मिथ्यात्व भी स्व (दृग्दृश्य-सम्बन्धानुपपत्ति) का विषय बन जाता है। इसी प्रकार ज्ञान-निवर्त्यत्वानुपपत्ति में भी स्वविषयकत्व बन जाता है, क्योंकि वहाँ भी दृश्यत्वादि एक ही धर्म उपपादकता का अवच्छेदक माना जाता है। ब्रह्म में सर्वाभेद-बोधिका "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—इत्यादि श्रुतियों में भी भेद मात्र के निषेध की अन्यथा अनुपपत्ति होने के कारण स्वाभेद-बोधकत्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि जैसे सर्व भेद पक्ष में स्व में स्वभेदापत्तिरूप दोष होता है, वैसे सर्वाभेद-पक्ष में स्वगत स्वाभेदापत्ति कोई दोष नहीं। इस लिए अद्वैत श्रुति बाध्य (अद्वैतागम) और बाधक (भेदावगाही प्रत्यक्षादि) का अभेद-बोधन करती हुई निर्बाध गति से सर्वाद्वैत का प्रतिपादन करती है।

शङ्का—'अद्वैत श्रुति पहले अपने विरोधी प्रत्यक्ष के साथ अपना अभेद प्रतिपादित करती है, उसके पश्चात् सर्वाभेद का प्रतिपादन करती है'—यह क्रम सर्वथा अनुचित है, क्योंकि शब्द, ज्ञान और क्रिया—इन तीनों में विरम्य (ठहर-ठहर कर) व्यापार (कार्य-कारित्व) नहीं देखा जाता। एक ही शब्द प्रथम क्षण में कुछ प्रतिपादन कर द्वितीयक्षण में कुछ और प्रतिपादन करे—ऐसा सम्भव नहीं, अपितु उसे जो कुछ प्रतिपादन करना होता है, एक साथ सब प्रतिपादित कर देता है। इसी प्रकार ज्ञान और कर्म भी एक साथ अपने-अपने कार्यो का सम्पादन करते है, अतः अद्वैतागमरूपी शब्द प्रथम स्वल्पाभेद और पश्चात् सर्वाभेद का प्रतिपादन करे—यह मर्यादा-विरुद्ध है।

समाधान—जैसे "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"—यह वाक्य यद्यपि अंशत्रयवती भावना का युगपत् प्रतिपादन कर देता है, तथापि श्रोता को उससे जो

अद्वैतसिद्धिः

अद्वैतबुद्धेः प्रामाण्यं व्यवस्थापयन्तीनामस्मद्बुद्धीनामेव क्रमेण जायमानत्वात्। अयोग्यताज्ञानं च न शाब्दबोधे प्रतिबन्धकम्, न वा योग्यताज्ञानं हेतुः, येन प्रथमं सर्वाद्वैतबुद्धिर्न स्यात्। तदुक्तम्—

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलाम्॥' इति।

वेदान्तकल्पलतिकायामस्यार्थस्य प्रपञ्चो द्रष्टव्यः। एतेन—चरमज्ञानमिथ्यात्वेऽपि न तद्विषयस्य मिथ्यात्वम्, ज्ञानमिथ्यात्वस्य विषयमिथ्यात्वासाधकत्वात्, अद्वैतज्ञाने व्यभिचारादिति—निरस्तम्, श्रुत्यैव द्वैतमात्रनिषेध्यत्वबोधनात्। अद्वैत-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ज्ञान उत्पन्न होता है, वह एक काल में नहीं, अतः प्रथम बोध सामूहिक भावना का और पार्ष्टिक बोध साध्य, साधन और इतिकर्तव्य का विश्लिष्ट होता है, वैसे ही] "एकमेवाद्वितीयम्"—इस श्रुति से सर्वविषयक अभेद-बोध तो एक काल में ही उत्पन्न कर दिया जाता है, तथापि उस बोध में प्रामाण्य-व्यवस्थापन-मार्ग का अनुसन्धान करनेवाली श्रोता की बुद्धियाँ सहसा उत्पन्न न होकर प्रत्यक्षादि के विरोध का विचार के द्वारा परिहार करती हुई क्रमशः उत्पन्न होती हैं। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्षादि के द्वारा अभेदरूप अर्थ का जब बाध किया जा रहा है, तब अर्थाबाधरूप योग्यता के न रहने पर अद्वैतागम अपना अभेदार्थ-बोध नहीं करा सकता, क्योंकि शाब्दबोध में योग्यता-ज्ञान कारण होता है। तो ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि हम शाब्दबोध में न योग्यता-ज्ञान को कारण मानते हैं और न अयोग्यता-ज्ञान को उस का प्रतिबंधक। कुमारिल भट्ट ने कहा है—

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलाम्॥ (श्लो० वा० पृ० ४६)

[अर्थात् अत्यन्त असत् और बाधित अर्थ का बोध कराने की क्षमता शब्द में पाई जाती है, लौकिक वाक्यों में तो दोषादि के द्वारा प्रामाण्य-बाध की सम्भावना भी रहती है, किन्तु इस अपौरुषेय एवं निर्दोष वेद में प्रमा का बाध नहीं होता, स्वतः प्रामाण्य अटल रहता है]। 'वेदान्तकल्पलतिका' में इस विषय का विस्तार से वर्णन किया गया है। यह जो आक्षेप किया जाता है कि जैसे—चरम अखण्डाकार वृत्ति के मिथ्या होने पर भी उसका विषय मिथ्या नहीं होता, क्योंकि अद्वैत ज्ञान में व्यभिचारी होने के कारण ज्ञानगत मिथ्यात्व विषय-मिथ्यात्व का साधक नहीं होता। वैसे ही भेद-ज्ञान के मिथ्या होने पर भी उसका भेदरूप विषय भी मिथ्या न होकर सत्य ही रहेगा। वह आक्षेप भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि अद्वैत श्रुति ही द्वैतमात्र की सत्यता का जब निषेध कर रही है, तब भेद सत्य कैसे रहेगा? किन्तु अद्वैत-ज्ञान के विषय में मिथ्यात्व-बोधक प्रमाण का अभाव होने के कारण सत्यत्व सुस्थिर रहता है, मिथ्या ज्ञान की विषयता के कारण वहाँ सत्यत्व है—यह बात नहीं [आशय यह है कि द्वैतवादी यह अनुमान प्रस्तुत करता था कि 'भेदः सत्यः, मिथ्याज्ञानविषयत्वात् चरमवृत्तिविषयवत्'। उस अनुमान में सिद्धान्ती की ओर से 'अबाधितत्व' उपाधि का प्रदर्शन किया गया। दृष्टान्त में अबाधितत्व रहने से साध्य का व्यापक और भेदरूप

न्यायामृतम्

किं चाऽद्वैतश्रुतेः किं सर्वमिथ्यात्वे तात्पर्यम् ? अभेदे वा ? भेदनिषेधे वा ? नाद्यः, चरमज्ञानस्य वास्तवे मिथ्यात्वे प्रमितेऽप्यद्वैतज्ञानवद्व्यावहारिकसतः प्रमात्वसम्भवेन श्रुत्या तद्विषयापहारायोगात्। अन्यथा इदं वा अग्रे नैव किं चनासीदिति श्रुतिर्वा विमतमसत्, प्रतीतत्वादित्याद्यनुमानं वा आदौ स्वबोधकस्य सत्यज्ञानादिवाक्यस्यासत्त्वं गृहीत्वा निर्बाधं सत् सर्वासत्त्वं बोधयेत्। नान्त्यौ, अन्ततो द्वैतप्रत्यक्षबाधकस्याद्वैतज्ञानस्य बाध्येन द्वैतज्ञानेन ऐक्यवाक्यस्य भेदवाक्येन, ऐक्यस्य च भेदेन परमार्थतः अभेदेऽपि भेदाभावेऽपि वा व्यावहारिकभेदमात्रेण द्वैतज्ञानबाधकत्ववद् बाधकस्य प्रत्यक्षज्ञानस्यापि बाध्येन श्रौतज्ञानेन परमार्थतः अभेदेऽपि भेदाभावेऽपि वा व्यावहारिकभेदमात्रेणाद्वैतधीबाधकत्वोपपत्तेः। अन्यथा "आपो वा इदं सर्व" मिति-श्रुतिर्वा विमतं जलाभिन्नं प्रतीतत्वाज्जलवदित्यनुमानं वा आदौ स्वबाधकस्य जलाभेदं

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञानविषये च मिथ्यात्वबोधकाभावादेव सत्यम्, न तु ज्ञानमिथ्यात्वादिति न किंचिदेतत्। ननु—द्वैतज्ञानाद्वैतज्ञानयोरभेदे कथं बाध्यबाधकभावः ? न च व्यावहारिकभेदमात्रेण सः, द्वैतज्ञानस्यापि बाधकत्वापत्तेः—इति चेन्न, व्यावहारिकभेदमात्रस्य बाधकत्वाप्रयोजकत्वात्। यद्धि परीक्षितप्रमाणभावत्वेन बलवत्, तद् बाधकम्, यत्तु सन्दिग्धप्रमाणभावत्वेन दुर्बलं तद् बाध्यमिति व्यवस्थायां द्वैतज्ञानस्य दुर्बलत्वेनाबाधकत्वस्याद्वैतज्ञानस्य च बलवत्त्वेन बाधकत्वस्य शब्दप्रत्यक्षबलाबलविचारे दर्शितत्वात्। यत्तु—'आपो वा इदं सर्वं भूत' मित्यादिश्रुतिः 'विमतं जलाभिन्नं प्रतीतत्वात् जलवदि' त्यनुमानं वा स्वबाधकस्य जलाभेदं गृहीत्वा निर्बाधं सत् त्वदुक्तन्यायेन सर्वस्य जलाभेदं बोधयेद्—इति, तन्न, जलाभेदबोधनेऽपि बाध्यबाधकयोरैक्याबोधनाद्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पक्ष में न रहने से अबाधितत्व धर्म साधन का अव्यापक है]।

शङ्का—अद्वैत श्रुति जब द्वैत ज्ञान और अद्वैत ज्ञान का अभेद सिद्ध कर देती है, तब उनमें बाध्य-बाधकभाव क्योंकर रहेगा ? क्योंकि अभिन्न पदार्थों में बाध्य-घातकभाव नहीं देखा जाता। भेद की व्यावहारिक सत्ता को लेकर यदि बाध्य-बाधकभाव का उपपादन किया जाता है, तब विनिगमक के अभाव में द्वैत ज्ञान को भी अद्वैत ज्ञान का बाधक कहा जा सकता है।

समाधान—'यद्-यद् व्यावहारिकभेदवत् तत्तद्बाधकम्'—ऐसी व्याप्ति यदि सिद्ध होती, तब भेद-ज्ञान में कथञ्चिद् बाधकता का अनुमान किया जा सकता था, किन्तु 'यद् यत् परीक्षितप्रामाण्यवत्, तत् तद्बाधकम्' एवं 'यद्यत् सन्दिग्धप्रामाण्यकम्, तत्तद् बाध्यम्'—ऐसी व्याप्ति ही निश्चित है, अतः सन्दिग्धप्रामाण्यक द्वैत-ज्ञान में बाध्यत्व तथा परीक्षितप्रामाण्यक अद्वैत ज्ञान में बाधकत्व मानना ही न्याय-संगत है—यह विगत पृ० १४० पर कहा जा चुका है।

यह जो द्वत-मिथ्यात्व-बोधक आगम और अनुमान की समकक्षता करते हुए कहा जाता है कि "आपो वा इदं सर्वं भूतम्" (म० ना० उ० १४।१) यह श्रुति तथा 'विमतं जलाभिन्नं प्रतीतत्वात् जलवत्'—यह अनुमान अपने बाधक प्रमाण में अपना अभेद स्थापित कर निर्बाधरूप से विश्व में ब्रह्माभेद के समान जलाभेद सिद्ध करते हैं।

न्यायामृतम्

गृहीत्वा निर्बाधं सत् प्रसिद्धजलाभेदं बोधयेत्। एवं च यत्र भेदः प्रत्यक्षसिद्धः, न तत्राऽभेदः कदापि श्रुतितस्सुग्रहः, अन्यत्र कामं गृह्यतां न नो हानिः। अपि चाद्ये सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यमयुक्तम्। अन्त्ययोरिदं रूप्यं गौरोऽहमितिभ्रमाणां

अद्वैतसिद्धिः

बाधकस्य बाधकत्वोपपत्तेः, ऐक्यज्ञानभेदज्ञानयोर्बाध्यबाधकभावस्य जलाभेदज्ञानेऽनपायात्। बाधकाभेदो हि बाधकत्वाभावे प्रयोजकः, बाधकस्य स्वबाधकत्वादर्शनात्। अतो न बाध्यबाधकैक्यज्ञानस्य जलाभेदज्ञानसाम्यम्। एतेन—सर्वम् सर्वस्माद्भिन्नमिति मद्वाक्यमद्वैतवाक्यतज्ज्ञानतद्विषयाणां तेभ्यो भेदमादौ गृहीत्वा निर्बाधं सत्सर्वभेदे पर्यवस्यतीति—निरस्तम्, बाध्यबाधकयोरभेदे बाधकत्वाभाववत् भेदेऽपि बाधकत्वं न स्यादित्यत्र हेत्वभावात् पूर्वोक्तदोषाच्चेति दिक्।

सर्वासत्त्वं सर्वमिथ्यात्वान्नातिरिच्यते, अतः 'सर्वमसदि'ति प्रत्यवस्थानमनवकाशम्। ननु श्रुत्या सर्वस्य मिथ्यात्वं वा बोध्यते, ब्रह्माभिन्नत्वं वा। आद्ये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'ति सामानाधिकरण्यं न स्यात्, सत्यानृतयोरैक्यायोगात्। द्वितीये 'इदं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वह उचित नहीं, क्योंकि प्रदर्शित श्रुति और अनुमान के द्वारा सर्वत्र जलाभेद-बोधन करने पर भी बाध्य और बाधक की एकता सिद्ध नहीं की जा सकती, अतः बाध्य-बाधक की एकता के ज्ञान से जलाभेद-ज्ञान की समानता नहीं की जा सकती [भाव यह है कि जैसे ब्रह्म सर्वाधिष्ठान है, वैसे जल सर्वाधिष्ठान नहीं, अतः जल में सर्वाभेद सिद्ध न होकर केवल व्यावहारिक दृष्टि में जल का अपने विकारभूत फेन बुद्बुद, तरङ्गादि के साथ ही अभेद सिद्ध होगा, किन्तु जल से अभिन्न तरङ्गादि में परस्पर बाध्य-घातकभाव देखा जाता है, अतः बाध्य-बाधक की एकता उससे सिद्ध नहीं हो सकती, फलतः द्वैत-ज्ञान और अद्वैत-ज्ञान की एकता भी उससे सिद्ध नहीं, अतः द्वैत जगत् को बाध से बचाने का कोई भी तर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता]। द्वैतवादी की ओर से जो यह प्रतिवन्दी उपस्थित की जाती है कि 'सर्वं सर्वस्माद् भिन्नम्'—इस प्रकार का हमारा (द्वैतवादी का) वाक्य अद्वैतवाक्य, अद्वैत-ज्ञान और उसके विषय से अपना भेद सिद्ध कर सर्व-भेद में पर्यवसित होता है। वह प्रतिवन्दी भी इसी लिए निरस्त हो जाती है कि जैसे बाध्य-बाधक का अभेद हो जाने पर बाधकता का अभाव हो जाता है, वैसे बाध्य और बाधक के भेद-पक्ष में बाधकत्व का अभाव सिद्ध नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि सर्व-भेद-पक्ष में द्वैतवादी के कथित वाक्य में भी उसका भेद सिद्ध हो जाता है। उसमें भी बाध्य-बाधकभाव होना चाहिए। न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि सर्व-मिथ्यात्व के समान ही "असदेवेदमग्र आसीत्" (छां० ६।२।१) इस श्रुति और 'विमतम् असत् ज्ञेयत्वात् शुक्तिरजतवत्'—इस अनुमान के द्वारा सर्वासत्ता का भी साधन क्यों नहीं किया जा सकता। उस कथन के प्रतीकार में इतना ही सुझा देना पर्याप्त है कि सर्वासत्त्व सर्व-मिथ्यात्व से अतिरिक्त नहीं।

द्वैतवादी—आप (अद्वैतवादी) कभी कहते हैं कि अद्वैत-श्रुति सर्व-मिथ्यात्व का बोध कराती है और कभी कह देते हैं कि ब्रह्माभेद-बोधन करती है, अतः यह विस्पष्ट कहना चाहिए कि क्या उससे मिथ्यात्व का बोध कराया जाता है ? अथवा ब्रह्माभिन्नत्व ? प्रथम पक्ष में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—इस प्रकार का सामानाधिकरण्य

न्यायामृतम्

प्रमात्वं स्यात्। आत्मनि देहाद्भेदस्यानृतादिव्यावृत्तेश्च बोधकानां वेदान्तानामप्रामाण्यं च स्यात्। घटज्ञानेनैव तदभिन्नस्य ब्रह्मतदभेदादेस्सर्वस्यापि वस्तुतो ज्ञातत्वेन सार्वज्ञ्यं वेदान्तानां वैयर्थ्यं सद्यो मोक्षश्च स्यात्। सुखदुःखबंधमोक्षभेदाभेददूषणभूषणजयपराजयभ्रान्तिप्रमादेरपि वस्तुतोऽभिन्नत्वेन सर्वसंकरापत्या स्वक्रियास्वन्यायस्ववचनविरोधाश्च स्युः। आविद्यकभेदेन सर्वस्यापि व्यवस्थेति चेन्न, तस्याप्यना-

अद्वैतसिद्धिः

रजतं' 'गौरोऽह'मित्यादिभ्रमाणां प्रमात्वं स्यात्, आत्मनि देहादिभेदस्यानृतादिव्यावृत्तेश्च बोधकानां वेदान्तानां 'नेदं रजत'मित्यादिबाधकस्य चाप्रामाण्यं स्यात्, घटज्ञानेनैव तदभिन्नब्रह्मतदभेदादेः सर्वस्यापि वस्तुतो ज्ञातत्वेन सार्वज्ञ्यम्, वेदान्तानां वैयर्थ्यम्, सद्यो मोक्षश्च स्यात्, सुखदुःखबन्धमोक्षभेदाऽभेददूषणभूषणजयपराजयभ्रान्तिप्रमादेरपि वस्तुतो भेदाभावेन सर्वसङ्करापत्त्या स्वक्रियास्वन्यायस्ववचनविरोधाश्च स्युरिति—चेन्न, आद्ये 'मृद् घटः', 'इदं रजत'मित्यादाविव उपादानोपादेयभावेनापि सामानाधिकरण्योपपत्तेः। द्वितीये वस्तुतो भेदाभावेऽपि आविद्यकभेदमादाय सर्वव्यवस्थोपपत्तेः। न च—भेदस्याप्यनाविद्यकब्रह्माभिन्नत्वेनाविद्यकत्वायोग इति—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सम्भव नहीं होगा, क्योंकि सत्य और मिथ्या पदार्थों की एकरूपता नहीं हो सकती है। द्वितीय (ब्रह्माभिन्नत्व-बोध) पक्ष में 'इदं रजतम्', गौरोऽहम्'—इत्यादि भ्रम ज्ञानों में प्रमात्व प्रसक्त होता है, [क्योंकि जैसे ब्रह्म अबाधित है, अतः ब्रह्मविषयक ज्ञान अबाधितविषयक होने के कारण प्रमा माना जाता है, वैसे ही शुक्ति-रजतादि पदार्थ भी ब्रह्माभिन्न होने के कारण अबाधित होते हैं, अबाधित विषयक ज्ञान भ्रम नहीं हो सकता]। इसी प्रकार आत्मा में देहादि-भेद-बोधक—"देहत्रयातिरिक्तोऽहम्" (ते० बिं० उ० ४।२) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों, अनृत-भेद-बोधक—"स एष नेति-नेति" (बृह० उ० ३।९।२६) इत्यादि वेदान्त वाक्यों तथा 'नेदं रजतम्'—इत्यादि बाधक वाक्यों में अप्रामाण्य प्राप्त होता है, क्योंकि कथित सभी वाक्य ब्रह्म-भिन्न बाधितार्थ के बोधक हैं। इसी प्रकार ब्रह्माभेद-बोधन-पक्ष में केवल घट-ज्ञान से ही सर्वज्ञता प्राप्त हो जानी चाहिए, क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मक है और घट ब्रह्मात्मक है, अतः घट के ज्ञान से ब्रह्म, ब्रह्माभेदादि का ज्ञान हो जाता है। घट-ज्ञान मात्र से ही तुरन्त मोक्ष का लाभ हो जाने से वेदान्त-वाक्यों का श्रवाणादि निरर्थक हो जाता है। इसी प्रकार सुख-दुःख बन्ध-मोक्ष भेद-अभेद, दूषण-भूषण, जय-पराजय, भ्रम-प्रमा के समान सहज विरोधी पदार्थ भी ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण परस्पर अभिन्न हो जाते हैं, सर्व-साङ्कर्य हो जाता है तथा स्वकीय क्रिया, न्याय और वचन का विरोध भी होता है।

अद्वैतवादी—प्रथम (अद्वैत श्रुति के मिथ्यात्वबोधन) पक्ष में भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—इस प्रकार के सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति नहीं होती, क्योंकि जैसे परिणामवादानुसार 'मृद् घटः' के समान उपादान और उपादेय का एवं विवर्त-वादानुरूप 'इदं रजतम्'—के समान अधिष्ठान और अध्यस्त का सामानाधिकरण्य होता है, वैसे ही 'सर्वं ब्रह्म'—यह सामानाधिकरण्य भी उपपन्न हो जाता है, ब्रह्म में सर्व प्रपञ्च की उपादानता का उपपादन विगत प्रकरण में किया जा चुका है। द्वितीय (अद्वैत श्रुति के ब्रह्माभेद-बोधन) पक्ष में सर्व प्रपञ्च का ब्रह्म से वास्तविक अभेद होने पर भी

न्यायामृतम्

विद्यकब्रह्माभिन्नत्वेनाविद्यकत्वायोगात् । काल्पनिकभेदेन वास्तवाभेद-कार्यप्रतिबंधायोगाच्च । मोक्षे आविद्यकभेदाभावेनानन्दस्य दुःखात्मकत्वेनापुमर्थत्वापाताच्च । सुखादौ निरुपाधिकप्रतिकूलादिरूपदुःखाद्यसाधारणस्वभावाभावेऽपि तद्भेदे पारिभाषिकोऽयमभेदो भेदे पर्यवस्येत् । साधारणरूपभेदमुपेत्य सद्रूपमात्रभेदनिषेधे त्विष्टापत्तिरप्रसक्तप्रतिषेधश्च । किं च घटपटौ भिन्नाविति ज्ञानं स्वस्याद्वैतज्ञानादिना

अद्वैतसिद्धिः

वाच्यम् , आविद्यकत्वस्याप्याविद्यकस्यैवाङ्गीकारात् ,अथाविद्यकत्वस्यापि ब्रह्माभिन्नत्वात् कथमाविद्यकत्वमिति चेत् , तस्मिन्नपि तस्य कल्पितत्वादिति गृहाण ।

ननु—मुक्तावाविद्यकस्यापि भेदस्याभावेनानन्दस्य दुःखाभिन्नत्वेनापुरुषार्थत्वापातः, तत्तदसाधारणस्वभावस्य तत्र तत्राभावेऽपि तत्तदभेदे पारिभाषिकोऽयमभेदो भेदे पर्यवस्येद् , असाधारणरूपेण भेदमभ्युपेत्य सद्रूपेण भेदनिषेधेऽपि इष्टापत्तिरप्रसक्तनिषेधश्चेति—चेन्न, एकस्यामेव ब्रह्मव्यक्तौ तत्तदसाधारणस्वभावानां कल्पितत्वेनासत्त्वात् सर्वकल्पनानिषेधकाले कल्पितधर्मावच्छिन्नभेदाभेदादिप्रसक्तेरयोगात् । अत एव नाप्रसक्तप्रतिषेध इष्टापत्तिर्वा, 'सद् द्रव्यं' 'सन् गुण' इत्यादिप्रतीत्या प्रसक्तानां

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आविद्यक भेद को लेकर सर्व व्यवस्था बन जाती है । 'अनाविद्यक ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण भेद भी आविद्यक क्योंकर होगा ?' इस शङ्का का समाधान यह है कि भेद में आविद्यकत्व भी वास्तविक नहीं माना जाता, अपितु आविद्यक ही अभिमत है । 'आविद्यकत्व भी वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न होकर अनाविद्यक हो जाता है, अतः उसमें आविद्यकत्व कैसे ?' इस प्रश्न का भी वही उत्तर समझिए कि आविद्यकत्व में भी कल्पित आविद्यकत्व ही माना जाता है, वास्तविक नहीं ।

शङ्का—मोक्षावस्था में तो आविद्यक भी भेद नहीं रहता, अतः आत्मस्वरूप सुख भी दुःख से अभिन्न हो जाने के कारण पुरुषार्थ (मुमुक्षु पुरुषाभिलषित) नहीं रहता । यद्यपि दुःख का असाधारण स्वभाव होता है—'अनौपाधिक प्रतिकूलवेदनीयता' और सुःख का असाधारण रूप होता है—अनौपाधिक अनुकूल वेदनीयता । संसारावस्था में जैसे सुख-दुःख का स्वभाव-भेद है, वैसे मोक्षावस्था में भी, इस द्वैति-सम्मत स्वभाव-भेद की परिभाषा अद्वैत-मत में अभेद है, जो कि द्वैतवादी को अभीष्ट ही है । दूसरी बात यह भी है कि अद्वैतवादियों का जो यह कहना है कि मोक्षावस्था में सुख-दुःख का अपने-अपने आसारधारण स्वभाव से भेद रहने पर भी सद्रूपेण (सदभिन्नत्वरूप से) भेद नहीं रहता । वह अप्रसक्त-प्रतिषेध माना है, क्योंकि संसारावस्था में 'घटः सन्'—इस प्रत्यक्ष से सत्त्वेन घट प्राप्त है, वैसे मोक्षावस्था में सत्त्वेन भेद प्राप्त नहीं ।

समाधान—एक ही ब्रह्म व्यक्ति में अपने-अपने असाधारण स्वभाव के सुख-दुःखादि पदार्थ अविद्या के द्वारा कल्पित हैं, वस्तुतः सत् नहीं । मोक्षावस्था में मूलाज्ञान का अभाव हो जाने के कारण समस्त कल्पना का निषेध हो जाता है, उस समय कल्पित धर्मावच्छिन्न पदार्थों की भेदाभेद-प्रसक्ति ही नहीं होती, किन्तु संसारावस्था में 'सद् द्रव्यम्', 'सन् गुणः'—इत्यादि प्रतीति से प्रसक्त धर्मों का प्रतिषेध ब्रह्म में होता है अतः अप्रसक्त-प्रतिषेधापत्ति नहीं हो सकती । सर्व धर्म-शून्य आनन्दरूप ब्रह्म व्यक्ति का अद्वैत श्रुति प्रतिपादन करती है । मोक्षावस्था में वास्तविक अद्वैत या अभेद है,

न्यायामृतम्

भेदं विनानुपपत्तेस्तमाक्षिपतीति नाद्वयश्रुतेरवकाशः।

यथोक्तं द्वयमर्थापत्तिर्न स्वविषयेति सैव द्वारमद्वयश्रुतेः। तदुक्तम्—

आद्यधीवेद्यभेदीयाप्यन्यथानुपपन्नता ।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम्॥ इति।

तन्न, अर्थापत्तेरितरस्माद् भेदाभावे त्वदुक्तरीत्या घटपटभेदासिद्ध्या तद्भेदस्यापि घटपटभेदोपपादकत्वेनाऽर्थापत्तिविषयत्वात्। उपपादकत्वं ह्यर्थापत्तिविषयत्वे तंत्रम्, न त्वर्थापत्यसंबंधित्वम्। अन्यथा दृग्दृश्यसंबंधान्यथानुपपत्तिर्ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिश्च स्वमिथ्यात्वविषया न स्यात्। नेह नानेति ब्रह्मणि भेदमात्रनिषेधान्यथानुपपत्तिश्च स्वाभेदविषया न स्यात्। न हि सर्वं सर्वस्मादभिन्नमिति काचिच्छ्रुतिरस्ति। अस्ति चेत् सापि स्वाभेदविषया न स्यात्। तथा च तत्रार्थापत्यंतरं श्रुत्यन्तरं च वाच्यमिति तवाप्यनवस्था स्यात्। एवं च—

अर्थापत्तिस्स्वकीयं च भेदं गृह्णाति तं विना ।
अयुक्तेस्तव दृग्दृश्यसंबंधानुपपत्तिवत्॥

कथं च मत्पक्षेऽनवस्था? घटतद्धीभेदग्राहिणा स्वप्रकाशेन साक्षिणा स्वस्मिन्नितरभेदस्यापि प्रकाशात। अन्यथा स्वस्य घटादिभ्यो भेदसंशयादिः स्यात्। तस्मात्सामान्यविषयश्रुतेर्विशेषविषयेण प्रत्यक्षेणाहवनीयशास्त्रस्य पदशास्त्रेणेव संकोच एव न्याय्यः, न तु प्रत्यक्षबाधकता। अन्यथा नेति नेतीत्यनियतविषयभेदश्रुतिः सर्वं सर्वस्माद्भिन्नमिति मद्वाक्यं वा अद्वैतवाक्यवत् तज्ज्ञानतद्विषयाणां तेभ्यो भेदमादौ गृहीत्वा निर्बाधं सत् सर्वभेदे पर्यवस्यतीति स्यात्।

किं च शब्दबुद्ध्योर्विरम्य व्यापारायोगान्न क्रमेणाभेदग्रहो युक्तः। ननु युगपदेव श्रुत्या सर्वाद्वैतविषयतया जातायां बुद्धावस्माकं तत्तद्विषयेषु प्रामाण्यबुद्ध्य एव क्रमिका इति चेन्मैवम्, ब्रह्मणि सर्वाभेदस्यैव श्रुतत्वात्तदन्यथानुपपत्त्या च घटपटाद्यभेदस्य कल्प्यत्वात्। प्रथमोपस्थितेभेदप्रसक्तिमति च कल्पकाभेद एव प्रथमं प्रामाण्यधीर्न्याय्या। स एव च प्रत्यक्षबाधित इति कथं चरमबुद्धितद्विषयाद्यभेदकल्पना। येन तद्द्वारा सर्वाभेदः सिद्ध्येदिति दुर्वारः प्रत्यक्षबाधः। विस्तरस्तु खंडनखंडने द्रष्टव्यः। तस्मात्प्रत्यक्षबाधाच्छ्रुतयोऽन्यपरा इति द्वैतप्रत्यक्षस्याद्वैतश्रुतिबाधकत्वखंडनभंगः।

अद्वैतसिद्धिः

तत्तद्धर्माणां ब्रह्मणि प्रतिषेधात्। अतः सर्वधर्मशून्याया एकस्या एव सद्व्यक्तेश्चिदानन्दरूपायाः प्रतिपादनान्न पारिभाषिकोऽयमभेद इति सिद्धम्। तदेवं 'सर्वं ब्रह्माभिन्नमि' ति मते मिथ्याभूतस्य ब्रह्मभेदेऽपि सन्मात्रमेव ब्रह्माभिन्नमिति मते वा न प्रत्यक्षादिविरोधः, नापि पूर्वोत्तरविरोधः॥ इत्यद्वैतश्रुतेर्बाधोद्धारः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न वहाँ दुःखादि धर्मी हैं और न उनका प्रतिकूल वेदनीयत्व स्वभाव, अतः वह पारिभाषिक अभेद नहीं। फलतः 'सर्वं ब्रह्माभिन्नम्'—इस मत में मिथ्याभूत पदार्थों का भेद होने के कारण प्रत्यक्षादि का विरोध नहीं होता अथवा 'सन्मात्रमेव ब्रह्म अभिन्नम्'—इस मत के अनुसार न प्रत्यक्षादि का विरोध होता है और न पूर्वापर श्रुतियों का।

: ३८ :

एकमेवाद्वितीयमिति श्रुत्यर्थविचारः

न्यायामृतम्

किं च "सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवती" त्यत्र सलिलादिपदेन "सदेव सोम्येदमग्र आसीदि" त्यत्र कालप्रापकेण पूर्वेणाग्रपदेन "तदैक्षत नामरूपे व्याकरोदि" तीक्षणनामरूपात्मकप्रपंचप्रापकेणोत्तरेण च द्वैतवाक्येन विरोधः, प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वेनाद्वैतवाक्येनाद्वैतस्येव द्वैतवाक्येनैव द्वैतस्य (सत्य) त्वसिद्धेः। यदि चाविरोधाय द्वैतवाक्यस्य लक्षणादिनाऽद्वैतपरत्वं वाऽतात्त्विकविषयत्वेन व्यवस्था वा तद्विरोधेनाप्रामाण्ये वा, तदा विपरीतं किं न स्यात् ? अपच्छेन्यायादेर्निरासात्। तेन पूर्वस्य द्वैतवाक्यस्य बाधेऽपि परस्याबाधाच्च। पूर्वस्याप्यनुपसंजातविरोधित्वादिना प्राबल्यस्योक्तत्वाच्च। न च सलिलसृष्टिकालेक्षणनामरूपव्याकर्तृत्वादिकं मानान्तरप्राप्तं, येन तद्वाक्यमनुवादकं स्यात्। तस्माद् द्वैतवाक्यमध्यस्थमतद्वैतवाक्यमुपांशुयाजवाक्यमध्यस्थविष्ण्वादिवाक्यवत् पूर्वोत्तरद्वैतवाक्यानुसारेण नेयम्।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—यद्यपि सलिल एको द्रष्टा अद्वैत' इत्यत्र सलिलशब्दस्य तत्सादृश्यात् स्वच्छत्वमात्रपरत्वात् तस्य च सर्वमलासंसर्गित्वस्वरूपस्याद्वैतेऽप्युपपत्तेः, 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दित्यत्र चाग्रपदस्य 'तदैक्षत नामरूपे व्याकरो'दित्यादेश्च कालेक्षणनामरूपात्मकप्रपञ्चप्रापकस्याविद्यकद्वैतविषयकत्वेन वास्तवाद्वैतविरोधित्वाभावः, तथापि 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दित्यनेन इदंशब्दोदितस्य विश्वस्य सदभेदेन सत्त्वमुक्त्वा पुनरद्वितीयपदेन तन्निषेधे व्याघातः, न हि 'सदासी'दित्यस्यासदासीदित्यर्थ इति—चेन्न, सद्व्यतिरेकेण नासीदित्यर्थस्यैव निषेधार्थत्वात्। विवृतं चैतद् भाष्यकारादि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

द्वैतवादी—यद्यपि "सलिल एको द्रष्टा अद्वैतः" (बृह० ४।३।३२) इस श्रुति में 'सलिल' शब्द स्वच्छत्व मात्र का बोधक है, वह सर्व मलासंस्पर्शित्वरूप स्वच्छता अद्वैत ब्रह्म में भी घट जाती है, जैसा कि श्री भाष्यकार ने कहा है—सलिलवत् स्वच्छीभूतः, सलिल इव सलिल एको द्वितीयस्याभावात्" (बृह० भा० पृ० ६२६)। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छां० ६।२।१) इस श्रुति में 'अग्र' पद से काल, 'ऐक्षत्' पद से ईक्षण और 'नामरूपे व्याकरोत्'—इस वाक्य से नामरूपात्मक प्रपञ्च का प्रतिपादन किया गया है। कालादि आविद्यक हैं, अतः उक्त श्रुति आविद्यक द्वैत-परक होने के कारण वास्तविक अद्वैत की विरोधी नहीं। तथापि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'—इस पूर्व भाग का 'एकमेवाद्वितीयम्'—इस उत्तर भाग से विरोध स्पष्ट है, क्योंकि पूर्व भाग से 'इदं सत्'—ऐसा कह कर उत्तर भाग के घटक 'अद्वितीय' पद से उसका निषेध किया जाता है। अर्थात् 'इदं सदासीत्'—इसका 'इदं नासीत्' इस रूप में पर्यवसान कैसे हो सकता है ?

अद्वैतवादी—उक्त श्रुति के घटक 'एव' तथा 'अद्वितीय—इन दो पदों के द्वारा 'सद्व्यतिरेकेण अन्यत् नासीत्'—इस प्रकार का ही निषेध बोधित किया जाता है। आरम्भणधिकरण (ब्र० सू० २।१।१४) में भाष्यकार ने कहा है—'कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः।" भाष्य की व्याख्या में भामतीकार ने कहा है—'तदनन्यत्वमिति न प्रपञ्चस्य सदनन्यत्वं ब्रूमः, किन्तु सद्व्यतिरेकेण प्रपञ्चस्याभावं

न्यायामृतम्

किं च त्वया—

यावत् किंचित् भवेदेतदिदंशब्दोदितं जगत् ।
इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम् ॥

सदेवासीदिति व्याख्यातत्वात् सदभेदेन सत्त्वमुक्त्वा पुनरद्वितीयपदेन तन्निषेधे व्याघातः । न हि सदेवासीदित्यस्यासदासीदित्यर्थः । सद्व्यतिरेकेण नासीदित्यर्थोक्तौ तु सविशेषणे हीतिन्यायेन सदात्मकत्वं स्यात् । किं च न तावदेकशब्देन मिथ्यात्वसिद्धिः, तस्य मानान्तराविरुद्धानेकार्थत्वात्, "एके मुख्यान्यकेवला" इत्यमरोक्तेः । "एको गोत्रे" इत्यत्रैकशब्दोऽयमन्यप्रधानासहायसंख्याप्राथम्यसमानवाचीति कैयटोक्तेश्च । "ष्णांता षडि"ति सूत्रे महाभाष्ये "एकशब्दोऽयं बह्वर्थः, संख्यायाम्—एको द्वौ बहव इति, अस्त्यसहायवाची—एकाग्नय एकहलानीति, अस्त्यन्यार्थे प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेका"—इत्याद्युक्तेश्च । "एको बहूनां यो विदधाति कामानि" त्यादौ संख्यादौ प्रयोगाच्च । भवन्ति च ब्रह्मणि जीवादितोऽन्यत्वप्राधान्यप्राथम्यानि । सृष्ट्यादौ सहायानपेक्षत्वं कुसमयप्राप्तनिर्गुणत्वनिषेधायैकत्वसंख्याविधिः । नानारूपेषु निर्दोषत्वेन

अद्वैतसिद्धिः

भिरारम्भणाधिकरणे । न च—सद्व्यतिरेकेणासत्त्वोक्तौ सदात्मना सत्यत्वमागच्छतीति—वाच्यम्, आगच्छतु नाम, को हि ब्रह्माभिन्नस्यासत्त्वसाधनाय प्रवृत्तो यो बिभीयात् । अद्वैतवाक्यस्य च षड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्तया बलवत्त्वेनाविद्यकद्वैतप्रतिपादकत्वं सृष्ट्यादिवाक्यानामिति श्रवणस्वरूपनिरूपणे वेदान्तकल्पलतिकायामभिहितमस्माभिः, इहाप्यभिधास्यते षड्विधतात्पर्यलिङ्गानि प्रदर्शयद्भिः । अत एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञयोपक्रमात् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी'त्युपसंहाराच्च अद्वैतस्यैव महाप्राकरणिकतया तदनुसारेण तद्वाक्यस्थपदानां व्याख्येयत्वावधारणात्, नानार्थपदानामर्थान्तरोपस्थापकत्वसंभवेऽपि प्रकृतवाक्यार्थानन्वयितया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ब्रूमः ।' 'यदि द्वैत का सद्भिन्नत्वरूप से निषेध किया जाता है, तब सद्रूपत्वेन सत्यत्व की विधि माननी पड़ेगी'—इस आपत्ति से वही व्यक्ति भयभीत हो सकता है, जो कि द्वैत को ब्रह्माभिन्न मान कर भी असत् कहता हो, हम अधिष्ठान से अतिरिक्त असत् और अधिष्ठानाभिन्नरूप से अध्यस्त को सत् ही मानते हैं । अद्वैत-वाक्य तात्पर्य-ग्राहक उपक्रमादि षड्विध लिङ्गों से युक्त होकर बलवान् हो जाते हैं, अतः उनकी प्रतियोगिता में सृष्ट्यादि-प्रतिपादिक वाक्यों का केवल आविद्यक द्वैत के प्रतिपादन में तात्पर्य माना जाता है—यह वेदान्तकल्पलतिका के श्रवण-स्वरूप-निरूपण के प्रकरण में विस्तार से कहा गया है, यहाँ (अद्वैतसिद्धि के द्वितीय परिच्छेद में) षडविध तात्पर्य-ग्राहक लिङ्गों का प्रदर्शन कराते हुए कहा जायगा । अतः 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातम्" (छां० ६।१।२) इस प्रकार एक के विज्ञान से सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा से उपक्रम कर "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा (छां. ६।१६।३) इस प्रकार के उपसंहार से यह निश्चित है कि अद्वैत तत्त्व ही महाप्राकारणिक (प्रधान प्रतिपाद्य) वस्तु है, उसके अनुरूप ही प्रकरणगत पदों का व्याख्यान करना होगा । यद्यपि नानार्थक पदों के द्वारा अर्थान्तर की उपस्थिति कराई जा सकती है, तथापि उस अर्थान्तर का प्रकृत अद्वैतरूप अर्थ के साथ जोड़-मेल न होने के कारण परित्याग

न्यायामृतम्

समानत्वं च । मन्मते एकं रूपमेको भाव इत्यादावपि संख्यार्थ एव । अत एवोत्तरत्र जीवादिष्वसंभावितजगत्स्रष्टृत्वादिनान्यत्वादिसमर्थनम् । किं च त्वयापि—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयश्शिलादितः ॥
तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते ।
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ॥

इति वदतैकशब्दस्य स्वगतभेदनिषेधकत्वेन व्याख्यातत्वान्न तेन मिथ्यात्वसिद्धिः ।

अद्वितीय शब्दोऽपि कर्मधारयो बहुब्रीहिर्वा ? आद्ये ब्रह्म द्वितीयं न चेत् , तृतीयं प्रथमं वा स्यात् । नांत्यः, प्राथम्येन कर्मधारये सम्भवति जघन्यस्य बहुब्रीहेरयोगात् ।

अद्वैतसिद्धिः

तत्परित्यागेन प्रकृतवाक्यार्थानुकूलपदार्थोपस्थितिपरत्वमेवास्थेयम् । तत्र न द्वितीयमद्वितीयमिति तत्पुरुषाभ्युपगमे न द्वितीयम् , किंतु प्रथमं तृतीयं वेत्यर्थः स्यात् , स च न संभवति, तयोरपि किंचिदपेक्ष्य द्वितीयत्वाद् , अतो न विद्यते द्वितीयं यत्रेति बहुब्रीहिरेवादरणीयः । न च—एकेनैवाद्वितीयपदेन भेदत्रयनिषेधसंभवे एकावधारणपदयोर्वैयर्थ्यमिति—वाच्यम् , विजातीयं किंचिदपेक्ष्य द्वितीयत्वावच्छिन्ननिषेधस्याद्वितीयशब्दार्थत्वात् । अयं चात्र सङ्कोचो बलीवर्दपदसन्निधानाद् गोपद इव सजातीयस्वगतभेदनिषेधकैकावधारणपदसन्निधिप्रयुक्त एव । तदुक्तम्—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः ॥
तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते ।
एकावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ॥' इति ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

करके प्रकृत वाक्यार्थ के अनुकूल ही सभी पदों की अर्थोपस्थापकता माननी पड़ेगी ।

अतः 'अद्वितीयम्'—इस पद में न द्वितीयोऽद्वितीयः'—इस प्रकार नञ्तत्पुरुष समास मानने पर 'द्वितीयं न, किन्तु प्रथमं तृतीयं वा'—यह अर्थ प्राप्त होता है, जो कि सम्भव नहीं, क्योंकि प्रथम और तृतीय भी अपनी पूर्ववर्ती इकाई की अपेक्षा द्वितीय ही ठहरते हैं, अतः 'ब्रह्म द्वितीयं न, किन्तु प्रथमं तृतीयादिकं वा'—यह अर्थ 'अद्वितीय' पद का नहीं किया जा सकता, अतः 'न विद्यते द्वितीयं यत्र'—इस प्रकार बहुब्रीहि समास को ही अपनाना होगा । 'उक्त श्रुतिगत 'अद्वितीय' पद से ही जब सकल (त्रिविध) भेद का निषेध हो जाता है, तब श्रुति-घटक 'एक पद और एवकार की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यत्किञ्चिद् विजातीय वस्तु की अपेक्षा द्वितीय पदार्थ अर्थात् विजातीय-भेद मात्र का निषेध ही अद्वितीय से होता है, भेदत्रय का नहीं । यहाँ पर गोबलीवर्द-न्याय से द्वितीय पद का केवल विजातीय द्वितीय अर्थ में संकोच किया जाता है [जैसे 'गामानय बलीवर्दं च'—इस वाक्य के 'गो' पद से ही बलीवर्द (बैल) की भी उपस्थिति होती है, तथापि 'बलीवर्द' पद के सन्निधान में 'गो' पद बैलों से भिन्न केवल गाय के अर्थ में संकुचित माना जाता है, वैसे ही 'एक' और 'एव' पदों के सन्निधान में 'अद्वितीय' पद केवल विजातीय द्वितीय का ही बाधक माना जाता है] । सजातीय-भेद का निषेध 'एक' पद तथा स्वगत-भेद का निषेध

न्यायामृतम्

द्वितीयावन्यदद्वितीयमिति "अनपुंसकस्ये" त्यादाविव "नार्षेयं वृणीत" इत्यादाविव च पर्युदासार्थत्वेनैकवाक्यत्वसम्भवे प्रसज्यप्रतिषेधार्थत्वेनैकवाक्यभेदायोगाच्च। अघटं भूतलमितिवद् द्वितीयाभावेनैव सद्वितीयत्वापाताच्च, तस्यापि निषेधे व्याघातात्। "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषदि"ति श्रुत्यन्तरेऽन्यस्य सविशेषणे हीति न्यायेन निमिषत्वेनैव निषिद्धत्वे "छागो वा मंत्रवर्णादि"ति न्यायेनेहापि मिषत्वेनैव निषेद्धव्यतया स्वरूपेणैव निषेधासिद्धेश्च। किं च नञा द्वितीयात्यंताभावोक्तौ अग्र इति व्यर्थं। नापि प्रागभावोक्तिः, मिथ्यात्वासिद्धेः। त्वन्मतेऽप्याविद्याकर्मादेस्तदासत्वाच्च।

अद्वैतसिद्धिः

स्वगतभेदः नानात्वरूपजीवेश्वरभेदः। सजातीयभेदोऽत्र द्रव्यत्वादिना सजातीयपृथिव्यादिभेदः। विजातीयभेदो गुणादिभेदः। अथवा—जडभेदो विजातीयभेदः। चैतन्यभेदः सजातीयभेदः। ज्ञानानन्दादिधर्मभेदः स्वगतभेदः। यदि च "अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते, नाश्वो न गर्दभ" इति महाभाष्यानुसारात् समानजातीयद्वितीयपरत्वं द्वितीयशब्दस्य, तदा अद्वितीयशब्दस्य सजातीयभेदनिषेधपरत्वम्, विजातीयस्वगतभेदनिषेधपरत्वं तु एकावधारणपदयोर्यथेष्टं व्याख्येयम्। अथवा अद्वितीयपदेनैव भेदत्रयनिषेधः, एकावधारणपदे तु सङ्कोचशङ्कापरिहाराय।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

एवकार से होता है, जैसा कि विद्यारण्य स्वामी ने पंच महाभूत (२०-२१) में कहा है—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।
वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादितः॥
तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते।
एवावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात्॥

[अर्थात् जैसे एक वृक्ष में तीन प्रकार के भेद रहते हैं—(१) स्वगत (वृक्षवृत्ति) शाखा-पत्रादि से भेद 'स्वगत-भेद' (२) सजातीय वृक्षान्तर से भेद 'सजातीय-भेद' तथा शिला-जलादि विजातीय पदार्थों से भेद 'विजातीय-भेद'। इसी प्रकार] ब्रह्म में

(१) नानात्वरूप जीव-ईश्वर-भेद को स्वगत भेद (२) द्रव्यत्वादि जाति के द्वारा सजातीयभूत पृथिव्यादि से भेद तथा (३) विजातीय गुणादि से भेद। अथवा जड़ जगत से भेद विजातीय-भेद, जीवादि चैतन्य से भेद सजातीय भेद और ज्ञान-आनन्दादि धर्म-भेद स्वगत भेद है, जैसा कि पंचपादिकाकार ने कहा है—"आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः" (पंचपा पृ० २३)। यदि "अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते, नाश्वो न गर्दभ" (महाभाष्य० १।१।२४) [अर्थात् इस बैल की जोड़ी का कोई द्वितीय (दूसरा) खोजा जाय—इस प्रकार के वाक्य में 'द्वितीय' पद से बैल रूप सजातीय द्वितीय का ही ग्रहण होता है, विजातीत अश्वादि का नहीं] इस पातञ्जल भाष्य के अनुसार 'द्वितीय' पद सजातीय द्वितीय का ही बोधक माना जाता है, तब श्रुतिगत 'अद्वितीय' पद सजातीय-भेद-निषेधक है, विजातीय-भेद और स्वगत-भेद का निषेध 'एक' और 'एव' पदों के द्वारा यथेष्ट मान लेना चाहिए। अथवा 'अद्वितीय' पद के द्वारा ही तीनों भेदों का निषेध हो जाता है, 'एक' और एवकार—दोनों पद क्रमशः सङ्कोच-शङ्का तथा उसके

न्यायामृतम्

किं च द्वितीयशब्दस्सहायवाची, "असिद्वितीयोनुससार पांडव" मितिप्रयोगात्, "असिद्वितीयः असिसहाय इति गम्यत" इति महाभाष्योक्तेश्च। तथा चाद्वितीयमसहायमित्यर्थोऽस्तु। यद्वा द्वितीयशब्दः प्रकृतसमान एव द्वितीये व्युत्पन्नः, न तु तत्र तस्य संकोचः। लोके "अस्मिन्ग्रामेऽयमेक एवाद्वितीय" इति। स्मृतौ च—

एक एवाद्वितीयोऽसावश्वमेधः क्रतुष्वपि।
एक एवाद्वितीयोऽसौ प्रणवो मंत्र उच्यते॥ इति प्रयोगात्।

महाभाष्ये च "अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते सदृशो गौरेवोपादीयते नाश्वो न गर्दभ इत्युक्तेश्च। शाङ्करभाष्ये च 'अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यतेऽनाश्वः पुरुषो वे"त्युक्तेश्च। "समे द्वितीयशब्दः स्यादि"ति स्मृतेश्च। द्वितीयशब्देन द्वितीयमात्रोक्तौ अद्वितीयशब्देनैव स्वेतरसर्वनिषेधसंभवेन सजातीयनिषेधकैवशब्दादिवैयर्थ्याच्च। तदवैयर्थ्याय द्वितीयशब्दस्य विजातीयपरत्वेन संकोचे चाग्र इत्यनेनाविरोधाय समद्वितीयपरत्वेन संकोचः स्यात्। तथा च समाभ्यधिकराहित्यमेवाद्वितीयशब्दार्थः। "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत" इति श्रुतेः, "न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक" इति स्मृतेश्च। एक एवाद्वितीयो भगवांस्तत्सदृशः परो नास्ती"ति श्रुतौ—

ज्ञानानन्दाद्यभिन्नत्वादेकः सर्वोत्तमत्वतः।
अद्वितीयो महाविष्णुः पूर्णत्वात्पुरुषः स्मृतः॥
भेदाभेदनिवृत्त्यर्थमेवशब्दोऽवधारकः।

अद्वैतसिद्धिः

यत्तु केनचित् प्रलपितं—द्वितीयशब्दः सहायवाची, 'असिद्वितीयोऽनुससार पाण्डव'मिति प्रयोगात्, 'असिद्वितीयः असिसहायः' इति महाभाष्योक्तेश्च, तथा चाद्वितीयमसहायमित्यर्थोऽस्तु, एवमेकशब्दस्यापि नानार्थत्वेनाविरुद्धार्थमादायोपपत्तौ न मिथ्यात्वपर्यवसायिताऽऽस्थेया। तथा च 'एके मुख्यान्यकेवला' इत्यमरः, 'एकशब्दोऽयमन्यप्रधानासहायसङ्ख्याप्रथमसमानवाची'ति 'एको गोत्र'इति सूत्रे कैयटः। 'ष्णान्ता षडि'ति सूत्रे महाभाष्यकारोऽपि—एकशब्दोऽयं बह्वर्थः, अस्ति सङ्ख्यार्थः, अस्त्यसहायवाची, अस्त्यन्यार्थ' इत्यादि व्याख्यातवान्। तथा च जीवादिभ्योऽन्यत्वं प्राधान्यं वा

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

परिहार के लिए प्रयुक्त माने जा सकते हैं।

यह जो किसी का प्रलाप है कि "असिद्वितीयोऽनुससार पाण्डवम्" (किरात०) इस प्रयोग के आधार पर 'द्वितीय' पद साहाय-वाची निश्चित होता है, क्योंकि वहाँ 'असिद्वितीयः' का अर्थ 'असिसहायः' किया जाता है, महाभाष्यकार ने भी कहा है—"असिद्वितीयः असिसहायः"। इस प्रकार अद्वेत-श्रुतिगत 'अद्वितीय' पद का असहाय अर्थ होता है। इसी प्रकार 'एक' शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं, उनमें किसी मुख्यादि अविरोधी अर्थ को लेकर जब श्रुत्यर्थ उपपन्न हो जाता है, तब 'एक' शब्द का मिथ्यात्व में पर्यवसान नहीं माना जा सकता। श्री अमरसिंह ने कहा है—"एके मुख्यान्यकेवलाः।" "एको गोत्रे" (पा० सू० ४।१।९३) के भाष्य की व्याख्या में आचार्य कैयट ने कहा है—"एक शब्दोऽयन्यप्रधानासहायसंख्याप्रथमसमानवाची।" "ष्णान्ता षट्" (पा० सू० १।१।२४) के भाष्य में भी कहा गया है—"एकशब्दोऽयं बह्वर्थः, अस्ति संख्यार्थः, अस्त्यसहायवाची, अस्त्यन्यार्थः।" अतः जीवादि की अपेक्षा

न्यायामृतम्

इति स्मृतौ च व्याख्यातत्वाच्च। द्वितीयाभावस्य भावाभावाभ्यां व्याघातेनाद्वितीय-शब्दस्य तत्परत्वासम्भवाच्च। उक्तं च—

यथा चोलनृपस्सम्राडद्वितीयोऽस्ति भूपतिः।
इति तत्तुल्यनृपतिनिवारणपरं वचः।
न तु तद्भ्रातृतत्पुत्रकलत्रादिनिवारकम्॥ इति।

तस्मात्— एक एवाद्वितीयोऽसावाकाशे सवितेति वत्।
एकमेवाद्वितीयं सदग्र इत्यपि योज्यताम्॥

किं च— अधिकं हि विजातीयं सजातीयं समं भवेत्।
गुणादिकं तु स्वगतं तद्भेदोऽत्र निषिध्यते॥

एकमेवेति श्रुत्यर्थः।

अद्वैतसिद्धिः

एकशब्दार्थोऽस्तु। एवमन्यान्यपि श्रुतिपदानि व्याख्येयानि—इति। तत् पूर्वोक्तयुक्तिभिरपास्तम्। विस्तरेण च वक्ष्यते तात्पर्यनिरूपणे। तदेवं सद्रूपे ब्रह्मणि पदत्रयेण भेदत्रयनिषेधात् तद्भिन्नमिथ्यात्वे पर्यवसितं 'एकमेवाद्वितीय'मिति वाक्यम्। एवमन्या अपि श्रुतयः स्मृतयश्च ग्रन्थविस्तरभयान्नोदाहृताः। स्वयमेव सूरिभिराकरे द्रष्टव्याः॥

इत्यद्वैतसिद्धौ सर्वाद्वैतश्रुतेः अद्वैततात्पर्यकत्वनिर्णयः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ब्रह्मगत अन्यत्व या प्राधान्य को ही 'एक' शब्द का अर्थ मानना चाहिए। इसी प्रकार अन्यान्य श्रुति-पदों की व्याख्या द्वैतवाद के अनुरूप की जा सकती है।

वह प्रलपित पूर्व-चर्चित उपक्रमादि के आधार पर निश्चित मुख्य प्रकरणार्थ के अनुरूप पदों का अर्थ करने पर स्वयं ही निरस्त हो जाता है। श्रौततात्पर्य-निरूपण के अवसर पर विस्तार से इस विषय पर प्रकाश डाला जायगा। फलतः सद्रूप ब्रह्म में 'एकमेवाद्वितीयम्'—यह वाक्य अपने तीनों पदों के द्वारा तीनों भेदों का निषेध करके ब्रह्म-भिन्न प्रपञ्च के मिथ्यात्व में पर्यवसित होता है। इसी प्रकार अन्य श्रुति और स्मृति के वाक्यों की व्याख्या कर लेनी चाहिए, ग्रन्थ-विस्तार के भय से उन सभी वाक्यों का प्रस्तुतीकरण सम्भव न हो सका, विद्वानों को चाहिए कि पूर्व पक्ष ग्रन्थ में उट्टङ्कित वाक्यों का मूल ग्रन्थों में निर्णीत अर्थ देख लें।

[न्यायामृतकार ने यहां (१) "नेह नानास्ति" (कठो० ४।११), (२) "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्" (बृह० उ० ४।१।१५), (३) "यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति" (बृह० उ० ४।३।२३), (४) "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छां० ६।१।४), (५) "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृह० उ० ३।४।६), (६) तस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्" (श्वेता० ३।९), (७) "मायामात्रमिदं सर्वम्" (मां० का० १।१७), (८) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१।१), (९) "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृह० उ० २।५।१५), (१०) "अतोऽन्यदार्त्तम्" (बृह० उ० ३।४।२) एवं ऐसे ही कुछ पुराण-वचनों की अद्वैत-परता का निरास किया है, उसकी ओर संकेत करके कहा है कि "एकमेवाद्वितीयम्"—इस श्रुति में प्रदर्शित तर्क-पद्धति का सहारा लेकर उन वचनों का भी उद्धार किया जा सकता है]।

: ११ :

नेह नानेति श्रुत्यर्थविचारः

न्यायामृतम्

नापि "नेह नानास्ति किंचन" (कठो० ४।११) इति श्रुतिस्तत्र मानम्, अत्र स्वगतभेदनिषेधात्, नानाशब्दो हि नानात्वार्थः पृथगेकयोरित्यादिवद्भावप्रधानत्वात्, लोके च नानाशब्दस्य पृथग्भाववाचित्वादिति कैयटोक्तेश्च। "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदनु इहे" (कठो० ४।१०) इति पूर्ववाक्ये इदमाद्यर्थांगीकारेण तन्निष्ठब्रह्माभेदस्यैव उक्तेश्च। अन्यथा इदं चादश्च नेति श्रूयते। न च स्वगतभेदस्याप्रसक्तिः। जगज्जन्मादिकारणे ब्रह्मणि गुरुतरविचित्रकार्यभेदेन अन्तर्यामिणि च नियम्यानन्त्येन स्थानभेदेन च "यदेकमव्यक्तमनन्तरूप" मिति अनेकत्वश्रुत्या च अवतारेषु प्रतिविग्रहं प्रत्यक्षादिना गुणगुण्यादौ च तार्किकभाट्टरीत्या गुणगुणित्वेन ज्ञानानन्दादौ चापर्यायशब्दवाच्यत्वैकतरपरिशेषाभावादिना सर्वत्र च "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय" इत्यादिश्रुतितात्पर्याज्ञानेन च तत्प्रसक्तेः। किं च नेहेति वाक्यात् पूर्वं बृहदारण्यके "तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिंगलं हरितं लोहितं चे" त्यादिना भगवतोऽनेकरूपाणि "यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मे" त्यादिना ज्ञानादिधर्माः, काठके च "गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यजायते" त्यनेकावतारा "महान्तं विभुमात्मान" मित्यादिना चानेकधर्माश्चोक्ता इति कथं तदप्रसक्तिः? दृष्टश्चैकस्मिन्नेव वृक्षे पत्रशाखादिवत्प्रसक्तस्य स्वगतभेदस्य एको देवस्सर्वभूतेष्वि" त्यादि श्रुतौ—

> ब्रह्मदयो हि भूतानि तेषामन्तर्गतो हरिः।
> समस्ससर्वभूतेषु य एवं वेद तत्त्ववित्॥

इति महाभारते च निषेधः। अन्यथा परपक्षेऽप्यखण्डवादानारम्भः स्यात्। अनुभूतिर्ननाना, अनुभूतित्वादुपाधिभेदमन्तरेणाविभाव्यमानभेदत्वादित्याद्यनुमानैः स्वगतभेदनिषेधश्च न स्यात्। "एकमेवाद्वितीय" मित्यादावेकपदेन स्वगतभेदनिषेधोक्तिश्च न स्यात्, प्रत्युत परमत एव धर्माधर्मस्वर्गनरकाद्यंशे अप्रसक्तप्रतिषेधः। इहेति च विशेषणान्न नानात्वमात्रनिषेधः। इमौ स्निग्धावस्मिन् ग्रामे न विरोध इत्यादाविवेदंशब्दोपात्तस्य ब्रह्मण एव धर्मित्वेन प्रतियोगित्वेन च सम्बन्धसम्भवे तदनुपात्तस्य धर्मित्वेन वा प्रतियोगित्वेन वा सम्बन्धायोगात्। विधेयोद्देश्ययोर्नानात्वनिषेधतदाधारब्रह्मणो निषेध्यनिषेधयोर्नानात्वतदभावयोश्च भेदावश्यम्भावाच्च। काठके "तं वेदास्सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चने"ति पूर्वत्र "मध्य आत्मनि तिष्ठती"ति "यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति।" इति उत्तरत्र च भेदप्रमितेश्च। किं च न शब्दस्तु गुणगुण्यवयवावयवित्वादिप्रयुक्तानेकनानात्वाभिप्रायः, अन्यथा उक्तदोषात्। भवितृप्राधान्येऽपि (नानाशब्दस्य) किं चनशब्दप्रकृतधर्मादिपर एव सर्वनामत्वात्। सर्वेभ्य इत्यत्र सर्वशब्दवदुद्देश्यसमर्पकत्वाच्च। व्रीहीन्वहन्तीत्यत्र व्रीहिशब्दवद् व्यक्तिवाचित्वाच्च। आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठत" इत्यत्राग्नेयीशब्दवत्। एवं धर्मान्पृथगिति विशेषशब्दसन्निहितसामान्यशब्दत्वाच्च। घृतशब्दसन्निहिताक्तशब्दवत्। एवं च—

> वाक्यशेषस्थधर्माख्यविशेषे पर्यवस्यति।
> किं च नेति हि शब्दोऽयमक्ताशब्दो घृते यथा॥

न्यायामृतम्

यथा चेह ब्रह्मणि किंचन धर्मादिकं नाना नास्तीत्युक्ते धर्माणां नानात्वमेव निषिद्धं स्यात् , सविशेषणे हीति न्यायात् , "लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति न जीर्णमलवद्वासाः स्नातकः स्यादि" त्यादौ दर्शनाच्च । अत एवोक्तं "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषण" इति ।

एकदेशापवादेन कल्प्यमाने च बाधके।
न सर्वबाधनं युक्तमितिन्यायविदः स्थिताः ॥ इति च ।

धर्माणां स्वरूपेण निषेधे हि नानेति पृथगिति च व्यर्थं स्यात् । तथा चात्र ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वपक्षः धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेदपक्षः भेदाभेदपक्षश्च निरस्तः । किं च त्वद्रीत्या किंचनविश्वं नाना नास्तीत्युक्तेऽप्यविनाभूतमस्तीत्येवार्थः । नानाशब्दो हि विनेत्यर्थे वर्तते "विनञ्भ्यां नानाञौ न सहे"तिसूत्रे "असहार्थे पृथग्भावे वर्तमानाभ्यां विनञ्भ्यां स्वार्थे नानाञौ प्रत्ययौ भवत" इतिवृत्तौ "न सहेति प्रकृत्यर्थविशेषणमेतत् । विनञ् इत्येताभ्यां न सहार्थवाचिभ्यां नानाञौ भवतः कस्मिन्नर्थे ? स्वार्थ" इति महाभाष्ये च विनानानाशब्दयोरेकार्थत्वोक्तेः । "पृथग्विनान्तरेणर्ते हिरुङ् नाना च वर्जने" इत्यमरोक्तेश्च । नानाविष्णुं (विष्णुं नानामो) मोक्षदो नास्ति देवः" इत्यमरव्याख्यायां नानाशब्दस्य विनार्थत्वेनोदाहृतत्वाच्च । "न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचर"मिति स्मृतेश्च । विनार्थस्य च नानाशब्दस्य सम्बन्धिशब्दतया ब्रह्मण एव प्रति सम्बन्धित्वेनान्वयोपपत्तेश्च । न च धूमोऽग्निं विना नेत्युक्ते मिथ्येति सिद्धयति । एवं च—

नानेत्यस्य विनार्थत्वाद्विनाभूतं निषिध्यते ।
अविनाभूतमस्तीति सत्त्वैवार्थात्तु लभ्यते ॥

किं च विश्वं ब्रह्मणि नास्तीत्युक्तेऽपि न मिथ्यात्वसिद्धिः, ब्रह्मणोऽन्यत्र स्वोपादने प्रकृत्यादौ सत्त्वसम्भवात् । ब्रह्म च नोपादानमिति वक्ष्यते , अन्यथेहेति व्यर्थम् । अथ "यस्मिन्द्यौः पृथिवी चे"त्यादिश्रुतेर्ब्रह्मण्यप्यस्ति विश्वम् , तर्हि तद्विरोधादेव न तत्र तन्निषेधः । एतद्वाक्यस्य मिथ्यात्वाभिप्रायत्वे च बृहदारण्यके "यस्मिन् पंच पंचजना आकाशश्च प्रतिष्ठित" इति पूर्वेण "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानां सम्भेदाये"त्युत्तरेण काठके च "ईशानं भूतभव्यस्ये"तिपूर्वेण "ईशानो भूतभव्यस्ये"त्युत्तरेण च वाक्येन विरोधः स्यात् । एवं च—

अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा ।
व्याख्यात्रयादृशी तादृक् नेह नानेति च श्रुतेः ॥

एतेन "मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती"तिपूर्ववाक्यमपि व्याख्यातम् , तत्र चेवशब्दो भेदाभेदपरः—

भवेदेकत्र संयोग इव शब्दो विरुद्धयोः ।
धर्मयोरुपमायां वा स्वल्पत्वे वा विवक्षितम् ॥

इति वचनात् । अन्यथा यो नानेव पश्यति न तु वस्तुतो नानेतिपरानिष्टार्थः स्यात् ।

केचित्तु सर्वस्यापि जडाजडस्य ब्रह्मशरीरत्वेन तद्विशेषणत्वाद्विशिष्टं ब्रह्म द्वितीयरहितमिति "एकमेवाद्वितीयं नेहनाने"त्यादिश्रुतेरर्थ इत्याहुः । अन्ये तु परमते

न्यायामृतम्

"सर्वगन्धस्सर्वरस" इत्यादिश्रुतिरिवाद्वितीयमित्यादिकमपि नाम्नि ब्रह्मत्वस्येवा-विद्यमानस्योपासनार्थं, न त्वर्थतत्त्वनिष्ठमित्याहुः। इतरे तु प्रपंचेऽभिनिवेशनिषेधपरं तन्मिथ्यात्वश्रुतिरित्याहुः। नेह नानेतिश्रुत्यर्थः।

: ४० :

यत्र त्वस्येति श्रुत्यर्थविचारः

नापि "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृह० उ० ४।१।१५) इति श्रुतिस्तत्र मानं। अत्र हि पूर्वत्र "स यथा सैन्धवखिल्य" इत्यादिना सैंधवखिल्यस्य समुद्र इव विज्ञानघनजीवस्य ब्रह्मणि स्थितिर्मोक्षे इति स्वमत-मुक्तम्। न ह्यत्रोदकराशिस्समुद्रः, किं तु तटाकादिवत्तदाश्रयः खातो वरुणो वा, पूर्वत्र "स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम्" (बृह० उ० २।४।११) इत्युक्तेः। न चाऽऽप एवाऽपामयनं। न चेश्वरस्थानीयाभ्यां खातवरुणाभ्यां सैंधवखिल्य-स्याभेदः। नापि पूर्वमुक्तस्थानीयाभिरद्भिः। एतच्च जीवेशभेदवादे वक्ष्यते। उक्तं च—"समुद्रजलस्थानीयामुक्ता बहवः एकस्वभावा वरुणवदपां खातवद्वा अन्ततो पारो भगवानि"ति। एवं श्रुतिः स्वमतमुक्त्वा "अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्मे"ति वाक्ये अविनाशीत्यनेनात्मनाशो मोक्ष इति बौद्धमतमनुच्छित्तिधर्मेत्यनेनाशेषविशेष-गुणोच्छेदो मोक्ष इति वैशेषिकमतं च निरस्याद्वितीयचिन्मात्रावशेषो मोक्ष इति मतेऽनिष्टं प्रसंजयितुं "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यती"—त्यादिना प्रसंगांगव्य-तिरेकव्याप्तिमुक्त्वा "यत्र त्वस्ये"त्यादिना यत्र येषां मते त्वात्ममात्रावशेषः, तत् तर्हि केन कं पश्येत् न केनापि किंचित्। तथा चेष्टस्य रूपादेरीश्वरस्य स्वस्य चाज्ञानाद-न्धादेरिवातिदुःखं मोक्षे स्यादित्यनिष्टप्रसंगोऽत्राभिप्रेतः। उक्तं हि महाभारते— "मग्नस्य हि परेऽज्ञाने किं न दुःखतरं भवेदि" ति। अन्यथा न विद्यते उच्छित्तिर्येषां ते अनुच्छित्तयः, अनुच्छित्तयो धर्मा यस्यासावनुच्छित्तिधर्मेति धर्मानुच्छित्त्युक्तिविरोधः स्यात्, अनुच्छित्तिधर्मो यस्येति विग्रहे च अविनाशीत्यनेन पुनरुक्तिः। अनुच्छित्ति-रित्येतावतैव पूर्णत्वेन धर्मशब्दवैयर्थ्यं च। यत्र हि द्वैतमिवेत्यत्र इवशब्दस्तु द्वैतस्य परमते मिथ्यात्वात् पररीत्या चापादनीयत्वादल्पत्वाद्वा पुराणे "दशरात्रैर्भुक्तमिव न सम्यक्स्वल्पभोजना" दिति। लोके च अल्पज्ञे अयं विद्वानिवेति प्रयोगाच्च। "इवोपमायां स्वल्पार्थे" इत्यमरोक्तेः, "उपमार्थे तथाल्पत्वे इव शब्दः प्रयुज्यत"इति वचनाच्च। अन्यथा वाक्यशेषे सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनस्सर्वं वेदेति सर्वाधारत्वोक्तिः स यथा दुदुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दानिति स यथार्द्रेन्धनाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा इति च भिन्नानां समसत्ताकानां च दुन्दुभितच्छब्दाग्निधूमादीनां दृष्टान्ता-नामुक्तिश्चायुक्ता स्यात्। न हि दुंदुभ्यादौ तच्छब्दादिरध्यस्तः, किं तु तदधीनः। अन्ये तु मोक्षे देहेन्द्रियादिहीनस्य केवलस्यात्मन एव भावात् सर्वविषयज्ञाननिषेधकमिदं वाक्यं न तु प्रपंचमिथ्यात्वपरमित्याहुः। यत्र त्वस्येति श्रुत्यर्थः।

: ४१ :

न तु तद्द्वितीयमिति श्रुत्यर्थविचारः

नापि "यद्वैतं पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते

न्यायामृतम्

अविनाशित्वात् न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्'' (बृह० उ० ४।३।२३) इति श्रुतिस्तत्र मानं। पूर्वत्र हि ''शुक्लस्य नीलस्य पिंगलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा'' इति नाडीस्थभगवन्मूर्तीनां विलक्षणरूपत्वमुक्तन्तेन तद्रूपाणामभेदः प्राप्तः तथा ''तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकाममरूपमितिषष्ठ्या रूपरूपिभेदश्च तन्निरासार्थं भगवद्रूपादीनामभेदोऽत्रोच्यते। ''हृदयं ब्रह्मे''ति श्रुत्या तस्यैतदेव निरुक्तं हृदय'' मित्यादिश्रुत्या च ब्रह्मणि प्रसिद्धेन हृदयननिमित्तकेन ''हृदयस्य भवती''ति पूर्वत्र हृदयशब्देन निर्दिष्टं ब्रह्म यत्स्वगुणादिकं द्वैतं स्वस्माद् भिन्नं न पश्यति, तद्द्वितीयं नास्ति द्वितीयत्वेन नास्ति, कुतः? पश्यन्सर्वज्ञ एव सन्नीश्वरो न पश्यति। न हि द्रष्टुरीश्वरस्य दृष्टेर्विपरिलोपो बाधो विद्यते नित्यत्वात्। यत्तु जीवजडादिकं स्वस्माद्विभक्तं पश्येत्ततोऽन्यदिति श्रुत्यर्थप्रतीतेः पश्यतीतिदर्शनकर्तुरेव पदिन्यायेन यद्द्वैतमित्यत्र प्रतियोगित्वेनान्वयात् यद्द्वैतमिति यच्छब्दस्य न तु तदितिव्यवहिततच्छब्दान्वयस्तु ''यत्तदोस्साकांक्षत्वादाकांक्षायाश्च सन्निधानाद्बलीयस्त्वाद्युक्तः। उक्तं हि जैमिनिसूत्रे ''आनन्तर्यमचोदने''ति वार्तिके च—

यस्य येनार्थसंबंधो दूरस्थेनापि तेन सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्॥ इति।

अन्यथा यद्विभक्तं तन्नास्तीत्येतावता पूर्णत्वेन शेषवैयर्थ्यं कथं च त्वत्पक्षे चैतन्यमात्रे ''न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपः, न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपः, न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोप'' इत्यादिनोक्तं दृष्टित्वघ्रातित्वस्पृष्टित्वादिकं द्रष्टृत्वादिसम्बन्धश्च। किं च पूर्वत्र ''यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तस्संहत्य पक्षौ सल्लयायैव ध्रियते एवमेवायं पुरुष'' इति। ''तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न वाह्यं किंचन वेद नान्तरम्, एवमेवायं पुरुष'' इति भिन्नस्य नीडश्येनस्त्रीपुरुषादिदृष्टान्तोक्तिः ''प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्त'' इति जीवेशभेदोक्तिश्चायुक्ता स्यादिति। न तु द्वितीयमस्तीतिश्रुत्यर्थः।

: ४२ :

वाचारम्भणश्रुत्यर्थविचारः

नापि ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'' (छा० ६।१।४) इति श्रुतिस्तत्र मानम्। वाचारम्भणशब्दस्य मिथ्यात्वे रूढेरभावात्। आरभ्यत इत्यारम्भणमिति योगेऽपि कृद्योगे तृतीया अयोगात्, वाचारब्धकाव्यादेरिव मिथ्यात्वालाभाच्च। वागालम्बनमात्रमिति व्याख्याने अश्रुतकल्पनाद् अक्षरसाम्येन निर्वचनेऽपि मात्रशब्दाश्रवणात्। त्वया नामधेयमित्यस्यापि नाममात्रं ह्येतदितिव्याख्यातत्वेन पौनरुक्त्याच्च। मृत्तिकेत्यत्रार्थविवक्षायामितिशब्दवैयर्थ्याच्च। पदार्थविपर्यासे खल्वत्रेतिशब्दः स च शब्दप्रकरणे प्रसक्तं शब्दपदार्थकत्वं निवार्यार्थपदार्थकत्वं व्यवस्थापयति यथा ''न वेति विभाषे''ति। अर्थप्रकरणे तु शब्दपदार्थकत्वं यथा गौरित्ययमाहेति। उक्तं हि महाभाष्ये—''न वेति विभाषेत्यत्र इतिकरणः क्रियते सोऽर्थनिर्देशार्थो भविष्यति तद्यथा गौरित्ययमाहेति गोशब्दादितिकरणः प्रयुज्यमानः गोशब्दं स्वस्मात्पदार्थात्प्रच्यावयति सोऽस्मात्प्रच्युतश्शब्दपदार्थकस्संपद्यत'' इति अत्र चार्थप्रकरणादेवार्थपदार्थकत्वे सिद्धे किमितिशब्देन? न चात्रेति शब्दः प्रकारार्थः। प्रकारस्यानुपादानत्वात्।

न्यायामृतम्

तदुक्तम्—

> वाचारम्भणमित्युक्ते मिथ्येत्यश्रुतकल्पनम् ।
> पुनरुक्तिर्नामधेयमितीत्यस्य निरर्थता ॥ इति ।

तस्माद्वाचया वागिन्द्रियेणारम्भणम् उत्पादनं यस्य सांकेतिकस्य भाषाशब्दस्य तन्नामधेयं विकारः "कर्मणि घञ्" विकृतं संस्कृतापभ्रंशरूपेण विक्रियमाणत्वात् । मृत्तिकेत्यादिसंस्कृतं नामधेयं तु सत्यं नित्यं "नास्य जरयैतज्जीर्यते न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमिति एतच्छ्रुतावेवोत्तरत्र सत्यशब्दस्य नित्ये प्रयोगात् । सदाशब्दाद् "अव्ययास्य" बिति त्यबन्तस्य सत्यशब्दस्य नित्ये प्रयोगसम्भवाच्च, "सनातनं सत्यमिति नित्यमेवोच्यते बुधै' रिति वचनाच्च । इह विकृतत्वप्रतियोगिन एव सत्यशब्देन विवक्षणीयत्वाच्च । "टापं चापि हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशे"ति वचनाद्वाचारम्भणमितिसमासस्साधुः । तस्मात्तत्सादृश्यादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञाने मृत्पिण्डमृण्मयादिदृष्टान्ताः प्रधानज्ञानादप्रधानज्ञाने संस्कृतापभ्रंशदृष्टान्तः भाषाशब्दज्ञानाद्धि यत्फलं तच्चाधिकं च सार्वत्रिकव्यवहारादिकं संस्कृतज्ञानाद् भवतीति तज्ज्ञो विद्वानित्युच्यते तदर्थं "यथा सोम्ये' त्यादिकं "तनूर्वर्षिष्ठे"त्यादिवदनुषंजनीयम् ।

कथं च विवर्तपक्षे मृत्पिण्डमृण्मयादिदृष्टान्ताः ? ब्रह्माविद्याविशिष्टं सदुपादानमपीति चेत् , न मुमुक्षुज्ञेयशुद्धब्रह्मज्ञानेनैव सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानात् । अन्यथा अविद्याया अपि "येनाश्रुत"मित्यादिप्रतिज्ञावाक्योक्तज्ञेयकोटित्वापातात् । अनाद्यविद्यादीन् प्रत्युपादानत्वायोगाच्च । उपादानत्वाभिप्रायत्वे मृदा ज्ञातया मृण्मयं विज्ञातं स्यादित्येतावतैव पूर्णत्वेन मृत्पिण्डादिवाक्यत्रये प्रत्येकं श्रुतानामेकशब्दसर्वशब्दानां वैयर्थ्याच्च । न हि सर्वमृण्मयादिकमेकमृत्पिण्डविकारः । नखनिकृन्तनस्यान्त्यावयवित्वेनोपादानत्वस्यैवासम्भवाच्च । मृत्त्वे निश्चितेऽपि घटादौ संशयादिदर्शनाच्च । न च घटादेरपि मृद्यध्यस्तत्वाद्विवर्तपक्षेऽपि तद्दृष्टान्तो युक्तः । मृत्वज्ञानेऽपि घटाद्यनिवृत्तेः, व्यवहारदशायां मृदादिवत् कारकव्यापारसाध्यस्य जलाहरणादिसमर्थस्य चावस्थाविशेषरूपस्य घटादेरपि सत्त्वात् । तात्त्विकविवक्षायां तु मृदोऽपि सत्त्वोक्त्ययोगाच्च । शुक्त्यादितत्त्वज्ञानेन रूप्यादिज्ञानादर्शनाच्च । यत्तूक्तं वाचस्पतिना—"शुक्तौ ज्ञातायां रूप्यं तत्त्वतो ज्ञातं भवति । सा हि तस्य तत्त्वम् । एवं ब्रह्मज्ञानात्सर्वं तत्त्वतो ज्ञातं भवतीति," तन्न, एवं हि ब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मैव ज्ञातं भवतीत्यर्थः स्यात् । तच्च न युक्तम् , सर्वसाधारण्यात् । स्वस्य स्वहेतुत्वायोगाच्च । येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमि"ति श्रुतिगताश्रुतादिपदायोगाच्च । कि चासाधारणं स्वरूपमसाधारणधर्मो वा तत्त्वम् , न तु भ्रमाधिष्ठानम् । तथात्वेन हि ब्रह्माद्यनधिष्ठानमानन्दः शुक्तित्वादिकं ब्रह्मशुक्त्यादितत्त्वं न स्यात् । न च शुक्तिः शुक्तिज्ञाननिवर्त्यस्य रूप्यस्य स्वरूपं धर्मो वा । न चानेकारोप्यानुगतमधिष्ठानमेकैकस्यारोपितस्याऽसाधारणम् । किं चैवं शुक्तौ रूप्यधीरानन्दादौ ब्रह्मादिधीरिव प्रमा स्यात् । तत्तत्त्वे तद्धीत्वात् । तस्मात् परमते एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमयुक्तम् । अस्मत्पक्षे तु प्रधानपुरुषज्ञानाद्दानपूजनादौ लोके जनपदस्सर्वोऽपि ज्ञात आहुत इत्यादेः पुराणादौ च—

> शशास पृथिवीं सर्वां सशैलवनकाननाम् ।
> नाशिता पृथिवी सर्वा धार्तराष्ट्रेण दुर्नयैः ॥

न्यायामृतम्

इत्यादेश्च व्यवहारस्य दर्शनात्प्रधानभूतब्रह्मज्ञानादप्रधानभूतदेवतादिज्ञानफलसिद्धेस्तद्युक्तम्, "ज्ञानादेव सर्वे कामाः सम्पद्यन्ते" इतिश्रुतेः। "तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत" इति स्मृतेश्च—

यथा मृत्पिण्डविज्ञानात्सादृश्यादेव मृण्मयाः।
विज्ञायन्ते तथा विष्णोस्सादृश्याज्जगदेव च॥
अनन्याधीनविज्ञानादन्याधीनं तथैव च।
मृद्योर्लोहनाम्नां हि ज्ञानात्सांकेतिकं यथा॥

इत्यादिस्मृतेश्च। एतेनैकविज्ञाने सर्वविज्ञानान्यथानुपपत्तिर्मिथ्यात्वे प्रमाणमिति निरस्तम्। केचित्तु सूक्ष्माव्यक्तादिविशिष्टब्रह्मणो महदादिविशिष्टात्मना परिणामात् कार्यकारणयोश्चाभेदात् कार्यस्य कारणातिरेकेणासत्त्वपरेयं श्रुतिर्न तु मिथ्यात्वपरेत्याहुः। वाचारम्भणश्रुत्यर्थः।

: ४३ :

इदं सर्वं यदयमात्मेति श्रुत्यर्थविचार

नापि "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृह० उ० २।४।६) इत्यादि श्रुतिस्तत्र मानं। जडाजडयोरैक्यासम्भवेन ब्रह्मव्यतिरेकेणासत्त्वस्यात्राभिप्रेतत्वादितियुक्तम्, "सर्वेषु भूतेष्वेत" मितिश्रुतेः सर्वं जलं लवणमितिवत् सर्वव्याप्त्या वा, स हि सर्वस्य कर्तेति श्रुतेः "आयुर्वैघृतं ब्राह्मणोऽस्य मुख" मितिवत् निमित्तत्वेन वा, "यस्मिन्द्यौः पृथिवी चे' त्यादिश्रुतेः "राजा राष्ट्रं ब्राह्मणो वै सर्वा देवता" इतिवत् सर्वाधारत्वेन वा, "न ऋते त्वत्क्रियते किंचने" त्यादिश्रुते "यजमानः प्रस्तर" इतिवत् "तत्सिद्ध्या वा," (तत्कार्यकारित्वेन वा) "आदित्यो यूप" इतिवत्, सारूप्येण वा, सामानाधिकरण्योपपत्तौ सर्वप्रमाणबाधितायाः यः पुरुषः स स्थाणुरितिवद् यत्सर्वत्वेन प्रतीतं तदात्मन्यध्यस्तमिति पदद्वयलक्षणाया अयोगात्। उक्तं हि महाभाष्ये—"अन्तरेणापि निमित्तं निमित्तार्थोऽवगम्यते तद्यथा आयुर्वैघृतं दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वर इति। अन्तरेणापि वतिमति देशोऽवगम्यते। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह ब्रह्मदत्तवदिति गम्यते" इति। "पुरुष एवेदं सर्वं पुरुषेणैवेदं सर्वं व्याप्तमातृणादाकरीषा" दिति श्रुतौ।

असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवो व्ययः।
सर्वस्य च सदा ज्ञानात्सर्वमेनं प्रचक्षते॥
पुरुष एवेदं सर्वं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
इत्युच्यते तदीयत्वान्न तु सर्वस्वरूपतः॥

इति भारते, "सर्वं समाप्नोपि ततोसि सर्वः" इति गीतायां चान्यथाव्याख्यातत्वाच्च। अन्यथा "इदं सर्व" मित्यस्य "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनस्सर्वं वेदेति पूर्वेण "स यथा दुंदुभे" रित्यादिनोत्तरेण, "पुरुष एवेदं सर्व" मित्यस्य स भूमिं विश्वतो वृत्वे' तिपूर्वेण "उतामृतत्वस्येशान" इत्युत्तरेण, 'ब्रह्मैवेदं सर्व' मित्यस्य "अस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयस्स यश्चायमप्सु तेजोमयोऽमृतमय' इत्यादिना पूर्वेण, "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे' त्यस्य "ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा" दित्यादिनोत्तरेण, "सर्वाणि भूतान्यात्मैवे" त्यस्य "सर्वभूतेषु चात्मानं" मित्यादिना पूर्वेण, "याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः"

न्यायामृतम्

इत्युत्तरेण च विरोधः । इदं सर्वं यदयमात्मेत्यादिश्रुत्यर्थः ।

नेह नानेति श्रुत्यर्थविचारः

: ४४ :

यस्मात् परं नेति श्रुत्यर्थविचारः

"यस्मात्परं नापरमस्ति" (श्वेता० ३।९।) इतिश्रुतेरपि यस्मात्परं न अपरं त्वस्ति तच्च किंचिदल्पमित्यर्थः । "पुरुषान्न परं किंचित्", "पादोऽस्य विश्वा भूतानी" त्यादिश्रुतेः, "वासुदेवात्परं नास्ती" त्यादिस्मृतेश्च । नञोऽनुषंगस्याकल्प्यत्वाच्च । "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं ततो यदुत्तरतर" मितिवाक्यशेषाच्च । विश्वस्यैवाभावे हि किं तेन पूर्णं कस्माच्च तदुत्तरतरं स्यात् । यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ती 'त्यत्र "अणोरणीयान् महतो महीयानि' त्यादिश्रुत्यन्तराद्वाक्यशेषाविरोधादुभयत्रापि नञः श्रवणाच्चोभयनिषेधः । यस्मात्परं नेति श्रुत्यर्थः ।

: ४५ :

मायामात्रमिदमितिश्रुत्यर्थविचारः

प्रपंचो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ।।
विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ।। (माण्डू० १।१७, १८)

इत्यत्राप्याद्यश्लोके भेदस्य भास्करादिमतप्राप्तसत्योपाधिकृतत्वं निरस्य द्वितीये मायावादप्राप्तमारोपितत्वं निरस्यानादिसत्यत्वमबोच्यते । यथा "तद्धैक आहुरि"ति श्रुतौ बौद्धमतप्राप्तमसत्कारणत्वं निरस्य "सदेवे" त्यत्र सत्कारणत्वं । तथा हि भेदप्रपंचो यदि विद्येत उत्पद्येत, तर्हि निवर्तेत न च निवर्तते, मोक्षेऽपि भेदश्रुतेः । तस्मादनादिरित्यर्थः । विद सत्तायामिति हि धातुः । उत्पत्तिरपि च सत्तायोग एव । अस्ति च सत्तार्थस्यापि भवतेः—

तेन भूतिषु कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः ।
प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनां भावनाविदः ।।

इत्यादावुत्पत्तौ प्रयोगः । विद्लृ लाभ इति वा धातुः । तथा च विद्येत लभ्येत उत्पद्येतेत्यर्थः उत्पत्तिरपि हि स्वात्मनो लाभ एव । अस्तित्वार्थत्वे तु यद्यदस्ति तत्तन्निवर्तेत इति व्याप्त्यभावात् श्रौतस्तर्क आभासः स्यात् । अत एव न ह्यत्रानूयाजा" इति श्रौतहेतौ राणके व्याप्तिरुक्ता । ननूपाधिकृतं न चेत् किं तर्हि स्वतन्त्रम् , नेत्याह—मायामात्रमीश्वरेच्छाधीनं मायेतीश्वरेच्छोच्यत इति वक्ष्यमाणत्वात् । विष्णोरिच्छावशत्वात्त मायामात्र'मित्यादिस्मृतेश्च । पूर्वत्र "स्वप्नमायासरूपेति "सृष्टिरन्यैर्विकल्पिते" त्यैन्द्रजालिकत्वं मतान्तरत्वेनोक्त्वा "इच्छामात्रं प्रभोस्सृष्टि" रितीश्वरेच्छाधीनत्वस्य स्वमतत्वेनोक्तेश्च । "प्रभवस्सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः" इति पूर्वत्र "कल्पितो यदि केनचि"दित्युत्तरत्र च सत्त्वोक्तेश्च । निवर्तेतेति तर्कस्य विपर्ययपर्यवसानलब्धामिवर्त्यत्वाविरुद्धार्थस्यैवेह वक्तव्यत्वाच्च । तर्ह्यद्वैतस्सर्वभावानामितिश्रुतमद्वैतं कथमित्यत आह—अद्वैतं परमार्थत इति ल्यब्लोपनिमित्ता पंचमी । परमं स्वतंत्रमर्थमपेक्ष्य तत् ।

न्यायामृतम्

"स्वतंत्रम् परमार्थाख्य"मिति स्मृतेः। परिभाषायाश्च कार्यार्थत्वेन "आण्णव" इत्यादावविवक्षति बाधे "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्यय" इति न्यायेन पारिभाषिकस्यैव ग्राह्यत्वात्। यववराहाद्यधिकरणन्यायेन शास्त्रे शास्त्रीयार्थस्यैव ग्राह्यत्वाच्च। किं चास्ति स्वतन्त्रेऽर्थेऽपि परमत्वं। न च तात्त्विकेऽपि क्लृप्तावयवशक्त्यैव कालपनिकादुत्तमार्थत्वनैव परमार्थशब्दसम्भवे समुदायशक्तिकल्पना युक्ता। अत एव प्रोक्षण्यधिकरणे प्रोक्षणीशब्दस्य जले योग एव न तु रूढिरित्युक्तम्। उक्तं च वार्तिके—

भवेतां यदि वृक्षस्य वाजिकर्णौ कथंचन।
अदृष्टां समुदायस्य कश्शक्तिं जातु कल्पयेत्॥ इति।

स्वतन्त्र एव च परमत्वं मुख्यम्। न च मुख्ये सम्भवत्यमुख्यं युक्तम्। परमार्थशब्दस्य तात्त्विके योगरूढ्यंगीकारेऽपि मानान्तरैः पूर्वोत्तरवाक्यैश्चाविरोधाय योगेन स्वतंत्रपरत्वमेव युक्तम्। तथा च सर्वभावानां मध्येऽयमद्वितीय इत्युक्ते स्वातंत्र्यमेव सिद्ध्यति न तु सर्वभावासत्त्वमित्यर्थः। केचित्तु "अनाशी परमार्थः स्यादि"तिवचनादद्वैतं परमार्थत इत्यस्याद्वितीयं ब्रह्माविनाशीत्यर्थ इत्याहुः। एवं भेदस्योपाधिकृतत्वं निरस्य कल्पितत्व निरस्यति-विकल्प इति। तर्कत्वान्न च निवर्तते तस्मान्न कल्पित इति विपर्यये पर्यवसातव्यम्। तत्त्वे आम्नाते तु द्वैतं न विद्यत इत्यर्थः। श्लोकयोरतर्करूपत्वे यदि शब्दद्वयं लिङ्प्रत्ययचतुष्टयं च व्यर्थं स्यात्। तदुक्तम्—

इत्यत्र यदि शब्दौ च निवर्तेतेति च द्वयम्।
विश्वस्य सत्यतामाहुः विद्येतोत्पत्तिमेव च॥ इति।

स्पष्टीकृतश्चायमर्थः श्रुत्यन्तरे—

सोऽयं सत्यो ह्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात्।
न च नाशं प्रयात्येषः न चासौ भ्रान्तिकल्पितः॥
कल्पितश्चेन्निवर्तेत न चासौ विनिवर्तते।
द्वैतं न विद्यत इति तस्मादज्ञानिनां मतम्॥ इति।

केचित्त्वेकस्मिन्नेवात्मनि देहभेदेन देवमनुष्यत्वादिरूपप्रपञ्चमिथ्यात्वपरेयं श्रुतिरित्याहुः। मायामात्रमिदमितिश्रुत्यर्थः।

: ४६ :

अनन्तमिति श्रुत्यर्थविचारः

यत्तु तत्त्वप्रदीपिकायाम् "सत्यं ज्ञानमनन्त" (तै० उ० २।१।१) मित्यनन्तशब्दस्तत्र मानामित्युक्तम्। तन्न, अन्तशब्दो हि परिच्छेदे व्युत्पन्नः, न तु परिच्छिन्ने। तथा चाभेदस्यापरिच्छेदरूपत्वेऽपि यथा देशाद्यपरिच्छेदाभिप्रायेणाकाशोऽनन्त इत्युक्ते देशादेराकाशतुल्यतया सत्त्वे सत्येव तदपरिच्छेदमात्रं सिध्यति, न तु देशादेर्मिथ्यात्वं तथेहापि वस्तुनो घटादेर्जीवचैतन्यवद् ब्रह्मतुल्यतया सत्त्वे सत्येव (प्रतीयमानभेदत्यागेन) "विरुद्धांशत्यागेन" ब्रह्मण्यभेदरूपं वस्त्वपरिच्छेदमात्रं सिध्येत्। न तु वस्तुनो मिथ्यात्वं। जीवस्वरूपं सत्यं विश्वं तु मिथ्येति विभागस्त्वद्याप्यसिद्धः। वस्तुतस्त्वभेदो नापरिच्छेदः, परिच्छन्नाद्भेदाभावे अपरिच्छिन्नत्वायोगात्। कालापरिच्छिन्नेऽपि परमाण्वादौ देशपरिच्छेदेन परिच्छिन्नत्वबुद्धिवद् उभयापरिच्छिन्ने गगनादौ भेदमात्रेण परिच्छिन्नत्वबुद्धेरभावाच्च। अनन्तपदेनैव परिच्छिन्नाद् व्यावृत्तेस्त्वयैवोक्त-

न्यायामृतम्

त्वाच्च । भिन्न इत्यर्थे परिच्छिन्न इत्यप्रयोगाच्च । तस्माद् देशकालगुणापरिच्छेद एवानंतशब्दार्थः । अनंतमिति श्रुत्यर्थः ।

: ४७ :

इन्द्रो मायाभिरिति श्रुत्यर्थविचारः

"इन्द्रो मायभिः पुरुरूप ईयत" (बृह० उ० २।५।१९) इत्यत्रापीश्वरस्य विचित्रशक्तिभिर्मत्स्याद्यनेकरूपत्वमेवोच्यते । न त्वज्ञानेन घटादिरूपत्वं । रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इति पूर्वोक्तानां जीवाद्यप्रतिबिंबानि प्रतिबिंबभूतभगवद्रूपाणामेवेह रूपशब्देन प्रत्यभिज्ञानात् , उत्तरत्र च "अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानंतानि चे"ति हरिशब्दवाच्यविष्णुरूपाणां दशत्वादिना बहुत्वोक्तेः । "तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपर"मित्यादिना तेषां रूपाणां ब्रह्मत्वोक्तेश्च । चिन्मात्रस्यैव नानारूप प्रपंचाधिष्ठानत्वेन परमैश्वर्यवाचीन्द्रशब्दास्वारस्याच्च । "मायां तु प्रकृतिं विद्यादि"-त्यस्यापि मायया सन्निरुद्ध इति पूर्वोक्ता या मायासा प्रकृतिः त्रिगुणात्मकं प्रधानमित्यर्थः । न तु या प्रकृतिर्जगदुपादानं सा माया मिथ्येति पूर्वनिर्दिष्टस्य मायाशब्दार्थस्य बुभुत्सितत्वात् प्राथम्येन मायाया एवोद्देश्यत्वाच्च । प्रकृतिशब्दस्य श्रुतिषु प्रधाने प्रसिद्धत्वाच्च । मायाशब्दस्य सत्येऽपि प्रयोगाच्च । इन्द्रो मायाभिरित्यादिश्रुत्यर्थः ।

: ४८ :

अतोऽन्यदार्त्तमिति श्रुत्यर्थविचारः

यत्तु कौमुद्याम् "अतोन्यदार्तम्" (बृह० उ० ३।४।१) इति वाक्यं तत्र मानामित्युक्तम् , तत्वतितुच्छम् । अन्तर्यामिणः प्रकृतत्वादेतच्छब्दस्य प्रकृतपरत्वात् । अन्यशब्दस्य च "एतद्ब्रह्मणोऽन्यमानय समानमितरच्छ्येनेने"त्यादाविव प्रकृतसमानजातीयान्यपरत्वात् ब्रह्मणोन्यज्जीवजातमार्तं दुःखीति जीवभेदस्यैवोक्तेः, न हि जीवादन्यस्यार्तिः । अतोऽन्यदार्तमितिश्रुत्यर्थः ।

: ४९ :

जगदसत्त्ववाचिपुराणवचनार्थः

पुराणादिषु क्वचित् जगतोऽसत्त्वोक्तिरसाधुत्वात् , "नाऽसत् पुरुषमाश्रये"दित्यादिवत् । "सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यत' इति । "अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इहे"ति च गीतोक्तेः, "सच्छब्दः साधुवाचक' इति विष्णुपुराणोक्तेश्च । अस्वातंत्र्याद्वा—

सत्त्वं स्वातंत्र्यमुद्दिष्टं न च कृष्णे न चापरे ।
अस्वातंत्र्यात्तदन्येषामसत्त्वं विद्धि भारत ॥

इति भारतोक्तेः । अन्यथा अत्यन्तासत्त्वापातात् । अवस्तुत्वोक्तिः, अपारमार्थिकत्वोक्तिश्च परिणामित्वाद्विनाशित्वाच्च—

न्यायामृतम्

यत्तु कालान्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैति वै ।
परिणामादिसंभूतां तद्वस्तु नृप तच्च किं ॥
अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते ।

इति विष्णुपुराणोक्तेः । मिथ्यात्वोक्तिस्तु वृथात्वात् "मिथ्यैष व्यवसायस्त" इत्यादिवत् । सदोषत्वाद्वा, मिथ्योपपदात्कृञोऽभ्यास इति सूत्रे वृत्तौ पदं मिथ्याकारयते इत्युदाहृत्य स्वरादिदुष्टमसकृदुच्चारयतीत्यर्थ इत्युक्तत्वात्, न्यासे पदमंजर्यां च एतेन मिथ्याशब्दस्यार्थमाचष्ट इत्युक्तत्वात् । अतात्त्विकत्वोक्तिस्तु विकारित्वात्, 'तद्वदेव स्थितं यत्तु तात्त्विकं तत्प्रचक्षत" इति कौर्मोक्तेः । अविद्यमानत्वोक्तिस्तु जीवसम्बन्धित्वेनाविद्यमानत्वात् । "अविद्यमानं जीवस्य प्रतिभाति तदीयवदि"ति स्कांदोक्तेः । स्वप्नदिसाम्योक्तिस्त्वनित्यत्वादेः ।

अनित्यत्वविकारित्वपारतंत्र्यादिरूपतः ।
स्वप्नादिसाम्यं जगतो न तु बोधान्निवर्त्यते ॥

मायामयत्वोक्तिस्तु प्राकृतत्वात्, "मायां तु प्रकृतिं विद्या" दितिश्रुतेः ।

त्रिगुणा प्रकृतिर्माया तज्जत्वाद्विश्वमीदृशम् ।
अनाद्यनन्तकालेषु मायेत्याहुर्विपश्चितः ॥ इति स्मृतेश्च ॥

अन्यथा "स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिते"त्यादिश्रुतिभि "र्न मायेत्यवधार्यता" मिति स्मृतिभि "र्वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदि"ति सूत्रैस्तत्रैव पूर्वोत्तरवाक्यैश्च विरोधात् । जगदसत्त्वादिवाचिपुराणार्थः ।

न्यायामृतम्

: ५० :

ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथोपपत्तिविचारः

नापि ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिस्तत्र मानम् । न हि ज्ञानमज्ञानस्यैव मिथ्या-

अद्वैतसिद्धिः

'तरति शोकमात्मवित्', 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः', 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' इत्यादिश्रुतिस्मृति-बोधितज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिरपि बन्धमिथ्यात्वे प्रमाणम्, सत्यत्वे ब्रह्मवदनि-वर्त्यत्वापत्तेः । तथा हि—शुक्तिरूप्यरज्जुसर्पादौ ज्ञाननिवर्त्यत्वे न तावत्तत्तद्रूपत्वं ज्ञाननिवर्त्यतावच्छेदकम्, अननुगमात्, किंतु सर्वानुगतं मिथ्यात्वमेवाज्ञानकल्पित-त्वापरपर्यायमवच्छेदकम्, एवं ज्ञानस्यापि तन्निवर्तकत्वे न शुक्त्यादिविषयत्वमवच्छे-दकम्, अननुगमात्, किंतु सर्वानुगतमधिष्ठानप्रमात्वमेव । तथा च यत्र ज्ञानस्याधिष्ठा-नप्रमात्वेन निवर्तकता, तत्र मिथ्यात्वेनैव निवर्त्यतेति नियमः सिध्यति । एतादृश-नियमानभ्युपगमे चानन्तनियमकल्पनागौरवरूपो बाधकस्तर्कः । तथा हि—यन्निष्ठा यदाकारा प्रमारूपान्तःकरणवृत्तिरुदेति, तन्निष्ठं तदाकारमज्ञानं नाशयतीति नियमस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

"तरति शोकमात्मवित्" (छां० ७।१।३), "विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः" (मुं० ३।२।८), "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥" (मुं० २।२।८) इत्यादि श्रुतियों तथा ऐसी ही स्मृतियों के द्वारा ['आत्मवेत्ता ज्ञानरूपी नौका के द्वारा शोक सागर को पार कर जाता है', 'अज्ञान-रचित नाम और रूपात्मक प्रपञ्च के बन्धन से ज्ञानवान् ही मुक्त होता है, 'हृदय-ग्रन्थि या अहङ्काराध्यास छिन्न-भिन्न हो जाता है, आत्मविषयक सभी संशय समाप्त हो जाते हैं एवं समस्त सञ्चित कर्म-राशि प्रक्षीण हो जाती है, उस परावर उपादानोपादेयात्मक प्रपञ्च के अधिष्ठानभूत परब्रह्म का दर्शन पाते ही'—इस प्रकार] बोधित शोकादि बन्धगत आत्मज्ञान-निवर्त्यत्व की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण से भी बन्ध का मिथ्यात्व सिद्ध होता है, क्योंकि बन्ध के सत्य होने पर उसकी ज्ञान के द्वारा वैसे ही निवृत्ति न हो सकेगी, जैसे ब्रह्म की, भाव यह है कि ज्ञान-निवर्त्य शुक्ति रजत, रज्जु-सर्पादि सर्व पदार्थों में अनुस्यूत अज्ञान-कल्पितत्वरूप 'मिथ्यात्व' धर्म को ही ज्ञान-निवर्त्यता का अवच्छेदक मानने में लाघव है, शुक्ति-रजतादि तत्तत् व्यक्तित्व को अवच्छेदक मानना गौरव-ग्रस्त है। इसी प्रकार निवर्तकतावच्छेदक धर्म के विषय में भी यह निश्चय किया जा सकता है कि 'इयं शुक्तिः', 'इयं रज्जुः'—इत्यादि भ्रम-निवर्तक सभी पदार्थों में अनुगत अधिष्ठान-प्रमात्व को ही निवर्तकता का अवच्छेदक मानना होगा, शुक्तिविषयकत्व, रज्जुविषयकत्वादि अननुगत धर्मों को नहीं। अतः 'यत्र तत्र ज्ञानस्य अधिष्ठानप्रमात्वेन निवर्तकता, तत्र तत्र अध्यस्तस्य मिथ्यात्वेन निवर्त्यता'—इस प्रकार का नियम सिद्ध होता है। ऐसा नियम न मानने में अनन्त धर्म-गर्भित निवर्त्य-निवर्तकभाव कल्पना-प्रयुक्त गौरवरूप बाधक तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है। [यद्यपि अज्ञान और अज्ञान-कल्पित दोनों ही पदार्थ मिथ्या होने के नाते अधिष्ठान-प्रमा के द्वारा निवर्तित होते हैं, तथापि अज्ञान साक्षात् और उसका कार्य परम्परा से, क्योंकि] जिस पुरुष में जिस विषय को प्रमारूप अन्तःकरण-वृत्ति उत्पन्न होती है,

न्यायामृतम्

भूतस्यैव वा निवर्तकमिति नियमः। ज्ञानमात्रेण ज्ञानसमानविषयकाज्ञानानुपादानकस्य

अद्वैतसिद्धिः

सिद्धत्वात्, उपादाननाशस्य चोपादेयनिवर्तकत्वात् शुक्त्यादिज्ञानेन तत्तदाकाराज्ञान-नाशे तदुपादेयानां रजतादीनां निवृत्तिरौचित्यावर्जितैवेति नियमान्तराकल्पनेन लाघवमनुकूलस्तर्कोऽस्मत्पक्षे। अज्ञानोपादेयत्वं च शुक्तिरजतादीनामन्वय-व्यतिरेकसिद्धमग्रे स्थास्यति। एवं स्थिते कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्यात्मप्रमानिवर्त्यत्वे तदज्ञानकल्पितत्वमेव तत्रावच्छेदकं कल्प्यते, न त्वननुगतमाकाशत्वादि, न वा ब्रह्म-भिन्नत्वं सद्भिन्नत्वं वा सर्वानुगतमपि, तुच्छेऽतिप्रसक्तेः। तद्वारकविशेषणप्रक्षेपे तु सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वमेव निवर्त्यताप्रयोजकं पर्यवसितम्, अन्यथा नियमान्तर-कल्पनागौरवापत्तेः। तथा च शुक्त्यादिज्ञानस्य येन रूपेण निवर्तकत्वं, तेन रूपेणात्म-ज्ञानस्य निवर्तकत्वम्, रूप्यादौ येन रूपेण निवर्त्यत्वं, प्रपञ्चे तद्रूपं विनानुपपद्यमानं स्वोपपादकतया तत्र तत् कल्पयतीति सिद्धं मिथ्यात्वम्।

ननु—भवेदेतदेवम्, यद्यात्मज्ञानस्य प्रपञ्चे निवर्त्ये शुक्त्यादिज्ञानसाधारण-मधिष्ठानप्रमात्वमेवावच्छेदकमित्यत्र किंचिन्मानं भवेद्, रूपान्तरेणापि निवर्तकत्व-संभवात्, श्रुतिस्तु द्वैतप्रपञ्चस्याद्वितीयात्मज्ञानं निवर्तकमित्येतावन्मात्रे प्रमाणम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उस पुरुष में उस विषय के अज्ञान को नष्ट करती है—यह अकाट्य नियम है। उपादान का नाश उपादेय का निवर्तक होता है, अतः शुक्त्यादि के ज्ञान से शुक्त्याद्याकार अज्ञान का नाश होने पर उनके उपादेयभूत रजतादि की निवृत्ति अत्यन्त उचित है। उक्त एक नियम को छोड़कर अनन्त नियमों की अकल्पना ही हमारे सिद्धान्त का लाघव-मूलक अनुकूल तर्क है। शुक्ति-रजतादि में अज्ञान की अन्वय-व्यतिरेक-सिद्ध उपादेयता की स्थापना आगे चलकर की जायगी। फलतः समस्त प्रपञ्चगत आत्म-प्रमा-निवर्त्यता का अवच्छेदक आत्मविषयक अज्ञान-कल्पितत्व ही निश्चित होता है, न कि अननुगत आकाशत्वादि। ब्रह्म-भिन्नत्व या सद्भिन्नत्व धर्म सर्वानुगत होने पर भी ज्ञान-निवर्त्यता का अवच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि खपुष्पादि असत् पदार्थों में ज्ञान-निवर्त्यत्व के न रहने पर भी ब्रह्मभिन्नत्व रहता है, किन्तु अवच्छेद्य से न्यून या अधिक देश में रहनेवाले धर्म को अवच्छेदक नहीं माना जाता। यदि तुच्छ पदार्थों की व्यावृत्ति के लिए तुच्छावृत्ति ब्रह्म-भिन्नत्वादि को अवच्छेदक माना जाता है, तब सदसद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व में ही निवर्त्यता की प्रयोजकता पर्यवसित होती है, नियमान्तर-कल्पना में गौरव दिखाया जा चुका है। फलतः शुक्त्यादि-ज्ञानों में जिस (अधिष्ठान-प्रमात्व) रूप से निवर्तकता होती है, आत्मज्ञान में भी उसी रूप से निवर्त-कता सिद्ध होती है, अतः रजतादि पदार्थों में जिस (मिथ्यात्व) रूप से निवर्त्यता होती है, प्रपञ्च में उस रूप के विना निवर्त्यता अनुपपन्न होकर उस (मिथ्यात्व) का आक्षेप करती है। इस प्रकार प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है।

द्वैतवादी—अद्वैतवाद की कथित व्यवस्था तब मानी जा सकती थी, जब कि आत्मज्ञान-निष्ठ शुक्त्यादि-ज्ञान-साधारण अधिष्ठान-प्रमात्व में प्रपञ्च-निवर्तकता की अवच्छेदकता किसी प्रमाण से सिद्ध होती, क्योंकि अधिष्ठान-प्रमात्व को छोड़ कर रूपान्तर से भी निवर्तकता सम्भव है। "तरति शोकमात्मवित्"—इत्यादि श्रुतियों से

न्यायामृतम्

सत्यस्य तत्प्रागभावस्येश्वरज्ञानेन घटादेरुत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानस्य, प्रत्यभिज्ञानादिना संस्कारस्य, विषये दोषदर्शनेन रागादेः, सुहृद्दर्शनेन दुःखादेर्गरुडध्यानादिना विषादेः, अग्निचित्कपिलादिदर्शनेन दुरितादेः, सेत्वादिदर्शनेन ब्रह्महत्यादेश्च निवृत्तेः। ननु सेत्वादिदर्शनमज्ञाननिवृत्तिद्वारेणादृष्टद्वारेण वा तन्निवर्तकं साक्षान्निवर्तकत्वेऽपि न ज्ञानत्वेन किं तु विहितक्रियात्वेनेति चेत्, समं प्रकृतेऽपि, श्रुतदर्शनत्यागेन तत्प्राप्ति-

---

अद्वैतसिद्धिः

नत्ववच्छेदकविशेषेऽपि। न च ज्ञाननिवर्त्यतामात्रान्मिथ्यात्वसिद्धिः, सेतुदर्शनादि-निवर्त्यदुरितादिषु व्यभिचारात्। तत्र विहितक्रियात्वादिना निवर्तकत्वान्न व्यभिचार इति चेत्, प्रकृतेऽपि रूपान्तरं नावच्छेदकमिति कुतो निरणायि? ज्ञानस्य हि स्वप्रागभावं प्रति प्रतियोगित्वेन निवर्तकता, पूर्वज्ञानादिकं प्रति तु उत्तरविरोधि-गुणत्वेन, संस्कारं प्रति फलत्वेन, रागादिकं प्रति विषयदोषदर्शनत्वेन, विषं प्रति गरुडध्यानत्वेन, सेत्वादिदर्शनस्य दुरितं प्रति विहितक्रियात्वेन, एवं च मिथ्यात्वं विनापि ज्ञाननिवर्त्यत्वदर्शनात् न तन्मिथ्यात्वस्य साधकम्, उदाहृतेष्वपि सत्यत्वा-संप्रतिपत्त्या मिथ्यात्वमेवास्तीति चेत्, अस्तु वा मास्तु, ज्ञाननिवर्त्यत्वमात्रं तु न

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तो अद्वितीयात्म-विज्ञान द्वैत प्रपञ्च का निवर्तक है—इतना ही सिद्ध होता है। उनसे अधिष्ठान-प्रमात्व में निवर्तकतावच्छेदकता प्रमाणित नहीं होती। प्रपञ्च में ज्ञान-निवर्त्यत्व मात्र के आधार पर मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'यत्र तत्र ज्ञाननिवर्त्य-त्वम्, तत्र तत्र मिथ्यात्वम्'—इस व्याप्ति का सेतु-दर्शनादि—निवर्त्य दुरितादि में व्यभिचार है। 'सेतु-दर्शन में विहित क्रियात्वादिरूप से निवर्तकता अभिमत है, ज्ञानत्व या प्रमात्वरूप से नहीं, अतः उक्त नियम का व्यभिचार नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रकृत आत्म-ज्ञानादि में भी निवर्तकता का अवच्छेदक ज्ञानत्व ही है रूपान्तर नहीं—यह कैसे निर्णय कर लिया? रूपान्तर से भी निवर्तकता अनुभव-सिद्ध है, जैसे कि ज्ञान में अपने प्रागभाव का प्रतियोगित्वेन, पूर्वोत्पन्न ज्ञानादि का उत्तर विरोधि गुणत्वेन, अपने संस्कारों का फलत्वेन, रागादि का विषय-दोष-दर्शनत्वेन, सर्प-विष का गरुड़-ध्यानत्वेन निवर्तकत्व देखा जाता है। सेत्वादि-दर्शनों में पाप की निवर्त्यता मिथ्यात्व के बिना ही सिद्ध हो जाती है, अतः ज्ञान-निवर्त्यत्व मिथ्यात्व के बिना ही सिद्ध हो जाता है, अतः ज्ञान-निवर्त्यत्व मिथ्यात्व का साधक नहीं हो सकता। उदाहृत-स्थलों पर सत्यत्व विवादास्पद होने के कारण मिथ्यात्व सिद्ध हो अथवा नहीं, यह निश्चित है कि ज्ञान-निवर्त्यत्व मात्र मिथ्यात्व का साधक नहीं। यदि अन्य (दृश्यत्वादि) हेतु से प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध होता है, तब मिथ्यात्व-साधक के रूप में ज्ञान-निवर्त्यत्व का उपन्यास अनुचित है।

यदि आप (अद्वैतवादी) यह कहते हैं कि 'उदाहृत शुक्ति-रजतादि-स्थल पर शुक्ति-ज्ञान में अधिष्ठान-ज्ञानत्वेन रजतादि की निवर्तकता होती है, अधि-ष्ठान-ज्ञानत्व का अर्थ अज्ञान-नाशक ज्ञानत्व या अज्ञान-समानविषयक प्रमात्व किया जाता है, अतः अधिष्ठान-ज्ञानत्वेन शुक्ति-ज्ञान के निवर्त्यभूत रजतादि से शुक्ति-ज्ञान-समानविषयक अज्ञानोपादेयत्वरूप मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है, किन्तु सेतु-दर्शनादि से निवर्तित पाप में निवर्तक ज्ञान-समानविषयक अज्ञान की उपादेयता

अद्वैतसिद्धिः

तस्य साधकमिति ब्रूमः, हेत्वन्तरेण सिद्धौ चैतदुपन्यासो व्यर्थः। शुक्तिरूप्यादौ कथमिति चेच्छृणु, अधिष्ठानज्ञानत्वेन तत्र ज्ञानस्य निवर्तकत्वात्। अधिष्ठानज्ञानत्वं हि अज्ञाननाशकज्ञानत्वं वा, अज्ञानसमानविषयकप्रमात्वं वेति तेन रूपेण निवर्तकत्वे मानाभावात् नात्माज्ञानोपादानकत्वरूपमिथ्यात्वसिद्धिः प्रपञ्चस्येति—प्राप्तम्। अत्रोच्यते—आत्मज्ञानस्याप्यधिष्ठानज्ञानत्वेनैव प्रपञ्चं प्रति निवर्तकत्वम्, प्रकारान्तरासंभवात्। तथा हि—प्रतियोगित्वं तावन्नावच्छेदकम्, प्रपञ्चस्य भावरूपत्वात्, ज्ञानस्य प्रागभावनिवृत्तिरूपत्वेन प्रतियोगित्वेन प्रागभावनिवर्तकत्वासिद्धेश्च। नाप्युत्तरगुणत्वम्, आकाशादेरात्मविशेषगुणत्वाभावाद्, इच्छादेरपि प्रपञ्चनिवर्तकत्वापाताच्च। नापि फलत्वम्, संस्कारस्य स्मरणजनकत्ववदाकाशादेरात्मज्ञानजनकत्वाभावात्, संस्कारस्यस्मृत्यनाश्यत्वेनोदाहरणासिद्धेश्च। विषयदोषदर्शस्य तु

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न रहने के कारण उक्त पाप में मिथ्यात्व (प्रातिभासिकत्व) नहीं आता।'

तब वहाँ हमारा (द्वैतवादी का) कहना यह है कि जैसे आप शुक्ति-रजतादि-दृष्टान्त के आधार पर ब्रह्म-ज्ञान में अधिष्ठान-ज्ञानत्वेन निवर्तकता का आपादन कर प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, वैसे ही हम सेतु-दर्शन में विहित क्रियात्वेन साक्षात् पाप की निवर्तकता सिद्ध कर, इस दृष्टान्त के आधार पर ब्रह्म-ज्ञान में भी विहित क्रियात्वेन साक्षात्-प्रपञ्च की निवर्तकता मानते हैं, अधिष्ठान-ज्ञानत्वेन निवर्तकता में कोई विनिगमक प्रमाण नहीं। ब्रह्म-ज्ञान का सीधा निवर्त्य प्रपञ्च है, अज्ञान-निवृत्ति के माध्यम से नहीं, अतः निवर्त्याज्ञानोपादेयत्वरूप मिथ्यात्व प्रपञ्च में सिद्ध नहीं हो सकता।

अद्वैतवादी—ब्रह्म-ज्ञान में भी शुक्त्यादि-ज्ञान के समान अधिष्ठान-ज्ञानत्वेन ही निवर्तकता माननी पड़ेगी, प्रकारान्तर यहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि प्रकारान्तरों में (१) प्रतियोगित्व, (२) उत्तर विरोधि गुणत्व, (३) फलत्व, (४) पिषय-दोष-दर्शनत्व, (५) गरुड़-ध्यानत्व तथा (६) विहित क्रियात्व का जो प्रदर्शन किया गया है, उनमें से (१) प्रतियोगिता ब्रह्म-ज्ञान में प्रपञ्च की सम्भव नहीं, क्योंकि प्रपञ्च भाव पदार्थ है, अभाव नहीं, उक्त प्रतियोगिता अभाव की ही होती है। ज्ञान में जो अपने प्रागभाव की प्रतियोगित्वेन निवर्तकता कही, वह भी अनुचित है, क्योंकि निवर्तक का अर्थ होता है—निवृत्ति-जनक, ज्ञान अपने प्रागभाव की निवृत्ति का स्वरूप होता है, जनक नहीं, अतः उसमें प्रतियोगित्वेन प्रागभाव की निवर्तकता सिद्ध नहीं होती। (२) उत्तरकालीन गुणत्व भी निवर्तकतावच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि आकाशादि प्रपञ्च को आत्मा का गुण नहीं माना जाता कि आत्मगत ज्ञानरूप गुण के द्वारा पूर्ववृत्ति प्रपञ्चरूप गुण की निवृत्ति घट जाती। यदि प्रपञ्च को आत्मा का संकल्प मान कर गुणस्वरूप मान लिया जाय, तब ज्ञान-भिन्न इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि गुणों से भी उसकी निवृत्ति होनी चाहिए। (३) फलत्वेन यहाँ निवर्तकता तब मानी जा सकती थी, जब स्मृतिगत संस्कार-जन्यत्व के समान आत्मज्ञान में प्रपञ्च-जन्यत्व होता। दूसरी बात यह भी है कि स्मृति में संस्कार-नाशकता का निराकरण पहले (विगत पृ० ४० पर) किया जा चुका है, अतः फलत्वेन निवर्तकता का वह दृष्टान्त भी नहीं हो सकता। (४) विषय-दोष-दर्शन में जो

न्यायामृतम्

स्तज्जन्यादृष्टं वा निवर्तकं चेदिहापि ब्रह्मध्यानं तज्जन्यादृष्टं वा निवर्तकमस्तु, "तस्याभिध्यानादि" त्यादिश्रुतेः। ननु सेतुदर्शनमात्रं न निवर्तकम्, किं तु दूरागमनादिविशिष्टमिति चेदिहापि ब्रह्मज्ञानमात्रं न निवर्तकम्, किन्तु नियमा-

अद्वैतसिद्धिः

रागादिनिवर्तकत्वं रागादिकारणीभूतबलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वभ्रमरूपतत्कारणनिवर्तकत्वेनेति न प्रकृतोदाहरणादतिरिच्यते, शुक्तिरूप्यतुल्यत्वात्। गरुडध्यानं तु न प्रत्युदाहरणम्, ध्यानस्य रागादेरिव ज्ञानत्वानभ्युपगमात्, ज्ञानस्येच्छानधीनत्वेन तदधीनज्ञानापेक्षया वैलक्षण्यात्। स्पष्टं चैतदाकरे। ज्ञानत्वेऽपि तस्य सेतुदर्शनपक्षान्नातिरेकः, शास्त्रविहितत्वाविशेषात्। केवलं सेत्वादिदर्शनवद्विहितक्रियात्वमवशिष्यते। तच्च न संभवति, ज्ञानस्य कर्तुमकर्तुमशक्यत्वेन विधेयत्वायोगात्। विस्तरेण च ज्ञाने विधिराकरेषु निराकृतः। निराकरिष्यते चेहापि। सेतुदर्शने कथमिति चेत्? विशिष्टाकारेण विधेयत्वोपपत्तेः। न हि सेतुदर्शनमात्रस्य दुरितनाशकत्वम्, तत्रत्यम्लेच्छानामपि दुरितनाशप्रसङ्गात्, किंतु परराष्ट्रादुपस्थानादिपूर्वकव्रतकलापवि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

रागादि की निवर्तकता है, वह रागादि के कारणीभूत (बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-विशिष्ट इष्ट-साधनता के) भ्रम की निवर्तकता के कारण ही है, अतः प्रकृत शुक्ति-रजतादि उदाहरण से भिन्न नहीं। (५) गरुड़-ध्यान तो आत्म-ज्ञान की निवर्तकता में उदाहरण ही नहीं बन सकता, क्योंकि ध्यान और ज्ञान–दोनों न तो एक हैं और न सजातीय पदार्थ–ध्यान इच्छा के अधीन है, किन्तु ज्ञान नहीं, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का महान् अन्तर है। भाष्यादि में ज्ञान की ध्यानरूपता का सन्देह उठा कर खण्डन किया गया है—"ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया, न, वैलक्षण्यात्" (ब्र० सू० १।१।४)। अन्तःकरण की ज्ञानाख्य वृत्ति का सजातीय प्रवाह ही ध्यान है—इस आशय से यदि ध्यान को ज्ञानस्वरूय मान भी लिया जाय, तब भी सेतु-दर्शन की कोटि में ही आ जाता है कि जैसे सेतु-दर्शन शास्त्र (मिता० प्रायश्चित० २५०) में विहित है—

"चातुर्विद्योपपन्नस्तु विधिवद् ब्रह्मघातके।
समुद्रसेतुगमनं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्॥"

वैसे ही ध्यान भी शास्त्र-विहित है—"निदिध्यासितव्यः" (बृह० उ० २।४।५)। (६) केवल सेत्वादि-दर्शन के समान विहित क्रियात्व शेष रहा, वह भी वहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि सेतु-दर्शन ज्ञान है, क्रिया नहीं। ज्ञान पुरुष-तन्त्र नहीं, वस्तु-तन्त्र होता है, अतः ज्ञान में विधेयत्व का निराकरण ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर भाष्य (१।१।४) से लेकर अद्वैत वेदान्त के प्रायः सभी प्रकरण ग्रन्थों में विस्तार से किया गया है, यहाँ भी तृतीय परिच्छेद में उस पर विशेष प्रकाश डाला जायगा। 'फिर सेतु-दर्शन रूप ज्ञान में विधेयत्व कैसे? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि केवल सेतु-दर्शन में विधेयत्व नहीं, तथापि उसके विशेषणीभूत क्रिया-कलाप में विधेयत्व होने के कारण सेतु-दर्शन भी विशिष्टाकार से विधेय हो जाता है। अर्थात् केवल सेतु-दर्शन को पाप का नाशक नहीं माना जा सकता, अन्यथा सेतु-बन्ध रामेश्वर में निवास करने वाले गोघाती म्लेच्छ नित्य ही सेतु का दर्शन करते हैं, उनके भी पाप नष्ट हो जाएँगे, अतः धर्मशास्त्र-कथित विशेष पद्धति अपनानी होगी कि दूरस्थ पर राष्ट्र से जो व्यक्ति पैदल चलकर

न्यायामृतम्

धीतवेदान्तश्रवणादिविशिष्टम् , भाषाप्रबन्धजन्येनानधीतवेदान्तजन्येन, अधीतवेदान्तजन्येनाप्यसम्भावनाविपरीतभावनाप्रबलारब्धकर्मादिना प्रतिबद्धेन तेन तदनिवृत्तेः। अन्यथा वेदान्ताध्ययनश्रवणादिनियमस्यासम्भावनादिनिवर्तकमननादेश्च वैयर्थ्यं स्यात् । प्रारब्धकर्मवशाज्जीवन्मुक्तस्य संसारानुवृत्तिश्च न स्यात् ।

अद्वैतसिद्धिः

शिष्टस्य, तथा च छत्रपादुकादिवर्जनदोषोद्घोषणदूरदेशगामित्वभिक्षाभोजित्वादिनियमानां कृतिसाध्यत्वात् तद्विशिष्टं सेतुदर्शनमपि कृतिसाध्यमितिविशिष्टरूपेण विधानोपपत्तिः। आत्मज्ञाने तु नास्ति किंचिद्विशेषणमपि कृतिसाध्यम् , येन तद्विशिष्टत्वेनापि विधेयत्वं स्यात् , कर्मसमुच्चयस्य निराकरिष्यमाणत्वाद् , बन्धस्याज्ञानमात्रहेतुकत्वेन ज्ञानातिरिक्तनिवर्तकानपेक्षणाच्च । बन्धस्याज्ञानहेतुकत्वं च 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धम्। वक्ष्यते चाग्रे। अज्ञाननिवर्तकज्ञानस्य चोत्पत्तिमन्तरेणान्यापेक्षा नास्तीति शुक्त्यादिज्ञाने दृष्टम् । तथा चोक्तं वार्तिककृद्भिः—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्रतकलाप का पालन करता हुआ सेतु-दर्शन करता है, उसी के पाप निवृत्त होते हैं। छाता-जूतादि छोड़ कर अपने पाप का उद्घोष करते हुए भिक्षा-भोजनादिपूर्वक गमन का जो विधान मिताक्षरा के प्रायश्चित्ताध्याय में किया गया है—

"सेतुबन्धपथे भिक्षां चातुर्वर्ण्यात् समाहरेत् ।
वर्जयित्वा विकर्मस्थान् छत्रोपानद्विवर्जितः ॥
अहं दुष्कृतकर्मा वै महापातककारकः ।
गृहद्वारेषु तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः ॥
गोकुलेषु च गोष्ठेषु ग्रामेषु नगरेषु च ।
तपोवनेषु तीर्थेषु नदीप्रस्रवणेषु च ॥
एतेषु ख्यापयेदेनः पुण्यं गत्वा तु सागरम् ।
ब्रह्महापि प्रमुच्येत स्नात्वा तस्मिन् महोदधौ ॥
ततः पूतो गृहं प्राप्य कृत्वा ब्राह्मणभोजनम् ।
दत्त्वा वस्त्रं पवित्राणि पूतात्मा प्रविशेद् गृहम् ॥"

वह समस्त इतिकर्त्तव्य पद्धति कृति-साध्य है, अतः इस से युक्त होकर सेतु-दर्शन भी कृति-साध्य होने से विधेय माना जाता है। आत्मज्ञान का कोई विशेषण भी कृति-साध्य नहीं कि उससे युक्त ज्ञान में विधेयत्व बन जाता। ज्ञान के साथ कर्म के सम-समुच्चय का निराकरण भाष्यादि आकर ग्रंथों में भली प्रकार किया गया है, यहाँ भी साधन-परिच्छेद में किया जायगा। प्रपञ्च रूपी बन्ध अज्ञानमूलक होने के कारण अपनी निवृत्ति में ज्ञान से अतिरिक्त की अपेक्षा नहीं करता। बन्ध अज्ञान-प्रयुक्त है— इसमें "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेता० २।१०) तथा "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" (गी० ५।१५) इत्यादि श्रौत-स्मार्त वचन प्रमाण हैं। यहाँ भी बन्ध की अज्ञानहेतुकता का वर्णन आगे किया जायगा। अज्ञान का निवर्तक ज्ञान अज्ञान-निवर्तनार्थ अपनी उत्पत्ति को छोड़ कर और किसी की अपेक्षा नहीं करता, जैसा कि शुक्ति-ज्ञान में देखा गया है। वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य ने कहा है—

न्यायामृतम्

किं च लोके अदृष्टत्वेऽपि विपक्षे बाधकाभावात् श्रुतिबलात् सत्यस्यापि बन्धस्य निवृत्तिः किं न स्यात् ? अन्यथा लोके अधिष्ठानतत्त्वे साक्षात्कृते कर्मवशादपि निरुपाधिकभ्रमानुवृत्तेर्जीवन्मुक्तिदशायां कर्मवशादनुवृत्तस्य जगतः सत्यतैव स्यात्। अपि च लोके कल्पितस्य नित्यनैमित्तिककर्मसाध्यान्तःकरणशुद्ध्यजन्यज्ञाननिवर्त्यत्वनियमात्तज्जन्यज्ञाननिवर्त्यस्य प्रपंचस्य तज्जन्यदेवतादर्शननिवर्त्यदुरितवत् सत्यतैव स्यात्। अपि च कल्पिते संस्कारनिरपेक्षज्ञाननिवर्त्यतायाः संस्कारसापेक्षगरुडभ्रमरादिज्ञानसंताननिवर्त्ये विषकीटत्वादौ च सत्यताया दर्शनेन श्रवणादिजनितसंस्कारसापेक्षज्ञाननिवर्त्यस्य प्रपञ्चस्य सत्यतैव स्यात्। किं च लोके निवृत्तिनिवर्त्ययोः समानसत्ताकत्वनियमादज्ञाननिवृत्तिवदज्ञानमपि तात्त्विकं स्यात्। प्रातिभासिकस्य रूप्यस्य

अद्वैतसिद्धिः

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥' इति।
प्रत्यग्याथात्म्यधीरेव प्रत्यगज्ञानहानिकृत्।
सा चात्मोत्पत्तितो नान्यद् ध्वान्तध्वस्तावपेक्षते ॥'

इति च। अत एव 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येदित्यादिश्रुतिः।

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥'

इत्यादिस्मृतिश्चाविद्यावस्थायां संसारोपलम्भं विद्यावस्थायां च तदनुपलम्भं दर्शयति। तस्मादधिष्ठानप्रमात्वेनात्मज्ञाननिवर्त्यत्वाच्छुक्तिरूप्यादिष्विव बन्धेऽपि मिथ्यात्वं सिद्धम्। यत्त्वीश्वरज्ञानेन सत्यं घटादि निवर्तत इति प्रत्युदाहरणम्। तन्न, ईश्वरज्ञानस्य तार्किकमतेऽपि उपादानगोचरापरोक्षज्ञानत्वेनैव कारणत्वाद्, अभावस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥ (बृह० १.१० पृ० १८८२)
प्रत्यग्याथात्म्यधीरेव प्रत्यगज्ञानहानिकृत्।
सा चात्मोत्पत्तितो नान्यद् ध्वान्तध्वस्तावपेक्षते ॥ (बृह० वा० पृ० १३)

अत एव (प्रपञ्च में ज्ञान-निवर्त्यत्व होने के कारण) "यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरे पश्यति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन कं पश्येत्" (बृह० उ० ४।५।१५) इत्यादि श्रुति-वाक्य तथा "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ (गी० २।६९) इत्यादि स्मृति-वचन ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व संसार के उपलम्भ तथा ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् संसार का अनुपलम्भ दिखा रहे हैं। इस लिए अधिष्ठान-प्रमात्वेन आत्मज्ञान की निवर्त्यता होने के कारण प्रपञ्च बन्ध शुक्ति-रजत के समान ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

यह जो कहा जाता है कि ईश्वरीय ज्ञान कार्यमात्र का कारण माना जाता है, अतः घटादि सत्य पदार्थों की निवृत्त भी ईश्वरीय ज्ञान से जनित है, अतः घटादि पदार्थों में ईश्वरीय ज्ञान-निवर्त्यत्व होने पर भी मिथ्यात्व नहीं। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि तार्किक मत में ईश्वर-ज्ञान उपादानविषयक अपरोक्षज्ञानत्वेन घटादि भाव कार्य का

न्यायामृतम्

प्रध्वंसो व्यावहारिकश्चेत्तयोर्विरोधो न स्यात्, व्यावहारिकप्रातिभासिकयोः शुक्तिरूप्यभेदाभेदयोरिवेत्युक्तम्। किं चाज्ञानाज्ञेययोर्दोषाधिष्ठानयोश्च समानसत्ताकत्वनियमाद्, ब्रह्मवदज्ञानमपि सत्यं स्यात्। किं च यथानादिभावरूपस्यान्यत्रादृष्टापि निवृत्तिः श्रुतिबलात्तथा सत्यस्यापि किं न स्यात्।

किं च ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमित्यत्र ज्ञानं नाम यदि ज्ञप्तिस्तदा असिद्धिः, त्वन्मते ज्ञप्तिरूपस्य चैतन्यस्य बन्धानिवर्तकत्वाद्, बन्धनिवर्तिकायाश्च वृत्तेरज्ञप्तित्वात्। वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं ज्ञप्तिः, सा च तन्निवर्तिकेति चेत्, न, मुक्तावानन्दज्ञप्त्यभावापातात्, साक्षिविषयसुखादावज्ञानापाताच्च। एतेन येन यत्प्रकाशते तत्र सा ज्ञप्तिः। एवं च घटादौ वृत्तिप्रतिबिंबितचैतन्यं ज्ञप्तिः सुखादौ तु चैतन्यमात्रमितिनिरस्तम्, मोक्षे आनंदप्रकाशस्य स्वरूपचैतन्य तज्ज्ञप्तिरूपत्वेन तेनैवाज्ञानस्य नित्यनिवृत्त्यापातात्। ज्ञानकरणं चेन्न व्याप्तिः, शुक्त्यज्ञानस्य रूप्यस्य वा ज्ञानकरणेन निवृत्तेरसंमतेः। न जानामीत्यज्ञानस्य ज्ञप्तिविरोधित्वेनैव प्रतीतेश्च।

एवमज्ञानं नाम यदि ज्ञानविरोधिभावरूपं सत्यं, न तर्हि विश्वमिथ्यात्वसिद्धिः। यदि तु मिथ्या, तर्हि न व्याप्तिः, शुक्तिज्ञाननिवर्त्यस्याज्ञानस्य शुक्तिवत्सत्यत्वात्। न हि बाधज्ञाने रूप्यमिथ्यात्ववत् शुक्त्यज्ञानमिथ्यात्वं भाति। प्रत्युतैतावंतं कालं शुक्त्यज्ञानमासीदिति सत्त्वमेव। एवं यदि निवृत्तिर्नाम विनाशः, तदा विरोधः, लोके ज्ञाननाश्ये अज्ञानादौ सत्यताया एव मिथ्याभूते रूप्यादौ च ज्ञाननाश्यत्वाभावस्यैवानुभवात्। न हि रूप्यं ज्ञानेन नष्टमिति बाधोऽस्ति। यदि तु निवृत्तिर्नाम प्रतिपन्नोपाधौ निषेधस्तदासिद्धिः, "क्षीयंते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे" इत्यादि श्रुत्या "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथे" त्यादिस्मृत्या "तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशादि"त्यादिसूत्रैश्च बंधनाशस्यैवोक्तेः।

अत्र यदुक्तं विवरणे ज्ञानेन सत्यस्य निवृत्तिश्चेत् किं विषयेण संबंधस्य निवृत्तिः? किं वाश्रयेण? यद्वोभाभ्याम्? नाद्यः, चित्रावयविनि नीलविशिष्टद्रव्यज्ञानेन तद्गतपीतिमादेरनिवृत्तेः। न द्वितीयः, आत्मज्ञानेन तद्गतधर्माद्यनिवृत्तेः। न तृतीयः, शरीरज्ञानेन देहात्मसंबन्धानिवृत्तेरिति। तत्र ब्रूमः—ज्ञानेनाज्ञानस्यारोपितस्य वा कस्य निवृत्तिः? न तावद्विषयेण सम्बन्धस्य, चैत्रनिष्ठमैत्रविषयकज्ञानेन मैत्रनिष्ठघटविषयकाज्ञानस्य इदमंशज्ञानेन तत्रारोपितरूप्यस्य चाप्यनिवृत्तेः। नाप्याश्रयेण सम्बन्धस्य, चैत्रस्य घटज्ञानेन तदीयपटाज्ञानस्यात्मन्यारोपितदेहतादात्म्यस्य चानिवृत्तेः। नाप्युभाभ्यां सम्बन्धस्य, चैत्रनिष्ठमैत्रविषयकज्ञानेन मैत्रनिष्ठचैत्रविषयकज्ञानस्य आत्मनिष्ठदेहविषयकज्ञानेन देहात्मतादात्म्यादेश्चानिवृत्तेः।

ननु ज्ञानेन समानाश्रयविषयकस्याज्ञानस्य निवृत्तिः, निवृत्ते चाज्ञाने तत्कार्यं स्वयमेव विवर्तत इति चेन्न, चैत्रस्य शंखे श्वेतत्वानुमित्या तदीयश्वेतत्वविषयकाज्ञानस्यारोपितपीतत्वस्य वा त्वन्मतेऽपि बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यसाक्षात्कारेणैक्याज्ञानस्यारोपितभेदस्य वा अनिवृत्तेः। श्वेतत्वानुमित्यादिना तदज्ञाननिवृत्तो अज्ञानकार्यस्यारोपितपीतत्वादेरनुवृत्तिर्न स्यात्, भ्रमस्य सोपाधिकत्वेऽपि उपादाननिवृत्तौ कार्यानुवृत्त्ययोगात्। किं च चैत्रस्येदानींतनेन घटसाक्षात्कारेण भविष्यद्घटसाक्षात्कारनिवर्त्याविद्यानिवृत्त्यापत्त्या सकृत्साक्षात्कृतस्य घटादेः सदा आपरोक्ष्यं स्यात्।

न्यायामृतम्

नन्वज्ञानस्यैकत्वात् जडानावरकत्वाच्च घटादिज्ञानमज्ञाननिवर्तकमेव नेति चेत्, तर्हि बन्धस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वेन दृष्टानुसारादज्ञानमयत्वमिति न स्यात्। ननु ज्ञाननिवर्त्यस्य भ्रान्त्यादेर्ज्ञानविरोधित्वं दृष्टमितिचेत्, तर्हि बन्धस्य दृष्टानुसारात् ज्ञानविरोधित्वं कल्प्यताम्, न भावरूपाज्ञानत्वं न वा मिथ्यात्वम्। न हि भ्रान्तिः स्वरूपेण मिथ्येत्यविद्यावादे वक्ष्यते। मिथ्याभूतस्य च रूप्यस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वमसंमतमित्युक्तम्। अपि च चरमसाक्षात्कारेण जीवन्मुक्तिदशानुवृत्तस्याप्यविद्यालेशस्य वाऽज्ञानसंस्कारस्य वाऽऽरब्धकर्मादेर्वा निवृत्तिः किं न स्यात्? ज्ञानस्य प्रागभावनिवर्तन इवाज्ञाननिवर्तनेऽप्यन्यानपक्षेत्वात्। तस्मात् त्वयाप्यज्ञानस्यारोपितस्य वा ज्ञानविरोधिन एव ज्ञानेन निवृत्तिर्विरोधश्च कार्योन्नेय इति वाच्यम्। सममेतन्ममापि।

अद्वैतसिद्धिः

च निरुपादानत्वाद्, अभावं प्रति कारणत्वे मानाभावात्, सोपादानत्वे तु समवेतत्वेन तस्यापि भावत्वापत्तेः, अत्यन्ताभावादिवच्च तदजन्यत्वेऽपि ध्वंसस्य तद्विषयत्वोपपत्तेः। न च तादृगीश्वरज्ञाने संप्रतिपत्तिरप्यन्येषामिति न काप्यनुपपत्तिः। यथा च शुक्त्यादिज्ञानस्य रूप्यादिनिवर्तकत्वमप्रमाण्यज्ञानविरहमपेक्ष्यैव, एवमात्मज्ञानस्यापि श्रवणादिनिवृत्तावसंभावनादिनिवृत्तिरूपाप्रामाण्यज्ञानविरहापेक्षत्वमिति न किंचिदप्यधिकं कल्पितम्। आत्मज्ञानस्य सर्वसुकृतसाध्यत्वं शुक्त्यादिज्ञानापेक्षया विलक्षणमिति तु दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैधर्म्यमात्रोद्भावनाद् वैधर्म्यसमा जातिः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कारण माना जाता है, घटादि की निवृत्ति अभावरूप है, अभाव का कोई समवायिकारण या उपादान नहीं होता, अतः अभावरूप कार्य की ईश्वर-ज्ञान में कारणता सिद्ध नहीं होती। अभाव को यदि सोपादान माना जाता है, तब अपने उपादान में समवेत होने के कारण उसे भी भाव वस्तु मानना होगा। 'ईश्वर-ज्ञान सर्व-विषयक होता है, अतः अभाव में भी उसकी विषयता माननी आवश्यक है, किन्तु अभाव यदि ईश्वर-ज्ञान से जन्य नहीं, तब वह ईश्वर ज्ञान का विषय कैसे होगा? इस शङ्का का समाधान यह है कि जैसे नित्य अत्यन्ताभाव में ईश्वरज्ञान की जन्यता न होने पर भी विषयता होती है, वैसे ही घटादि ध्वंस में भी ईश्वरीय ज्ञान की जन्यता न होने पर भी विषयता बन जाती है। दूसरी बात यह भी है कि तार्किक मत-सिद्ध ईश्वर-ज्ञान अद्वैत वेदान्तियों को स्वीकार्य नहीं, अतः उसे लेकर उक्त नियम का व्यभिचार नहीं दिखाया जा सकता। यदि कहा जाय कि शुक्ति-ज्ञान सर्वथा निरपेक्ष होकर रजतादि का निवर्तक होता है, किन्तु आत्मज्ञान श्रवणादि-सापेक्ष होकर प्रपञ्च का नाशक माना जाता है, दृष्टान्त की अनुरूपता दार्ष्टान्त में नहीं, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि शुक्ति-ज्ञान भी अपने में अप्रामाण्य ज्ञान के अभाव की अपेक्षा करता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान को भी असम्भावनादि-प्रयुक्त अप्रामाण्य का विरह अपेक्षित है, वह श्रवणादि के द्वारा होता है, अतः शुक्तिज्ञानरूपी दृष्टान्त-स्थल की अपेक्षा आत्मज्ञान में कुछ भी अधिक कल्पनीय नहीं होता। आत्मज्ञान सर्व पुण्य-पुञ्ज-प्रसूत होता है, शुक्ति-ज्ञान नहीं, अतः वह शुक्ति-ज्ञान से विलक्षण है—इस प्रकार का वैषम्योद्भावन वैधर्म्यसमा जाति (न्यायसूत्र ५।१।२ में चर्चित) मात्र है, अर्थात् इस प्रकार का दोषोद्भावन सर्वथा अक्षम या नगण्य माना जाता है।

न्यायामृतम्

वस्तुतस्त्वीश्वरप्रसादादेव बन्धनिवृत्तिः, "यस्य प्रसादात् परमार्तिरूपादस्मात् संसारान्मुच्यते नापरेणे"त्यादिश्रुतेः, "मत्प्रसादात्तरिष्यसी" त्यादिस्मृतेश्च। ज्ञानं तु प्रसादहेतुः। तदुक्तम्—

यथा दृष्टया प्रसन्नः सन् राजा बन्धापनोदकृत्।
एवं दृष्टः स भगवान्कुर्याद् बन्धविभेदनम्॥ इति।

"दृष्ट्वैव तं मुच्यत" इत्यवधारणमयोगव्यवच्छेदपरम्, मोक्षहेतुप्रसादेऽन्ययोगव्यच्छेदपरं वा। उक्तं हि विष्णुपुराणे—

"एवं ज्ञाते तु भगवाननादिः पुरुषोत्तमः।
प्रसीदति ततस्तस्मिन्प्रसन्ने क्लेशसंक्षयः॥" इति।

ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिभंगः।

: ५१ :

श्रुतार्थापत्तिप्रमाणविचारः

नापि "प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्य" इति श्रुतार्थापत्तिस्तत्र मानम्, राजराजः, देवदेवः, मन्मथमन्मथः, "पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगल" मित्यादौ राजत्वदेवत्वादीनामिव प्राणादिसत्यत्वस्य ज्ञानाबाध्यत्वे सत्येवापकृष्टत्वमात्रेण तदुपपत्तेः। नापि "सत्यं ज्ञान"मित्यादौ ब्रह्मणः सत्यत्वलक्षणोक्त्यन्यथानुपपत्तिर्मानम्, छान्दोग्ये (८।३।५) "तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति तान्येतानि त्रीण्यक्षराणि स-ती-यमिति तद्यत् सत् तदमृतम्, अथ यत्ति तन्मर्त्यम्, अथ यद्यं तेनोभे यच्छती"ति मुक्तामुक्तनियन्तृत्वं सत्यत्वमित्युक्तेः।

अद्वैतसिद्धिः

अज्ञानस्य च समानाधिकरणसमानाकारज्ञाननिवर्त्यत्वम्, जीवन्मुक्तौ च प्रारब्धकर्मप्रतिबन्धेन बन्धनाशविलम्ब इत्यादि सर्वमुपरिष्टादुपपादयिष्यते। सत्यस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वे तु आश्रयविषयोभयसंबन्धित्वादिना अतिप्रसङ्गो विवरणकारैर्वर्णितः। तस्मादधिष्ठानज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वे प्रमाणमिति सिद्धम्।

इत्यद्वैतसिद्धौ ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अज्ञान में समानाकार ज्ञान-निवर्त्यत्व, जीवन्मुक्ति में प्रारब्ध कर्मरूप प्रतिबन्धक के कारण बन्ध-निवृत्ति में विलम्ब—इत्यादि सभी सिद्धान्त-रहस्यों का उपपादन आगे चलकर चतुर्थ परिच्छेद में किया जायगा। सत्य पदार्थों की ज्ञान से निवृत्ति मानने में अतिप्रसङ्ग का प्रदर्शन विवरणकार ने किया है—"निवर्त्यतां तर्हि ज्ञानेन वस्तुभूतमेव प्रमातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वमिति। नेत्याह...घटादिज्ञानेन आत्मगतधर्माधर्मादिगुणानिवृत्तेः। न चाश्रयविषयोभयसम्बन्धि वस्तु ज्ञानेन निवर्तते, आत्मनः शरीरविषयकज्ञानेन देहात्मसम्बन्धाद्यनिवृत्तेः" (पं. वि. पृ. १५)। अतः प्रपञ्चगत अधिष्ठान-ज्ञानत्वेन आत्मज्ञान-निवर्त्यत्व मिथ्यात्व का साधक है—यह सिद्ध हो गया।

न्यायामृतम्

सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।
सत्तासत्ते च गोविन्दस्तस्मात् सत्यः सतां मतः ॥

इति भारतोक्तेश्च । न च रूढ्यर्थं श्रौतयोगत्यागः, "यदाजिमीयुस्तदाज्यानामाज्यत्व" मित्यादावपि निरवकाशश्रौतयोगबाधायोगात् । शास्त्रस्था वेति न्यायेनासति बाधके वेदे वैदिकार्थस्यैव ग्राह्यत्वाच्च । उक्तं च वार्तिके—

गौणं लाक्षणिकं वापि वाक्यभेदेन वा स्वयम् ।
वेदोऽयमाश्रयत्यर्थं को नु तं प्रतिकूलयेत ॥ इति ।

किं च "विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"त्यत्र "सैषानन्दस्ये"त्यादिश्रुत्युक्तमानुषाद्यानन्दव्यावृत्ता-परिच्छिन्नानन्दत्ववदिहापि अन्यव्यावृत्तमनन्याधीनसत्यत्वं लक्षणमस्तु । नापि "विमुक्तश्च विमुच्यत" इति श्रुतार्थापत्तिर्मानम् । सज्जनस्यासत्संगाद्दौर्जन्यस्य ताम्रद्रवत्वादिवत् सत्यत्वेऽपि "सज्जनः सज्जनो जात" इतिवत् संसारस्य सत्य-त्वेऽपि अस्वाभाविकत्वेन तदुपपत्तेः । भारते—

"उभे सत्ये क्षत्रियाद्यप्रवृत्ते मोहो मृत्युः सम्मतोऽयं कवीनाम् ।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि तथाऽप्रमादादमृतत्वं ब्रवीमि" ॥ इति ।

संसारः सत्योऽप्यज्ञानाधीन इत्युक्तेः । एवमन्यदपि योज्यमिति सत्यमेव जगत् ।

इति सत्यत्य सत्य इत्यादिश्रुतार्थापत्तिभंगः ।

: ५२ :

दृष्टिसृष्टिविचारः

यच्च बौद्धाभिमतक्षणिकत्वसिद्ध्यर्थमुक्तं विश्वस्य दृष्टिसृष्टिः । चैत्रे सुप्ते

अद्वैतसिद्धिः

शुक्तिरूप्यस्वप्नादिवद् दृष्टिसृष्ट्यन्यथानुपपत्त्यापि जगतो मिथ्यात्वसिद्धिः । अथ केयं दृष्टिसृष्टिः ? (१) दृष्टिरेव सृष्टिरिति वा ? (२) दृष्टिव्यतिरिक्तसृष्ट्यभावो वा ? (३) दृष्टिव्यतिरेकेण सृज्याभावो वा ? (४) दृष्टिसामग्रीजन्यत्वं वा ? (५) दृष्टि-समानकालीनसृष्टिर्वा ? (६) दृष्टिसत्तासमानसत्ताकसृष्टिर्वा ? (७) सदसद्विलक्षणत्वं वा ? (८) त्रिविधसत्त्वबहिर्भूतत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वं वा ? (९) अज्ञातसत्त्वाभावो वा ? (१०) ज्ञातैकसत्त्वं वा ? आद्ये वृत्तिरूपा ? चैतन्यरूपा वा ? दृष्टिरभिमता ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शुक्ति-रजतादि के समान प्रपञ्च की दृष्टि-सृष्टि रूपता की अन्यथानुपपत्ति के द्वारा भी मिथ्यात्व सिद्ध होता है ।

द्वैतवादी—दृष्टि-सृष्टि का क्या अर्थ विवक्षित है ? क्या (१) दृष्टिरूप सृष्टि ? या (२) दृष्टि से भिन्न सृष्टि का अभाव ? या (३) दृष्टि से भिन्न सर्जनीय वस्तु का अभाव ? या (४) दृष्टि-सामग्री-जन्यत्व ? या (५) दृष्टि-समानकालीन सृष्टि ? या (६) दृष्टिसत्ता-समानसत्ताक सृष्टि ? या (७) सदसद्-भिन्नत्व ? या (८) त्रिविध सत्त्व से रहित असद्भिन्नत्व ? या (९) अज्ञातसत्त्वाभाव ? अथवा (१०) ज्ञातैकसत्त्व ? प्रथम (दृष्टिरेव सृष्टिः) पक्ष में जिज्ञासा होती है कि यहाँ वृत्तिरूप दृष्टि विवक्षित है ? अथवा चैतन्यरूप ? वृत्तिरूप दृष्टि को लेकर वृत्तिरूप ही सृष्टि (वृत्ति का विषय) है—यह अर्थ सम्पन्न होता है, तब तो चरम वृत्ति के विषयीभूत ब्रह्म को भी वृत्ति के समान ही क्षणिक मानना होगा । चैतन्यरूप दृष्टि को लेकर दृष्टि-सृष्टि का अर्थ होता है—चैतन्यरूप

अद्वैतसिद्धिः

प्रथमे चरमवृत्तिविषयब्रह्मणोऽपि दृष्टिसृष्टयापत्तिः। द्वितीये सर्वदापि सृष्टयापत्तिः। न द्वितीयः, चैत्रेण सृष्टो मया दृष्ट इति वैलक्षण्येन व्यवहारानुपपत्तेः। न तृतीयः, 'ज्ञातो घटो न ज्ञान'मिति अनुभवविरोधात्। न चतुर्थः, एकसामग्रीप्रसूतत्वेन घटादेर्दृष्टयभिन्नत्वेनानन्तरोक्तदोषात्। न पञ्चमः, शाब्दादिज्ञानसमकालोत्पन्नघटादौ सिद्धसाधनात्, तद्वदन्यत्रार्थान्तरतापत्तेश्च। न षष्ठः, उभयसत्त्वेऽप्युपपत्तेः सिद्धसाधनात्। न सप्तमः, अस्यैव मिथ्यात्वरूपत्वेन तत्साधनायैव तदुपन्यासानुपपत्तेः। नाष्टमः, त्रिविधसत्त्वमध्ये प्रातिभासिकसत्त्वस्याप्यन्तर्भावेन दृष्टिसृष्टिपक्षे तद्वति जगति तद्बहिर्भावानुपपत्तेः। न नवमः, तुच्छसाधारण्यात्। न दशमः, सुखादौ सिद्धसाधनात्, तद्वदन्यत्रार्थान्तराच्चेति—चेन्न, दोषप्रयुक्तत्वनिबन्धनस्य ज्ञातैकसत्त्वस्याज्ञातसत्त्वाभावस्य वा, प्रतिपन्नोपाधिदृष्टिजन्यज्ञातैकसत्त्वस्य वा, द्रष्ट्रन्तरावेद्यत्वे सति ज्ञातैकसत्त्वस्य वा विवक्षितत्वात्। तथा च न सुखाद्यंशे सिद्धसाधनम्, तद्वदन्यत्रार्थान्तरं वा।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सृष्टि, तब तो चैतन्य के समान ही सृष्टि सदातन हो जाती है। द्वितीय (दृष्टिव्यतिरिक्त सृष्टयभावः) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि यदि चैत्र की दृष्टि से भिन्न सृष्टि नहीं, तब देवदत्त की 'चैत्रेण सृष्टो घटो मया दृष्टः'—इस अनुभूति के द्वारा सृष्टि में दृष्टि-भिन्नत्व का भान अनुपपन्न हो जाता है। तृतीय (दृष्टिव्यतिरेकेण सृज्याभावः) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय का अत्यन्त अभेद होने पर ही दृष्टिव्यतिरेकेण सृज्याभाव बनेगा, किन्तु ज्ञान और ज्ञेय के भेद की अनुभूति होती है—'घटो ज्ञातः किन्तु घट-ज्ञानं न ज्ञातम्।' ज्ञात और अज्ञात पदार्थों की एकरूपता सम्भव नहीं। चतुर्थ (दृष्टिसामग्री-जन्यत्वम्, पक्ष में भी यही दोष है, क्योंकि समान सामग्री से प्रसूत पदार्थ अभिन्न होते हैं, यदि ज्ञान और ज्ञेय अभिन्न हैं, तब 'ज्ञातो घटो न ज्ञानं ज्ञातम्'—यह अनुभव विरुद्ध पड़ जाता है। पञ्चम (दृष्टिसमानकालीनसृष्टिः) पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि शाब्दादि परोक्ष ज्ञान के समकालोत्पन्न घट में सिद्ध-साधनता है, एवं इसी प्रकार के सत्य प्रपञ्च में भी दृष्टि-समान-कालीन सृष्टित्व घट सकता है, अतः अर्थान्तर दोष भी प्रसक्त होता है। षष्ठ (दृष्टिसमानसत्ताकसृष्टिः) कल्प की भी उपपत्ति उभय-सत्यत्व-पक्ष में हो जाने से अर्थान्तरता और सिद्ध-साधनता दोष है। सप्तम (सदसद्विलक्षण-त्वम्) कल्प तो मिथ्यात्व का रूप है, अतः इसका मिथ्यात्व-साधन के लिये उपन्यास नहीं हो सकता। अष्टम (त्रिविधसत्त्ववहिर्भूतत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वम्) पक्ष भी अनुचित है, क्योंकि त्रिविध सत्त्व में प्रातिभासिक सत्त्व भी आ जाता है। दृष्टि-सृष्टिवाद में प्रपञ्च की प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है, अतः उसे त्रिविध सत्ता से वहिर्भूत कैसे रखा जा सकता है? नवम (अज्ञातसत्त्वाभावः) पक्ष तो शशशृङ्गादि असत् पदार्थों में अतिप्रसक्त है, क्योंकि असत् पदार्थों की भी अज्ञात सत्ता का अभाव माना जाता है। दशम (ज्ञातैकसत्त्वम्) पक्ष मानने पर सुखादि में सिद्ध-साधनता होती है, क्योंकि सुखादि की भी ज्ञातैक सत्ता मानी जाती है, सुखादि सत्य पदार्थों के समान ही घटादि की यदि ज्ञातैक सत्ता मानी जाती है, तब उनको भी सुखादि के समान सत्य माना जा सकता है, इस प्रकार अर्थान्तरता दोष प्राप्त होता है।

अद्वैतवादी—'दृष्टि-सृष्टि' पद से यहाँ दोष-प्रयुक्त ज्ञातैक सत्त्व या अज्ञात सत्त्वाभाव अथवा प्रतिपन्न दृष्टि-जन्यार्थ की ज्ञातैक सत्ता अथवा अन्य द्रष्टा के द्वारा अवेद्य

न्यायामृतम्

तद्देहादिकं तं प्रति नास्त्येव। जाग्रतो मैत्रस्य, तु तद्भ्रान्त्या भाति। प्रत्यभिज्ञा तु सोऽयं दीप इत्यादिवत् भ्रान्तिरिति, तन्न, "षडस्माकमनाद्य" इति स्ववचनेन बौद्धं प्रति प्रत्यभिज्ञादिना विश्वस्य स्थायित्वप्रतिपादकविवरणेन च विरोधात्। दृगन्यस्य सर्वस्य दृष्टिसृष्टित्वे तत्तत्कार्यस्य प्रतीतिमात्रशरीरत्वेन नियततत्तत्का-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥

इति प्राचां वचनेन बौद्धं प्रति प्रत्यभिज्ञानादिना विश्वस्य स्थायित्वप्रतिपादकेन च सूत्रभाष्यवार्तिकविवरणादिग्रन्थेन विरोध इति—चेन्न, अनाद्यतिरिक्ते सृष्टिविषय एव दृष्टिसृष्टिस्वीकारात्, कारणात्मना स्थायित्वस्वीकाराच्च। तावतैव बौद्धाभिमत-क्षणिकत्वनिराकरणोपपत्तेर्नाकरविरोधः, प्रत्युताकरेषु बहुशो दृष्टिसृष्टिरुपपादितैव। नन्वेवं—प्रतीतिमात्रशरीरत्वेन नियतकारणाजन्यत्वे श्रुतिषु स्वर्गाद्यर्थं ज्योतिष्टोमादि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पदार्थ की ज्ञातैक सत्ता विवक्षित है। सुखादि पदार्थों में ज्ञातैक सत्ता होने पर भी वह अविद्यादि दोष-प्रयुक्त नहीं, अतः उनमें सिद्ध-साधनता नहीं होती एवं पुरुषान्तर के द्वारा पुरुषान्तरीय सृष्टि ज्ञात न होने पर भी स्वकीय सृष्टि में पुरुषान्तरीयत्व का आरोप मानकर 'चैत्रेण सृष्टो मया दृष्टः'—इत्यादि अनुभवों की भी उपपत्ति हो जाती है।

शङ्का—यदि दृष्टि के समान ही सृष्टि अस्थायी है, तब (१) जीव, (२) ईश्वर, (३) विशुद्ध चेतन, (४) जीव और ईश्वर का भेद, (५) अविद्या तथा (६) अविद्या और चेतन का संयोग—इन छः पदार्थों के अनादित्व-प्रतिपादक प्राचीन वचन एवं क्षणिकवादी बौद्ध के निराकरणार्थ प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणों के द्वारा विश्व की स्थायिता के साधक सूत्र, भाष्य, वार्त्तिक और विवरणादि-वाक्यों से स्पष्ट विरोध होता है।

समाधान—कथित जीवादि षड्विध अनादि पदार्थों को छोड़कर शेष विश्व दृष्टि-सृष्टि माना जाता है। दृष्टि-सृष्टिरूप होने पर भी प्रपञ्च को कारणरूपेण स्थायी माना जाता है अर्थात् सर्व सृष्टि-अनुस्यूत कारण तत्त्व को स्थायी माना गया है, उसकी स्थायिता ही सूत्र, भाष्य और विवरणादि वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित हुई है, अतः उनसे भी किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता। बौद्धों की निरन्वय-विनाशिता का निराकरण भी सर्वान्वयी तत्त्व की स्थिरता के प्रतिपादन से हो जाता है। सूत्र, भाष्य एवं विवरणादि वाक्यों में भी अनेकत्र दृष्टि-सृष्टि का उपपादन उपलब्ध होता है, गौड़पाद-कारिका, योगवासिष्ठादि तो दृष्टि-सृष्टि के ही प्रतिपादक माने जाते हैं— "दृष्टिसृष्ट्या पुनः पुनः" (यो० वा० ३।११४।५६)। संक्षेप शारीरक (१।३३८) की अत्यन्त अनुकूल घोषणा है—

स्वप्नः शुभाशुभफलागमसूचकः स्यात्,
मिथ्यापि सन्निति च सूत्रकृदाह यत्नात्।
गुर्वादि सर्वमिदमद्वयबुद्धिहेतु—
र्मायानिबन्धनमिति प्रतिपादनाय॥

शङ्का—विश्व यदि प्रतीतिमात्ररूप है, नियत कारण से जनित नहीं, तब श्रुतियों में स्वर्गादि के लिए ज्योतिष्टोमादि का, ब्रह्म-साक्षात्कारार्थ श्रवणादि का विधान एवं आकाशादिगत वाय्वादि की कारणता का प्रतिपादन असंगत हो जाता है।

न्यायामृतम्

रणाजन्यत्वे श्रुतिषु स्वर्गाद्यर्थं ज्योतिष्टोमादिविधेर्ब्रह्मसाक्षात्कारार्थं श्रवणादिविधेराकाशादेर्वाय्वादिहेतुत्वोक्तेश्चायोगात् । तत्रापि तृप्त्यर्थं भोजने परप्रत्यायनाद्यर्थं शब्दोच्चारणादौ च प्रवृत्त्ययोगेन स्वक्रियादिविरोधाच्च । यदि तूक्तश्रुत्यादिकमपि स्वाप्नश्रुत्यादितुल्यमिति न पर्यनुयोज्यम्, तर्ह्यद्वैतश्रुतितन्मीमांसादिकमपि तथेति न तेनाद्वैतसिद्धिः । दृष्टिसृष्टिपक्षे घटादेः ज्ञानात्पूर्वमसत्त्वेन प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तेश्च । शुक्तीदमंशस्यापि रूप्यवदिदं रूप्यमितिज्ञानात्प्रागसत्त्वेन संप्रयोगादिहेतुत्रयजन्यत्वरूपस्याध्यासतटस्थलक्षणस्य, सत्यस्य मिथ्यावस्तुसम्भेदावभासत्वरूपस्वरूपलक्षणस्य

अद्वैतसिद्धिः

विधेः ब्रह्मसाक्षात्कारार्थं श्रवणादिविधेराकाशादेर्वाय्वादिहेतुत्वस्य चोक्तिरयुक्तेति—चेन्न; स्वाप्नकार्यकारणभावबोधकवाक्यवदुपपत्तेः । न चैवं वेदान्तवाक्यस्य तन्मीमांसायाश्च स्वप्नवाक्यतन्मीमांसातुल्यतापत्तिः; विषयबाधाबाधाभ्यां विशेषोपपत्तेः । अत एव—तृप्त्यर्थं भोजने परप्रत्यायनार्थं शब्दादौ च प्रवृत्तेरयोगेन स्वक्रियाव्याघात इति—निरस्तम्; स्वाप्नव्यवहारवदुपपत्तेः ।

नन्वेवं—घटादेः स्वज्ञानात्पूर्वमसत्त्वेन प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तिः, अधिष्ठानस्यापि शुक्तीदमंशस्य रूप्यादिवद् 'इदं रजत'मिति ज्ञानात्प्रागसत्त्वेन संप्रयोगादिहेतुत्रयजन्यत्वरूपाध्यासतटस्थलक्षणस्य, सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसंभेदावभास इत्यस्य स्वरूपलक्षणस्य च चायोग इति-चेन्न, प्रतिकर्मव्यवस्थायाः संप्रयोगादिहेतुत्रयजन्यत्वरूपाध्यासतटस्थलक्षणस्य च मन्दाधिकारिविषयत्वात् । सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसंभेदावभास इति स्वरूपलक्षणं तु दृष्टिसृष्टिपक्षेऽप्यविरुद्धम्, न हीदमंशावच्छिन्नं चैतन्यं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—प्रतीतिमात्र स्वरूप स्वाप्न सृष्टि के कार्य-कारण भाव का श्रुतियों में प्रतिपादन जैसे सार्थक है, उसी प्रकार स्वर्गादि एवं ज्योतिष्टोमादि का कार्य-कारणभाव-प्रतिपादन भी सफल और युक्ति-युक्त है। 'इस प्रकार तो वेदान्त-वाक्य एवं ब्रह्म-मीमांसा भी स्वाप्न वचन एवं स्वाप्न मीमांसा के समान अप्रामाणिक हो जायगी'—ऐसा सन्देह नहीं कर सकते, क्योंकि स्वाप्न वाक्य बाधितार्थक हैं, किन्तु श्रुति-वाक्य अबाधितार्थक, अतः स्वप्न वाक्यों से विलक्षण श्रौत वाक्यों की प्रामाणिकता नितान्त विश्वसनीय है। अत एव—तृप्त्यर्थभोजने, परप्रत्यायनार्थशब्दादौ प्रवृत्तेरयोगेन स्वक्रिया-व्याघातः'—यह आक्षेप भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि स्वप्नादि के समान ही समस्त व्यवहार का सामञ्जस्य इस मत में हो जाता है।

शङ्का—दृष्टि-सृष्टि वाद में यदि घटादि की अपने ज्ञान से पूर्व सत्ता नहीं, तब विषय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष न हो सकने के कारण किस ज्ञान का कौन विषय है—इस प्रकार की प्रतिकर्म-व्यवस्था कैसे हो सकेगी ? रजतादि के समान ही शुक्त्यादिरूप अधिष्ठान भी इदं रजतम्'—इस ज्ञान से पूर्व यदि सत् नहीं, तब अधिष्ठानेन्द्रिय-सम्प्रयोग, संस्कार और दोषरूप त्रिविध कारण-जन्यत्वरूप रजतादि-अध्यास के तटस्थ लक्षण एवं सत्यानृतमिथुनीकरणावभासरूप स्वरूप लक्षण की अनुपपत्ति हो जाती है।

समाधान—प्रतिकर्म-व्यवस्था एवं अध्यासीय तटस्थ लक्षणादि का उपपादन केवल मन्द अधिकारी के उद्देश्य से किया गया है। अध्यास का सत्य-मिथ्या वस्तु-संभेदाव-भासरूप स्वरूप लक्षण तो दृष्टि-सृष्टि-पक्ष में भी विरुद्ध नहीं, क्योंकि इदमंशावच्छिन्न

न्यायामृतम्

चायोगाच्च। इदं रूप्यमिति ज्ञानकाले शुक्तित्वादेरभावेनाध्यासस्य तदज्ञानकार्यत्वादिप्रक्रियाविरोधाच्च। इदं रूप्यमिति ज्ञानयोर्भिन्नविषयत्वेन बाध्यबाधकभावानु-

अद्वैतसिद्धिः

न वस्तु, न वा मिथ्यारूप्यस्य तेन सह न संभेदावभासः। न च—'इदं रूप्य'मिति ज्ञानकाले शुक्तित्वादेरभावेनाध्यासस्य तदज्ञानकार्यत्वादिप्रक्रियाविरोध इति—वाच्यम्; 'इदं रूप्य'मिति ज्ञानकाले शुक्तित्वस्याभावेऽपि तदज्ञानस्थित्यविरोधात्। न हि सत्ताकाल इव सत्ताविरहकालेऽपि अज्ञानं विरुध्यते। न च—'इदं रूप्यं नेदं रूप्य'मिति ज्ञानयोर्भिन्नविषयत्वेन बाध्यबाधकभावानुपपत्तिरिति—वाच्यम्, भिन्नविषयत्वेऽपि विषययोः सारूप्यात् स्वप्नबाध्यबाधकयोरिव बाध्यबाधकभावोपपत्तेः। न च—रूप्यादिबाधस्यापि दृष्टिसृष्टित्वे तेन रूप्यादेर्मिथ्यात्वासिद्धिरिति—वाच्यम्; बाध्यान्यूनसत्ताकत्वमेव बाधकत्वे प्रयोजकम्, न त्वधिकसत्ताकत्वमित्यस्योपपादितत्वेन व्यावहारिकेण व्यावहारिकबाधवत् प्रातिभासिकेन प्रातिभासिकबाधाविरो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

चैतन्य सत्य वस्तु है, और मिथ्या रजत का उसके साथ सम्भेदावभास भी है।

शङ्का—'इदं रजतम्'—इत्याकारक भ्रम के समय अधिष्ठान का ज्ञान नहीं होता, दृष्टि-सृष्टि-पक्ष में ज्ञान न होने पर विषय का भी अभाव रहता है, विषयाभाव होने पर उसका अज्ञान भी नहीं रह सकता, अतः शुक्ति रूप अधिष्ठान के अज्ञान की कार्यता उक्त अध्यास में नहीं बन सकती, फलतः अधिष्ठान के अज्ञान से अध्यास की उत्पत्ति-प्रक्रिया असंगत हो जाती है।

समाधान—'इदं रजतम्'—इस भ्रम-काल में शुक्तित्वरूप अधिष्ठान के न रहने पर भी उसके अज्ञान की अवस्थिति में किसी प्रकार का विरोध नहीं, क्योंकि दृष्टि-सृष्टिवाद में भावी पदार्थ जैसे ज्ञान का विषय होता है, वैसे ही अज्ञान का भी विषय होता है। शुक्त्यादि जड़ वस्तु के सत्ता-काल में भी अज्ञान की विषयता जड़ पर न होकर जड़ावच्छिन्न चैतन्य पर मानी जाती है, वैसे विषय के न रहने पर भी भावी विषयावच्छेदेन चैतन्य में अज्ञान की विषयता मानी जाती है।

शङ्का—दृष्टि-सृष्टि-पक्ष में दो ज्ञानों का विषय एक नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न ही होता है, अतः 'इदं रजतम्' तथा 'नेदं रजतम्'—इन दोनों ज्ञानों का विषय भी भिन्न-भिन्न ही होगा, तब इनमें बाध्य-बाधकभाव कैसे बनेगा? क्योंकि बाध्य-घातकभाव समानविषयक ज्ञानों का ही होता है

समाधान—यह सत्य है कि उक्त दोनों ज्ञानों के विषय भिन्न होते हैं, तथापि उनमें सारूप्य अवश्य रहता है, अतः स्वाप्न बाध्य-बाधक भाव के समान सदृशविषयक ज्ञानों का भी बाध्य-बाधक भाव बन जाता है।

शङ्का—दृष्टि-सृष्टि-पक्ष में रजत के समान रजताभाव भी मिथ्या ही है, अतः उससे रजत का बाध कैसे होगा? क्योंकि प्रातिभासिक रजत का व्यावहारिक रजताभाव के द्वारा बाध अनुभव-सिद्ध है, समानसत्ताक पदार्थों का बाध्य-बाधक नहीं होता।

समाधान—बाधक को बाध्य की अपेक्षा अधिक सत्ताक होना आवश्यक नहीं, अपितु बाध्यान्यूनसत्ताक होना पर्याप्त होता है। स्वाप्न पदार्थ का स्वाप्न पदार्थ से बाध अनुभूत है, अतः व्यावहारिक अन्धकार का व्यावहारिक प्रकाश के द्वारा जैसे बाध्य-

न्यायामृतम्

पपत्तेश्च, रूप्यादिबाधस्यापि दृष्टिसृष्टित्वेन तेन रूप्यादेर्मिथ्यात्वासिद्धेश्च, सुषुप्तिप्रलयादौ जीवब्रह्मविभागस्याप्रतीतत्वेनाविद्यमानतया प्रत्यहं प्रतिप्रलयं च मुक्तस्य पुनरावृत्त्यापाताच्च, सुप्तं प्रति संस्कारादेरप्यभावेन तस्य पुनरुद्बोधायोगाच्च, मोक्षस्यापि दृगन्यत्वेन स्वाप्नमोक्षवद् दृष्टिसृष्टिमात्रत्वापाताच्च, चिन्मात्रस्यैव घटादिदृष्टित्वे तस्य सदा प्रतीत्यापत्त्या विशिष्टस्य तत्त्वे वाच्ये तस्यापि विशिष्टस्य दृष्टिसृष्टित्वेऽनवस्थादिप्रसंगाच्च, उक्तन्यायेन दोषाज्ञानदृष्टदेहेन्द्रियादीनामभावे भ्रांत्य-

---

अद्वैतसिद्धिः

धात् । न च—सुषुप्तिप्रलयादौ जीवब्रह्मविभागस्याप्रतीतत्वेनाविद्यमानतया प्रतिसुषुप्ति प्रतिप्रलयं च मुक्तस्य पुनरावृत्त्यापत्तिरिति—वाच्यम्, जीवब्रह्मविभागादेरनादित्वेन दृष्टिसृष्टित्वानभ्युपगमस्योक्तत्वात् । न च सुप्तं प्रति संस्कारादेरप्यभावेन तस्य पुनः प्रबोधायोगः, कारणात्मना संस्कारादेः सत्त्वात् । न च मोक्षस्य दृगन्यत्वेन स्वाप्नमोक्षवद् दृष्टिसृष्ट्यापत्तिः, मोक्षस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन दृग्भिन्नत्वासिद्धेः । न च—चैतन्यमात्ररूपा दृष्टिर्न सृष्टिः, किंतु वृत्तिविशिष्टचैतन्यरूपा वा, वृत्तिरूपा वा, दृष्टिः सृष्टिरिति वाच्यम्, तथा च तस्या अपि दृष्ट्यन्तरं सृष्टिरित्यनवस्थेति—वाच्यम्, चैतन्यमात्रस्य दृष्टित्वे यद्यपि तत्समानसत्ताकतया घटादेः सदातनत्वापत्तिः, तथापि वृत्त्युपहितचैतन्यमेव दृष्टिशब्दार्थः । वृत्तावपि वृत्तिरेव स्वस्वरूपा चैतन्योपाधिरिति नानवस्था । अत एव—दोषाज्ञानदृष्टदेहेन्द्रियादीनामभावे न भ्रम

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

बाधकभाव होता है, वैसे ही प्रातिभासिक रजत का प्रातिभासिक रजताभाव से बाध क्यों न होगा ?

शङ्का—सुषुप्ति और प्रलयादि में जीव, ब्रह्मादि का विभाग अप्रतीयमान है, अतः दृष्टि-सृष्टि पक्ष की रीति से उसका अभाव मानना होगा, फिर तो प्रत्येक सुषुप्ति और प्रलय में मुक्त पुरुष की पुनरागति होनी चाहिए ।

समाधान—जीव, ब्रह्मादि का विभाग अनादि होता है, अनादि पदार्थ दृष्टि-सृष्टि की कक्षा से बाहर होते हैं—यह कहा जा चुका है । सुषुप्ति में कार्यरूपेण संस्कारों के न रहने पर भी कारणरूपेण संस्कारों की अवस्थिति मानी जाती है, अतः सुषुप्ति से उत्थान की अनुपपत्ति नहीं होती । मोक्ष भी ब्रह्मस्वरूप होता है, अतः वह न तो दृग् से भिन्न है और न दृष्टि-सृष्टि स्वरूप ।

शङ्का—चैतन्यमात्ररूप दृष्टि को सृष्टि नहीं कह सकते, अपितु वृत्ति-विशिष्ट चैतन्यरूप या केवल वृत्तिरूप दृष्टि को सृष्टि माना जाता है, अतः उक्त दोनों दृष्टियों के अनित्य या सृष्ट्यात्मक उनकी मूलभूत दृष्टि दूसरी एवं दूसरी दृष्टिरूप सृष्टि की नियामिका दृष्टि तीसरी—इस प्रकार अनवस्था होती है ।

समाधान—यद्यपि चैतन्यमात्र को दृष्टि मानने पर तद्रूप घटादि सृष्टि में सदातनत्वापत्ति होती है, तथापि वृत्त्युपहित चैतन्य को ही 'दृष्टि' शब्द का अर्थ मानना चाहिए । वृत्ति रूप सृष्टि में भी वही वृत्ति चैतन्यरूप दृष्टि की उपघायिका मानी जाती है, अतः अनवस्था-प्रसक्ति नहीं होती । अत एव जो यह कहा जाता था कि दोष, अज्ञान, अदृष्ट, देह तथा इन्द्रियादि का अभाव होने पर भ्रम नहीं हो सकता, दोषादि को भी दृष्टि-सृष्टि मानने पर उनके लिए अन्य दोषादि की अपेक्षा में अनवस्था प्राप्त

न्यायामृतम्

योगने तेषामपि दृष्टिसृष्टित्वेऽनवस्थापाताच्च, घटादेर्दृष्टिसृष्टिरित्यस्यापि दृष्टि-सृष्टित्वेन घटादेरदृष्टिसृष्ट्यापाताच्च, प्रत्यभिज्ञाविरोधाच्च, दीपादौ परिमाणा-

अद्वैतसिद्धिः

इति तेषामपि दृष्टिसृष्टित्वे अनवस्थेति—निरस्तम्, स्वाप्नभ्रमवद् देहेन्द्रियादिनैर-पेक्ष्येणाप्युपपत्तेः। अन्वयव्यतिरेकानुविधानं च तद्वदेव। न च—दृष्टिसृष्टेरपि दृष्टि-सृष्टित्वेन घटादेरदृष्टिसृष्टित्वापत्तिरिति—वाच्यम्, ज्ञानस्य ज्ञेयत्वेऽपि विषयस्या-ज्ञेयत्वाभाववत् दृष्टिसृष्टेर्दृष्टिसृष्टित्वेऽपि घटादेरपि दृष्टिसृष्टित्वोपपत्तेः।

ननु—ऐक्यप्रत्यभिज्ञाविरोधः, पूर्वकालप्रतीतस्येदानीमभावात्, न चैषा भ्रान्तिः, दीपादौ परिणामभेदस्येवेह बाधकस्याभावात्, तदभावेऽपि भ्रान्तित्वे घटादेरप्येकस्मिन् क्षणे भेदस्यात्मनोऽपि प्रतिक्षणं भेदस्य च प्रसङ्ग इति—चेन्न, 'नेह नाने'त्यादिश्रुतिभिः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेऽवधृते रज्जुसर्पादिवत् प्रतिभासमात्रशरीरत्व-मेव प्रतिभासकालातिरिक्तकालसत्त्वे बाधकम्, अतो भिन्नकालानामात्मभिन्नानां प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिः। आत्मन्येकप्रतीतिरेककालावच्छेदेन घटादौ चैक्यप्रत्यभिज्ञा न

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होती है। वह कहना भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि स्वाप्न भ्रम के समान दोष, देह, इन्द्रियादि का अभाव होने पर भी भ्रम-परम्परा का प्रवाह उपपन्न हो जाता है। भ्रम के साथ देहादि के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान भी स्वप्न के समान ही हो जाता है।

शङ्का—दृष्टि-सृष्टि भी दृष्टि-सृष्टिरूप होने के कारण घटादि को दृष्टि-सृष्टिरूपता से मुक्ति मिल जानी चाहिए।

समाधान—ज्ञेयरूप विषय का ज्ञान भी जब ज्ञेय हो जाता है, तब उसका विषय ज्ञेयरूपता से छुटकारा जैसे नहीं पाता, वैसे दृष्टि-सृष्टि के दृष्टि-सृष्टिरूप होने पर भी घटादि दृष्टि-सृष्टि की कक्षा से बाहर नहीं जा सकते।

शङ्का—दृष्टि-सृष्टि-पक्ष में प्रत्यभिज्ञा प्रमाण का विरोध होता है, क्योंकि पूर्व काल में प्रतीत वस्तु की वर्तमान काल में सत्ता नहीं मानी जाती। 'सोऽयं घटः'—इत्यादि प्रत्यभिज्ञा को भ्रमात्मक नहीं माना जा सकता, क्योंकि दीप-शिखा के समान घटादि में प्रत्यभिज्ञा का बाधक उपलब्ध नहीं होता। बाध के विना भ्रान्ति मानने पर घटादि का भी एक ही क्षण में भेद एवं आत्मा का भी प्रत्येक क्षण में भेद मानना होगा। अतः आत्मादि की एकता की सिद्धि के लिए प्रत्यभिज्ञा की प्रमाण-रूपता माननी आवश्यक है, उसके आधार पर जब पूर्वोत्तर कालीन घटादि की एकता सिद्ध होती है, तब दृष्टि-सृष्टिवाद उन्हें अनेक कैसे सिद्ध कर सकेगा?

समाधान—'नेह नानास्ति''—इत्यादि श्रुतियों के आधार पर प्रपञ्च में मिथ्यात्व का निश्चय होने पर प्रतीति-काल से भिन्न काल में उनकी सत्ता का बाध रज्जु-सर्पादि के समान प्रतीतिमात्र शरीरत्व ही होता है। अतः आत्मा से भिन्न घटादि पदार्थों की प्रत्यभिज्ञा को भी भ्रमरूप ही मानना होगा। आत्मा में एकता तथा घटादि में एकक्षणावच्छेदेन एकता की प्रत्यभिज्ञा को भ्रान्तिरूप नहीं मान सकते, क्योंकि आत्मगत सदा एकता एवं घटादिगत एक काल में एकता का कोई बाधक नहीं। अन्य पुरुष के द्वारा प्रतीयमान घटादि की अन्य पुरुषीय प्रतीयमान घट के साथ

न्यायामृतम्

विभेदकस्यैवेह बाधकस्याभावात् , तदभावेऽपि भ्रान्तित्वे च घटादेरप्येकस्मिन्नपि क्षणे भेदस्यात्मनोऽपि प्रतिक्षणं भेदस्य च प्रसंगात् , सोऽयं देवदत्त इत्यादिदृष्टान्तेन तत्त्वमस्यादौ जहदजहल्लक्षणयैक्यपरत्वोक्त्ययोगाच्च, अत्र भेदस्यापि दृष्टिसृष्टित्वेन

अद्वैतसिद्धिः

भ्रान्तिः। एककालावच्छिन्नघटादावात्मनि चाभेदे बाधकाभावात्। पुरुषान्तरप्रतीतेन सहैककालावच्छेदेनापि घटादौ प्रत्यभिज्ञानं भ्रम एव, प्रतिभासस्य भेदात्। यथा एकस्यामेव रज्ज्वां मन्दान्धकारवर्तिन्यां दशानां युगपत् सर्पभ्रमेण पलायमानानां परस्परसंवादेनैक एव सर्पः सर्वैरनुभूयत इति प्रत्यभिज्ञा भ्रमः, अन्यभ्रमसिद्धस्यान्येन ज्ञातुमशक्यत्वात्। ननु—अत्र कथमभेदभ्रमः ? तत्कारणस्य सादृश्यादेः कस्याप्यभावादिति— चेन्न, स्वाप्नाभेदभ्रमवद् दृष्टिसृष्टिसिद्धसादृश्यादिसंभवात्। न चैवं—अभेद एवोत्पद्यतामिति—वाच्यम्, इष्टापत्तेः, रज्जुसर्पादिवदुत्पन्नस्यैव ग्रहणनियमात्। न च क्वचिदुत्पद्यते क्वचिन्नेत्यत्र नियामकाभावः, मायाया विचित्रशक्तिकत्वाभ्युपगमात्। न च—'सोऽयं देवदत्त' इति दृष्टान्तेन तत्त्वमस्यादिवाक्ये जहदजहल्लक्षणयैक्यपरत्वोक्त्ययोग इति- वाच्यम्, यद्यपि धर्मवद्धर्म्यभेदोऽपि बाधित

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

एक काल में एकता की प्रत्यभिज्ञा को भ्रम माना जाता है, क्योंकि उन दोनों घटों की मूलभूत दृष्टियाँ भिन्न होती हैं। जैसे मन्दान्धकार-निहित एक ही रज्जु में दश व्यक्तियों को एक साथ सर्प-भ्रान्ति होती है और वे सभी भय-भीत होकर भाग खड़े होते हैं। उनके भ्रम के संवाद पर आधृत 'स एव सर्पः'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा भ्रमात्मक मानी जाती है, क्योंकि अन्यदीय भ्रम से सिद्ध पदार्थ का ज्ञान अन्य पुरुष को नहीं हो सकता।

शङ्का—मन्दान्धकारस्थ रज्जु में जो दश व्यक्तियों को सर्प-भ्रम होता है, वहाँ स एव सर्पः'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा को भ्रमरूप नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'इदं रजतम्'—इत्यादि अभेद-भ्रम में अपेक्षित सादृश्यादि का सर्प में अभाव है।

समाधान—स्वाप्न अभेद-भ्रम के समान दृष्टि-सृष्टि-सिद्ध काल्पनिक सादृश्य वहाँ भी संभावित है, वास्तविक सादृश्य की अपेक्षा ही नहीं।

शङ्का—बहुपुरुषीय भ्रम-विषयीभूत सर्प में काल्पनिक सादृश्य की अपेक्षा काल्पनिक एकता की ही उत्पत्ति क्यों नहीं मान ली जाती ?

समाधान—काल्पनिक एकता की उत्पत्ति हमें अभीष्ट ही है, जैसे कि रज्जु में उत्पन्न प्रातिभासिक सर्प का ही ग्रहण होता है, वैसे ही सर्पगत उत्पन्न प्रातिभासिक एकता का ही ग्रहण होता है—'स एवायं सर्पः'। 'इदं रजतम्'—इस प्रतीति का विषयीभूत रजत तात्कालिक उत्पद्यमान है, किन्तु 'अयं घटः'—इत्यादि प्रतीतियों का विषय तात्कालिक उत्पद्यमान नहीं—यह क्यों ?' इस शङ्का के समाधान में माया की विचित्र शक्तियों को सर्वविध वैविध्य का एक मात्र कारण बताया जाता है।

शङ्का—'सोऽयं देवदत्तः'—इस दृष्टान्त के आधार पर 'तत्त्वमसि'—इस महा वाक्य में जहदजद् लक्षणा के द्वारा ऐक्य-स्थापन सर्वथा असंगत है, क्योंकि चैतन्यगत भेद के समान अभेद भी दृष्टि-सृष्टिरूप होने के कारण बाधित ही है।

समाधान—यद्यपि तत्ता-इदन्तादि धर्मों के समान देवदत्तादि धर्मिगत अभेद

न्यायामृतम्

तज्ज्ञानस्य बाधकत्वायोगाच्च, "ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवं विश्वमिदं जगदि"त्यादिश्रुतिविरोधाच्च, भिन्नत्वेन प्रतीतस्य घटपटादेरभेदः अभिन्नत्वेन प्रतीतस्य घटस्य प्रतिक्षणं भेद इति दृष्टहानादृष्टकल्पनापाताच्च । तस्मात्—

निर्बाधप्रत्यभिज्ञानाद् ध्रुवं विश्वमितिश्रुतेः ।
स्वक्रियादिविरोधाच्च दृष्टिसृष्टिर्नयुज्यते ॥

अद्वैतसिद्धिः

एवेति जहदजहल्लक्षणापि न युज्यते, तथापि यदा धर्माभेदो बाधान्न गृहीतः, किंतु धर्म्यभेद एव, तदा 'सोऽयमित्यादौ जहदजहल्लक्षणासंभवेन दृष्टान्तत्वोपपत्तिः । न चाभेदस्यापि दृष्टिसृष्टित्वेन तज्ज्ञानस्य बाधकत्वायोगः, आत्माभेदस्यात्मरूपत्वेन दृष्टिसृष्टित्वाभावात् , अन्यूनसत्ताकत्वमात्रेण बाधकत्वोपपत्तेश्च । न च—साक्षात्कारस्यापि दृष्टिसृष्टित्वेन प्रमाणजन्यत्वाभावात् तत्त्वज्ञानत्वाभावेन ततो मुक्तिर्न स्यादिति- वाच्यम् , अबाधितविषयत्वेनैव तत्त्वज्ञानत्वोपपत्तेः, तस्य च दृष्टिसृष्टित्वेऽप्यक्षतेः । न च 'ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवं विश्वमिदं जगदित्यादिश्रुतिविरोधः, अनित्यतावादिभिरपि ध्रुवेत्यस्यान्यथानयने आवश्यके

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भी दृष्टि-सृष्टरूप होने के कारण बाधित है, अतः जहदजहद् लक्षणा भी युक्ति-युक्त नहीं, तथापि जब दो विरुद्ध धर्मों के अभेद में बाध का स्फुरण एवं धर्म्यभेद में बाध का स्फुरण नहीं होता, तब "सोऽयं देवदत्तः'—में जहदजहद् लक्षणा सम्भव होने के कारण दृष्टान्तता बन जाती है और उसके आधार पर तत् और त्वम्—दोनों की लक्ष्यभूत वस्तु का अभेद-प्रतिपादन किया जा सकता है । 'जीव और ब्रह्म का अभेद भी दृष्टि-सृष्टि होने के नाते बाधित है, अतः वह उनके भेद-भ्रम का बाधक नहीं हो सकता'—इस प्रकार का आक्षेप उचित नहीं, क्योंकि चैतन्य-भेद चैतन्य का स्वरूप होने के कारण दृष्टि-सृष्टिरूप नहीं माना जाता, अतः अबाधित होने से भेद-भ्रम का बाधक हो जाता है । वस्तुतः दृष्टि-सृष्टिरूप भेद का दृष्टि-सृष्टिरूप अभेद भी बाधक हो सकता है, क्योंकि बाधक में बाध्यान्यूनसत्ताकत्वमात्र अपेक्षित होता है—यह कहा जा चुका है ।

शङ्का—आत्म-साक्षात्कार भी दृष्टि-सृष्टिरूप होने के कारण मायिक है, प्रमाण-जनित नहीं, अतः उसे तत्त्व-ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता, तब उससे मुक्ति कैसे होगी?

समाधान—'प्रमाणजन्यं ज्ञानं तत्त्वज्ञानम्'—यह तत्त्व-ज्ञान का लक्षण नहीं, अपितु 'अबाधितविषयकं ज्ञानं तत्त्वज्ञानम्'—यह तत्त्व-ज्ञान की परिभाषा है । आत्म-साक्षात्कार दृष्टि-सृष्टिरूप होने पर भी अबाधित आत्मा को विषय करने के कारण तत्त्व-ज्ञान है और मोक्ष का साधन होता है ।

शङ्का—दृष्टि-सृष्टि-पक्ष की अस्थिरता के विरोध में ऋचा कह रही है ।

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे ।
ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम् ॥ (ऋ० ८।८।३२।४)

[अर्थात् जैसे द्युलोक, पृथिवी और ये पर्वत ध्रुव (स्थिर) हैं, यह समस्त जगत् ध्रुव हैं, वैसे ही यह (विशां पतिः) प्रजा-पालक स्वामी ध्रुव रहे ।]

समाधान—द्युलोकादि के अनित्यतावादी नैयायिक और वैशेषिक आदि दार्शनिक

न्यायामृतम्

अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरंतो"ति श्रुतावपि पूर्ववाक्ये "यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूदि"ति सुप्ताधारत्वेनोक्तस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञ-

अद्वैतसिद्धिः

दृष्टिसृष्टिप्रतिपादकश्रुत्यनुरोधेन आकल्पं संतानाविच्छेदपरत्वस्यैव युक्तत्वात्, अन्यथा 'ध्रुवो राजे'त्यादावगतेः । दृष्टिसृष्टौ च 'एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ती'ति श्रुतिः सुप्तोत्थितजीवात् प्राणादिसृष्टिं प्रतिपादयन्ती प्रमाणम् । न च—सुषुप्तौ प्राणादि-प्रपञ्चस्य सत्त्वात्किमर्थं पुनः सृष्टिरिति - वाच्यम्, 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्य-द्विभक्तं यत्पश्ये'दित्यादिना सुषुप्तौ सकलकार्यप्रपञ्चलयश्रवणात् । न च सुषुप्तौ 'हिता नाम नाड्य इति नाडीसत्त्वप्रतिपादकवाक्यविरोधः, केन क्रमेण सुषुप्तो भवतीत्यपेक्षायां हिता नाम नाड्यो हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेत' इत्यादिना सुषुप्त्यव्यवहितकाले क्रमोक्तये नाडीसत्त्वं प्रतिपाद्यते, न तु सुषुप्तिकालेऽपि, वाक्यान्तरविरोधात्, प्राक् सत्त्वमात्रेण च क्रमाभिधानपर्याप्तेः ।

ननु—'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूदिति यच्छब्देन सुप्ताधारत्वेनोक्तस्य ब्रह्मण एवास्मा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भी उक्त श्रुति के ध्रुव पद का चिरस्थायित्व के प्रतिपादन में ही तात्पर्य मानते है, नित्यता के प्रतिपादन में नहीं, अतः दृष्टि-सृष्टि-प्रतिपादक श्रुति के अनुरोध पर उक्त 'ध्रुव' पद को कल्प-पर्यन्त सन्तानाविच्छेद-प्रतिपादन-परक ही मानना युक्ति-युक्त है । अन्यथा 'ध्रुवो राजा'—इस वाक्य से किसी राजा की चिरस्थिरता का प्रतिपादन सम्भव नहीं होगा । दृष्टि-सृष्टि में "एवमेवास्मादात्मन सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः- सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति" (बृह० उ० २।१।२०) यह श्रुति सुषुप्ति से व्युत्थित जीव के द्वारा प्राणादि की सृष्टि या रचना बताती हुए प्रमाण मानी जाती है ।

शङ्का—सुषुप्ति में प्राणादि प्रपञ्च विद्यमान रहता है, अतः उसकी पुनः सृष्टि क्यों?

समाधान—"न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्" (बृह० उ० ४।३।२३) इत्यादि श्रुतियोंसे सुषुप्ति में सकल कार्यवर्ग का प्रलीन होना सिद्ध किया गया है । अतः सुषुप्ति अवस्था में प्राण भी नहीं रहते, दूसरे जागते पुरुष को जो सुषुप्त पुरुष के प्राणों की प्रतीति है, वह उस पुरुष की अपनी दृष्टि-सृष्टि है ।

शङ्का—सुषुप्ति में सर्व प्रपञ्च का प्रलय सम्भव नहीं, क्योंकि सुषुप्ति में "हिता नाम नाड्यः" (बृह० उ० २।१।१९) इस श्रुति के द्वारा 'हिता' नाम की नाडियों की सत्ता प्रतिपादित है, अतः सर्व कार्य का असत्त्व कैसे होगा ?

समाधान—सुषुप्ति अवस्था में नाडियों की सत्ता उक्त श्रुति के द्वारा प्रतिपादित नहीं, अपितु सुषुप्ति से पूर्वकाल में विद्यमान नाडियों की सत्ता को लेकर केवल सुषुप्ति-क्रम का प्रतिपादन वहाँ किया गया है—'हिता' नाम की नाडियाँ हृदय देश से लेकर पुरीतति तक फैली हुई हैं, जीव उन नाडियों के द्वारा पुरीतति नाडी में घुस कर गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) से अभिभूत हो जाता है । यदि सुषुप्ति में नाडियों की सत्ता मानी जाती है, तब सर्वकार्य-प्रपञ्च-प्रलय-प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध होता है, अतः यही व्यवस्था समुचित है कि सुषुप्ति-काल में नाडियों की सत्ता न मानी जाय और पूर्वकालीन नाडियों को लेकर केवल क्रम विशेष का उक्त श्रुति से प्रतिपादन माना जाय ।

न्यायामृतम्

ष्टृतोऽच्यते। न तु सुप्तोत्थिताज्जीवात्प्राणादिसृष्टिः, येनेयं दृष्टिसृष्टौ मानं स्यात्। अन्यथा वाक्यशेषे नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीतत''मित्यादिना सुषुप्तौ नाड्याद्युक्तिः, ''यथोर्णनाभिः'' ''यथाऽग्नेः क्षुद्रा विष्फुलिंगा'' इत्याद्युक्तिः, अत्रापि वाक्ये ''सर्वे लोका इत्याद्युक्तिश्चायुक्ता स्यात्, न हि दृष्टिसृष्टिपक्षे सुषुप्तौ नाड्यादिक- मूर्णनाभ्यग्न्यादितः तन्तुविष्फुलिंगजन्म वा सुप्तोत्थितस्य सर्वलोकादिदृष्टिर्वास्ति। न चोर्णनाभितंत्वग्निविष्फुलिंगदृष्टान्तो दृष्टिसृष्ट्यनुगुण इति न कल्पितं जगत्।

इति दृष्टिसृष्टिभंगः।

अद्वैतसिद्धिः

दात्मान इत्यनेन परामर्शात्तत्कर्तृकैव प्राणादिसृष्टिर्न तु सुप्तोत्थितजीवकर्तृका, अन्यथाग्न्यूर्णनाभ्यादेस्तन्तुविस्फुलिङ्गादिजननोक्तिरत्रापि वाक्ये सर्वलोकसृष्ट्युक्ति- श्चालीकार्था स्यात्, न हि दृष्टिसृष्टिपक्षे अग्न्यूर्णनाभ्यादेस्तन्त्वादिजनकत्वं सर्व- लोकसृष्टिर्वास्तीति—चेत्, न, यत्रेत्यस्य कालापरत्वेन यच्छब्देन ब्रह्मणो निर्देशा- भावात्। न च यत्रेत्यस्य ब्रह्मरूपाधिकरणपरत्वं कालपरत्वं वेत्यत्र विनिगमना- विरहः, अनन्तरवाक्ये क्वैष तदाभूदित्यत्र क्व तदेति पदद्वयोपादानस्यैव विनिगमक- त्वात्, यत्रेत्यनेन देशनिर्देशे क्वेति देशप्रश्नानुपपत्तेः, कालानिर्देशे च तदेति प्रतिनिर्देशानुपपत्तेः, भाष्यकारादिभिश्च स्थूलाधिकारिणं प्रति तथा व्याख्यानात्,

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—''यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूत्'' (बृह० उ० २।१।१७) इस श्रुति में अवस्थित 'यत्' पद के द्वारा सुप्त जीव के आधारभूत ब्रह्म का निर्देश किया गया है, उसी का ''अस्मादात्मनः'' (बृह० उ० २।१।२०) श्रुति के 'अस्मात्' पद से परामर्श होता है, अतः प्राणादि सृष्टि उसी ब्रह्म से व्युच्चरित होती है, सुप्तोत्थित जीव से नहीं। अन्यथा (सुप्तोत्थित जीव से सृष्टि की कल्पना करने पर) ''यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति'' (बृह० उ० २।१।२०) इस श्रुति में मकड़ी से तन्तु और अग्नि से विस्फुलिङ्ग (चिनगारियों) की उत्पत्ति का प्रतिपादन असंगत हो जायगा। इतना ही नहीं इस ''सर्वे लोकाः'' (बृह० उ० २।१।२०) श्रुति में सर्वलोक- सृष्टि का कथन भी संगत नहीं होता, क्योंकि दृष्टि-सृष्टिवाद में न तो मकड़ी में तन्तु की और न अग्नि में विस्फुलिङ्ग की जनकता मानी जाती है और न जीव में सर्व लोक की जनकता।

समाधान—''यत्रैष सुप्तो'' (बृह० उ० २।१।१७) इस श्रुति के 'यत्र' पद का अर्थ है—'जिस काल में।' 'यत्' पद से ब्रह्म का निर्देश नहीं है। 'यत्' पद ब्रह्मपरक है ? या कालपरक ? इस सन्देह के निर्णायक पूर्व वाक्य ''क्वैष तदाभूत'' (बृह० उ० २।१।१६) के घटक 'क्व' और 'तदा'—ये दोनों पद हैं, क्योंकि 'यत्र' पद के द्वारा ब्रह्मरूप अधिकरण का निर्देश मानने पर 'क्व' यह देशविषयक प्रश्न एवं काल का निर्देश न होने पर 'तदा' - यह काल विषयक निर्देश असंगत हो जाता है, अतः 'यत्र' शब्द का 'यस्मिन् काले'—यही अर्थ चाहिए। भाष्यकार ने जो कहा है—सुषुप्तिकाले परेण ब्रह्मणा जीव एकतां गच्छति, परमाच्च ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायते इति वेदान्त- मर्यादा'' (ब्र० सू० १।४।१८)। वह केवल मन्द अधिकारी को क्रमशः ऊपर उठाने के

अद्वैतसिद्धिः

ऊर्णनाभ्यादेस्तन्त्वादिजन्मोक्तिस्तु लौकिकभ्रमसिद्धकार्यकारणभावप्रसिद्धिमनुरुध्य। सर्वलोकादिसृष्टिश्च तत्तद्दृष्टिव्यक्तिमभिप्रेत्य, यदा तत् पश्यति, तत्समकालं तत् सृजतीत्यत्र तात्पर्यात्। न चाविद्यासहकृतजीवकारणकत्वे जगद्वैचित्र्यानुपपत्तिः, जगदुपादानस्याज्ञानस्य विचित्रशक्तिकत्वात्। उपपत्त्यन्तरं चात्र सिद्धान्तबिन्दुकल्पलतिकादावस्माभिरभिहितम्। वासिष्ठवार्तिकामृतादावाकरे च स्पष्टमेवोक्तम्। यथा—'अविद्यायोनयो भावाः सर्वेऽमी बुद्बुदा इव। क्षणमुद्भूय गच्छन्ति ज्ञानैकजलधौ लयम् ॥' इत्यादि। तस्मात् ब्रह्मातिरिक्तं कृत्स्नं द्वैतजातं ज्ञानज्ञेयरूपमाविद्यकमेवेति प्रातीतिकसत्त्वं सर्वस्येति सिद्धम् ॥ रज्जुसर्पादिवद्विश्वं नाज्ञातं सदिति स्थितम्। प्रबुद्धदृष्टिसृष्टत्वात्सुषुप्तौ च लयश्रुतेः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ दृष्टिसृष्ट्युपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

लिए कह दिया है। ऊर्णनाभि और अग्नि से जो तन्तु और विस्फुलिङ्गादि की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया है, वह जनसाधारण-प्रसिद्ध कार्य-कारणभाव-भ्रम-सिद्ध अर्थ का अनुवादमात्र है, इसी प्रकार सर्वलोकादि की सृष्टि का प्रतिपादन भी तत्तद् दृष्टि व्यक्ति के अभिप्राय से किया गया है, अर्थात् 'यदा यत् पश्यति, तदा तत् सृजति'— इस प्रकार दृष्टि-समकाल सृष्टि के सामूहिक रूप का प्रदर्शन मात्र है।

शङ्का—दृष्टि-सृष्टिवाद में एक ही जीव जगत् का सर्जक माना जाता है, उस एकविध कारण से विविध जगत् की सृष्टि कैसे सम्भव होगी ? सभी दार्शनिक अविचित्र कारण से ही विचित्र कार्य की उत्पत्ति का निरास करते हैं—

एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यं च समस्य न।
शक्तिभेदो न चाभिन्नः स्वभावो दुरतिक्रमः ॥" (न्या०कु० १।७)

समाधान—जगत् का उपादानभूत अज्ञान विचित्र शक्ति-सम्पन्न है, अतः विश्व-वैचित्र्य की अनुपपत्ति नहीं होती। अर्थात् दृष्टि-सृष्टिवाद में केवल एक जीव जगत् का रचयिता नहीं माना जाता, अपितु अज्ञान-विशिष्ट जीव, उसका विशेषणीभूत अज्ञान का वैचित्र्य ही जगत् में परिलक्षित होता है। सिद्धान्तबिन्दु तथा कल्पलतिकादि में इस पक्ष का समर्थन अनेक तर्कप्रणाली से किया गया है। योगवासिष्ठ, वार्तिकादि मौलिक ग्रन्थों में दृष्टि-सृष्टिवाद का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट किया गया है—

अविद्यायोनयो भावाः सर्वेऽमी बुद्बुदा इव।
क्षणमुद्भूय गच्छन्ति ज्ञानैकजलधौ लयम् ॥ (योगवा०)

[अर्थात् ये समस्त घट-पटादि पदार्थ अविद्या-कल्पित हैं, जल-बुद्बुद के समान क्षणभर के लिए प्रकट होकर ज्ञानरूपी महासागर में विलीन हो जाते हैं]। इसलिए ब्रह्म-भिन्न समग्र ज्ञान-ज्ञेयात्मक द्वैत प्रपञ्च आविद्यक है, सब की प्रातीतिक सत्ता मात्र है—यह सिद्ध हो गया। यह विश्व रज्जु-सर्पादि के समान प्रातिभासिकमात्र है, इसकी अज्ञात सत्ता नहीं, सुप्तोत्थित जीव की दृष्टि ही सृष्टि है, सुषुप्ति में इसका विलय हो जाता है, जैसा कि श्रुतियाँ कहती हैं—"अथ हैतत् पुरुषः स्वपीति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति" (बृह० उ० २।१।७)। "सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति" (कैवो० १।१३)।

: ५३ :

एकजीववादविचारः

न्यायामृतम्

यच्चेदमुच्यते—"एकमेव च शरीरं सजीवमन्यानि तु स्वाप्नशरीरवन्निर्जीवानि, कृत्स्नं च जगत्तदज्ञानकल्पितं, बद्धमुक्तव्यवस्था तु नास्त्येव, जीवस्यैकत्वाद्, गुरुशिष्यादिव्यवस्था तु यावदविद्यं स्वप्नवद्युक्ता, निवृत्तायां तु तस्यां नास्त्येवेति"। तन्न, तस्मिन्नेकस्मिन् जीवे सुप्ते जगदप्रतीत्यापातात्, दृष्टिसृष्टिपक्षे तस्य सुषुप्ता-

अद्वैतसिद्धिः

स च द्रष्टैक एव; तन्नानात्वे मानाभावात्। ननु—कथमेक एव जीवः, प्रतिशरीरं 'अहं सुखी अहं दुःखी अहं संसारी अहमस्य स्वामी'त्याद्यनुभवविरोधादिति—चेन्न; अविद्यावशाद् ब्रह्मैवैकं संसरति। स एव जीवः। तस्यैव प्रतिशरीरमहमित्यादिबुद्धिः स्वाप्नशरीरे 'अयं सुखी अयं दुःखी'त्येव यत्र बुद्धिर्न त्वहं सुखीत्यादि, तत्तु निर्जीवम्। यत्र त्वहमित्यादि तत् सजीवम्। जाग्रच्छरीरान्तरे अहमिति प्रतीत्यवच्छेदके सजीवतोक्तिर्न द्वितीयेन जीवेन सजीवत्वमित्यभिप्रेत्य, तत्र मानाभावात्। बन्धमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्तिस्तत्र मानमिति चेन्न, बन्धमोक्षगुरुशिष्यादिव्यवस्थायाः स्वप्नवद्यावदविद्यमुपपत्तेः। न चैवं तस्मिन्नेकस्मिन्नेव जीवे सुप्ते समस्तजगदप्रतीत्यापातः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पूर्वोक्त दृष्टि-सृष्टि का द्रष्टा जीव एक ही है, उसकी अनेकता में कोई प्रमाण नहीं।

द्वैतवादी—जीव एक कैसे ? अनेक मानने आवश्यक हैं, क्योंकि [महर्षि कणाद ने कहा है—"व्यवस्थातो नाना" (वै० सू० ३।२०)। इसी व्यवस्था के आधार पर सांख्याचार्य कहते हैं—"पुरुषबहुत्वं सिद्धम्" (सां० का० १८)। इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य जयन्त भट्ट कहते हैं—"एकस्मिन् सुखिनि न सर्वे सुखिनः, एकस्मिन् दुःखिते न सर्वे दुःखिता इति व्यवस्थादर्शनाद्, आत्मपरव्यवहारस्य च सर्वजनप्रतीतिसिद्धस्य दुरपह्नवत्वाद्, अन्यदृष्टे सुखसाधने वस्तुनि स्मरणानुसन्धानपूर्वकेच्छाद्वेषादिकार्यजातस्यान्यत्रानुपलम्भाद्, एकस्मिंश्च वीतरागे मोक्षमासादितवति संसारिणामन्येषामनन्त्यदर्शनाद्, अहम्प्रत्ययस्य प्रत्यगात्मवृत्तेः परत्रासम्भवाद्, जगद्वैचित्र्यस्य च पुरुषभेदनियतधर्माधर्मनिबन्धनस्यान्यथानुपपत्तेरात्मभेदस्य विस्पष्टसिद्धत्वात्" (न्या० मं० पृ० ५३६) अर्थात्] भिन्न-भिन्न शरीरों में मैं सुखी हूँ—मैं दुःखी हूँ, मैं संसारी हूँ—मैं मुक्त हूँ, मैं जागता हूँ—मैं सो रहा हूँ—इस प्रकार विभिन्न विरुद्ध अनुभूतियाँ एक जीववाद का स्पष्ट विरोध कर रही हैं।

अद्वैतवादी—अविद्या के वशीभूत होकर एक ही ब्रह्म संसरण (जनन से लेकर मरण और मोक्ष तक की भूमिकाओं का अभिनय करता है, वही जीव कहलाता है। उसी को प्रत्येक शरीर में अहङ्कारानुभूति होती है। सुषुप्तिगत पुरुष के जिस शरीर के लिए दूसरे व्यक्तियों को 'अयं सुखी अयं दुःखी'—इस प्रकार की बुद्धि होती, स्वयं सुषुप्त पुरुष को जहाँ अहं सुखी—यह भान नहीं होता, वह शरीर निर्जीव और जहाँ अहं सुखी—यह प्रतीति होती है, वह शरीर सजीव होता है। जाग्रत् काल के अनन्त शरीरों में एक ही जीव को अहम्—अहम्—यह प्रतीति होती है, दूसरे—तीसरे जीव को नहीं, क्योंकि द्वितीय जीव की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं। यह जो कहा गया कि बन्ध-

न्यायामृतम्

बुद्बोधकस्य संस्कारादेरप्यभावेन पुनरुद्बोधायोगाच्च। मम कल्पकत्वे तव मोक्षार्थे प्रवृत्त्ययोगेन तवैव कल्पकत्वे वाच्येऽस्मदादिबोधार्थं तव शब्दप्रयोगरूपस्वक्रियाविरोधाच्च। परमार्थतो मया नोच्यत इति चेन्न, व्यवहारत उक्तावपि मूकोऽहमित्यादाविव स्वक्रियाविरोधात्। न च स्वाप्नपुरुषवत् त्वत्कल्पितत्वादहं न पर्यनुयोज्य इति वाच्यम्, अपर्यनुयोज्यत्वे निर्मर्यादतया कथानधिकारापातात्, सजीवशरीर इवान्यत्रापि प्रतिशरीरमहं दुःखी अहं संसारी अहमस्वाप्स्मिति संसाराद्याधारजीवात्मानुभवाच्च, न चेयं धीर्भ्रांतित्वादेव निर्जीवेष्वेव शरीरेषु युक्ता, तेषामयं दुःखीत्यादिभ्रांतिविषयत्वेऽप्यहं दुःखीत्यादिभ्रांत्याधारत्वायोगात्। न हि स्वाप्नादिशरीराणि तथा

अद्वैतसिद्धिः

समष्ट्यभिमानिनो मुख्यजीवस्यासुप्तत्वात्। तस्मिन् लयकाले प्रसुप्ते जगदप्रतीतेः। अन्तःकरणावच्छिन्ने जीवाभासे तु, सुप्ते तमेव प्रति जगदप्रतीतिः, न त्वन्यानपि प्रति, तदुपाधीनामप्रलीनत्वात्। संस्कारस्य कारणात्मना स्थितेर्न सुप्तस्य पुनरुत्थानानुपपत्तिरित्युक्तम्। एतेन—मम कल्पकत्वे तव मोक्षार्थं प्रवृत्त्ययोगः, तव कल्पकत्वे त्वत्कल्पितास्मदादिबोधार्थं तव शब्दप्रयोगाद्यनुपपत्तिः, न च स्वप्नवत् पर्यनुयोगा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मोक्ष आदि की व्यवस्थानुपपत्ति जीव-नानात्व सिद्ध करती है, वह उचित नहीं, क्योंकि बन्ध-मोक्ष, गुरु-शिष्यादि की व्यवस्था अविद्या-पर्यन्त स्वप्न के समान बन जाती है। [अर्थात् जैसे एक जीव के अपने स्वप्न-काल में अनेक रूप और उनकी अनन्त विरुद्ध अनुभूतियाँ होती है, किन्तु वे सभी कल्पित जीवों की अनुभूतियाँ और व्यवस्थाएँ मूलभूत जीव को नाना नहीं सिद्ध कर सकतीं, वैसे ही कल्पित जीवों की ही बन्ध-मोक्ष की व्यवस्थाएँ हैं, वास्तविक की नहीं, अतः इनके आधार पर पुरुष-बहुत्व सिद्ध नहीं हो सकता। बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था पर योगवासिष्ठ की टिप्पणी है—

मिथ्या काल्पनिकी चेयं मूर्खाणां बन्धकल्पना।
मिथ्यैवाभ्युदिता तेषामितरा मोक्षकल्पना॥ (३।१००।३९)]

शङ्का—जीव यदि एक ही है और वह सुषुप्ति में विलीन हो गया, तब समस्त जगत् की प्रतीति ही समाप्त हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता, एक को सुषुप्ति में कुछ प्रतीत न होने पर भी दूसरे जीव इस जीते-जागते जगत् में व्यवहाररत रहते हैं।

समाधान—कल्पित व्यष्ट्यभिमानी गौण जीवों में ही सुप्तासुप्त-विभाग होता है, समष्ट्यभिमानी मुख्य जीव कभी सोता नहीं। उसके सुप्त हो जाने पर निश्चित रूप से जगत् की प्रतीति नहीं होती, किन्तु अन्तःकारणावच्छिन्न जीवाभासों में जो सुप्त हो जाता है, उसी को जगत् की प्रतीति नहीं होती, औरों को प्रतीति होती रहती है, क्योंकि उनके उपाधिरूप अन्तःकरण विलीन नहीं होते। सुषुप्ति अवस्था से उत्थापक संस्कार अपने कारणीभूत अविद्या के रूप में विद्यमान रहते हैं, अतः सुषुप्ति से उत्थान सम्भव हो जाता है—यह पहले कहा जा चुका है। यह जो आक्षेप किया जाता था कि चैत्रसंज्ञक गुरु से मैत्र नाम का शिष्य पूछता है कि अन्य जीवों का कल्पक (मुख्य) जीव मैं हूँ ? या आप ? यदि मैं हूँ तब आप कल्पित हैं, जीव नहीं, जीवाभास हैं, आपकी स्वतन्त्र मोक्ष के लिए वैसे ही प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, जैसे प्रतिबिम्ब की। यदि

न्यायामृतम्

भ्राम्यन्ति। न चेयं धीः सर्वदेहानुगतचिन्मात्रस्यैव न तु जीवस्येति युक्तम्, प्रतिबिम्बरूपे जीवे एव तदौचित्यात्।

नतु जीवो न ब्रह्मप्रतिबिंबादिः, किं तु कौन्तेयस्यैव राधेयत्ववत् ब्रह्मण एव जीवत्वं तच्च सर्वदेहगतमिति चेत्, कथं तर्हि शरीरांतराणां निर्जीवत्वं वक्ष्यते च कल्पितेनापि संसारेण कदाप्यस्पृष्टचैतन्याभावे नित्यमुक्तत्वश्रुतिविरोधः नापीयं धीः कल्पकजीवकल्पितजीवान्तरस्य कल्पितस्य भ्रान्त्याधारत्वायोगात्। अन्यथा अज्ञानभ्रान्तिसम्यग्ज्ञानमोक्षाणामैकाधिकरण्यनियमेन बहुजीववादः स्यात्। कल्पितस्य जीवस्य कल्पकं प्रति प्रत्यक्त्वायोगाच्च, अप्रत्यक्त्वेन भासमाने च प्रत्यक्त्वारोपायोगात्। अन्यस्य च प्रत्यक्त्वेनानुभवितुश्चेतनस्याभावात्, तथानुभवापलापे च तस्याप्येकस्य जीवस्याद्वैतश्रुतेश्चासिद्धेः। ननु चोक्ता दोषा एकशरीरैकजीववादे, न

अद्वैतसिद्धिः

योगः, एवमपर्यनुयोज्यत्वे निर्मर्यादतया कथानधिकारप्रसङ्गादिति—निरस्तम्, चैत्रमैत्रादिसर्वाभिमानिनो जीवस्य कल्पकत्वेन तव ममेत्यादिविकल्पानुपपत्तेः। नापि स्वक्रियादिविरोधः, स्वक्रियायाः कल्पितत्वादिनिश्चयविरहकालीनत्वेन पर्यनुयोगायोगात्। अथ ब्रह्मण एव जीवत्वेन तस्यैव बन्धमोक्षाविति तस्य नित्यमुक्तत्वादिश्रुतिविरोधः, न, मुक्तेः स्वस्वरूपत्वेन बन्धस्य चाविद्यकत्वेन तदविरोधः। न हि मृगतृष्णिकाकल्पितोदकेन स्वभावशुष्कापि मरुभूमिरार्द्रीभवति। एतेन-कल्पितस्य जीवस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आप कल्पक और मैं कल्पित जीवाभासमात्र हूँ, तब मेरे लिए आपका उपदेश वैसे ही असंगत है, जैसे प्रतिबिम्ब के प्रति किसी का उपदेश। स्वप्न के समान सब व्यवस्था करने वाले व्यक्ति का कथा (शास्त्र-चर्चा) में कोई अधिकार नहीं होता, क्योंकि स्वप्न के ही समान वह सभी मर्यादाओं का उल्लङ्घन करने वाला अनधिकारी है। वह आक्षेप भी इसलिए निरस्त हो जाता है कि चैत्र और मैत्र—दोनों ही कल्पित हैं, उनमें कल्पक कोई नहीं, उन सब का कल्पक समष्ट्यभिमानी जीव ही होता है। फिर भी चैत्र की परोपदेशार्थ इसलिए प्रवृत्ति हो जाती है कि किसी के कल्पित होने का भान उसे नहीं होता, जैसे कि स्वप्न-कल्पित शिष्यों को स्वप्न-द्रष्टा गुरु तब तक उपदेश देता रहता है, जब तक वह जागता नहीं। वहाँ किसी प्रकार के पर्यनुयोग (दोषारोपण) को अवसर नहीं मिलता।

शङ्का—यदि ब्रह्म ही जीव है, तब बन्ध और मोक्ष—दोनों उसी ब्रह्म के ही मानने पड़ेंगे, तब उसे नित्य मुक्त उद्घोषित करने वाली [नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तम्" (नृसिंहो० ९।८) इत्यादि] श्रुतियों से विरोध होता है।

समाधान—अविद्या-निवृत्तिरूप मोक्ष ब्रह्म का स्वरूप है और अविद्यारूप बन्ध आविद्यक, अतः यह वन्ध वैसे ही आत्मस्वरूप का बाधक नहीं होता, जैसे कि मृग-तृष्णा-कल्पित जल मरु-भूमि को गीला नहीं कर सकता, जैसा कि श्री सर्वज्ञात्ममुनि कहते हैं—

> "न हि भूमिरूषरवती मृगतड्जलवाहिनीं सरितमुद्वहति।
> मृगवारिपूरपरिवारवती न नदी तथोषरभुवं स्पृशति ॥" (सं०शा० ३।२५)

शङ्का—एकजीववाद में सभी कल्पित जीव एक कल्पक जीव के स्वरूपभूत माने

न्यायामृतम्

त्वनेकशरीरैकजीववादे, तस्य सर्वत्रापि सत्त्वादिति चेन्न, तथात्वेऽनुसंधाने तन्त्रस्य व्यावहारिकजीवभेदस्याप्यभावेन योगिनोऽनेकशरीरेष्विव तस्य सर्वशरीरगतदुःखाद्यनुसंधानापातात् । तस्य शुकादिदेहस्थस्य तत्त्वज्ञानमोक्षावन्यदेहस्थस्य तु न ताविति बंधमोक्षादिसंकरापाताच्च । तस्यैव तमेव प्रति प्रत्यक्त्वपराक्त्वयोरयोगेन मैत्रं प्रति त्वमितिधीविषयस्य चैत्रस्य तमेव प्रत्यहमिति धीविषयत्वायोगाच्च ।

अद्वैतसिद्धिः

कल्पकं प्रति प्रत्यक्त्वायोगः, तेन कल्पकेन प्रत्यक्त्वेनाज्ञानात्, अन्यस्यानुभवितुरभावात्, तथानुभवापलापे एकजीवाद्वैतश्रुत्यादेरप्यसिद्धिरिति—निरस्तम्, अनेकशरीरैकजीववादस्याङ्गीकारात् । न च - तर्हि तमेव प्रति प्रत्यक्त्वपराक्त्वयोरयोगः, मैत्रं प्रति त्वमितिधीविषयस्य चैत्रस्य तमेव प्रति अहमितिधीविषयत्वायोगश्चेति—वाच्यम्, भिन्नभिन्नान्तःकरणाभेदाध्यासेन तत्तदन्तःकरणमादाय प्रत्यक्त्वपराक्त्वाहमित्यादिबुद्धिविषयत्वव्यवस्थोपपत्तेः । न च चैत्रसुखदुःखादीनां मैत्रेणानुसन्धानापत्तिः, अन्तःकरणावच्छिन्नेनाविद्यावच्छिन्नेन वा ? नाद्यः, तत्र परस्परं भेदात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाते हैं। वहाँ यह जिज्ञासा होती है कि लोक-प्रसिद्ध अहम्—यह अनुभूति कल्पित जीव की है ? या कल्पक जीव की ? कल्पक जीव की कल्पित जीव में कभी अपनी अहन्ता (प्रत्यगात्मता) नहीं होती, अतः कल्पित जीव भी कल्पक को 'अहम्' नहीं कह सकता। तीसरा कोई अनुभविता माना नहीं जाता कि 'अहम्'—यह अनुभूति उसकी मान ली जाय। 'अहम्'—इस प्रकार की अनुभूति का सर्वथा अपलाप कर देने पर न तो एकजीव-वाद सिद्ध होता है और न अद्वैत-श्रुतियों का सामञ्जस्य होता है।

समाधान—अनेक शरीरों में एक ही जीव माना जाता है, वही सर्वत्र अहम्-अहम् इस प्रकार अनुभव करता है।

शङ्का—गुरु-शरीर में जो अपने को अहं कहता है, वही शिष्य के शरीर में अपने को ही त्वं कैसे कहेगा ? क्योंकि अहन्त्व और त्वन्त्व धर्मो का परस्पर विरोध होता है, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने कहा है—यथाहंकारप्रतियोगी त्वंकारो नैवमिदंकारः" (भामती पृ० ६)। लोक में ऐसा कभी नहीं देखा जाता कि मैत्र ने जिस चैत्र को त्वं समझ रखा है, उसे ही वह अहं कहे।

समाधान—एक ही आत्मा में विभिन्न अन्तःकरणों के अभेद का अध्यास होता है, अतः अहंत्व-त्वंत्व या प्रत्यक्त्व-पराक्त्व का निर्वाह हो जाता है। अर्थात् जीवाभास अनेक हैं, उनमें विभिन्न अन्तःकरणों के अभेद का अध्यास होता है, एक अन्तःकरण के अभेद का अध्यास जिसमें है, वह जीव दूसरे अन्तःकरण के अभेद-भ्रम वाले जीव को त्वम् कह सकता है।

शङ्का—एकजीव-वाद में चैत्र के द्वारा अनुभूत सुख-दुःखादि का मैत्र को भी स्मरण होना चाहिए, क्योंकि योगी जैसे अपने योग-निर्मित विभिन्न शरीरों की अनुभूतियों का अनुसन्धान करता है, वैसे ही दृष्टि-सृष्टिवाद में यदि एक ही जीव सभी शरीरों में विविध नामों से प्रख्यात है, तब सभी शरीरों की अनुभूतियों का सब को स्मरण होना चाहिए।

समाधान—जीव दो प्रकार के हैं—(१) अन्तःकरणावच्छिन्न और (२)

न्यायामृतम्

किं च श्रुतिषु "अविद्यायामन्तरे वर्तमाना" इत्यादावविद्या "रमणीयचरणा" इत्यादौ कर्मबंधः "सति संपद्य न विदु"रित्यादौ सुषुप्तिः "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था" इत्यादौ तत्त्वज्ञानं "परामृतात्परिमुच्यंति सर्वे" इत्यादौ मुक्तिश्च चेतनधर्मः कथमनेके-

अद्वैतसिद्धिः

न द्वितीयः, इष्टापत्तेः। अत एव - चैत्रस्य शुक्तिसाक्षात्कारेण रजतभ्रमनिवृत्तावन्येषामपि तन्निवृत्तिः स्यादिति—निरस्तम्, अन्तःकरणभेदेन व्यवस्थोपपत्तेः। ननु—एवं मुक्तावपि चैत्राद्यन्यतमान्तःकरणावच्छेदेन साक्षात्कारे उत्पन्ने तदवच्छेदेनैव संसारनिवृत्तिः स्यात्, न तु तदितरान्तःकरणावच्छेदेनापीति चेन्न, तत्साक्षात्कारस्य सविलासमूलाज्ञाननिवृत्तिरूपतया तत्कालेऽन्तःकरणस्याभावेन वैषम्यात्।

ननु—श्रुतिषु 'अविद्यायामन्तरे वर्तमाना'इत्यादावविद्या, 'रमणीयचरणा' इत्यादौ कर्मबन्धः, 'सति सम्पद्य न विदु'रित्यादौ सुषुप्तिः, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इत्यादौ तत्त्वज्ञानं, 'परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे'इत्यादौ मुक्तिश्च चेतनधर्मः कथमनेकेषूच्यत इति—चेन्न, 'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते'इत्यादिश्रुतिस्थैकवचनप्राप्तैकत्वविरोधेनोदाहृतश्रुतीनामनेकत्वपरत्वाभावात्। सर्वजनीन-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अविद्यावच्छिन्न। इनमें से अन्तःकरणवच्छिन्न जीव तो भिन्न-भिन्न होते हैं, उनके अन्तःकरण का परकोटा अपने संस्कारों को सीमित और नियन्त्रित रखता है। अविद्यावच्छिन्न जीव (मतान्तर में हिरण्यगर्भ) को सब जीवों के कृत्याकृत्य का भान एवं अनुसन्धान होता ही है। इसीलिए चैत्र के शुक्ति साक्षात्कार से मैत्रादि के रजत-भ्रम की निवृत्ति का आपादन भी असंगत हो जाता है, क्योंकि अन्तःकरण के भेद से सब व्यवस्थाएँ उपपन्न हो जाती हैं।

शङ्का—व्यवहार के समान ही मोक्ष में भी जिस अन्तःकरण के माध्यम से साक्षात्कार उत्पन्न होता है, उस अन्तःकरण के माध्यम से वह जीव मुक्त और अन्य अन्तःकरण के माध्यम से वही जीव बद्ध रहेगा।

समाधान—संसारावस्था से मोक्षावस्था का यह महान् अन्तर है कि मोक्षावस्था में तत्त्व-साक्षात्कार हो जाने पर कार्य-सहित मूलाज्ञान नष्ट हो जाता है, जिससे कि कोई अन्तःकरण रहता ही नहीं कि जिसके भेद से विरोधाभास उपस्थित हो।

शङ्का—"अविद्यायामन्तरे वर्तमाना" (कठ० १।२४) यह श्रुति अविद्या-ग्रस्त अनेक जीवों का प्रदिपादन करती है। "य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् कपूयचरणाः कपोयां योनिम्" (छां ४।१०।७) यह श्रुति पुण्य-पापरूप कर्मों के वैविध्य से अनेक जीवों की सूचना देती है। "सति सम्पद्य न विदुः" (बृह० उ० ६।९।२) यह श्रुति अनेक जीवों की सुषुप्ति में ब्रह्मरूपतापत्ति कह रही है। "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" (मुं० ३।२।६) यह श्रुति तत्त्व-ज्ञान-प्राप्त अनेक जीवों की मुक्ति कह रही है तथा परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे" (मुं० ३।२।६) यह श्रुति भी अनेक जीवों की मुक्ति का अभिधान करती है। इन सब का एकजीववाद में सामञ्जस्य कैसे होगा ?

समाधान—"अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते" (मां० कारिका० १।१६) यह श्रुति एक वचनान्त पदों के द्वारा स्पष्टरूप से जीव की एकता का प्रतिपादन करती है, अतः इसके विरोध में उदाहृत श्रुतियों को जीवानेकत्व-परक नहीं माना जा सकता।

न्यायामृतम्

बूच्येत । न ह्यस्मिन्मते चेतनबहुत्वं व्यावहारिकमप्यस्ति । न च मुक्तादिबहुत्वं प्राप्तम् । येन श्रुतिरतत्परा स्यात् । किं चैकस्यैव जीवस्येश्वरादिसर्वकल्पकत्वे जीवस्य कारणत्वं निषिध्येश्वरस्य कारणत्वविधायकैरविद्यायाश्चिन्मात्राश्रितत्वभंगे वक्ष्यमाणे श्रुति-

अद्वैतसिद्धिः

भ्रमसिद्धतदनुवादेनाविरोधात् । न च—उदाहृतश्रुतिविरोधेन 'इति सृष्टौ विनिश्चिता' इति पूर्वेण 'स पूज्यः सर्वभूताना'मित्युत्तरेण च विरोधेनेदमेकवचनं 'यदा नीतिपरो राजा' 'स्वर्गकामो यजेते'त्यादिवन्नैकत्वपरमित्येव किं न स्यादिति—वाच्यम्, प्रत्य-क्त्वपराक्त्वमहमित्यादिव्यवहारप्रयोजकान्तःकरणाभेदाध्यासबलाद् बहुत्वस्य प्राप्तत्वेन पूर्वोत्तरवाक्योदाहृतश्रुत्यादीनामतत्परत्वात् । न च—मुक्तबहुत्वं नान्यतः प्राप्तमिति—वाच्यम्, जीवबहुत्वस्य प्राप्तत्वेन मुक्त्यंश एवाप्राप्तत्वपर्यवसानात् । न चैकस्यैव जीवस्य सर्वकल्पकत्वे जीवस्य कारणत्वं निषिध्य ईश्वरकारणत्वविधायकैः श्रुत्यादि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जन-साधारण में जो जीवानेकत्व-भ्रम फैला हुआ है, उसी का अनुवाद उदाहृत श्रुतियों में किया गया है—ऐसा मान लेने पर किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता।

शङ्का—एकवचनान्त पद-घटित श्रुति के अनुरोध पर बहुवचनान्त पद-घटित श्रुतियों का जैसे अन्यथा नयन होता है, वैसे ही बहुवचनान्त पद-घटित श्रुति के अनुरोध पर एकवचनान्त पद-घटित श्रुति का अन्यथा नयन क्यों नहीं होता ? दूसरी बात यह भी है कि उक्त गौड़पादीय श्रुति अपने पूर्व और उत्तर के वाक्यों से विरुद्ध भी पड़ जाती है, क्योंकि "इति सृष्टौ विनिश्चिताः" (मां० कारिका० १।८) में कहा गया है कि सृष्टि के विषय में जीवों के अनेक मत हैं और "स पूज्यः सर्वभूतानाम्" (मां. कारिका. १।२२) यह उत्तरभावी वाक्य कहता है प्रणव-प्रवण मुनि सर्व जीवों का वन्द-नीय होता है, अतः यह बाध्य होकर यह मानना पड़ेगा कि "अनादिमायया सुप्तः" (मां. कारिका. १।१६) इस श्रुति के घटक एकवचन का एकत्व अर्थ वैसे ही अविवक्षित है, जैसे "यदा नीतिपरो राजा" एवं "स्वर्गकामो यजेत"—इत्यादि-स्थलों पर प्रयुक्त एक वचन एकत्वपरक नहीं माना जाता।

समाधान—अज्ञातार्थ के ज्ञापन में ही श्रुतियों का प्रामाण्य माना जाता है, ज्ञात-ज्ञापन में नहीं। जीवगत बहुत्व तो प्रत्यक्त्व पराक्त्व, अहत्व-त्वंत्व आदि सर्वजनीन व्यवहारों के आधार पर विभिन्न अन्तःकरणों के तादात्म्याध्यास के द्वारा प्राप्त ही है, अतः "अनादिमायया सुप्तः"—इस श्रुति के पूर्व वाक्य, उत्तर वाक्य तथा उदाहृत बहुवचनान्त पद-घटित श्रुति-वाक्य जीव-बहुत्व परक नहीं माने जा सकते।

शङ्का—सांसारिक जीवों की अनेकता तो लौकिक व्यवहारों और प्रमाणों से अवगत हो सकती है, किन्तु मुक्त पुरुषों का बहुत्व तो शास्त्रैकसमधिगम्य है, अतः वह प्राप्त नहीं, अप्राप्त बहुत्व के प्रतिपादक "परामृतात् परिमुच्यन्ति" (मुं० ३।२।६) इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य जीवानेकत्व में माना जा सकता है।

समाधान—प्राप्त अंश न तो विधेय होता है और न विधेय का विशेषण। लोकतः प्राप्त जीवगत नानात्व न तो विधेय हो सकता है और न मुक्तिरूप विधेय का विशेषण, अतः उक्त वाक्य के द्वारा केवल अप्राप्त मुक्ति का प्रापण या विधान होता है।

शङ्का—यदि एक जीव ही सर्व-कल्पक है, जगत् का स्रष्टा है, तब जीव में जगत

न्यायामृतम्

स्मृतिसूत्रैर्विरोधः। किं चैवं सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिश्रुतीनां निर्विषयत्वं स्यात्, चिन्मात्रे ज्ञत्वस्यैवाभावाद्, ईश्वरस्य च अयं सर्वज्ञ इति जीवेन कल्पितत्वेऽप्यहं सर्वज्ञ इति ज्ञातृत्वाभावेन, "तान्यहं वेद सर्वाणी" त्याद्ययोगात्। जीवस्य चासार्वज्ञ्यादिनैवानुभवात्। अपि च यः कल्पको जीवस्तस्यापि भावितत्त्वज्ञानमुपदेशसाध्यम्, "आचार्यवान्पुरुषो वेदे'तिश्रुतेः। न चान्यस्तत्त्वविद्गुरुरस्ति। ननु

अद्वैतसिद्धिः

भिर्विरोधः, अविद्याचिन्मात्राश्रयत्वोपपादने निरसिष्यमाणत्वात्। न च—एवं सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिबोधकश्रुतीनां निर्विषयत्वम्, शुद्धचैतन्ये ज्ञत्वस्यैवाभावात्, ईश्वरस्य च जीवभिन्नस्याभावाद्, जीवे सार्वज्ञ्यस्यानुभवबाधितत्वादिति—वाच्यम्, समष्ट्यभिमानिनो जीवस्य सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिस्वीकारात्। न चानुभवविरोधः, अन्तःकरणाभेदाध्यासबलात्तदननुभवतद्विपरीतानुभवयोरुपपत्तेः। सर्वाभिमानिनस्तु सार्वज्ञ्यानुभवोऽस्त्येव। अत एव 'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतपे'त्याद्युपप-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की कारणता का निषेध कर ईश्वर में जगत्कारणता का प्रतिपादन "जगद्वाचित्वात्" (ब्र० सू० १।४।१६) इस अधिकरण तथा "मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेता० ४।१०) इत्यादि श्रुतियों में क्यों किया गया है। यही कटाक्ष वाचस्पत्य मत पर किया गया है, उसका अनुवाद श्रीस्वामी अमलानन्द ने किया है—

जीवाज्जज्ञे जगत् सर्वं सकारणमिति ब्रुवन्।
क्षिपन् समन्वयं जीवे न लेजे वाक्यतिः कथम् ।। (कल्प० पृ० ४०४)

समाधान—अविद्या का आश्रयीभूत पदार्थ ही जगत् का रचयिता माना जाता है। अविद्या का आश्रय शुद्ध चैतन्य मात्र है—यह आगे चलकर कहा जायगा, अतः शुद्ध ब्रह्म ही जीव है और वही जगत् का स्रष्टा। वाचस्पत्य मत पर कथित आक्षेप का समाधान करते हुए कल्पतरुकार ने कहा है—

अधिष्ठानं विवर्तानमाश्रयो ब्रह्म शुक्तिवत्।
जीवाविद्यादिकानां स्यादिति सर्वमनाकुलम् ।। (कल्प० पृ० २३६)

शङ्का—एकजीव-वाद में सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्वादि की प्रतिपादक श्रुतियां निर्विषय या निरर्थक हो जाती है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य में सर्वज्ञत्व सम्भव नहीं, अन्यथा उसका शुद्धत्व भंग हो जाता है। ईश्वर में भी सर्वज्ञता नहीं बन सकती, क्योंकि इस मत में जीव से भिन्न ईश्वर की कोई सत्ता ही नहीं मानी जाती और जीव में सवज्ञता तो अनुभव में नहीं आती।

समाधान—समष्ट्यभिमानी जीव में सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व माना जाता है, सर्वज्ञत्व-प्रतिपादक श्रुतियाँ उसी की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करती हैं। योगी की सर्वज्ञता का अनुभव जैसे साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता, वैसे ही समष्ट्यभिमानी मुख्य जीव की सर्वज्ञता का अनुभव जीवाभासरूपी गौण जीवों में नहीं होता, अत एव वे अपने को असर्वज्ञ अनुभव करते हैं, उनमें व्यष्टि अन्तःकरणों के तादात्म्य का अध्यास होने के कारण अल्पज्ञता ही होती है, सर्वज्ञत्व नहीं। मुख्य जीव अपनी सर्वज्ञता का अनुभव करता ही है, जैसा कि भगवान् कहते हैं—"तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप !" (गी० ४।५)

न्यायामृतम्

स्वप्नवत्तत्त्वविरवेनैवान्यो गुरुः कल्पित इति चेन्न, तत्त्वविद्गुरुः शिष्यायाद्वैतमुपदिशतीति भ्रान्तेः कल्पके जीवे प्रागेव जातत्वेनाद्वैतस्य ज्ञाततया तदैव मोक्षापातात्, तत्त्वविशेषविरवेन गुरुकल्पनाकाल एव तत्त्वस्य ज्ञाततया पुनरुपदेशवैयर्थ्याच्च। गुरोः कल्पितत्वस्यापि तत्त्वान्तर्गतत्वेन कल्पना काल एव गुरोः कल्पितत्वस्य निश्चिततया तत्श्रवणे प्रवृत्त्ययोगाच्च, स्वप्ने तु शब्दविशेषवक्तृत्वेनैव गुरुकल्पना न तूपदेशसाध्यज्ञानविषयतत्त्वविशेषविरवेन। न च प्रकृतेऽपि तथा "यदेव भगवान्वेद तदेव मे

अद्वैतसिद्धिः

ब्रूते। न च —'आचार्यवान्पुरुषो वेदे'ति श्रुतेरुपदेशं विना जीवस्य तत्त्वज्ञानमनुपपन्नम्, उपदेष्टव्यादन्यस्य चैतन्यस्याभावाच्च नोपदेशो युज्यत इति—वाच्यम्, स्वप्न इवोपदेष्टुः कल्पितस्य संभवात्।

ननु—उपदेष्टृत्वं न कल्पितमात्रस्य, किंतु तत्त्वविरवेन कल्पितस्य, तथा चोपदेशात्प्राक् तत्त्वज्ञाने तदैव मोक्षापत्तिः, उपदेशवैयर्थ्यं च, न चैवं स्वप्नेऽपि तुल्यम्, तदा हि शब्दविशेषवक्तृत्वेनैव गुरुकल्पना, न तूपदेशसाध्यज्ञानविषयविशेषवित्त्वेनेति विशेषादिति—चेन्न, अत्रापि तत्तद्वाक्यविशेषवक्तृत्वेनैव तत्कल्पनसंभवात्। ननु—तर्हि 'यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूही'त्यादिश्रुतिः 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—आचार्यवान् पुरुषो वेद" (छां ६।१४।२) इस श्रुति से यह निश्चय होता है कि किसी गुरु के द्वारा उपदेश के विना तत्त्व-ज्ञान नहीं होता, किन्तु उपदेष्टव्य (शिष्य) से भिन्न और कोई चैतन्य है नहीं, अतः उपदेश सम्भव नहीं। वेदान्तदेशिक ने भी कहा है—"आत्माद्वैतमुपदिशन् आचार्यः किं शिष्यतया शिक्षणीयं कंचिदपि नोपलभते ? उतोपलभते ? आद्ये कस्मा उपदिशेत् ? न कस्मैचिदिति चेत्, तर्हि नोपदिशेदेव, स्वस्मा एवेति चेत्, न उपदेष्टव्यप्रतिपत्तौ नैराकांक्ष्येण श्रोतृत्वासिद्धेः। तदप्रतिपत्तौ वा अज्ञत्वेनानुपदेष्टृत्वात्" (शत० पृ० १५३)।

समाधान—स्वप्न-कल्पित गुरु के समान अविद्या-कल्पित भी उपदेष्टा हो सकता है।

शङ्का—केवल कल्पित गुरु में उपदेष्टृत्व सम्भव नहीं, अपितु तत्त्वज्ञत्वेन कल्पित आचार्य में ही उपदेष्टृत्व बनता है, जैसा कि चित्सुखाचार्य ने कहा है—"विद्वत्तया परिकल्पितगुरोस्तदुपपत्तेः" (चित्सु० पृ० ५८२)। अतः कल्पक शिष्य को गुरु की कल्पना के साथ-साथ गुरु के विषय में यह भी कल्पना करनी होगी कि 'हमारे गुरु को 'अहं ब्रह्म'—इस प्रकार का साक्षात्कार है।' तब तो उपदेश से पहले ही शिष्य को तत्त्व-ज्ञान हो जाता है, उसे मोक्ष का लाभ हो जाता है और उपदेश व्यर्थ होकर रह जाता है। स्वप्न-कल्पना में यह आपत्ति नहीं कर सकते, क्योंकि स्वप्न में तत्त्वज्ञत्वेन गुरुकी कल्पना नहीं होती, अपितु केवल शब्दविशेषवक्तृत्वेन ही गुरु की कल्पना होती है, अतः वहाँ उपदेश से पूर्व न तो तत्त्व-ज्ञान होता है और न मोक्षापत्ति।

समाधान—जाग्रत् काल में भी शब्द विशेषोच्चारयितृत्वेन ही गुरुकी कल्पना होती है, तत्त्वज्ञत्वेन नहीं।

शङ्का—जाग्रत् काल में गुरु यदि तत्त्वज्ञत्वेन कल्पित नहीं, तब 'यदेव भगवान् वेद, तदेव मे ब्रूहि" (बृह० उ० २।४।३) यह श्रुति और 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान

न्यायामृतम्

मूहो" त्यादिश्रुतेः "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन" इत्यादिस्मृतेश्चायोगात् ।

किं च "स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्य' मित्यादिविधिरपि भावितत्त्वज्ञानं कल्पकं चेतनं प्रत्येव । न च तस्य शिष्यः स्वाज्ञानकल्पित इति जानतस्तन्मोक्षार्थं प्रवचने प्रवृत्तिर्युक्ता, स्वप्ने तु कल्पितत्वाज्ञानात्प्रवृत्तिः । न चापरोक्षज्ञानाभावात्प्रवृत्तिः, दिङ्मोहादौ परोक्षज्ञानेनापि तत्प्रतिबंधात् । न च संस्कारवशात्प्रवृत्तिः । न ह्ययं वेगादिवद् बलात्प्रवर्ततेः किं तु तत्त्वनिश्चयप्रतिबंधद्वारा, ततश्च भिक्षाटनादौ कथंचित्प्रवर्ततां नाम, अद्वैतं बोधयंस्तु कथं तदनुसंधानहीनः स्यात् ? न चायं स्वाप्नगुरुवत् कल्पितत्वादपर्यनुयोज्यः, कल्पकस्यैव गुरुत्वोक्तेः, कल्पितत्वेऽपि

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन' इत्यादिस्मृतिश्चायुक्ता स्यादिति—चेन्न, सामान्यतो मोक्षोपयोगिज्ञानविषयवित्त्वेनाज्ञाततत्त्ववित्त्वेन तत्त्वमस्यादिवाक्यवक्तृत्वेन वा कल्पितस्य उपदेष्टृत्वसंभवेन उदाहृतवाक्याविरोधात् । अन्यथा तवापि मते तत्त्ववित्त्वेन प्रमित एवाचार्यत्वेनानुसरणीय इति प्रथमत एव तत्त्वज्ञाने तत्कालमोक्षापत्त्युपदेशवैयर्थ्यादिकं च स्यात् । एतेन—'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्य'मित्यादिविधिरपि भावितत्त्वज्ञानिकल्पकचेतनं प्रत्येव, न च तस्य शिष्यः स्वाज्ञानकल्पित इति ज्ञानतस्तन्मोक्षार्थं प्रवचने प्रवृत्तिर्युक्ता, न च स्वाप्नवत् कल्पितत्वाज्ञानात्प्रवृत्तिः, तत्त्वविदस्तदज्ञानानु-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः" (गी० ४।३४) यह स्मृति असंगत हो जाती है, क्योंकि इन वाक्यों में गुरु का तत्त्वज्ञ होना आवश्यक बताया गया है ।

समाधान - 'हमारा गुरु मोक्षोपयोगी ज्ञान से युक्त है'—इस प्रकार सामान्यतः ज्ञानित्वेन कल्पित गुरु भी उपदेष्टा हो सकता है, उसमें विशेषतः तत्त्व-साक्षात्कार की कल्पना आवश्यक नहीं । यदि-विशेषतः तत्त्व-साक्षात्कारवत्त्व की अपेक्षा मानी जाय, तब आप (द्वैतवादी) को भी विशेषतः तत्त्वज्ञत्वेन प्रमित आचार्य की शरणागति के लिए तत्त्वज्ञान विशेष का पहले से ही लाभ हो जाने के कारण सद्यः मोक्षापत्ति और उपदेश-वैयर्थ्य-प्रसक्ति होती ।

शङ्का - तैत्तिरीय उपनिषत् (शीक्षा-वल्ली अनु० ११) में आचार्य अपने शिष्य को वेदाध्ययन कराने के पश्चात् समावर्तन के समय अग्रिम जीवन-यात्रा का सर्वोत्तम संबल-प्रदान करता है—"सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्, कुशलान्न प्रमदितव्यम्, भूत्यै न प्रमदितव्यम्, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्" [अर्थात् सत्य-भाषण में प्रमाद नहीं करना, धर्म-पालन में प्रमाद नहीं करना, कला-कौशल के क्षेत्र में प्रमाद नहीं करना, ऐश्वर्य-सम्पादन में प्रमाद नहीं करना, वैदिक स्वाध्याय के अध्ययन-अध्यापन में प्रमाद नहीं करना] यहाँ जिज्ञासा होती है कि एकजीव-वाद की दृष्टि में यह अनुशासन किस प्रकार के गुरु का कैसे शिष्य के लिए है ? (१) अकल्पित गुरु का अकल्पित शिष्य के प्रति ? या (२) अकल्पित गुरु का कल्पित शिष्य के प्रति ? या (३) कल्पित गुरु का अकल्पित शिष्य के प्रति ? अथवा (४) कल्पित गुरु का कल्पित शिष्य के प्रति ? प्रथम पक्ष सम्भव नहीं, क्योंकि एकजीववाद में दो अकल्पित जीव हो ही नहीं सकते । द्वितीय पक्ष में यदि गुरु को यह ज्ञात है कि हमारा शिष्य हमारे अज्ञान से कल्पित है, तब उसे वह वैसे उपदेश नहीं करेगा, जैसे आदर्शादि-

न्यायामृतम्

तत्त्वज्ञानहेतुत्वेन वेदस्य मीमांस्यत्ववद् गुरोरपि पर्यनुयोज्यत्वाच्च। अन्यथा कथासु सदुत्तराप्रतीतावहं त्वत्कल्पितो न पर्यनुयोज्य इत्येवोत्तरं स्यात्। एतेन यावदविद्यं स्वप्नवद् व्यवस्थेति निरस्तम्, इह कल्पक एव शिष्यत्वगुरुत्वयोरुक्तत्वेन स्वाप्नवैषम्यात्। किं च स कल्पकजीव इदानीं निश्चिताद्वैतो न वा ? आद्ये इदानीं संशया-

अद्वैतसिद्धिः

पपत्तेरिति—निरस्तम्, स्वप्नगुरुवत् कल्पितत्वेन गुरोरपर्यनुयोज्यत्वात्। न च—तत्त्वज्ञानहेतुत्वेन वेदस्य मीमांस्यत्ववद् गुरोरपि पर्यनुयोज्यत्वमिति वाच्यम्, तर्केण वेद इव तत्तद्रूपकल्पनया गुरावपि तत्परिहारात्। न च—कथास्वपि सदुत्तरापरिस्फूर्तावहं त्वत्कल्पितो न पर्यनुयोज्य इत्युत्तरं स्यादिति—वाच्यम्, कथायाः कल्पितत्वानिश्चयकालीनत्वेन समयबन्धविशेषनिबन्धनत्वेन च तादृगुत्तरानवकाशात्। तस्माच्छिष्यवत् गुरोरपि कल्पितत्वात् स्वप्नवत्सर्वव्यवस्थोपपत्तिः।

अथ—कल्पको न निश्चिताद्वैतः, शास्त्रप्रणयनवैयर्थ्यात्, नाप्यनिश्चिताद्वैतः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

गत अपने प्रतिबिम्बके प्रति। स्वप्न के समान अज्ञान-कल्पित शिष्य में अज्ञान-कल्पितत्व का भान न होने के कारण भी उपदेश सम्भव नहीं, क्योंकि ज्ञानी गुरु में अज्ञान सम्भावित ही नहीं, जिस की शिष्य कल्पना कर सके। तृतीय पक्ष में कल्पित गुरु की तत्त्वज्ञानित्वेन अपनी कल्पना के समय ही शिष्य को बोध हो जायगा, अतः भावी उपदेश व्यर्थ हो जाता है। चतुर्थ पक्ष ही शेष बचा, उसमें अन्योऽन्याश्रय दोष है।

समाधान—स्वप्न-कल्पित गुरु के लिए जैसे कोई पर्यनुयोग (क्यों और कैसे का प्रश्न) नहीं होता, वैसे ही अविद्या-कल्पित गुरु के लिए भी किसी प्रकार का आक्षेप या सन्देह नहीं किया जा सकता।

शङ्का—जैसे तत्त्व-ज्ञान के लिए वेद की मीमांसा (परख या परीक्षण) आवश्यक है, वैसे ही अविद्या-कल्पित गुरु के विषय में जाँच-पड़ताल या पूछ-ताछ क्यों नहीं हो सकती ?

समाधान—गुरु के विषय में अवश्य ही आक्षेप और विकल्प किए जा सकते हैं, किन्तु वैदिक-मीमांसा के समान ही सत्तर्कों के द्वारा सब का निराकरण हो जाता है।

शङ्का—कल्पित वस्तु पर यदि किसी प्रकार का आक्षेप नहीं हो सकता और प्रदर्शित आक्षेप का तर्क के द्वारा परिहार किया जा सकता है, तब वाद, जल्प और वितण्डारूप तीनों प्रकार की कथाओं में भी प्रत्येक वादी सदुत्तर का स्फुरण न होने पर कल्पित उत्तर देकर विरोधी आक्षेपों का तर्क से निराकरण कर यह कह सकता है कि हमारा उत्तर तथा हम कल्पित हैं और कल्पित पर आप किसी प्रकार का आक्षेप नहीं कर सकते, तब तो जय-पराजय की व्यवस्था ही नहीं रहेगी।

समाधान—कथा के समय कल्पितत्व का निश्चय नहीं होता तथा समय-बन्धादि के आधार पर वैसे उत्तर को कथा में अवसर भी नहीं दिया जाता। फलतः शिष्य के समान गुरु भी कल्पित ही होता है और स्वप्न के समान सभी व्यवस्थाएँ भी बन जाती हैं।

शङ्का—एकजीव-वाद में कल्पक जीव एक ही होता है, उसे अद्वैत तत्त्व का निश्चय होता है ? या नहीं ? यदि है, तब अद्वैत-तत्त्व के बोधनार्थ शास्त्र-प्रणयन व्यर्थ है और

न्यायामृतम्

घभावेनाद्वैतशास्त्रप्रणयनादिव्यर्थं स्यात्। अन्त्ये त्वद्वैतशास्त्रं प्रमामूलं न स्यात्। अपि च सोऽमुक इत्यनिश्चितो, निश्चितो वा ? नाद्यः, बह्वायाससाध्यमोक्षार्थं प्रवृत्त्ययोगात्। न चाभिसंधिपूर्विकापीयं प्रवृत्तिः कल्पितत्वादपर्यनुयोज्या। कथासु स्वकीयाविरोधादेरप्यनुद्भाव्यतापातात्। न द्वितीयः, त्वया जीवन्मुक्तत्वेन निश्चिते- ष्वद्वैतिषु मृतेष्वपि विश्वभ्रमानुवृत्तिदर्शनेन स गुरुश्शिष्यो वा गुरुत्वेऽपि चैत्रो- मैत्रो वेति निश्चेतुमशक्यत्वात्। ननु गुरुशिष्यादिशब्दैः केनचित्क्रोडीकृतं चैतन्यमुच्यते निरस्तसमस्तभेदं वा ? नाद्यः, तस्य मिथ्यात्वेनाकल्पकत्वात्। अन्त्ये कथमनिश्चयः ? तस्यैकत्वादिति चेन्मैवम्, भ्रमाधिष्ठानस्य चिन्मात्रस्यैकत्वेपि तस्य मुखमात्रस्थानो- यस्यासंसारित्वेनाकल्पकत्वात्। तस्य मोक्षार्थं प्रवृत्त्ययोगाच्च, कल्पनाकानां च

अद्वैतसिद्धिः

शास्त्रस्य प्रमामूलकत्वाभावप्रसङ्गादिति--चेन्न, प्रमामूलकत्वाभावेऽप्यबाधित- विषयत्वेन शास्त्रप्रामाण्योपपत्तेरन्त्यपक्षाभ्युपगमात्। न चामुकः स इत्यनिश्चये बह्वायाससाध्यमोक्षार्थं प्रवृत्त्ययोगः, प्रतिशरीरमहमहमिकया 'बद्धोऽह'मिति निश्चयस्य स्वानुभवसाक्षिकत्वेन प्रवृत्तिसंभवात्, एकेनैव जीवेन चैत्रमैत्रादिशरीराणां सजी- वत्वसंभवस्य प्रागेवोक्तत्वात्। किं च चैत्रमैत्रादिषु 'कोऽसा'विति प्रश्नस्य किं केनचित् क्रोडीकृतं चैतन्यं विषयः, किं वा निरस्तसमस्तभेदम्। नाद्यः, तस्य कल्पि- तत्वेनाकल्पकत्वात्। न द्वितोयः, तस्यैकत्वेन तदनिश्चयासिद्धेः। शुद्धचित् एकत्वेन वस्तुतोऽसंसारित्वेऽपि आवरणविक्षेपशक्तिद्वयशालिस्वाश्रिताविद्यावशात् संसारि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यदि उसे तत्त्व-निश्चय नहीं होता, तब उसे अद्वैत-विषयक प्रमा ज्ञान न होने के कारण उसके द्वारा प्रणीत शास्त्र अप्रामाणिक हो जाता है।

समाधान—उसे अद्वैत तत्त्व का निश्चय नहीं होता, फिर भी उसके द्वारा प्रणीत शास्त्र अबाधितार्थविषयक होने के कारण प्रमाण ही माना जाता है।

शङ्का—जब तक 'अमुक व्यक्ति शास्त्र का प्रणेता है—यह ज्ञान न हो, तब तक मुमुक्षु की शास्त्र में प्रवृत्ति नहीं हो सकती और अनेक जीवों के कल्पना-जाल में यह निश्चय करना सम्भव नहीं कि कौन कल्पक है और कौन कल्पित ?

समाधान—शास्त्र में प्रवृत्ति के लिए शास्त्र-प्रणेता के ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, अपितु अपने में अधिकारिता का बोध कि मैं बद्ध हूँ, मोक्ष की पूर्ण अभिलाषा है एवं शास्त्र प्रामाण है'—इतने निश्चयमात्र से मोक्षार्थ प्रवृत्ति अनुभव-सिद्ध है। एक शरीर को छोड़ कर अन्य सभी शरीर निर्जीव हैं, उनकी प्रवृत्ति क्योंकर होगी ? यह शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि एक जीव के द्वारा ही चैत्र-मैत्रादि सभी शरीरों को सजीव कहा जा चुका है।

दूसरी बात यह भी है कि 'चैत्र-मैत्रादि अनेक जीवों में कौन जीव कल्पक है ?' इस प्रकार का प्रश्न किस व्यक्ति के विषय में किया जा रहा है ? क्या चैत्रादि शरीरों से परिच्छिन्न चतन्य के लिए ? या समस्त भेद-रहित शुद्ध चैतन्य के लिए ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि परिच्छिन्न जीव स्वयं कल्पित है, वह कल्पक कैसे होगा ? द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि शुद्ध चेतन एक है और स्वरूपतः असंसारी और अकल्पक होने पर भी आवरण और विक्षेप नाम की दो शक्तियों से समन्वित अविद्या

न्यायामृतम्

संसारिणामनेकेषामुपलम्भेनायं सत्यः संसारीत्यनिश्चयेन मुमुक्षुप्रवृत्त्ययोगात् ।

अपि चानादौ संसारे कस्यचित्तत्त्वज्ञानं मुक्तिश्चाभून्न वा ? आद्ये इदानीं संसारोपलब्धिर्न स्यात्, जीवांतराभावात् । नांत्यः, संप्रदायाभावेनोत्तरत्रापि तत्त्वज्ञानासंभवात् । तत्त्वविरवेन कल्पितगुरुसंप्रदायस्य च निरासात् । तत्त्वविरवेन श्रुत्यादिसिद्धानां शुकादीनां त्वदभिमतानां गौडपादादीनां चाभूता मुक्तिरन्यस्य भविष्यतीत्याशायोगाच्च । मोक्षशास्त्रप्रामाण्यात्सा युक्तेति चेदेवं यदि शास्त्रे श्रद्धा

अद्वैतसिद्धिः

त्वकल्पकत्वमोक्षार्थयतमानत्वाद्युपपत्ति ।

ननु—अनादौ संसारे कस्यचित्तत्त्वज्ञानं मुक्तिश्चाभून्न वा ? आद्ये इदानीं संसारोपलब्धिर्न स्यात्, जीवस्यैकत्वाद्, अन्त्ये संप्रदायासंभवेन तत्त्वज्ञानासंभव इति—चेन्न, न ह्यसांप्रदायिकत्वमुत्पत्तिविरोधि, अपूर्वजातीयानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, किंतु कारणासत्त्वम्, तन्नेदानीमुपदेष्ट्रादिकारणस्य कल्पनासुदृढस्य सत्त्वात् । जीवैक्यस्य प्रमाणसिद्धत्वेन संसारोपलम्भ एवातः पूर्वं तत्त्वज्ञानानुत्पत्तौ प्रमाणम् । न च—तत्त्वविरवेन श्रुत्यादिसिद्धानां शुकवामदेवादीनां मुक्तिर्मा भूत्, मम तु भविष्यतीति कथं श्रद्दध्यादिति—वाच्यम्, शास्त्रप्रामाण्यदार्ढ्यादिति गृहाण । अन्यथा तेषां

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

के वश में आकर संसारी है, कल्पक है और स्वयं मोक्ष के लिए यत्नशील भी है ।

शङ्का—इस अनादि संसार में अभी तक किसी जीव को तत्त्व-ज्ञान हुआ है ? या नहीं ? यदि किसी को तत्त्व-ज्ञान हो जाता, तब उसके मुक्त हो जाने से समस्त संसार समाप्त हो जाता, आज जो विचित्र विश्व उलब्ध हो रहा है, वह कभी भी नहीं होता, क्योंकि जीव एक था, वही मुक्त हो गया । यदि अभी तक किसी को तत्त्व-ज्ञान नहीं हुआ, तब तत्त्व-ज्ञानियों का सम्प्रदाय सम्भव नहीं, भविष्य में भी तत्त्व-ज्ञान का उत्पन्न होना असम्भव है ।

समाधान—जिसका सम्प्रदाय नहीं, वह वस्तु उत्पन्न नहीं होती—ऐसा नियम नहीं, अन्यथा आज अभिनव आविष्कार अभूतपूर्व काव्य-रचनादि असम्भव ही हो जाते । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जिस कार्य का कारण सत् नहीं, वह कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता । तत्त्व-ज्ञान के विषय में वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि दृढ़ संकल्प-कल्पित उपदेष्टादि कारण-कलाप विद्यमान हैं । जीव की एकता प्रमाण-सिद्ध है । आज की संसारोपलब्धि यह सिद्ध कर रही है कि इससे पूर्व तत्त्व-ज्ञान की उत्पत्ति किसी को नहीं हुई है ।

शङ्का—"गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच । स एवंविद्वान् अस्मात् शरीर-भेदादूर्ध्वमुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत्" (ऐत० २।४) इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित शुक-वामदेवादि की भी जब मुक्ति एक-जीववाद में नहीं मानी जाती, तब 'मैं मुक्त हो जाऊँगा'—इस संकल्प पर कौन विश्वास करेगा ? अर्थात् भविष्य में भी किसी के मुक्त होने की सम्भावना नहीं ।

समाधान—शास्त्र-प्रामाण्य की दृढ़ता पर हमारा अटल विश्वास है कि भले ही अभी तक कोई मुक्त हुआ हो ? या नहीं ? तत्त्व-ज्ञान से हमारी मुक्ति अवश्य होगी,

न्यायामृतम्

तर्हि "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः, बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता" इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रामाण्यात् पूर्वमपि केषांचिन्मुक्तिः किं न स्यात् ? न हि प्रत्यक्षेण सुखदुःखाद्यनुसंधानाननुसंधानादिलिंगेन, "चेतनश्चेतनाना" मित्यादिश्रुत्या, "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता" इत्यादिस्मृत्या च सिद्धे जीवभेदे बाधकमस्ति, "अनादिमायया सुप्तो यदा जीव" इत्यादिश्रुतावेकवचनं तु यथा नीतिपरो राजे"

अद्वैतसिद्धिः

महानुभावानां मुक्तत्वेऽपि मम भविष्यति न वेति शङ्कापिशाच्या प्रवृत्तिप्रतिबन्धापत्तेः। ननु—तर्हि श्रुतिप्रामाण्यबलादेव तत्सिद्धो जीवभेदः, पूर्वमपि केषांचिन्मोक्षश्चाभ्युपेयताम्, श्रूयते हि—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां', 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः', 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाम्' इत्यादि। स्मर्यते च—

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमाश्रिताः।
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥'

इत्यादीति—चेन्न, उक्तवाक्यानां सार्वलौकिकभ्रमसिद्धभेदानुवादकत्वेन तत्परत्वाभावात्, जीवैक्यबोधकवाक्यानां च मानान्तराप्राप्तस्वार्थपरत्वात्, स्वप्नन्यायेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि शास्त्र कहता है—ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" (श्वेता० १।८)। शास्त्र की इस उक्ति पर यदि विश्वास नहीं, तब वामदेवादि महानुभावों की मुक्ति मान लेने पर भी यह सन्देह बना रहेगा कि मैं मुक्त हूँगा ? या नहीं ? यही शङ्का शास्त्र में प्रवृत्ति को प्रतिबन्धक बन जायगी, अतः शास्त्र में श्रद्धा रखना परम आवश्यक है।

शङ्का—यदि शास्त्र-प्रामाण्य के आधार पर ज्ञान से मोक्ष-लाभ माना जाता है, तब जीव-भेद और वामदेवादि की मुक्ति भी माननी पड़ेगी। श्रुति स्पष्ट कह रही है—"तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत, स एव तदभवत्, तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्" (बृह० उ० १।४।१०) अर्थात् देव-ऋषि, मनुष्यादि जीव अनन्त हैं, उनमें जो तत्त्व-ज्ञानी होता गया, वह मुक्त होता गया। 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" (श्वेता० ४।५) यह श्रुति कहती है कि बद्ध जीव प्रकृति के मोहक बाहु पाशों में निगड़ित रहता है और मुक्त पुरुष इसके सुदृढ़ फन्दे को तोड़ कर निकल जाता है। यहाँ भी जीवानेकत्व प्रतिपादित है। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (कठो० ५।१३) यह श्रुति भी चेतन जीवों की अनेकता का अभिधान कर रही है। गीता में भगवान भी कहते हैं—

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमाश्रिताः।
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥ (गी० १४।२)

[अर्थात् ज्ञानरूपी तप से परिपूत होकर अनन्त जीव मेरा स्वरूप बन चुके हैं, इस ज्ञान के उपाश्रयण से अनेक जीव मेरा साधर्म्य प्राप्त किया करते हैं]।

समाधान—कथित सभी वचन लौकिक भ्रम-सिद्ध भेद के अनुवादक मात्र हैं। वस्तुतः उनका जीव की अनेकता के प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं। इसके विपरीत जीव की एकता के प्रतिपादक वाक्य प्रमाणान्तर से अनवगत जीवैकत्वरूप अर्थ के प्रतिपादन

न्यायामृतम्

त्यादिवत् "स्वर्गकामो यजेत" त्यादिवच्च युक्तम्। अन्यथा "इति सृष्टौ विनिश्चिता" इति पूर्वेण "स पूज्यः सर्वभूताना" मित्युत्तरेण च जीवभेदवाक्येन विरोधात्। न चाविद्यैक्येन तदुपहितजीवस्यैकत्वेऽप्यंतःकरणोपहितानामनेकत्वाद् बद्धमुक्तव्यवस्थेति वाच्यम्, जीवभावेऽन्तःकरणोपाधेरपि तंत्रत्वे बहुजीववादापाताद्, अननुगमाच्च। अतंत्रत्वे देहादिनिवृत्तिवदंतःकरणनिवृत्तेरप्यमुक्तित्वेनोक्तव्यवस्थायोगात्। एतेनैव हिरण्यगर्भ एव ब्रह्मप्रतिबिंबो मुख्यो जीवः। अन्ये तु तत्प्रतिबिंबभूता जीवाभासाः संसारादिभाज इति निरस्तम्, हिरण्यगर्भमुक्तितः प्राक्तस्याप्यमुक्त्यापातात्। अतीतहिरण्यगर्भमुक्तेः श्रुत्यादिसिद्धत्वेनेदानीं संसार्युपलंभायोगाच्च। सादिहिरण्यगर्भप्रतिबिंबस्थस्य संसारस्य सादित्वापाताच्च। न चातीतकल्पानामानन्त्येनैकैकस्मिन्कल्पे एकैकस्य मुक्तावपि एकैकमाषापचये माषराश्यपचयवत् क्रमेण सर्वजीवमुक्तेरिदानीं संसारोपलंभो न स्यादिति बाधकं कल्पानंत्यात्क्षणानंत्य इव क्षणानन्त्याज्जीवानंत्येऽतिशयस्य

अतीतानागताश्चैव यावन्तः सहिताः क्षणाः।
अतोऽप्यनंतगुणिता जीवानां राशयः पृथक्॥

इत्यादिस्मृतिसिद्धत्वेन प्रतिक्षणमेकैकमुक्तावपीदानीं संसारोपलम्भसम्भवात्। तस्मात्—

एकजीवमतं शब्दयुक्तिप्रत्यक्षबाधितम्।
तदप्रमाणतायां तु सोऽपि जीवे न सिद्ध्यति॥

तस्माज्जगन्नाविद्यकम्। इति एकजीवाज्ञानकल्पितत्वभंगः।

अद्वैतसिद्धिः

भेदस्य कल्पितत्वोपपत्तेश्च। ज्ञानस्तुतिपराणि वाक्यानि नात्मभेदं प्रमातु शक्नुवन्ति, तात्पर्यवद्वाक्याविरोधेनातात्पर्यवद्वाक्यानां गुणवादत्वोपपत्तेः।

अतीतानागताश्चैव यावन्तः सहिताः क्षणाः।
ततोऽप्यनन्तगुणिता जीवानां राशयः पृथक्॥'

इत्यादिस्मृतिरपि जीवोपाधिभेदानुवादकतया व्याख्येया। तस्मादविद्योपाधिको जीव एक एवेति सिद्धम्॥

इत्यद्वैतसिद्धौ एकजीवाज्ञानकल्पितत्वोपपत्तिः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में मुख्य तात्पर्य रखते हैं। भेद तो स्वप्न के समान कल्पित भी माना जा सकता है। "बहवो ज्ञानतपसा"—इत्यादि ज्ञान-स्तुति-परक वाक्य जीव-भेद के साधक नहीं हो सकते, क्योंकि जिन वाक्यों का अपने अर्थ में मुख्य तात्पर्य होता है, उनके **विरोध** में स्वार्थ-तात्पर्य-रहित वाक्यों को गुणवादरूप अर्थवाद मात्र माना जाता है।

अतीतानागताश्चैव यावन्तः सहिताः क्षणाः।
ततोऽप्यनन्तगुणिता जीवानां राशयः पृथक्॥

इत्यादि स्मृति-वाक्यों का भी जीवों के उपाधि-भेद की अनुवादकता मात्र में तात्पर्य है। अतः अविद्यारूप उपाधिवाला मुख्य जीव एक ही है—यह सिद्ध हो गया।

: ५४ :

अविद्यालक्षणविचारः

न्यायामृतम्

यच्चोक्तम्-(१) अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम् । (२) भ्रमोपादानत्वं वाविद्यालक्षणम्। प्रमाणं त्वहमज्ञः, मामन्यं च न जानामि, त्वदुक्तमर्थं न जानामीत्यादिप्रत्यक्षं तथा एतावन्तं कालं न किंचिदहमवेदिषमिति परामर्शसिद्धसौषुप्तिकानुभवः। तथा 'प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वाद्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावद्'—इति विवरणोक्तमनुमानम्। स्वप्रागभावं स्वोत्पादकादृष्टं स्वप्रतिबन्धकादृष्टं विषयगतमज्ञातत्वं च व्युदसितुं साध्यविशेषणानि । तथा 'चैत्रप्रमा चैत्रगतप्रमाप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका, प्रमात्वात्, मैत्रप्रमावत्', 'विगीतो विभ्रमः एतज्जनकाबाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात्, सम्मतवद्'—इति तत्त्वप्रदीपिकोक्तानुमानम्। तथा "तम आसीदि"त्यादिश्रुतिः तथा मिथ्याभूतस्यार्थज्ञानात्मकस्य भ्रमस्य कादाचित्कत्वेन सोपादानत्वाद् भावरूपं कार्यानुगुणं मिथ्याभूतमुपादानमनवस्थापरिहारार्थमनाद्यंगीकार्यमित्याद्यर्थापत्तिश्च । न च न जानामीति प्रत्यक्षं ज्ञानाभावविषयम्, धर्मिण्यात्मनि प्रतियोगिनि च ज्ञाने ज्ञाते तस्य विषयनिरूप्यत्वेन विषयस्यापि ज्ञाततया तज्ज्ञानाभावायोगात्। अज्ञाते तु हेत्वभावेन ज्ञानाभावज्ञानायोगात् । न च विषयोऽपि सामान्यतो ज्ञायत इति युक्तम्। सामान्यस्य ज्ञातत्वादेव तज्ज्ञानाभावायोगात् । विशेषज्ञानाभावे सत्यपि निरूपकविशेषज्ञानाभावेन तन्निरूपितविशेषज्ञानाभावज्ञानायोगादिति ।

तत्र ब्रूमः—आद्यलक्षणे अव्याप्तिः, सादिशुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्यावरकाज्ञानानामनादित्वायोगस्योक्तत्वाद् आरोपिताभावोपादानाज्ञाने भावत्वाभावाच्च। अभावस्य भावोपादानकत्वे असत्यस्य सत्योपादानकत्वापातात् । तस्याज्ञानानुपादानकत्वे ज्ञानान्नि-

---

अद्वैतसिद्धिः

अथ—केयमविद्या ? न तावद् (१) अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्या सेति, सादिशुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्यावारकाज्ञानेऽव्याप्तेः, तस्यानादित्वाभावात्। अभावोपादा-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

१. अज्ञान का प्रथम लक्षण—

द्वैतवादी—यह अविद्या क्या है ? (१) चित्सुखाचार्य ने जो अविद्या का लक्षण (चित्सु० पृ० ९७ पर) किया है—'अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्' [उत्तर ज्ञान से निवर्त्य पूर्व ज्ञान में अतिव्याप्ति-निवारणार्थ 'अनादित्व' विशेषण दिया गया है, निवर्त्य पूर्व ज्ञान सादि होता है, अनादि नहीं। प्रागभाव में अतिव्याप्ति न हो इस लिए 'भावरूपत्व' विशेषण दिया एवं अनादि भावरूप आत्मा में अतिप्रसंग की निवृत्ति करने के लिए 'ज्ञाननिवर्त्यत्व' कहा है] । वह लक्षण समीचीन नहीं, क्योंकि शुक्त्याद्यवच्छिन्न चैतन्य के आवरक सादि अज्ञान में अव्याप्त है—ज्ञान-निवर्त्य भावरूप होने पर भी वह अनादि नहीं होता, अनवच्छिन्न चैतन्यावरक मूलाज्ञान ही अनादि माना जाता है, उसके शुक्त्याद्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक अवस्था अज्ञान सादि ही माने जाते हैं। इसी प्रकार प्रातिभासिक अभाव के उपादानरूप (अभावरूप में परिणत होने वाले अभावात्मक) अज्ञान में भी उक्त लक्षण अव्याप्त है, क्योंकि उस अज्ञान में भावत्व नहीं होता। उक्त अभाव का यदि भावरूप अज्ञान को ही उपादान माना जाय,

न्यायामृतम्

वृत्तिर्न स्यात्। शुद्धं ब्रह्म वृत्तिव्याप्यमपि नेति मते तदज्ञाने चरमसाक्षात्कारानन्तरभाविजीवन्मुक्त्यनुवृत्ते अज्ञाने ऊर्ध्वाग्रत्वाद्यधिष्ठानत्वसाक्षात्कारानिवर्तितजलस्थावृक्षाधोग्रत्वादिसोपाधिकभ्रमोपादानाज्ञाने च ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावाच्च। न हि ब्रह्मज्ञानेन ब्रह्माज्ञाननिवृत्तिः जीवन्मुक्त्यनुवृत्ताज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वे च स्वकार्यैरारब्धकर्मभिः सह

अद्वैतसिद्धिः

नाज्ञाने च भावत्वाभावात्तत्राव्याप्तिः, अभावस्य भावोपादानकत्वे असत्यस्यापि सत्योपादानकत्वं स्याद्, अज्ञानानुपादानकत्वे तस्य ज्ञानान्निवृत्तिर्न स्याद्—इति। अत्र ब्रूमः—रूप्योपादानाज्ञानमप्यनादिचैतन्याश्रितत्वादनाद्येव, उदीच्यं शुक्त्यादिकं तु तदवच्छेदकमिति न तत्राव्याप्तिः। भावत्वं चात्राभावविलक्षणत्वमात्रं विवक्षितम्, अत आरोपिताभावोपादानाज्ञानेऽप्यभावविलक्षणत्वस्वीकारान्नाव्याप्तिः। न च—सजातीयोपादानकत्वनियमः, अन्यथा असत्यस्यापि सत्यमुपादानं स्यादिति—वाच्यम्, सर्वथा साजात्ये सर्वथा वैजात्ये वोपादानोपादेयभावादर्शनेन तथा साजात्यस्य वैजात्यस्य वा आपादयितुमशक्यत्वात्। न हि कार्याकारकारणाकारतोऽप्यभेदे कार्यकारणभावः, सत्यस्य त्वसत्योपादानत्वे सत्यस्य निवृत्त्यसंभवेन तदुपादेयस्यासत्यस्यापि निवृत्तिर्न स्याद्, उपादाननिवृत्तिमन्तरेणोपादेयानिवृत्तेः, अतो न सत्यमसत्यस्योपादानम्, सत्यस्यापरिणामित्वाच्च। विवर्ताधिष्ठानत्वं त्वभ्युपेयत एव।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तब सत्य पदार्थ को भी असत्य का उपादान मानना होगा और यदि उक्त अभाव को अज्ञान का उपादेय नहीं माना जाता, तब उसकी ज्ञान से निवृत्ति नहीं हो सकेगी, किन्तु घटाश्रित भूतल में जिस समारोपित घटाभाव की घटवत्ता के ज्ञान से निवृत्ति देखी जाती है, उसके उपादानभूत अभावात्मक अज्ञान में उक्त लक्षण की अव्याप्ति है।

अद्वैतवादी—रजतादि का उपादानभूत अज्ञान भी अनादि चैतन्य के आश्रित होने से अनादि ही माना जाता है। अज्ञानोत्तरकालीन शुक्त्यादि जड़ पदार्थ अज्ञान-विषयता के अवच्छेदक मात्र होते हैं, अज्ञान के आश्रय या विषय नहीं, अतः उक्त अज्ञान में कथित लक्षण की अव्याप्ति नहीं है। लक्षण-घटक भावत्व का अर्थ यहाँ अभाव-भिन्नत्व ही विवक्षित है, वह आरोपित अभाव के उपादानभूत अज्ञान में भी अभीष्ट है, अतः वहाँ भी अव्याप्ति नहीं। 'यह जो कहा कि अभाव का उपादान सजातीय ही होना चाहिए, अन्यथा सत्य पदार्थ भी असत्य का उपादान हो जायगा, वह भी संगत नहीं, क्योंकि सर्वथा सजातीय और सर्वथा विजातीय पदार्थों का उपादानोपादेयभाव नहीं देखा जाता, अतः वैसे साजात्य या वैजात्य का आपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि सुवर्ण और कुण्डल का कारणरूपेण अभेद होने पर भी कार्यरूपेण भेद होता है, कार्याकारेण और कारणाकारेण उभयथा अभेद होने पर कार्य कारणभाव नहीं बन सकता। ब्रह्म-जैसे सत्य पदार्थ को प्रपञ्च-जैसे असत्य का उपादान मानने पर सत्य के उपादेय पदार्थ को भी सत्य ही मानना होगा, उसकी ज्ञान से निवृत्ति न हो सकेगी, क्योंकि उपादान की निवृत्ति के विना उपादेय की निवृत्ति नहीं हो सकती, अतः सत्य को असत्य का उपादान नहीं माना जा सकता, क्योंकि परिणामी पदार्थ ही उपादान होता है, किन्तु सत्य ब्रह्म अपरिणामी है। हाँ, विवर्ताधिष्ठानत्वरूप उपादान कारणता तो स्वीकृत है।

न्यायामृतम्

पूर्वेणैव साक्षात्कारेण निवृत्तिः स्यात्। न च सोपाधिकभ्रमोपादानमज्ञानमुपाधि-निवृत्तिसचिवतत्त्वज्ञाननिवर्त्यम्, तस्य स्वप्रागभावं प्रतीवाज्ञानं प्रत्यप्यन्यनिरपेक्षस्यैव निवर्तकत्वात्। न हि ज्ञाने क्वचिदपि न जानामीतिधीरस्ति चैतन्याविद्यासंबन्धेऽति-

अद्वैतसिद्धिः

न च ब्रह्माज्ञाने ब्रह्मणो वृत्त्यव्याप्यत्वपक्षेऽव्याप्तिः, तस्य ज्ञानानिवर्त्यत्वादिति—वाच्यम्, स्वरूपसदुपाधिमत्तद्विषयकज्ञाननिवर्त्यस्य तन्मतेऽपि भावात्। उपपादितं चैतद् दृश्यत्वहेतूपपादने।

अथ—औपाधिकभ्रमोपादानाज्ञाने ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरविद्यमानजीवन्मुक्ताज्ञाने च ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावादव्याप्तिः, तयोर्ज्ञाननिवर्त्यत्वे उपाधिकालजीवन्मुक्तिकालयोरेव ज्ञानप्रागभाववत्तन्निवृत्त्यापत्तिरिति—चेन्न, उपाधिप्रारब्धकर्मणोः प्रतिबन्धकयोर-भावविलम्बेन निवृत्तिविलम्बेऽपि तयोर्ज्ञाननिवर्त्यत्वानपायात्। न हि क्वचिद्विलम्बेन जनकस्य क्वचित् प्रतिबन्धेन विलम्बे जनकताऽपैति। न च तर्हि ज्ञातेऽपि तत्राज्ञात

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—समानविषयक ज्ञानों का ही निवर्त्य-निवर्तकभाव होता है। वाचस्पति मिश्र के मत में शुद्ध ब्रह्म वृत्ति का विषय नहीं होता, किन्तु मूलाज्ञान शुद्ध ब्रह्मविषयक होता है, अतः अखण्डाकार चरम वृत्ति रूप ज्ञान से ब्रह्माज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती, अतः ब्रह्माज्ञान में ज्ञान-निवर्त्यत्व न घटने के कारण उक्त लक्षण अव्याप्त है।

समाधान—वाचस्पति मिश्र के मत में जैसे वृत्ति का विषय वृत्त्युपहित ब्रह्म होता है, वैसे ही अज्ञान का भी अज्ञानोपहित ब्रह्म ही विषय होता है, ज्ञानीय विषयता की विधायक जैसे स्वरूपसत् वृत्ति होती है, वैसे ही अज्ञानीय विषयता का नियामक अज्ञानरूप उपाधि स्वरूपसत् ही होती है, भासमान होकर नहीं, अतः ज्ञान और अज्ञान दोनों ही उपहित-विषयक होने के कारण समान-विषयक हो जाते हैं, उनमें निवर्त्य-निवर्तकभाव बन जाता है। 'दृश्यत्व' हेतु-निरूपण के समय इस विषय का उपपादन किया जा चुका है।

शङ्का—गङ्गा में तीरस्थ वृक्षों का जो ऊर्ध्वमूल अधःशाख प्रतिबिम्ब-विभ्रम होता है, उसे औपाधिक भ्रम कहते हैं। उस भ्रम का वृक्ष अधिष्ठान होता है, जल उपाधि और ऊर्ध्वमूलत्वादि आरोप्य धर्म। इस भ्रम की वृक्षरूप अधिष्ठान के ज्ञान से भी निवृत्ति नहीं होती, अतः उसके उपादानभूत अज्ञान की भी निवृत्ति नहीं मानी जाती, उस अज्ञान में ज्ञान-निवर्त्यत्व-घटित उक्त लक्षण अव्याप्त है। इसी प्रकार ब्रह्म-साक्षात्कार के अनन्तर भी जीवन्मुक्त के अज्ञान की निवृत्ति नहीं मानी जाती, अन्यथा जीवन्मुक्ति, जीवन्मुक्त के शास्त्रोपदेश, एवं भिक्षाटनादि व्यवहार किसके आधार पर चलेंगे? अतः जीवन्मुक्तवृत्ति ब्रह्माज्ञान में भी उक्त लक्षण अव्याप्त होता है। यदि-उक्त औपाधिक भ्रम के उपादान अज्ञान एवं जीवन्मुक्त के अज्ञान की भी ज्ञान से निवृत्ति मान ली जाय, तब जलरूप उपाधि एवं जीवन्मुक्ति सत्ता-काल में उनकी एवं उनके कार्य की निवृत्ति होनी चाहिए।

समाधान—अग्नि और दाह का कार्य-कारणभाव निश्चित है, प्रतिबन्धक मणि के रहने पर भी उस कार्य-कारणभाव की निवृत्ति नहीं मानी जाती, इसी प्रकार उक्त स्थलों पर जलरूप उपाधि तथा जीवन्मुक्त के प्रारब्ध कर्मरूप प्रतिबन्धक के अभाव में

न्यायामृतम्

व्याप्तिश्च। साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वविवक्षायां चानादिपदवैयर्थ्यं असम्भवश्च, कल्पितत्वेन दोषजन्यधीमात्रशरीरस्याज्ञानस्यानादित्वायोगस्योक्तत्वात्, ज्ञाननिवर्त्यस्याभावविलक्षणस्य रूप्यवदनादित्वायोगाच्च। अज्ञानसम्बन्धोऽपि पक्षतुल्यः। न चाज्ञानत्वानधिकरणत्वमुपाधिः, पक्षेतरत्वात्। अवच्छिन्नाज्ञाने साध्यव्याप्तेश्च, व्यतिरेका-

अद्वैतसिद्धिः

इति व्यवहारापत्तिः, तादृग्व्यवहारे आवरणशक्तिमदज्ञानस्य कारणत्वेन तदावरणशक्त्यभावादेव ईदृग्व्यवहारानापत्तेः। यथा चैतत्तथोपपादयिष्यते। न चाविद्याचैतन्यसंबन्धेऽतिव्याप्तिः, साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य विवक्षितत्वात् तस्याप्यविद्यात्मकत्वाद्वा। न च विशेषणान्तरवैयर्थ्यम्, अनादिपदस्योत्तरज्ञाननिवर्त्ये पूर्वज्ञाने भावपदस्य ज्ञानप्रागभावे ज्ञानजन्यकार्यप्रागभावे चातिव्याप्तिवारकत्वेन सार्थकत्वात्। ज्ञानत्वेन साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वं तु भवति लक्षणान्तरम्। ननु—असंभवः, कल्पितत्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विलम्ब होने के कारण अज्ञान की निवृत्ति में विलम्ब होने पर भी ज्ञान और अज्ञान का निवर्त्य-निवर्तकभाव अक्षुण्ण रहता है। कारण के विलम्ब होने या प्रतिबन्धक के आ जाने से कारण की कारणता कभी समाप्त नहीं होती। 'यदि ज्ञान के रहने पर भी वहाँ अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, तब ज्ञात विषय में भी अज्ञातत्व का व्यवहार क्यों नहीं होता ?' इस शङ्का का समाधान यह है कि अज्ञातत्व-व्यवहार का प्रयोजक आवरण-शक्ति-युक्त अज्ञान होता है, आवरण-शक्ति का अभाव हो जाने के कारण उक्त व्यवहार नहीं होता। इस विषय का उपपादन अज्ञान-विषय-निरूपण के समय किया जायगा।

यद्यपि जीवादि षड्विध अनादि पदार्थों के अन्तर्गत अविद्या और चैतन्य के सम्बन्ध में उक्त लक्षण अतिव्याप्त होता है, क्योंकि वह भी अनादि भाव पदार्थ है और ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा निवर्त्य भी है। तथापि लक्षण में साक्षात् ज्ञान-निवर्त्यत्व विवक्षित है, और चैतन्य का सम्बन्ध साक्षात् ज्ञान-निवर्त्य नहीं, अपि तु मूलाज्ञान की निवृत्ति के द्वारा ही वह निवृत्त होता है, क्योंकि ज्ञान साक्षात् अज्ञान का ही निवर्तक होता है, अज्ञान की निवृत्ति से शेष अज्ञान-प्रयुक्त प्रपञ्च निवृत्त होता है। अथवा अविद्या और चैतन्य का सम्बन्ध विषय-विषयिभाव या आध्यासिक मात्र होता है, जो कि अविद्या का स्वरूप ही माना जाता है, इस प्रकार उक्त सम्बन्ध भी उक्त लक्षण का लक्ष्य ही हो जाता है, उसमें लक्षण का घटना अभीष्ट ही है, अतिव्याप्ति नहीं।

उक्त लक्षण के अन्य विशेषण भी व्यर्थ नहीं हैं, क्योंकि 'अनादि'पद उत्तर ज्ञान निवर्त्य पूर्व ज्ञान में और 'भाव' पद ज्ञान-प्रागभाव में अतिव्याप्ति-वारणार्थ प्रयुक्त हुआ है। प्रागभाव यदि ज्ञानरूप प्रतियोगी से निवर्तनीय नहीं माना जाता, किन्तु प्रतियोगी को प्रागभाव-निवृत्तिरूप ही माना जाता है, तब ज्ञान से जन्य इच्छादिरूप कार्य के प्रागभाव में अतिव्याप्ति-निवारण 'भाव' पद का प्रयोजन माना जा सकता है। वस्तुतः 'ज्ञानत्वेन साक्षात् ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम्'—इतना अज्ञान का लक्षण पर्याप्त है। [अविद्या-चैतन्य-सम्बन्धादि साक्षात् ज्ञान-निवर्त्य नहीं होते और पूर्व ज्ञानादि ज्ञानत्वेन ज्ञान-निवर्त्य नहीं, अपि तु उत्तरभावि विशेषगुणत्वेन ज्ञान-निवर्त्य होते हैं और अज्ञान ज्ञानत्वेन साक्षात् ज्ञान-निवर्त्य होता है, अतः कहीं भी अतिव्याप्ति या अव्याप्ति होने की सम्भावना नहीं]।

शङ्का—पूर्वोक्त चित्सुखीय लक्षण असम्भव-ग्रस्त है, क्योंकि शुक्ति-रजतादि के

न्यायामृतम्

सिद्धेश्च। त्वन्मते अज्ञानस्य भावाभावविलक्षणत्वेन भावत्वाभावाच्च। भावविलक्षणस्याभावत्वनियमेन भावविलक्षणे अभाववैलक्षण्यस्याप्ययोगाच्च। अपि चानादेरभावविलक्षणस्यात्मवदनिवर्त्यत्वम्। न च भावत्वमात्मत्वं वोपाधिः, अत्यन्ताभावे असति च साध्याव्याप्तेः। त्वन्मते आत्मन्यप्यभाववैलक्षण्यातिरेकेण भावत्वाभावाच्च।

अद्वैतसिद्धिः

दोषजन्यधीमात्रशरीरस्याज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यस्याभावविलक्षणस्य च रूप्यवदनादित्वायोगादिति—चेन्न, कल्पितत्वमात्रं हि न दोषजन्यधीमात्रशरीरत्वे सादित्वे वा तन्त्रम्, किंतु प्रतिभासकल्पकसमानकालीनकल्पकवत्त्वं, सादिकल्पकवत्त्वम्, विद्याऽनिवृत्त्यप्रयुक्तनिवृत्तिप्रतियोगित्वम्, प्रागभावप्रतियोगित्वं वा तन्त्रम्। न च तत् प्रकृतेऽस्ति। ज्ञाननिवर्त्यत्वसमानाधिकरणाभावविलक्षणत्वेनाविद्यायाः सादित्वसाधने 'अजामेकाम्' 'अनादिमायये' त्यादिशास्त्रविरोधः, अनादित्वसाधकेन ज्ञाननिवर्त्यत्वे सति भावविलक्षणत्वेन सत्प्रतिपक्षश्च, भावत्वस्योपाधित्वं च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समान अज्ञान भी कल्पित एवं दोष-जन्य धीमात्रस्वरूप होता है, उसमें ज्ञान-निवर्त्यत्व और भावरूपता या अभाव-विलक्षणरूपता रहने पर भी अनादित्व नहीं होता।

समाधान—अज्ञान अवश्य कल्पित है किन्तु कल्पितत्वमात्र दोष-जन्य धीमात्र स्वरूपत्व अथवा सादित्व का प्रयोजक, व्याप्य या साधक नहीं होती, अपि तु (१) प्रतिभास-कल्पक-समानकालीन कल्पकवत्त्व, या (२) सादिकल्पकवत्त्व, या (३) विद्याऽनिवृत्त्यप्रयुक्त निवृत्ति-प्रतियोगित्व, अथवा (४) प्रागभावप्रतियोगित्व को दोष-जन्य प्रतिभासमात्रत्व और सादित्व का साधक माना जाता है [(१) शुक्ति-रजतादि का जो प्रतिभास (रजताकार अविद्या-वृत्ति), उसका कल्पक (रजताकार अविद्या-वृत्ति से उपहित साक्षी चैतन्य) है, उसके समानकालीन कल्पक (रजत-द्रष्टा साक्षी) की विषयता शुक्ति-रजत में हैं। अर्थात् रजत और रजताकार वृत्ति—दोनों समकालीन हैं, दोनों का द्रष्टा एक है, अतः ज्ञान-द्रष्टा के सामानकालीन उसी द्रष्टा की ग्राह्यता रजत में विद्यमान होने से प्रतीतिमात्ररूपता एवं सादित्व है, किन्तु अविद्या में ऐसा नहीं, क्योंकि प्रलय-काल में अविद्या के रहने पर भी अविद्या का प्रतिभास या अविद्या-वृत्ति नहीं होती, अतः अविद्या और अविद्या का प्रतिभास—दोनों समानकालीन नहीं, अत एव उसके साक्षी द्रष्टा भी समानकालीन नहीं, अतः ज्ञान-द्रष्टा के समानकालीन द्रष्टा की ग्राह्यता अविद्या में न होने से प्रतीतिमात्ररूपत्व और सादित्व प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार (२) सादिकल्पकवत्त्व भी शुक्ति-रजतादि में ही है अविद्या में नहीं, क्योंकि रजत सादि होने से रजतोपहित चैतन्य भी सादि होता है किन्तु अविद्या के अनादि होने के कारण अविद्योपहित चैतन्य भी अनादि कहलाता है। (३) तृतीय प्रयोजक में 'विद्या' पद से अखण्डाकार चरमवृत्ति विवक्षित है, अविद्या की निवृत्ति उसी चरम वृत्ति से होती है किन्तु रजतादि की निवृत्ति उनके उपादानभूत अज्ञान की निवृत्ति से प्रयुक्त (जनित) होती है, अतः विद्या की अनिवृत्ति या अनुवृत्ति से अप्रयुक्त निवृत्ति की प्रतियोगिता शुक्ति-रजतादि में ही है, अविद्या में नहीं, उसमें तो विद्यानुवृत्ति-प्रयुक्त निवृत्ति की ही प्रतियोगिता होती है इसी प्रकार (४) प्रागभाव-प्रतियोगित्व शुक्ति-रजतादि में है और अविद्या में नहीं।

अविद्या को जो ज्ञान-निवर्त्य अनादि-भावरूप माना जाता है, द्वैतवादी उसके

न्यायामृतम्

यत्त्रोक्तं विवरणे—"न सादित्वमनादित्वं वा विनाशाविनाशयोर्निमित्तम्, किं तु विरोधिसन्निपातासन्निपातौ। किं चानादिभावो न निवर्तत इति सामान्य-

अद्वैतसिद्धिः

न च अभावविलक्षणाविद्यादौ भावविलक्षणत्वमसंभवि, परस्परविरोधादिति-वाच्यम्, भावत्वाभावत्वयोर्बाधकसत्त्वेन तृतीयप्रकारत्वसिद्धौ परस्परविरहव्यापकत्वरूपविरोधासिद्धेः, परस्परविरहव्याप्यत्वरूपस्तु विरोधो नैकविरहेणापरमाक्षिपति। न हि गोत्वविरहोऽश्वत्वमाक्षिपतीत्युक्तम्। न चात्मवदनादेरभावविलक्षण-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विरोध में अनुमान-प्रयोग करते हैं—'अविद्या सादिः ज्ञाननिवर्त्यसमानाधिकरणाभावविलक्षणत्वात्, शुक्तिरजतवत्' [रजत में ज्ञान-निवर्त्यत्व भी है और अभाव-भिन्नत्व भी, वही ज्ञान-निवर्त्यत्व-समानाधिकरण अभाव-विलक्षणत्व अविद्या में भी है, अतः रजत के समान ही सादित्व भी मानना पड़ेगा]। वह द्वैतवादी का अनुमान आगम से बाधित है, क्योंकि "अजामेकाम्" (श्वेता० ४।५) 'अनादिमायया सुप्तः" (मां० कारिका० १।१६) इत्यादि श्रुतियाँ जन्म-रहित अजा (अनादि) माया का प्रतिपादन करती हैं। उसका सत्प्रतिपक्ष-प्रयोग भी किया जा सकता है—'अविद्या अनादिः, ज्ञाननिवर्त्यत्वे सति अभावविलक्षणत्वात्, ज्ञानप्रागभाववत्।' यहाँ ज्ञानत्वेन साक्षात् ज्ञान-निवर्त्यत्व विवक्षित है, अतः शुक्ति-रजतादि में व्यभिचार नहीं होता। द्वैतवादी के अनुमान में 'भावत्व' उपाधि भी है [शुक्ति-रजतादि दृष्टान्त में रहने के कारण 'भावत्व' साध्य का व्यापक तथा अविद्यारूप पक्ष में भावत्व न रहने के कारण साधन का अव्यापक है]।

शङ्का—अभाव से भिन्न भाव होता है, अविद्या यदि अभाव से भिन्न है, तब भावरूप होगी, भाव से विलक्षण नहीं हो सकती, क्योंकि भाव और अभाव—दोनों परस्पर एक-दूसरे के विरोधी होते हैं।

समाधान—अविद्या एक अनादि सान्त पदार्थ है। यदि उसे भावरूप माना जाता है, तब उसे सादि मानना होगा, क्योंकि नश्वर भाव पदार्थ सादि होता है। किन्तु अविद्या को सादि मानने में "अजामेकाम्"तथा "अनादिमायया सुप्तः"— इत्यादि श्रुतियों का विरोध उपस्थित होता है। इसी प्रकार अविद्या को अभावात्मक मानने पर उसे जगत् का परिणामी उपादान कारण नहीं माना जा सकता। इस प्रकार अविद्या की भावरूपता और अभावरूपता का बाध हो जाने पर भावाभाव-विलक्षण एक तृतीय प्रकारता ही सिद्ध होती है। भावत्व और अभावत्व के विरोध का परिहार सदसद्विलक्षणत्वरूप प्रथम मिथ्यात्व के निरूपण की (विगत पृ० १६–१७ पर चर्चित) तर्क-पद्धति से किया जा सकता है कि भावत्व और अभावत्व में परस्पर विरह-व्यापकता होने के कारण विरोध है ? अथवा विरह-व्याप्यता के कारण ? प्रथम 'यत्र यत्र भावत्वाभावः, तत्र-तत्र अभावत्वम्, एवं 'यत्र यत्र अभावत्वाभावः, तत्र तत्र भावत्वम्'—इस प्रकार परस्पर विरह की व्यापकता सम्भव नहीं, क्योंकि अविद्या में अभावत्व और भावत्व के न रहने पर भी भावत्वाभाव तथा अभावत्वाभाव रहता है। परस्पर विरह-व्याप्यत्वरूप विरोध-पक्ष में एक के अभाव से दूसरे का आक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि गोत्व के विरह से अश्वत्व का और अश्वत्व के विरह से गोत्व का आक्षेप

अद्वैतसिद्धिः

स्यानिवर्त्यत्वम्, आत्मत्वस्यैवोपाधित्वात्। न चात्यन्ताभावान्योन्याभावयोः साध्याव्याप्तिः, अधिकरणातिरिक्तस्यानिवर्त्यस्यात्यन्ताभावादेरनभ्युपगमात्। न च तुच्छे साध्याव्याप्तिः, अभावविलक्षणत्वरूपसाधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वोपपत्तेः। किं च सादित्वमनादित्वं वा न निवर्त्यत्वानिवर्त्यत्वयोः प्रयोजकम्, ध्वंसप्रागभावयोस्तदभावात्। नापि भावत्वविशेषितं तत् तथा, अभावे तदसत्त्वेन भिन्नभिन्नप्रयोजककल्पनापत्तेः, भावनिवृत्त्यनिवृत्त्योरेव तयोः प्रयोजकत्वे च भावविलक्षणाविद्यादौ ताभ्यां तयोरनापादनात्। तस्मान्नाशसामग्रीसन्निपातासन्निपातावेव निवर्त्यत्वानि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं किया जा सकता, क्योंकि उष्ट्रादि में अश्वत्व और गोत्व—दोनों का अभाव माना जाता है—यह सब कुछ प्रथम मिथ्यात्व के निरूपण में कहा जा चुका है।

यह जो आक्षेप किया था कि आत्मा के समान ही अनादि भाव पदार्थ की अनिवर्त्यता में अनुमान सूचित किया जाता है—'अविद्या ज्ञाननिवर्त्या न भवति अनादित्वे सति अभावविलक्षणत्वाद्, आत्मवत्।' उस अनुमान में 'आत्मत्व' ही [आत्मरूप दृष्टान्त में रहने के कारण साध्य का व्यापक तथा अविद्यारूप पक्ष में न रहने के कारण साधन का अव्यापक है, अतः] उपाधि है। 'ज्ञानानिवर्त्यत्वरूप साध्य के अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभाव-जैसे नित्य पदार्थों में रहने पर भी आत्मत्व नहीं रहता, अतः वह साध्य का व्यापक क्यों होगा ?' यह शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभाव यदि चैतन्यरूप अधिकरण के स्वरूप माने जाते हैं, तब तो उनमें आत्मत्व भी है और यदि वे अधिकरणरूप नहीं माने जाते, तब उनमें ज्ञान-निवर्त्यत्व ही माना जाता है, किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं होता। शशशृङ्गादि तुच्छ पदार्थों में भी साध्य-व्यभिचार नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि आत्मत्वरूप उपाधि में शुद्ध साध्य (अनिवर्त्यत्व) की व्यापकता न रहने पर भी साधनावच्छिन्न साध्य की व्यापकता निश्चित है अर्थात् अभावविलक्षणत्वे सति अनिवर्त्यत्व न तो शशशृङ्गादि में है और न अत्यन्ताभावादि में, किन्तु केवल आत्मा में है, वहाँ आत्मत्व रहता है। दूसरी बात यह भी है कि सादित्व धर्म ज्ञान-निवर्त्यता का प्रयोजन नहीं, क्योंकि ध्वंस सादि होने पर भी अविनाशी होता है। इसी प्रकार अनादित्व धर्म अनिवर्त्यता का प्रयोजक नहीं होता, क्योंकि प्रागभाव अनादि होने पर भी नश्वर होता है। यदि 'भावत्वे सति सादित्वं निवर्त्यतायाः, भावत्वे सति अनादित्वम् अनिवर्त्यतायाश्च प्रयोजकम्'—ऐसा कहें, तब भावगत निवर्त्यता और अनिवर्त्यता के प्रयोजक धर्मों की अपेक्षा अभावगत निवर्त्यत्व और निवर्त्यत्व के प्रयोजक धर्म दूसरे मानने पड़ेगे फिर तो भागवगत अनिवर्त्यता के प्रयोजक (भावत्वे सति अनादित्व) धर्म से अविद्या में अविनाशित्व का आपादन नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि अविद्या भाव से विलक्षण होती है। इस लिए नाशक सामग्री के सन्निपात को नश्वरता और उस सामग्री के असन्निपात को अनश्वरता का प्रयोजक मानना होगा। उस सामग्री के सन्निपत और असन्निपात की कल्पना नाशानाशरूप फल को देख कर ही हो सकेगी। अविद्या का नाश प्रसिद्ध है, अतः नाशक सामग्री का वहाँ सन्निपात मानना होगा, अतः अविद्या की आत्मा के समान नित्यता का आपादान नहीं हो सकता।

न्यायामृतम्

व्याप्तेरज्ञानं ज्ञाननिवर्त्यमिति विशेषव्याप्तिर्बलीयसी। अपि चाभाववैलक्षण्यादात्मवदनिवृत्तौ भाववैलक्षण्यात्प्रागभाववन्निवृत्तिः किं न स्याद्'— इति तन्न, अनादिभावत्वेनैव विरोध्यसन्निपातस्याप्यनुमानात्। यः पर्वतः सोऽग्निक इति विशेषव्याप्तिरित्यतिप्रसंगाच्च। त्वदभिमतानाद्यज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वे दृष्टान्ताभावेनाज्ञान-

अद्वैतसिद्धिः

वर्त्यत्वयोः प्रयोजकाविति मन्तव्यम्। तौ च फलबलकल्प्याविति न कोऽपि दोषः। अपि च यद्यविद्यादेरभावविलक्षणत्वसमानाधिकरणानादित्वेनात्मवदनिवर्त्यत्वं साध्यते, तर्हि भावविलक्षणत्वेन प्रागभाववन्निवर्त्यत्वमेव किं न साध्यते ? न च ध्वंसात्यन्तान्योन्याभावेषु व्यभिचारः, अधिकरणातिरेके तेषामपि निवर्त्यत्वाभ्युपगमात्। न च— अज्ञानस्य यावत्स्वविषयधीरूपसाक्षिसत्त्वमनुवृत्तिनियमेन निवृत्त्ययोग इति— वाच्यम्, दुःखशुक्तिरूप्यादेः स्वभासके साक्षिणि सत्येव निवृत्त्यभ्युपगमेन साक्षिभास्यानां यावत्साक्षिसत्त्वमवस्थाननियमानभ्युपगमात्। किं च केवलचिन्मात्रं न साक्षि, किन्त्वविद्यावृत्त्युपहितम्, तथा चास्थिराविद्यावृत्त्युपहितस्य साक्षिणोऽप्यस्थिरत्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि यदि 'अभावभेद-समानाधिकरण अनादित्व' धर्म के द्वारा अविद्या में अनिवर्त्यत्व सिद्ध किया जाता है, तब अविद्या भाव से भी विलक्षण है, अतः भावविलक्षणत्व-युक्त अनादित्व रूप हेतु के द्वारा प्रागभाव के समान निवर्त्यत्व की सिद्धि क्यों नहीं की जा सकती ?

शङ्का—'अविद्या विनश्यति, भावविलक्षणत्वे सति अनादित्वात्, प्रागभाववत्'— इस अनुमान का हेतु अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभाव में व्यभिचारी है, क्योंकि उनमें भाव-विलक्षणत्व और अनादित्व के रहने पर भी नश्वरता या निवर्त्यता नहीं रहती। यदि अविद्या में नश्वरता सिद्ध करने के लिए केवल 'भाव-विलक्षणत्व' हेतु का प्रयोग किया जाता है, तब ध्वंस में भी व्यभिचार है, क्योंकि उसमें भाव-विलक्षणत्व रहने पर भी निवर्त्यत्व नहीं रहता।

समाधान—वेदान्त-सिद्धान्त में ध्वंस तभी नित्य या अनिवर्त्य माना जा सकता है, जब कि ब्रह्मरूप अधिकरण का स्वरूप मान लिया जाय, तब भाव-विलक्षणत्व नहीं रहता और यदि अधिकरण से भिन्न माना जाता है, तब ब्रह्म-ज्ञान से उसकी निवर्त्यता भी माननी पड़ेगी, श्रुति कहती है—"अतोऽन्यदार्तम्" (बृह० उ० ३।४।२) आत्मा से भिन्न चाहे भाव हो या अभाव, सब कुछ निवृत्त हो जाता है।

शङ्का – प्रतीति-काल-पर्यन्त रहनेवाले पदार्थ को प्रातीतिक कहा जाता है, अज्ञान भी प्रातीतिक या साक्षिभास्य माना जाता है, अतः वह अपनी साक्ष्यात्मक प्रतीति प्रर्यन्त वैसे ही बना रहेगा, जैसे शुक्ति-रजत अपने अविद्या-वृत्तिरूप प्रतिभास-पर्यन्त टिकाऊ माना जाता है। अविद्या का प्रतिभास या भासक साक्षी सदातन है, **अतः** अविद्या भी सदातन ही रहेगी, उसकी निवृत्ति सम्भव नहीं है।

समाधान—'यद् यत् साक्षिभास्यम्, तत्-तत् साक्षिवत् सत्यम्'—ऐसा **नियम** नहीं माना जाता, क्योंकि साक्षि-भास्य दुःख, शुक्ति-रजतादि पदार्थों की अपने साक्षी के साक्ष्य में निवृत्ति देखी जाती है। यदि उक्त नियम मान भी लिया जाय, तब भी शुद्ध सदातन, असङ्ग, चैतन्य तत्त्व तो साक्षी कहलाता नहीं, अपितु अविद्या-वृत्ति से उपहित चैतन्य, उपाधि की अस्थिरता के कारण उपहित साक्षी को भी अस्थिर ही

न्यायामृतम्

शब्देन सादिभ्रान्त्यादिसाधारणज्ञानविरोधिमात्रस्य विवक्षणीयत्वेन विशेषव्याप्तित्वायोगाच्च। भाववैलक्षण्येन निवृत्तावत्यंताभावस्य ध्वंसस्य च निवृत्त्यापाताच्च। अविद्यानिवृत्तिरूपमोक्षाभावोऽपि मयैवापाद्यते। प्रतीतिमात्रशरीरस्याज्ञानस्य यावत्स्वविषयधीरूपसाक्षिसत्त्वमनुवृत्तिनियमेन निवृत्त्ययोगाच्च, अज्ञानस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्ववतो निवृत्त्ययोगस्योक्तत्वाच्च।

द्वितीयलक्षणेऽपि यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति मते अभ्रमपूर्वकप्रमानिवर्त्याज्ञाने अभावारोपनिवर्तकप्रमानिवर्त्याज्ञाने चाव्याप्तिः। अभावस्य निरुपादानकत्वात्। सोपादनकत्वेऽपि भावरूपाज्ञानोपादानकत्वायोगात्। किं च ब्रह्म जगदुपादानमायाधिष्ठानमिति पक्षे दोषाभावेऽपि मायावच्छिन्नं ब्रह्मोपादानमिति पक्षे असम्भवः। रज्ज्वाः सूत्रद्वयमिव मायाब्रह्मणी उपादाने इति पक्षे अतिव्याप्तिः। अपि चार्थज्ञानरूपस्य भ्रमस्य भावविलक्षणत्वेन निरुपादानत्वादसम्भवः। न च भाव-

अद्वैतसिद्धिः

तत्सत्त्वपर्यन्तमवस्थानेऽप्यविद्यादेर्निवृत्तिरुपपद्यते। न च वृत्त्यनुपधानदशायामविद्यादेः शुक्तिरूप्यवदसत्त्वापत्तिः, सादिपदार्थ एवैतादृङ्नियमाद्, धारावाहिकाविद्यावृत्तिपरम्पराया अतिसूक्ष्माया अभ्युपगमाद्वेति शिवम्॥

(२) यद्वा भ्रमोपादानत्वमज्ञानलक्षणम्। इदं च लक्षणं विश्वभ्रमोदानमायाधिष्ठानं ब्रह्मेति पक्षे, न तु ब्रह्ममात्रोपादानत्वपक्षे, ब्रह्मसहिताविद्योपादानत्वपक्षे वा, अतो ब्रह्मणि नातिव्याप्तिः, इतरत्र तु पक्षे परिणामित्वेनाचेतनत्वेन वा भ्रमोपादानं विशेष-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

माना जाता है, अतः साक्षि-सत्त्व-पर्यन्त अविद्या की अवस्थिति मानने पर भी उसमें निवर्त्यत्व बन जाता है। यदि अविद्याकार वृत्तिरूप उपाधि-पर्यन्त अविद्या और उसके साक्षी की सत्ता मानी जाती है, तब अविद्याकार वृत्तिरूप उपाधि के न रहने या उत्पन्न न होने पर अविद्या की सत्ता क्योंकर मानी जा सकेगी ?'—यह शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि सादि पदार्थों के लिए ही यह नियम माना जाता है कि वे साक्षि-सत्ता-काल-पर्यन्त रहते हैं। अविद्या अनादि पदार्थ है, अतः इसके लिए वह नियम लागू नहीं होता। यदि सादि-अनादि समस्त साक्षि-भास्य पदार्थों के लिए उक्त नियम मान लिया जाय, तब भी धारावाहिक अविद्या-सन्तति की सूक्ष्मता एवं "सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः" (सं० का० ८) के अनुसार अप्रतीयमान अवस्था सदा मानी जा सकती है। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

प्रवाहरूपी संसारो दीपार्चिर्वदवस्थितः।
न जायते जनिष्यन्वा तस्मादस्तीह कश्चन॥ (बृह० वा० पृ० २३४०)

२. अज्ञान का द्वितीय लक्षण—

अथवा 'भ्रमोपादानत्वम्'—यह अज्ञान का लक्षण किया जा सकता है। विश्वविभ्रम का उपादान कारण माया या अज्ञान है और उसका विषयीभूत ब्रह्म विभ्रम का अधिष्ठान है'—इस सिद्धान्त के अनुसार यह अज्ञान का द्वितीय लक्षण किया गया है। 'केवल ब्रह्म अथवा ब्रह्म-सहित अविद्या जगत् का उपादान है'—इस मत को लेकर उक्त लक्षण नहीं किया गया है, अतः ब्रह्म में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। उक्त मत के अनुसार भ्रमोपादन का परिणामित्व या अचेतनत्व विशेषण दे देना चाहिए,

न्यायामृतम्

विलक्षणाज्ञानोपादेयस्य भ्रमस्य भावत्वं युक्तम्, कार्यकारणयोरभेदात्। सोपादानत्वे च भावत्वमेव तन्त्रम्, न त्वभावविलक्षणत्वम्, गौरवात्। अपि चार्थस्य मन्मते असत्त्वेन त्वन्मते च सद्विलक्षणत्वेन निरुपादानत्वात्। ज्ञानस्य तु त्वन्मते सद्विलक्षणत्वेन निरुपादानत्वात्। मन्मते तु सत्त्वेन तत्प्रत्यात्मनोऽन्तःकरणस्य वोपादानत्वात् नाज्ञानमुपादानम्। सोपादानत्वे कदाचित्सत्त्वमेव तंत्रम्, न त्वसद्विलक्षणत्वम्। कदाचिदेव सत्त्वेन प्रतीयमानत्वं वा, गौरवात्। तुच्छस्यापि शब्दाभासादिना सत्त्वेन

अद्वैतसिद्धिः

णीयमिति न दोषः। न चाऽभावारोपनिवर्तकप्रमानिवर्त्येऽव्याप्तिः, तस्यापि भ्रमोपादानत्वात्। ननु – भ्रमे भावविलक्षणाज्ञानोपादानकत्वं न घटते, भ्रमस्य भावविलक्षणत्वे उपादेयत्वायोगाद्, भावत्वे च भावोपादानकत्वनियमादिति– चेन्न, अज्ञानस्य भ्रमस्य च भावविलक्षणत्वेऽप्युपादानोपादेयभावोपपत्तेः। न हि भावत्वमुपादानत्वे उपादेयत्वे वा प्रयोजकम्, आत्मनि तददर्शनात्, किंत्वन्वयिकारणत्वमुपादानत्वे तन्त्रम्, सादित्वमुपादेयत्वे, तदुभयं च न भावत्वनियतम्। अत उपादानोपादेयभावोऽपि न भावत्वनियतः। न चैवं ध्वंसस्याप्युपादेयत्वापत्तिः, इष्टापत्तेः। न चैवं– ज्ञानप्रागभावस्यैव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तब न तो उक्त अतिव्याप्ति होती है और न अभाव का विजातीय भावरूप होने के कारण अज्ञान में अभाव-विभ्रमोपादनत्व की अनुपपत्ति ही है, क्योंकि अभाव-विभ्रम निवर्त्तक प्रमा का विषय होने के कारण भावात्मक अज्ञान को ही उसका उपादान माना जाता है।

शङ्का—[बुद्ध्यादि कार्य और अविद्या की जड़ता तथा भावरूपता का सारूप्य ध्यान में रख कर ही वार्तिककार ने उनका उपादेयोपादेयभाव माना है–"उपादानं हि बुद्ध्यादेरात्माविद्येति भण्यते" (बृह० वा० पृ० १४३६) अतः] भावात्मक प्रपञ्च-विभ्रम की उपादानता भाव-विलक्षण अज्ञान में नहीं घटती, क्योंकि अभावात्मक उपादान के कार्य को भी अभावात्मक ही मानना होगा, तब उसमें उपादेयत्व नहीं बनता, क्योंकि वेदान्त व्यवहार में सत्कार्यवादी है, अपनी अभिव्यक्ति के पूर्वोत्तर काल में कार्य की सूक्ष्मरूपेण उपादान कारण में विद्यमानता को ही उपादानता मानता है। अतः उपादेय को भावात्मक ही मानना होगा, भावात्मक उपादेय भावत्मक उपादान का ही हो सकता है। फलतः उपादानत्व और उपादेयत्व—दोनों धर्म भाव वस्तु में ही नियतः होते हैं।

समाधान—अज्ञान और विश्व-विभ्रम—दोनों के भाव-विलक्षण होने पर भी दोनों में उपादानोपादेय-भाव बन सकता है, क्योंकि भावत्व न तो उपादानत्व का प्रयोजक है और न उपादेयत्व का, क्योंकि आत्मा में भावत्व के होने पर भी न तो उपादानता होती है और न उपादेयता। किन्तु उपादनत्व का प्रयोजक अन्वयिकारणत्व और उपादेयत्व का प्रयोजक सादित्व होता है। अन्वयिकारणत्व और सादित्व दोनों भावत्व-नियत या भावमात्र-वृत्ति नहीं होते। अत एव उपादानोपादेयभाव भी भावमात्र-वृत्ति नहीं होता। यदि उपादेयत्व भावमात्र-वृत्ति नहीं होता, तब ध्वंस में भी उपादेयत्वकी प्राप्ति होती है—ऐसे आक्षेप में इष्टापत्ति है, क्योंकि अद्वैत-मत में अनित्य अभावमात्र को आधिकरणरूप एवं उपादेय माना जाता है।

शङ्का—भाव से विलक्षण अज्ञान को भी यदि विश्व-विभ्रम का उपादान माना

न्यायामृतम्

प्रतीतिसंभवाच्च । न च ज्ञानस्य सत्त्वेऽर्थस्यापि सत्त्वप्रसंगः । मिथ्याभूतमज्ञानं वेदान्ततात्पर्यं चरमसाक्षात्कारं च प्रति विषयस्य ब्रह्मणः सत्त्ववत्, सन्तं व्यावहारं परोक्षज्ञानं च प्रति विषयस्य खपुष्पादेरसत्त्ववत्, सत्यसाक्षिवेद्याज्ञानादेर्मिथ्यात्ववच्चोपपत्तेः, एतावन्तं कालं रजतज्ञानमासीदिति ज्ञानस्य सत्त्वानुसन्धानाच्च, असद्वैलक्षण्यमात्रेण सत्त्वानुसन्धाने च सद्वैलक्षण्येन नासीदित्यनुसन्धानापातात्, अर्थेऽप्यासीदित्यनुसन्धानापाताच्च । एतावन्तं कालमिहादर्शे मुखमासीदित्यनुसन्धानं तु प्रतिबिम्बस्य छायादिवत्सत्यत्वात् । किं च अज्ञानस्य भावविलक्षणत्वात् सद्विलक्षणत्वाच्च नोपादानत्वम् । अन्यथा तत्त्वज्ञानप्रागभाव एव भ्रमोपादानं स्यात् । उपादानत्वे च भावत्वं सत्त्वं च तंत्रम्, न त्वाभावविलक्षणत्वमसद्विलक्षणत्वं वा, गौरवात् । किं च यद् यदनुविद्धतया भाति तत्तदुपादानकम् । न च रूप्यं तज्ज्ञानं वा अज्ञानमिति भाति ।

अद्वैतसिद्धिः

भ्रमोपादानत्वमस्तु, किमभावविलक्षणाज्ञानोपादानकल्पनेनेति—वाच्यम्, प्रागभावस्य प्रतियोगिमात्रजनकत्वनियमेन भ्रमं प्रति जनकत्वस्याप्यसिद्धेः, तद्विशेषरूपोपादानत्वस्यैव दूरनिरस्तत्वात् । अतः सद्विलक्षणयोरज्ञानभ्रमयोर्युक्त उपादानोपादेयभावः । भ्रमस्य च सद्विलक्षणत्वमुक्तम्, वक्ष्यते च । न च—एवमज्ञानानुविद्धतया भ्रमस्य प्रतीत्यापत्तिः, मृदनुविद्धतया घटस्येवेति—वाच्यम्; यद् यदुपादानकं, तत् तदनुविद्धतयैव प्रतीयत इति व्याप्त्यसिद्धेः । न हि घटोपादानकं रूपं घट इति प्रतीयते, प्रकृतिद्व्यणुकाद्यनुविद्धतया प्रतीतेः परैरप्यनभ्युपगमात्, केनचिद्धर्मेण तदनुवेधस्तु प्रकृतेऽपीष्ट एव !

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता है, तब ज्ञान-प्रागभाव को ही विश्व-विभ्रम का उपादात कारण क्यों नहीं मान लिया जाता ? क्योंकि वह भी तो भाव से विलक्षण है और सर्वमत-सम्मत भी, अत भाव-विलक्षण अज्ञानरूप उपादान की कल्पना ही असंगत है ।

समाधान—ज्ञान का प्रागभाव केवल अपने ज्ञानरूप प्रतियोगी का कारण होता है, उसे विश्व-विभ्रम का कारण कैसे माना जा सकता है ? उसमें भ्रम की कारणता ही जब सम्भव नहीं, तब उपादानता क्योंकर बनेगी ? क्योंकि उपादानता तो कारणता का एक प्रकार (समवायिकारणता) विशेष ही है । इस लिए सद्विलक्षण अज्ञान और सद्विलक्षण भ्रम—दोनों का उपादानोपादेयभाव सिद्ध हो जाता है । भ्रम में सद्विलक्षणता का उपपादन पीछे किया जा चुका है और आगे भी किया जायगा ।

शङ्का—यदि अज्ञान विश्व-विभ्रम का उपादान है, तब उपादेय में उसका अनुवेध (अन्वय) वैसे ही उपलब्ध होना चाहिए, जैसे घटादि में मृद्रूपता अर्थात् 'मृद् घटः' के समान अज्ञानं घटः, 'अज्ञानं पटः'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए ।

समाधान—सर्वत्र उपादेय में उपादान की अनुविद्धता नियमतः प्रतीत नहीं होती, जैसे कि घटगत रूप का घट उपादान कारण होता है, किन्तु रूप में घटात्मकता घटो रूपम्—इस प्रकार अनुगत प्रतीत नहीं होता, सांख्य मतानुसार प्रकृति का महदादि में एवं वैशेषिक सिद्धान्त के अनुरूप द्व्यणुकत्व का त्र्यणुकादि में अनुविद्धतया भान नहीं माना जाता । किसी-न-किसी रूप से अनुगम तो विश्व-विभ्रम में भी प्रतीयमान है, अर्थात् अज्ञान की जड़तादिरूपता का अनुगम घटादि में सर्वानुभूत है—

न्यायामृतम्

यत्तु ज्ञाननिवर्त्यत्वमज्ञानलक्षणम्, न च प्रपंचेऽतिव्याप्तिः, तस्याज्ञानपरिणाम-

अद्वैतसिद्धिः

न च यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति पक्षे भ्रमापूर्वकप्रमानिवर्त्येऽज्ञाने अव्याप्तिः, भ्रमोपादानतायोग्यत्वस्य विवक्षितत्वात्, सहकारिवैकल्यात् कार्यानुदयेऽपि योग्यतानपायात्। अथ योग्यतावच्छेदकरूपापरिचये कथं तद्ग्रहणम्? प्रथमलक्षणस्यैव योग्यतावच्छेदकत्वात्। एकमेवाज्ञानमिति पक्षे तु तत्र भ्रमोपादानत्वमक्षतमेव। न चैवं शुक्तिज्ञानेनैवाज्ञाननाशे मोक्षापत्तिः, तस्यावस्थाविशेषनाशकत्वाङ्गीकारात्। व्युत्पादितं चैतदस्माभिः सिद्धान्तबिन्दौ। ज्ञानत्वेन रूपेण साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा तल्लक्षणमिति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाड्यं जगत्यनुगतं खलु भावरूपम्,
मौढ्यं च पुंगतमिति प्रतिभाति तादृक्।
जाड्यं च मौढ्यमिति चानुभवप्रसिद्धम्,
अज्ञानमाहुरपवर्गपिधानदक्षम् ॥ (सं. शा. १।३२२)

शङ्का—अनेक अज्ञान-वादी इष्टसिद्धिकारादिका कहना है कि "यावन्ति ज्ञानानि, तावन्त्यज्ञानानि।" अर्थात् जितने ही ज्ञान होते हैं, उतने ही अज्ञान होते हैं। सभी अज्ञान भ्रम के उपादान बनते हैं—यह आवश्यक नहीं। शुक्त्यज्ञान के समान कुछ ही अज्ञानों में भ्रमोपादानत्वरूप लक्षण घटता है, उससे भिन्न घटादि के अज्ञानों में लक्षण की अव्याप्ति होती है।

समाधान—अनेकाज्ञान-वाद में भ्रमोपादानतायोग्यत्वम्'—यह लक्षण विवक्षित है। यदि कुछ अज्ञान सादृश्यादि सहायक सामग्री के अभाव में भ्रम को जन्म नहीं दे पाते, तब भी उनमें उसकी योग्यता तो बनी ही रहती है, उसका अभाव नहीं होता।

शङ्का—योग्यता का ज्ञान योग्यतावच्छेदक धर्म के ज्ञान पर निर्भर है। उक्त योग्यतावच्छेदक धर्म का ज्ञान है? अथवा नहीं? यदि है, तव वही अज्ञान का लक्षण बन जायगा, यह लक्षण व्यर्थ है और यदि योग्यतावच्छेदक धर्म का ज्ञान नहीं, तब योग्यता का ज्ञान कैसे हो सकेगा?

समाधान—योग्यता का अवच्छेदक प्रथम (अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञान-निवर्त्यत्वम्) लक्षण को माना जाता है, उसका ज्ञान होने से योग्यता का ज्ञान सुकर हो जाता है। प्रथम लक्षण से द्वितीय लक्षण की गतार्थता भी नहीं होती, क्योंकि दोनों स्वतन्त्र लक्षण हैं, एक लक्षण से लक्षणान्तरों की गतार्थता नहीं मानी जाती।

शङ्का—एकाज्ञान-वाद में तो विश्व-विभ्रम की उपादानता अक्षत होने के कारण यही द्वितीय लक्षण माना जाता है। यदि अज्ञान एक ही है, तब शुक्ति-ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति हो जाने पर मोक्ष का लाभ हो जाना चाहिए।

समाधान—एकाज्ञान-वाद में शुक्त्यादि-ज्ञान को उक्त एक मूलाज्ञान का नाशक नहीं माना जाता, अपितु मूलाज्ञान के एक अवस्थाज्ञानमात्र का नाशक माना जाता है, अवस्थाज्ञान अनेक होते हैं। इस सिद्धान्त का उपपादन सिद्धान्तविन्दु में विस्तार से किया गया है।

३. अज्ञान का तृतीय लक्षण—

अथवा 'ज्ञानत्वेन रूपेण साक्षात् ज्ञाननिवर्त्यत्वम्'—यह अज्ञान का तृतीय लक्षण

न्यायामृतम्

त्वात्। न हि पृथिवीलक्षणस्य घटादावतिव्याप्तिरिति, तन्न, जीवन्मुक्त्यनुवृत्ताज्ञानादावव्याप्त्यादेरुक्तत्वात्। यद्भावरूपाज्ञानं विप्रतिपन्नं तस्य शुक्तिरूप्यादिभ्यावृत्तस्य कारणावस्थानाद्यज्ञानस्यैव लक्षणीयत्वेन रूपित्वस्य तेजोलक्षणत्वे तत्परिणामेऽप्यबाधाविवास्यापि प्रपंचेऽतिव्याप्तेश्च पृथिवीलक्षणेऽपि कारणावस्थस्यैव लिलक्षयिषितत्वे घटादावतिव्याप्तिरेव साक्षात्पदप्रक्षेपेणोपादाननिवृत्तिद्वारेण ज्ञानेन निवर्त्ये प्रपंचेऽतिव्याप्तिपरिहारेऽपि "अभावाभावो भावव्याप्य" इति मते ज्ञानप्रागभावस्यापि साक्षात्तन्निवर्त्यत्वाच्च। अन्यथा विवरणाविद्यानुमाने आद्यविशेषणवैयर्थ्यम्। इति अविद्यालक्षणभंगः।

अद्वैतसिद्धिः

च प्रागुक्तमेव, तस्मान्नाविद्यालक्षणासंभव इति सर्वमवदातम्॥

इत्यद्वैतसिद्धावविद्यालक्षणोपपत्तिः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है। इसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है, अतः अविद्या का लक्षण असम्भव नहीं, पूर्णतया निर्दुष्ट है।

: ५५ :

अज्ञाने प्रत्यक्षप्रमाणविचारः

न्यायामृतम्

यच्चाज्ञाने प्रत्यक्षं मानमित्युक्तम्। तन्न, त्वन्मतेऽप्यहमर्थस्य भावरूपाज्ञानाना-श्रयत्वेनाहमज्ञोऽहं न जानामीत्यादेः प्रामाण्याय ज्ञानाभावविषयत्वावश्यंभावात् साक्षिवेद्यसुखदुःखाज्ञानादौ प्रातिभासिके च भावरूपाज्ञानाभावेन सुखं न जानामि

अद्वैतसिद्धिः

तत्र चाज्ञाने सामान्यतः 'अहमज्ञो मामन्यं च न जानामी'ति प्रत्यक्षम्, 'त्वदुक्तमर्थं न जानामी'ति विशेषतः प्रत्यक्षम्, 'एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिष'मिति परामर्शसिद्धं सौषुप्तप्रत्यक्षं च प्रमाणम्। न च—अहमर्थस्याज्ञानानाश्रयत्वेन कथमयं प्रत्ययो भावरूपाज्ञानपक्षे उपपद्यत इति—वाच्यम्, अज्ञानाश्रयीभूतचैतन्ये अन्तःकरण-तादात्म्याध्यासेन एकाश्रयत्वसंबन्धेनोपपत्तेः। अत एव—जडे आवरणकृत्याभावात्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पूर्वोक्त अज्ञान की सिद्धि तीन प्रकार के साक्षी प्रत्यक्षों के द्वारा होती है—(१) 'अहमज्ञः'—यह (आत्माश्रितत्वेन अज्ञान का साधक) सामान्य प्रत्यक्ष तथा 'मामन्यं च न जानामि'—यह भी आत्मविषयक होने के कारण अन्यविषयक अज्ञान का साधक) सामान्य प्रत्यक्ष है। (२) 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—इस प्रकार विषय-विशेषित अज्ञान का साधक विशेष प्रत्यक्ष है एवं (३) 'एतावन्तं कालं सुखमहम-स्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्'—इस प्रकार के जाग्रत्कालीन स्मरण के बल पर सिद्ध सुषुप्तिकालीन साक्षी प्रत्यक्ष भी अज्ञान की सिद्धि करता है। ['प्रमाण' शब्द दो प्रकार का होता है—यौगिक यथा पारिभाषिक। करण और अधिकरण में 'ल्युट्' प्रत्यय किया जाता है, अतः प्रमाण का अवयवार्थ होता है—प्रमा का करण या अधिकरण। करणत्वार्थक ल्युट् को ध्यान में रख कर इन्द्रियादि में 'प्रमाण' पद का प्रयोग प्रसिद्ध है। अधिकरणार्थक ल्युट् का तात्पर्य बताते हुए तार्किकरक्षाकार कहते हैं—ईश्वर-स्यापि प्रमाश्रयतया प्रामाण्यसिद्धेः" (ता० र० पृ० ८)। यहाँ जो अज्ञान में साक्षी प्रत्यक्ष को प्रमाण कहा गया है, वह अद्वैतदीपिका (पृ० ४०३) की 'येन विना यस्यासत्त्वशङ्का न निवर्तते, सति च तस्मिन् निवर्तते, तत् तस्मिन् प्रमाणम्'—इस परिभाषा के अनुसार कहा गया है। साक्षी प्रत्यक्ष वस्तु का प्रमा ज्ञान उत्पन्न नहीं करता अन्यथा उससे अवगत शुक्ति-रजतादि में अबाधितत्व प्रसक्त होगा। अतः 'अज्ञाने साक्षिप्रत्यक्षं प्रमाणम्' का यहाँ इतना ही अर्थ विवक्षित है कि अज्ञान के असत्त्वापादन को निवृत्त कर साक्षी प्रत्यक्ष उसकी सत्ता सिद्ध करता है]।

शङ्का—'अहमज्ञः'—यह प्रत्यय (साक्षिप्रत्यक्ष) भावरूप अज्ञान का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि अद्वैत-सिद्धान्त में शुद्ध चैतन्य को ही अज्ञान का आश्रय माना जाता है, किन्तु यह प्रत्यय अहमर्थ (जीव) को ही अज्ञान का आश्रय सूचित करता है। अतः यह मानना होगा कि जीव में जो ज्ञान का अभाव है, उसी में ही 'अज्ञान' पद गौणी वृत्ति या प्रसज्य प्रतिषेधार्थक नञ् को ध्यान में रख कर प्रयुक्त हुआ है, जिससे ज्ञानाभाव का ही लाभ होता है, भावात्मक अज्ञान नहीं।

समाधान—'अहमज्ञः'—इस प्रतीति का यदि मैं अज्ञान का आश्रय हूँ—यह अर्थ विवक्षित होता, तब अवश्य उक्त आक्षेप हो सकता था, किन्तु यहाँ जैसे 'एकं रूपम्'

न्यायामृतम्

शुक्तिरूप्यं न जानामीत्यादेः ज्ञानाभावविषयत्वे वक्तव्ये त्वदुक्तमर्थं न जानामीत्यादेरपि तथात्वाच्च, त्वन्मते परोक्षवृत्तेर्विषयावरकाज्ञानानिवर्तकत्वेन परोक्षतो ज्ञातेऽपि न जानामीत्यनुभवापाताच्च । त्वन्मते जडावरकाज्ञानाभावेन त्वदुक्तमर्थं न जानामीत्यादेरपि प्रामाण्याय ज्ञानाभावविषयत्वाच्च । न च जडे आवरणरूपातिशयाभावेऽपि

अद्वैतसिद्धिः

'घटं न जानामी'त्यादिप्रतीतेर्ज्ञानाभावविषयत्वे प्रकृतेऽपि तथास्त्विति—निरस्तम्, तत्तदवच्छिन्नचैतन्यस्यैवाज्ञानाश्रयत्वेन तत्रापि तद्व्यवहारोपपत्तेः । न च—साक्षिवेद्ये सुखदुःखाज्ञानादौ प्रातिभासिके च भावरूपाज्ञानाभावेन तत्र न जानामीति प्रतीतिः कथमुपपद्यत इति—वाच्यम्, स्वस्मिन्विद्यमाने साक्षिवेद्ये सुखादौ स्वभ्रमसिद्धे रूप्यादौ च 'न जानामी'ति व्यवहारासंभवात्, परसुखादौ 'न जानामी'ति व्यवहारस्य परोक्षज्ञाननिवर्त्येन प्रमातृगताज्ञानेनैवोपपत्तेः । अत एव परोक्षज्ञानेन प्रमातृगताज्ञाने

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का 'एकत्ववद् रूपम्'—यह अर्थ न होकर 'सामानाधिकरण्येन एकत्वविशिष्टं रूपम्'—ऐसा अर्थ होता है, वैसे ही प्रकृत में सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन अहम् अज्ञान-विशिष्टः'—यह अर्थ विवक्षित है । जिस शुद्ध चैतन्य वस्तु में अज्ञान अध्यस्त है, उसी में अहमर्थ भी, अतः दोनों का एक ही चेतन अधिकरण है, इस प्रकार समानाधिकरणता होने के कारण अहमज्ञः—ऐसी प्रतीति हो जाती है, जैसा कि विवरणकार ने कहा है—"अज्ञानान्तःकरणयोरेकात्मसम्बन्धादहमज्ञ इत्यवभासः" (वि० पृ० २२०) अज्ञान वस्तुतः शुद्ध चेतन के आश्रित ही प्रतीत होता है, वह भावात्मक है । जो यह आक्षेप किया जाता था कि जड़ वस्तु पर अज्ञान निरर्थक होने के कारण जैसे 'घटं न जानामि'—इत्यादि प्रतीतियों को अज्ञानाश्रयीभूत घटविषयक न मान कर ज्ञानाभावाश्रयीभूत घटविषयक ही माना जाता है, वैसे ही प्रकृत में 'अहमज्ञः' का अर्थ 'अहम् ज्ञानाभावाश्रयः'—ऐसा अर्थ ही न्यायोचित है । वह आक्षेप भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि घटं न जानामि'—इत्यादि स्थलों पर भी घटादि का अधिष्ठानभूत चैतन्य ही अज्ञानावृत और अज्ञान का आश्रय माना जाता है, घटादि नहीं, उतने से ही उक्त व्यवहार उपपन्न हो जाता है ।

शङ्का—भावरूप अज्ञान यदि केवल चैतन्य के आश्रित होता है, तब साक्षिवेद्य सुख-दुःखादि तथा शुक्ति-रजतादि प्रातिभासिक पदार्थों पर आवरक अज्ञान न होने के कारण वहाँ 'न जानामि' इस प्रकार की प्रतीति कैसे होगी ?

समाधान—जब साक्षि-वेद्य सुख-दुःखादि अपने में विद्यमान हों और शुक्ति-रजत-भ्रम भी हो रहा हो, तब तो सुखं न जानामि, दुखं न जानामि, शुक्तिरजतं न जानामि—इस प्रकार की प्रतीतियाँ होतीं ही नहीं । परकीय सुखादि को लेकर जो 'सुखं न जानामि' इत्यादि प्रतीतियों की उपपत्ति प्रमातृगत अज्ञान के द्वारा ही हो जाती है । [अर्थात् अज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) प्रमातृ चैतन्य में रहनेवाला अज्ञान या असत्त्वापादक आवरण और (२) विषयावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अज्ञान या अभानापादक आवरण । प्रथम अज्ञान की निवृत्ति विषय के परोक्ष या अपरोक्ष ज्ञान से तथा द्वितीय अज्ञान की निवृत्ति प्रत्यक्ष ज्ञान से होती है । परकीय सुखादि का जब परोक्ष ज्ञान नहीं होता तब प्रमातृ चेतन्यगत अज्ञान के द्वारा 'सुखं न जानामि'—यह प्रतीति

न्यायामृतम्

विशेषरूपातिशयस्य सत्त्वादज्ञानविषयतास्तीति न जानामीत्यनुभव इति वाच्यम्, अपरोक्षतो घटत्वेन ज्ञातेऽपि घटेऽयं पट इति वाक्याभासाद्विक्षेपसद्भावेऽपि घटं न जानामीत्यनुभवाभावात्।

ननु जडे न जानामीत्यनुभवस्य जडावच्छिन्नं चैतन्यं विषय इति चेन्न, निरसिष्यमाणत्वाद्, वृत्तिः चिदुपरागार्थेति मते जडावच्छिन्नचैतन्यावरकाज्ञानस्याप्यभावाच्च। भावरूपाज्ञानविषयत्वेनाभिमतस्याहमज्ञ इति ज्ञानस्य ज्ञानाभावविषयत्वेनाभिमतात् मयि ज्ञानं नास्तीतिज्ञानादघटं भूतलमितिज्ञानस्य भूतले घटो नास्तीति ज्ञानादिवद्विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासं विना इच्छाद्वेषाभावज्ञानयोरिव विषयभेदा-

---

अद्वैतसिद्धिः

नाशितेऽपि विषयगताज्ञानसत्त्वेन 'न जानामी'ति व्यवहारापत्तिरिति—निरस्तम्, प्रमातृगताज्ञानकार्यस्य 'न जानामी'ति व्यवहारस्य विषयगताज्ञानेनापादयितुमशक्यत्वात्।

ननु—भावरूपाज्ञानविषयत्वेनाभिमतस्य 'अहमज्ञ' इति प्रत्ययस्य 'मयि ज्ञानं नास्ती'ति ज्ञानाभावविषयात् प्रत्ययात् 'अघटं भूतल'मिति प्रत्ययस्य 'घटो नास्ती'ति प्रत्ययादिव विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासं विना इच्छाद्वेषाभावज्ञानयोरिव विषयभेदाप्रतीतिरिति—चेत्, सत्यम्, धर्मिप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां ज्ञानसामान्याभावज्ञानस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सम्पन्न हो जाती है]। इसीलिए परोक्ष ज्ञान के द्वारा प्रमातृगत अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर भी विषयगत अज्ञान के द्वारा 'न जानामि'—इस प्रकार की प्रतीत्यापत्ति का भी निरास हो जाता है, क्योंकि विषयगत अज्ञान के द्वारा 'न जानामि'—यह प्रतीति नहीं होती, अपितु 'विषयो न भाति'—ऐसा ही व्यवहार होता है। 'न जानामि'—यह व्यवहार प्रमातृगत अज्ञान का ही कार्य होता है, उस अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उसके कार्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती।

शङ्का—'अहमज्ञः'—इस प्रतीति को भावरूप अज्ञान-विषयक न मानकर ज्ञानाभावविषयक ही मानना होगा, क्योंकि 'मयि ज्ञानं नास्ति'—इस ज्ञानाभावविषयक प्रतीति से 'अहमज्ञः' इस प्रतीति का विषय-कृत भेद प्रतीत नहीं होता, केवल इतना ही अन्तर है कि 'अहमज्ञः'—यह प्रतीति ज्ञानाभाव को विशेषण और 'मयि ज्ञानं नास्ति'—यह प्रतीति ज्ञानाभाव को विशेष्य रूप से विषय करती है, जैसे कि 'अघटं भूतलम्'—यह प्रतीति घटाभाव को विशेषण तथा 'घटो नास्ति'—यह प्रतीति घटाभाव को विशेष्य रूप से विषय करती है एवं जैसे इच्छाविषयक 'इच्छामि'—यह ज्ञान भावविषयक और 'न द्वेष्मि' यह ज्ञान अभावविषयक है, अत एव द्वेषाभाव से इच्छा गतार्थ नहीं होती, अपितु द्वेषाभाव से भिन्न इच्छा को एक स्वतन्त्र भाव पदार्थ माना जाता है, वैसे पूर्वोक्त प्रतीतियों का न तो भेद है और न उनके विषयों का। फलतः 'अहमज्ञः'—यह प्रत्यक्ष प्रतीति ज्ञानाभाव को विषय करती है, भावरूप अज्ञान में क्योंकर प्रमाण हो सकेगी ?

समाधान—पूर्वपक्षी का यह कहना कि 'अहमज्ञः' और 'मयि ज्ञानं नास्ति'—इन दोनों प्रतीतियों का विषय-वैलक्षण्य नहीं, अत्यन्त सत्य है, किन्तु दोनों प्रतीतियाँ भावात्मक अज्ञान को ही विषय करने के कारण समानविषयक हैं, ज्ञानाभाव को विषय

अद्वैतसिद्धिः

व्याहतत्वेन 'मयि ज्ञानं नास्ती'त्यस्यापि भावरूपाज्ञानविषयत्वेन विषयभेदाप्रतीतेर्युक्तत्वात् । तथा हि—'मयि ज्ञानं नास्ती'ति प्रतीतिः 'वायौ रूपं नास्ती'ति प्रतीतिवद्यावद्विशेषाभावान्यसामान्याभावविषया, सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकयावद्विशेषाभावविषया वा अभ्युपेया । तथा च तत्कारणीभूतधर्मिप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां कथं न व्याघातः ? यत्किंचिद्विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वाभावाद्, अभावज्ञाने प्रतियोग्यंशे प्रकारीभूतधर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वात् । अन्यथा सामान्याभावसिद्धिर्न स्यात् । यावद्विशेषाभावान्यसामान्याभावानभ्युपगमेऽप्ययं दोषः । यत्किंचिद्विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वे घटवत्यपि भूतले 'निर्घटं भूतल'मिति प्रतीतिः स्यात्, 'वायौ रूपं नास्ति' 'पुरो देशे रजतं नास्ती' त्याद्याप्तवाक्यजन्यप्रतीत्यनन्तरमपि तत्तत्संशयनिवृत्तिर्न स्यात्, एकविशेषाभाव-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

करने के कारण नहीं, क्योंकि 'मयि ज्ञानं नास्ति'—यह प्रतीति कभी भी ज्ञानाभावविषयिणी नहीं हो सकती, उसका कारण यह है कि यदि वहाँ धर्मी (आत्मरूप अनुयोगी) और ज्ञानरूप प्रतियोगी का ज्ञान है, तब वहाँ ज्ञान का सामान्याभाव नहीं रह सकता, क्योंकि भाव और अभाव का एकत्र रहना व्याहत है। सामान्य ज्ञानाभाव के न रहने पर उसका 'मयि ज्ञानं नास्ति'—ऐसा प्रत्यक्ष कदापि नहीं हो सकता। यदि उस समय धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान नहीं, तब ज्ञानाभाव की प्रतीति ही नहीं हो सकती, क्योंकि अभाव की प्रतीति में धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान अपेक्षित होता है। अतः विवश होकर यह मानना पड़ेगा कि 'मयि ज्ञानं नास्ति'—यह प्रतीति भावात्मक अज्ञान को ही विषय करती है, ज्ञान के सामान्याभाव को नहीं, क्योंकि सामान्याभाव के विषय में दो मत हैं—(१) कुछ आचार्य सामान्याभाव को यावद्विशेषाभाव से भिन्न मानते हैं और (२) कुछ सामान्याभाव को वैसे ही यावद्विशेषाभावात्मक मानते हैं, जैसे नीलरूप, पीतरूपादि समस्त विशेष रूपाभाव को 'रूपं नास्ति'—इस प्रतीति का विषय रूपसामान्याभाव या रूपत्वात्मक सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव। 'मयि ज्ञानं नास्ति'—इस प्रतीति को 'वायौ रूपं नास्ति'—इस प्रतीति के समान यावद्विशेषाभाव से भिन्न अथवा ज्ञानत्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिकसामान्याभावविषयक नहीं माना जा सकता, क्योंकि धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान और अज्ञान से व्याघात दिखाया जा चुका है। 'घटज्ञानं नास्ति'—इस प्रकार की प्रतीति तो वहाँ हो सकती है, किन्तु इस प्रतीति को घटज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक ही कहा जाता है, ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक नहीं, क्योंकि 'घटज्ञानं नास्ति'—इस प्रकार के अभाव-ज्ञान में प्रतियोगी के प्रकारीभूत घटज्ञानत्व को ही प्रतियोगितावच्छेदक माना जाता है। अन्यथा (प्रतियोग्यंश में प्रकारीभूत धर्म को प्रतियोगितावच्छेदक न मानने पर) विशेषाभाव-कूट से भिन्न सामान्याभाव सिद्ध न होगा, क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से ही अभावों का भेद माना जाता है। यदि यत्किञ्चिद्विशेषाभाव को ही सामान्याभाव माना जाता है, तब नील घटवाले प्रदेश में पीत घट का अभाव रहने के कारण 'निर्घटं भूतलम्'—इस प्रकार के सामान्याभाव की प्रतीति होनी चाहिये एवं 'वायौ रूपं नास्ति', 'पुरतो रजतं नास्ति'—इत्यादि वाक्यों से जन्य सामान्याभाव की प्रतीति होने पर भी किसी एक विशेष रूप तथा विशेष रजत का सन्देह रहने के कारण सामा-

अद्वैतसिद्धिः

बोधनेऽपि विशेषान्तरमादाय संशयोपपत्तेः ।

अथ—अभावबोधे प्रकारीभूतधर्मस्यावच्छेदकत्वं पूर्वानुपस्थितमपि संसर्गमर्यादया शाब्दबोधे अन्यत्र च भासते, न ह्यवच्छेदकत्वस्य स्वरूपसंबन्धविशेषस्य ग्रहे अन्या सामग्री क्लृप्ता, तथा च 'तत्तद्विशेषाभावानां तत्तद्विशेषावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वात् । सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं यावद्विशेषाभावकूटे वा व्यासज्यवृत्ति तदतिरिक्तसामान्याभावे वा प्रत्येकविश्रान्तमिति तादृगभावप्रतीतेर्यावद्विशेषप्रतीतिविरोधित्वात् कुतो विशेषसंशयादिरिति—चेत् , सत्यम् , प्रकृतेऽपि ज्ञानत्वसामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रतीतिर्यावज्ज्ञानविशेषविरोधिनीति कथं तत्तत्कारणत्वाभिमतज्ञानविशेषे सति सा न व्याहन्यते ? तथा च क्लृप्ताभावप्रतीतिवैलक्षण्येऽवश्यकल्प्ये लाघवाद्विषयस्यैवाभाववैलक्षण्यं कल्पयितुमुचितम् , विषयावैलक्षण्ये प्रतीति-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ग्यतः 'वायौ रूपं न वा', 'पुरतो रजतं न वा ?' इस प्रकार के सन्देह की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए ।

शङ्का—घटाभावादिविषयक शाब्दबोधादि में जो घटादिगत प्रतियोगिता तथा प्रकारीभूत घटत्वादिनिष्ठप्रतियोगितावच्छेदकता प्रतीत होती है, वह शाब्दबोध के पहले किसी शब्द से उपस्थित नहीं होती, क्योंकि उस समय केवल 'घटो नास्ति'—इतना ही वाक्य बोला जाता है, उसमें प्रतियोगिता तथा अवच्छेदकता का वाचक कोई शब्द नहीं होता, अतः अनुपस्थित धर्मों का भान संसर्ग-मर्यादा से ही माना जाता है । अवच्छेदकत्व धर्म के भान में अन्य सामग्री की अपेक्षा भी नहीं होती, क्योंकि अवच्छेदकत्व को स्वरूपसम्बन्धविशेष माना जाता है, अतः घटत्वादिरूप अवच्छेदक का स्वरूप होने के कारण घटत्वादि के उपस्थापक घटादि शब्दों से ही अवच्छेदकत्व का भान हो जाता है, उससे अन्य शब्द की आवश्यकता नहीं । इस प्रकार विशेषाभावीयप्रतियोगिता में सामान्यधर्मावच्छिन्नत्व का भान न होकर नीलत्वादि विशेषधर्मावच्छिन्नत्व का भान ही उचित है, अतः 'वायौ रूपं नास्ति'—इस प्रकार के सामान्याभाव की प्रतीति के पश्चात् 'वायौ रूपं न वा ?' ऐसे संशय की सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि रूपत्वात्मक सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व को यत्किञ्चिद्विशेषाभाव में न मानकर या तो नीलत्व पीतत्वादि विशेषावच्छिन्नप्रतियोगिताक समस्त अभावों में बहुत्वादि के समान व्यासज्य वृत्ति माना जाता है या विशेषाभावों से अतिरिक्त एक सामान्याभाव में एकत्रमात्रवृत्ति माना जाता है । फलतः सामान्याभाव (रूपाभाव) के रहने पर समस्त (नील, पीत, रक्तादि के) विशेषाभाव का रहना अनिवार्य हो जाता है, अतः सामान्याभाव की प्रतीति यावद्रूपविशेष-प्रतीति की विरोधी हो जाती है, उसके समय रूपविशेष का संशय कैसे होगा ?

समाधान—जैसे रूपत्वात्मक सामान्य धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की प्रतीति यावद्रूपविशेष-प्रतीति की विरोधी है, वैसे ही ज्ञानत्वरूप सामान्य धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की प्रतीति यावज्ज्ञानविशेष की विरोधी है, अतः ज्ञानत्वाभाव के कारणीभूत धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान रहने पर 'मयि ज्ञानं नास्ति'—यह प्रतीति व्याहत (विरुद्ध) क्यों नहीं ? घटादि प्रतियोगी की प्रतीति के रहने पर भी घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष नहीं, अतः 'अत्र घटो नास्ति'—इस

न्यायामृतम्

प्रतीतेश्च। प्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां ज्ञानाभावज्ञानदूषणं तु स्वव्याहतम्, भावरूपाज्ञानवादेऽपि इदानीं वेदान्तश्रवणादिसाध्यमोक्षहेतुब्रह्मज्ञानप्रागभावस्य सत्त्वेन तज्ज्ञानस्य त्वयापि वक्तव्यत्वात्। न च भावरूपाज्ञानेन लिंगेन ज्ञानाभावानुमेति वाच्यम्, वृत्तिज्ञानस्य साक्षिवेद्यत्वेन तदभावस्यापि दुःखाद्यभाववत् साक्षिणा अनुपलब्ध्या वा झटिति प्रतीतेः, त्वन्मते जडे भावरूपाज्ञानरूपलिंगाभावाच्च, अपरोक्षतो ज्ञाते भावरूपाज्ञानाभावेन तत्र परोक्षज्ञानाभावासिद्ध्यापाताच्च। दुःखादौ प्राति-

अद्वैतसिद्धिः

वैलक्षण्यायोगात्। विषयाज्ञानमनुभूय च पुरुषस्तन्निवृत्त्यर्थं विचारे प्रवर्तत इति सर्वानुभवसिद्धम्। तद्यदि ज्ञानविशेषाभावो 'न जानामो'ति प्रतीतेर्विषयः, तदा ज्ञातेऽपि तथा प्रतीत्यापातः, तद्विचारार्थं च प्रवृत्तिः स्यात्। सामान्याभावे च बाधकमुक्तमेव।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रतीति की अपेक्षा 'मयि ज्ञानं नास्ति'—इस प्रतीति का वलक्षण्य सिद्ध करता है कि दोनों प्रतीतियों का विषय-वैलक्षण्य है, अर्थात् एक (घटो नास्ति) प्रतीति अभाव-विषयक और दूसरी (मयि ज्ञानं नास्ति) प्रतीति भावात्मक अज्ञानविषयक है। विषय-वैलक्षण्य में प्रतीति-वैलक्षण्य के प्रयोजकत्व की कल्पना लघु कल्पना कहलाती है, क्योंकि विषयगत विलक्षणता के बिना प्रतीति-वैलक्षण्य सम्भव नहीं होता।

दूसरी बात यह भी है कि साक्षी के द्वारा विषय-विशिष्ट अज्ञान का अनुभव कर पुरुष की अज्ञाननिवृत्यर्थ विचारादि में प्रवृत्ति सर्वानुभव सिद्ध है। विचारणीय विषय का ज्ञान हो जाने पर ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और पुरुष-प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, किन्तु 'न जानामि' इस प्रतीति का विषय अज्ञान को न मानकर ज्ञान विशेषाभाव को माना जाता है, तब विचार के द्वारा एक विषय का ज्ञान हो जाने पर भी दूसरे विषय के ज्ञान का अभाव रहने के कारण 'न जानामि'—यह प्रतीति और तत्प्रयुक्त विचार-प्रवृत्ति की समाप्ति नहीं होनी चाहिये। ज्ञान-सामान्याभाव के प्रत्यक्ष में व्याघात दोष दिखाया जा चुका है अतः 'मयि ज्ञानं नास्ति', 'अहमज्ञः'—इत्यादि प्रतीतियों का विषय न तो ज्ञान-विशेषाभाव हो सकता है और न ज्ञान-सामान्याभाव किन्तु अभाव-विलक्षण अज्ञान ही उनका विषय सिद्ध होता है।

शङ्का—जैसे अज्ञान की अभावरूपता में व्याघात दोष दिया गया कि अभाव अपने प्रतियोगी और अनुयोगी पदार्थों से निरूपित होता है, उनका ज्ञान न होने पर निरूपित ही नहीं हो सकता और उनका ज्ञान होने पर अवस्थित ही नहीं रह सकता, वैसे ही अज्ञान की भावरूपता में भी व्याघात है, क्योंकि 'न जानामि'—इस वाक्य के द्वारा विरुद्धार्थक नञ् से घटित होने के कारण ज्ञान का विरोधी भाव (अज्ञान) प्रतिपादित होता है। ज्ञान का अभाव जैसे ज्ञान से निरूपित होता है, वसे ही ज्ञान का विरोध भी ज्ञान से निरूपित होता है, अतः ज्ञान का ज्ञान न होने पर ज्ञान के विरोधी अज्ञान की प्रतीति नहीं हो सकती और ज्ञान का ज्ञान होने पर उसका विरोधी अज्ञान रह नहीं सकता। यद्यपि मोहादि पदों के द्वारा भी अज्ञान का प्रतिपादन होता है किन्तु ज्ञान-विरोधित्वेन नहीं, क्योंकि 'मुग्धोऽस्मि'—इस वाक्य में ज्ञान-विरोध-प्रतिपादक कोई पद नहीं, तथापि जैसे 'प्रलयादि' पदों में नञ् का उल्लेख न होने पर भी ध्वंसाभाव

न्यायामृतम्

भासिके च भावरूपाज्ञानाभावेन दुःखादिज्ञानाभावप्रतीत्ययोगाच्च। प्रतियोग्यादिज्ञानाज्ञानाभ्यामनुमित्यापि ज्ञानाभावस्य दुर्ग्रहत्वाच्च। अपि च भावरूपाज्ञानमपि न जानामीति ज्ञानविरोधित्वेनैव भाति, मुग्धोऽस्मीत्यादौ तु प्रलयादिशब्देष्विव नञनुल्लेखमात्रम्। अत एव ज्ञानाभावाभिप्रायेणापि मुग्धोस्मीत्युच्यते। उक्तं च विवरणे—"अज्ञानमिति .द्वयसापेक्षज्ञानपर्युदासेनाभिधानाद्" इति। अन्यथा ह्यज्ञानस्य ज्ञानविरोधोऽप्रामाणिकः स्यात्। तथा च विरोधनिरूपकभूतज्ञानस्य ज्ञानाज्ञानाभ्यामज्ञानस्यापि ज्ञानं दुर्घटं स्यात्। ज्ञानाभावोऽपि हि प्रमेयत्वादिना ज्ञाने प्रतियोग्यादिज्ञानानपेक्षः। एतेन निपुणे कुशलादिशब्दवद् भावरूपज्ञाने अज्ञानशब्दो रूढ

अद्वैतसिद्धिः

तस्मादभावविलक्षणमेवाज्ञानं 'मयि ज्ञानं नास्त्यहमज्ञ' इत्यादि धीविषय इति सिद्धम्। ननु अभावविलक्षणमप्यज्ञानं 'न जानामी'ति ज्ञानविरोधित्वेनैव भासते, मोहादिपदेऽपि प्रलयादिपदवत्तदनुल्लेखमात्रम्, उक्तं च विवरणे—'अज्ञानमिति द्वयसापेक्षज्ञानपर्युदासेनाभिधानाद्' इति। अन्यथा ज्ञानस्याज्ञानविरोधित्वमप्रामाणिकं स्यात्, तथा च विरोधनिरूपकज्ञानस्य ज्ञानाज्ञानाभ्यां तवापि कथं न व्याघातः? एवं निर्विषयाज्ञानाप्रतीतेर्विषयज्ञानाज्ञानयोरपि व्याघात आपदनीयः, तथा च

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः　　पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥

इति न्यायेन उभयपरिहणीयस्य व्याघातस्य ज्ञानाभावपक्ष एवापादनमनुचित-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की बोधकता मानी जाती है, वैसे ही मोहादि पदों में नञ् का उल्लेख न होने पर भी ज्ञानविरोधित्वेन अज्ञान की बोधकता मानी जाती है जैसा कि विवरणकार ने कहा है—"अज्ञानमिति द्वयसापेक्षज्ञानपर्युदासेनाभिधानात्" (पं० वि० पृ०४३ का. सं.) अर्थात् 'अज्ञान' पद के द्वारा आश्रय और विषयरूप दो पदार्थों की अपेक्षा रखने वाले ज्ञान का पर्युदास करते हुए अज्ञान का अभिधान होता है। अन्यथा (आश्रय विषयोभयसापेक्षज्ञान-विरोधित्वेन अज्ञान की प्रतीति न होने पर) ज्ञान का अज्ञान के साथ विरोध ही अप्रामाणिक हो जायगा, क्योंकि अविरोधी का विरोध कभी नहीं होता, सदैव विरोधी का विरोध होता है, 'अज्ञान' पद ज्ञान-विरोधी अर्थ वाचक है, अत एव 'ज्ञान' पद भी अज्ञान-विरोधी प्रकाश का बोधक माना जाता है। फलतः विरोधनिरूपकज्ञानरूप का ज्ञान होने और न होने पर अज्ञान की प्रतीति निश्चितरूप से बाधित है। इसी प्रकार निर्विषयक ज्ञान की प्रतीति सम्भव नहीं, विषयविषयक ज्ञान और अज्ञान के होने पर भी अज्ञान की प्रतीति का विरोधापादन किया जा सकता है। जब अज्ञान के भाव और अभाव—दोनों पक्षों में समानरूप से व्याघात दोष विद्यमान है, तब उसका उद्भावन ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि भट्टपाद ने कहा है—

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः　　पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥ (श्लो० वा० पृ०)

[जिस विचार-चर्चा के समय वादी और प्रतिवादी—दोनों के पक्षों में समान दोष और समान परिहार उपस्थित हो जाता है, उस विषयचर्चा के समय उस दोष का उद्भावन नहीं करना चाहिए]।

न्यायामृतम्

इति निरस्तम्, वृत्तिज्ञाननिवर्त्यस्याज्ञानस्य तद्विरुद्धत्वेन क्लृप्तावयवशक्त्यैवोपपत्तौ समुदायशक्तिकल्पकाभावात्। शब्दाप्रयोगेऽपि न जानामीति प्रत्यक्षेण ज्ञानविरोधप्रतीतेश्च। एवं च—

अभाव इव भावेऽपि ज्ञानाज्ञानविरोधिता।
न जानामीत्यतश्चोद्यपरिहारौ समौ तयोः॥

अपि च भावरूपाज्ञानावच्छेदकविषयस्याज्ञाने अज्ञानज्ञानायोगात् ज्ञाने चाज्ञानस्यैवाभावात् कथं भावरूपाज्ञानज्ञानम्? ननु विरोधनिरूपकज्ञानावच्छेदकस्य च विषयस्य ज्ञान साक्षिरूपमिति न तद्भावरूपाज्ञानविरोधि, वृत्तेरेव तद्विरोधित्वादिति चेत्, समं भावपक्षेऽपि अवच्छेदकस्य विषयस्य ज्ञानं साक्षिरूपम्। न जानामीति

अद्वैतसिद्धिः

मिति—चेन्न प्रमाणवृत्तिनिवर्त्यस्यापि भावरूपाज्ञानस्य साक्षिवेद्यस्य विरोधनिरूपकज्ञानतद्व्यावर्तकविषयग्राहकेण साक्षिणा तत्साधकेन तदनाशाद्व्याहत्यनुपपत्तेः। अज्ञानग्रहे विषयगोचरप्रमापेक्षाया व्याहतिः स्यादेव, सा च नास्ति। तदुक्तं विवरणे 'सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव' इति। न चैव—ज्ञानाभावपक्षेऽपि विषयादिज्ञानं साक्षिरूपम्, 'न जानामी'ति धीस्तु प्रमाणवृत्त्यभावविषयेति न व्याहतिरिति- वाच्यम्, भावरूपाज्ञानस्य साक्षात् साक्षिवेद्यत्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—यह सत्य है कि ज्ञान-विरोधी भाव पदार्थ को ही अज्ञान कहा जाता है किन्तु विरोध का निरूपक अज्ञान तथा अज्ञान का व्यावर्तक विषय साक्षि-वेद्य होता है, साक्षी ज्ञान अज्ञान का व्याहन्ता या निवर्तक नहीं, अपितु साधक माना जाता है, प्रमाण-जन्य अन्तःकरण-वृत्ति को ही भावरूप अज्ञान का हम निवर्तक मानते हैं, अतः किसी प्रकार की व्याहति या विरोध अद्वैतवाद में उपस्थित नही होता। अज्ञान के ग्रहण में यदि विषय की प्रमा अपेक्षित होती तब अवश्य कथित व्याघात होता, किन्तु विषय-प्रमा की अपेक्षा नहीं विषय के ज्ञान मात्र से अज्ञान का ज्ञान हो जाता है, जैसा कि विवरणकार ने कहा है—"सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव" (पं० वि० पृ० ८४) अर्थात् अज्ञान का व्यावर्तक विषय अज्ञाततया साक्षीद्वारा गृहीत होता है।

शङ्का—जैसे अद्वैत मत में विषयादि का ज्ञान साक्षिरूप मान कर व्याघात दूर किया जाता है, वैसे ही द्वैत-मत (अज्ञान की ज्ञानाभावरूपता के पक्ष) में भी ज्ञानाभाव तथा विषयादि का ज्ञान साक्षीरूप माना जाता है, किन्तु 'न जानामि'—यह प्रतीति प्रमावृत्तिरूप ज्ञान के अभाव को विषय करती है, अतः प्रमावृत्ति का अभाव (अज्ञान), उसकी प्रतियोगिरूप प्रमा वृत्ति तथा प्रमा वृत्ति का विषय—ये तीनों साक्षिवेद्य माने जाते हैं, किसी प्रकार का व्याघात द्वैतमत में भी उपस्थित नहीं होता।

समाधान—अद्वैत मत में भावरूप अज्ञान जैसे साक्षात् साक्षिवेद्य होता है, वैसे द्वैति-सम्मत ज्ञानाभाव साक्षात् साक्षि-वेद्य नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव अनुपलब्धिरूप षष्ठ प्रमाण-जन्य परोक्ष वृत्ति का विषय माना है। भावरूप अज्ञान 'साक्षात् साक्षिवेद्य होने के कारण अज्ञान का अवच्छेदक विषय एवं अज्ञान का विरोधी ज्ञान साक्षी का विषय हो जाता है। ज्ञानाभाव साक्षात् साक्षि-वेद्य न होने के कारण उसका विषय

अद्वैतसिद्धिः

तदवच्छेदकविषयादेस्तद्द्वारा साक्षिवेद्यत्वसंभवेऽपि अभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वेन साक्षात् साक्षिवेद्यत्वाभावात् न तद्द्वारा तदवच्छेदकविषयादेः साक्षिवेद्यत्वमिति वैषम्यात् । यद्यपि ज्ञानं साक्षिवेद्यम्, तद्द्वारा तदवच्छेदको विषयश्च साक्षिवेद्यः; तथापि ज्ञानाभावो न साक्षिवेद्यः, तस्यानुपलब्धत्वात् । उत्पन्नं च ज्ञानं साक्षात् साक्षिवेद्यम् । तस्मिश्चोत्पन्ने तद्विषयोऽपि स्फुरतीति कुतो ज्ञानाभावोऽपि ? अज्ञान-विशेषणतया तु अनुत्पन्नमपि ज्ञानं साक्षिवेद्यमिति न दोषसाम्यम् । न च—अवच्छेद-कस्य विषयादेः प्रागज्ञाने कथं तद्विशिष्टाज्ञानज्ञानम् ? विशेषणज्ञानाधीनत्वाद्विशिष्ट-ज्ञानस्येति—वाच्यम्, विशेषणज्ञानस्य विशिष्टज्ञानजनकत्वे मानाभावात्, प्रतियोगि-त्वाभावत्वयोः पूर्वानुपस्थितयोरपि तार्किकैरभावबोधे प्रकारीभूय भानाभ्युपगमात् । तथापि—विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानं विना कथं विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धिरिति—चेन्न,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और विरोधी ज्ञान साक्षी के विषय नहीं हो सकते—यह दोनों मतों का महान् वैषम्य है, अतः दोनों को एक धरातल पर नहीं लाया जा सकता। भावरूप अज्ञान उपलब्ध और ज्ञानाभाव अनुपलब्ध है, अतः अज्ञान के समान ज्ञानभाव साक्षी प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि साक्षि-वेद्य ज्ञान के उत्पन्न होने पर उसका विषय भी परिस्फुरित होता है, अतः ज्ञान का अभाव होगा भी कैसे ? अज्ञान की 'ज्ञानविरोधि भावरूपमज्ञानम्'—इस परिभाषा में अज्ञान के विशेषणीभूत विरोध का अनुत्पन्न या भावी ज्ञान ही निरूपक एवं साक्षि-वेद्य हो सकता है। इस प्रकार अज्ञान की भावरूपता और अभावरूपता के दोनों पक्षों में दोष-साम्य नहीं, अपितु भाव-पक्ष सर्वथा निर्दोष और अभाव-पक्ष सदोष है।

शङ्का—विषय-विशिष्ट अज्ञान साक्षी प्रत्यक्ष का विषय माना जाता है। विषय अज्ञान का विशेषण है। विशिष्ट-ज्ञान विशेषण के ज्ञान से जनित होता है, अतः विषय-विशिष्ट-ज्ञान से पहले ही अज्ञान के अवच्छेदक (विशेषणीभूत) विषय का ज्ञान अपेक्षित है, उसके विना विषय-विशिष्ट अज्ञान का ज्ञान क्योंकर होगा ? क्योंकि जन्य विशिष्ट-ज्ञान मात्र विशेषण-ज्ञान के अधीन ही होता है। पहले से ही विषय का ज्ञान मान लेने पर उसका अज्ञान नहीं रह सकता।

समाधान—'विशेषण-ज्ञान विशिष्ट-ज्ञान का जनक होता है'—इस नियम में कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि घटत्व-विशिष्ट घटादि के ज्ञान से पूर्व विशेषणीभूत घटत्वादि का निर्विकल्पक बोध माना जाता है, किन्तु घटप्रतियोगिक अभावरूप विशिष्ट पदार्थ के ज्ञान से पहले विशेषणीभूत प्रतियोगित्व और अभावत्वादि का निर्विकल्पक बोध नहीं माना जाता, क्योंकि समस्त विशेषण-विशिष्ट अभाव पदार्थ को केवल सविकल्पक बुद्धि का ही विषय माना जाता है। अतः पूर्वानुपस्थित प्रतियोगित्व अभावत्वादि विशेषणों का भान अभाव-ज्ञान में तार्किक मानते हैं, अतः विशेषण-ज्ञान में विशिष्ट-ज्ञान की जनकता का नियम टूट जाता है।

शङ्का—अभाव-ज्ञान विशिष्ट-बोध नहीं, विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान माना जाता है, अतः यद्यपि अभाव-ज्ञान में विशेषण-ज्ञान-जन्यत्व नहीं, तथापि विशेषणता-वच्छेदकप्रकारक ज्ञान-जन्यत्व माना जाता है। विशेषण में जो विशेषण होता है, उसे विशेषणतावच्छेदक कहते हैं। अज्ञान का प्रत्यक्ष बोध भी विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान

अद्वैतसिद्धिः

विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वेन विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेन च कार्यकारणभावे मानाभावात् , प्रत्यक्षत्वादिरूपेण पृथक् पृथक् क्लृप्तकार्यकारणभावेनैवोपपत्तेः विशिष्ट-वैशिष्ट्यबुद्धित्वस्यार्थसमाजसिद्धत्वात् , इह च सामग्रीतुल्यत्वेन 'विशेष्ये विशेषणं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है, क्योंकि 'अहमज्ञः'—इस प्रकार के अज्ञानविषयक प्रत्यक्ष का परिष्कृत अर्थ होता है—'ज्ञानविरोधिसविषयकभाववान् अहम्'—यहाँ आत्मा मुख्य विशेष्य है, उसमें अज्ञानरूप भाव पदार्थ विशेषण है और अज्ञान के जो दो विशेषण हैं—ज्ञान-विरोधित्व एवं सविषयकत्व, उन्हें ही विशेषणतावच्छेदक कहा जायगा, उनका ज्ञान उक्त अज्ञान-विषयक विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष का कारण है, उसके विना अज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता और उस ज्ञान के होने पर अज्ञान की स्थिति ही सम्भव नहीं, प्रत्यक्ष किसका होगा ? इस प्रकार पूर्व-चर्चित व्याहति जैसी-की-तैसी बनी है ।

समाधान—विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही बुद्धि और विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान के कार्य-कारणभाव में भी कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि तार्किकगण उक्त कार्यकारणभाव मानते हैं, उनके मत में ज्ञान चार प्रकार का होता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) उपमिति और (४) शाब्द । चारों प्रकार के विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान पृथक्-पृथक् विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान के कार्य माने जाते हैं, चारों मिल कर एक रूप से कार्य नहीं माने जाते, अर्थात् विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान का कार्य-तावच्छेदक उभय-सम्मत प्रत्यक्षत्वादि को माना जाता है, बुद्धित्व या ज्ञानत्व को नहीं क्योंकि प्रत्यक्षत्वादि चारों धर्मों से भिन्न बुद्धित्व कोई धर्म नहीं माना जाता, चारों ज्ञानों के सामूहिक रूप में बुद्धित्व वैसे ही अर्थतः सिद्ध हो जाता है जैसे कि पृथक्-पृथक् सामग्री से उत्पन्न नीलत्व और घट में नीलघटत्व अर्थतः सिद्ध हो जाता है, किसी सामग्री का कार्यतावच्छेदक नहीं होता, जैसा कि चिन्तामणिकार ने कहा है—''नीलघटत्वं तु विशिष्टं न कार्यतावच्छेदकम्, प्रत्येकानुगतप्रयोजकद्वयादेव विशिष्ट-सिद्धेरार्थः समाजः'' (प्रामाण्य० पृ० ३१०—११) कहीं-कहीं लगभग समान सामग्री से उत्पन्न ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही तथा (२) 'विशेष्ये विशेषणम्, तत्रापि विशेषणम्'—इस प्रकार का विशेषण-परम्परावगाही [जैसे समान परामर्श से उत्पन्न पर्वतो वह्निमान्'—इस प्रकार की अनुमिति उद्देश्यता-वच्छेदकावच्छेदेन और उद्देश्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन के भेद से दो प्रकार की होती है । एवं जैसे 'ग्रहं सम्मार्ष्टि'—इस एक ही वाक्य से जन्य बोध के (१) सम्मा-र्जनरूप विशेष्य पदार्थ में एकत्व-विशिष्ट ग्रह विशेषण मान कर विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही भी माना जा सकता है और (२) सम्मार्जन में विशेषण ग्रह तथा ग्रह में विशेषण एकत्व—इस प्रकार का विशेषण-परम्परावगाही भी । इस द्वितीय बोध में एकत्व-विशिष्ट ग्रह का वैशिष्ट्य सम्मार्ग के साथ विवक्षित नहीं, अपितु एकत्व-निरपेक्ष ग्रहमात्र का वैशिष्ट्य विवक्षित है, प्रतीयमान एकत्व की विशेषणता ग्रह तक ही सीमित होती है । वैसे ही] प्रकृत में 'ज्ञान-विरोधी सविषयक भाववानहम्'—इस प्रकार के बोध को विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही भी माना जा सकता है और आत्मा में विशेषणीभूत भाव (अज्ञान) का विशेषण ज्ञान-विरोधित्व और सविषयकत्व—इस प्रकार विशिष्ट-वैशिष्ट्यानवगाही भी । यदि इसे द्वितीय प्रकार का बोध माना जाता है, तब उसके लिए

अद्वैतसिद्धिः

तत्र च विशेषणान्तरमिति' न्यायेन विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानसंभवात्। अन्यथा तार्किकाणामपीश्वरस्य भ्रान्तिज्ञत्वं न स्यात्। भ्रमविषयस्य स्वातन्त्र्येण ग्रहे भ्रान्तत्वापत्त्या भ्रमावच्छेदकतयैव तद्ग्रहणं वाच्यम्, तथा च क्व प्राक्तदवच्छेदकग्रहनियमः ? ग्रहणसामग्रीतुल्यत्वं च प्रकृतेऽपि समम्।

ननु—श्रवणादिसाध्यमोक्षहेतुब्रह्मज्ञानप्रागभावस्य सत्त्वेन तज्ज्ञानं त्वयापि वाच्यम्; तथा च तत्रापि व्याहतिस्तुल्येति—चेन्न; श्रवणादि साध्यमोक्षहेतुब्रह्मज्ञानरूपस्य प्रतियोगिनो ज्ञानाज्ञानाभ्यां व्याहत्यभावात्, न हि श्रवणादिसाध्यत्वमोक्षहेतु-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसके विना भी 'विशेष्ये विशेषणम्, तत्र च विशेषणान्तरम'—इस रीति से विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान का समानाकार विशेषण-परम्परावगाही ज्ञान सम्भव है। अन्यथा (यदि कथित न्याय के आधार पर विशेषण-परम्परावगाही ज्ञान न मान कर केवल विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान ही माना जाता है, तब) तार्किक मत-सिद्ध ईश्वर सर्वज्ञ न हो सकेगा, क्योंकि ईश्वर के विषय में यह जिज्ञासा होती है कि उसे भ्रान्त पुरुष की भ्रान्ति का ज्ञान होता है ? या नहीं ? यदि नहीं, तब वह सर्वज्ञ कैसे होगा ? यदि है, तब ईश्वर भी भ्रान्त हो जायगा, क्योंकि भ्रम के विषयीभूत शुक्ति-रजतादि का भी स्वातन्त्र्येण ज्ञान मान कर ही ईश्वर के ज्ञान को विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही माना जा सकता है। अतः ईश्वर को भ्रान्तत्वापत्ति से बचाने का एक ही मार्ग है कि उसके विषय-विशिष्ट भ्रान्ति के ज्ञान को विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही न मान कर विशेष्ये विशेषणम्, तत्रापि विशेषणान्तरम्,—इस प्रकार का ज्ञान माना जाय, अतः ईश्वरीय ज्ञान में शुक्ति-रजतादि का स्वातन्त्र्येण वैशिष्ट्य-भान न होकर भ्रान्ति-व्यावर्तकरूप से ही भान मानना होगा, अर्थात् 'शुक्ति-रजत-ज्ञानवानहम्'—इस प्रकार की ईश्वरीय अनुभूति न मान कर शुक्ति-रजत विषयक भ्रान्ति-ज्ञानवानहम्'— इस प्रकार की ही अनुभूति माननी होगी। फलतः विशिष्टवैशिष्ट्य-समानाकार सभी ज्ञानों के पूर्व प्रकारतावच्छेदकीभूत विषयादि-ज्ञान की नियमतः अपेक्षा कहाँ होती है ? इसी प्रकार अज्ञान-विषयक ज्ञान में अज्ञान के व्यावर्तक विषयादि के स्वतन्त्रतः ग्रहण की अपेक्षा का नियम नहीं होता, अज्ञान का ग्रहण करता हुआ साक्षी अज्ञान के विषय को अज्ञातरूप से ही ग्रहण करता है। कथित उभय प्रकार के ईश्वरीय ज्ञानों की जैसे सामग्री समान है, वैसे ही प्रकृत (मयि ज्ञानं नास्ति) में सामग्री समान है, केवल भ्रान्तत्वापत्ति के कारण ईश्वरीय ज्ञान को विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही नहीं माना जा सकता और प्रकृत में व्याघात दोष के कारण, किन्तु जो लोग उक्त प्रतीति को ज्ञानाभावविषयक मानते हैं, उन्हें बाध्य होकर विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ही मानना पड़ता है, क्योंकि अभाव-बोध नियमतः विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही ही होता है—यह कहा जा चुका है, अतः इस मत में व्याघात दोष से बचने का कोई उपाय नहीं।

शङ्का—अभाव-बोध के नियमतः विशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाही होने के कारण यदि द्वैत-मत में व्याघात होता है, तब अद्वैत-मत भी उस व्याघात से बच नहीं सकता, क्योंकि जैसे तन्तुओं में पट-प्रागभाव का ज्ञान होने के कारण ही तन्तुओं में पटोत्पादनार्थ जुलाहे की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही मुमुक्षु की अपने में ब्रह्म-ज्ञान के

न्यायामृतम्

धीस्तु वृत्तिज्ञानाभावविषयेति सुवचत्वात्। तस्मात् त्वयाऽप्यवच्छेदकस्य विषयस्य सामान्यतो ज्ञानेऽपि विशेषे भावरूपाज्ञानमिति वाच्यम्। तत्समं ज्ञानाभावेऽपि तद्विशेषज्ञानाभावज्ञानं प्रति च तत्सामान्यज्ञानमेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुः, न तु तद्विशेषज्ञानमित्यविद्याविषयभंगे वक्ष्यते।

अद्वैतसिद्धिः

त्वद्विप्रकारकं ब्रह्मज्ञानज्ञानं ब्रह्मज्ञानमपि सत् श्रवणादिसाध्यम्, मोक्षहेतुर्वा; येन तस्मिन् सति तादृग्ज्ञानप्रागभावो व्याहन्येत।

नन्वेवं—'न जानामी'ति धियो ज्ञानाभावविषयत्वेऽपि न प्रतियोगिज्ञानादिना व्याहतिः; सामान्यतो विषयप्रतियोगिज्ञानेऽपि विशेषतस्तदभावसंभवात्, अन्यथा प्रागभावधीर्न स्यात्, तत्प्रतियोगिविशेषस्य सामान्यधर्मं विना विशेषतो ज्ञातुमशक्यत्वादिति—चेन्न; विशेषज्ञानाभावे हि विशेषज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रतियोगीति तस्य ज्ञाने

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रागभाव का निश्चय होने के कारण ब्रह्म-ज्ञानोत्पादनार्थ वेदान्त-श्रवणादि में प्रवृत्ति होती है, अतः अद्वैत वेदान्त में भी ब्रह्मज्ञानप्रतियोगिक प्रागभाव की नियमतः अपेक्षा है, किन्तु उसका ज्ञान होने पर प्रतियोगीभूत ब्रह्म-ज्ञान का भी ज्ञान हो जाता है कि 'मयि ब्रह्म-ज्ञानं वर्तते', तब उसके उत्पादनार्थ प्रवृत्ति क्योंकर होगी ? और ब्रह्मज्ञान-प्रागभाव का ज्ञान न होने पर भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसका ज्ञान ही प्रवर्तक होता है। अतः दोनों मतों में व्याहति समान दोष है।

समाधान—श्रवणादि-साध्य मोक्ष-हेतु ब्रह्म-ज्ञानरूप प्रतियोगी के ज्ञान और अज्ञान के द्वारा आपादित व्याहति अद्वैत-मत में प्रसक्त नहीं होती, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान का ज्ञान ही उसके प्रागभावविषयक ज्ञान में अपेक्षित है, ज्ञान वर्तमान वस्तु का ही होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, अपितु भावी ब्रह्म-ज्ञान का भी हो सकता है, उतने मात्र से मुमुक्षु में ब्रह्म-ज्ञान की वर्तमानता सिद्ध नहीं होती कि श्रवणादि में प्रवृत्ति अवरुद्ध हो जाती। साक्षात् ब्रह्मविषयक ज्ञान ही श्रवणादि से साध्य एवं मोक्ष का साधन होता है। ब्रह्म-ज्ञान का ज्ञान परम्परया ब्रह्मविषयक होने पर भी न तो श्रवणादि से साध्य होता है और न मोक्ष का हेतु। अतः ब्रह्म-ज्ञान का ज्ञान रहने पर ब्रह्म-ज्ञान का प्रागभाव व्याहत या बाधित नहीं होता।

शङ्का—जैसे भावात्मक अज्ञान-वाद में व्याहृति दोष नहीं, वैसे ही 'न जानामि'—इस बुद्धि के ज्ञानाभावविषयक होने पर भी प्रतियोगी के ज्ञानाज्ञान से व्याघात नहीं होता, क्योंकि सामान्यतः विषय और प्रतियोगी का ज्ञान होने पर भी विशेषतः उनके ज्ञान का अभाव सम्भव है, अन्यथा प्रागभाव का कहीं पर भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि प्रागभाव के ज्ञान का कारणीभूत प्रतियोगि-ज्ञान विशेषतः नहीं हो सकता अर्थात् जिस भावी घटविशेष का प्रागभाव कपालों में है, उस अनुत्पन्न घट का घटत्वेन सामान्यतः ही ज्ञान हो सकता है, विशेषतः नहीं, अतः प्रागभाव की प्रत्यक्षता का निर्वाह करने के लिए यह मानना आवश्यक है कि प्रतियोगी का सामान्यतः ज्ञान रहने पर भी विशेषतः ज्ञानाभाव रहता है। उसी प्रकार 'मयि ज्ञानं नास्ति'—यहाँ पर भी विषय और प्रतियोगी का सामान्यतः ज्ञान एवं विशेषतः ज्ञानाभाव—दोनों का सहावस्थान है, विरोध नहीं।

अद्वैतसिद्धिः

स विशेषोऽपि ज्ञात एवेति विशेषज्ञानाभावव्याघातात् । यत्किचिद्विशेषाभावश्च न सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताक इत्युक्तम् । प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञानाभावेन प्रागभावप्रतीतिरसिद्धैव । ननु—प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञानं नाभावज्ञाने कारणम्, किन्त्वभावज्ञाने भासमानप्रतियोगिवृत्तिधर्मप्रकारकं ज्ञानम्; सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्यभ्युपगमे तु प्रतियोगिविषयत्वमपि तस्याधिकम्, इतरथा तु तदेव इष्टवृत्तिसामान्यधर्मप्रकारकज्ञानमिवासिद्धव्यक्तिविषयेच्छाकृत्योः । न च—प्रतियोगितानवच्छे-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—'न जानामि'—इस प्रकार की प्रतीति का विषय यदि विशेष प्रतियोगी (ज्ञान) का अभाव है, तब विशेषज्ञानत्व को ही प्रतियोगितावच्छेदक मानना होगा। अभाव-बोध नियमतः विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही होता है, उसके प्रत्यक्ष का कारणीभूत बिशेषणतावच्छेदकीभूत विशेषज्ञानत्वेन ज्ञानरूप प्रतियोगी व्यक्ति ज्ञात न न होने पर ज्ञानाभाव का ज्ञान ही नहीं हो सकता और ज्ञात होने पर विशेषतः ज्ञानाभाव कैसे रहेगा? अतः व्याघात दोष जैसे-का-तैसा बना है। अभाव-ज्ञान में प्रतियोगितावच्छेदकरूपेण प्रतियोगी का ज्ञान अपेक्षित होता है, प्रागभाव का प्रतियो-विशेषवृत्ति तद्धटत्वादि विशेष धर्म ही प्रतियोगितावच्छेदक होता है, घटत्वादि सामान्य धर्म नहीं, अत एव सामान्य धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक यत्किञ्चिद् विशेषाभाव नहीं होता—यह कहा भी जा चुका है। प्रतियोगितावच्छेदक विशेषधर्मानिच्छिन्नप्रकारक प्रतियोगी का ज्ञान सम्भव नहीं, क्योंकि प्रागभाव का भावी विशेष प्रतियोगी अनुत्पन्न होने के कारण ज्ञात नहीं हो सकता, अतः प्रागभाव की प्रतीति ही असिद्ध है, इसके आधार पर कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता।

शङ्का—यह जो कहा गया कि प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक ज्ञान अभाव-बोध में अपेक्षित होता है, वह उचित नहीं, क्योंकि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति न मानने पर अभाव-ज्ञान में भासमान प्रतियोगिवृत्ति घटत्वादि सामान्य धर्मप्रकारक ज्ञान ही कारण माना जाता है, प्रतियोगी का ज्ञान नहीं और सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति मान लेने पर सामान्य धर्मप्रकारक ज्ञान में प्रतियोगिविषयकत्व का भान अधिक मान लिया जाता है। इस प्रकार प्रागभाव की प्रतीति में कारणीभूत घटत्वेन (प्रतियोगिवृत्तिधर्मप्रकारक) प्रतियोगि-ज्ञान सम्पन्न हो जाता है। इतरथा (सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति न मानने पर) प्रतियोगिविषयकत्व-रहित केवल प्रतियोगि-वृत्ति धर्मप्रकारक ज्ञान ही प्रागभाव-प्रतीति में वैसे ही कारण होता है, जैसे कि इष्ट घटादिवृत्ति घटत्वादि धर्मप्रकारक ज्ञान असिद्ध विषय व्यक्तिविषयक इच्छा और कृति का कारण माना जाता है। [जानाति, इच्छति, यतते, करोति—इस प्रकार के प्रसिद्ध क्रम के अनुसार उसी विषय में यत्न होता है, जिसकी इच्छा हो, इच्छा उसी की होगी, जिसका ज्ञान हो एवं असिद्ध वस्तु की सिद्धि करने के लिए ही इच्छा होती है, प्रयत्न होता है। असिद्ध या अनुत्पन्न वस्तु का पहले विशेषतः ज्ञान नहीं हो सकता, अपितु इष्यमाण घटादि वस्तु में वृत्ति घटत्वादि सामान्य धर्मप्रकारक ज्ञान ही होता है और वही सामान्य ज्ञान इच्छा और यत्न का कारण माना जाता है। उसी प्रकार प्रतियोगि-वृत्ति सामान्य धर्मप्रकारक ज्ञान ही अभाव-ज्ञान का कारण होता है]।

'[अभाव के ज्ञान में प्रतियोगिता का ज्ञान भी अपेक्षित होता है, प्रतियोगिता

अद्वैतसिद्धिः

दकधर्मेण कथं प्रतियोगिता गृह्यतामिति—वाच्यम्; विशेषावच्छिन्नाया व्याप्तेरिव सामान्येन ग्रहणसंभवात्। तथा हि—'इदमभिधेयवत्, प्रमेया'दित्यनुमाने 'यत्र प्रमेयं तत्राभिधेय'मिति व्याप्तिग्रहणसमये वृत्तिमत्प्रमेयत्वावच्छेदेनैव सामानाधिकरण्यरूप-व्याप्तिसत्त्वेऽपि तस्याः प्रमेयत्वरूपेणैव ग्रहणम्, न तु वृत्तिमत्प्रमेयत्वेन, गौरवात्, वृत्तिमत्त्वविशेषणस्य व्यभिचारावारकत्वेन वैयर्थ्याच्च, अवृत्तिषु साध्यसामानाधिकरण्यरूपव्याप्त्यभाववत् साध्याभावसामानाधिकरण्यरूपव्यभिचारस्याप्यभावात्, व्यर्थविशेषणत्वरहितत्वे सति व्यभिचारिव्यावृत्तत्वमात्रेणैव व्याप्यतावच्छेदकत्वसंभ-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का ज्ञान अपने परिचायक प्रतियोगितावच्छेदक धर्म के द्वारा ही होता है। घटत्वादि सामान्य धर्म को विशेष घटाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक नहीं माना जाता, क्योंकि अन्यून और अनतिरिक्त-वृत्ति धर्म को अवच्छेदक माना जाता है जैसा कि दीधितिकार कहते हैं—"स्वसमानवृत्तिकं चावच्छेदकं ग्राह्यम्" (अवच्छेद० पृ० ९५) वैसा अवच्छेदक विशेषघटत्व ही हो सकता है, घटत्व नहीं, क्योंकि विशेषघटाभाव के अप्रतियोगीभूत दूसरे घटों में रहने के कारण 'घटत्व' धर्म प्रतियोगिता से अतिरिक्त वृत्ति है, अतः] प्रतियोगितानवच्छेदकीभूत घटत्वादि सामान्य धर्म के द्वारा प्रतियोगिता का ग्रहण कैसे होगा'—ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सामान्य धर्म के द्वारा उसी प्रकार विशेष-निष्ठ प्रतियोगिता का ग्रहण सम्भव है, जैसे कि विशेष व्यक्ति-निष्ठ व्याप्ति या व्याप्यता का उसके अनवच्छेदकीभूत सामान्य धर्म के द्वारा ग्रहण माना जाता है। अर्थात् 'इदम् अभिधेयवत् प्रमेयात्'—इस अनुमान में 'यत्र प्रमेयम्, तत्राभिधेयम्'—इस प्रकार की अभिधेय-निरूपित प्रमेयनिष्ठ व्याप्ति का आकार है—अभिधेयाधिकरण-वृत्तित्व, यह गगनादि प्रमेयवर्ग में सम्भव नहीं, क्योंकि गगनादि पदार्थ अवृत्ति माने जाते हैं, उनमें वृत्तिमत्त्व-घटित व्याप्ति नहीं रह सकती। गगनादि में व्याप्यता के न रहने पर भी प्रमेयत्व रहता है, अतः अतिरिक्त-वृत्ति होने के कारण व्याप्यता का अवच्छेदक नहीं कहला सकता, किन्तु वृत्तिमत्प्रमेयत्व ही व्याप्यता का अवच्छेदक होता है। यद्यपि वृत्तिमत्प्रमेयत्वावच्छेदेन ही समानाधिकरण्यरूप व्याप्ति निश्चित होती है, तथापि व्याप्ति का ग्रहण उसके अनवच्छेदकीभूत प्रमेयत्व धर्म के द्वारा ही होता है, न कि वृत्तिमत्प्रमेयत्वेन, क्योंकि प्रमेयत्व की अपेक्षा वृत्तिमत्प्रमेयत्व गुरु धर्म है, गुरु धर्म में अवच्छेदकता नहीं मानी जाती—"सम्भवति च लघौ धर्मे गुरौ तदभावात्" (अवच्छेदकत्व० पृ० १)। यद्यपि नव्य-मत में गुरु धर्म को भी प्रतियोगितावच्छेदक मान लिया जाता है, शिरोमणि की व्यवस्था है—गौरवप्रतिबन्धानदशायामपि कम्बुग्रीवादिमान् नास्तीतिप्रतीतिबलाद् गुरुरपि धर्मोऽवच्छेदकः प्रतियोगितायाः" (अवच्छेदनकत्व पृ० १७२)। तथापि 'वृत्तिमत्त्व' विशेषण व्यभिचार-निवारक न होने के कारण व्यर्थ धर्म है, व्याप्यता का अवच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे साध्याधिकरण-वृत्तित्व को व्याप्ति माना जाता है, वैसे ही साध्याभावाधिकरण-वृत्ति को व्यभिचार, गगनादि अवृत्तिमान् पदार्थों में व्याप्ति के समान व्यभिचार भी नहीं रहता कि 'वृत्तिमत्त्व' विशेषण व्यभिचार-निवारक हो जाता। 'प्रमेयत्व' धर्म व्यर्थविशेषणता और व्यभिचारिता से रहित होने के कारण उक्त स्थल पर व्याप्यता का अवच्छेदक हो सकता है, फलतः वृत्तिमान् प्रमेय में वस्तुगत्या रहनेवाली व्याप्ति जैसे प्रमेयत्वरूप सामान्य धर्म

अद्वैतसिद्धिः

बाध्य। तथा च यथा धूमत्वसमत्प्रमेयगतापि व्याप्तिः प्रमेयत्वेनैव गृह्यते, तथा तत्तन्नीलादि-व्यक्तिगता प्रतियोगिता नीलत्वादिरूपेण गृह्यत इति न काचिदनुपपत्तिः। एवं च 'इहेदानीं घटो नास्ती'ति प्रतीतिरिव घटोपादानगततत्प्रागभावविषया 'मयि ज्ञानं नास्ती'ति प्रतीतिरपि प्रमातृगततत्प्रागभावविषयेति न काप्यनुपपत्तिरिति—चेन्न; अभावज्ञाने प्रतियोग्यंशे भासमानस्य धर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकतया यत्किञ्चिद्विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वे घटवत्यपि भूतले 'निर्घटं भूतल'मिति घटज्ञानवत्यपि स्वस्मिन् 'मयि घटज्ञानं नास्ती'ति च प्रतीतेरापत्तेः पूर्वोक्तदोषात्। यत्किचिद्घटज्ञानं घटाभावज्ञाने प्रतिबन्धकमिति तु ज्ञानज्ञानेऽपि तुल्यम्, उदाहृतव्याप्तिग्रहणे तु बाधकाभावात् सामान्यावच्छेदेऽपि न दोषः।

अथैवं प्रागभावप्रतीतिरेव न स्यात्, न स्यादेव; 'घटो भविष्यती'ति प्रतीतेः धात्वर्थभविष्यत्ताविषयत्वेन प्रागभावाविपयत्वात्। अन्यथा दिनान्तरोत्पत्स्यमानघटे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

के द्वारा ही गृहीत होती है, वैसे ही तत्तद् नीलादि व्यक्तियों में रहने वाली प्रतियोगिता भी नीलत्वादि सामान्य धर्म के द्वारा गृहीत होती है—इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं। इसी प्रकार 'इहेदानीं घटो नास्ति'—यह प्रतीति जैसे घट के उपादानभूत तत्तत् कपालगत प्रागभाव को विषय करती है, वैसे ही 'मयि ज्ञानं नास्ति'—यह प्रतीति भी प्रमातृगत ज्ञान-प्रागभाव को विषय करती है—यह भी सर्वथा उपपन्न है।

समाधान—विशेषाभावीय प्रतियोगिता कभी भी सामान्य धर्म से अवच्छिन्न नहीं हो सकती, क्योंकि अभाव-प्रतीति-स्थल पर प्रतियोगी अंश में भासमान धर्म ही प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। यत्किञ्चिद् विशेषाभाव यदि सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक माना जाता है, तब घटवाले भूतल-प्रदेश में भी 'निर्घटं भूतलम्' तथा 'घटज्ञानवाले प्रमाता पुरुष को भी 'मयि ज्ञानं नास्ति'—यह प्रतीति प्रमा होनी चाहिए। यदि घटाभाव-ज्ञान में किसी एक घट-ज्ञान को प्रतिबन्धक मानकर उक्त प्रतीति की प्रमात्वापत्ति का परिहार किया जाता है, तब ज्ञानाभाव-ज्ञान में भी किसी एक ज्ञान को प्रतिबन्धक मान कर समान समाधान किया जा सकता है। उदाहृत व्याप्ति-स्थल पर विशेष धर्मावच्छिन्न व्याप्ति का सामान्यतः ग्रहण होने में कोई बाधक नहीं, किन्तु प्रकृत में बाधक दिखाया जा चुका है, अतः सामान्य धर्म को विशेषाभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं माना जा सकता।

शङ्का—यदि सामान्य धर्म को विशेषाभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेक नहीं माना जा सकता, तब प्रागभाव की प्रतीति कैसे होगी ? क्योंकि कपालों में जिस भावी विशेष घट का प्रागभाव है, उसकी प्रतीति 'इह विशेषघटो भविष्यति'—इस रूप में न होकर इह 'घटो भविष्यति'—इस प्रकार सामान्यरूपेण ही होती है, इस लिए सामान्य धर्म (घटत्व) को ही विशेष घट के प्रागभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानना नितान्त आवश्यक है।

समाधान—प्रागभाव की प्रतीति ही सिद्ध नहीं कि जिसके अनुरोध पर सामान्य धर्म को विशेषाभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक माना जाता, 'इह घटो भविष्यति'—यह प्रतीति घटविशेष के प्रागभाव को विषय नहीं करती, अपितु 'भू' धातु के भवन या उत्पत्तिरूप अर्थ की भविष्यता को विषय करती है। उक्त प्रतीति को यदि

अद्वैतसिद्धिः

एतद्दिनवृत्तिप्रागभावप्रतियोगित्वेन 'अद्य घटो भविष्यती'ति धीप्रसङ्गः। भविष्यत्वं च प्रतियोगितद्ध्वंसानाधारकालसंबन्धित्वम्। ध्वंसत्वं च प्रागभावानङ्गीकर्तृमते कादाचित्काभावत्वमेव। तदङ्गीकर्तृमतेऽपि प्रतियोग्यजनककादाचित्काभावत्वम्। जनकत्वं च स्वरूपसंबन्धविशेषो न प्रागभावघटितः; प्रागभावस्याजनकत्वापत्तेः, अन्यथात्माश्रयात्। अतः प्रागभावमङ्गीकुर्वतोऽपि तत्प्रत्यक्षत्वं दुर्लभम्, तमनङ्गीकुर्वतस्तु न कापि हानिः। 'इहेदानीं घटो नास्ती'ति प्रतीतिस्तु सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकतत्कालावच्छिन्नयावद्विशेषाभावविषया; समयविशेषस्याप्यभावावच्छेदकत्वात्। अन्यथा 'आद्यक्षणे घटो नीरूप' इत्यादिप्रतीतिर्न स्यात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रागभावविषयक माना जाता है, तब प्रागभाव का नाश प्रतियोगी की उत्पत्ति से होने के कारण उसकी उत्पत्ति से पूर्व प्रागभाव की अवस्थिति रहती है, अतः कल उत्पन्न होने वाले घट का आज कपालों में प्रागभाव रहने के कारण 'अद्य भटो भविष्यति'— ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। 'भविष्यत्व' के निर्वचन में भी प्रागभाव की अपेक्षा नहीं, क्योंकि प्रागभावाधिकरणकालत्व को हम भविष्यत्व नहीं कहते, अपितु प्रतियोगी और उसके ध्वंस के अनधिकरणभूत काल-सम्बन्धित्व को भविष्यत्व माना जाता है [वर्तमान काल प्रतियोगी का एवं अतीत काल प्रतियोगी के ध्वंस का अधिकरण होता है, अतः तद्भिन्न काल को भविष्य काल कहना उचित ही है]। जो लोग प्रागभाव को नहीं मानते, उनके मत में ध्वंसत्व का निर्वचन कादाचित्काभावत्व होता है और प्रागभाव को जो मानते हैं, उनके मत में प्रतियोग्यजनक कादाचित्काभावत्व को ध्वंसत्व कहा जाता है [प्रागभाव कादाचित्क होने पर भी प्रतियोगी का जनक ही होता है, अजनक नहीं, अतः प्रतियोग्यजनक कादाचित्क अभाव ध्वंस ही होता है]। 'जनकत्व' पदार्थ भी स्वरूप सम्बन्ध-विशेष होता है, प्रागभाव-घटित नहीं होता, क्योंकि प्रागभाव-घटित पदार्थ को कार्य का जनक मानने पर प्रागभाव में ही जनकत्व सिद्ध नहीं होगा, क्यों प्रागभाव किसी अन्य प्रागभाव से घटित नहीं होता, स्वात्मक प्रागभाव-घटितत्व मानने पर आत्माश्रय दोष होता है। अतः प्रागभाव को स्वीकार करनेवालों के लिए भी प्रागभाव की प्रत्यक्षता दुर्लभ है और प्रागभाव को न माननेवालों के मत में किसी प्रकार की क्षति ही नहीं होती। कपालों में 'इह इदानीं घटो भविष्यति'—यह प्रतीति भी प्रागभाव को विषय नहीं करती, अपितु घटत्वरूप सामान्य धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक तत्कालावच्छिन्न यावद्विशेषात्यन्ताभाव-कूट को विषय करती है। समय विशेष को भी अभाव का अवच्छेदक माना जाता है, अन्यथा 'आद्यक्षणे घटो नीरूपः'—इत्यादि प्रतीतियों की उपपत्ति न हो सकेगी, [जन्य द्रव्य उत्पन्न होकर अपने आद्य (प्रथम) क्षण में निर्गुण और निष्क्रिय रहता है, अन्यथा गुण-कर्मादि की पूर्ववृत्तित्व-घटित समवायिकारणता द्रव्य में नहीं बनेगी— ऐसा वैशेषिकगण मानते हैं, अतः 'आद्यक्षणे घटो नीरूपः'—इस प्रतीति का विषय विचारणीय है। यदि उक्त प्रतीति का 'आद्यक्षणावच्छिन्नो घटो रूपप्रागभाववान्'—यह अर्थ किया जाता है, तब श्याम घट में पाक से उत्पन्न होने वाले रक्त रूप का प्रागभाव रहने के कारण 'श्यामरूपवान् घटो नीरूपः'— ऐसी विरुद्ध प्रतीति होनी चाहिए, इस लिए रूप-प्रागभाव को उक्त प्रतीति का विषय न मानकर आद्यक्षणावच्छिन्न रूपात्यन्ताभाव को ही मानना होगा, फलतः प्रागभाव की सवथा असिद्धि ही होती है]।

अद्वैतसिद्धिः

अथ—अस्मिन्पक्षे सामान्याभावो न सिध्येदिति—चेत् , प्रागभावाभ्युपगमेऽपि तुल्यमेतत् , सामान्याभावप्रागभावयोः सुन्दोपसुन्दयोरिव परस्परपराहतत्वात् । तथा हि—प्रागभावसिद्धौ विशेषाभावस्यापि सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वात् न तावन्मात्रप्रमाणकसामान्याभावसिद्धिः, सामान्याभावसिद्धौ च विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वाभावात् कादाचित्काभावस्य च सामान्याभावत्वायोगात् न सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकविशेषप्रतीतिमात्रशरणप्रागभावसिद्धिः, इति न तदुभयमपि विपश्चितां चेतसि चमत्कारमावहति । ननु—यावद्विशेषाभावनिश्चयेऽपि 'रूपं वायुवृत्ति न वा', 'वायू रूपवान्न वे'ति रूपाभावसन्देहात् निश्चिते च संशयायोगाद्यावद्विशेषाभावान्यसामान्याभावसिद्धिः, अत एतावन्त्येव रूपाणीति निश्चयदशायामेतादृशसंशयस्याननुभूयमानत्वेन तदनिश्चयदशायामेवैतादृशः संशयो

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—यदि 'आद्यक्षणे घटो नीरूपः'—इत्यादि प्रतीतियों का सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक तत्कालावच्छिन्न यावद्विशेषाभाव को विषय माना जाता है, तब यावद्विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव सिद्ध न हो सकेगा।

समाधान—प्रागभाव को मान लेने पर भी सामान्याभाव की अतिरिक्तासिद्धि बनी रहती है, क्योंकि प्रागभाव के सिद्ध होने पर सामान्याभाव और सामान्याभाव के सिद्ध होने पर प्रागभाव की असिद्धि होती है—इस प्रकार महाभारत (सभा पर्व) में चर्चित सुन्द और उपसुन्द नामक दो भाइयों के समान परस्पर एक-दूसरे का हनन या व्याघात उपस्थित होता है, क्योंकि यह पहले कहा जा चुका है कि प्रागभाव भी एक विशेषाभाव ही है, अतः प्रागभाव के सिद्ध होने पर विशेषाभावीय प्रतियोगिता भी सामान्य धर्मावच्छिन्न माननी पड़ती है, अतः विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उतने मात्र (सामान्य धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक होने) से ही सामान्याभाव विशेषाभाव-कूट से भिन्न सिद्ध हो सकता था। यदि विशेषाभाव भी सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक हो जाता है, तब सामान्याभाव भिन्न क्योंकर रह सकेगा ? इसी प्रकार सामान्याभाव के अतिरिक्त सिद्ध होने पर विशेषाभाव कभी भी सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक नहीं हो सकता, अतः प्रागभावरूप कादाचित्काभाव को सामान्याभाव नहीं कहा जा सकता, फलतः सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक विशेषाभाव-प्रतीति के बल पर प्रागभाव सिद्ध नहीं हो सकता। इस लिए प्रागभाव और सामान्याभाव—दोनों की सिद्ध्यसिद्धि से अद्वैतवादियों के मन में कोई चमत्कार उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि स्वप्न के समान सब कुछ मिथ्या है, दोनों का पृथक् व्यक्तित्व सिद्ध न होना कोई आश्चर्य नहीं।

शङ्का—विशेषाभाव-कूट की अपेक्षा सामान्याभाव को अतिरिक्त मानना परम आवश्यक है, क्योंकि वायु में रूपविशेषाभाव-कूट का निश्चय होने पर भी 'रूपं वायुवृत्ति, न वा ?', 'वायू रूपवान्, न वा ?' इस प्रकार रूपाभाव का सन्देह होता है, किन्तु निश्चित विषय में सन्देह नहीं हो सकता, अतः उक्त सन्देह यावद्विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव को विषय करता है। 'पार्थिव, जलीय तथा तैजस के भेद से तीन ही रूप होते हैं'—इस प्रकार का निश्चय रहने पर उक्त संशय अनुभव में नहीं आता, अतः रूप विशेष की इयत्ता का निश्चय न होने पर ही उक्त संशय कहना होगा,

अद्वैतसिद्धिः

वाच्यः, तथा च 'रूपत्वं पार्थिवाप्यतैजसरूपत्रितयातिरिक्तवृत्ति भविष्यती'त्यधिकसंभावनया अनिश्चितेष्वेव संशयः, उक्तसंभावनाविरहसहकृतनिश्चयस्यैव प्रतिबन्धकत्वादिति—चेन्न; एवं प्रतिबन्धककल्पने मानाभावाद्, उक्तसंभावनाविरहदशायामप्येतादृशसंशयदर्शनाच्च।

ननु—यथा यावद्विशेषाभावेभ्योऽतिरिक्तः सामान्याभावो रूपस्य संशयकोटिः, तथा रूपसामान्यमपि यावद्विशेषेभ्योऽतिरिक्तं संशयकोटिर्नाभ्युपगन्तुं शक्यते। तथा च कथं रूपस्य संशयकोटित्वम्? सर्वरूपाभावनिश्चयात्। यदि तु नीलपीताद्यभावत्वेन निश्चयेऽपि रूपाभावत्वेनानिश्चयाद्रूपसंशय इति ब्रूषे, तदा किं सामान्याभावेन? रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वेन संशयसंभवात्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्वेन यावद्विशेषाभावानामेव रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वकल्पनाद्, अतो न यत्किञ्चिदभावमादाय 'घटो नीरूप' इति प्रतीतिप्रसङ्ग इति—चेन्न, यावद्विशेषाभावेषु यद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम्, तत् प्रत्येकविश्रान्तम्? व्यासज्यवृत्ति वा? आद्ये यत्किंचिदभावमादाय 'घटो नीरूप' इति प्रतीतिप्रसङ्गः, द्वितीये तत्तद्रूपत्वा-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतः 'रूपत्व धर्म पार्थिव, जलीय और तैजस रूपों से अतिरिक्त भी रहता होगा—इस प्रकार की अधिक सम्भावना के द्वारा ही निश्चित विषय में संशय हो सकता है, क्योंकि अधिक सम्भावना-रहित विशेष निश्चय ही संशय का प्रतिबन्धक होता है।

समाधान—इस प्रकार के प्रतिबन्धक की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं, तथा उक्त सम्भावना की विरह-दशा में भी संशय देखा जाता है।

विशेषाभाववादी—वायु में जो रूप का संशय दिखाया गया है, उसकी परस्पर-विरुद्ध दो कोटियों में जैसे यावद्विशेषाभाव से अतिरिक्त रूप-सामान्याभाव एक कोटि है, वैसे यावद्रूपविशेष से अतिरिक्त रूप सामान्य को द्वितीय कोटि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यावद्रूपविशेष से भिन्न रूपसामान्य प्रसिद्ध नहीं और सभी विशेष रूपों के अभाव का वायु में निश्चय है, अतः प्रदर्शित संशय सर्वथा अनुपपन्न है। यदि नील-पीतादि विशेष रूपाभाव का निश्चय होने पर भी सामान्यतः 'रूपं नास्ति'—इस प्रकार रूपाभाव का निश्चय न होने के कारण रूप का संशय कहा जाय, तब रूपसामान्याभाव की क्या आवश्यकता? नील-पीतादि विशेषाभाव में रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व धर्ममात्र की कल्पना से संशय-घटक उभय कोटि का लाभ हो जाता है। अतिरिक्त सामान्याभाव-वादी को सामान्याभावरूप धर्मी एवं सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूप धर्म—दोनों की कल्पना करनी पड़ती है, उसकी अपेक्षा निश्चित विशेषाभाव-कूटगत केवल सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व धर्म की कल्पना में लाघव है। सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगित्वरूप धर्म व्यासज्यवृत्ति (यावद्विशेषाभाव-पर्याप्त) माना जाता है, अतः यत्किञ्चिद् विशेषाभाव के रहने पर भी 'घटो नीरूपः' ऐसी प्रतीति की आपत्ति नहीं होती।

सामान्याभाववादी—यावद्विशेषाभाव में कल्प्यमान रूपत्वसामान्यावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्व धर्म प्रत्येक में विश्रान्त होता है? अथवा व्यासज्य वृत्ति माना जाता है? प्रथम पक्ष में यत्किञ्चिद् विशेषाभाव को लेकर 'घटो नीरूपः'—ऐसी प्रतीति की आपत्ति होती है और द्वितीय पक्ष में तत्तद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व के अव्यासज्य

अद्वैतसिद्धिः

वच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्याऽव्यासज्यवृत्तिस्वभावत्वेन तद्व्यतिरिक्तं रूपत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्वं व्यासज्यवृत्ति कल्पनीयम् , तद्वरं रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक एक एवाभावः कल्प्यते; ममैकोऽभावः रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं चेति वस्तुद्वयं कल्प्यम् , तव तु रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम्, तस्य च व्यासज्यवृत्तित्वेन बहुष्व-भावेषु प्रत्येकं संबन्धा इति बहु कल्प्यम् । 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्व'मिति न्यायस्तु कल्पनीयाधिक्यापेक्षः। किं च घटद्वये यावद्विशेषाभावसत्त्वेऽपि रूपसामान्या-भावबुद्ध्यनुदयाद् ऐकाधिकरण्यावच्छेदेनाप्यभावा विशेषणीयाः, तथा चातिगौरवम् । अपि च व्यासज्यवृत्तिधर्मग्रहे यावदाश्रयग्रहस्तद्भेदग्रहश्च हेतुः; अगृहीतेष्वभिन्नतया वा गृहीतेषु वस्त्रादिषु द्वित्वादिबुद्ध्यनुदयात् , तथा च यावदभावतद्भेदाग्रहे प्रथमत एव नीरूप इति धीर्न स्यात् , व्यासज्यवृत्तिसामान्यप्रतियोगिताकत्वस्याग्रहणात् । अतः सामान्याभावस्य प्रामाणिकत्वात् कथं तत्पराहतिरिति—चेत् , अत्र ब्रूमः—एवं तर्हि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वृत्ति होने के कारण उससे भिन्न रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व को व्यासज्यवृत्ति मानना होगा, उससे तो यही अच्छा है कि एक रूपत्वसामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव मान लिया जाय। इस (अतिरिक्त सामान्याभाववादी) को एक सामान्याभाव तथा उसमें रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूप धर्म—इस प्रकार दो पदार्थों की कल्पना करनी पड़ती है, किन्तु आप (अतिरिक्त सामान्याभाव न मानने वाले) को यावद्विशेषाभाव में रूपत्वसामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूप धर्म तथा उसके व्यासज्यवृत्तित्वरूप अनेक विशेषाभावों के साथ अनेक सम्बन्धों की कल्पना इस प्रकार कल्पनाधिक्य प्रसक्त होता है। 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्वम्'—इस न्याय का तात्पर्य भी यही है कि स्वल्प-कल्पना की अपेक्षा कल्पनाधिक्य में गौरव होता है, अतः इस न्याय की लपेट में भी आप ही आते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि नील घट में नीलेतर छः रूपों का एवं रक्त घट में रक्तेतर छः रूपों का अभाव होने के कारण दोनों घटों में यावद्रूपविशेषाभाव रहने पर भी रूपसामान्याभाव का व्यवहार नहीं होता, अतः एक अधिकरण में रहनेवाले यावद्विशेषाभावों को ही सामान्याभावरूप कहना होगा, तब तो विशेषाभाव में एकाधिकरणवृत्तित्वरूप एक और विशेषण देने पर महान् गौरव होता है। केवल इतना ही गौरव नहीं, अपि तु व्यासज्यवृत्ति द्वित्वादि धर्मों के प्रत्यक्ष में उनके सभी आधारों और उनके भेद का ग्रहण अपेक्षित होता है, क्योंकि दो वस्त्रों एवं उनके भेद का ग्रहण न होने पर उनमें द्वित्वादि का ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार यावद्रूपविशेषाभाव का अथवा उनके भेद का ग्रहण न होने पर 'नीरूपः'—इस प्रकार की बुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उन विशेषाभावों में व्यासज्यवृत्ति रूपत्वात्मक सामान्यधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्व का ग्रहण नहीं होता। अतः 'नीरूपः'—इस प्रकार की प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति के बल पर सामान्याभाव की सिद्धि होती है, प्रागभाव की प्रतीति से उसका निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि सामान्याभाव प्रमाण-सिद्ध और प्रागभाव-प्रतीति सर्वथा असिद्ध है, प्रामाणिक वस्तु की अप्रामाणिक से पराहति कभी नहीं हो सकती।

अद्वैतवादी—यदि विशेषाभाव सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक नहीं हो

अद्वैतसिद्धिः

सामान्यप्रकारेण विशेषाभावाप्रतीतेर्ज्ञानविशेषप्रागभावो न जानामीति धियो ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताको न विषय इति सिद्धं नः समीहितम्। न हि प्रागभावोऽपि कश्चित्सामान्याभावोऽस्ति, येन तत्प्रतियोगिता सामान्यधर्मेणावच्छिद्येत, विशेषाभावप्रतियोगिता तु तत्तद्घटत्वादिना विशेषेणावच्छिद्यते। न च तेन तेन रूपेण भविष्यद्घटादि ज्ञातुं शक्यम्, तज्जन्मानन्तरं तु तत्तद्रूपेण तज्ज्ञानसंभवेऽपि न प्रागभावधीः प्रत्यक्षा स्यात्, तदानीं प्रागभावासत्त्वात्, प्रत्यक्षस्य विषयजन्यत्वात्। सामान्यप्रकारकज्ञानं च न विशेषाभावज्ञाने हेतुरित्युक्तम्, प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकप्रतियोगिज्ञानस्याभावत्वप्रकारकाभावज्ञाने हेतुत्वात्, तस्यानुमानगम्यत्वेऽपि 'न जानामी'ति धियोऽपरोक्षायास्तद्विषयत्वायोगात्। अव्यभिचारिलिङ्गाद्यभावात्तदनुमानमपि दूरनिरस्तमेव। ननु—'इदं मा भू' दितीच्छाविषयतया तत्सिद्धिः, न, प्रागभावस्य स्वरूपतोऽसाध्यत्वेन प्रतियोगिजनकविघटनेन तत्संबन्धस्यैवात्यन्ताभाव-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सकता, तब 'न जानामि' या मयि ज्ञानं नास्ति'—इत्यादि प्रतीति का विषय ज्ञानत्वरूप सामान्य धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक ज्ञानविशेष-प्रागभाव नहीं हो सकता, अतः हमारा (भावरूपाज्ञानवादी अद्वैतवेदान्ती का अभीष्ट भावरूप अज्ञान) सिद्ध हो जाता है, क्योंकि प्रागभाव तो कोई सामान्याभाव होता नहीं कि उसकी प्रतियोगिता ज्ञानत्वरूप सामान्य धर्म से अवच्छिन्न हो जाती और ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रागभाव उक्त प्रतीति का विषय हो जाता। प्रागभाव एक विशेषाभाव है और विशेषाभावीय प्रतियोगिता तत्तद् घटत्वादि विशेष धर्म से ही अवच्छिन्न होती है, किन्तु विशेषरूप से अनुत्पन्न घटादि ज्ञात नहीं हो सकते। भावी घट की उत्पत्ति के अनन्तर तत्तद् विशेष रूप से प्रतियोगी विशेष का ज्ञान सम्भव होने पर भी प्रागभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतियोगी (घटादि) के उत्पन्न होने पर प्रागभाव की सत्ता ही नहीं रहती और प्रत्यक्ष ज्ञान सत् विषय से ही जनित होता है। सामान्यप्रकारक प्रतियोगी का ज्ञान विशेषाभाव के ज्ञान का कारण नहीं होता, अपितु प्रतियोगी विशेष में विद्यमान विशेष धर्म ही विशेषाभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है, उसी रूप से प्रतियोगी का ज्ञान अभावत्वप्रकारक ज्ञान का हेतु होता है—यह कहा जा चुका है। भाविप्रतियोगिक प्रागभाव के अनुमान-गम्य होने पर भी 'न जानामि'—इस प्रकार की प्रत्यक्ष बुद्धि का विषय प्रागभाव नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि प्रागभाव का अनुमापक कोई ऐसा अव्यभिचारी सद्धेतु उपलब्ध भी नहीं, जिससे उसका अनुमान किया जाता, फलतः प्रागभाव सर्वथा असिद्ध है, उक्त प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय नहीं हो सकता, परिशेषतः उक्त स्थल पर भावरूप अज्ञान का ही साक्षिप्रत्यक्ष होता है।

शङ्का—'इदं (प्रत्यवायादि अनिष्टम्) मा भूत्'—इस प्रकार की इच्छा से नित्य कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्ति मानी जाती है। उक्त इच्छा का विषय प्रत्यवाय-प्रागभाव ही होता है। यदि प्रागभाव असिद्ध है, तब उसकी इच्छा कैसी ? अतः इच्छा-विषयत्वेन प्रागभाव की सिद्धि माननी होगी।

समाधान—प्रागभाव अनादि माना जाता है, अतः स्वरूपतः कृति-साध्य नहीं हो सकता, इच्छा सदैव कृति-साध्य पदार्थ की ही होती है, अतः अनिष्टरूप प्रतियोगी की जनक सामग्री का विघटन साक्षात् अभिलषित होता है और उसके द्वारा कालान्तर में

अद्वैतसिद्धिः

संबन्धस्यापि साध्यत्वात्तेनैवान्यथासिद्धेः ।

अथ—उत्पन्नस्य द्वितीयक्षणे पुनरुत्पत्त्यभावात्तत्पूर्वक्षणे सामग्र्यभावो वाच्यः, स च प्रागभावाभावादेव, अन्यहेतूनां सत्वादिति—चेन्न, सामयिकात्यन्ताभावेनैवान्यथा-सिद्धेः, उत्पन्नस्यैव स्वोत्पत्तिविरोधित्वाच्च । अपि च सामग्री कार्यसत्त्वे प्रयोजिका, न तु तस्याद्यकालसंबन्धरूपोत्पत्तावपि । आद्यकालसंबन्धो हि स्वसमानकालीनपदार्थ-ध्वंसानाधारकालाधारत्वम् । तत्र सामग्री कार्यस्य कालाधारत्वांशमात्रे प्रयोजिका, न तु विशेषणांशेऽपि, तस्य तादृक्पदार्थध्वंससामग्रीविरहादेव सिद्धेः । पाकजरूपादि-भेदोऽप्यग्निसंयोगभेदात् पूर्वरूपादिध्वंसभेदाद्वा, न तु प्रागभावभेदात्, प्रतियोगिभेदं विना प्रागभावभेदायोगाच्च । नाप्युपादानत्वव्यवस्था तत्र मानम्, तन्तुत्वादिनैव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भी अनिष्ट के प्रागभाव का सम्बन्ध बना रहे—इस उद्देश्य से नित्यकर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति माननी होगी, इस प्रकार जैसे प्रागभाव का कालान्तर-सम्बन्ध परम्परया साध्य होता है, वैसे ही अनिष्ट वस्तु के अत्यन्ताभाव का सम्बन्ध भी, अत्यन्ताभाव सर्व-सम्मत है, अतः अनिष्ट पदार्थ के अत्यन्ताभाव का कालान्तर-सम्बन्ध ही उक्त इच्छा का विषय होता है, प्रागभाव का कालान्तर-सम्बन्ध नहीं ।

शङ्का—चक्र, चीवर, मृत्, कुलालादि सामग्री से उत्पन्न घट पुनः द्वितीय क्षण में उत्पन्न नहीं होता । क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर होगा—सामग्र्यभावात् । चक्रादि समस्त कारण के रहते हुए भी जिस सामग्री के अभाव में पुनः घट उपन्न नहीं होता, वह सामग्री एक मात्र प्रागभाव है, जिसके न रहने पर घट उत्पन्न नहीं होता ।

समाधान—प्रागभाववादी भी वस्तु का सामयिक अत्यन्ताभाव मानता है, उसी अत्यन्ताभाव से प्रागभाव अन्यथासिद्ध हो जाता है, अर्थात् प्रतियोगी का सामयिक अत्यन्ताभाव भी प्रतियोगी का जनक माना जाता है, प्रतियोगी के उत्पन्न हो जाने से सामयिक अत्यन्ताभाव नष्ट हो जाता है, अतः घट पुनः उत्पन्न नहीं होता । दूसरी बात यह भी है कि उत्पन्न घट ही पुनः अपनी उत्पत्ति में प्रतिबन्धक होता है, क्योंकि समवायिकारण में जब तक एक कार्य विद्यमान है, तब तक दूसरा कार्य वहाँ उत्पन्न नहीं हो सकता । वस्तुतः कारण-कलाप कार्य वस्तु की सत्ता का प्रयोजक होता है, कार्य के आद्य क्षण-सम्बन्धरूप जन्म का नहीं । आद्य काल-सम्बन्ध या जन्म का अर्थ कार्य-समानकालीन पदार्थ-ध्वंसानाधारकालत्व होता है, [जैसा कि बर्द्धमान उपाध्याय ने कहा है—"उत्पत्तेः स्वसमानकालपदार्थप्रतियोगिकध्वंसानाधारसमयसम्बन्धरूपत्वेन" (लीलावतीप्रकाश० पृ० ५६८) अर्थात् घटादि कार्य वस्तु के समानकालीनपदार्थ-प्रतियोगिक ध्वंस के अनाधारभूत काल का सम्बन्ध ही उत्पत्ति पदार्थ कहा जाता है] । उसके विशेष्यभूत कालाधारत्व भाग का ही कारण-कलाप प्रयोजक होता है, स्वसमान-कालीन पदार्थ-ध्वंसानाधारत्वरूप विशेषणांश का प्रयोजक नहीं, क्योंकि कथित ध्वंसानाधारता ध्वंस-सामग्री के अभाव से ही सिद्ध हो जाती है । फलतः सामग्री कार्य-जन्म की प्रयोजिका नहीं होती कि उत्पन्न कार्य की पुनः उत्पत्ति प्राप्त हो । पाकज रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का भेद भी अग्नि-संयोग के भेद अथवा पूर्व रूपादि प्रतियोगिक ध्वंस के भेद से सम्पन्न हो जाता है, उसके लिए भी प्रागभाव का भेद आवश्यक नहीं होता ।

अद्वैतसिद्धिः

तत्सिद्धेः। अन्यथा प्रागभावस्य संबन्धविशेषोऽपि कुतः सिद्ध्येत्? न च तदत्यन्ताभावतः कथं तदुपादानत्वम्? संबन्धान्तरेण त्वयाप्यभ्युपगमात्समयावच्छेदतदनवच्छेदाभ्यां वैलक्षण्याभ्युपगमाच्चेत्यलमतिविस्तरेण। एवं सामान्याभावोऽपि गौरवपराहत एव। तथा हि—सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं अभावः तस्य च तत्तदधिकरणसंबन्धा इति त्रयं वा कल्प्यताम्? क्लृप्ततत्तदधिकरणसंबन्धानामेकाधिकरणवृत्तित्वावच्छेदेन सिद्धानामभावनां सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं, तस्य च व्यासज्यवृत्तित्वमिति द्वयं वा कल्प्यताम्। तत्रोत्तरः पक्ष एव प्रेक्षावद्भ्यो रोचते, आद्यक्षणे 'घटो नीरूप' इति प्रतीतेः सर्वसिद्धत्वाद्, यावदाश्रयतद्भेदग्रहस्य द्वित्वादिग्रहे हेतुत्वेऽपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

तन्त्वादि में घटादि की उपादानता व्यवस्थित करने के लिए भी पटादि के प्रागभाव की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि तन्तुत्वादि को ही घटादि की उपादानता का व्यवस्थापक मान लेने से काम चल जाता है। अन्यथा (प्रागभाव-सम्बन्ध को ही उपादानता का व्यवस्थापक मानने पर) प्रागभाव-सम्बन्ध का भी व्यवस्थापक अन्य एवं उसका प्रयोजक अन्य—इस प्रकार अनवस्था प्रसक्त होती है। तन्तुत्वादि को प्रागभाव-सम्बन्ध का व्यवस्थापक मानने पर तन्तुत्वादि को सीधा उपादानता का ही व्यवस्थापक मान लेना उचित है, मध्य में प्रागभाव को लाने की क्या आवश्यकता ?

शङ्का—प्रागभाव के स्थान पर अत्यन्ताभाव को अभिषिक्त करना उचित नहीं, क्योंकि कपालादि में जो पटात्यन्ताभाव पटोत्पत्ति का प्रतिबन्धक है, वह तन्त्वादि में पटादि की उपादानता का व्यवस्थापक क्योंकर होगा ?

समाधान—तन्त्वादि में संयोग सम्बन्ध से पटादि का अत्यन्ताभाव रहने पर भी उपादानता रहती है, अतः आप को जैसे सम्बन्धान्तर (समवाय) से पटात्यन्ताभाव को पटोपादानत्व-प्रतिबन्धक मानना पड़ता है, वैसे ही हम भी समयानवच्छिन्न अत्यन्ताभाव को उपादानता का प्रतिबन्धक और समयावच्छिन्न अत्यन्ताभाव को उपादानता का साधक मानते हैं। कपालादि में अत्यन्ताभाव समयानवच्छिन्न या सार्वदिक होने के कारण पटोपादानत्व नहीं होता और तन्त्वादि में पटादि का समय-विशेषावच्छिन्न या कादाचित्क अत्यन्ताभाव होने के कारण उपादानत्व माना जाता है। [प्रागभाव के निराकरण का विस्तार चित्सुखाचार्य की तत्त्वप्रदीपिका (पृ० ४४१) में, श्री रघुनाथ शिरोमणि की सामान्यलक्षणा-दीधिति (पृ० ८२१–८५०) में श्रीनृसिंहाश्रम-प्रणीत अद्वैतदीपिका (पृ० २३४–२५०) तथा अद्वैतरत्नरक्षणादि (पृ० २०) में किया गया है, यहाँ संक्षिप्त निराकरण ही पर्याप्त है] ।

इसी प्रकार विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव का मानना भी गौरव-ग्रस्त है, क्योंकि (१) सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व, (२) सामान्याभाव और (३) सामान्याभाव के तत्तदधिकरण के साथ अनन्त सम्बन्ध—इन तीन पदार्थों की कल्पना की जाय ? अथवा क्लृप्त तत्तद्विशेषाभावों में (१) सामान्यधर्मावच्छिन्न-प्रतियोगित्व और (२) उसकी व्यासज्यवृत्तिता—इन दो तत्त्वों की कल्पना की जाय ? इस प्रकार के संशय में द्वितीय कोटि ही विचारकों को रुचती है, क्योंकि आद्य क्षण में 'आद्यक्षणे घटो नीरूपः'—यह प्रतीति सर्वमत-सिद्ध है, इस प्रतीति का

अद्वैतसिद्धिः

उक्तप्रतियोगिताग्रहे हेतुत्वानभ्युपगमात्, कार्योन्नेयधर्माणां यथाकार्यमुन्नयनात्। न चैवं—अतिलाघवात् क्लृप्तानामधिकरणानामेवाभावधीहेतुत्वमस्तु, किं विशेषाभावैरपीति—वाच्यम्, अस्माकमिष्टापत्तेः, घटाभावो नेत्यादावतिरिक्ताभावस्य त्वयाप्यनभ्युपगमेन भावस्याप्यभावत्वप्रकारकप्रमाहेतुत्वस्योभयवादिसिद्धत्वात्।

यदपि कश्चिदाह—प्रतियोगितावच्छेदकभेदस्याभावभेदनियामकत्वाद्विशेषाभावान्यसामान्याभावसिद्धिः, अन्यथा अभावभेदासिद्धेः, प्रतियोगिभेदस्याभावभेदकत्वे एकघटप्रतियोगिकस्य प्रागभावादिचतुष्टयस्याभेदप्रसङ्गाद्, अवच्छेदकभेदात्तु तद्भेदे न कोऽपि दोषः; क्वचित्तादात्म्यस्य क्वचित्संसर्गस्य क्वचित् पूर्वापरकालीनतत्तद्घटत्वादेश्च भेदात्—इति। तन्न, संसर्गप्रतियोगिविशेषणसाधारणस्यैकस्यावच्छेदकत्वस्य दुर्वच-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विशेषाभाव से अतिरिक्त रूप-सामान्याभाव विषय नहीं हो सकता, क्योंकि उत्पत्ति-क्षणावच्छिन्न घट में जिन भावी रूपों के प्रागभाव रहते हैं, उन रूपों का अत्यन्ताभाव उस घट में नहीं माना जा सकता, क्योंकि वस्तु का प्रागभाव जिस अधिकरण में रहता है, वहाँ उसका अत्यन्ताभाव नहीं माना जाता। वस्तु का अत्यन्त अभाव वहाँ ही रहता है, जहाँ कभी वस्तु न रही हो, न वर्तमान हो और न भविष्य में होने वाली हो, जनिष्यमाण रूप जहाँ भविष्य में होने वाले हैं, वहाँ उनका अत्यन्ताभाव कैसे रहेगा? यावद् आश्रय और उनके भेद का ज्ञान द्वित्वादि व्यासज्यवृत्ति धर्मों के ग्रहण में कारण होने पर भी सामान्य धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूप व्यासज्य वृत्ति धर्म के ग्रहण में कारण नहीं माना जाता, क्योंकि कार्य (फल) के द्वारा कल्पनीय करणत्वादि धर्मों की वहाँ ही कल्पना होती है, जहाँ उनका कार्य उपलब्ध हो।

शङ्का—यदि लघु मार्ग का ही अनुसरण करना है, तब विशेषाभावों को भी पृथक् न मान कर अधिकरणरूप मान लेने में अत्यन्त लाघव है, अतः क्लृप्त रूपाभाव के अधिकरणीभूत घटादि पदार्थों को ही अभाव-ज्ञान का हेतु मान कर उनसे पृथक् रूप विशेषाभावों को भी तिलाञ्जलि दी जा सकती है।

समाधान—हम (अद्वैतवादियों) को तो प्रपञ्चाभाव की अधिकरणरूपता अभीष्ट ही है, 'घटाभावो नास्ति'—इस प्रतीति के विषयीभूत घटाभावाभाव को आप भी भिन्न नहीं, अपितु घटरूप ही मानते है, अतः भाव पदार्थों में अभावत्वप्रकारक प्रमा की हेतुता उभयवादि-सम्मत है।

यह जो किसी का कहना है कि प्रतियोगितावच्छेदक धर्मों का भेद अभाव-भेद का नियामक होने के कारण विशेषाभाव से भिन्न सामान्याभाव सिद्ध होता है, अन्यथा अभाव-भेद सिद्ध न होगा। प्रतियोगी के भेद को अभाव का भेदक मानने पर एकघटप्रतियोगिक प्रागभावादि चारों अभावों का भेद सिद्ध न हो सकेगा, किन्तु प्रतियोगितावच्छेदक को अभाव-भेद का प्रयोजक मानने पर कोई भी दोष प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि अन्योऽन्याभाव का तादात्म्य, अत्यन्ताभाव का संयोगादि संसर्ग, प्रागभाव का उत्तरकालीनघटत्व तथा ध्वंस का पूर्वकालीनघटत्व प्रतियोगितावच्छेदक होता है, उनका भेद होने के कारण चारों अभावों का भेद सिद्ध हो जाता है।

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि उक्त स्थल पर एक अभाव का प्रतियोगितावच्छेदक संसर्ग को माना गया है और अन्य तीनों का प्रतियोगितावच्छेदक प्रतियोगी

अद्वैतसिद्धिः

त्वात् , तादात्म्यादेश्च प्रतियोगितावच्छेदकत्वे मानाभावात् । भेदसिद्धिस्तु भाववद- भावस्यापि विरुद्धधर्माध्यासादेव । अवच्छेदकभेदस्याभावभेदनियामकत्वं लिङ्गविधया तज्ज्ञापकत्वमेव वाच्यम्, न तु तज्जनकत्वम् । तच्च न, विपक्षबाधकतर्काभावेन सामानाधिकरण्याभावेन च व्याप्तेरेवासिद्धेः । अत एव—तदितरधर्मावच्छिन्नप्रति- योगिताकत्वं तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकान्यत्वव्याप्यमित्यपि—निरस्तम्, एवं चावृत्तीनां गगनादीनां समनियतानां वाऽन्येषां धर्माणामेक एवात्यन्ताभावः, युगपद्विनष्टानामु- त्पन्नानां वा समानदेशानामसति बाधके एक एव ध्वंसः प्रागभावो वा, व्यधिकरण- धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽपि चेदभावः प्रामाणिकः, तदा तस्यैकस्यैव प्रतियोगिताः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

के विशेषणीभूत धर्म को माना गया है, संसर्ग और विशेषणीभूत धर्मों में एक प्रकार की अवच्छेदकता का निर्वचन सम्भव नहीं एवं तादात्म्य को प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानने में कोई प्रमाण नहीं । अभावों के भेद की सिद्धि प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से नहीं, अपितु भाव-भेद-सिद्धि के समान विरुद्ध धर्मों के अध्यास से होती है । शीतत्व- उष्णत्वादि विरुद्ध धर्मोवाले शीतोष्णादि पदार्थ परस्पर भिन्न देखे जाते हैं। प्रतियोगितावच्छेदक-भेद को भेदक मानने वाले भी भेद का उत्पादक नहीं मान सकते, क्योंकि भेद नित्य होता है, उसका कोई जनक नहीं होता, अतः प्रतियोगितावच्छेदक को भेद का ज्ञापक मात्र मानना होगा । व्याप्य हेतु को ही व्यापक का ज्ञापक या अनुमापक कहा जाता है, अवच्छेदक-भेद यदि अभाव-भेद का व्याप्य नहीं, तब उसको ज्ञापक नहीं हो सकता, अतः अवच्छेदक-भेद में अभाव-भेद की व्याप्ति माननी होगी, किन्तु विपक्ष-बाधक तर्क का अभाव होने के कारण उक्त व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती । दूसरी बात यह भी है कि व्याप्ति का स्वरूप होता है—सामानाधिकरण्य, अवच्छेदक- भेद अवच्छेदक धर्मों में और अभाव-भेद अभावों में रहता है, दोनों का सामानाधि- करण्य भी नहीं, अतः व्याप्ति कैसे सिद्ध होगी ?

यदि कहा जाय कि जिस अभाव में तदितरधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व रहता है, उस अभाव में तदवच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का भेद रहता हैं, जैसे कि पटाभाव में घटत्वेतर पटत्वरूप धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व रहने के कारण घटत्वा- वच्छिन्नप्रतियोगिताक घटाभाव का भेद रहता है—इस प्रकार की व्याप्ति उक्त स्थल पर विवक्षित है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि गगन, आत्मा, दिशा और पर- माणुरूप अवृत्ति द्रव्यों के अत्यन्ताभावों का भेद नहीं माना जाता, क्योंकि अवृत्ति द्रव्यों के अत्यन्ताभाव समनियत (व्याप्यत्वे सति व्यापक) माने जाते हैं और समनियत अभावों का कोई भेदक नहीं होता, अतः उन सभी अभावों को तार्किकगण अभिन्न मानते हैं, किन्तु अवच्छेदकभेद से अभाव-भेद मानने पर गगनादि के अत्यन्ता- भावों को भी भिन्न मानना होगा, अतः अवच्छेदक-भेद को अभाव-भेदक नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार एक देश में रहनेवाले युगपद् विनष्ट पदार्थों के ध्वंस और युगपद् उत्पन्न पदार्थों के प्रागभाव भिन्न नहीं माने जाते, किन्तु उनके प्रतियोगिता- वच्छेदक धर्मों का भेद होता है, अतः अवच्छेदक-भेद अभाव-भेद का साधक नहीं हो सकता । उक्त सभी ध्वंसों में एकमात्र ध्वंसत्व तथा प्रागभावों में एक मात्र प्रागभावत्व रहता है, विरुद्ध धर्मों का योग न होने के कारण भी भेद नहीं

न्यायामृतम्

अपरे तु विशेषस्य स्वरूपेण ज्ञानेऽपि विशेषप्रकारकज्ञानं निषिध्यते तस्यैव संशयादिविरोधित्वात्। सम्भवति हि सर्वत्र प्रमेयत्वाद्याकारेण विशेषज्ञानमित्याहुः। केचित्तु करतलामलकादिज्ञाने स्वविषयेतरप्रतियोगिकव्यावृत्त्यधिकरणतावच्छेदकधर्मविषयत्वादिकं प्रसिद्धमिह ज्ञाने निषिध्यत इत्याहुः। अन्ये तु साक्षात् त्वदुक्तार्थविषयकं

अद्वैतसिद्धिः

सर्वैरेव व्यधिकरणैः सर्वैश्च समानाधिकरणैः संबन्धैरेवावच्छिद्यन्ताम्, आकाशाभाव एव वा तथाऽऽस्ताम्, एकेनैवोपपत्तावभावभेदकल्पने मानाभावात्। न च—एवमेक एव जगतीतले भवत्वभावः, स एव तत्तदवच्छेदकदेशकालादिभेदेन तत्तद्व्यवहारभेदं जनयिष्यतीति किमधिककल्पनयेति—वाच्यम्, उपपद्यते चेदस्तु। प्रकृते तु न बाधकं किंचित्। अत एव वैशेषिकाणां स्वाभ्युपगतकालपदार्थस्यैव सर्वव्यवहारहेतुत्वोपपत्तौ न पदार्थान्तरसिद्धिरित्यद्वैतवादिनो वदन्ति। तदेवं 'अहमज्ञ' इति ज्ञानस्याभावज्ञानसामग्रीविलक्षणसामग्रीजन्यत्वादभावविलक्षणविषयत्वं सिद्धम्॥

एवं 'त्वदुक्तमर्थं न जानामी'ति प्रत्यक्षस्यापि। ननु—साक्षात्त्वदुक्तार्थविषयं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होता। केवल इतना ही नहीं, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक घटत्वेन पटाभाव भी यदि प्रमाण-सिद्ध माना जाता है, तब उस एक ही अभाव की प्रतियोगिताएँ विविध समानाधिकरण और व्यधिकरण सम्बन्धों से अवच्छिन्न कही जा सकतीं हैं अर्थात् एक ही घटत्वेन पटाभाव को संयोगेन पटाभाव समवायेन पटाभावादि माना जा सकता है: अतः प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध के भेद से भी अभावों का भेद नहीं माना जा सकता। अथवा एकमात्र आकाशाभाव को समस्त अधिकरणों में समस्त व्यधिकरणाभावों के व्यवहारों का साधक माना जा सकता है, अनन्त अभावों का मानना व्यर्थ तथा अप्रामाणिक है।

शङ्का—उक्त तर्क-पद्धति के आधार पर यदि अनन्त अभावों का एकीकरण या अभेद-स्थापन किया जा सकता है, तब जगतीतल पर एक ही अभाव पदार्थ मान लिया जाय, वही एक अभाव प्रतियोगितावच्छेदक, देश एवं काल के भेद से समस्त अभाव-व्यवहारों का निर्वाहक माना जा सकता है, अनन्त अभावों का मानना व्यर्थ है।

समाधान—यदि एक ही अभाव समस्त अभावों के व्यवहार का उपपादक हो सकता है, तब उसे हम भी मान लेते हैं, किन्तु प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से अभावों का भेद नहीं होता—हमारी इस व्यवस्था में कोई बाधक नहीं, अत एव वैशेषिकाचार्यों के द्वारा अभ्युपगत एक काल पदार्थ को समस्त भावाभाव पदार्थों के व्यवहार का हेतु माना जा सकता है, उससे भिन्न द्वितीय पदार्थ की सिद्धि ही नहीं होती—ऐसा अद्वैत-वेदान्ती कहा करते हैं। इस प्रकार यह तथ्य भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि 'अहमज्ञः'—यह प्रतीति अभाव-ज्ञान की सामग्री से विलक्षण सामग्री के द्वारा जनित होने के कारण ज्ञानाभाव से विलक्षण भावात्मक अज्ञान को विषय करती है।

इसी प्रकार 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—यह साक्षिप्रत्यक्ष भी भावात्मक अज्ञान का साधक है [विवरणकार कहते हैं—'त्वदुक्तमर्थं संख्यां वा शास्त्रार्थं वा न जानामि'—इति विषयव्यावृत्तमज्ञानमनुभूय तच्छ्रवणादौ प्रवर्तन्ते" (पं० वि० पृ० ७६)]।

शङ्का—'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—इस उदाहृत प्रत्यक्ष का विषय [यदि 'त्वदु-

न्यायामृतम्

प्रमाणज्ञानं मयि नास्तीत्यत्र: । न ह्यस्यैव विशिष्टविषयज्ञानस्य प्रमाणत्वात् तद्विशेषण-तयार्थस्यापि प्रमाणेनाधिगमात् स्ववचनव्याघात इति वाच्यम्, अस्य साक्षात्तद्विषय-त्वाभावात्, साक्षात्प्रमाणविषयत्वस्यैव च सत्त्वप्रयोजकत्वादित्याहुः । किं चाज्ञानं

अद्वैतसिद्धिः

प्रमाणज्ञानं मयि नास्तीत्येतद्विषयकमुदाहृतज्ञानम्, तच्च न साक्षादर्थविषयम्, प्रमाण-ज्ञानावच्छेदकतयार्थस्य भानाद्, अतो न व्याघात इति—चेन्न, साक्षात्त्वदुक्तार्थमवेत्य हि तदभावो ग्राह्यः । तज्ज्ञानं च न साक्षिणा, स्वस्मिंस्तादृक्प्रमाणज्ञानाभावात्, अन्यनिष्ठं तु शब्दादिना ग्राह्यम् । शब्दादिश्च त्वदुक्तार्थं बोधयन्नेव तद्विषयत्वं ज्ञाने बोधयेत् । तथा च प्रथमतस्त्वदुक्तार्थविषयकं साक्षादेव ज्ञानमागतमिति तन्निषेधे न

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्तार्थविषयकज्ञानाभाव किया जाता है, तब अवश्य व्याघात उपस्थित होगा, क्योंकि अभाव-ज्ञान में अपेक्षित ज्ञानरूप प्रतियोगी का ज्ञान करने के लिए उसके त्वदुक्त अर्थरूप विषय का ज्ञान आवश्यक है, उस ज्ञान के होने पर ज्ञानाभाव का रहना सम्भव नहीं, अतः उक्त प्रतीति का यह विषय विवक्षित नहीं, अपितु] साक्षात् त्वदुक्तार्थ-विषयकं प्रमाणज्ञानं मयि नास्ति'—ऐसा विवक्षित है [किसी विषय का परम्परा ज्ञान और साक्षात् ज्ञानाभाव का होना परस्पर विरुद्ध नहीं होता । जैसे घटविषयक व्यवसाय ज्ञान के अनुव्यवसाय का घट के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं, अपितु अनुव्यवसाय का विषय—व्यवसाय ज्ञान और उसका विषय घट होता है, अतः घट का अनुव्यवसाय के साथ स्वविषयकज्ञानविषयकत्वरूप परम्परा सम्बन्ध ही होता है, वैसे ही] यज्ञदत्त की बात सुनकर देवदत्त अपना अनुभव कहता है—'त्वदुक्तमर्थं न जानामि ।' यज्ञदत्त को जिस विषय का प्रमा ज्ञान है, यज्ञदत्तीय प्रमाज्ञान के उस विषय से देवदत्तवृत्ति ज्ञान का सीधा साक्षात् सम्बन्ध नहीं, अपितु स्वविषयीभूतप्रमाज्ञानावच्छेदकत्वरूप परम्परा सम्बन्ध है, अतः व्याघात नहीं होता ।

समाधान—जीव साक्षी शरीर के भेद से भिन्न होता है, अतः यज्ञदत्तीय प्रमा ज्ञान का जो ज्ञान देवदत्त में है, वह साक्षिप्रत्यक्षरूप नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त प्रमा ज्ञान देवदत्त में नहीं, यज्ञदत्त में है, अतः देवदत्तवृत्ति द्वितीय ज्ञान को शाब्द-बोधादिरूप ही मानना होगा । शब्दादि प्रमाण साक्षात् यज्ञदत्तोक्त अर्थ का बोध कराता हुआ ही प्रमा ज्ञान में तदर्थविषयकत्व का बोधक होता है, क्योंकि विशेषण का प्रकाश न होकर विशिष्ट अर्थ का कभी प्रकाश हो ही नहीं सकता, अतः शब्दादि के द्वारा प्रथमतः त्वदुक्तार्थविषयक साक्षात् ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसका निषेध करने पर व्याघात क्यों नहीं होगा ?

न्यायामृतकार ने जो किसी का मत दिखाते हुए कहा है कि विशेष वस्तु का स्वरूपतः प्रमेयत्वाद्याकारेण ज्ञान होने पर भी विशेषाकारेण उसके ज्ञान का निषेध करने पर भी विरोध नहीं होता, वह भी इसी लिए निरस्त हो जाता है कि अभाव-ज्ञान में प्रतियोगी का प्रतियोगितावच्छेदकादि विशेष रूप से ही ज्ञान अपेक्षित होता है, प्रमेयत्वादि सामान्य रूप से नहीं, अतः विशेषप्रकारक ज्ञान न होने पर उसका उस रूप से निषेध नहीं किया जा सकता और विशेषप्रकारक ज्ञान होने पर उसका निषेध कैसे होगा ? कथित व्याघात दोष अटल रहता है ।

न्यायामृतम्

वृत्त्यग्राह्यं चेत्, तत्रानुमानाद्युक्तिरयुक्ता स्यात्। रहस्यं न जानामीत्यादिपरवाक्यात् स्वनिष्ठाज्ञानधीश्च न स्यात्। वृत्तिग्राह्यं चेत्, तदवच्छेदको विषयोऽपि तयैव गृह्यते न वा? आद्ये कथं तत्राज्ञानम्? त्वन्मतेऽपि वृत्तेरज्ञानविरोधित्वात्। न च परोक्षवृत्तिरज्ञानविरोधिनी नेति युक्तम्, परोक्षतोऽपि ज्ञाते कदापि न जानामीत्यनुभवात्। अज्ञानानिवृत्तौ परोक्षे व्यवहारासंभवयोगाच्च। यदि च तत्राज्ञाननिवृत्तिं विना वृत्त्यैव व्यवहारसंस्कारादि, तस्य परोक्षेऽपि तां विना वृत्त्यैव तत्स्यात्। विषयस्यापरोक्ष्यं त्वावश्यकाद् वृत्तिगतविशेषादेवेत्युक्तम्। परोक्षवृत्त्या परोक्षभ्रमानिवृत्तिप्रसंगाच्च, अनुमित्या वह्न्यज्ञानं शास्त्रश्रवणेन च धर्माद्यज्ञानं निवृत्तमित्यनुभवाच्च। तस्य ज्ञानाभावविषयत्वे च भावरूपाज्ञानं न सिद्ध्येत्। परोक्षतो ज्ञातेऽप्यपरोक्षभ्रमोऽस्मन्मते उपाध्यादिदोषाद् युक्तः, त्वन्मते तु भ्रमस्याज्ञानोपादानकत्वात् स न स्यादेव।

अद्वैतसिद्धिः

कुतो व्याघातः? अत एव—विशेषस्य स्वरूपतो ज्ञानेऽपि विशेषप्रकारकज्ञानाभावो न व्याहत - इत्यपास्तम्, करतलामलकज्ञाने स्वविषयव्यावर्तकधर्मविषयत्वं प्रसिद्धमिह निषिध्यत इत्यपि न; त्वदुक्तत्वस्यापि मदुक्ताद्व्यावर्तकत्वेन सामान्यतो व्यावर्तकधर्मविषयत्वस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्।

ननु—अवच्छेदकतया विशेषज्ञाने जातेऽपि न व्याहतिः। तथा हि—न हि विशेषज्ञानाभावस्त्वदुक्तार्थविषयकज्ञानाभावो वात्र प्रतीयते, किं तु त्वदुक्तार्थविशेष्यक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यह जो कहा गया है कि कर-तल पर अवस्थित आमलक (आँवला) के ज्ञान में स्वकीय (करतलामलक-ज्ञानीय) विषय इतर-व्यावर्तक आमलकत्वादि-असाधारण धर्म की विषयिता प्रसिद्ध है, उसी असाधारण धर्म की विषयिता का 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—इस ज्ञान में निषेध किया जाता है, अन्यत्र प्रसिद्ध पदार्थ का अन्यत्र निषेध करने पर किसी प्रकार का व्याघात दोष नहीं होता। वह कहना भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि प्रकृत में अर्थगत त्वदुक्तत्व धर्म ऐसा है, जो इतर (मदुक्तार्थादि) का व्यावर्तक है, उसकी 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—इस ज्ञान में विषयिता रहने के कारण सामान्यतः व्यावर्तक धर्म विषयकत्व का निषेध नहीं किया जा सकता, [क्योंकि जैसे किसी एक घटादि विशेष पदार्थ के रहने पर घटादि सामान्य का निषेध नहीं किया जा सकता, वैसे ही किसी एक व्यावर्तक धर्म की जिस ज्ञान में विषयिता सिद्ध है, उसमें सामान्यतः व्यावर्तकधर्मविषयकत्व का निषेध नहीं किया जा सकता। श्री वेदान्तदेशिक ने भी कहा है—"ननु सामान्यतः आश्रयप्रतियोग्यादिज्ञानमुपजीव्य विशेषः तत्तद्विषयं ज्ञानं निषिध्यते इति न कश्चिद् विरोधः इति, तदपि मन्दम्, निषिध्यमानस्य विषयविशेषाधीनविशेषत्वेन तत्प्रकाशमन्तरेण प्रकाशायोगात्, तत्प्रकाशे वा विशेषज्ञानस्यापि सिद्धेस्तन्निषेधायोगेन व्याघातस्य स्थितत्वात्" (श० दू० पृ० १८९)]।

शङ्का—'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष का विषय त्वदुक्तार्थविषयक ज्ञान का अभाव है, अभाव का प्रतियोगी है—त्वदुक्तार्थविषयक ज्ञान, त्वदुक्त अर्थ ज्ञान का विषय होने के कारण ज्ञानगत प्रतियोगिता का अवच्छेदक होता है। अभाव-ज्ञान में कारणीभूत ज्ञानरूप प्रतियोगी का जो ज्ञान है, त्वदुक्तार्थविषयकत्वेन ही होता है [जैसे रजतत्वेन ज्ञान-स्थल पर रजत का ज्ञानमात्र होता है, रजत नहीं, उसी

अद्वैतसिद्धिः

विशेषप्रकारकज्ञानाभावः, तत्र च त्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेषप्रकारकज्ञानत्वेन प्रतियोगिज्ञानेऽपि तादृक्प्रकारकतद्विशेष्यकज्ञानाभावसंभवः, अस्य ज्ञानस्य ज्ञाने विशेष्ये विशेषप्रकारकत्वप्रकारकत्वात्, यत्रापि त्वदुक्तविशेषं न जानामीत्यभिलापः, तत्राप्येवमेव व्याहत्यभावः कथंचिदुन्नेयः। न च यत्रोक्तप्रतियोग्यप्रसिद्धिः, तत्र कथमभावप्रतीतिरिति—वाच्यम्, समवेतवाच्यत्वं नास्तीत्यत्रेव विशेष्ये विशेषणाभावविषयत्वेन व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविषयत्वेन वोपपत्तेरिति—चेन्न, अनुभवविरोधाद्, विशेषज्ञानाभावस्य त्वदुक्तार्थज्ञानाभावस्य वाऽनभ्युपगमे तद्वि-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रकार त्वदुक्तार्थविषयकत्वेन ज्ञान-स्थल पर वस्तुतः त्वदुक्तार्थविषयकत्व-विशिष्ट ज्ञान नहीं होता, अतः प्रतियोगितावच्छेदक पदार्थ द्वितीय ज्ञान की प्रथम ज्ञानगत विषयता का वच्छेदक नहीं होता, वहाँ रजताभाव के समान जो ज्ञानाभाव है, उसी का प्रत्यक्ष भान होता है। जैसे रजत का न होना और रजत-ज्ञान का होना—दोनों विरुद्ध नहीं होते, उसी प्रकार] वस्तुतः वहाँ ज्ञान नहीं होता, अतः ज्ञानाभाव के रहने में किसी प्रकार की व्याहति नहीं होती। अर्थात् प्रतियोगीभूत उक्त ज्ञान का जो ज्ञान उत्तम पुरुष को होता है, उसका आकार 'अस्य (मध्यमपुरुषस्य) एददुक्तविशेषवदर्थविषयं ज्ञानम्' या 'विशेषप्रकारकमेतदुक्तार्थविशेष्यकं ज्ञानम्'—यह नहीं होता, अपितु 'अस्य ज्ञानं एतदुक्तार्थविशेष्यकविशेषप्रकारकत्वेन भाति'—ऐसा होता है। अतः वस्तुतः एतदुक्तार्थविशेष्यक विशेषप्रकारक ज्ञान का अभाव सम्भव है। उस ज्ञान के ज्ञान में प्रथमज्ञानविशेष्यकत्व और विशेषप्रकारकत्व-प्रकारकत्व सुलभ हो जाता है। जहाँ पर 'त्वदुक्तविशेषं न जानामि'—ऐसा उत्तम पुरुष का शब्द-प्रयोग होता है, वहाँ पर भी इसी प्रकार व्याघाताभाव की साधना कर लेनी चाहिए। 'अप्रसिद्धप्रयियोगिक अभाव की प्रतीति कैसे होगी ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वैसे अभाव की प्रतीति या तो विशेष्य में विशेषणाभाव को या व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को विषय करती है, जैसे—'समवेतवाच्यत्वं नास्ति' इस अभाव का प्रतियोगी वाच्यत्व है, 'वाच्यत्व' धर्म कहीं पर भी समवेत (समवायसम्बन्धेन वृत्तिमत्) नहीं माना जाता, अतः समवेतवाच्यत्वरूप प्रतियोगी अप्रसिद्ध होने के कारण समवेतवाच्यत्वाभाव का पर्यवसित अर्थ वाच्यत्वरूप विशेष्य में समवेतत्वरूप विशेषण का अभाव अथवा समवेतत्वेन वाच्यत्वाभाव होता है।

समाधान—व्याघात के भेद से विशेषज्ञानाभाव त्वदुक्तार्थज्ञानाभाव को प्रत्यक्ष का विषय न मानकर विशेष्य में विशेषणाभाव अथवा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को उक्त प्रत्यक्ष का विषय मानना अनुभव-विरुद्ध है, क्योंकि 'त्वदुक्तं विशेषं न जानामि'—इस प्रतीति का विषय विशेषज्ञानाभाव तथा 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—इस ज्ञान का विषय त्वदुक्तार्थज्ञानाभाव को न मानने पर विशेष-ज्ञान और त्वदुक्तार्थज्ञान के रहने पर ज्ञान-जनित विशेषादि का व्यवहार भी प्रसक्त होगा, अतः जिस व्यक्ति को 'त्वदुक्तमर्थं व जानामि'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष के समय त्वदुक्तार्थविषयक ज्ञान है, उसी व्यक्ति के लिए त्वदुक्तार्थज्ञान और त्वदुक्तार्थ-व्यवहार भी प्राप्त होता है, किन्तु ऐसा कहीं देखा नहीं जाता कि जो व्यक्ति घटाभाव का प्रत्यक्ष कर रहा है, वही घट का प्रत्यक्ष और 'अत्र घटोऽस्ति' का व्यवहार भी करता हो।

न्यायामृतम्

अन्त्ये तद्वदेव विषयाग्रहणेऽपि ज्ञानाभावावच्छेदकस्य ज्ञानस्य ग्रहणसिद्धिः । न किंचिदहमवेदिषमिति परामर्शोऽपि एतावन्तं कालं दुःखं नावेदिषं शुक्तिरूप्यं नावेदिषमित्यादिवत् ज्ञानाभावविषयः । न च तदा धर्म्यादिज्ञानाभावादभावज्ञानायोगः, भावरूपाज्ञानस्याप्यज्ञानत्वेन प्रतीतौ तदपेक्षणात् । यदि च विषयसामान्यविशेषितमेव

अद्वैतसिद्धिः

पयज्ञानसत्त्वेन तद्व्यवहारापत्तेश्च । न चैवं दृश्यते । स्वतःप्रामाण्यमते तु तत्प्रकारकत्वे तद्विशेष्यकत्वे च गृह्यमाणे तद्वत्त्वग्रहणस्यावश्यकतया तदंशे तत्प्रकारकतद्विशेष्यकत्वस्य तादृशप्रतियोगिज्ञाने संभवात् स्पष्ट एव व्याघातः, भावरूपाज्ञानपक्षे तु सर्वस्यापि साक्षिवेद्यतया न व्याघात इत्युक्तम् । तदेवं 'त्वदुक्तमर्थं न जानामी'ति प्रत्यक्षं भावरूपाज्ञानविषयमिति सिद्धम् ।

एवमेतावन्तं कालं न किंचिदवेदिषमिति परामर्शसिद्धं सौषुप्तं प्रत्यक्षमपि भावरूपाज्ञानविषयमेव । ननु—परामर्शः किमनुमानं, किं वा स्मरणम् । आद्ये ज्ञानाभाव एवानुमीयताम्, किं भावरूपाज्ञानेन ? तथा हि—संप्रतिपन्नोदयास्तमयकालवद्विवादपदयोरप्युदयास्तमययोरन्तरालकालमनुमाय तत्कालमहं ज्ञानाभाववान्, अवस्था-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रमाण ज्ञानरूप प्रतियोगी में त्वदुक्तार्थविशेष्यकत्व और विशेषप्रकारकत्व का अभाव भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रमात्व के स्वतो ग्राह्यत्व-मत में प्रमा ज्ञान के साथ ही ज्ञानगत तद्वद्विशेष्यकत्व और तत्प्रकारकत्वरूप प्रमात्व का ग्रहण माना जाता है, अतः कथित व्याघात दोष बना रहता है। भावरूप अज्ञान-पक्ष में अज्ञान विषयादि सब कुछ साक्षिवेद्य होता है, अतः व्याघात नहीं होता, इस प्रकार 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—यह प्रत्यक्ष भावरूप अज्ञान को ही विषय करता है—यह सिद्ध हो गया।

इसी प्रकार 'एतावन्तं कालं न किञ्चिदवेदिषम्'—इस परामर्श ज्ञान से समुन्नीत सुषुप्तिकालीन साक्षिप्रत्यक्ष भी भावरूप अज्ञान को ही विषय करता है, जैसा कि विवरणकार कहते हैं—एवमुत्थितस्य ज्ञानाभावपरामर्शोऽपि ज्ञानविरोधिनोऽज्ञानस्य अनुभूततया स्मर्यमाणस्यानुपपत्त्यैव प्रमीयते नानुस्मर्यते (पं० वि० पृ० २६३)। अर्थात् यदि सुषुप्ति अवस्था में भावरूप अज्ञान का अनुभव नहीं हुआ, तब जागने पर उक्त अज्ञान का स्मरण कैसे होगा ? अतः सुषुप्तिकाल में जो अज्ञान का अनुभव सिद्ध होता है, वह भी भावरूप अज्ञान का साधक होता है।

शङ्का—कथित जाग्रत्कालीन परामर्श क्या अज्ञान का अनुमान है ? अथवा स्मरण ? अर्थात् सुप्तोत्थित व्यक्ति के उक्त परामर्श से क्या सुषुप्तिकालीन अज्ञान के अनुभव का अनुमान किया जाता है ? प्रथम (अनुमान) पक्ष में उक्त परामर्श से ज्ञानाभाव का अनुमान किया जा सकता है, भावरूप अज्ञान के अनुमान की क्या आवश्यकता ? सुषुप्तिकालीन ज्ञानाभाव के अनुमान का यह प्रकार है—दिन में सूर्य के उदय और अस्त का अन्तराल काल, जिसे दिन कहते हैं, सर्वानुभव-सिद्ध है, इसी के आधार पर लम्बी सुषुप्ति के पूर्व का सूर्यास्त और सुषुप्ति के उत्तर का सूर्योदय भी एक अन्तराल काल से युक्त अनुमित होता है—'विवादास्पदोदयास्तमयौ अन्तरालकालवन्तौ, उदयास्तमयत्वात्, सम्मतोदयास्तमयवत् ।' इस अन्तराल काल को रात्रि कहा जाता है, उस रात्रिसंज्ञक अन्तराल काल से युक्त आत्मा ज्ञानाभाववाला होता है, क्योंकि

न्यायामृतम्

ज्ञानं सुषुप्तावज्ञाननिरूपकम्, तर्हि तदेव तदा ज्ञानाभावनिरूपकमस्तु । ननु तदा स्वरूपेणानुभूतमज्ञानमिदानीं प्रतियोगिविशेषावच्छेदेनानुभूयत इति चेत्, समं ज्ञानाभावेऽपि । अभावस्यापि प्रमेयत्वादिना ज्ञाने तदनपेक्षणात् । यद्वा नायं परामर्शः, किं त्वानुमानिको ज्ञानाभावानुभवः । अवस्थाविशेषस्य वा इन्द्रियसंप्रसादेन तदुपरमानुमाने सामग्र्यभावस्य वा प्रातर्गजाद्यभाव इव तत्तुल्ययोगक्षेमे आत्मादौ स्मर्यमाणेऽपि नियमेनास्मर्यमाणत्वस्य लिंगत्वात् । त्वन्मतेप्यहमर्थांशे परामर्शत्वाभावात्, सुषुप्तावहमर्थाभावेनान्यानुभूते अज्ञानांशेऽप्यहमर्थस्य परामृष्टत्वायोगाच्च । सुषुप्तावज्ञनस्याविद्यावृत्तिप्रतिबिंबितसाक्षिवेद्यत्वे जागरणादावपि तद्वेद्यत्वापातेन वृत्त्यभावदशायामज्ञानेसन्देहाद्यापत्त्या केवलसाक्षिवेद्यत्वे वक्तव्ये त्वन्मते नित्यज्ञानस्य संस्काराजनक-

अद्वैतसिद्धिः

विशेषवत्त्वात्, ज्ञानसामग्रीविरहवत्त्वात्, तुल्ययोगक्षेम आत्मादौ स्मर्यमाणेऽपि तद्वत्तया नियमेनास्मर्यमाणत्वाद्वेति प्रयोगसंभवात् । द्वितीये तु नास्त्युपपत्तिः, संस्कारासंभवाद्, विनश्यदेव हि ज्ञानं संस्कारं जनयति, विना व्यापारं व्यवहितकार्यजननाक्षमत्वाद्, अविनश्यता तु तेन स्वयमेव तत्कार्यस्य जनयितुं शक्यत्वात् किमिति संस्कारो जन्येत ? न हि संस्कारोऽपि प्रत्यक्षः, येन कार्यान्यथानुपपत्तिमन्तरेणापि अभ्युपेयेत, सौषुप्तं चानाद्यज्ञानोपरक्तं साक्षिचैतन्यरूपं ज्ञानं स्वतो वा उपाधितो वा न विनश्यतीति संस्कारं कथं जनयेत् ? तदभावात् कथं स्मर्येत, अस्मर्यमाणं वा कथं प्रमाणत्वेनोदाह्रियेतेति—चेन्न, न तावदनुमानं तत्र संभवति । हेतोः पक्ष-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सुषुप्तिरूप विशेष अवस्था से अथवा तत्कालीन अपना स्मरण करता हुआ भी 'ज्ञानवानहमासम्'—इस प्रकार के नियमतः स्मरणाभाव से युक्त है । आत्मा के स्मरण की सामग्री से ही आत्मा में ज्ञानवत्ता का स्मरण होता है, अतः आत्मा और आत्मगत ज्ञानादि तुल्ययोगक्षेम कहे जाते हैं ।

द्वितीय (उक्त परामर्श को स्मरण मानने) में अज्ञान के स्मरण की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि सुषुप्तिकालीन नित्य साक्षिप्रत्यक्ष संस्कार का जनक नहीं माना जाता, संस्कार के बिना स्मरण नहीं हो सकता । नश्वर ज्ञान ही नाश के गर्भ में जाता हुआ संस्कार को जन्म देता है, क्योंकि नश्वर ज्ञानादि कारण पदार्थ अपने संस्कारादि व्यापार के बिना व्यवहित (अपनी अनुपस्थिति के) काल में स्मरणादि कार्य का जनक नहीं माना जाता । जो साक्षिज्ञान कभी नष्ट नहीं होता, वह सदैव स्वयं ही कार्य का जनक हो जाता है, उसे संस्कार उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता ? संस्कार अतीन्द्रिय वस्तु है, अतः कार्यान्यथानुपपत्ति के द्वारा उस की कल्पना हो सकती है, अन्यथा नहीं । सुषुप्तिकालीन साक्षी चैतन्य अनादि अज्ञानरूप उपाधि के उपराग में आकर अज्ञानादि का भासक माना जाता है, वह सुषुप्ति में न तो स्वयं नष्ट होता है और न उसकी उपाधि, अतः वह संस्कार-जनक क्योंकर होगा ? संस्कारों के बिना स्मरण नहीं बनता, अतः उस अनुपपन्न स्मरण को भावरूप अज्ञान की सिद्धि में प्रमाणरूपेण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता ।

समाधान—आपने ज्ञानाभाव की सिद्धि में जो अनुमान (सुषुप्तिकालीनोऽहं ज्ञानाभाववान्, अवस्थाविशेषवत्त्वात्, ज्ञानसामग्रीविरहवत्त्वात्, ज्ञानवत्तया नियमेना-

न्यायामृतम्

त्वेनाज्ञानपरामर्शायोगाच्च । अन्यथा तथापि सुषुप्तौ ज्ञानाभावो न सिद्धयेत् । भावरूपा-

अद्वैतसिद्धिः

विशेषणस्य चाज्ञानात् । न हि ज्ञानाभावमन्तरेणावस्थायां विशेषो वक्तुं शक्यः । ज्ञानसामग्रीविरहश्च ज्ञानाभावानुमेयत्वेनान्योन्याश्रयग्रस्तः । न चेदानीन्तनेनेन्द्रिय-प्रसादेन पूर्वकालीनं तदुपरममनुमाय सामग्रीविरहानुमानम्, इन्द्रियप्रसादस्य सुखा-नुभवहेतुकस्य तदुपरमहेतुकत्वासिद्धेः । नियमेनास्मर्यमाणत्वं च यथाश्रुतं वा सुषुप्ति-कालावच्छेदेनेति वा ? आद्ये असिद्धिः, द्वितीये तूपेक्षणीयज्ञानाभावो न सिध्येत्, तत्रैव व्यभिचारश्च ।

न च—तर्हि प्रातरनुभूतचत्वरे गजज्ञानाभावः कथमिति—वाच्यम्, ज्ञानानुप-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्मर्यमाणत्वात्) प्रदर्शित किया है, वह उचित नहीं, क्योंकि अवस्थाविशेषवत्त्वरूप हेतु का पहले से ज्ञान नहीं हो सकता, अर्थात् ज्ञानाभाव को ही अवस्था विशेष कहना होगा, उससे अतिरिक्त अवस्था विशेष का निर्वचन ही नहीं हो सकता । ज्ञानाभाव ही साध्य है, साध्य की सिद्धि पहले से नहीं होती किन्तु हेतु का ज्ञान पहले ही अपेक्षित होता है, अतः हेतु असिद्ध या साध्य-सम होने के कारण साध्य-साधन सक्षम नहीं हो सकता ।

ज्ञानसामग्रीविरह रूप द्वितीय हेतु भी ज्ञानाभाव के द्वारा अनुमेय है, अतः ज्ञानाभावरूप साध्य के द्वारा हेतु का तथा हेतु के द्वारा साध्य का अनुमान करने में अन्योऽन्याश्रय दोष होता है । यह जो किसी की शङ्का है कि 'सुषुप्ति से उत्थान होते ही इन्द्रियों में जो एक प्रसाद या स्फूर्ति का अनुभव होता है, उस प्रसाद का कारण यह है कि सुषुप्तिकाल में इन्द्रियों का विरह या विलयन था, अतः सुप्तोत्थित व्यक्ति अपने इन्द्रिय-प्रसादरूप हेतु के द्वारा सुषुप्ति काल में अपने कारणीभूत इन्द्रिय-विरह का अनुमान कर लेता है, अतः उसके द्वारा अनुमित इन्द्रियादि-सामग्री के अभाव से सुषुप्ति कालीन ज्ञानाभाव का अनुमान क्यों न हो सकेगा ?' वह शंका युक्त नहीं, क्योंकि सुप्तोत्थित व्यक्ति को जो इन्द्रिय-प्रसाद की अनुभूति होती है, उसका कारण इन्द्रियों का उपरम नहीं, अपि तु सुषुप्ति-काल में अलौकिक सुखानुभूति, अतः इन्द्रिय-प्रसाद के द्वारा सामग्रीविरह का अनुमान नहीं किया जा सकता ।

तृतीय नियमेनास्मर्यमाणत्वरूप हेतु से यथाश्रुत (सर्वदा) अस्मर्यमाणत्व विवक्षित है ? अथवा सुषुप्तिकालावच्छेदेन ? प्रथम (ज्ञानवत्तया सर्वदा अस्मर्यमाणत्व) पक्ष में स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि आत्मा में सर्वदा ज्ञानवत्ता का अस्मरण नहीं, अपितु जाग्रदादि काल में 'ज्ञानवानहम्'—यह स्मरण प्रायः होता ही रहता है । द्वितीय (सुषुप्ति काल में अस्मर्यमाणहेतु व्यभिचारी है, क्योंकि उपेक्षात्मक ज्ञान संस्कार-जनक नहीं होता, अतः उपेक्षात्मक ज्ञानवत्त्वेन आत्मा का कदापि स्मरण नहीं होता, उपेक्षा-त्मक ज्ञानवत्तया अस्मर्यमाणत्व रहने पर भी उपेक्षात्मक ज्ञानाभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि योग्यप्रतियोगिक अभाव का ही ज्ञान होता है अयोग्यप्रतियोगिक पिशाचाभावादि का नहीं । उपेक्षात्मक ज्ञान अयोग्य माना जाता है, उसके अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती ।

शङ्का—नियमेन अस्मर्यमाणत्व हेतु के द्वारा यदि ज्ञानाभाव का अनुमान नहीं

न्यायामृतम्

ज्ञानेन लिङ्गेन सोऽनुमीयत इति चेन्न, त्वन्मते जडे भावरूपाज्ञानाभावादित्युक्तत्वात्। साक्षिवेद्य इच्छादौ तदाज्ञानाभावासिद्ध्यापाताच्च। किं चैवं सुषुप्तिकालीनो रागाद्यभावो न सिद्धयेत्, न हि तदा रागादिविरोधी द्वेषोऽस्ति, येनाज्ञानेन ज्ञानाभाव इव द्वेषेण रागाभावोऽनुमीयेत। न च ज्ञानाभावादेव रागाद्यभावसिद्धिः। प्रकाशमान आत्मादौ तदभावासिद्धेः। तस्मान्न प्रत्यक्षं भावरूपाज्ञाने मानम्।

इति भावरूपाज्ञानप्रत्यक्षभङ्गः

अद्वैतसिद्धिः

लब्ध्यैवेत्यवेहि। अनुपलब्धिज्ञानं च भावरूपाज्ञानेन लिङ्गेन। तथा हि-- पूर्वकालेऽहं, गजज्ञानाभाववान, गजाज्ञातवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा गजज्ञानवानहमिति, एवं सर्वत्राज्ञानस्य ज्ञानाभावव्याप्यत्वेन तदनुमापकत्वम्। न च—सुषुप्तिकाले ज्ञानाभावानुमानार्थं भावरूपाज्ञानमिव रागाभावानुमार्थं द्वेषोऽपि स्वीकरणीयः, तद्विरोधिपदार्थानुभवं विना तदभावानुमानायोगादिति—वाच्यम्; भावरूपाज्ञानेन ज्ञानाभावेन वा रागाभावानुमानसंभवात्, तस्यापि तद्विरोधित्वात्। अथापरोक्षतो ज्ञातेत्वज्ञानाभावात् कथं परोक्षज्ञानाभावानुमानम्? सामग्रीविरहादिनेति गृहाण। न चात्राप्यन्योन्याश्रयः, शब्दादीनां योग्यानां योग्यानुपलब्ध्या अभावनिश्चयेन परोक्षज्ञानविरहज्ञानं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

किया जा सकता, तब 'प्रातर्मया चत्वरं दृष्टम्, किन्तु तदा गजज्ञानं नासीत्'—इस प्रकार अनुभूत चत्वर (प्राङ्गण) में गज-ज्ञानाभाव कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—भावरूप अज्ञान ही साक्षिवेद्य होता है, ज्ञानाभाव नहीं किन्तु ज्ञानाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होता है—यह कहा जा चुका है। अनुपलब्धि-ज्ञान भावरूप अज्ञान का अनुमापक होता है—'पूर्वकालेऽहं गजज्ञानाभाववान्, गजाज्ञानवत्त्वाद्, यन्नैवम्, तन्नैवम्, यथा गजज्ञानवानहम्।' यत्र तत्र अज्ञानम्, तत्र तत्र ज्ञानाभावः—इस प्रकार भावात्मक अज्ञान व्याप्य और ज्ञानाभाव व्यापक है, व्याप्य से व्यापक का सर्वत्र अनुमान होता है।

शङ्का—सुषुप्ति-काल में जैसे ज्ञानाभाव का अनुमान करने के लिए भावात्मक अज्ञान माना जाता है, वैसे ही रागाभाव का अनुमान करने के लिए द्वेष भी मानना चाहिए, क्योंकि राग के विरोधीभूत द्वेप पदार्थ की अनुभूति के बिना रागाभाव का अनुमान नहीं किया जा सकता।

समाधान—रागाभाव के अनुमानार्थ द्वेष-कल्पना की सुषुप्ति में आवश्यकता नहीं, क्योंकि भावरूप अज्ञान या ज्ञानाभाव के द्वारा ही रागाभाव का अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि अज्ञात वस्तु में राग कभी नहीं होता, अतः अज्ञान या ज्ञानाभाव भी राग का विरोधी होता है। 'साक्षि-प्रत्यक्ष सिद्ध अज्ञान के द्वारा यदि ज्ञानाभाव का अनुमान होता है, तब अपरोक्षतः ज्ञात वस्तु में अज्ञान कभी नहीं रहता, अतः अज्ञान के बिना परोक्ष ज्ञानाभाव कैसे सिद्ध होगा ?' इस प्रश्न का उत्तर है—सामग्री विरहादिना। परोक्ष ज्ञान की सामग्री के विरह से परोक्ष ज्ञानाभाव और परोक्ष ज्ञानाभाव के द्वारा परोक्ष ज्ञान की सामग्री के विरह का अनुमान—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष यहाँ उद्भावित नहीं हो सकता, क्योंकि शब्दादि योग्य पदार्थों का

अद्वैतसिद्धिः

विनैव सामग्रीविरहनिश्चयात्, सुषुप्तिकाले चेन्द्रियादिघटितसामग्रीविरहस्य फलाभावं विना ज्ञातुमशक्यत्वेनान्योन्याश्रयोक्तेः। न च स्मरणपक्षे संस्कारानुपपत्तिः, अज्ञानस्याज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितसाक्षिभास्यत्वेन वृत्तिनाशादेव संस्कारोपपत्तेः, अज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य साक्षिपदार्थत्वात्। न च—जागरेऽप्यज्ञानस्य वृत्तिवेद्यत्वे वृत्त्यभावदशायां संशयाद्यापत्तिरिति—वाच्यम्, अज्ञानविषयाज्ञानाभावेन तदयोगात्, संशयादेस्तत्कारणीभूताज्ञानसमानविषयत्वनियमात्। भावत्वादिना संशये त्विष्टापत्तिरेव, भावत्वादेः साक्षिवेद्यत्वाभावेनाज्ञानविषयत्वाद्, अज्ञानस्य स्वरूपेणैव साक्षिवेद्यत्वात्। ननु—तदा ज्ञानाभावोऽपि स्वरूपेणैव भासताम्, सप्रतियोगिकत्वेनाभावज्ञान एव प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वाद्, अन्यथा 'प्रमेय'मिति ज्ञानेऽप्यभावो

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अभाव योग्यानुपलब्धि से ही निश्चित हो जाता है, अतः परोक्ष ज्ञानाभाव-ज्ञान के विना ही योग्यानुपलब्धि के द्वारा परोक्ष ज्ञान की सामग्री का विरह निश्चित हो जायगा। पहले जो अन्योऽन्याश्रय दोष दिया गया था, वह अयोग्य इन्द्रियादि सामग्री से घटित होने के कारण, क्योंकि सुषुप्ति-काल में इन्द्रियादि-घटित सामग्री का ज्ञान कार्याभाव ज्ञान के विना सम्भव नहीं था, किन्तु प्रकृत में वैसा नहीं।

कथित सुप्तोत्थित व्यक्ति के परामर्श को स्मरणरूप मानने में जो संस्कारानुपपत्ति दोष दिया गया था, वह भी संगत नहीं, क्योंकि अज्ञान जिस अज्ञान-वृत्ति में प्रतिबिम्बित साक्षी के द्वारा भासित होता है, उस अज्ञान-वृत्ति का नाश हो जाने के कारण संस्कार की उपपत्ति हो जाती है, उपाधि के नाश से उपधेय का भी नाश माना जाता है, अज्ञान-वृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्य ही साक्षी कहलाता है, अज्ञान-वृत्ति का नाश हो जाने पर साक्षी का अभाव हो जाना असम्भव नहीं।

शङ्का—जाग्रत्काल में भी यदि अज्ञान अज्ञानाकार वृत्ति के द्वारा ही प्रकाशित होता है, तब उस वृत्ति के न होने पर अज्ञान का ज्ञान न होकर अज्ञान ही रहेगा, फिर तो अज्ञानविषयक संशय या विपर्यय होना चाहिए।

समाधान—साक्षि-भास्य पदार्थों का अज्ञान कभी नहीं होता, अतः अज्ञान का अज्ञान न होने के कारण संशयादि नहीं हो सकते, क्योंकि अज्ञान को भ्रम का उपादान कारण माना जाता है और यह भी नियम है कि जिस विषय का अज्ञान होता है, उसी विषय में संशयादि होते हैं, अतः अज्ञानविषयक अज्ञान के न होने पर अज्ञान-विषयक संशयादि कैसे हो सकते हैं? अज्ञान अज्ञानत्वेन ही साक्षि-वेद्य होता है, भावत्व, अनादित्वादि रूप से नहीं, भावत्वादि धर्म प्रमाण-वेद्य माने जाते हैं और प्रमाण-वेद्य वस्तु में संशयादि होते हैं, क्योंकि प्रमाणोदय के पूर्व प्रमाण-वेद्य का अज्ञान होता है, अज्ञानोपादानक संशयादि के होने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती, अतः भावत्वेन रूपेण अज्ञानविषयक संशयादि के होने में इष्टापत्ति है।

शङ्का—सुषुप्ति अवस्था में जैसे भावरूप अज्ञान भावत्वेन साक्षि-वेद्य न होकर स्वरूपतः साक्षि-भास्य होता है, वैसे ही ज्ञानाभाव भी स्वरूपतः साक्षि-वेद्य क्यों न मान लिया जाय? ज्ञानाभाव के स्वरूपतः साक्षिवेद्य होने में प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं, क्योंकि सप्रतियोगिकत्वेन अभाव के ज्ञान में ही प्रतियोगि-ज्ञान की अपेक्षा मानी जाती है, अन्यथा (प्रतियोगी के ज्ञान के बिना स्वरूपतः अभाव का भान न मानने

अद्वैतसिद्धिः

न भासेतेति—चेन्न, साक्षिणा तावन्न स्वरूपेणाभावावगाहनम् , तस्य साक्षात्साक्ष्यवेद्यत्वात् । नापि शब्दादिना, तदानीं तेषामभावात् । नाप्यनुपलब्ध्या, तस्याः प्रतियोगिज्ञाननिरपेक्षाया अजनकत्वात् । न च—दृष्टाभावान्तरविलक्षणस्वभाव एवायमभाव इति स्वरूपेण साक्षिवेद्योऽस्त्विति—वाच्यम् , निर्विकल्पकबुद्धिवेद्यत्वे भावत्वस्यैवौचित्याद् , अन्यथा परिभाषामात्रापत्तेः । ननु ज्ञानविरोधित्वादेस्तदाननुभवेन 'नावेदिष'मिति तेनाकारेण कथं परामर्शः ? न, द्रष्टर्यन्तःकरणतादात्म्येनाहमुल्लेखस्येव ज्ञानविरोधित्वादेरपि तदैवानुभूयमानत्वेन तदंशे परामर्शत्वानभ्युपगमात् ,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पर) 'प्रमेयम्' इस प्रकार के ज्ञान में जो स्वरूपतः अभावरूप प्रमेय का ज्ञान होता है, वह नहीं हो सकेगा ।

समाधान—साक्षी के द्वारा अभाव का स्वरूपेण अवगाहन कभी नहीं होता, क्योंकि अभाव अनुपलब्धि-गम्य होता है, साक्षात् साक्षि-वेद्य नहीं—यह कहा जा चुका है । सुषुप्तिकाल में शब्दादि के द्वारा भी ज्ञानाभाव की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय शब्दादि का अभाव होता है । अनुपलब्धि के द्वारा भी वहाँ ज्ञानाभाव की प्रतीति सम्भव नहीं, क्योंकि अनुपलब्धि को अभाव-बोधन के लिए प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा होती है, सुषुप्ति में प्रतियोगी का ज्ञान नहीं होता, प्रतियोगिज्ञान-निरपेक्ष अनुपलब्धि में अभाव-ज्ञान की जनकता कोई भी नहीं मानता ।

शङ्का—घटाभावादि प्रसिद्ध अभाव अवश्य ही सप्रतियोगिकत्वेन ज्ञात होते हैं, स्वरूपतः नहीं, किन्तु यह ज्ञानाभाव उन प्रसिद्ध अभावों से विलक्षण होने के कारण स्वरूपतः ही ज्ञात अत एव साक्षिभास्य होता है ।

समाधान—प्रतियोगिज्ञान-सापेक्ष ज्ञान का विषय होने के कारण अभाव-बोध को विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही सविकल्पक ज्ञान माना जाता है, यदि ज्ञानाभाव को निर्विकल्पक ज्ञान का विषय मान लिया जाता है, तब उसे भावरूप ही मानना उचित है, अन्यथा प्रतियोगिज्ञान-निरपेक्ष ज्ञान के विषयीभूत भाव पदार्थ की अभाव-संज्ञा को एक परिभाषा मात्र ही मानना पड़ेगा, परिभाषा मात्र से अज्ञान की निश्चित भावरूपता में कोई अन्तर नहीं आता ।

शङ्का—सुषुप्ति काल में अन्तःकरण का विलय हो जाने के कारण अज्ञानगत ज्ञानविरोधित्व एवं सविषयकत्व का भान यदि नहीं होता, तब सुप्तोत्थित व्यक्ति को 'न किञ्चिदवेदिषम्'—इस रूप में परामर्श (स्मरण) कैसे होगा, क्योंकि इस स्मरण में किञ्चिद्रूप विषय और ज्ञान-विरोधित्व का विस्पष्ट उल्लेख है, अनुभव और स्मरण की समानाकारता लोक-प्रसिद्ध है ।

समाधान—सुषुप्तिकालीन अज्ञानानुभव भी निर्विकल्पक है और सुप्तोत्थित व्यक्ति का स्मरण भी निर्विकल्पक है, किन्तु अज्ञान के अनुभविता साक्षी तथा स्मर्ता जीव का तादात्म्य होने के कारण जैसे जाग्रत्कालीन अहन्त्व का अधिक भान होने लगता है—'अहमवेदिषम्', वैसे ही जाग्रत्काल में अनुभूयमान ज्ञान-विरोधित्व और सविषयकत्व का अधिक भान मात्र माना जाता है । सुषुप्तिकाल में आत्मगत अहन्त्व, अज्ञानगत ज्ञान-विरोधित्व और सविषयकत्व का न तो अनुभव होता है और न उत्थान काल में स्मरण, अतः सुषुप्ति काल में अनुभूत अज्ञान और उसके द्रष्टा मात्र

अद्वैतसिद्धिः

सुषुप्तिकालीनस्य द्रष्टुरेव परामर्शत्वात्। नन्वज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यरूपस्याज्ञानानुभवस्य जाग्रत्यपि विद्यमानत्वात् कथमज्ञानस्मरणम्? न हि धारावाहिकेषु अनुभवेषु तुल्यसामग्रीकेषु स्मरणव्यवहारः, तथा च धारावाहिकोऽज्ञानानुभव इति वक्तव्यम्, न तु परामर्श इति, सत्यम्, सुषुप्त्याख्यायास्तामस्या अज्ञानवृत्तेर्नाशेन जाग्रति तद्विशिष्टाज्ञानस्य साक्षिणाऽनुभूयमानत्वाभावेन संस्कारजन्याविद्यावृत्त्यैव सुषुप्तिविशिष्टाज्ञानभानात् परामर्शत्वोपपत्तेः, केवलाज्ञानांशे तु तुल्यसामग्रीकत्वाद्धारावाहिकत्वमेव, अत एव कार्योपाधिविनाशसंस्कृतमज्ञानमात्रमेव प्रलयोपमं सुषुप्तिरित्यभिप्रेत्य वार्तिककारपादैः सौषुप्ताज्ञानस्मरणमपाकृतम्। तथा चोक्तम्—

न सुषुप्तिगविज्ञानं नाज्ञासिषमिति स्मृतिः।
कालाद्यव्यवधानत्वान्न ह्यात्मस्थमतीतभाक्॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का स्मरण होता है, उससे अधिक ज्ञान-विरोधित्वादि पदार्थों का जाग्रत्काल में ही अनुभव होता है।

शङ्का—[जैसे घट की प्रत्यक्ष-सामग्री के रहते-रहते जितनी भी 'अयं घटः अयं घटः'—इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान की धाराएँ अनुभूत होती है, उन सब को प्रत्यक्ष ही कहा जाता है, प्रथम ज्ञान को प्रत्यक्ष और द्वितीयादि को स्मरण नहीं माना जाता, वैसे ही] सुषुप्तिकाल में अज्ञान, अज्ञानाकार वृत्ति और उसमें प्रतिबिम्बत चैतन्यादि अज्ञान-ग्राहक सामग्री थी, वही सब-की-सब उत्थान काल में विद्यमान है, अतः उससे उत्पन्न अज्ञान-प्रतीति को अनुभव (प्रत्यक्ष) ही कहना चाहिए स्मरण क्यों कहा जाता है? तुल्य सामग्री-जन्य धारावाहिक घटादि-अनुभवों में स्मरण-व्यवहार कदापि नहीं होता, अतः सुप्तोत्थित व्यक्ति की अज्ञान-प्रतीति को अज्ञान का अनुभव ही कहना चाहिए, स्मरण नहीं।

समाधान—जागरण काल में भी अज्ञान का अनुभव होता है—यह कहना सत्य है, किन्तु सुषुप्तिसंज्ञक योगदर्शन (सू० १।१०) में कथित अभावप्रत्ययालम्बनात्मक तामसी निद्रा वृत्ति से विशिष्ट अज्ञान का अनुभव जागरण में सम्भव नहीं, क्योंकि उत्थान काल में उक्त निद्रा वृत्ति नष्ट हो जाती है, अतः सौषुप्तिक अनुभवाहित संस्कार-जन्य उत्थानकालीन अज्ञानाकार स्मृतिरूप अविद्या-वृत्ति के द्वारा अज्ञान का भान स्मरणात्मक ही कहा जाता है [स्मृति अधिगत-विषयक होने के कारण अप्रमा मानी जाती है, अप्रमा ज्ञान मात्र का उपादान कारण अविद्या ही होती है, अतः स्मृति को अविद्या की वृत्ति कहा गया है, प्रमारूप वृत्ति का उपादान अन्तःकरण होता है, अतः प्रमा वृत्ति को अन्तः करण की वृत्ति कहते हैं]। जागरण काल में जो 'अहमज्ञः'—इस प्रकार का केवल (सुषुप्ति-निरपेक्ष) अज्ञान का अनुभव होता है, उसे अवश्य धारावाहिक अनुभव माना जाता है, क्योंकि 'अहमज्ञः अहमज्ञः'—इस प्रकार के सभी अनुभव-क्षण समान सामग्री से उत्पन्न होते हैं। अत एव अज्ञान की सदा अनुभूयमानता को मान कर अज्ञान-स्मरण का निराकरण किया गया है और अन्तःकरणरूप कार्यभूत उपाधि के विनाश से संस्कृत अज्ञान मात्र को प्रलयवत् सुषुप्ति माना है—

न सुषुप्तिगविज्ञानं नाज्ञासिषमिति स्मृतिः।
कालाद्यव्यवधानत्वान्न ह्यात्मस्थमतीतभाक्॥

अद्वैतसिद्धिः

न भूतकालस्पृक्प्रत्यङ् न चागामिस्पृगीक्ष्यते ।
स्वार्थदेशः परार्थोऽर्थो विकल्पस्तेन स स्मृतः ॥

इत्याद्यव्याकृतप्रक्रियायाम् । विवरणकारैस्तु—'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रे'ति योगसूत्रानुसारेण तमोगुणात्मकावरणमात्रालम्बना काचिद्वृत्तिः सुषुप्तिरित्यभिप्रेत्य तदुपरक्तचैतन्यस्य तन्नाशेनैव नाशात्तत्कालीनाज्ञानानुभवजनितसंस्कारवशेन 'न किंचिदवेदिष'मिति 'स्मरणमभ्युपेत'मिति वार्तिकविवरणयोरपि विरोधः । अत एवोक्तं वार्तिककारैरुषस्तिब्राह्मणे—

न चेदनुभवव्याप्तिः सुषुप्तस्याभ्युपेयते ।
नावेदिषं सुषुप्तोऽहमिति धीः किंबलाद्भवेत् ॥' इत्यादि ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न भूतकालस्पृक्प्रत्यङ् न चागामिस्पृगीक्ष्यते ।
स्वार्थदेशः परार्थोऽर्थो विकल्पस्तेन स स्मृतः ॥ (बृह० वा० पृ० ४९०)

[अर्थात् सुप्तोत्थित व्यक्ति का 'नावेदिषम्'—इस प्रकार का परामर्श (स्मरण) सुषुप्तिकालीन कादाचित्क साक्षात्कार का अनुमापक नहीं होता, क्योंकि आत्मा में देश, कालादि का व्यवधान बिल्कुल नहीं रहता, अतः एक साक्षी चैतन्य में उक्त अज्ञान और पूर्वकाल—दोनों अध्यस्त होने के कारण साक्षी-द्वारा अवभासित होते हैं। प्रत्यक् चैतन्य भूत, भविष्यत् और वर्तमान—तीनों कालों के सम्बन्ध से रहित है, क्योंकि श्रुति कहती है—"अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च" (कठो० २।१४) । देशादि सभी कुछ प्रत्यगात्मरूप है, समस्त जड़रूप अर्थ उसीमें अध्यस्त है, इस लिए योग-दर्शनकार ने उसे शब्दज्ञानानुपाती वस्तु-शून्य विकल्प कहा है। आशय यह है कि सुप्तोत्थित व्यक्ति को 'नाहमवेदिषम्'—इस प्रकार की स्मृति नहीं हो सकती, क्योंकि स्मृति-जनक संस्कारों को जन्म देने वाला कोई नश्वर प्रत्यक्ष सुषुप्ति काल में सम्भव नहीं। प्रलय काल के समान ही सुषुप्ति में अविद्या-वृत्ति नहीं मानी जाती, सुषुप्ति काल और जागरण काल के मध्य में कोई संस्कार-काल नहीं, अतः किसी प्रकार का व्यवधान नहीं माना जाता, फलतः सुषुप्तिकालीन अज्ञानविषयक निर्विकल्प बोध से सुप्तोत्थित व्यक्ति को 'नावेदिषम्'—इस प्रकार का सविकल्प अनुभव ही उत्पन्न होता है, स्मृति नहीं] । वार्तिककार ने बृहदारण्यक भाष्य की अव्याकृत-प्रक्रिया में ऐसा कहा है।

विवरणकार का कहना है कि "अभावप्रत्ययालम्बा वृत्तिर्निद्रा" (यो० सू० १।१०) के अनुसार तमोगुणात्मक आवरणमात्र-विषयिणी कोई अविद्या-वृत्ति सुषुप्ति नाम से उत्पन्न होती है। उस वृत्ति के नष्ट हो जाने से वृत्त्युपरक्त साक्षी चैतन्य का भी नाश हो जाता है, अतः सौषुप्त साक्षात्कार से उत्पन्न संस्कार 'न किञ्चिदवेदिषम्'—इस प्रकार की स्मृति को जन्म देते हैं। इस प्रकार वार्तिककार और विवरणकार का केवल दृष्टिकोण ही भिन्न है, किसी प्रकार का विरोध नहीं, अत एव वार्तिककार ने उषस्ति-ब्राह्मण (बृह० वा० पृ० १२२५) में कहा है—

न चेदनुभवव्याप्तिः सुषुप्तस्याभ्युपेयते ।
नावेदिषं सुषुप्तोऽहमिति धीः किंबलाद् भवेत् ॥

['सुप्तोऽहं न किञ्चिद् अवेदिषम्'—ऐसी बुद्धि स्मरणरूप यदि न होती, तब सुषुप्तिकालीन अज्ञानविषयक नित्य अनुभव का अनुमान किसके बल पर होता ?] ।

अद्वैतसिद्धिः

अभिप्रायस्तु वर्णित एव । साक्ष्यज्ञानसुखाकारास्तिस्रोऽविद्यावृत्तयः सुषुप्त्याख्यैकैव वा वृत्तिरित्यन्यदेतत् । निर्विकल्पकस्यापि स्मरणजनकत्वम् । अहंकारोपरागकालीनत्वाभावेन तत्तानुल्लेख इत्यादि सर्वमुपपादितमस्माभिः सिद्धान्तबिन्दो ।तस्मात् सौषुप्तानुभवोऽपि भावरूपाज्ञानविषय इति सिद्धम् ।।

इत्यद्वैतसिद्धौ अज्ञानप्रत्यक्षत्वोपपत्तिः ।।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वार्तिककार का अभिप्राय यह है कि शास्त्र-प्रसिद्ध सुषुप्ति की दैनिक प्रलयरूपता का उपपादन करने के लिए निद्रा वृत्ति नहीं मानी जा सकती, किन्तु लौकिक अनुभव के अनुसार निद्रा वृत्ति का मानना आवश्यक है ।

: ५६ :

अज्ञानेऽनुमानप्रमाणविचारः

न्यायामृतम्

यच्चाद्यानुमानम्, तत्र सुखादिप्रमायां बाधः, तस्याः साक्षिरूपत्वेनाज्ञानानि-

अद्वैतसिद्धिः

अनुमानमपि तत्र विवरणोक्तं प्रमाणम्—'विवादपदं प्रमाणज्ञानम्, स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वाद्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावदिति । अत्र प्रमाणपदं प्रमाणवृत्तेरेव पक्षत्वेन सुखादिप्रमायां साक्षिचैतन्यरूपायामज्ञानानिवर्तिकायां बाधवारणाय । धर्म्यंशप्रमाणवृत्तेरिदमित्याकाराया अज्ञानानिवर्तिकायाः पक्षबहिर्भावाय विवादपदमिति विशेषणम् । विशेषाकारप्रमाणवृत्तिरिति फलितोऽर्थः । परोक्षप्रमाया अप्यसत्त्वावरणरूपप्रमातृगताज्ञाननिवर्तकत्वात् न तदंशेऽपि बाधः । नन्विदमिति प्रमाणवृत्तेरज्ञानानिवर्तकत्वे अज्ञातज्ञापकत्वरूपप्रमात्वेन व्यवहारो न स्यात्, न; इदमाकारभ्रमसंशयादर्शनेन तद्गोचराज्ञानकल्पने मानाभावेन तत्र सुखादिज्ञानवद्यथार्थत्वमात्रेण

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विवरणोक्त अनुमान भी अज्ञान की सिद्धि में प्रमाण है—विवादपदं प्रमाणज्ञानम्, स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वाद्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपवत्" (पं० वि० पृ० ८५)। इस अनुमान-प्रयोग में विवादास्पद 'प्रमाणज्ञान' पद से प्रमावृत्ति का पक्षत्वेन उपन्यास साक्षिचैतन्यरूप सुखादि-प्रमा में बाध-वारणार्थ किया गया है [प्रमामात्र को यदि पक्ष बनाया जाता, तब सुखादि-प्रमा भी पक्षान्तर्गत हो जाती, सुखादि-प्रमा साक्षिरूप है, साक्षी अज्ञान का निवर्तक नहीं, अपि तु साधक होता है, अतः सुखादि-प्रमा में अज्ञान-निवर्तकत्वरूप साध्य का बाध हो जाता, अतः प्रमाणजन्य प्रमावृत्ति को पक्ष बनाया गया है, सुखादि-प्रमा प्रमाण-जन्य प्रमावृत्ति नहीं, अपि तु नित्य साक्षिचैतन्यरूप मानी जाती है] । शुक्ति-रजतादि-भ्रम में इदमाकार अन्तःकरण-वृत्ति और रजताकार अविद्या-वृत्ति—दो वृत्तियाँ मानी जाती हैं, उनमें धर्मिमात्रविषयक इदमाकारा प्रमाण वृत्ति अज्ञान की निवर्तक नहीं होती—अतः उसे पक्ष के बाहर रखने के लिए पक्ष का विशेषण दिया गया—'विवादपदम्' । फलतः अज्ञान-निवर्तकत्व जिसमें विवादग्रस्त है, ऐसी विशेषप्रकारक प्रमा वृत्ति में पक्षता निश्चित होती है, इदमाकार वृत्ति सामान्याकार है, विशेषाकार नहीं । पक्षान्तर्गत परोक्षप्रमा वृत्ति में भी प्रमातृगत असत्त्वापादक अज्ञान की निवर्तक होती है, अतः उसमें भी बाध नहीं होता ।

शङ्का—पूर्वोक्त इदमाकार प्रमाण वृत्ति यदि अज्ञान की निवर्त्तिका नहीं, अर्थात् अज्ञात-ज्ञापिका नहीं, तब उसमें प्रमा-व्यवहार क्योंकर होगा ? क्योंकि अज्ञातार्थ के ज्ञापक ज्ञान को ही प्रमा कहा जाता है ।

समाधान—इदमाकार वृत्ति को यदि अज्ञान का निवर्तक मान लिया जाता है, तब अनुभूयमान अज्ञानविषयक भ्रम और संशय अनुपपन्न हो जायँगे, अतः भ्रमाद्युपादानत्वेन अज्ञान की कल्पना न हो सकेगी, अतः इदमाकार वृत्ति को अज्ञान की निवर्तक नहीं माना जाता, फिर भी उसमें सुखादि-प्रमा के समान अबाधितार्थ-विषयकत्व होने के कारण प्रमात्व-व्यवहार होता है, जैसा कि कहा गया है—

न्यायामृतम्

वतर्कत्वात् । वृत्तेः पक्षत्वेऽपि परोक्षवृत्तौ वाधः, तस्याः स्वविषये अज्ञाननिवर्तकत्वे तद्विषयस्याभिव्यक्तापरोक्षैकरसचैतन्यसम्भेदेनापरोक्षत्वापाताच्च । उक्तं च विवरणे—“विषयत्वं नानुमेयादौ सुषुप्तिव्यावृत्ति’रिति । अपरोक्षवृत्तेः पक्षत्वेऽपि परोक्षवृत्तौ व्यभिचारः । तद्व्यावृत्त्यर्थं हेतुविशेषणे अप्रयोजकत्वम् । सर्वभ्रमेष्वधिष्ठानत्वेनानुगतसदर्थविषयापरोक्षवृत्तौ बाधश्च । तन्निवर्त्याज्ञानसद्भावे भ्रमोपादानत्वलक्षणस्य तत्राव्याप्तिः स्यात् । न हि सदर्थरूपाधिष्ठानाज्ञाने क्वचिद् भ्रमः । तदन्यस्य पक्षत्वे धारावाहिकद्वितीयादिप्रमायां बाधोऽसिद्धिश्च । स्वनिवर्त्यप्रथमप्रमाव्यवहितायास्तस्याः द्वितीयादिप्रमायाः तमः प्रतीवाज्ञानं प्रत्यनिवर्तकत्वात् । सूक्ष्मतत्तत्क्षणानामप्रत्यक्षत्वेन प्रकाशितप्रकाशकत्वाच्च। तदन्यस्य पक्षत्वेऽपि अनात्मविषयापरोक्षवृत्तौ बाधः। त्वन्मते जडावरकाज्ञानाभावात् । ननु घटोऽयमित्यादिवृत्तिरपि तदवच्छिन्नचैतन्यविषया अज्ञानमपि तथेति न बाध इति चेन्न, एकाज्ञानपक्षे तदभावाद् , अवच्छिन्नस्याप्यस्वप्रकाशत्वेनाप्रसक्तप्रकाशतयावरणायोगाच्च । रूपादिहीनस्यात्मन आकाशादिवद् घटाद्या-

---

अद्वैतसिद्धिः

प्रमात्वव्यवहारोपपत्तेः । यथाहुः—‘धर्म्यंशे सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय’ इति । यदि तु भ्रमसंशयाजनकमपि तदाकारमज्ञानमनुभवबलादास्थीयेत, तर्हि सापि पक्षेऽन्तर्भवतु, प्रमाणवृत्तित्वावच्छेदेनैवाज्ञाननिवर्तकत्वानपायात् , तदा च विवादपदमिति विशेषणमनादेयम् । एतस्मिन् पक्षे भ्रमोपादानत्वयोग्यत्वमविद्यालक्षणं द्रष्टव्यम् , भ्रमोपादानत्वस्य धर्म्यंशज्ञाननिवर्त्याज्ञानेऽव्याप्तेरित्यवधेयम् । धारावाहिकबुद्धीनां च तत्तत्कालावच्छिन्नार्थविषयत्वेनाज्ञातज्ञापकत्वमस्त्येव; कालस्य सर्वप्रमाणवेद्यत्वाभ्युपगमात् । अनात्माकारप्रमाणवृत्तीनां च तत्तदवच्छिन्नचैतन्यविषयत्वेन स्वविषयावरणनिवर्तकत्वमस्त्येव, चित्त्वेनैव प्रकाशप्रसक्तेः, न त्वनवच्छिन्नचित्त्वेन, गौरवात् , ‘एतावन्तं कालं मया न ज्ञातोऽयमिदानीं ज्ञात’ इत्यनुभवाच्च । रूपादिहीन-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

“धर्म्यंशे सर्वमभ्रान्तम् , प्रकारे तु विपर्ययः ।”

अर्थात् भ्रम-प्रमा-साधारण सभी ज्ञान धर्म्यंश में प्रमा माने जाते हैं, भ्रम ज्ञानों के केवल प्रकारांश में विपर्यय माना जाता है ।

इदमज्ञानम्—इस प्रकार का निश्चय देखते हुए इदमाकार प्रमा वृत्ति को भ्रम का जनक नहीं माना जाता, फिर भी भ्रमोपादानत्व की योग्यता उस वृत्ति में भी मानी जाती है, अतः सभी प्रमावृत्तियों में अज्ञान-निवर्तन-योग्यता रहने के कारण इदमाकार वृत्ति को भी पक्ष में प्रवेश मिल सकता है, अतः उसे पक्ष के बाहर रखने के लिए ‘विवादपदम्’—यह पक्ष का विशेषण देने की कोई आवश्यकता नहीं । इस पक्ष में भ्रमोपादानत्वयोग्यत्वम्’–यह अज्ञान का लक्षण विवक्षित है, क्योंकि भ्रमोपादानत्वम् अज्ञानत्वम् इस लक्षण की अव्याप्ति धर्म्यंश-ज्ञान से अनिवर्त्य धर्म्यंशविषयक अज्ञान में हो जाती थी । धारावाहिक ज्ञानों में भी तत्तत्कालावच्छेदेन अज्ञात-ज्ञापकत्व रहने के कारण बाध नहीं होता । काल प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों का विषय है—यह कहा जा चुका है । घटादि अनात्माकार प्रमावृत्तियों में भी तत्तद्वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यगत आवरण की निवर्तकता और चैतन्य-तादात्म्यापत्ति के कारण प्रकाशता मानी जाती है, उनमें चैतन्यानवच्छेदकत्वेन स्वतः प्रकाशता मानने में गौरव होता है । ‘एतावन्त कालं

न्यायामृतम्

वच्छिन्नस्यापि चाक्षुषत्वाद्ययोगस्योक्तत्वाच्च। अयं घट इति शब्दजन्येन घटमात्रविषयकज्ञानेनायं घट इत्यपरोक्षवृत्तेः विषयभेदाप्रतीतेश्च। आत्मविषयापरोक्षवृत्तेः पक्षत्वेऽप्यनात्मज्ञाने व्यभिचारः। आत्मविषयत्वेन हेतुविशेषणे दृष्टान्तस्य साधनवैकल्यमिति दिक्।

साध्येऽप्याद्यं विशेषणं व्यर्थम्, यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति त्वन्मते अभावनिवृत्तिरेव भाव इति मन्मते च स्वनिवर्त्यविशेषणेनैव प्रागभावव्यावृत्तिसिद्धेर·

अद्वैतसिद्धिः

स्यापि तत्तदवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रत्यक्षादिविषयत्वमुक्तं प्राक्। प्रतिकर्मव्यवस्थामभ्युपगम्य चेदमनुमानम्, न तु दृष्टिसृष्टिपक्ष इति ध्येयम्। साध्ये चाद्यं विशेषणं प्रतियोग्यतिरिक्ता प्रागभावनिवृत्तिरिति मते प्रागभावेनार्थान्तरवारणाय। तदुदीच्यध्वंसादिकमादाय नार्थान्तरप्रसक्तिः, किंतु पूर्ववर्त्यभावमादायेति वस्तुगतिमनुरुध्य प्राक्पदम्। अवैयर्थ्यं च प्रतियोगिविशेषणत्वेनाखण्डाभावसंपादकतया।

एतेन—यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति नियमात् स्वनिवर्त्यपदेनैव प्रागभावव्युदासे किमाद्यविशेषणेनेति—निरस्तम्; प्रमात्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्येषां नेत्यत्र तात्पर्यात्। न च स्वविषयावरणपदेनैव तद्व्युदासः, 'अस्ति प्रकाशत' इति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मया न ज्ञातोऽयम्, इदानीं ज्ञातः'—इस प्रकार की अनुभूति के बल पर भी कादाचित्क प्रकाशता का निर्वाह करने के लिए वृत्तियों में चैतन्यावच्छेदकत्वेन ही प्रकाशता माननी उचित है, अन्यथा वृत्तियों में स्वतः प्रकाशता मानने पर सदातन प्रकाशता की प्रसक्ति होगी। रूपादि-रहित चैतन्य में भी तत्तद्वृत्त्यवच्छिन्नता के कारण प्रत्यक्षादि की विषयता का उपपादन भी पहले ही किया जा चुका है। यह अनुमान-प्रयोग प्रतिकर्म-व्यवस्था को मान कर किया गया है, दृष्टि-सृष्टि-पक्ष में नहीं।

(१) साध्य का प्रथम (स्वप्रागभावव्यतिरिक्त) विशेषण, प्रतियोगि से अतिरिक्त प्रागभाव की निवृत्ति होती है—इस मत से प्रसक्त प्रागभाव अर्थान्तरता का निवर्तक है। प्रतियोगी के उत्तर भावी ध्वंसादि को लेकर अर्थान्तरता की प्रसक्ति नहीं होती, अपि तु पूर्वभावी अभाव को लेकर ही—इस प्रकार की वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर 'प्राक्' पद रखा गया है, अतः 'प्राक्' पद व्यर्थ नहीं है, क्योंकि अभावत्व के समान प्रागभावत्व भी एक अखण्ड उपाधि है, अखण्ड उपाधि को जाति के समान निरवयव माना जाता है, 'प्राक्' अवयव पृथक् नहीं माना जाता कि उसके व्यर्थत्व का सन्देह हो सके। यह जो किसी की शङ्का थी कि 'ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकम्'—इस नियम के अनुसार साध्य के तृतीय 'स्वनिवर्त्य'—विशेषण से जब प्रागभाव की निवृत्ति हो जाती है [क्योंकि प्रमा में अप्रमा से भिन्न प्रागभावादि की निवर्तकता ही नहीं होती,] तब पुनः 'प्रागभावव्यतिरिक्त' विशेषण की क्या आवश्कता? वह शङ्का भी इसी लिए ही निरस्त हो जाती है कि प्रमा प्रमात्वेन रूपेण अप्रमा से भिन्न प्रागभावादि की निवर्तिका नहीं होती—इसी में उक्त नियम का तात्पर्य है, अतः प्रमा जैसे अप्रमा की प्रमात्वेन निवर्तिका होती है, वैसे ही अपने प्रागभाव की प्रमा प्रतियोगी होने के कारण प्रतियोगित्वेन निर्वातिका अवश्य होती है, अतः प्रमा निवर्त्य प्रागभाव की व्यावृत्ति के लिए प्रथम 'स्वप्रागभावव्यतिरिक्त' विशेषण सार्थक है।

फिर भी 'स्वविषयावरण'—इस द्वितीय विशेषण के द्वारा प्रागभाव की व्यावृत्ति

न्यायामृतम्

भावव्यतिरिक्तपदेनैव तद्व्यावृत्तिसिद्ध्या शेषवैयर्थ्याच्च ।

द्वितीयं चायुक्तम्, जडे अज्ञानस्यानंगीकृतत्वात् । निर्विशेषचितश्चाज्ञानादिसाक्षितया प्रकाशमानत्वेनाज्ञानस्यावरणत्वायोगात् । स्वोत्पादकादृष्टव्यावृत्तेरावरण-

अद्वैतसिद्धिः

व्यवहारविरोधित्वरूपस्यावरणत्वस्य भावाभावसाधारणत्वात् । वृत्तिजनकादृष्टेनार्थान्तरवारणाय तु विशेषणमिदम् । न चावरणपदेनैव तद्व्युदासे स्वविषयेति व्यर्थम्, यददृष्टं स्वविषयज्ञानजनकं विषयान्तरज्ञानप्रतिबन्धकतया तदावरकं, तादृशादृष्टपूर्वकत्वेनार्थान्तरवारकत्वात् ।

न च जडे अज्ञानस्यानङ्गीकाराच्चितश्चाज्ञानादिसाक्षितया भासमानत्वान्नावरणमिति वाच्यम्, अज्ञानादिसाक्षितया चितः प्रकाशमानत्वेऽपि 'अस्ति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

हो जाती है, क्योंकि प्रागभाव प्रमा के विषय का आवरक नहीं होता, अतः प्रथम विशेषण व्यर्थ क्यों नहीं ? ऐसी शङ्का भी नहीं की जा सकती, क्योंकि 'अस्ति, प्रकाशते'—इस व्यवहार के विरोधी भावाभाव-साधारण पदार्थ मात्र को आवरण मानकर विवरणाचार्य ने उक्त अनुमान-प्रयोग किया है । 'प्रमा-विषयोऽस्ति'—इस प्रकार के व्यवहार का विरोधी प्रमा का प्रागभाव भी है, अतः 'स्वविषयावरण' विशेषण से प्रागभाव की निवृत्ति नहीं होती ।

(२) द्वितीय (स्वविषयावरण) विशेषण के द्वारा वृत्ति-जनक अदृष्ट में अर्थान्तरता की निवृत्ति की जाती है, क्योंकि द्वितीय विशेषण को छोड़कर 'स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्'—इतना ही साध्य अवशिष्ट रह जाता है, वृत्ति-जनक अदृष्ट वृत्ति के प्रागभाव से भिन्न है, वृत्ति से निवर्त्य है [क्योंकि कार्य की उत्पत्ति से उसका जनक अदृष्ट निवृत्त हो जाता है], उक्त अदृष्ट वृत्ति-देशगत भी है तथा वह अदृष्ट वस्त्वन्तर भी है, अतः अज्ञान की सिद्धि के लिए प्रयुक्त अनुमान के द्वारा अदृष्टरूप अर्थान्तर की सिद्धि हो जाती है, उसकी निवृत्ति के लिए द्वितीय (स्वविषयावरण) विशेषण दिया गया, अदृष्ट के रहने पर प्रमा-विषय का आवरण नहीं होता ।

अनावरणरूप अदृष्ट की व्यावृत्ति तो 'आवरण'—इतने विशेषण से ही हो जाती है, तब 'स्वविषयावरण' कहने की क्या आवश्यकता ? ऐसी शङ्का भी उचित नहीं, क्योंकि घटाकार प्रमा वृत्ति का जनक अदृष्ट यद्यपि वृत्ति के विषयीभूत घट का आवरक नहीं होता, तथापि पटाद्याकार प्रमावृत्ति का प्रतिबन्धक होने के कारण पटरूप विषय का आवरक होता है, आवरणमात्र कहने से अदृष्ट को लेकर अर्थान्तरता होती है, अतः स्वविषयावरण कहना आवश्यक है, स्वकीय अदृष्ट प्रमा के विषय का आवरक नहीं होता।

शङ्का—'स्वविषयावरण'—यह विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि प्रमा के जड़ और चैतन्य—दो ही विषय होते हैं, जड़-वर्ग पर अज्ञानावरण होता ही नहीं और चैतन्य तत्त्व अज्ञान का साक्षी होने के कारण अनावृत होकर अज्ञान का भासक होता है, अतः किस विषय का आवरण होगा ? आवरणीय विषय न होने के कारण 'स्वविषयावरण' विशेषण व्यर्थ क्यों नहीं ?

समाधान—यद्यपि अज्ञानादि का भासक होने के कारण साक्षी चैतन्य को

न्यायामृतम्

पदेनैव सिद्धया शेषवैयर्थ्याच्च । ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति त्वन्मते स्वोत्पादकादृष्टस्य स्वनिवर्त्यपदेनैव व्यावृत्तिसिद्धेः। तृतीयं चायुक्तम्, वृत्तिश्चिदुपरागार्थेति मते घटाकारवृत्त्या तत्प्रतिबिंबितचैतन्येन वाभिव्यक्तं घटा(विषया)धिष्ठानचैतन्यं घटप्रकाशकमिति मते च घटप्रकाशकज्ञानस्य घटाज्ञानानिवर्तकत्वाद् घटाकारवृत्तिः तत्प्रतिबिंबितचैतन्यं वा घटप्रकाशकमिति मतस्य चाध्यासिकसम्बन्धस्यातन्त्रत्वापातेनायोगाच्चरमसाक्षात्कारोत्पत्तिप्रतिबन्धकादृष्टस्य तदनिवर्त्यत्वे मिथ्यात्वासिद्धया स्वनिवर्त्यपदेन तद्व्यावृत्त्यसिद्धेश्च ।

अद्वैतसिद्धिः

प्रकाशत' इति व्यवहाराभावेन तदंशेऽज्ञानावरणस्यावश्यकत्वात् । वक्ष्यते चैतत् । स्वनिवर्त्येति च विशेषणं वृत्तिप्रतिबन्धकादृष्टेनार्थान्तरवारणाय । न च—चरमसाक्षात्कारोत्पत्तिप्रतिबन्धकादृष्टस्य तदनिवर्त्यत्वे मिथ्यात्वासिद्धिः, तन्निवर्त्यत्वे तद्व्युदसनमशक्यमिति—वाच्यम्, प्रतिबन्धकादृष्टे विद्यमाने न ज्ञानोत्पत्तिरिति प्रथमं तन्निवृत्तेः कारणात्मना स्थितस्य तस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च मिथ्यात्वम् । न चैवमपि स्वनि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अनावृत माना जाता है, तथापि वह सर्वथा अनावृत नहीं, क्योंकि 'साक्षिचैतन्यमस्ति', 'साक्षिचैतन्यं भाति'—इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता, अतः इस व्यवहार का प्रतिबन्धकीभूत साक्षिचैतन्यविषयक अज्ञान भी मानना आवश्यक है, अज्ञान के विषय-निरूपण में इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला जायगा ।

(३) साध्य का तृतीय (स्वनिवर्त्य) विशेषण वृत्ति-प्रतिबन्धक अदृष्ट में अर्थान्तरता का निवारक है, [क्योंकि 'स्वनिवर्त्य'—इस विशेषण का ग्रहण न करने पर 'स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्'—इतना ही साध्य शेष रहता है, जिससे प्रमा वृत्ति के प्रतिबन्धक अदृष्ट का भी ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि वह अदृष्ट प्रागभाव से भिन्न है, प्रमा के विषय का आवरण, प्रमा-देशगत तथा जन्य भ्रम से अतिरिक्त वस्त्वन्तर है । इस प्रकार अज्ञान-सिद्धि के लिए प्रयुक्त अनुमान प्रमा के प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट की सिद्धि से गतार्थ हो जाता है] ।

शङ्का—चरम साक्षात्काररूप प्रमा का प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट चरम साक्षात्कार से निवृत्त होता है ? या नहीं ? यदि निवृत्त नहीं होता, तब उसमें मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा और यदि वह भी चरम साक्षात्कार के द्वारा निवर्तनीय माना जाता है, तब अर्थान्तरता-प्रसक्ति का व्युदास कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त तृतीय विशेषण से भी उसकी व्यावृत्ति नहीं होती ।

समाधान—प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट के रहने पर चरम साक्षात्कार कभी भी उत्पन्न नहीं होता, किसी प्रायश्चित्तादि कारणान्तर से उस अदृष्ट की निवृत्ति हो जाने पर ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः उक्त प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट चरम साक्षात्कार से निवर्तनीय नहीं होता, अपि तु चरम साक्षात्कार की उत्पत्ति से प्रथम (पूर्व) ही उस की प्रायश्चित्तादि से निवृत्ति माननी होगी । प्रायश्चित्तादि से स्थूलरूपेण निवृत्त होकर भी वह अदृष्ट कारणात्मना (सूक्ष्मरूप से) अवस्थित रहता है, वही सूक्ष्म रूप चरम साक्षात्कार के द्वारा निवर्तनीय होता है, अतः उस अदृष्ट में मिथ्यात्व भी सिद्ध हो जाता है [विगत पृ० ३८ पर कहा जा चुका है कि जन्य वस्तु की स्थिति दो प्रकार की

न्यायामृतम्

चतुर्थं चायुक्तम् । अज्ञानस्य बिम्बमात्राश्रितत्वाद् वृत्तेः तत्प्रतिबिम्बितचैतन्यस्य वा

अद्वैतसिद्धिः

वर्त्यत्वमव्याहतम्, स्वनिवर्त्यस्वरूपत्वे तात्पर्यात् । अन्धकारेणार्थान्तरवारणार्थमिदमिति—केचित् । तन्न, स्वदेशगतेत्यनेनैव तद्व्युदासात् । यथा च वृत्तिप्रतिबिम्बतचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्येन सहैकलोलीभावादज्ञाननिवर्तकत्वं, तथोक्तं प्राक् । स्वदेशगतेति च विशेषणं विषयगताज्ञातत्वेनार्थान्तरवाणाय । यद्यप्यविद्याविषयत्वरूपमज्ञातत्वमसिद्धम्, ज्ञातत्वाभावरूपं तु प्रथमविशेषणेनैव परास्तम्, तथापि प्रथमेन प्रागभावव्युदासादत्यन्ताभावव्युदासाय चतुर्थमिति द्रष्टव्यम् ।

ननु—कथं ज्ञानाश्रयगतत्वमज्ञानस्य ? वृत्त्यादिरूपस्य ज्ञानस्याज्ञानाश्रयचिदना-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होती है—(१) कार्यरूपेण और (२) कारणरूपेण । मुद्गरपात से घटादि का कार्यरूपेण ध्वंस हो जाने पर भी कारणतमना अवस्थान बना रहता है, उसकी निवृत्ति तत्त्वप्रमा से ही होती है, अतः मिथ्यात्व का पर्यवसित अर्थ होता है—'ज्ञानप्रयुक्तावस्थिति ऽामान्यविरहप्रतियोगित्वम् ।' इसी के अनुसार चरम साक्षात्कार की प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट का प्रायश्चित्तादि से केवल ध्वंस होता है, अत्यन्त निवृत्ति नहीं, उसकी कारणरूपेण अवस्थिति का अभाव चरम साक्षात्कार से हो होता है] । यदि उक्त अदृष्ट में स्वनिवर्त्यत्व भी है, तब 'स्वनिवर्त्य' पद रखने पर भी उस अदृष्ट की व्यावृत्ति नहीं होती, उस को लेकर अर्थान्तरता बनी ही रहती है, अतः 'स्वनिवर्त्य' पद व्यर्थ क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहां 'स्वनिवर्त्य' पद से साध्य की स्वरूपतः निवृत्ति विवक्षित है, उक्त अदृष्ट की स्वरूपतः निवृत्ति प्रायश्चित्तादि से होती है, चरम साक्षात्कार से नहीं, क्योंकि प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट के स्वरूपतः बने रहने पर चरम साक्षात्कार उत्पन्न ही नहीं हो सकता, वह उस अदृष्ट को निवृत्त ही कैसे कर सकेगा ? किन्तु चरम साक्षात्कार से अनादि अज्ञान की स्वरूपतः ही निवृत्ति होती है, अतः अनादि अज्ञान में ही साध्य के सभी विशेषण घटते हैं, अन्यत्र नहीं कि अर्थान्तरता का सन्देह हो सके ।

यह जो किसी का कहना था कि अन्धकार में प्रसक्त अर्थान्तरता हटाने के लिए 'स्वनिवर्त्य' विशेषण रखा गया है, क्योंकि इस विशेषण के न होने पर अन्धकार पदार्थ भी स्वप्रागभाव से व्यतिरिक्त एवं स्वविषयावरणरूप होने के कारण गृहीत हो जाता था । वह कहना उचित नहीं, क्योंकि 'स्वदेशगत'—इस चतुर्थ विशेषण से ही अन्धकार की व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि प्रमा के अन्तःकरणादि रूप देश में अन्धकार नहीं रहता अपितु प्रमा के विषयीभूत घटादि के देश में स्थित होता है ।

[यह जो न्यायामृतकार ने कहा है कि घटाकार वृत्ति अथवा उस वृत्ति में प्रतिबिम्बत चैतन्य के द्वारा अभिव्यक्त विषय-चैतन्य ही घट का प्रकाशक ज्ञान माना जाता है, घट-प्रकाशक ज्ञान घटविषयक अज्ञान का निवर्तक नहीं होता, अपि तु घटाकार वृत्ति ही आवरण-निवर्तक मानी जाती है, उसे घट-प्रकाशक ज्ञान नहीं कहा जाता । वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि] घटाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य विषयावच्छिन्न चैतन्य के साथ एकलोलीभावापन्न होकर अज्ञान का निवर्तक होता है—यह विगत पृ० ३७३ पर कहा जा चुका है ।

न्यायामृतम्

तदभिव्यक्ताधिष्ठानचैतन्यस्य वा प्रमाणज्ञानस्य तदनाश्रितत्वात् । त्वन्मतेऽपि विषयस्थाज्ञानस्यैवावरणत्वाच्च । अज्ञातत्वस्य तद्विषयकज्ञानाभावरूपत्वे आद्यविशेषेणैव व्यावृत्तिसिद्धेरविद्याविषयत्वरूपत्वे चाऽविद्यासिद्धया चतुर्थवैयर्थ्याच्च । किं च स्वविषयावरणपूर्वकमित्येतावतैवालम्, अन्यद् व्यर्थम्, न हि प्रमाप्रागभावः प्रमोत्पत्तिप्रतिबन्धकादृष्टं वा अज्ञानातिरिक्तमन्यत्किंचिद्वा आवरणम् । तथा त्वेतेनैव स्वप्रकाशब्रह्मावरणसम्भवेन हेतोरप्रयोजकत्वापातात् । न च तमोव्युदासाय तृतीयम्, तस्य प्रमामात्रविषयावरणत्वाभावात् । न च व्यापकविशेषणानामुद्देश्यप्रतीत्यर्थत्वाद्वैयर्थ्यमिति वाच्यम्, यत्राविशेषितं साध्यं प्रति हेतोरप्रयोजकता विमतं भिन्नाभिन्नम्, समानाधिकृतत्वादित्यादौ, तत्रैव विशिष्टप्रतीतेरुद्देश्यत्वात् । अन्यथा अतिप्रसंगात्, नीलधूमकरणिका वह्निप्रमोद्देश्येत्यपि सुवचत्वेन हेतावपि व्यर्थविशेषणत्वस्यादोष-

अद्वैतसिद्धिः

श्रितत्वादिति चेन्न; अन्तःकरणस्य चिदाश्रितत्वेन तद्वृत्तेस्तत्प्रतिफलितचैतन्यस्य वा ज्ञानस्य चिदाश्रितत्वसंभवात्, किंचिदवच्छिन्नतदाश्रितस्यापि तदाश्रितत्वानपायात्, कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशाश्रितस्य शब्दस्याकाशाश्रितत्ववत् । एवं च भावाभावसाधारणमावरणमिति मतेन साध्यमुपपादितम् । अभावो नावारक इति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(४) साध्य का 'स्वदेशगत'—यह चतुर्थ विशेषण विषयगत अज्ञातत्व को लेकर प्रसक्त अर्थान्तरता की निवृत्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है । अर्थात् कोई भी विषय ज्ञान होने से पूर्व अज्ञात होता है, अतः विषयगत 'अज्ञातत्व' धर्म प्रमा के प्रागभाव से भिन्न, विषय का आवरण एवं प्रमा से निवर्त्य होने के कारण गृहीत हो जाता है, अतः अज्ञान-साधक अनुमान विषयगत अज्ञातत्व को लेकर गतार्थ हो जाता है । उस की निवृत्ति 'स्वदेशगत'—इस विशेषण से ही होती है, क्योंकि वह 'अज्ञातत्व' धर्म विषयगत होता है, प्रमा-देशगत नहीं । यद्यपि इस अनुमान से पूर्व अज्ञान या अविद्या अप्रसिद्ध होने के कारण अज्ञान-विषयत्वरूप अज्ञातत्व भी अप्रसिद्ध है, अतः उसकी व्यावृत्ति के लिए किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं एवं ज्ञान-प्रागभाव या ज्ञातत्वाभावरूप अज्ञातत्व की व्यावृत्ति प्रथम (स्वप्रागभावव्यतिरिक्त) विशेषण से हो जाती है, उसके लिए भी इस चतुर्थ विशेषण की आवश्यकता नहीं । तथापि प्रथम विशेषण से प्रागभाव की ही निवृत्ति होती है ज्ञातत्वादि के अत्यन्ताभाव की निवृत्ति के लिए यह चतुर्थ विशेषण सार्थक होता है ।

शङ्का—साध्यत्वेन अधिगत अज्ञान में प्रमा-देशगतत्व सम्भव नहीं, क्योंकि वृत्ति अथवा वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्यरूप ज्ञान अज्ञान के आश्रयीभूत शुद्ध चैतन्य देश में नहीं रहता [अर्थात् प्रमा वृत्ति, या वृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप ज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन के ही आश्रित है और अज्ञान अनवच्छिन्न चेतन के आश्रित, अतः दोनों एक आश्रय के आश्रित नहीं हैं] ।

समाधान—अन्तःकरणादि पदार्थ सावच्छिन्न चैतन्य में ही रहते हैं, अनवच्छिन्न चैतन्य में नहीं—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जैसे आकाश के एक कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न देश में वर्तमान शब्द का सामान्यतः आकाश को आश्रय माना जाता है, वैसे ही अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के आश्रित प्रमा ज्ञान सामान्य या निरवच्छिन्न चैतन्य के

न्यायामृतम्

त्वापाताच्च ।

हेतौ च प्रकाशकत्वं ज्ञानत्वं वा ? ज्ञानहेतुत्वं वा ? साक्षात् परंपरया व्यवहार-हेतुत्वमात्रं वा ? तमोनिवर्तकत्वं वा ? आवरणनिवर्तकत्वं वा ? अज्ञानान्धकारान्यतरनिवर्तकत्वं वा ? प्रकाशकशब्दवाच्यत्वमात्रं वा ? नाद्यः, दृष्टान्ते अभावात् । न द्वितीयः, असिद्धेरिन्द्रियादौ व्यभिचाराच्च । अत एव न तृतीयः । न चतुर्थः, अज्ञानान्धकारानुगततमस्त्वाभावात्, साध्यावैशिष्ट्याच्च । अत एव न पंचमः, कुद्दालादौ

अद्वैतसिद्धिः

सिद्धान्ते तु साध्यद्वये तात्पर्यम्—स्वप्रागभावातिरिक्तस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तर पूर्वकमित्येकम् । स्वविषयावरण (स्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तर) पूर्वकमित्यपरमिति न किंचिदसमञ्जसम् ।

हेतौ च प्रकाशकत्वं प्रकाशकपदवाच्यत्वं, अप्रकाशविरोधित्वं वा ज्ञानालोकयोः साधारणम् । यद्यपि प्रकाशकपदवाच्यत्वं नामकरणवशात् कस्मिंश्चित् पुरुषेऽप्यस्ति; तथापि प्रकाशकशब्देन शास्त्रे सर्वदेशकालयोर्वा व्यवह्रियमाणत्वं तद्विवक्षितम् । अथवास्तु साधारणम् । अप्रकाशितार्थगोचरेति विशेषणाद् व्यभिचार-व्युदासः ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

आश्रित है और वही अज्ञान का आश्रय है, अतः दोनों की समानदेशता निश्चित है ।

यद्यपि अभाव पदार्थ आवरण नहीं हो सकता, अत एव अन्धकार और अज्ञान को भावरूप सिद्ध किया जाता है, तथापि भावाभाव-साधारण आवरणरूपता को मानकर साध्य का उपन्यास विवरणकार ने किया और यहाँ तक उसी का उपपादन किया गया है । तथापि भाव ही आवरक होता है, अभाव नहीं इस प्रकार के मुख्य वेदान्त-सिद्धान्त में दो प्रकार के साध्य विवक्षित हैं—(१) 'स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्'—यह एक और (२) 'स्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्'—यह द्वितीय साध्य-प्रकार है [प्रथम साध्य में स्वविषयावरण—इस द्वितीय तथा द्वितीय में 'स्वप्रागभाव'—इस प्रथम विशेषण का परित्याग कर दिया गया है]। अतः साध्य के सभी विशेषण सार्थक एवं अज्ञान की सिद्धि करने में सक्षम हैं ।

'अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्'—इस हेतु में जो न्यायामृतकार ने अननुगमादि दोष दिये हैं—''पक्षदृष्टान्तानुगतं प्रकाशत्वं न विद्यते । शब्दसाम्येन चेत्पृथिव्या गोत्वाच्छृङ्गं समापतेत् ॥'' वे संगत नहीं, क्योंकि प्रकाशकपद-वाचयत्व या अप्रकाशविरोधित्व को प्रकाशत्व मान कर उन सभी दोषों का निराकरण किया जा सकता है, क्योंकि प्रदीपादि आलोक भी प्रकाश-पद-वाच्य एवं अप्रकाश-विरोधी है और प्रमा ज्ञान भी । यद्यपि 'प्रकाशकपदवाच्यत्वं प्रकाशकत्वम्'—ऐसा कहने पर उस व्यक्ति में व्यभिचार होता है, जिसका पिता ने 'प्रकाशक' नामकरण किया है, क्योंकि उसमें प्रकाशक पद-वाच्यत्व के रहने पर भी अभिमत वस्त्वन्तरपूर्वकत्वरूप साध्य नहीं रहता । तथापि यहाँ वह प्रकाशपदार्थ विवक्षित है, जो कि शास्त्रों में अथवा सभी देशों में अनादि काल से 'प्रकाशक' पद के द्वारा व्यवहृत होता आया है, वह व्यक्ति वैसा नहीं, क्योंकि वह सादि है, अनादि एवं सार्वदेशिक व्यवहार का विषय नहीं हो सकता । अथवा प्रकाशक का 'अप्रकाशितार्थविषयक' विशेषण जोड़ देने से उक्त व्यभिचार का निरास हो जाता है, क्योंकि वह 'प्रकाशक' नाम का व्यक्ति अप्रकाशितार्थविषयक प्रकाश नहीं ।

न्यायामृतम्

व्यभिचाराच्च । न षष्ठः, साध्यावैशिष्ट्यादेव । न सप्तमः, शब्दसाम्येनैकसाध्यसाधने पृथिव्यादेरपि गोत्वेन शृंगित्वसाधनापातात् । उक्तं च विवरणे—ज्ञानप्रकाश्यत्वादज्ञानविरोधिनोऽन्यदेवालोकप्रकाश्यत्वं तमोविरोधित्वं नामेति । एवं च—

पक्षदृष्टान्तानुगतं प्रकाशत्वं न विद्यते ।
शब्दसाम्येन चेत्पृथ्व्या गोत्वाच्छृंगं समापतेत् ॥

अद्वैतसिद्धिः

अप्रकाशितत्वं च 'न प्रकाशत' इति व्यवहारगोचरत्वम्, तच्च स्वप्रकाशचैतन्येऽप्यस्तीत्युपपादितम् । एवं निरुक्ताप्रकाशविरोधित्वमपि ज्ञानालोकयोः प्रत्यक्षसिद्धम् । उक्तं च विवरणे—'ज्ञानप्रकाश्यत्वादज्ञानविरोधित्वादन्यदेव आलोकप्रकाश्यत्वं तमोविरोधित्वं नामेति । अत उभयोरेव साक्षादप्रकाशविरोधित्वसंभवाचेन्द्रियसन्निकर्षादौ व्यभिचारः । एवं चाप्रकाशितार्थगोचरत्वे सति प्रकाशशब्दवाच्यत्वाद् अप्रकाशविरोधिप्रकाशत्वादिति वा हेतुः पर्यवसितः । विपर्ययविषयस्तु नाज्ञातः, विपर्ययान्यकालासत्त्वेन तस्यानिर्वचनीयस्य मानगोचरत्वाभावेन प्रकाशप्राक्कालसत्त्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'अप्रकाशितत्व' पद से यहाँ 'न प्रकाशते'—इस प्रकार का व्यवहार-विषयत्व विवक्षित है । अप्रकाशितार्थ-प्रकाशकत्व लौकिक आलोक से लेकर स्वप्रकाश चैतन्य तक विद्यमान है—यह कह चुके हैं, एवं उक्त अप्रकाशविरोधित्व भी ज्ञान और आलोक—दोनों में प्रत्यक्षतः सिद्ध है । विवरणकार ने कहा है—"ज्ञानप्रकाश्यत्वादज्ञानविरोधित्वादन्यदेव आलोकप्रकाश्यत्वं तमोविरोधित्वं नाम" (पं० वि० पृ० २४६) । अर्थात् प्रमा ज्ञानगत अज्ञान-विरोधित्व और आलोक में तमोविरोधित्व—दो अत्यन्त भिन्न धर्म हैं, अतः ज्ञानरूप पक्ष और आलोकरूप दृष्टान्त में एक प्रकार का अप्रकाशितार्थ-प्रकाशकत्वरूप हेतु अनुगत नहीं, अपितु विजातीय है, अतः इसे सद्धेतु क्योंकर कहा जा सकता है ? इस शङ्का का समाधान यह है कि दोनों प्रकाशरूपताओं का अन्तर होने पर भी अप्रकाश-विरोधित्वरूप प्रकाशत्व उभय-साधारण है, अतः यही विवरण-सम्मत प्रकाशकत्व है ।

'अप्रकाश-विरोधित्व' पद से यहां साक्षादप्रकाशविरोधित्व विवक्षित है, अन्यथा इन्द्रिय और इन्द्रिय-सन्निकर्षादि में व्यभिचार हो जाता, क्योंकि इन्द्रिय-सन्निकर्षजन्य ज्ञान अप्रकाश का विरोधी होता है, अतः उसके द्वारा इन्द्रिय और इन्द्रिय-सन्निकर्ष में भी परम्परया अप्रकाश-विरोधित्व सुलभ है, किन्तु वहाँ विवक्षित वस्त्वन्तरपूर्वत्वरूप साध्य नहीं रहता, इस प्रकार के व्यभिचार की निवृत्ति 'साक्षात्' पद से हो जाती है, क्योंकि इन्द्रियादि साक्षात् अप्रकाश के विरोधी नहीं होते, अपितु अप्रकाशविरोधी ज्ञानोत्पादकत्वेन परम्परया, अतः वहाँ हेतु नहीं रह सकता कि व्यभिचारी हो जाय । इस प्रकार 'अप्रकाशितार्थविषयकत्वे सति प्रकाशशब्दवाच्यत्वाद्' अथवा 'अप्रकाशविरोधिप्रकाशत्वात्'—यह हेतु उक्त अनुमान में पर्यवसित होना है । [सभी ज्ञान अप्रकाशित अर्थ के प्रकाशक एवं प्रकाशपद-वाच्य होते हैं, अतः शुक्ति-रजतादि भ्रम ज्ञान में भी अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्व तथा प्रकाशपदवाच्यत्वरूप हेतु रहता है, किन्तु वस्त्वन्तरपूर्वकत्व नहीं, अतः उक्त प्रथम हेतु व्यभिचारी क्यों नहीं ? इस शङ्का का समाधान यह है कि] रजत-भ्रमादिरूप विपर्यय का विषयीभूत प्रातिभासिक रजत

न्यायामृतम्

किं च प्रमाणस्य च ब्रह्मज्ञानस्य चिदन्याप्रकाशकत्वात् स्वप्रकाशचितश्चाध्यासाधिष्ठानत्वादिना सदाप्रकाशमानत्वेनाप्रकाशितत्वाभावात्, तत्र हेतोरसिद्धिः, किं चास्या अनुमितेरप्रकाशितप्रकाशित्वाभावे प्रकाशितप्रकाशकत्वं वा, अप्रकाशकत्वं वा स्यादुभयथाऽप्यनुतिमिर्व्यर्था। तत्प्रकाशकत्वे चात्रैव बाधो व्यभिचारो वा, अस्याः स्व-

अद्वैतसिद्धिः

घटिताप्रकाशितत्वासंभवाद्, अत एव स नाप्रकाशविरोधो, स्वविषये अप्रकाशाभावाद्, अधिष्ठानाप्रकाशस्तु तस्य जनक एव। स्मरणे च व्यभिचाराभावः स्पष्टः। अनुकूलतर्कश्च 'त्वदुक्तमर्थं न जानामीति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यादिरूपः प्रागुक्त एव। एतेन गोशब्दवाच्यत्वेन पृथिव्या अपि शृङ्गित्वानुमानापातोऽपास्तः, तत्रानुकूलतर्काभावात्। अज्ञानस्य स्वरूपेणाज्ञानाविषयत्वेऽपि तद्भावत्वादिकमज्ञानविषयो भवत्येव, तस्याज्ञानग्राहकसाक्ष्यग्राह्यत्वात्। अन्यथा तत्र विवादो न स्यात्। एवं प्रमाया स्वविषयावरणाभावपूर्वकत्वमपि न प्रमास्वरूपग्राहकसाक्षिग्राह्यम्। तथा च तद्ग्राहिकाया एतस्या अनुमितेः साध्यसाधनोभयाधिकरणत्वात् न कोऽपि दोषः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अज्ञात कभी नहीं होता, क्योंकि भ्रम ज्ञान और उसका रजतादि विषय एक ही अज्ञान रूप उपादान के उपादेय होने के कारण एक साथ ही उत्पन्न होते हैं और एक साथ ही नष्ट होते हैं, अतः रजतादि विषय भ्रम-काल से भिन्न काल में न रहने के कारण ज्ञात एवं अनिर्वचनीय माना जाता है, अत एव अविद्या-वृत्तिरूप विपर्यय का ही विषय होता है, अन्तःकरण-जन्य प्रमाण वृत्ति का विषय नहीं होता, प्रकाशप्राक्कालसत्त्वरूप अज्ञातत्व उसमें सम्भव नहीं, फलतः उक्त हेतु वहाँ व्यभिचारी नहीं होता। विपर्यय ज्ञान अज्ञातविषयक न होने के कारण अप्रकाश का विरोधी भी नहीं होता, अपितु अज्ञातविषयक प्रमारूप ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी होता है। यद्यपि विपर्यय में शुक्त्यादि अधिष्ठान के इदन्त्वादि सामान्य अंश का भान होता है, तथापि वह विपर्यय का विरोधी नहीं, अपितु जनक ही होता है। स्मरण ज्ञान भी गृहीत विषय का ही ग्राहक होता है, अगृहीत का नहीं, अतः स्मरण में उक्त हेतु के व्यभिचार का अभाव अत्यन्त स्पष्ट है। फिर भी हेतु में व्यभिचार-शङ्का यदि हो तो उसका परिहार करने के लिए वही पूर्वोक्त अनुकूल तर्क है—यदि भावरूपमज्ञानं न स्यात्, तदा त्वदुक्तमर्थं न जानामि—इति साक्षिरूपा प्रतीतिर्न स्यात्। इस प्रकार का अनुकूल तर्क न होने के कारण पृथिवी में शृङ्गित्व का अनुमान नहीं किया जा सकता।

[यह जो न्यायामृतकार ने आक्षेप किया है कि इस अज्ञानानुमिति का विषयीभूत अज्ञान साक्षिभास्य होने के कारण कभी भी अज्ञात नहीं, अतः इस अनुमिति में अज्ञातार्थ-ज्ञापकत्व न होने के कारण बाध या व्यभिचार दोष है, अर्थात् यदि उक्त अनुमिति पक्ष के अन्तर्गत है, तब आंशिक बाध और यदि पक्ष-बहिर्भूत है, तब व्यभिचार की प्रसक्ति होती है। उस आक्षेप का समाधान यह है कि] यद्यपि अज्ञान स्वरूपतः अज्ञात नहीं, तथापि भावत्व, ज्ञानविरोधित्वादिरूप से ज्ञात (साक्षि-भास्य) न होने के कारण अज्ञात है, अतः उक्त अज्ञानानुमिति में स्वनिवर्त्यज्ञानपूर्वकत्व का बाध नहीं होता। यदि अज्ञान का भावत्वादिरूप से अज्ञान न माना जाय, तब द्वैतवादियों का अज्ञान की भावरूपता में विवाद नहीं होना चाहिए। जैसे अज्ञान स्वरूपतः साक्षि-ग्राह्य होता है, वैसे ही प्रमा भी स्वरूपतः साक्षी के द्वारा गृहीत होती है, किन्तु

न्यायामृतम्

विषयावरणानिवर्तकत्वात्। न ह्यज्ञानावरणमज्ञानमस्ति। दृष्टान्तेऽपि द्वितीयादिप्रभाया: अन्धकारानुत्पन्नत्वेन प्रथमपदं व्यर्थम्। दृष्टिसृष्टिपक्षे दृष्टान्ते उभयवैकल्यं च। अनादित्वे सति भावत्वमभावविलक्षणत्वं वा न निवर्त्यनिष्ठमनादिमात्रवृत्तित्वात्। अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वाद्वा, आत्मत्ववत्। निवर्त्यत्वं वा नानादिभावनिष्ठं नानाद्यभावविलक्षणनिष्ठं वा, निवर्त्यमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्। प्रमाणज्ञानं वा

अद्वैतसिद्धिः

दृष्टान्ते चान्धकाराव्यवहितोत्पत्तिकत्वं विशेषणम्। तेन न प्रथमपदवैयर्थ्यं न वा द्वितीयादिप्रभायां साध्यसाधनवैकल्यम् विस्तरेण चान्यत्र व्युत्पादितमिदमस्माभिः।

ननु—अनादित्वे सति भावत्वमभावविलक्षणत्वं वा, न निवर्त्यनिष्ठम्, अनादिभावमात्रवृत्तिधर्मत्वाद्, अनाद्यभाव विलणमात्रवृत्तित्वाद्वा, आत्मत्ववत्। निवर्त्यत्वं वा, नानादिभावनिष्ठम्, अनाद्यभावविलक्षणनिष्ठं नेति वा, निवर्त्यमात्रवृत्तित्वात्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रमा में स्वविषयावरणभावरूपाज्ञानपूर्वकत्व प्रमा-स्वरूप-ग्राहक साक्षी के द्वारा गृहीत नहीं होता, अत: इस अज्ञान-ग्राहक अनुमिति में साध्य और साधन—दोनों के रहने से कोई दोष प्रसक्त नहीं होता।

उक्त अज्ञान-साधक अनुमान-प्रयोग में 'अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत्—इस दृष्टान्त का 'अन्धकाराव्यवहितोत्पत्तिकत्वार्थक प्रथम (अन्धकारे प्रथमोत्पन्न) विशेषण अन्धकार व्यवहितोत्पत्तिक प्रदीप प्रभा में प्रसक्त साध्य और साधन—दोनों के वकल्प दोष का परिहार करने के लिए रखा गया है, अर्थात् प्रदीप-प्रभा की उत्पत्ति का प्राथम्यमात्र बोधन करने के लिए उक्त प्रथम दल नहीं रखा गया, अपितु अन्धकाराव्यवहितोत्पत्तिकत्व का बोध कराने के लिए प्रयुक्त हुआ है, अत: व्यर्थ नहीं। सिद्धान्तबिन्दु आदि ग्रन्थों में इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

शङ्का—उक्त अज्ञान-साधक अनुमान के प्रतिपक्षी अनुमानों का प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है—(१-२) अनादित्वे सति भावत्वम्, अभावविलक्षणत्वं वा, न निवर्त्यनिष्ठम्, अनादिभावमात्रवृत्तिधर्मत्वाद् अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वाद् वा आत्मत्ववत् [अर्थात् अनादि भावरूप या अभाव-विलक्षण अज्ञान किसी प्रमा के द्वारा निवर्तनीय नहीं होता, क्योंकि अनादि भाव या अभाव-भिन्न है, जैसे आत्मा। आत्मा के समान ही सभी 'अनादि भाव पदार्थ नित्य होते हैं, उनकी निवृत्ति सम्भव नहीं, अत: अज्ञान को यदि अनादि भाव पदार्थ माना जाता है, तब उसकी प्रमा-निवर्त्यत्वेन सिद्धि कदापि नहीं हो सकती, यहाँ अनादि भावभूत अज्ञान को पक्ष बनाने पर धर्मि-ग्राहक प्रमाण के द्वारा बाधादि दोषों का उद्भावन हो सकता था, अत: 'अनादित्व-विशिष्ट भावत्व' धर्म को पक्ष बनाया गया है। हेतु में 'भाव' पद न रखने पर 'प्रागभावत्व' में व्यभिचार हो जाता, क्योंकि 'प्रागभावत्व' धर्म प्रतियोगिनिवर्त्यनिष्ठ ही होता है, उससे भिन्न नहीं, किन्तु अनादिपदार्थवृत्तित्व प्रागभावत्व में भी है, अत: 'भाव' विशेषण से उसकी व्यावृत्ति की गई है। घटत्वादि में व्यभिचार-वारणार्थ अनादित्व विशेषण, प्रमेयत्वादि में व्यभिचार न हो, अत: 'मात्र' पद रखा गया]। (३-४) निवर्त्यत्वं वा न अनादि भावनिष्ठम्, अनाद्यभावविलक्षणनिष्ठं नेति वा, निवर्त्यमात्रवृत्तित्वाद् वा प्रागभावत्ववत् [भेद-निर्देश में प्रतियोगी को अनुयोगी और अनुयोगी को प्रतियोगी बना देने

न्यायामृतम्

अभावान्यानाद्यनिवर्तकम्, ज्ञानत्वात् भ्रमवदित्यादिना सत्प्रतिपक्षता च। पूर्वं कृत्यभावमात्रेणाकृतस्य कृतिवत् स्मृत्यभावमात्रेणास्मृतस्य स्मृतिवच्च पूर्वं प्रकाशा-

अद्वैतसिद्धिः

प्रागभावत्ववत्। अनादित्वं वा, नावरणनिष्ठम्, अनादिमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्। प्रमाणज्ञानं वा अनाद्यभावान्यानाद्यनिवर्तकम्, ज्ञानत्वाद्, भ्रमवदित्यादिना सत्प्रति-पक्षता, कृत्यभावमात्रेणाकृतस्य कृतिवत् पूर्वप्रकाशाभावमात्रेणाप्रकाशितस्य प्रकाशो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पर कोई अन्तर नहीं पड़ता, जैसे 'घटः पटो न और पटो घटो न—ऐसा कहा जा सकता 'है, वैसे ही अनादिभाववृत्तिः निवर्त्यनिष्ठो न, निवर्त्यनिष्ठोऽनादिभाव-वृत्तिर्न—इस प्रकार उभयथा कहा जा सकता है, उसी के अनुसार यह द्वितीय प्रयोग किया गया है। यदि निवर्त्यमात्रवृत्ति प्रागभावत्वादि धर्म अनादिभाववृत्ति नहीं हो सकते, तब 'प्रमा-निवर्त्यत्व' धर्म भी अनादिभावरूप अज्ञान में नहीं रह सकता, अतः प्रमा-निवर्त्यत्वेन अज्ञान की सिद्धि प्रतिरुद्ध हो जाती है]। (३) अनादित्वं वा नावरणनिष्ठम्, अनादिमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत् ['अनादित्व' धर्म यदि आवरण-वृत्ति नहीं होता, तब अज्ञानावरण को अनादि नहीं कहा जा सकता और उसे सादि मानने पर वस्त्वन्तर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सर्व-सम्मत सादि भ्रम वस्तु से भिन्न होने के कारण ही अनादि अज्ञान को वस्त्वन्तर कहा जाता है, वस्त्वन्तरपूर्वकत्व प्रमा में सिद्ध कर अज्ञान की सिद्धि पर्यवसित होती है, किन्तु अज्ञान में अनादित्व धर्म के सिद्ध न होने पर अनादि भावरूप से अज्ञान की सिद्धि अवरुद्ध हो जाती है। स्थापना-नुमान के साक्षात् या परम्परया विरोधी अर्थ के साधक अनुमान को प्रतिपक्षी अनुमान कहा जा सकता है]। (६) प्रमाणज्ञानं वा अनाद्यभावान्यानाद्यनिर्वकम्, ज्ञानत्वाद्, भ्रमवत् [सिद्धान्ती की ओर से प्रमा ज्ञान में स्वप्रागभावव्यतिरिक्त स्वनिवर्त्यानादि-भावपूर्वकत्व की जो प्रतिज्ञा की गई, उसके प्रतिरोध में पूर्वपक्षी प्रमाज्ञान में अनादि-भावानिवर्तकत्व की प्रतिज्ञा करता है। भाव पदार्थ को 'अभावान्य' पद से अभिहित किया गया है, क्योंकि अज्ञान की भावरूपता में विवाद करनेवाला पूर्ववादी 'भाव' पद से कभी उसका उल्लेख नहीं कर सकता। इस अनुमान में भ्रम ज्ञान को दृष्टान्त बनाया गया है, भ्रम ज्ञान में अपने प्रागभाव से भिन्न अनादि अभावान्य वस्तु की अनिवर्तकता निश्चित है—ज्ञान-सामान्य की इस सामान्य मर्यादा का अतिक्रमण ज्ञान-विशेष (प्रमा ज्ञान) भी नहीं कर सकता]।

उक्त अज्ञान-साधक अनुमान केवल सत्प्रतिपक्षित ही नहीं, अप्रयोजकत्व दोष से भी युक्त है, क्योंकि जैसे 'अकृतं (अनिष्पादितं घटादि) करोति'—इस व्यवहार में 'अकृत घट' पद से घटविषयक कृति के अभाव की ही उपस्थिति कराई जाती है, किसी अनादि भावरूप अकृति पदार्थ की कल्पना नहीं की जाती, वैसे ही 'अज्ञातं घटं जानाति'—इस व्यवहार में भी 'अज्ञात' पद से घटविषयक ज्ञानाभाव का ही अभिधान हो सकता है, किसी भावरूप अनादि अज्ञान की कल्पना आवश्यक नहीं, अन्यथा अनादि अज्ञान के समान ही अनादि अकृति, अस्मृति, अगति, अप्राप्ति आदि पदार्थों की अनिष्ट कल्पना करनी पड़ेगी। फलतः कथित अज्ञान-साधक अनुमान ज्ञानाभाव की सिद्धि से गतार्थ हो जाता है, उससे अतिरिक्त भावरूप अज्ञान की

न्यायामृतम्

भावमात्रेणाप्रकाशितस्य प्रकाशोपपत्तेरप्रयोजकत्वं च। किं च घटादिविषय आलोकप्रकाशस्तमोविरोधीति तन्निवर्तकोऽस्तु। ज्ञानप्रकाशस्तु नाज्ञानविरोधी, घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्याज्ञानाविरोधित्वाद्, वृत्तेस्त्वनधिष्ठानत्वेन तज्ज्ञानत्वाभावात्। त्वन्मते हि ज्ञानज्ञेययोराध्यासिकस्सम्बन्धः।

अद्वैतसिद्धिः

पपत्तेरप्रयोजकत्वं चेति—चेन्न, अनुकूलतर्काभावेनाप्रयोजकत्वात्, सिद्धान्तिहेतोश्चानुकूलतर्कसद्भावेन साध्यव्याप्यत्वे निश्चिते सत्प्रतिपक्षाप्रयोजकत्वादीनामनवकाशात्। अनादिभावत्वस्य निवर्त्यावृत्तित्वेऽप्यविद्याया भावविलक्षणाया निवर्त्यत्वोपपत्तेराद्यानुमानेनाविरोधश्च। द्वितीये त्वनाश्रितमात्रवृत्तित्वमुपाधिः। तृतीयचतुर्थयोः सकलनिवर्त्यावृत्तित्वमुपधिः। पञ्चमे सकलानाद्यवृत्तित्वमुपाधिः। षष्ठे प्रतियोग्यप्रसिद्धया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

साधनता में कोई अनुकूल तर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

समाधान—उक्त सभी प्रतिपक्षभूत अनुमान-प्रयोग अनुकूल तर्क से रहित होने के कारण अप्रयोजक हैं, किन्तु अज्ञान-साधक अनुमान में अनुकूल तर्क निश्चित है, अतः निर्बल विरोधी अनुमानों के द्वारा सबल स्थापनानुमानों का सत्प्रतिपक्ष-प्रदर्शन संभव नहीं होता। प्रकृत अनुमान में अनुकूल तर्क विगत पृ० ५४३ पर प्रस्तुत कर चुके हैं। उक्त प्रतिपक्षभूत अनुमान-प्रयोगों में (१) प्रथम (अनादित्वे सति भावत्वं न निवर्त्यनिष्ठम्, अनादिभावमात्रवृत्तित्वाद् आत्मत्ववत्) अनुमान कभी भी प्रकृत अज्ञान-साधक अनुमान का प्रतिरोध नहीं कर सकता, क्योंकि अनादिभावत्व धर्म में निवर्त्यवृत्तिता सिद्ध की जाती है, उसे उक्त अज्ञान या अविद्या में नहीं माना जाता है, अज्ञान भावभाव से अतिरिक्त अनादि अनिर्वचनीय माना जाता है—यह कह चुके है, अतः अज्ञान में प्रमा ज्ञान की निवर्त्यता अबाधित रहती है। (२) द्वितीय प्रयोग (अनादित्वे सति अभावविलक्षणत्वम्, न निवर्त्यनिष्ठम्, अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वाद्, आत्मत्ववत्) में अनाश्रितमात्रवृत्तित्व' उपाधि है [आत्मा किसी के आश्रित नहीं, अनाश्रित माना जाता है, अतः आत्मत्वरूप दृष्टान्त में अनाश्रितमात्रवृत्तित्व रहने से साध्य का व्यापक है एवं घटाश्रित घटत्वादि जातियों में भी अनाद्याभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वरूप साधन के रहने पर भी अनाश्रितमात्रवृत्तित्व नहीं रहता, अतः साधन का अव्यापक है। साध्य के व्यापक तथा साधन के अव्यापक धर्म को उपाधि माना जाता है—यह कई वार कहा जा चुका है। सोपाधिक हेतु साध्य-साधन में समर्थ नहीं, असमर्थ हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्ष-प्रयोग नहीं हो सकता]। (३-४) तृतीय (निवर्त्यत्वम्, न अनाद्यभावनिष्ठम्, निवर्त्यमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्) और चतुर्थ (निवर्त्यत्वम्, अनाद्यभावविलक्षणनिष्ठं न, निवर्त्यमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्) प्रयोग में सकलनिवर्त्यवृत्तित्व' धर्म उपाधि है [दृष्टान्तभूत प्रागभात्व धर्म सकल घटादि निवर्त्य पदार्थों में नहीं रहता, अतः सकल निवर्त्यावृत्तित्व साध्य का व्यापक तथा पक्षभूत सकल निवर्त्यवृत्तिरूप निवर्त्यत्व में न रहने के कारण साधन का अव्यापक है]। (५) पञ्चम (अनादित्वम्, नावरणनिष्ठम्, अनादिमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्) प्रयोग में 'सकलानाद्यवृत्तित्व' उपाधि है, क्योंकि दृष्टान्तरूप प्रागभावत्व में सकल घटत्वादि अनादि पदार्थ-वृत्तित्व नहीं रहता और अनादित्वरूप पक्ष में सकलानादि-

न्यायामृतम्

द्वितीयानुमानेऽप्युक्तरीत्या सुखादिप्रमासु बाधः। किं च साध्ये चैत्रगतत्वं किं प्रमातत्प्रागभावयोरन्यतरविशेषणम् ? तदतिरिक्तानादेर्वा ? नाद्यः, वृत्तेस्तत्प्रतिबिम्बतचैतन्यस्य वाधिष्ठानचैतन्यस्य वा प्रमाया आत्मगतत्वाभावात्, प्रमाप्रागभावस्य च प्रतियोगिसामानाधिकरण्यात्। न द्वितीयः, दृष्टान्ते साध्याभावात्। मैत्रप्रमायाः स्वसमानाधिकरणं स्वप्रागभावमज्ञानं च प्रति निवर्तकत्वेऽपि चैत्रगतानाद्य-

अद्वैतसिद्धिः

साध्याप्रसिद्धिरिति च दूषणानि।

तत्त्वप्रदीपिकोक्तं च—चैत्रप्रमा, चैत्रगतप्रमाप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका, प्रमात्वान्मैत्रप्रमावत्। विगीतो विभ्रमः, एतज्जनकावाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात्, संमतवदिति। अत्राद्ये सुखादिज्ञानेषु न बाधः, अन्तःकरणवृत्तेरेव प्रमापदेनोक्तेः। चैत्रगतत्वं च नानादेर्विशेषणम्, मैत्रप्रमायाश्चैत्रनिष्ठानादिनिवर्तकत्वाभावेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वृत्तित्व ही है, सकलानाद्यवृत्तित्व नहीं, अतः उक्त धर्म साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक होने से उपाधि कहा जाता है]। (६) पग्र (प्रमाणज्ञानम् अनाद्यभावान्यानाद्यनिवर्तकम्, ज्ञानत्वाद्, भ्रमवत्) अनुमान में साध्य के प्रतियोगीभूत अनाद्यभावान्यानादिनिवर्तकत्व अप्रसिद्ध होने के कारण साध्यरूप विशेषण की प्रसिद्धि दोष है, क्योंकि माध्वमत के अनुसार अनाद्यभावान्यानादिनिवर्तकत्व कहीं प्रसिद्ध नहीं और अप्रसिद्धप्रतियोगिक अभाव अद्वैत वेदान्त में प्रसिद्ध नहीं है]।

तत्त्वप्रदीपिका-कथित अज्ञान-साधक अनुमान इस प्रकार हैं—(१) "चैत्रप्रमा चैत्रगत प्रमाप्रागभावातिरिक्तानादिनिर्वतिका, प्रमात्वात्, मैत्रप्रमावत्। (२) विगीतो विभ्रमः एतज्जनकावाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात्, सम्मतवत्" [प्रथम अनुमान में चैत्रगत प्रमा ज्ञान को पक्ष बनाया गया है। दृष्टान्तभूत मैत्रगत प्रमा में चैत्रीयप्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त मैत्रगत प्रमा-प्रागभावरूप अनादि पदार्थ की निवर्तकता प्रसिद्ध है। उसके आधार पर चैत्र-प्रमारूप पक्ष में भी चैतगतप्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त किसी अनादि पदार्थ की निवर्तकता माननी पड़ती है, उसकी उपपत्ति तभी हो सकती है, जब कि अज्ञानरूप अनादि भाव पदार्थ माना जाय। इसी प्रकार द्वैतवाद में द्वितीय प्रयोग-घटक पक्षभूत एक पुरुष के भ्रम और दृष्टान्तरूप अन्यदीय भ्रम का उपादान कारण एक ही आत्मा नहीं माना जाता, किन्तु भिन्न-भिन्न आत्मा अवाध्य वस्तु होता है, अतः पक्षरूप भ्रम के जनक आत्मरूप अवाध्य तत्त्व से भिन्न अन्यपुरुपीयात्मोपादानकत्व दृष्टान्त में प्रसिद्ध है, किन्तु पक्ष में आत्मरूप अबाध्य से अतिरिक्त अज्ञान का मानना आवश्यक है, जिसकी उपादेयता भ्रम में बन सकती है]। इन अनुमानों में प्रथम अनुमान सुखादि-ज्ञानों में बाधित नहीं होता, क्योंकि अन्तःकरण की वृत्ति को ही 'प्रमा' पद से अभिहित किया जाता है, साक्षी को नहीं। साक्षी ज्ञान में अज्ञाननिवर्तकत्व न होने पर भी अबाधितविषयकत्व रहने के कारण प्रमात्व बन जाता है—यह कह चुके हैं। 'चैत्रगतत्व'—यह अनादि का विशेषण नहीं, क्योंकि मैत्रीय प्रमा में चैत्रनिष्ठ अनादि पदार्थ की निवर्तकता न होने के कारण दृष्टान्त में साध्य-वैकल्य की आपत्ति होती है, अतः प्रमा और उसके प्रागभाव में से अन्यतर का निशेषण चैत्रगतत्व माना जाता है। प्रमा में आत्मगतत्व का उपपादन पहले पृ० ५४० पर किया जा चुका

न्यायामृतम्

निवर्तकत्वात्। साध्ये प्रमापदवैयर्थ्यं च। चैत्रप्रमा चैत्रगतस्याभावातिरिक्तस्यानादेः निवर्तिका न, प्रमात्वान्मैत्रप्रमावदिति प्रकरणसमता च। न चात्रोपाध्याभाससाम्ये

अद्वैतसिद्धिः

दृष्टान्ते साध्यवैकल्यापातात्, किंतु प्रमातदभावयोरन्यतरस्य। प्रमायाश्चात्मगतत्वं प्राग्व्याख्यातम्। साध्ये तु प्रमापदमुपरञ्जकमेव। यदि त्वभावे प्रागिति विशेषणं नास्ति, तदा भावरूपाज्ञानस्यापि स्वाभावाभावत्वेन तदतिरिक्तानादिनिवर्तकत्वे बाधवारणाय। चैत्रासमवेतत्वं चैत्रान्यसमवेतत्वं च नोपाधिः, चैत्रसुखादौ व्यभिचारेण साध्याव्यापकत्वात्।

न च चैत्रप्रमा चैत्रगतस्याभावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका न, प्रमात्वात्, मैत्रप्रमादिवदिति सत्प्रतिपक्षः, प्रतियोगिप्रसद्ध्यप्रसिद्धिभ्यां व्याहतेः। चैत्रगतप्रमाभा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है। साध्य-घटक 'प्रमा' पद साध्य का उपरञ्जक माना जाता है, व्यावर्तक विशेषण के समान ही उपरञ्जक विशेषण भी सार्थक होता है—यह पहले कहा जा चुका है। यदि अभाव का 'प्राग्'—यह विशेषण नहीं रखा जाता, तब भावरूप अज्ञान भी स्वाभावाभावरूप होने के कारण अभावात्मक है, पक्षभूत प्रमा ज्ञान में अभावातिरिक्त अनादि-निवर्तकत्वरूप साध्य का बाध हो जाता है, अत 'प्राग्' विशेषण बाध दोष का निवारक है। चित्सुखीय अज्ञान-साधक प्रथम अनुमान में चैत्रसमवेतत्व या चैत्रान्या-समवेतत्व को उपाधि के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, क्योंकि उक्त दोनों धर्म चैत्रीय सुखादि में व्यभिचरित होने के कारण साध्य के व्यापक नहीं होते—यह चित्सुखी पृ० ९८ पर कहा गया है।

शङ्का—उक्त चित्सुखीय अज्ञान-साधक अनुमान का प्रतिपक्ष प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है—'चैत्रप्रमा, चैत्रगतस्य अभावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका न, प्रमात्वात्, मैत्रप्रमावत्।' [स्थापनानुमान में जो प्रागभावातिरिक्त अनादि अज्ञान की निवर्तकतारूप साध्य था, उसका अभाव इस प्रतिपक्षानुमान में साध्य है, अतः यह अनुमान स्थापनानुमान का बाधक या प्रतिपक्ष कहा जाता है]।

समाधान—प्रतिपक्ष-प्रयोग में जो निवर्तकत्वाभाव साध्य है, उसका प्रतियोगी है—चैत्रगत अभावातिरिक्त अनादि पदार्थ-निवर्तकत्व। इस प्रतियोगी की कहीं प्रसिद्धि न होने पर तद्घटित साध्य की भी अप्रसिद्धि हो जाती है, अप्रसिद्ध साध्य की सिद्धि किसी भी अनुमान से नहीं की जा सकती, अतः उक्त प्रतियोगी की कहीं-न-कहीं प्रसिद्धि अवश्य माननी होगी, वह प्रतियोगी यदि पक्ष में ही माना जाय, तब उसके अभाव का अनुमान वहाँ कैसे होगा ? पक्ष से भिन्न स्थल पर तो उक्त प्रतियोगी की प्रसिद्धि सम्भावित ही नहीं, क्योंकि चैत्रगत अज्ञानादि की निवर्तकता चैत्रीय प्रमा से अतिरिक्त प्रमा में कभी हो नहीं सकती। इस प्रकार साध्य-घटक प्रतियोगी की प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि के द्वारा प्रतिरोधी अनुमान व्याहत होने के कारण प्रकृत अनुमान का विरोधी नहीं हो सकता। 'चैत्रगत प्रमा-प्रागभावातिरिक्त अभाव-निवर्तकत्व' धर्म भी प्रकृत अनुमान में उपाधि नहीं बन सकता, क्योंकि उपाधि-लक्षण-घटक साधना-व्यापकता इस धर्म में नहीं, प्रत्युत चैत्रगत प्रमा-प्रागभाव से अतिरिक्त स्वजन्य व्यवहार-प्रागभाव की निवर्तकता होने के कारण उक्त धर्म साधन का व्यापक ही होता

न्यायामृतम्

शंक्ये । उक्तसाध्यानंगीकारे गौरवेण लाघवतर्कानुग्रहाच्चैत्रगतप्रमाभावातिरिक्तभाव-निवर्तकत्वं समव्याप्तोपाधिश्च व्यतिरेकोपसंहारस्थलं च प्रागभावः। चैत्रप्रमा स्वप्राग-भावातिरिक्ताभावनिवर्तिका, प्रमात्वान्मैत्रप्रमावत् । घटः चैत्रेच्छा वा चैत्रप्रमा वा स्वप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका, घटत्वाद् इच्छात्वाद्वा अप्रमात्वाद्वा घटान्तरवत् मैत्रेच्छावद्वा मैत्रप्रमावद्वेत्याद्याभाससाम्यं च ।

किं चैवं विशिष्टव्यतिरेकिणः चैत्रप्रमा चैत्रनिष्ठत्वे सति चैत्रप्रमाभावातिरिक्ता-नादिनिवर्तकत्वानधिकरणम् , प्रमात्वान्मैत्रप्रमावदिति साध्याभावेऽपि सुवचत्वात् स्वव्याघातः । न चात्रोपाधिः शंक्यः, अयमुपाधिः एतदुपाधित्वे सति सध्याव्याप-कत्वानधिकरणम् , धर्मत्वादित्यादिना विशिष्टव्यतिरेकिणैव साध्याव्यापकत्वादेः सुसाधत्वात् । अत एव तृतीयानुमानं निरस्तम् । किं च भ्रान्तेस्तद्विषयस्य वा पक्षत्वे द्वितीयलक्षणभंगरीत्या बाधः । विगीतो भ्रमः, एतज्जनकबाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात् संमतवदिति प्रकरणसमता च । एतेन विमता अनित्यप्रमा स्वाभावाति-

अद्वैतसिद्धिः

वातिरिक्ताभावनिवर्तकत्वं तु नोपाधिः, चैत्रगतप्रमाभावातिरिक्तस्य स्वजन्यव्यवहार-प्रागभावस्य निवर्तकतया पक्षे साधनव्यापकत्वात् । विपक्षबाधकसत्त्वाच्च नाभास-साम्यम् । अत एव द्वितीयानुमानमपि सम्यक् । न च—विगीतो विभ्रमः, एतज्ज्ञानज-नकवाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात् , संमतवदिति सत्प्रतिपक्ष इति—वाच्यम् , बाध्यस्य त्वन्मतेऽजनकत्वात् , साध्याप्रसिद्धेः, ब्रह्माविद्योभयोपादानकत्वेनाविरोधाच्च ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है । 'प्रमा यदि स्वप्रागभावातिरिक्तानाद्यभावविलक्षणस्य निवर्तिका न स्यात्, तर्हि प्रमैव न स्यात्'—इत्यादि विपक्ष-बाधक तर्कों से सनाथ होने के कारण प्रकृत अनुमान में अनुमानाभास का साम्य भी उद्भावित नहीं हो सकता ।

अत एव चित्सुखाचार्य का द्वितीय अनुमान-प्रयोग (विगीतो विभ्रमः एतज्जनका बाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात्, सम्मतवत्) भी निर्दुष्ट कहा जा सकता है ।

शङ्का—उक्त अनुमान का सत्प्रतिपक्ष प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है—'विगीतो विभ्रमः एतज्जनकबाध्यातिरिक्तोपादानकः विभ्रमत्वात्, सम्मतवत्' [यदि विमत विभ्रम स्वजनक बाध्यभूत अज्ञान से भिन्न उपादान का उपादेय है, तब वह अज्ञानोपादानक कभी नहीं हो सकता, अतः अज्ञानोपादानकत्व-साधक प्रोक्त चित्सुखीय अनुमान प्रयोग व्याहत ही कहा जायगा] ।

समाधान—माध्व मत में बाध्य पदार्थ सदैव असत् होता है, असत् में किसी कार्य की जनकता नहीं मानी जाती, अतः प्रतिपक्ष-प्रयोग-घटक एतज्जनक बाध्य पदार्थ ही अप्रसिद्ध है, अतः एतज्जनकबाध्यातिरिक्तोपादानकत्वरूप साध्य भी अप्रसिद्ध है, अप्रसिद्धसाध्यक अनुमान-प्रयोग सर्वथा असंगत और असमर्थ माना जाता है । दूसरी बात यह भी है कि एतज्जनक बाध्यभूत जन्य अज्ञान से भिन्न अनादि अविद्या और ब्रह्म की उपादेयता को लेकर सिद्ध-साधनता दोष भी है, क्योंकि अविद्या समस्त प्रपञ्च का परिणामी उपादान तथा ब्रह्म विवर्तोपादान माना जाता है ।

मध्य वेदान्ताचार्यों के अविद्या-साधक अनुमान-प्रयोग इस प्रकार हैं—

न्यायामृतम्

रिक्तस्वविरोधिनिवर्तिका, प्रमात्वाद् भ्रमोत्तरप्रमावत्। ज्ञानत्वं स्वविषयावरणनिवर्तकनिष्ठं, प्रकाशवृत्तित्वादालोकत्ववत्। अनित्यज्ञानमभावत्वानधिकरणस्वविरोधिसमानाधिकरणं प्रयत्नान्यत्वे सत्यनित्यत्वे सति सविषयकत्वादनित्येच्छावत्। इच्छा

अद्वैतसिद्धिः

नव्यास्तु विमता प्रमा, प्रमाभावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका, कार्यत्वाद्, घटवद्। भ्रमानुत्तरप्रमा, स्वाभावातिरिक्तस्वविरोधिनिवर्तिका, प्रमात्वात्, भ्रमोत्तरप्रमावत्। ज्ञानत्वं, स्वविषयावरणनिवर्तकनिष्ठम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशवृत्तित्वाद्, आलोकत्ववत्। अनित्यज्ञानम्, अभावत्वानधिकरणस्वविरोधिसमानाधिकरणम्, प्रयत्नान्यत्वे सति सविषयत्वे सत्यनित्यत्वाद्, अनित्येच्छावत्। सा हि तादृग्द्वेष-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(१) विमता प्रमा प्रमाभावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका, कार्यत्वाद घटवत्' [घटरूप दृष्टान्त में प्रमा-प्रागभाव से अतिरिक्त घट-प्रागभावरूप अनादि पदार्थ की निवर्तकता भी है और कार्यत्व हेतु भी, अतः उसके आधार पर अनित्य प्रमारूप पक्ष में प्रसाधित प्रमाभावातिरिक्तानादि-निवर्तकत्व की उपपत्ति तभी होगी, जब कि भावरूप अनादि-अज्ञान को मान लिया जाय]।

(२) 'भ्रमानुत्तर-प्रमा, स्वाभावातिरिक्तस्वविरोधिनिवर्तिका, प्रमात्वात्, भ्रमोत्तरप्रमावत्' [इस अनुमान में भ्रमोत्तरभावी प्रमा से भिन्न प्रमा को पक्ष बनाया गया है, भ्रमोत्तरभावी, प्रमा को नहीं, क्योंकि भ्रमोत्तरभावी 'इयं शुक्तिः'—इत्यादि प्रमा में स्वविरोधी 'इदं रजतम्'—इत्यादि भ्रम की निवर्तकता सर्वमत-सिद्ध है, अतः सिद्धसाधनता से बचने के लिए भ्रमानुत्तर प्रमा को पक्ष बनाया गया है। साध्य में 'स्वप्रागभावारिक्त'—यह विशेषण न होने पर स्वकीय प्रागभावरूप विरोधी पदार्थ की निवर्तकता को लेकर साध्य पर्यवसित हो जाता है, अभीष्ट अविद्या की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः स्वाभावातिरिक्त कहा गया है। दृष्टान्तभूत इयं शुक्तिः'—इत्यादि प्रमा में प्रमात्व हेतु तथा स्वाभावातिरिक्तस्वविरोधी रजत-भ्रम की निवर्तकता—दोनों सर्वमत-सिद्ध हैं, अतः पक्षभूत भ्रमानुत्तर प्रमा में भी स्वाभावातिरिक्तस्वविरोधी पदार्थ की जो निवर्तकता सिद्ध होती है, उसका सामञ्जस्य तभी हो सकता है, जब कि अविद्यारूप प्रमा-विरोधी पदार्थ को माना जाय]।

(३) 'ज्ञानत्वम् स्वविषयावरणनिवर्तकनिष्ठम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशवृत्तित्वाद्, आलोकत्ववत्' [दृष्टान्तभूत आलोकत्व में स्वविषयीभूत घटादि के आवरक अन्धकार की निवर्तकता, तथा अप्रकाशितार्थ-प्रकाशरूप आलोक की वृत्तिता भी है, अतः पक्षरूप ज्ञानत्व में भी व्याप्य हेतु के द्वारा स्वविषयावरण-निवर्तकवृत्तित्व सिद्ध होता है, किन्तु उसमें अन्धकार-निवर्तकत्व सम्भव नहीं, अतः प्रमा-विषयीभूत घटादि को विषय करने वाले भावरूप अज्ञान की सिद्धि होती है]।

(४) अनित्यज्ञानम्, अभावत्वानिधिकरणस्वविरोधिसमानाधिकरणम्, प्रयत्नान्यत्वे सति सविषयत्वे सति अनित्यत्वाद्, अनित्येच्छावत् [अनित्य इच्छारूप दृष्टान्त मे प्रयत्नान्यत्व सविषयत्व तथा अनित्यत्व सिद्ध है। इसी प्रकार उस में अभावत्वानधिकरणीभूत द्वेषादिरूप स्वविरोधी पदार्थ का सामानाधिकरण्यरूप साध्य भी निश्चित है, अतः प्रकृत हेतु में प्रकृत साध्य की व्याप्ति गृहीत होती है। व्याप्य हेतु से

न्यायामृतम्

हि स्वविरोधिद्वेषसमानाधिकरणाज्ञानविरोधी एवं चाज्ञानमित्यादिनवीनानुमानं निरस्तम्, अप्रयोजकत्वाद्यनिस्तारात्। अविद्यानुमानभंगः।

अद्वैतसिद्धिः

समानाधिकरणा। न चैतेषु अप्रयोजकत्वशङ्का, विपक्षबाधकतर्कस्योक्तत्वात्। एवमन्यदप्यूहनीयम्। ज्ञानविरोधित्वं, अनादिभावत्वसमानाधिकरणम्, सकलज्ञानविरोधिवृत्तित्वाद्, दृश्यत्ववत्। यद्वा— अनाद्यभावविलक्षणत्वम्, ज्ञानविरोधिवृत्ति, अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वाद्, अभिधेयत्ववदिति। एवमभावविलक्षणाज्ञाने अनुमानान्यूहनीयानि॥

इत्यद्वैतसिद्धावविद्यानुमानोपपत्तिः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अपने आधारभूत अनित्य ज्ञान में भी जिस साध्य की सिद्धि होती है, उसकी उपपत्ति के लिए अभावत्वानधिकरणीभूत भावरूप अज्ञान मानना अनिवार्य है। प्रयत्न में व्यभिचार निवारणार्थं हेतु का 'प्रयत्नान्यत्व' विशेषण दिया गया]। इन अनुमानों में जो न्यायामृतकार के द्वारा अप्रयोजकत्व की आशङ्का उठाई गई है, वह उचित नहीं, क्योंकि विपक्ष-बाधक तक विगत पृ० ५४३ पर दिखा चुके हैं। इसी प्रकार अज्ञान की सिद्धि के लिए अन्य प्रयोगों की ऊहा की जा सकती है—(१) 'ज्ञानविरोधित्वम्, अनादिभावत्वसमानाधिकरणम्, सकलज्ञानविरोधिवृत्तित्वाद्, दृश्यत्ववत्' अथवा 'अनाद्यभावविलक्षणत्वम्, ज्ञानविरोधिवृत्ति, अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वाद्, अभिधेयत्ववत्' [प्रथम अनुमान के दृश्यत्वरूप दृष्टान्त में ज्ञान-विरोधीभूत सकल अज्ञान तत्प्रयुक्त दृश्य की वृत्तिता निश्चित है तथा अनादि भावरूप अविद्या-चैतन्य-सम्बन्धादि पदार्थों में दृश्यत्व अनादिभावत्व-सामानाधिकरण भी है, अतः हेतु में साध्य-सामानाधिकरण्य रूप व्याप्ति सिद्ध हो जाती है, व्याप्य हेतु के बल पर ज्ञानविरोधित्वरूप पक्ष में प्रसाधित अनादिभावत्वसामानाधिकरण्य तभी पर्यवसित होगा, जब कि कोई अनादिभावरूप ज्ञान-विरोधी तत्त्व माना जाय, ऐसा तत्त्व अज्ञान या अविद्या ही है। द्वितीय अनुमान में 'अभिधेयत्व' धर्म को दृष्टान्त बनाया गया है। वैशेषिकगण अभिधेयत्वादि धर्मों को केवलान्वयी मानते हैं, किन्तु अद्वैतवेदान्ती वैसा नहीं मानते, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में अभिधेयत्वादि सकल धर्मों का अभाव माना जाता है, अतः सकल अनादि अभाव विलक्षण-वृत्तित्व रूप हेतु दृश्यत्व में सुलभ है। अभिधेयत्व सर्वत्र रहता है, अतः ज्ञान-विरोधी पदार्थ में भी उसका रहना निश्चित है। दृष्टान्त में हेतु और साध्य का सामानाधिकरण्य देखकर व्याप्ति का निश्चय हो जाना स्वाभाविक है। अनाद्यभावविलक्षणत्व रूप पक्ष में व्याप्य हेतु के द्वारा संसाधित ज्ञानविरोधित्व रूप साध्य का पर्यवसान अज्ञान-सिद्धि के बिना नहीं हो सकता]। इसी ऊहा मार्ग पर अग्रसर होकर अविद्या-साधक अन्य अनुमानों की कल्पना की जा सकती है।

: ५७ :

अज्ञाने श्रुतिप्रमाणविचारः

न्यायामृतम्

"अनृतेन हि प्रत्यूढा" इत्यत्रानृतशब्दो दुष्कर्मपरः। परिणामिप्रधानपरो वा। ऋतं पिबन्ता "वित्यादौ सत्कर्मणि ऋतशब्ददर्शनात्। ऋतं सत्यं तथा धर्म" इति स्मृतेश्च। अनृतं परिणामत" इति स्मृतेश्च। अज्ञानाविद्यानीहारादिशब्दा अपि प्रकृतिपराः। न

अद्वैतसिद्धिः

एवं श्रुतयश्च। तत्र छान्दोग्ये अष्टमाध्याये—"तद्यथापि हिरण्यं निधिनिहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन प्रत्यूढा" इति श्रुतिर्ब्रह्मज्ञानप्रतिबन्धकत्वेनानृतं ब्रुवाणा तादृगज्ञाने प्रमाणम्। न च—ऋतशब्दस्य 'ऋतं पिबन्ता'वित्यत्र सत्कर्मणि प्रयोगदर्शनाद् 'ऋतं सत्यं तथा धर्म' इति स्मृतेश्च ऋतशब्दस्य सत्कर्मपरत्वादनृतशब्दस्य दुष्कर्मपरत्वमिति—वाच्यम्, उत्तरत्र 'य आत्मापहतपाप्मे'त्यादिना आत्मनोऽपहतपाप्मत्वप्रतिपादनेन दुष्कर्मप्रत्यूढत्वविरोधात्, सुपुप्तौ कर्ममात्रनाशे दुष्कर्मणोऽप्यभावात्, कारणात्मनावस्थाने चाज्ञानस्यावश्यकत्वात्, कर्मण आवरणत्वानुपपत्तेश्च।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

साक्षिप्रत्यक्ष तथा कथित अनुमानों के समान अज्ञान में श्रुति-वाक्य भी प्रमाण हैं, उनमें "तद्यथापि हिरण्यं निधिनिहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन प्रत्यूढाः (छां० ८।३।२) यह छान्दोग्य उपनिषत् के अष्टम अध्याय में परिपठित श्रुति ब्रह्म-ज्ञान के प्रनिबन्धकीभूत अनृत तत्त्व का प्रतिपादन करती हुई भावरूप अज्ञान में स्पष्ट प्रमाण है ['अनृतेन प्रत्यूढाः'—इस वाक्य के 'अनृत' और 'प्रत्यूढ़' पदों के द्वारा जिस घोर अन्धकाररूप आवरण तत्त्व की उपस्थिति कराई गई है, वही अविद्या वस्तु है। उसी की यह महिमा है कि जैसे भूमि में गड़े हुए सुवर्ण-भण्डार के ऊपर-ऊपर चलते-फिरते हुए भी अबोध प्राणी उसे प्राप्त नहीं कर पाते, वैसे ही प्रतिदिन सुषुप्ति काल में जीवगण ब्रह्म के साथ एकीभूत होकर भी अपनी ब्रह्मरूपता का लाभ नहीं कर पाते। ऐसा अनृत तत्त्व अविद्या को छोड़कर अन्य पदार्थ नहीं हो सकता, अतः उक्त श्रुति का अज्ञान में प्रमाण माना जाना अत्यन्त आवश्यक है]।

शङ्का—"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके" (कठो० १।६।२) इत्यादि वाक्यों तथा "ऋतं सत्यं तथा धर्मः"—इत्यादि स्मृति-वाक्यों में 'ऋत' शब्द के द्वारा मिथ्या ज्ञान का अभिधान न कर सत्कर्म या पुण्य का प्रतिपादन ही किया गया है, अतः 'अनृत' पद से ऋत-विरुद्ध पाप कर्म का ही प्रतिपादन होना चाहिए। इस प्रकार 'अनृतेन प्रत्यूढाः' का 'पापकर्मणा प्रतिबद्धाः'—यही अर्थ करना उचित है।

समाधान—"अनृतेन प्रत्यूढाः" (छां० ८।३।२) इस श्रुति के अनन्तर पठित "य आत्मापहतपाप्मा" (छां० ८।७।१) इस श्रुति-वाक्य के द्वारा आत्मा में पापकर्म का अभाव प्रतिपादित है, अतः सुषुप्ति काल में ब्रह्मरूपता के स्फुरण न होने का कारण पाप कर्म नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानावरण ही है, अतः अनृतेन प्रत्यूढाः का अर्थ पाप-प्रतिबद्धा न करके अज्ञानावृता ही करना होगा। सुषुप्ति काल में समस्त कर्मों का स्वरूपतः नाश हो जाने के कारण पाप कर्म का भी अभाव मानना होगा। पापकर्म की

न्यायामृतम्

च सा मिथ्या, तम आसीत्", "गौरनाद्यंतवती नित्या सततविक्रिये"त्यादि श्रुतिभिस्सत्यत्वान्नित्यत्वाच्च । न चास्याः श्रुतेः अपूर्वपारमार्थिकसत्त्वपरत्वसम्भवे व्यावहारिकसत्त्वपरत्वं वा असद्वैलक्षण्यपरत्वं वा युक्तम् । मायाशब्दोऽपि क्वचित्प्रकृतिपरः, क्वचिच्च विचित्रेश्वरशक्त्यादिपरः, "त्रिगुणात्मके" त्यादिस्मृतेः । "विश्वमायानिवृत्ति"रित्यादौ निवृत्तिस्तरणमेव, "मायामेतां तरंति ते" इति स्मृतेः । न ह्यज्ञानं

अद्वैतसिद्धिः

ब्रह्मवेदनप्रतिबन्धकतया ह्यनादिब्रह्मावरकं ज्ञाननिवर्त्यं वाच्यम् । तथा च कर्मेव प्रधानमपि नानृतपदाभिधेयम्, तयोर्ज्ञानानिवर्त्यत्वात् । ज्ञाननिवर्त्यत्वे च 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रित्यादिश्रुतिर्मानम् । न च—अत्र निवृत्तिस्तरणमात्रम्, 'मायामेतां तरन्ति ते' इति स्मृतेरिति—वाच्यम्, ज्ञानहेतुकतरणस्य निवृत्त्यतिरिक्तस्यासम्भवेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कारणरूपेण अवस्थिति के लिए कर्म के कारणीभूत अज्ञान का होना परम आवश्यक है। दूसरी बात यह भी है कि कर्म में आवरकत्व सम्भव नहीं कि कर्मावरण को ब्रह्मरूपता के भान का प्रतिबन्धक मान लेते, विवरणकार का भी यही कहना है—"न च कर्माणि स्वाश्रयावभासविरोधीनीति प्रमाणमस्ति, संस्कारत्वाच्च कर्मणां भ्रान्तिसंस्कारवदप्रतिबन्धकता, तस्मात् सुषुप्तौ स्वरूपानवभासव्यवहारोऽग्रहणमिथ्याज्ञानतत्संस्कारकर्मभ्योऽन्यदेव किञ्चित्प्रतिबन्धकमज्ञानं कल्पयतीत्यर्थः" (पं० वि०पृ० १०७) अतः ब्रह्मरूपता के वेदन (अवभास) की प्रतिबन्धकता उस अज्ञान में ही कहनी होगी, जो कि ज्ञान के द्वारा साक्षात् निवर्तनीय है। कर्म ज्ञान के द्वारा साक्षात् निवर्तनीय नहीं होता, अतः न कर्म में आवरकत्व बन सकता है और न प्रधान (प्रकृति) में, क्योंकि प्रधान तत्त्व भी कर्म के समान ही ज्ञान के द्वारा साक्षात् निवर्तनीय नहीं होता। अज्ञान की ज्ञान-निवर्त्यता में "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" (श्वेता० १।१०) यह श्रुति प्रमाण है, क्योंकि 'माया' शब्द का अर्थ अज्ञान है, अज्ञान असत्त्वापादक और अभानापादक के भेद से दो प्रकार का होता है, उन समस्त प्रकारों को सूचित किया गया है—'विश्वमयानिवृत्तिः' अर्थात् सर्वविध अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है।

शङ्का—'विश्वमायानिवृत्तिः'—इस श्रुति में निवृत्ति का अर्थ सन्तरण (पार गमन) है, नाश नहीं, क्योंकि "मायामेतां तरन्ति ते" (गी० ७।१४) इस वाक्य में भगवान् ने माया का सन्तरण ही कहा है, नाश नहीं। किसी के सन्तरण से नदी का नाश नहीं होता, अतः उक्त श्रुति-वाक्य के द्वारा माया में ज्ञान की निवर्त्यता (विनाश्यता) का प्रतिपादन नहीं हो सकता।

समाधान—[यद्यपि 'सरितं तरति प्लवेन' के समान ही 'तमस्तरति ज्योतिषा इत्यादि व्यवहारों में भी सन्तरण का उल्लेख होता है, तथापि दोनों व्यवहारों में सन्तरण एक प्रकार का नहीं होता, पहले व्यवहार में तरण का पार-गमन और दूसरे व्यवहार में तरण का अर्थ नाश ही होता है, क्योंकि ज्योति जगने पर अन्धकार का बना रहना सम्भव नहीं, ठीक उसी प्रकार] ज्ञान का उदय होने पर अज्ञान अवस्थित नहीं रह सकता, अतः 'ज्ञानेन मायां तरति'—में भी 'ज्ञानेन मायां निवर्तयति या नाशयति' अर्थ ही अभिप्रेत होता है, अतः यहाँ निवृत्ति और तरति—दोनों पदों का नाश मात्र अर्थ होता है।

न्यायामृतम्

मायाशब्दार्थः, मायिनो ब्रह्मणोऽज्ञानित्वे सर्वज्ञत्वनिरवद्यत्वादिश्रुतिविरोधात् । मायाशब्दस्य मय ज्ञान इतिधातुजत्वाच्च । वेदनिघण्टौ माया वयुनं ज्ञानमिति पाठाच्च ।

अद्वैतसिद्धिः

उभयोर्नाशमात्रार्थत्वात् । न च—'तम आसी'दित्यस्य सत्त्वप्रतिपादकस्य बाधकं विना पारमार्थिकसत्त्वपरत्वेन कथमावरणस्यानृतत्वमिति -वाच्यम्, 'नासदासीन्नो-सदासी'दित्यनेन पारमार्थिकत्वतुच्छत्वयोर्निषेधेन व्यावहारिकसत्त्वपरत्वात् । न च—अनेन माया प्रतिपाद्यते । मायाशब्दार्थश्च नाज्ञानम्, मायिनो ब्रह्मणोऽज्ञानित्वे सर्वज्ञत्वनिरवद्यत्वादिश्रुतिविरोधादिति—वाच्यम्, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेनेश्वरा-सार्वज्ञ्याद्यापादनायोगात्, सार्वज्ञ्याद्यैश्वर्यस्य मायानिबन्धनत्वाच्च । न च --'मय ज्ञान'-इतिधात्वर्थानुसारात् माया कथमज्ञानमिति--वाच्यम्, 'एवमेवैषा माया स्वाव्यति-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—ऊपर जो अज्ञान को अनृत, या मिथ्या, असत् कहा गया, वह संगत नहीं, क्योंकि 'तम आसीत्' (ऋक् १०।११।१२९) यह ऋचा तम (अज्ञान) की जिस सत्ता का प्रतिपादन कर रही है, अज्ञान की वह सत्ता पारमार्थिक सत्ता कही जा सकती है, क्योंकि उसका कोई बाधक उपलब्ध नहीं, अतः परमार्थ सत् माया तत्त्व को मिथ्या नहीं कहा जा सकता ।

समाधान--"नासदासीन्नो सदासीत्" (ऋ० १०।११।१२९) इस श्रुति के द्वारा माया में पारमार्थिकत्व और तुच्छत्व दोनों का निषेध किया गया है, अतः माया की व्यवहारिक सत्ता में श्रुतियों का तात्पर्य निश्चित होता है ।

शङ्का—उक्त श्रुति-वाक्य के द्वारा माया का प्रतिपादन किया जाता है, अज्ञान का नहीं, क्योंकि 'माया' शब्द का अज्ञान अर्थ नहीं होता । 'माया' शब्द का अज्ञान अर्थ करने पर "मायिनं तु महेश्वरम्"—इस श्रुति से प्रतिपादित परमेश्वर को अज्ञानी कहना होगा । ईश्वर यदि अज्ञानी है, तब "यः सर्वज्ञः सर्ववित्"-- इत्यादि श्रुतियों में ईश्वर की सर्वज्ञतादि का अभिधान विरुद्ध पड़ जाता है, अतः माया को अज्ञान से भिन्न ही मानना होगा ।

समाधान—जीवभाव की उपाधि माया है, मायागत चैतन्य के प्रतिबिम्ब को जीव कहा जाता है और उसका बिम्ब ईश्वर है । उपाधि सदैव प्रतिम्बि को प्रभावित करती है, बिम्ब को नहीं, अतः माया-प्रयुक्त असर्वज्ञत्वादि धर्म जीव में प्राप्त होते हैं, ईश्वर में उन धर्मों का आपादन नहीं हो सकता, प्रत्युत ईश्वर में सर्वज्ञतादि ऐश्वर्य एक मात्र माया की देन है [माया या अज्ञान के स्वरूप में कोई अन्तर न होने पर भी जीव और ईश्वर के साथ उसके सम्बन्धों में अन्तर है—जीव के साथ सामानाधिकरण्य और ईश्वर के साथ आध्यासिक सम्बन्ध है, सम्बन्ध-वैचित्र्य के कारण जीव और ईश्वर में उसके प्रभाव विलक्षण हैं—जीव में असर्वज्ञतादि और ईश्वर में सर्वज्ञत्वादि] ।

शङ्का—'माया' शब्द का अज्ञान अर्थ कभी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानार्थक 'मय गतौ' धातु में निष्पन्न (मय + अण् + आप्) माया शब्द का शक्यार्थ ज्ञप्ति या ज्ञान है, जो कि अज्ञान का विरोधी है । अतः 'माया' शब्द अज्ञानार्थक नहीं हो सकता है ?

समाधान--"एवमेवैष माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा

न्यायामृतम्

मायाविशब्दस्य विचित्रशक्तियुक्त इवाज्ञानिन्यप्रयोगाच्च। योगमायां समादिशद्" इति भागवते, ऋते मायां त्रिशालाक्षीम्" इति रामायणे च चेतने, जलं संस्तभ्य मायया"- इति भारते जलस्तंभनशक्तौ च प्रयोगाच्च। हरिवंशे—

मयश्च शंबरश्चैव महामायाधरौ तथा।
पार्जन्यवारुणीमाये व्यधत्तां वारिविक्षरे ॥ इति।

पार्जन्यवरुणास्त्रयोर्मायाशब्दप्रयोगाच्च। तत्रैव मायामास्थाय युध्यस्वे"ति प्रकृतमायायाम्, "आस्थाय तामसीं विद्याम्" इति विद्याशब्दप्रयोगाच्च। एकस्त्वमेव भगवानिदमात्मशक्त्या मायाख्यया" इति भागवते शक्तिर्मायेति व्याख्यातत्वाच्च। अत एव न मिथ्याभूतं मायाशब्दार्थः, शुक्तिरूप्यादौ तदप्रयोगात्, सत्यमंत्रौषधादिमत्येव

अद्वैतसिद्धिः

रिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासीकरोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवती ति श्रुत्या मायाविद्ययोरैक्यप्रतिपादनान्माया अज्ञानमेव, घट चेष्टाया'- मिति धातुजस्यापि घटशब्दस्य चेष्टावाचकत्वाभाववदत्रापि ज्ञानवाचकत्वाभावात्। 'माया प्रज्ञा वयुनमिति' ज्ञानपर्याये निघण्टुकारवचनं च ज्ञानाकारपरिणामित्वादज्ञान- स्योपपन्नम्। वृत्तिज्ञानस्याज्ञानाभिन्नत्वाद् अज्ञानस्यैवानिर्वचनीयविचित्रशक्तियोगात् न विचित्रशक्तिमति मायाशब्दप्रयोगानुपपत्तिः। क्वचिन्मणिमन्त्रादौ तत्प्रयोगस्तूप- चारात्। न च—शुक्तिरूप्यादौ मायाशब्दाप्रयोगात् न मृषार्थोऽयमिति—वाच्यम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जीवेशावाभासीकरोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति" (नृसिं० उ० ता० ९।३) यह श्रुति स्पष्टरूप से उद्घोषित करती है कि ['यही महामाया अपने अभिन्न परिणाम- रूप परिपूर्ण प्रपञ्च दृश्य का निर्माण कर अपने विशाल विग्रह में जीव और ईश्वर को अवभासित करती हुई स्वयं माया और अविद्या के रूप में प्रकट होती है, अतः] माया और अविद्या—दोनों एक हैं, फलतः माया अज्ञान ही सिद्ध होती है। [यद्यपि 'मय ज्ञाने' धातु से 'माया' शब्द नहीं बना है, अपितु 'मा माने' या 'माङ् माने' धातु से "माछाससिभ्यो यः" (उ० ४।१०९) इस उणादि सूत्र के द्वारा 'य' प्रत्यय करने पर यह 'माया' शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है—'विश्वं माति यस्याम्' अथवा 'विश्वं मिमीते।' तथापि 'मय गतौ' से इसकी निष्पत्ति मान लेने पर भी] 'माया' शब्द का यहाँ ज्ञानरूप वाच्य अर्थ वैसे ही विवक्षित नहीं है, जैसे कि 'घट चेष्टायाम्' धातु से निष्पन्न 'घट' शब्द का चेष्टारूप वाच्य अर्थ विवक्षित नहीं होता, वह केवल व्युत्पत्ति- मात्र का प्रदर्शन है, प्रवृत्ति-निमित्त का अवबोधन नहीं। निघण्टुकार ने जो ज्ञान के पर्याय में 'माया' शब्द रखा है—"माया प्रज्ञा वयुनमिति प्रज्ञानामानि" (नि०३।९)। वह माया या अज्ञान की ज्ञान के रूप में परिणामिता को ध्यान में रख कर कहा है, क्योंकि वृत्तिरूप ज्ञान अज्ञान का परिणाम एवं अज्ञानरूप ही माना जाता है। अज्ञान की शक्ति विचित्र है, अतः विचित्र शक्ति-युक्त अज्ञान के अर्थ में 'माया' शब्द का प्रयोग अनुपपन्न नहीं हो सकता। कहीं-कहीं मणि मन्त्रादि जादू-टोने में 'माया' शब्द का जो प्रयोग देखा जाता है, वह माणवक में सिंह शब्द के समान औपचारिक मात्र होता है—माणवक में जैसे सिंह का शौर्य होता है, वैसे ही मन्त्रादि में माया की अद्भुत शक्ति।

शङ्का—शुक्ति-रजतादि मिथ्या अर्थों में 'माया' शब्द का अद्वैतवाद से अन्यत्र

न्यायामृतम्

मायाविशब्दप्रयोगाच्च। मायामृगस्यापि मारीचस्य कामरूपित्वेन रामशरवेध्यत्वेन च सत्यत्वात्। देवासुरसंग्रामादौ च मायाशस्त्रादेः छेदाद्यर्थक्रियाकारित्वेन सत्यत्वात्। मिथ्याभूते ऐन्द्रजालिकादौ मायाधीनप्रतीतिकत्वेन मायाशब्दस्यामुख्यत्वात्। न च मायायाः सत्यत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वोक्तिविरोधः, सत्यस्यैव तन्निवर्त्यत्वात्। अत एव नाविद्यात्वोक्तिविरोधः, विद्यानिवर्त्यत्वात्। "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माये"त्यादौ गुणमयत्वाद्युक्तिरपि सत्यत्वानुगुणैव, शुक्त्याद्यज्ञाने रूप्यादौ त्रिगुणत्वादर्शनात्। तस्मान्न श्रुतिः सत्यप्रकृतीश्वरशक्त्याद्यतिरिक्तपराभिप्रेतानिर्वाच्याविद्यापरा।

श्रुतेरनिर्वाच्याविद्यापरत्वभंगः।

अद्वैतसिद्धिः

वज्रादौ पृथिवीत्वादिव्यवहाराभावेऽपि पृथिवीत्ववत् व्यवहाराभावेऽपि मायात्वानपायाद्, ऐन्द्रजालिकादौ बहुशो मायाशब्दप्रयोगदर्शनाच्च, मायाया अज्ञानान्यत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वविरोधाच्च। नीहारतमःशब्दावप्यस्मिन्मते अज्ञानस्यावारकत्वाद्युज्येते, नान्यमते। अनृतनीहारादिशब्दानां दुष्कर्मपरत्वे श्रुत्यन्तरोक्तजीवेशभेदकत्वोपादानत्वादिविरोधश्च। तस्मा'दनृतेन प्रत्यूढाः', 'नीहारेण प्रावृताः', 'तम आसीत्', 'मायां तु प्रकृतिं विद्याद्', 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्', 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रित्याद्याः श्रुतयो वर्णिता अज्ञाने प्रमाणमिति स्थितम्॥

इत्यद्वैतसिद्धावविद्याप्रतिपादकश्रुत्युपपत्तिः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कहीं प्रयोग नहीं होता, अतः "मायामात्रमिदं द्वैतम्" (मां० का० १।१७) "मायामात्रमिदं सर्वम् (बृह० वा० पृ० ९३१) इत्यादि अद्वैतवादियों के व्यवहार असंगत हैं।

समाधान—जैसे वज्र (हीरा) आदि में 'पृथिवी' पद का प्रयोग न होने पर भी पृथिवीत्व माना जाता है, वैसे ही शुक्ति-रजतादि में 'माया' पद का व्यवहार न होने पर भी मायात्व रहता है और ज्ञान-निवर्त्यत्वरूप मायात्व-व्यञ्जक का भान होने पर मायात्व-व्यवहार भी होता है। जादूगर-द्वारा विरचित विचित्र मिथ्या पदार्थों के लिए बहुशः माया शब्द का प्रयोग देखा जाता है—"खचित्रमिव मायावी रचयत्येव लीलया।" महर्षि बाल्मीकि ने मिथ्या मृग के लिए 'माया' शब्द का व्यवहार किया है—"स च तां रामदयितां पश्यन् मायामयो मृगः" (बा० रा० अरण्य० ४३।३४)। भगवान् कृष्ण भी कहते हैं—"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद" (म० भा० मोक्ष० ३३९।४५)। माया यदि अज्ञान से भिन्न है, तब ज्ञान से उस की निवृत्ति न हो सकेगी। नीहार और तम—इन दोनों शब्दों का अज्ञान की आवरकता को ध्वनित करना भी इसी मत (भावात्मक अज्ञान-वाद) में ही समञ्जस होता है—"नीहारेण प्रावृता" (ऋक्० ८।३।१७)। 'अनृत', 'नीहार' आदि शब्द यदि पाप कर्म के ही बोधक हैं, तब अन्य श्रुतियों के द्वारा अनृतादि में जीवेश्वर—भेदकता का निर्देश असंगत हो जाता है, इस लिए "अनृतेन प्रत्यूढाः" (छा० ८।३।२), "नीहारेण प्रावृताः" (ऋक्० ८।३।१७) तम आसीत्" (ऋक्० ८।७।१७), मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेता० ४।१०) "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (श्वेता० ४।५), अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः" (कठो० २।५) "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" (श्वेता० १।१०) इत्यादि उदाहृत श्रुतियाँ अज्ञान की सत्ता को प्रमाणित करती हैं—यह सिद्ध हो गया।

: ५८ :

अज्ञानेऽर्थापत्तिप्रमाणविचारः

न्यायामृतम्

(१) भ्रमोपादानत्वेनाविद्याकल्पनं तु द्वितीयलक्षणनिरासेनैव निरस्तम्। किं च शुक्तिरूप्यमुपादानसहितं चेत्, सकर्तृकं भवेत्। न चेशो जीवो वा तस्य कर्तेति युज्यते। नापि निर्विकारस्य ब्रह्मणः श्रौतजगदुपादानत्वनिर्वाहाय तत्कल्पनम्, सत्यस्य त्रिगुणस्य प्रधानस्यैव तदुपादानत्वेन श्रुत्यादिसिद्धत्वाद्, अविद्याया अपि अनादित्वेन निरवयवतया ब्रह्मवदेव विकारायोगाच्च। किं च ब्रह्मण उपादानत्वेऽपि नाविद्या कल्प्या, त्वद्रीत्या ब्रह्मण एव तात्त्विकविकारविरुद्धेनातात्त्विकविकारेण शुक्त्यादिवद् विवर्ताधिष्ठानत्वरूपोपादानत्वोपपत्तेः। अन्यथा अविद्यादेराश्रयसापेक्षस्य द्वितीयस्य तत्त्वतोऽद्वितीयाद् ब्रह्मणोन्यदधिकरणं कल्प्यं स्यात्। न च परिणामित्वेनाविद्या-कल्पनम्, असत्यस्य सत्यरूपान्तरापत्तिरूपपरिणाम्यनपेक्षत्वात्। न च कार्यापेक्षित-स्वसत्तासमानसत्ताकोपादानत्वेन तत्कल्पनम्, विवर्ताधिष्ठानरूपोपादानेन निवृत्तो-पादानाकांक्षस्यापि घटादिदृष्टान्तेनोक्तोपादानकल्पने घटादेः कार्यस्य स्वासमानसत्ता-कोपादानानपेक्षत्वेनासमानसत्ताकस्य ब्रह्मणो वियदादावनुपादानत्वापातात्। रूप्ये स्वसमानसत्ताकनिमित्तस्यापि कल्पनापाताच्च। (२) न च जीवस्यानवच्छिन्नब्रह्मानन्दा-प्रकाशाय तत्कल्पना, भेदेनैव तदुपपत्तेः। अनवच्छिन्नानन्दस्यापि प्रकाशमानप्रत्यङ्मा-त्रत्वेनाप्रकाशानुपपत्तेश्च।

अविद्यार्थापत्तिभंगः।

अद्वैतसिद्धिः

(१) जीवस्यानवच्छिन्नब्रह्मानन्दाप्रकाशान्यथानुपपत्तिश्च तत्र मानम्। न च जीवस्य ब्रह्मभेदेनैव तादृगप्रकाशोपपत्तिः, जीवब्रह्मभेदस्याग्रे निरसिष्यमाणत्वात्। न चानवच्छिन्नानन्दस्यापि प्रकाशमानप्रत्यङ्मात्रत्वेनाप्रकाशमानत्वानुपपत्तिः, शरीर-प्रतियोगिकस्यात्मनि स्वरूपभेदस्यात्माकारेण प्रकाशमानत्वेऽपि भेदाकारेणाप्रकाश-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

१—प्रथम अर्थापत्ति—जीव में निरतिशयानन्द के अप्रकाश की अन्यथानुपपत्ति भी अज्ञान में प्रमाण है। 'जीव ब्रह्म से भिन्न है, अतः उसमें निरतिशयानन्द की अनभि-व्यक्ति अन्यथा ही उपपन्न हो जाती है'— यह शङ्का उचित नहीं, क्योंकि जीव ओर ब्रह्म के भेद का निरास द्वितीय परिच्छेद में किया जायगा।

शङ्का—जीव यदि निरतिशयानन्दस्वरूप ब्रह्म से अभिन्न है, तब जैसे जीव का अपना प्रत्यक् चैतन्य स्वरूप संसारावस्था में भी प्रकाशित है, वैसे ही अनवच्छिन्ना-नन्दरूपता का भी प्रकाश होना चाहिए, क्योंकि निरवयव वस्तु का भान और अभान कभी उपपन्न नहीं हो सकता।

समाधान—द्वैतवादी भी जीव में शरीर का भेद मानते हैं और वह भेद आत्मरूप आधार से अभिन्न है, किन्तु आत्मा का स्वरूपतः प्रकाश होने पर भी शरीरप्रतियोगिक भेदरूप से प्रकाश नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा का चैतन्यरूप से प्रकाश और निरतिशयानन्दरूप से अप्रकाश उपपन्न हो जाता है, क्योंकि अविद्या अपने आधारभूत चैतन्य के सामान्य रूप का आच्छादन न कर विशेष रूप को ही आवृत करती है।

अद्वैतसिद्धिः

मानत्ववद्रूपान्तरेण ब्रह्मणः प्रकाशमानत्वेऽपि उक्ताकारेणाविद्यावशादप्रकाशमानत्वोपपत्तेरुक्तत्वात् ।

(२) भ्रमस्य सोपादानत्वान्यथानुपपत्तिरपि अविद्यायां प्रमाणम् । न चान्तःकरणमुपादानम्, अन्तःकरणस्य ज्ञानजनने प्रमाणव्यापारसापेक्षत्वेन प्रमाणाविषये शुक्तिरूप्यादौ ज्ञानाजनकत्वात्, सादित्वेनानादिभ्रमपरम्परानुपादानत्वाच्च । न च ब्रह्मैवोपादानम्, तस्यापरिणामित्वात् । न च विवर्ताधिष्ठानत्वेन शुक्त्यादेरिवोपादानत्वम्, अविद्यामन्तरेणातात्त्विकान्यथाभावलक्षणस्य विवर्तस्यैवासम्भवात्, शुक्त्यादेरधिष्ठानावच्छेदकतया विवर्ताधिष्ठानत्वाभावात् । न च—उपादानापेक्षस्य विवर्तस्य तात्त्विकातिरिक्तोपादानकल्पनवदविद्यादेराश्रयसापेक्षस्य ब्रह्मातिरिक्तमतात्त्वि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

चैतन्य और आनन्द का वस्तुतः अभेद होने पर भी अविद्यावस्था में आरोपित भेद, एक का भान तथा दूसरे का अभान उपपन्न हो जाता है ।

२—द्वितीय अर्थापत्ति—शुक्ति-रजतादि विभ्रम में सोपादानत्व की अन्यथानुपपत्ति भी अविद्या में प्रमाण है ।

शङ्का—शुक्ति-रजतादि अध्यास के दो अंश होते हैं—ज्ञान और विषय । उनमें ज्ञान का प्रसिद्ध उपादान कारण अन्तःकरण है, उसके लिए अविद्या की अपेक्षा नहीं और भ्रम का विषय असत् ख्याति-वाद में अत्यन्त असत् होता है, उसकी उपादानता के लिए भी अविद्या की कोई आवश्यकता नहीं ।

समाधान—अन्तःकरण को ज्ञान के उत्पादन में इन्द्रिय-व्यापार की नियमतः अपेक्षा होती है, किन्तु शुक्ति-रजतादि किसी इन्द्रिय के विषय नहीं होते, अतः अन्तःकरण भी शुक्ति-रजतादि के ज्ञान का उत्पादक नहीं हो सकता, फलतः शुक्ति-रजतादि के ज्ञान का उपादान कारण अविद्या को छोड़कर और कोई नहीं हो सकता । अन्तःकरण शुक्त्यादि अधिष्ठान के ग्रहण में ही गतार्थ हो जाता है, विवरणकार कहते हैं—"अन्तःकरणस्य च इन्द्रियसंयोगादिसापेक्षत्वात् । मिथ्यार्थे च प्रत्ययमात्रविपरिवर्तिनि तदयोगाद्, अधिष्ठानज्ञानेन अन्यथा सिद्धत्वाच्च तदन्वयव्यतिरेकयोः" (पं० वि० पृ० ७०) । दूसरी बात यह भी है कि अन्तःकरण सादि पदार्थ होने के कारण अनादि भ्रम-परम्पर का उपादान हो भी नहीं सकता ।

विभ्रम का उपादान कारण ब्रह्म है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह अपरिणामी होने के कारण परिणामी उपादान नहीं हो सकता एवं शुक्त्यादि के समान शुक्ति-रजतादि का विवर्ताधिष्ठान है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि तत्त्वतः परिणामी उपादान को तात्त्विक उपादान और उससे भिन्न उपादान को अतात्त्विक या विवर्तोपादान कहा जाता है, अविद्या यदि नहीं मानी जाती, तब तात्त्विक उपादान कौन होगा ? एवं उसके बिना उसके भेद से युक्त विवर्तोपादानता का भी ज्ञान नहीं हो सकता । शुक्त्यादि तो केवल चिन्निष्ठ अधिष्ठानता के अवच्छेदक होते हैं, अधिष्ठान नहीं बन सकते ।

शङ्का—ब्रह्म में प्रपञ्च की विवर्तोपदानता की उपपत्ति करने के लिए जैसे ब्रह्म से भिन्न अज्ञानरूप तात्त्विक उपादान की कल्पना होती है, वैसे ही ब्रह्मनिष्ठ अविद्या की आश्रयता का उपपादन करने के लिए ब्रह्म से भिन्न और किसी अतात्त्विक अधिकरण

अद्वैतसिद्धिः

कमधिकरणं कल्प्यं स्यादिति—वाच्यम्, ब्रह्मण एव विकारित्वे अनित्यत्वादिप्रसक्तिवद् ब्रह्मण एवाधिष्ठानत्वे बाधकाभावेन द्वितीयस्याधिकरणस्याकल्पनात्। न च—असत्यस्य सत्यरूपान्तरापत्तिलक्षणपरिणाम्यनपेक्षत्वेन परिणामित्वेनापि नाविद्याकल्पनमिति—वाच्यम्, परिणामिसत्तासमानसत्ताकत्वनियमेनासत्यत्वस्यैवाभावात्। न च—घटादौ स्वसमानसत्ताकोपादानकत्वदर्शनेन प्रपञ्चेऽपि तादृशोपादानकल्पने घटादेः स्वाधिकसत्ताकोपादानानपेक्षत्ववद् वियदादेरपि ब्रह्मानुपादानकत्वं स्यादिति—वाच्यम्, 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्स' इत्यनेन न्यायेन घटादेरपि मृदवस्थचैतन्योपादानकतया तादृशोपादानानपेक्षत्वासिद्धेः। अत एव—रूप्येऽपि स्वसमानसत्ताकस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की कल्पना करनी चाहिए [किन्तु आश्रयान्तर की कल्पना के विना ही ब्रह्म में जैसे अविद्या की मुख्य आश्रयता मानी जाती है, वैसे ही अज्ञानरूप उपादानान्तर की कल्पना के बिना ही ब्रह्म में प्रपञ्च विभ्रम की मुख्य उपादानता मान लेनी चाहिए] ।

समाधान—ब्रह्म में प्रपञ्च विभ्रम की तात्त्विक (परिणामी) उपादानता मानने पर जैसे विकारित्व, अनित्यादि अनिष्ट की प्रसक्ति होती है, वैसे अविद्या की ब्रह्मनिष्ठ आश्रयता मानने पर किसी प्रकार की अनिष्ट-प्रसक्ति नहीं होती, अतः आश्रयान्तर की कल्पना आवश्यक नहीं ।

शङ्का—शुक्ति-रजतादि (माध्व-मत में) असत्य होते हैं, उन्हें अपने परिणामी उपादान की अपेक्षा ही नहीं, क्योंकि सत्यरूपान्तरापत्ति का नाम परिणाम होता है, जैसे कटकादि सत्यरूप में परिणत होने के कारण सुवर्णादि को परिणामी उपादान कारण कहा जाता है, वह प्रकृत में सम्भव नहीं, अतः विभ्रम की तात्त्विक उपादानता को अन्यथोपपत्ति के द्वारा अज्ञान की कल्पना सम्भव नहीं ।

समाधान—'सत्यरूपान्तरापत्ति'—यह परिणाम का लक्षण नहीं, अपितु स्वसमानसत्ताकरूपान्तरापत्ति । प्रकृत में न तो परिणाम असत् है और न परिणामी माया, अपितु दोनों समान अनिर्वचनीय सत्तावाले हैं, अतः शुक्ति-रजतादि अनिर्वचनीय अध्यास को अपने अनिर्वचनीय उपादान की अपेक्षा है और उपादेय की अन्यथानुपपत्ति के द्वारा अनिर्वचनीय अविद्या की कल्पना अत्यन्त उचित है ।

शङ्का—घटादि के उपादानकारण मृत्तिकादि प्रसिद्ध हैं, उपादेय और उपादान की समान सत्ता देखी जाती है, उपादेय की अपेक्षा मृदादि उपादान की अधिक सत्ता नहीं मानी जाती । लोक-प्रसिद्ध उपादानोपादेयभाव के आधार पर ही प्रपञ्च के उपादान की कल्पना करनी होगी, अतः आकाशादि की अपेक्षा अधिक सत्तावाले ब्रह्मरूप उपादान की कल्पना सर्वथा असंगत है, क्योंकि लोक में चैतन्यतत्त्व किसी भी उपादेय का उपादान प्रसिद्ध नहीं ।

समाधान—"तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः" (१।३।१३) इस सूत्र में भाष्यकार ने स्पष्ट कर दिया है—"स एव परमेश्वरः तेन-तेन आत्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायन् तं तं विकारं सृजाति ।" लौकिक घटादि कार्य भी मृदादिरूप में अवस्थित चैतन्यरूप उपादान के ही उपादेय माने जाते हैं, अतः लौकिक उपादेय में चैतन्योपादानकत्व की अप्रसिद्धि नहीं । 'घटादि कार्य का जैसे समानसत्ताक निमित्त कारण होता है, वैसे ही

अद्वैतसिद्धिः

निमित्तस्यापि कल्पनापत्तिरिति—निरस्तम् , निमित्तमात्रे वा इयं कल्पना? विशेषे वा ? नाद्यः, अधिष्ठानरूपनिमित्तस्य सर्वत्राधिकसत्ताकत्वात् । द्वितीये तूत्तरोत्तरभ्रमे पूर्वपूर्वभ्रमस्य निमित्तत्वेनेष्टापत्तेः । न च—त्रिगुणात्मकं प्रधानमुपादानमिति—वाच्यम् , तस्यासत्यत्वे अविद्यानतिरेकात् । सत्यत्वेऽपि सावयवम् ? निरवयवं वा ? आद्ये अनादित्वभङ्गः । द्वितीये परिणामित्वायोगो ब्रह्मवत् । न चाविद्यापक्षेऽपि समः पर्यनुयोगः, तस्याः काल्पनिकत्वेन पर्यनुयोगायोगात् । तस्मादर्थापत्तिरविद्यायां प्रमाणम् ।"

इत्यद्वैतसिद्धावविद्यायामर्थापत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शुक्ति-रजतादि का भी समानसत्ताक निमित्त कारण होना चाहिए'—यह आक्षेप भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि निमित्तमात्र की कल्पना में उक्त नियम (समानसत्ताकनिमित्त-जन्यत्व) माना जाता है ? अथवा निमित्त-विशेष की कल्पना में ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि अधिष्ठानरूप निमित्त कारण सर्वत्र उपादेय की अपेक्षा अधिकसत्ताक होता है । द्वितीय पक्ष में इष्टापत्ति है, क्योंकि उत्तरोत्तर भ्रम का पूर्व-पूर्व भ्रम को निमित्त माना ही जाता है । अतः निमित्तविशेष में समानसत्ताकत्व का नियम अभीष्ट ही है ।

शङ्का—सांख्य-सम्मत एक त्रिगुणात्मक प्रधान तत्त्व को ही त्रिगुणात्मक प्रपञ्च का उपादान मानना उचित है, ब्रह्म और माया में प्रपञ्चोपादानत्व की कल्पना गौरव-ग्रस्त है ।

समाधान—कथित प्रधान तत्त्व सत्य माना जाता है ? अथवा असत्य ? यदि उसे असत्य माना जाता है, तब तो वह अविद्या ही है, उससे अतिरिक्त नहीं । प्रधान यदि सत्य है, तब सावयव है ? अथवा निरवयव ? प्रथम पक्ष में प्रधान का अनादित्व समाप्त हो जाता है, क्योंकि सावयव घटादि पदार्थ सादि ही देखे जाते हैं । प्रधान को निरवयव मानने पर ब्रह्म के समान ही परिणामित्व अनुपपन्न हो जाता है । अविद्या के विषय में भी इस प्रकार की अनुपपत्तियाँ नहीं दिखाई जा सकतीं, क्योंकि अविद्या काल्पनिक है, काल्पनिक माया के विषय में कोई अनुपपत्ति नहीं, क्योंकि वह स्वयं अपने में अनुपपन्नात्मक ही है । माया का युक्ति-विरुद्धत्व भूषण है, दूषण नहीं । वह माया या अविद्या अर्थापत्ति से भी प्रमाणित है—यह सिद्ध हो गया ।

: ५६ :

अविद्याप्रतीतिविचारः

न्यायामृतम्

किं चाविद्या किं शुद्धसाक्षिचैतन्येनैव भाति ? किं वृत्तिप्रतिबिम्बितेन तेन ? नाद्यः, निर्दोषचित्प्रकाश्यत्वेनाज्ञानस्य पारमार्थिकत्वापातात्। मोक्षेऽपि तत्प्रतीत्यापत्तेश्च। तदा सा निवृत्तत्वान्न भातीति चेन्न, प्रतीतिमात्रशरीरस्य प्रतीत्यनुवृत्तौ निवृत्त्ययोगात्। एतेनाज्ञानस्य राहुवत् स्वावृतप्रकाशेनैव स्फुरणमिति निरस्तम्। नान्त्यः, अज्ञानस्य कदाचिदप्रतीत्यापातात्। अन्तःकरणाविद्यावृत्त्योः प्रमाणदोषाभ्यां जन्यतयेहोभयाभावेन वृत्त्ययोगाच्च। वृत्तेरपि वृत्त्यन्तरप्रतिबिंबितसाक्षिवेद्यत्वेऽनवस्थापातेन तदप्रतिबिम्बिततद्वेद्यत्वे मोक्षेऽपि वृत्तिप्रतीत्यापाताच्च। प्रतिबिम्बनोपाधित्वप्रयोजकस्य सत्त्वस्य पारमार्थिकत्वेन प्रातीतिक्या वृत्तेः प्रतीत्यधीनत्वेनान्योन्याश्रयाच्च।

अविद्याप्रतीतिभंगः।

अद्वैतसिद्धिः

स चाविद्या साक्षिवेद्या, न तु शुद्धचित्प्रकाश्या। साक्षी चाविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यम्। तेन—निर्दोषचित्प्रकाश्यत्वेनाज्ञानस्य पारमार्थिकत्वापत्तिः, मोक्षेऽपि तत्प्रकाशापत्तिः, न च तदानीमविद्याया निवृत्तत्वात् तत्प्रकाशाभावः; प्रतीतिमात्रशरीरस्य प्रतीत्यवृत्तौ निवृत्त्ययोगादित्यादिदोषानवकाशः। अत एवोच्यते राहुवत् स्वावृतचैतन्यप्रकाश्याऽविद्येति। न चैवं कदाचिदविद्याया अप्रतीत्यापत्तिः, इष्टापत्तेः, समाधौ तथाभ्युपगमात्। न चाविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वादत्र कथमविद्यावृत्तिः? अविद्याया

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कथित अविद्या साक्षिवेद्य ही है, शुद्ध चैतन्य से प्रकाशित नहीं मानी जाती। शुद्ध चैतन्य को साक्षी नहीं माना जाता, अपितु अविद्या-वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य साक्षी कहलाता है। अविद्या का शुद्ध एवं निर्दोष चैतन्य से प्रकाश मानने पर पारमार्थिकत्व की आपत्ति होती है, किन्तु साक्षिभास्य मानने पर उक्त आपत्ति निरस्त हो जाती है और मोक्ष में भी अविद्या के भान की आपत्ति भी दूर हो जाती है, क्योंकि शुक्ति-रजतादि साक्षिभास्य पदार्थ प्रातिभासिक ही माने जाते हैं, अविद्या भी साक्षिभास्य है, अतः न वह सत्य हो सकती है और न मोक्ष में प्रतीयमान। शुद्ध चैतन्य से अविद्या का प्रकाश मानने पर मोक्ष अवस्था में अविद्या का अभाव दिखा कर भी उसके प्रकाश की आपत्ति का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रतीतिमात्रात्मक अविद्या की शुद्ध चैतन्यरूप प्रतीति के रहने पर प्रतीति अवश्यम्भाविनी हो जाती है, अतः अविद्या को साक्षिभास्य मान कर ही सभी आपत्तियों का निरास किया जा सकता है। अत एव जो अद्वैत वेदान्त में कहा जाता है कि अविद्या राहु के समान स्वावृत चैतन्य के द्वारा प्रकाशित होती है, वह कहना भी अत्यन्त युक्ति-युक्त है। यदि अविद्याकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप साक्षी के द्वारा अविद्या का प्रकाश माना जाता है, तब वृत्ति के कादाचित्क होने के कारण अविद्या-वृत्ति के न होने पर अविद्या की अप्रकाशापत्ति अभीष्ट ही है, क्योंकि समाधि में अविद्या-वृत्ति के न होने पर अविद्या की प्रतीति नहीं मानी जाती। 'अविद्या की वृत्ति काच-कामलादि दोषों से जनित होती है, दोष कादाचित्क होते हैं, अतः संसार-दशा में सदैव अविद्या-वृत्ति क्योंकर रहेगी ?'

: ६० :

सामान्येनाविद्याप्रमाणविचारः

न्यायामृतम्

किं च त्वन्मते अज्ञानस्याप्रामाणिकत्वात्कथं तत्र प्रमाणोक्तिः ?

अविद्याया अविद्यात्व इदमेव (हि)तु लक्षणम् ।

मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥ (बृह०वा० पृ०६५) इति सुरेश्वरोक्तेः । न चाज्ञानस्य व्यावहारिकत्वात्तत्र तत्प्रमाणोक्तिः, प्रातिभासिकोपादाने प्रातिभासिके अज्ञाने तदुक्त्ययुक्तेः । न हि व्यावहारिकं प्रातिभासिकं प्रत्युपादानम् । न च प्रातिभासिके मानमस्ति । न च साक्षिसिद्धेऽज्ञाने प्रमाणैरसद्व्यावृत्तिमात्रं बोध्यत इति वाच्यम्, नित्यनिर्दोषसाक्षिवेद्यत्वे सुतरां प्रामाणिकत्वापातात् । तम आसीदित्यादौ सत्त्वस्यैव बोधनाच्च । उक्तानुमानेषु तदप्रतीतेश्च । न ह्यनुमानं विवक्षापरतन्त्रम् । प्रमाणैरज्ञानस्वरूपाग्रहे तत्रासद्व्यावृत्तेर्दुर्बोधत्वाच्च । न च प्रमाणानि साक्षिवेद्यत्वेनाविद्यां बोधयन्ति, येन भ्रमविषयत्वेनानुव्यवसायबोध्यस्य रूप्यादेरिव प्रामाणिकत्वं न स्यात् । न च प्रमाणानि प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वेनाविद्यां बोधयन्ति, येन तथा बाधगोचरस्य रूप्यादेरिव प्रामाणिकत्वं न स्यात् । ज्ञाननिवर्त्यत्वेन प्रकाशनिवर्त्यान्धकारवदनित्यत्वस्यैव बोधनात् ।

सामान्येनाविद्याप्रमाणभंग ।

अद्वैतसिद्धिः

एव दोषत्वात् । न च वृत्तेरपि वृत्त्यन्तरप्रतिबिम्बितचिद्भास्यत्वे अनवस्था, स्वस्या एव स्वभानोपाधित्वात् ।

ननु—प्रमाणागम्यायामविद्यायां प्रमाणोपन्यासवैयर्थ्यम्, न च—प्रमाणैरसद्व्यावृत्तिमात्रं बोध्यत इति—वाच्यम्, अज्ञानमगृह्णतां तत्रासद्व्यावृत्तिबोधेऽप्यसामर्थ्यादिति—चेन्न, प्रमाणोपनीतासद्व्यावृत्तिविशिष्टाज्ञानं हि साक्षिणा गृह्यते । तथा चासद्व्यावृत्त्युपनयने प्रमाणानां चरितार्थत्वात् न काप्यनुपपत्तिः ।

इत्यद्वैतसिद्धावविद्याप्रतीत्युपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

इस शङ्का के समाधान में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि अन्य दोषों का अभाव होने पर अविद्यारूप दोष तो बना ही रहता है, उससे अविद्या-वृत्ति बनी रहती है । 'वृत्ति का भी वृत्त्यन्तर-प्रतिबिम्बित चैतन्य से प्रकाश मानने पर अनवस्था क्यों न होगी ? यह सन्देह भी नहीं कर सकते, क्योंकि वृत्ति के भान में स्वयं वह वृत्ति ही चैतन्य की उपाधि मानी जाती है, उपाध्यन्तर की अपेक्षा नहीं कि अनवस्था हो ।

शङ्का—साक्षिज्ञान को प्रमाण नहीं माना जाता, अतः साक्षिभास्य अविद्या प्रमाण-गम्य नहीं कही जा सकती, तब उस में प्रमाणोपन्यास कैसा ? विवरणकार ने जो कहा है—"साक्षिवेद्यस्याज्ञानस्य प्रमाणैरभावव्यावृत्तिः प्रदर्श्यते" (पं० वि० पृ० २०९) अर्थात् अज्ञान-वस्तुतः साक्षि-भास्य है, प्रमाण-वेद्य नहीं, तथापि अज्ञान की अभाव से व्यावृत्ति करने के लिए प्रमाणोपन्यास सार्थक है । वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि प्रमाण अज्ञान को ग्रहण न कर उसकी अभाव से व्यावृत्ति नहीं कर सकते ।

: ६१ :

अविद्यायाः चिन्मात्राश्रयत्वविचारः

न्यायामृतम्

अविद्याश्रयश्च दुर्वचः। यदत्रोक्तं विवरणे—चिन्मात्रमेवाज्ञानाश्रयः, तदन्यस्याज्ञानकल्पितत्वेन तदाश्रयत्वायोगात्। तदुक्तम्—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विशेषचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥ इति

दर्पणस्य मुखमात्रसम्बन्धेऽपि प्रतिमुखे मालिन्यवत् प्रतिबिम्बे जीवे संसारो न तु बिंबे ब्रह्मणि, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वादिति।

अत्र ब्रूमः—विरोधाद् धर्मिमानेन बाधाच्छ्रुतिविरोधतः।
भ्रान्त्यैकाधिकरण्याच्च नाज्ञानं शुद्धचिद्गतम्॥

अद्वैतसिद्धिः

अविद्याया आश्रयस्तु शुद्धं ब्रह्मैव। तदुक्तम्—

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥'

दर्पणस्य मुखमात्रसंबन्धेऽपि प्रतिमुखे मालिन्यवत् प्रतिबिम्बे जीवे संसारः, न बिम्बे ब्रह्मणि, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्। ननु कथं चैतन्यमज्ञानाश्रयः?

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—प्रमाण-प्रसाधित अभाव-व्यावृत्तिरूप विशेषण से विशिष्ट अज्ञान ही साक्षी-द्वारा गृहीत होता है, असद्व्यावृत्तिरूप विशेषण की सिद्धि के लिए प्रमाणोपन्यास सार्थक होता है, अतः प्रमाण-प्रदर्शन में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं रह जाती।

अविद्या का आश्रय शुद्ध ब्रह्म ही है, जैसा कि श्री सर्वज्ञात्ममुनि ने (सं० शा० १।३१९ में) कहा है—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥

[अर्थात् अज्ञान का आश्रय और विषय जीवेश्वरादि-विभाग-रहित विशुद्ध अद्वितीय ब्रह्म ही होता है अनादि अविद्या का पश्चाद्भावी जीव न तो आश्रय हो सकता है और न विषय। विवरणकार ने भी कहा है—"ननु दर्पणानि द्रव्यं वा किंसम्बन्धि बिम्बभेदनिमित्तम्? मुखमात्रसम्बन्धीनि चेद्, इहापि चित्स्वरूपमात्रसम्बन्ध्यज्ञानं तत्र जीवब्रह्मव्यवहारभेदं प्रवर्तयति" (पं० वि० पृ० २१९)। यद्यपि दर्पण प्रथमतः जिस मुख के सामने किया जाता है, वह मुख बिम्ब-प्रतिबिम्ब की संज्ञा से रहित मुखमात्र होता है, तथापि दर्पण सम्बन्ध के पश्चात् दर्पण में प्रतिफलित प्रतिमुख (मुख-प्रतिबिम्ब) पर ही दर्पणगत मालिन्यादि का आरोप होता है, बिम्बभूत मुख पर नहीं। उसी प्रकार अविद्यागत प्रतिबिम्बभूत जीव में ही आविद्यक संसार प्रतीत होता है, बिम्बभूत ब्रह्म में नहीं, क्योंकि उपाधि का यह निश्चित स्वभाव होता है कि वह प्रतिबिम्ब में ही अपने धर्मों का प्रदर्शन किया करती है। [विवरणकार ने भी कहा है—"कथं पुनः स्वरूपमात्रसम्बन्धिनोऽज्ञानस्य ब्रह्मस्वरूपं परिहृत्य जीवविभागैकपक्षपातिता? ननु दर्पणघटादेर्मुखाकाशभेदे हेतुतया मुखादिसंसर्गिणोऽपि बिम्बाकाशौ परिहृत्य प्रतिबिम्बघटाकाशादिपक्षपातित्ववदिति वदामः" (पं० वि० पृ० २१९)]। न्यायामृतकार ने अज्ञान की ब्रह्माश्रितता के पक्ष में चार दोष दिये हैं—१. विरोध, २. धर्मिग्राहक

न्यायामृतम्

तथा हि—एकविषयज्ञानभावरूपाज्ञानयोः तमःप्रकाशयोरिव विरुद्धत्वात्, नाश्रयाश्रयित्वम्। न हि ज्ञानानिवर्त्यमज्ञानं भवति। न च वृत्तिज्ञाननिवर्त्यं तद् विवरणेऽन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचारादित्युक्तत्वेनौपचारिकज्ञानविरोधिनो मुख्याज्ञानत्वायोगाद् अज्ञानाविरोधित्वे चैतन्यस्य घटादिवज्ज्ञानत्वायोगाच्च। ज्ञानाज्ञाने हि ज्ञातुरर्थप्रकाशाप्रकाशौ। न च तदविरोधित्वेऽपि व्यवहारादिहेतुत्वात् ज्ञानत्वम्। अज्ञाननिवर्तकस्यैव तद्धेतुत्वानुभवात्। न च विवरणे करणव्युत्पत्त्या बुद्धिवृत्तिर्ज्ञानमित्युक्तत्वेनाज्ञानं ज्ञानकरणविरोध्येव, न तु ज्ञप्तिविरोधीति वाच्यम्, न

अद्वैतसिद्धिः

तस्य प्रकाशस्वरूपत्वात्, तयोश्च तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावत्वादिति—चेन्न, अज्ञानविरोधि ज्ञानं हि न चैतन्यमात्रम्, किन्तु वृत्तिप्रतिबिम्बितम्, तच्च नाविद्याश्रयः, यच्चाविद्याश्रयः, तच्च नाज्ञानविरोधि। न च तर्हि शुद्धचितोऽज्ञानविरोधित्वाभावे घटादिवदप्रकाशत्वापत्तिः, वृत्त्यवच्छेदेन तस्या एवाज्ञानविरोधित्वात्, स्वतस्तृणतूलादिभासकस्य सौरालोकस्य सूर्यकान्तावच्छेदेन स्वभास्यतृणतूलादिदाहकत्ववत् स्वतोऽविद्यातत्कार्यभासकस्य चैतन्यस्य वृत्त्यवच्छेदेन तद्दाहकत्वात्। ननु—अहमज्ञ

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रमाण-बाध, ३. श्रुति-विरोध और ४. भ्रान्ति-सामानाधिकारण्य-विरोध। उनका क्रमशः अनुवाद एवं परिहार किया जाता है—

१. विरोध दोष और उसका परिहार—

शङ्का—शुद्ध चेतन्य क्योंकर अज्ञान का आश्रय या अज्ञानाच्छन्न होगा ? क्योंकि वह प्रकाशैकस्वभाव होता है, उसका प्रकाश कभी कुण्ठित नहीं हो सकता, चैतन्य और अज्ञान—दोनों अन्धकार और प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव के होते हैं, दोनों का परस्पर आधाराधेय भाव सम्बन्ध नहीं हो सकता, लोक में प्रकाश के आश्रित कहीं अन्धकार नहीं देखा जाता। आचार्य निमुक्तात्मा के समय भी यह आक्षेप किया जाता था—

नन्वविद्या स्वयंज्योतिरात्मानं ढौकते कथम्।
कूटस्थमद्वितीयं च सहस्रांशुं यथा तमः॥ (इष्ट० पृ० २०७)

समाधान—शुद्ध चैतन्य अज्ञान का विरोधी नहीं होता, किन्तु वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही अज्ञान का विरोधी होता है, वह अज्ञान का आश्रय नहीं माना जाता और जो सामान्य चैतन्य अज्ञान का आश्रय माना जाता है, वह अज्ञान का विरोधी नहीं होता। 'यदि शुद्ध चैतन्य अज्ञान का विरोधी नहीं होता, तब घटादि के समान ही उसे अप्रकाशरूप क्यों न माना जाय ?'—यह शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि घटादि सर्वथा अज्ञान के अविरोधी हैं, किन्तु शुद्ध चैतन्य सर्वथा अविरोधी नहीं, अपितु वही वृत्ति से अवच्छिन्न होकर अज्ञान का विरोधी हो जाता है। जैसे सूर्य का तेज स्वतः तूल (रुई) आदि का दाहक न होकर प्रकाशक ही होता है और वह तेज सूर्यकान्त मणि में प्रतिफलित होकर तूलकादि का दाहक हो जाता है, वैसे ही शुद्ध चैतन्य स्वतः अविद्या और उसके कार्य-प्रपञ्च का नाशक न होकर प्रकाशक ही होता है, किन्तु वही चैतन्य वृत्ति में उपारूढ़ होकर अविद्यादि का विरोधी (निवर्तक) माना जाता है। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

तृणादेर्भासिकाप्येषा सूर्यदीप्तिस्तृणं दहेत्।
सूर्यकान्तमुपारुह्य न्यायोऽयं योज्यतां धिया॥

न्यायामृतम्

जानामीति ज्ञप्तिविरोधित्वेनानुभूयमानस्याज्ञानान्तरत्वापातात् । साक्षिवेद्ये सुखादावज्ञानादर्शनाच्च । न च चैतन्याज्ञानयोः सौरप्रकाशदिवाभीतान्धकारयोरिव तत्सत्यत्वमिथ्यात्वाभ्यामविरोधाश्रयाश्रयितेति वाच्यम्, सौरप्रकाशविरुद्धतत्समसत्ताकतमोऽन्तरस्यैव चैतन्यप्रकाशविरुद्धतत्समसत्ताकाज्ञानान्तरस्याभावेनातात्त्विकाज्ञानविरोधस्यैव वाच्यत्वात् । अन्यथा तात्त्विकसुखरूपस्यात्मनो व्यावहारिकदुःखरूपता स्यात् ।

किं चाहमज्ञ इति धर्मिग्राहकसाक्षिबाधः । न चात्मनि स्थौल्याश्रयदेहैक्याध्यासादहं स्थूल इतिवदहंकारे अज्ञानाश्रयचिदैक्याध्यासाद्वा दग्धृत्वायसोरेकाग्निसम्बन्धादयो दहतीतिवदज्ञानाहंकारयोरेकचि(ताव)दध्यासाद्वाहमज्ञ इति धीर्भ्रान्तिरिति वाच्यम्, अद्यापि चितोऽज्ञानाश्रयत्वासिद्ध्याऽन्योऽन्याश्रयात् । दोषाजन्यस्याहमज्ञ इति

अद्वैतसिद्धिः

इति धर्मिग्राहकेण साक्षिणा अहङ्काराश्रितत्वेनाज्ञानस्य ग्रहणाद् बाधः, न च—स्थौल्याश्रयदेहैक्याध्यासादहं स्थूल इतिवदज्ञानाश्रयचिदैक्याध्यासाद् दग्धृत्वायसोरेकाग्निसंबंधा'दयो दहती'तिवदज्ञानाहङ्कारयोरेकचिदैक्याध्यासाद्वा 'अहमज्ञ' इति धीर्भ्रान्तेति—वाच्यम्, चितोऽज्ञानाश्रयत्वासिद्ध्या अन्योन्याश्रयादिति—चेन्न, अहंकारस्याविद्याधोनत्वेन तदनाश्रयतया चित एवाज्ञानाश्रयत्वे सिद्धे 'अहमज्ञ' इति प्रतीते·

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

२. धर्मिग्राहक प्रमाण-विरोध और उसका परिहार—

शङ्का—जो यह कहा गया कि अज्ञान शुद्ध (सामान्य) चैतन्य के आश्रित होता है, पश्चाद्भावी जीव अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, वह कहना संगत नहीं, क्योंकि 'अहमज्ञः'—इस प्रकार अज्ञानरूप धर्मी के ग्राहक साक्षी के द्वारा अहङ्कारात्मक जीव के आश्रित ही अज्ञान सिद्ध होता है । 'यदि कहा जाय कि 'अहमज्ञः'—यह प्रतीति 'अहं स्थूलः', 'अयो दहति' के समान ही भ्रमात्मक है, क्योंकि जैसे स्थूलत्वादि धर्मों के आश्रयीभूत देह की आत्मा में एकता का अध्यास कर 'अहं स्थूलः' यह व्यवहार होता है । इसी धर्म्यध्यास के द्वारा स्थूलत्वादि धर्मों का आत्मा में वैसे ही अध्यास हो जाता है, जैसे कि अग्निगत दाहकत्व का अग्नि-संयुक्त अयःपिण्ड में समारोप हो जाता है । वैसे ही अज्ञान के आश्रयीभूत चैतन्य में अहङ्कार की एकता का आरोप होकर चैतन्य के धर्मभूत अज्ञान की प्रतीति अहंकार में होता है ।' वह कहना संगत नहीं, क्योंकि शुद्ध चैतन्य में अज्ञान की आश्रयता है—यह अभी तक सिद्ध नहीं हो, सका है, अतः धर्माध्यास के द्वारा अहमज्ञः'—इस प्रतीति का उपपादन नहीं किया जा सकता। 'अहमज्ञः'—इस प्रतीति की भ्रमरूपता सिद्ध हो जाने पर शुद्ध चैतन्य में अज्ञान की आश्रयता और शुद्ध चैतन्य में अज्ञान की आश्रयता सिद्ध हो जाने पर 'अहमज्ञः'—इस प्रतीति की भ्रमरूपता मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होता है । फलतः 'अहमज्ञः'—इस प्रतीति को प्रमात्मक मानना होगा, अतः अज्ञान को शुद्ध चैतन्य के आश्रित नहीं माना जा सकता ।

समाधान—जिस अहंकार का स्वरूप-लाभ अविद्या के द्वारा होता है, वह सादि या पश्चाद्भावी अहङ्कार अनादि अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, अतः शुद्ध चैतन्य में ही अज्ञान की आश्रयता सिद्ध हो जाती है, अतः 'अहमज्ञः'—यह प्रतीति अहं स्थूलः' के समान अभेदाध्यासमूलक ही प्रतीत होती है, प्रमात्मक नहीं, इससे शुद्ध चैतन्य की

न्यायामृतम्

साक्षिज्ञानस्य भ्रान्तित्वायोगाच्च । बाधकाभिमतस्यैव धर्मिग्राहकैतद्बाधितत्वेनैतद्बाधकाभावाच्च । मिथ्यारूप्येदमंशसम्बन्धतद्व्यस्ताज्ञानसम्बन्धस्यापि तद्ग्राहकेणैव ग्राह्यत्वाच्च । अज्ञानाश्रयत्वधीबलादेवाहमर्थोऽकल्पितो वाऽविद्यायामनुपपत्तिरलंकारो वाऽस्तु ।

किं च "निरनिष्टो निरवद्यः शोकं मोहमत्येति नित्यमुक्तः"—इत्यादिश्रुतिविरोधः । न हि मौ(र्ख्यं)ढ्यं न दोषः । नापि बन्धकाज्ञानाश्रयो मुक्तः । न च तास्वि-

अद्वैतसिद्धिः

रैक्याध्यासनिबन्धनत्वेनाबाधकत्वात् । न च—अविद्याश्रयत्वादेवाहङ्कारोऽकल्पितोऽस्तु, कल्पित एव वा तदाश्रयत्वमस्तु अविद्यायामनुपपत्तेरलङ्कारत्वादिति—वाच्यम्, अहमर्थस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वेन दृश्यत्वेनाकल्पितत्वायोगात्, चिन्मात्राश्रितत्वं विना तद्गोचरचरमवृत्त्यनिवर्त्यत्वापातात्, स्वकल्पितस्य स्वाश्रितत्वेन स्वाश्रयत्वायोगात् । न चाविद्यायामनुपपत्तिरलङ्कारः, अनुपपत्तिमात्रं नालङ्कारः, किन्तु सत्त्वादिप्रापकयुक्तावनुपपत्तिः, अन्यथा वादिवचसोऽनवकाशापत्तेः । ननु—'निरनिष्टो निरवद्यः शोकं मोहमत्येति नित्यमुक्त' इति श्रुतिविरोधात् न शुद्धचितोऽविद्याश्रयत्वम्, न हि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अज्ञानाश्रयता का बाध नहीं किया जा सकता ।

शङ्का—यह जो कहा गया कि अहङ्कार अविद्या के द्वारा कल्पित सादि है, अतः अनादि अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, वह कहना संगत नहीं, 'अहमज्ञः'—इस प्रतीति के द्वारा अज्ञान की आश्रयता जिस अहङ्कार में सिद्ध होती है, उसे अनादि और अकल्पित ही मानना होगा, अनादि अहङ्कार में अनादि अज्ञान की आश्रयता अनुपपन्न नहीं । अथवा कल्पित अहङ्कार के आश्रित ही अविद्या को माना जा सकता है, सादि के आश्रित अनादि अविद्या की उपपत्ति कैसे ? यह शङ्का अविद्या के विषय में नहीं की जा सकती, क्योंकि अविद्या या माया की अनुपपन्नता कोई दूषण नहीं, प्रत्युत भूषण है । मण्डन मिश्र ने भी कहा है—"न हि मायायां काचिदनुपपत्तिः, अनुपपद्यमानार्थैव हि माया" (ब्र० सि० पृ० १०) ।

समाधान अहङ्कार की तत्त्वज्ञान के द्वारा निवृत्ति होती है, अतः उसे कल्पित ही मानना होगा, क्योंकि अकल्पित की ज्ञान के द्वारा निवृत्ति नहीं हो सकती तथा दृश्य होने के कारण भी अहङ्कार को अकल्पित नहीं माना जा सकता । यदि अविद्या को चैतन्य मात्र के आश्रित न मानकर अहङ्कार के आश्रित माना जाता है, तब चैतन्य मात्र विषयक चरम ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए । अविद्या-कल्पित अहङ्कार कभी भी अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता । यह जो कहा गया कि अविद्या का अनुपपद्यमानत्व अलङ्कार होता है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि सभी प्रकार की अनुपपत्तियों को अविद्या का अलङ्कार नहीं माना जाता, अपितु अनिर्वचनीय अविद्या में सत्त्व और असत्त्व की प्रापिका युक्तियों की अनुपपन्नता, या सत्त्व और असत्त्व की अनुपपन्नता को ही अविद्या का भूषण माना जाता है । यदि उसे सर्वथा अनुपपन्न माना जाय, तब द्वैतवादियों को उस के विषय में कुछ भी बोलने का अधिकार नहीं मिलता ।

३. श्रुति-विरोध दोष और उसका परिहार—

शङ्का "निरनिष्टो निरवद्यः शोकं मोहमत्येति नित्यमुक्तः"—इस श्रुति के द्वारा शुद्ध चैतन्य में अनिष्ट और अवद्य (दोष) मात्र के सम्बन्ध का निषेध किया गया है,

न्यायामृतम्

काविद्यादेरेव निषेधः, त्वन्मते तस्याप्रसक्तेः। जीवेऽपि तदभावेन जीवब्रह्मणोः सावद्यत्वनिरवद्यत्वादिव्यवस्थाश्रुतिविरोधाच्च। मुक्त्यन्वयिनि चिन्मात्रे जीव इव शोकस्य तात्त्विकस्याभावेऽपि मोहवद् व्यावहारिकत्वापाताच्च। न च श्रुतौ मोहशब्दस्तत्कार्यपरः, मुख्यार्थहानेः, तत्कार्यशोकादेः पृथगुक्तेश्च। न चैवं श्रुतिः बिंबस्थानीयब्रह्मपरा। जीवेऽप्यज्ञानाभावेन ज्ञाज्ञावीशानीशावित्यादिश्रुतिषु जीवे अज्ञत्वोक्त्य-

अद्वैतसिद्धिः

मौढ्यं न दोषः, नापि बन्धकाज्ञानाश्रयो मुक्तः, न च तात्त्विकाविद्यादेरेव निषेधः, त्वन्मते तस्याप्रसक्तेः, जीवेऽपि तदभावेन जीवब्रह्मणोः सावद्यत्वनिरवद्यत्वव्यवस्थाश्रुतिविरोध इति चेन्न, अवद्यस्य चिति कार्यकारित्वाभावेन कार्यकरत्वाकार्यकारत्वाभ्यामेव सावद्यत्वनिरवद्यत्वव्यवस्थोपपत्तेः, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्। न च — चिन्मात्रस्याविद्याश्रयत्वे प्रमाणाभावः, जीवाश्रितत्वे च प्रमाणमस्तीति—वाच्यम्, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वर'मिति श्रुतेरेव प्रमाणत्वात्। न च 'ज्ञाज्ञावीशानीशा'विति जीवाज्ञानप्रतिपादकश्रुतिविरोधः, तदाश्रयत्वाभावेऽपि तत्कार्ययोगि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतः अज्ञान की आश्रयता उसमें नहीं हो सकती। अज्ञानिता और अज्ञानरूप बन्धन से युक्त होना कोई दोष नहीं—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अज्ञानवान् कभी भी मोह और बन्धन से मुक्त नहीं कहा जा सकता। 'निरनिष्टः' आदि पदों से तात्त्विक अविद्या के सम्बन्ध का निषेध है—ऐसा आप (अद्वैतवादी) नहीं कह सकते, क्योंकि तात्त्विक अविद्या आप मानते ही नहीं। अप्रसिद्धप्रतियोगिक निषेध को मानकर तात्त्विक अविद्या का निषेध जीव में भी किया जा सकता है, अतः श्रुतियों में जीव को सावद्य और ब्रह्म को निरवद्य कहना असंगत हो जाता है।

समाधान—शुद्ध चैतन्य में अविद्यारूप अवद्य (दोष) की आश्रयता श्रुति-बाधित नहीं, क्योंकि अविद्यारूप दोष शुद्ध चैतन्य को दूषित नहीं करता, अपितु स्वगत प्रतिबिम्बभूत जीव को ही सावद्य बनाता है—इस अर्थ में ही श्रुतियों का तात्पर्य है, यह कहा जा चुका है। उपाधि में प्रतिबिम्ब-पक्षपातित्व नितान्त प्रसिद्ध है।

अविद्या की चैतन्य मात्राश्रितता में प्रमाण का अभाव और जीवाश्रितता में प्रमाण का भाव है—यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वेता० ४।१०) यह श्रुति ही उक्त अर्थ में प्रमाण है [ईश्वर और जीव—दोनों के प्रतिबिम्बवाद में 'महेश्वर' पद से बिम्बभूत शुद्ध चैतन्य का अभिधान किया गया है, वही मायावी माया का आश्रय है, माया का अधीश्वर है]। "ज्ञाज्ञौ ईशानीशौ" (श्वेता० १।९) यह श्रुति जीव का अज्ञ या अज्ञान का आश्रय बताती हुई अज्ञान में ब्रह्माश्रयता का विरोध करती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जीव अज्ञान का आश्रय न होने पर भी अज्ञान-जनित आवरण से आवृत होने के कारण अज्ञ कहा गया है। यदि कहा जाय कि जैसे वस्तुतः ब्रह्माश्रित अज्ञान के कार्य-कलाप का सम्बन्ध जीव में दिखा कर जीवगत गौण अज्ञता का उपपादन किया जाता है, वैसे ही वस्तुतः जीवाश्रित अज्ञान या माया की विषयता ब्रह्म में दिखा कर ब्रह्मगत गौण मायाविता का उपपादन क्यों नहीं किया जा सकता ? तो वैसा कहना उचित न होगा, क्योंकि शुद्ध चैतन्य को अज्ञान का आश्रय न मान कर जीव को अज्ञान का आधार

न्यायामृतम्

(अज्ञानीशत्वोक्त्य)योगात् । यन्नाद्यो मुक्तिस्तच्चिन्मात्रं सावद्यमन्यन्निरवद्यमित्यस्य विरोधाच्च । न च जीवस्यैव शुद्धस्याज्ञत्वे श्रुत्याद्यस्ति ।

किं च शुक्त्याद्यज्ञानवत् ज्ञातुरर्थाप्रकाशरूपमिदमप्यज्ञानं स्वकार्येण भ्रान्ति-संसारादिना स्वनिवर्तकेन तत्त्वज्ञानेन स्वसमानयोगक्षेमेण ज्ञानप्रागभावेन च सामाना-धिकरण्याय ज्ञात्रात्मनिष्ठम्, न तु ज्ञानमात्राश्रितम् । उक्तं हि विवरणेऽपि-जडस्य चाज्ञा-नाश्रयत्वे भ्रान्तिसम्यग्ज्ञानयोरपि तदाश्रयत्वप्रसंगादिति । चिन्मात्रेऽपि ज्ञातृत्वाध्या-

अद्वैतसिद्धिः

तया अज्ञत्वव्यपदेशोपपत्तेः । न च – ब्रह्मणोऽपि जीवाश्रिताज्ञानविषयत्वेन मायित्वो-पपत्तिरिति—वाच्यम्, जीवत्वस्याश्रयतावच्छेदकत्वे परस्पराश्रयप्रसङ्गात् ।

ननु—शुक्त्याद्यज्ञानवत् ज्ञातुरर्थाप्रकाशरूपमिदमप्यज्ञानं स्वकार्येण भ्रान्त्यादिन स्वनिवर्तकेन तत्त्वज्ञानादिना स्वसमानयोगक्षेमेण ज्ञानप्रागभावेन च सामानाधिकर-ण्याय ज्ञात्रात्मनिष्ठम्, न तु चैतन्यरूपज्ञानमात्राश्रितमिति – चेत्, न, चैतन्यस्यैव ज्ञातृत्वेन ज्ञातुरर्थाप्रकाशरूपत्वस्य सम्यक्ज्ञानाश्रयत्वस्य भ्रान्त्यादिसामानाधिकर-ण्यस्य चोपपत्तेः । न चैवं– ज्ञातृत्वे सत्यविद्याश्रयत्वम्, अविद्यायां च ज्ञातृत्वमित्य-न्योन्याश्रय इति वाच्यम्, अविद्याया ज्ञातृत्वानपेक्षत्वेनान्योन्याश्रयाभावात् । न हि सामानाधिकरण्यमस्तीत्येतावतैव तदपेक्षया अनया भवितव्यम् । न च—शरीरेऽपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मानने पर 'जीवत्व' का अज्ञान की आश्रयता का अवच्छेदक या अज्ञान का परिचायक कहना होगा, किन्तु जीवत्व एक मात्र अज्ञान की देन हैं, अतः अज्ञान के द्वारा जीवत्व और जीवत्व के द्वारा अज्ञान का प्रत्यायन करने पर स्पष्ट अन्योऽन्याश्रय होता है ।

४. भ्रान्ति-सामानाधिकरण्य दोष और उसका परिहार—

शङ्का—शुक्त्यादि के अज्ञान के समान ही ज्ञाता का विषयाप्रकाशरूप समस्त अज्ञान ज्ञाता जीव में मानना चाहिए, क्योंकि कार्य-कारण एवं निवर्त्यनिवर्त्तक का सर्वत्र सामानाधिकरण्य ही देखा जाता है, अतः अज्ञान को भी अपने कार्यभूत भ्रम एवं निवर्तक तत्त्व-ज्ञान के समानाधिकरण ही होना चाहिए, जैसा कि इष्टसिद्धिकार ने कहा है—"यस्याज्ञानं भ्रमस्तस्य तत्त्वं सम्यक् च वेत्ति सः" (इष्ट० पृ० १९३) । जीव में ही भ्रान्ति और तत्त्वज्ञान होता है, अतः अज्ञान भी जीव के आश्रित होता है, शुद्ध चेतन्य के आश्रित नहीं, क्योंकि शुद्ध चेतन्य में न तो अज्ञान का कार्य भ्रम माना जाता है और न ज्ञान-निवर्त्य ज्ञान-प्रागभाव ।

समाधान—शुद्ध चैतन्य में ही अन्तःकरण का अध्यास होने के कारण ज्ञातृत्व माना जाता है अतः शुद्ध चेतन्यगत अज्ञान का सामानाधिकरण्य अपने भ्रान्तिरूप कार्य एवं निवर्तक तत्त्व-ज्ञान के साथ निभ जाता है, अन्यत्र अज्ञान मानने की आवश्यकता नहीं । ज्ञातृत्व के अधीन अज्ञानाश्रयत्व और अज्ञानाश्रयत्व के अधीन ज्ञातृत्व होता है—इस प्रकार का अन्योऽन्याश्रय दोष यहाँ प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि अज्ञानाश्रयता को ज्ञातृत्व की अपेक्षा नहीं, अतः वह ज्ञातृत्व के अधीन नहीं होता । ऐसा कोई नियम नहीं कि अज्ञान का सामानाधिकरण्य ज्ञातृत्व के साथ हो जाने मात्र से अज्ञान को ज्ञातृत्व की अपेक्षा हो जाती है । 'ज्ञातृत्व का अध्यास शुद्ध चैतन्य में जैसे होता है,

न्यायामृतम्

सोऽस्तीति चेन्न, तस्याविद्याधीनत्वेनान्योऽन्याश्रयात्। चैतन्ये बुद्धिस्थकर्तृत्वाध्यासेन तत्स्थभोक्तृत्वाध्यासवद् बुद्धिस्थज्ञातृत्वाध्यासेनेतत्स्थाज्ञत्वाध्यासापत्त्या बुद्धेरेवाज्ञानाश्रयत्वापाताच्च, देहादावपि ज्ञातृत्वाध्याससद्भावाच्च। बुद्ध्यवच्छिन्न एव तद्धर्माणां ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादीनामध्यासेन चिन्मात्रे तदभावाच्च। तेषां चिन्मात्र एवाध्यासे तु ज्ञातृत्वादिमत्येवाज्ञानांगीकारेण जीवाज्ञानमतं स्यात्। न च शुक्त्यज्ञानमपि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्थमेव, अहं जानामीतिवदहं न जानामीति ज्ञातृस्थत्वानुभवात्। न च विशेष्यविशिष्टभावस्यैव तंत्रत्वाद्विशेष्यस्थमज्ञानं विशिष्टे जीवे संसारहेतुर्विशिष्टस्थ (स्य) तत्त्वधीविरुद्धं चेति वाच्यम्, विशिष्टे ब्रह्मण्यपि संसारापातात्। देहं प्रति

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञातृत्वाध्याससंभवेन तत्राप्यज्ञानाश्रयत्वापत्तिरिति– वाच्यम्, न हि ज्ञातृत्वाध्यासो अज्ञानाश्रयत्वे प्रयोजकः, येन तन्मात्रेण तदापद्येत, किंतु प्रसक्तप्रकाशत्वं अज्ञानानाश्रितत्वं च। न चैवं अविद्याश्रयस्य ज्ञातृत्वभोक्तृत्वादिमत्त्वे जीवाश्रिताज्ञानपक्षप्रवेश इति—वाच्यम्, अविद्यावच्छिन्नस्य हि ज्ञातृत्वम्, अविद्या च नाविद्यावच्छेदेन, सामानाधिकरण्यं चावच्छेद्यांशैक्यमादाय। यथोपाधिसंबन्धो मुखमात्र एव, औपाधिकमालिन्यसंबन्धस्तु उपाध्यवच्छिन्ने, बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यात्, तथा सामानाधि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वैसे ही शरीर में, अतः चैतन्य के समान ही शरीर को भी अज्ञान का आश्रय मान लेना चाहिए'—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि अज्ञान की आश्रयता को ज्ञातृत्वाध्यास की नियमतः अपेक्षा नहीं होती, अपितु प्रसक्तप्रकाशत्व और अज्ञानानाश्रितत्व की ही अपेक्षा होती है। अर्थात् यत्र-यत्र प्रकाश-प्राप्तिः, तत्र-तत्र अज्ञानाश्रयता—ऐसा ही नियम होता है। चैतन्य में ही प्रकाश और अज्ञानानाश्रितत्व होता है, अन्यत्र नहीं।

शङ्का—[अद्वैत-वेदान्त में अज्ञानाश्रयता के विषय में दो भिन्न प्रस्थान प्रचलित हैं—(१) संक्षेपशारीरककार और विवरणकार अज्ञान को शुद्ध चैतन्य के आश्रित तथा ब्रह्मसिद्धिकार और भामतीकार जीवाश्रित मानते हैं]। यदि अज्ञान के आश्रयीभूत शुद्ध चैतन्य में ही ज्ञातृत्व-भोक्तृत्व माना जाता है, तब जीवाश्रित अज्ञान-पक्ष से इसका कोई अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि ज्ञाता-भोक्ता को ही जीव कहते हैं।

समाधान—यहाँ ज्ञातृत्व का अध्यास शुद्ध अनवच्छिन्न चैतन्य में माना गया है, अविद्यावच्छिन्न चैतन्य में नहीं, किन्तु भामतीकारादि जीवत्वावच्छिन्न चैतन्य में ही अज्ञान का अध्यास मानते हैं। जो अज्ञ है, वही जीव होता है। यदि अज्ञानी जीव ही ज्ञाता होता है, तब शुद्ध चैतन्य में ज्ञातृत्व नहीं रह सकता, उसके साथ अज्ञान का सामानाधिकरण्य कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अवच्छिन्न चैतन्य का अनवच्छिन्न चैतन्य से भेद होने पर भी अवच्छेदक के विशेष्यीभूत अवच्छेद्य चैतन्य का अनवच्छिन्न चैतन्य से कोई भेद नहीं होता, अतः अवच्छेद्यभूत शुद्ध चैतन्य में ज्ञातृत्व और अज्ञान—दोनों का सामानाधिकरण्य वैसे ही सम्पन्न हो जाता है, जैसे दर्पणादि उपाधि का सम्बन्ध मुखमात्र के साथ होता है, किन्तु औपाधिक (मालिन्यादि) धर्मों का सम्बन्ध उपाध्यवच्छिन्न प्रतिबिम्ब के साथ होता है, फिर भी बिम्ब और प्रतिबिम्ब की एकता को लेकर उपाधि और औपाधिक धर्मों का

न्यायामृतम्

विशेष्याहंकारस्थकर्तृत्वेन देहविशिष्टे भोक्तृत्वापाताच्च । विशेष्यस्थमुक्तेर्विशिष्टस्थसंसारविरोधापाताच्च । एतेन विशेष्यविशिष्टयोरत्यस्तमैक्यं तन्त्रमिति निरस्तम् । न चोपाधेः प्रतिबिंबपक्षपातित्वस्वाभाव्यात् जीवे संसार इति वाच्यम्, श्रुत्यादिविरोधसाम्ये अर्धजरतीयायोगेन चिन्मात्र एवाज्ञानस्येव संसारस्याप्यंगीकार्यत्वात्, प्रतिबिंबस्य च्छायादिवद्वस्त्वन्तरत्वाच्च । अचाक्षुषस्य चैतन्यस्य गन्धरसादिवत्प्रतिबिंबनानर्हत्वाच्च । प्रतिबिम्बत्वे जीवस्य सादित्वाद्यापाताच्च । सूर्यस्य जल इव

अद्वैतसिद्धिः

करण्यमपि । यथा प्रतिबिम्बो न वस्त्वन्तरं, तथा वक्ष्यते । ननु—शुक्त्यज्ञानमपि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यगतं वाच्यम्, तथा च 'अहं जानामीच्छामी'तिवद् 'अहं न जानामी'ति ज्ञातृस्थत्वानुभवविरोध इति—चेन्न, अज्ञानद्वैविध्यात् । एकं हि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्याश्रितं तद्गतापरोक्षभ्रमजनकं तद्विषयापरोक्षप्रमानाश्यम्, अपरं च परोक्षभ्रमजनकं तद्विषयप्रमामात्रनाश्यम् प्रमातृत्वप्रयोजकोपाध्यवच्छिन्नचैतन्याश्रितमित्युक्तं प्राक् । तत्र प्रमातृत्वप्रयोजकोपाध्यवच्छिन्नचैतन्यगताज्ञानविषयकोऽयमनुभवः । तेन प्रमातृनिष्ठत्वविषयतास्य न विरुध्यते । अत एव विषयगताऽज्ञाने विद्यमानेऽपि प्रमातृगताज्ञाननाशेन न जानामीति व्यवहाराभावः ।

ननु—उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वान्न ब्रह्मणः संसारित्वमित्युक्तं, तदयुक्तम्, बिम्बप्रतिबिम्बभावस्यैवासंभवात् । तथा हि—अचाक्षुषस्य चैतन्यस्य गन्धरसादिवत्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सामानाधिकरण्य बन जाता है । प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न वस्तु नहीं मानी जाती—यह द्वितीय परिच्छेद में कहा जाएगा ।

शङ्का—आध्यासिक रजत के उपादानभूत शुक्त्यज्ञान को शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य के आश्रित ही मानना होगा, क्योंकि वही, रजताध्यास का अधिष्ठान होता है, किन्तु 'अहं न जानामि'—इस अनुभव से अज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप अहमर्थ में प्रतीत होता है, अतः ज्ञान और इच्छा के समान ज्ञानाज्ञान का अनुभूत सामानाधिकरण्य बाधित हो जाता है ।

समाधान—अज्ञान के दो भेद होते हैं—(१) एक शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य के आश्रित, उसी में होनेवाले अपरोक्ष भ्रम का जनक एवं शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक अपरोक्ष प्रमा से नाश्य अभानापादक अज्ञान । (२) दूसरा परोक्ष भ्रम का जनक, शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक परोक्षापरोक्ष-साधारण प्रमामात्र से नाश्य प्रमातृत्व-प्रयोजक अन्तःकरणरूप उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य के आश्रित असत्त्वापादक अज्ञान—यह प्रतिकर्म-व्यवस्था में कहा जा चुका है । उनमें प्रमातृचैतन्यगत अज्ञान ही 'अहं न जानामि'—इस अनुभाव का विषय होता है, अतः इसकी अनुभाव-गम्य प्रमातृचैतन्यवृत्तिता विरुद्ध नहीं । इसीलिए विषयगत अज्ञान के विद्यमान रहने पर भी प्रमातृगत अज्ञान का नाश हो जाने के कारण 'न जानामि'—इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता ।

शङ्का—यह जो कहा गया कि उपाधि प्रतिबिम्ब को ही प्रभावित करती है, अतः बिम्बभूत ब्रह्म में संसारित्व प्रसक्त नहीं होता । वह कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि चैतन्य में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव ही सम्भव नहीं, इसका (१) प्रथम कारण यह है कि गन्ध, रसादि के समान चैतन्यरूप अचाक्षुष पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता । जीव

न्यायामृतम्

मरीचिकाजलेष्वप्रतिफलनेन चिदसमसत्ताकस्याज्ञानस्य चितं प्रत्युपाधित्वायोगाच्च। अस्वच्छद्रव्यस्याज्ञानस्य प्रतिबिंबनोपाधित्वायोगाच्च। अविद्यायाश्चिन्मात्राभिमुख्या-

अद्वैतसिद्धिः

प्रतिबिम्बनानर्हत्वात्, प्रतिबिम्बत्वे जीवस्य सादित्वापाताच्च, सूर्यस्य सरिज्जल इव मरीचिकाजलेष्वप्रतिफलनेन चिदसमानसत्ताकस्याज्ञानस्य चितं प्रत्युपाधित्वायोगाद्, अस्वच्छस्याज्ञानस्य प्रतिबिम्बनोपाधित्वायोगाच्च, अविद्यायाश्चिन्मात्राभिमुख्या-संभवाच्च, अज्ञानस्याकाशाद्यात्मना परिणामे प्रतिबिम्बापायापाताच्चेति—चेन्न, रूपवत एव प्रतिबिम्ब इत्यस्या व्याप्तेः रूपादौ व्यभिचाराद् यथा भङ्गः, एवमाकाशादौ व्यभिचाराच्चाक्षुषस्यैव प्रतिबिम्ब इत्यस्या अपि व्याप्तेर्भङ्गः। वस्तुतस्तु—श्रुतिबला-न्वितः प्रतिबिम्बे सिद्धे तत्रैव व्यभिचारान्नेयं व्याप्तिः, तथा च रसादिव्यावृत्तं फलैकोन्नेयं प्रतिबिम्बप्रयोजकम्। नापि जीवस्य सादित्वापत्तिः, उपाधिबिम्बसम्बन्धाना-दित्वेनानादित्वोपपत्तेः। विस्तरस्तु सिद्धान्तबिन्दौ। यत्तूक्तं मरीचिकाजले सूर्यप्रति-बिम्बादर्शनाद् बिम्बसमानसत्ताकत्वं प्रतिबिम्बोद्ग्राहित्वे प्रयोजकमिति। तन्न,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

को उसका प्रतिबिम्ब मानने पर जीव को सादि मानना होगा। (२) दूसरा कारण है—सूर्य का नदी के (व्यावहारिक) जल में ही प्रतिबिम्ब देखा जाता है, मरु-मरीचिकाके (प्रातिभासिक) जल में नहीं, अतः वस्तु का स्वसमानसत्ताक उपाधि में ही प्रतिबिम्ब सिद्ध होता है, विषमसत्ताक उपाधि में नहीं, चैतन्य और अविद्या की समान सत्ता न होने के कारण अविद्या चैतन्य-प्रतिबिम्ब की उपाधि नहीं बन सकती। (३) तीसरा कारण यह है कि दर्पणादि स्वच्छ सान्द्र मसृण द्रव्यों में ही प्रतिबिम्ब होता है, अन्धकार-जैसे अस्वच्छ अज्ञान में प्रतिबिम्बनोपाधि बनने की योग्यता ही नहीं कि उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब सम्भावित हो। (४) चौथा कारण यह है कि मुखादि के सम्मुखस्थ दर्पणादि में ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, अविद्या में चैतन्य मात्र का आभिमुख्य भी सम्भव नहीं। (५) पाँचवाँ कारण यह है कि अद्वैत मत के अनुसार मूलाज्ञान ही आकाशादि के रूप में परिणत हो जाता है, तब चैतन्य का प्रतिबिम्ब किसमें पड़ेगा? क्योंकि नदी-जल के हिम वाष्पादि के रूप में परिणत हो जाने पर तीरस्थ वृक्षादि का प्रतिबिम्ब विलुप्त हो जाता है।

समाधान—(१) 'रूपवान् पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है'—यह व्याप्ति नीरूप रूपादि में जैसे व्यभिचरित हो जाने के कारण टूट जाती है, वैसे ही 'चाक्षुषस्यैव प्रतिबिम्बः'—यह व्याप्ति भी आकाशादि अचाक्षुष द्रव्य का जल में प्रतिबिम्ब देखकर भङ्ग हो जाती है। वस्तुतः ''एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्'' (ब्र० वि० उ० १२) इत्यादि श्रुति प्रमाणों से प्रमाणित चैतन्य के प्रतिबिम्ब में उक्त द्विविध व्याप्ति व्यभिचरित होकर समाप्त हो जाती है, अतः प्रतिबिम्बरूप कार्य को देखकर उसके प्रयोजक कारण-कलाप की वैसी ही कल्पना हो जाती है, जिससे रसादि के प्रतिबिम्ब की आपत्ति नहीं रहती। जीव में प्रतिबिम्ब-रूपता मानने पर सादित्वापत्ति भी नहीं होती, क्योंकि अविद्या रूप उपाधि और बिम्बरूप चैतन्य का सम्बन्ध अनादि होने के कारण जीव की अनादिता सुरक्षित रहती है। इस तथ्य का विस्तृत उपपादन सिद्धान्तबिन्दु में किया गया है।

न्यायामृतम्

भावाच्च। उपाधेरज्ञानस्याकाशाद्यात्मना परिणामे प्रतिबिंबापायापाताच्च। मुखप्रतिमुखानुगतमुखत्वातिरिक्तमुखमात्रत्वरूपव्यक्त्यन्तरस्येव जीवब्रह्मानुगतचित्त्वातिरिक्तचिन्मात्ररूपस्याज्ञानाश्रयत्वयोग्यव्यक्त्यन्तरस्य चाभावाच्च। अनादिभावो न निवर्तत

अद्वैतसिद्धिः

अध्यस्तस्य स्फटिकलौहित्यस्य दर्पणे प्रतिबिम्बदर्शनात्। तस्मान्मरीचिकाजलव्यावृत्तं स्वच्छत्वं फलैकोन्नेयं अननुगतमेव प्रतिबिम्बोद्ग्राहित्वे प्रयोजकम्, तच्च प्रकृतेऽप्यस्ति। अत एवाज्ञानस्यास्वच्छत्वान्न प्रतिबिम्बोपाधित्वमिति निरस्तम्।

यच्चोक्तं—चिन्मात्राभिमुख्याभावादिति, तत्किं सर्वात्मना चिदाभिमुख्याभावाद्वा? आभिमुख्यमात्राभावाद्वा? नाद्यः, चैतन्यवद्विभुत्वपक्षे सर्वात्मनापि संभवात्। न्यूनपरिमाणत्वेऽपि न दोषः, न्यूनपरिमाणस्यापि अधिकपरिमाणाकाशादिप्रतिबिम्बोद्ग्राहित्वदर्शनात्। न द्वितीयः; चैतन्यस्य सर्वतोऽपि प्रसृतत्वेन व्यवधानाभावेन च आभिमुख्यस्य सद्भावात्। न चाकाशाद्यात्मना परिणामे प्रतिबिम्बापायापत्तिः, प्रतिबिम्बप्रयोजकरूपाविरोधिपरिणामस्य प्रतिबिम्बाविरोधित्वेन प्रतिबिम्बानपायात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(२) यह जो कहा कि मरु-परीचिका के जल में सूर्य-प्रतिबिम्ब का अदर्शन यह सिद्ध करता है किसी भी बिम्ब का स्वसमानसत्ताक उपाधि में ही प्रतिबिम्ब होता है, वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि प्रातिभासिक स्फटिकगत लौहित्य का प्रतिबिम्ब व्यावहारिक दर्पण में देखा जाता है, अतः प्रतिबिम्बरूप फल को देखकर फल-बल-कल्पनीय प्रतिबिम्ब की प्रयोजक स्वच्छत्वादि सामग्री भी ऐसी ही कल्पित होगी, जो कि मरुमरीचिका-जल में उपलब्ध न हो :

(३) दर्पण, जलादि-साधारण एक स्वच्छता का निरूपण सम्भव नहीं, अतः उपाधिगत प्रतिबिम्बोन्नेय प्रातिस्विक (अननुगत) स्वच्छत्व अविद्या में भी मानना होगा, क्योंकि उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब ''जीवेशावाभासेन करोति'' (नृसिंह० उ० ता० उ० ९।३) इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है। अतः अज्ञान में अस्वच्छता के कारण प्रतिबिम्बोपाधिता की अभावापत्ति निरस्त हो जाती है।

(४) यह जो आपत्ति दी कि अविद्या में चैतन्य का आभिमुख्य सम्भव नहीं, वह भी क्या सर्वात्मना चैतन्य का आभिमुख्य न होने के कारण? अथवा आभिमुख्यमात्र का अभाव होने के कारण? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि 'चैतन्य के समान ही अविद्या विभु है'—इस मत के अनुसार सर्वात्मना चैतन्याभिमुख्य सम्भव है। चैतन्य की अपेक्षा अविद्या का न्यून परिमाण मानने पर भी उक्त दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि न्यून परिमाण के जलादि में अधिक परिमाण के आकाशादि का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि चैतन्य तत्त्व सर्वतः प्रसृत है, अविद्या और उसके मध्य में किसी प्रकार का व्यवधान न होने के कारण आभिमुख्य का सद्भाव है।

(५) अविद्या के आकाशादि-रूप में परिणत हो जाने पर जो प्रतिबिम्बाभावापत्ति दी थी, वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब की सिद्धि

न्यायामृतम्

इति सामान्यव्याप्तेरज्ञानं ज्ञाननित्यमिति विशेषव्याप्त्यैवोपाधिःप्रतिबिम्बपक्षपातीति-सामान्यव्याप्तेरज्ञानं स्वाश्रय एव भ्रान्त्यादिहेतुरिति विशेव्याप्त्या बाधाच्च। बन्धस्य चिन्मात्राश्रितमोक्षासामानाधिकरण्याच्च। न च व्यक्त्यन्तराभावेऽपि जीवाश्रितमेवाज्ञानम्, चिदाश्रयत्वोक्तिस्तु चित्वस्याधिकरणतावच्छेदकत्वादिति युक्तम्, अन्योऽन्याश्रयादेर्वक्ष्यमाणत्वात्। ब्रह्मण्यतिप्रसक्तस्य चित्वस्याधिकरणतानवच्छेदकत्वाच्च। चिन्मात्ररूपविशेष्यस्याज्ञानेन विशिष्टे संसार इति च निरस्तम्।

अद्वैतसिद्धिः

न च—मुखप्रतिमुखानुगतमुखत्वातिरिक्तमुखमात्रत्वरूपव्यक्त्यन्तरस्येव जीवब्रह्मानुगतचित्वातिरिक्तचिन्मात्रत्वरूपस्याज्ञानाश्रयत्वयोग्यव्यक्त्यन्तरस्याभावान्मुखमात्रसंबंध्यादर्शवच्चिन्मात्रसंबन्ध्यज्ञानमिति कथमिति—वाच्यम्, अपरामृष्टभेदस्य मुखादेर्मात्रार्थत्वेनानुगतधर्म्यतिरेकसंभवात्।

ननु—उपाधिः प्रतिबिम्बपक्षपातीति सामान्यव्याप्तेरज्ञानं स्वाश्रय एव भ्रान्त्यादिहेतुरिति विशेषव्याप्त्या बाध इति—चेन्न, विशेषव्याप्तिग्राहकसहचारदर्शनस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

से वैसे ही परिणाम की कल्पना होती है, जो प्रतिम्ब का विरोधी नहीं होता।

शङ्का—[यह जो कहा गया कि अविद्या वैसे ही चिन्मात्र-सम्बन्धिनी होती है, जैसे दर्पण मुखमात्र-सम्बन्धी होता हैं। वहाँ मुखमात्र और चिन्मात्र पदों के द्वारा बिम्ब और प्रतिबिम्ब से भिन्न जो तृतीय पदार्थ विवक्षित है, उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि] जैसे मुख (विम्ब) और प्रतिमुख (प्रतिविम्ब) में अनुस्यूत 'मुखत्व' धर्म से अतिरिक्त कोई 'मुखमात्रत्व' धर्म प्रसिद्ध नहीं, जिसके आश्रयीभूत मुखमात्र का सम्बन्ध दर्पण में स्थापित किया जा सके। वैसे ही जीव (प्रतिविम्ब) और ब्रह्म (विम्ब) में अनुगत 'चित्त्व' धर्म से अतिरिक्त 'चिन्मात्रत्व' धर्म सम्भव नहीं, जिसके आश्रयीभूत तृतीय चिन्मात्र के सम्बन्धी अज्ञान को चिन्मात्र-सम्बन्धी कह कर जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्यावृत्ति 'मात्र' पद से की जाती। अतः जीव और ब्रह्म से भिन्न चिन्मात्र का सम्बन्धी अज्ञान है—यह कहना सम्भव नहीं।

समाधान—जैसे 'आकाश' एक होने पर भी उपधि के योगायोग से तीन प्रकार का कहा जाता है—घटाकाश, मठाकाश और महाकाश, वैसे ही विम्बमुख, प्रतिबिब मुख और मुखमात्र—ये तीन पदार्थ हैं। बिम्ब और प्रतिबिम्व का परस्पर भेद होने पर भी मुखमात्र से उनका भेद प्रतीत नहीं होता। बिम्ब और प्रतिबिम्ब—दोनों परामृष्टभेदक तथा मुखमात्र अपरामृष्टभेदक है, अतः बिम्ब और प्रतिबिम्ब में केवल मुखत्व पर्याप्त नहीं, अपितु परामृष्टभेदकत्व-विशिष्ट मुखत्व है, उससे अतिरिक्त अपरामृष्टभेदकत्व-शिष्ट मुखत्व ही मुखमात्रत्व कहलाता है और उसका धर्मी 'मुखमात्र' पद से विवक्षित है, वैसे ही 'चिन्मात्र' पद से अभिहित अपरामृष्टभेदक चित् ही चिन्मात्र है।

शङ्का—उपाधियाँ अनन्त है, उन सभी में 'यत्र-यत्र उपाधित्वम्, तत्र-तत्र प्रतिविम्बपक्षपातित्वम्'—यह सामान्य व्याप्ति है, किन्तु 'अज्ञानं स्वाश्रये एव भ्रान्त्यादिजनकम्'—यह विशेष व्याप्ति है, इस विशेष व्याप्ति से सामान्य व्याप्ति का बाध हो जाने पर अज्ञान के आश्रयीभूत ब्रह्म में ही संसारित्व प्रसक्त होता है, जीव में नहीं।

समाधान—व्याप्ति की मूल भित्ति सहचार-दर्शन होता है, सहचार-दर्शन के

न्यायामृतम्

किं चोपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वं किं तत्र स्वधर्मप्रतिभासकत्वम् ? स्वकार्यप्रतिभासकत्वं वा ? स्वकार्यनिष्ठधर्मप्रतिभासकत्वं वा ? प्रतिबिम्बं प्रति स्वविषयाच्छादकत्वं वा ? नाद्यः, मालिन्यादेर्दर्पणादिनिष्ठत्ववत् सुषुप्त्याद्यनुवृत्तस्याविद्यारूपस्य वा ऽविद्यावच्छिन्नत्वरूपस्य वा तत्प्रतिबिम्बितत्वरूपस्य वा सुषुप्त्याद्यननुवृत्तस्य कर्तृत्वप्रमातृत्वादिरूपस्य वा संसारस्याज्ञाननिष्ठत्वाभावात् । ज्ञानक्रियासंस्काराणां

अद्वैतसिद्धिः

विवादविषयातिरिक्तेऽसंभवेन विशेषव्याप्त्यसंभवात् । न च बन्धस्य चिन्मात्राश्रितमोक्षसामानाधिकरण्यानुपपत्तिः, अवच्छेद्यांशमादाय सामानाधिकरण्यस्योक्तत्वात् ।

ननु—उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वं तत्र स्वधर्मप्रतिभासकत्वं वा ? स्वकार्यप्रतिभासकत्वं वा ? स्वकार्यनिष्ठधर्मप्रतिभासकत्वं वा ? प्रतिबिम्बं प्रति स्वविषयाच्छादकत्वं वा ? नाद्यः, सुषुप्त्याद्यनुवृत्तस्याविद्यारूपस्याविद्यावच्छिन्नत्वरूपस्य वा, तत्प्रतिबिम्बितत्वस्य वा, सुषुप्त्यादावननुवृत्तस्य कर्तृत्वप्रमातृत्वादिरूपस्य वा संसारस्याज्ञान

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

निश्चायक होते हैं—निर्विवाद स्थल । प्रकृत में 'अज्ञानं स्वाश्रय एव कार्यजनकम्'—इस विशेष व्याप्ति का ग्राहक निर्विवाद स्थल उपलब्ध नहीं, अतः विशेष व्याप्ति निश्चित नहीं हो पाती, अनिश्चितविशेष व्याप्ति से निश्चित सामान्य व्याप्ति का बाध नहीं हो सकता ।

शङ्का—संसाररूप बन्ध जीव में और बन्ध-निवृत्ति या बन्धात्यन्ताभावरूप मोक्ष शुद्ध चेतन में मानने पर बन्ध-मोक्ष का सहज सिद्ध सामानाधिकरण्य नहीं रहता ।

समाधान—अविद्यावच्छिन्न चैतन्यरूप जीव का शुद्ध चैतन्य से तादात्म्य होता है, अतः जीवगत बन्ध का अवच्छेद्यभूत शुद्ध चैतन्य में व्यवहार हो जाता है तथा शुद्धगत मोक्ष के साथ सामानाधिकरण्य भी बन जाता है—यह कहा जा चुका है ।

शङ्का—यह जो कहा जाता है कि उपाधि प्रतिबिम्ब-पक्षपाती होती है, वहाँ प्रतिबिम्ब-पक्षपातित्व क्या है ? (१) स्व-धर्म-प्रतिभासकत्व ? या (२) स्व-कार्य-प्रतिभासकत्व ? या (२) स्व-कार्यगत धर्म-भासकत्व ? अथवा (४) जीवादिरूप प्रतिबिम्ब के प्रति स्व-विषयीभूत ब्रह्म की आच्छादकता ? प्रथम (स्वधर्मप्रतिभासकत्वम्) पक्ष उचित नहीं, क्योंकि इस पक्ष के अनुसार अविद्यारूप उपाधि स्वगत धर्मों की जीव में प्रतिभासिका मानी जाती है, अर्थात् यह सिद्ध हो जाता है कि जीवगत चित्त्वातिरिक्ति सभी धर्म आविद्यक हैं, किन्तु यह सम्भव नहीं, क्योंकि जीव में कुछ ऐसे धर्म भी प्रतिभासित होते हैं, जिनका अविद्या में अभाव है और अविद्या में कुछ ऐसे धर्म प्रतीत होते हैं, जिनका जीव में अभाव है, जैसे—जाग्रत् , स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में प्रतीयमान जीवगत अविद्यावच्छिन्नत्व तथा अविद्याप्रतिबिम्बितत्व—दोनों धर्म अविद्या में नहीं रहते [अर्थात् 'अविद्यावच्छिन्नश्चेतनो जीवः' इस व्यवहार में अविद्या अवच्छेदक और चेतन अवच्छेद्य है, अविद्या-निष्ठ अवच्छेदकता-निरूपित अवच्छेद्यता चेतन में ही रहती है, अविद्या में नहीं । अविद्याश्रित प्रतिबिम्बरूपता भी जीव में ही है, अविद्या में नहीं, सुषुप्ति-भिन्न अवस्थाओं में प्रतिभासित जीवगत कर्तृत्व, प्रमातृत्वादि रूप संसार भी अविद्या में नहीं रहता । इसी प्रकार ज्ञान-जन्य भावनात्मक एवं यज्ञादि क्रियाजन्य धर्माधर्मरूप संस्कार—ये ऐसे धर्म हैं, जो अविद्या में ही रहते हैं, जीव में

न्यायामृतम्

च त्वन्मते अज्ञानस्थत्वेऽपि नित्यातीन्द्रियाणां तेषामात्मनि कदाप्यप्रतीतेः। "अविद्यास्तमयो मोक्ष, सा संसार उदाहृत" इति त्वन्मतेऽपि अविद्या बन्धिका बन्धो वा, न तु बद्धा। न द्वितीयः, विच्छेदादेरुपाधिकार्यस्य बिम्बे महाकाशे च दर्शनान्मुखस्थबिम्बत्वादेः ब्रह्मस्थसार्वज्ञ्यादेश्चानौपाधिकत्वापाताच्च। प्रतिमुखगतस्थौल्यादेरुपाधिकार्यत्वेऽपीह जीवगतस्य संसारस्यानादित्वेनाकार्यत्वाच्च। न तृतीयचतुर्थौ, दर्पणघटादावदृष्टेः। एवं बुद्धिरूपोपाधेरपि न प्रतिबिम्बपक्षपातित्वम्, तस्या प्रतिबिम्बपक्षपातिजपाकुसुमस्थानीयत्वेन तत्पक्षपात्यादर्शस्थानीयत्वाभावात्।

अद्वैतसिद्धिः

निष्ठत्वाभावात्। ज्ञानक्रियासंस्कारादीनां त्वन्मते अज्ञाननिष्ठत्वेऽपि नित्यातीन्द्रियाणां तेषामात्मनि कदाप्यप्रतीतेः। 'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।' इति त्वन्मतेऽपि अविद्या बन्धिका बन्धो वा, न तु बद्धा, येन स्वनिष्ठबन्धरूपधर्मसंक्रामकत्वं स्यात्। न द्वितीयः, विच्छेदादेरुपाधिकार्यस्य बिम्बे महाकाशे च दर्शनात्, मुखस्य बिम्बत्वादेर्ब्रह्मस्थसार्वज्ञ्यादेश्चानौपाधिकत्वापाताच्च। नापि तृतीयचतुर्थौ, दर्पणघटादावदृष्टेः। एवं बुद्धिरूपोपाधिरपि न प्रतिबिम्बपक्षपातीति—चेन्न, अतिशयेन कार्यकरत्वमेव तत्पक्षपातित्वम्। तथा च विच्छेदादिरूपकार्यकरत्वसाम्येऽपि स्थौल्याद्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में वे अतीन्द्रिय होने के कारण प्रतिभासित नहीं होते। अविद्या को बन्ध कहा गया है— "सा च बन्धः उदाहृतः" (ब्र. सि. पृ. ११९)। अविद्यारूप बन्धन से आबद्ध जीव है, वह बद्धत्वधर्म अविद्या में नहीं रहता, अतः वह जीव में उसकी प्रतिभासिका नहीं मानी जा सकती। द्वितीय (स्वकार्यप्रतिभासकत्वम्) पक्ष भी समुचित नहीं, क्योंकि जलरूप उपाधि जैसे प्रतिबिम्बाकाश में भेदादिरूप स्वकार्य का प्रदर्शन करती है, वैसे ही बिम्बभूत महाकाश में भी। 'प्रतिबिम्बाकाशो न महाकाशः'—इस प्रकार का भेद जलरूप उपाधि के देन है और भेद उभय-निष्ठ होने के कारण महाकाज में भी रहता है, केवल प्रतिबिम्ब में नहीं, अतः उपाधि में प्रतिबिम्ब-पक्षपातित्व का नियम भङ्ग हो जाता है। प्रतिबिम्वगत धर्म ही यदि औपाधिक माने जाते है, तब ग्रीवास्थ मुखगत बिम्बत्वादि एवं ब्रह्मगत सर्वज्ञत्वादि धर्मो को औपाधिक न कह कर स्वाभाविक मानना होगा, जो कि अद्वतसिद्धान्त के प्रतिकूल है। तृतीय (स्वकार्यनिष्ठधर्मप्रतिभासकत्वम्) तथा चतुर्थ (प्रतिविम्वं प्रति स्वविषयाच्छादकत्वम्) पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि दर्पण और घटादि उपाधियों में वे नहीं घटते। मुख-प्रतिबिम्बन की उपाधि दर्पण तथा आकाश-भेदक उपाधि घट है। न तो दर्पण ही प्रतिबिम्ब में स्व-कार्यगत धर्म का भासक है और न घट, क्योंकि दर्पण और घट का विषय ही अप्रसिद्ध है। इसी प्रकार अन्तःकरण को जीवभाव की उपाधि मानने पर अन्तःकरणरूप उपाधि में भीं प्रतिबिम्ब-पक्षपातित्व का निरास किया जा सकता है।

समाधान—यद्यपि उपाधि अपने बिम्ब और प्रतिबिम्बरूप दोनों सम्बन्धियों पर कार्यकारी होती है, तथापि अतिशयेन कार्यकारित्व प्रतिबिम्ब पर ही होता है, यही उपाधि की प्रतिबिंब-पक्षपातिता है। जैसे दर्पणादि उपाधियों का भेदादिरूप सामान्य कार्य उभयत्र समान होने पर भी स्थूलत्व-वक्रत्वादि का अवभासरूप विशेष कार्य प्रतिबिंब मुख पर ही होता है, यही दर्पणादि की प्रतिबिंब-पक्षपातिता है। वैसे

न्यायामृतम्

नन्वस्तु तर्हि चिन्मात्रस्यैवाऽज्ञानं संसारश्च, तदन्यस्य मिथ्यात्वेन मोक्षसमानाधिकरणबन्धायोगात् नित्यमुक्तत्वश्रुतिस्तु बिम्बस्थानीयब्रह्मपरेति चेन्न, घटदर्पणोपाधिकयोः परिच्छिन्नत्वमालिन्ययोरवच्छिन्नाकाशप्रतिबिम्बयोरिवाकाशमात्रमुखमात्रयोरदर्शनेनावच्छेदपक्षे प्रतिबिम्बपक्षे चास्यायोगात्। बिम्बे ब्रह्मणीव प्रतिबिम्बे जीवेऽपि संसाराभावेन जीवब्रह्मणोः संसारासंसारव्यवस्थाश्रुत्ययोगाच्च। न च तार्किकमते आत्मनि दुःखाश्रयता देहादिनेवेहापि चिन्मात्रे संसाराश्रयता जीवत्वेनावच्छिन्ना तदभिप्राया च श्रुतिरिति वाच्यम्, त्वन्मते आत्मन इवात्रापि चित एवानर्थान्वयेन तद्भावरूपमुक्तेरपुमर्थत्वापातात्। नित्यमुक्तत्वश्रुतेर्निर्विषयत्वापाताच्च, न हि सा कल्पितविशिष्टविषया।

अद्वैतसिद्धिः

वभासरूपकार्यकरत्वेन दर्पणादेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्ववत् कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसाररूपकार्यकरत्वेनाविद्यायामपि प्रतिबिम्बपक्षपातित्वोपपत्तेः।

यत्तूक्तं मुखादिगतं बिम्बत्वं ब्रह्मगतं सार्वज्ञ्यादिकं चानौपाधिकं स्यादिति। तन्न; उपाधौ बिम्बकार्यकरत्वमेव नेतीति न ब्रूमः, किंतु प्रतिबिम्बे अतिशयेनेति। यदपि बुद्धिरूपोपाधेरपि न प्रबिम्बपक्षपातित्वम्, तस्य प्रतिबिम्बापक्षपातिजपाकुसुमस्थानीयत्वेन तत्पक्षपात्यादर्शस्थानीयत्वाभावादिति। तन्न; स्वनिष्ठस्थौल्यावभासकत्वेनादर्शस्येवास्यापि स्वनिष्ठधर्मावभासकत्वेन तद्वत् पक्षपातित्वसंभवात्। तस्मादविद्याकृतविच्छेदेन ब्रह्मण्येव नित्यमुक्तत्वसंसारित्वसर्वज्ञत्वकिंचिज्ज्ञत्वादिव्यवस्थोपपत्तिः। एतेन—असर्वज्ञत्वादिनानुभवसिद्धाज्जीवात् अन्यस्य चेतनस्याभावेन सार्वज्ञ्यादि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ही कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि-संसाररूप विशेष कार्य का जीवरूप प्रतिबिंब में उद्भावन ही अविद्यारूप उपाधि की प्रतिबिंब-पक्षपातिता है। यह जो कहा कि प्रतिबिंबगत धर्मों को ही औपाधिक मानने पर बिंबभूत मुखादि में बिंबत्वादि और ब्रह्म में सर्वज्ञत्वादि धर्मों को अनौपाधिक मानना होगा। वह उचित नहीं, क्योंकि उपाधि बिंब पर कुछ भी कार्य नहीं करती—यह हमारा कहना नहीं, अपितु प्रतिबिंब पर अतिशयेन कार्यकारिता उपाधि में मानी जाती है।

यह जो आक्षेप किया जाता है कि अन्तःकरण रूप उपाधि में प्रतिबिंब-पक्षपातित्व नहीं देखा जाता, क्योंकि वह प्रतिबिंब के अपक्षपाती जपाकुसुमादि का स्थानापन्न है, प्रतिबिंब के पक्षपाती दर्पणादि का स्थानापन्न नहीं। वह आक्षेप भी अयुक्त है, क्योंकि जैसे दर्पण स्वगत स्थूलत्व-वक्रत्वादि धर्मों को प्रतिबिंब मुख पर अवभासित करता है, वैसे ही अन्तःकरण भी स्वगत कर्तृत्वादि धर्मों का अवभासक है, अतः दर्पणादि के समान ही अन्तःकरण में भी प्रतिबिंब-पक्षपातिता संभव है। इसलिए अविद्यारूप उपाधि के संबन्ध से एक शुद्ध चैतन्य बिंब-प्रतिबिंबरूप में द्विधा विभक्त हो जाता है। बिंबभूत ईश्वर में नित्यमुक्तत्व प्रतिबिंबभूत जीव में संसारित्व, एवं ईश्वर में सर्वज्ञत्व और जीव में अल्पज्ञत्व की व्यवस्था भी उपपन्न हो जाती है।

द्वैतवादी का जो यह आक्षेप था कि अल्पज्ञत्वादि धर्मों के द्वारा अनुभूयमान ज़ीव से भिन्न और कोई दूसरा चेतन तत्त्व यदि है ही नहीं, तब "यः सर्वज्ञः सर्ववित्"—इत्यादि श्रुतियों का विषय कौन होगा? एवं एकजीववाद में संसारी-असंसारी की

न्यायामृतम्

अथ नावच्छेदो नापि प्रतिबिम्बनम्, किं त्वविद्यया ब्रह्मण एव जीवत्वम्।

राजसूनोः स्मृतिप्राप्तौ व्याधभावो निवर्तते।
यथैवमात्मनोऽज्ञस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यतः॥

इति वार्तिके। कश्चित्तु किल राजपुत्रो व्याधगृहे संवर्धित'' इत्यादिबृहदारण्यकभाष्ये च व्याधवर्धितराजपुत्रदृष्टान्तोक्त्या ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति स्वविद्यया च मुच्यत इति स्वीकारात्। नित्यमुक्तत्वश्रुतिस्तु तत्रैव तत्त्वतः कदापि संसाराभावाभिप्रायेति चेन्न यादृश कल्पितोऽप्यनर्थरूपः ज्ञानेनोच्छेत्तव्यो बन्धः सदा तदभावस्यैव तच्छ्रुत्यर्थत्वेन कल्पितेनापि संसारेणास्पृष्टचैतन्याभावे नित्यमुक्तत्वश्रुतेर्निर्विषयत्वापातात्। अन्यथा मुक्तौ शोकाभावश्रुतिरपि शोकस्य तात्त्विकनिषेधपरा स्याद्, असर्वज्ञत्वेनानुभवसिद्धाज्जीवादन्यस्य चेतनस्याभावेन सार्वज्ञ्यादिश्रुतेर्निर्विषयत्वापाताच्च। बद्धजीववादे ब्रह्मभावरूपमुक्तेरपुमर्थत्वापाताच्च। एकजीववादेऽपि जीवब्रह्मणोः संसारासंसारादिव्यवस्थाश्रुतिविरोधाच्च। तयोर्व्यावहारिकभेदस्याप्यभावेन त्वन्मतेऽपि तत्पराभिः द्वा सुपर्णा'', ''य आत्मनि तिष्ठन्नि''त्यादिश्रुतिभिः।

अन्यश्च परमो राजन् तथान्यः पंचविंशकः।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

इत्यादिस्मृतिभिः ''शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते भेदव्यपदेशाच्चान्य'' इत्यादिसूत्रैः। ''तस्माच्छारीरादन्य एवेश्वरः, आत्मानौ हि ताबुभौ चेतनौ। एकः कर्ता भोक्ता अन्यस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुण'' इत्यादि तद्भाष्यैस्तत्त्वज्ञानसंसरणे चावदातत्वश्यामत्वादिवत् नेतरेतरत्रावतिष्ठेते इत्यादिविवरणादिग्रन्थैश्च विरोधाच्च।

अद्वैतसिद्धिः

श्रुतिर्निर्विषया स्यात्, एकजीववादे संसार्यसंसारिव्यवस्थाऽयोगाद् 'द्वा सुपर्णा' 'य आत्मनि तिष्ठन् इत्यादिश्रुतिभिः 'अन्यश्च परमो राजन् तथाऽन्यः पञ्चविंशकः।' 'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप' इत्यादिस्मृतिभिः 'शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते' 'भेदव्यपदेशाच्च' इत्यादिसूत्रैः 'तस्माच्छारीरादन्य एवेश्वरः। आत्मानौ तावेतौ चेतनौ, एकः कर्ता भोक्ता अन्यस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुण' इत्यादिभाष्यैः 'तत्त्वज्ञानसंसरणे चावदातत्वश्यामत्वादिवत् नेतरेतरत्रावतिष्ठेते' इत्यादिविवरणग्रन्थैश्च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यवस्था नहीं बनती। इतना ही नहीं, अपितु ''द्वा सुपर्णा'' (मुं० ३।१।१), ''य आत्मनि तिष्ठन्'' (बृह० उ० ३।७।२२) इत्यादि श्रुतियों, ''अन्यश्च परमो राजन् तथान्यः पञ्चविंशकः'' (म. भा. शां. ⁄), ''तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप'' (गी० ४।५) इत्यादि स्मृतियों, ''शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते'' (ब्र० सू० १।२।२०), ''भेदव्यपदेशाच्चान्यः'' (ब्र० सू० १।१।२१) इत्यादि जीवेश्वर-भेद-प्रतिपादक सूत्रों, ''तस्माच्छारीरादन्य एवेश्वर'' (ब्र० सू० शां० भा० १।२।२०) इत्यादि भाष्यग्रन्थ तथा ''तत्त्वज्ञानसंसरणेऽवदातत्वश्यामत्वादिवत्'' (पं० वि० पृ०) इत्यादि विवरण-वाक्यों से भी एकजीववाद का विरोध है, अतः आत्मानेकत्व सिद्ध होता है।

वह द्वैतवादी का आक्षेप भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि अविद्या-प्रयुक्त बिम्ब-प्रतिबिम्बादि गौण नानात्मता-प्रदर्शन में नानात्मवाद-प्रतिपादक वाक्यों का तात्पर्य निश्चित किया जा चुका है।

न्यायामृतम्

किं च चिन्मात्रस्याज्ञानं स्वाभाविकं चेदानन्दादिवन्न निवर्तेत। औपाधिकत्वे उपाधिः स एव चेदात्माश्रयः, अन्यश्चेदन्योन्याश्रयश्चक्रकमनवस्था वेति।

अज्ञानस्य विवरणोक्तचिन्मात्राश्रितत्वभंगः॥

अद्वैतसिद्धिः

विरोध इति—निरस्तम्। ननु—चिन्मात्रस्याज्ञानं स्वाभाविकम्? औधिकं वा? नाद्यः; आत्मवदनिवृत्तिप्रसङ्गात्। नान्त्यः, स्वस्यैवोपाधित्वे आत्माश्रयाद्, एतदपेक्ष्यान्यापेक्षत्वे अन्योन्याश्रयात्, तदन्यान्यापेक्षत्वे चानवस्थानादिति—चेन्न, स्वस्यैवाश्रयत्वोपाधित्वात्। न चात्माश्रयः, भेदस्य स्वभेदकत्ववदुपपत्तेः, स्वाभाविकस्यापि घटरूपस्य तत्प्रागभावस्य च निवृत्तिदर्शनात्॥

इत्यद्वैतसिद्धौ अज्ञानस्य चिन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—शुद्ध चैतन्य में जो अनादि अज्ञान बताया जाता है, वह स्वाभाविक है? अथवा औपाधिक? प्रथम (स्वाभाविक) पक्ष उचित नहीं, क्योंकि स्वाभाविक पदार्थ की आत्मा के समान ही कभी निवृत्ति न हो सकेगी। द्वितीय (औपाधिक) पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि अज्ञान औपाधिक है, तब उसकी उपाधि कौन? अज्ञान को उसकी उपाधि मानने पर आत्माश्रय दोष होता है। इस अज्ञान से भिन्न अज्ञान को उपाधि मानने पर अन्योऽन्याश्रय और उन दोनों से भिन्न तृतीय अज्ञान को उपाधि मानने पर चक्रक या अनवस्था दोष प्रसक्त होता है।

समाधान—शुद्ध चैतन्य में अविद्या के औपाधिक होने पर भी अतिरिक्त उपाधि की अपेक्षा नहीं, चैतन्य में जो अविद्या की आश्रयता है, वह अविद्यारूप उपाधि से प्रयुक्त है, वही अविद्या चैतन्यगत स्वाश्रयता की प्रयोजिका मानी जाती है। जैसे भेद पदार्थ स्व-भेद एवं स्वेतर-भेद का प्रयोजक माना जाता है, वैसे ही अविद्या भी चैतन्यगत स्वकीय एवं परकीय के संबंध की नियामिका मानी जाती है, अतः आत्माश्रयादि दोष प्रसक्त नहीं होते। यह जो कहा कि अविद्या को स्वाभाविक मानने पर उसकी निवृत्ति न हो सकेगी, वह कहना भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जैसे घटगत रूप तथा घट-प्रागभाव आगन्तुक कारणान्तर से अजन्य होने के कारण स्वाभाविक माने जाते हैं, फिर भी उनकी निवृत्ति होती है, वैसे ही स्वाभाविक अविद्या की भी निवृत्ति बन सकती है, अतः अविद्या को स्वाभाविक मानने पर भी कोई दोष प्रसक्त नहीं होता।

: ६२ :

अविद्यायाः सर्वज्ञाश्रयत्वविचारः

न्यायामृतम्

किं च त्वन्मते शुद्धब्रह्मणश्चिन्मात्रत्वेऽपि श्रुत्यादौ तस्य सर्वज्ञत्वात् कथमज्ञानम् ।

सर्वं हि यो विजानीते तस्य कुत्रापि नाज्ञता ।
न हि यो यद्विजानीते स तत्राज्ञानवान् भवेत् ॥

सविशेषमेव ब्रह्म सर्वज्ञमिति चेन्न, तुरीयं तत्सर्वदृक्सदे"ति शुद्धे तच्छ्रुतेः । एतेन सर्वज्ञत्वं भ्रान्त्या प्रमाणतो वा स्वरूपज्ञप्त्या वा त्रेधाप्यविद्यासिद्धिः, भ्रान्तेः प्रमातृत्वादेश्चाविद्यामूलत्वात् । असंगस्वरूपज्ञप्तेश्चाविद्यां विना विषयासंगतेः । उक्तं हि—

स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम् ।
तच्चोभयं विनाविद्यासम्बन्धं नैव सिद्ध्यति ॥

अद्वैतसिद्धिः

ननु—शुद्धब्रह्मणः चिन्मात्रस्याज्ञानाश्रयत्वे सार्वज्ञ्यविरोधः । न च—विशिष्ट एव सार्वज्ञ्यम्, 'तुरीयं सर्वदृक्सदा' इति शुद्धस्यैव सर्वज्ञत्वोक्तेरिति—चेन्न, सर्वदृक्पदेन सर्वेषां दृग्भूतं चैतन्यमित्युच्यते, न तु सर्वज्ञं तुरीयम्, तस्माद्विशिष्ट एव सार्वज्ञ्यम् । तच्चाविद्यां विना न संभवतीत्यविद्यासिद्धिः । तथा हि—सर्वज्ञो हि प्रमाणतः, स्वरूपज्ञप्त्या वा । तत्र प्रमाणस्य भ्रान्तेश्चाविद्यामूलत्वाद्, असङ्गस्वरूपज्ञप्तेश्चाविद्यां विना विषयासङ्गतेः । तदुक्तम्—

स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम् ।
तच्चोभयं विनाऽविद्यासंबन्धं नैव सिध्यति ॥' इति ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—चिन्मात्रस्वरूप शुद्ध ब्रह्म में अज्ञान की आश्रयता मानने पर उसमें श्रुति-प्रतिपादित सर्वज्ञत्व का विरोध होता है । सर्वज्ञत्व विशिष्ट चेतन में है, शुद्ध में नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि "तुरीयं सर्वदृक् सदा"—इस वाक्य के द्वारा शुद्ध चैतन्य में ही सर्वज्ञता का प्रतिपादन किया गया है ।

समाधान—"यः सर्वज्ञः"—इत्यादि श्रुतियों के द्वारा शुद्ध चैतन्य में सर्वज्ञता का प्रतिपादन नहीं किया गया है, अपितु बिंबत्व-विशिष्ट ईश्वर में । "तुरीयं सर्वदृक्"—इस वाक्य में 'सर्वदृक्' पद के द्वारा सर्वज्ञ का अभिधान न कर सर्वावभासक चैतन्य का ही अभिधान किया गया है, वह शुद्ध चैतन्य ही है । सर्वज्ञता जिस विशिष्ट चैतन्य में होती है, उसका स्वरूप अविद्या के विना निष्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वज्ञता दो प्रकार की होती है—(१) प्रमाण या प्रमारूप वृत्ति ज्ञान के द्वारा अथवा (२) स्वरूप ज्ञानके द्वारा । उभयथा अविद्या की अपेक्षा होती है । अज्ञान-निवर्तक प्रमाणजन्य अन्तःकरण वृत्ति जीवों की ही हो सकती है, ईश्वर की नहीं, क्योंकि ईश्वर में न तो अन्तःकरण होता है ओर न अज्ञान, अत एव ईश्वरीय ज्ञान को प्रमा नहीं कहा जाता । स्वरूप ज्ञान के द्वारा ही ईश्वर में सर्वज्ञता मानी जाती है । स्वरूप चैतन्य स्वतः असङ्ग होने के कारण विषय के साथ अविद्या के द्वारा ही संबंधित होता है, जैसा कि श्रीचित्सुखाचार्य ने कहा है—

स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम् ।
तच्चोभयं विनाऽविद्यासम्बन्धं नैव सिध्यति ॥ (चित्सु० पृ० ५७८)

न्यायामृतम्

इति निरस्तम् , अविद्यारहिते तुरीयेऽपि सार्वज्ञ्यश्रुतेः । एकाश्रयैकविषयकज्ञानाज्ञानयोर्विरोधस्यानुद्धाराच्च । स्वरूपज्ञप्तेः स्वतः सर्वकालाद्यसम्बन्धे असत्त्वापातेन स्वतः सर्वसम्बन्धाभावे असर्वगतत्वापातेन चाविद्ययेव स्वत एवान्येनापि सम्बन्धोपपत्तेश्च । असंगश्रुतेस्तु गतिरुक्ता । एतेन ब्रह्मणो ज्ञातृत्वमुपेत्याज्ञानं वदन्तो निरस्ताः । तदुक्तम्—अज्ञताऽखिलसंवेत्तुर्घटते न कुतश्चने''ति ।

सर्वज्ञस्याज्ञानाश्रयत्वभंगः ॥

अद्वैतसिद्धिः

न च—स्वरूपज्ञप्तेः स्वतः कालाद्यसंबन्धेऽसत्त्वापातेन स्वतःसंबन्धाभावेऽसर्वगतत्वापातेन चाविद्ययेव स्वत एवान्येन संबन्धो वक्तव्य इति—वाच्यम् , अविद्यासंबन्धस्याप्याविद्यकत्वेनाविद्ययेवेति दृष्टान्तानुपपत्तेः । स्वतः परतो वा कालादिसंबन्धेन सर्वसंबन्धेन चासद्वैलक्षण्यसर्वगतत्वयोरुपपत्तेर्न तयोरर्थे स्वतः कालसंबन्धसर्वसंबन्धापेक्षा । असङ्गत्वश्रुतिरपि स्वतः सङ्गाभावविषयत्वेनोपपद्यते । अत एव—'अज्ञताऽखिलसंवेत्तुर्घटते न कुतश्चने'ति—निरस्तम् । तस्माच्चिन्मात्राश्रितैवाविद्या ॥

इत्यज्ञानवादे सर्वज्ञस्याविद्याश्रयत्वोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का——स्वरूप ज्ञान यदि स्वतः असङ्ग है, तब कालादि के साथ भी उसका संबंध न हो सकेगा, अतः उसकी सत्ता कैसे सिद्ध होगी, क्योंकि सत्त्व का लक्षण है—कालसंबंधित्वम् । कालासम्बधी पदार्थ असत् होता है, जैसे खपुष्प । इसी प्रकार स्वतः दैशिक संबंध का अभाव होने के कारण चैतन्य में अविभुत्व या असर्वगतत्व की आपत्ति होती है, इसलिए अविद्या की अपेक्षा के बिना ही काल और देशादि के साथ चैतन्य का वैसे ही स्वतः संबंध मानना होगा, जैसे कि अविद्या का संबंध स्वतः होता है ।

समाधान—दृष्टान्तभूत अविद्या का देशादि के साथ संबंध भी आविद्यक ही माना जाता है, अतः अनाविद्यक संबन्ध के स्थापन की प्रतिज्ञा में उसे दृष्टान्त बनाना संगत नहीं । यह जो कहा कि काल-संबन्ध के बिना चैतन्य में असत्त्वापत्ति और देश-संबन्ध के बिना अविभुत्वापत्ति होगी । वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि जैसे काल-संबन्ध-निरपेक्ष काल की सत्ता मानी जाती है और देश-संबन्ध-निरपेक्ष दिक् तत्त्व को विभु माना जाता है, वैसे ही चैतन्य की सत्ता और विभुता क्यों नहीं मानी जा सकती ? दूसरी बात यह भी है कि कालादि-संबन्ध स्वतः हो या परतः, उभयथा सत्तादि का नियामक माना जाता है, सत्ता के लिए स्वतःकाल-सम्बन्ध और विभुता के लिए स्वतः दिक्-संबन्ध की अपेक्षा नहीं होती, चैतन्य का परतः संबन्ध माना ही जाता है, अतः उक्त आपत्ति सारहीन है । चैतन्य का परतः संबन्ध होने पर भी असङ्गत्व अव्याहत रहता है, क्योंकि असङ्गता-प्रतिपादक श्रुति का तात्पर्य स्वतः संबन्धाभाव के बोधन में ही होता है । अत एव आनन्दतीर्थ ने जो कहा है—"अज्ञताखिलसंवेत्तुर्घटते न कुतश्चन", [अर्थात् अखिलार्थ-संविदिता (सर्वज्ञ) में अज्ञता (अज्ञानाश्रयता) कभी भी घट नहीं सकती] । वह भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि शुद्ध चेतन में स्वतः अज्ञानाश्रयता और औपाधिक सर्वज्ञता का कोई विरोध नहीं । शुद्ध में प्रतिपादित सर्वज्ञता का अर्थ सर्वार्थ-भासकता है । इस प्रकार शुद्ध चैतन्य के आश्रित अविद्या सिद्ध हो जाती है ।

न्यायामृतम्

: ६३ :

परोक्तब्रह्ममायित्वभंगः

एतेन मा भूद् ब्रह्मण्यविद्या, माया तु स्यात् । तस्या लीलोपकरणत्वेनादोषत्वादिति निरस्तम् ! तथा हि—सा किमज्ञानविशेषः ? किं वा देवासुरसंग्रामादौ देवादेर्दाहसाधनमनपेक्ष्यैव वह्निजलादिविचित्रसत्यवस्तुसर्जनशक्तिवच्छक्तिविशेषः ? यद्वा ऐन्द्रजालिकस्येवाविद्यमानप्रदर्शनशक्तिः ? नाद्यः, उक्तरीत्या सामान्याभावे विशेषायोगात् । अज्ञानस्य लीलोपकरणत्वादर्शनाच्च, तस्मिन्मायाशब्दाप्रयोगाच्च । न ह्यैंद्रजालिकोऽपि कस्यचिदज्ञानेनैंद्रजालं दर्शयति, किं तु मणिमंत्रादिनैव । न द्वितीयः, इष्टापत्तेः । न तृतीयः, व्यामोहनीयजीवादर्शने व्यामोहनायोगात् । कल्पिततद्दर्शनस्य च भ्रान्तिं विनाऽयोगात् । कल्पितत्वेन तद्दर्शने च तद्व्यामोहनायोगात् । तस्यापि द्वितीयचन्द्रदर्शनस्येवाविद्यां विनायोगाच्च । किं च तस्याः शक्तेः सत्त्वे अद्वैतहानिः, जीवकल्पितत्वे तद्व्यामोहकत्वायोगः, ब्रह्मकल्पितत्वे तस्याज्ञानावश्यंभावः ।

परोक्तब्रह्ममायित्वभंगः ॥

: ६४ :

अज्ञानस्य वाचस्पत्युक्तजीवाश्रितत्वविचारः

यच्चोक्तं वाचस्पतिना जीवाश्रिताविद्येति । तन्न, जीवशब्देन चिन्मात्रलक्षणायामुक्तदोषात् । अविद्यया वा आविद्यकबुद्ध्यादिना वाऽवच्छिन्नस्य तत्प्रतिबिंबितस्य

अद्वैतसिद्धिः

वाचस्पतिमिश्रैस्तु जीवाश्रितैवाऽविद्या निगद्यते । ननु—जीवाश्रिताऽविद्या तत्प्रतिबिम्बतचैतन्यं वा, तदवच्छिन्नचैतन्यं वा, तत्कल्पितभेदं वा जीवः, तथा चान्योन्याश्रय इति—चेन्न, किमयमन्योन्याश्रय उत्पत्तौ ? ज्ञप्तौ ? स्थितौ वा ? नाद्यः, अनादि-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

श्री वाचस्पति मिश्र ने तो जीव के आश्रित ही अविद्या बताई है—"नाविद्या ब्रह्माश्रया, किन्तु जीवे, सा तु अनिर्वचनीया" (भामती पृ० १२६)। [मूलतः मण्डन मिश्र की यह उद्भावना मानी जाती है—"कस्याविद्येति जीवानामिति ब्रूमः" (ब्र० सि० पृ० १०)। मण्डन मिश्र-रचित ब्रह्मसिद्धि और विधिविवेकादि के व्याख्याता होने के नाते वाचस्पति मिश्र आचार्यमण्डन के सिद्धान्तों से प्रभावित अवश्य थे, अतः प्रकटार्थकार ने उन्हें खोटी-खरी भी सुनाई है—"वाचस्पतिस्तु मण्डनपृष्ठसेवी सूत्रभाष्यार्थानभिज्ञः" (प्रकटा० पृ० ९८९) । किन्तु आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अन्य मत-मतान्तरों के समान वाचस्पति मिश्र के इस मत का समर्थन ही किया है] ।

शङ्का—अविद्या जिस जीव के आश्रित है, वह जीव या तो अविद्या में प्रतिबिंबित चैतन्य है, या अविद्यावच्छिन्न चैतन्य है, अथवा अविद्या-कल्पित भेद-विशिष्ट चैतन्य है, सर्वथा अन्योऽन्याश्रय दोष है, क्योंकि अविद्या जीव के अधीन और जीव अविद्या के अधीन है ।

समाधान—अविद्या और जीव का अन्योऽन्याश्रय क्या अन्योऽन्य की उत्पत्ति में, या ज्ञप्ति में अथवा स्थिति में है ? दोनों की उत्पत्ति में परस्पर की अपेक्षा है—ऐसा

न्यायामृतम्

वा कल्पितभेदस्योक्तावन्योन्याश्रयात्। न च बीजांकुरन्यायेनासौ न दोषः, तद्वदिह व्यक्तिभेदाभावात्। सन्तानिव्यतिरेकेण च तत्र सन्तानयोरन्योन्यापेक्षाभावात्। न च यथा निरंशेऽप्याकाशे घटस्तटस्थ एव तदुपलक्ष्यैकदेशं संपाद्य तेन सम्बध्यते, तद्वदविद्यापि तटस्थैव चिन्मात्रमुपलक्ष्यैकदेशरूपजीवं संपाद्य तत्रावतिष्ठत इति नेतरेतराश्रयः।

स्वेनैव कल्पिते देशे व्योम्नि यद्वद् घटादिकम्।
तथा जीवाश्रयाविद्यां मन्यन्ते ज्ञानकोविदाः॥

अद्वैतसिद्धिः

[illegible]योः। न द्वितीयः, अज्ञानस्य चिद्भास्यत्वेऽपि चितेः स्वप्रकाशत्वेन तदभास्य[illegible]। न तृतीयः, स किं परस्पराश्रितत्वेन वा, परस्परसापेक्षस्थितिकत्वेन वा[illegible]। तत्र, उभयस्याप्यसिद्धेः, अज्ञानस्य चिदाश्रयत्वे चिदधीनस्थितिकत्वेऽपि चिति अविद्याश्रितत्वतदधीनस्थितिकत्वयोरभावात्। न चैवमन्योऽन्याधीनताक्षतिः, समानकालीनयोरप्यवच्छेद्यावच्छेदकभावमात्रेण तदुपपत्तेः, घटतदवच्छिन्नाकाशयोरिव प्रमाणप्रमेययोरिव च तदुक्तम्—

'स्वेनैव कल्पिते देशे व्योम्नि यद्वद् घटादिकम्।
तथा जीवाश्रयाविद्यां मन्यन्ते ज्ञानकोविदाः' इति॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों अनादि माने जाते हैं। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि यद्यपि अविद्या की ज्ञप्ति (प्रकाश) चैतन्य के अधीन है, तथापि चैतन्य की ज्ञप्ति अविद्या के अधीन नहीं, क्योंकि चैतन्य स्वयम्प्रकाश है, पराधीनप्रकाशाभाव का ही नाम स्वयम्प्रकाशता है। तृतीय कल्प में जिज्ञासा होती है कि क्या अविद्या और जीव—दोनों के परस्पर एक-दूसरे के आश्रित होने के कारण अन्योऽन्याश्रय हो सकता है, अथवा उनकी स्थिति परस्पर सापेक्ष होने के कारण। दोनों प्रकार यहाँ सम्भव नहीं, अन्यथा दोनों की असिद्धि हो जायगी। अविद्या के चिदाश्रित या चैतन्याधीनस्थितिक होने पर भी चैतन्य तत्त्व न तो अविद्या के आश्रित है और न उसकी स्थिति ही अविद्या के अधीन है।

जीव और अविद्या में यदि किसी प्रकार भी अन्योऽन्याश्रयता नहीं, तब अद्वैतवाद में अभ्युपगत अन्योऽन्याधीनता भी नहीं रहेगी—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि अन्योऽन्याश्रयता के बिना भी समानकालीन जीव और अविद्या की अन्योऽन्याधीनता अवच्छेद्य-अवच्छेदकभावमात्र के द्वारा वैसे ही घट जाती है, जैसे घट और घटावच्छिन्न आकाश की। [अर्थात् आकाश एक विभु और निरवयव पदार्थ है, उसमें स्वतः कोई प्रदेश नहीं, किन्तु घट की अवस्थिति सर्वत्र नहीं घटावच्छिन्न आकाश-प्रदेश में ही मानी जाती है, घटरूप उपाधि से उपहित आकाश में घट का अवस्थान होने पर भी घट में घट का अवस्थान या आत्माश्रयता नहीं मानी जाती, वैसे ही अविद्यारूप उपाधि से उपहित चैतन्य में अविद्या की आश्रयता होने पर भी अविद्या में अविद्या की आश्रयता प्राप्त नहीं होती। घट और घटाकाश का जैसे परस्पर उपाधि-उपहितभाव एवं अन्योऽन्याधीनत्व माना जाता है, उसी प्रकार जीव और अविद्या का परस्पर उपाधि-उपहितभाव होने के कारण अन्योऽन्याधीनत्व माना जाता है।

न्यायामृतम्

इत्युक्तेरिति वाच्यम्, निराश्रयाविद्यायोगेन जीवसिद्धिस्तत्सिद्धौ तदुपलक्षित-जीवसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयात्। त्वन्मते गगनस्याप्यनित्यद्रव्यत्वेन स्वत एवांशसम्भवाच्च। न च जीवाविद्ययोरनादित्वेनोत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धादयमदोषः, यतः

अविद्याजीवयोर्यत्र व्यपेक्षा तन्निरोधकः।
अन्योऽन्यसंश्रयो नो चेदन्योन्याधीनताहतिः॥

अज्ञानजीवयोर्हि कुत्रापि विषयेऽन्योन्यापेक्षा न चेदन्योन्याधीनताव्याहतिः। न हि सर्वथा तदनपेक्षं तदधीनम्। अथानादित्वेऽपि द्रव्यत्वगुणत्वादिजातिव्यंजकयोरिव प्रयुक्त्यादावपेक्षा, तर्ह्यन्योन्याश्रयस्तस्यैव प्रतिबन्धकः। द्रव्यत्वादौ व्यंग्यमेव व्यंजक-प्रयुक्तं न तु व्यंजकं व्यंग्यप्रयुक्तम्। इह तु जीवब्रह्मविभागस्याविद्यकत्वादविद्यायाश्च जीवाश्रितत्वात् जीवत्वाज्ञाने अन्योन्यप्रयुक्ते इति प्रयुक्तेरेव प्रतिबन्धः। एवं च—

यद्युत्पत्तिज्ञप्तिमात्रप्रतिबन्धेन दोषता।
तर्हि स्याच्चैत्रमैत्रादेरन्योन्यारोहणादिकम्॥

न च प्रमेयत्वाभिधेयत्वादावन्योन्यवृत्तिवदिहान्योन्यापेक्षा प्रमिता। अन्यथाऽन्योन्याश्रयादिः क्वापि दोषो न स्यात्। जीवत्वप्रयोजकमज्ञानान्तरं चेत्, चक्रकमनवस्था वा। न चेयं परम्परासिद्धविषया, अहमज्ञ इति प्रतीतेः सत्यभेदेनैवोपपत्तेः। किं च जीवेश्वरयोर्जीवेश्वराभ्यां कल्पितत्वे आत्माश्रयात्। ईश्वर (ब्रह्म) जीवकल्पितत्वेऽन्योन्याश्रयात्। तत्कल्पकस्य शुद्धस्य ब्रह्मणो ज्ञानमावश्यकम्। न चाविद्याया दौर्घट्यं भूषणम्, तत्र लक्षणप्रमाणाद्यकत्वयोगात्। अविद्याया निराश्रयत्वनिर्विषयत्वात्म-स्वरूपत्वाद्यापाताच्च। प्रतीत्यनुसारेणाश्रयाद्यंगीकारे च घटमहं न जनामीति प्रती-

अद्वैतसिद्धिः

एतेन—यद्युत्पत्तिज्ञप्तिमात्रप्रतिबन्धकत्वेनान्योऽन्यापेक्षताया अदोषत्वम्, तदा चैत्र-मैत्रादेरन्योन्यारोहणाद्यापत्तिरिति निरस्तम्, परस्परमाश्रयाश्रयिभावस्यानङ्गीकारात्। न चेश्वरजीवयोरीश्वरजीवकल्पितत्वे आत्माश्रयः, जीवेशकल्पितत्वे चान्यो-न्याश्रयः, न च शुद्धा चित् कल्पिका, तस्या अज्ञानाभावादिति—वाच्यम्, जीवाश्रि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अथवा जैसे प्रमा और प्रमेय की उपाधि-उपहितरूपता के कारण अन्योऽन्याधीनता मानी जाती है, वैसे ही प्रकृत में भी है। कल्पतरुकार ने स्पष्ट कहा है—"उत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धेन ह्यात्माश्रयस्य दोषता। न चानयोरुत्पत्तिः, अनादित्वात्, प्रतीतिस्तु जीवस्य स्वतः, तद्बलादविद्यायाः। तथापि स्वस्कन्धारूढारोहवत् स्वाश्रयाश्रितत्वं विरुद्धमिति चेत्, न, स्वाश्रयाश्रितत्वस्य क्वचित्प्रमितावविरोधादप्रमिताव-व्याप्यादस्मादव्यापकस्य विरोधस्य दुष्प्रसञ्जनत्वात्। अपि च नैव कुण्डवद-रवदधरोत्तरीभावो जीवाविद्ययोः, अमूर्तत्वाद्, अवच्छेद्यावच्छेदकत्वं तु तत्रेतरे-तरापेक्षं प्रमाणप्रमेयादिषु सुलभोदाहरणम्" (भामती पृ० २३६)। अर्थात् प्रमा और प्रमेय—दोनों एक-दूसरे के अधीन हैं, क्योंकि घटस्य प्रमा, पटस्य प्रमा—घटादि विषय-निरूपित होने के कारण प्रमा प्रमेय के अधीन है, एवं प्रमेय का अर्थ होता है—प्रमा का विषय। अतः प्रमा से निरूपित होने के कारण प्रमेय प्रमा के अधीन माना जाता है]।

'यदि अन्योऽन्याश्रयता उत्पत्ति और ज्ञप्ति मात्र का प्रतिबन्धक है, जीव और

न्यायामृतम्

त्याहमर्थाश्रितत्वजडविषयत्वादिप्रसंगाच्च । अनादित्वादिनाऽनुपपत्तिपरिहारायोगाच्च । उत्तरास्फुरणे प्रकृतिसंवृत्यादेर्दौर्घट्यं भूषणमिति सुवचत्वेन सांख्यबौद्धादिमतनिरासायोगाच्च । उक्तं च—

दुर्घटत्वे भूषणं चेत्स्यादविद्यात्वमात्मनः ।
अन्धंतमोऽप्यलंकारो नित्यदुःखं शिरोमणिः ॥ इति ॥
एतेन प्रश्नविश्रान्ति (हेतु) भूमित्वाच्चोद्यन्तमसिनोचितम् ।
न बुद्धिमन्तः पृच्छन्तिः न जानामीति वादिनम् ॥

इति निरस्तम् । न ह्यहं प्रत्यप्रश्नोऽज्ञानस्य दौर्घट्यात् , ज्ञानमेवाज्ञानमित्याद्युक्तावपि विरोधाद्यनुद्भावनापातात् । किं तु ज्ञातुरेव वक्तृत्वात् ।

अज्ञानस्य वाचस्पत्युक्तजीवाश्रितत्वभंगः ॥

अद्वैतसिद्धिः

तया अविद्याया एव जीवेशकल्पकत्वेनैतद्विकल्पानवकाशात् । तस्माज्जीवाश्रयत्वेऽप्यदोषः ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ अज्ञानस्य जीवाश्रयत्वोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अविद्या की स्थिति अन्योऽन्याधीन होने पर भी अन्योऽन्याश्रयता दोष नहीं, तब चैत्र-मैत्रादि के परस्पर आरोहण कर्म में भी अन्योऽन्याश्रयता को दोष नहीं माना जा सकता, फलतः चैत्र पर मैत्र का और मैत्र पर चैत्र का युगपत् आरोहण होना चाहिए'—यह आक्षेप भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि जीव और अविद्या में परस्पर आश्रय-आश्रयीभाव अद्वैत-मत-सम्मत ही नहीं है, क्योंकि अविद्या के जीवाश्रित होने पर भी जीव में अविद्याश्रितत्व नहीं माना जाता ।

शङ्का—अद्वैतवाद में जीव जीव-कल्पित और ईश्वर ईश्वर-कल्पित है—ऐसा मानने पर आत्माश्रय, जीव के द्वारा ईश्वर और ईश्वर के द्वारा जीव की कल्पना मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है । शुद्ध चैतन्य अज्ञान का आश्रय न होने के कारण कल्पक नहीं हो सकता ।

समाधान—जीवाश्रित अविद्या को ही सर्व-कल्पक माना जाता है, अतः उक्त विकल्पों को कोई अवसर नहीं मिलता । इस प्रकार अविद्या के जीवाश्रित होने पर भी कोई आपत्ति नहीं ।

: ६५ :

अविद्याविषयविचारः

न्यायामृतम्

अविद्याविषयोऽपि दुर्वचः। यदत्रोक्तं विवरणे—अज्ञानस्य चिन्मात्रमेव विषयः। तस्याकल्पितत्वेनान्योऽन्याश्रयादिदोषाभावात्। स्वप्रकाशत्वेन प्रसक्तप्रकाशे तस्मिन्नावरणकृत्यासम्भवाच्च, न त्वन्यत्, तस्याज्ञानकल्पितत्वात्। जडत्वेन स्वयमेव प्रकाशहीने आवरणकृत्याभावाच्चेति। अत्र ब्रूमः-चिन्मात्रेऽप्यावरणकृत्यं न तावत्सिद्धप्रकाशलोपोऽसिद्धप्रकाशानुत्पत्तिर्वा, स्वरूपप्रकाशस्य नित्यसिद्धत्वात्। तदन्यस्य च स्वप्रकाशे तस्मिन्ननपेक्षितत्वात्। नापि सतोऽपि प्रकाशस्य विषयासम्बन्धः, ज्ञानस्य विषयसम्बन्धस्वभावत्वात्। स्वयं ज्ञानरूपत्वेन त्वन्मते सम्बन्धानपेक्षणाच्च। नापि प्राकाट्याख्यकार्यप्रतिबन्धः, त्वन्मतेऽपि चैतन्यातिरिक्तस्य तस्याभावात्। नापि नास्ति न प्रकाशत इत्यादिव्यवहारः, व्यवहारो ह्यभिज्ञा ? अभिलपनं वा ? नाद्यः,

अद्वैतसिद्धिः

अविद्याया विषयोऽपि सुवचः। तथा हि—चिन्मात्रमेवाविद्याविषयः, तस्याकल्पितत्वेनान्योऽन्याश्रयादिदोषाप्रसक्तेः, स्वप्रकाशत्वेन प्रसक्तप्रकाशे तस्मिन् आवरणकृत्यसंभवाच्च, नान्यत्, तस्याज्ञानकल्पितत्वाद्, अप्रसक्तप्रकाशत्वेनावरणकृत्याभावाच्च। ननु—किमावरणकृत्यं (१) सिद्धप्रकाशलोपो वा ? (२) असिद्धप्रकाशानुत्पत्तिर्वा ? (३) सतः प्रकाशस्य विषयासंबन्धो वा (४) प्राकाट्याख्यकार्यप्रतिबंधो वा ? (५) नास्ति न प्रकाशत इति व्यावहारो वा ? (६) अस्ति प्रकाशत इति व्यवहाराभावो वा ? (७) नास्तीत्यादिव्यवहारयोग्यत्वं वा ? (८) अस्तीत्यादिव्यवहारायोग्यत्वं वा ? नाद्यद्वितीयौ, स्वरूपप्रकाशस्य नित्यसिद्धत्वेन तल्लोपानुत्पत्त्योर-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अविद्या का विषय भी शुद्ध चैतन्य ही है, वह अविद्या के द्वारा कल्पित नहीं कि जड़ वस्तु के समान उसे विषय मानने पर आन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त हो एवं चैतन्य तत्त्व स्वयंप्रकाश है, उसके निसर्ग-सिद्ध प्रकाश पर अज्ञान का (आवरणरूप) कार्य भी उपपन्न हो जाता है। चैतन्य से अन्य जड़ पदार्थ अज्ञान का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि वह अज्ञान के द्वारा कल्पित है, उसे अज्ञान का विषय मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष प्राप्त होता है एवं वह अप्रकाशात्मक है, उस पर अज्ञानावरण का कृत्य (साफल्य) भी सम्भव नहीं। [पञ्चपादिकाकार ने भी कहा है—"सा (अविद्या) च न जड़ेषु वस्तुषु तत्स्वरूपावभासं प्रतिबध्नाति, प्रमाणवैकल्यादेव तदग्रहणासिद्धे :—प्रकाशात्मनि तु चित्स्वभावत्वात् स्वयम्प्रकाशमाने ब्रह्मस्वरूपानवभासस्य अनन्यनिमित्तत्वात् तद्गतनिसर्गसिद्धाविद्याशक्तिप्रतिबन्धादेव तस्यानवभासः" (पं० पा० पृ० ८–९)]।

शङ्का—अज्ञानावरण का कार्य क्या (१) सिद्ध प्रकाश का विलोप है ? या (२) असिद्ध प्रकाश की अनुत्पत्ति ? या (३) विद्यमान प्रकाश का विषय के साथ असम्बन्ध ? या (४) प्राकाटचसंज्ञक कार्य का प्रतिबन्ध ? या (५) 'नास्ति,' 'न प्रकाशते—इस प्रकार का द्विविध व्यवहार ।? या (६) 'अस्ति', 'प्रकाशते'—इस प्रकार के व्यवहार का अभाव ? या (७) 'नास्ति', 'न प्रकाशते'—इस प्रकार के व्यवहार की योग्यता ? अथवा (८) 'अस्ति' 'प्रकाशते'—इस प्रकार के

न्यायामृतम्

नास्तीत्यादिभ्रान्तेरावरणसाध्यत्वेनावरणत्वायोगात् । अत एव नान्त्यः, तस्योक्तभ्रान्तिसाध्यत्वेन भ्रान्तिहेत्वावरणत्वायोगात् । सुषुप्तौ व्यवहाराभावेनानावरणापाताच्च । नाप्यस्ति प्रकाशत इत्यादिव्यवहाराभावः, व्यवहारस्याभिज्ञात्वे स्वरूपाभिज्ञाया इदानीमपि सत्त्वाद् वृत्तेश्च मोक्षेप्यसत्त्वात् । अभिलपनत्वे मोक्षेऽप्यावरणापातात्, नापि नास्तीत्यादिव्यवहारयोग्यमस्तीत्यादिव्यवहारायोग्यत्वं वा, तयोरप्यारोपि-

अद्वैतसिद्धिः

संभवात्, तदन्यस्य च स्वप्रकाशे तस्मिन्ननपेक्षितत्वात् । न तृतीयः, ज्ञानस्य विषयसम्बन्धैकस्वभावत्वात्, स्वयंज्ञानरूपत्वेन त्वन्मते संबन्धानपेक्षणाच्च । नापि चतुर्थः, त्वन्मते चैतन्यातिरिक्तस्य तस्याभावात् । नापि पञ्चमः, सुषुप्तौ व्यवहाराभावेनानावरणापातात् । नापि षष्ठः, व्यवहारस्याभिज्ञात्वे स्वरूपाभिज्ञाया इदानीमपि सत्त्वाद्, वृत्तेश्च मोक्षेऽप्यसत्त्वात् । अभिलपनरूपत्वे मोक्षेऽप्यावरणप्रसङ्गात् । नापि सप्तमाष्टमौ, तयोरप्यारोपितत्वेनावरणं विनायोगादिति—चेन्न, नास्ति न प्रकाशत इति व्यवहार एवाभिज्ञादिसाधारणः, अस्ति प्रकाशत इत्येतद्व्यवहाराभावो वा आवरणकृत्यम् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यवहार की अयोग्यता ? प्रथम (सिद्ध प्रकाशाभाव) और द्वितीय (असिद्ध प्रकाशानुत्पत्ति) पक्ष उचित नहीं, क्योंकि स्वरूप प्रकाश नित्य सिद्ध है, उस का विलोप तथा अनुत्पाद सम्भव नहीं । घटादि को अपने प्रकाश में जैसे अन्य (प्रदीपादि) प्रकाश की अपेक्षा होती है, वैसे स्वयम्प्रकाश चैतन्य तत्त्व को अपने प्रकाश में अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती, जिसका विलोप या अनुत्पाद सम्भावित होता । चतुर्थ (प्राकाटचाख्य कार्यप्रतिबन्धः) पक्ष भी सम्भव नहीं, क्योंकि भाट्ट मत में ज्ञान-जन्य ज्ञातता (प्राकाटच) नाम का धर्म विषयगत माना जाता है, किन्तु अद्वैत मत में अभिव्यक्त चैतन्य से अतिरिक्त कोई ज्ञातता धर्म माना ही नहीं जाता । पञ्चम ('नास्ति', 'न प्रकाशते—इति व्यवहारः) कल्प भी संगत नहीं, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में उक्त व्यवहार न होने के कारण आवरण का भी अभाव मानना पड़ेगा, तब तो 'न किञ्चिद-वेदिषम्—इस प्रकार अनुभूति कैसे होगी ? छठा ('अस्ति', 'प्रकाशते'—इति व्यवहाराभावः) पक्ष भी असंगत है, क्योंकि व्यवहार तीन प्रकार का होता है— अभिज्ञा, वृत्ति और अभिलपन । इनमें आत्मस्वरूप अभिज्ञा (ज्ञान) तो अज्ञान अवस्था में भी विद्यमान है, अतः अभिज्ञारूप व्यवहार का अभाव आवरण का कृत्य (फल) नहीं माना जा सकता । वृत्तिज्ञानात्मक व्यवहार का अभाव मोक्ष अवस्था में भी हैं, अतः मोक्ष में भी उसका कारण अज्ञानावरण प्रसक्त होता है । इसी प्रकार अभिलपन (शब्द-प्रयोगात्मक) व्यवहार का भी मोक्ष में अभाव होने के कारण अज्ञानावरण वहाँ भी होना चाहिए । सप्तम (नास्तीत्यादिव्यवहारयोग्यत्वम्) तथा अष्टम (अस्तीत्यादिव्यवहारायोग्यत्वम्) पक्ष भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि उक्त 'योग्यत्व' और 'अयोग्यत्व' धर्म परमार्थतः निर्धर्मक ब्रह्म में रह नहीं सकते, अतः आरोपित ही मानने होंगे, आरोप अज्ञानावरण के बिना नहीं हो सकता, अतः उक्त योग्यत्वादिरूप आवरणकृत्य के आरोप में आवरण की अपेक्षा हो जाने से आत्माश्रयादि दोष होते हैं ।

समाधान—'नास्ति', 'न प्रकाशते'—इस प्रकार का अभिज्ञादि-साधारण व्यवहार अथवा 'अस्ति', प्रकाशते'—इस प्रकार के व्यवहार का अभाव ही आवरण का कृत्य है ।

न्यायामृतम्

तत्वेनावरणं विनाऽयोगात् । अद्वितीयत्वादिविशिष्टे तथा व्यवहारेऽपि । अवस्थात्र

अद्वैतसिद्धिः

आवरणं च तद्योग्यता अज्ञानसंबन्धरूपा सुषुप्त्यादिसाधारणी आब्रह्मज्ञानमवतिष्ठते । तेन सुषुप्तिकाले नानावरणम् , मोक्षकाले च नावरणम् ।

यदुक्तमस्याप्यारोपितत्वेनावरणसापेक्षत्वमिति । तन्न, अज्ञानसंबन्धरूपस्यावरणस्यानादित्वेन चित्प्रकाश्यत्वेन च उत्पत्तौ ज्ञप्तौ स्थितौ वा स्वानपेक्षणात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और आवरण है—चैतन्यगत अविद्या-सम्बन्धरूप उक्त व्यवहार की योग्यता, वह सुषुप्ति से लेकर ब्रह्म-ज्ञान-पर्यन्त बनी रहती है।

['ननु किमावरणकृत्यम् ?' इस शङ्का-वक्य में प्रयुक्त 'आवरणकृत्य' शब्द कुछ भ्रामक-सा होने के कारण विशेष विचारणीय है। विवरणकार ने 'आवरण' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया है—(१) "अस्ति', 'प्रकाशते' इत्याद्यभिज्ञादिव्यवहारपुष्कलकारणे सति 'नास्ति', 'न प्रकाशते च' इति योऽयमात्मतत्त्वालम्बनो व्यवहारः, स भावरूपेण केनचिदात्मनि आवरणमन्तरेण नोपपद्यते" (पं. वि. पृ० १०४) यहाँ पर करणार्थक ल्युट्प्रत्यय-निष्पन्न 'आवरण' पद 'आव्रियतेऽनेन'—इस व्युत्पत्ति से आवृत्ति-साधनभूत अज्ञान को कहता है। (२) "अज्ञानेनात्मनि आवरणातिशयजन्म" (पं. वि. पृ० ९४) यहाँ 'आवरण' शब्द भाव प्रत्ययान्त है, जिसका अर्थ आवृति है, क्योंकि इसकी व्याख्या में श्रीनृसिंहाश्रम ने कहा है—"आवरणरूपातिशयो भवति" (भाव० पृ० ९४)। इसी आवरण पदार्थ की जिज्ञासा का समाधान पञ्चपादिका में खोजा गया है—"कि तर्हि आवरणमिति ? तत्राह—"ब्रह्मस्वरूपानवभासस्य अनन्यनिमित्तत्वात् तद्गतनिसर्गसिद्धाविद्याशक्तिप्रतिबन्धादेव तस्यानवभासः" (पञ्चपादिका, पृ० २९)। कथात् ब्रह्मस्वरूपता का अनवभास ही चैत्यगत आवरण या आवृत्ति है। आवृत्तिरूप कार्य को ध्यान में रखकर विवरणकार ने शङ्का उठाई है—नन्वेवं 'आत्मन्यपि अज्ञाननिमित्तमावरणकृत्यं नास्ति" (पं. वि. पृ. १०२)। इसकी व्याख्या में तत्त्वदीपनकार ने कहा है है—"अज्ञानं निमित्तं यस्य तदज्ञाननिमित्तम्—आवरणं च तत्कृत्यं चेति आवरणकृत्यम्" (तत्त्वदी० पृ० १११)। इससे यह स्पष्ट है कि 'आवरणस्य कृत्यम्'—यह अर्थ विवक्षित न होकर आवरणरूप कृत्य (फल) ही विवक्षित है। न्यायामृतकार ने भी इसी आशय से आक्षेप किया है। किन्तु अद्वैत सिद्धिकार ने आवरक (अज्ञान), आवरण (चैतन्यगत अज्ञान-सम्बन्ध) तथा आवरण के ब्रह्मस्वरूपतानवभासरूप कृत्य को पृथक्-पृथक् व्यवस्थित कर 'आवरणस्य कृत्यम्'—ऐसा समास ही ध्वनित किया है]। सुषुप्ति काल में अविद्या-सम्बन्ध के बने रहने के कारण आवरणाभाव नहीं माना जाता और मोक्ष-काल में अविद्या-सम्बन्ध का अभाव होने के कारण आवरण नहीं माना जाता।

यह जो कहा कि 'उक्त योग्यत्व और अयोग्यत्वरूप धर्म अज्ञानावरण के द्वारा चैतन्य में आरोपित हैं, अत, उन्हें आवरण नहीं माना जा सकता, क्योंकि साधन और साध्य कभी एक नहीं होते, अन्यथा आत्माश्रयादि दोष प्रसक्त होंगे।' वह कहना संगत नहीं, क्योंकि चैतन्यगत अज्ञान-सम्बन्धरूप आवरण षड् अनादि में परिगणित तथा चित्प्रकाश्य होने के कारण अपनी उत्पत्ति ज्ञप्ति और स्थिति में अपनी (आवरण

न्यायामृतम्

येऽप्यसन्दिग्धाविपर्यस्तत्वेन प्रकाशमानात्मरूपे अध्यासाधिष्ठाने सुखादिज्ञानरूपे च

अद्वैतसिद्धिः

ननु—अद्वितीयत्वादिविशिष्टे तथा व्यवहारेऽपि अवस्थात्रयेऽप्यसन्दिग्धाविपर्यस्तत्वेन प्रकाशमानात्मरूपे अध्यासाधिष्ठाने सुखादिज्ञानरूपे चिन्मात्रे तदभावेन तत्कल्प्ययोर्योग्यत्वायोग्यत्वयोरभाव इति—चेन्न, शुद्धरूपायाश्चितः प्रकाशमानत्वेऽपि तस्या एव परिपूर्णाद्याकारेणाप्रकाशमानत्वात्, तदर्थं तस्या एवावरणकल्पनात्, परिपूर्णाद्याकारस्य मोक्षदशानुवृत्तत्वेन शुद्धचिन्मात्रत्वात्। न च- निर्विभागचितः कथमेवं घटत इति—वाच्यम्, आवरणमहिम्नैव परिपूर्णं ब्रह्म नास्ति न प्रकाशत इति व्यवहारः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

की) अपेक्षा न होने के कारण आत्माश्रयादि दोष प्राप्त नहीं होते। [आशय यह है कि आवरणकृत्य के विषय में विकल्पित जो सप्तम पक्षोक्त योग्यत्व और अष्टम पक्षोक्त अयोग्यत्व है, वही विवरण-प्रतिपादित आवरणरूप कृत्य है और उसी का निखरा हुआ स्वरूप है—अविद्या-सम्बन्ध, वह अनादि है, अतः अपनी उत्पत्ति में किसी की अपेक्षा न करने के कारण उत्पत्ति में आत्माश्रयादि दोष प्रसक्त नहीं होते। अविद्या जैसे शुद्ध स्वयम्प्रकाश चैतन्य से प्रकाशित है, वैसे ही अविद्या-सम्बन्ध भी, अतः अविद्या-सम्बन्ध के प्रकाश में भी अविद्या की अपेक्षा न होने के कारण ज्ञप्ति (ज्ञान या प्रकाश) में भी आत्माश्रयत्वादि नहीं, इसी प्रकार स्थिति में भी अन्योऽन्याश्रयादि नहीं, क्योंकि अविद्या और चैतन्य का सम्बन्ध अविद्या और चैतन्य के आधीन है, उनमें अविद्या की स्थिति चैतन्य के अधीन होने पर भी चैतन्य को अपनी स्थित्ति के लिए अविद्या की अपेक्षा नहीं, क्योंकि वह स्वयं अपनी महिमा में स्थित है]।

शङ्का—अद्वितीयत्वादि धर्मों से युक्त विशिष्ट चैतन्य में ही अज्ञानावरण मानना चाहिए, क्योंकि संसारावस्था में 'अद्वितीयं चेतन्यं नास्ति, न प्रकाशते'—इस प्रकार के व्यवहार का वही विशिष्ट चैतन्य ही विषय होता है, शुद्ध चैतन्य नहीं, अतः सन्दिग्ध या विपर्यस्त विषय (विशिष्ट चैतन्य) में ही उक्त व्यवहार के द्वारा अज्ञानावरण की कल्पना हो सकती है, सर्वथा असन्दिग्ध, अविपर्यस्त रूप से प्रकाशमान अध्यासाधिष्ठानरूप एवं सुखादि के साक्षीभूत शुद्ध चैतन्य में उक्त व्यवहार न होने के कारण अज्ञानावरण की कल्पना नहीं की जा सकती।

समाधान—यद्यपि शुद्ध चैतन्य चिदाकार से सर्वदा प्रकाशमान है, तथापि परिपूर्णनन्दाकार से अप्रकाशमान है, उस अप्रकाशमानता की उपपत्ति के लिए शुद्ध चैतन्य में ही अज्ञानावरण की कल्पना आवश्यक है। परिपूर्णानन्दरूप से चैतन्य का प्रकाश मोक्ष दशा में ही होता है, संसारावस्था में नहीं, अतः संसारावस्था में चैतन्य न तो शुद्ध होता है और न उसमें आवरणकृत्य की कल्पना सम्भव है।

शङ्का—शुक्त्यादि सावयव पदार्थों का अंशतः ज्ञान और अंशतः अज्ञान सम्भव है, किन्तु निरवयव शुद्ध चैतन्य का एक अंश (चिदंश) से ज्ञान और दूसरे परिपूर्णत्वादि अंश से अज्ञान क्योंकर घट सकता है ? पञ्चपादिकाकार भी ऐसा ही सन्देह करते हैं—"निरंशस्य चैतन्यस्य स्वयंज्योतिपस्तदयोगात्" (पञ्च० पृ० ७१)।

समाधान—चैतन्य तत्त्व का परिपूर्णत्व आनन्दत्वादिरूप से अज्ञान तथा चिदंश से ज्ञान सर्वानुभव-सिद्ध है, अतः निरंश चतन्य में इस प्रकार के विरोधी अनुभवों

न्यायामृतम्

चिन्मात्रे तदभावेन तत्कल्प्ययोर्योग्यत्वायोग्यत्वयोरभावाच्च । तयोरव्यवेद्यत्वे सत्य-परोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूपस्वप्रकाशत्वविरुद्धत्वेनेदानीमप्यभावाच्च । न चाज्ञानावच्छि-न्नत्वेनापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वरूपेण तु तदयोग्यत्वमित्यविरोधः, स्वरूपस्यास्व-प्रकाशत्वापातात् । नित्यातीन्द्रियस्याप्यज्ञानावच्छेदेनापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वेन

अद्वैतसिद्धिः

अस्ति प्रकाशत इति व्यवहारप्रतिबन्धश्च, अध्यासाधिष्ठानत्वादिना प्रकाशमानता चाविरुद्धेति ॥

अत एव—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूपस्वप्रकाशत्वविरुद्धे योग्यत्वा-योग्यत्वे कथमिदानीमपि ब्रह्मणि स्याताम् ? न च—अज्ञानादिमत्त्वेनापरोक्षव्यवहार-योग्यत्वं स्वरूपेण च तदयोग्यत्वमित्यविरोध इति—वाच्यम्, स्वरूपस्याप्रकाशत्वा-दिति—निरस्तम्, परिपूर्णाद्याकारेण इदानीं व्यवहाराभावेऽपि अपरोक्षव्यवहारयोग्य-त्वानपायात् । न चैवं—सुखादेरज्ञानावच्छिन्नचित्प्रकाश्यत्वे 'सुखादिकं न प्रकाशत' इत्यनुभवापातेन सुखादिकं प्रकाशत इत्यनुभवार्थं चितोऽज्ञानानवच्छेदेन प्रकाशोऽङ्गी-करणीय इति—वाच्यम्, इष्टापत्तेः, अनुक्तोपालम्भनत्वात् । न ह्यज्ञानावच्छेदेन चित्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का सामञ्जस्य करने के लिए यह मानना पड़ता है कि अज्ञानावरण की ही यह महिमा है कि वह निरंश वस्तु को सांश के समान झलका कर चिद्रूप और परिपूर्णत्वादिरूपों का आविद्यक भेद सिद्ध करता है । अतः अखण्डैकरस परिपूर्ण ब्रह्म में 'ब्रह्म नास्ति, न प्रकाशते'—यह व्यवहार ही 'परिपूर्णम् अस्ति, प्रकाशते'—इस प्रकार के व्यवहार का प्रतिबन्धक है, अध्यासाधिष्ठानत्वादि रूप से प्रकाशमानता का नहीं ।

यह जो आक्षेप किया जाता है कि 'अद्वैतवाद में ब्रह्म स्वयंप्रकाश है और स्वयंप्रकाशता का लक्षण किया जाता है—'अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम् ।' अतः स्वप्रकाश चेतन्य में 'नास्ति'—इत्यादि व्यवहार की योग्यता तथा 'अस्ति'—इस प्रकार के व्यवहार की अयोग्यता सम्भव नहीं हो सकती । अज्ञानाश्रयत्वेन अपरोक्षव्यवहार की योग्यता तथा स्वरूपतः अपरोक्ष व्यवहार की अयोग्यता की व्यवस्था नहीं कर सकते, क्योंकि स्वरूपतः चैतन्य में यदि अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता नहीं तब वह अस्वप्रकाश हो जायगा, क्योंकि उक्त अवेद्यत्वे सत्यपरोक्ष-व्यवहारयोग्यत्वरूप स्वप्रकाशत्व उसमें नहीं ।'

वह आक्षेप भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि परिपूर्णत्वादि आकार से संसारावस्था में व्यवहार न होने पर भी अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता का अभाव नहीं माना जाता, जैसा कि चित्सुखाचार्य ने कहा है—"न च योग्यतालक्षणधर्माङ्गीकारेऽ-व्याप्तिर्मोक्षदशायां तदसम्भावादपसिद्धान्तापत्तिश्चेति शंकनीयम्, योग्यत्वात्यन्ता-भावानधिकरणत्वस्य तत्त्वाद्, गुणत्वात्यन्ताभावानधिकारणत्वस्य द्रव्यत्ववत्" (चित्सु० पृ० १६-१७)

शङ्का—सुखादि का भासक साक्षि चैतन्य यदि संसारावस्था में अज्ञानावृत्त है, तब सुखादि का भान किससे होगा ? किन्तु सुखादि का भान अनुभाव-सिद्ध है, अतः संसारावस्था में केवल अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य का प्रकाश न मान कर सुखाद्यवच्छिन्न चैतन्य का भी प्रकाश मानना होगा ।

न्यायामृतम्

स्वप्रकाशत्वापातात् । इच्छाद्यवच्छिन्नप्रकाश इवाज्ञानावच्छिन्नप्रकाशेऽपि विशेष्य-स्यापि प्रकाशेनेच्छादिवदेवाज्ञानस्याप्यावरणत्वायोगाच्च । सुखादेरज्ञानावच्छिन्न-चित्प्रकाश्यत्वे सुखादिकं न प्रकाशत इत्यनुभवापातेन सुखादिकं प्रकाशत इत्यनु-भवार्थं चितो ज्ञानानवच्छेदेन प्रकाशस्यांगीकार्यत्वाच्च ।

एतेनाज्ञानाविशेषितापरोक्षव्यवहारायोग्यत्वमावरणकृत्यमित्यपि निरस्तम् । न चोक्तयोग्यत्वायोग्यत्वरूपयोः प्रकाशाप्रकाशयोः सत्यत्वमिथ्यात्वाभ्यां विरोध इति वाच्यम् , सुखादिस्फुरणं न प्रकाशत इत्यननुभवेन सुखादिसाक्षिणि चैतन्ये आरोपित-स्याप्यप्रकाशस्याभावात् । वह्नावर्वह्नित्वारोपेऽपि वह्निकार्यस्येवाप्रकाशारोपेऽपि प्रकाश-कार्यभ्रान्त्याद्यभावस्यापाताच्च । सतः शुक्तित्वस्यारोपितेनाशुक्तित्वेनाविरोधेऽपि सतोऽधिष्ठानप्रकाशस्यारोपान्तरेण वा प्रकाशारोपेणापि विरोधाच्च । अन्यथा तन्नि-वृत्तिर्न स्यात् । न चावेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यतात्यन्ताभावानधिकरणत्वं स्वप्रकाशत्वमुक्तयोग्यताप्रागभावश्चावरणमित्यविरोधः, स्वरूपप्रकाशप्रयुक्तयोग्यताया अनादित्वात् । इदानीं योग्यतारूपप्रकाशस्य प्रागभावः मोक्षे तु ध्वंस इति मोक्षेऽप्य-प्रकाशापाताच्च । भवति हि दीपात्पूर्वमिव पश्चादप्यप्रकाशः । एवं च—

स्वप्रभत्वेनापरोक्षव्यवहारार्हं आत्मनि ।
तद्योग्यत्वाभावरूपमविद्यावरणं कथम् ॥

किं च दीपावरकघटादिवच्चैतन्यावरकाविद्या चैतन्यस्यान्यसम्बन्धं प्रति

अद्वैतसिद्धिः

प्रकाशत इति ब्रूमः । अत एव च—नित्यातीन्द्रियेऽप्यज्ञानावच्छेदकतया अपरोक्षव्यव-हारेण तत्रापि स्वप्रकाशापत्तिरिति—निरस्तम् , अज्ञानानवच्छेदेन तादृशस्य व्यवहार-स्योक्तेः ।

ननु—प्रदीपावारकघटादिवच्चैतन्यावारकाविद्या चैतन्यस्यान्यसंबन्धं प्रति-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—सुखाद्यवच्छेदेन चैतन्य का प्रकाश अभीष्ट ही है, अद्वैतसिद्धान्त में यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि अज्ञान-भिन्न सुखाद्यवच्छेदेन चैतन्य का प्रकाश नहीं होता, अतः ऐसा आरोप निरनुयोज्यानुयोगरूप (न्या० सू० ५।२।२३ में कथित) निग्रहस्थान मात्र है । अतः एव नित्य अतीन्द्रिय परमाणु आदि पदार्थ भी साक्षि-भास्य अज्ञान के अवच्छेदक (व्यावर्तक) होने के कारण साक्षी के द्वारा अवभासित माने जाते हैं, जैसा कि विवरणकार कहते हैं—"सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षि-चैतन्यस्य विषय एव" (पं० वि० पृ० ८३) किंतु परमाणु अतीन्द्रिय होने के कारण फल-व्याप्य या वेद्य नहीं होते, अतः उनमें भी 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूप स्वप्रकाशत्व अतिव्याप्त होता है—इस आक्षेप का भी निरास इसी लिए हो जाता है कि उक्त स्वप्रकाशत्व-लक्षण-घटक अपरोक्षव्यवहार-योग्यता अज्ञानानवच्छेदन विवक्षित है, अतः साक्षिभास्य अज्ञान के अवच्छेदक होकर अपरोक्ष व्यवहार-योग्य परमाण्वादि स्वयंप्रकाश नहीं कहे जा सकते ।

शङ्का—जैसे घटावृत (घट में रखा हुआ) प्रदीप चैत्रादि के प्रति अप्रकाशमान होने पर भी स्वयं अपने प्रति कभी भी अप्रकाशमान नहीं होता, वैसे ही अज्ञानावृत्त चैतन्य भी स्वेतर के प्रति अप्रकाशमान होने पर भी स्वयं अपने प्रति अप्रकाशमान या अज्ञात

न्यायामृतम्

बध्नातु, अन्यं च प्रति चैतन्यमाच्छादयतु, न तु चैतन्यं प्रत्येव, चैतन्ये उक्तयोग्यतारूप प्रकाशविरोधिनी। न हि दीपो घटावृतोऽपि स्वयं न प्रकाशते, तमःसम्बन्धापातात्। ननु कल्पितभेदं जीवचैतन्यं प्रति शुद्धचैतन्यमावच्छादयतीतिचेन्न, आवरणं विना भेदकल्पनायोगात्। यो मोक्षे भावी चिन्मात्रस्यैव चिन्मात्रं प्रति प्रकाशः, तदभावस्यैवेदानीमज्ञानेन साधनीयत्वाच्च। न च दीपप्रकाशः आवृतोऽपि स्वविषयत्वात्प्रकाशते,

अद्वैतसिद्धिः

बध्नातु अन्यं प्रति चैतन्यमाच्छादयतु, न तु चैतन्यं प्रत्येव चैतन्ये उक्तयोग्यत्वरूप प्रकाशविरोधिनी सा, न हि दीपो घटावृतोऽपि स्वयं न प्रकाशते, तमःसंबन्धापातात्। न च—कल्पितभेदं जीवचैतन्यं प्रति शुद्धचैतन्यमाच्छादयतीति—वाच्यम्, आवरणं विना भेदकल्पनस्यैवायोगात्। यो मोक्षे भावी चिन्मात्रस्यैव चिन्मात्रं प्रति प्रकाशः, तदभावस्यैवेदानीमज्ञानेन साधनीयत्वाच्चेति—चेन्न, कल्पितभेदं जीवं प्रति शुद्धचैतन्यस्यावृतत्वात्। न च—भेदकल्पनस्यावरणोत्तरकालीनत्वादिदमयुक्तमिति—वाच्यम्, भेदावरणयोरुभयोरप्यनादित्वेन परस्परानन्तर्याभावात्। यच्चोक्तं—यो मोक्षे भावी चैतन्यं प्रति प्रकाशः, तदभाव इदानीमज्ञानसाध्य—इति। तन्न, मोक्षे जन्यस्य चैतन्यप्रकाशस्याभावात्, कल्पितभेदापगमे शुद्धचैतन्यं प्रत्येव प्रकाशस्य जीवं प्रत्यपि संभवात्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं हो सकता, क्योंकि चैतन्यावरक अज्ञान प्रदीपावरक घट के समान ही अपनी आवरणीय वस्तु के साथ परकीय-सम्बन्ध का ही विरोधी होता है, अतः आवरण अन्य के प्रति ही प्रदीपादि का आच्छादक होगा, न कि स्वयं अपने आप के प्रति। स्वयं-प्रकाशमान वस्तु कभी स्वयं अपने प्रति अप्रकाशमान नहीं हो सकती। स्वयंप्रकाश वस्तु अपरोक्ष व्यवहार-योग्य होती है, अतः उस में अप्ररोक्ष व्यवहार-योग्यत्व-विरोधी आवरण वैसे ही असम्भव है, जैसे प्रदीप के स्वरूप में अन्धकार का सम्बन्ध। 'जीव चैतन्य के प्रति शुद्ध चैतन्य का आच्छादन अज्ञानावरण क्यों नहीं कर सकता? क्योंकि जीव भी काल्पनिक भेद के द्वारा शुद्ध चैतन्य से अन्य ही है'—ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, अन्यथा अन्योऽन्याश्रय दोष होगा—आवरण सिद्ध होने पर जीवगत भेद और जीव-भेद-सिद्ध होने पर आवरण-सिद्धि। दूसरी बात यह भी है कि मोक्षावस्था में न भेद की कल्पना ही रहती है और न जीवभाव, अतः मोक्षावस्था में जीव के प्रति शुद्ध चैतन्य की आच्छादकता नहीं कही जा सकती, अपितु मोक्ष में निर्विभाग चतन्य के प्रति ही जो चैतन्य का प्रकाश है, उसी का अभाव या अवरोध संसारावस्था में सिद्ध करना होगा, किन्तु उसकी सिद्धि सम्भव नहीं।

समाधान - यह तथ्य है कि अविद्या जीव के प्रति ही ब्रह्म का आच्छादन करती है। यह जो कहा कि भेद-कल्पना आवरण-सिद्धि के पश्चात् होगी, अतः उसके अधीन भेद-सिद्धि मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि भेद और आवरण—दोनों ही अनादि हैं, अतः उन्हें एक-दूसरे का परभावी नहीं कहा जा सकता, और जो यह कहा कि मोक्षावस्था में जो चैतन्य के प्रति ही चैतन्य का प्रकाश है, उसका अभाव संसारावस्था में अज्ञान के द्वारा साधनीय है। वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि मोक्ष में कोई जन्य प्रकाश तो रहता नहीं, केवल कल्पित भेद की निवृत्ति

न्यायामृतम्

ब्रह्मप्रकाशस्तु न तथेति न प्रकाशत इति वाच्यम्, मोक्षेऽप्यप्रकाशापातात्। अज्ञानवैयर्थ्याच्च। अथ मतं साक्षिणि प्रकाशमानेऽप्यज्ञानं युक्तम्। तस्य तत्स्फोरकत्वेन तदविरोधित्वाद्, दृश्यते हि त्वदुक्तमर्थं न जानामीति प्रकाशमान एवाज्ञानम्। अज्ञानावच्छेदकस्य विषयस्याज्ञाने तदवच्छिन्नाज्ञानज्ञानायोगात्। न च सामान्येन ज्ञातेऽपि विशेषेणाज्ञानमिति वाच्यम्, सामान्यस्य ज्ञातत्वादेवाज्ञानानवच्छेदकतया तदवच्छेदकस्य विशेषस्यैव ज्ञातव्यत्वाद्, अविद्यानिवृत्तिस्त्वात्ममात्रविषयकाद्वृत्तिविशेषादेव। एकविषयत्वेऽपि वृत्तिचितोरज्ञानविरोधित्वाविरोधित्वे घटविषयकयोः सौरालोकज्ञानयोः सौरचाक्षुषप्रकाशयोर्वा तमोविरोधित्वाविरोधित्ववत् शंखे, श्वैत्यप्रत्यक्षानुमित्योः पीतत्वभ्रमविरोधित्वाविरोधित्ववच्च युक्ते। एवं च प्रकाशमाने आवरण-

अद्वैतसिद्धिः

यच्चोक्तं—प्रकाशस्वरूपे चैतन्ये कथमज्ञानम्? न ह्यालोके तमः—इति। तन्न, अज्ञानतमसोर्विरोधितायामनुभवसिद्धविशेषात्। तथा हि—'त्वदुक्तमर्थं न जानामी'ति प्रकाशमाने वस्तुनि अज्ञानस्यानुभवात् स्वरूपचैतन्यं साक्षी वा नाज्ञानविरोधि, तमस्तु आलोके सत्यननुभवाद्, आलोकमात्रं तद्विरोधि। वस्तुतस्तु—अवतमसे विषयप्रकाशकालोकसहभावदर्शनेन तमस्यपि नालोकमात्रं विरोधि। न च—'त्वदुक्तार्थो न प्रकाशत' इत्यनुभवादस्तु तत्र भासमाने अज्ञानम्, सुखादिस्फुरणे भासमाने न प्रकाशत इत्यननुभवात् कथं तत्राज्ञानमिति—वाच्यम्, सुखादिस्फुरणं न प्रकाशत इत्यनुभवा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

हो जाने पर शुद्ध चैतन्य के प्रति जो प्रकाश है, वही जीव के प्रति भी हो सकता है, क्योंकि अविद्या का अपगम हो जाने पर जीव चैतन्य ही शुद्ध चैतन्य हो जाता है।

न्यायामृतकार ने यह जो कहा है कि प्रकाश स्वरूप चैतन्य पर वैसे ही अज्ञानावरण नहीं टिक सकता, जैसे कि आलोक पर अन्धकार। वह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि अज्ञान और अन्धकार की विरोधिता में अन्तर है। अर्थात् आलोक-प्रकाशित वस्तु पर भी 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—इस प्रकार का अज्ञानावरण अनुभव-सिद्ध है, अतः स्वरूप चैतन्य या साक्षी अज्ञान का विरोधी नहीं होता, किन्तु आलोक के रहने पर अन्धकार प्रतीत नहीं होता, अतः अन्धकार को आलोकमात्र का विरोधी माना जाता है। अस्तुतः मंद अन्धकार और आलोक का सहभाव देखा जाता है, अतः अंधकार आलोकमात्र का विरोधी नहीं होता, किंतु गाढ़ अंधकार का प्रखर प्रकाश का ही विरोध होता है। वैसे ही प्रकृत में भी ज्ञान और अज्ञान का सामान्यतः विरोध नहीं होता।

शङ्का—यद्यपि 'त्वदुक्तार्थो न प्रकाशते'—इस अनुभव के बल पर ज्ञात वस्तु का भी अज्ञान माना जा सकता है, तथापि सर्वत्र भासमान पदार्थ पर अज्ञानावरण नहीं माना जा सकता, जैसे कि सुखादि के स्फुरण काल में 'सुखं न स्फुरति'—इस प्रकार का अनुभव नहीं होता, अतः सर्वत्र ज्ञानावस्था में अज्ञान की सत्ता सिद्ध नहीं होती: फिर प्रकाशस्वरूप चैतन्य पर अज्ञानावरण क्योंकर रहेगा?

समाधान—'सुखादिस्फुरणं न प्रकाशते'—इस प्रकार का अनुभव न होने पर भी अनवच्छिन्नं (परिपूर्णं) सुखं न प्रकाशते'—ऐसा अनुभव होता है, अतः इस अनुभव की उपपत्ति के लिए प्रकाशस्वरूप चैतन्य पर अज्ञानावरण मानना आवश्यक है।

न्यायामृतम्

कृत्याभावेऽप्यज्ञानमविरुद्धमिति मम सिद्धान्तरहस्यमिति । अत्रोच्यते त्वयाप्यनवच्छिन्नब्रह्मानन्दाप्रकाशार्थमेवाज्ञानस्य कल्पितत्वेन कथं प्रकाशमाने अज्ञानम् ? अपि च त्वदुक्तोऽर्थो न प्रकाशत इत्यनुभवादस्तु तत्र भासमाने अज्ञानम् । न चेह सुखादिस्फुरणं न प्रकाशत इत्यनुभवोऽस्ति, येन भासमाने तत्स्यात् । किं च न तत्रापि भासमाने अज्ञानं गुहास्थं तमश्छन्नमितिवत् त्वदुक्तं न जानामीत्यनावृतसामान्यावच्छेदेनैवाज्ञानानुभवात् । न हि परचित्तस्थमज्ञानं त्वयापि बुभुक्षापिपासादिप्रातिस्विकरूपेणानूद्यते । एवं च तद्विशेषसंशयं प्रति तत्सामान्यनिश्चय इव तद्विशेषावच्छिन्नाज्ञानं प्रति तत्सामान्यज्ञानमेव हेतुः, तथा दर्शनात् । न हि विशेषे ज्ञाते तदज्ञानधीर्दृष्टा । अवच्छेद-

अद्वैतसिद्धिः

भावेऽपि अनवच्छिन्नाकारेण न प्रकाशत इत्यनुभवाद्, आवरकाज्ञानस्य तत्राप्यावश्यकत्वात् । यदपि—'त्वदुक्तमर्थं न जानामी' त्यत्र भासमाने नाज्ञानम्, किंतु गुहास्थं तमश्छन्नमितिवत् त्वदुक्तं न जानामीत्यनावृतसामान्यावच्छेदेनैव विशेषाज्ञानमनुभूयते, न हि परिचित्तस्थमज्ञानं प्रातिस्विकरूपेणानूद्यते, एवं च तद्विशेषसंशयं प्रति तत्सामान्यनिश्चय इव तद्विशेषावच्छिन्नाज्ञानज्ञानं प्रति तत्सामान्यज्ञानमेव हेतुः, तथा दर्शनात्, न हि विशेषे ज्ञाते तदज्ञानधीर्दृष्टा, अवच्छेदकज्ञानस्य ह्यवच्छिन्नज्ञानहेतुतापि दर्शनादेव कल्प्या, न चातिप्रसङ्गः, सामान्यविशेषभावस्यैव नियामक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—इस अनुभव के आधार पर भासमान वस्तु का सामान्य रूप से अज्ञान सिद्ध नहीं होता, किन्तु जैसे 'गुहास्थं तमसाच्छन्नम्–इस अनुभव के द्वारा गुहास्थत्वरूप सामान्य धर्म से ज्ञात वस्तु का सिंहत्वादि विशेष रूप से अन्धकारावरण अनुभूत होता है, वैसे ही प्रकृत में त्वदुक्तत्वरूप सामान्य धर्म से ज्ञात पदार्थ का घटत्वादि विशेषरूप से ही अज्ञान सिद्ध होता है [गुहास्थत्वावच्छिन्न वस्तु के अनावरण का जैसे सिंहत्वाद्यवच्छिन्न वस्तुगत आवरण के साथ विरोध नहीं होता, वैसे त्वदुक्तत्वावच्छिन्न वस्तु के ज्ञान का घटत्वाद्यवच्छिन्न वस्तुविषयक अज्ञान से कोई विरोध नहीं होता, अपितु समानधर्मावच्छिवस्तुविषयक ज्ञान और अज्ञान का ही विरोध होता है, प्रकृत में वैसा नहीं, क्योंकि] परकीय चित्त में अवस्थित अज्ञान वस्तु का त्वदुक्तत्वादि सामान्यरूपेण ही अनुवाद हो सकता है, घटत्वादि प्रातिस्विक विशेषरूप से नहीं । इसी प्रकार वस्तुगत स्थाणुत्व, पुरुषत्वादि विशेषरूपेण संशय के प्रति जैसे ऊर्ध्वत्वादि सामान्य रूप से वस्तु का निश्चय हेतु होता है, वैसे ही घटत्वाद्यवच्छिन्न वस्तुविषयक अज्ञान के प्रति वस्तु का त्वदुक्तत्वादि सामान्यरूप से ज्ञान ही हेतु होता है । ऐसा ही कार्य-कारण-भाव अनुभवसिद्ध है, क्योंकि विशेषतः ज्ञात पदार्थ का अज्ञान नहीं देखा जाता । इसी प्रकार दण्डादि रूप अवच्छेदक (व्यावर्तक या विशेषण) के ज्ञान में दण्डी आदि अवच्छिन्न (विशिष्ट) के ज्ञान की हेतुता भी अनुभव के बल पर मानी जाती है । जिस वस्तु का जो सामान्य धर्म होता है उसी के विशेषाकार अज्ञान के ज्ञान में उसी सामान्य का ज्ञान हेतु है—इस प्रकार के निरूप्य-निरूपकभावापन्न सामान्य-विशेषभाव को नियामक माना जाता है, अतः किसी प्रकार के अतिप्रसङ्ग की सम्भावना नहीं रहती, अन्यथा अन्य धर्मी का विशेष धर्म अन्य धर्मी का सामान्य धर्म हो जाता है, उसको लेकर अनिष्टापादन किया जा सकता है ।

न्यायामृतम्

कज्ञानस्यावच्छिन्नज्ञानहेतुतापि हि दर्शनादेव कल्प्या। सामान्यविशेषभाव एव च नियामक इति नातिप्रसंगः। युक्तं च द्वेषस्येष्टत्वेऽपि द्विष्टस्येष्टत्वाभाववद् ईश्वरस्यास्मदादिभ्रान्तिविषयविषयकज्ञानाभावेऽपि भ्रान्तेर्ज्ञानवद् (भ्रान्तिविषयकज्ञानव)दस्मदादीनां सर्वाज्ञानेऽपि ईश्वरसार्वज्ञ्यज्ञानवच्चाज्ञातज्ञानाभावेऽप्यज्ञानज्ञानम्। अन्यथा

अद्वैतसिद्धिः

त्वाद्—इति। तन्न, अज्ञानं हि विशेषावच्छिन्नतया भासते? सामान्यावच्छिन्नतया वा? आद्ये विशेषे भासमानत्वमागतमेव। न हि विशेषमभासयन्विशेषाज्ञानमित्यवभासयति। तथा च सामान्यनिश्चयजनितोऽपि संशयो विशेषमवगाहते यथा, तथा सामान्यज्ञानजनितोऽप्यज्ञानप्रत्ययो विशेषं विषयीकरिष्यतीति कुतो भासमाने नाज्ञानमिति। न द्वितीयः; सामान्यज्ञानेन तदवच्छिन्नतयैव गृहीतस्याज्ञानस्य विशेषसंबन्धित्वे मानाभावेन भासमाने सामान्य एवाज्ञानमवगतम्। वस्तुतः प्रतीतिप्रमाणकत्वात्। तथा च परचित्तस्थं यथा अनूद्यते, तथा ज्ञानं तथैवाज्ञानं चेति सिद्धम्।

ननु—यथा द्वेषस्येष्टत्वेऽपि द्विष्टस्य नेष्टत्वम्, ईश्वरस्य भ्रान्तिज्ञत्वेऽपि न भ्रमविषयज्ञत्वम्, अस्मदादीनामीश्वरसार्वज्ञ्यज्ञानेऽपि न सर्वज्ञत्वम्, एवमज्ञातज्ञानाभावेऽपि अज्ञानज्ञानमिति—चेन्न, दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः। तथा हि—इच्छा तावज्ज्ञान-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—इस प्रकार के साक्षि प्रत्यक्ष में जो अज्ञान प्रतीत होता है, उसकी विषयता घटत्वादि विशेष धर्मावच्छिन्ना? अथवा त्वदुक्तत्वादि सामान्य धर्मावच्छिन्ना? प्रथम पक्ष में विशेष (घटत्वादि) धर्मावच्छिन्न वस्तु का ज्ञान मानना होगा, क्योंकि विशेष धर्म को अवभासित न कर विशेषविषयक अज्ञान का भासन सम्भव नहीं होता। अतः सामान्य (ऊर्ध्वत्वादि) के निश्चय से जनित (स्थाणुर्वा? पुरुषो वा? इस प्रकार का) संशय जैसे स्थाणुत्वादि विशेष धर्मों को विषय करता है, वैसे ही त्वदुक्तत्वादि सामान्य के निश्चय से जनित अज्ञान-ज्ञान भी घटत्वादि विशेष धर्म को विषय कर लेगा, फिर भाससान वस्तु का अज्ञान क्यों नहीं बनता? द्वितीय (सामान्यावच्छिन्नतया अज्ञानं भासते) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि वस्तु के स्वरूप की सिद्धि उसकी प्रतीति पर निर्भर होती है, साक्षिप्रतीति यदि अज्ञान का सामान्यतः ग्रहण करती है, तब अज्ञान की विशेष धर्मावच्छिन्नता में कोई प्रमाण नहीं, अतः सामान्यतः ज्ञात पदार्थ का सामान्यतः ही अज्ञान मानना होगा, इस प्रकार समानविषयक ज्ञानाज्ञान का सहभाव सिद्ध होता है। आशय यह है कि पर चित्तस्थ वस्तु का जिस रूप में अनुवाद होता है, उस रूप में ही उसका ज्ञान और अज्ञान साक्षी-द्वारा सिद्ध होता है।

शङ्का—अज्ञान-जैसे सविषयक पदार्थ का ज्ञान होने पर भी उसके विषय का ज्ञान नियमतः नहीं होता, जैसे कि शत्रुविषयक द्वेष इष्ट होने पर भी उसका विषयीभूत शत्रु इष्ट नहीं होता, ईश्वर को जीवगत भ्रान्ति विषयक ज्ञान होने पर भी भ्रान्ति नहीं होती एवं जीव ईश्वरगत सर्वज्ञता का ज्ञाता होने पर भी सर्वज्ञ नहीं होता, वैसे ही साक्षी को अज्ञातविषयक अज्ञान का ज्ञान होने पर भी अज्ञात विषय का ज्ञान नहीं होता, अतः ज्ञानाज्ञान का सहभाव सिद्ध नहीं होता।

समाधान—दृष्टान्तों को तोड़-मरोड़ कर जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है,

न्यायामृतम्

मोहमानार्थमज्ञानभानं यदि च कल्प्यते।
अज्ञाते मोहहानिश्च तदर्थं किं न कल्प्यते ॥

तथा हि—संयोगाद्यवच्छेदकस्य घटादेरज्ञानावच्छेदकतया ज्ञानेऽपि घटाद्यज्ञाननिवृत्ति

अद्वैतसिद्धिः

समानविषया, ज्ञानं चावच्छेदकतया द्विष्टमपि विषयीकरोतीति इच्छाया अप्येवच्छेदकतया तद्विषयत्वात्। न हीच्छा इष्टतावच्छेदकाविषया भवति। एतावानेव विशेषः—किंचित् साध्यतया विषयीकरोति, किंचित् अवच्छेदकतया। ईश्वरोऽपि भ्रमविषयमगृहीत्वा भ्रमं न गृह्णाति। भ्रमो हि भ्रमत्वेन ग्राह्यः। भ्रमत्वं च रजताभाववति रजतख्यातित्वं वा, असत्ख्यातित्वं वा, अनिर्वचनीयख्यातित्वं वा। तस्मिन् गृह्यमाणे सर्वथा विषयग्रहः। इयांस्तु विशेषः। यद् भ्रान्तः स्वातन्त्र्येण गृह्णाति, ईश्वरस्तु तज्ज्ञानावच्छेदकतयेति, ईश्वरसार्वज्ञ्यज्ञानमस्माकं तु सर्वज्ञपदेन। तत्र सर्वपदप्रतिपाद्यं ज्ञानन्नेवास्मदादिस्तत्र ज्ञानसंबंधं गृह्णातीति ईदृशं सार्वज्ञ्यमिष्टमेव। विशेषस्त्वीश्वरस्य न कुत्राप्यज्ञानम्, अस्मादृशां तु विशेषेष्वज्ञानमिति कृत्वा। एवं च ज्ञात एव विशेषे अज्ञानज्ञानमिति। न च—घटादेरज्ञानावच्छेदकतया भानेऽपि घटाद्यज्ञाननिवृत्तिं विना

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वस्तु-स्थिति नहीं, वास्तविकता तो यह है कि इष्ट या इच्छा का विषय वही होता है, जो उसके जनकीभूत ज्ञान का विषय होता है, द्विष्टविषयक ज्ञान अवच्छेदकविधया द्विष्ट (शत्रु) को भी विषय करता है, अतः इच्छा का भी अवच्छेदकविधया द्विष्ट अवश्य विषय होता है, क्योंकि द्विष्टरूप अवच्छेदक को विषय न कर इच्छा केवल द्वेषरूप अवच्छेद्य का ग्रहण नहीं कर सकती। इतना अन्तर अवश्य है कि इच्छा किसी विषय को कृति-साध्यत्वेन विषय करती है और किसी विषय को अवच्छेदकविधया, द्विष्ट का ग्रहण कृति-साध्यत्वेन न होने के कारण उसमें इष्टता का व्यवहार नहीं होता। ईश्वर भी जीवगत भ्रम के विषयीभूत रजतादि का ग्रहण न कर निर्विषयक भ्रम ज्ञान का ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि ईश्वर भ्रम ज्ञान का भ्रमत्वेन ही ग्रहण करेगा, भ्रमत्व का अर्थ होता है—तार्किक-सम्मत तदभाववति तत्ख्यातित्व या माध्वादि-सम्मत असत्ख्यातित्व अथवा वेदान्ति-सम्मत अनिर्वचनीयख्यातित्व। सर्वथा विषय का ग्रहण करना अनिवार्य है, क्योंकि ज्ञानगत भ्रमत्व और प्रमात्व उसके विषय पर ही निर्भर होता है। अतः ईश्वर शुक्ति-रजतादि का भी ग्रहण अवश्य करता है, फिर भी उसे भ्रान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भ्रान्त पुरुष शुक्ति-रजतादि का स्वतन्त्र ग्रहण करता है, अवच्छेदक विधया नहीं, किन्तु ईश्वर भ्रमत्वावच्छेदक विधया ही रजतादि का ग्रहण करता है, स्वतन्त्र नहीं। इसी प्रकार ईश्वरगत सर्वज्ञता का ज्ञान जीव को "यः सर्वज्ञः"—इस श्रुति के 'सर्वज्ञ' पद की व्युत्पत्ति से होता है। 'सर्वं जानातीति सर्वज्ञः'—इस प्रकार के संगतिग्रहण से सम्पन्न जीव सर्वपदाभिधेय वस्तु को जानता हुआ सर्वार्थ के साथ ज्ञान का सम्बन्ध स्थापित करता है, अतः सर्वपद-वाच्यत्वेन रूपेण सर्व विषय का परोक्ष बोध तो जीव को होता ही है। जीव और ईश्वर में इतनी विशेषता अवश्य रहती है कि ईश्वर को किसी वस्तु का भी अज्ञान नहीं होता, किन्तु जीव में विशेष विषयक अज्ञान रहता है, ईश्वर को विशेष पदार्थों का विशेषतः तथा जीवों को सामान्यतः ही विशेष पदार्थों का ज्ञान रहता है, अतः सामान्यतः ज्ञात

न्यायामृतम्

विनाऽवच्छिन्नसंयोगादिज्ञानादर्शनेन प्रकृतेऽपि विषयावच्छिन्नाज्ञानज्ञानार्थं तदवच्छेदकविषयावरकाज्ञाननिवृत्तेरपि वक्तव्यत्वेनाज्ञानाविरोधिज्ञानवदज्ञानाविरोधिन्यज्ञाननिवृत्तिरपि स्वीकार्या स्यात्। अथ यथाऽन्यत्रावच्छिन्नसत्त्वस्यावच्छेदकसत्त्वसापेक्षत्वेऽप्यारोपितावच्छिन्नाभावसत्त्वस्य नारोपितसत्त्वसापेक्षत्वं विरोधात्। तथा विषयावच्छिन्नाज्ञानज्ञानस्य न विषयाज्ञाननिवृत्तिसापेक्षत्वं विरोधादिति चेत्, तर्हि तत एव तस्य न विषयज्ञानसापेक्षत्वमपि। किं चाज्ञानस्य ज्ञानान्तरविरोधित्वेपि साक्ष्यविरोधिवत् (धित्ववत्)अन्यत्रावच्छेदकज्ञानाभावस्यावच्छिन्नज्ञानविरोधित्वेऽपि

अद्वैतसिद्धिः

तदवच्छिन्नसंयोगादिज्ञानादर्शनेन प्रकृतेऽपि विषयावच्छिन्नाज्ञानज्ञानार्थं तदवच्छेदकविषयाज्ञाननिवृत्तेरपि वक्तव्यत्वेनाज्ञानाविरोधिज्ञानवद् अज्ञानाविरोधिनी अज्ञाननिवृत्तिरपि स्वीकार्या स्यादिति -वाच्यम्, संयोगादिसत्त्वस्यावच्छेदकघटादिसत्त्वसापेक्षत्वेऽपि यथा अभावे न स्वाधिकरणीयप्रतियोगिरूपावच्छेदकसत्त्वापेक्षा, विरोधात्, तथा अज्ञानज्ञानस्यापि न स्वविषयाज्ञाननिवृत्त्यपेक्षा, विरोधात्। न चैवं—तद्विषयकज्ञानापेक्षापि मास्तु, विरोधस्य समानत्वाद्, अविरोधकल्पनाबीजस्य ज्ञान इवाज्ञाननिवृत्तावपि समानत्वात्, तथा च विषये अज्ञात एवाज्ञानं ज्ञायते, विषयविशेषाव-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विशेष पदार्थों का जो विशेषतः अज्ञान है, उसी का साक्षी-द्वारा ज्ञान होता है।

शङ्का—जैसे अज्ञानावच्छेदकतया घटादि का ज्ञान रहने पर भी घटादि का अज्ञान निवृत्त नहीं होता और जब तक घटादि का अज्ञान निवृत्त नहीं होता, तब तक घटावच्छिन्न संयोगादि का ज्ञान नहीं देखा जाता, वैसे ही प्रकृत में विषयावच्छिन्न अज्ञान का ज्ञान होने के लिए उसके अवच्छेदकीभूत विषय के अज्ञान की निवृत्ति अवश्य माननी होगी, इस प्रकार अज्ञानाविरोधी ज्ञान के समान अज्ञान की अविरोधिनी अज्ञान-निवृत्ति भी माननी चाहिए।

समाधान—घटावच्छिन्न संयोगादि की सत्ता को अपने अवच्छेदकीभूत घटादि-सत्त्व की अपेक्षा होने पर भी जैसे अभाव को अपने अधिकरण में अपने प्रतियोगी की विद्यमानता विरुद्ध होने के कारण अपेक्षित नहीं होती, वैसे ही अज्ञानविषयक ज्ञान को अपने विषयीभूत अज्ञान की निवृत्ति अपेक्षित नहीं, क्योंकि अवच्छेदकीभूत विषय के अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर अज्ञान ही कैसे टिक सकेगा ? विद्यमान अज्ञान का ही साक्षी-द्वारा ग्राहण होता है, अविद्यमान का नहीं।

शङ्का—यदि विरुद्ध होने के कारण विषयावच्छिन्न अज्ञान के प्रत्यक्ष में अवच्छेदकीभूत विषय के अज्ञान की निवृत्ति अपेक्षित नहीं, तब त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—इस प्रकार के अज्ञानविषयक प्रत्यक्ष में अवच्छेदकीभूत विषय का ज्ञान भी अपेक्षित नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान का सहावस्थान विरुद्ध है। अज्ञान और उसकी निवृत्ति में जैसे विरोध है, वैसे ही ज्ञान और अज्ञान का विरोध भी लोक-प्रसिद्ध है। ज्ञान और अज्ञान में अविरोध की कल्पना जैसे हो सकती है, वैसे ही अज्ञान और उसकी निवृत्ति में भी अविरोध की कल्पना की जा सकती है। अतः यह मानना होगा कि विषय के अज्ञात होने पर ही अज्ञान प्रतीत होता है। यद्यपि जैसे अज्ञात घट का भूतल के साथ सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, वैसे ही अज्ञात विषय का अज्ञान के साथ

न्यायामृतम्

अज्ञानावच्छेदकज्ञानाभावस्यावच्छिन्नज्ञानाविरोधः किं न स्यात् ? अज्ञानस्य विषयविशेषावच्छेदसिद्धिस्तु तमस इव विशेषज्ञानानन्तरमेतावन्तं कालममुमर्थमित्थं नाज्ञासिषमित्यनुभवान्तरादिति ज्ञेयम् ।

यच्चोक्तं साक्ष्यज्ञानस्फोरकत्वात्तदविरोधी, वृत्तिरेव तु विरोधिनीति । तन्न, वृत्तिश्चैतन्यस्य विषयोपरागार्थेतिमते तस्या अज्ञानानिवर्तकत्वाद् अज्ञानस्यसर्वविरोधि-

अद्वैतसिद्धिः

च्छिन्नबुद्धिस्तु तमसीव विशेषज्ञानानन्तरं 'एतावत्कालममुमर्थं नाज्ञासिषमित्येवंरूपा जायत इति वाच्यम्, हन्तैवमभावस्वभावविरोधिप्रतियोगिज्ञाननिरपेक्षज्ञानविषयत्वमभाववैलक्षण्यसाधकमज्ञाने उपपादितमायुष्मता । किञ्च यद्यज्ञानं स्वकाले विषयावच्छिन्नतया न भासयेत्, तदा तु 'त्वदुक्तमर्थं न जानामी'ति विषयावच्छिन्नाज्ञानस्य वर्तमानार्थप्रत्ययो विरुद्ध्येत । तस्मात् विषयाज्ञानसाधकत्वात् साक्षिरूपविषयप्रकाशोऽपि नाज्ञानविरोधी, किंतु प्रमाणवृत्तिः । एकविषयत्वेऽपि प्रमाणवृत्तितदतिरिक्तवृत्त्योरज्ञानविरोधित्वाविरोधित्वे घटविषयकयोः सौरालोकज्ञानयोः सौरचाक्षुषप्रकाशयोर्वा तमोविरोधित्वाविरोधित्ववदुपपद्येते । न च—वृत्तिश्चैतन्यस्य विषयोपरागार्थेति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सम्बन्ध नहीं हो सकता । तथापि अज्ञान की विद्यमानता के समय अज्ञान के साथ विषय-सम्बन्ध न होने पर भी अज्ञात विषय का ज्ञान हो जाने पर विषय विशेष का सम्बन्ध वैसे ही सिद्ध हो जाता है, जैसे कि अन्धकार में अप्रकाशमान घटादि प्रदीप के जलने पर प्रकाशित होता है, वैसे ही अज्ञान के रहने पर अप्रकाशमान विषय भी 'एतावन्तं कालममुमर्थं नाज्ञासिषम्'—इस प्रकार का ज्ञान होने पर प्रकाशित हो जाता है ।

समाधान—आप (द्वैतवादी) अज्ञान को भावरूप न मानकर ज्ञानाभावरूप मानते हैं, अभाव के प्रत्यक्ष में नियमतः प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा होती है, किन्तु प्रकृत में अज्ञान (ज्ञानाभाव) के प्रत्यक्ष में विषय-विशिष्ट ज्ञान रूप प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं । प्रतियोगिज्ञाननिरपेक्षज्ञान-विषयत्व तो भाव पदार्थ का स्वभाव होता है, अभाव का नहीं । अतः अज्ञान में भाव-स्वभाव के विरोधी स्वभाव का उपपादन कर आप (द्वैतवादी) अपसिद्धान्त रूप निग्रहस्थान से निगृहीत हो रहे हैं । दूसरी बात यह भी है कि यदि अज्ञान अपनी वर्तमान अवस्था में विषय-विशिष्टतया प्रतीत नहीं होता है, तब 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—इस प्रकार विषय-विशिष्ट अज्ञान का वर्तमानार्थग्राही प्रत्यक्ष कैसे होगा ? क्योंकि प्रत्यक्ष के लिए यह नियम होता है—"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते" (श्लो० वा० पृ० १६७) । इस लिए विवश होकर यह मानना पड़ेगा कि विषय-विशिष्ट अज्ञान का साधक होने के कारण साक्षिरूप विषय-ज्ञान अज्ञान का विरोधी नहीं होता, अपितु प्रमाण-अन्तःकरण-ज्ञान ही प्रमा वृत्तिरूप ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी होता है । जैसे घटविषयक ज्ञान अन्धकार का विरोधी नहीं होता अथवा जैसे घटविषयक सूर्य-प्रकाश ही अन्धकार का निवर्तक होता है, चक्षुरिन्द्रिय का प्रकाश नहीं । वैसे ही प्रमाण-जन्य अन्तःकरण-वृत्तिरूप प्रमा ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी होता है, साक्षी ज्ञान नहीं ।

शङ्का—जिस मत में अन्तःकरण की वृत्ति का प्रयोजन चैतन्य का विषय-संबंध-स्थान माना जाता है, उस मत में वृत्ति को अज्ञान का विरोधी (निवर्तक) नहीं माना

न्यायामृतम

ज्ञानाभावव्यापकत्वेन मोक्षेऽप्यज्ञानापाताच्च । न जानामीत्यज्ञानस्य ज्ञानसामान्यविरोधित्वानुभवाच्च । न जानामीति ज्ञप्तिविरोधित्वस्यैवानुभवाच्च । त्वत्पक्षे च

अद्वैतसिद्धिः

मते अस्या अज्ञाननिवर्तकत्वाभावाद् इदमयुक्तमिति—वाच्यम् , अज्ञाननिवर्तकत्वेन निवृत्तिप्रयोजकत्वस्यैव उक्तत्वात् । तच्च संबन्धसंपादनद्वाराऽस्मिन्पक्षेऽपि अस्त्येव । न च—अज्ञानस्य स्वविरोधिज्ञानाभावव्यापकत्वेन मोक्षेऽप्यज्ञानापात इति- वाच्यम् ; मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तिश्रवणेन स्वविरोधिज्ञानप्रागभावमात्रव्यापकत्वात् । न च— कथं प्रमाणवृत्तिमात्रविरोधित्वे अज्ञानमात्र विरोधित्वेनैव न जानामीत्याकारेण प्रत्ययः ? इति—वाच्यम् , घटादिमात्रविरोधिनो घटाभावादेः भावसामान्यविरोधि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता, अतः 'प्रमा वृत्ति अज्ञान-विरोधिनी होती है—यह कहना उचित नहीं [विवरणका ने यही शङ्का प्रकारान्तर से उठाई है—कार्यभूतेनान्तःकरणेन स्वोपादानाज्ञानाभिभवायोगात् (पं० वि० पृ० ३१०) ।

समाधान—चैतन्य का दृश्य वर्ग के साथ सामान्य उपराग (सम्बन्ध) नैसर्गिक होने पर भी विशेषतः उपराग नहीं रहता, इस अनुपराग का प्रयोजक अज्ञानावरण ही होता है । अज्ञानावरण की जब तक निवृत्ति न हो, तब तक विशेष उपराग हो ही नहीं सकता, अतः वृत्ति उपराग-सम्पादन का भी उद्देश्य आवरण-निवृत्ति ही रहता है । विवरणकार ने भी कहा है—"अन्तःकरणोपरागात् आवरणतिरोधाने तत्रैवाभिव्यक्तः तत्संसृष्टमेव विषयमवभासयति" (पं. वि. पृ. ३१६-१७) ।

शङ्का—प्रमावृत्ति ही यदि अज्ञान की निर्वतिका होती है, तब प्रमावृत्ति के न होने पर अज्ञान बना रहेगा, अर्थात् 'यदा प्रमावृत्तेरभावस्तदा अज्ञानम्'—इस प्रकार अज्ञान में स्वविरोधी प्रमा वृत्ति के अभाव की व्यापकता सिद्ध होती है, व्याप्य के रहने पर व्यापक का रहना अनिवार्य होता है, अतः मोक्ष अवस्था में प्रमा वृत्ति के न होने पर अज्ञान की सत्ता माननी होगी, तव मोक्ष अविद्या-निवृत्तिरूप नहीं माना जा सकता ।

समाधान—'यदा प्रमावृत्त्यभावः, तदा अज्ञानम्'—यह व्याप्ति ही असिद्ध हैं, क्योंकि मोक्षावस्था में प्रमावृत्त्यभाव के रहने पर भी अज्ञान नहीं रहता, अज्ञान का अभाव श्रुति-प्रतिपादित है—"भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" (श्वेता० १।१०) । [फलतः 'मुक्तात्मा अज्ञानवान् प्रमावृत्त्यभाववत्त्वात्'—इस अनुमान में 'ज्ञानप्रागभाववत्त्व' उपाधि है, अर्थात् अज्ञान प्रमावृत्त्यभाव का व्यापक न होकर ज्ञानप्रागभाव मात्र का व्यापक होता है, मुक्तात्मा में ज्ञान का प्रागभाव नहीं रहता, क्योंकि वस्तु के ध्वंसाधिकरण में वस्तु का प्रागभाव तार्किक भी नहीं मानते, मुक्तात्मा में चरम वृत्तिरूप ज्ञान का ध्वंस रहने के कारण ज्ञान-प्रागभाव कैसे रहेगा ?] ।

शङ्का—यह जो कहा गया कि अज्ञान का विरोधी प्रमा ज्ञान ही होता है, वह संगत नहीं, क्योंकि अज्ञान का अवयव-व्युत्पत्ति-लब्ध अर्थ होता है—ज्ञान-विरोधी, अतः ज्ञानमात्र को अज्ञान का विरोधी कहना चाहिए, केवल प्रमा ज्ञान को नहीं । 'जानामि'— इस प्रकार की प्रतीति में जिस ज्ञान सामान्य का भान होता है, उसी का विरोधी पदार्थ 'न जानामि'—इस प्रतीति का विषय माना जाता है ।

समाधान—विशेष विरोधी पदार्थ में सामान्य-विरोधित्व का व्यवहार देखा जाता

न्यायामृतम्

चैतन्यस्यैव ज्ञप्तित्वात् । चैतन्याज्ञानयोरविरोधे ज्ञानत्वाज्ञानत्वायोगस्योक्तत्वाच्च । वृत्तेरप्यर्थप्रकाशकत्वं विना जातिविशेषेणैवाज्ञानतत्कार्यनिवर्तकत्वे इच्छादिनिवर्त्य-

अद्वैतसिद्धिः

त्वेनाभावत्वेन प्रतीतिवत् ज्ञानविशेषविरोधिनोऽप्यज्ञानस्य ज्ञानसामान्यविरोधित्वेन प्रतीतिसंभवात्। न ह्यभावपदादिनाभावप्रतीतौ घटाभावो न भासते । अथ सा विरोधिता तत्र विशेषमात्रपर्यवसन्ना, समं प्रकृतेऽपि, अन्यत्राभिनिवेशात् । न च— 'न जानामी'ति ज्ञप्तिविरोधित्वस्यैवानुभवात् कथं वृत्तिविरोधित्वम्? त्वन्मते चैतन्यस्यैव ज्ञप्तित्वात्, चैतन्याज्ञानयोरविरोधे ज्ञानत्वाज्ञानत्वायोगादिति—वाच्यम्, मन्मते वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं जानामीति व्यवहारविषयः । तथा च न जानामीत्यनेन वृत्तिचितोरुभयोरप्यज्ञानविरोधित्वं विषयीक्रियते । एवं च न चैतन्येऽज्ञानविरोधित्वम्, नापि वृत्तौ, वृत्त्युपारूढचित एवार्थप्रकाशकत्वेन तथात्वात् ।

ननु—वृत्तेरप्यर्थप्रकाशकत्वं विना जातिविशेषेणैवाज्ञानतत्कार्यनिवर्तकत्वे इच्छा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है, जैसे कि घटादि मात्र के विरोधी घटाभाव में भावसामान्य-विरोधिता व्यवहारतः सिद्ध है, अत एव 'घटं जानासि' ? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर दिया जाता है—'न जानामि' इसी प्रकार ज्ञात विशेष (प्रमा) के विरोधी अज्ञान में केवल ज्ञान-विरोधित्व की प्रतीति असंगत नहीं । अभाव सामान्य की प्रतीति में अभाव विशेष भी आ जाता है, अभाव' पद के द्वारा अभाव सामान्य की प्रतीति में घटादि विशेष पदार्थ का अभाव भी आ जाता है । यदि कहा जाय कि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'—इस प्रकार के सामान्य निषेध का पर्यवसान यागीयहिंसेतर विशेष हिंसा में न्यायतः हो जाता है । तब प्रकृत में भी वैसा ही कहा जा सकता है कि ज्ञान सामान्य-विरोधित्व-प्रतिपादन का पर्यवसान ज्ञान विशेष-विरोधित्व में ही हो जाता है । दृष्टान्त-स्थल पर ही सामान्य प्रतीति का पर्यवसान विशेष में होगा, दार्ष्टान्त में नहीं—इस प्रकार अभिनिवेश (दुराग्रह) सर्वथा अनुचित है ।

शङ्का—यह जो कहा गया कि अज्ञान का चैतन्यरूप ज्ञान विरोधी नहीं होता, अपि तु वृत्तिरूप ज्ञान । वह कहना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि 'न जानामि'—इस अनुभव में मुख्य ज्ञान की विरोधिता ही प्रतीत होती है आप (अद्वैतवादी) चैतन्य को ही मुख्य ज्ञान मानते हैं ? चैतन्य रूप ज्ञान और अज्ञान का विरोध न होने पर चैतन्य में न तो ज्ञानत्व का व्यवहार हो सकेगा और न अज्ञान में अज्ञानत्व का, क्योंकि 'ज्ञान' पद गौण (वृत्तिरूप) ज्ञान को तभी कहेगा, जब कि उसके मुख्य (चैतन्य रूप) ज्ञान का कोई बाधक हो, बाधक न होने के कारण 'ज्ञान' पद यह मुख्य ज्ञान का और 'अज्ञान' पद मुख्य ज्ञान के विरोधी पदार्थ का बोधक होता है, चैतन्य वस्तु यदि ज्ञानत्व नहीं, तब उसके विरोधी अर्थ में अज्ञानत्व नहीं रह सकता ।

समाधान—हम अद्वैतवादी वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को 'जानामि'— इस प्रकार के व्यवहार का विषय मानते है, अतः 'न जानामि'—इस प्रतीति के द्वारा वृत्ति और चैतन्य—दोनों में अज्ञान की विरोधिता गृहीत होती है, फलतः न तो केवल चैतन्य में अज्ञान की विरोधिता होती है और न केवल वृत्ति में, किन्तु वृत्ति में उपारूढ़ चैतन्य विषय-प्रकाशक होने के कारण विषयावरक अज्ञान का विरोधी माना जाता है ।

शङ्का—वृत्ति में वह कौन-सी विशेषता है कि उसे विषयावरण का निवर्तक

न्यायामृतम्

द्वेषादिवत् सत्त्वापत्त्या शुक्त्यादिज्ञानवदर्थप्रकाशत्वेन तन्निवर्तके वक्तव्ये चैतन्यस्यापि तत्त्वेन तन्निवर्तकत्वावश्यंभावाच्च। त्वन्मते नित्यातीन्द्रिये परोक्षवृत्तौ सत्यामपि अज्ञानानिवृत्त्या सुखादावपरोक्षवृत्त्यभावेऽपि स्फुरणमात्रे ज्ञानादर्शनेन चान्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुरणस्यैवाज्ञानविरोधित्वाच्च। स्वसत्तायामप्रकाशविरोधित्वेनात्मनः

अद्वैतसिद्धिः

दिनिवर्त्यद्वेषादिवत् सत्त्वापत्त्या शुक्त्यादिज्ञानवदर्थप्रकाशकत्वेन तन्निवर्तकत्वे वक्तव्ये चैतन्यस्यापि तत्सत्त्वेन तन्निवर्तकत्वावश्यम्भावेन तन्निवृत्त्यापातः, नित्यातीन्द्रिये परोक्षवृत्तौ सत्यामप्यज्ञानानिवृत्त्या सुखादावपरोक्षवृत्त्यभावेऽपि स्फुरणमात्रेणाज्ञानादर्शनेन चान्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुरणस्यैवाज्ञानविरोधित्वाद्—इति चेन्न, प्रमाणवृत्त्युपारूढप्रकाशत्वेन निवर्तकत्वं ब्रूमः, न तु जातिविशेषेण, प्रकाशत्वमात्रेण वा। अतो नेच्छादिनिवर्त्यद्वेषादिवदेतन्निवर्त्यानां सत्त्वापत्तिः, न वा चैतन्यमात्रस्य निवर्तकत्वापत्तिः। अत एव—शाब्दादिवृत्तौ सत्यामपि अज्ञानानिवृत्त्या सुखादौ प्रमाणवृत्त्यभावे स्फुरणमात्रेणाज्ञानादर्शनेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुरणस्यैवाज्ञानादौ विरोधित्वमिति—निरस्तम्, परोक्षवृत्तेर्विषयपर्यन्तत्वाभावेन न विषयगताज्ञाननिवर्तकत्वम्, सुखादौ

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अथवा विषयप्रकाशकत्व ? यदि अन्तःकरण की परिणति होने के कारण वृत्ति को अज्ञान-निवर्तक माना जाता है, तब अन्तःकरण की राग रूप वृत्ति के द्वारा निवर्तनीय द्वेष और उसका कार्य जैसे सत्य होता है, वैसे ही ज्ञानरूप वृत्ति के द्वारा निवर्त्य अज्ञान और उसका कार्य सत्य होना चाहिए, मिथ्या नहीं। यदि कहा जाय कि रागात्मिका वृत्ति में अर्थप्रकाशकत्व नहीं होता और ज्ञानात्मक वृत्ति में होता है, इसकी इसी विशेषता के आधार पर इसे अज्ञान का निवर्तक माना जाता है, अतः इसके द्वारा निवर्तनीय अज्ञान में वैसे ही सत्यत्वापत्ति नहीं होती, जैसे कि विषय-प्रकाशक शुक्ति-ज्ञान के द्वारा निवर्तनीय शुक्त्यज्ञान और रजतादि में, तब तो 'यत्र-यत्र विषयप्रकाशत्वम्, तत्र-तत्राज्ञानविर्वकत्वम्'—यह व्याप्ति पर्यवसित होती है, अतः चैतन्य में भी विषय-प्रकाशकत्व रहने के कारण अज्ञान-निवर्तकत्व अवश्यंभावी हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा स्फुरणमात्र में ही अज्ञान-निवर्तकता सिद्ध होती है, क्योंकि नित्यातीन्द्रिय धर्माधर्मादिविषयक परोक्ष वृत्ति में धर्मादिषयक अज्ञान की निवर्तकता नहीं और सुखादि में अपरोक्ष वृत्ति के न होने पर भी सुखादि के साक्षीरूप स्फुरणमात्र में सुखादिविषयक अज्ञान की निवर्तकता देखी जाती है। फलतः चैतन्य में ही अज्ञान का निवर्तकत्व या विरोध सिद्ध होता है।

समाधान—प्रमा वृत्ति-प्रतिबिम्बित प्रकाशत्व को ही अज्ञान-निवृत्ति का प्रयोजक माना जाता है, अन्तःकरण-परिणामत्व या अर्थप्रकाशकत्व में नहीं। अतः न तो रागादि-निवर्त्य द्वेषादि के समान वृत्ति-निवर्त्य अज्ञान में सत्यत्व की आपत्ति होती है और न स्फुरणमात्र में अज्ञान-विरोधित्व की। यह जो आपत्ति की गई थी कि धर्माधर्मादि विषयक शब्दादि-जन्य परोक्ष वृत्ति में अज्ञान की अनिवर्तकता और सुखादि में प्रमा वृत्ति का अभाव होने पर भी स्फुरणमात्र में अज्ञान की निवर्तकता देख कर अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर चैतन्य में ही अज्ञान-विरोधित्व सिद्ध होता है, वह आपत्ति भी इसी लिए

न्यायामृतम्

स्वप्रकाशत्वसाधनायोगश्च । वृत्तिचितोर्वैषम्योक्तिश्चायुक्ता, वृत्तिवत्साक्षिणोऽपि समानविषयकाज्ञानविरोधित्वानुभवात् । अनुभूयते ह्यज्ञानाविषयकानुमित्यादिरूपवृत्तिवदज्ञानविषयकसाक्षिणोऽप्यज्ञानाविषयकाज्ञानविरोधित्वं साक्षिवच्चाज्ञानविषयकवृत्तेरप्यज्ञानाविषयविषयकाज्ञानविरोधित्वं च । अन्यथा साक्षिवेद्ये चैत्रेच्छासुखदुःखादौ मैत्रस्येव चैत्रस्याप्यज्ञानं स्यात् । एवं च —

साक्षी स्वविषये ज्ञानविरोधी न भवेद्यदि ।
तद्वेद्ये सुखदुःखादावज्ञानं केन वार्यते ॥

इच्छादौ सदाप्रकाशादज्ञानप्रसक्तिरेव नेति चेत्, तर्ह्यात्मन्यपि तत एव तद-

अद्वैतसिद्धिः

च ज्ञातैकसत्त्वादज्ञाननिवृत्तिं विनैवाज्ञानादर्शनम् । अतोऽन्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्ध्या स्फुरणमात्रं नाज्ञानविरोधि । न चात्मनोऽज्ञानाश्रयविषयत्वे स्वसत्तायामप्रकाशविधुरत्वेन स्वप्रकाशत्वसाधनायोगः, परिपूर्णत्वादिना अप्रकाशविधुरत्वाभावेऽप्यध्यासाधिष्ठानत्वादिना प्रकाशमानतयाऽप्रकाशविधुरत्वसंभवात् ।

न च—वृत्तिचितोर्वैषम्योक्तिरयुक्ता, वृत्तिवत्साक्षिणोऽपि समानविषयतया अज्ञानविरोधित्वानुभवाद्, अन्यथा साक्षिवेद्ये चैत्रेच्छासुखादौ मैत्रस्येव चैत्रस्याप्यज्ञानं स्यात्, नो चेन्मैत्रस्याप्यज्ञानं न स्यादिति—वाच्यम्, साक्षिणि यदज्ञानविरोधित्वमनुभूयते तन्नाज्ञाननिवर्तकत्वनिबन्धनम्, किंतु स्वविषय इच्छादौ यावत्सत्त्वं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

निरस्त हो जाती है कि धर्मादि विषयक परोक्ष वृत्ति का विषय-पर्यन्त प्रसरण न होने के कारण उसे विषयावरण-निवर्तक नहीं माना जाता और सुखादि की ज्ञातमात्र सत्ता होने के कारण सुखादि का अज्ञान होता ही नहीं कि अज्ञान-निवृत्ति की आवश्यकता हो। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक की अन्यथा सिद्धि हो जाने के कारण स्फुरणमात्र में अज्ञान-विरोधित्व सिद्ध नहीं होता।

यदि आत्मा ही अज्ञान का आश्रय और विषय होता है, तब आत्मा में स्वप्रकाशत्व या स्वसत्ता में अप्रकाशाभाव कैसे सिद्ध होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्मा का परिपूर्णत्वादिरूप से प्रकाश न होने पर भी अध्यासाधिष्ठानत्वादिरूप से सदा प्रकाश होने के कारण स्वप्रकाशत्व सुरक्षित रहता है।

शङ्का—घटादि-प्रकाशक सौरालोक और ज्ञान के समान प्रमा वृत्ति और चैतन्य का जो वैषम्य दिखाया गया, वह असंगत है, क्योंकि प्रमा वृत्ति और साक्षी चैतन्य दोनों ही समानरूप से अज्ञान के विरोधी अनुभूत होते हैं, अन्यथा (साक्षी चैतन्य के अज्ञान-विरोधी न होने पर) चैत्रगत सुखादि का जैसे मैत्र को अज्ञान रहता है, वैसे ही चैत्र को भी स्वगत सुखादि का अज्ञान होना चाहिए, यदि सुखादि ज्ञातमात्र होते हैं, अज्ञान होता ही नहीं, तब चैत्रगत सुखादि का मैत्र को भी अज्ञान नहीं होना चाहिए।

समाधान—साक्षी में जो अज्ञान-विरोधित्व अनुभूत होता है, उसका प्रयोजक अज्ञान-निवर्तकत्व नहीं, किन्तु साक्षि-भास्य सुखादि पदार्थों में अज्ञानाप्रसक्ति है। चैत्र को स्वगत सुखादि में अज्ञान की अप्राप्ति होने के कारण सुखादि विषयक अज्ञान नहीं होता और मैत्र को प्रमातृगत (स्वगत) असत्त्वापादक अज्ञान के कारण चैत्रीय सुखादि का ज्ञान नहीं हो पाता।

न्यायामृतम्

प्रसक्तिः स्यात् । न च साक्षिवेद्यत्वं तदप्रसक्तौ तन्त्रम्, आत्मा तु न तद्वेद्यः, किंतु चिद्रूपत्वात्प्रकाशत एवेति युक्तम् । प्रकाशरूपे दीपे अन्धकारस्येवात्मन्यप्यज्ञाना-प्रसक्तेर्न्याय्यत्वात् । अन्यथा घटादिरालोकमिवात्मापि स्वव्यवहारे ज्ञानान्तरमपेक्षेत । न च सुखाद्यपि वृत्तिप्रतिबिंबितसाक्षिणैव वेद्यम्, न तु केवलेनेति केवलो नाज्ञान-विरोधीति वाच्यम् । असतः साधकत्वभंगे केवलसाक्षिवेद्यत्वोपपादनात् । अन्तःकरण-वृत्तेरिन्द्रियादिव्यापारमविद्यावृत्तेश्च दोषं विनायोगाच्च । अन्यथाऽऽत्मापि वृत्तिप्रति-बिंबितेनैव स्वेन (तेन) सदा प्रकाशते, न तु केवलेनेति स्यात् । एतेन सौरालोक-ज्ञानादिप्रतिबंदी निरस्ता ।

अद्वैतसिद्धिः

प्रकाशादज्ञानाप्रसक्तिनिबन्धनम् । वृत्तेश्च स्वविषये प्रसक्ताज्ञाननिवृत्तिनिबन्धनमेवेत्यु-भयोर्वैषम्योक्तियुक्तैव । अज्ञानाप्रसक्तेरेव चैत्रेच्छादौ चैत्रस्य नाज्ञानव्यवहारः, मैत्रस्य तु प्रमाण ानादेव तद्व्यवहारः । न च—तर्ह्यात्मन्यपि तत एव तदप्रसक्तिरिति –वाच्यम्, दत्तोत्तरत्वात् । किं च साक्षिवेद्यत्वं तदप्रसक्तौ तन्त्रम्, आत्मा तु न तद्वेद्यः, चिद्रूपत्वाद् प्रकाश एवेति । न च –तर्हि सुतरामज्ञानानुपपत्तिः तेजसीव तमसः, अन्यथा घटादि-रालोकमिवात्मापि स्वव्यवहारे ज्ञानान्तरमपेक्षेतेति –वाच्यम्; अज्ञानावृतत्वाद् घटवदज्ञाननिवर्तकान्तरापेक्षा चेत्तर्हीष्टापत्तिः, वृत्तेरेवापेक्षणात्, प्रकाशान्तरापेक्षायां जडत्वस्योपाधित्वात्, प्रकाशत्वेऽप्यज्ञानाविरोधित्वस्योपपादितत्वात् । अत एव सर्वं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—यदि सुखादि का अज्ञान नहीं माना जाता, तब आत्मा का भी अज्ञान नहीं होना चाहिए, अतः आत्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति के लिए वेदान्तियों का भगीरथ प्रयत्न किस लिए ?

समाधान इस शङ्का का समाधान पहले ही किया जा चुका है कि आत्मा का चैतन्य रूप से ज्ञान होने पर भी परिपूर्णत्वादि रूप से अज्ञान होता है, उसी की निवृत्ति का उपदेश "आत्मा वारे द्रष्टव्यः"—इत्यादि वेदान्त-वाक्यों में किया गया है। दूसरी बात यह भी है कि साक्षिभास्य सुखादि पदार्थों का ही अज्ञान प्रसक्त नहीं होता, आत्मा साक्षिभास्य नहीं, क्योंकि चिद्रूप होता है, अतः चिद्रूपत्वेन प्रकाशमान आत्मा का परि-पूर्णत्वादिरूप से अज्ञानावृत होना अनुचित है ।

शङ्का—आत्मा यदि चिद्रूप है, तब तो किसी प्रकार भी उस पर अज्ञानावरण कैसे ही उपपन्न नहीं हो सकता, जैसे कि तेज पर तम का आवरण, अन्यथा (चैतन्य और अज्ञान का विरोध न मानने पर) स्वकीय अज्ञान के अविरोधी घटादि जड़ पदार्थों के समान आत्मा को भी अपने व्यवहार (प्रकाश) के लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा होगी, इस प्रकार आत्मा में फल-व्याप्यत्व और स्वयंप्रकाशत्व-विरोधी वेद्यत्व प्रसक्त होता है ।

समाधान—आपके आक्षेप का आकार क्या है ? (१) आत्मा स्वज्ञाननिवर्तका-न्तरसापेक्षः अज्ञानावृतत्वाद् घटवत् ? अथवा (२) आत्मा स्वाज्ञाननिवर्तकप्रकाशान्तर-सापेक्षः, अज्ञानावृतत्वाद् घटादिवत् ? प्रथम पक्ष में इष्टापत्ति है, क्योंकि आत्मज्ञान के लिए वृत्ति की अपेक्षा मानी हो जाती है । द्वितीय पक्ष में जड़त्व उपाधि है । [घटादि जड़ पदार्थों में जड़त्व साध्य का व्यापक तथा अजड़ आत्मा में साधन का अव्यापक होने से उपाधि है] । आत्मा अजड या प्रकाश रूप होने पर भी अज्ञान का विरोधी

न्यायामृतम्

एतेनैव सर्वं ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिविषय इति निरस्तम् । अन्धकारावृतवद् ज्ञानाभावावच्छेदकविषयवदज्ञानावच्छेदकस्याप्यप्रकाशेन साक्षिवेद्यतायोगात् । अस्तु वा वृत्तिरेवाज्ञानविरोधिनी, तथाप्यात्मविषया सेदानीमप्यस्तीति कथं तत्राज्ञानम् ? विवरणे जीवाकाराहंवृत्तिपरिणतान्तःकरणेन च जीवोऽभिव्यज्यते, अन्यथा सुषुप्तेरित्युक्तेः । अयं घट इत्याद्यपरोक्षवृत्तेरपि त्वन्मते घटावच्छिन्नचिद्विषयत्वाच्च । अन्यथा घटावरकाज्ञानाभावेनायं घट इति वृत्तेरज्ञानाभिभावकत्वं न स्यात् । न च विशिष्टचैतन्यरूपजीवविषया वा घटावच्छिन्नचैतन्यविषया वा वृत्तिरज्ञानविषयी-

अद्वैतसिद्धिः

वस्तु ज्ञाततयाज्ञाततया च साक्षिचैतन्यस्य विषयः, ज्ञानाज्ञानयोः स्वविषयावच्छिन्नयोरेव भानात् । एतेन अन्धकारावृतवत् ज्ञानाभावावच्छेदकविषयवज्ञानावृतस्याप्यप्रकाशेन साक्षिवेद्यत्वायोग इति निरस्तम्; विषयावच्छेदेनानुभवविरोधात् ।

ननु—वृत्तेरज्ञानविरोधित्वेऽप्यात्मविषया वृत्तिरिदानीमप्यस्त्येवेति कथं तत्राज्ञानम् ? किं च त्वन्मते घटाद्यपरोक्षवृत्तेरपि घटाद्यवच्छिन्नचिद्विषयत्वेन सुतरां चित्यज्ञानासंभवः । न च - विशिष्टचैतन्यरूपजीवविषया वा घटावच्छिन्नचैतन्यविषया वा वृत्तिरज्ञानविषयीभूतकेवलचिदविषयत्वादज्ञानविरोधिनी न स्यादिति—वाच्यम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं—यह पहले ही कहा जा चुका है । अत एव विवरणाचार्य ने ठीक ही कहा है—"सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव" (पं० वि० पृ० ८३) अर्थात् ज्ञान और अज्ञान दोनों ही साक्षिभास्य होते हैं, किन्तु विषय-रहित ज्ञान और अज्ञान साक्षिभास्य नहीं होते, विषय-विशेषित ही साक्षिवेद्य होते हैं, अतः ज्ञान के विषय का ज्ञातत्वेन और अज्ञान के विषय का अज्ञातत्वेन साक्षिभास्य होना अत्यन्त न्याय-संगत है ।

'ज्ञान का विषय साक्षिभास्य होने पर भी अज्ञान का विषय साक्षिप्रकाश्य नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे अन्धकाराच्छन्न या ज्ञानाभाव की अवच्छेदक वस्तु प्रकाशित नहीं होती, वैसे ही अज्ञान से आवृत विषय का प्रकाश नहीं हो सकता, अतः अज्ञान का विषय साक्षिभास्य क्योंकर होगा ?' यह शङ्का भी इसीलिए निरस्त हो जाती है कि विषयानवच्छिन्न अज्ञान साक्षी का विषय नहीं होता, अपि तु 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'—इत्यादि साक्षिप्रत्यय में विषयावच्छिन्न अज्ञान ही साक्षिवेद्य अनुभूत होता है, अतः अज्ञान के विषय में साक्षिभास्यता अनिवार्य है, विषय-रहित अज्ञान की साक्षिभास्यता में उक्त अनुभव का स्पष्ट विरोध है ।

शङ्का—जो आत्मविषयक (अहमाकार) प्रमा वृत्ति अज्ञान की विरोधिनी मानी जाती है, वह तो संसारावस्था में भी विद्यमान है, अतः संसारावस्था में भी आत्मविषयक अज्ञान क्योंकर रहेगा ? दूसरी बात यह भी है कि (अद्वैतवादी) के मत में घटादिविषयक अपरोक्ष वृत्ति भी घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यविषयिणी ही मानी जाती है, अतः उससे अज्ञान के नष्ट हो जाने पर चैतन्य में आत्मविषयक अज्ञान का बना रहना कथमपि सम्भव नहीं । यदि कहा जाय कि विशिष्ट चैतन्यरूप जीव को विषय करने वाली अहमाकार प्रमा वृत्ति अथवा घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य-विषयिणी वृत्ति अज्ञान-विषयीभूत केवल शुद्ध या अनवच्छिन्न) चैतन्य को विषय न करने के कारण अज्ञान की

न्यायामृतम्

भूतचिद्विषया, वा तदज्ञानाविरोधिनी वेति युक्तम्। दण्डी चैत्र इति वृत्या चैत्राज्ञानानभिभवापातात्। आकाशस्यैव च घटावच्छिन्नस्य घटाकाशत्वे घटाकाशे दृष्टे आकाशगतमहत्त्वाद्यदर्शनेऽपि आकाशमात्रं दृष्टमेव आकाशांशस्य घटाकाशत्वे तु घटाकाशदर्शनेऽपि महाकाशादर्शनं युक्तम्। न च श्रवणादिजन्या वृत्तिरज्ञानविरोधिनीति युक्तम्, भ्रमकालीनापरोक्षज्ञानानधिकविषयज्ञानेन कारणान्तरजन्येनाप्यविद्यानिवृत्तावतिप्रसंगात्। अनधिकविषयत्वे श्रवणादिवैयर्थ्याच्च। सत्यत्वापाताच्च। तस्मान्नात्ममात्रमज्ञानस्य विषयः।

अद्वैतसिद्धिः

'दण्डी चैत्र' इति वृत्त्या चैत्राज्ञानानभिभवापातात्। घटाकाशज्ञाने महाकाशाज्ञानस्य महत्त्वाज्ञाने पर्यवसानम्। अत एवाकाशो ज्ञात इति प्रतीतिः। न च श्रवणादिजन्यैव वृत्तिरज्ञानविरोधिनी, भ्रमकालीनापरोक्षज्ञानानधिकविषयज्ञानेन कारणान्तरजन्येनापि अज्ञानानिवृत्त्यतिप्रसङ्गाद्, अनधिकविषयत्वे श्रवणादिवैयर्थ्यात्, सत्यत्वापाताच्चेति—चेन्न, यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति मते अज्ञानविशेषः एकाज्ञानपक्षे अवस्थाविशेषः शक्तिविशेषो वा अविद्यागतो विशिष्टगोचरवृत्त्या निवर्तत एव। प्रपञ्च-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विरोधिनी नहीं, अतः संसारावस्था में अज्ञान का बना रहना सम्भव है। तो वैसा नहीं कह सकते, विशिष्ट-विषयक वृत्ति को शुद्धविषयक भी माना जाता है। अन्यथा 'दण्डी चैत्रः'—इत्यादि वृत्ति के द्वारा केवल चैत्रविषयक अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकेगी। अतः विशिष्ट विषयक ज्ञान को शुद्धविषयक अज्ञान का भी निवर्तक मानना होगा। घट-विशिष्ट आकाश का ज्ञान हो जाने पर भी जो 'महाकाशं न जानामि'—इस प्रकार का अज्ञान अनुभूत होता है, उसका आकाशगत महत्त्वविषयक अज्ञान में पर्यवसान होता है, अत एव वहाँ 'आकाशो ज्ञातः'–इस प्रकार की प्रतीति भी निभ जाती है। वेदान्त वाक्य-श्रवणादिजन्य वृत्ति ही अज्ञान-विरोधिनी होती है'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि संसार भ्रम-काल में भी 'सन् घटः'—इत्यादि रूप सन्मात्र ब्रह्मविषयिणी प्रमा वृत्ति मानी जाती है और वेदान्त वाक्य-श्रवण-जन्य वृत्ति भी सन्मात्रविषयिणी ही होती है। जगद्-भ्रम-कालीन 'सन् घटः' इत्यादि अपरोक्ष ज्ञान से आत्मतत्त्व-ज्ञान अधिकविषयक नहीं माना जाता, अतः भ्रम-कालीन इन्द्रियादि-जन्य घटादिविषयक अपरोक्ष ज्ञान को मूलाज्ञान का निवर्तक न मानकर केवल वेदान्त-श्रवण-जन्य अपरोक्ष ज्ञान को ही मूलाज्ञान का निवर्तक मानने पर यह अतिप्रसंग उपस्थित होता है कि शुक्ति में रजत-भ्रम के अनन्तर उत्पन्न इन्द्रिय-जन्य शुक्तिविषयक साक्षात्कार के द्वारा रजत-भ्रम के उपादान-भूत अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। भ्रमकालीन इन्द्रिय-जन्य साक्षात्कार की अपेक्षा यदि वेदान्त-श्रवण-जन्य प्रत्यक्ष अधिकविषयक नहीं, तब आत्म-साक्षात्कारार्थ वेदान्त-श्रवणादि व्यर्थ है, क्योंकि वेदान्त-श्रवण के पहले भी सन्मात्रविषयक साक्षात्कार इन्द्रियों से उत्पन्न हो चुका है एवं अज्ञान और उसके कार्य में सत्यत्वापत्ति भी हो जाती है, क्योंकि अधिष्ठान-ज्ञान से अनिवर्तित है एवं देवताविषयक वाक्य-श्रवण-जन्य देवता-साक्षात्कार के द्वारा निवर्तनीय पाप जैसे सत्य ही होता है, मिथ्या नहीं, वैसे ही आत्म-विषयक श्रवण-जन्य साक्षात्कार के द्वारा निवर्तनीय अज्ञानादि।

समाधान—'यावन्ति ज्ञानानि, तावन्ति अज्ञानानि—इस प्रकार के अनेकाज्ञान-वाद में विशिष्ट चैतन्यविषयक वृत्ति के द्वारा एक ही अज्ञान विशेष निवृत्त होता है

अद्वैतसिद्धिः

निदानभूतं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्याखण्डार्थगोचरवृत्तिनिवर्त्यमज्ञानं परमवशिष्यते, भेदभ्रमस्यानुभूयमानत्वात् । यथा अयमिति ज्ञानात्तत्राज्ञाने निवृत्तेऽपि सोऽयमित्यभेदगोचरवृत्तिनिवर्त्याज्ञानमवशिष्यते । तथा च विषयकृतविशेषाभावेऽपि कारणविशेषजन्यत्वेन विशेषेण निवर्तकत्वे श्रवणवैयर्थ्यं सत्यतापत्तिश्च निरस्ता, अन्यथा सोऽयमित्यस्याप्यगतेः । किं च जीवविषया वृत्तिरविद्यावृत्तिः, न तु प्रमाणवृत्तिः, तस्या एवाज्ञानविरोधित्वात् । तदुक्तं विवरणे—'जीवाकाराहंवृत्तिपरिणतान्तःकरणेन जीवोऽभिव्यज्यत' इति । अस्यार्थः—जीवाकाराहंत्वप्रकारिकाविद्यावृत्तिः, तया परिणतान्त-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

एवं एकाज्ञान-वाद में अवस्था-विशेष (तूलाज्ञान) अथवा अविद्यागत विशेष शक्ति की ही निवृत्ति विशिष्टविषयक वृत्ति से होती है, किन्तु ''तत्त्वमसि'' (छां ६।८।७) इत्यादि महावाक्यों से जन्य अखण्ड चैतन्यविषयक प्रमा वृत्ति के द्वारा निवर्तनीय, जगत् का उपादानभूत अज्ञान उस विशिष्टविषयिणी वृत्ति से निवृत्ति न होकर अवशिष्ट रहता है, क्योंकि विशिष्टार्थविषयक वृत्ति की उत्पत्ति के पश्चात् भी भेद-भ्रम अनुभूत होता है, अतः उसके उपादानभूत अज्ञान का शेष रहना वैसे ही अनिवार्य है, जैसे 'अयं देवदत्तः'—इस प्रकार की वृत्ति के द्वारा देवदत्तादि पुरःस्थित व्यक्ति का अज्ञान निवृत्त हो जाने पर भी 'सोऽयम्'—इस प्रकार की अभेदविषयक प्रत्यभिज्ञा वृत्ति से निवर्तनीय अज्ञान निवृत्त न होकर अवशिष्ट रहता है, क्योंकि 'अयम्'—इस प्रकार की वृत्ति के पश्चात् भी 'सोऽयं न वा ?' इस प्रकार का भेद-भ्रम बना रहता है, अतः इस भेद-भ्रम के उपादानभूत अज्ञान का शेष रहना आवश्यक है । यद्यपि 'अयम्'— यह ज्ञान भी केवल देवदत्तविषयक है और 'सोऽयम्'—इस प्रकार का ज्ञान भी अखण्ड देवदत्त विषयक माना जाता है, इस प्रकार समानविषयक दो ज्ञानों के द्वारा निवर्तनीय अज्ञानों का भेद नहीं होना चाहिए । तथापि उक्त दोनों ज्ञान विभिन्न कारण सामग्री से जनित होने के कारण विषम क्षमताशाली माने जाते हैं । अतः न तो वेदान्त-वाक्य-श्रवण का वैयर्थ्य होता है और न अज्ञान की असत्यतापत्ति, [क्योंकि वेदान्त-श्रवणादि सामग्री के द्वारा आत्मविषयक ज्ञान में जो क्षमता आती है, वह अहमाकार वृत्ति के द्वारा नहीं आ सकती । अग्नि-सन्निकर्ष-जनित दाह-ज्ञान में जो वैशद्य और अर्थ-क्रिया-कारिता है, वह 'दाह' शब्द-जनित दाहविषयक ज्ञान में नहीं मानी जा सकती, जैसा कि वाक्यपदीकार ने कहा है ।

अन्यथाग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते ।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः प्रकाशते ॥ (वा० प० २।४१९)]

अन्यथा (कारण सामग्री-जनित कार्य में विशेष क्षमता न मानने पर) 'सोऽयम्'—यहाँ पर भी केवल 'आयम्'—इस प्रकार के देवदत्तविषयक ज्ञान से भी देवदत्तगत अभेद-भ्रम की निवृत्ति होनी चाहिए । दूसरी बात यह भी है कि 'अहम'—इस प्रकार की जीवविषयिणी वृत्ति अविद्या की अप्रमा वृत्ति होती है, अन्तःकरण की प्रमा वृत्ति नहीं, अतः अहमाकार वृत्ति अज्ञान की निवर्तिका नहीं होती, क्योंकि अन्तःकरण की प्रमा वृत्ति को ही अज्ञान-विरोधी माना जाता है, जैसा कि विवरणकार ने कहा है—''जीवाकाराहंवृत्तिपरिणतान्तःकरणेन जीवोऽभिव्यज्यते'' (पं० वि० पृ० ३१६) । इसका अर्थ यह है कि जीवविषयक अहन्त्वप्रकारिका जो (अहम्—इस प्रकार की) अविद्या की वृत्ति होती है, उस वृत्ति के द्वारा मानस वृत्ति-संसृष्ट जीव की अभिव्यक्ति

न्यायामृतम्

नापि देहादिभेदो वा भोक्तृत्वाद्यभावो वा ब्रह्माभेदो वा द्वितीयमात्राभावो वा तद्विशिष्टात्मा वा तद्विषयः, तेषामात्ममात्रत्वे उक्तदोषात् । भिन्नत्वे सत्यद्वैतहानेः । आविद्यकत्वेऽन्योन्याश्रयादेः । न च ब्रह्माभेदादेः प्रकाशमानात्मात्रत्वेऽपि

अद्वैतसिद्धिः

करणेनान्तःकरणपरिणामभूतज्ञानरूपवृत्तिसंसर्गेण जीवोऽभिव्यज्यत इति ।

न च—'घटोऽयमिति ज्ञानेन चरमवृत्तिनिवर्त्याज्ञानमपि निवर्ततामिति—वाच्यम्, तदवच्छिन्नाज्ञातत्वप्रयोजकाज्ञनविशेषादेरेव तदवच्छिन्नज्ञाननिवर्त्यत्वस्य फलबलेन स्वीकारात् । अवतमस इव विषयप्रकाशकालोकस्य सर्वतमोऽनिवर्तकत्वेऽपि किंचित्तमोनिवर्तकत्वम् । तस्मात्सिद्धमाश्रयत्वविपयत्वभागिनी शुद्धचिदिति ।

एतेन—देहादिभेदो वा अभोक्तृत्वाद्यभेदो वा ब्रह्माभेदो वा अद्वितीयमात्राभेदो वा तद्विशिष्टात्मा वा न तद्विषयः, तेषामात्ममात्रत्वे उक्तदोषाद्, भिन्नत्वे अद्वैतक्षतेः, आविद्यकत्वे अन्योन्याश्रयादिति अनुक्तोपालम्भनम्—अपास्तम् । ब्रह्माभेदादेरात्ममात्र-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

साक्षि ज्ञान) होती है ।

शङ्का—आत्मविषयक प्रमा वृत्तिरूप ज्ञान ही यदि अज्ञान का विरोधी होता है, तब 'घटोऽयम्'—इस प्रकार की प्रमा वृत्ति से ही चरम चैतन्यविषयिणी वृत्ति के द्वारा निवर्तनीय मूलाज्ञान की निवृत्ति हो जानी चाहिए, क्योंकि घटोऽयम्'—यह वृत्ति भी घटावच्छिन्न चैतन्यविषयिणी होती है ।

समाधान—'घटोऽज्ञातः'—इस प्रकार के घटावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अज्ञातत्व के प्रयोजक तूलाज्ञान की ही 'घटोऽयम्'—यह वृत्ति विरोधिनी होती है, मूलाज्ञान की नहीं, क्योंकि 'घटोऽयम्—इस प्रकार की वृत्ति का उदय हो जाने पर भी 'नाहं ब्रह्म'—इस प्रकार का मूलाज्ञान बना ही रहता है, अतः घटाकार प्रमा वृत्ति से मूलाज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती । जिसका उदय होने पर जो निवृत्त होता देखा जाता है, वह उसी का निवर्तक माना जाता है, अन्य का नहीं—इस प्रकार फल या कार्य को देख कर कारण-विशेष की कल्पना की जाती है, जैसे कि मन्द अन्धकार में अवस्थित घट को देखने के लिए जलाये गये दीपक के द्वारा घटावरक मन्द अन्धकार ही निवृत्त होता है, गम्ढ़ागाढ़ सभी प्रकार का अन्धकार नहीं, क्योंकि गाढ़ अन्धकार वहां है ही नहीं, ऐसे ही 'घटोऽयम्'—इस वृत्ति के द्वारा घटावच्छिन्न चेप्रन्यावरक तूलाज्ञान ही निवृत्त होता है, मूलाज्ञान नहीं । अतः यह सिद्ध हो गया कि मूलाज्ञान का आश्रय और विषय शुद्ध चेतन ही होता है । न्यामृतकार ने जो यह कहा है कि "नापि देहादिभेदो वा भोक्तृत्वाद्यभावो वा ब्रह्माभेदो वा द्वितीयमात्राभावो वा तद्विशिष्टात्मा वा तद्विषयः, तेषामात्ममात्रत्वे उक्तदोषाद् भिन्नत्वे सत्यद्वैतहानिः, आविद्यकत्वेऽन्योऽन्याश्रयादेः" [अर्थात् जीवगत देहादि का भेद, अद्वैतमात्राभाव, या देहादि-भेद-विशिष्ट आत्मा मूलाज्ञान का विषय नहीं, क्योंकि देहभेदादि को यदि आत्मस्वरूप माना जाता है, तब घटाकार वृत्ति से भी देहादि भेद की निवृत्ति हो जानी चाहिए, देहभेदादि को आत्मा से भिन्न मानने पर अद्वैत की हानि और आविद्यक मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होता है] । वह न्यायामृतकार का कथन अनुक्तोपालम्भन मात्र (निरनुयोज्यानुयोगरूप निग्रहस्थान) है क्योंकि मूलाज्ञान का विषय शुद्ध चैतन्य ही माना जाता है, देहभेदादि

न्यायामृतम्

कल्पितेन भेदेनाज्ञातत्वम्, अधिष्ठानावरणं विना भेदकल्पनायोगादित्युक्तत्वात्। न च मिथ्याभूतेनापि भेदाभावेन द्वितीयाभावेन वोपलक्षित आत्मा अज्ञानविषयः, तस्य समानविषयज्ञाननिवर्त्यत्वेन वेदान्तानामप्युपलक्षणरूपप्रकारयुक्तात्मपरत्वेनाखंडार्थत्वहानेः। अकाके काकवदितिवाक्यवदप्रामाण्यापाताच्च। प्रकाशमानस्यात्मनोऽज्ञानविषयत्वे अप्रकाशमानस्य द्वितीयाद्यभावस्योपलक्षणत्वेन तदविषयत्वे च दृष्टहानादिकल्पनापाताच्च। तस्मादात्मनः प्रकाशमानत्वादन्यस्य चाविद्यकत्वान्नाविद्याविषयत्वं। तदुक्तम्—

निर्विशेषे स्वयंभाते किमज्ञानावृतं भवेत्।
मिथ्याविशेषोऽप्यज्ञानसिद्धिमेव ह्यपेक्षते ॥ इति।

किं च न्यूनयाऽविद्यया विषयसम्बन्धिन्या कथमधिकब्रह्मावरणम्? न्यूनाप्यं-

अद्वैतसिद्धिः

तापक्षे तस्याज्ञानविषयत्वमेव, दोषस्य परिहृतत्वात्। यत्तु प्रसङ्गादुक्तम्—द्वितीयाभावोपलक्षितात्मनोऽज्ञानविषयत्वे तादृशस्यैव चरमवृत्तिविषयत्वं वाच्यम्, तथा च वेदान्तानामप्युपलक्षणरूपप्रकारयुक्तोक्तात्मपरत्वे अखण्डार्थताहानिः, अकाके काकवदित्यस्येवास्याप्यप्रामाण्यापत्तिः, उपलक्षणस्य मिथ्यात्वाद्—इति। तत्राखण्डार्थवादे वक्ष्यामः।

न च—न्यूनाप्यङ्गुलिरधिकमाच्छादयति, अविषयसंबन्धित्वाद्, इयं हि विषयसंबन्धिनी कथमधिकमाच्छादयेदिति—वाच्यम्, दत्तोत्तरत्वात्। तस्मादविद्या

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं। ब्रह्माभेदादि को आत्मस्वरूप मानने पर भी अज्ञान का विषय ही माना जाता है। घटाकार वृत्ति मात्र से मूलाज्ञान की निवृत्त्यापत्ति का परिहार किया जा चुका है।

न्यायामृतकार ने प्रसङ्गतः जो यह कह दिया है कि 'द्वितीयाभावोपलक्षित आत्मा को अज्ञान का विषय मानने पर वेदान्त वाक्यों की अखण्डार्थपरता भंग हो जाती है, क्योंकि आत्मा में द्वैताभावरूप उपलक्षण या प्रकार का अवगाहन करने पर निर्विशेषता या शुद्धता नहीं रहती एवं वेदान्त वैसे ही अप्राण भी हो जाता है, जैसे कि काक-रहित प्रदेश में 'काकवानयम्'—ऐसा कहना। न्यायामृतकार के इस प्रासङ्गिक आक्षेप का परिहार अखण्डार्थवाद में किया जायगा।

शङ्का—आवरण दो प्रकार का होता है—(१) विषयीगत और (२) विषयगत। प्रथम प्रकार का आवरण अपने से अधिक परिमाण की वस्तु का आच्छादन कर लेता है, जैसे आँख पर रखी अंगुली अपनी अपेक्षा अधिक लम्बे-चौड़े सूर्यमण्डलादि को भी आवृत कर देती है, जैसा कि विवरणकार कहते हैं—"अंगुलिमात्रेणादित्यवत् परिच्छिन्नेनापि अज्ञानेन सर्वगतमपि चैतन्यं तिरोधीयते" (पं० वि० पृ० ३१०)। किन्तु वह अंगुली जब घटादिरूप विषय पर रखी जाती है, तब पूरे घट का आच्छादन न कर उसके उतने मात्र भाग को आवृत करती है, जितने पर अंगुली रखी है। अविद्या भी ब्रह्मरूप विषयगत आवरण है, किन्तु अविद्या की अपेक्षा ब्रह्म महान् है, पूरे ब्रह्म पर प्रसृत नहीं, क्योंकि श्रुति कहती है—"त्रिपादस्यामृतम्" (छां० ३।१२।६) अर्थात् अविद्या ब्रह्म के केवल एक चतुर्थ भाग पर ही है, पूरे ब्रह्म पर नहीं, अतः सम्पूर्ण ब्रह्म का आच्छादन वह नहीं कर सकती।

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान विवरणकार की रीति से किया जा चुका है

न्यायामृतम्

गुलिरविषयसम्बन्धित्वादधिकसूर्याच्छादिका । तस्मादनिर्वाच्याविद्याया दुर्निरूपत्वाद हंकारादिकं न तत्कार्यम् । अविद्याविषयभंगः ।

अद्वैतसिद्धिः

स्वरूपत आश्रयतो विषयतश्च सुनिरूपा ॥

इत्यद्वैतसिद्धावविद्याया विषयोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कि आच्छादन का यहाँ अर्थ 'नास्ति न भासते'—इस प्रकार के व्यवहार की प्रयोजकता है, वस्त्रादि के समान वस्तु का वेष्टन नहीं। 'ब्रह्म नास्ति, न भाति'—इस प्रकार का व्यवहार सर्वसुलभ है, अतः अविद्या में ब्रह्म की आच्छादकता अनुपपन्न नहीं। इस प्रकार अविद्या के स्वरूप, आश्रय और विषय का निर्दोष उपपादन हो जाने से अविद्या सर्वथा सुनिरूपित हो जाती है।

: ६५ :

अहमर्थस्यात्मत्वविचारः

न्यायामृतम्

यदप्युच्यते अहमर्थो नात्मा पश्चात्परामर्शान्यथानुपपत्त्या सुषुप्तौ स्वतः प्रकाशमानस्यात्मनः सद्भावेऽप्यनेवंविधस्याहमर्थस्याभावाद्, "अथातोऽहंकारादेशः अथात आत्मादेश" इति श्रुतौ पृथगुपदेशाच्च, "महाभूतान्यहंकार" इति स्मृतावहंकारस्य क्षेत्रज्ञात्पार्थक्येन क्षेत्रत्वोक्तेश्च। तस्मादहमनुभवामीत्यात्मानुबन्ध्यनुभवस्याहंकर्तेत्यनात्मानुबन्धिकर्तृत्वादेश्चाश्रयोऽहंकारः, चिदचित्संवलनात्मकत्वादध्यस्तः। यदि च सुषुप्तावहमर्थः प्रकाशेत, तर्हि स्मर्येत ह्यस्तन इवाहंकारः, अनुभूते स्मरणनियमाभावेऽपि स्मर्यमाणात्ममात्रत्वादिति।

अद्वैतसिद्धिः

ततश्चाहंकारादिसृष्टिः। ननु—अहमर्थ आत्मैव, तस्य कथमविद्यातः सृष्टिः? न च—सुषुप्तौ स्वयंप्रकाशमानस्यात्मनः संभवेऽप्यनेवंविधस्याहमर्थस्याभावः, यदि च सुषुप्तावहमर्थः प्रकाशेत, तर्हि स्मर्येत ह्यस्तन इवाहंकारः, अनुभूते स्मरणनियमाभावेऽपि स्मर्यमाणात्ममात्रत्वादिति—वाच्यम्, हेतोरसिद्धेः, तर्के इष्टापत्तेः। न ह्यद्यापि स्वप्रकाशात्मान्यत्वमहमर्थे सिद्धमस्ति। आत्मान्यत्वेनाप्रकाशत्वसाधने तेन च तदन्यत्वसाधने अन्योन्याश्रयः। न चाहमर्थस्यापरामर्शः, सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पूर्व प्रकरण में निरूपित अविद्या से अहङ्कारादि की सृष्टि होती है।

शङ्का—'अहम्' शब्द का अर्थ होता है—आत्मा, वह कूटस्थ नित्य है, अतः अविद्या से उसकी रचना कैसे होगी? यदि कहा जाय कि अहङ्कार अनात्मपदार्थ है, क्योंकि सुषुप्ति में स्वयंप्रकाशरूप आत्मा के रहने पर भी अहङ्कार का भान नहीं होता। सुषुप्ति में यदि अहङ्कार का स्फुरण होता, तब जागने पर वैसे ही उसका स्मरण होना चाहिये, जसे गत दिवस में अनुभूत अहङ्कार का स्मरण होता है। यद्यपि जो-जो वस्तु अनुभूत होती है, उन सब वस्तुओं का स्मरण होता ही है ऐसा कोई नियम नहीं, तथापि स्मर्यमाण आत्मा का स्वरूप होने के कारण अहङ्कार का भी स्मरण होना चाहिये, किन्तु स्मरण नहीं होता, अतः सुषुप्ति में उसका भान नहीं माना जा सकता, अतः आत्मव्यभिचरित होने के कारण अहङ्कार को आत्मस्वरूप नहीं मान सकते, अनात्मपदार्थों की सृष्टि अविद्या से होती ही है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि आप को यदि 'अहङ्कारोऽनात्मा, आत्मप्रकाशेऽप्यप्रकाशात्—इस प्रकार का अनुमान विवक्षित है, तब उसका हेतु पक्ष में असिद्ध है, अहङ्कार को आत्मस्वरूप माननेवाले आत्मा के प्रकाश को ही अहङ्कार का प्रकाश और आत्मा के स्मरण को ही अहङ्कार का स्मरण मानते हैं, अतः सुषुप्ति में न तो अहङ्कार के प्रकाश का अभाव कहा जा सकता है और न जागरण में स्मरण का अभाव। 'यदि अहङ्कारः आत्मा स्यात् तदा सुषुप्तौ आत्मवदनुभूयेत प्रबोधे स्मर्येत च'— इस प्रकार यदि तर्क विवक्षित है, तब हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि अभी तक स्वप्रकाश आत्मा से भिन्न अहमर्थ (अहङ्कार) सिद्ध नहीं हुआ है। आत्मान्यत्व के द्वारा अहङ्कार में अप्रकाशरूपता सिद्ध करने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होता है— आत्मान्यत्व से अप्रकाशत्व और अप्रकाशत्व के द्वारा अनात्मत्व की सिद्धि होगी। जागरण काल में अहङ्कार के स्मरण का अभाव भी नहीं, अपितु 'सुखमहमस्वाप्सं

न्यायामृतम्

तत्र न तावत् स्वप्रकाशत्वास्वप्रकाशत्वाभ्यां सुषुप्तावात्माहमर्थयोः प्रकाशाप्रकाशौ, अहमर्थः स्वप्रकाशात्मान्य इत्यस्याद्याप्यसिद्ध्याऽन्योन्याश्रयात्। नापि परामार्शापरामर्शाभ्याम्, अहमस्वाप्सं न किंचिदहमवेदिषमित्यहमर्थस्यैव परामर्शात्।

अहमर्थे परामर्शो न चेत् स कथमात्मनि।
अहंज्ञानान्नान्य आत्मपरामर्शो हि दृश्यते॥

अस्वाप्समित्यत्रापि उत्तमपुरुषप्रयोगयोग्याहमर्थस्यैव स्फुरणात्। उक्तं च विवरणेऽपि

अद्वैतसिद्धिः

षमिति तस्यैव परामर्शादिति—चेन्न, अहंकारस्तावदिच्छादिविशिष्टतयैव गृह्यत इत्यावयोः समम्। सुषुप्तौ च नेच्छादय इति कथं तदा हमर्थानुभवः? न च—इच्छादिगुणविशिष्ट एवाहमर्थो गृह्यत इत्यत्र न नः संप्रतिपत्तिरिति—वाच्यम्, गुणिग्रहणस्य गुणग्रहणव्याप्तत्वाद्, अन्यथा रूपादिहीनोऽपि घटः प्रथेत। न च—रूपादिरहितानां तेषामसत्त्वं तत्र बीजमिति—वाच्यम्, पूर्वरूपनाशाग्रिमरूपानुत्पत्तिक्षणाद्यक्षणादौ तद्विनापि सत्त्वात्। एवं च गुणाग्रहणे कथं गुणिग्रहणम्? तथा च निर्गुण एवात्मा गृह्यत इति स्वीकर्तव्यम्। अनुभवाभावे च न तस्य जागरे परामर्शः। तथा चाज्ञानाश्रयत्वेन सुषुप्तावनुभयमानादात्मनोऽहंकारो भिन्नः। एवमेवात्मान्यत्वे सिद्धे अस्वप्रकाशत्वसाधने नान्योन्याश्रयः। न च तर्हि 'अहमस्वाप्स'मित्यहमर्थस्य परामर्शानुप्रवेशानु-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न किञ्चिदवेदिषम्'—इस प्रकार अहङ्कार का स्मरण होता है।

समाधान—'अहमिच्छामि'—इस प्रकार इच्छाश्रयत्वेन अहमर्थ की प्रतीति हम दोनों वादियों को सम्मत है। सुषुप्ति में इच्छादि गुणों का अभाव द्वैती भी मानते हैं, अतः वहाँ इच्छा-विशिष्ट अहङ्कार का सद्भाव कैसे माना जा सकता है? सद्भाव न होने के कारण उसका साक्षी प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। यदि कहा जाय कि इच्छारूप गुण का आश्रय होने पर भी अहङ्कार का इच्छा विशिष्टत्वेन ही ग्रहण हो, ऐसा कोई नियम नहीं। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'यत्र-यत्र गुणविशिष्टग्रहणम्, तत्र-तत्र गुणग्रहणम्—इस प्रकार गुण-विशिष्ट पदार्थ के ग्रहण का गुण-ग्रहण व्यापक होता है, व्यापक के बिना व्याप्य की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। अन्यथा (गुण-ग्रहण के बिना भी गुणी का ग्रहण मानने पर) रूपादि गुणों से रहित घट का प्रत्यक्ष और स्मरण होना चाहिए। यदि कहा जाय कि रूपादि के विना घट की सत्ता सम्भव नहीं, अतः रूपादि-ग्रहण के बिना घट का ग्रहण नहीं होता, किन्तु इच्छादि के बिना अहङ्कार की सत्ता सम्भव है, अतः इच्छादि-ग्रहण के बिना भी अहङ्कार का ग्रहण हो सकता है। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पूर्वरूप का नाश और भावी रूप की अनुत्पत्ति के अन्तराल क्षण एवं अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में घट रूपादि गुणों से रहित ही माना जाता है, अतः गुणिग्रहण में गुण-ग्रहण की व्याप्ति निराबाध सिद्ध है, सुषुप्तिकाल में इच्छारूप गुण का ग्रहण न होने पर गुणी अहङ्कार का ग्रहण क्योंकर होगा? इस प्रकार सुषुप्ति में निर्गुण आत्मा का ही ग्रहण मानना होगा, सगुण अहङ्कार का नहीं। सुषुप्ति में जब अहङ्कार का अनुभव नहीं होता, तब जागने पर स्मरण कैसे होगा? फलतः सुषुप्ति में अज्ञानाश्रयत्वेन अनुभूयमान आत्मा से अहङ्कार को भिन्न ही मानना उचित है। इस प्रकार अहङ्कार के आत्मा से भिन्न सिद्ध हो जाने पर उसमें अस्व-

न्यायामृतम्

"अन्तःकरणविशिष्ट एवात्मनि प्रत्यभिज्ञानं भ्रमो, न निष्कलंके, तस्य मोक्षावस्थायिनः शास्त्रैकसमाधिगम्यत्वा"दिति। यदि चेदमर्थव्यावृत्तोऽहमर्थो न परामृश्येत, तर्हि तावन्तं कालं सुप्तोऽहं वाऽन्यो वेति संशयादि स्यात्, न त्वहमेवेतिनिश्चयः।

अद्वैतसिद्धिः

पपत्तिः, तदंशे परामर्शत्वासिद्धेः। एवं सत्यपि यथाऽज्ञानांशे तस्य परामर्शत्वं, तथोपपादितमधस्तात्। यद्यप्यहमस्वाप्समित्यादिज्ञानान्नान्य आत्मपरामर्शः, तथाप्यहमर्थस्य सुषुप्तिकालाननुभूतत्वेन तत्काले अज्ञानाश्रयत्वेन चानुभूतात्मन्येव परामर्शत्वपर्यवसानम्। अत एव चिदस्वपीत् स्वयमस्वपीदिति परामर्शाकारतापत्तिर्निरस्ता, तत्कालानुभूतान्तःकरणसंसर्गेण अहमित्याकारोपपत्तेः। यत्तूक्तं विवरणे—'अन्तःकरणविशिष्ट एवात्मनि प्रत्यभिज्ञानं भ्रमः, न निष्कलङ्कचैतन्ये, तस्य मोक्षावस्थायिनः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वाद्' इति। तदत्र न विरोधाय, मोक्षावस्थायिनः शास्त्रैकसमधिगम्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रकाशत्व की सिद्धि करने में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता। यदि सुषुप्ति में अहङ्कार का अनुभव नहीं होता, तब जागने पर अहमस्वाप्सम्—इस प्रकार अहङ्कार का स्मरण कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'अहम्'—यह अंश स्मरण का भाग नहीं, अपितु जाग्रत्कालीन अनुभव का उसी समय जुड़ जाता है। एक ही वृत्ति अहम्—इस अंश में प्रत्यक्ष और अज्ञानांश में स्मृति है—यह पहले कहा जा चुका है। 'अहन्त्व' अंश में स्मरण न होने पर भी 'न किञ्चिदवेदिषम्'—इस अज्ञानांश में स्मरणरूपता है—यह भी पहले कह चुके हैं।

यद्यपि 'अहमस्वाप्सम्'—इत्यादि ज्ञान से भिन्न आत्मा का कोई और स्मरण नहीं होता, तथापि अहमर्थ सुषुप्ति-काल में अनुभूत न होने के कारण सुषुप्तिकाल में अज्ञानाश्रयत्वेन अनुभूत आत्मा से भिन्न ही अहङ्कार को मानना होगा। 'सुषुप्तिकाल में यदि अनुभूत न होने के कारण 'अहम्'—यह अंश स्मृति का नहीं, तब अहङ्कार-रहित केवल चैतन्यमस्वपीत् या स्वयमस्वपीत्'—इस प्रकार की ही स्मृति होनी चाहिए—यह आक्षेप भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि जाग्रत्काल में अनुभूत अन्तःकरण के सम्बन्ध से अहम्—इस आकार की उपपत्ति हो जाती है।

यह जो विवरणकार ने कहा है कि "अन्तःकरणविशिष्ट एवात्मनि प्रत्यभिज्ञानं भ्रमः, न निष्कलङ्कचैतन्ये, तस्य मोक्षावस्थायिनः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात्" (पं. वि. पृ. ३२३)। अर्थात् 'सविदंवय-साधक 'सोऽहम्'—इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष अन्तःकरण-विशिष्ट (विश्व, तैजस और प्राज्ञ) आत्मा में ही होता है, निष्कलङ्क (सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त) आत्मा में नहीं, क्योंकि मोक्षावस्था में अवस्थित निरुपाधिक आत्मा प्रत्यक्ष का विषय न होकर केवल शास्त्रों के द्वारा ही जाना जाता है'—विवरणकार के इस कथन से स्पष्ट है कि सुषुप्तिकाल में अवस्थित आत्मा भी अन्तःकरण-विशिष्ट होता है, जैसा कि स्वयं विवरणकार ने कहा है—"संसारावस्थायामन्तःकरणविशिष्टस्वरूपानपायात्" (पं. वि. पृ. ३२३)। इसकी व्याख्या में आचार्य नृसिंहाश्रम ने कहा है—"सुषुप्त्यादावप्यनिर्वचनीयसूक्ष्मरूपविशिष्टमन्तःकरणमस्तीति भावः।" इस प्रकार सुषुप्ति में अन्तःकरण के रहने पर अहङ्कार भी रहेगा, अतः आत्मा से अहङ्कार का व्यभिचार-प्रदर्शन इस विवरणोक्त प्रसङ्ग से विरुद्ध है—ऐसा नहीं कह

न्यायामृतम्

ननु परामृश्यमानात्मन एवं प्रत्यक्त्वात्तथा निश्चय इति चेत्, प्रत्यक्त्वं न तावत् चिन्निर्भास्यप्रतिद्वन्द्विचित्त्वं अन्यत्वप्रतिद्वन्द्वित्वं चिद्रूपोदिति वा स्वयमरूपात्रिति वा परामर्शापातेनाहमिति परामर्शायोगात्। घटादिः स्वस्माद् भिन्नो नेत्यादिप्रतीत्यात्मनीव घटादावपि स्वत्वस्य सत्त्वाच्च। नापि युष्मदर्थरूपपराग्व्यावृत्तत्वम्, अहमर्थस्यैव तद्व्यावृत्तेः। न हि त्वन्मते आत्मनः पराग्व्यावृत्तिः। विवरणे "आत्मनः सर्वात्मकत्वान्न पराग्व्यावृत्तिरहमुपरागादेव व्यावृत्त्यवभास" इत्युक्तेः। तस्मादहमर्थत्वमेव प्रत्यक्त्वं वाच्यमिति घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तः। ननु नाहमंशो परामर्शः किं तु परामृश्यमान आत्मा इदानीं जातेनान्तःकरणेनावच्छेदादहंत्वं प्राप्तस्तथानुभूयत इति

अद्वैतसिद्धिः

त्वादिति हेतूक्त्या न निष्कलङ्क इति उपाधिमात्रविरहिणि प्रत्यभिज्ञाननिषेधेन चान्तःकरणपदस्य उपाधिमात्रपरत्वात्। तथा च सुषुप्तावज्ञानोपहित एवात्मा गृह्यते। किं चान्तःकरणविशिष्टे प्रत्यभिज्ञाननिषेधो नाभिज्ञानिषेधोऽपीति न विरोधः, सुषुप्तावभिज्ञाया एवोक्तत्वात्। न च यद्यहमर्थो न परामृश्येत, तर्हि एतावन्तं कालं सुप्तोऽहमन्यो वेति संशयः स्यात्, न त्वहमेवेति निश्चय इति वाच्यम्, सुषुप्तिकालानुभूतात्मैक्याध्यासादिति गृहाण। यथा पूर्वदिनानुभूतदेवदत्तादभिन्नतयानुभूते चैत्रे सोऽयं न वेति न संशयः, किंतु स एवेति निश्चयः। किं च निश्चये सति संशयाभावनियमः, न तु निश्चयाभावे संशयनियमः। तदुक्तम्—'आरोपे सति निमित्तानुसरणम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सकते, क्योंकि] उसका विरोध यहाँ इस लिए नहीं है कि 'मोक्षावस्थायिनः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात्'—इस हेतु वाक्य से समन्वित न निष्कलंके'—इस प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा अन्तःकरण एवं अविद्यारूप समस्त उपाधि-रहित आत्मा में प्रत्यभिज्ञा का निषेध किया गया है, उक्त विवरण-वाक्य में अन्तःकरण' पद समग्र उपाधियों का उपलक्षक है, अतः सुषुप्ति में अन्तःकरण का अभाव रहने पर भी अज्ञानोपहित आत्मा ही गृहीत होता है, सुषुप्ति में अन्तःकरण के न होने से अहङ्कार का रहना सम्भव नहीं। दूसरी बात यह भी है कि अन्तःकरणोपाधि-रहित सुषुप्तिकालीन आत्मा में प्रत्यभिज्ञा (तत्तेदन्तावगाही द्वितीय ज्ञान) का ही निषेध किया गया है, अभिज्ञा (अज्ञान-विषयक साक्षिरूप प्रथम ज्ञान) का निषेध विवरण में नहीं किया गया कि उससे विरोध हो। सुषुप्ति में हम प्रत्यभिज्ञा की सत्ता न मान कर अभिज्ञा का ही उपपादन किया करते हैं।

शङ्का—सुषुप्ति में यदि अहमर्थ का अनुभव और प्रबोध काल में अहमर्थ का स्मरण नहीं होता, तब 'एतावन्तं कालं सुप्तोऽहम्? अन्यो वा?' इस प्रकार का संशय होना चाहिए, किन्तु वैसा संशय न होकर 'अहमेव सुप्तः'—ऐसा निश्चय ही होता है।

समाधान—सुषुप्तिकालीन अनुभूत आत्मा के अभेद का अध्यास प्रबोधकालीन आत्मा में होने के कारण 'अहमेवास्वाप्सम्'—इस प्रकार का वैसे ही निश्चय होता है, 'अहं न वा? संशय नहीं होता, जैसे पूर्व दिवस में अनुभूत देवदत्त के अभेद का चैत्र में अध्यास होने पर 'सोऽयं न वा?' इस प्रकार संशय नहीं होता, अपितु 'स एवायम्'—ऐसा निश्चय ही होता है। दूसरी बात यह भी है कि किसी वस्तु का निश्चय होने पर उस वस्तु का नियमतः संशय नहीं होता, न कि निश्चय के अभाव में संशय होने का नियम, जैसे कि कहा गया है—"आरोपे सति निमित्तानुसरणम्, न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः" अर्थात्

न्यायामृतम्

चेत्, न किञ्चिदहमवेदिषमित्यादावज्ञानांशेऽप्यपरामर्शत्वापातात्। न ह्यज्ञानादिकं निराश्रयमन्याश्रयं वा परामृश्यते, किं त्वहमर्थाश्रयमेव। एतावन्तं कालमहं स्वप्नं पश्यन्नासं जाग्रदासमित्यत्रेवाहमस्वाप्समित्यत्राप्यहमंशे परामर्शत्वानुभवाच्च। अन्यथा यः पूर्वं दुःखी सोऽधुना सुखी जात इतिवद् यः पूर्वं मदन्यः सुप्तः, सोऽधुना हं जात इति धीः स्यात्।

अद्वैतसिद्धिः

न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः' इति। न च—एतावन्तं कालमहं स्वप्नं पश्यन्नासं जाग्रदासमित्यत्रेवाहमस्वाप्समित्यत्रापि अहमंशे परामर्शत्वानुभवात् कथं तत्रापरामर्शत्वमिति—वाच्यम्, परामृश्यमानात्मैक्यारोपात्सद्भानांशे परामर्शत्वाभिमानात्। न च—अपरामर्शे परामर्शत्वारोपो न दृष्ट इति—वाच्यम्, तद्भिन्ने तत्त्वेनानुभूयमाने परामर्शत्वारोपदर्शनात्।

अत एव—अहमर्थस्यात्मान्यत्वे यः पूर्वं दुःखी, सोऽधुना सुखी जात इतिवद् यः पूर्वं मदन्यः सुषुप्तः सोऽधुना अहं जात इति धीः स्यादिति—निरस्तम्, यथा

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

किसी नैमित्तिक कार्य के होने पर उसके निमित्त का नियमतः होना आवश्यक होता है, न कि निमित्त के होने पर नैमित्तिक का होना। [आशय यह है कि व्याप्य के रहने पर व्यापक का रहना अनिवार्य होता है, व्यापक के रहने पर व्याप्य का नहीं, क्योंकि व्याप्य की अपेक्षा व्यापक अधिक देश में रहा ही करता है। प्रकृत में 'यत्र-यत्र निश्चयः, तत्र-तत्र संशयाभावः'—इस प्रकार निश्चय में व्याप्यता और संशयाभाव में व्यापकता गृहीत होती है, अतः निश्चयरूप व्याप्य के रहने पर संशयाभावरूप व्यापक का होना आवश्यक है। भावों में व्याप्य-व्यापकभाव जैसा होता है, अभावों में ठीक उसके विपरीत व्याप्य-व्यापकभाव होता है, जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—

> व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
> तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते ।। (श्लो० वा० पृ० ३८५)

इस नियम के अनुसार व्याप्यरूप निश्चय का अभाव व्यापक और संशयाभावाभाव या संशय व्याप्य हो जाता है, अतः निश्चयाभाव के रहने पर संशय का होना अनिवार्य नहीं है]।

शङ्का—जैसे 'एतावन्तं कालमहं स्वप्नं पश्यन्नासम्, जाग्रदासम्'—यह प्रतीति अहमंश में स्मृति है, वैसे ही 'अहमस्वाप्सम्'—यह प्रतीति भी समान होने के कारण अहमंश में स्मृति ही मानी जाती है।

समाधान—स्मर्यमाण आत्मा का अनुभूयमान आत्मा में अभेदाध्यास हो जाने के कारण अहमंश भी स्मर्यमाण-जैसी ही प्रतीत होती है, वस्तुतः वह अनुभूयमान है। यद्यपि घटादि सन्निहित पदार्थों में स्मर्यमाणत्व का आरोप नहीं देखा जाता, तथापि असन्निहित पट से भिन्न घटादि सन्निहित पदार्थों में पटरूपता का भान होने पर स्मर्यमाणता का आरोप सम्भव है। अत एव यह जो आक्षेप किया गया कि अहमर्थ यदि आत्मा से भिन्न है, तब 'जो पहले दुःखी था, वह अब सुखी हो गया'—इस प्रतीति के समान 'जो पहले मुझ से भिन्न सुषुप्त था, वह अब मेरा स्वरूप हो गया'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। वह आक्षेप भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि दृष्टान्तीभूत दुःखी व्यक्ति का

न्यायामृतम्

नन्वहंकारे परामृश्यमानात्मैक्यारोपात्तज्ज्ञाने परामर्शत्वाभिमान इति चेन्न, अपरामर्शे परामर्शत्वारोपादर्शनात्। सिद्धेऽहमर्थस्यात्मान्यत्वे परामृश्यमानात्मैक्यारोपः, सिद्धे च तस्मिन्सुषुप्तावप्रकाशेनाहमर्थस्यात्मान्यत्वमितीतरेतराश्रयाच्च। अहमित्यतोऽन्य आत्मपरामर्शो नेत्युक्तत्वेन दृष्टहानाद्दृष्टकल्पनापाताच्च। एतेन सुषुप्ताहमर्थप्रकाशे स्मर्येत ह्यस्तन इवाहंकार इति निरस्तम्। अहंशब्दोल्लेखिपरामर्शापादने सुषुप्तौ तदुल्लेख्यनुभवाभावादेव तदभावोपपत्तेः। तावन्मात्रेण च ह्यस्तनवैषम्यात्। अहमर्थविशेष्यकस्याहंत्वप्रकारकस्य वा परामर्शस्यापादने इष्टापत्तेः। स्मर्यते हि एतावंतं कालं सुखमहमस्वाप्समिति सुषुप्तिकालीनसुखावच्छिन्नोऽहमर्थः। अन्यथा स्मर्येत ह्य स्तन इवात्मेति चोद्यं निरुत्तरं स्यात्। ननु तथाप्येतावंतं कालमहमित्यभिमन्यमान आसमितिपरामर्शः स्यादिति चेत्, कर्णे स्पृष्टः कटिं चालयसि। अहमर्थ-

अद्वैतसिद्धिः

दुःखित्वेन प्राक् ज्ञानं, तथा मदन्यत्वेन प्राक् ज्ञानाभावात्। सुषुप्तावहमर्थाप्रकाशवत् तदन्यत्वस्याप्यप्रकाश एव। एवं च प्रागसत्त्वाग्रहणात् पूर्वकालगृहीतेनाभिन्नतया गृह्यमाणत्वाच्च नाहङ्कारे जन्मप्रत्ययः विवेकिनां चेतादृग्बुद्ध्याविष्टापत्तेः। न च—सिद्धे अहमर्थस्यात्मान्यत्वे परामृश्यमानात्मैक्यारोपः, सिद्धे च तस्मिन् सुप्तावप्रकाशेनाहमर्थस्यात्मान्यत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इति— वाच्यम्, आत्मान्यत्वसिद्धेः प्रागेवाहमर्थापरामर्शस्य साधनाद्, अहमस्वाप्समित्यस्यैवात्मपरामर्शत्वाङ्गीकारेण न दृष्टहानादृष्टकल्पनापत्तिः। अत एव च सुषुप्तावहमर्थप्रकाशे ह्यस्तन इव स्मर्येतेत्यत्र नेष्टापत्त्यवकाशः। किं च 'एतावन्तं कालमहमित्यभिमन्यमान आस'मिति परामर्शः स्यात्। न च—अहमर्थप्रकाशे तदभिमानापादनं कर्णस्पर्शे कटिचालनमिति—वाच्यम्, तवैव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पहले जैसे दुःखित्वेन ज्ञान होता है, वैसा सुषुप्त का मदन्यत्वेन ज्ञान नहीं होता ? क्योंकि सुषुप्ति में जैसे अहमर्थ का प्रकाश नहीं होता, वैसे मदन्यत्व का भी प्रकाश नहीं होता। सुषुप्ति में अननुभूत अहमर्थ का जाग्रत् में भान होने पर अविवेकी पुरुषों को 'अनहमहं जातः'—ऐसी प्रतीति भी इसीलिए नहीं होती कि उसमें प्राग् असत्त्व का ग्रहण नहीं होता। वेदान्त-विचार-सम्पन्न व्यक्तियों को तो यः पूर्वं मदन्य., स इदानीमहं जातः — ऐसा भान माना ही जाता है।

शङ्का—अहमर्थ में मदन्यत्व सिद्ध हो जाने पर स्मर्यमाण आत्मा की उसमें एकता का आरोप और उक्त एकता के सिद्ध हो जाने पर सुषुप्ति में प्रकाश न होने के कारण अहमर्थ में मदन्यत्व की सिद्धि होगी—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष क्यों नहीं होता ?

समाधान—अहमर्थ में मदन्यत्व की सिद्धि के पहले ही अहमर्थ में अस्मर्यमाणत्व सिद्ध हो जाता है। 'अहमस्वाप्सम्'—इसी प्रतीति को आत्मस्मरण मान लिया जाता है, अतः दृष्ट-हानि और अदृष्ट-कल्पना की आपत्ति भी नहीं होती। सुषुप्ति में अहमर्थ का प्रकाश मानने पर 'ह्यस्तनः इव स्मर्येत'—इस प्रकार की आपत्ति में इष्टापत्ति भी इसीलिए द्वैतवादियों के द्वारा नहीं की जा सकती।

दूसरी बात यह भी है कि 'एतावन्तं कालमहम्'—यह आरोप और 'आसम्'—यह स्मरण है। [यहां पर न्यायामृतकार ने जो कार्य और कारण भी व्यधिकणता का दोष दिया है कि ''कर्णे स्पृष्टः कटिं चालयसि, अहमर्थप्रकाशेन परामर्शापादनस्य व्यधिकरण-

न्यायामृतम्

प्रकाशेन तदभिमानपरामर्शापादनस्य व्यधिकरणत्वात्। अन्यथा तवाप्यात्मत्यभिमन्यमान मासमितिपरामर्शः स्यात्। तस्मात्सुषुप्तावहमर्थः प्रकाशत एव। न किंचिदवेदिषमित्यज्ञानपरामर्शस्य त्वात्माद्यज्ञानादन्यदिवाहमर्थाज्ञानादन्यदेवाज्ञानं विषयः, अन्यथा

अद्वैतसिद्धिः

हि तत्। अहमर्थमात्रसापेक्षतया तदभिमानप्रकाशयोरुभयोः समव्याप्ततया परस्परप्रकाशेन परस्परपरामर्शापादनस्याव्यधिकरणत्वात्। न च तथापि 'आत्मत्यभिमन्यमान मास'मिति परामर्शापत्तिः, अहंकारस्य तत्र तन्त्रतया तदभावे तदापादयितुमशक्यत्वात्। यत्तु—सुषुप्तावहमर्थो भासत एव। 'न किंचिदहमवेदिष'मिति अज्ञानपरामर्शस्यात्माद्यज्ञानादन्यदिवाहमर्थाज्ञानादन्यदेवाज्ञानं विषयः, अन्यथा विरोधाद्—इति। तदज्ञानविजृम्भितम्, न हि साक्षिवेदनमज्ञानविरोधि। सुषुप्तौ च यथाहमर्थानवभासः तथोक्तम्। न विजानात्ययमहमस्मीति श्रुतिरपि तदानींतनाहमर्था-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

त्वात्।' अर्थात् सदा आरोप्यमान का ज्ञान होने पर उसका आरोप होता है, किन्तु आप का कहना है कि प्रबोधावस्था में अहमर्थ का प्रकाश होने पर स्मर्यमाणता का आरोप होता है, ज्ञान किसी और का और आरोप किसी और का, वह] कथित न्याय हम पर नहीं, उलटे आप पर ही लागू होता है, क्योंकि आदित्य का उदय होने पर चन्द्रोदय का व्यवहार कौन करेगा? आत्मा और अहङ्कार—दोनों विरुद्ध पदार्थ हैं, समव्याप्त नहीं, अतः सुषुप्ति में आत्मा का प्रकाश होने पर अहङ्कार का प्रकाश क्यों होगा? हमारे मत में तो अहमर्थ का प्रकाश और अहमर्थ का अभिमान या आरोप—दोनों ही अहमर्थ-सापेक्ष होने के कारण समव्याप्त हैं, अतः उनमें एक का प्रकाश होने पर परामर्शापादन व्यधिकरण नहीं। 'आप (अद्वैतवादी) जैसे सुषुप्तिकालीन आत्मा में अहङ्कार का तादात्म्याध्यास करके आसम्—इस प्रकार के स्मरण की उपपत्ति करते हैं, वैसे ही सुषुप्तिकालीन अहङ्कार में आत्मा का तादात्म्याध्यास करके भी 'आसम्'—इस प्रकार के स्मरण की उपपत्ति क्यों नहीं कर सकते? इस शङ्का का समाधान यह है कि इस प्रकार के अध्यास में अहङ्काररूप अधिष्ठान अपेक्षित है, उसका सुषुप्ति में अभाव होने के कारण अहङ्कार में आत्मा का अध्यास नहीं, आत्मा में ही अहङ्कार का अध्यास हो सकता है, क्योंकि आत्मरूप अधिष्ठान सुषुप्ति में अनुभूयमान है।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि सुषुप्ति में अहङ्कार का भान होता ही है, क्योंकि 'न किञ्चिदवेदिषम्'—इस प्रकार के स्मरण का विषय जैसे आप (अद्वैती) चिद्रूप आत्मविषयक अज्ञान से भिन्न पूर्णानन्दरूप आत्मविषयक अज्ञान मानते हैं, वैसे ही हमारे मत में अहङ्कारविषयक अज्ञान से भिन्न अज्ञान ही विषय होता है। अर्थात् जैसे आप आत्मा के चिदंश में अज्ञान नहीं मानते, क्योंकि आत्मविषयक साक्षिज्ञान के रहने पर आत्मविषयक अज्ञान का रहना विरुद्ध है, वैसे ही हम अहमर्थांश में अज्ञान नही मानते।' न्यायामृतकार का वह कथन अज्ञानमूलक है, क्योंकि साक्षिज्ञान अज्ञान का विरोधी नहीं होता, अतः आत्मविषयक ज्ञान-काल में भी आत्मविषयक अज्ञान रह सकता है, फलतः उसके भेद को दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता। सुषुप्ति में अहमर्थ का अवभास नहीं होता—यह कहा जा चुका है। "न विजानात्यहमस्मि" (छां० ८।११।१) यह श्रुति भी सुषुप्ति में अहमर्थ के अज्ञान को प्रमाणित कर रही है।

न्यायामृतम्

विरोधात् । या तु न विजानात्ययमहमस्मीति सुषुप्तिविषया श्रुतिः, सापि नात्मानं न परांश्चेति सुषुप्तावात्माज्ञानश्रुतिवद्विशेषाज्ञानपरा ।

किं च सौषुप्तिकाज्ञानादिस्मर्तृत्वं किमनहमर्थस्य ? अविद्यावच्छिन्नचैतन्यान्तः-करणावच्छिन्नस्याहमर्थस्य वा ? नाद्यः, योऽहमकार्षं सोऽहं सौषुप्तिकाज्ञानादि स्मरामीत्यबाधितानुभवात् । अन्त्ये त्वहमर्थस्यैव तदनुभवितृत्वं वाच्यम् । स्मृति-संस्कारानुभवानामेकाधिकरणानामेव कार्यकारणभावात् । योऽहमन्वभूवं सोऽहं स्मरामीतिप्रत्यभिज्ञानाच्चेति सुषुप्तावप्यहमर्थसिद्धिः । यद्यपि चैत्रमैत्रादिसाधारणं

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञाने प्रमाणम् । न चेयं श्रुतिर्नात्मानं न परांश्चेति सुषुप्तावात्माज्ञानश्रुतिवद्विशेषा-ज्ञानपरा, 'अहरहर्ब्रह्म गच्छन्ति सति संपद्य न विदु'रित्यात्मवेदनबोधकश्रुतिविरोधेन विशेषाज्ञानपरत्वं युक्तम् । न च प्रकृते तथा, विरोधाभावात् ।

यत्तु—अहमर्थस्तावत् स्मर्ता । स चाविद्यावच्छिन्नचैतन्यं वा ? अन्तःकरणा-वच्छिन्नचैतन्यं वा ? आद्ये योऽहमकार्षं सोऽहं सौषुप्तिकाज्ञानादि स्मरामीत्यनुभव-विरोधः । अन्त्ये त्वहमर्थस्यैव तदनुभवितृत्वं वाच्यम्, स्मृतिसंस्कारानुभवानामेका-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—यह श्रुति वैसे ही आत्मविषयक विशेषाज्ञान का प्रतिपादन करती है, जैसे कि—

"नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम् ।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुरीयः सर्वदृक् सदा ॥" (मां० का० १।१२)

यह गौड़पादीय श्रुति आत्मा का परान्यत्वेन अज्ञान प्रतिपादित करती है, वैसे ही "नात्मानं जानात्यहमस्मि"—यह श्रुति भी अहमर्थ का परान्यत्वेन अज्ञान बोधित कहती है ।

समाधान—दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का वैषम्य है, क्योंकि दृष्टान्तभूत "नात्मानं न परांश्चैव"—यह श्रुति जो आत्मविषयक विशेषाज्ञानपरक है, वह "सर्वाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति" (छां० ८।३।२) इस (ब्रह्म-गमन और सत्सम्पत्ति-प्रकाशन के द्वारा) आत्म-वेदन की बोधिका श्रुति से विरोध होने के कारण, अर्थात् प्रकाशमान साक्षी में सामान्यत अज्ञान का प्रतिपादन अत्यन्त विरुद्ध है, अतः परान्यत्वप्रकारक आत्मविशेष्यक अज्ञान के बोधन में ही "नात्मानं न परांश्चैव"—इस श्रुति का तात्पर्य निश्चित होता है, किन्तु प्रकृत में किसी प्रकार का विरोध न होने के कारण "न विजानात्यहमस्मि"—यह श्रुति अहमर्थविषयक सामान्य अज्ञान की प्रतिपादिका मानी जाती है ।

न्यायामृतकार ने जो यह आक्षेप किया है कि अहमर्थ निर्विवाद रूप में सौषुप्तिक अज्ञानादि का स्मर्ता है, किन्तु वह अविद्यावच्छिन्न चैतन्यरूप माना जाता है ? अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ? प्रथम पक्ष में 'योऽहमकार्षम्, सोऽहं सौषुप्तिकाज्ञानादि स्मरामि'—इस अनुभव का विरोध है, क्योंकि इस अनुभव के द्वारा कर्तृत्वादि-विशिष्ट अन्तःकरणोपाधिक जीव चैतन्य में ही स्मरण सिद्ध होता है, अविद्यावच्छिन्न साक्षी चैतन्य में नहीं । द्वितीय पक्ष में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य (अहमर्थ) को ही अनुभविता मानना होगा, क्योंकि जिस आत्मा में अनुभव उत्पन्न होता है, उसी में अनुभव-जन्य संस्कार और उसी में संस्कार-जनित स्मरण ज्ञान होता है, अन्यत्र नहीं ।

न्यायामृतम्

चैतन्यमेकं जीवस्योपाध्यविद्यैक्यात् जीवश्चैकः, तथापि तयोरस्मर्तृत्वात्। स्मर्तुंश्चाहमर्थस्याविद्यावच्छिन्नानुभवितृचैतन्यादन्यत्वेन नानुभवितृस्मर्त्रोरैक्यम्। यद्यप्यविद्या चैतन्यं प्रत्यवच्छेदिका, अन्तःकरणं तु अविद्यावच्छिन्नचैतन्यं प्रत्येवावच्छेदकं, न तु स्वातंत्र्येण। तथाप्यविद्यान्तःकरणरूपोपाधिभेदे शुद्धचैतन्याविद्यावच्छिन्नचैतन्यरूपोपधेयभेदे च सति मठाकाशतत्स्थघटाकाशयोरिव सुतरामुपहितभेदेन प्रत्यभिज्ञान-

अद्वैतसिद्धिः

श्रयाणामेव कार्यकारणभावाद्, योऽहमन्वभूवं सोऽहं स्मरामी'ति प्रत्यभिज्ञानाच्च—इति। तन्न, दत्तोत्तरत्वात्। उक्तं ह्यविद्यावच्छिन्नचैतन्यमनुभवितृ, तदेव चान्तःकरणावच्छेदेनानुभूयमानं स्मर्त्रिति न तयोर्वैरूप्यम्। न च—अविद्यावच्छिन्नचितोऽपि नैक्यमस्ति, अन्तःकरणरूपोपाधिभेदेन भेदादिति—वाच्यम्, अविद्यावच्छिन्न एवान्तःकरणावच्छेदात्। न च—तथाप्यविद्यान्तःकरणरूपोपाधिभेदेन मठाकाशतदन्तःस्थघटाकाशयोरिव उपहितभेदः स्यादिति वाच्यम्, दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः। तयोरेवोपाध्योः परस्परमुपहितभेदकत्वम्, यौ परस्परानुपहितमुपधत्तः। अन्यथा कम्ब्वच्छिन्नग्रीवा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

'योऽहमन्वभवम्, सोऽहं स्मरामि'—इस अनुभव से भी अनुभविता और स्मर्ता की एकता सिद्ध होती है, अतः अज्ञान के स्मर्ता अहमर्थ को ही सुषुप्ति में अज्ञान का अनुभविता मानना आवश्यक है।

न्यायामृतकार का वह आक्षेप भी संगत नहीं, क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि जो अविद्यावच्छिन्न चैतन्य (साक्षी) सुषुप्ति में अज्ञान का अनुभव करता है, वही अन्तःकरणावच्छिन्न होकर स्मरण करता है, दोनों तत्त्वतः एक ही होते हैं, अतः साक्षी के द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण जीव में बन जाता है।

शङ्का—अविद्या एक है, अतः अज्ञान के अनुभविता अविद्यावच्छिन्न साक्षी को एक मानना होगा, किन्तु स्मर्ता अहमर्थ एक नहीं, अनेक हैं, क्योंकि उनका अन्तःकरण-रूप उपाधि के भेद से भेद होता है, साक्षी-द्वारा अनुभूत अज्ञान का चैत्र, मैत्रादि सभी व्यक्ति स्मरण नहीं किया करते, अतः स्मर्ता अहमर्थ का अनुभविता साक्षी से ऐक्य नहीं हो सकता, अन्यथा एक के द्वारा अनुभूत अज्ञान का स्मरण सब को होना चाहिए।

समाधान—अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ही अन्तःकरणरूप अवच्छेदक के भेद से भिन्न हो जाता है, अतः एक के द्वारा अनुभूत अज्ञान का स्मरण सब को नहीं होता। अवच्छेदक का भेद रहने पर भी अवच्छेद्य चैतन्य का भेद नहीं होता, अतः साक्षी का अहमर्थ से ऐक्य या अभेद माना जाता है।

शङ्का—अविद्या शुद्ध चैतन्य की अवच्छेदिका है और अन्तःकरण अविद्यावच्छिन्न (विशिष्ट) चैतन्य का अतः अविद्यावच्छिन्न और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यों का वैसे ही भेद मानना होगा, जैसे कि मठावच्छिन्न आकाश का मठस्थ घटावच्छिन्न आकाश से भेद होता है, क्योंकि मठ शुद्ध आकाश का अवच्छेदक है और घट मठावच्छिन्न आकाश का, अतः दोनों उपहित आकाशों की एकता सम्भव नहीं।

समाधान—दृष्टान्त में उपहित-भेद हमें स्वीकृत नहीं, क्योंकि वे ही दो उपाधियाँ अपने उपहित की भेदिका मानी जाती हैं, जो एक-दूसरे के द्वारा अनुपहित (शुद्ध) पदार्थ की ही अवच्छेदिका होती हैं [प्रकृत में मठ और घट—दोनों शुद्ध आकाश के

न्यायामृतम्

विरोधो दुस्तरः। किं च सुषुप्तावहमर्थाभावेऽहं निर्दुःखः स्यामितीच्छया सुषुप्तौ प्रवृत्त्ययोगः। योऽहं सुप्तः सोऽहं जागर्मीतिप्रत्यभिज्ञाबाधश्च। योऽहं पूर्वं दुरकार्षं सोऽहमद्य करोमीतिप्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिश्च, अहंकारव्यक्तिभेदात्। कृतहानाकृताभ्यागमप्रसंगश्च, कर्तुर्भोक्तुश्चाहमर्थस्य भिन्नत्वाद्, अभिन्ने चैतन्ये कर्तृत्वाद्यभावात्। कर्तृत्वाद्यारोपस्य च देहादावपि सत्त्वात्। अहं करोमीत्येव प्रतीत्याहमर्थान्यात्मनि कर्तृत्वारोपस्याप्यभावाच्च। किं च अहंकार एव क्रियाशक्त्या प्राणः, विज्ञानशक्त्या मन

अद्वैतसिद्धिः

वच्छिन्नाकाशादन्य एव घटाकाशः स्यात्। न चैवं सुषुप्तावहमर्थाभावे अहं निर्दुःखः स्यामितीच्छया सुषुप्त्यर्थं प्रवृत्त्ययोगः, 'कृशोऽहं स्थूलो भवामी'तिवत् प्रवृत्त्युपपत्तेः। न च—तत्र कार्श्यादिनिष्कृष्टस्य शरीरस्यैव स्थौल्याधिकरणतया विवेकिनामुद्देश्यत्वमिति—वाच्यम्, प्रकृतेऽप्यन्तःकरणादिनिष्कृष्टस्यैव तदुद्देशविषयत्वात्।

ननु—'योऽहं सुप्तः सोहं जागर्मि' 'योऽहं पूर्वं दुरकार्षं सोऽहमद्य करोमी'ति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः, अहमर्थस्य भेदात्। कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, कर्तुर्भोक्तुश्चाहमर्थस्य भिन्नत्वाद्, अभिन्ने चैतन्ये कर्तृत्वाद्यभावात्, तदारोपस्याप्यभावाद्, देहा-

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

अवच्छेदक नहीं, मठ अनुपहित आकाश की उपाधि होने पर भी घट अनुपहित आकाश की उपाधि न होकर मठोपहित आकाश की उपाधि है, अतः उपहित का भेदक नहीं]। अन्यथा घटावच्छिन्न आकाश का घटस्थ ग्रीवावच्छिन्न और उदरावच्छिन्न आकाश से भेद मानना होगा, जो कि अनुभव-विरुद्ध है।

शङ्का—अहमर्थ (जीव) का सुषुप्ति में यदि प्रवेश नहीं हो सकता, तब 'अहं निर्दुःखः स्याम्'—इस कामना से अहमर्थ का सुषुप्ति के लिए प्रयत्नशील होना सम्भव कैसे हो सकेगा ?

समाधान—सर्वत्र अप्राप्त इष्ट की प्राप्ति और प्राप्त अनिष्ट की निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति होती है, जैसे स्थूलताभिलाषी कृषकाय व्यक्ति की स्थूलता-लाभार्थ प्रवृत्ति होती है, वसे ही निर्दुःखता या साक्षिरूपता को प्राप्ति के लिए अहमर्थ की प्रवृत्ति हो जाती है। यदि कृषता-प्राप्त शरीर को स्थूलता का आधार बनाने के लिए विवेकशील व्यक्ति की वहाँ प्रवृत्ति मानी जाती है, तब प्रकृत में भी अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन (अहमर्थ) में ही निर्दुःखता प्राप्त्यर्थ प्रवृत्ति हो सकेगी।

शङ्का यदि सुषुप्ति में अहमर्थ (जीव) का अभाव हो जाता है और जागने पर नूतन अहमर्थ की सृष्टि होती है, तब 'योऽहं सुषुप्तः सोऽहं जागर्मि' एवं 'योऽहं पूर्वं दुरकार्षम्, सोऽहमद्य करोमि'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा क्योंकर उपपन्न होगी ? सुषुप्ति के पूर्व और उत्तर भावी अहमर्थों का भेद हो जाने पर कृत-हानि और अकृत प्राप्ति भी होगी, क्योंकि कर्त्ता और भोक्ता जीव भिन्न-भिन्न होते हैं, साक्षिरूप अभिन्न चैतन्य में कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि नहीं माने जाते और न उनका आरोप ही उसमें हो सकता है, क्योंकि 'अहं करोमि' इत्यादि अनुभव से अहमर्थ में ही कर्तृत्वादि की प्रतीति होती है, अन्यत्र प्रतीयमान वस्तु का अन्यत्र आरोप सम्भव नहीं, यदि कथमपि साक्षी में कर्तृत्वादि का आरोप मान लिया जाय, तब शरीर में भी कर्तृत्वादि का आरोप हो सकता है, अतः शरीर से भिन्न साक्षी चैतन्य की भी क्या आवश्यकता ?

न्यायामृतम्

इति गीयत इति त्वन्मतम् । तथा च सुषुप्तावहंकारविलये प्राणकायश्वासादि न स्यात् । ननु—प्राणस्याहंकाराद् भेदपक्षेऽहंकारस्य लयो युक्तः । अभेदपक्षेऽपि प्राणांशं विहायाविशिष्टांशस्यैव लयः कल्प्यत इति चेत्, न, प्राणस्याहमर्थत्वाभावे कर्तृत्वस्य प्राणोपाधिकत्वेनाहं कर्तेतिबुद्ध्ययोगात् । अहमर्थत्वे सुषुप्तावहमुल्लेखापातात् । किं च न सुषुप्तावन्तःकरणस्य लयः "अथ हैतत्पुरुषः स्वपितो"त्यारभ्य "गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मन" इत्यादिश्रुतौ मनआदीनामुपरमस्यैवोक्तेः । "अथात आत्मादेश" इति श्रुतौ चात्मनस्त्वन्मते स एवाधस्तादि"त्युपदिष्टेन भूम्नेवाहंकारेणाप्यैक्येऽपि पृथगुपदेशो युक्तः ।

ननु—भूमात्मनोर्भिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धयोः पृथगुपदेशो पेक्यार्थः, द्वयोः सार्वा-

अद्वैतसिद्धिः

दावतिप्रसङ्गाच्चेति—चेन्न, सुषुप्तौ कारणात्मना स्थितस्यैव उत्पत्त्यङ्गीकारेण सर्वोपपत्तेः । न च—'अथ हैतत्पुरुषः स्वपिती'त्यारभ्य 'गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मन' इत्यादिश्रुतौ मनआदीनामेवोपरमोक्तेर्नाहंकारोपरम इति—वाच्यम्, मनस उपरमे तेनैवाहंकारोपरमस्यापि प्राप्तेः । अहंकारो हि अनुभवामीत्यात्मानुबन्ध्यनुभवस्याहं कर्तेत्यचिदनुबन्धिकर्तृत्वादेश्चाश्रयः चिदचित्संवलनात्मकत्वादध्यस्तः । तस्य चाचितोऽन्तःकरणस्योपरमे उपरतिः । 'अथातोऽहंकारादेशः अथात आत्मादेश' इति श्रुतिरपि पृथगुपदेशेन पार्थक्ये प्रमाणम् ।

ननु—आत्मनस्त्वन्मते 'स एवाधस्ता'दित्युपदिष्टेन भूम्नेवाहंकारेणाप्यैक्येऽपि पृथगुपदेशो युक्तः । न च—भूमात्मनोर्भिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धयोः पृथगुपदेश पेक्यार्थः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—अज्ञान कारण है और अन्तःकरण कार्य । अन्तःकरण सुषुप्ति में कार्यरूपेण न होने पर भी कारणरूपेण अवस्थित होता है और प्रबोधावस्था में उसी की उत्पत्ति से अहङ्कार की उत्पत्ति मानी जाती है, अतः किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं रह जाती । यद्यपि सुषुप्ति काल में गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः" (छां २।३।१७) यह श्रुति मन आदि का ही उपरम (विलयन) कहती है, अहङ्कार का नहीं । तथापि मन (अन्तःकरण) के उपरम से ही अहङ्कार का भी विलयन हो जाता है, क्योंकि 'अनुभवामि'—इस प्रकार के आत्मविषयक अनुभव एवं 'अहङ्कर्त्ता'—इस प्रकार अनुभूत जड़ान्तःकरण के परिणामरूप कर्तृत्व के आश्रय को अहंकार कहा जाता है, ऐसा चिज्जड़-संवलात्मक अहंकार घटादि के समान ही अध्यस्त माना जाता है, अतः जड़ान्तःकरण के विलयन से उसका भी विलयन न्यायोचित है । श्रुति भी कहती है—"सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति" (कैवल्यो० १।१३) ।

"अथातोऽहङ्कारादेशः, अथातः आत्मादेशः" (छां ७।२५।१-२) यह **श्रुति भी** अहङ्कार और आत्मा का पृथक्-पृथक् उपदेश करती है, अतः यह श्रुति भी **आत्मा** और अहङ्कार के भेद में प्रमाण मानी जाती है ।

शङ्का—जैसे आप के सिद्धान्तानुसार भूमा तत्त्व आत्मा से अभिन्न होने पर भी "स एवाधस्तात्" (छां० ७।२५।१) इस श्रुति में पृथगुपदिष्ट है, वैसे ही आत्मा से अभिन्न होने पर भी अहङ्कार का पृथक् उपदेश उचित क्यों नहीं ? यदि कहा जाय कि भूमा और आत्मा—दोनों प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर पृथक् सिद्ध हैं, अतः उनका

न्यायामृतम्

त्म्यायोगात् । अहंकारस्य त्वात्मैकत्वेन प्रत्यक्षसिद्धस्य पृथगुपदेशो भेदार्थं इति चेन्न, अहमर्थादन्यस्यात्मनः भूमाख्यब्रह्माभिन्नत्वेन प्रत्यक्षासिद्धत्वात्तयोरुपदेशो भेदार्थः। अहमर्थस्य तु ब्रह्मभिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तयोरुपदेश ऐक्यार्थं इति वैपरीत्यापत्तेः। त्वत्पक्षे श्रुत्युक्तानां भूमाहंकारात्मनां बिंबप्रतिबिंबमुखस्थानीयाविद्योपाधिकब्रह्मजीवचिन्मात्रत्वसम्भवेनाहंकारस्य जीवात्पार्थक्यासिद्धेश्च। "स एवेदं सर्वम्" आत्मैवेदं

अद्वैतसिद्धिः

द्वयोः सार्वात्म्यायोगाद्, अहंकारस्य तु आत्मैकत्वेन प्रत्यक्षसिद्धस्य पृथगुपदेशो भेदार्थ इति वाच्यम्, अहमर्थादन्यस्यात्मनो भूमाख्यब्रह्मभिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तयोरप्युपदेशो भेदार्थः, अहमर्थस्य तु ब्रह्मभिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तयोरुपदेश ऐक्यार्थ एव किं न स्यात्—इति चेन्न, अहंकाराद् भिन्नात्मनो भूमरूपब्रह्मभिन्नत्वस्य प्रत्यक्षासिद्धत्वेऽपि तदभिन्नत्वस्यापि तदसिद्धतया उभयोः सार्वात्म्योपदेशानुपपत्तिसहकारेणास्याः श्रुतेस्तयोरभेदपरत्वमुचितम्, प्रकृते चाभेदपरत्वे विरोधः, जडाजडयोरैक्यायोगात्। न च—त्वन्मते भूमाहंकारात्मनां बिम्बप्रतिबिम्बमुखस्थानीयाविद्यो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पृथक् उपदेश इस लिए किया गया कि दोनों की वास्तविक एकता सिद्ध हो सके, क्योंकि आत्मा भी सर्वात्म (सर्वरूप) हो और उससे भिन्न भूमा तत्त्व भी सर्वात्म हो—ऐसा हो नहीं सकता, अतः सर्वात्मत्वेन पृथक् उपदेश कर श्रुति अपना तात्पर्य दोनों की एकता में ही सूचित करती है। किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा और अहङ्कार—दोनों की जो एकता प्रसिद्ध है, उसकी निवृत्ति और वास्तविक भेद की सिद्धि के लिए दोनों का पृथक् उपदेश है। तो वैसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ठीक उसके विपरीत ऐसा भी कहा जा सकता है कि अहमर्थ से भिन्न आत्मा में भूमरूप ब्रह्म का भेद प्रत्यक्षतः सिद्ध नहीं, अतः उनका वास्तविक भेद सिद्ध करने के लिए दोनों का पृथक्-पृथक् उपदेश किया गया है किन्तु अहमर्थ लोक में प्रत्यक्षतः भिन्न प्रसिद्ध है, अतः उसका वास्तविक अभेद सिद्ध करने के लिए समान रूपेण पृथक उपदेश किया गया है, क्योंकि सर्वरूप दो पदार्थों को पृथक मानना सम्भव नहीं।

समाधान—अहङ्कार से भिन्न आत्मा में भूमरूप ब्रह्म का भेद जैसे प्रत्यक्ष-सिद्ध नहीं, वैसे ही अभेद भी प्रत्यक्षतः सिद्ध नहीं, अतः दोनों (आत्मा और भूमा) यदि एक नहीं, तब उन दोनों का एक सर्वात्मरूप से उपदेश उपपन्न नहीं हो सकता—इस प्रकार की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति की सहायता से "स एवाधस्तात्"—इस श्रुति का आत्मा और भूमा की एकता में ही तात्पर्य निश्चित होता है, किन्तु अहङ्कार और आत्मा की एकता में उक्त पृथक उपदेश का तात्पर्य सम्भव नहीं, क्योंकि अहङ्कार-रूप जड़वस्तु में चैतन्याभेद कहना विरुद्ध है।

शङ्का—"विम्बस्थानीयब्रह्मस्वरूपता प्रतिबिम्बस्थानीयस्य जीवस्योपदिश्यते" (पञ्च० पृ० १०८) इस प्रकार पञ्चपादिका-प्रतिपादित बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की श्रेष्ठता विवरणकार ने भी मानी है—"प्रतिबिम्बपक्ष एव श्रेयानिति" (पं० वि० पृ० २९१)। इसके अनुसार बिम्बस्थानीयभूमा (ब्रह्म), प्रतिबिम्बस्थानीय अहङ्कार और मुखस्थानीय उभयानुगत एवं विशुद्ध चिदात्मा माना जाता है। एक ही अविद्यारूप उपाधि के द्वारा ब्रह्म, जीव और चिन्मात्ररूपता निष्पन्न होती है, उनमें जीव से

न्यायामृतम्

सर्व "मित्युपसंहाराणां स एवाधस्तादहमेवाधस्तादात्मैवाधस्ता"दित्युपक्रमे सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व इत्यादिस्मृतिभिश्च सर्वगतत्वपरत्वेन सार्वात्म्योपदेशाभावाच्च। सर्वगतत्वस्य चानेकेषु सम्भवात्। भूमात्मोपदेशाभ्यामेव ब्रह्मात्मैक्यसिद्ध्या मध्येऽहंकारोपदेशवैयर्थ्याच्च। ननु परोक्षस्य ब्रह्मण आपरोक्ष्याय स्थूलारुन्धतीन्यायेनाहंकारैक्योक्तिरिति चेन्न, त्वत्पक्षे प्रत्यगर्थरूपस्यात्मन एवापरोक्षैकरसत्वेन तदैक्योक्त्यै-

---

अद्वैतसिद्धिः

पाधिकब्रह्मजीवचिन्मात्रत्वसंभवेनाहंकारस्य जीवात् पार्थक्यासिद्धिरिति—वाच्यम्, 'यत्र नान्यत् पश्यति' 'स एवाधस्ता'दित्यादिना भूमस्वरूपोक्थनन्तरं यत्रेत्यधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशात्स इति पारोक्ष्यनिर्देशाच्च द्रष्टुर्जीवादन्यत्वप्रसक्तौ तद्वारणार्थं 'अथातोऽहंकारादेश' इत्यहंकारेण भूम्नि निर्दिष्टे अहंकारस्य देहादिसंघाते अविवेकिप्रयोगदर्शनात् तदभेदप्रसक्तौ निष्कृष्टाहंकारकेवलात्मस्वरूपामादाय 'अथात आत्मादेश' इति द्रष्टृभेद उच्यत इत्येतादृशार्थपरत्वेन बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनाया अत्रासंभवात्। संभवे वा अविद्योपाधिकजीवस्याहंकारत्वोक्तिः स्थूलारुन्धतीन्यायेन। अत एव—'स

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अहङ्कार पृथक सिद्ध नहीं होता, अतः सुषुप्ति में प्राज्ञात्मक अहङ्कार का रहना असम्भव क्यों ?

समाधान—"यत्र नान्यत् पश्यति...स एवाधस्तात्" (छां. ७।२३।१) इत्यादि ग्रन्थ से (यत्र) जिस ब्रह्मरूप आधार में अन्य दृश्य, अन्य द्रष्टा और अन्य दर्शनरूप त्रिपुटी नहीं होती, वह सर्वरूप भूमा है—इस प्रकार भूमा के स्वरूप का प्रतिपादन करने के पश्चात् ब्रह्म और जीव में निर्दिष्ट आधाराधेयभाव एवं पारोक्ष्यापारोक्ष्य के द्वारा प्रसक्त भेद की निवृत्ति के लिए "अथातोऽहंकारादेशः"—इस प्रकार अहङ्कार के रूप में भूमा का निर्देश किया गया। अविवेकी व्यक्तियों के द्वारा देहादि के संघात में अहङ्कार का प्रयोग देखकर भूमा में देहादि का अभेद प्रसक्त होने पर "अथातः आत्मादेशः"—इस वाक्य के द्वारा अहंकारासम्पृक्त विशुद्ध आत्मस्वरूप का प्रतिपादन कर पूर्व वाक्य में निर्दिष्ट भूमा तत्त्व को अहङ्कार से भिन्न विशुद्ध चैतन्यरूप सिद्ध किया गया है'—इस प्रकार की संगमनिका में ही छान्दोग्य के इस खण्डलक का तात्पर्य है, बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की कल्पना यहाँ सम्भव नहीं। यदि बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की कल्पना में तात्पर्य मान कर 'अहङ्कारादेशः'—इस वाक्य से अविद्या-प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप जीव का ही अभिधान मान भी लिया जाय, तब भी 'वह सर्वात्म भूमा तत्त्व कौन है ?' इस प्रश्न के उत्तर में 'अथातः अहङ्कारादेशः'—इस वाक्य के द्वारा वैसे ही गौण या स्थूल रूप का प्रदर्शन किया गया, जैसे 'अरुन्धती नाम का तारा कौन है ?'—इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अरुन्धती को इङ्गित न कर निकटस्थ वसिष्ठ नाम का स्थूल तारा दिखाकर कहा जाता है--यही अरुन्धती है। गौण अरुन्धती तक दर्शक की दृष्टि पहुँच जाने पर कह दिया जाता है कि वह स्थूल तारा अरुन्धती नहीं, अपितु उसके समीप अत्यन्त सूक्ष्म (नन्हा-सा) तारा अरुन्धती है। इसी प्रकार अहङ्कार स्वरूप जीव तक आत्म-दिदृक्षु की अन्तर्दृष्टि पहुँच जाने पर वास्तविक रहस्य का भेदन किया जाता है—'अथात आत्मादेशः।' अर्थात् वह अहंकार-संवलित तत्त्व सर्वात्म भूमा तत्त्व नहीं, अपितु उससे भिन्न विशुद्ध चैतन्यघन तत्त्व ही भूमा है। इस प्रकार भी

न्यायामृतम्

आपरोक्ष्यसिद्धया अहंकारे अविद्यमान सार्वात्म्योक्त्ययोगात् । आत्मन आपरोक्ष्याभावे

अद्वैतसिद्धिः

एवेदं सर्वम्' 'अहमेवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्व' मित्याद्युपसंहाराणां 'स एवाधस्ता-दहमेवाधस्तादात्मैवाधस्ता'दित्युपक्रमैः 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वं' इत्यादि-स्मृतिभिश्च सर्वगतत्वपरत्वेन न सार्वात्म्यपरत्वम्, येनाहंपदस्य निष्कृष्टाहंकारचैतन्य-परत्वं स्यात् । सर्वगतत्वं चानेकेष्वपि संभवत्येव । भूमात्मोपदेशाभ्यामेव ब्रह्मात्मैक्य-सिद्धया मध्ये अहंकारोपदेशवैयर्थ्यं चेति—निरस्तम् । 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित' इति प्रश्नानन्तरं किं क्वचिदधिष्ठानत्वमात्रं पृष्टं ? परमार्थतः क्वचिदधिष्ठितत्वं वा ? आद्ये स्वे महिम्नीत्युक्त्वा द्वितीये भूमातिरिक्तमेव नास्तीत्येतदर्थपर—'अन्यो ह्यन्य-स्मिन् प्रतिष्ठित' इति पूर्ववाक्यानुसारेण 'स एवाधस्ता'दित्यादेरपि सार्वात्म्यपरत्वे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अहङ्कार पद-लक्षित अविद्या-प्रतिबिम्बित चैतन्य का शुद्ध चैतन्य से भेद ही सिद्ध होता है।

शङ्का—उपक्रम और उपसंहार की समानार्थता प्रसिद्ध है, अतः उपसंहारस्थ "स एवेदं सर्वम्" (छां. ७।२५।१), "आत्मैवेदं सर्वम्" (छां. ७।२५।२) इत्यादि वाक्यों को "स एवाधस्तात्" (छां. ७।२५।१), "अहमेवाधस्तात्" (छां. ७।२५।१), "आत्मैवाधस्तात्" (छां. ७।२५।२) इत्यादि उपक्रमस्थ श्रौत एवं "सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः" (गी० ११।४०) इत्यादि स्मार्त वाक्यों के अनुसार सर्वगतत्व-बोधक ही माना जाता है, सर्वात्मत्व-बोधक नहीं कि 'अहम्' पद को अहङ्कारासम्पृक्त विशुद्ध चैतन्यपरक मानना पड़ता। सर्वगतत्व धर्म तो वाच्यत्व, ज्ञेयत्वादि के समान अनेक पदार्थों में रह सकता है। उदाहृत "स एवाधस्तात्", "अथातोऽहङ्कारादेशः", "अथात आत्मादेशः"—इन तीनों वाक्यों में प्रथम और तृतीय वाक्य में भूमा और आत्मा के उपदेशमात्र से ब्रह्म और जीव की एकता सिद्ध हो जाती है, अतः मध्य वाक्य में अहंकार का उपदेश व्यर्थ है।

समाधान—"स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः ?" (छां. ७।२४।१) इस नारदीय प्रश्न का उत्तर सनत्कुमार ने दिया है—"स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नि" (छां. ७।२४।१) [इसका आशय आचार्य शंकर ने बताया है—"स्वे आत्मीये महिम्नि माहात्म्ये विभूतौ प्रतिष्ठितो भूमा, यदि प्रतिष्ठामिच्छसि क्वचिद् , यदि वा परमार्थमेव पृच्छसि, न महिम्न्यपि प्रतिष्ठित इति ब्रूमः"] अर्थात् यदि व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिष्ठा का कोई आधार पूछा गया है, तब उसका उत्तर है—स्वे महिम्न। जैसे चैत्र, मैत्रादि अपने धन, धान्य और ऐश्वर्य में प्रतिष्ठित होते हैं, वैसे ही भूमा अपनी प्रपञ्चरूप महिमा में अवस्थित है और यदि पारमार्थिक दृष्टि को लेकर प्रश्न किया गया है, तब उसका उत्तर है—न महिम्न्यपि। परमार्थतः भूमा का कहीं रहना सम्भव नहीं, क्योंकि आधार-आधेय, दृश्य-दर्शनभावादि त्रिपुटी जिससे भिन्न नहीं, वह भूमा है—ऐसा उपक्रम में कहा गया है—"यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद् विजानाति स भूमा" (छां. ७।२४।१)। इसी सर्वात्मता का प्रतिपादन "नाहमेवं ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति" (छां. ७।२४।२) इस वाक्य में भी जब कर दिया गया है, तब उसके अनन्तरभावी "स एवाधस्तात्" (छां. ७।२५।१) इत्यादि वाक्य भी सर्वात्मत्व को छोड़कर सर्वगतत्व का बोध नहीं करा सकते। दूसरी बात यह भी है कि

न्यायामृतम्

चात्मब्रह्माभेदस्य प्रत्यक्षत्वोक्त्ययोगात् । अपरोक्षाहंकारैक्योपदेशलब्धापरोक्ष्यस्य परोक्षात्मैक्योपदेशेन ह्रान्यापाताच्च । श्रुत्यर्थस्तु—

भूमा नारायणाख्यः स्यात्स एवाहंकृतिः स्मृतः ।
जीवस्थस्त्वनिरुद्धो यः सोऽहंकार इतीरितः ॥

अद्वैतसिद्धिः

निश्चिते एकत्रैव वाक्ये उपक्रमादिकल्पनेनार्थान्तराकल्पनात्, कल्प्यमानस्य च प्रकृतार्थानुपपादकत्वात्, सर्वगता जातिरिति पक्षे व्यापकजातेरिव भूम्नोऽपि अन्याधिष्ठितत्वसंभवात्, 'सर्वं समाप्नोषी'त्यादिस्मृतेः सार्वात्म्यपरत्वस्य उपपादितत्वात् । नापि मध्ये अहंकारोपदेशवैयर्थ्यम्, ब्रह्मण आपरोक्ष्याय अहंकारैक्योक्तेः । न च—त्वन्मते प्रत्यगर्थरूपस्यात्मन एवापरोक्षैकरसत्वेन तदैक्योक्त्यैवापरोक्ष्यसिद्ध्या अहंकारे अविद्यमानसार्वात्म्योक्त्ययोग इति—वाच्यम्, आत्मसंबन्धेनैवाहंकारोऽप्यपरोक्ष इत्यात्मैक्यादेवापरोक्ष्यं यद्यपि सिद्धं, तथाप्यहंकारे आपरोक्ष्यस्य सुप्रसिद्धत्वादहंकारोक्तिर्नायुक्ता । यत्तु—'भूमा नारायणाख्यः स्यात् स एवाहंकृतिः स्मृतः । जीव-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

"स एवावस्तात्, स उपरिष्टात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स उत्तरतः, स एवेदं सर्वम्"—इस एक ही वाक्य में उपक्रम और उपसंहार की कल्पना करके सर्वगतत्वादि अर्थान्तर का लाभ नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह प्रकृत में उपयोगी नहीं और 'सर्वगता जाति'—इस मत के अनुसार व्यापक घटत्वादि जाति के समान ही सत्ता सामान्यरूप भूमा तत्त्व भी सर्वत्राधिष्ठित हो सकता है । [अर्थात् जैसे नैयायिक घटत्वादि जातियों को घटादि में समवाय एवं अन्यत्र स्वरूप सम्बन्ध से अवस्थित मानते हैं, वैसे ही हम भूमा तत्त्व को कार्य प्रपञ्च में तादात्म्य एवं अनादि पदार्थों में स्वज्ञानविषयत्वादि सम्बन्ध से समवस्थित मान सकते हैं] "सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः" (गी० ११।४०) इत्यादि स्मृति-वाक्यों की सर्वात्मत्वपरता का उपपादन उनकी व्याख्या में किया जा चुका है—"सर्वं समस्तं जगत् समाप्नोषि सम्यगेकेन सद्रूपेणाप्नोषि सर्वात्मना व्याप्नोषि, ततः तस्मात् सर्वोऽसि त्वदतिरिक्तं किमपि नास्ति" (गूढार्थ. पृ० ५१०) । यह जो कहा कि मध्य में अहङ्कार का उपदेश व्यर्थ है, वह बात भी नहीं, क्योंकि ब्रह्म की अपरोक्षता सिद्ध करने के लिए अहंकार के साथ उसकी एकता स्थापित की गई है ।

शङ्का—आप (अद्वैतवादी) के मत में प्रत्यगर्थरूप आत्मा साक्षात् अपरोक्षरूप है, उसकी एकता के प्रतिपादनमात्र से भूमा तत्त्व में अपरोक्षरूपता का लाभ हो जाता है, अहंकार में अविद्यमान सर्वात्मता का प्रतिपादन उचित नहीं ।

समाधान—यद्यपि अहङ्कार स्वयं जड़ और परिच्छिन्न है, उसमें आत्मा के सम्बन्ध से सर्वात्मत्व और प्रकाशत्व का लाभ होता है, तथापि अहङ्कार में अपरोक्षता अत्यन्त प्रसिद्ध है, भूमा में अहंकार के एकता-स्थापन से ही स्फुट आपरोक्ष्य आता है, अतः अहंकार में सर्वात्मत्व-प्रतिपादन के द्वारा भूमा से एकरूपता ध्वनित कर भूमा में अपरोक्षता सिद्ध की जाती है ।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि—

"भूमा नारायणः स्यात् स एवाहंकृतिः स्मृतः ।
जीवस्थस्त्वनिरुद्धो यः सोऽहंकार इतीरितः ॥

न्यायामृतम्

अणुरूपोऽपि भगवान्वासुदेवः परो विभुः। आत्मेत्युक्तः स च व्यापीत्यादि छान्दोग्यभाष्योदाहृतस्मृत्याऽवगन्तव्यः। मोक्षधर्मे च—

अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः॥
योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम्।
सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः॥ इति॥

सूत्रं च—सैव हि सत्यादय "इति। अन्यथाऽहंकारस्य व्याप्त्युक्त्ययोगात्।

अद्वैतसिद्धिः

स्थस्त्वनिरुद्धो यः सोऽहंकार इतीरितः॥ अणुरूपोऽपि भगवान् वासुदेवः परो विभुः। आत्मेत्युक्तः स च व्यापी'त्यादिस्मृत्या श्रुतेः सार्वात्म्यं नार्थः, किं तु सर्वगतत्वम्—इति। तन्न, श्रुतिविरोधेन स्मृतेरेव सार्वात्म्यपरत्वम्, न तु स्मृत्या श्रुतेरन्यथानयनम्। न च—मोक्षधर्मे—

अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः।
योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम्॥
'सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः।'

इत्यनेन 'सैव हि सत्यादय' इति सूत्रेण चाहंकारस्यात्मत्वम्, अन्यथा व्याप्त्यु-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अणुरूपोऽपि भगवान् वासुदेवः परो विभुः।

आत्मेत्युक्तः स च व्यापी"—इत्यादि स्मृति-वाक्यों के अनुसार "स एवाधस्तात्"—इस श्रुति के व्यापकत्व या सवगतत्व के प्रतिपादन में ही तात्पर्य मानना होगा सर्वात्मत्व के प्रतिपादन में नहीं।

न्यायामृतकार का वह कहना उचित नहीं, क्योंकि "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" (जै. सू. १।३।३) इस सूत्र में महर्षि जैमिनि ने स्मृति को अपेक्षा श्रुति की प्रबलता सिद्ध की है, अतः श्रुति के अनुसार उक्त स्मृति वाक्यों का ही सर्वात्मता के प्रतिपादन में तात्पर्य मानना आवश्यक है, स्मृति के अनुसार श्रुति का अन्यथा नयन सम्भव नहीं।

शङ्का—महाभारत के मोक्षधर्म में कहा है—

"अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः।
योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम्॥
सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः।"

अर्थात् पाञ्चरात्र-प्रोक्त (१) वासुदेव, (२) संकर्षण, (३) प्रद्युम्न और (४) अनिरुद्ध—इस चतुर्व्यूह में अनिरुद्ध (सर्वत्रानिरुद्धगतिक) महानात्मा है, जिसने पितामह (ब्रह्मा) को उत्पन्न किया, उसे ही अहङ्कार कहा जाता है। इसी प्रकार "सर्वे हि सत्यादयः" (ब्र. सू. ३।३।३८) इस सूत्र में भी तत्त्वप्रकाशिकाकार कहते हैं—

"नन्वस्तु भूमान्तानां भगवद्गुणत्वोक्त्याऽभेदो न त्वहंकारात्मनोः, तयोरभेदानुक्तेरित्यत आह सत्याद्या इति। पूर्ववदभेदानुक्तावप्यहंकारात्मनोरस्त्येव भगवत्स्वरूपत्वम्… किञ्च "स एवाधस्तादिनोदितं यद् भूम्नः पूर्णत्वम्, तदेवाहंकारात्मनोरुच्यते" (तत्त्वप्र० पृ० २६९) यदि अहंकार में आत्मत्व विवक्षित न होता, तब अहंकार में व्यापकता और

न्यायामृतम्

अहंकारश्चाहंकर्तव्यं चेति श्रुतौ महाभूतान्यहंकार" इति स्मृतौ च महत्तत्वकार्यं मन-आदिकारणं वैकारिकादिभेदेन त्रिविधं च तत्त्वमुच्यते, न त्वहमर्थः,

महत्तत्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात्।
क्रियाशक्तिरहंकारस्त्रिविधः समपद्यत ॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यतो भवः।
मनसश्चेन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि ॥

अद्वैतसिद्धिः

क्तिरयुक्ता स्यादिति—वाच्यम्, 'अहंकारश्चाहंकर्तव्यं चे'ति श्रुतेः 'महाभूतान्यहंकार' इति स्मृतेः अहंकारस्य व्यापकत्वासंभवाद् 'अहं मनुरभव मित्यादाविवाहम्पदस्य निष्कृष्टाहंकारचैतन्यपरत्वात्। ननु—अनयोः श्रुतिस्मृत्योर्महत्तत्त्वकार्यं मनआदीनां कारणं वैकारिकादिभेदेन त्रिविधमहंकारादिपदवाच्यं विषयः, न त्वहमर्थः, तथा च स्मृतिः—

महत्तत्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात्।
क्रियाशक्तिरहंकारस्त्रिविधः समपद्यत ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

पूर्णता की उक्ति असङ्गत हो जाती।

समाधान—"यथा वयांसि वासाय वृक्षं संप्रतिष्ठन्ते, एवं हैतत् सर्वं परे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते मनश्च, मन्तव्यं च अहंकारश्चाहंकर्तव्यं च" (प्रश्नो० ४।८) तथा "महाभूतान्यहंकारः" (गी० १३।५) इत्यादि स्मृति वाक्यों में प्रतिपादित मुख्य अहंकार (मानसी अहंवृत्ति) में तो व्यापकता असम्भव है, अतः जैसे "अहं मनुरभवम्" (बृह० उ० १।४।८) इत्यादि श्रुतियों में 'अहम्' पद की अहंकारासम्पृक्त शुद्ध आत्मा में लक्षणा होती है, वैसे ही प्रकृत (अहमेवाधस्तात्—इत्यादि वाक्यों) में 'अहम्' शब्द लक्षणा वृत्ति से शुद्ध चैतन्य का बोधक होता है।

शङ्का—'अहंकारश्चाहंकर्तव्यं च'—इस श्रुति और 'महाभूतान्यहंकारः'—इस स्मृति-वाक्यों में मन आदि का कारणीभूत वैकारिकादि (सात्त्विक, राजस और तामस) भेद से त्रिविध अहंकार ('प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारः" इत्यादि साङ्ख्यकारिका-चर्चित) विवक्षित है, मुख्य अहमर्थ नहीं, जैसा कि स्मृति कहती है—

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यचोदितात्।
क्रियाशक्तिरहंकारः त्रिविधः समपद्यत ॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यतो भवः।
मनसश्चेन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि

[अर्थात् भगवान् की इच्छा शक्ति से प्रेरित होकर महत्तत्त्व अहंकार के रूप में परिणत हो जाता है और वह अहंकार सात्त्विक राजस और तामस के भेद से तीन प्रकार का हो जाता है, सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रिय, तामस अहंकार से पाँच तन्मात्र-प्रपञ्च की रचना होती है और राजस अहंकार उभयविध कार्य का प्रवर्तक माना जाता है—

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसात् तैजसादुभयम् ॥ (सां० का० २५)]

न्यायामृतम्

इत्यादिस्मृतेः। अन्यथा संविद्वाचिनो बुद्धिशब्दस्य बुद्धिरव्यक्तमेव चेति क्षेत्रे प्रयोगात् संविदपि क्षेत्रं स्यात्। अहंकारशब्दस्य दंभाहंकारसंयुक्ता इत्यादौ देहेऽहंबुद्धौ गर्वे च प्रयोगेण गर्वोऽभिमानोऽहंकार इत्यभिधानेन चाहमर्थवाचित्वनियमाभावाच्च। अहमर्थेऽहंशब्दप्रयोगेऽप्यहंकारशब्दाप्रयोगाच्च। आत्मवाचिनोऽहंशब्दस्य दकारान्तास्मच्छब्दजत्वेनाहंकारतत्त्ववाचिनश्च मकारान्ताव्ययत्वेन भेदस्य स्पष्टत्वाच्च। अहमर्थं आत्मा-

अद्वैतसिद्धिः

इत्यादेरविरुद्धार्थमादायोपपत्तेः। विरुद्धार्थत्वकल्पनायां 'बुद्धिरव्यक्तमेव चे'त्यत्र क्षेत्रे प्रयुक्तबुद्धिशब्देन संविद उक्तौ संविदोऽपि क्षेत्रत्वापत्तिः। न च—बुद्धिशब्दस्य नानार्थत्वम्, न त्वहंकारस्यात्मातिरिक्तार्थकत्वमिति—वाच्यम्, 'दम्भाहंकारसंयुक्ता' इत्यादौ देहे अहंबुद्धौ गर्वे च प्रयोगेण 'गर्वोऽभिमानोऽहंकार' इत्यभिधानेन चाहमर्थवाचित्वनियमाभावात्, तथा चात्मवाच्यहंशब्दोऽस्मच्छब्दसिद्धः, अहंकारशब्दोऽनात्मवाची। तत्पर्यायस्त्वहंशब्दो मान्ताव्ययमिति—चेन्न, मान्तदान्तत्वभेदेनार्थभेदकल्पनमयुक्तम्। सर्वेषामेव तेषां 'अह'मिति प्रतीयमानाहंकारविषयत्वमेव, पर्यायतयैव प्रयोगदर्शनात्। अहंकारातिरिक्तात्मनि प्रयोगस्तु लक्षणया, मान्तदान्तत्वेनानिर्धारिताहंशब्दस्याहंकारे प्रयोगदर्शनस्य नियामकत्वात्। यथा—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यह प्रसङ्ग भी उसी महत्तत्त्व के कार्यभूत अहंकार का ही ग्रहण करने में संगत होता है। उससे विरुद्ध आत्मरूप अहंकारार्थ की कल्पना करने पर "महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' (गी० १३।५) में अहङ्कार-सहचरित बुद्धि भी आत्मस्वरूप ही माननी होगी, तब तो क्षेत्रज्ञरूप आत्मा भी क्षेत्र की कक्षा में संगृहीत हो जायगा, जो कि सर्वथा अनुचित है। यदि कहा जाय कि 'बुद्धि' शब्द नानार्थक है, अतः गीता के इस प्रसङ्ग में अन्तःकरण-विकाररूप बुद्धि का ही ग्रहण होगा, किन्तु 'अहंकार' शब्द आत्मा से भिन्न और किसी अर्थ का वाचक होता ही नहीं, अतः महत्तत्त्व के विकार का ग्रहण 'अहङ्कार' पद से नहीं कर सकते। तो वैसा कहना उचित न होगा, क्योंकि 'अहङ्कार' शब्द आत्ममात्र का वाचक है—ऐसा कोई नियम नहीं, प्रत्युत "दम्भाहंकारसंयुक्ता" (गी० १७।५) इत्यादि स्थलों पर देहगत अहंबुद्धिरूप अर्थ का एवं "गर्वोऽभिमानोऽहंकारः" (अमर०) इत्यादि कोष ग्रन्थों में गर्वरूप अर्थ का वाचक माना गया है। अतः यहाँ यह व्यवस्था माननी पड़ेगी कि 'अस्मत्' शब्द को अह का आदेश होने पर निष्पन्न दकारान्त 'अहम्' शब्द आत्मवाची और मकारान्त अव्ययरूप 'अहम्' शब्द अहंकारात्मक मानस वृत्ति का बोधक होता है।

समाधान—एक ही अहम्' पद में मान्त और दान्त का भेद कर अर्थ-भेद की कल्पना उचित नहीं, क्योंकि उदाहृत सभी 'अहम्' और अहंकार पद समानरूप से अहङ्कार (चिज्जड़-ग्रन्थिरूप अहमर्थ) के ही वाचक माने जाते हैं। दम्भाहंकारसंयुक्ता"—इत्यादि स्थलों पर भी धनजनाभिजन-सम्पन्नतादि का अहंकार भी चिज्जड़-ग्रन्थिरूप ही है, अतः ऐसे सभी लौकिक-वैदिक 'अहम्' शब्दों का पर्यायरूप में प्रयोग देखा जाता है। अहंकार से अतिरिक्त आत्मा में 'अहम्' शब्द का प्रयोग लक्षणा वृत्ति से ही होता है। मान्त और दान्त के भेद से 'अहम्' शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों का वाचक इसलिए नहीं होता कि मान्त-दान्तरूप से अनिर्धारित 'अहम्' शब्द का ही अहंकार

न्यायामृतम्

नात्मधर्मदर्शनं त्वसिद्धं कर्तृत्वादेरात्मधर्मत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। अन्तःकरणधर्मत्वेऽपि गौरोऽहमित्यादौ देहस्येवाहंकर्तेत्यत्राप्यन्तःकरणस्याहमर्थानन्तर्भावेऽपि धर्ममात्रारोपसम्भवाच्च। या तु परकीयाहमर्थे अयमितिधीः सा अहमर्थस्यैव, प्रतिसम्बन्धिभेदेनेदमर्थत्वात्, न त्वहमर्थे, अनात्मांशसद्भावात्। अन्यथा परात्मन्ययमितिधीर्न स्यात्। न च ज्ञानानन्दरूप आत्माहं जानाम्यहं सुखीत्यहमर्थाद् भेदेन भातीति युक्तम्, अहमर्थाश्रितत्वेन प्रतीयमानयोरनयोरात्मत्वायोगात्। अस्याः प्रतीतेर्भ्रान्तित्वे च विरोधात्। न चात्मा सर्वात्मकः, अहमर्थस्त्विदमर्थव्यावृत्त इति वाच्यम्, सर्वात्मकेऽहमर्थे आत्म-

---

अद्वैतसिद्धिः

अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः।
योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम्॥ इति।
सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः।

इत्यत्र लक्षणयाऽहंकारशब्दः आत्मनीति। यत्तु अहमर्थे आत्मानात्मधर्मदर्शनमसिद्धम्, कर्तृत्वादेरात्मधर्मत्वाद्—इति। तत्र कर्तृत्वादेरनात्मधर्मत्वं यथा तथा वक्ष्यामः। ननु—अनात्मधर्मत्वेऽपि कर्तृत्वादेस्तदाश्रयस्याभानेऽपि कर्तृत्वादिकमात्मनि भासताम्, 'गौरोऽह'मित्यत्र शरीरगतगौरत्वमिवेति चेन्न, दृष्टान्तासंपत्तिपत्तेः, तत्रापि देहत्वेनाभानेऽपि गौरत्वमनुष्यत्वादिना तत्प्रतीतेः।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में प्रयोग देखा जाता है।

अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात् परः।
योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे स पितामहम्॥
सोऽहङ्कार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः।

इत्यादि स्थलों पर अहङ्कार से भिन्न चैतन्यरूप अर्थ में प्रयुक्त 'अहम्' पद को लाक्षणिक ही मानना होगा।

यह जो कहा गया कि अहमर्थ में आत्मा और अनात्मा-उभय के धर्मों का व्यवहार न होकर केवल कर्तृत्वादि का व्यवहार होता है, कर्तृत्वादि आत्मा के ही धर्म होते हैं—यह ६८ वें प्रकरण में कहा जायगा, अतः अहङ्कार आत्मस्वरूप ही है। वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि उक्त कर्तृत्वादि धर्म आत्मा के नहीं, अनात्मा के ही हैं—यह अग्रिम प्रकरण में सिद्ध किया जायगा।

शङ्का—यदि यह मान भी लिया जाय कि कर्तृत्वादि अनात्मा के धर्म हैं, तब भी उनके आश्रय का भान न होने के कारण आत्मरूप अहङ्कार में उनका वैसे ही भान हो सकता है, जैसे कि 'अहङ्गौरः'—यहाँ पर शरीरगत गौरत्वादि धर्मों का आत्मा में भान होता है।

समाधान—दृष्टान्त सदैव उभय-सम्मत होता है, किन्तु आपके दृष्टान्त से हम सहमत नहीं, क्योंकि गौरोऽहम्'—यहां पर भी गौरत्व के आश्रयीभूत शरीर का मनुष्यत्वेन भान होता है, आत्मा में शरीररूप धर्मी का तादात्म्याध्यास हो जाने पर ही गौरत्वादि धर्मों का अध्यास होता है, अन्यथा नहीं, किन्तु 'अहं कर्त्ता'—यहाँ पर कर्तृत्व के आश्रय का भान न होने के कारण धर्म्यध्यास सम्भव नहीं, तब धर्माध्यास कैसे होगा? अध्यास के अभाव में कर्तृत्वादि को अनात्मा का अनारोपित धर्म ही मानना होगा।

न्यायामृतम्

जीवेदमर्थव्यावृत्तिधियो भ्रान्तित्वोपपत्तेः। यत्त्वहमर्थोऽनात्मा, अहंप्रत्ययविषयत्वाच्छरीरवदिति। तन्न, त्वन्मतेऽहमर्थान्तर्गताधिष्ठानभूतचितोऽपि तत्प्रत्ययविषयत्वात्।

किं च त्वया ऽऽत्मनो गौरोऽहमित्यनात्मारोपाधिष्ठानत्वं, मा न भूवं भूयासमित्यादिना परमप्रेमास्पदत्वमहमर्थस्य स्वसत्तायां प्रकाशाव्यतिरेकवैधुर्येणात्मनः स्वप्रकाशत्वं चोक्तम्, तत्सर्वमहमर्थस्यानात्मत्वे न युक्तम्। न च प्रेमास्पदात्मैक्यारोपादहमर्थे

अद्वैतसिद्धिः

अनुमानं च–अहमर्थः, अनात्मा, अहंप्रत्ययविषयत्वात्, शरीरवत्। न चाहमर्थान्तर्गताधिष्ठानभूतचितोऽपि तत्प्रत्ययविषयत्वात् तत्र व्यभिचारः, येन रूपेणाहम्प्रत्ययविषयता, तेन रूपेण तस्याप्यनात्मत्वात् स्वरूपेणाहम्प्रत्ययविषयत्वाभावान्न व्यभिचारः। अहमर्थः, आत्मान्यः, अहंशब्दाभिधेयत्वात्, अहंकारशब्दाभिधेयवत्। न चात्रासिद्धिः, पर्यायताया दर्शितत्वात्। न च–त्वयाप्यात्मनो गौरोऽहमित्यनात्मारोपाधिष्ठानत्वं, मा न भूवं भूयासमित्यादिना परमप्रेमास्पदत्वं, अहमर्थस्य स्वसत्तायां प्रकाशाव्यभिचारेणात्मनः स्वप्रकाशत्वं चोक्तम्, तत्सर्वमहमर्थस्यानात्मत्वे न युक्तं स्यादिति—वाच्यम्, इदम इवाधिष्ठानावच्छेदकत्वेनाधिष्ठानत्वोक्तेः। परमप्रेमास्पद-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अहमर्थ की अनात्मता में अनुमान प्रमाण भी हैं—(१) 'अहमर्थोऽनात्मा अहंप्रत्ययविषयत्वात्, शरीरवत्।' [अर्थात् शरीर और इन्द्रियादि में अहं व्यवहार सर्व-सम्मत है—'अहं गच्छामि, अहं पश्यामि। शरीरादि को सभी अनात्मा ही मानते हैं, अतः 'अहम्'—इस प्रकार की प्रतीति की विषयता अनात्म पदार्थों में ही निश्चित है, अतः अहं प्रतीति के विषयीभूत अहङ्कार को अनात्मा की परिधि से बाहर नहीं रख सकते]। 'विशिष्टविषयिणी प्रतीति की विषयता शुद्ध में भी मानी जाती है, अतः अहमाकार वृत्ति-विशिष्ट चैतन्यविषयिणी अहम्प्रतीति की विषयता शुद्ध चैतन्य में रहने पर भी अनात्मता नहीं रहती'—इस प्रकार व्यभिचारोद्भावन उचित नहीं, क्योंकि यहाँ जिस रूप से विषयता होती है, उसी रूप से अनात्मता विवक्षित है, शुद्ध चैतन्य में विषयता नहीं, अपितु विशिष्ट चैतन्य में जिस (विशिष्टत्व) रूप से विषयता मानी जाती है, उस रूप से उसमें अनात्मत्व भी माना जाता है, शुद्धत्व रूप से चैतन्य में न तो विषयता रहती है और न अनात्मता, अतः व्यभिचार सम्भव नहीं।

(२) 'अहमर्थः' आत्मान्यः, मान्ताहंशब्दवाच्यत्वाद्, यथाऽहङ्कारपदाभिधेयम्', [द्वैतवादी अहङ्कार और मान्त अहम् पद की वाच्यता अनात्मवस्तु में मानते हैं, उसमें आत्मान्यत्व भी रहता है, अतः साध्य और साधन की व्याप्ति स्थिर है। यहाँ पक्ष में हेतु असिद्ध नहीं, क्योंकि 'अहम् और अहङ्कार' पदों की पर्यायता (एकार्थकता) दिखाई जा चुकी है, अतः अहम्पदार्थ में अहङ्कार शब्द-वाच्यत्व का रहना निश्चित है।

शङ्का—आप (अद्वैतवादी) अहमर्थ में ही गौरोऽहम्—इस प्रकार गौरत्वादि अनात्मा के अध्यास की अधिष्ठानता, 'मा न भूवम्, भूयासम्'—इत्याद्यनुभव-सिद्ध परम प्रेमास्पदत्व तथा अहमर्थ में प्रकाशाव्यभिचरितसत्ताकत्व रहने के कारण आत्मा में स्वप्रकाशत्व माना है। यह सब कुछ अहमर्थ को आत्मा न मानने पर कैसे संगत होगा ?

समाधान—अवच्छेद्य वस्तु के धर्मों का औपचारिक व्यवहार अवच्छेदक में भी होता है, जैसे 'इदं रजतम्'—यहाँ पर रजतादि के अध्यास का अधिष्ठान वस्तुतः

न्यायामृतम्

तर्कैः, अन्योन्याश्रयात् । अहमर्थप्रेम्णोऽन्यस्यात्मप्रेम्णोऽननुभावाच्च । अहिते हित-बुद्धया प्रेमोत्पत्तावपि अप्रेमास्पदे तदास्पदतारोपस्यादर्शनाच्च । वाचस्पतिना—

समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत् ।
विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत् ॥

अद्वैतसिद्धिः

त्वमहमर्थे आत्मैक्यारोपात् । न चैवमन्योन्याश्रयः, सुषुप्तिकालीनप्रकाशाप्रकाशाभ्यां वैधर्म्येण भेदसाधनात् । न चाहमर्थप्रेम्णोऽन्यस्य प्रेम्णोऽननुभवः, परामर्शसिद्धसुषुप्ति-कालीनताहशप्रेमानुभवस्य सत्त्वात् । न च अहिते हितबुद्ध्या प्रेमोत्पत्तिदर्शनेऽपि अप्रेमास्पदे प्रेमास्पदतारोपो न दृष्ट इति—वाच्यम्, अहमर्थे आत्मैक्यारोपनिबन्धनं प्रेमास्पदत्वम्, न तु स्वाभाविकमिति ब्रूमः, न तु प्रेमास्पदत्वारोपम् । अहमर्थात्मनो-र्भेदेऽपि अहमर्थस्य प्रकाशाव्यभिचारः स्वप्रकाशात्मसंबन्धं विना न घटत इति सोऽपि तत्र प्रमाणमिति नायुक्तिलेशोऽपि ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इदमंशावच्छिन्न चैतन्य है, किन्तु अधिष्ठानता के अवच्छेदकीभूत इदमर्थ में अधिष्ठानता का व्यवहार होता है, वैसे ही 'अहं गौरः' यहाँ पर गौरत्वादि के अध्यास का अधिष्ठान अहमर्थावच्छिन्न चैतन्य है और अधिष्ठानता के अवच्छेदकीभूत अहमर्थ में अधिष्ठानता का गौण व्यवहार हो जाता है। [यद्यपि शुद्ध निरवच्छिन्न चैतन्य में ही अनात्मारोप की अधिष्ठानता होती है, अहमर्थ अधिष्ठानता का अवच्छेदक नहीं होता, तथापि गौरत्वादि के आरोप से पूर्व रहने के कारण अधिष्ठान का उपरञ्जकमात्र होता है, उसमें भी अधिष्ठानता का उपचार सम्भव है] गौण-व्यवहार मात्र से जैसे माणवक वस्तुतः सिंह नहीं हो जाता, वैसे ही चैतन्यगत अधिष्ठानता के गौण व्यवहारमात्र से अहमर्थ चैतन्यरूप नहीं हो सकता। अहमर्थ में जो परमप्रेमास्पदत्व की प्रतीति है—वह भी अहमर्थ में परमप्रेमास्पदीभूत आत्मा की एकता का आरोप होने के कारण है, वास्तविक नहीं। 'अहमर्थ में आत्मगत प्रेमास्पदता का आरोप सिद्ध हो जाने पर अहत्मभेद और आत्म-भेद के सिद्ध हो जाने पर प्रेमास्पदता का आरोप होगा'—इस प्रकार का अन्योऽन्याश्रय दोष यहाँ प्रसक्त नहीं हो सकता, क्योंकि सुषुप्ति में आत्मा का प्रकाश और अहङ्कार का अप्रकाश होने के कारण ही अहमर्थ में आत्म-भेद सिद्ध हो जाता है, उसके लिए प्रेमास्प-दत्वारोप की अपेक्षा नहीं होती। अहमर्थ में प्रेमास्पदत्व का आरोप तभी हो सकता है, जब कि प्रेमास्पदत्व कहीं अन्यत्र प्रसिद्ध हो, किन्तु अहमर्थगत प्रेम से भिन्न और कोई प्रेम प्रसिद्ध ही नहीं'—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि जाग्रत काल में उत्पद्यमान प्रेम-स्मरण के आधार पर सुषुप्ति में वैसा ही प्रेमानुभाव सिद्ध होता है। [यद्यपि इच्छात्मक प्रेमाकार वृत्ति नित्य सिद्ध सुखात्मा में सम्भव नहीं, तथापि यहाँ 'प्रेम' पद से अनौपाधिक स्नेह विशेष विवक्षित है, जो कि नित्य आनन्दात्मा में अनुभूत होता है— 'मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते" (पञ्चद० प्रत्यक्० ८)। अहमर्थ और आत्मा का भेद निश्चित हो जाने पर भी अहमर्थ में प्रकाश का अव्यभिचार यह सिद्ध कर रहा है कि स्वप्रकाश स्वरूप आत्मा के साथ अहमर्थ का तादात्म्याध्यास है, क्योंकि उसके बिना अहमर्थ में प्रकाशाव्यभिचार सम्भव नहीं, अतः अद्वैत मत की निर्णीत प्रक्रिया में किसी प्रकार की अयुक्तता नहीं।

न्यायामृतम्

इत्युक्तत्वेनाध्यस्तान्तःकरणगताप्रेमास्पदत्वस्यैवात्मनि प्रतीत्यापत्तेश्च। त्वद्रीत्या सुखानुभवरूपस्यात्मनः अहं सुखमनुभवामीत्यहमर्थाद् भेदेनैव प्रतीतेश्च। किं च मोक्षे-अहमर्थाभावे आत्मनाशो मोक्ष इति बाह्यमतापत्तिः, प्रेमास्पदस्याहमर्थस्य च त्वन्मतेऽपि

अद्वैतसिद्धिः

न च—समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्।
विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत्॥

इति वाचस्पत्युक्तेरन्तःकरणगताप्रेमास्पदत्वस्यैवात्मनि प्रतीत्यापत्तिरिति—वाच्यम्, किमधिष्ठानगतधर्मस्यारोप्येऽभानमापाद्यते ? आरोप्यगतधर्मस्याधिष्ठाने भानं वा ? नाद्यः, यद्धर्मवत्तया ज्ञायमाने अधिष्ठाने आरोप्यनिवृत्तिस्तस्यैवारोप्येऽभाननियमेन प्रकृते तदभावात्। न द्वितीयः, अधिष्ठानगतधर्मप्रतीत्यविरोधिनः आरोप्यगतस्याधिष्ठाने भाने ।प प्रकृते अविरोधात्। आत्मैक्याध्यासकाल एव प्रेमास्पदत्वसंभवेनारोप्येऽपि अप्रेमास्पदत्वाप्रतीतेः कुतो विषये तत्प्रतीतिः ? यथा इदमिति रजताध्यासकाल एव रजते अनिदन्त्वाप्रतीतिः। यत्तु—कैश्चित् परिह्रियते—सुखानुभवरूपस्यात्मनो अह-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—आचार्य वाचस्पति ने जो यह कहा है—

"समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्।
विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत्॥" (भामती. पृ. २३१)

[अर्थात् समारोपित सर्पादि के भीषणत्वादिरूपों (धर्मों) को लेकर विषयीभूत (अधिष्ठानरूप) रज्जू रूपवती (भीषण) होती है, किन्तु रज्जू के उपादेयत्वादि धर्मों का समन्वय सर्पादि में नहीं होता। सर्वत्र समारोप-स्थल पर अधिष्ठान में समारोपित पदार्थ के सभी धर्म प्रतीत होते हैं]। उसके अनुसार आत्मा में अध्यस्त अन्तःकरण के अप्रेमास्पदत्व की भी प्रतीति होनी चाहिए।

समाधान—आचार्य वाचस्पति की रहस्यपूर्ण उक्ति को लेकर क्या आप (द्वैतवादी) (१) अधिष्ठानगत धर्मों के अध्यस्त में अभान का आपादन कर रहे हैं ? अथवा (२) अध्यस्त पदार्थ के धर्मों की अधिष्ठान में प्रतीति का आपादन ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि अधिष्ठान में जिस धर्म के वैशिष्ट्य-ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति हो जाती है, उसी धर्म का ही अध्यस्त वस्तु में नियमतः अभान होता है, प्रकृत में 'प्रेमास्पदत्व' ऐसा धर्म नहीं, जिसके ज्ञान से अध्यस्त की निवृत्ति हो, अतः अहमर्थ में प्रेमास्पदत्व के अभान का आपादन नहीं किया जा सकता। द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि अध्यस्तगत उन्हीं धर्मों की प्रतीति अधिष्ठान में हो सकती है, जो कि अधिष्ठान-गत धर्मों की प्रतीति के विरोधी नहीं, किन्तु अन्तःकरणगत अप्रेमास्पदत्व की प्रतीति आत्मा में प्रसक्त नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मरूप अधिष्ठानगत प्रेमास्पदत्व की प्रतीति का अप्रेमास्पदत्व विरोधी ही है। दूसरी बात यह भी है कि धर्माध्यास से पहले ही आत्मरूप धर्मी के तादात्म्य का अध्यास होने के कारण अन्तःकरण में प्रेमास्पदत्व ही प्रतीति होता है, अप्रेमास्पदत्व नहीं, अतः अन्तःकरण में अप्रतीयमान अप्रेमास्पदत्व का अध्यास आत्मा में क्योंकर होगा ? जैसे शुक्तिगत इदन्त्व का रजत में आरोप हो जाने के कारण 'अनिदन्त्व' धर्म प्रतीत नहीं होता, वैसे ही आत्मगत प्रेमास्पदत्व का आरोप हो जाने के कारण अन्तःकरण में अप्रेमास्पदत्व का प्रतीत न होना उचित ही है।

न्यायामृतम्

नाशात् । तदन्यस्य शून्यादेस्तन्मतेऽप्यनाशात् । अपि चैवं अहं मुक्तः स्यामितीच्छा न स्यात् ।

नन्वात्मन एवमुक्तिरिष्यते अहङ्कारे तु तदभेदारोपान्मुक्तः स्यामितीच्छा यथा शरीरस्यैव पुष्टीच्छायामप्यात्मनि तदैक्यारोपादहं पुष्टः स्यामितीच्छा यथा आत्मन एव सुखेच्छायामपि तदैक्यारोपाच्छरीरं सुखि स्यादितीच्छेति चेन्न, अन्योऽन्याश्रयस्योक्तेः। तत्र मामभृतं कृधि "ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयास"मित्यादिश्रुतिविरोधाच्च । तत्र

अद्वैतसिद्धिः

मर्थात् भेदेनैव सुखमनुभवामीत्यादौ प्रतीतिः—इति, तन्न, वैषयिकसुखानुभवस्यात्मान्यत्वात् । न च – मोक्षे अहमर्थाभावेनात्मनाशो मोक्ष इति बाह्यमतापत्तिः, प्रेमास्पदस्याहमर्थस्य त्वन्मतेऽपि नाशात् , तदन्यस्य शून्यस्य तन्मतेऽप्यनाशादिति—वाच्यम् ; औपाधिकप्रेमास्पदनाशेन बाह्यमतप्रवेशापत्तौ शरीरनाशेऽपि तदापत्तेः । एतावताहमर्थस्य मुक्त्यनन्वयेऽपि 'मामभृतं कृधि' 'ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासमिति श्रुतिरपि चैतन्यगतमेवामृतत्वं विषयीकरोति, 'अहं पुष्टः स्या'मितीच्छेव स्वसमयावच्छ-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यह जो न्यामृतकार ने कहा है "त्वद्रीत्या सुखानुभवरूपस्यात्मनः अहं सुखमनुभवामीत्यहमर्थाद् भेदेनैव प्रतीतेश्च" अर्थात् अहमर्थ से अत्यन्त भिन्न प्रतीयमान आत्मा का तादात्म्याध्यास अहमर्थ में नहीं हो सकता । वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि विषयजन्य सुख आत्मस्वरूप नहीं माना जाता, अपितु अन्तःकरण की विशेष वृत्ति है, अतः 'सुखमनुभवामि'—इस प्रतीति का विषय नियमतः अहमर्थ से भिन्न आत्मतत्त्व ही नहीं होता. अपितु अन्तःकरण-सम्मिश्रित अहमर्थ भी उक्त अनुभव का विषय हो जाता है ।

शङ्का—अहमर्थ ही मुमुक्षु होता है और आप (अद्वैती) मोक्ष में अहमर्थ का अभाव मानते हैं, तब तो जैसा कि बौद्धादि विज्ञान-सन्तति के उच्छेद को ही अपवर्ग मानते हैं एवं चार्वाक शरीररूप आत्मा का नाश ही मानते हैं—"मृत्युरेवापवर्गः" । वैसे ही प्रेमास्पदीभूत अहमर्थ का आप (अद्वैती) के मत में उच्छेद माना जाता है। अहमर्थ से भिन्न शून्य तत्त्व का नाश बौद्ध भी नहीं मानते ।

समाधान—दो प्रकार की प्रेमास्पदता होती है—(१) मुख्य और (२) गौण । चैतन्यगत प्रेमास्पदता मुख्य और शरीर तथा अन्तःकरणादि में गौण, अतः चैतन्य वस्तु मुख्य आत्मा और शरीरादि गौण आत्मा कहे जाते हैं, मोक्षावस्था में हम मुख्य आत्मा का नाश नहीं मानते, किन्तु बौद्धादि विज्ञान-सन्ततिरूप मुख्य आत्मा का ही नाश मानते हैं, अतः हमारे मत पर बौद्ध मत की छाया का आपादन असंगत है । यदि अहमर्थरूप गौण आत्मा का नाश मान लेने मात्र से हमारे मत की समानता बौद्ध मत से हो सकती है, तब आप (द्वैती) के मत में भी बौद्धादि-मत की समानता कही जा सकेगी, क्योंकि आप भी मोक्ष में शरीररूप गौण अहमर्थ का विनाश मानते हैं । मोक्ष में अहमर्थ का नाश हो जाने पर भी "मामभृतं कृधि" (नारा० उ०) तथा "ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्" (म० ना० उ० १४।७) इत्यादि श्रुतियाँ चैतन्यगत अमृतत्व को ही विषय करती हैं, क्योंकि जैसे 'अहं पुष्टः स्याम्'—यह इच्छा अपने समय विद्यमान शरीर की पुष्टि को विषय करती है, वैसे ही 'विरजा भूयासम्' यह इच्छा अपनी भावी अभावावस्था में विद्यमान आत्मा के विरजत्व (विशुद्धत्व) को

न्यायामृतम्

शरीरं पुष्टं स्यादित्यपीच्छावद् अहं सुखी स्यामित्यपीच्छावच्चेह चिन्मात्रं मुक्तं स्यादितीच्छायाः क्वाप्यदर्शनेन मुक्तेरनिष्टत्वापाताच्च । यः कश्चिदात्मा मुक्तः स्यादितीच्छया च न मुमुक्षुप्रवृत्तिः । ममात्मा मुक्तः स्यादितीच्छा त्वहमर्थस्यैव मुक्तीच्छा । न च स्वतः पुरुषार्थे इच्छा नियंतुं शक्या बौद्धतार्किकादिनियमितेच्छया आत्मनाशसुखनाशादरपि पुमर्थत्वापातात् । किं चाहमर्थो न्तःकरणगर्भितश्चेन्मम मन इति धीर्न स्यात् तदवच्छिन्नस्य पुनः तदनन्वयात् । किं चैवं मनः स्फुरति मनोऽस्तीति ज्ञानादहमिति ज्ञानस्य वैषम्यानुभवो न स्यात् चिदचित्संवलनविषयत्वा-

अद्वैतसिद्धिः

मानशरीरवृत्तिपुष्टिम् । न च—'शरीरं पुष्टं स्या'दिति शरीरमात्रे पुष्टीच्छावद् 'आत्ममात्रं मुक्तं स्या'दितीच्छाया अदर्शनेन मुक्तेरनिष्टत्वापत्तिरिति—वाच्यम् ; इच्छासमये अन्तःकरणाध्याससंभवेन यद्यपि नात्ममात्रगतमुक्तीच्छा, तथापि विशिष्टगतमुक्तीच्छाया एव विवक्षितविवेकेन विशेष्यमात्रगतमुक्तिविषयत्वपर्यवसानात् तस्यामिष्टत्वोपपत्तेः । न चाहमर्थस्यान्तःकरणग्रन्थित्वे 'मम मन इति धीर्न स्यात् ; चिदचिद्ग्रन्थिरहंकारः, अचिन्मात्रमन्तःकरणम् इति भेदेन षष्ठ्युपपत्तेः । न चैवं—'मनः स्फुरति मनोऽस्ती' त्यादिज्ञानादहमिति ज्ञानस्य वैषम्यानुभवो न स्यात् , चिदचित्संवलनविषयत्वाविशेषादिति—वाच्यम् , संवलनं हि न संबन्धमात्रम् , किन्तु तादात्म्येन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ही विषय करेगी ।

शङ्का—जैसे 'शरीरं पुष्टं स्यात्' 'अहं सुखी स्याम्'—इत्यादि अहमर्थ-गर्भित इच्छाओं की प्रसिद्धि के समान 'चैतन्यमात्रं मुक्तं स्यात्'—ऐसी अहमर्थासम्पृक्त इच्छा लोक में प्रसिद्ध नहीं, अतः चैतन्यमात्रगत मुक्ति को इष्ट (इच्छा का विषय) न कह कर अनिष्ट ही कहना होगा ।

समाधान—यद्यपि इच्छा-काल में अन्तःकरण और आत्मा का तादात्माध्यास होने के कारण इच्छा शुद्ध आत्मा और उसकी मुक्ति को विषय नहीं कर सकती है, तथापि विशिष्ट आत्मगत मुक्ति की इच्छा प्राप्ताप्राप्तविवेक-ग्रह के आधार पर चैतन्यरूप विशेष्यगत मुक्ति के विषयता-ग्रहण में वैसे ही पर्यवसित हो जाती है, जैसे कि त्यक्तदण्डी के लिए प्रवृत्त 'दाण्डनमानयेयम्'—यह इच्छा दण्ड रहित केवल भिक्षुकर्मक आनयन को विषय करती है । अतः पर्यवसित विषयता को लेकर शुद्ध आत्मगत मुक्ति में भी इष्टता उपपन्न हो जाती है । यह जो प्रश्न किया कि अहम्' पद यदि चिज्जड़ग्रन्थिरूप अन्तःकरण-गर्भित अर्थ को कहता है, तब वह अपने ही स्वरूपभूत मन में 'मम मनः'—इस प्रकार ममता का बोधक कैसे होगा ? उसका उत्तर यह है कि 'अहम्' पद का वाच्य केवल अन्तःकरण नहीं, अपितु चितात्म्यापत्ति-विशिष्ट अन्तःकरण होता है और केवल जड़ीभूत अन्तःकरण या मन उससे भिन्न होता है, अतः विशिष्ट-शुद्ध का भेद लेकर अहं दण्डी, ममायं दण्डः' के समान षष्ठी (ममता) का व्यवहार बन जाता है ।

शङ्का—यदि मन और अहमर्थ में कोई वस्तु-भेद नहीं, तब मनः स्फुरति', 'मनोऽस्ति'—इत्यादि ज्ञानों से 'अहमस्मि'—इत्यादि ज्ञानों का वैषम्यानुभव नहीं होना चाहिए, क्योंकि दोनों ज्ञान एकमात्र चिज्जड़ के संवलन को ही विषय करते हैं ।

समाधान—यहाँ संबलन का अर्थ सम्बन्धमात्र विवक्षित नहीं, अपितु चैतन्य

न्यायामृतम्

विशेषात् । किं च सर्वाऽपि भ्रान्तिर्द्व्यंशविषया अन्यथा निरधिष्ठानभ्रमापातात् । न चाहमितिबुद्धेर्द्व्यंशत्वमनुभूयते । यदि कल्प्यते तदात्मेति बुद्धेरपि द्व्यंशत्वं कल्प्यताम् । ननु रूप्यं स्फुरति रूप्यमस्तीत्यत्रेवाहंस्फुराम्यहमस्मीति द्व्यंशता भाति

अद्वैतसिद्धिः

प्रतिभासः । स च तत्र नास्तीति विशेषात् ।

ननु—सर्वापि भ्रान्तिर्द्व्यंशविषया; अन्यथा निरधिष्ठानकभ्रमापत्तेः, न च 'अह'मिति बुद्धेः द्व्यंशत्वमनुभूयते । कल्प्यते चेत् , आत्मेति बुद्धेरपि द्व्यंशत्वं कल्प्यतामिति—चेन्न, किमिदं द्व्यंशविषयत्वम् ? अधिष्ठानारोप्यविषयत्वं चेत्तर्हीष्टापत्तिः, अहमर्थमिथ्यात्वस्यैव द्वितीयांशविषयत्वे प्रमाणत्वात् । आत्मेत्यत्र तु द्व्यंशविषयत्वे नैवं प्रमाणमस्ति, येन तथा कल्प्यते । न च द्व्यंशविषयत्वं भिन्नभिन्नप्रकारावच्छिन्नाधिष्ठानारोप्यविषयत्वम् , रजतत्वसंसर्गारोपनिबन्धनेदंरजतमिति प्रतीतौ व्यभिचारात् । न हि रजतत्वेऽपि तत्र कश्चन प्रकारो भासते, रजतादेस्तत्र प्रकारत्वकल्पने मानाभावात् , तत्कल्पनां विनैवोपपत्तेः, तथा कल्पनायामतिप्रसङ्गादप्रयोजकत्वाच्च ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

और जड़ की तादात्म्यापत्ति है, मनोऽस्ति—इस ज्ञान के विषयीभूत अन्तःकरण में चित्तादात्म्यापत्ति नहीं और 'अहमस्मि'—इस ज्ञान के विषयीभूत अन्तःकरण में चित्तादात्म्यापत्ति विवक्षित है, अतः विषय-भेद के कारण उक्त ज्ञानों में वैषम्यानुभूति उपपन्न हो जाती है ।

शङ्का—सभी भ्रान्ति ज्ञान द्व्यंशविषयक होते हैं, अन्यथा अधिष्ठान-रहित भ्रम मानना पड़ेगा । 'अहम्'—यह प्रतीति भी यदि भ्रान्ति है, तब इसमें भी 'इदं रजतम्'—के समान ही दो अंशों का भान क्यों नहीं होता ? यदि वहाँ भी दो अंशो की कल्पना की जाती है, तव 'आत्मा', 'चैतन्यम्'—इत्यादि ज्ञानों में भी दो-दो अंशों की कल्पना करनी पड़ेगी, जो कि सर्वथा अनुचित है ।

समाधान-ज्ञानगत द्व्यंशविषयकत्व से आप का अभिप्राय क्या है ? यदि अधिष्ठान और आरोप्यरूप दो अंशो की विषयता विवक्षित है, तब इष्टापत्ति है, क्योंकि अहम्—यह प्रतीति द्व्यंशविषयक मानी ही जाती है । अहमर्थ का मिथ्यात्व ही वहाँ द्वितीयांश-विषयता का साधक होता है, किन्तु आत्मा या चैतन्यम्—इत्यादि ज्ञानों की द्व्यंशविषयकता में कोई प्रमाण नहीं, कि वहाँ भी द्व्यंश की कल्पना कर लेते । 'घटपटौ'—इत्यादि समूहालम्बन प्रतीति के समान विभिन्न प्रकारावच्छिन्न अधिष्ठान और आरोप्यरूप द्व्यंशविषयत्व की विवक्षा ही नहीं हो सकती, क्योंकि 'अहम्'—इति ज्ञानं विभिन्नप्रकारावच्छिन्नाधिष्ठनारोप्योभयविषयकम्, भ्रमत्वाद्, इदं रजतमितिवत्'—इस अनुमान के दृष्टान्त में साध्य की अप्रसिद्धि है, क्योंकि वहाँ रजतत्व के संसर्ग का आरोप होता है, किन्तु रजतत्व में कोई अन्य प्रकार का भान नहीं होता, रजतत्व में आधेयता सम्बन्ध से रजत प्रकार है—ऐसी कल्पना सम्भव नहीं, क्योंकि उसकी कल्पना के बिना ही रजतत्व में आरोप्यता उपपन्न हो जाती है । वृत्तिता के अनियामक आधेयतादि सम्बन्धो को प्रकारतावच्छेदक सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता, अन्यथा 'गगने शब्दः'—इत्यादि प्रतीति के अनुसार आधेयता सम्बन्ध से गगन की प्रकारता को लेकर गगन को भी अवृत्ति पदार्थ नहीं माना जा सकेगा, अतः रजतत्व में आधेयता सम्बन्ध से रजत के प्रकार होने का कोई नियामक सम्भव नहीं । अथवा

न्यायामृतम्

रूप्यभ्रमे त्विदमंशावच्छिन्नं स्फुरणमधिष्ठानमितीदं रूप्यमितिधीः, इह तु स्फुरणमात्रमधिष्ठानमिति स्फुरामीत्येव धीरिति चेन्न, त्वन्मते भ्रमज्ञानस्याप्यध्यस्तत्वेनाधिष्ठानत्वायोगात्। अहमिच्छामीतिवदहं स्फुरामीत्यहमर्थाद् भिन्नत्वेन भासमानस्य स्फुरणस्य तदैक्यारोपाधिष्ठानत्वायोगाच्च। बाधकेन बाधिष्यमाणस्याध्यस्तधर्मत्वेन भासमानस्य चास्तित्वस्याधिष्ठानत्वायोगाच्च। त्वदभिप्रेतस्याहमित्यत्रैवांशद्वयमित्यस्यासिद्धेश्च। तस्मान्नाहमर्थस्यानात्मत्वे मानम्। आत्मत्वे तु प्रत्यक्षं तावत्।

अनुमानानि च— अहमर्थः मोक्षान्वयी, तत्साधनकृत्याश्रयत्वात्, सम्मतवत्। 'अहमर्थोऽनर्थनिवृत्त्याश्रयः, अनर्थाश्रयत्वात्, सम्मतवत्।' न चासिद्धिः, अहमज्ञः अहं दुःखमनुभवामीत्यबाधितानुभवात्। अनात्मत्वं नाहमर्थनिष्ठं, अनात्ममात्रवृत्तित्वात्

अद्वैतसिद्धिः

यद्वा—अत्रापि 'अहं स्फुरामि' 'अहमस्मी'ति द्वयंशता भात्येव 'रूप्यं स्फुरति' 'रूप्यमस्ती'त्यत्रेव। इयांस्तु विशेषः—यत्तत्र इदंत्वावच्छिन्नस्फुरणमधिष्ठानमिति इदं रूप्यमिति धीः, इह तु स्फुरणमात्रमधिष्ठानमिति स्फुरामीत्येव बुद्धिः। न च भ्रमस्याप्यध्यस्तत्वेनाधिष्ठानत्वायोगः, भ्रान्तोऽसि, स्फुरणं चैतन्यं ब्रूमः, न त्वविद्यावृत्त्यादिकम्। एवं च न प्रत्यक्षमहमर्थस्यात्मत्वे प्रमाणम्।

नाप्यनुमानम्। तथा हि—अहमर्थो, मोक्षान्वयी, तत्साधनकृत्याश्रयत्वात्, संमतवद् इत्यत्र विशेषव्याप्तौ दृष्टान्ताभावः। न हि कृत्याश्रये मोक्षान्वयित्वं क्वचित् संप्रतिपन्नमस्ति। सामान्यव्याप्तेः स्वर्गसाधनकृत्याश्रये ऋत्विजि स्वर्गानन्वयेन व्यभिचारात्। अहमर्थः, अनर्थनिवृत्त्याश्रयः, अनर्थाश्रयत्वात् संमतवदित्यत्र शरीरे व्यभि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जैसे 'रूप्यं स्फुरति', 'रूप्यमस्ति'—इत्यादि प्रतीतियों में 'घटः सन्' के समान रूप्य तथा स्फुरण या सत्तारूप दो अंशो का भान होता है, वैसे ही 'अहं स्फुरामि', 'अहमस्मि—इत्यादि प्रतीतियों में भी अहमर्थ और स्फुरणरूप दो अंशों का भान होता है। 'इदं रजनम्'—इस प्रतीति से इनका केवल इतना अन्तर है कि 'इदं रजतम्—में इदन्त्वावच्छिन्न फुरण अधिष्ठान है और रूप्य स्फुरति—इत्यादि प्रतीतियों में स्फुरणमात्र (अविद्योपहित चैतन्य) अधिष्ठान होता है। 'स्फुरणरूप भ्रम स्वयं अध्यस्त होने से अधिष्ठान नहीं बन सकता'—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि यहाँ 'स्फुरण' पद से चैतन्य वस्तु विवक्षित है, अविद्या-वृत्तिरूप स्फुरण नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि अहमर्थ की आत्मरूपता में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता।

अनुमान प्रमाण से भी अहमर्थ में आत्मत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। न्यायामृतकार ने जो अनुमान दिखाए हैं, उनमें (१) 'अहमर्थो मोक्षान्वयी, मोक्षसाधनकृत्याश्रयत्वात्, सम्मतवत्'—इस अनुमान में विशेष व्याप्ति (यद् यन्मोक्षसाधनकृत्याश्रयः, तत्तन्मोक्षान्वयि) विवक्षित है? अथवा सामान्य व्याप्ति (यद् यत्फलसाधनकृत्याश्रयः, तत्तत्फलाश्रयः)? विशेष व्याप्ति में कोई दृष्टान्त प्रसिद्ध नहीं क्योंकि कृत्य या कर्म के आश्रयीभूत शरीरादि में मोक्षान्वयित्व उभय-सम्प्रतिपन्न नहीं और सामान्य व्याप्ति अध्वर्य्वादि ऋत्विजों मे व्यभिचरित है, क्योंकि उनमें स्वर्गादि फलों के साधनभूत यागादि कर्मों की आश्रयता होने पर भी स्वर्गाश्रयता नहीं मानी जाती। (२) 'अहमर्थः अनर्थनिवृत्त्याश्रयः, अनर्थाश्रयत्वात्, सम्मतवत्'—यह अनुमान शरीर में व्यभिचरित है,

न्यायामृतम्

घटत्ववदित्यादोनि ।' श्रुतयश्च—कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति, स प्राणमसृजत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता" इत्यादौ जगत्कारणे सति प्राणमनस्सृष्टेः प्रागेवाहंत्वोक्तेः । तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मी"त्यत्र चावधारणेन शुद्धात्मनोऽहंत्वोक्तेः । अनवद्यस्य ब्रह्मणोऽहं.मुल्लेखोक्तेः ।

अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः ।
स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः ॥

अद्वैतसिद्धिः

चारः । न च तत्रानर्थाश्रयत्वमसिद्धम्, 'अहमज्ञ' इति प्रतीत्या अहमीव 'स्थूलोऽहमज्ञ' इति प्रतीत्या शरीरेऽपि तत्सत्त्वाद्, अन्यथा असिद्धिप्रसङ्गात् । अनात्मत्वं, नाहमर्थवृत्ति, अनात्ममात्रवृत्तित्वाद्, घटत्ववदित्यत्र कृत्याश्रयावृत्तित्वमुपाधिः । नापि 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि' 'स प्राणमसृजत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता' इत्यादौ जगत्कारणे सति प्राणमनःसृष्टेः पूर्वमहंत्वोक्तेः, 'तदात्मानमेवावेद् अहं ब्रह्मास्मी'त्यवधारणेन शुद्धात्मनोऽहन्त्वोक्तेः, अनवद्यस्य ब्रह्मणोऽहमुल्लेखोक्तेः, 'अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः । स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः ॥' इत्यादौ मोक्षान्वयोक्तेश्चैताः श्रुतयः प्रमाणम्, विशिष्टवाचकस्यैवाहम्पदस्य लक्षणया निष्कृष्टाहंकारचैतन्ये प्रयोगात् । लक्षणाबीज-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि शरीर में अज्ञानादि अनर्थ की आश्रयता होने पर भी अनर्थ-निवृत्ति की आश्रयता नहीं मानी जाती । अज्ञानावस्था में शरीर की सत्ता रहने के कारण 'स्थूलोऽहमज्ञः'—इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर शरीर में अज्ञानरूप अनर्थ की आश्रयता सिद्ध है, किन्तु अज्ञान-निवृत्ति या मोक्ष की अवस्था में शरीर की सत्ता संभावित न होने के कारण शरीर में अनर्थ-निवृत्ति की आश्रयता सम्भव नहीं । यदि शरीर में अज्ञान की आश्रयता नहीं मानी जाती, तब उक्त अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष होता है । (३) 'अनात्मत्वम्, नाहमर्थवृत्ति, अनात्ममात्रवृत्तित्वाद्, घटत्ववत्'—इस अनुमान में 'कृत्याश्रयावृत्तित्व' उपाधि है [कृति (प्रयत्न) के आश्रयीभूत आत्मा की अवृत्तिता घटत्वरूप दृष्टान्त में निश्चित होने से उक्त उपाधि में साध्य की व्यापकता और अनात्मत्वरूप पक्ष में कृत्याश्रयीभूत आत्मा की अवृत्तिता न रहने के कारण साधन की अव्यापकता उक्त उपाधि में घट जाती है] ।

शङ्का—कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यापि" (प्रश्नो० ६।३), "स प्राणमसृजत" (प्रश्नो० ६।४), "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः" (छां० ६।३।२) इत्यादि श्रुतियाँ जगत्कारणीभूत सत्तत्त्व में प्राण और मन की सृष्टि के पूर्व अहन्त्व की सत्ता सिद्ध कर रही है । "तदात्मानमेवावेदहमस्मि" (बृह० उ० १।४।१०) यह श्रुति अवधारणार्थक एवकारादि के द्वारा शुद्ध आत्मा में अहन्त्व एवं निर्दोष ब्रह्म में 'अहम्' का उल्लेख करती है ।

"अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः ।
स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः ॥"

इत्यादि श्रुतियाँ अहमर्थ में मोक्षाश्रयता का प्रतिपादन करती है, अतः उक्त सभी श्रुतियाँ अहमर्थ की आत्मरूपता में प्रमाण हैं ।

न्यायामृतम्

इति श्रुतौ मोक्षान्वयोक्तेश्च । स्मृतयश्च- "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति" इति स्वप्रपन्नमायानिरसनशक्तस्येश्वरस्याहमुल्लेखोक्तेः । अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलस्तथा" इत्यत्राहमर्थस्य मन आदिसर्वकारणत्वोक्तेः । "न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः पर"मित्यत्रानिवृत्त्युक्तेः । वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इत्यत्र सर्ववेदवेद्यत्वोक्तेः । "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर मित्यत्र मुक्तप्राप्यत्वोक्तेः । "अहमात्मा गुडाकेशे"त्यादावात्मत्वाद्युक्तेः । एवं चाहं ब्रह्मास्मि तद्यो हं सो सावित्यादौ परेणापि लक्षणा नाश्रयणीया । तस्मात्—

अज्ञोऽहमित्याद्यध्यक्षात् तदात्मानमिति श्रुतेः ।
अहमात्मेति च स्मृत्याऽहंत्वं शुद्धात्मनः स्थितम् ॥

अहमर्थस्यानात्मत्वभंगः ॥

अद्वैतसिद्धिः

भूताऽनुपपत्तिरुक्ता । एतेन—'मामेव ये प्रपद्यन्ते' इत्यादिस्मृतयोऽपि—व्याख्याताः । अत एव 'तद्योऽहं सोऽसा' वित्यादावपि लक्षणाऽऽश्रयणीया, विशिष्टवाचकत्वेन क्लृप्तस्य विशेष्ये लक्षणाया आवश्यकत्वात् ।

॥ इत्यद्वैतसिद्धावहमर्थस्यानात्मत्वोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—उदाहृत श्रुतिवाक्यों में विशिष्ट आत्मा के वाचक 'अहम्' पद की लक्षणा अहङ्कार रहित शुद्ध चैतन्य में विवक्षित है, न कि अहमर्थ की आत्मरूपता । इसी प्रकार "मामेव ये प्रपद्यन्ते" (गी० ७।१४) इत्यादि स्मृतियों में भी वाच्यार्थ के अन्वय की अनुपपत्ति होने के कारण 'अहम्' पद की शुद्ध चैतन्य में लक्षणा ही की जाती है। अत एव "तद्योऽहं सोऽसौ" (ऐत० उ० २।४।३) इत्यादि श्रुतियों में भी 'अहम्' पद का लाक्षणिक प्रयोग ही माना जाना है, क्योंकि विशिष्ट चैतन्य के वाचक 'अहम्' का विशेष्य मात्र में प्रयोग लक्षणा से ही हो सकता है ।

: ६७ :

कर्तृत्वाध्यासविचारः

न्यायामृतम्

यच्चोच्यते जपाकुसुमस्थं लौहित्यं स्फटिक इव मनस्स्थं कर्तृत्वमात्मन्यध्यस्तम्, न तु तात्त्विकम् आत्मनो निर्विकारत्वात्, सुषुप्तौ बुद्ध्यभावेनाकर्तृत्वदर्शनात्, निर्विकारत्व श्रुत्यादिविरोधाच्चेति। तत्र ब्रूमः—

प्रत्येकं स्फटिके पुष्पे भवेद्रक्तत्वबुद्धिवत्।
चिति बुद्धौ च कर्तृत्वसाक्षात्कारः कदाचन॥

भवितव्यं हि बुद्धिस्थस्य कर्तृत्वस्यात्मन्यारोपे रक्तं कुसुममितिवत् कदाचिन्मनः कर्त्रिति प्रत्यक्षप्रमया, रक्तः स्फटिक इतिवत्कदाचिच्चैतन्यं कर्त्रिति भ्रमेण च। न हि बुद्धिस्थं कर्तृत्वमप्रत्यक्षम्। ननु मनश्चैतन्यात्मनाऽध्यस्तं कुसुमं तु न स्फटिकात्मनेतिवैषम्यमिति चेन्न, अधिष्ठानात्मनाऽनध्यस्तं जपाकुसुमादिस्थानीयमुपाधिं विना

अद्वैतसिद्धिः

ननु—कर्तृत्वं यद्यनात्मधर्मः स्यात्, कथमात्मनि भासेत? न च—जपाकुसुमस्थं लौहित्यं स्फटिक इवान्तःकरणगतं कर्तृत्वमात्मन्यध्यस्ते, न तु तात्त्विकम्, निर्विकारत्वश्रुतिविरोधात्, सुषुप्तौ बुद्ध्यभावे कर्तृत्वदर्शनाच्चेति—वाच्यम्, एवं हि 'रक्तं कुसुम'मितिवत् कदाचिद् मनः कर्त्रिति प्रत्यक्षप्रमा'लोहितः स्फटिक' इतिवत् चैतन्यं कर्त्रिति भ्रमश्च स्यादिति चेन्न, कर्तृत्वविशिष्टान्तःकरणस्य चैतन्यात्मनाध्यासेन न तथा प्रतीतिः, कुसुमस्य तु स्फटिकात्मना नाध्यास इति वैषम्यात्। न च—अधिष्ठाना-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—'कर्तृत्व' यदि अनात्म पदार्थ का धर्म है, तब उसका आत्मा में भान कैसे होता है? यदि कहा जाय कि जैसे जपाकुसुमगत रक्त रूप स्फटिक में अध्यस्त होता है, वैसे ही अन्तःकरणगत कर्तृत्व धर्म आत्मा में अध्यस्त होता है, वास्तविक नहीं, क्योंकि वास्तकि मानने पर आत्मा में वस्तुतः निर्धर्मकता, निर्विकारता और असङ्गता की प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध होता है तथा सुषुप्ति में अन्तःकरण का अभाव होने के कारण आत्मा में कर्तृत्व नहीं देखा जाता, अतः अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर भी यही निश्चित होता है कि कर्तृत्व वस्तुतः अन्तःकरण का धर्म है और आत्मा में उसका अध्यास होता है। तो वह कहना उचित नहीं, क्योंकि कर्तृत्व यदि जपाकुसुपगत रक्त रूप के समान अन्तःकरण का वास्तविक धर्म होता, तब 'रक्तं जपाकुसुमम्' के समान ही कदाचित् 'अन्तःकरणं कर्तृ—ऐसी प्रत्यक्ष प्रमा एवं 'लोहितः स्फटिकः' के समान 'चैतन्यं कर्तृ'—ऐसा भ्रम होना चाहिए, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता, अतः कर्तृत्व को आत्मा का वास्तविक धर्म मानना ही उचित है।

समाधान—जपाकुसुमगत रक्त रूप के समान ही कर्तृत्व अन्तःकरण का ही धर्म और स्फटिक में उक्त रक्त रूपाध्यास के समान ही आत्मा में कर्तृत्व अध्यस्त ही है। इतना अन्तर अवश्य है कि जपाकुसुमरूप धर्मी का स्फटिक में तादात्म्याध्यास नहीं होता, किन्तु कर्तृत्व-विशिष्ट अन्तःकरण का आत्मा में तादात्म्याध्यास होता है, इसी विषमता के कारण 'रक्तं कुसुमम्' के समान 'मनः कर्तृ—ऐसी प्रतीति नहीं होती।

शङ्का—[अध्यास दो प्रकार का अद्वैती मानते हैं—(१) सोपाधिक और (२) निरुपाधिक। 'रक्तः स्फटिकः' 'अहं कर्त्ता'—इत्यादि अध्यास सोपाधिक हैं,

न्यायामृतम्

भीषणत्वादियुक्तसर्पस्य रज्ज्वात्मनेव कर्तृत्वादियुक्तबुद्धेः चिदात्मनाऽध्यासे रज्जौ भीषणत्वान्तरस्यैवात्मनि कर्तृत्वान्तरस्यानध्यासेन तदध्यासस्य सोपाधिकत्वा

अद्वैतसिद्धिः

त्मनाऽनध्यस्तजपाकुसुमस्थानीयमुपाधिं विना भीषणत्वादियुक्तसर्पस्य रज्ज्वात्मनेव कर्तृत्वादियुक्तबुद्धेश्चिदात्मनाध्यासे रज्जौ भीषणत्वान्तरस्येवात्मनि कर्तृत्वान्तरस्यान-ध्यासेन सोपाधिकत्वं न स्यादिति—वाच्यम्, आत्मनि कर्तृत्वान्तरस्यैवाध्यासात्। न च तर्हि कर्तृत्वद्वयस्य विविच्य प्रतीतिः स्यात्, आत्मान्तःकरणयोरैक्याध्यासात्। रज्जुसर्पादौ अध्यस्यमानक्रूरत्वादिविशिष्टसर्पापेक्षया अधिकसत्ताकस्य सर्पान्तरस्य संभवेन नायमुपाधिः, अतो निरुपाधिकत्वम्। अत्रत्वध्यस्यमानान्तःकरणापेक्षया कर्तृत्वादिधर्मविशिष्टमन्यदधिकसत्ताकं नास्त्येवेति अन्तःकरणमत्रोपाधिरिति न

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

क्योंकि यहाँ जपाकुसुमरूप उपाधिगत रक्त रूप ही स्फटिक में प्रतिविम्बित माना जाता है, उससे भिन्न द्वितीय रक्त रूप की उत्पत्ति नहीं मानी जाती, जैसा कि पञ्चपादिकाकार ने कहा है—स्फटिकमणावुपधानोपराग इव चिदात्मन्यप्यहङ्कारोपरागः" (पञ्च० पृ० १०२)। 'अयं सर्पः' इत्यादि निरुपाधिक अध्यासों में सर्पादिगत भीषणत्व की अपेक्षा भिन्न द्वितीय भीषणत्वादि की रज्जु में उत्पत्ति मानी जाती है]। 'रक्तः स्फटिकः, 'अहं कर्त्ता'—इत्यादि स्थलों पर स्फटिकादिरूप अधिष्ठान और जपाकुसुमादिरूप उपाधि का तादात्म्याध्यास मानना आवश्यक है, अन्यथा जैसे 'अयं सर्पः'—इत्यादि निरुपाधिक अध्यासो में रज्ज्वादि और भीषणत्वादि-युक्त सर्पादि का तादात्म्याध्यास हो जाने पर सर्पगत भीषणत्व की अपेक्षा अन्य भीषणत्व की रज्जु में उत्पत्ति मानी जाती है, वैसे कर्तृत्वादि-युक्त अन्तःकरण और चिदात्मा का तादात्म्याध्यास हो जाने पर आत्मा में द्वितीय कर्तृत्वादि की उत्पत्ति नहीं मानी जाती, अतः 'रक्तः स्फटिकः' और 'अहं कर्त्ता—इत्यादि अध्यास सोपाधिक भी न हो सकेंगे।

समाधान—'अहं कर्त्ता'—यह अध्यास 'अयं सर्पः' के समान ही निरुपाधिक माना जाता है और अन्तःकरणगत कर्तृत्व की अपेक्षा भिन्न कर्तृत्व की ही आत्मा में उत्पत्ति मानी जाती है, [जैसा कि पञ्चपादिकाकार ने कहा है—"अन्तःकरणोपराग-निमित्तं मिथ्यवाहंकर्तृत्वमात्मनः स्फटिकमणेरिवोपधानमित्तो लोहितिमा" (पञ्च० पृ० १००)। यहाँ स्फटिकगत लौहित्य के समान आत्मगत कर्तृत्व में मिथ्यात्वोक्ति से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि जैसे जपाकुसुमगत सत्य लौहित्य से भिन्न स्फटिक में मिथ्या लौहित्य उत्पन्न होता है, वैसे ही अहङ्कारगत सत्य कर्तृत्व से भिन्न आत्मा में मिथ्या कर्तृत्व उत्पन्न होता है]। यदि 'कर्तृत्व' धर्म सत्य और मिथ्या—दो प्रकार का होता है, तो दोनों की पृथक्शः प्रतीति क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्मा और अन्तःकरण—दोनों का तादात्म्याध्यास हो जाने के कारण दोनों 'कर्तृत्व' धर्मों की पृथक् प्रतीति नहीं होती। रज्जु-सर्पादि स्थलों पर रज्जु में अध्यस्यमान भीषणत्वादि-विशिष्ट प्रातिभासिक सर्प की अपेक्षा अधिकसत्ताक (व्यावहारिक) सर्प सम्भावित होने के कारण उपाधि नहीं माना जाता, अतः ऐसे अध्यासों को निरुपाधिक कहा जाता है, किन्तु 'अहं कर्त्ता'—इस अध्यास में अध्यस्यमान अन्तःकरण की अपेक्षा कर्तृत्वादि धर्म-विशिष्ट पदार्थान्तर न होने के कारण अन्तःकरण

न्यायामृतम्

योगात्। मनो न स्फुरणम्, किं तु स्फुरतीति तयोर्भेदधीदशायामपि प्रत्येकं कदापि कर्तृत्वाप्रतीतेश्च। इदं सर्पयोः शरीरात्मनोश्चाभेदग्रहणदशायामप्ययं भीषणः सर्पो भीषणः अहं गौरः शरीरं गौरमितिवत् मनश्चितोरभेदग्रहदशायामपि स्फुरणं कर्तृ, मनः कर्त्रितिधीप्रसंगाच्च। न चोपाधेरधिष्ठानात्मनाऽध्यासेऽप्युपाधेस्तद्धर्मस्य वाऽधिष्ठानसमसत्ताकत्वं वा ऽध्यस्यमानादधिकसत्ताकत्वं वा सोपाधिकत्वे तन्त्रमिति वाच्यम्, आद्ये त्वन्मते बुद्धेस्तत्कर्तृत्वस्य च चित्समसत्ताकत्वाभावेन सोपाधिकत्वायोगात्।

अद्वैतसिद्धिः

सोपाधिकत्वानुपपत्तिः। न च—एवमपि मनो न स्फुरणम्, किंतु स्फुरतीति तयोर्भेदधीदशायां प्रत्येकं 'रक्तं कुसुमं' 'स्फटिको रक्तः' इतिवत् 'मनः कर्तृ' 'चैतन्यं कर्त्रिति प्रतीत्यापत्तिरिति—वाच्यम्, तादात्म्यारोपविरोधिभेदग्रहस्यैव तत्प्रयोजकत्वात्, प्रकृते च तदभावात्। यत्त्वभेदग्रहदशायामपि 'अयं भीषणः सर्पो भीषणः, अहं गौरः शरीरं गौरमितिवत् 'मनः कर्तृ' 'चैतन्यं कर्त्रिति प्रतीतिः स्यादिति, तन्न, तादात्म्यग्रहस्यैव प्रतिबन्धकस्य सत्त्वेन दृष्टान्तस्यैवासंप्रतिपत्तेः।

यदपि सोपाधिकत्वे तन्त्रत्वेनाधिष्ठानसमसत्ताकत्वमुपाधेः तद्धर्मस्य वा, अध्यस्यमानापेक्षयाधिकसत्ताकत्वं वा तयोरिति पक्षद्वयमुद्भाव्य प्रकृते तद्द्वयं न संभवतीति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

को उपाधि माना जाता है, अतः इस अध्यास में सोपाधिकत्व की अनुपपत्ति भी नहीं।

शङ्का—जैसे जपाकुसुम में स्फटि की तादात्म्यापत्ति न होकर स्फटिक का भेद प्रतीत होता है, वैसे ही मन में चैतन्य या स्फुरण की तादात्म्यापत्ति नहीं, अपितु स्फुरण का भेद ही प्रतीत होता है—'मनो न स्फुरणं किन्तु मनः स्फुरति' अर्थात् मन स्फुरणरूप नहीं, अपितु स्फुरण का कर्त्ता है। अतः जैसे 'जपाकुसुमं रक्तम्', स्फटिको रक्तः'—इस प्रकार दोनों में रक्तिमा प्रतीत होती है, वैसे ही 'मनः कर्तृ, चैतन्यं कर्तृ'—ऐसी द्विधा कर्तृत्वविषयिणी प्रतीति होनी चाहिए।

समाधान—'जपाकुसुमं स्फटिकाद् भिन्नम्'—इस प्रकार का जैसा भेद ग्रह होता है, वैसा भेद-ग्रह स्फुरण और मन का नहीं होता। उक्त भेद-ग्रह ही तादात्म्यापत्ति का विरोधी एवं द्विधा धर्म-प्रतीति का कारण होता है, प्रकृत में वैसा भेद-ग्रह न होने के कारण 'मनः कर्तृ', 'चैतन्यं कर्तृ'—इस प्रकार की द्विधा प्रतीति नहीं होती।

यह जो न्यायामृतकार ने कहा है कि जैसे इदमादि अर्थ और सर्पादि का अभेद-ग्रह रहने पर भी 'अयं भीषणः', 'सर्पो भीषणः'; 'अहं गौरः, शरीरं गौरम्'—इस प्रकार द्विधा भीषणत्वादि धर्मों की प्रतीति होती है, वैसे ही मन और चैतन्य का अभेद-ग्रह रहने पर भी 'मनः कर्तृ', 'चैतन्यं कर्तृ'—इस प्रकार पृथक्-पृथक् प्रतीति होनी चाहिए। न्यायामृतकार का वह कहना उचित नहीं, क्योंकि दृष्टान्त में पृथक्-पृथक् प्रतीति तभी मानी जाती है, जब कि भेदज्ञान का प्रतिबन्धक तादात्म्य-ग्रह न हो, तादात्म्य-ग्रह-काल में अयम् और सर्प का अहं और शरीर का भेद-ग्रह ही नहीं रहता, अतः भिन्न-भिन्न धर्मों की प्रतीति सम्भव नहीं—इस प्रकार प्रदर्शित दृष्टान्तों से पूर्ववादी का मत समर्थित नहीं होता।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि जिस अध्यास में उपाधि और उसके धर्म अधिष्ठानसमसत्ताक अथवा अध्यस्यमान पदार्थ की अपेक्षा अधिकसत्तावाले होते हैं, उसको ही अद्वैती सोपाधिक कहा करते हैं, किन्तु 'अहं कर्त्ता'—इस अध्यास में उक्त दोनों बातें

न्यायामृतम्

द्वितीये बुद्धिगतकर्तृत्वस्य पारमार्थिकताया वा आत्मस्थकर्तृत्वस्य प्रातिभासिकताया वा प्रसंगात्। उभयत्रापि नीरे क्षीरत्वाध्यासस्यापि सोपाधिकत्वापाताच्च। एतेन कर्तृत्वं बुद्धिगतमहमर्थेऽहमर्थगतं वा ऽऽत्मन्यध्यस्यते ततश्चैतन्यं कर्त्रिति मनः कर्त्रिति च प्रतीत्यभावो युक्त इति निरस्तम्। आद्ये आत्मन्यारोपितस्याप्यनर्थाभावेन बुद्धेरेवाहमर्थस्यैव वा बन्धमोक्षापातात्। द्वितीयेऽहमर्थस्थे नानध्यस्तकर्तृत्वेनैवाहं कर्तेति प्रतीत्युपपत्त्या आत्मनि तदध्यासासिद्धेः। किं च मनसः कर्तृत्वेऽपि करणत्वप्रसिद्धिविरोधः।

अद्वैतसिद्धिः

दूषणाभिधानम्, तदनुक्तोपालम्भनम्, यदन्वयव्यतिरेकानुविधायितया यत्प्रतीयते तदपेक्षया अधिकसत्ताकतद्धर्माश्रयान्तराभावस्यैव सोपाधिकत्वे तन्त्रत्वात्। न चैवं क्षीरसंपृक्तनीरैक्याध्यासनिबन्धनक्षीरधर्मप्रतीतिः सोपाधिकी स्यात्, तस्याः सोपाधिकत्वे इष्टापत्तेः। ननु—बुद्धिगतं कर्तृत्वं किमहमर्थे, अहमर्थगतं वात्मनि अध्यस्यते। आद्ये आरोपितस्याप्यनर्थस्यात्मन्यभावे तस्य बन्धमोक्षानधिकरणत्वापत्तिः, द्वितीये अनध्यासेनैव 'अहं कर्तेति प्रतीत्युपपत्तौ किमध्यासेनेति चेन्न, अहंकारस्तु चिदचिद्ग्रन्थिरूपतया द्व्यंशः। तत्राचिदंशे बुद्धौ कर्तृत्वसत्त्वेऽपि तद्विशिष्टाया बद्धेश्चित्यैक्याध्यासं विना 'अहं कर्तेति प्रतीतेरयोगेनाध्यासस्यावश्यकत्वात्। एतेन—आरोपितकर्तृत्वस्याप्यभावे आत्मनो बन्धमोक्षानधिकरणत्वं स्यादिति—निरस्तम्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं, अतः इसे सोपाधिक नहीं माना जा सकता। वह कहना भी अनुक्तोपालम्भन मात्र है, क्योंकि हम उक्त दोनों प्रकारों को सोपाधिकता का प्रयोजक नहीं मानते, अपितु जिस वस्तु के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान करता हुआ जो पदार्थ प्रतीत होता है, उस वस्तु की अपेक्षा अधिकसत्ताक अन्य धर्मी जहाँ नहीं होता, उसे सोपाधिक माना जाता है। प्रकृत में अध्यस्यमान कर्तृत्व धर्म का वैसा आश्रयान्तर नहीं, अतः यह सोपाधिक अध्यास है। 'इस प्रयोजक के अनुसार क्षीर-मिश्रित नीर का तादात्म्याध्यास होने के कारण क्षीर के धर्म प्रतीत होते हैं, अतः नीर-क्षीराध्यास को सोपाधिक मानना होगा'—ऐसा आक्षेप हमें अभीष्ट ही है।

शङ्का क्या बुद्धिगत कर्तृत्व अहमर्थ में अध्यस्त माना जाता है? अथवा अहमर्थगत कर्तृत्व का आत्मा में अध्यास माना जाता है? प्रथम पक्ष मानने पर आत्मा न तो बन्ध का आश्रय होता है और न मोक्ष का, क्योंकि आरोपित कर्तृत्वरूप बन्धन आत्मा में नहीं माना जाता। द्वितीय पक्ष में अध्यास के बिना ही अहं कर्त्ता'—इस प्रकार की प्रतीति बन जाती है, तब अध्यास की क्या आवश्यकता?

समाधान -अहङ्कार चिज्जड़-ग्रन्थिरूप अंशद्वय का संवलन माना जाता है, जैसा कि पञ्चपादिकाकार ने कहा है—सम्भिन्नोभयरूपत्वाद् ग्रन्थिरिव भवतीति अहङ्कारो ग्रन्थिरिति गीयते'' (पञ्च० पृ० १०२)। उसके जड़रूप अन्तःकरण में कर्तृत्व होने पर भी कर्तृत्व-विशिष्ट अन्तःकरण के आत्मा में अध्यास के बिना अहं कर्त्ता'—ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती, अतः अध्यास की आवश्यकता होती है। इस प्रकार आरोपित कर्तृत्व के अभाव को लेकर जो दोष दिया जाता था, वह निरस्त हो जाता है, क्योंकि आत्मा में आरोपित कर्तृत्व माना ही जाता है।

न्यायामृतम्

अपि च कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादि'' त्यधिकरणे त्वयापि सांख्यरीत्या बुद्धेः कर्तृत्वे प्राप्ते जीवस्येति सिद्धान्तितत्वेन तद्विरोधः। बुद्ध्यात्मनोरविवेकस्य सांख्य मतेऽपि सत्त्वात्। किं च

बन्धस्य तदपायेन कृतेस्तत्फलभाक्तया।
सामानाधिकरण्याच्च न बुद्धेः कर्तृता मता ॥

अद्वैतसिद्धिः

न च 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादि'त्यधिकरणे त्वयाऽपि साङ्ख्यरीत्या बुद्धेः कर्तृत्वे प्राप्ते, जीवस्यैवेति सिद्धान्तितत्वेन विरोधः ? न चाविवेकनिबन्धनं जीवनिष्ठत्वम्, अविवेकस्य साङ्ख्यमतेऽपि सत्त्वादिति—वाच्यम्. बुद्धेरेव कर्तृत्वम्, भोक्तृत्वं चैतन्यस्येति पूर्वपक्षं कृत्वा कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरैकाधिकरण्यनियमेन भोक्तृत्ववत् कर्तृत्वमप्यङ्गीकर्तव्यमित्युक्तम्, न तु बुद्धेः अकर्तृत्वं आत्मनो वा स्वाभाविकं कर्तृत्वमिति। 'यथा च तक्षोभयथा' इत्युत्तराधिकरणे पूर्वाधिकरणोक्तस्यात्मकर्तृत्वस्य स्वाभाविकत्वपूर्वपक्षे औपाधिकत्वस्य स्थापितत्वात्। अतो न तदधिकरणविरोधः।

यदपि बुद्धेः कर्तृत्वे करणत्वं कथमिति ? तदप्ययुक्तम्, अन्यत्र कर्त्र्या एव बुद्धेरुपलब्धिं प्रति करणत्वोपपत्तेः। न च -कर्तृत्वाद्यनर्थरूपबन्धस्य बुद्धिगतत्वेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—"कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" (ब्र० सू० २।३।३३) इस अधिकरण में आप (अद्वैतवादी) ने साङ्ख्य की रीति से प्राप्त बुद्धि में कर्तृत्व का निरास कर जीव में ही जो कर्तृत्व माना है, उससे विरोध होता है, क्योंकि आप यहाँ जीव में वस्तुतः कर्तृत्व नहीं मानते। यदि आप अविवेक-निबन्धन जीव में कर्तृत्व मानते हैं, तब सांख्य भी अविवेक-निबन्धन ही बुद्धि में कर्तृत्व मानता है, वास्तविक नहीं, अतः उसका निरास क्यों ?

समाधान--बुद्धि में ही कर्तृत्व और चैतन्य में भोक्तृत्व होता है इस प्रकार पूर्व पक्ष प्रस्तुत कर यह सिद्धान्त किया गया है कि कर्तृत्व और भोक्तृत्व नियमतः समानाधिकरण होते हैं, अतः आत्मा में भोक्तृत्व के समान कर्तृत्व भी मानना चाहिए—ऐसा सिद्धान्त स्थिर किया गया है, न कि बुद्धि में अकर्तृत्व और आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व, क्योंकि "यथा च तक्षोभयथा" (ब्र. सू. २।३।४०) इस अधिकरण में पूर्वाधिकरण-कथित जीवगत कर्तृत्व की स्वाभाविकता का सन्देह उठाकर औपाधिक कर्तृत्व स्थापित किया गया है [भाष्यकार कहते हैं --न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मनः सम्भवति, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्...तक्षा हि तक्षणादि व्यापारेष्वपेक्ष्यैव प्रतिनियतानि करणानि वास्यादीनि कर्त्ता भवति, स्वशरीरेण त्वकर्त्तैव। एवमयमात्मा सर्वव्यापारेष्वपेक्ष्यैव मन आदीनि करणानि कर्त्ता भवति, स्वात्मना त्वकर्त्तैव" (शां. भा. पृ० ६१७)]। अतः उक्त अधिकरण से कोई विरोध उपस्थित नहीं होता।

यह जो प्रश्न उठाया गया है कि अन्तःकरण यदि कर्त्ता है, तब वह करण क्योंकर होगा ? उसका उत्तर यह है कि एक ही क्रिया का कर्तृत्व और करणत्व किसी एक पदार्थ में नहीं बन सकता, "किन्तु विज्ञानं यज्ञं तनुते" (तै० उ० २।५) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार अन्य लौकिकालौकिक क्रियामात्र का कर्त्ता होने पर भी उपलब्धि या फलाभिव्यक्ति के प्रति अन्तःकरण में करणता उपपन्न हो जाती है।

शङ्का—कर्तृत्वादि अनर्थरूप बन्ध यदि बुद्धि में है, तब मोक्षाश्रयता भी उसी में

न्यायामृतम्

तथा हि—कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनर्थरूपो बन्धो बुद्धिगतश्चेत् ततो मोक्षोऽपि तद्गतः स्याद्, बन्धमोक्षयोः सामानाधिकरण्यात्। अज्ञानमपि हि दुःखादिभोगद्वारैवानर्थः। न च बुद्धिगतं सत्यं भोक्तृत्वादिकं नानर्थः, किं तु तदुपाधिकं मिथ्या भोक्तृत्वादिकमिति वाच्यम्, एतत्कल्पनायाः कर्तृत्वाध्याससिद्ध्यधीनत्वेनान्योन्याश्रयात्। मोक्षस्य सत्यस्यैव पुरुषार्थत्ववद् भोक्तृत्वादिरूपबन्धस्यापि सत्यस्यैवानर्थत्वाच्च। तदुक्तं वार्तिके बौद्धं प्रति—

> न हि स्वप्नसुखाद्यर्थं धर्मे कश्चित्प्रवर्तते।
> यादृच्छिकत्वात्स्वप्नस्य तूष्णीमास्येत पण्डितैः॥ (श्लो.वा. पृ. २२०) इति।

स्थूलः करोमि स्थूलोऽहं भुञ्जे इत्यादिप्रतीत्या देहस्याप्यनर्थान्वयापाताच्च। नापि बुद्ध्युपाधिकमात्मस्थं भोक्तृत्वादिकमनर्थः, न तु देहस्थमिति वाच्यम्, अनर्थाश्रयस्यात्मनोऽनर्थकोटित्वायोगात्। भ्रमकालेऽहं भोक्तेति प्रमाकाले तु बुद्धिर्भोक्त्रीत्येव

अद्वैतसिद्धिः

मोक्षस्यापि तदन्वयापत्तिः, अनर्थतन्निवृत्त्योरैकाधिकरण्यनियमादिति—वाच्यम्, कर्तृत्वादश्चेतनगततयैवानर्थतया बुद्धेरनर्थानाश्रयत्वात्। न च चैतन्यगतस्यानर्थत्वे चैतन्यस्याप्यनर्थकोटौ निवेशापत्तिः, आत्मसम्बन्धित्वेनैवानर्थस्य हेयत्वेनात्मनोऽपि हेयत्वं सर्वमतेऽपि स्यात्। आरोपितत्वपुरस्कारेणानर्थत्वाभावात् नान्योन्याश्रयः। न च—शुद्धात्मनः कदापि नानर्थाश्रयत्वेन प्रतीतिः, भ्रमकाले अहं भोक्ता प्रमाकाले बुद्धिर्भोक्त्रीति प्रतीतेरिति—वाच्यम्, शुद्धस्य भोक्तृत्वाद्यनर्थानाश्रयत्वेऽपि उपहितस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मान लेनी चाहिए, क्योंकि अनर्थ और अनर्थ-निवृत्तिरूप मोक्ष का सामानाधिकरण्य न्यायोचित है।

समाधान—जैसे विष जब तक सर्प में है, वह घातक नहीं होता, किन्तु अन्य प्राणी में सञ्चरित होकर अनर्थकारी होता है, वैसे ही बुद्धिगत सत्य कर्तृत्व अनर्थ नहीं, अपितु आत्मा में अध्यस्त होकर अनर्थ हो जाता है, अतः बुद्धि अनर्थ का आश्रय ही नहीं मानी जाती कि उसमें मोक्षाश्रयता प्रसक्त होती। यहाँ जो अन्योऽनाश्रय दोष दिया गया है कि आत्मा में कर्तृत्व को अनर्थ क्यों माना जाता है? वह अध्यस्त है और आत्मा में कर्तृत्व अध्यस्त क्यों माना जाता है? वह अनर्थरूप है। वह दोष यहाँ इस लिए प्रसक्त नहीं होता कि आत्मगत कर्तृत्व में अनर्थत्व सिद्ध करने के लिए अध्यास की अपेक्षा नहीं होती, अज्ञान और अज्ञानमूलक धर्ममात्र स्वतः ही अनर्थ होते हैं। चैतन्यगत कर्तृत्व के अहमर्थ होने पर भी आत्मा को अनर्थ-कोटि में नहीं घसीटा जा सकता, क्योंकि ज्वरादि रोग अनर्थ और हेय माने जाते हैं, उनका आश्रय शरीर हेय कोटि में नहीं आता, अन्यथा आत्मगत अज्ञान को सभी अनर्थ मानते हैं, अतः अज्ञान के आश्रय को भी सभी मतों में अनर्थ मानना होगा।

शङ्का—अद्वैतमत में शुद्ध आत्मा ही बन्ध-निवृत्ति या मोक्ष का आश्रय माना जाता है, किन्तु शुद्ध आत्मा में बन्ध कभी प्रतीत नहीं होता, अपितु भ्रम-काल में 'अहं भोक्ता' और प्रमा-काल में 'बुद्धिः भोक्त्री'—ऐसी ही प्रतीति होती है।

समाधान—यद्यपि शुद्ध चैतन्य भोक्तृत्वादि अनर्थ का आश्रय नहीं होता, तथापि भोक्तृत्वादि के आश्रयीभूत उपहित चैतन्य का शुद्ध से तात्त्विक अभेद होने के कार

न्यायामृतम्

प्रतीत्या शुद्धात्मनि कदापि तत्प्रतीतेश्च। अपि च मनसः श्रवणादिकर्तृत्वे तत्फलं मोक्षोऽपि तस्यैव स्यात् "शास्त्रफलं प्रयोक्तरी"ति न्यायेन यस्मिन्साधनकृतिः, तस्यैव फलभाक्त्वाद्, अन्यथा कृतहानाकृताभ्यागमापातात्। जातेष्ट्यापि पित्रर्थपुत्रगतं पूतत्वादिकं तदनुष्ठातुः पितुरेव फलम्, तेन तदुद्देशात्। न चात्रात्मान्तःकरणार्थः येनात्मगतो मोक्षो मनस उद्देश्यः स्यात्। आर्त्विज्यादेरपि दक्षिणैव फलम्।

अद्वैतसिद्धिः

शुद्धात्स्वाभाविकभेदाभावेन बन्धमोक्षसामानाधिकरण्योपपत्तेः। एतेन - बुद्धिः श्रवणादिकर्त्रीति तस्या एव फलं मोक्षोऽपि स्यादिति वाच्यम्, 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरी'ति न्यायाद्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति—निरस्तम्, जातेष्टिपितृयज्ञयोर्व्यभिचारात्। न च पूतपुत्रकत्वं स्वर्गभागिपितृकत्वं वा कर्तृगतमेव फलम्, तस्य फलत्वेनाश्रवणात्। न च तादृकपुत्रकत्वं फलेन सम्बन्धः, न तु फलमिति—वाच्यम्, एवं हि संयुक्तसमवादिना पित्रन्यस्यापि तत्फलं स्यात्, अशास्त्रीयत्वाविशेषात्। न च—पित्रर्थपुत्रगतं पूतत्वादिकं तदनुष्ठातुः पितुरेव फलम्, तेन तदुद्देशात्, न चेहात्मा अन्तःकरणार्थः, येनात्मगतो मोक्षः तस्योद्देश्यः स्यादिति—वाच्यम्, आत्मा यद्यपि नान्तःकरणार्थः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

बन्ध-मोक्ष का सहज सिद्ध सामानाधिकरण्य बन जाता है।

शङ्का—मोक्ष के साधनीभूत श्रवणादि का कर्तृत्व जब बुद्धि में माना जाता है, तब श्रवणादि का फलभूत मोक्ष भी उसी में मानना चाहिए, क्योंकि "शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात्" (जै० सू० ३।७।१८) इस सूत्र में भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि 'साङ्गे कर्मणि कर्ता भवन् फलमाप्नोति'। शास्त्र-प्रतिपादित कर्म का फल कर्त्ता को ही मिला करता है।

समाधान—'बुद्धिः मोक्षाश्रया, मोक्षसाधनकर्तृत्वात्, स्वर्गसाधनानुष्ठातृवत्'—इस अनुमान में ही उक्त शङ्का का पर्यवसान होता है, किन्तु यह अनुमान जातेष्टि और पितृश्राद्धादि कर्मों के कर्त्ता में व्यभिचरित है, क्योंकि जातेष्टि के कर्त्ता पिता में कर्म-जन्य फल न होकर पुत्र में एवं पितृश्राद्धादि-जन्य फल श्राद्ध के कर्त्ता पुत्र में न होकर पितृगणों में माना जाता है। यद्यपि जातेष्टि के द्वारा पुत्र में जो पावनत्वादि फल उत्पन्न होता है, उसका पारम्परिक (पूतपुत्रकत्वरूप) फल कर्म-कर्ता पिता और श्राद्धादि-स्थल पर स्वर्गभागिपितृकत्वरूप फल श्राद्ध के कर्ता पुत्र में ही होता है, तथापि वसा पारम्परिक फल शास्त्र-प्रतिपादित नहीं, शास्त्र केवल इतना ही कहता है कि जातकर्म के अनुष्ठान से पुत्र में पावनत्वादि तथा श्राद्ध कर्म से पितृगण तृप्त और स्वर्गगामी होते हैं। ऐसे फलों का परम्परा (संयुक्तसमवायादि) सम्बन्ध तो पुत्र और पितृगणों से भिन्न पितादि में भी हो सकता है, क्योंकि पूतपुत्रकत्वादि के समान ही संयुक्त-समवायादि सम्बन्धों से उत्पन्न फल भी अशास्त्रीय ही होते हैं, अतः शास्त्रीय कर्म का फल प्रयोक्ता में ही होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, तब बुद्धि-द्वारा अनुष्ठित श्रवणादि का मोक्षरूप फल यदि चैतन्य में होता है, तब विरोध क्या ?

शङ्का—पुत्रगत पूतत्वादि के उद्देश्य से पिता जात कर्म करता है क्योंकि पुत्र में पित्रर्थत्व है और पितृगत स्वर्गगामित्व के उद्देश्य से पुत्र श्राद्ध करता है, अतः वह फल कर्त्ता में ही माना जाता है, अन्यत्र नहीं। किन्तु बुद्धि कभी भी अपने अनङ्गीभूत

न्यायामृतम्

अन्यारोपितमेव वा आत्मारोपितमेव वा कर्तृत्वं फलान्वये तन्त्रमिति चेन्न, निरस्तत्वात्। सत्यकर्तृत्ववत्या बुद्धेः सांसारिकफलभोक्तृत्वापाताच्च। न चोभयं तन्त्रम्, अननुगमात्। अपि च कृतिकर्मत्वकरणत्वादीनां मनसि श्रुतेः बुद्ध्यभावेऽपि कर्तृत्वश्रुतेर्बुद्धेर्न कर्तृता। श्रूयते हि तन्मनोऽकुरुतेत्यादौ मनसः कृतिकर्मत्व तथा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसेत्यादिश्रुतौ शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नर इत्यादि स्मृतौ च करणत्वम्, तथा मन उदक्रामत् मीलित इवाश्नन् पिबन्नास्ते वे"त्यादौ मनस उत्क्रमणेऽप्यात्मनः कर्तृत्वं तथा "एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य" एवं

अद्वैतसिद्धिः

अहमर्थगततया तथापि फलस्योद्देश्यत्वानुभवाद् अहमर्थस्य चात्मानात्मरूपत्वेनात्मन्यपि फले उद्देश्यगतत्वानपायात्। यद्वा—आरोपितानारोपितसाधारणं कर्तृत्वमेव फलभाक्त्वे प्रयोजकम्, तच्चात्मन्यस्त्येव। न च शरीरेऽप्यारोपितकर्तृत्वेन फलभाक्त्वापत्तिः, फलपर्यन्तमसत्त्वेन फलभाक्त्वासंभवात्। न हि कर्तुः फलभाक्त्वनियमं ब्रूमः, किंतु फलभाजः कर्तृत्वनियमम्, अजनितफलकर्मकर्तरि व्यभिचारात्, अप्रयोजकत्वाच्च।

ननु—मनसः कर्तृत्वं न घटते, कृतिकर्मत्वस्य करणत्वस्य च तद्विरोधिनः श्रुत्यादिसिद्धत्वाद्, बुद्ध्यभावेऽपि कर्तृत्वस्य श्रूयमाणत्वाच्च। तथा हि 'तन्मनोऽकुरुते'त्यादौ मनसः कृतिकर्मत्वम् 'शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसे'त्यादिश्रुतौ शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नर इत्यादिस्मृतौ च करणत्वम्, मन उदक्रामन्मीलित इवाश्नन्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

चैतन्यगत मोक्ष के उद्देश्य से श्रवणादि नहीं करती, अतः वह मोक्ष बुद्धि का उद्देश्य क्योंकर बनेगा ?

समाधान—आत्मा यद्यपि अन्तःकरण या बुद्धि का अङ्ग नहीं, तथापि 'अहं मुक्तः स्याम्'—इस प्रकार अहमर्थगत मोक्ष में उद्देश्यता अनुभूत होती है, अहमर्थ चिज्जड़ का संवलनरूप होने के कारण आत्मगत मोक्ष भी उद्देश्य बन जाता है। अथवा सत्य और आरोपित—उभय साधारण कर्तृत्व मात्र फलाश्रयता का प्रयोजक माना जाता है, आत्मा में भी आरोपित कर्तृत्व माना जाता है, अतः उसमें मोक्षाश्रयता का होना अनुचित नहीं। यद्यपि आरोपित श्रवणादि-कर्तृत्व शरीर में भी हो सकता है, तथापि उसमें मोक्षाश्रयता सम्भव नहीं, मोक्ष-पर्यन्त वह टिकाऊ नहीं रहता। भोक्तैव कर्त्ता भवति'—ऐसा ही नियम अभीष्ट है, 'कर्त्तैव भोक्ता भवति'—ऐसा नहीं, क्योंकि किसी प्रतिबन्धक के कारण जिस कर्त्ता में कर्म-फल उत्पन्न नहीं हो सका, उस कर्त्ता में यह नियम व्यभिचरित हो जाता है एवं इस नियम का कोई प्रयोजक तर्क भी नहीं।

शङ्का—मन या अन्तःकरण में कर्तृत्व सम्भव नहीं, क्योंकि कर्तृत्व के विरुद्ध उसमें कृति-कर्मत्व और कृति-करणत्व श्रुति-प्रतिपादित है—"तन्मनोऽकुरुत" (बृह० उ० १।२।१) इस श्रुति के द्वारा मन में कृति-कर्मत्व, "शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा" (बृह० उ० ६।१।८) इत्यादि श्रुतियों और "शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः" (गी० १७।१५) इत्यादि स्मृति-वाक्यों के द्वारा मन में करणत्व प्रतिपादित है और "मन उदक्रामत् मीलित इवाश्नन् पिबन्नास्ते" (एत०उ०१।४।४) इत्यदि श्रुतियां बुद्धि या मन का अभाव होने पर आत्मा में कर्तृत्व का उल्लेख करती हैं, यहां तक कि "परं

न्यायामृतम्

मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य इमांल्लोकान्नी कामरूप्यनुसंचरन्नि''त्यादौ त्वद्रीत्या प्राणाद्यतिक्रमणेऽपि संचरणादिकर्तृत्वं तथा "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण" इत्यादौ स्वरूपाविर्भावरूपपरममुक्तावपि कर्तृत्वम्। अपि च—

अहं करोमीत्यध्यक्षात्फलभाक्त्वादिलिंगतः।
कर्ताऽऽत्मेत्यादिवाक्याच्च स्थितं कर्तृत्वात्मनः॥

न चाहं करोमीत्यादिप्रत्यक्षेण; (१) विमत आत्मा मोक्षसाधनविषयकृतिमान्, तत्फलान्वयित्वात्, सम्मतवत्। (२) अज्ञानं ज्ञानसमानाधिकरणम्, ज्ञाननिवर्त्यत्वात्, ज्ञानप्रागभाववत्। (३) दुःखादिभोगः मोक्षसमानाधिकरणः, बन्धत्वात्सम्मतवदित्याद्यनुमानैः; "कर्ता विज्ञानात्मा यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा आनन्दभुक् तथा प्राज्ञ"इत्यादिश्रुतिभिश्च सिद्धे आत्मनः कर्तृत्वादौ बाधकमस्ति। न च श्रुतिरनुवादः, अहमर्थान्यात्मस्थकर्तृत्वस्य "नामरूपे व्याकरोत्स हि सर्वस्य कर्ते"त्यादि, श्रुत्युक्तेश्वरस्थकर्तृत्वस्य

अद्वैतसिद्धिः

पिबन्नास्ते वेत्यादिश्रुतौ मनउत्क्रमणेऽप्यात्मनः कर्तृत्वम्, तथा परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण इत्यादौ स्वरूपाविर्भावरूपपरममुक्तावपि कर्तृत्वं 'कर्ता विज्ञानात्मा यो वेदेदं जिघ्राणी'ति 'स आत्माऽऽनन्दभुक्तथा प्राज्ञ' इत्यादिश्रुतितश्च कर्तृत्वम्, तथा च बुद्धिर्न कर्त्रीति—चेन्न 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादिश्रुत्या मनसः कर्तृत्वेन स्वकृतिकर्मत्वविरोधेऽपि तत्रेश्वरकृतिकर्मत्वस्य उपलब्धिं प्रति करणत्वस्य चाविरोधाद्, ईश्वरे अविद्यावृत्तिरूपज्ञानेच्छावत् तद्रूपकृतिसंभवात्। न च—विज्ञानपदं ब्रह्मपरम्, 'विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद, तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते।' इत्यादिवाक्यशेषादिति—वाच्यम्, वाक्यशेषोक्तमुमुक्षुज्ञेयशुद्धब्रह्मणो यज्ञकर्तृत्वासंभवेन कर्तृत्वेन प्रतिपाद्यमाने विज्ञाने

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीड़न् रममाणः" (छां. ८।१२।३) आदि श्रुतियां मोक्षावस्था में भी आत्मगत कर्तृत्व का बोध कराती हैं। "कर्त्ता विज्ञानात्मा यो वेदेदं जिघ्रणीति स आत्मा" (छां० ८।१२।४) एवं "आनन्दभुक् तथा प्राज्ञः" (मां० का० १।३) इत्यादि श्रुतियों से भी आत्मा में कर्तृत्व प्रमाणित होता है। फलतः बुद्धि में कर्तृत्व किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता।

समाधान—"विज्ञानं यज्ञं तनुते" (तै. उ०. २।५।१) इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित मनोगत कर्तृत्वादि का स्वकीय कृति-कर्मत्व से विरोध होने पर भी मनोगत ईश्वरीय कृति-कर्मता तथा उपलब्धि-करणता में कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि ईश्वर में अविद्या-वृत्तिरूप ज्ञान और इच्छा के समान अविद्या-वृत्तिरूप कृति भी सम्भव है, उस कृति की कर्मता आकाशादि प्रपञ्च के समान अन्तःकरण में भी होती है।

शङ्का—"विज्ञानं यज्ञं तनुते" (तै. उ०. २।५।१) इस श्रुति में विज्ञान पद ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि "विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद, तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति, शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते" (तै. उ० २।५।१) इत्यादि वाक्य-शेष के द्वारा वैसा ही निश्चित होता है।

समाधान—उक्त वाक्य-शेष में मुमुक्षु-द्वारा ज्ञेय जिस शुद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन है,

न्यायामृतम्

च प्रत्यक्षेणाप्राप्तेः। न च निर्धर्मकत्वं बाधकम्, निर्धर्मकत्वरूपधर्मभावाभावाभ्यां व्याघाताद् ज्ञानत्ववत्, सौषुप्तिकाज्ञानादिसाक्षित्ववत्, बुद्धिं प्रति बुद्ध्यविशिष्टस्य ज्ञातृत्ववच्च। सत्यस्यासत्यस्य वा ज्ञातृत्वादेरप्यात्मन्येव सम्भवाच्च। नापि निष्क्रियत्वं बाधकम्, क्रियाया धात्वर्थत्वे आत्मन्यप्यस्त्यादिधात्वर्थसत्त्वादेः सत्त्वेनासिद्धेः। परिस्पन्दत्वे ज्ञानादीनामपरिस्पंदत्वेनाप्रयोजकत्वात्। नाऽपि निर्विकारत्वं बाधकम्, आकाशस्य संयोगाद्याश्रयत्व इवात्मनोऽज्ञानतद्ध्वंसाद्याश्रयत्व इव च ज्ञानरूपगुणाश्रयत्वेऽपि द्रव्यान्तरत्वापत्तिरूपविकारानापातात्। न च सुषुप्तौ मनसो भावे कर्तृत्वाद्यदर्शनं बाधकम्, तदाऽप्युच्छ्वासादिकर्तृत्वदर्शनात्। सुप्तो भूर्भूरित्येव प्रश्वसिती-"त्यादि श्रुतेश्च। देहादिवन्मनसो निमित्तत्वेनापि तदुपपत्तेश्च। नापि श्रुतिर्बाधिका, विज्ञानं यज्ञं तनुत "इति श्रुतेः विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति, शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुत" इत्यादिवाक्यशेषेण ब्रह्मपरत्वात्, कामः संकल्प "इत्यारभ्य एतत्सर्वं मन एवे' तिश्रुतेः मनसा वा अग्रे संकल्पयती"त्यादिश्रुत्या मनःकरणकत्वपरत्वात्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण" इति श्रुते-

अद्वैतसिद्धिः

ततोऽर्थान्तरत्वनिश्चयाद्, 'अन्नं ब्रह्मेत्युपास्त' इत्येतद्वाक्यसमानयोगक्षेमत्वाच्च। 'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वात् न स पश्यती'त्यादि स्मृतेः 'प्रकृतेः क्रियमाणानी' त्यादिस्मृतेश्च। न चात्मनि स्वातन्त्र्येण कर्तृत्वनिषेधबोधकत्वमनयोः, सामान्यतो निषेधे बाधकाभावात्। अत एव 'ध्यायतीव लेलायतीवे त्यादाविवशब्दः। न चेवशब्दः परतन्त्रप्रभौ प्रभुरिवेतिवत् जीवकर्तृत्वे परतन्त्रतामात्रपरः, तद्वदत्र बाधकाभावात्। न च—बुद्ध्यभावेऽपि आत्मनः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उसमें यज्ञ-कर्तृत्व सम्भव नहीं, अतः यज्ञ-कर्ता ब्रह्म को उससे भिन्न मानना निश्चित है। दूसरी बात यह भी है कि "अन्नं ब्रह्मेत्युपास्त" (तै. उ० २।२।८) इस वाक्य में उल्लिखित अन्न में ब्रह्मरूपता सम्भव नहीं, अतः अन्न में ब्रह्मरूपता की भावना का जैसे प्रतिपादन माना जाता है, वैसे ही विज्ञान (अन्तःकरण) में ब्रह्मरूपता की भावना विहित है। अत एव

"तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।" (गी० ३।२७)

इत्यादि स्मृति-वाक्य आत्मगत-स्वाभाविक कर्तृत्व के बाधक होते हैं। न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि ईश्वर-प्रेरित कर्तृत्व जीव में रहने पर भी स्वतन्त्र कर्तृत्व नहीं माना जाता, उस स्वतन्त्र कर्तृत्व का ही निषेध उक्त स्मृति-वाक्य करते हैं, ईश्वर-तन्त्र कर्तृत्व का नहीं। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि उक्त स्मृति वाक्यों की सामान्यतः कर्तृत्व-निषेधकता में कोई बाधक नहीं। आत्मा में अनारोपित कर्तृत्व न होने के कारण ही "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृह० उ० ४।३।७) इत्यादि श्रुति-वाक्यों में 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'इवोपमायामल्पत्वे'—इत्यादि कोश-वचनों के आधार पर यहाँ 'इव' शब्द अल्पसत्ताक आरोपित कर्तृत्व को ही ध्वनित करता है। 'यद्यपि जीव स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं, तथापि ईश्वर-प्रेरित परतन्त्र कर्त्ता माना जाता है, जैसे परतन्त्र प्रभु

न्यायामृतम्

रात्मनो भोक्तृत्वे देहादिवन्मनसः सहकारितेत्येवंपरत्वात् । ध्यायतीव लेलायतीवे "त्यादिश्रुताविव शब्दस्य परतन्त्रप्रभौ प्रभुरिवेतिवत् जीवस्थकर्तृत्वस्येश्वरतन्त्रत्वपरत्वात् । अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यत" इति स्मृतेरपि जीवे स्वातंत्र्यनिषेधकत्वात् ।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥

इत्यादि वाक्यशेषात् । अन्यथोक्तश्रुत्यादिविरोधात् ।

अद्वैतसिद्धिः

कर्तृत्वश्रवणाद् बुद्धेः कर्तृत्वासंभव इति—वाच्यम् ; बुद्धेः कर्तृत्वे जनकत्वमात्रे वा सर्वथा तस्या जीवनिष्ठत्वेनाभिमतायां कृतावपेक्षणीयत्वेन तदभावे कर्तृत्वबोधकस्य तवापि मते उपचरितार्थत्वात्, निर्धर्मकत्वनिर्विकारत्वनिष्क्रियत्वादिबोधकश्रुतिविरोधाच्च । न च—निर्धर्मकत्वरूपधर्मभावाभावाभ्यां व्याघातात् ज्ञानत्वसाक्षित्वादिवत् सत्यस्यासत्यस्य वा ज्ञातृत्वादेरप्यात्मन्येव संभवाच्च निर्धर्मकत्वश्रुतिर्न श्रूयमाणार्थपरेति—वाच्यम्, निर्धर्मकत्वस्य धर्माभावरूपस्य ब्रह्मस्वरूपानतिरेकेण धर्मत्वाभावेन व्याहत्यभावात् । यच्चासत्यस्य सत्यस्य वा ज्ञातृत्वस्यात्मन्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

को प्रभुरिव कहते हैं, वैसे ही जीवगत कर्तृत्व में पारतन्त्र्य ज्ञापित करने के लिए 'इव' शब्द का प्रयोग है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे उक्त गीता-वाक्यों की सामान्यतः कर्तृत्वाभावपरता में कोई बाधक नहीं, वैसे ही इस 'इव' शब्द की सामान्यतः कर्तृत्वाभावपरता में कोई बाधक नहीं ।

यह जो पूछा गया कि अन्तःकरण का अभाव हो जाने पर आत्मा में जो कर्तृत्व श्रुति-प्रतिपादित है, वह अन्तःकरण का धर्म क्योंकर हो सकेगा ? उसका उत्तर यह है कि अद्वैत-मत में बुद्धि को आत्मगत कर्तृत्व की उपाधि माना जाता है और द्वैत-मत में बुद्धि या ज्ञान को आत्मगत कर्तृत्व (कृति) का जनक माना जाता है, सर्वथा जीवनिष्ठ सत्य अथवा आरोपित कृति में बुद्धि अपेक्षणीय है, अतः बुद्धि के अभाव में कर्तृत्व प्रतिपादक श्रुति को "स आत्मनो वपामुदखिदत्" के समान गौणार्थक मानना आपके लिए भी आवश्यक है । दूसरी बात यह भी है कि आत्मा में निधर्मकत्व निर्विकारत्व और निष्क्रियत्वादि-प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध होने के कारण भी आत्मा में अनारोपित कर्तृत्व नहीं माना जा सकता ।

शङ्का—आत्मगत स्वाभाविक कर्तृत्व के आत्मा में निर्धर्मकत्व प्रतिपादक वाक्य भी बाधक नहीं हो सकते, क्योंकि आत्मा में 'यदि निर्धर्मकत्वरूप धर्म का भाव माना जाता है, तब भी वह गिर्धर्मक नहीं रहता और 'निर्धर्मकत्वरूप' धर्म का अभाव माना जाता है, तब भी आत्मा निर्धर्मक सिद्ध नहीं होता, अतः निर्धर्मकत्व-प्रतिपादक वाक्य स्वयं व्याहत और अस्थिर होने के कारण कर्तृत्व के बाधक क्योंकर होंगे ? अतः ज्ञातृत्व, कर्तृत्वादि चाहे सत्य हों या असत्य आत्मा में ही ज्ञानत्व-साक्षित्वादि के समान रहते हैं और "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता० ६।११) इत्यादि निर्गुणत्व और निर्धर्मकत्व-बोधक श्रुतियाँ मुख्यार्थक नहीं मानी जा सकतीं ।

समाधान—निर्धर्मकत्व का अर्थ धर्माभाव ही होता है, किन्तु धर्माभाव को ब्रह्म का धर्म नहीं, अपितु स्वरूप ही माना जाता है, अतः किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित

न्यायामृतम्

न च कर्तृत्वस्य क्लेशसम्बन्धान्न न श्रुतिस्तत्परा, दर्शपूर्णमासादावप्यतात्पर्यापातात्। लीलादेरुत्साहादेश्च करण एव क्लेशादर्शनाच्च। यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठतीति श्रुत्यैव कर्तृत्वस्य फलसम्बन्धोक्तेश्चेति। कर्तृत्वाध्यासभंगः ॥ ५७ ॥

अद्वैतसिद्धिः

पिसंभव इत्युक्तम्। तदिष्टमेव, न ह्यारोपितमपि कर्तृत्वमात्मनि प्रतिषेधामः। न च—निर्विकारत्वं द्रव्यान्तररूपतया परिणामाभावपरम्, न तु विशेषाकाराभावपरम्, तच्चात्मनः कर्तृत्वादिसत्त्वेऽप्यविरुद्धमिति—वाच्यम्, द्रव्यान्तररूपतया परिणामनिषेधकमपीदं वाक्यं निर्धर्मकश्रुत्यनुसारेण विशेषाकारमात्रस्यैव निषेधपरम्, सामान्यनिषेधेनैव विशेषनिषेधप्राप्तेः। नापि—निष्क्रियत्वे क्रियापरिस्पन्दो ? वा धात्वर्थो वा ? आद्ये इष्टापत्तिः, द्वितीये आत्मन्यपि अस्त्यादिधात्वर्थरूपसत्तादेः सत्त्वेनासिद्धिरिति—वाच्यम्, ब्रह्मण एव सद्रूपत्वेन तत्र सत्तादेरप्यभावात्, क्रियापदस्य कृतिपरत्वाच्च। अत एव मनसोऽभावे सुषुप्तौ कर्तृत्वाद्यदर्शनम्। न च—तदापि श्वासादिकर्तृत्वं दृश्यत

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं होता। यह जो कहा कि सत्य या असत्य ज्ञातृत्व आत्मा में ही सम्भव है, वह हमें भी अभीष्ट है, क्योंकि सत्य कर्तृत्व के समान असत्य या आरोपित कर्तृत्वादि का आत्मा में हम प्रतिषेध नहीं करते।

शङ्का—जैसे आकाश वाय्वादि द्रव्यान्तर के रूप में परिणत होता है, ऐसे द्रव्यान्तर के रूप में परिणत होनेवाले पदार्थ को विकारी और द्रव्यान्तररूप से परिणत न होनेवाले तत्त्व को निर्विकार कहा जाता है, इस प्रकार की निर्विकारता ही आत्मा में कर्तृत्वादि धर्मों के रहने पर भी सम्भव है, अतः निर्विकारत्व-प्रतिपादक श्रुतियाँ भी आत्मगत कर्तृत्व की बाधक नहीं हो सकतीं।

समाधान—"निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः" (अध्यात्मो० २२) इत्यादि वाक्यों में यद्यपि 'निर्विकार' पद द्रव्यान्तर-परिणामाभाव का ही वाचक है, तथापि निधर्मकत्व-प्रतिपादक श्रुतियों के अनुसार विशेषाकार मात्र के निषेध में ही उनका तात्पर्य निश्चित होता है, क्योंकि सामान्य के निषेध में ही विशेष का निषेध भी आ जाता है, अतः कर्तृत्वादि विशेष आकारों का निषेध आत्मा में कर्तृत्व को क्योंकर सिद्ध होने देगा ?

शङ्का—श्रुति-प्रतिपादित निष्क्रियत्व भी आत्मा में कर्तृत्व का बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि निष्क्रियत्व का अर्थ धात्वर्थरूपक्रियारहितत्व विवक्षित है ? अथवा परिस्पन्दरूपक्रिया-शून्यत्व ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि आत्मा में अस्ति-भाति आदि व्यवहार के द्वारा सत्ता-भानादिरूप धात्वर्थ सिद्ध होता है। द्वितीय पक्ष में इष्टापत्ति है, क्योंकि परिस्पन्दत्व को न तो कर्तृत्व का प्रयोजक माना जाता है और न परिस्पन्दत्वाभाव को कर्तृत्व का प्रतिबन्धक, क्योंकि सर्वत्र व्यापक परमेश्वर में किसी प्रकार का परिस्पन्दन न होने पर भी जगत्कर्तृत्व माना जाता है।

समाधान—सत्तादिरूप धात्वर्थ क्रिया भी आत्मा में नहीं मानी जाती, आत्मा सद्रूप होता है, न कि सत्तावान्। दूसरी बात यह भी है कि यहाँ 'क्रिया' पद से कृति (प्रयत्न) विवक्षित है, जो कि मन का ही व्यापार है, अत एव सुषुप्ति में मन का अभाव होने पर कर्तृत्व नहीं माना जाता है। न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि

अद्वैतसिद्धिः

एव सुषुप्तौ 'भूर्भूरित्येव प्रश्वसिनो'ति श्रुतेरिति—वाच्यम्, 'न तु द्वितीयमस्ती'त्यादिश्रुत्या तं प्रति श्वासस्यैवाभावेन तत्कर्तृत्वस्य सुतरामसंभवात्। यद्वा—क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राणात्मकस्यान्तःकरणस्य तदापि सत्त्वेन तदुपाधिककर्तृत्वस्य तदापि सत्त्वात्। तथा च श्रुतिरन्यपरा। दर्शनं च द्रष्टृविद्याकल्पितश्वासादिविषयम्। इदं च दृष्टिसृष्टिवाद एव समर्थितम्। 'कामः संकल्पः इत्यारभ्य 'ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवे' त्यन्ता श्रुतिरपि मनसः कर्तृत्वपरा, न तु मनसो निमित्तत्वपरा। न च—'मनसा वा अग्रे संकल्पयती'त्यादिश्रुत्या 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण' इत्यादिश्रुत्या च मनसः करणत्वमिति-वाच्यम्, मनोव्यतिरिक्तस्य संकल्पानाश्रयत्वेन 'मनसा वा' इति श्रुतेरुपचरितार्थत्वात्।

नापि (१) आत्मा, मोक्षसाधनविषयकृतिमान्, तत्फलान्वयित्वात्, संमतवत्, (२) अज्ञानं, ज्ञानसमानाधिकरणम्, ज्ञाननिवर्त्यत्वात् ज्ञानप्रागभाववत्, (३) दुःखादिभोगः, मोक्षसमानाधिकरणः बन्धत्वात्, संमतवदित्याद्यनुमानैरात्मनः कर्तृत्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

"देवाः परमात्मानं भूरित्युपासाञ्चक्रुः, तस्माद्धैतर्हि सुप्तः पुरुषो भूर्भूरित्येव प्रश्वसिति"—इत्यादि श्रुतियों से श्वास-प्रश्वास-कर्तृत्व आत्मा में सिद्ध है। वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि "न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृह० उ० ४।३।२३) इस श्रुति से यह प्रमाणित होता है कि सुषुप्त आत्मा के प्रति श्वासादि द्वैत-प्रपञ्च रहता ही नहीं, उसका वह कर्त्ता कैसे बनेगा ? अथवा क्रिया शक्ति की जिस अन्तःकरण में प्रधानता होती है, उसे ही प्राण कहा जाता है, वह सुषुप्ति काल में भी रहता है, अतः अन्तःकरणोपाधिक कर्तृत्व आत्मा में उपपन्न हो जाता है और उक्त (भूर्भूरित्येव प्रश्वसिति) श्रुति का उपासना की प्रशंसा में ही तात्पर्य है, वस्तु-स्थिति के प्रतिपादन में नहीं। सुषुप्त पुरुष के श्वासादि का दर्शन जो अन्य पुरुषों को होता है, वह उनकी अपनी अविद्या से कल्पित श्वासादि को विषय करता है। यह समर्थन दृष्टि-सृष्टि वाद में किया जा चुका है। "कामः संकल्पः'—यहाँ से लेकर 'ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' (बृह० उ० १५।३) यहाँ तक का श्रुति-भाग भी मनोगत कर्तृत्व का प्रतिपादक है, मन में निमित्त कारणता का बोधक नहीं।

शङ्का—"मनसा वा अग्रे संकल्पयति" (गर्भो० १) तथा "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" (कठो० ३।४) इत्यादि श्रुतियों से मन में करणता सिद्ध होती है, कर्तृता नहीं।

समाधान—मन को छोड़ कर संकल्पादि का अन्य कोई आश्रय नहीं हो सकता, उक्त "मनसा वा'—इत्यादि श्रुति औपचारिकार्थपरक मानी जाती है, अर्थात् मन मनसा (मनोगत ज्ञान, संस्कारादि सामग्री के द्वारा) संकल्पादि का कर्त्ता होता है।

शङ्का—आत्मगत कर्तृत्व की सिद्धि में ये अनुमान-प्रयोग भी किये जा सकते हैं—(१) आत्मा, मोक्ष-साधनविषयक कृतिवाला होता है, क्योंकि जो जिस फल का भोक्ता होता है, वह उसके साधनों का कर्त्ता होता है, जैसे कृषि-फल-भोक्ता कृषक। (२) अज्ञान ज्ञान का समानाधिकरण होता है, क्योंकि वह ज्ञान से निवर्तित होता है, जैसे ज्ञान का प्रागभाव। (३) दुःखादि का उपभोग, मोक्ष-समानाधिकरण होता है, क्योंकि वह बन्ध कहलाता है, जो जिस बन्धन का बन्दी होता है, वही उस बन्धन से

अद्वैतसिद्धिः

सिद्धिरिति—वाच्यम् , आद्यानुमाने आरोपितानारोपितसाधारणकृतिमत्त्वं वा साध्यम् ? अनारोपितकृतिमत्त्वं वा ? आद्ये इष्टापत्तिः, द्वितीये जातेष्टिपितृयज्ञजन्यफलान्वयिनि व्यभिचारः। द्वितीयानुमानेऽपि आरोपितानारोपितसाधारणज्ञानाधिकरणवृत्तित्वं वा ? अनारोपितज्ञानाधिकरणवृत्तित्वं वा ? अत्राप्याद्ये इष्टापत्तिः, द्वितीये अनादिभावभिन्नत्वस्योपाधित्वम्। तृतीयानुमाने आरोपितानारोपितसाधारणसंबन्धेन मोक्षसामानाधिकरण्ये इष्टापत्तिः, अनारोपितसंबन्धेन सामानाधिकरण्ये साध्याप्रसिद्धिः । तस्मात् सिद्धं मनसः कर्तृत्वमात्मन्यारोप्यत इति ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ कर्तृत्वाध्यासोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मुक्त होता है, जैसे कारागार मुक्त पुरुष ।

समाधान—प्रथम अनुमान में आरोपित-अनारोपित उभय-साधारण कृति मात्र की आश्रयता साध्य है ? अथवा अनारोपित (धर्मिसमानसत्ताक) कृति की आश्रयता ? प्रथम पक्ष में इष्टापत्ति है, क्योंकि मोक्षाश्रयीभूत आत्मा में आरोपित कृतिमत्त्व या कर्तृत्व माना ही जाता है । द्वितीय पक्ष में विवक्षित 'यो यत्फलसाधनकृत्याश्रयः, स तत्फलाश्रयः'—इस व्याप्ति का जातेष्टि-जन्य फलाश्रयीभूत पुत्र और पितृयज्ञ-जन्य फल के आश्रयीभूत पिता में व्यभिचार है, क्योंकि उनमें तत्तकर्म-जन्य फल की आश्रयता होने पर भी तत्तत्कर्म की आश्रयता नहीं मानी जाती । द्वितीय अनुमान में भी अध्यस्तानध्यस्त—साधारण ज्ञान समानाधिकरणता विवक्षित है ? अथवा अनध्यस्त ज्ञान-समानाधिकरणता ? यहाँ भी प्रथम पक्ष में इष्टापत्ति है और द्वितीय पक्ष में अनादिभाव-भिन्नत्व' उपाधि है, [क्योंकि दृष्टान्तीभूत ज्ञान-प्रागभाव में ज्ञान-समानाधिकरणत्वरूप साध्य और प्रागभाव अनादि अभाव है, भाव नहीं, अतः अनादिभाव-भिन्नत्वरूप उपाधि भी है, अतः उपाधि में साध्य की व्यापकता एवं अनादि भावरूप अज्ञान में साधन के रहने पर भी अनादि भाव-भिन्नत्व नहीं रहता, अतः उपाधि में साधन की अव्यापकता भी निश्चित है] । तृतीय अनुमान में भी आरोपितानारोपित-साधारण सम्बन्ध से बन्ध में मोक्ष-समानाधिकरणता विवक्षित होने पर इष्टापत्ति और अनारोपित (आत्मरूप धर्मी के समान सत्तावाले) सम्बन्ध से मोक्ष-सामानाधिकरण्य मानने पर साध्याप्रसिद्धि होती है, क्योंकि आत्मा के समान पारमार्थिक सम्बन्ध की अप्रसिद्धि होने के कारण उस सम्बन्ध से मोक्ष-सामानाधिकरण्य कहीं पर भी प्रसिद्ध नहीं हो सकता । फलतः आत्मा में वास्तविक कर्तृत्व की सिद्धि न होने पर मनोगत कर्तृत्व का ही आत्मा में आरोप सिद्ध होता है ।

: ६८ :

देहात्मैक्याध्यासविचारः

न्यायामृतम्

यच्चोच्यते (आत्मनि देहेन्द्रियाद्यैक्यं तद्धर्मांश्चाध्यस्यन्ते) देहेन्द्रियादेरात्मन्यैक्यं तद्धर्मांश्चाध्यस्यन्ते तत्र चाहं ब्राह्मणोऽहं काण इत्यादिप्रत्यक्षम्, ब्राह्मणो यजेते"त्यादि श्रुतिर्देहाद्यैक्याध्यासाभावे सुषुप्तौ प्रमातृत्वाद्यदर्शनात् तदन्यथानुपपत्तिश्च मानमिति, तन्न, त्वन्मतेऽहमर्थस्यानात्मत्वेनाहं ब्राह्मण इत्यादेर्देहात्मैक्याविषयत्वात्। देहात्मैक्यस्य प्रत्यक्षत्वे तद्विरोध्यनुमानाद्यप्रामाण्यस्योक्तत्वेन तद्भेदासिद्ध्यापत्तेश्च। परस्परं भिन्नत्वेन निश्चितानां देहेन्द्रियादीनां युगपदेकात्मैक्याध्यासायोगाच्च। त्वन्मते

अद्वैतसिद्धिः

ननु—'अहमर्थस्यानात्मत्वे ब्राह्मणोऽहं काण' इत्यादिप्रत्यक्षं देहेन्द्रियादौ आत्मैक्याध्यासे प्रमाणं न स्याद्, ऐक्यबुद्धावात्मनोऽविषयत्वादिति—चेन्न, अहमित्यस्य द्व्यंशत्वेन चिदंशे कर्तृत्वादिविशिष्टान्तःकरणैक्याध्यासवद् ब्राह्मणत्वकाणत्वादिविशिष्टदेहेन्द्रियाद्यैक्याध्यासेनात्मैक्यविषयत्वसंभवात्। तथा चात्मनि देहेन्द्रियाद्यैक्याध्यासो युज्यत एव। न च-एवं देहात्मैक्यस्य प्रत्यक्षत्वे तद्विरोध्यनुमानागमयोरप्रामाण्यप्रसङ्गः, वह्निशैत्यानुमानवत्, श्रूयमाणार्थे 'यजमानः प्रस्तर' इत्यागमवच्च, तथा च न देहात्मनोर्भेदसिद्धिः स्यादिति—वाच्यम्, चन्द्रपरिमाणप्रत्यक्षविरोध्यनुमानागमादिदृष्टान्तेन प्रत्यक्षविरोधिनः परीक्षितागमानुमानादेः प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वेन तथापि तयोर्भेदसिद्धिसंभवात्। न च—परस्परभिन्नत्वेन निश्चितानां देहे-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—'अहं ब्राह्मणः', 'अहं काणः'—इस प्रत्यक्ष को जो आत्मा में देह और इन्द्रियादि के तादात्म्याध्यास का साधक माना गया है, वह अहमर्थ को अनात्मा मानने पर कैसे संगत होगा ?

समाधान—'अहम्'—यह प्रतीति चिदचिद्रूप दो अंशों के संवलित स्वरूप को विषय करती है—यह ऊपर कह आये हैं। चिदंश में कर्तृत्वादि-विशिष्ट अन्तःकरण का जैसे तादात्म्याध्यास होता है, वैसे ही देह और इन्द्रियादि का अध्यास हो जाने के कारण 'अहम्'—यह प्रतीति आत्मविषयिणी मानी जाती है। इस प्रकार आत्मा में देह और इन्द्रियादि का ऐक्याध्यास घटित हो जाता है।

शङ्का—'अहं ब्राह्मणः'—यह प्रत्यक्ष यदि देह और आत्मा के अभेद को विषय (प्रमाणित) करता है, तब इसके विरुद्ध देहात्म-भेद-साधक अनुमान और आगम में बाधितार्थविषयकत्व होने के कारण वैसे ही अप्रामाण्य प्रसक्त होता है, जैसे वह्निगत-शीतलता का अनुमान एवं 'यजमानः प्रस्तरः'- इत्यादि आगम अप्रमाण माने जाते हैं, तब तो देह और आत्मा का अभीष्ट भेद क्योंकर सिद्ध होगा ?

समाधान—चन्द्रगत प्रादेशिकत्वावगाही प्रत्यक्ष के विरोधी अनुमान और आगम का दृष्टान्त देकर यह विगत पृ० १३८ पर निश्चित किया जा चुका है कि प्रत्यक्ष के विरोध में भी परीक्षितप्रामाण्यक अनुमान और आगम प्रमाण माने जाते हैं, अतः देहात्मैक्यावगाही प्रत्यक्ष का विरोध रहने पर भी देहात्म-भेद-बोधक अनुमान और आगम के द्वारा आत्मा का देहादि से भेद सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—परस्पर-भिन्नत्वेन निश्चित देह और इन्द्रियादि का आत्मा के साथ

न्यायामृतम्

देहात्मनोर्भेदस्याध्यस्तत्वेन जीवब्रह्मणोरिव तत्राभेदाध्यासायोगाच्च । मिथ्यात्वं हि अधिष्ठानज्ञानाबाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तद् बाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य

अद्वैतसिद्धिः

न्द्रियादीनां युगपदेकात्मैक्याध्यासायोगः, न हि भिन्नत्वेन निश्चितयो रजतरङ्गयोरेकदैक शुक्तिकायामैक्याध्यास इति—वाच्यम्, 'देहादिन्द्रियमन्यद्, इन्द्रियाद् देहोऽन्य' इति भेदबुद्ध्या 'देहोऽहमिन्द्रिय मित्यैक्याध्यासासंभवेऽपि ब्राह्मणादन्य काणः काणादन्यः ब्राह्मण इति भेदबुद्ध्यभावेन ब्राह्मणोऽहं काण इत्येकदा ऐक्याध्याससंभवात्, समानप्रकारकभेदधिय एव विरोधित्वात् ।

ननु—भेदमात्रस्याप्यध्यस्तत्ववादिनस्तव देहात्मनोर्भेदस्याप्यध्यस्तत्वेन जीवब्रह्मणोरिव तदभेदस्तात्त्विकः स्यात्, मिथ्यात्वं हि अधिष्ठानज्ञानाबाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् । तद्बाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य सत्वेऽपि असंभवात् । अभेदश्च

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अभेदाध्यास नितान्त असंगत है, क्योंकि भिन्नत्वेन निश्चित रजत और रङ्ग आदि का एक साथ शुक्ति में अभेदाध्यास नहीं होता ।

समाधान— देहाद् इन्द्रियमन्यत्', इन्द्रियाद् देहोऽन्यः'—इस प्रकार का भेद-प्रत्यक्ष रहने के कारण 'सोऽहम् इन्द्रियम्'—इस प्रकार का ऐक्याध्यास सम्भव न होने पर भी ब्राह्मणादन्यः काणः', 'काणादन्यो ब्राह्मणः'—इस प्रकार की भेद-बुद्धि न होने के कारण 'ब्राह्मणोऽहं काणः' इस प्रकार का ऐक्याध्यास एक काल में सम्भव हो जाता है, क्योंकि समानप्रकारक भेद-निश्चय ही विरोधी माना जाता है [अर्थात् येन रूपेण ययोस्तादात्म्यग्रहः, तेनैव रूपेण तयोर्भेदग्रहः तत्र प्रतिबन्धकः'—इस नियम के अनुसार 'देहो नाहम्'—इस प्रकार का भेद-ग्रह 'ब्राह्मणोऽहम्'—इस प्रकार के तादात्म्य-ग्रह का प्रतिबन्धक नहीं माना जाता, क्योंकि देहत्वेन रूपेण भेद-ग्रह है और ब्राह्मणत्वेन तादात्म्य-ग्रह । इसी प्रकार 'अहमिन्द्रियं न'—इस प्रकार का भेद-ग्रह 'अहं काणः'—इस प्रकार के तादात्म्य-ग्रह का विरोधी नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियत्वेन भेद-ग्रह और काणत्वेन (एकाक्षत्वेन) तादात्म्य-ग्रह है] ।

शङ्का—आप (अद्वैती) भेदमात्र को अध्यस्त मानते हैं, अतः आपके मत में देह और आत्मा का भेद भी अध्यस्त होने के कारण मिथ्या एवं देह और आत्मा का अभेद वैसे ही तात्त्विक होना चाहिए, जैसे जीव और ब्रह्म का भेद मिथ्या तथा अभेद तात्त्विक होता है, क्योंकि विवरणकार ने जो मिथ्यात्व का लक्षण किया है—प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम् (पं वि. पृ. १७४) । उसका तात्पर्य है—अधिष्ठानज्ञानाबाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्'—में । शुक्तिरूप अधिष्ठान के ज्ञान से शुक्तिगत रजत का ही बाध होता है, रजत के अत्यन्ताभाव का नहीं, अधिष्ठान से अबाधित रजतात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही रजतगत मिथ्यात्व है । लक्षण-घटक अत्यन्ताभाव में अधिष्ठान ज्ञानबाध्यत्वरूप विशेषण परम आवश्यक है, अन्यथा शुक्तिगत शुक्तित्वरूप सत्य धर्म में भी मिथ्यात्व की अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि शुक्तित्व में भी शुक्तित्वात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व रहता है, किन्तु शुक्तित्वात्यन्ताभाव शुक्तिरूप अधिष्ठान के ज्ञान से बाध्य ही होता है, अबाध्य नहीं, अतः अधिष्ठान-ज्ञानाबाध्य रजतात्यन्ताभाव की प्रतियोगिता शुक्तित्व में न रहने के कारण मिथ्यात्व का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता । अभेद नाम है—

न्यायामृतम्

त्त्वेऽपि असम्भवात् । अभेदश्च भेदात्यन्ताभाव इति कथं भेदमिथ्यात्वे अभेदः सत्यो न स्यात् ? न च देहस्य स्वरूपेणैवाध्यस्तत्वाद् देहात्मनो न भेदो नाप्यभेद इति वाच्यम्, अध्यस्तादपि रूप्याच्छुक्तेः स्वज्ञानाबाध्यस्य बाधगोचरस्य भेदस्य दर्शनात् । किञ्च

अद्वैतसिद्धिः

भेदात्यन्ताभाव इति कथं भेदमिथ्यात्वे अभेदः सत्यो न स्यात् ? न च—देहस्याध्यध्यस्तत्वेन तेन सहात्मनो न भेदो नाप्यभेद इति—वाच्यम्, अध्यस्तादपि रूप्याच्छुक्तेः स्वज्ञानाबाध्यभेददर्शनादिति—चेन्न, भेदस्य मिथ्यात्वेऽपि अभेदो न तात्त्विकः, भावाभावयोरुभयोरपि मिथ्यात्वस्य प्रागेवोपपादितत्वात् । इयांस्तु विशेषः यदत्राभेदो व्यवहारकालीनेन परीक्षितप्रमाणभावेनानुमानादिना बाध्यते, भेदस्तु देहात्मनो न तेन, किंतु चरमवृत्त्येति । न च—एवं गेहीतिवद् 'देहीति प्रतीति'र्न स्यात्, किंतु देहोऽहमिति -वाच्यम्, देहत्वेन भेदग्रहाद् ब्राह्मणत्वादिना भेदाग्रहाच्च ब्राह्मणोऽहं देह्यहमित्युभयप्रतीत्युपपत्तेः । देवदत्ताद् यज्ञदत्तोऽन्य इति भेदबुद्धावपि तत्त्वेनोपास्थिताद् देवदत्ताद्यज्ञदत्ते 'सोऽय' मित्यभेदभ्रमदर्शनात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भेदात्यन्ताभाव का, अतः देह और आत्मा का भेद मिथ्या होने पर उनका अभेद सत्य क्यों न होगा ? 'आत्मा में देह भी अध्यस्त है, वास्तविक नहीं, अतः आत्मा में न तो देह का भेद ही रह सकता है और न देह का अभेद'—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि शुक्ति में अध्यस्त रजत का शुक्ति-ज्ञानाबाध्य भेद देखा जाता है—'इयं शुक्तिः रजतं न ।'

समाधान—देहात्म-भेद के मिथ्या होने पर भी अभेद सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि भाव (भेद) और अभाव (भेदात्यन्ताभाव) दोनों ही मिथ्या होते हैं—यह पहले (पृ० ४७ पर) ही कहा जा चुका है । भेद और अभेद—दोनों के मिथ्या होने पर भी उनमें इतना अन्तर अवश्य है कि देह और आत्मा का अभेद व्यवहार-काल में परीक्षितप्रामाण्यक अनुमानादि प्रमाणों से बाधित होता है, किन्तु देह और आत्मा का भेद उक्त अनुमानादि प्रमाणों से बाधित नहीं, अपितु वेदान्त-विचार-जन्य अखण्डाकार चरम वृत्ति के द्वारा ही बाधित होता है ।

शङ्का—देह और आत्मा का अभेदाध्यास मानने पर भेद-सापेक्ष अहं गेही—इस प्रकार की प्रतीति जैसे होती है, वैसे 'देही'—इस प्रकार की प्रतीति नहीं होनी चाहिए, प्रत्युत 'देहोऽहम्' ऐसी ही प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि देह और आत्मा में अभेद ही माना जाता है, भेद नहीं ।

समाधान—जिस रूप से जिन पदार्थों का भेद-ग्रह होता है, उस रूप से उन पदार्थों का भेद प्रतीत नहीं होता—यह पहले ही कहा जा चुका है । प्रकृत में देहत्वेन देह का आत्मा में भेद रहने पर भी ब्राह्मणत्वादि रूप से भेद-ग्रह न रहने के कारण 'अहं देही'—ऐसी प्रतीति न होने पर भी 'अहं ब्राह्मणः'—ऐसी एवं अहं देही—इस प्रकार की उभय-विध प्रतीति उपपन्न हो जाती है । 'देवदत्ताद् यज्ञदत्तोऽन्यः'—ऐसी भेद-प्रतीति के रहने पर भी यज्ञदत्तत्वेन उपस्थित देवदत्त से यज्ञदत्त का भेद-ग्रह न रहने के कारण देवदत्त के पश्चात् यज्ञदत्त को देखकर सोऽयं यज्ञदत्तः—इस प्रकार का अभेद-भ्रम देखा जाता है ।

न्यायामृतम्

अहं गेहीतिवच्चाहं देहीत्येव प्रतीयते ।
न तु देहोऽहमस्मीति कदाचित्कस्यचिन्मतिः ॥ १ ॥
ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिस्तु प्रमैव नः ।
देहभेदयुतो यस्माद् ब्राह्मणादिपदोदितः ॥ २ ॥
कृशोऽहं कृष्ण इत्यादौ कार्श्यादिर्देहसंस्थितः ।
पुत्रादिस्थितकार्श्यादिवदात्मन्युपचर्यते ॥ ३ ॥

प्रतीयते हि मम गृहं मम क्षेत्रमितिवन्मम देहः मम मनः चक्षुरिति भेदः । आत्मनीति अहं ब्राह्मणोऽहं मनुष्य इत्यादिस्तु प्रमा देहविशेषविशिष्ट एवं हि ब्राह्मणादि-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमिति कथमध्यासरूपम् ? मनुष्यत्वब्राह्मणत्वादेः शरीरविशिष्टात्मवृत्तित्वेन प्रमात्वस्यैव संभवात् । तदुक्तम्—

ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिस्तु प्रमैव नः ।
देहभेदयुतो यस्माद् ब्राह्मणादिपदोदितः' ॥

इति—चेन्न, मनुष्यत्वादेर्देहविशिष्टात्मवृत्तित्वे चक्षुरादिगम्यत्वं न स्याद्, देहविशिष्टात्मनश्चक्षुरगम्यत्वात् । न च—एकदेशस्य चक्षुर्गम्यत्वाद् विशिष्टगतजातिः चक्षुषा गृह्यत इति—वाच्यम्, व्यासज्यवृत्तेरुभययोग्यतायामेव योग्यत्वनियमात् । अन्यथा ऐन्द्रियकानैन्द्रियकवृत्तिसंयोगद्वित्वादेः प्रत्यक्षता स्यात् । व्यासज्यवृत्तित्वस्य जातावदृष्टचरत्वात् पृथिवीत्वादिना संकरापत्तेः, तव मते आत्मनोऽणुत्वेन तद्वृत्ति-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—'ब्राह्मणोऽहम्', 'मनुष्योऽहम्'—इत्यादि प्रतीतियों को अध्यासरूप क्यों माना जाता है ? मनुष्यत्व और ब्राह्मणत्वादि धर्म शरीर-विशिष्ट आत्मा में रहते ही हैं, अतः उक्त प्रतीतियों में प्रमात्व ही सम्भव है, जैसा कि कहा गया है—

ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिस्तु प्रमैव नः ।
देहभेदयुतो यस्माद् ब्राह्मणादिपदोदितः ॥

[अर्थात् ब्राह्मणोऽहम्, मनुष्योऽहम्'—इस प्रकार की प्रतीति हमारे (माध्व) मत में प्रमा ही है, क्योंकि देह विशेष से युक्त आत्मा ही ब्राह्मणादि पदों के द्वारा अभिहित होता है] ।

समाधान—मनुष्यत्वादि यदि देह-विशिष्ट आत्मा के धर्म माने जाते हैं, तब वे चक्षु के द्वारा गृहीत न हो सकेंगे, क्योंकि उनका आश्रयीभूत आत्मा चक्षु-गम्य नहीं होता । जैसे वाय्वादि अचाक्षुष द्रव्यों के संयोगादि गुणों का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही नीरूप आत्मा चाक्षुष न होने के कारण उसके मनुष्यत्वादि धर्मों का चाक्षुष सम्भव नहीं । यद्यपि देह-विशिष्ट आत्मा का एक (देहरूप) भाग चक्षु-गम्य होता है, तथापि मनुष्यत्वादिरूप व्यासज्यवृत्ति धर्मों का चाक्षुष प्रत्यक्ष तभी हो सकेगा, जब कि विशिष्ट के घटक उभय पदार्थों में चाक्षुषत्व हो, अन्यथा पृथिवी और वायु—उभयवृत्ति द्वित्वादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिए, क्योंकि दोनों संयोगियों में से एक (पृथिवीरूप) संयोगी चाक्षुष होता है । पृथिवीत्वादि जातियों को व्यासज्य वृत्ति न मान कर प्रत्येक व्यक्ति-पर्याप्त माना जाता है, अतः पृथिवीत्वादि जाति से मनुष्यत्वादि का सांकर्य भी हो जाता है [मनुष्यत्व को छोड़ कर पृथिवीत्व घटादि में और पृथिवीत्व को छोड़ कर

न्यायामृतम्

शब्दार्थः, न तु देहविशेषः, देहो ब्राह्मण इति कदाप्यप्रतीतेः। अन्धोऽहमित्यादिधीः भ्रमैव, चक्षुश्श्रोत्रादिहीनस्यैवांधबधिरादित्वात्। कृष्णोऽहमित्यादावपि कृष्णत्वादिकं रज्जौ सर्पस्थभीषणत्वादिकमिव धर्म्यैक्येन सहाध्यस्यते? किं वा स्फटिके जपाकुसुमलौहित्यमिव तेन विनैव? नाद्यः, धर्म्यैक्याध्यासाभावस्योक्तत्वात्। नान्त्यः, तद्वदेव कार्श्याद्विद्वयप्रतीत्यापत्तेः। कृशोऽहं कृष्णोऽयमित्यादिस्तु पुत्रे कृशेऽहं कृश इतिवत् कर्दमलिप्तेऽहं कृष्ण इतिवच्च गौणः। न चायमप्यध्यासः, पुत्रात्कर्दमात्स्वस्य स्पष्टं

अद्वैतसिद्धिः

त्वेऽतीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्। न चैवं 'देहो ब्राह्मणो मनुष्य' इत्यादिप्रतीत्यापत्तिः, अहंत्वसामानाधिकरण्यभ्रमजनकदोषस्यैव तादृक्प्रतीतिप्रतिबन्धकत्वात्। उक्तबाधकैर्देहवृत्तित्वे अनन्यगतिकत्वेन तथा कल्पनात्, 'कृशोऽहं स्थूलोऽह'मित्यादौ कार्श्यादिविशिष्टैक्याध्यासस्यावश्यकत्वाच्च। न च—अयमौपचारिकप्रयोगः पुत्रे कृशे अहं कृश इतिवत्, तदुक्तं—

'कृशोऽहं कृष्ण इत्यादौ कार्श्यादिर्देहसंस्थितः।
पुत्रादिस्थितकार्श्यादिवदात्मन्युपचर्यते॥'

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मनुष्यत्व आत्मा में है, और दोनों का समावेश मनुष्य शरीर में होता है]। आप (माध्व) के मत में आत्मा का अणु परिमाण माना जाता है, परमाणु-वृत्ति जाति का प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः आत्मगत मनुष्यत्वादि का प्रत्यक्ष कैसे होगा? अतः मनुष्यत्वादि जातियों को आत्मवृत्ति न मान कर शरीर-वृत्ति ही मानना चाहिए।

'यदि देहमात्र में ब्राह्मणत्वादि जाति रहती है, तब 'देहो ब्राह्मणः', 'देहो मनुष्यः'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए'—ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि देहमात्रवृत्ति ब्राह्मणत्वादि का जो 'अहं ब्राह्मणः'—इस प्रकार अहन्त्वसामानाधिकरण्येन भ्रम होता है, उस भ्रम के जनक संस्कारादि दोषों को ही 'देहो ब्राह्मणः'—इत्यादि प्रतीतियों का प्रतिबन्धक माना जाता है, क्योंकि प्रोक्त प्रतिबन्धक प्रमाणों के आधार पर ब्राह्मणत्वादि को आत्मा में नहीं माना जा सकता, शरीर में ही मानना होगा, फिर तो देहो ब्राह्मणः इत्यदि प्रतीतियों की आपत्ति के दूर करने का और कोई मार्ग नहीं, अगत्या उक्त भ्रम-जनक दोषों को उस प्रतीति का प्रतिबन्धक मानना आवश्यक है। कृशोऽहम्', स्थूलोऽहम्'—इत्यादि प्रतीतियों का निर्वाह करने के लिए कृशत्व, स्थूलत्वादि-विशिष्ट देह का आत्मा में तादात्म्याध्यास निश्चित है, अतः शरीरगत ब्राह्मणत्वादि का आत्मा में भान करने के लिए कोई नूतन अध्यास की कल्पना नहीं करनी है कि कल्पना-गौरवादि दोष प्रसक्त हों।

शङ्का—शब्द की अभिधा, लक्षणा और उपचार (गौणी) आदि वृत्तियों से जहाँ व्यवहार सम्पन्न नहीं होता, वहाँ ही अध्यास की जटिल कल्पना की जाती है। 'कृशोऽहम्', 'स्थूलोऽहम्'—इत्यादि व्यवहार वैसे ही औपचारिक मात्र (गौण) ही होते हैं, जैसे पुत्रादिगत कृशतादि का औपचारिक व्यवहार पिता अपने में किया करता है—'अहमेव कृशः', जैसा कि कहा गया है—

कृशोऽहं कृष्ण इत्यादौ कार्श्यादिर्देहसंस्थितः।
पुत्रादिस्थितकार्श्यादिवद् आत्मन्युपचर्यते॥

न्यायामृतम्

भेदप्रतीतेः। अन्यथा मंचाः क्रोशन्तीत्यादिरप्यध्यासः स्यात्। पुत्रकार्श्येन दुःखं तु तस्यात्यन्तप्रेमास्पदत्वात्। न च कृशोऽहमित्यैक्यप्रतीत्या शिलापुत्रिकाया देह इतिवत् मम देह इत्ययमेव गौण इति वाच्यम्, मम देह इत्यस्य देहात्मविवेकिनि मुख्यतायाः कृशोऽहमित्यस्य च पुत्रकार्श्ये गौणतायाश्च क्लृप्तत्वात्। तत्र भेदधीः स्पष्टेति चेदिहापि तथा पश्वादीनामपि देहात्मभेदसाक्षात्कारस्यांगीकार्यत्वात्। तदुक्तम्—

जातमात्रा मृगा गावो हस्तिनः पक्षिणो झषाः।
भयाभयस्वभोगादौ कारणानि विजानते॥

अद्वैतसिद्धिः

इति—वाच्यम्, एवं सति देहादिभिन्नात्मास्तित्वप्रतिपादिकाया 'अस्तीत्येवोपलब्धव्य' इति श्रुतेरनुवादकतापत्तेः, मम देह इत्यनोपचारिकः, अहं गौर इत्याद्यौपचारिक इत्यत्र विनिगमकाभावाच्च।

ननु—इदं विनिगमकम्, जातमात्रस्य पश्वादेः प्रवृत्त्यादिहेतोरिष्टसाधनताद्य-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

[अर्थात् जैसे पुत्रादि में स्थित कार्श्यादि का आत्मा में उपचार होता है, वैसे ही 'अहं कृशः', अहं कृष्णः', 'अहं गौरः'—इत्यादि स्थलों पर देहगत कार्श्यादि का आत्मा में उपचार ही होता है। यद्यपि 'उपचार' शब्द का अध्यास के अर्थ में ही वसुबन्ध ने प्रयोग किया है—आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते" (त्रिंशिका पृ० १००) स्थिरमति ने उसकी व्याख्या में कहा है—'यच्च यत्र नास्ति तत् तत्रोपचर्यंते तद्यथा तैमिरिकस्य केशोण्डुकाद्युपचारः। तथापि उपचार समाधि, द्रव्योपचार, जात्युपचारादि के पूर्वतन व्यवहारों में अधिकतर 'अग्निर्माणवकः' आदि गौणार्थ को ही उपचार कहा गया है, कुमारिल भट्ट ने गौणी वृत्ति का लक्षण किया है—''लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता'' (तं० वा० पृ०३५४)। तत्सिद्धिपेटिका में गौणी वृत्ति के विविध प्रयोग दिखाये गये हैं—

''तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसालिंगभूमभिः।
षड्भिः सर्वत्र शब्दानां गौणी वृत्तिः प्रकल्पिता॥ (शा० दी० पृ० ९०)

शास्त्रदीपिकाकार ने ही अध्यास और गौणरूपता का अन्तर भी स्पष्ट किया है—न चाध्यारोपितार्थकत्वं लोके गौणत्वम्, तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे तदभावात्, न हि सिंहो देवदत्त इति प्रयुञ्जानस्य सिंहत्वाध्यारोपोऽस्ति, शौर्यादिगुणविवक्षयैव प्रयुंक्ते। प्रतिपत्तारोऽपि सादृश्यमेव प्रतिपद्यन्ते, नाध्यारोमम्, तस्मादभिधेयसदृशे' वृत्ति गौणत्वम्, नाध्यारोपितवचनत्वम्'' (शा० दी० पृ० ८५)]।

समाधान—अध्यारोप-स्थल पर अध्यस्त और अधिष्ठान का भेद-ग्रह नहीं रहता, किन्तु सिंहो देवदत्तः इत्यादि उपचार-स्थल पर गौण और मुख्य का भेद-ग्रह रहता है, 'अहं कृशः'—इस प्रतीति को भी गौण मानने पर देह और आत्मा का भेद-ग्रह प्रत्यक्षतः प्रतिपन्न (गृहीत) मानना होगा, अतः प्रत्यक्ष-गृहीत भेद के ग्राहक ''अस्तीत्येवोपलब्धव्य'' (कठो० ६।१३) इत्यादि श्रुतियों को अनुवादक मात्र मानना होगा। दूसरी बात यह भी है कि 'मम देहः'—यह व्यवहार अनौपचारिक तथा 'अहं गौरः'—यह औपचारिक है—इस व्यवस्था में कोई विनिगमक भी सम्भव नहीं।

शङ्का—औपचारिकत्वानौपचारिकत्व का निर्णय इस प्रकार हो सकता है कि

न्यायामृतम्

अस्मृतौ पूर्वदेहस्य विज्ञानं तत्कथं भवेदिति। तथा हि जातमात्रस्य पश्वादेः स्तन्यपानादौ प्रवृत्त्यादिहेतोरिष्टसाधनत्वाद्यनुमितेर्हेतुः यत स्तन्यपानं तदिष्टसाधनम्, यथेदम्, यन्नेत्रस्यान्तः शंकुकण्डूयनं तदनिष्टसाधनम्, यथेदमित्यादिव्याप्तिस्मृतिस्तावन्न देहान्तरास्मृतौ युक्ता। न च मम प्राग्देहान्तरमभूदिति स्मरतः स्वस्यैतद्देहैक्यधीः, किं त्वनेकमणिष्वनुस्यूतं सूत्रमिवानेकदेहेष्वनुस्यूतमात्मानं पश्यतस्ततो भेदधीरेव।

किं च योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवं सोऽहं स्थविरः नप्तॄन्पश्यामीति, योऽहं स्वप्ने व्याघ्रदेहः सोऽहमिदानीं मनुष्यदेह इति च देहभेदधीपूर्वकं स्वस्यैक्यमनुसंधानः

अद्वैतसिद्धिः

नुमितेर्हेतुर्यत्स्तन्यपानम्, तदिष्टसाधनम्, यथा पूर्वदेहीयं स्तन्यपानमित्यादिव्याप्तिस्मृतिस्तावन्न देहान्तरास्मृतौ युक्ता, न च 'मम प्राक् देहान्तरमभूदि'ति स्मरतस्तस्यैक्यधीः सम्भवति, किंत्वनेकमण्यनुस्यूतसूत्रमिवानेकदेहेष्वनुस्यूतमात्मानं पश्यतः स्वतो भेदधीरत्रेति—चेन्न; पूर्वदेहस्मृतिं विनापि अनुमितिहेतुव्याप्तिस्मृतेः संभवात्। न हि व्याप्त्यनुभव इव व्याप्तिस्मरणसमयेऽपि दृष्टान्तज्ञानापेक्षा, येन तदर्थं तद्देहस्मृतिरपेक्ष्येत।

न च—तथापि 'योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवं सोऽहं स्थाविरे प्रणप्तॄननुभवामि, योऽहं स्वप्ने व्याघ्रदेहः, सोऽहमिदानीं मनुष्यदेह इति देहभेदधीपूर्वकं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

देह और आत्मा का भेद विषय करनेवाली प्रतीति को अनौपचारिक तथा उससे विपरीत प्रतीति को औपचारिक कहना ही न्याय-संगत है। प्राणी की प्रत्येक प्रवृति इष्ट-साधनता के ज्ञान से उत्पन्न होती है। उत्पन्न होते ही पशु शावक स्तन्य-पान में स्वयं प्रवृत्त हो जाता है, प्रवृत्ति से पहले उसे स्तन्य-पान में इष्ट-साधनता की स्मृति होती है, स्मृति समानविषयक अनुभव से जनित होती है, वह अनुभव पूर्व जन्म का ही सम्भव हो सकता है, उसके आधार पर 'यद् यत् स्तन्यपानम्, तत्तदिष्टसाधनम्, यथा पूर्वजन्मानुभूतं स्तन्यपानम्—इस प्रकार की व्याप्ति का स्मरण होता है, व्याप्ति-स्मरण के लिए पूर्व जन्म के देह का स्मरण आवश्यक है, स्मर्यमाण देह से इस जन्म के देह का भेद होने पर भी विभिन्न देहों मे अहम् की ऐक्यानुभूति विभिन्न पुष्पों में अनुस्यूत धागे के समान विभिन्न देहों में अनुस्यूत आत्मतत्त्व को ही विषय करती है. अन्वय-व्यतिरेक की पद्धति से देह और आत्मा का भेद निश्चित हो जाता है, उस निश्चय का कभी बाध नहीं होता, अतः देहात्म-भेद-विषयक ममायं देहः—ऐसा ज्ञान अनध्यासात्मक और उससे भिन्न अहं गौरः—यह ज्ञान अध्यासात्मक निर्णीत होता है।

समाधान—उक्त व्याप्ति के स्मरण में गत जन्म के देह का स्मरण अनिवार्य नहीं होता, उसके बिना भी व्याप्ति-स्मृति निष्पन्न हो जाती है, क्योंकि व्याप्ति के अनुभव-काल में दृष्टान्त की जैसी अपेक्षा होती है, वैसी व्याप्ति के स्मरण-काल में नहीं होती कि इष्टसाधनता की व्याप्ति के स्मरण में देह का स्मरण अपेक्षित होता।

शङ्का—उक्त स्थल पर देह-स्मरण न होने पर भी 'योऽहं बाल्ये पितरौ अन्वभूवम्, सोऽहं स्थाविरे (बार्धके) प्रणप्तॄन् अनुभवामि। 'योऽहं स्वप्ने व्याघ्रशरीर आसम्, सोऽहमिह जागरे मनुष्यदेहोऽस्मि'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञाओं के आधार पर अपनी

न्यायामृतम्

कथं ततो भेदं न जानीयात् ? न चेयं विरुद्धधर्मरूपलिंगजन्या भेदधीः, परोक्षेति नैक्यापरोक्षभ्रमविरोधिनीति वाच्यम् , प्रत्यक्षे धर्मिणि भेदकसाक्षात्कारस्य भेदसाक्षात्कारव्याप्तत्वात् । इह च व्यावृत्तत्वेन धीस्थदेहादिभेदकस्यानुवृत्तत्वस्यात्मनि प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षसिद्धत्वाद् , व्यावर्तकसाक्षात्कारस्यैवैक्यापरोक्षभ्रमेण भेदव्यवहारस्यौपचारिकत्वेन च सहविरोधाच्च । न चायं भ्रमः सोपाधिकः येनाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारेऽपि स्यात् ।

अद्वैतसिद्धिः

स्वस्यैक्यमनुसन्दधानः कथं ततो भेदं न जानीयादिति—वाच्यम् ; विरुद्धधर्मरूपलिङ्गधीजन्यभेदधीसंभवेऽपि अपरोक्षाभेदभ्रमे अविरोधात् । न च–प्रत्यक्षे धर्मिणि भेदकसाक्षात्कारो भेदसाक्षात्कारव्याप्तः, इह च व्यावृत्तत्वेन बुद्धिस्थदेहादितो भेदकस्यानुवृत्तत्वस्यात्मनि प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षसिद्धत्वाद् व्यावर्तकसाक्षात्कारस्यैवैक्यापरोक्षभ्रमविरोधित्वात् निरुपाधिकत्वेन विशेषदर्शनाप्रतिबध्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् कथमैक्यभ्रम इति—वाच्यम् , भेदकसाक्षात्कारस्य भेदसाक्षात्कारेण व्याप्तेरैक्यारोपेण सह विरोधस्य चासिद्धेः । नीला बलाकेत्यत्र नीलाद् भेदकस्य बलाकात्वस्य ग्रहेऽपि नीलभेदसाक्षात्काराभावस्य तदभेदसाक्षात्कारस्य च दर्शनात् । न च तत्र दोषप्राबल्यात् तथा, प्रकृतेऽपि दोषप्राबल्यान्नेति केन तुभ्यमभ्यधायि ?

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

एकता और देहों के भेद का निश्चय करनेवाला पुरुष देह और आत्मा के भेद को क्योंकर नहीं जान लेगा ?

समाधान—उक्त स्थल पर अवश्य देह और आत्मा के भेद का ज्ञान होता है, किन्तु वह ज्ञान 'यद् येनानुस्यूतम्, तत् तस्माद्भिन्नम्—इस प्रकार की व्याप्ति के सहयोग से आत्मा में विभिन्नदेहानुवृत्तत्वरूप साधन के द्वारा देह और देहानुस्यूत आत्मा के भेद का परोक्ष ज्ञानमात्र होता है, जिससे 'अहं मनुष्यः'—इस प्रकार के प्रत्यक्षभूत अभेद-भ्रम की निवृत्ति नहीं होती, अतः परोक्ष भेद-ज्ञान रहने पर भी अपरोक्षाभेद-भ्रम बना ही रहता है ।

शङ्का–प्रत्यक्षधर्मिविशेष्यक व्यावर्तक-साक्षात्कार जहाँ-जहाँ होता है, वहाँ-वहाँ भेद-साक्षात्कार अवश्य होता है । प्रकृत में प्रत्यक्षभूत आत्मा में विभिन्न देहानुवृत्तत्वरूप व्यावर्तक धर्म का प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष से साक्षात्कार हो रहा है अतः यहां देह और आत्मा का भेद-साक्षात्कार अवश्य ही होता है, उसके रहने पर कभी भी अभेद-भ्रम नहीं रह सकता । यद्यपि सोपाधिक भ्रम विशेष-दर्शन से भी निवृत्त नहीं होता, तथापि 'अहं गौरः'—इत्यादि भ्रम निरुपाधिक है, अतः भेद-साक्षात्काररूप विशेष-दर्शन से इसकी निवृत्ति अनिवार्य है ।

समाधान—भेद-साक्षात्कारगत भेद-साक्षात्कार-निरूपित व्याप्ति और अभेदाध्यास का कोई विरोध नहीं होता, जैसे कि 'नीला बलाका' (बगुला) यहां पर नील से भेदक बलाकात्वरूप धर्म का ज्ञान होने पर भी नील-भेद के साक्षात्कार का अभाव और नीलाभेद-साक्षात्कार—दोनों देखे जाते हैं । यदि दोष की प्रबलता के कारण वहाँ वैसा माना जा सकता है, तब प्रकृत में भी दोष की प्रबलता नहीं—यह किसने आप से कह दिया ?

अद्वैतसिद्धिः

एवं 'ब्राह्मणो यजेते'त्यादिश्रुतिरपि ब्राह्मणत्वाश्रयशरीरस्य जडत्वेनानियोज्यतया तदैक्याध्यासापन्नमात्मानं नियुञ्जाना तत्र प्रमाणम्। न च ब्राह्मणत्वाश्रयदेहेन संबन्धान्तरमादायैव नियोज्यत्वोपपत्तिः, तस्यानतिप्रसक्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तथा हि—न तावत्संयोगः, आत्मनो विभुत्वेन सर्वदेहसाधारण्यात्। नापि स्वस्वामिभावः संबन्धः, पश्वादिसाधारणत्वात्। नापि साक्षात् स्वस्वामिभावः संबन्धः, पश्वादिव्यावृत्तस्य देहादिगतस्वस्वामिभावे साक्षात्त्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। नापीच्छानुविधायित्वम्, आमवातजडीकृते तदभावात्। नापि तदिन्द्रियाश्रयत्वम्, तद्धि तत्संबद्धेन्द्रियाश्रयत्वं वा ? तज्ज्ञानजनकेन्द्रियाश्रयत्वं वा ? नाद्यः, अतिप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, ज्ञानपदेन स्वरूपचैतन्योक्तावसंभवः, अन्तःकरणवृत्त्युक्तौ तेनापि संबन्धार्थमध्यासस्यावश्यक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इसी प्रकार "ब्राह्मणो यजेत'—इत्यादि श्रुति भी ब्राह्मणत्व के आश्रयीभूत जड़ शरीर को यागानुष्ठान में प्रवृत्त न कर देहाभेदाध्यासापन्न आत्मा को प्रेरित करती हुई आत्मा में देह के तादात्म्याध्यास को प्रमाणित करती है।

शङ्का—सिंहो 'माणवकः', 'यजमानःप्रस्तरः'—इत्यादि प्रायः सभी लौकिकालौकिक गौण प्रयोगों में वाच्यार्थ-सम्बन्धी पदार्थान्तर का अन्वय-बोध विवक्षित होता है, किन्तु वाच्यार्थ का आध्यासिक सम्बन्ध कहीं नहीं देखा जाता, 'अहं ब्राह्मणः' इस प्रयोग में भी सम्बन्धान्तर से ही आत्मा में नियोज्यत्व का लाभ हो सकता है, आध्यासिक संबन्ध की ही कल्पना क्यों की जाती है ?

समाधान—आध्यासिक सम्बन्ध को छोड़ कर अन्य कोई यह अन्यूनानतिप्रसक्त (समुचित) सम्बन्ध सम्भव नहीं, जैसे कि ब्राह्मणत्व-विशिष्ट शरीर का 'संयोग' सम्बन्ध आत्मा में मान कर ब्राह्मणत्व का लाभ नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मा विभु (ब्राह्मण, क्षत्रियादि सभी शरीरों से संयुक्त) है, अतः वह केवल ब्राह्मण क्यों होगा ? 'स्व-स्वाभिभाव' सम्बन्ध भी सभी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरों का आत्मा में हो सकता है। यदि कहा जाय कि आत्मा शरीर का साक्षात् स्वामी है और शरीर के माध्यम से धन, धान्य, पशु, पक्षी आदि का, अतः साक्षात् 'स्वस्वामिभाव' सम्बन्ध की विवक्षा करने पर कोई अतिप्रसङ्ग नहीं होता, तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि व्यापक आत्मा का मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी शरीरों से साक्षात् सम्बन्ध है, तब ऐसे किसी साक्षात् सम्बन्ध का निरूपण नहीं किया जा सकता, जो पशु, पक्षी आदि शरीरों से व्यावृत्त केवल मनुष्य अथवा ब्राह्मण शरीर में रह कर अहं ब्राह्मणः'—इत्यादि व्यवहारों का निर्वाहक हो सके। 'इच्छायें भिन्न-भिन्न होती हैं, जिस इच्छा का जो शरीर अनुविधान (पूर्णतया पालन) करता हो, वह शरीर साक्षात् आत्म-सम्बन्धी होता है'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वायु-विकारादि से जकड़ा हुआ ब्राह्मण शरीर इच्छा का अनुविधान (अनुसरण) नहीं किया करता। आत्मेन्द्रियाश्रयत्व को भी शरीर का विशेषक नहीं कह सकते, क्योंकि आत्मेन्द्रियाश्रयत्व का अर्थ आत्म-सम्बन्धी इन्द्रिय आश्रयता है ? अथवा आत्मगत ज्ञान-जनक इन्द्रिय की आश्रयता ? प्रथम पक्ष में अति-प्रसङ्ग होता है, क्योंकि व्यापक आत्मा का संयोग सम्बन्ध पशु, पक्षी आदि की सभी इन्द्रियों से होता है। द्वितीय पक्ष में 'ज्ञान' पद से आत्मस्वरूप ज्ञान का ग्रहण करने पर असम्भव दोष होता है, क्योंकि आत्मस्वरूप ज्ञान नित्य कूटस्थ तत्त्व है, उसका

न्यायामृतम्

या तु श्रुतिरुक्ता, तत्र किं लक्षणया देहविशेषैक्याध्यासवान् ब्राह्मणशब्दार्थ इति भावः ? किं वा देहविशेषसम्बन्ध एव तदर्थः, सम्बन्धस्त्वन्यस्यासम्भवादैक्याध्यासरूप इति ? यद्वा देहविशेष एव तदर्थः आत्मा तु देहैक्याध्यासात्प्रवर्तत इति ? नाद्यः, विधौ

अद्वैतसिद्धिः

त्वात् । तद्वरं देहस्यैवाध्यासिकः संबन्ध इत्युच्यताम् । अत एव—साक्षात् प्रयत्नजन्य क्रियाश्रयत्वं वा, तद्भोगायतनत्वं वा, तत्कर्मार्जितत्वं वा संबन्ध इति—निरस्तम् , तत्कर्मार्जितत्वस्य पुत्रादिसाधारणत्वाच्च । न च—तत्रादृष्टेन स्वत्वमेवोत्पाद्यते, न तु पुत्रादिरिति—वाच्यम् , ग्रामादिवत् पुत्रस्य सिद्धत्वाभावेन स्वत्वोत्पादनार्थमपि तदुत्पादनस्यावश्यकत्वात् । अन्यथा स्वदेहसुखादिष्वप्यस्यादृष्टेन स्वत्वमेवोत्पाद्यते, न तु स्वदेहादिरित्यपि स्यात् । तथा च पूर्वानुत्पन्नमदृष्टेन स्वत्वसहितमेवोत्पाद्यते । पूर्वोत्पन्ने तु स्वत्वमात्रमिति विभागः ।

एतेन—श्रुतिस्थं ब्राह्मणपदं किं लक्षणया देहविशेषैक्याध्यासवत्परम् ? देहविशेषसंबन्धपरं वा ? संबन्धस्तु अन्यस्याभावादैक्याध्यास एव । यद्वा—देहविशेषपरम् ? आत्मा तदैक्याध्यासात्प्रवर्तत इति । नाद्यः, विधौ लक्षणाया अयोगात् , पुत्र

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कोई जनक ही नहीं होता । 'ज्ञान' पद से अन्तःकरण-वृत्ति के विवक्षित होने पर उसके साथ आत्मा का आध्यासिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अध्यास की अपेक्षा होती है, उससे तो यही अच्छा है कि शरीर के साथ आत्मा का आध्यासिक सम्बन्ध कहा जाय । अत एव (कथित दोषों के कारण) साक्षात् प्रयत्न-जन्य क्रिया की आश्रयता, या आत्मभोगायतनत्व अथवा आत्मादृष्टार्जितत्व को भी सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्तःकरणगत प्रयत्न के साथ सम्बन्ध करने के लिए अध्यास की अपेक्षा एवं पिता के पुत्रकामेष्टि आदि कर्मों से पुत्र का शरीर भी अर्जित होता है, उसको लेकर अतिप्रसङ्ग भी है । पुत्रकामेष्टि आदि कर्मों से पुत्र के शरीर में पितारूप स्वामी का स्वत्व ही उत्पन्न होता है, पुत्र शरीर नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ग्रामादि पदार्थ पहले से सिद्ध होते हैं, ग्रामकामादि इष्टि के द्वारा उनमें स्वत्वमात्र की उत्पत्ति मानी जा सकती है, किन्तु निःसन्तान व्यक्ति पुत्रोत्पत्ति के लिए जब कर्म करता है, उससे पूर्व पुत्र का शरीर सिद्ध नहीं होता, अतः स्वत्वोत्पत्ति के लिए भी तो पुत्र के शरीर का पहले उत्पन्न होना आवश्यक है । यदि पुत्र-शरीर के बिना भी स्वत्वमात्र की उत्पत्ति मानी जाय, तब आत्मा के स्वकीय अदृष्टों के द्वारा शरीर की उत्पत्ति न मान कर तद्गत स्वत्वमात्र की उत्पत्ति मानी जा सकती है, अतः आत्मकर्मार्जितत्व शरीर में न रहने से असम्भव दोष आ जाता है । अतः ग्रामादि सिद्ध पदार्थों में ग्राम-कामना-प्रयुक्त कर्म के द्वारा कर्त्ता का स्वत्वमात्र उत्पन्न होता है और पुत्रादि के असिद्ध शरीरादि ही पुत्र-कामना-प्रयुक्त कर्म से उत्पन्न होते हैं—यही व्यवस्था समीचीन है, फलतः आत्मकर्मार्जितत्व पुत्र के शरीर में अतिप्रसक्त है ।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है—"ब्राह्मणो यजेत"—इस श्रुति में स्थित 'ब्राह्मण' पद का क्या लक्षणा के द्वारा 'देहविशेषैक्याध्यासवान्'—यह अर्थ विवक्षित है? या 'देहविशेषसम्बन्ध' ? सम्बन्ध तो अन्य हो नहीं सकता, ऐक्याध्यास ही कहना होगा । अथवा 'ब्राह्मण' पद का देहविशेष ही अर्थ है ? आत्मा तो उसमें तादात्म्याध्यास के

न्यायामृतम्

लक्षणायोगात् त्वया पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेत्यध्यस्यतीति भाषितत्वेन न्यायसाम्येन भृत्यमित्रादावपि तस्य सत्वेन शूद्रस्वामिनो ब्राह्मणादेर्यागाद्यनधिकारापाताच्च, ब्राह्मणादिकमित्रस्य शूद्रस्याप्यधिकारापत्तेश्च। न च स्वकर्मार्जितेन देहविशेषेणैक्याध्यासवांस्तदर्थः, आवश्यकत्वेन स्वकर्मणां देहविशेषार्जनस्यैव तदर्थत्वोपपत्तेश्च। सुप्तस्य जीवन्मुक्तस्य च देहैक्याध्यासाभावेन ब्राह्मणो न

अद्वैतसिद्धिः

मित्रादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति अध्यासस्वीकारेण ब्राह्मणमित्रस्य शूद्रस्याधिकारप्रसङ्गात्, शूद्रमित्रस्य ब्राह्मणस्यानधिकारप्रसङ्गाच्च। न द्वितीयः, तदिन्द्रियाश्रयत्वादेः संबन्धान्तरस्यैव संभवात्। न तृतीयः, तस्य जड़त्वेन नियोज्यत्वासंभवादिति निरस्तम्, चरमपक्षे दूषणमनुक्तोपालम्भनम्, प्रथमद्वितीयपक्षयोरेव क्षोदसहत्वेनाङ्गीकारविषयत्वाद्, विधौ लक्षणायाः 'गोभिः श्रीणीत मत्सर' मित्यादौ दर्शनात् स्वीयत्वाद्यप्रतिसन्धानानबन्धनस्य पुत्रमित्रादिव्यावृत्तस्यैव सर्वानु-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कारण प्रवृत्त हो ही जाता है। प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि लक्षणा सदैव "यजमानः प्रस्तरः"—जैसे अन्यार्थपरक अर्थवादादि वाक्यों में ही होती है, स्वार्थपरक या विधि वाक्यों में नहीं होती, दूसरी बात यह भी है कि जैसे ब्राह्मण शरीर का तादात्म्याध्यास उसके शरीर के आत्मा में होता है, वैसे ब्राह्मण के (पुत्र, मित्रादि के सुख-दुःख को अपना ही समझनेवाले) अनन्य स्नेही शूद्र मित्र में भी हो सकता है, अतः "ब्राह्मणो यजेत' का अर्थ होगा 'ब्राह्मणशरीर-तादात्म्याध्यासवान् शूद्रो यजेत।' तब तो अपशूद्राधिकरण में निषिद्ध शूद्र को भी श्रौत कर्म में अधिकार प्राप्त हो जाता है। इतना ही नहीं, शूद्र शरीर के साथ तादात्म्य समझनेवाला शूद्र-मित्र ब्राह्मण उक्त श्रुति के घटक 'ब्राह्मण' पद से ब्राह्मणशरीरैक्याध्यासवान् न होने के कारण गृहीत नहीं हो सकता, अतः वह ब्राह्मण भी अपने इस अधिकार से वञ्चित हो जाता है। द्वितीय (देहविशेषसम्बन्धः) पक्ष में आध्यासिक सम्बन्ध को छोड़कर तदीयेन्द्रियाद्याश्रयत्वादि अन्य सम्बन्धों से ही निर्वाह हो जाता है। तृतीय पक्षोक्त शरीर जड़ होने के कारण याग में श्रुति के द्वारा प्रवृत्त नहीं किया जा सकेगा।

न्यायामृतकार का वह कहना भी इसीलिए निरस्त हो जाता है कि अन्तिम (तृतीय) पक्ष में अनुक्तोपालम्भन है, क्योंकि 'ब्राह्मण' पद से शरीर मात्र का अभिधान कभी भी नहीं किया जाता। प्रथम और द्वितीय पक्ष कुछ संशोधनों के साथ स्वीकृत हो सकते हैं। अर्थात् "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" (ऋ. ९।४६।४) इत्यादि विधि वाक्यों में भी लक्षणा अपनाई जाती है ['गो' पद के उत्तर 'मयट्' प्रत्यय का लोप हो गया है, अतः गोभिः का अर्थ है—गोमयः। यद्यपि 'गोश्च पुरीषे" (पा. सू. ४।३।१४५) इस सूत्र से पुरीष अर्थ में 'मयट्' का विधान किया गया है, तथापि यहाँ गोमय का कारीष (उपले) अर्थ विवक्षित न होकर लक्षणा के द्वारा गो-विकार दुग्ध विवक्षित है, अतः गोभिः का यहाँ वाक्यार्थ है—दुग्धैः मत्सरं श्रीणीत (गौ के दूध में सोम-रस पकाए)। अतः विधि या स्वार्थपरक वाक्यों में भी लक्षणा को कोई दोष नहीं माना जाता। श्रुति-घटक 'ब्राह्मण' पद का 'ब्राह्मणशरीरैक्याध्यासवान्'—यही अर्थ विवक्षित है। मित्रादि के शरीरों के साथ तभी ऐक्याध्यास होता है, जब उनमें स्वकीयत्व प्रतीत होता है,

न्यायामृतम्

हंतव्य "इत्यादेस्तदविषयकत्वापाताच्च । नापि कदाचिदध्यासवांस्तदर्थः, महापातकेन नष्टब्राह्मण्यस्याप्यधिकारापाताच्च । जन्मारभ्य जीवन्मुक्तस्योक्तनिषेधाविषयत्वापाताच्च । अत एव न द्वितीयः, संयोगस्यात्मविभुत्वपक्षे सर्वदेहेषु स्वस्वामिभावस्य च भृत्यदेहे सत्त्वेऽपि इच्छानुविधायित्वस्य चात्यातुरादिदेहेष्वसत्त्वेऽपि साक्षात्स्वस्वामिभावस्य वा, तदिन्द्रियाश्रयत्वस्य वा, साक्षात्तत्प्रयत्नजन्यक्रियाश्रयत्वस्य वा, तद्भोगायतनत्वस्य वा, तत्कर्मार्जितत्वस्य वा, सम्बन्धान्तरस्य सम्भवात् । न च प्रयत्नादावप्यात्मैक्यभ्रम एव सम्बन्धः, अहं कृतिरित्यप्रतीतेः । आत्मसमवायस्यात्मायुतसिद्धेर्वा सम्बन्धान्तरस्य सत्त्वाच्च । न चानतिप्रसंगाय स्वस्वामिभावादिरैक्याध्यासरूपमूलसम्बन्धाधीनः, वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात्, तत्कर्मार्जितत्वस्यैव मूलसम्बन्धत्वाच्च । कर्मणां तदीयत्वं चानादिपूर्वपूर्वतदीयकर्माधीनं वा तदाश्रितप्रयत्नजन्यत्वाधीनं वा, न तु तदीयशरीरजन्यत्वाधीनमिति नान्योन्याश्रयः । पुत्रकामेष्टिकर्मापि न पुत्रशरीरार्जकम्, किं तु ग्रामकामेष्टिवत्पुत्रकर्मार्जितस्य तस्य स्वसम्बन्धमात्रार्जकम् । न तृतीयः, तस्य जडत्वादिना अनियोज्यत्वाद्, देहविशेषयुक्त एव ब्राह्मणशब्दप्रयोगेण देहस्यातदर्थत्वाच्च । अनेन सर्वाण्यपि विधिनिषेधशास्त्राण्यध्यासमूलानी' ति परभाष्यं निरस्तम् ।

अद्वैतसिद्धिः

भवसाक्षिकस्याध्यासस्य प्रयोजकतया नोक्तस्थले अतिप्रसङ्गाप्रसङ्गौ । कादाचित्कस्य तादृशाध्यासस्यैव ब्राह्मणपदप्रयोगनिमित्तत्वेन ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादेः सुषुप्तविषयत्वादिकमपि संगच्छते । तथा जीवन्मुक्तविषयत्वमपि, तस्यावरणशक्तिनिबन्धनाध्यासाभावेऽपि विक्षेपशक्तिनिबन्धनाध्याससंभवात् । न चैवं कदाचिदध्यासस्य प्रयोजकत्वे महापातकेन नष्टब्राह्मण्यस्याप्यधिकारप्रसङ्गः, तत्र महापातकस्यैवानधिकारप्रयोजकत्वम्, न तु ब्राह्मण्याभावस्य, 'पतितो ब्राह्मण'इति व्यवहारेण तदभावस्यैवाभावात् । तथा चोक्तं भाष्ये -'सर्वाणि विधिनिषेधशास्त्राण्यध्यासमूलानी'ति ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अन्यथा नहीं और अपने शरीर में स्वीयत्व-प्रतीति-निरपेक्ष ऐक्याध्यास होता है, अतः स्वीयत्वादि के अप्रतिसन्धानकालीन ऐक्याध्यास का ग्रहण करने पर किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग या अप्रसङ्ग नहीं होता । [इस प्रकार का भी ऐक्याध्यास सदैव जिसमें हो, वह ब्राह्मण है—ऐसा मानने पर सुषुप्ति और जीवन्मुक्ति अवस्था में वैसा अभिमान न रहने के कारण सुषुप्त और जीवन्मुक्त ब्राह्मण को भी ब्राह्मण नहीं माना जायेगा और ब्राह्मणो न हन्तव्यः'—यह निषेध भी वहाँ लागू न हो सकेगा, ब्राह्मण बे मौत मारा जायेगा, अतः] कादाचित्क ऐक्याध्यास विवक्षित है, जाग्रत् अवस्था में वैसा अध्यास हो जाने मात्र से सुषुप्त और जीवन्मुक्त ब्राह्मण भी ब्राह्मण ही कहलायेगा । जीवन्मुक्ति अवस्था में भी आवरण शक्ति-प्रयुक्त ऐक्याध्यास न रहने पर भी विक्षेप शक्ति-प्रयुक्त अध्यास रहता है । 'कादाचित्क ऐक्याध्यास को ब्राह्मणत्व का प्रयोजक मानने पर वह ब्राह्मण भी ब्राह्मण ही माना जायेगा, जिसका ब्राह्मणत्व महापातक के द्वारा नष्ट हो चुका है'—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि पतित ब्राह्मण भी ब्राह्मण ही रहता है, क्योंकि महापातकी ब्राह्मण का वह अध्यास निवृत्त नहीं होता—उस काल में भी प्रमातृत्वादि का भान उसे होता है, प्रमातृत्वादि का व्यवहार अध्यास के बिना हो नहीं सकता । भाष्यकार ने कहा है—''सर्वाणि विधिनिषेधशास्त्राणि अध्यासमूलानि''

न्यायामृतम्

नापि प्रमातृत्वाद्यन्यथानुपपत्त्याध्याससिद्धिः, तदभावेऽपि सुषुप्तावज्ञानादिज्ञातृत्वस्य दर्शनाद् , जागरणादावपि घटादिप्रमातृत्वदशायां तत्कर्मार्जितत्ववत् तदैक्याध्यासस्य तदाऽभावाच्च । एतेन प्रमातृत्वादिकमध्यासमूलमिति परभाष्यं निरस्तम् । चार्वाकादेस्त्वनुमानाभासादिजन्येऽपि देहात्मभ्रमे धर्माद्यभावभ्रम इव प्रत्यक्षत्वाभिमानः, संसारहेतुः देहानुकूलादौ रागादिरपि पुत्रानुकूलादाविव देहस्य प्रेमास्पदत्वात् । अंगुल्या देहं प्रदर्श्यायमहमित्युक्तिरपि अंगारं प्रदर्श्यायं वह्निरितिवत् पृथग्दर्शयितुम-

अद्वैतसिद्धिः

प्रमातृत्वाद्यन्यथानुपपत्तिरप्यध्यासे मानम् । कदाचिदध्यासस्यैव प्रयोजकत्वेन सुषुप्तौ तदभावेऽपि ज्ञातृत्वस्य घटादिप्रमाकाले तदभावेऽपि प्रमातृत्वस्य दर्शनात् कथमैक्याध्यासः तत्र प्रयोजक इति—निरस्तम् । तदुक्तं भाष्ये—'प्रमातृत्वादिकमध्यासमूलमिति । अत एव चार्वाकादीनामनभिसंहितप्रवलागमानुमानादीनां देह एवात्मेति प्रवादः । अन्यथा प्रत्यक्षप्रामाण्यवादिनस्तस्य तादृशव्यवहारानुपपत्तेः । न च—चार्वाकादेरनुमानाभासाज्जाते देहात्मैक्यभ्रमे प्रत्यक्षत्वाभिमान इति—वाच्यम् , प्रत्यक्षेण भेदे गृहीते अनुमानाभासादिनाऽभेदस्य वोधयितुमशक्यत्वात् । तथा च प्रत्यक्ष एवायमैक्यभ्रमः । अत एवाङ्गुल्या देहं प्रदर्श्य वदत्ययमहमिति । अत एव देहात्मैक्यनिषेधक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(ब्र० सू० शां० भा० पृ० २) । अतः महापातकी ब्राह्मण को जो शास्त्रीय कर्मों में अधिकार नहीं रहता, उसके कारण महापातक ही होते है, ब्राह्मणत्वाभाव नहीं ।

'कादाचित्क ऐक्याध्यास ही यदि ब्राह्मणत्वादि का प्रयोजक है, तब सुषुप्ति में अध्यास न होने पर भी ज्ञातृत्व और घट-प्रमा-काल में अज्ञानाध्यास के न होने पर भी प्रमातृत्व का भान क्यों होता है ?'—यह शङ्का भी इसीलिए निरस्त हो जाती है कि प्रमातृत्वादि का भान ही सिद्ध कर रहा है कि वहाँ अध्यास का अभाव नहीं होता, भाष्यकार ने कहा है—"प्रमातृत्वादिकमध्यासमूलम् ।" अतः सुषुप्ति में ब्राह्मणत्वाभिमान न होने पर भी अज्ञानाध्यास और घट-प्रमा-काल में अज्ञानाध्यास न होने पर भी मनुष्यत्वाध्यास रहता है, अन्यथा उस समय अपने को मनुष्येतर समझना चाहिए, किन्तु कोई भी वैसा नहीं समझता । प्रत्यक्ष दृष्ट देह का ऐक्याध्यास आत्मा में होने के कारण चार्वाक गण कहते हैं—'देह एवात्मा' । प्रत्यक्ष प्रमाण को यदि देह और आत्मा के भेद का निर्णायक मान लिया जाय, तब चार्वाक प्रत्यक्ष-सिद्ध देह से भिन्न और किस देह को आत्मा कहते हैं? प्रत्यक्ष को छोड़ कर अनुमानादि को न तो चार्वाक प्रमाण ही मानते हैं और उनके द्वारा प्रमाणित वस्तु की सत्ता । फलतः प्रत्यक्ष मात्र के आधार पर प्रवृत्त देह एवात्मा'—ऐसा व्यवहार यह सिद्ध करता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण देह और आत्मा के भेद का साधक नहीं । यदि कहा जाय कि चार्वाकगणों को वस्तुतः अनुमानाभास के द्वारा देहात्मैक्य-भ्रम उत्पन्न होता है, उसमें वे प्रत्यक्षता का अभिमान कर लेते हैं, प्रत्यक्ष से कभी भी देहात्मैक्य-भ्रम नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष तो देह और आत्मा का भेद ही सिद्ध करता है । तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा निर्णीत भेद का अनुमानाभास के द्वारा बाध और देहात्मैक्य-बोध कभी नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रमाण की अपेक्षा प्रमाणाभास कभी प्रबल नहीं, सदैव दुर्बल ही होता है । अतः यह मानना होगा कि "अहं मनुष्यः"—इत्यादि देहात्मैक्य-भ्रम प्रत्यक्ष-सिद्ध ही है ।

न्यायामृतम्

शक्यत्वात्, श्रुतिषु देहात्मैक्यनिषेधोऽप्यसत्कारणत्वनिषेधवत् कुवादिप्राप्तत्वाद्, व्यवहारपर्यन्तं स्फुटतरभेदज्ञानाभावाच्च। दृश्यन्ते हि यमलयोर्व्यावर्तकं पश्यन्तोऽपि व्यवहर्तुमशक्ताः। उक्तम् च—

व्याप्तत्वादात्मनो देहे व्यवहारेष्वपाटवात्।
भेदज्ञानेऽपि चांगारवह्निवत्स्वाविविक्तवत् ॥ १ ॥
भवन्ति व्यवहाराश्च न हि प्रत्यक्षगानपि।
अर्थान् यथानुभवतः प्रतिपादयितुं क्षमाः ॥ २ ॥ इति

तस्माद् देहादेरात्मैक्येन स्वरूपेण चानध्यस्तत्वाज्जगत्सत्यमेव, न त्वनिर्वाच्यमिति।

देहात्मैक्याध्यासभंगः ॥ ५८ ॥

अद्वैतसिद्धिः

श्रुतिरप्युपपद्यते, अन्यथा तस्याप्रसक्तप्रतिषेधकतापत्तेः। न च कुसमयप्राप्तनिषेधिका सा, प्रत्यक्षविरुद्धकुसमयस्याप्यनवकाशात्। तस्मादाभीरसाधारणाद् 'अहं गौर' इत्यादिप्रत्ययादात्मन्यन्तःकरणैक्याध्यासाद् देहतद्धर्माध्यासोऽपीति सिद्धम्।

इत्यद्वैतसिद्धौ देहात्मैक्याध्यासोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

इसी लिए कौन कहता है? ऐसे प्रश्न के उत्तर में मनुष्य बड़े गर्व से अपने शरीर की ओर उँगली का इशारा करके कहता है—यह मैं हूँ वैसा कहने वाला। प्रत्यक्ष के द्वारा प्रसक्त देहात्मैक्याध्यास का निरास करनेवाली श्रुतियों का प्रामाण्य भी निभ जाता है, अन्यथा "नान्तरिक्षे न दिवि चेतव्यम्"—इत्यादि अप्रसक्त-प्रतिषेधक वाक्यों के समान नेति-नेति" इत्यादि श्रुतियों को भी अप्रमाण ही माना जाता। यदि कहा जाय कि चार्वाकादि के कुसमय (कुत्सित शास्त्रों) के द्वारा प्रसक्त देहात्मैक्य का निराकरण श्रुतियों के द्वारा किया जाता है। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष यदि देह और आत्मा के भेद का साधक है, तब इसके विरोध में कुत्सित आगमों को कभी यह अवसर नहीं मिल सकता कि वे देहात्मैक्य झलका सकें। इसलिए पठित व्यक्ति से लेकर एक अपठित अहीर-तक प्रसिद्ध 'अहं गौरः'—ऐसी प्रतीति के आधार पर आत्मा में अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास के द्वारा, देह और देह के मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व तथा गौरत्वादि धर्मों का भी अध्यास हो जाता है।

: ६९ .

अनिर्वाच्यत्वलक्षणविचारः

न्यायामृतम्

यच्चोक्तं यद्यप्यनिर्वाच्यत्वं न निरुक्तिविरहः, इदं रूप्यमिति निरुक्तेः। अत एव न निरुक्तिनिमित्तस्य ज्ञानस्यार्थस्य वा विरहः, निमित्तं विना कार्यायोगात्। नापि तयोः सदसद्रूपविशिष्टविलक्षणत्वम्, सदेकरूपत्वेऽपि तदुपपत्तेः। नापि सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वम्, सदसद्रूपत्वेऽप्युपपत्तः। नापि सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वम्, सतोऽपि सदन्तरविलक्षणत्वात्। नापि सत्त्वे

अद्वैतसिद्धिः

ननु एवमविद्यायां तन्निबन्धनाध्यासे च सिद्धेऽपि न तस्यामनिर्वचनीयत्वसिद्धिः, लक्षणप्रमाणयोरभावात्। तथा हि—किमिदमनिर्वाच्यत्वम्? (१) न तावन्निरुक्तिविरहः, (२) तन्निमित्तज्ञानविरहो वा, (३) तन्निमित्तार्थविरहो वा, (४) तन्निमित्तसामान्यविरहो वा, । आद्ये अनिर्वाच्य इत्यनेनैव निरुक्त्या 'इदं रूप्य'मिति निरुक्त्या च व्याघातात्। द्वितीये निरुक्तिरूपफलसत्त्वेन तन्निमित्तविरहस्य वक्तुमशक्यत्वात्। अत एव न तृतीयः, अर्थस्य निरुक्तावनिमित्तत्वाच्च। फलसत्त्वादेव न चतुर्थः। नापि (५) सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वम्, सदसद्रूपत्वेऽप्युपपत्तेः। अत एव (६) न सत्त्वराहित्ये सत्यसत्त्वविरहः, तथा च लक्षणासम्भव इति—चेन्न, (१) सद्विलक्षणत्वे सति

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—अविद्या और अविद्या-प्रयुक्त अध्यास के सिद्ध हो जाने पर भी अविद्या में अनिर्वचनीयत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अनिर्वचनीयत्व का न तो कोई लक्षण हो सकता है और उसमें कोई प्रमाण ही है। अनिर्वचनीयत्व क्या है? न तो (१) निरुक्ति का अभाव है, न (२) निरुक्ति के निमित्तभूत ज्ञान का अभाव, न (३) निरुक्ति के निमित्तभूत पदार्थ का अभाव और न (४) निरुक्ति के प्रवृत्ति-निमित्तभूत सामान्य का अभाव क्योंकि प्रथम (निरुक्तिविरहः) पक्ष में वदतो व्याघात है—जिसकी 'अनिर्वाच्यः', 'इदं रजतम्'—इत्यादि शब्दों के द्वारा निरुक्ति (कथन) होती है, उसकी निरुक्ति का विरह कैसे? द्वितीय (निरुक्तिनिमित्तज्ञानविरहः) पक्ष में जब निरुक्तिरूप कार्य की सत्ता सिद्ध है, तब उसके निमित्त का अभाव नहीं कहा जा सकता। अत एव तृतीय (निरुक्तिनिमित्तार्थविरहः) पक्ष भी व्याहत है। दूसरी बात यह भी है कि अर्थ (विषय) को निरुक्ति का निमित्त माना भी नहीं जाता, निरुक्ति का निमित्त ज्ञान ही होता है। चतुर्थ (निरुक्तिनिमित्तसामान्यविरहः) पक्ष भी व्याहत है, क्योंकि जिसका वाचक कोई शब्द है, तब उसका प्रवृत्ति-निमित्त (शक्यतावच्छेदक) कोई सामान्य धर्म भी अवश्य होगा। (५) सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्व को भी अनिर्वाच्यत्व नहीं कह सकते, क्योंकि अनिर्वाच्य प्रपञ्च को यदि केवल सत् और केवल असत् नहीं कह सकते, तब सदसत् उभयरूप मान लेने से काम चल जाता है, तब उभय-विलक्षण मानने की क्या आवश्यकता? इसी प्रकार (६) सत्त्वाभाव-विशिष्ट असत्त्वाभाव को भी अनिर्वाच्यत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व—उभय धर्म-युक्त पदार्थ में जब अनिर्वाच्यत्व बन सकता है, तब सत्त्व और असत्त्व उभय धर्मों का अभाव मानना व्यर्थ है। अतः अनिर्वाच्यत्व का कोई लक्षण सम्भव नहीं।

समाधान—(१) जो सत्, असत् और सदसत्-उभयरूप न हो, या (२)

न्यायामृतम्

सत्यसत्त्वरूपविशिष्टस्य विरहः, केवलसत्त्वेऽप्युपपत्तेः । नापि सत्त्वराहित्ये सत्यसत्त्वविरहः, सदसत्त्वेऽप्युपपत्तेः । तथापि सत्त्वेनासत्त्वेन सदसत्त्वेन च विचारासहत्वं वा बाध्यत्वं वा अनिर्वाच्यत्वम् । प्रमाणं तत्र—विमतं सत्त्वरहितत्वे सत्यसत्त्वरहितत्वे सति सदसत्त्वविरहितम्, बाध्यत्वाद् दोषप्रयुक्तभानत्वाद्वेत्यादिव्यतिरेकि । न चाप्रसिद्धविशेषणत्वम्, सत्त्वासत्त्वे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वाद्रूपरसवत् । सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानिष्ठम्, असत्त्वं वा सत्त्वानधिकरणानिष्ठम्, धर्मत्वाद्रूपवदिति वा सामान्यतस्तत्सिद्धेः । किं च सच्चेन्न बाध्येतासच्चेन्न प्रतीयेतेति ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिः प्रवृत्तिबाधान्यथानुपपत्तिश्चात्र मानमिति ।

अत्र ब्रूमः—अत्र सत्त्वासत्त्वे सत्ताजातितदभावौ वा ? अर्थक्रियाहेतुत्वाहेतुत्वे वा ? अबाध्यत्वबाध्यत्वे वा ? प्रामाणिकत्वाप्रामाणिकत्वे वा ? अशून्य-

---

अद्वैतसिद्धिः

असद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वम्, (२) सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारासहत्वे सति सदसत्त्वेन विचारासहत्वं वा, (३) प्रतिपन्नोपाधौ बाध्यत्वं वा इत्यादिलक्षणे निरवद्यत्वसंभवात् । न च आद्यं सतोऽपि सदन्तरविलक्षणत्वात् सिद्धसाधनमिति—वाच्यम्, सत्त्वावच्छिन्नभेदस्य सन्नेति प्रतीतिप्रयोजकस्य सद्वैलक्षण्यपदार्थत्वात् । न हि सति सदन्तरभेदेऽपि सन्नेति प्रतीतिः, अतो न सिद्धसाधनम् । एवं च सत्त्वरहितत्वे सति असत्त्वरहितत्वे सति सदसत्त्वरहितत्वमपि साधु ।

स्यादेतत्—सत्त्वं तावत् (१) सत्ताजातिर्वा ? अर्थक्रियाकारित्वं वा ? (३) अबाध्यत्वं वा ? (४) प्रामाणिकत्वं वा ? (५) अशून्यत्वं वा ? (६) ब्रह्मत्वं वा ? (७) परा-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जिसमें सत्त्व, असत्त्व और सदसदुभयत्व न रहता हो, अथवा (३) जिसका अपने प्रतीयमान आधार में बाध हो, उसे अनिर्वचनीय कहते हैं—इस प्रकार अनिर्वचनीयत्व के लक्षण में किसी प्रकार का दोष नहीं ।

शङ्का—प्रथम लक्षण के द्वारा जब लक्ष्यार्थ की सिद्धि की जायगी—विमतम् अनिर्वाच्यम्, सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वात् ।' तब वहाँ हम (प्रपञ्चसद्वादी) 'सिद्ध-साधन' दोष का उद्भावन करेंगे, क्योंकि घटरूप सद्वस्तु पटरूप सद्वस्तु से विलक्षण, असत् से विलक्षण (भिन्न) है और पटरूप सत् तथा खपुष्परूप असत् से भी विलक्षण है । ऐसे अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि पहले ही है, उसे सिद्ध करने की क्या आवश्यकता ? अनिर्वचनीयत्व का ऐसा लक्षण, जो सत्प्रपञ्च में घट जाय, वह हमें भी अभीष्ट है ।

समाधान—'सद्विलक्षण' पद से यावत्सत् से भिन्न या 'सन्न' इस प्रतीति का प्रयोजक 'सत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवान्' अर्थ विवक्षित है घटरूप सत् में 'पटो न' या 'पटरूप सन्न'—इस प्रकार की प्रतीति रहने पर भी सामान्यतः 'सन्न'—ऐसी प्रतीति नहीं होती, अतः सिद्ध-साधन दोष का उद्भावना नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार 'सत्त्वरहितत्वे सत्यसत्त्वरहितत्वे सति सदसत्त्वरहितत्वम् 'अनिर्वाच्यत्वम्'—ऐसा भी लक्षण किया जा सकता है ।

शङ्का—सत्त्व क्या (१) नैयायिक-सम्मत सत्ता जाति है ? या (२) बौद्ध-सम्मत अर्थक्रियाकारित्व है ? या (३) अबाध्यत्व है ? या (४) प्रामाणिकत्व है ? या

न्यायामृतम्

त्वशून्यत्वे वा ? ब्रह्मत्वशून्यत्वे वा ? अबाध्यत्वशून्यत्वे वा ? प्रामाणिकत्वशून्यत्वे वा ? परेणांगीकृते सत्त्वासत्त्वे वा ? नाद्यद्वितीयौ, शुद्धात्मनि सद्वैलक्षण्यस्य प्रपंचे तदभावस्य चापातात् । न तृतीयः, त्वन्मते तुच्छस्याप्यबाध्यत्वेन तत्र सद्वैलक्षण्यस्यानिर्वाच्यस्य च बाध्यत्वेन तत्रासद्वैलक्षण्यस्य चायोगात् । अत एव न चतुर्थः, अनिर्वाच्यस्याप्रामाणिकत्वेन तत्रासद्वैलक्षण्यायोगात् । न च पञ्चमः, अनिर्वाच्यस्याशून्यत्वेन तत्र सद्वैलक्षण्यायोगात् । न षष्ठः, ममापि प्रपंचे तस्येष्टत्वात् । न सप्तमः, तयोरविरोधेन सत्त्वासत्त्वरूपत्वायोगात् अबाध्यत्वाभावस्यैव लक्षणत्वोपपत्त्या व्यर्थविशेष्यत्वाच्च । किं चात्र शून्यं किं विवक्षितं निरुपाख्यं वा ? निस्स्वरूपं वा ? नाद्यः, असत्ख्यातिवादेऽपि रूप्यादौ तद्वैलक्षण्यस्येष्टत्वात् । न द्वितीयः, मिथ्यात्वभंगोक्तरीत्या

अद्वैतसिद्धिः

ङ्गीकृतं वा ? नाद्यद्वितीयौ, शुद्धात्मनि सद्वैलक्षण्यस्य प्रपञ्चे सद्वैलक्षण्याभावस्य चापातात् । न तृतीयः, त्वन्मते तुच्छस्याप्यबाध्यत्वेन तत्र सद्वैलक्षण्यस्यानिर्वाच्यत्वस्य बाध्यत्वेनासद्वैलक्षण्यस्य चायोगात् । न चतुर्थः, प्रमा ह्यन्तःकरणवृत्तिः, तद्विषयत्वस्य प्रपञ्चेऽपि सत्त्वेन सद्वैलक्षण्यस्य तत्रासत्त्वप्रसङ्गात् । न पञ्चमः, तस्य प्रपञ्चेऽपि विद्यमानत्वेन तद्वैलक्षण्याभावप्रसङ्गात् । न षष्ठः, तद्वैलक्षण्यस्य जगति सत्त्वेनेष्टापत्तेः । न सप्तमः, पराभ्युपगतस्य सत्त्वस्यासत्त्वविरहरूपत्वेन उभयवैलक्षण्योक्त्ययोगात् । अत एव—एतेषां विरहस्यासत्त्वरूपत्वं—निरस्तम् । अथासत्त्वं निरुपाख्यत्वम् ? निःस्वरूपत्वं वा ? नाद्यः, असदादिपदेनैव ख्यायमानत्वात्, न द्वितीयः,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(५) अशून्यत्व है ? या (६) ब्रह्मत्व है ? अथवा (७) द्वैति-सम्मत असत्त्वाभावात्मक सत्त्व है ? प्रथम और द्वितीय पक्ष के अनुसार शुद्ध ब्रह्म में नैयायिक-सम्मत सत्ता जाति तथा बौद्ध-सम्मत अर्थक्रियाकारित्व न रहने से सद्वैलक्षण्य और प्रपञ्च में सत्ता जाति और अर्थक्रियाकारित्व रहने के कारण सद्रूपता माननी पड़ेगी, जो आपको अभीष्ट नहीं । तृतीय (अबाध्यत्व) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि खपुष्पादि असत् पदार्थ भी आप के मत में अबाध्य होते हैं, अतः वे सत् ही हो गए, उनमें सद्वैलक्षण्य कैसे रहेगा ? एवं शुक्ति-रजतादि अनिर्वाच्य पदार्थ बाधित होने से असत् ही हो गये, अतः उनमें असद्वैलक्षण्य क्योंकर रहेगा ? चतुर्थ (प्रामाणिकत्वम्) पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि प्रमा अन्तःकरण की एक वृत्ति है, उसकी विषयता ही प्रामाणिकता है, वह तो प्रपञ्च में भी है, अतः उसमें सद्वैलक्षण्य कैसे रहेगा ? पञ्चम (अशून्यत्वम्) प्रकार भी प्रपञ्च में विद्यमान है, अतः वहाँ सद्वैलक्षण्य का अभाव ही प्रसक्त होता है । षष्ठ (ब्रह्मत्वम्) पक्ष में इष्टापत्ति है, क्योंकि प्रपञ्च में ब्रह्मत्व कोई भी नहीं मानता । सप्तम पक्ष मानने पर प्रपञ्च में सत् और असत्—उभय का वैलक्षण्य नहीं रह सकेगा, क्योंकि असत्त्वाभावरूप सत्त्व पराभ्युपगत है, अतः परस्पर-विरोधी भाव और अभाव दोनों एकत्र कैसे रहेंगे ? सत्त्व के कथित सात पक्षों का प्रतिक्षेप किया गया, वैसे ही उन सातों के अभावरूप असत्त्व पक्षों का भी निरास हो जाता है ।

फिर भी असत्त्व के विषय में सन्देह होता है कि असत्त्व क्या (१) निरुपाख्यत्व है ? अथवा (२) निःस्वरूपत्व ? प्रथम में वदतो व्याघात है, क्योंकि जिस वस्तु की उपाख्या (निरुक्ति) 'असत्' पद से कर दी गई, वह निरुपाख्य (अवाच्य)

न्यायामृतम्

त्वन्मतेऽपि रूप्यादेः स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधेन निस्स्वरूपत्वात् । अत एव नाद्यः, उक्तरीत्या रूप्य.द्याध्यसद्वैलक्षण्यायोगात् । न द्वितीयः, मया त्रिकालसर्वदेशीयनिषेधाप्रतियोगित्वप्रतियोगित्वे सत्त्वासत्त्वे इति स्वीकारात् । त्वन्मते चानिर्वाच्यस्य तत्प्रतियोगित्वात् ।

किं च रूप्यादौ घटादौ च प्रातिभासिकस्य व्यावहारिकस्य च सत्त्वस्य सद्भावात् कथं सद्विलक्षणत्वम् ? पारमार्थिकसद्वैलक्षण्यं विवक्षितं चेत्, पारमार्थिकत्वस्य बाध्यत्वाभावरूपतया लाघवाद् बाध्यत्वमेवानिर्वाच्यत्वं स्यात् । किंच मदनभिमतयो परस्परनिषेधानात्मकयोः पारिभाषिकयोः सत्त्वासत्त्वयोराहित्यविवक्षायामिष्टापत्तिः । मदभिमतयो राहित्यविवक्षायां तु मया लाघवादावश्यकत्वाच्च(च्चाऽसत्त्वाभाव एव सत्त्वमिति सत्त्वाभाव एवासत्त्वमिति स्वीकारात् । "द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं सातिशयं गमयत" इति न्यायेनैकनञ्निषेधस्यान्यतरविधिरूपत्वात् माता वन्ध्येतिवद् व्याघातः । एतेन सद्वैलक्षण्येन सत्त्वसाधने आत्मत्वमुपाधिरिति निरस्तम् । असद्वैलक्षण्यमेव सत्स्वरूपमितिव्याहृतेरेवोक्त्या तेन तदसाधनात् । सत्त्वे तद्विरुद्धवैलक्षण्यस्यैवात्मत्वस्य तत्र प्रयोजकत्वेनाकल्पत्वाच्च । एतेनानिर्वाच्यवादे विरोधोऽसिद्ध इति निरस्तम्, अन्योन्याश्रयात् । अन्यथा माता वन्ध्येतिवादे विरोधोऽसिद्ध इति स्यात् ।

अद्वैतसिद्धिः

स्वरूपेण निषेधपक्षे शुक्तिरूप्यादेरपि निःस्वरूपत्वेनासद्वैलक्षण्यानुपपत्तेरिति—चेन्न, पराभिमतसत्त्वासत्त्वे एव विवक्षिते, न तु पारिभाषिके अतो न तादृकसदसद्वैलक्षण्योक्ताविष्टापत्तिः । नापि—तयोः परस्परविरुद्धत्वेन एकनिषेधस्यापरविधिपर्यवसन्नतया एकत्रोभयवैलक्षण्यं व्याहतमिति—वाच्यम्, निषेधसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वाङ्गीकारात्

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कैसे होगी ? द्वितीय (निःस्वरूपत्व) पक्ष मानने पर शुक्ति-रजत में सद्वैलक्षण्य नहीं बनता, क्योंकि शुक्ति में रजत-निषेध के दो पक्ष प्रसिद्ध है--स्वरूपेण, पारमार्थिकत्वेन वा । प्रथम पक्ष के अनुसार रजत में स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्व रहने के कारण निःस्वरूपत्वरूप असत्त्व हो रहता है, असद्वैलक्षण्य नहीं ।

समाधान-यद्यपि सत्त्व और असत्त्व—दोनों परस्पर विरहरूप नहीं होते—यह विगत पृ० १६ पर ही कहा जा चुका है, तथापि यहाँ हम द्वैतमत का निराकरण करने के लिए सत्त्वासत्त्व को परस्पर विरहरूप मान कर ही चल रहे हैं, पारिभाषिक सत्त्वासत्त्व को लेकर नहीं । अतः परस्पर भावाभावात्मक सत्त्वासत्त्व-गर्भित सदसद्विलक्षणत्वोक्ति में इष्टापत्ति द्वैतवादी नहीं कर सकते ।

शङ्का भावाभावात्मक सत्त्वासत्त्व परस्पर-विरुद्ध होने के कारण एक का निषेध दूसरे की विधि में पर्यवसित हो जाता है, अतः ऐसे सत्त्व और असत्त्व का एकत्र व्याघात (विरोध) क्यों नहीं होता ?

समाधान—परस्पर भावाभावात्मक सत्त्व और असत्त्व निषेधों का तात्त्विक समुच्चय न हो सकने पर भी अतात्त्विक समुच्चय मान लेने में कोई व्याघात (विरोध) नहीं होता, क्योंकि एक ही वस्तु तत्त्वतः शुक्तिरूप भी हो और रजतरूप भी–यह नहीं हो सकता, किन्तु अतात्त्विक रजत के साथ शुक्ति का कोई विरोध नहीं होता । यदि एक ही वस्तु में विरोधी रूपों का अतात्त्विक समुच्चय हो सकता है, तब प्रपञ्च को

न्यायामृतम्

ननु निषेधसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वान्न विरोधः सदादिवैलक्षण्योक्तिस्तु तत्तत्प्रतियोगिदुर्निरूपत्वमात्रप्रकटनाय। न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किंचिदपि रूपं वास्तवमस्तीति चेन्न, सत्त्वादिराहित्यस्यातात्त्विकत्वेऽपि सत्त्वादेर्दुर्निरूपत्वमात्रेणानिर्वाच्यत्वे पंचमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ नानिर्वाच्यश्च तत्क्षय" इत्यनिर्वाच्यत्वनिषेधायोगात्। सत्त्वादिवत्तद्राहित्यस्याप्यतात्त्विकत्वे सत्त्वादौ प्रमाणनिरासेन तद्राहित्ये तदुक्तेरयोगाच्च।

अद्वैतसिद्धिः

न व्याहतिः, न ह्यतात्त्विकरजतेन शुक्तेर्विरोधः। न च तर्हि सदादिवैलक्षण्योक्तिः कथम्? तत्तत्प्रतियोगिदुर्निरूपतामात्रप्रकटनाय। न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किंचिदपि रूपं वास्तवं संभवति।

ननु—सत्त्वादिराहित्यस्यातात्त्विकत्वेऽपि सत्त्वादेर्दुर्निरूपत्वमात्रेणानिर्वाच्यत्वे पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तौ 'नानिर्वाच्योऽपि तत्क्षय' इति अनिर्वाच्यत्वनिषेधायोगः, सत्त्वादिवत्तद्राहित्यस्याप्यतात्त्विकत्वे सत्त्वादौ प्रमाणनिरासेन तद्राहित्ये तदुक्त्ययोगः, अविरोधाय विधिसमुच्चयस्यैवातात्त्विकस्वस्वीकारश्चेति —चेन्न; पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तिपक्षे नैतत्त्रितयविलक्षणत्वमात्रमनिर्वाच्यत्वम्, किंतु मुक्तिकालानवस्थायित्वसहितम्। तथा च मुक्तिकालावस्थायिन्यामविद्यानिवृत्तौ अनिर्वाच्यत्वनिषेधो युज्यते। सत्त्वादिराहित्ये तु अबाधितार्थविषयकप्रमाणोक्तिर्नास्त्येव। ज्ञापकमात्रोक्तिस्तदंशेऽसाधारणी। अतो वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्था। अतात्त्विकविधिसमुच्चयापत्तिस्त्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भी सदसदुभयरूप मान लेना चाहिए, उभय-विलक्षण क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सत्त्व-निषेध और असत्त्व-निषेध के प्रतियोगीभूत सत्त्व और असत्त्व की दुर्निरूपता मात्र ध्वनित करने के लिए सदसद्वैलक्षण्य कहा जाता है, क्योंकि जो शुक्ति-रजतादि मिथ्या पदार्थ स्वरूपतः निरूपित नहीं हो सकते, उन्हें अधिष्ठान से भिन्न सत् या असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

शङ्का—यदि सत्त्वादि का निषेध अतात्त्विक एवं सत्त्वादि में दुर्निरूपत्वमात्र के आधार पर अनिर्वाच्यत्व माना जाता है, तब पञ्चम प्रकारात्मक अविद्या-निवृत्ति में "नानिर्वाच्योऽपि तत्क्षयः" (न्या० म० पृ० ३५५) इस प्रकार अनिर्वाच्यत्व का निषेध क्यों? सत्त्वादि के समान सत्त्वादि का अभाव भी अतात्त्विक है, अतः सत्त्वादि के होने में प्रमाण का निराकरण करके सत्त्वादि में प्रमाण-प्रदर्शन क्यों? तथा सत्त्वादि के अविरोधापादनार्थं सत्त्वादि-निषेध-समुच्चय के समान विधिरूप सत्त्व और असत्त्व का ही समुच्चय क्यों नहीं मान लिया गया?

समाधान—अविद्या-निवृत्ति को जब पञ्चम प्रकार माना जाता है, तब केवल सत्त्वादि त्रितयविलक्षणत्व को अनिर्वचनीयत्व नहीं माना जाता, किन्तु मुक्ति-कालानवस्थायित्व-सहित सत्त्व, असत्त्व, सत्त्वासत्त्वरूप त्रितय-विलक्षणत्व को अनिर्वाच्यत्व माना जाता है, अतः मुक्ति-कालावस्थायी अविद्या-निवृत्ति में अनिर्वाच्यत्व का निषेध करना आवश्यक है, क्योंकि अविद्या-निवृत्ति को मोक्ष मानने वाले अविद्या-निवृत्ति में अनिर्वाच्यत्व या मिथ्यात्व नहीं मान सकते। सत्त्वादि के अभाव में प्रदर्शित जो प्रमाण है, वह अबाधितार्थविषयकत्वरूप पारमार्थिक प्रमाण नहीं, अपि तु व्यावहारिक सत्त्वाभावांश में केवल ज्ञापक मात्र का प्रदर्शन वादिगणों की सत्त्वादिविषयक

न्यायामृतम्

विधिसमुच्चयस्यैवातात्त्विकत्वान्न विरोध इति सुवचत्वाच्च । किंच निषेधसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वं किमुभयातात्त्विकत्वेन ? एकैकातात्त्विकत्वेन वा ? नाद्यः, उभयतात्त्विकत्ववदुभयातात्त्विकस्यापि विरुद्धत्वाद्विधिसमुच्चयस्य तात्त्विकत्वापातेन प्रतियोगिदुर्निरूपत्वस्यायोगाच्च । अत एव न द्वितीयः, तत्प्रतियोगिन एकस्य विधेस्तात्त्विकत्वापातात् । अतात्त्विकं हि तात्त्विकात्यन्ताभावप्रतियोगीत्युक्तम् । किं च हेतूकृतस्य स्वरूपतो दुर्निरूपत्वस्य साध्यस्य वास्तवरूपाभावस्य चातात्त्विकत्वेनैकान्त्यसिद्धसाधनस्य वापत्त्या तयोस्तात्त्विकत्वावश्यंभावाद्विरोधः । अपि च स्वरूपतो दुर्निरूपस्येत्यत्र किमिदं दुर्निरूपत्वं केनापि प्रकारेण वा ? केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वमित्येतत्प्रकारान्यप्रकारेण वा? सत्त्वासत्त्वाभ्यां वा? नाद्यः, केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वमित्यनेन

अद्वैतसिद्धिः

ष्टैव । न ह्यतात्त्विकसत्त्वासत्त्वे निषेधसमुच्चयेऽपि विरुध्येते । यत्तु विधिसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वपक्षे भ्रान्तिबाधव्यवस्था न स्यादित्युक्तम्, तन्न, अतात्त्विकत्वादेव भ्रान्तेर्बाधस्य सत्त्वप्रतिषेधस्याप्रतिक्षेपात् सत्त्वस्यातात्त्विकत्वाच्च तदुपपत्तेः ।

ननु– निषेधसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वं किमुभयातात्त्विकत्वाद्वा ? एकैकातात्त्विकत्वाद्वा ? नाद्यः, उभयतात्त्विकत्ववदुभयातात्त्विकत्वस्यापि विरुद्धत्वात्, विधिसमुच्चयस्य तात्त्विकत्वापाताच्च । एकैकप्रतियोगितात्त्विकत्वापत्तेरेव न द्वितीयोऽपि, तात्त्विकात्यन्ताभावप्रतियोगिन एव अतात्त्विकत्वादिति—चेन्न, उभयातात्त्विकत्वादेव निषेधसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वम् । न चोभयतात्त्विकत्ववदुभयातात्त्विकत्वमप्येकत्र

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विप्रतिपत्ति का निरास करने के लिए किया गया है । विधिरूप सत्त्वासत्त्व के समुच्चय की जो स्वीकारापत्ति दी गई, उसमें इष्टापत्ति है, क्योंकि सत्त्वासत्त्व का अतात्त्विक समुच्चय उनके निषेध-समुच्चय का विरोधी नहीं । यह जो कहा कि विधि-समुच्चय-पक्ष में भ्रान्ति और वाध की व्यवस्था नहीं रहेगी, वह कहना समीचीन नहीं, क्योंकि सत्त्व में अतात्त्विकत्व होने के कारण ही सत्त्वविषयक ज्ञान में भ्रान्तित्व और सत्त्व-प्रतिषेध या बाध की उपपत्ति हो जाती है ।

शङ्का—सत्त्व और असत्त्व के दोनों निषेधों का समुच्चय जो प्रपञ्च में माना गया है, वह क्या सत्त्व-निषेध और असत्त्व निषेध उभय की अतात्त्विकता के कारण ? अथवा एक-एक निषेध की अतात्त्विकता के कारण ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि जैसे परस्पर विरोधी सत्त्व-निषेध और असत्त्व निषेध—दोनों को एकत्र तात्त्विक नहीं माना जा सकता, वसे ही दोनों प्रतिषेधों को अतात्त्विक भी नहीं माना जा सकता । यदि निषेध-समुच्चय को अतात्त्विक माना जाता है, तब सत्त्वासत्त्वरूप विधि कोटि के समुच्चय को तात्त्विक भी मानना पड़ेगा । एक-एक निषेध की अतात्त्विकता के कारण यदि निषेध-समुच्चय को अतात्त्विक माना जाता है, तब उसके एक-एक निषेध के प्रतियोगी में तात्त्विकता माननी पड़ेगी, क्योंकि तात्त्विक निषेध के प्रतियोगी को अतात्त्विक और अतात्त्विक निषेध के प्रतियोगी को तात्त्विक माना जाता है ।

समाधान—सत्त्व-निषेध और असत्त्व-निषेध—दोनों के अतात्त्विक होने के कारण निषेध-समुच्चय को अतात्त्विक माना जाता है । यह जो कहा कि एकत्र दोनों निषेधों को जंसे तात्त्विक नहीं माना जा सकता, वैसे ही दोनों निषेधों को अतात्त्विक नहीं

न्यायामृतम्

प्रकारेण दुर्निरूपत्वमित्येतदन्यप्रकारेण दुर्निरूपत्वस्य केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वमित्य स्मादन्यत्वादसतोऽसत्त्वेनेव कल्पितस्यापि बाधत्वेधेन मिथ्यात्वादिना सुनरूपत्वाच्च। न तृतीयः, तस्य सदसद्वैलक्षण्यावास्तवत्वाहेतुत्वात्। न च ध्वंसानुपलक्षितोपलक्षित सत्तायोगित्वरूपयोर्नित्यत्वानित्यत्वयोः सत्ताहीने सामान्यादावभाववदुत्तरा-

अद्वैतसिद्धिः

विरुद्धम्, वल्मीकादावेकत्र स्थाणुत्वपुरुषत्वयोरतात्त्विकत्वदर्शनात्। न च परस्पर-विरहरूपयोरेकत्रोभयोरतात्त्विकत्वं विरुद्धम्, एकत्र तन्त्वादौ घटतत्प्रागभावयोरुभयो-रपि अतात्त्विकत्वदर्शनात्। न च प्रतियोगितदत्यन्ताभावयोरेवायं नियमः, नियामका-भावादस्माकमसंप्रतिपत्तेः। वस्तुतस्तु—सत्त्वासत्त्वयोर्न परस्परविरहरूपत्वम्, किंतु परस्परविरहव्याप्यतामात्रम्। न च—तादृशपारिभाषिकसदसद्वैलक्षण्योक्तौ नास्मा-कमनिष्टमिति- वाच्यम्, सत्त्वमबाध्यत्वम्, असत्त्वं सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वम्, तदुभय-वैलक्षण्यं च तव जगत्यसंप्रतिपन्नमिति कथमिष्टापत्त्यवकाशः? इष्टापत्तौ च कथं न मतक्षतिः? अत एव ध्वंसानुपलक्षिततदुपलक्षितसत्तायोगित्वरूपनित्यत्वानित्यत्वयोः सत्ताहीने सामान्यादावभाववदुत्तरावधिराहित्यं नित्यत्वं, भावान्यनिवृत्तिमत्त्वं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

माना जा सकता, क्योंकि एकत्र दो विरोधी पदार्थों का रहना विरुद्ध है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि एक ही वल्मीक (बाँबी) में स्थाणुत्व और पुरुषत्वरूप दो अतात्त्वि धर्मों का समुच्चय देखा जाता है। यदि कहा जाय कि स्थाणुत्व और पुरुषत्व दोनों भावात्मक धर्म है, परस्पर भावाभावात्मक नहीं, परस्पर भावाभावात्मक पदार्थों का ही एकत्र रहना विरुद्ध होता है। तो वह भी नहीं कह सकते, क्योंकि एकत्र तन्त्वादि में घट और घट-प्रागभाव दोनों को अतात्त्विक माना जाता है। यदि कहें कि प्रतियोगी और उसके प्रागभाव के लिए नहीं, प्रतियोगी और उसके अत्यन्ताभाव के लिए ही यह नियम है कि दोनों को एकत्र अतात्त्विक नहीं माना जा सकता। तो वह भी कहना संगत नहीं, क्योंकि ऐसे संकुचित नियम का ग्राहक कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता और न हम उस नियम से सहमत है, क्योंकि जैसे घट और उसके अत्यन्ताभाव का एकत्र रहना विरुद्ध है, वैसे ही एक ही समय में एकत्र घट और उसके प्रागभाव का रहना भी विरुद्ध है, अतः अत्यन्ताभाव के लिए पृथक् कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। वस्तुतः सत्त्व और असत्त्व—दोनों में परस्पर विरहरूपता नहीं मानी जाती, अपि तु केवल विरह की व्याप्यता मानी जाती है। यदि कहा जाय कि परस्पर विरह-व्याप्यरूप पारिभाषिक सत्त्व और असत्त्व को मान कर सदसद्विलक्षण-त्वोक्ति से भी हमारी (द्वैतवादी) की कोई क्षति नहीं। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वैसे सत्त्व का अर्थ है—अबाध्यत्व और असत्त्व का अर्थ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्व, इन दोनों का वैलक्षण्य आप (द्वैती) प्रपञ्च में नहीं मानते, अतः इस परिभाषा में आप को इष्टापत्ति करने का अवसर कहाँ? और इष्टापत्ति करने पर आप के मत की क्षति क्यों नहीं? अत एव ध्वंसानुपलक्षितसत्ता-योगित्व नित्यत्व और ध्वंसोपलक्षित-सत्ता-योगित्व अनित्यत्व है, इन दोनों का अभाव सत्ता जाति-रहित सामान्यादि में जैसे रह जाता है, वैसे ही उत्तरावधि-रहितत्व नित्यत्व [घटादि वस्तु की पूर्व अवधि प्रागभाव और उत्तर अवधि ध्वंस माना जाता है, अतः उत्तर अवधि से रहित या

न्यायामृतम्

वधिराहित्यभावान्यानिवृत्तिमत्त्वरूपयोर्नित्यत्वानित्यत्वयोः प्रागभावे अभाववद्वा क्वचित् सत्तासत्त्वयोरभावः स्यादिति केनचिदुक्तं युक्तम्, उक्तयोर्नित्यत्वानित्यत्वयोर्भावाभावानात्मकत्वात्, सत्त्वासत्त्वयोस्तु तदात्मकत्वात्, प्रागभावसामान्याद्यनुगतयोर्ध्वंसाप्रतियोगित्वप्रतियोगित्वयोरेव नित्यत्वानित्यत्वरूपत्वाच्च। प्रागभावस्यापि प्रतियोग्येव ध्वंसः, भावस्याभावो निवृत्तिरभावस्य तु भाव एवेति स्वीकारात्। अन्यथा ध्वंसोपलक्षितानुपलक्षितसत्ताराहित्यरूपयोर्नित्यत्वानित्यत्वयोः

अद्वैतसिद्धिः

चानित्यत्वम्, तदुभयाभावः प्रागभाव इव क्वचिद्दृश्यादौ मिथ्याभूते सत्त्वासत्त्वयोरभावः स्यादित्याहुः, उक्तसत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहव्याप्यत्वेऽपि परस्परविरहानात्मकत्वात्। उक्तनित्यत्वानित्यत्ववत्।

ननु—इदं नित्यत्वानित्यत्वयोर्मिलितयोर्व्यतिरेकः सामान्ये प्रागभावे चास्तीत्युक्तम्, तदयुक्तम्, नित्यत्वस्य सामान्यानुगतध्वंसाप्रतियोगित्वरूपत्वाद्, अनित्यत्वस्य च प्रागभावानुगततत्प्रतियोगित्वरूपत्वात् प्रागभावस्यापि प्रतियोग्येव ध्वंसः, भावस्यैवाभावो निवृत्तिः, अभावस्य तु भाव एवेति स्वीकारात्। ध्वंसोपलक्षितानुपलक्षितसत्ताराहित्यरूपनित्यत्वानित्यत्वयोः सामान्यादौ भाववदेकत्र सत्त्वासत्त्वे स्यातामित्यपि स्यादिति—चेन्न, न हि वयं दृष्टान्तमात्रेण सत्त्वासत्त्वव्यतिरेकयोरेकत्र स्थितिं ब्रूमः, येन ध्वंसोपलक्षितानुपलक्षितसत्ता-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ध्वंस के अप्रतियोगी को नित्य कहा जाता है। यद्यपि तार्किकगण ध्वंस का ध्वंस नहीं मानते, अतः उत्तरावधि-रहित होने पर भी ध्वंस को नित्य नहीं मानते। तथापि वेदान्त-सिद्धान्त में "अतोऽन्यदार्तम्"—इस श्रुति के अनुसार आत्मा से भिन्न ध्वंसादि समस्त अनात्म पदार्थ नश्वर माते जाते हैं, अतः ध्वंस का भी ध्वंस माना जाता है] और भावानात्मकनिवृत्ति-प्रतियोगित्व अनित्यत्व कहलाता है। इन दोनों का अभाव जैसे प्रागभाव में रहता है, वैसे ही मिथ्याभूत शुक्ति-रजतादि में सत्त्व और असत्त्व का अभाव रहता है—ऐसा आचार्यगणों ने कहा है। उक्त नित्यत्व और अनित्यत्व के समान ही सत्त्व और असत्त्व—दोनों परस्पर विरह रूप न होने पर भी उनमें परस्पर विरहव्याप्यता मात्र मानी जाती है।

शङ्का—यह जो कहा कि पूर्वोक्त नित्यत्व और अनित्यत्व का मिलित अभाव सामान्य और प्रागभाव में रहता है, वह उचित नहीं, क्योंकि ध्वंसाप्रतियोगित्वरूप नित्यत्व सामान्य में भी रहता है, अतः वहाँ नित्यत्वानित्यत्व—उभय का अभाव क्योंकर रहेगा? इसी प्रकार ध्वंस-प्रतियोगित्वरूप अनित्यत्व प्रागभाव में भी रहता है, अतः वहां भी नित्यत्व और अनित्यत्व—दोनों का अभाव कैसे रहेगा? घटादि के प्रागभाव का ध्वंस घटादि प्रतियोगी का स्वरूप ही माना जाता है, अतः उसे 'निवृत्ति' पद से अभिहित नहीं किया जाता, क्योंकि भाव के अभाव को ही निवृत्ति कहते हैं, अभाव का अभाव तो भावरूप ही माना जाता है—"अभावविरहात्मत्वं वस्तुतः प्रतियोगिता" (न्या० कुसु० ३।२)। ध्वंसोपलक्षित सत्ता-राहित्यरूप नित्यत्व और ध्वंसानुपलक्षितसत्ताराहित्यरूप अनित्यत्व—ये दोनों जैसे सामान्यादि में एकत्र रह जाते हैं, वैसे ही सत्त्व और असत्त्व—दोनों भी एकत्र रह सकते हैं।

समाधान—आपने केवल दृष्टान्त के आधार पर सत्त्व और असत्त्व का एकत्र

न्यायामृतम्

सामान्यादौ भाववदेकत्र सत्त्वासत्त्वे स्यातामिति स्यात्। न चाध्यस्ते नित्यत्वानित्यत्वयोरिव सत्त्वासत्त्वयोरप्यभावो न विरुद्धौ धर्मिण एव कल्पितत्वेन विरुद्धयोरपि धर्मयोरभावादिति वाच्यम्, त्वन्मते कल्पितस्यानित्यत्वात्कल्पितत्वरूपहेतोर्विरुद्धधर्माभावरूपसाध्यस्य च भावाभावाभ्यां व्याघाताच्च।

अद्वैतसिद्धिः

राहित्यरूपपारिभाषिकनित्यत्वानित्यत्वयोरेकत्र सामान्यादौ सद्भावनिदर्शनेन सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र सत्त्वमुच्येत, किन्तु प्रमाणैः सिद्धे निषेधसमुच्चये सामान्यादिष्वावृत्तनित्यत्वानित्यत्वयोर्निषेधसमुच्चयं दृष्टान्तयामः। एवं च सामान्याद्यनुगतत्वदुक्तनित्यत्वानित्यत्वयोर्निषेधसमुच्चयस्यादृष्टान्तत्वेऽपि न क्षतिः। अत एवोक्तमध्यस्ते नित्यत्वानित्यत्वयोरिव सत्त्वासत्त्वयोरप्यभावो न विरुद्धौ, धर्मिण एव कल्पितत्वेन विरुद्धयोरपि धर्मयोरभावाद्, इति। न चैवं कल्पितस्यानित्यत्वाभ्युपगमविरोधः, तात्त्विकानित्यत्वाभावेऽपि धर्मिसमसत्ताकानित्यत्वसत्त्वेनाभ्युपगमे विरोधाभावात्। न च—कल्पितत्वहेतोर्विरुद्धधर्माभावरूपसाध्यस्य च भावाभावाभ्यां व्याघात इति—वाच्यम्, अतात्त्विकहेतुसद्भावेन तात्त्विकधर्माभावस्य साधनेन व्याघाताभावात्। अत एव स्वरूपतो दुर्निरूपस्य न किंचिदपि रूपं वास्तवं संभवतीति प्राचामुक्तिरपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

रहना बताया, किन्तु हम केवल दृष्टान्त के बल पर सत्त्व और असत्त्व के अभावों की एकत्र स्थिति सिद्ध नहीं करते हैं, किन्तु प्रमाणों के आधार पर सत्त्व-निषेध और असत्त्व-निषेध का समुच्चय सिद्ध हो जाने पर सामान्यादि में अवृत्ति नित्यत्व और अनित्यत्व के निषेधों का समुच्चय दृष्टान्त बनाया गया है। जब प्रमाणों के बल पर सत्त्व और असत्त्व के निषेधों का समुच्चय एकत्र प्रपञ्च में सिद्ध हो जाता है, तब आपके सामान्याद्यनुगत नित्यत्व और अनित्यत्व के निषेधों का समुच्चय यदि दृष्टान्त न बन कर प्रतिदृष्टान्त हो जाता है, तब भी कोई क्षति नहीं, अत एव यह उचित ही कहा गया है—"अध्यस्ते नित्यत्वानित्यत्वयोरिव सत्त्वासत्त्वयोरप्यभावो न विरुद्धौ, तात्त्विकानित्यत्वाभावेऽपि धर्मिसमानसत्ताकानित्यत्वसत्त्वेन विरोधाभावात्।" [अर्थात् शुक्ति-रजतादि अध्यस्त पदार्थों में नित्यत्व और अनित्यत्व के समान सत्त्व और असत्त्व के अभावों का भी विरोध नहीं होता, क्योंकि धर्मी ही जब कल्पित है, तब विरुद्ध धर्मों का अभाव क्यों न होगा ?] 'जब कल्पित में अनित्यत्व का अभाव है, तब कल्पित वस्तु को अनित्य मानना कैसे सम्भव होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि अनित्यत्व का तात्त्विक अभाव रहने पर भी धर्मिसमानसत्ताक व्यावहारिक अनित्यत्व के मानने में कोई विरोध नहीं।

शङ्का—'अध्यस्तं सत्त्वासत्त्वादिविरुद्धधर्माभाववत्, कल्पितत्वात्'—इस प्रकार के विवक्षित अनुमान के साध्य (विरुद्धधर्माभाव) और हेतु (कल्पितत्व) दोनों अध्यस्तरूप पक्ष में रहते हैं ? या नहीं ? यदि रहते हैं, तब उसी प्रकार सत्त्वासत्त्वादि धर्म भी रह सकेंगे, अतः विरुद्ध धर्माभाव की साधकता उसमें नहीं बनती और यदि नहीं रहते, तब बाध और स्वरूपासिद्धि दोष प्रसक्त होते हैं।

समाधान—अतात्त्विक हेतु के द्वारा विरुद्ध धर्मों के तात्त्विक अभाव की सिद्धि करने में कोई व्याघात नहीं होता। अत एव "**स्वरूपतो दुर्निरूपस्य न किञ्चिद् अपि**

अद्वैतसिद्धिः

संगच्छते, व्यावहारिकेणैव दुर्निरूपत्वेन हेतुना व्यावहारिकवास्तवरूपाभावस्य साधनात्। अत एव—दुर्निरूपत्वरूपहेतोर्वास्तवरूपाभावसाध्यस्य चातात्विकत्वेऽसिद्धिबाधौ तात्त्विकत्वे व्याघात इति—निरस्तम्, धर्मिसमसत्ताकहेतुसाध्यादिसत्त्वेनासिद्ध्याद्यभावात्, तात्त्विकहेत्वाद्यभावाच्च न व्याघातः। स्वरूपतो दुर्निरूपत्वं च कल्पितत्वमेव।

एतेन—किमिदं स्वरूपतो दुर्निरूपत्वं केनापि प्रकारेण वा? केनापि दुर्निरूपत्वमित्येतदन्यप्रकारेण वा? सत्त्वासत्त्वाभ्यां वा? नाद्यः, केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वमित्यनेन प्रकारेण दुर्निरूपत्वादुर्निरूपत्वाभ्यां व्याघातात्। अत एव न द्वितीयः, केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वमित्येतदन्यप्रकारेण दुर्निरूपत्वस्य केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वान्यत्वात्, मिथ्यात्वादिना कल्पितस्य सुनिरूपत्वाच्च। न तृतीयः, तस्य सदसद्वैलक्षण्यावास्तवत्वाहेतुत्वादिति—निरस्तम्, तृतीयपक्षस्य क्षोदसहत्वाच्च। तथा हि- सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्वं हि बाधिततद्द्वयकत्वम्। तच्च धर्मविशिष्टधर्म्यतात्त्विकत्वे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

रूपं सम्भवति"—यह प्राचीन आचार्यों की उक्ति भी संगत हो जाती है। स्वरूपतः दुर्निरूपित वस्तु में भी व्यावहारिक दुर्निरूपत्व रहता है, उसी के द्वारा व्यावहारिक धर्माभाव की सिद्धि की जाती है। अत एव यह जो आक्षेप किया जाता था कि दुर्निरूपत्वरूप हेतु और तात्त्विक धर्माभावरूप साध्य यदि अतात्त्विक है, तब स्वरूपासिद्धि और बाध दोष होते हैं और उक्त हेतु और साध्य—दोनों को तात्त्विक मानने पर व्याघात होता है। वह आक्षेप निरस्त हो जाता है, क्योंकि धर्मिसमानसत्ताक (व्यावहारिक) हेतु और साध्य के रहने पर किसी प्रकार का असिद्ध्यादि दोष नहीं होता और तात्त्विक हेतु और साध्य के न रहने पर व्याघात नहीं होता। स्वरूपतः दुर्निरूपितत्व का अर्थ कल्पितत्व ही है।

शङ्का—यह स्वरूपतः दुर्निरूपत्व क्या है? क्या (१) किसी भी प्रकार और किसी भी व्यक्ति के द्वारा अनिरूपितत्व? या (२) अन्य प्रकार से अनिरूपितत्व? अथवा सत्त्व और असत्त्व रूप से अनिरूपितत्व? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि 'केनापि प्रकारेण दुर्निरूपितत्वम्'—इस वाक्य के द्वारा यदि सुनिरूपित है, तब दुर्निरूपत्व नहीं रहता और यदि इस वाक्य के द्वारा भी निरूपणीय नहीं, तब दुर्निरूपितत्व क्योंकर सिद्ध होगा? अत एव द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि 'अन्यप्रकारेणानिरूपितम्'—इस वाक्य की अपेक्षा 'केनापि रूपेणानिरूपितम्'—यह वाक्य अन्य है और इस अन्य प्रकार से निरूपित होने के कारण 'अन्यप्रकारेणानिरूपितत्व'—यह असम्भव है। दूसरी बात यह भी है कि कल्पित वस्तु का मिथ्यात्वादि रूप से निरूपण अभीष्ट होता है। तृतीय (सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिरूपितत्वम्) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि 'सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिरूपितत्वरूप हेतु से सदसद्वैलक्षण्यगत अवास्तवत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती [आशय यह है कि 'सदसत्त्वाभ्यां दुर्निरूपितत्वम्'—यह हेतु अपने अधिकरण में अवास्तविकता का तो साधक है, किन्तु स्वसमानाधिकरण सदसद्वैलक्षण्यरूप धर्म में अवास्तवत्व का साधक नहीं]।

समाधान—उक्त शङ्का इसी लिए निरस्त हो जाती है कि तृतीय (सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिरूपितत्वम्) पक्ष के अपनाने में कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि 'सत्त्वासत्त्वाभ्यां

न्यायामृतम्

अथ कल्पितत्वादिकं नित्यत्वादिवन्न धर्मिसत्त्वापेक्षं तद्वत्सत्त्वमपि तथा, अन्यथा तुच्छस्याप्यसद्बहिर्भावः कल्पितस्यापि दृश्यादृश्यबाध्याबाध्यदुर्निरूपसुनिरूपत्वबहिर्भावोऽपि स्यात्। न च तार्किकमते संयोगतदत्यन्ताभावयोरिव भट्टमते भेदाभेदयोरिव च सत्त्वासत्त्वाभावयोरप्यविरोधोऽस्त्विति वाच्यम्, तद्वदेव सत्त्वासत्त्वयोरेवाविरो-

अद्वैतसिद्धिः

हेतुः। तथा च सदसद्वैलक्षण्यमपि धर्मस्तदतात्त्विकत्वे कथं न हेतुः स्यात्, न च—एवं कल्पितस्य दृश्यादृश्यबाध्याबाध्यदुर्निरूपसुनिरूपत्वादिबहिर्भावोऽपि स्यादिति—वाच्यम्, तात्त्विकदृश्यत्वाद्यशेषधर्मबहिर्भावस्य कल्पिते इष्टत्वात्, अतात्त्विकस्य दृश्यत्वादेर्व्यावहारिकप्रमाणैर्यथायथमङ्गीकृतस्यैवमप्यविरोधात्। अदृश्यत्वादिकं तु व्यावहारिकं नास्त्येव। प्रातिभासिकं चैतदप्यङ्गीकुर्म एव। एवं च तार्किकमते संयोगतदभावयोरिव भट्टमते भेदाभेदयोरिव सत्त्वासत्त्वाभावयोरप्यविरोध एव। न च—एवं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

दुर्निरूपत्व का अर्थ 'बाधितसत्त्वासत्त्वोभयकत्व' (सत्त्वासत्त्वोभयाभावप्रकारकनिश्चय-विशेष्यत्व) होता है। वह सदसद्वैलण्यरूप धर्म से विशिष्ट शुक्ति-रजतादिरूप धर्मी में अतात्त्विकत्व का साधक है—'सदसद्वैलक्षण्यविशिष्टं शुक्ति-रजतादिकम्, अतात्त्विकम्, सत्त्वासत्त्वाभावप्रकारकनिश्चयविशेष्यत्वात्। (यद्यपि पूर्वपक्षी ने कहा था कि 'सत्त्वा-सत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्व' हेतु धर्मिगत अतात्त्विकत्व का साधक होने पर भी सदसद्वैलक्षण्य-रूप धर्म में अवास्तवत्व का साधक नहीं। उस का समाधान करने के लिए धर्म में अतात्त्विकत्व-साधनता का प्रदर्शन करना चाहिए। तथापि धर्म-विशिष्ट धर्मी में अतात्त्विकता-साधन यहां धर्म और धर्मी—इन दोनों में अतात्त्विकता का साधक है, अर्थात् 'सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्व' हेतु के द्वारा धर्मी के समान सदसद्वलक्षण्यरूप धर्म में अतात्त्विकत्व सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि यह हेतु जैसे धर्मी में रहता है, वैसे ही धर्म में—सदसद्वलक्षण्यम्, 'अतात्त्विकम्, सत्त्वासत्त्वाभावप्रकारकनिश्चयविशेष्य-त्वात्, शुक्ति-रजतादिवत्'। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए सिद्धान्ती कहता है—सदसद्वलक्षण्यमपि धर्मः, तदातात्त्विकत्वे कथं न हेतुः स्यात् ? अर्थात्] सदसद्वलक्षण्य रूप धर्म का भी बाधिततद्द्वयकत्व धर्म है, अतः वह अतात्त्विकत्व का साधक क्यों नहीं ?

शङ्का—कल्पित धर्मी में यदि सत्त्व और असत्त्व कुछ भी नहीं रह सकता, तब दृश्यत्व-अदृश्यत्व, बाध्यत्व-अबाध्यत्व, दुर्निरूपत्व-सुनिरूपत्वादि कुछ भी न रह सकेगा। विमतं मिथ्या, दृश्यत्वाद्—इत्यादि प्रयोग असिद्धि और बाधादि दोषों से दूषित हो जायेंगे।

समाधान—तात्त्विक दृश्यत्वादि धर्मों का अभाव तो हमें अभीष्ट है, किन्तु अतात्त्विक (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) दृश्यत्वादि व्यावहारिक प्रमाणों के आधार पर माने जाते हैं, उनसे किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता। अदृश्य-त्वादि तो व्यावहारिक भी नहीं माने जाते, उन्हें भी हम प्रातिभासिक मान सकते हैं। इस प्रकार तार्किक मत में जैसे संयोग और संयोगात्यन्ताभाव का एवं भाट्ट मत में भेद और अभेद का विरोध नहीं माना जाता, वैसे ही सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव का विरोध नहीं माना जाता।

शङ्का—जैसे सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव का विरोध नहीं माना जाता है, वैसे

न्यायामृतम्

धापातात्। अथ संयोगतदत्यन्ताभावादावच्छेदकभेदेनाविरोधः सत्त्वासत्त्वयोरपि तथात्वे इष्टापात्तः। स्वकालाद्यवच्छेदेन सत्त्वस्यान्यकालाद्यवच्छेदेनासत्त्वस्य चेष्टत्वादिति चेत्, समः समाधिः। स्वकालाद्यवच्छेदेन सद्विलक्षण्यस्य कालान्तराद्यवच्छेदेन सद्विलक्षण्यस्य चेष्टत्वात्। तस्मात्सत्त्वासत्त्वात्यन्ताभावावेकत्र विरुद्धौ। अपि च सत्त्वादिना विचारासहत्वं किं सत्त्वाद्यनधिकरणत्वम्? सत्त्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वं वा? सद्रूपत्वाद्यभावो वा? सत्त्वादेरित्थमिति निर्वक्तुमशक्यत्वं वा? सत्त्वादिना प्रमाणागोचरत्वं वा? नाद्यः, असतोऽप्यसत्त्वरूपधर्मानधिकरणत्वात्, सत्पदलक्ष्यस्य

अद्वैतसिद्धिः

सत्त्वासत्त्वयोरपि तद्वदेवाविरोधः स्यादिति—वाच्यम्, अतात्त्विकयोरविरोधे इष्टापत्तेः, निषेधसमुच्चयस्यापि तात्त्विकस्यानङ्गीकारेण तत्साम्येन विधिसमुच्चयस्य तात्त्विकस्यापादयितुमशक्यत्वात्। न च तात्त्विकसंयोगतदभावनिदर्शनबलात्तदापादनीयम्, दृष्टान्तेऽपि तात्त्विकत्वासंप्रतिपत्तेः।

ननु अनिर्वाच्यत्वं सत्त्वासत्त्वादिना विचारासहत्वम्। तच्च न तावत् सत्त्वाद्यनधिकरणत्वम्, असता ब्रह्मणश्च निधर्मकत्वेन तत्रातिव्याप्तेः। न च—कल्पितसत्त्वाधिकरणत्वं ब्रह्मण्यपीति—वाच्यम्, तस्य जगत्यपि विद्यमानत्वेन तत्राव्याप्तेः। नापि सत्त्वाद्यत्यन्ताभावाधिकरणत्वम्, निर्धर्मकब्रह्मणः सत्त्ववत्तदत्यन्ताभावस्याप्यभावेन

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ही सत्त्व और असत्त्व का भी विरोध नहीं मानना चाहिए, क्योंकि असत्त्वाभाव या सत्त्वाभावाभाव सत्त्वरूप हो जाता है, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनों में समान भावाभावरूपता होती है।

समाधान—अतात्त्विक सत्त्व और असत्त्व का अविरोध हमें भी अभीष्ट है, क्योंकि सत्त्व-निषेध (सत्त्वाभाव) और असत्त्व-निषेध (असत्त्वाभाव) का भी विरोध न मान कर जो समुच्चय माना जाता है, वह भी तात्त्विक नहीं माना जाता, अतः उस समानता के आधार पर सत्त्वासत्त्व के समुच्चय में तात्त्विकत्व का आपादन नहीं किया जा सकता। तार्किकादिसम्मत संयोग और संयोगात्यन्ताभाव के समुच्चय में भी तात्त्विकत्व अभ्युपगत नहीं, अतः उस दृष्टान्त के बल पर भी सत्त्वासत्त्व का तात्त्विक समुच्चय नहीं सिद्ध किया जा सकता।

शङ्का-अनिर्वाच्यत्व का अर्थ किया जाता है—'सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारासहत्वम्', वह न तो (१) सत्त्व और असत्त्व का अनधिकरणत्व है, न (२) सत्त्वासत्त्व के अत्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व, न (३) सद्रूपत्व और असद्रूपत्व का अभाव, न (४) सत्त्वादि का इत्थम्—इस रूप से निर्वचन का अशक्यत्व और न (५) सत्त्वादिरूप से प्रमाणागोचरत्व, क्योंकि प्रथम (सत्त्वाद्यनधिकरणत्व) लक्षण खपुष्पादि असत् एवं ब्रह्म में अतिव्याप्त होता है, क्योंकि दोनों निर्धर्मिक हैं, उनमें कोई भी धर्म नहीं रह सकता। इस अतिव्याप्ति को हटाने के लिए यदि ब्रह्म में कल्पित सत्त्व की अधिकरणता मानी जाती है, तब जगत् में अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि जगत् में भी कल्पित सत्त्व की अधिकरणता विद्यमान है, अतः जगत् में सत्त्वादि की अनधिकरणता कैसे रहेगी? द्वितीय (सत्त्वाद्यत्यन्ताभावाधिकरण) लक्षण भी ब्रह्म और असत् पदार्थ में अतिव्याप्त है, क्योंकि उनमें जैसे सत्त्व धर्म नहीं रहता वैसे

न्यायामृतम्

निर्धर्मकस्य ब्रह्मणोऽपि स्वरूपातिरिक्तं तात्त्विकं सत्त्वं प्रत्यनधिकरणत्वाच्च, अतात्त्विकं सत्त्वं प्रति त्वनिर्वाच्यस्याप्यधिकरणत्वाद्, धर्मिसमसत्त्वं प्रति च ब्रह्मणोऽप्यनधिकरणत्वाद्, अनिर्वाच्यस्याप्यधिकरणत्वाच्च। न द्वितीयः, निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्त्ववत्तदत्यन्ताभावोऽपि न तुच्छेऽप्यसत्त्ववत्तदत्यन्ताभावोऽपि नेति कथंचिदतिव्याप्तिनिरासेऽपि तुच्छब्रह्मणोर्निर्धर्मकत्वेन धर्मवत्त्वादेरेवानिर्वाच्यलक्षणत्वापातात्, निर्विशेषत्वश्रुत्यापि

अद्वैतसिद्धिः

तुच्छेऽप्यसत्त्ववत्तदत्यन्ताभावस्याप्यभावेन कथंचिदतिव्याप्तिनिरासेऽपि तुच्छब्रह्मणोर्निर्धर्मकत्वेन धर्मवत्त्वादेरेवानिर्वाच्यत्वलक्षणत्वापातात्, निर्विशेषश्रुत्यापि व्याघातेन धर्ममात्रनिषेधायोगेन ब्रह्मणि सत्त्वराहित्ये तदत्यन्ताभावस्य दुर्वारत्वात्। नापि सद्रूपत्वाद्यभावः, ब्रह्मणः सत्त्वाभावे सद्रूपत्वाभावेन तत्रातिव्याप्तेः। नापि सत्त्वादेरित्थमिति निर्वक्तुमशक्यत्वम्, ब्रह्मण्यपि सत्त्वस्येत्थमिति निर्वक्तुमशक्यत्वात्। नापि सत्त्वादिना प्रमाणागोचरत्वम्, अखण्डार्थनिष्ठवेदान्तैकवेद्यब्रह्मणोऽपि सत्त्वादिप्रकारकप्रमाणागोचरत्वादिति—चेन्न, सत्त्वादिना विचारासहत्वं सत्त्वाद्यत्यन्ताभावाधिकरण-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सत्त्वादि का अत्यन्ताभाव भी नहीं रहता। यदि उनमें भावरूप धर्म के न रहने पर भी अभावरूप धर्म मान लिया जाता है, तब भी तुच्छ (असत्) और ब्रह्म—दोनों निर्धर्मक पदार्थों की व्यावृत्ति के लिए 'सदसद्विलक्षणत्वमनिर्वाच्यत्वम्' न कह कर 'धर्मवत्त्वमनिर्वाच्यत्वम्'—ऐसा लक्षण करने में ही लाघव होता है। धर्मवत्त्व का भी भावभूत धर्मवत्त्व ही अर्थ करना होगा, अन्यथा अभावात्मक धर्मवत्त्व ब्रह्म में अतिव्याप्त हो जायगा, क्योंकि ब्रह्म को निर्धर्मक बतानेवाली "निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः" (अध्यात्मो० २२) इत्यादि श्रुतियों का भी भावभूतविशेषाभाववत्ता में ही तात्पर्य मानना होगा, अन्यथा (अभावात्मक सकल धर्मों का निषेध करने पर जिज्ञासा होती है कि श्रुति-प्रतिपादित निर्विशेषत्व या विशेषाभाववत्त्व ब्रह्म मे रहता है ? या नहीं ? यदि रहता है, तब भावाभावात्मक सकल धर्मों का अभाव न होने से ब्रह्म को निर्विशेष क्योंकर कहा जायगा ? और यदि निर्विशेषत्व नहीं रहता, तब उसे निर्विशेष कौन सिद्ध करेगा ? इस प्रकार भावाभाव उभय पक्षों में प्रसक्त व्याघात दोष का परिहार करने के लिए यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म में भावरूप विशेषों (धर्मों) का विरह होने पर भी निर्विशेषत्व-जैसे अभावात्मक धर्म रहते है, अतः निर्विशेषत्व-बोधक श्रुति के द्वारा ब्रह्म में धर्म मात्र का निषेध नहीं कर सकते, फलतः सत्त्व के न रहने पर सत्त्वात्यन्ताभाव का रहना अनिवार्य है। तृतीय (सद्रूपत्वासद्रूपत्वाभाव) लक्षण भी ब्रह्म में अतिव्याप्त है, क्योंकि ब्रह्म में सत्त्व न होने के कारण सद्रूपत्व भी नहीं रहेगा। चतुर्थ (सत्त्वादेरित्थमिति निर्वक्तुमशक्यत्वम्) लक्षण भी ब्रह्म में अतिव्याप्त है, क्योंकि ब्रह्म में भी सत्त्व का इत्थंरूप से निर्वचन नहीं किया जा सकता। पञ्चम (सत्त्वादिना प्रमाणागोचरत्वम्) लक्षण की भी ब्रह्म में अतिव्याप्ति है, क्योंकि अखण्डार्थ-बोधक वेदान्तमात्र-वेद्य निष्प्रकारक ब्रह्म में भी सत्त्वप्रकारक प्रमा-विषयत्व नहीं रहता।

समाधान—'सत्त्वादिना विचारासहत्व का अर्थ होता है—सत्त्व और असत्त्व के अत्यन्ताभाव की अधिकरणता। इसकी ब्रह्म में जो अतिव्याप्ति कही थी, वह उचित

न्यायामृतम्

व्याघातेन धर्ममात्रनिषेधायोगेन ब्रह्मणि सत्त्वराहित्ये तदत्यन्ताभावस्य दुर्वारत्वाच्च। न तृतीयः, सामान्यादेरप्यबाध्यत्ववत्त्वेनैवाबाध्यात्मकसद्रूपतया ब्रह्मणः सत्त्वाभावे सद्रूपत्वायोगाद् , ब्रह्मणः सद्रूपत्वे श्रौतसत्पदस्य लाक्षणिकत्वायोगाच्च । न चतुर्थः,

अद्वैतसिद्धिः

त्वम् । न चातिव्याप्तिः, ब्रह्मणि सत्त्ववत्तदत्यन्ताभावस्याप्यभावाद् , अन्यथा निर्विशेषत्वादिश्रुतिविरोधापत्तेः । न च निर्विशेषत्वरूपविशेषसत्त्वासत्त्वाभ्यां व्याघातेन श्रुतिरन्यपरा, विशेषस्य कल्पितत्वेन तदभावासत्त्वेन तत्सत्त्वाभावेन व्याघाताभावात् स्वाप्नगजतदभाववत् । अत एव—सत्त्वराहित्येऽपि तदत्यन्ताभाव आवश्यक—इत्यपास्तम् ।

ननु—एवं विशेषवत्त्वम् , धर्मवत्त्वं वा अनिर्वाच्यत्वमस्त्विति—चेन्न, आस्तां तावदयं सुहृदुपदेशः । उक्तलक्षणस्य निष्पन्नत्वात् । यद्वा—सत्त्वादिना विचारासहत्वं सद्रूपत्वाद्यभावः । सत्त्वरूपधर्माभावेऽपि यथा ब्रह्मणः सद्रूपत्वं तथोपपादितमधस्ताद् , अतो न तत्रातिव्याप्तिः । न च—एवं सदात्मके ब्रह्मणि श्रौतसत्पदादौ लाक्ष-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं, क्योंकि ब्रह्म में सत्त्व के समान सत्त्वात्यन्ताभाव भी नहीं रहता, अन्यथा (ब्रह्म में अभावरूप धर्म के रहने पर) धर्ममात्र-निषेध परक निर्विशेषत्व-बोधक श्रुतियों का विरोध होगा । यह जो कहा था कि निर्विशेषत्व के भावाभाव में व्याघात होने के कारण उक्त श्रुति का केवल भावात्मक धर्मों के निषेध में ही तात्पर्य है । वह कहना संगत नहीं, क्योंकि ब्रह्म में विशेष मात्र के कल्पित होने के कारण विशेषाभावरूप विशेष नहीं रहता, अतः निर्विशेषत्व-सत्त्व-प्रयुक्त जो व्याघात दिया था, वह लागू नहीं होता । जैसे स्वाप्न गज और गजाभाव दोनों का अभाव होता है, वैसे ही ब्रह्म में विशेष और विशेषाभाव—दोनों का अभाव है । अत एव यह जो कहा था कि 'ब्रह्म में सत्त्व के न रहने पर सत्त्व का अत्यान्ताभाव अवश्य रहेगा ।' वह भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि स्वाप्न भाव और अभाव के समान ब्रह्म में भावाभाव कुछ भी नहीं रहता ।

शङ्का—यदि ब्रह्म और तुच्छ पदार्थों में विशेष या धर्म कोई नहीं रहता, तब विशेषवत्त्व या धर्मवत्त्व को अनिर्वाच्यत्व का लक्षण क्यों न मान लिया जाय ?

समाधान आप का यह उपदेश सुहृद्भाव से शिरोधार्य है, किन्तु इस लक्षण के द्वारा उक्त सदसद्विलक्षणत्वरूप लक्षण न गतार्थ होता है और न व्यर्थ, क्योंकि एक ही लक्ष्य के कई लक्षण हो सकते हैं, सभी लक्षणों के व्यावर्त्य भिन्न होते हैं, 'धर्मवत्त्व' लक्षण ब्रह्म में धर्ममात्र का और 'सदसद्वैलक्षण्य' सदसद्रूपता का व्यावर्तक है, अतः दोनों सार्थक है ।

अथवा सत्त्वादिना विचारासहत्व का अर्थ सदसद्रूपता का अभाव भी किया जा सकता है । यह जो कहा था कि ब्रह्म में सत्त्व न होने के कारण सद्रूपता भी नहीं रह सकती, वह उचित नहीं, क्योंकि ब्रह्म में सत्त्व न होने पर भी सद्रूपता का उपपादन विगत पृ० २० पर किया जा चुका है । अतः ब्रह्म में यह लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता ।

सदात्मक ब्रह्म में 'सत्त्व' धर्म नहीं माना जाता, अत एव "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छां० ६।) इत्यादि श्रुति-घटक सदादि पदों की ब्रह्म में लक्षणा मानी जाती

न्यायामृतम्

त्वन्मते ब्रह्मण्यपि सत्त्वस्येत्थमिति दुर्वचत्वात् । न पंचमः, अखंडार्थनिष्ठवेदान्तैकवेद्यस्य ब्रह्मणोऽपि सत्वप्रकारकप्रमाणागोचरत्वात् । अपि च सत्त्वादिराहित्यं न तावत्प्रातिभासिकम् , रूप्यप्रपंचयोर्ब्रह्मवत्पारमार्थिकत्वापातात् । नापि धर्मिसमसत्ताकम् , बाधबोध्यस्य भ्रान्तिसिद्धेन साम्यायोगात् । नापि व्यावहारिकम् , जगति व्यावहारिकत्वे रूप्ये प्रातिभासिकत्वापातेनोक्तदोषात् । रूप्ये व्यावहारिकत्वे च जगति पारमार्थिक-

अद्वैतसिद्धिः

णिकत्वं न स्यादिति—वाच्यम् , सत्त्वधर्मविशिष्टवाचकस्य तस्य निर्धर्मके लक्षणाया आवश्यकत्वात् । न हि निर्धर्मकस्वरूपवाचकत्वं कस्यचिदपि पदस्यास्ति । ननु—सत्त्वादिराहित्यमतात्त्विकमपि न तावत् प्रातिभासिकम् , रूप्यप्रपञ्चयोर्ब्रह्मवत् पारमार्थिकत्वापत्तेः, नापि धर्मिसमसत्ताकम् , बाधबोध्यस्य भ्रान्तिसिद्धेन साम्यायोगात् । नापि व्यावहारिकम् , जगति व्यावहारिकत्वे रूप्ये प्रातिभासिकत्वे चोक्तदोषात् , रूप्ये व्यावहारिकत्वे च जगति पारमार्थिकत्वापातेनाद्वैतहानिरिति—चेन्न, धर्मिसमसत्ताकस्यैव सत्त्वादिविरहस्येष्टत्वात् । न च बाधबोध्यस्य भ्रान्तिसिद्धेन साम्यायोगः, बाधस्याधिष्ठानमात्रगोचरत्वेन रूप्यवत्तत्सत्त्वविरहस्यापि साक्षिसिद्धतया बाधबोध्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है, क्योंकि उक्त 'सत्' पद का 'सत्त्वधर्म-विशिष्ट' अर्थ वाच्य और निर्धर्मक ब्रह्म लक्ष्यार्थ होता है, क्योंकि प्रवृत्ति-निमित्तभूत धर्म से रहित वस्तुस्वरूपमात्र की वाचकता किसी भी पद में नहीं मानी जाती, जात्यादि-रहित आकाशादि में भी शब्दाश्रयत्वादि को लेकर ही वाच्यता मानी जाती है, धर्म-रहित धर्मिमात्र में सर्वत्र लक्षणा ही होती है।

शङ्का—प्रपञ्च में सत्त्वादि का अत्यन्ताभाव (१) प्रातिभाधिक है ? या (२) धर्मिसमानसत्ताक ? अथवा व्यावहारिक ? प्रथम (प्रातिभासिक) मानने पर शुक्तिरजत और प्रपञ्च को ब्रह्म के समान ही पारमार्थिक मानना पड़ेगा, क्योंकि पारमार्थिक ब्रह्म में भी प्रातिभासिक सत्त्वाद्यभाव माना ही जाता है, अतः उसे दृष्टान्त बनाकर शुक्तिरूप्यादि में पारमार्थिकत्व की सिद्धि की जा सकती है—'शुक्तिरूप्यादिकम् पारमार्थिकम् , प्रातिभासिकसत्त्वाद्यभाववत्त्वाद् , ब्रह्मवत् ? द्वितीय (धर्मिसमसत्ताक) पक्ष मानने पर प्रातिभासिक शुक्ति-रजत में सत्त्वाभाव को प्रातिभासिक ही मानना होगा, किन्तु वैसा सम्भव नहीं, क्योंकि शुक्ति-रजत भ्रान्ति ज्ञान से बोधित है और सत्त्व-राहित्य 'नेदं रजतम्'—इस प्रकार की बाध प्रमा से बोधित है, अतः दोनों समान नहीं हो सकते, अन्यथा भ्रान्ति और प्रमा में कोई अन्तर नहीं रह जाता। तृतीय (सत्त्वाद्यभाव का व्यावहारिक) पक्ष भी उचित हीं, क्योंकि घटादि प्रपञ्च और शुक्ति-रजतादि की न्यूनाधिक सत्ता प्रसिद्ध है, अतः दोनों में एक (व्यावहारिक) प्रकार का सत्त्वाद्यभाव सम्भव नहीं, शुक्ति-रजत में यदि सत्त्वाभाव व्यावहारिक माना जाता है, तब प्रपञ्च में पारमार्थिक मानना होगा और यदि प्रपञ्च में सत्त्वाद्यभाव व्यावहारिक है, तब शुक्ति-रजतादि में प्रातिभासिक होगा, दोनों स्थलों पर समानरूप नहीं हो सकता।

समाधान—सत्त्वादि का अत्यन्ताभाव धर्मिसमानसत्ताक ही विवक्षित है। यह जो कहा कि सत्त्वादि का अभाव बाध प्रमा से बोधित है और शुक्ति-रजत भ्रम ज्ञान से बोधित है, अतः दोनों की समानता नहीं हो सकती। वह कहना अनुचित है, क्योंकि बाध प्रमा केवल अधिष्ठान को विषय करती है, सत्त्वादि के अभाव को नहीं, सत्त्वादि

न्यायामृतम्

त्वापातेनाद्वैतहानेः। अत एव सत्त्वादिराहित्यं न पारमार्थिकं न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किञ्चिदपि रूपं वास्तवमस्तीति स्ववचनविरोधाच्च। किं च श्रुत्या युक्त्या च भेदं निराकुर्वता कथं सदसद्भिन्नत्वरूपं तद्व्याप्तं वाऽनिर्वाच्यत्वं समर्थ्यते ? बाध्यत्वम् अनिर्वाच्यत्वमिति तु मिथ्यात्वभंग एव निरस्तम्।

अनिर्वाच्यलक्षणभंग ॥ ५९ ॥

अद्वैतसिद्धिः

त्वाभावात्। न चैवं सत्त्वप्रतीतिविरोधः, अतात्त्विकस्य तस्याप्यङ्गीकारात्। न च—एवं तात्त्विकसत्त्वविरहस्यैव लक्षणत्वपर्यवसानम्, तात्त्विकत्वं चाबाध्यत्वम्, तथा च बाध्यत्वमेव लक्षणमस्त्विति—वाच्यम्, बाध्यत्वस्यान्यविशेषणत्वेनोपात्तस्य लक्ष्ये धर्मिण्यनन्वयेन तन्मात्रमुपादायेतरवैयर्थ्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्। न च—श्रुत्या युक्त्या च भेदं निराकुर्वता कथं सदसद्भिन्नत्वरूपं तद्व्याप्तं वाऽनिर्वाच्यत्वं समर्थ्यत इति—वाच्यम्, मा विषीद, अतात्त्विकस्यैव तस्य समर्थनात्, बाध्यत्वं तु मिथ्यात्वनिरूपणसमय एव निरूपितम्। तस्मान्न शुक्तिरूप्यप्रपञ्चसाधारणानिर्वाच्यत्वलक्षणानुपपत्तिः।

॥ इत्यद्वैतसिद्धौ अनिर्वाच्यत्वलक्षणम् ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

का अभाव भी रजतादि के समान ही साक्षी के द्वारा बोधित होता है। साक्षी ही यदि शुक्ति-रजत के समान सत्त्वादि के अभाव का भी अवगमक है, तब 'इदं रजतमस्ति'—इस प्रकार रजत में सत्ता का भान क्यों होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—अतात्त्विक रजत के समान ही अतात्त्विक सत्ता की प्रतीति होती है।

शङ्का—प्रातिभासिक और व्यावहारिक प्रपञ्च की तात्त्विक सत्ता नहीं मानी जाती, तब 'तात्त्विकसत्ताभावः'—इतना ही अनिर्वाच्यत्व का लक्षण पर्यवसित होता है। तात्त्विकत्व नाम है—अबाध्यत्व का, अतः अबाध्यत्वाभाव या बाध्यत्व को ही अनिर्वाच्यत्व का लक्षण मानना चाहिये।

समाधान—'बाधितसत्त्वासत्त्वकत्वम्'—इस प्रकार बाधितत्व सत्त्वादि का विशेषण है, अतः उससे भिन्न प्रपञ्चरूप धर्मी के साथ उसका अन्वय न हो सकने के कारण बाधितत्वमनिर्वाच्यत्वम्- ऐसा लक्षण-वाक्य का अर्थ नहीं किया जा सकता। उतने मात्र से उक्त लक्षण व्यर्थ नहीं होता, क्योंकि वह लक्षण एक अखण्ड पदार्थ माना जाता है, एक लक्षण से लक्षणान्तर गतार्थ नहीं होते—यह भी कहा जा चुका है।

शङ्का—''नेह नानास्ति किञ्चन''—इत्यादि श्रुतियों और 'भेदो भिन्ने निविशते ? अभिन्ने वा ? आद्येऽनवस्था, द्वितीये व्याघातः'—इत्यादि युक्तियों से जब तात्त्विक भेद का निराकरण कर दिया गया है, तब भेदत्व का व्याप्यभूत सदसद्भिन्नत्व भी कहाँ रहेगा ? व्यापक के अभाव में व्याप्य कभी भी नहीं रह सकता।

समाधान—इस उधेड़-बुन में व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सदसद्भिन्नत्व को भी तात्त्विक नहीं माना जाता, केवल अतात्त्विक सदसद्भिन्नत्व का समर्थन किया जाता है। न्यायामृतकार ने जो विगत पृ० १२ पर बाध्यत्व का निराकरण किया है, उसका उसी (मिथ्यात्व-निरूपण) प्रकरण में परिमार्जन किया जा चुका है। अतः शुक्ति-रजत और आकाशादि प्रपञ्च में समानरूप से रहनेवाले अनिर्वाच्यत्व-लक्षण की अनुपपत्ति नहीं।

। ७० ।

अनिर्वाच्यत्वसाधकप्रमाणविचारः

न्यायामृतम्

अनुमानं चायुक्तम्, मिथ्यात्वभंगे उक्तरीत्यांऽशे सिद्धसाधनाद्, अप्रसिद्ध-

अद्वैतसिद्धिः

प्रमाणं च प्रत्यक्षानुमानागमार्थापत्तयः (१) प्रत्यक्षं तावन्मिथ्यैव रजतमभादित्यादि। न च मिथ्याशब्दोऽसत्पर्यायः, वक्ष्यमाणयुक्त्या नृश्रृङ्गादिसाधारणासत्त्वस्य ख्यायमानरूप्यादौ वक्तुमशक्यत्वात्। न चैतावन्तं कालमसदेव रजतमभादित्यनुभवविरोधः, अनिर्वाच्यत्वैकदेशसत्त्वव्यतिरेकविषयत्वेनैवोपपत्तेः। न चैवं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'त्यत्रापि सत्यमित्यस्यासत्त्वव्यतिरेकविषयतयैवोपपत्तिः, ब्रह्मणि सद्रूपतायाः प्रागुपपादितत्वेन तस्यासत्त्वव्यतिरेकविषयत्वकल्पनाया अनुचितत्वात्। तथा च ब्रह्मणि सत्प्रत्ययस्य रूप्ये असत्प्रत्ययस्य च सत्त्वासत्त्वयोर्बाधकासत्त्वतत्सत्त्वाभ्यां विशेषेण न प्रसङ्गसाम्यम्।

(२) अनुमानं च-'विमतं सत्त्वरहितत्वे सति असत्त्वरहितत्वे सति सत्त्वासत्त्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अविद्या की अनिर्वचनीयता में चार प्रमाण हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) आगम और (४) अर्थापत्ति। वे क्रमशः प्रदर्शित किये जाते हैं—

(१) अनिर्वचनीयता में प्रत्यक्ष प्रमाण—

"मिथ्यैव रजतमभात्"—इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण अनिर्वाच्यत्व को सिद्ध कर रहा है। यहाँ 'मिथ्या' शब्द 'असत्' का पर्याय नहीं हो सकता, क्योंकि निकट भविष्य में ही वक्ष्यमाण युक्तियों के आधार पर नृ-श्रृङ्गादिगत असत्त्व का प्रत्यक्षतः ख्यायमान (प्रतीयमान) शुक्तिरजतादि पदार्थों में निराकरण हो जाता है 'शुक्तिरजतादि में यदि असत्त्व नहीं, तब "एतावन्तं कालमसदेव रजतमभात्"—ऐसा असत्त्वावगाही अनुभव कैसे होता है ? इस शङ्का का समाधान यह है कि इस अनुभव में असत् का अर्थ सत्त्वाभाव है, वह सत्त्वाभाव सत्त्वासत्त्वाभावरूप अनिर्वाच्यत्व का एक भाग है, अतः उक्त अनुभव आंशिक रूपसे अनिर्वाच्यत्व को ही विषय करता है। यदि उक्त असत्त्वावगाही अनुभव अनिर्वाच्यत्व-घटक सत्त्व-व्यतिरेक कोटि को विषय करता है, तब सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१।१) इत्यादि श्रुतियों से जनित सत्यत्वावगहिनी प्रतीति का भी अनिर्वाच्यत्व-घटक असत्त्वव्यतिरेक ही विषय क्यों नहीं माना जाता ? इस प्रश्न के उत्तर में इतना स्मरण दिला देना पर्याप्त है कि प्रथम मिथ्यात्वलक्षण-निरूपण में ब्रह्म की सद्रूपता का प्रतिपादन किया जा चुका है, उसी सद्रूपता को ही 'सत्यम्'—यह प्रतीति विषय करती है, असत्त्वाभावविषयकत्व की कल्पना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि ब्रह्मगत सत्त्व (सद्रूपत्व) को विषय करने वाली (सत्यम्—इस प्रकार की) प्रतीति का कोई बाधक नहीं और शुक्ति-रजत में असत्त्व को विषय करने वाली (असदेव रजतमभात्—ऐसी) प्रतीति का (इदं रजतमस्ति—ऐसा) प्रत्यक्ष ही बाधक है, अतः अगत्या असत्प्रतीति को सत्त्वाभावविषयक मानना पड़ता है, इस वैषम्य के कारण न्यायामृतकार के द्वारा उद्भावित यह साम्य प्रसङ्ग संगत नहीं रह जाता कि जैसे शुक्ति-रजत में असत्प्रतीति सत्त्वाभाव को विषय करती है, वैसे ब्रह्म में सत्प्रतीति असत्त्वाभाव को विषय करेगी।

न्यायामृतम्

द्विशेषणत्वाच्च, उक्तरीत्या व्याघाताच्च, ब्रह्मवत्सत्त्वराहित्येऽप्यनिर्वाच्यत्वाभावोपप-त्याऽर्थान्तरत्वाच्च, सत्त्वादिराहित्यस्य प्रातिभासिकत्वादिपक्षेषु दोषस्योक्तत्वाच्च,

अद्वैतसिद्धिः

रहितम्, बाध्यत्वाद् दोषप्रयुक्तभानत्वाद्वा, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा ब्रह्म। न चाप्रसिद्ध-विशेषणत्वम्, 'सत्त्वासत्त्वे, समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वाद्रूपरस-वत्, सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानिष्ठम्, असत्त्वं वा, सत्त्वानधिकरणानिष्ठम्, धर्मत्वाद्रू-पवद्' इति सामान्यतस्तत्सिद्धेः। न च साध्यैकदेशसिद्ध्या अंशतः सिद्धसाधनम्, गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नम्, समानाधिकृतत्वादित्यत्रेव सिषाधयिषाबलेन सिद्ध-साधनविरहस्योपपादितत्वात्। न च सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपतया साध्यं व्याहतमिति—वाच्यम्, अतात्त्विकत्वेन परस्परविरहानात्मकत्वेन च समाहितत्वात्। भेदस्य तात्त्विकस्यैव निरसिष्यमाणत्वेन न तेन विरोधः। न च ब्रह्मवत् सत्त्वराहित्येऽपि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(२) अनिर्वाच्यत्व में अनुमान प्रमाण—

अनुमान-प्रयोग इस प्रकार है—विवादास्पद (शुक्ति-रजतादि) सत्त्व, असत्त्व और सत्त्वासत्त्व उभय से रहित है, क्योंकि बाधित अथवा दोष-प्रयुक्त प्रतीति का विषय होता है, जो सत्त्वादि त्रितय से रहित नहीं होता, वह बाधित या दोष-प्रयुक्त प्रतीति का विषय भी नहीं होता, जैसे—ब्रह्म। 'प्रपञ्च सत् और असत् के भेद से दो ही प्रकार का होता है, सत् में सत्त्वाभाव और असत् में असत्त्वाभाव न रहने के कारण सत्त्वादि त्रितय का अभाव कहीं भी प्रसिद्ध नहीं, अतः उक्त अनुमान में 'अप्रसिद्ध-विशेषणता' दोष है'—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि अनुमान के द्वारा उसकी प्रसिद्धि की जा सकती है—(१) सत्त्व और असत्त्व—दोनों एकाधिकरणवृत्ति अत्यन्ता-भावों के प्रतियोगी होते हैं, क्योंकि धर्म (आधेय पदार्थ) हैं, जैसे—रूप और रस। (२) सत्त्व असत्त्व के अनधिकरण में अवृत्ति है, क्योंकि धर्म है, जैसे—रूप अथवा असत्त्व सत्त्वानधिकरण में अवृत्ति है, क्योंकि धर्म है, जैसे रूप—इत्यादि अनुमानों के द्वारा विशेषतः अनिर्दिष्ट ऐसा कोई धर्मी सिद्ध होता है, जहाँ सत्त्व और असत्त्व उभय का अभाव है। उभयाभाव जहाँ है, वहाँ त्रितयाभाव सहज सिद्ध है।

शङ्का—आप (अद्वैतवादी) के सत्त्वादि त्रितय-रहितत्वरूप साध्य का एक असत्त्वाभावरूप अंश प्रपञ्चरूप पक्ष में हम (द्वैतवादी) भी मानते हैं, अतः आपके अनिर्वाच्यत्व साधक अनुमान में आंशिक सिद्ध-साधनता दोष होता है।

समाधान—जैसे भेदाभेदवादी मीमांसक के द्वारा 'गुणादिकम्, गुण्यादिना भिन्नाभिन्नम्, समानाधिकृतत्वात्'—इस प्रकार का प्रयोग किये जाने पर भेदवादी नैयायिक आंशिक सिद्ध-साधनता का उद्भावन नहीं कर सकते, क्योंकि उद्देश्यता-वच्छेदकावच्छेदेन साध्य की सिषाधयिषा होने पर आंशिक सिद्ध-साधनता दोष नहीं होता—यह विगत पृ० १८ पर कहा जा चुका है। फिर भी जब सत्त्व और असत्त्व को परस्पर विरहरूप माना जाता है, तब सत्त्वासत्त्वोभयाभावरूप साध्य व्याहत (बाधित) क्यों नहीं होता? इस शङ्का का समाधान पहले ही पृ० ६७३ पर किया जा चुका है कि सत्त्व और असत्त्व—उभय का अभाव तात्त्विक नहीं, अतात्त्विक माना जाता है और सिद्धान्त में वस्तुतः सत्त्व और असत्त्व को परस्पर विरहरूप माना भी नहीं जाता।

न्यायामृतम्

भेदनिरासानुपपत्तेरुक्तत्वाद् , वक्ष्यमाणरीत्या भ्रान्तिबाधयोरन्यथैवोपपत्त्या विमतं सदसदात्मकं बाध्यत्वाद् व्यतिरेकेणात्मवदित्याद्याभाससाम्याच्च, असदेव रजतं प्रत्यभादिति प्रत्यक्षबाधाच्च । न चैवं मिथ्यैव रूप्यमभादितिप्रत्यक्षेणानिर्वाच्यत्वसिद्धिः, मिथ्याशब्दस्यासत्पर्यायत्वात् । विमतं असत् सत्त्वानधिकरणत्वात् , नृशृंगवदिति-सत्प्रतिपक्षत्वाच्च । न च सत्त्वाभावमात्रेणासदितिधीः, त्वत्पक्षे ज्ञानेऽपि सत्त्वाभावेना-सदितिधीप्रसंगाद् , असत्त्वाभावेन सदितिधीप्रसंगाच्च, नृशृंगाद्यसत्त्वबुद्धितोऽस्या

अद्वैतसिद्धिः

सद्रूपत्वेनानिर्वाच्यत्वाभावोपपत्त्या अर्थान्तरम् , सत्त्वरहितस्य प्रपञ्चस्य सद्रूपत्वे मानाभावेन बाधात् । ब्रह्मणि च शून्यतापत्तिरेव सद्रूपत्वे प्रमाणम् । न च—विमतं सदसदात्मकम् , बाध्यत्वाद् व्यतिरेकेण ब्रह्मवदित्याभाससाम्यं, विमतमसत् सत्त्वान-धिकरणत्वात् , नृश्रृङ्गवदिति सत्प्रतिपक्षश्चेति—वाच्यम् , ख्यातिबाधान्यथानुपपत्ति-लक्षणविपक्षबाधकतर्कस्य वक्ष्यमाणत्वेनाभाससाम्यसत्प्रतिपक्षयोरभावात् । न चासदेव रजतमभादिति प्रत्यक्षबाधः, असदित्यस्य सत्त्वाभावविषयकत्वस्योक्तत्वाद् , अन्यथा

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यदि कहा जाय कि प्रपञ्च में सदसद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व की सिद्धि करने पर आप (अद्वैतवादी) के सिद्धान्त से अवश्य विरोध होगा, क्योंकि आप भेदमात्र का निषेध करते हैं, तब प्रपञ्च में सद्भेद कैसे सिद्ध होगा ? तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि हम तात्त्विक सद्भेद का ही खण्डन करते हैं, अतात्त्विक का नहीं, अतः अतात्त्विक भेद सिद्ध करने पर किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता। जैसे ब्रह्म में सत्त्वादि धर्मों के न होने पर सद्रूपत्व माना जाता है, वैसे ही प्रपञ्च में सत्त्वादि का अभाव होने पर भी सद्रूपता क्यों नहीं ? इस शङ्का का समाधान यह है कि सत्त्वाद्यभाव रहने पर भी ब्रह्म की सद्रूपता में श्रुत्यादि प्रमाण उपलब्ध हैं, वैसे प्रपञ्च की पृथक् सद्रूपता में कोई प्रमाण नहीं, 'घटः सन्'—इत्यादि प्रत्यक्ष का निरास विगत पृ० ९६ पर किया जा चुका है किन्तु ब्रह्म को सद्रूप न मानने पर शून्यतापत्ति होती है, अतः शून्यतापत्ति-परिहार की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण भी ब्रह्म की सद्रूपता का साधक है।

शङ्का—'विमतम् (अतात्त्विकं जगत्) सदसदात्मकम्, बाध्यत्वाद्, यन्नैवं तन्नैवं यथा ब्रह्म'—इस प्रकार का व्यतिरेकी प्रयोग अनुमानाभास है, क्योंकि प्रपञ्च को न तो हम (माध्वगण) सदसत् मानते हैं और न आप (अद्वैती)। इस अनुमानाभास के समान ही आप का प्रपञ्च-मिथ्यात्व-प्रयोग अनुमानाभास क्यों न मान लिया जाय ? केवल इतना ही नहीं, आपका अनुमान सत्प्रतिपक्षित भी है, उसका प्रतिपक्ष प्रयोग है—'विमतम् (शुक्ति रजतम्) असत्, सत्त्वानधिकरणत्वात्, नृश्रृङ्गवत् ।'

समाधान—अनन्तरभावी प्रकरण में ही कहा जायगा कि शुक्ति-रजतादि को असत् मानने पर उसकी 'इदं रजतम्'—इस प्रकार प्रत्यक्षरूप ख्याति एवं उसे सत् मानने पर 'नेदं रजतम्'—इस प्रकार का उसका बाध न हो सकेगा, अतः ख्याति और बाध की अन्यथानुपपत्तिरूप विपक्ष-बाधक तर्क के द्वारा आभास-साम्य और सत्प्रति-पक्षत्व—दोनों का निराकरण हो जाता है। 'असदेव रजतमभात्'—इस प्रत्यक्ष के द्वारा बाध भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष सत्त्वाभाव को विषय करता है, खपुष्पादिगत असत्त्व को नहीं अन्यथा इदं रजतम्—इस प्रकार की ख्याति न हो

न्यायामृतम्

वैलक्षण्यानुभवाच्च। किं चोक्तेषु सत्त्वासत्त्वपक्षेष्वाद्यद्वितीययोः जगति सत्त्वराहित्यांशे रूप्यादावसत्त्वराहित्यांशे तृतीयचतुर्थयोरुभयत्रापि असत्त्वराहित्यांशे पंचमे उभयत्रापि सत्त्वराहित्यांशे सप्तमाष्टमनवमेष्वप्युक्तन्यायेनोभयत्राप्यसत्त्वराहित्यांशे बाधः। षष्ठे त्वबाध्यत्वरूपसत्त्वेनोपपत्त्याऽर्थान्तरम्, सामान्यतोऽनिर्वाच्यसाधकानुमानेष्वप्युक्तरीत्या व्याघातार्थान्तरादिकम्।

किं चोक्तसत्त्वासत्त्वपक्षेषु षष्ठान्येष्वंशे बाधः। षष्ठेऽर्थान्तरम्। सत्त्वासत्त्वे

अद्वैतसिद्धिः

स्यात्यनुपपत्तेः। अत एव—मिथ्याशब्दोऽप्यसत्पर्याय इति—निरस्तम्। न चैवं ब्रह्मण्यपि सत्त्वाभावेनासदिति बुद्धिः स्यात्, निर्धर्मके सत्त्वरूपधर्माभावविषयकप्रतीतेरिष्टत्वात्, तुच्छत्वविषयकप्रतीतेरापादकाभावात्। न चैवमसत्त्वाभावेन जगति सदिति प्रतीत्यापत्तिः, इष्टापत्तेः। न च—नृश्रृङ्गासत्त्वबुद्धितो नास्या वैलक्षण्यमनुभूयत इति—वाच्यम्, एतावता तस्या अपि सत्त्वराहित्यविषयकत्वमस्तु न तु तदनुरोधेन एतस्यास्तुच्छत्वविषयकत्वम्, तुच्छत्वे अत्र बाधकसत्त्वात्, समानाकारप्रतीत्योरपि विचित्रविषयकत्वस्य प्रागेव दर्शितत्वाच्च।

यत्तु—सत्त्वासत्त्वविकल्पेषु आद्यद्वितीययोर्जगति सत्त्वराहित्यांशे रूप्यादावसत्त्व-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सकेगी—यह कह चुके हैं। अत एव 'मिथ्या' शब्द को जो लोग 'असत्' का पर्याय वाची मानते हैं, उनका निराकरण भी हो जाताहै। 'ब्रह्म में यदि सत्त्वादि धर्म नहीं, तब 'असद् ब्रह्म'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए'—यह आक्षेप भी उचित नहीं, क्योंकि 'असद् ब्रह्म'—इसका तात्पर्य यदि 'सत्त्वरूपधर्माभाववद् ब्रह्म'—इस अर्थ में हैं, तब तो इष्टापत्ति है, क्योंकि सत्त्वाभाव ब्रह्म में हम मानते ही हैं और यदि 'असद् ब्रह्म'—इसका तात्पर्य 'तुच्छं ब्रह्म'—इस अर्थ में है, तब शून्यतापत्ति होती है, अतः ब्रह्म में तुच्छत्वापादन सम्भव नहीं। 'प्रपञ्च में असत्त्व न होने के कारण यदि सत्त्वाभावाभावत्व या सत्त्व की आपत्ति की जाय, तब इष्टापत्ति है, क्योंकि प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता हम मानते ही हैं।

शङ्का—नृश्रृङ्गादि में जो असत्त्व-प्रतीति होती है, उसकी अपेक्षा इस (असदेव रजतमभात्—इस प्रकार की) प्रतीति में कुछ भी अन्तर प्रतीत नहीं होता, अतः 'नृश्रृङ्गमसत्'—इस प्रतीति के अनुरोध पर असदेव रजतम्'—इस प्रतीति को भी तुच्छत्वविषयक ही मानना चाहिए।

समाधान—उक्त दोनों प्रतीतियाँ यदि समान हैं, तब 'असदेव रजतम्'—इस प्रतीति के अनुरोध पर 'असत् नृश्रृङ्गम्'—इस प्रतीति को भी सत्त्वाभावविषयक माना जा सकता है। 'असदेव रजतम्'—इस प्रतीति को कथमपि तुच्छत्वविषयक नहीं माना जा सकता, अन्यथा 'रजतमिदम्'—इस प्रकार की प्रत्यक्ष प्रतीति न हो सकेगी—यह कहा जा चुका है। घटः सन्', 'ब्रह्म सत्' के समान समान शब्दों के द्वारा उपस्थापित प्रतीतियों का वैलक्षण्य पहले ही सिद्ध किया जा चुका है।

यह जो सत्त्व के विपयक में सात विकल्प किये थे—(१) सत्ता जाति, (२) अर्थक्रियाकारित्व, (३) अबाध्यत्व, (४) प्रामाणिकत्व, (५) अशून्यत्व, (६) ब्रह्मत्व, (७) पराङ्गीकृत सत्त्व। उन्हीं के अनुसार उनके सात अभावों का

न्यायामृतम्

समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी न भवतः; परस्परात्यन्ताभावत्वाद् घटत्वाघटत्ववत् । असत्त्वं सत्त्वानधिकरणनिष्ठं न, तत्प्रतिषेधरूपत्वाद्, यथा अनित्यत्वं नित्यत्वानधिकरणनिष्ठं न । एवं सत्त्वं पक्षीकृत्यापि प्रयोक्तव्यमिति सत्प्रतिपक्षत्वम् । घटत्वाघटत्वे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वाद् रूपरसवत् । कल्पितत्वमकल्पितत्वानधिकरणानिष्ठम्, धर्मत्वाद् रूपरसवदित्याभाससाम्यं च परस्परप्रति-

अद्वैतसिद्धिः

राहित्यांशे, तृतीयचतुर्थयोः उभयत्राप्यसत्त्वराहित्यांशे, पञ्चमे तूभयत्र सत्त्वराहित्यांशे, सप्तमेऽप्युक्तन्यायेन उभयत्राप्यसत्त्वराहित्यांशे, एवमबाध्यत्वशून्यत्वे, प्रामाणिकत्वशून्यत्वे च पक्षे बाधः, षष्ठे त्वबाध्यत्वरूपसत्त्वेनाप्युपपत्त्या अर्थान्तरम्—इति तन्न, पूर्वोक्तासत्त्वमादायांशतो बाधसिद्धसाधनादेः परिहृतत्वात् । एवं सामान्यतो अनिर्वाच्यत्वसाधकमप्येतदर्थपरतया नेयम् । व्याघातादिपरिहारोऽप्येवमेव ।

ननु साध्यप्रसिद्ध्यर्थानुमाने सत्त्वासत्त्वे, 'समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी न भवतः, परस्परात्यन्ताभावत्वात्, घटत्वाघटत्ववत् । असत्त्वं, सत्त्वानधिकरणानिष्ठं न, तत्प्रतिषेधरूपत्वात्, यथा अनित्यत्वं, नित्यत्वानधिकरणानिष्ठं न, एवं सत्त्वमपि पक्षीकृत्य प्रयोक्तव्यम्—'इति सत्प्रतिपक्षता, परस्परविरहानात्मकत्वं चोपाधिरिति—चेन्न,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विकल्प असत्त्व के विषय में सूचित किया गया था । उनमें प्रथम और द्वितीय के अनुसार प्रपञ्चगत सत्त्व-राहित्य अंश (सत्ता जाति और अर्थक्रियाकारित्व के अभावों) में बाध, शुक्ति-रजतादिगत असत्त्व-राहित्य अंश (सत्ता जाति और अर्थक्रियाकारित्व) में बाध; तृतीय और चतुर्थ विकल्प के अनुसार प्रपञ्च तथा शुक्ति-रजत उभयगत असत्त्व-राहित्य (अबाध्यत्व और प्रामाणिकत्व) अंश में बाध, पञ्चमविकल्प के अनुसार प्रपञ्च तथा शुक्ति-रजत उभयगत सत्त्व-राहित्य (अशून्यत्वाभाव) अंश में बाध, सप्तम विकल्प के अनुसार भी उभयगत असत्त्व-राहित्य (पराङ्गीकृत सत्त्वाभावाभाव) अंश में बाध, इसी प्रकार अबाध्यत्व-शून्यत्व और प्रामाणिकत्व-शून्यत्व में भी बाध तथा षष्ठ (ब्रह्मत्वं सत्त्वम्) पक्ष में अबाध्यत्वरूप सत्त्व की उपपत्ति हो जाने के कारण अर्थान्तरादि दोषों का उद्भावन किया गया है ।

वह उचित नहीं, क्योंकि पराभ्युपगत सत्त्व अथवा सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वरूप असत्त्व को लेकर आंशिक बाध और सिद्ध-साधनतादि का परिहार किया जा चुका है । इस प्रकार सामान्यतः अनिर्वाच्यत्व-साधक अनुमानों का भी इसी प्रकार के सत्त्वासत्त्व-राहित्य में तात्पर्य समझ लेना चाहिए, तथा व्याघातादि दोषों का परिहार भी इसी प्रकार कर लेना चाहिए ।

शङ्का—उक्त साध्य-प्रसिद्धि के साधक अनुमानों के प्रतिपक्ष प्रयोग इस प्रकार किए जा सकते हैं—(१) सत्त्व और असत्त्व—दोनों एक आधार में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी नहीं होते, क्योंकि दोनों परस्पर अत्यन्ताभावरूप होते हैं, जैसे घटत्व और अघटत्व । (२) असत्त्व, सत्त्व के अनधिकरण में नहीं रहता, क्योंकि सत्त्व-प्रतिषेध का स्वरूप होता है, जैसे—अनित्यत्व नित्यत्व के अनधिकरण में नहीं रहता । इसी प्रकार सत्त्व को पक्ष बना कर भी प्रयोग कर लना चाहिए (सत्त्वम्, असत्त्वानाधिकरणनिष्ठं न भवति, असत्त्वप्रतिषेधरूपतत्त्वाद्, यथा नित्यत्वम् अनित्य-

न्यायामृतम्

वेद्यानात्मकत्वमुपाधिश्च । एवं च—

अविरुद्धौ रूपरसौ सत्त्वासत्त्वे विरोधिनी ।
अन्यथा सदसद्रूपं स्यात्क्वचिद् रसरूपवत् ॥

किं चाद्ये सद्विलक्षणत्वासद्विलक्षणत्वकल्पितत्वाकल्पितत्वदृश्यत्वादृश्यत्वदुर्निरूपत्वादुर्निरूपत्वादौ द्वितीयतृतीययोर्यथाक्रममसद्वैलक्षण्ये सद्वैलक्षण्ये च त्रिष्वपि ज्ञेयत्वव्यवहार्यत्वादौ व्यभिचारः । न चौपाधिकधर्माणामुपाध्यनतिरेकाज्ज्ञानत्वमेव

अद्वैतसिद्धिः

सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहानात्मकत्वस्योक्तत्वेन हेतोरसिद्धत्वात् , उपाधेः साधनव्यापकत्वाच्च, ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या विपक्षबाधकतर्केण उपाधिसत्प्रतिपक्षयोरनवकाशात् ।

यत्तु—नित्यानित्यत्वदृष्टान्ते साधनवैकल्यमुक्तं, तदयुक्तम् , परेण ध्वंसाप्रतियोगित्वतत्प्रयोगित्वयोः परस्परविरहरूपयोः नित्यत्वानित्यत्वयोः सविध एवोक्तेः । यत्तु—घटत्वाघटत्वे, समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वाद् रूपरसवत् , कल्पितत्वमकल्पितत्वानधिकरणानिष्ठम् , धर्मत्वाद्रूपवदिति चाभाससाम्यम् । सद्विलक्षणत्वासद्विलक्षणत्वकल्पितत्वाकल्पितत्वदृश्यत्वादृश्यत्वदुर्निरूपत्वादुर्निरूपत्वादौ प्रथमस्य द्वितीयतृतीययोर्यथाक्रममसद्वैलक्षण्ये सद्वैलक्षण्ये च त्रिष्वपि ज्ञेयत्वव्यवहार्यत्वादौ

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

त्वानधिकरणनिष्ठं न) । इन प्रतिपक्ष प्रयोगों के अतिरिक्त परस्पर विरहानात्मकत्व' धर्म को उपाधि भी कहा जा सकता है, अतः 'सत्त्वासत्त्वे, समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वाद्, रूपरसवत्'—इत्यादि साध्य-प्रसिद्धि-साधक अनुमान सत्प्रतिपक्ष तथा सोपाधिक हैं ।

समाधान—सत्त्व और असत्त्व दोनों परस्पर अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी नहीं होते—यह कहा जा चुका है, अतः प्रतिपक्ष-प्रयोग का हेतु पक्ष में असिद्ध होने से स्वरूपासिद्धि दोष है, प्रदर्शित उपाधि में साधन की अव्यापकता नहीं व्यापकता ही है तथा ख्याति और बाध की अन्यथानुपपत्तिरूप विपक्ष-बाधक तर्क के सामने कथित उपाधि और सत्प्रतिपक्ष को कोई अवसर नहीं मिलता कि साध्य-प्रसिद्धि-साधक अनुमानों को दूषित कर सकें । नित्यत्व और अनित्यत्व के दृष्टान्त में जो साधन का अभाव कहा, वह उचित नहीं, क्योंकि पूर्व पक्षी के द्वारा प्रदर्शित परस्पर विरह-प्रतियोगीभूत ध्वंसाप्रतियोगित्व और ध्वंसप्रतियोगित्व का नित्यत्व-अनित्यत्व में सामीप्य समानस्वभावता सिद्ध कर रहा है, अतः साधन-वैकल्य नहीं ।

यह जो 'घटत्वाघटत्वे, समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वाद्, रूपरसवत्' । कल्पितत्वम्, अकल्पितत्वानधिकरणानिष्ठम्, धर्मत्वाद्, रूपवत्—इत्यादि अनुमानाभासों का साम्य-प्रदर्शन; सद्विलक्षणत्व-असद्विलक्षणत्व, कल्पितत्व—अकल्पितत्व, दृश्यत्व-अदृश्यत्व, दुर्निरूपत्व—अदुर्निरूपत्वादि में प्रथम (धर्मत्व) हेतु का व्यभिचार-प्रदर्शन, द्वितीय हेतु का असद्वैलक्षण्य और तृतीय हेतुक सद्वैलक्षण्यादि में तथा तीनों हेतुओं का ज्ञेयत्व, व्यवहार्यत्वादि में व्यभिचारोद्भावन किया है ।

वह संगत नहीं, क्योंकि 'क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वाद् , घटवत्'—इस अनुमान में जैसे अङ्कुरः, सकर्तृकः कार्यत्वात्—इस अनुमानाभास का साम्य तथा अङ्कुरादि में

न्यायामृतम्

ज्ञेयत्वमिति तदत्यन्ताभावप्रतियोगीति वाच्यम्, तथात्वे दृश्यत्वमेव दृश्यत्वाभिधान-त्वादिकमेवाभिधेयत्वादिकमिति ब्रह्मण एव दृश्यत्वम्, न तु जडस्य ब्रह्मण इव च घटादेरप्यवाच्यत्वमित्याद्यतिप्रसंगात्। आद्याभ्यां षट्पदार्थनियमस्यानंगीकाराच्च वैशेषिकैरप्यौपाधिकधर्माणामभावे सामान्येऽन्तर्भाव इति वा उपाध्यनतिरेकेऽपि घटा-द्येव कार्यं न त्वाकाशादीति व्यवस्थित्यर्थं यस्योपाधिना सम्बन्धो न तत्रैवौपाधिक-धर्मात्यन्ताभाव इति वा स्वीकृतत्वेनानैकान्त्यतादवस्थ्याच्च।

न च ज्ञेयत्वाद्यपि स्वनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, अन्यथाऽऽत्माश्रयादिति न व्यभिचार इति वाच्यम्, सत्त्वादेरप्यसत्त्वाद्यनधिकरणत्वात्, सत्त्वादिरूपविशेष-निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वसिद्ध्या सामान्यत सिद्ध्युपकल्पयोगात्, सद्वैलक्षण्यमिथ्या-त्वदृश्यत्वादिवच्छब्दप्रतिपाद्यत्वादेरप्यनन्यथासिद्धधीबलेन स्ववृत्तित्वाच्च, अत्यन्ता-भावप्रतियोगित्वे व्यभिचारस्य दुर्वारत्वाच्च। न च शब्दबोध्यत्वाद्यपि निर्धर्मकात्म-निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, आत्मशब्देनैव प्रतिपाद्यतया व्याघातात्, सत्त्वासत्त्वयोरपि तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेनार्थान्तरत्वाच्च। यदि च सर्वधर्मराहित्यश्रुत्याऽऽत्मनि

अद्वैतसिद्धिः

व्यभिचारश्च– इति, तन्न, क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वात्, घटवदित्यनुमाने अङ्कुरः सकर्तृकः कार्यत्वादित्याभाससाम्यं अङ्कुरादौ व्यभिचारो वा यथा न दोषः, तथा धर्म-त्वेन हेतुना समानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वं साधयतो मम घटत्वाघटत्वादौ साध्य-सत्त्वेन व्यभिचाराभावाद् हेतोश्चानाभासत्वात्। न ह्यविरुद्धधर्मत्वादिकं तादृक्सा-ध्यसत्त्वे प्रयोजकम्, किंतु धर्मत्वमात्रम्। न हि दृश्यत्वादिधर्माणां कुत्राप्यभावा-संभवः। तदुक्तं—'न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किंचिदपि रूपं वास्तवं संभवतो'ति। अत एवात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि न व्यभिचारः। न चात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि-त्वेनार्थान्तरम्, आत्मनो निर्धर्मकत्वेनात्यन्ताभावस्याप्यभावाद्, अनात्मनिष्ठत्वेन विशे-षणाद्वा। न चैवं कल्पितत्वमकल्पितत्वानधिकरणानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यभिचार दोष नहीं माना जाता, वैसे ही 'धर्मत्व' हेतु के द्वारा समानाधिकरणाभाव-प्रतियोगित्व की सिद्धि करने वाले हमारे (अद्वैती के) मत से घटत्वाघटत्वादि में साध्य की सत्ता होने के कारण व्यभिचार नहीं, अतः उक्त हेतु हेत्वाभास नहीं, सद्धेतु है, क्योंकि कथित साध्य का अविरुद्धधर्मत्व प्रयोजक नहीं माना जाता, किन्तु धर्मत्वमात्र प्रयोजक होता है। दृश्यत्वादि धर्मों का अभाव प्रपञ्च में भी असम्भव नहीं, जैसा कि कहा है—स्वरूपतः दुर्निरूपित वस्तु में कोई भी धर्म वास्तविक नहीं रह सकता। अत एव अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व में भी किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं। आत्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व को लेकर अर्थान्तरता भी नहीं, क्योंकि आत्मा निर्धर्मक होता है, अतः अत्यन्ताभावरूप धर्म भी उसमें नहीं रहता अथवा अत्यन्ताभाव का अनात्म-निष्ठत्व विशेषण दे देने से आत्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव का ग्रहण नहीं हो सकता।

शङ्का—यदि अत्यन्ताभाव का अनात्मनिष्ठत्व विशेषण दिया जाता है, तब 'कल्पितत्वम्, अकल्पितत्वानधिकरणीभूतानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्म-निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाद्, अकल्पितत्ववत्'—इस प्रकार के अनुमानाभास की समानता प्रकृत अनुमान में प्रसक्त की जा सकती है।

न्यायामृतम्

सत्त्ववत्तदत्यन्ताभावोऽपि नेति नार्थान्तरम्, तर्हि शब्दबोध्यत्वात्यन्ताभावोऽपि न तत्रेत्यनैकान्त्यतादवस्थ्यम्।

न च सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वादसत्त्ववदिति प्रयोगान्नात्मन्यर्थान्तरमिति वाच्यम्, व्याघाताद्यनिस्तारात्, अत्यन्ताभावस्य प्रामाणिकत्वे अपसिद्धान्तस्याऽप्रामाणिकत्वे च सिद्धसाधनस्यापाताच्च। अयं च दोषः पूर्वत्रापि द्रष्टव्यः। कल्पितत्वमकल्पितत्वानधिकरणानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वादकल्पितत्ववदित्याभाससाम्याच्च, आत्मन इवानात्मनोऽपि सत्त्वासत्त्वराहित्येऽप्यनिर्वाच्यत्वाभावोपपत्त्याऽर्थान्तरत्वाच्च, मिथ्यात्वे त्वद्रीत्या व्यभिचाराच्च। तस्मादप्रसिद्धविशेषणत्वं दुर्वारम्।

एतेन सत्ख्यातिवादिनं प्रति असद्विलक्षणं विमतं सद्विलक्षणम्, बाध्यत्वात् शुक्तिरजतत्वसंसर्गवदिति, असत्ख्यातिवादिनं च प्रति सद्विलक्षणं विमतमसद्विलक्षणमपरोक्षधीविषयत्वाद्, घटवदितिप्रयोगान्नाप्रसिद्धविशेषणत्वादिकं पक्षधर्मताबलाच्चानिर्वाच्यसिद्धिरिति नवीनोक्तं निरस्तम्, व्याघातबाधाद्यनिस्तारात्। अनिर्वाच्यत्वसाधकानुमानभंगः ॥ ६० ॥

अद्वैतसिद्धिः

अनात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाद्, अकल्पितत्ववदित्याभाससाम्यम्, अस्याः प्रसक्तेरिष्टत्वात्। मिथ्यात्वे यथा मिथ्यात्वसाधकदृश्यत्वादेर्न व्यभिचारः, तथास्यापि वादिविशेषं प्रति एकदेशसाधनेन साध्याप्रसिद्धिशङ्कापि। तथा हि—सत्ख्यातिवादिनं प्रति असद्विलक्षणं विमतं सद्विलक्षणम्, बाध्यत्वात्, शुक्तिरजतसंसर्गवत्। असत्ख्यातिवादिनं प्रति सद्विलक्षणं विमतम्, असद्विलक्षणम्, अपरोक्षधीविषयत्वाद्, घटवत्। पक्षधर्मताबलादनिर्वचनीयत्वसिद्धिः। यथा च सिद्धसाधनव्याघातादिकं, तथोक्तमधस्तात्। एवं प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगित्वं, सत्त्वासत्त्वोभयवृत्ति, प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगिमात्रवृत्तित्वाद्, व्यवहार्यत्ववत्। सदसदुभयवृत्तित्वं, प्रपञ्चनिष्ठ-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—ऐसी प्रसक्ति हमें अभीष्ट ही है। 'मिथ्यात्व' धर्म में भी जैसे मिथ्यात्व का व्यभिचार नहीं, वैसे ही इस (अनात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व) हेतु में साध्याप्रसिद्धि की शङ्का भी नहीं, क्योंकि विशेषवादी के प्रति केवल सद्भिन्नत्व या असद्भिन्नत्व का साधक होता है, अर्थात् प्रपञ्च-सत्यत्ववादी के प्रति 'असद्विलक्षण विवादास्पद प्रपञ्च, सद्विलक्षण होता है, क्योंकि बाध्य होता है, जैसे शुक्ति में रजत-संसर्ग'—इस प्रकार केवल सद्विलक्षण्य की तथा प्रपञ्च को असत् माननेवाले वादी के प्रति असद्विलक्षण विवादास्पद प्रपञ्च, असत् से भिन्न होता है, क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान का विषय होता है, जैसे घट—इस प्रकार केवल असद्भिन्नत्व की सिद्धि की जाती है, पक्षधर्मता के बल पर सदसद्भिन्नत्वरूप अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि पर्यवसित हो जाती है। इस में किसी प्रकार के सिद्ध-साधन और व्याघातादि दोष नहीं होते—यह पहले कहा जा चुका है।

साध्य-प्रसिद्धि के लिए प्रयुक्त अनुमानों के समान यह प्रयोग भी किया जा सकता

अद्वैतसिद्धिः

व्यतिरेकप्रतियोगित्ववृत्ति, सत्त्वासत्त्वोभयवद्वृत्त्यशेषवृत्तित्वात्, भेदप्रतियोगित्ववत्। अप्रयोजकत्वमनुकूलतर्कोक्त्या निरसिष्यते । तस्मादनुमानमत्र मानम् ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ अनिर्वाच्यत्वसाधकानुमानम् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है—(१) प्रपञ्चगत अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व, सत्त्व और असत्त्व—उभय में रहता है, क्योंकि प्रपञ्चनिष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी में ही रहता है। इसमें अप्रयोजकत्व का सन्देह अनुकूल तर्कों के द्वारा निरस्त किया जायगा। अतः कथित अनुमान अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि में निश्चित रूप से प्रमाण है। [श्री चित्सुखाचार्य ने भी कहा है—

प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् ।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः ॥
एकालम्बनसंसर्गनिषेधे सदसत्त्वयोः ।
धर्मत्वाद् रूपरसवत् सिद्धानिर्वचनीयता ॥ (चित्सु० पृ० १३६,४२)]

। ७१ ।

अनिर्वचनीयत्वेऽर्थापत्तिप्रमाणविचारः

न्यायामृतम्

अर्थापत्तावपि सच्चेन्न बाध्येतेत्यत्र किमिदं सत् ? सत्ताजातिमद्वा ? अर्थक्रियाकारि वा ? अबाध्यं वा ? अबाध्यत्वावच्छेदकावच्छिन्नं वा ? प्रामाणिकं वा ? नाद्यद्वितीयौ, त्वन्मते प्रपंचे व्यभिचाराद्, व्यवहारदशायां न बाध्येतेत्यापादनेन 'नेह नाने'ति बाधेन जगतोऽनिर्वाच्यत्वासिद्धेः, व्यवहारदशायामेव जगति यौक्तिकादिबाधस्य दर्शनाच्च, प्रत्यक्षबाधस्य च परोक्षाध्यस्ते अपरोक्षाध्यस्ते नभोनैल्यादौ

अद्वैतसिद्धिः

(क) ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिमथनम्

अर्थापत्तिरपि ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्यादिरूपा तत्र प्रमाणम् । तथा हि—विमतं रूप्यादि सच्चेन्न बाध्येत, असच्चेन्न प्रतीयेत, बाध्यते प्रतीयतेऽपि, तस्मात् सदसद्विलक्षणत्वादनिर्वचनीयम् । ननु—सत्ताजात्यर्थक्रियाकारित्वादिकमनङ्गीकारपराहतं त्वन्मते व्यभिचारि च न च । व्यवहारदशाबाध्यत्वमापाद्यम्, तथा सति 'नेह नाने'ति श्रौतनिषेधेन व्यवहारदशायामबाध्यस्य जगतोऽनिर्वचनीयत्वासिद्धिप्रसङ्गाद्, यौक्तिकबाधस्य व्यवहारदशायामपि दर्शनाच्च । अबाध्यत्वरूपं सत्त्वमापाद्याविशिष्टम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ख्याति और बाध की अन्यथा (अनिर्वचनीयत्व के विना) अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति भी अनिर्वाच्यत्व में प्रमाण है ।

अर्थात् विवादास्पदीभूत शुक्ति रजतादि पदार्थ यदि ब्रह्म के समान सत् हैं, तब बाधित नहीं होंगे और यदि नृश्रृङ्गादि के समान असत् हैं, तब प्रतीयमान न होंगे, किन्तु 'नेदं रजतम्'—इस प्रकार बाधित भी होते हैं और 'इदं रजतम्'—इस प्रकार प्रतीयमान भी, अतः सत् और असत्—दोनों से विवक्षण हैं, अतः एव अनिर्वचनीय हैं ।

शङ्का—यह जो आपने कहा कि "सच्चेन्न बाध्येत"—यहाँ पर बाध्यत्वाभाव का आपादक सत्त्व क्या (१) सत्ता जाति है ? या (२) अर्थक्रियाकारित्व ? या (३) अबाध्यत्व ? अथवा (४) प्रामाणिकत्व है ? इन विकल्पों में 'सत्ता' जाति और अर्थक्रियाकारित्व शुक्ति-रजतादि में हम (माध्वानुयायिओं) को स्वीकृत नहीं, अतः वहाँ आप उसके द्वारा अवाध्यत्व का आपादन नहीं कर सकते । आपके मतानुसार सत्ता जाति और अर्थक्रियाकारित्व प्रपञ्च में व्यभिचारी भी है, क्योंकि वहाँ अबाध्यत्व के न रहने पर भी अथक्रियाकारित्व माना जाता है । यदि कहा जाय कि प्रपञ्च में अर्थक्रियाकारित्व व्यभिचारी नहीं, क्योंकि उसके द्वारा आपादनीय होता है—व्यवहार-दशा में अबाध्यत्व, वह तो प्रपञ्च में माना ही जाता है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व का यदि व्यवहार-दशा में अवाध्यत्व ही आपाद्य है, तब तो "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृह० उ० ४।४।१२) इस श्रौत निषेध (बाध) के द्वारा प्रपञ्च में सत्त्व-निषेध पूर्वक जो अनिर्वचनीयत्व सिद्ध होता है, वह न हो सकेगा, क्योंकि उक्त श्रौत बाध के द्वारा व्यवहार-काल में प्रपञ्च बाधित नहीं होता, अतः वहाँ बाध्यत्व का निश्चय न होने पर 'सच्चेन्न बाध्येत'—ऐसा आपादन नहीं किया जा सकता । यदि कहा जाय कि 'सच्चेन्न युक्त्या बाध्येत'—ऐसा आपादन का स्वरूप मानने में कोई असंगति नहीं, क्योंकि अनुमानादि युक्तियों के द्वारा व्यवहार-कालीन प्रपञ्च में भी बाध्यत्व (अबाध्यत्व के बाध) का निश्चय हो जाता है । तो वैसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वाप्न कामिनी आदि में अर्थक्रिया-

न्यायामृतम्

बाभावात्, सत्ताविराहित्येऽपि ब्रह्मवदनिर्वाच्यत्वाभावोपपत्तेश्च, व्यवहारदशायां बाध्यस्यापि रूप्यस्याद्वैतवत्पारमार्थिकत्वोपपत्तेश्च। न तृतीयः, यदबाध्यम् तदबाध्यमिति साध्याविशिष्टयात्, व्यवहारस्यापाद्यत्वे च बाध्यत्वेनैवासद्व्यावृत्तेरपि सिद्धया शेषवैयर्थ्यात्। अत एव न चतुर्थः, प्रामाणिकत्वादन्यस्य तदवच्छेदकस्याभावाच्च। न पंचमः, बाध्यस्यापि बाध्यत्वाकारेण प्रामाणिकत्वात्, सत्त्वेन प्रामाणिकत्वविवक्षायामात्माश्रयापातात्, मानान्तराप्राप्तस्य तत्त्वावेदकश्रुतिवेद्यत्वेन प्रामाणिकस्य ब्रह्मनिर्विशेषत्वादेरपि त्वन्मते ब्रह्मान्यत्वेन बाध्यत्वेन व्यभिचाराच्च, अबाध्ये अविद्यादिसाधकतया स्वतःप्रकाशमाने चिन्मात्रे वैयर्थ्येन प्रमाणाप्रवृत्त्या प्रामाणिक-

अद्वैतसिद्धिः

प्रामाणिकत्वं तु ब्रह्मनिष्ठानिर्विशेषत्वादौ तत्त्वावेदकश्रुतिवेद्ये ब्रह्मभिन्नतया बाध्ये व्यभिचारीति सत्त्वानिरुक्तिः—इति। मैवम्, सत्त्वं ह्यत्र प्रामाणिकत्वम्, प्रामाणत्वं च तत्त्वावेदकत्वम्, तच्च लक्षणया शुद्धब्रह्मबोधकवेदान्तवाक्ये, न तु निर्विशेषत्वादिधर्मप्रतिपादके, अतो न तत्र व्यभिचारः। न च—स्वतः प्रकाशमाने ब्रह्मणि चिन्मात्रे वैयर्थ्येन प्रमाणाप्रवृत्त्या प्रामाणिकत्वाबाध्यत्वयोर्व्याप्तिग्रहो न स्यात्, प्रत्युत ब्रह्मभिन्न एव प्रामाणिकत्वसत्त्वेन तस्य बाध्यत्वेनैव सह व्याप्तिः स्यादिति—वाच्यम्, ब्रह्मणः

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कारित्वरूप सत्त्व के रहने पर भी बाध्यत्व देखा जाता है। तृतीय (अबाध्यत्वरूप) सत्त्व के द्वारा अबाध्यत्व का आपादन सम्भव नहीं, क्योंकि आपादक और आपाद्य—दोनों अविशिष्ट हैं, अभिन्न वस्तु में आपाद्य-आपादकभाव नहीं माना जाता। चतुर्थ (प्रामाणिकत्वरूप) सत्त्व ब्रह्मनिष्ठ निर्विशेषत्वादि धर्मों में व्यभिचारी हैं, क्योंकि वहाँ प्रामाणिकत्व ("साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च" इत्यादि तत्त्वावेदक प्रमाण-बोध्यत्व) रहने पर भी अबाध्यत्व नहीं, अपितु ब्रह्म से भिन्न होने के कारण उसमें बाध्यत्व ही होता है। फलतः 'सच्चेन्न बाध्येत'—यहाँ आपादकीभूत सत्त्व का निर्वचन सम्भव नहीं।

समाधान—यहाँ प्रमाणिकत्वरूप सत्त्व ही विवक्षित है। प्रमाणत्व नाम है—तत्त्वावेदकत्व का। वह (तत्त्वावेदकत्व) लक्षणा के द्वारा शुद्ध ब्रह्म के बोधक वेदान्त वाक्य में होता है, ब्रह्मनिष्ठ निर्विशेषत्वादि धर्मों के प्रतिपादक वाक्यों में नहीं, अतः व्यभिचार नहीं होता।

शङ्का—ब्रह्म स्वतः प्रकाशमान है, चिन्मात्र है, उस पर प्रमाण की प्रवृत्ति वैसे ही निष्फल है, जैसे दीपक की प्रचण्ड मार्तण्ड पर। आगमिक कहते हैं—

प्रकाशो नाम यः सर्वत्रैव प्रकाशते।
अनपह्नवनीयत्वात् किं तस्मिन् मानकल्पनः॥

प्रमाण की पहुँच से जो बाहर है, ऐसे ब्रह्म में प्रामाणिकत्व सम्भव नहीं, अतः 'सच्चेन्न बाध्येत'—इस आपादन में अपेक्षित यत्र यत्र 'सत्त्वं (प्रामाणिकत्वं) तत्र-तत्र अबाध्यत्वम्'—इस प्रकार की व्याप्ति का निश्चय कहाँ होगा? प्रत्युत ब्रह्म-भिन्न प्रपञ्च में ही प्रामाणिकत्वरूप सत्त्व रहता है, उस प्रामाणिकत्व की बाध्यत्व के साथ ही व्याप्ति गृहीत होती है, अतः 'सच्चेद् बाध्येत'—ऐसा आपादन तो सम्भव हो सकता है, 'सच्चेन्न बाध्येत'—ऐसा कभी नहीं।

समाधान—स्वप्रकाश ब्रह्म पर भी व्यवहार-प्रतिबन्धक अज्ञानावरण का

न्यायामृतम्

त्वस्य बाध्यत्वेनैव व्याप्तत्वाच्च, रूप्यादिबाधकस्यातत्त्वावेदकत्वेन तदप्रामाणिकतानापादकत्वाच्च । अतत्त्वावेदकव्यावहारिकप्रमाणबाधितस्यापि रूप्यादेरद्वैतवत्स्वतःप्रामाण्यप्रयुक्तपारमार्थिकत्वोपपत्तेः । न चास्य तत्त्वावेदकाद्वैतश्रुतिबाधः तस्याः भेदश्रुतिवत् प्रत्यक्षप्राप्तव्यावहारिकरूप्यनिषेधानुवादित्वोपपत्तेः ।

अद्वैतसिद्धिः

स्वप्रकाशत्वेऽपि व्यवहारप्रतिबन्धकाज्ञाननिवृत्त्यर्थं प्रमाणप्रवृत्तेः सफलत्वात् । अत एव न बाध्यत्वेन सह प्रामाणिकत्वस्य व्याप्तिः, ब्रह्मणि व्यभिचाराद्विरोधाच्च । न हि तत्त्वमावेदयता वेद्यमतत्त्वं नाम ।

ननु—रूप्यादिबाधकस्य तत्त्वावेदकत्वे अद्वैतहानिः, अतत्त्वावेदकत्वे तन्निबन्धनं रूप्यादेरप्रामाणिकत्वं न स्यादिति चेन्न, बाधकस्यातत्त्वावेदकत्वेऽपि रूप्याद्यप्रामाणिकत्वे प्रयोजकतैव, बाध्यान्यूनसत्ताकत्वस्यैव बाधकत्वे तन्त्रत्वात् । अत एव अतत्त्वावेदकव्यावहारिकप्रमाणबाधितस्यापि रूप्यादेरद्वैतवत् स्वतः प्रामाण्यप्रयुक्तपारमार्थिकत्वमस्तु । न चास्य तत्त्वावेदकाद्वैतश्रुतिबाधः, तस्याः भेदश्रुतिवत् प्रत्यक्षप्राप्तव्यावहारिकरूप्यनिषेधानुवादितयोपपत्तेरिति—निरस्तम् , अधिकरणानात्मकत्वपक्षे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अपसारण करने के लिए प्रमाण की प्रवृत्ति सफल मानी जाती है । अत एव बाध्यत्व के साथ प्रामाणिकत्व की व्याप्ति सम्भव नहीं, क्योंकि ब्रह्म में प्रामाणिकत्व के रहने पर भी बाध्यत्व नहीं रहता, अतः प्रमाणिकत्व बाध्यत्व से व्यभिचरित है, व्याप्त नहीं । बाध्यत्व के साथ प्रामाणिकत्व का व्याप्य-व्यापकभाव दूर रहा, विरोध होता है, क्योंकि तत्त्वावदेक या अबाधितार्थविषयक प्रयाण का विषय भी हो और बाधित भी—यह असम्भव है ।

शङ्का—शुक्ति-रजतादि का बाधक 'नेदं रजतम्'—यह प्रत्यक्ष तत्त्वावेदक प्रमाण है ? या नहीं ? यदि है, तब उसका विषयीभूत शुक्तिरूप अधिष्ठान ब्रह्म के समान ही तात्त्विक हो जाता है, द्वैतापत्ति होती है और यदि शुक्ति-रजत का बाधक प्रमाण अतत्त्वावेदक है, तब बाधकरूप प्रमाण के द्वारा बाधित होने के कारण जो रजत को अप्रामाणिक कहा जाता है, वह असंगत हो जायगा, क्योंकि अतत्त्वावेदक प्रमाण के द्वारा रजत का बाध ही न हो सकेगा ।

समाधान—शुक्ति रजत का बाधक प्रमाण अतत्त्वावेदक है, किन्तु वह अतत्त्वावेदकता रजतगत अप्रामाणिकता का प्रयोजक ही है, क्योंकि अप्रामाणिकता का अर्थ होता है—किसी प्रमाण के द्वारा बाधित होना । 'नेदं रजतम्'—यह प्रत्यक्ष अतत्त्वावेदक होने पर भी व्यावहारिक है, रजत की अपेक्षा अन्यूनसत्ताक होने के कारण रजत का बाधक हो जाता है, अतः 'नेदं रजतम्'—इसके द्वारा बाधित होने के कारण रजत को अप्रामाणिक कहना असंगत नहीं ।

न्यायामृतकार ने जो यह आक्षेप किया है कि अतत्त्वावेदकीभूत व्यावहारिक प्रमाण के द्वारा बाधित भी शुक्ति-रजतादि अद्वैत तत्त्व के समान स्वतःप्रामाण्य-प्रयुक्त-पारमार्थिक क्यों न मान लिया जाय ? 'तत्त्वावेदकीभूत "नेह नानास्ति"—इत्यादि अद्वैत श्रुति के द्वारा बाधित होने के कारण शुक्ति-रजत को पारमार्थिक कैसे मान सकेंगे ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि "नेह नानास्ति"—यह श्रुति भेद-बोधक श्रुति के

न्यायामृतम्

एतेनासत एव विलक्षणमिह सद्विवक्षितमिति केनचिदुक्तं निरस्तम्। अवधारणस्य सदसद्विलक्षणं न चेदित्यर्थकत्वेन प्रतियोग्यप्रसिद्ध्यापादकासिद्धेः, बाधेनैवानिर्वाच्यत्वसिद्ध्या ख्यात्युक्त्ययोगाच्च। सदसद्विलक्षणं न चेदित्यत्र सत्किं विवक्षित-

अद्वैतसिद्धिः

द्वैतनिषेधस्यापि व्यवहारिकत्वोपपादनाच्च।

केचित्—सदित्यसत एव विलक्षणमिह विवक्षितम्। न च—असत एवेत्यवधारणस्य सदसद्विलक्षणं न चेदित्यर्थपर्यवसानेन प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या आपादकाप्रसिद्धिरिति—वाच्यम्, प्रतियोगिप्रसिद्धेरनुमानेन प्रागेव साधितत्वात्। न च सदसद्विलक्षणं न चेदित्यत्र सत् किमिति पूर्वविकल्पप्रसरः, प्रामाणिकत्वरूपसत्त्वे दोषानवकाशात्। न च बाधेनैवानिर्वाच्यत्वसिद्ध्या ख्यात्युक्त्ययोगः, तस्या अर्थापत्त्यन्तरत्वात्, आकरे एकत्वोक्तिस्तु प्रयोजनैक्यादिति कण्ठतस्तात्पर्यतश्चेति—आहुः।

यद्वा—अबाध्यत्वमेव सत्त्वम्, न च—तर्ह्यापाद्याविशिष्ट्यम्, अबाध्यत्वं हि त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वम्। तेन च विपरीतप्रमाविषयत्वाभाव आपाद्यत इति नापाद्याविशिष्ट्यम्। व्यवहारस्यापाद्यत्वेन वा नापाद्याविशिष्ट्यम्। न च—बाध्यत्वेनै-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समान ही प्रत्यक्षावगत व्यावहारिक रजत के निषेध का अनुवाद मात्र करती है।

न्यायामृतकार का वह कहना उचित नहीं, क्योंकि द्वैत-निषेध को जब अधिकरण-रूप नहीं माना जाता, तब व्यावहारिक या लौकिक पारमार्थिक ही माना जाता है।

अद्वैत वेदान्त के कतिपय आचार्यों को 'सच्चेन्न बाध्येत'—इस वाक्य में सत् का असद्भिन्न अर्थ विवक्षित है। यदि कहा जाय कि 'असत एव' यहाँ पर एवकाररूप अवधारण के द्वारा 'असत् चेत्' का 'सदसद्विलक्षणं न चेत्'—इस अर्थ में पर्यवसान होता है, वहाँ सदसद्विलक्षणरूप प्रतियोगी की अप्रसिद्धि होने के कारण आपादक का पूर्ण कलेवर अप्रसिद्ध ही रह जाता है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतियोगी की प्रसिद्धि अनुमान प्रमाणों के द्वारा पहले पृ० ६८२ पर ही की जा चुकी है। 'सदसद्विलक्षणं न चेन्न बाध्येत'—यहाँ पर प्रामाणिकत्वरूप सत्त्व मानने में कोई दोष नहीं है, अतः पूर्वोक्त विकल्प-जाल के प्रसारण का कोई अवसर नहीं रह आता। अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि में ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिरूप जो प्रमाण दिखाया गया है, उसमें वस्तुतः ख्यात्यन्यथानुपपत्ति और बाधान्यथानुपपत्ति रूप दो अर्थापत्तियाँ प्रस्तुत की गई है, अतः एकप्रमाणता के पक्ष में जो एक अंश के वैयर्थ्य की आशङ्का की जाती है, वह निर्मूल है। आकर ग्रन्थों में जो दोनों में एकप्रमाणता का व्यवहार दृष्टिगोचर होता है, वह प्रयोजन की एकता को ध्यान में रखकर किया गया है।

अथवा अबाध्यत्व को ही सत्त्व माना जा सकता है। इस पक्ष में जो आपाद्य और आपादक की एकतापत्ति दी थी; वह उचित नहीं, क्योंकि अबाध्यत्व का अर्थ है—त्रैकालिक निषेध का अप्रतियोगित्व। उसके द्वारा विपरीत प्रमा-विषयत्वाभाव का आपादन किया जाता है [इस प्रकार सच्चेन्न बाध्येत' का अर्थ होता है 'त्रैकालिक निषेधाप्रतियोगी चेद् विपरीतप्रमाविषयत्वाभाववान् स्यात्'] अतः आपादक में आपाद्याविशिष्टता की आपत्ति नहीं हो सकती। अथवा 'अबाध्यं चेद्, अबाध्यमिति व्यवह्रियेत'—इस प्रकार अबाध्यत्व के द्वारा अबाध्यत्व का आपादन न कर अबाध्यत्व

न्यायामृतम्

मिति पूर्वविकल्पप्रसरेण घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तापाताच्च । एवं न बाध्येतेत्यत्र बाधः किं ज्ञानेन निवृत्तिः ? प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधो वा ? नोभयमपि मिथ्यात्वभंगे उक्तरीत्या आद्ये इष्टापत्तेर्द्वितीये असद्विलक्षणत्वपक्षे बाध्यते चेति विपर्ययापर्यवसानात् ।

अद्वैतसिद्धिः

वासद्व्यावृत्तेरपि सिद्ध्या अनिर्वचनीयत्वसिद्धिपर्यवसानेन शेषवैयर्थ्यम् , न प्रतीयेतेत्यत्र विपर्यये दृश्यत्वेनैव सद्वैलक्षण्यसिद्ध्या न बाध्येतेत्युक्तिरप्ययुक्तेति—वाच्यम् , बाध्यत्वदृश्यत्वयोरेकैकस्य सदसद्व्यावृत्त्युभयसाधकत्वं यद्यपि संभवति, तथाप्येकैकस्य एकैकदेशव्याप्यत्वग्रहदशायामुभयोः साफल्याद् , उभयव्याप्यमप्येकैकमेकदेशसाधकत्वेनोपन्यस्यतः प्रति एकैकसाधकत्वस्य दोषावहत्वाभावात् । अर्थापत्तिद्वयं वैतत् , एकत्वोक्तिस्तु असतो बाध्यत्वं सतोऽप्यात्मनो दृश्यत्वमङ्गीकुर्वतः परस्य मते एकैकेन उभयसाधनासंभवनिबन्धना ।

ननु—न बाध्येतेत्यत्र बाधः किं बाधकज्ञानेन निवृत्तिः ? त्रैकालिकनिषेधो वा ? नाद्य इष्टापत्तिः । द्वितीये असद्विलक्षणत्वपक्षेण बाध्यते चेति विपर्ययापर्यवसान-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

के व्यवहार का आपादन किया जाता है, अतः आपाद्य और आपादक में अन्तर है ।

शङ्का—प्रपञ्च में बाध्यत्व के द्वारा जैसे सत्त्व की व्यावृत्ति होती है, वैसे ही असत्त्व की भी व्यावृत्ति हो जाती है, जिसका अनिर्वचनीयत्व में पर्यवसान हो जाता है अतः बाधान्यथानुपपत्ति से भिन्न ख्यात्यन्यथानुपपत्ति का उपन्यास किस लिए ? एवं 'असच्चेत् न प्रतीयेत, प्रतीयते (दृश्यते) च'—इस प्रकार शुक्ति-रजतादि में प्राप्त प्रतीयमानत्व या दृश्यत्व के द्वारा ही सत् की व्यावृत्ति भी हो जाती है, क्योंकि ब्रह्मरूप सत् पदार्थ भी फलरूप प्रतीति का विषय नहीं होता । अतः सत् की व्यावृत्ति करने के लिए 'सत् चेन्न बाध्येत'—इस प्रकार आपादन का प्रदर्शन पुनरुक्तिमात्र है ।

समाधान—यद्यपि बाध्यत्व और दृश्यत्व—इन दोनों में प्रत्येक सत् और असत् दोनों की व्यावृत्ति का साधक है । तथापि जब बाध्यत्व और दृश्यत्व में से प्रत्येक के साथ केवल एक-एक देश की ही व्याप्ति गृहीत होती है, तब उभय दल का उपन्यास सफल होता है । उभय धर्म से व्याप्य हेतु का जो वादी एक देश-व्याप्यता के आधार पर एकदेश-साधकत्वेन उपन्यास कर रहा है, उसके प्रति एकदेश-साधकत्व दोषाधायक नहीं होता । अथवा बाधान्यथानुपपत्ति और ख्यात्यन्यथानुपपत्ति—ये दो अर्थापत्तियाँ हैं । एकत्वोक्ति उस वादी को ध्यान में रखकर की गई है, जो असत् में बाध्यत्व और सद्रूप आत्मा में दृश्यत्व मानता है, क्योंकि उसके मत में एक-एक के द्वारा उभय-साधन सम्भव नहीं ।

शङ्का—'सच्चेन्न बाध्येत'—यहाँ पर बाध क्या (१) बाधक ज्ञान के द्वारा निवृत्ति है ? अथवा (२) त्रैकालिक निषेध ? प्रथम पक्ष में इष्टापत्ति है, क्योंकि हमारे (माध्व) मत में शुक्ति-रजत असत् माना जाता है, उसका बाधक ज्ञान अनावश्यक है । द्वितीय पक्ष के अनुसार सत् यदि बाधित (त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी) नहीं होता, तब 'सद्विलक्षण ही बाधित होता है'—ऐसा विपर्यय ही 'सच्चेन्न बाध्येत'—इस आपादन का फलित अर्थ होता है, 'असद्विलक्षणं बाध्येत'—ऐसा नहीं, अतः शुक्ति-रजत में

न्यायामृतम्

एवमसच्चेदित्यत्रासत् किं सत्ताविहीनम् ? बाध्यं वा ? निरुपाख्यं वा ? निरुपाख्यत्वावच्छेदकावच्छिन्नं वा ? निस्स्वरूपं वा ? नाद्यः, सत्ताविहीनस्याग्माद्रेः प्रतीत्या व्यभिचाराद्रूप्यादौ तस्मादसन्न भवतीति विपर्ययापर्यवसानाच्च । अत एव न द्वितीयः, न तृतीयः, निरुपाख्यं चेन्न ख्यायेतेतिसाध्यावैशिष्ट्यात् । न चतुर्थः, निस्स्वरूपत्वाद्यन्यस्य तस्याभावादसत एव ख्यात्यंगीकारेणापादकासिद्धेश्च । न पंचमः पारमार्थिकत्वाकारेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वस्य निर्धर्मके ब्रह्मण्यपि सत्वेनानिर्वाच्यस्य स्वरूपेण तत्प्रतियोगित्वे वाच्ये शशशृंगादेरपीतोऽन्यस्य निस्स्वरूपत्वस्याभावेन

अद्वैतसिद्धिः

मिति—चेन्न, उभयथाप्यदोषात् । न चाद्य इष्टापत्तिः, ज्ञाननिवर्त्यत्वे श्रुत्यादिसंमतेरुक्तत्वात् । द्वितीयेऽपि नासद्विलक्षणत्वेन विपर्ययापर्यवसानम्, प्रतिपन्नोपाधिस्थनिषेधप्रतियोगित्वस्यासत्यसंभवेनासद्विलक्षण्यस्यैव विपर्ययपर्यवसानप्रयोजकत्वात् ।

असच्चेदित्यत्रापि यद्यप्यसत्वं न सत्ताजातिराहित्यम्, सत्ताहीने सामान्यादौ व्यभिचारात् । यत्त्वात्मनि व्यभिचारादित्युक्तं परैः । तन्न, तन्मते आत्मनि सत्तायाः सत्त्वेनापादकस्यैवाभावाद्, अस्मन्मते च तत्र दृश्यत्वस्यैवाभावेनापाद्यस्यैवाभावात् । नापि बाध्यत्वम्, शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारापत्तेः, तथापि निरूपाख्यत्वं निःस्वरूपत्वं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

असद्विलक्षण्य नहीं माना जा सकता।

समाधान—बाध के कथित दोनों विकल्पों में कोई दोष नहीं। यह जो दोष दिया कि शुक्ति-रजत में बाधक ज्ञान-निवर्त्यत्व सम्भव नहीं, अतः हमें (माध्व वादी को) इष्टापत्ति है, वह उचित नहीं, क्योंकि शुक्ति-रजतादि में भी बाधक ज्ञान-निवर्त्यत्व "नेह नानास्ति"—इत्यादि श्रुतियों से भी समर्थित होने से कारण सम्भव है—यह विगत पृ० २५ पर कहा जा चुका है। द्वितीय पक्ष में भी असद्विलक्षणत्व-प्रयुक्त बाध्यत्वरूप विपर्यय में अपर्यवसान नहीं, क्योंकि प्रतिपन्न उपाधि (आश्रय) में होनेवाले 'नेदं रजतम्'—इस प्रकार के निषेध की जो रजतगत प्रतियोगिता है, वह खपुष्पादि असत् में सम्भव नहीं, अतः शुक्ति-रजत में असद्विलक्षणत्व पर्यवसित होता है।

असच्चेत् न प्रतीयेत'—यहाँ पर भी यद्यपि असत्व सत्ता जाति-रहितत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सत्ता जाति से रहित सामान्यादि में व्यभिचरित है, अर्थात् सामान्यादि में सत्ता जाति का अभाव होने पर भी अप्रतीयमानत्व नहीं। इस पक्ष में न्यायामृतकार ने आत्मा में जो व्यभिचार दोष दिया है, वह उचित नहीं, क्योंकि उनके मतानुसार आत्मा में सत्ता जाति ही रहती है, सत्ता-विरहरूप आपादक के न होने के कारण वहाँ प्रतीत्यभाव का आपादन ही नहीं किया जा सकता और हमारे (अद्वैत) मतानुसार आत्मा में दृश्यत्वरूप प्रतीयमानत्व नहीं माना जाता, अतः आपाद्य का ही अभाव है। बाध्यत्व को भी असत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि शुक्ति-रजत में अप्रतीयमानत्वरूप आपाद्य के न रहने पर भी बाध्यत्वरूप असत्व रह जाता है, अतः व्यभिचारी होने के कारण अप्रतीयमानत्व का आपादक नहीं हो सकता। तथापि निरुपाख्यत्व या निःस्वरूपत्व को असत्व कहा जा सकता है। 'निरुपाख्यत्व का अर्थ ख्याति या प्रतीति का अभाव है, अतः आपादक और आपाद्य दोनों अविशिष्ट हो जाते हैं—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि निरुपाख्यत्व का यहाँ अर्थ है—पद-वृत्ति की अविषयता, अतः प्रतीत्य-

न्यायामृतम्

तस्मादसन्न भवतीति विपर्यापर्यवसानात्। किं चासत्त्वं यदि सत्त्वाभावतद्व्याप्यान्यतरत्, तर्हि निर्वाच्यख्यातौ न विपर्ययपर्यवसानं अन्यच्चेदिष्टापत्तिः। एवं न प्रतीयेतेत्यत्र किं प्रतीतिमात्रं विवक्षितम्? सत्त्वेन प्रतीतिर्वा? अपरोक्षप्रतीतिर्वा?

अद्वैतसिद्धिः

वा असत्त्वम्। न च–निरुपाख्यत्वं ख्यात्यभावः तथा चापाद्यावैशिष्ट्यमिति वाच्यम्, निरुपाख्यत्वस्य पदवृत्त्यविषयत्वरूपत्वात्। ननु–निःस्वरूपत्वं स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वम्, तच्च प्रपञ्चसाधारणमिति तत्र व्यभिचारः, न च पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधो न स्वरूपतः प्रपञ्चस्येति—वाच्यम्, निर्धर्मकब्रह्मण्यपि तेन रूपेण निषेधात्तस्यापि मिथ्यात्वापत्तेरिति चेन्न, मिथ्यात्वलक्षणे प्रतिपन्नोपाधाविति विशेषणबलात्तत्र नातिव्याप्तिरित्युक्तत्वात्। यस्मिन्नपि पक्षे प्रपञ्चस्य स्वरूपेण निषेधः, तदा अप्रतिपन्नोपाधिकत्वे सति स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वं निःस्वरूपत्वम्। न चैतत् प्रपञ्चेऽस्ति, येन तस्मादसन्न भवतीति विपर्ययपर्यवसानं न स्यात्।

ननु—न प्रतीयेतेत्यत्र प्रतीतिसामान्यविरहस्तावदापाद्यते, तदयुक्तम्, असन्नृश्रृङ्गमित्यादिवाक्यादसतोऽपि प्रतीतेः, अन्यथा असद्वैलक्षण्यज्ञानायोगः, असत्प्रतीतिनिरासायोगश्च, असत्पदस्य अनर्थकत्वे प्रयुक्तपदानां सम्भूय कार्यकारित्वायोगे बोधक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विषयत्वरूप आपाद्य से अन्तर हो जाता है।

शङ्का—निःस्वरूपत्व का अर्थ होता है—स्वरूपेण निषेध का प्रतीयोगित्व। वह प्रपञ्च में भी रहता है, किन्तु प्रपञ्च में अप्रतीयमानत्वरूप आपाद्य नहीं, अतः आपादक व्यभिचारी है। व्यावहारिक प्रपञ्च का स्वरूपेण (व्यावहारिकत्वेन) निषेध न होकर पारमार्थित्वेन निषेध माना जाता है, अतः स्वरूपेण निषेध की प्रतियोगिता प्रपञ्च में नहीं रहती—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'पारमार्थिकत्व' धर्म तो निर्धर्मक ब्रह्म में भी नहीं रहता, अतः 'पारमार्थिकत्वेन ब्रह्म नास्ति—इस प्रकार के निषेध की प्रतियोगिता ब्रह्म में भी है, अतः ब्रह्म में मिथ्यात्वापत्ति होती है, क्योंकि पारमार्थिकत्वेन निषेध की प्रतियोगिता ही मिथ्यात्व है।

समाधान—केवल निषेध-प्रतियोगित्व—इतना ही मिथ्यात्व का लक्षण नहीं, अपितु 'प्रतिपन्नोपाधौ निषेध-प्रतियोगित्व है, ब्रह्म का प्रतीयमान आधार कोई प्रसिद्ध न होने के कारण मिथ्यात्व का यह लक्षण उसमें नहीं घटता, अतः वह मिथ्या नहीं हो सकता—यह कहा जा चुका है। जिस पक्ष में प्रपञ्च का स्वरूपेण निषेध माना जाता है, उस पक्ष में 'अप्रतिपन्नोपाधिकत्वे सति स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वम्'—ऐसा निःस्वरूपत्व का अर्थ विवक्षित होता है, अतः प्रपञ्च में असत्त्व व्यभिचारी नहीं होता, क्योंकि प्रपञ्च प्रतिपन्नोपाधिक है, अप्रतिपन्नोपाधिक नहीं, अतः प्रपञ्च में असद्वैलक्षण्यरूप विपर्यय पर्यवसित हो जाता है।

शङ्का—'असच्चेत् न प्रतीयेत'—यहां पर 'न प्रतीयेत'—इस वाक्य के द्वारा प्रतीति-सामान्य का विरह आपादित नहीं हो सकता, क्योंकि 'असत् नृश्रृङ्गम्—इस वाक्य के द्वारा असत् की भी प्रतीति होती है, अन्यथा प्रपञ्च में असद्वैलक्षण्य का ज्ञान न हो सकेगा और असत्प्रतीति का निरास भी न हो सकेगा। 'असत्' पद के अनर्थक (अवाचक) होने पर 'असत् न'—इस प्रकार के वाक्यों में पदों का मिल कर कार्य-

न्यायामृतम्

सत्त्वेनापरोक्षप्रतीतिर्वा ? नाद्यः, असतोऽप्रतीतावसद्वैलक्षण्यज्ञानायोगाद्, असत्प्रतीतिनिरासानुपपत्तेश्च, असत्पदस्यानर्थकत्वे प्रयुक्तपदानां सम्भूयकारित्वेनासन्न प्रतीयते इति वाक्यस्याबोधकत्वापाताच्च । असतोऽसत्त्वेनाप्रतीतावसद्व्यवहारानुपपत्तेश्च । तदुक्तम्—

असद्विलक्षणज्ञप्त्यै ज्ञातव्यमसदेव हि ।
तस्मादसत्प्रतीतिश्च कथं तेन निवार्यते ॥ इति ।

अद्वैतसिद्धिः

त्वानुपपत्तिः, असतोऽसत्त्वेनाप्रतीतौ असद्व्यवहारानुपपत्तिः, तदुक्तम्—

'असद्विलक्षणज्ञप्तौ ज्ञातव्यमसदेव हि ।
तस्मादसत्प्रतीतिश्च कथं तेन निवार्यते ॥'

इति—चेन्न, प्रतीत्यभावेऽपि असतो असन्नृशृङ्गमिति विकल्पमात्रेणैव सर्वोपपत्तेः । तदुक्तम्—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प' इति । न च—विकल्प इच्छादिवत् ज्ञानान्यवृत्तिर्वा ? ज्ञानविशेषो वा ? आद्ये अनुभवविरोधप्रतीत्ययोगौ, द्वितीये असतः प्रतीतिरागतैव । वस्तुशून्य इत्यत्रापि किमपि नोल्लिखतीति वा ? असदवोल्लिखतीति वा ? आद्ये अनुभवविरोधः, द्वितीये इष्टापत्तिरिति—वाच्यम्, विकल्पस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कारित्व न होने के कारण बोधकत्व ही नहीं बनता, असत् वस्तु का असत्त्वेन भान न होने पर असद्-व्यवहार भी न हो सकेगा, जैसा कि कहा गया है—

असद्विलक्षणज्ञप्तौ ज्ञातव्यमसदेव हि ।
तस्मादसत्प्रतीतिश्च कथं तेन निवार्यते ॥

[प्रपञ्च में असद्वैलक्षण्य का ज्ञान करने के लिए असद्रूप प्रतियोगी का ज्ञान आवश्यक है, अतः 'न प्रतीयेत—इस वाक्य के द्वारा प्रतीति-सामान्यान्तर्गत असत् की प्रतीति का निरास कैसे होगा ? अर्थात् कभी नहीं हो सकता] ।

समाधान—'असत्' की प्रतीति (प्रमाणादि चैतसिक वृत्तियों) के न होने पर भी 'असत् नृशृङ्गम्' इस प्रकार की विकल्पात्मक वृत्ति के उत्पन्न हो जाने से असद्-व्यवहारादि निष्पन्न हो जाता है । विकल्पात्मक वृत्ति का लक्षण महर्षि पतञ्जलि ने किया है— 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'' (यो० सू० १।९) [अर्थात् 'असत् नृशृङ्गम्'—इत्यादि शब्दों को सुनकर जो चित्त का विषयवस्तु से रहित परिणाम विशेष होता है, उसे विकल्प वृत्ति कहा जाता है] ।

शङ्का—क्या इच्छादि के समान ज्ञान से भिन्न कोई विकल्प नाम की चैतसी वृत्ति होती है ? अथवा वह ज्ञान-विशेष ही है ? प्रथम पक्ष में अनुभव का विरोध और प्रतीति का अभाव प्रसक्त होता है । द्वितीय पक्ष में इष्टापत्ति है, क्योंकि 'असत्' शब्द के द्वारा असत् की प्रतीति होती ही है । 'वस्तुशून्यः'—इस शब्द का क्या यह अर्थ है कि विकल्प वृत्ति किसी भी विषय का उल्लेख नहीं करती ? अथवा असद्रूप अवस्तु का ही उल्लेख करती है, किसी वस्तु का नहीं ? यह पक्ष अनुभव से विरुद्ध है, क्योंकि विकल्पवृत्ति में भी विषय का उल्लेख अनुभव-सिद्ध है । द्वितीय पक्ष में इष्टापत्ति है, क्योंकि असत् भी एक विषयवस्तु है, जिसका उल्लेख या प्रतीति सम्पन्न हो जाती है ।

समाधान—ज्ञान से भिन्न विकल्प नाम की चित्त-वृत्ति के मानने में कोई बाधक

न्यायामृतम्

द्वितीयेऽपि सा किं प्रमारूपा निषिध्यते ? भ्रमरूपा वा ? नाद्यः, इष्टापत्तेः। न द्वितीयः, उक्तन्यायेनासतः प्रतीतिसिद्धौ सतोऽसत्त्वेनेवारूप्यस्य च रूप्यत्वेनेव भ्रान्तित्वादेवासतः सत्त्वेन प्रतीत्युपपत्तेः। तदुक्तम्—"असतः सत्प्रतीतिः सतोऽसत्त्वप्रतीतिरित्यन्यथाप्रतीतेरेव भ्रान्तित्वादि"ति। येन पुंसा शशशृंगाभावो न निश्चितः, तस्य शशशृंगमस्तीतिवाक्याभासाज्ज्ञानोत्पत्तेश्च। न ह्यत्र 'घढघष'—इत्यादिनिरर्थकेष्विव पदार्थधीरेव वा कुंडमजाजिनम्'—इत्याद्यपार्थकेष्विवान्यवधीर्वा नास्ति विपरीत-

अद्वैतसिद्धिः

ज्ञानान्यवृत्तित्वे बाधकाभावात्, शशविषाणमनुभवामीत्यप्रत्ययाच्च। वस्तुशून्यता च सोपाख्यधर्मानुल्लेखित्वम्, अतो न कोऽपि दोषः। विकल्पस्य ज्ञानत्वे तु तदन्यज्ञानविषयत्वाभाव आपाद्यः। शुक्तिरूप्यादेरसत्त्वे च प्रतीतिविषयत्वं विकल्पान्यप्रतीतिविषयत्वं वानुपपन्नमित्यनिर्वाच्यत्वसिद्धिः। यद्वा—सत्त्वेन प्रतीत्यभाव एवापाद्यः।

ननु—प्रमारूपतादृक्प्रत्ययाभावापादनमिष्टमेव। न ह्यसतः सत्त्वेन प्रतीतिः केनचित् प्रमोच्यते। न च तादृग्भ्रान्तिविरहः तादृक्प्रतीतिसामान्यविरहो वाऽऽपाद्यः, येन पुंसा शशे शृङ्गाभावो नावगतः, तस्य गोशृङ्गमस्तीति वाक्यादिव शशशृङ्गमस्तीति वाक्यादपि भ्रान्तिदर्शनात्, न हि घढघषादिशब्दवदत्र पदार्थानुपस्थापकत्वम्, न वा कुण्डमजाजिनमित्यादिवदन्वयाबोधकत्वम्, अयोग्यताज्ञानाभावस्य योग्यताभ्रमस्य वा आकाङ्क्षादिसामग्रीसध्रीचीनस्य सत्त्वाद्, अन्यथा प्रतीत्याद्यभावाप्रसङ्ग इति—चेन्न, 'इदं रजत'मिति प्रात्यक्षिकभ्रमवद् अस्याप्यनिर्वाच्यविषयत्वात्। न च—अस्या-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उपलब्ध नहीं होता एवं 'शशविषाणम् अनुभवामि'—ऐसी प्रतीति भी वहाँ नहीं होती। वस्तु-शून्यता का अर्थ सोपाख्य धर्म का अनुल्लेख है, अतः कोई भी दोष नहीं होता। विकल्प को यदि ज्ञानात्मक वृत्ति माना जाता है, तब उस से भिन्न ज्ञान की विषयता का अभाव आपाद्य होता है। शुक्ति-रजतादि यदि असत् माने जाते हैं—तब प्रतीति-विषयत्व अथवा विकल्पान्यप्रतीति-विषयत्व अनुपपन्न है, अतः अनिर्वाच्यत्व सिद्ध हो जाता है। अथवा सत्त्वेन प्रतीति का अभाव ही आपाद्य है।

शङ्का—उक्त आपाद्य (प्रतीत्यभाव) का तात्पर्य क्या है ? (१) सत्त्वेन प्रमारूप प्रतीति का अभाव ? (२) सत्त्वेन भ्रान्ति का अभाव ? अथवा (३) सत्त्वेन सामान्य प्रतीति का अभाव ? सत्त्वेन प्रमात्मक प्रतीति का अभाव यदि आपाद्य है, तब इष्टापत्ति है, क्योंकि शुक्तिरजतरूप असत् की सत्त्वेन प्रतीति को प्रमा कोई भी नहीं मानता। भ्रान्ति या प्रतीति-सामान्य का विरह भी आपादनीय नहीं हो सकता, क्योंकि जिस पुरुष को शश में शृङ्गाभाव का ज्ञान नहीं, उसको जैसे गोशृङ्गमस्ति'—इस वाक्य से भ्रम ज्ञान होता है, वैसे ही शशशृङ्गमस्ति'—इस वाक्य से भी भ्रान्ति होती देखी जाती है। 'शशशृङ्गमस्ति'—इस वाक्य के घटक पदों में 'घढघष'—इत्यादि पदों के समान पदार्थ की अनुपस्थापकता (अस्मारकता) नहीं और न 'कुण्डमजाजिनम्' के समान अन्वयाबोधकता, क्योंकि यहाँ अयोग्यता-ज्ञान का अभाव अथवा योग्यता-भ्रम के साथ-साथ आकाङ्क्षादि-घटित पूरी शाब्द-सामग्री विद्यमान है, अन्यथा इस वाक्य को सुनने पर कुछ भी ज्ञान न होता, किन्तु ज्ञान होता है।

समाधान—'इदं रजतम्'—इस प्रात्यक्षिक भ्रम के समान प्रकृत प्रतीति भी

न्यायामृतम्

बोधकेषु योग्यताभावेऽपि अयोग्यत्वज्ञानाभावमात्रेण योग्यताभ्रमेण वा आकांक्षासन्निधिभ्यां ज्ञानोत्पत्तेरनुभवात्। अन्यथा प्रवृत्त्यादेरयोगात्। योग्यताहीनाद्वाक्याज्ज्ञानानुत्पत्तौ च तद्धीनात्प्रतिवादिवाक्याद्वोरेव न स्यादिति कथा बधिरकलहः स्यात्।

ननु—शशशृंगादिशब्दाद्विकल्पमात्रमेव जायते, उक्तं हि योगसूत्रे—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प" इतीति चेन्न, विकल्पस्येच्छादिवज्ज्ञानान्यवृत्त्यन्तरत्वेऽनुभवविरोधात् प्रवृत्त्ययोगाच्च। न हि शशशृंगस्यासत्त्वाज्ञानदशायां तदस्तित्वज्ञानस्य गोशृंगास्तित्वज्ञानान्मात्रयापि विशेषोऽनुभूयते। असति वृत्त्यन्तरवज्ज्ञानस्यैवोपपत्तेश्च। अन्यथा शुक्तिरूप्यादेरपि विकल्पमात्रं न तु प्रतीतिरिति स्यात्। विकल्पस्य ज्ञानविशेषत्वे त्विष्टापत्तिः। वस्तुशून्य इति च कोऽर्थः किं किमप्यनुल्लिखन्निति? असदेवोल्लिखन्निति वा? आद्ये अनुभवविरोधः, व्यवहारानुपपत्तिश्च। न ह्ययं घटादिवत्किमप्यनुल्लिखन्ननुभूयते। द्वितीये सिद्धं नः समीहितम्। न चेयमपि धीरनिर्वाच्यविषया। निस्स्वरूपस्य शशशृंगादेरप्यनिर्वाच्यत्वे हि रूप्यादेः कुतो वैलक्षण्यमाशास्यते? निरुपाख्यादिति चेन्न, तस्य दुर्बोधत्वादित्युक्तत्वात्। तादृशाद्वैलक्षण्यस्येष्टत्वाच्च,

अद्वैतसिद्धिः

प्यनिर्वाच्यत्वे रूप्यात् भेदो न स्यादिति—वाच्यम्, को हि अनिर्वाच्यादनिर्वाच्यं भेत्तुमध्यवसितः? यमेवमाक्षिपसि, किंतु निःस्वरूपात्। यथा च सत्त्वेन न निःस्वरूपविषयत्वं तथोक्तं प्राक्। न चैवं शशशृङ्गादेरनिर्वाच्यत्वे निःस्वरूपत्वोच्छेदः, शशशृङ्गमस्तीत्यत्र शशे शृङ्गारोपेण शशीयत्वारोपेण वा अनिर्वाच्यविषयत्वेऽपि 'असच्छृङ्ग' मित्यादिवाक्यश्रवणसमनन्तरं विकल्प्यमानाखण्डशशशृङ्गादेरनिर्वाच्यानात्मकस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अनिर्वाच्य शशशृङ्गरूप अर्थ को विषय करती है। यदि 'शशशृङ्गमस्ति—इस प्रतीति का विषय भी 'रजत' के समान ही अनिर्वाच्य है, तब शुक्ति-रजत से शशशृङ्ग का कोई भेद ही न रहेगा'—यह आक्षेप अत्यन्त असंगत है, क्योंकि अनिर्वाच्य वस्तु का अनिर्वाच्य वस्तु से भेद कोई भी नहीं मानता, जिस पर कि यह उपालम्भ लागू होता। हम तो निःस्वरूपात्मक असत् से अनिर्वचनीय का भेद कहते हैं। निःस्वरूप वस्तु में सत्त्वेन प्रतीति-विषयता नहीं होती—यह पहले ही पृ० २९ पर कहा जा चुका है।

शङ्का—शशशृङ्गादि को यदि अनिर्वाच्य माना जाता है, तब शशशृङ्गादि असत् पदार्थों में स्वीकृत निःस्वरूपत्व नहीं रहता एवं शशशृङ्गादि की व्यावृत्ति के लिए अनिर्वचनीयत्व के लक्षण में असद्भिन्नत्व विशेषण भी निरर्थक हो जाता है।

समाधान—शशशृङ्गादि के दो स्वरूप होते हैं—(१) सखण्ड और (२) अखण्ड। सखण्ड को अनिर्वचनीय और अखण्ड को निःस्वरूप या असत् कहा जाता है। शशशृङ्गमस्ति—इस प्रकार की प्रतीति में शश में शृंग का या शृंग में शशीयत्व का आरोप होता है, अत एव यह प्रतीति अनिर्वाच्य शश-शृंग को विषय करती है और 'असत् शशशृंगम्'—इस प्रकार का वाक्य सुनने के पश्चात् अखण्ड शशशृंगाकार जो चित्त की विकल्पसंज्ञक वृत्ति उत्पन्न होती है, उसकी विषय वस्तु को अनिर्वाच्यानात्मक निःस्वरूप या असत् माना जाता है। जिसकी व्यावृत्ति के लिए अनिर्वचनीयत्व के लक्षण में असद्भिन्नत्व विशेषण जोड़ा जाता है। निःस्वरूपत्व के विषय में विशेष विकल्प उठाने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि इसी प्रकरण में यह निर्णय दिया जा चुका

न्यायामृतम्

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हीति त्वन्मतेऽपि तत्राध्यस्तस्यास्तित्वस्या-निर्वाच्यत्वेऽपि शशशृंगमसदितिवाक्य इव शशशृंगमस्तीतिवाक्ये शशशृंगशब्दे-नासत एव प्रतीतेश्च। "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदि' ति श्रुत्याऽप्यसतः सत्त्व-प्रतीतेश्च।

एतेन शशशृङ्गशब्दो निश्चितानन्वयत्वादपार्थके इति चिन्तामण्युक्तं निरस्तम्,

अद्वैतसिद्धिः

निःस्वरूपत्वात्। न चात्र निःस्वरूपत्वादिविकल्पः, उक्तोत्तरत्वात्। न च—'अत्यन्ता-सत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।' इति त्वन्मते तस्याध्यस्तस्यास्तित्वस्यानिर्वाच्य-त्वेऽपि 'शशशृङ्गमस'दिति वाक्यादिव 'शशशृङ्गमस्ती'ति वाक्येऽपि शशशृङ्गशब्देना-सत एव प्रतीतिरिति वाच्यम्, अस्तित्वस्यानिर्वाच्यत्वेन शशशृङ्गपदाभ्यां तदधि-ष्ठानमवश्यं वक्तव्यम्। अत्यन्तासच्चानधिष्ठानमिति न शशशृङ्गपदाभ्यां तदुपस्थितिः, दृष्टान्तीकृतवाक्ये तु नानिर्वाच्यं किंचिदपि प्रतीयत इति नाधिष्ठानज्ञानापेक्षेति वैध-र्म्यात्। अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमित्यादि तु अस्त्यादिपदसमभिव्याहृतशशशृंगमसदिति वाक्यपरम्। न च—'तद्धैक आहुः असदेवेदमग्र आसी'दिति श्रुत्या असतः सत्त्वेन प्रतीतिरिति वाच्यम्, यथा नानया असतः सत्त्वप्रतिपादनं तथोक्तं मिथ्यात्वलक्षणे।

तार्किकास्तु—शशशृङ्गादिपदानामपार्थकतैवेति—वदन्ति। न चानन्वयनिश्चय-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

है कि निःस्वरूपत्व का अर्थ निरुपाख्यत्व और निरुपाख्यत्व का पदवृत्त्यविषयत्व अर्थ विवक्षित है।

शङ्का—"अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि" (श्लो० वा० पृ० ४६) कुमारिल भट्ट की इस सदुक्ति को अपनाते हुए खण्डन-खण्डखाद्यकार ने माना है कि शशशृंगादि शब्दों के द्वारा अत्यन्त असत् अर्थ का भी बोध होता है। उसके अनुसार यद्यपि शशशृंग में अध्यस्त अस्तित्व अवश्य अनिर्वचनीय है, किन्तु उस अस्तित्व का अधिष्ठान वह शशशृंगरूप असत् अर्थ ही है, जिसकी प्रतीति 'शशशृंगमसत्'—इस वाक्य के समान शशशृंगमस्ति'—इस वाक्य से भी होती है, अतः सत्त्वेन प्रतीति-विषयता असत् में माननी आवश्यक है।

समाधान—अध्यस्त अनिर्वचनीय अस्तित्व के अधिष्ठान की उपस्थिति शश और शृङ्ग—इन दो पदों के द्वारा करानी आवश्यक है। यदि वह अत्यन्त असत् है, तब अस्तित्व का अधिष्ठान न हो सकेगा, अतः शश और शृङ्ग पदों के द्वारा उसकी उपस्थिति नहीं कराई जा सकती। दृष्टान्तीभूत 'शशशृङ्गमसत्'— इस वाक्य में अध्यसनीय अनिर्वाच्य पदार्थ कुछ भी नहीं प्रतीत होता, अतः वहाँ अधिष्ठान-ज्ञान की अपेक्षा ही नहीं, किन्तु 'शशशृङ्गमस्ति'—इस वाक्य में अस्तित्व का अध्यास करने के लिए अधिष्ठान-ज्ञान की अपेक्षा है, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का वैषम्य है। यह जो 'अत्यन्तासत्यप्यर्थे ज्ञानम्'—ऐसा कहा गया है, वह 'अस्ति'—इत्यादि पदों का जहाँ प्रयोग नहीं, ऐसे 'शशशृङ्गम-सत्'—इत्यादि वाक्यों के लिए ही है, 'शशशृङ्गमस्ति'—इस वाक्य के लिए नहीं। "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" (छां० ३।२।११) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा भी असत् की सत्त्वेन प्रतीति नहीं होती—यह मिथ्यात्व-लक्षण-निरूपण में कहा जा चुका है।

तार्किकगण तो शशशृङ्गादि पदों को निरर्थक ही मानते हैं। 'असंसर्गाग्रह-दशा में

न्यायामृतम्

अनार्थकशब्देनाप्रत्यायकोक्तावनन्वयानिश्चयदशायां प्रवृत्तिपर्यंतप्रतीत्यनुभवविरोधात्, तेनान्यन्तिकनिषेधयोग्याप्रतीतौ असच्छशशृङ्गमित्यादौ समभिव्याहृतस्यासत्पदस्यानन्वयापाताच्च। असत्प्रत्यायकत्वोक्तौ चेष्टापत्तेः। एतेनैव शशशृङ्गादिशब्दानां संगतिग्रहणासम्भवादबोधकतेत्यात्मतत्त्वविवेकोक्तं निरस्तम्, यौगिकशब्दानामवयवसंगत्यतिरेकेण पृथक्संगत्यनपेक्षतया सतो वाऽसतो वाऽर्थस्य बोधनसम्भवात्। एतेनैव शशशृंगशब्दस्य शशे शृंगाभावोऽर्थ इति वार्तिकोक्तं निरस्तम्, तत्र तस्याशक्तेः, नास्तीत्यस्य पौनरुक्त्यापाताच्च। न तृतीयः, यदसत् तन्न प्रतीयते इति व्याप्ति-

अद्वैतसिद्धिः

विरहदशायां प्रवृत्तिपर्यन्तानुभवविरोधः, अनन्वयनिश्चयदशायामेवाबोधकतोक्तेस्तद्विरहदशायामपि नाखण्डशशशृङ्गादिबोधकत्वम्, किंतु सन्मात्रगोचरव्यधिकरणप्रकारकज्ञानं वा, सदुपरागेणासद्गोचरज्ञानं वा। केवलासद्भाने सामग्रीविरहात्। तदुक्तं बौद्धाधिकारे—'सङ्गतिग्रहणाभावात् शशशृङ्गादिपदानामबोधकते'ति। न च यौगिकशब्दानामवयवसङ्गत्यतिरेकेण पृथक्सङ्गत्यनपेक्षत्वम्, अवयवशक्तिप्राधान्येन बोधने अखण्डासद्बोधनस्याशक्तत्वाद्, अवयवानां स्वशक्त्यपुरस्कारेणाप्रत्यायकत्वात्। न हि पाचकादिः पाकादिमबोधयन् बोधयति। न च तर्हि शशशृङ्गमसच्छशशृङ्गं नास्तीत्यादिवाक्यानामबोधकत्वम्, तेषां शशे शृङ्गाभावबोधकत्वात्। एषा तु बोधकता न शशशृङ्गपदमात्रे, किं तु नास्तीतिपदसमभिव्याहृते। अतो न नास्तीति पौन-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जो उक्त वाक्यों के द्वारा बोध होता है, उस बोध के द्वारा पुरुषों की प्रवृत्ति देखी जाती है—वह सब कुछ उक्त वाक्यों को अबोधक मानने पर विरुद्ध पड़ जाता है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि असंसर्ग-निश्चय की दशा में ही उन्हें निरर्थक या अबोधक माना गया है। असंसर्गग्रह-दशा में भी उक्त वाक्य शशशृङ्गरूप अखण्ड अर्थ का बोधक नहीं हो सकता, किन्तु सन्मात्रविशेष्यकव्यधिकरण प्रकारक बोध अथवा सत् के उपराग से असद्विषयक ज्ञान की जनकता ही मानी जाती है, क्योंकि केवल अखण्ड असद् वस्तु के भान की सामग्री ही सम्भव नहीं, जैसा कि श्री उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में कहा है—"सङ्गतिग्रहणाभावात् शशशृङ्गादि पदानामबोधकता" (आत्म० वि०) अर्थात् लोक में जो असत् अर्थ प्रसिद्ध ही नहीं, उसके साथ किसी शब्द का संगति-ग्रह ही नहीं हो सकता, अतः अग्रहीतसंगतिक पदों में बोधकता कैसे होगी? सर्वत्र यौगिक शब्द अपने अवयवार्थ के साथ संगति-ग्रहण के बिना किसी अखण्ड अर्थ के साथ संगति-ग्रहण की अपेक्षा नहीं करते। अवयव-शक्ति को प्रमुख रख कर यौगिक शब्द अर्थ-बोध कराते हैं, अतः अवयवार्थ से अतिरिक्त किसी अखण्ड अर्थ का बोध नहीं करा सकते, क्योंकि उनके अवयवभूत प्रकृति और प्रत्यय अपनी शक्ति की अपेक्षा न करके बोधक नहीं होते, जैसे कि पाचकादि पद पाकादि अर्थ का बोध न कराकर अन्य किसी अर्थ का बोध नहीं कराते। एतावता 'शशशृङ्गमसत्', 'शशशृङ्गं नास्ति'—इत्यादि वाक्यों में अबोधकता नहीं आती, अपितु शश में शृङ्गाभाव की बोधकता होती है। यह बोधकता भी केवल 'शशशृङ्गम्'—इतने मात्र पद में नहीं होती, अपितु नास्ति'—इत्यादि पदों के समभिव्याहार से ही उसमें बोधकता मानी जाती है, अतः 'असत् नास्ति'—इत्यादि पदों में पुनरुक्ति का सन्देहाभास नहीं हो सकता कि 'असत्' पद से जब असत् अर्थ का बोध हो

न्यायामृतम्

ज्ञानस्य प्रत्यक्षतावश्यम्भावात् शशशृंगाद्यत्यन्ताभावस्याप्रत्यक्षत्वापातेनासतोऽसत्त्वासिद्धेश्च । न चतुर्थः, भ्रान्तित्वादेव तदुपपत्तेः सन्मात्राविषयकं अपरोक्षज्ञानमपरोक्षभ्रमो वा असद्विषयकः सत्त्वानधिकरणविषयकत्वादसद्विषयकपरोक्षज्ञानवदित्याद्यनुमानैरप्यसतोऽपरोक्षप्रतीतिसिद्धेश्च ।

अद्वैतसिद्धिः

रूप्यरूपशङ्काभासाद्यवकाश इति । यद्वा—अपरोक्षप्रतीत्यभाव आपाद्यः । न च—यदसत्तन्न प्रतीयत इति व्याप्तिज्ञानस्य प्रत्यक्षमावश्यकम्, अतश्चासतोऽपि प्रत्यक्षत्वम्, ज्ञानज्ञानस्य तद्विषयविषयकत्वनियमात् । किं च शशशृङ्गाद्यत्यन्ताभावप्रत्यक्षमावश्यकम्, अन्यथा असतोऽपि असत्त्वबुद्धिर्न स्यात्, तथा च शशशृङ्गादेः प्रत्यक्षत्वमेवेति—वाच्यम्, साक्षादित्यनिषेध्यतयेति चापरोक्षप्रतीतिविषयविशेषणात् । उक्तस्थले च ज्ञानविषयतया निषेध्यतया च विषयत्वमिति नास्ति विशिष्टाभावस्यापाद्यस्यासंभवः । यद्वा—सत्त्वेनापरोक्षप्रतीतिविषयत्वाभाव आपाद्यः । न च—इदं रूप्यमित्यादि भ्रान्त्या अत्यन्तासदेव सत्त्वेन प्रतीयत इति—वाच्यम्, अत्यन्तासतस्तादृशप्रतीतिविषयत्वे सामग्र्यभावात् । इन्द्रियसन्निकर्षो हि प्रत्यक्षे सामान्यसामग्री,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जाता है, तब 'नास्ति' पद के प्रयोग की क्या आवश्यकता ?

अथवा अपरोक्ष प्रतीति का अभाव आपाद्य माना जा सकता है ।

शङ्का—यदि कहा जाय कि 'यदसत् तन्न प्रतीयते'—ऐसी व्याप्ति के ज्ञान का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है, अतः असत् वस्तु में भी प्रत्यक्ष ज्ञान की विषयता आ जाती है, क्योंकि 'ज्ञानवित्तिवेद्यो विषयः'—इस नियम के अनुसार ज्ञानविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयीभूत असत् को भी विषय करेगा । दूसरी बात यह भी है कि शशशृङ्गादि के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष आवश्यक है, अन्यथा असत् में भी असत्त्व-बुद्धि न हो सकेगी । इस प्रकार भी अत्यन्ताभाव के प्रतियोगीभूत शशशृङ्गादि में प्रत्यक्ष ज्ञान की विषयता आ जाती है ।

समाधान—अपरोक्ष प्रतीति का 'साक्षात्' अथवा 'अनिषेध्यत्वेन'—यह विशेषण दे देने से उक्त शङ्का नहीं होती, क्योंकि उक्त स्थल पर परम्परया (ज्ञान-विषयतया अथवा निषेध्यतया ही शशशृङ्ग विषय होता है, अतः विशिष्टाभावात्मक आपाद्य असम्भव नहीं । अथवा सत्त्वेन अपरोक्ष प्रतीति का अभाव ही आपाद्य है ।

शङ्का—[सत्त्वेन प्रतीति-विषयत्वाभाव का आपादन करने के लिए सत्त्वेन प्रतीति-विषयता का निश्चय होना आवश्यक है, अतः] 'इदं रजतम्'—इत्यादि भ्रान्ति के द्वारा अत्यन्त असत् रजतादि की सत्त्वेन वैसे ही प्रतीति मान लेनी चाहिए, जैसे शरीर आदि अनात्म पदार्थों का आत्मत्वेन, अरक्त स्फटिक का रक्तत्वेन भान होता है ।

समाधान—'इदं रजतम्'—ऐसा प्रत्यक्ष तब तक नहीं हो सकता, जब तक उसकी सामग्री न हो. अत्यन्त असत् के भान की (इन्द्रिय-सन्निकर्षादि) कोई सामग्री ही नहीं होती । [उक्त प्रत्यक्ष प्रतीति की सामग्री का सम्पादन करने के लिए ही वहाँ रजत की प्रातिभासिक सत्ता माननी आवश्यक है. अतः प्रातीतिक सत् की ही वहाँ सत्त्वेन अपरोक्ष प्रतीति होती है, अत्यन्त असत् की सत्त्वेन प्रतीति नहीं हो सकती । जैसे रक्तः स्फटिकः'—इस प्रकार के भान की (जपाकुसुमादि) रक्त और (स्फटिकादि)

अद्वैतसिद्धिः

न चासति सोऽस्ति। न च—प्रातिभासिकत्वपक्षे रूप्यादेः प्रतीतिपूर्वकालेऽसत्वेन कथं सन्निकर्षरूपप्रत्यक्षसामग्रीसंभव इति—वाच्यम्, अस्मिन्मते ज्ञातैकसति रूप्यादौ साक्ष्यपरोक्षे अज्ञाननाशकान्तःकरणवृत्तिप्रयोजकसन्निकर्षानुपयोगात्। न हि तवापीश्वरसाधारणप्रत्यक्षमात्रे सन्निकर्षो हेतुः। न च—प्रमायां निर्दुष्टेन्द्रियसन्निकर्षो हेतुः, न तु भ्रमे, स हि दोषसहितेन्द्रियादेव भवतीति प्रतीति—वाच्यम्, सन्निकर्षो हि इन्द्रियवत्सामान्यसामग्री, तदनपेक्षस्येन्द्रियस्याजनकत्वमित्युक्तत्वात्। न च तर्हि शाब्दबोधसामान्यसामग्र्या योग्यताज्ञानादेरभावात् कथं परोक्षविकल्पः स्यात्? अयोग्यताज्ञानविरहो हि सामान्यसामग्री, न तु योग्यताज्ञानम्, असंसर्गाग्रहरूपायोग्यताज्ञानविरहस्य विशिष्टज्ञाने आवश्यकत्वात्। स चासद्बोधके वाक्येऽस्त्येव। न हि

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अरक्त पदार्थों का सन्निपातादि सामग्री विद्यमान है, वैसे प्रकृत में असत् और सत् का सन्निकर्षादि सम्भव नहीं]। प्रत्यक्षात्मक प्रतीति की मुख्य सामग्री है—विषय वस्तु के साथ इन्द्रि-सन्निकर्ष, वह अत्यन्त असत् के साथ हो नहीं सकता।

शङ्का—आप (अद्वैती) रजत की प्रातीतिक सत्ता मानकर भी प्रत्यक्ष की इन्द्रिय-सन्निकर्षरूप सामग्री का सम्पादन नहीं कर सकते, क्योंकि आप प्रतीति-काल में रजत को प्रातिभासिक सत्ता मानते हैं, प्रतीति के पूर्वक्षण में नहीं, प्रतीति-जनक इन्द्रिय-सन्निकर्षादि सामग्री तो पूर्व क्षण में ही चाहिए। अतः पूर्व क्षण में असत् रजत के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्षादि का सम्पादन जैसे आप करेंगे, वैसे हम भी अत्यन्त असत् के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष स्थापित कर लेंगे।

समाधान—प्रत्यक्ष प्रतीति दो प्रकार की हम मानते हैं—(१) ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष और (२) साक्षी प्रत्यक्ष। हमारे मत में ज्ञातमात्रसत्ताक रजतादि का साक्षिप्रत्यक्ष माना जाता है, ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष नहीं। ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष में ही इन्द्रिय-सन्निकर्ष अपेक्षित होता है, साक्षिप्रत्यक्ष में नहीं। आपके मत में भी तो जीव के ऐन्द्रियक-प्रत्यक्ष में ही इन्द्रिय-सन्निकर्ष अपेक्षित होता है, ईश्वरीय प्रत्यक्षादि में नहीं। यदि आप कहें कि प्रमात्मक ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष में ही इन्द्रिय-सन्निकर्ष अपेक्षित होता है, भ्रमात्मक प्रत्यक्ष में नहीं, भ्रम ज्ञान तो सन्निकर्ष-निरपेक्ष केवल दोष-सहित इन्द्रिय से उत्पन्न हो जाता है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि इन्द्रिय के समान इन्द्रिय-सन्निकर्ष भी भ्रम-प्रमादि प्रत्यक्ष-सामान्य की सामग्री है; उसके बिना इन्द्रिय में प्रत्यक्ष प्रतीति की जनकता ही सम्भव नहीं।

शङ्का—सामान्य सामग्री के विना यदि विशेष कार्य नहीं होता, तब शाब्द बोध की योग्यतादि-घटित सामान्य सामग्री के विना शशशृंगादि शब्दों को सुनने के पश्चात् शब्दज्ञानानुपाती वस्तु-शून्य विकल्पात्मक परोक्ष वृत्ति कैसे उत्पन्न होती है?

समाधान—शाब्द बोध की सामान्य सामग्री है—आयोग्यता-ज्ञान का अभाव, न कि योग्यता-ज्ञान। सभी विशिष्ट ज्ञानों में असंसर्गाग्रहरूप अयोग्यता-ज्ञान का विरह आवश्यक होता है। वह तो शशशृंगादि असत् अर्थ के बोधक में भी है, अतः विकल्प वृत्ति का उदय हो जाता है, क्योंकि शशशृंग में "असत्त्वं नास्ति"—इस प्रकार के असंसर्ग का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति 'शशशृङ्गम् असत्'—ऐसा ज्ञान नहीं कर सकता। अत एव (विषय वस्तु के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष के विना ही उत्पन्न होने के कारण)

न्यायामृतम्

किञ्चासतोऽपरोक्षधीश्चेत् शशशृंगादेरपि सा स्यात् न चासद्विशेषस्य सा सद्वि-

अद्वैतसिद्धिः

शशशृङ्गे असत्त्वं नास्तीति जानानः शशशृङ्गमसदित्यवगच्छति। एतन्निबन्धन एवा-परोक्षप्रतीतौ प्रद्वेषः।

एतेन—सन्मात्राविषयकापरोक्षज्ञानमसद्विषयकम्, सत्त्वानधिकरणविषयक-प्रतीतित्वादसद्विषयकपरोक्षप्रतीतिवत्। न च—अत्र प्रातिभासिकसाधारणसद्विव-क्षायामाश्रयासिद्धिः। परमार्थसद्विवक्षायां मात्रपदवैयर्थ्यमिति—वाच्यम्, भ्रममात्र-स्यैवाधिष्ठानीभूतपरमार्थसद्विषयतया मात्रपदं विना आश्रयासिद्धेर्दुष्परिहरत्वादिति—निरस्तम्, सामग्रीविरहेण बाधात्, शाब्दत्वस्योपाधित्वाद्, धर्मादिकमपरोक्ष-प्रतीतिविषयः प्रतीतिविषयत्वादित्याद्याभाससाम्याच्च। किंचासतो रूप्यस्यापरोक्ष-प्रतीतिविषयत्वे शशशृङ्गादेरप्यपरोक्षप्रतीतिविषयत्वं स्याद्, विशेषाभावात्, सविशे-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रत्यक्ष ज्ञान पर विश्वास नहीं जमता, प्रत्युत उससे प्रद्वेष हो जाता है।

असत् में अपरोक्ष ज्ञान की विषयता सिद्ध करने के लिए न्यायामृतकार ने अनुमान-प्रयोग किया है—'सन्मात्राविषयक अपरोक्ष ज्ञान, असद्विषयक होता है, क्योंकि सत्त्वानधिकरणविषयक प्रतीति है, जैसे असद्विषयक परोक्ष प्रतीति' ('सदिदं रजतम्'—यह ज्ञान अधिष्ठानात्मक सद्विषयक होने पर भी सन्मात्रविषयक नहीं, अतः ऐसे ज्ञानों का पक्ष-कोटि में संग्रह हो जाता है] । यदि यहाँ पर यह शङ्का की जाती है कि—

सन्मात्राविषयक'—यहां पर प्रातिभासिक साधारण सत्पदार्थ विवक्षित है? अथवा पारमार्थिक सत्? प्रथम पक्ष में आश्रयासिद्धि है, क्योंकि 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान भी प्रातिभासिकसद्विषयक ही है, सदविषयक नहीं और द्वितीय पक्ष में 'मात्र' पद व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान पारमार्थिक सद्विषयक नहीं है, अतः 'सदविषयक'—इतना कह देने मात्र से इनका संग्रह हो जाता है, 'मात्र' पद की क्या आवश्यकता?

तो उसका समाधान यह है कि आप (अद्वैतवादी) के मत में भ्रम ज्ञान मात्र का अधिष्ठान परमार्थ सत् चेतन माना जाता है, अतः 'सदविषयक—ऐसा कह देने से भ्रम ज्ञानों का पक्ष में संग्रह नहीं हो सकेगा, अतः 'मात्र' पद दिया गया है, उक्त भ्रम ज्ञान अधिष्ठानीभत सद्विषयक होने पर भी सन्मात्र विषयक नहीं, अतः वे पक्ष बन जाते हैं।

न्यायामृतकार के इस अनुमान में तीन दोष हैं—(१) बाध, (२) सोपाधिकता या व्याप्यत्वासिद्धि तथा (३) आभाससाम्य। यह ऊपर कहा जा चुका है कि असत् वस्तु के ग्रहण की इन्द्रिय-सन्निकर्षादि सामग्री न होने के कारण 'इदं रजतम्'—इत्यादि ज्ञान असद्विषयक नहीं हो सकते, अतः पक्ष में साध्य बाधित है। 'शाब्दत्व' उपाधि भी है, क्योंकि केवल शशशृंगमसद्'—इत्यादि शब्दों से उपस्थापित शाब्द प्रतीति या विकल्प वृत्ति में ही असद्विषयकत्व निश्चित है, अन्यत्र नहीं, अतः शाब्दत्व साध्य का व्यापक तथा पक्षभूत प्रत्यक्ष ज्ञान में शाब्दत्व न रहने के कारण साधन का अव्यापक है। इसी प्रकार 'धर्मादिकम्, अपरोक्षप्रतीतिविषयः, प्रतीतिविषयत्वात्'—इस प्रकार के अनुमानाभास की समानता भी आप के उक्त अनुमान में विद्यमान है। दूसरी बात यह भी है कि यदि शुक्ति-रजतरूप असत् अपरोक्ष ज्ञान का विषय हो जाता है, तब

न्यायामृतम्

शेषत्वे असत्त्वायोगादिति चेन्न, दुष्टेन्द्रियस्य रूप्यसंस्कारसाचिव्यवत् शशशृंगादि-संस्कारसाचिव्याभावाद्, असतः सत्यादसत्त्वरूपेण सद्वैलक्षण्यरूपेणापरोक्षप्रतीत्यविषयत्वरूपेण नृशृङ्गशशशृङ्गादीनामेवान्योन्यं नृशृङ्गादिशब्दैरेव परोक्षप्रतीतिव्यवहारविषयत्वरूपेण शशशृङ्गस्यैव कदाचिदेव परोक्षप्रतीतिविषयत्वरूपेण च विशेषणेवानेनापि बोद्धेन सत्त्वानपेक्षेण विशेषेणासत्त्वाव्याघातात्‌च।

एतेन सर्वसामर्थ्यहीनस्यासतः सता ज्ञानेनासम्बन्धाद्विषयत्वरूपधर्मानाश्रयत्वाद्, भाति ज्ञायत इति कर्तृत्वकर्मत्वाद्ययोगाच्च, नापरोक्षधीरिति निरस्तम्, अतीतादेः स्मृत्यनुमित्यादिकं प्रति विषयत्वादिवदसतोऽसद्वैलक्षण्यं प्रति प्रतियोगित्ववद् व्यवहारं परोक्षज्ञानं च प्रतिविषयत्वकर्तृत्वकर्मत्वादिवदपरोक्षप्रतीत्यविषयत्वरूपसाध्यवत् सर्वसामर्थ्यवैधुर्यरूपसाधनवच्चापरोक्षभ्रान्तिविषयत्वस्याप्युपपत्तेः। यदि

अद्वैतसिद्धिः

षत्वे असत्त्वव्याकोपात्।

ननु—सदसतोः सत्तानिःस्वरूपत्वादिनेव नृशृङ्गशशशृङ्गादीनामपि परस्परं नृशृंगशशशृंगादिशब्दैरेव परोक्षप्रतीतिव्यवहारविषयत्वादेर्विशेषस्यासत्त्वाविरोधिनो बुद्धिसिद्धस्य संभवः। न च—सर्वसामर्थ्यहीनस्यासतः सता ज्ञानेन कथं संबन्धः? विषयत्वस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वाद्, भाति प्रतीयत इत्यादिकर्तृकर्मत्वादिविरोधाच्चेति—वाच्यम्, अतीतादेः स्मृत्यनुमित्यादिविषयत्वादिवदुपपत्तेः। न च—तत्र प्रतीत्यादेरेव विषयत्वम्, तावतैव तत्र विषयताव्यवहार इति—वाच्यम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शशशृंगादि असत् पदार्थ भी अपरोक्ष मानने पड़ेंगे, क्योंकि आप जैसा शुक्ति-रजतादि को असत् मानते हैं, वैसा ही शशशृंगादि को भी। यदि शुक्तिरजत में शशशृंगादि से कुछ अन्तर करते है, तब वह असत् नहीं रहता, उसे असत् मानना विरुद्ध पड़ जाता है।

शङ्का—जैसे सत् और असत् में सत्त्व और निःस्वरूपत्वादि धर्मों के द्वारा विशेषता स्थापित की जाती है. वैसे ही नृशृङ्गशशशृङ्ग—इत्यादि असत् पदार्थों में भी परस्पर उनके उपस्थापक नृशृङ्गादि शब्दों के द्वारा परोक्ष प्रतीति-विषयत्व व्यवहार-विषयत्वादिरूप ऐसी विशेषताओं की स्थापना की जाती है, जो कि अनुभव-सिद्ध हैं एवं असत्त्व की अविरोधिनी हैं। यदि शङ्का हो कि सर्व सामर्थ्य-रहित असत् पदार्थ का सद्रूप ज्ञान या अनुभव के साथ कोई सम्बन्ध ही कैसे होगा? अतः असत् में ज्ञान की विषयता नहीं कही जा सकती, इसी प्रकार 'रजतं भाति'—यहाँ पर जिस असत् में भान क्रिया की कर्तृता प्रतीत होती है, उसी असत् में 'रजतम् प्रतीयते'—यहाँ पर प्रतीति की कर्मता। एक क्रिया का कर्तृत्व और कर्मत्व परस्पर विरुद्ध होते हैं, एकत्र नहीं रह सकते। तो वैसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि अतीतादि पदार्थ अपनी स्मृति, अनुमित्यादिरूप प्रतीति के जनन का सामर्थ्य न रखते हुए भी उसके विषय हो जाते हैं, वैसे ही अपनी प्रतीति के उत्पादनादि के सामर्थ्य से हीन असत् पदार्थ भी उसके विषय हो जाते हैं। यदि कहा जाय कि अतीतादि पदार्थों की प्रतीति में ही अनुमित्यादि की विषयता होती है, उतने मात्र से उसके विषयीभूत अतीतादि पदार्थों में विषयता का व्यवहार हो जाता है। तब असत्पदार्थों के विषय में भी वैसा ही समझ लेना चाहिए।

अद्वैतसिद्धिः

तत्रानुमित्यादावेव तद्विषयकत्वं न त्वतीतयादौ विषयत्वम् , तर्हीतोऽपि तथास्तु तत्त्वस्यानपेक्षं चेदिदमपि तथा न हि सत्त्वेन भ्रान्तिः सत्त्वसापेक्षा, अन्यथा सद्विलक्षणत्वेऽपि सा न स्यात् सम्बन्धादावसद्वैलक्षण्यादपि लाघवेन सत्त्वस्यैव तन्त्रत्वाद् , दुष्टाच्छब्दादसति सत्त्वे परोक्षभ्रान्तिवद् दुष्टादिन्द्रियात् सत्त्वेनापरोक्षभ्रान्त्युपपत्तौ परोक्षप्रतीतिस्वीकारेणापरोक्षप्रतीतिनिषेधे विशेषहेत्वभावाच्च ।

अद्वैतसिद्धिः

समं ममापीति चेत् , मैवम् , शशशब्दस्य नरि भ्रमदशायां नृशृंगशब्देनेव शशशृंगशब्देनापि नृशृंगस्य प्रतीयमानत्वेन नृशृंगादिशब्दैरेव प्रतीयमानत्वादेरपि परस्परविशेषस्य वक्तुमशक्यत्वात् । न च - दुष्टेन्द्रियादे रूप्यसंस्कारसाचिव्यवच्छशशृंगसंस्कारसाचिव्याभावात् तस्यापरोक्षभ्रमाविषयत्वम् , अन्यथा तवाप्यनिर्वाच्यान्तरमेव तत्र कथं नोत्पद्येतेति—वाच्यम् , संस्कारस्य न तावत्प्रतीतौ साक्षादुपयोगः, स्मृतित्वापत्तेः, किन्त्वर्थोत्पत्तिद्वारा । तथा च संस्कारनियामकतापि अनिर्वाच्यतापक्ष एव, न त्वसद्विषयतापक्षे । वस्तुतस्तु—संस्कारस्तावत् तात्त्विकरजतादिगोचर एव प्राथमिकरजतादिभ्रमे प्रयोजकः सर्वमते, स चासद्रूप्यशशशृङ्गादिसर्वसाधारण एव, तदविषयत्वाविशेषात् । तथा च कथं स नियामको भवतु ?

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—आपने यह जो कहा कि असत् अर्थ के उपस्थापक शब्दों के द्वारा उनमें विशेषता प्रकट की जाती है, वह कहना उचित नहीं, क्योंकि जब 'शश' शब्द का नर (पुरुष) में भ्रम से प्रयोग होता है, तब 'शशशृंग' शब्द से नरशृंग की वैसे ही उपस्थिति होती है, जैसे 'नृशृंग' शब्द से, अतः एक ही 'नृशृंग' शब्द से उपस्थापित नृशृंग और शशशृंग में शब्द के द्वारा विशेषता कैसे की जा सकती है ? अतः असद् असत् सब एक हैं, उनमें अन्तर नहीं किया जा सकता, अतः शुक्ति-रजत् को अपरोक्ष प्रतीति का विषय मानने पर शशशृंगादि को भी अपरोक्ष प्रतीति का विषय मानना होगा, जो कि अनुभव-विरुद्ध एवं सिद्धान्त-विरुद्ध है ।

शङ्का—शुक्ति-रजत-भ्रम के जनकीभूत दुष्ट इन्द्रिय के साथ रजतविषयक संस्कारों का जैसा सहयोग है, वैसा शशशृंगादि के संकारों का सहयोग दुष्ट इन्द्रिय के साथ नहीं, अतः शुक्ति-रजत के समान शशशृंगादि में अपरोक्ष भ्रम की विषयता सम्भव नहीं । अन्यथा (रजत-संस्कार-साचिव्य के विना) आप के मत में भी वहाँ रजतरूप अनिर्वचनीय उत्पन्न न होकर सर्पादिरूप अनिर्वचनीय क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता ?

समाधान—संस्कारों का उपयोग प्रतीति में साक्षात् मानने पर अपरोक्ष ज्ञान में स्मृतित्वापत्ति होती है, अतः अर्थोत्पत्ति के द्वारा ही संस्कारों का उपयोग मानना होगा । संस्कारों में अर्थोत्पादकता तो अनिर्वाच्यतावाद में ही सम्भव है, अर्थात् रजत के संस्कार अविद्या का अवलम्बन पाकर जब अनिर्वचनीय रजत को उत्पन्न करते हैं, तब उसका साक्षिप्रत्यक्ष होता है । शुक्ति-रजत के असद्वाद में संस्कारों का उपयोग अर्थोत्पत्ति के द्वारा नहीं हो सकता ।

वस्तुतः सभी के मतों में तात्त्विक (व्यावहारिक) रजत के संस्कारों को ही प्राथमिक रजत-भ्रम का प्रयोजक माना जाता है । वह संस्कार असत् रजत, शशशृंगादि सर्व-साधारण होता है, अर्थात् सभी असत्पदार्थों के भ्रमोत्पादन की क्षमता रखता है,

न्यायामृतम्

(ख) एतेन प्रवृत्तिविषयत्वान्यथानुपपत्त्या असद्वैलक्षण्यसिद्धिरिति निरस्तम्, इदमंशस्यासद्रूप्यात्मना प्रतीतत्वमात्रेण तदर्थिप्रवृत्तिविषयत्वोपपत्तेः। न चापरोक्षज्ञानस्यार्थेनेन्द्रियसन्निकर्षेण च जन्यत्वादसतश्च हेतुत्वसन्निकर्षयोरयोगान्नापरोक्षधीरिति वाच्यम्, अपरोक्षप्रमाया एवार्थादिजन्यत्वाद्रूप्यसंस्कारसचिवस्य दुष्टेन्द्रियस्याधिष्ठानसन्निकर्षादेवाधिष्ठानस्यासद्रजतात्मना प्रतीत्युपपत्तेश्च। अन्यथा अनिर्वाच्यपक्षेऽप्ययं दोषः स्यात्। न हि धीमात्रशरीरं रूप्यं स्वज्ञानात्प्रागस्ति।

किं चानिदंरूपे प्रातिभासिके च रूप्ये यदिदन्त्वं यच्च व्यावहारिकत्वं भाति तदुभयं न तावत् सत् नाप्यनिर्वाच्यम् तथात्वे हि तस्यासद्वैलक्षण्यार्थं प्रातिभासिकसत्त्वाय च सत्त्वप्रतीत्या भाव्यमेवं तदपि सत्त्वमनिर्वाच्यं चेत्तस्यापि सत्त्वप्रतीत्या भाव्यमित्यनवस्थापातात्। तस्मादिदन्त्वव्यावहारिकत्वयोरसत्त्वं वाच्यम्। एवं रूप्यमसद्विलक्षणं धीकालेऽस्ति चेत्तस्य स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधायोगादिदन्त्वाकारेण वा पारमार्थिकत्वाकारेण वा निषेधो वाच्यः, तयोरप्यसद्विलक्षणत्वे स्वरूपेण निषेधायोगात्पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधे चानवस्थानात्तयोरसत्त्वं वाच्यम्। ते च सत्त्वेनापरोक्षे इति कथमसतः सत्त्वेनापरोक्षज्ञानाभावः। तदुक्तम्—

अन्यथात्वमसत्तस्माद् भ्रान्तावेव प्रतीयते।

अद्वैतसिद्धिः

(ख) प्रवृत्तिविषयत्वान्यथानुपपत्तिः—

एवं प्रवृत्तिविषयत्वान्यथानुपपत्तिरपि प्रमाणम्। इदमंशस्यासद्रूप्यात्मना प्रतीतौ सामग्रीविरहस्योपपादनात्। ननु—अनिदंरूपे प्रातिभासिके यदिदंत्वं व्यावहारिकसत्त्वं च तद्द्वयं न तावत् सद्, अद्वैतव्याकोपात्, नाप्यनिर्वाच्यम्, तथा सति तस्यासद्वैलक्षण्यार्थं प्रातिभासिकत्वाय सत्त्वेन प्रतीत्या भाव्यम्। एवं च तदपि सत्त्वमनिर्वाच्यं चेत्, तस्यापि सत्त्वेन प्रतीत्या भाव्यमित्यनवस्था, तथा च तयोरसत्त्वं वाच्यम्। तदुक्तम्— अन्यथात्वमसत्तस्माद् भ्रान्तावेव प्रतीयते।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतः संस्कार कथित विशेषता का नियामक कैसे होगा ?

(ख) प्रवृत्तिविषयत्वान्यथानुपपत्ति—

शुक्ति-रजतादि में प्रवृत्ति-विषयता की अन्यथा अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति भी अनिर्वाच्यत्व में प्रमाण है, क्योंकि अनिर्वाच्य रजत की उत्पत्ति और प्रतीति के विना इदमंश की असद् रजत-रूप से प्रतीति के आधार पर रजार्थी की रजत की ओर प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती, सामग्री न होने के कारण असद् रजत की प्रतीति नहीं हो सकती—यह अभी कह कर आये हैं।

शङ्का—अनिदंरूप प्रातिभासिक रजत में जो इदन्त्व है और व्यावहारिक सत्त्व है, वे दोनों धर्म सत् हैं ? अथवा अनिर्वाच्य ? सत् मानने पर अद्वैत-क्षति और अनिर्वचनीय मानने पर अनवस्था होती है, क्योंकि अनिर्वचनीय इदन्त्वादि में असत् से विलक्षणता करने के लिए सत्त्वेन प्रतीति माननी होगी, यह प्रकारीभूत सत्त्व भी यदि अनिर्वाच्य है, तब उसकी भी सत्त्वेन प्रतीति एवं सत्त्वान्तर की भी सत्त्वान्तररूप से प्रतीति—इस प्रकार अनवस्था होती है। इस झमेले से बचने के लिए उक्त इदन्त्व और व्यावहारिक सत्त्व को असत् ही मान लेना श्रेयस्कर है, जैसा कि पूर्वाचार्यों ने कहा है—

न्यायामृतम्

सत्त्वस्यासत एवं हि स्वीकार्यैव प्रतीतता ॥
तस्यानिर्वचनीयत्वे स्यादेव ह्यनवस्थितिः । इति

टीकायां त्विदन्त्वसत्त्वयोः सत्त्वायोगादनिर्वाच्यत्वे च तथैव प्रतीतौ प्रवृत्त्ययोगात्सत्त्वेन भाने च तस्मिन्नपि सत्त्वे सत्त्वादिविकल्पप्रसारेणानवस्थानादिदन्त्वव्यावहारि-

अद्वैतसिद्धिः

सत्त्वस्यासत एवं हि स्वीकार्यैव प्रतीतता ॥
तस्यानिर्वचनीयत्वे स्यादेव ह्यनवस्थितिः ।' इति ।

टीकायामपि इदंत्वसत्त्वयोः सत्त्वायोगादनिर्वाच्यत्वे इदंत्वेन रूप्यावगाहि तदप्रतीतौ प्रवृत्त्ययोगात् सत्त्वेन भाने च तस्मिन्नपि सत्त्वादिविकल्पप्रसरेणानवस्थानादिदंत्वव्यावहारिकसत्त्वयोरसत्त्वमित्युक्तमिति चेन्न, तयोरसत्त्वे अपरोक्षप्रतीतिविषयत्वे सामग्र्यभावादेर्बाधकस्योक्तत्वाद् अनिर्वाच्यत्वमेव । न च तथा सत्त्वेन प्रतीत्या भाव्यम्, इष्टापत्तेः । न चैवमनवस्था, सत्त्वस्य सदिति प्रतीतावतिरिक्तसत्त्वस्यानपेक्षणात्, अन्यथा त्वत्पक्षेऽप्यसतिरूप्ये यत्सत्त्वं प्रतीयते तस्य सत्त्वायोगात् असत्त्वे च तथैव प्रतीतौ प्रवृत्त्यनुपपत्तिः, सत्त्वेन प्रतीतावनवस्था च स्यात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अन्यथात्वमसत् तस्माद् भ्रान्तावेव प्रतीयते ।
सत्त्वस्यासत एव हि स्वीकार्यैव प्रतीतता ॥
तस्यानिर्वचनीयत्वे स्यादेव ह्यनवस्थितिः ।

['इदं रजतम्'—इस प्रकार भ्रम कहे जाने वाले ज्ञान में अन्यथात्व (अरजतभूत शुक्ति में रजतरूपत्व) असत् ही प्रतीत होता है। वहाँ 'सदिदं रजतम्'—इस प्रकार रजत में जो सत्त्व की प्रतीति होती है, उस सत्त्व को भी असत् ही स्वीकार करना चाहिए। उस सत्त्व को अनिर्वचीय मानने पर अनवस्था होगी] टीकाकार ने भी कहा है कि शुक्ति-रजतगत इदन्त्व और व्यावहारिक सत्त्व में अनवस्था के भय से सत्त्वान्तर का सम्बन्ध न हो सकने के कारण असत्त्व ही स्थिर होता है। यदि इदंत्व और व्यावहारिक सत्त्व को अनिर्वाच्य माना जाता है, 'इदं रूप्यम्'—इस प्रकार इदंत्वेन रजतावगाही व्यक्ति की तब तक वहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जब तक कि इदमर्थ में सत्त्व की अथवा सत्त्वेन इदमर्थ प्रतीत न हो, इसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रकारीभूत 'सत्त्व' धर्म का सत्त्वेन भान मानने पर अनवस्था होती है [यहाँ न्यायामृत और अद्वैतसिद्धि में उद्धृत टीका के पाठ का कुछ अन्तर सम्भवतः भावानुवाद के कारण पड़ गया है] ।

समाधान—रजतगत इदन्त्व और व्यावहारिक सत्त्व को असत् मानने पर उनके साथ इन्द्रिय-सन्निकर्षादिरूप सामग्री संभव न होने के कारण उनका अपरोक्ष ज्ञान में भान न हो सकेगा—यह कहा जा चुका है। अनिर्वचनीय रजतगत धर्मों को भी अनिर्वचनीय मानना न्याय-संगत है। प्रातीतिक सत्ता को लेकर 'सदिदं रजतम्'—ऐसी प्रतीति और उसके आधार पर रजतार्थी की प्रवृत्ति सम्पन्न हो जाती है। यहाँ 'रजतं सत्' के समान 'सत्त्वं सत्'—इस प्रकार की प्रतीति की अपेक्षा नहीं होती, सत्त्व का स्वरूपतः भान ही पर्याप्त होता है। अन्यथा आप (माध्व) के मत में असद्रूप रजत में जो सत्त्व प्रतीत होता है, उसमें भी सत्त्वान्तर की अपेक्षा होने पर अनवस्था होती है, अतः

न्यायामृतम्

रूप्ययोरसत्त्वमित्युक्तम् । न च तत्र त्वत्पक्षेऽप्यसति रूप्ये यत्सत्त्वं भाति, तस्य सत्त्वायोगादसत्त्वे च तथैव भाने प्रवृत्त्ययोगात् सत्त्वेन भाने च तस्मिन्नपि सत्त्वे उक्तविकल्पप्रसरेणानवस्थेति वाच्यम्, परमतेऽनिर्वाच्यसत्त्वस्य सत्त्वेनाभाने प्रातिभासिकत्वासिद्धिवत् मन्मते असतः सत्त्वस्य सत्त्वेनाप्रतीतावसत्त्वासिद्धेरभावात् ।

किं च प्रत्येकं सत्त्वासत्त्वयोरनुपपत्तौ सदसदात्मकमस्तु निषेधसमुच्चयवत् विधिसमुच्चयस्याप्यतात्त्विकत्वेनाविरोधसम्भवात् । एवं चतुर्थप्रकाराकल्पनाल्लाघवं

अद्वैतसिद्धिः

न च - सत्त्वे सत्त्वासत्त्वयोरौदासीन्येऽपि असतः सत्त्वेन प्रतीत्या प्रवृत्त्युपपत्तेः असति प्रतीतस्य सत्त्वस्य सत्त्वेनाप्रतीतावपि असत्त्वसिद्धेश्च नास्माकं काप्यनुपपत्तिः, तव तु रूप्यादिसत्त्वस्य सत्त्वेनाप्रतीतौ प्रवृत्त्युपपत्तावपि प्रातिभासिकत्वानुपपत्तिरिति-वाच्यम्, एवं हि तत्सत्त्वं स्वरूपतो न सत्, तुच्छत्वाद्, विज्ञानतोऽपि न सत्, सत्त्वेनाप्रतीतेः । तथा च असति कथं तन्निबन्धनो व्यवहारः । न च—प्रतिभासकाले सत्त्वे स्वरूपतो निषेधप्रतियोगित्वं न स्यात्, पारमार्थिकत्वेन निषेधप्रतियोगित्वे अनवस्थैवेत्यसत्त्वमेव रूप्यादीनामिति - वाच्यम्, प्रतीतिकाले सत्त्वेऽपि स्वरूपतो निषेधस्य पारमार्थिकत्वेन निषेधेऽप्यनवस्थापरिहारस्य चोक्तत्वात् । नापि- प्रत्येकात्मकत्वे अनुपपत्त्या उभयात्मकतैवास्त्विति - वाच्यम्, दत्तोत्तरत्वाद्, भ्रमत्वानुप-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

असत् रजत में सत्त्व का भान हो न हो सकेगा, तब 'असदिदं रजतम्' इतने मात्र ज्ञान से कैसे प्रवृत्ति होगी ?

शङ्का—हमारे (माध्व) मतानुसार सत्त्व में सत्त्वान्तर का भान न होने पर भी असत् रजत की सत्त्वेन प्रतीति मात्र से रजतार्थी की प्रवृत्ति उपपन्न हो जाती है। असत् रजत में प्रतीयमान सत्त्व की सत्त्वेन प्रतीति न होने पर भी रजत में असत्त्व सिद्ध हो जाता है, किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती, किन्तु आप (अद्वैती) के मतानुसार रजतादिगत सत्त्व की सत्त्वेन प्रतीति न होने पर यद्यपि प्रवृत्ति बन जाती है, तथापि प्रातिभासिकत्व की उपपत्ति नहीं होती, क्योंकि आप प्रातिभासिक में असद्वैलक्षण्य करने के लिए प्रतिपन्न उपाधि में सत्त्वेन प्रतीयमानत्व मानते हैं।

समाधान—प्रातिभासिक रजत में जैसे स्वरूपतः सत्त्व माना जाता है, वैसे माध्व मत से असत् रजत में स्वरूपतः सत्त्व नहीं रह सकता। अब यदि सत्त्वेन ज्ञायमान सत्त्व भी नहीं रहता, तब असत् रजत में रजतार्थी की प्रवृत्ति कैसे बनेगी ?

शङ्का—यदि प्रतिभास-काल में रजतादि की सत्ता मानी जाती है, तब रजतादि का स्वरूपतः निषेध न हो सकेगा, अत उसमें स्वरूपतः निषेध का प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व कैसे रहेगा ? पारमार्थिक सत्त्वेन निषेध करने पर अनवस्था दोष होगा, अतः परिशेषतः रजत में असत्त्व ही पर्यवसित होता है।

समाधान—प्रतीति-काल में रजत की सत्ता मानी जाती है, स्वरूपतः निषेध का उपपादन विगत पृष्ठ २५ पर किया जा चुका है एवं पारमार्थिकत्वेन निषेध मानने पर अनवस्था का परिहार भी कर चुके हैं। 'रजतादि को यदि केवल सत् या केवल असत् नहीं माना जा सकता, तब सदसदुभयात्मक क्यों नहीं मान लेते ? इस शङ्का का भी समाधान पृष्ठ ६७० पर किया जा चुका है, दूसरी बात यह भी है कि रजत को

न्यायामृतम्

त्वत्पक्षे असदेव रूप्यमभादितिबाधकस्य सद्वैलक्षण्यमिवात्रापि सद्रूप्यमितिभ्रमस्या-सद्वैलक्षण्यं विषयोऽस्तु। यद्वा त्वत्पक्षे सदसद्विलक्षणे रूप्येऽनिर्वाच्यम्। सत्त्वमिवा-त्रापि सदसदात्मके रूप्ये सदसदात्मकं सत्त्वं भ्रान्तौ प्रतीयताम्। भ्रान्तित्वे च त्वत्पक्षेऽनिर्वाच्यविषयत्वमिवात्रापि सदसद्विषयत्वं तंत्रमस्तु। अन्यथा नित्यकाम्येऽपि नित्यत्वादेः प्रत्येकमनुपपत्त्या भिन्नाभिन्ने च गुणगुण्यादौ भेदादेः प्रत्येकमनुपपत्त्यो-भयबहिर्भावः स्यात्।

किं चासद्विलक्षणं चेन्न बाध्येत, सद्विलक्षणं चेन्न प्रतीयेतेत्यर्थापत्त्यानिर्वाच्यत्वा-भाव एव किं न स्यात्। न चाबाधाप्रतीत्योः सत्त्वासत्त्वे तंत्रे लाघवात्, न त्वसद्विलक्ष-

अद्वैतसिद्धिः

णत्वेऽस्य। न चानिर्वाच्यविषयत्वेन यथा तव मते भ्रमत्वं, तथा सदसदात्मकत्वे यत् सत्त्वं तद्विषयत्वेन भ्रमत्वमस्तु, एवं तर्हि 'सच्चासच्च रजत'मित्याकारतया दुर्निवारत्वा-पत्तेः। न च—असदेव रूप्यमिति बाधस्य सद्वैलक्षण्यविषयत्ववत् सद्रजतमति भ्रम-स्याप्यसद्वैलक्षण्यमेव विषयोऽस्तु, तथा च प्रातीतिकमपि सत्त्वं माऽस्त्विति—वाच्यम्, तथा सति बाधेन भ्रमविषयसत्त्वानपहारे बाधकत्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गाद्, अगृहीता-सत्त्वस्यापि इदं रजतं सदिति प्रतीतेश्च। न हि पुनरगृहीतसत्त्वस्यासद्रूप्यमभादिति प्रत्ययः, बाधस्य प्रसक्तिपूर्वकत्वात्।

ननु—असद्विलक्षणं चेन्न बाध्येत, सद्विलक्षणं चेन्न प्रतीयेत, अतोऽनुपपत्त्या अनिर्वाच्यत्वाभाव एव किं न सिध्येत्, न च—बाधाप्रतीत्योर्लाघवात् सत्त्वासत्त्वे

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उभयरूप मानने पर सत् भी मानना होगा, सद्विषयक रजत-ज्ञान में भ्रमत्व भी कैसे बनेगा? अनिर्वाच्य रजतविषयकत्वेन रजत-ज्ञान को जैसे भ्रम कहा जा सकता है, वैसे उभय-घटक सत्त्वविषयकत्वेन भ्रम-व्यवहार का निर्वाह करने पर 'सच्चासच्च रजतम्'—इस प्रकार दोनों रूपों में रजत की प्रतीति होनी चाहिए।

शङ्का—जैसे 'असदेव रजतम्'—इस बाध ज्ञान को सद्वैलक्षण्यविषयक माना जाता है, वसे ही 'सद् रजतम्'—इस प्रकार के भ्रम ज्ञान का असद्वैलक्षण्य ही विषय क्यों नहीं मान लिया जाता? ऐसा मान लेने पर प्रातिभासिक सत्त्व मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

समाधान—भ्रम-विषयीभूत सत्त्व का निषेध करना ही बाध ज्ञान की बाधकता मानी जाती है। 'सदिदं रजतम्'—यह भ्रम ज्ञान यदि सत्त्व को विषय ही नहीं करता, तब बाध ज्ञान किसका बाध करेगा? जिस व्यक्ति को रजत में असत्त्व (बाध) का ज्ञान नहीं हुआ, उसे 'सदिदं रजतम्'—इस प्रकार की प्रतीति होती है, अतः इसे सत्त्व-विषयक ही मानना होगा, असद्वैलक्षण्यविषयक नहीं, क्योंकि जिस व्यक्ति ने रजत में सत्त्व का ग्रहण नहीं किया, उसे 'असद् रजतमभात्—इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती, किन्तु जिस वस्तु की जहाँ प्राप्ति होती है, वहाँ ही उसका बाध ज्ञान होता है।

शङ्का—जैसे आप सदसद्वैलक्षण्य सिद्ध करने के लिए अर्थापत्ति का प्रयोग करते हैं। वैसे ही सदसदुभयरूपता-सिद्धि के लिए भी कहा जा सकता है कि रजतादि यदि असद्विलक्षण हैं, तब बाधित न होंगे और यदि सद्विलक्षण हैं, तब प्रतीत न होंगे—इस प्रकार की अनुपपत्ति के कारण रजतादि में उभयरूपता या अनिर्वाच्यत्वाभाव क्यों न

न्यायामृतम्

णत्वसत्त्वविलक्षणत्वे गौरवादिति युक्तम् । अबाधप्रतीति प्रतियोगिन्योर्बाधप्रतीत्यो-रेव हि प्रथमं प्रयोजकं चिन्त्यतां प्रथमोपस्थितत्वात् कल्पकत्वाच्च । भानप्रयोजकाभा-वादेवाभावोपपत्तौ प्रयोजकान्तरस्यानन्वेषणीयत्वाच्च । बाधप्रतीत्योश्चासत्त्वसत्त्वे तन्त्रे लाघवात्, न तु सद्विलक्षणत्वासद्विलक्षणत्वे, गौरवात् । तथा चोबाधाप्रतीतिप्रत्य-सद्विलक्षणत्वसद्विलक्षणत्वे तन्त्रे । एवं चोक्तरीत्या सत्त्वात्प्रतीतिरसत्त्वाद् बाध इति विधिसमुच्चयः स्यात् । नृश्रृंगादौ सद्वैलक्षण्यवदसत्त्वस्य भावेपि बाधाभावः प्रसक्त्य-भावात् । एवं चासद्विलक्षणं चेन्न बाधः स्यात् सद्विलक्षणं चेन्न भायादिति भवत्व-निर्वाच्यविलक्षणम् । अनिर्वाच्यसाधकख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिभंगः ॥ ६१ ॥

अद्वैतसिद्धिः

प्रयोजके, न त्वसद्वैलक्षण्यसद्वैलक्षण्ये, गौरवादिति—वाच्यम्, बाधप्रतीत्योरेव प्रथमो-पस्थितयोः प्रयोजकजिज्ञासायामसत्त्वसत्त्वयोः प्रयोजकत्वं कल्प्यते, लाघवात्, प्रथमो-पस्थितत्वाच्च, न तु सद्विलक्षणत्वादेः गौरवात्, चरमोपस्थितत्वाच्च । तदनन्तरं च भानप्रयोजकाभावादेवाभानोपपत्तौ न प्रयोजकान्तरकल्पना । नृश्रृङ्गादेरसत्त्वेऽपि न बाधः, प्रसक्त्यभावादिति—चेत्, मैवम्, सत्त्वं न तावत् प्रतीतिप्रयोजकम्, रूप्यस्य उभयमतेऽप्यप्रतीत्यापत्तेः, नाप्यसत्त्वं बाधप्रयोजकम्, उभयमतसिद्धासति बाधादर्श-नात्, रूप्ये चासत्त्वस्याद्याप्यसिद्धेः, प्रत्युतासत्त्वेऽनुपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् गौरवं प्रामाणिकम् । तस्मात् सिद्धं ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या अनिर्वाच्यत्वमिति ॥

इत्यद्वैतसिद्धौ ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सिद्ध होगा ? यदि कहा जाय कि 'सच्चेन्न बाध्येत'—इसकी अपेक्षा 'असद्विलाक्षणं चेन्न बाध्येत'—ऐसा कहना गौरव-ग्रस्त है, अतः लघु मार्ग का अनुसरण करते हुए सत्त्व को ही अबाध का प्रयोजक मानना चाहिए, असद्वैलक्षण्य को नहीं, इसी प्रकार अप्रतीति की प्रयोजकता असत्त्व में मानने की अपेक्षा सद्वैलक्षण्य में मानना गौरव-ग्रस्त है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अबाध का प्रयोजक क्या है ? इस जिज्ञासा की अपेक्षा बाध का प्रयोजक क्या है—यह जिज्ञासा ही प्रथम भावी है, इसी प्रकार अप्रतीति की अपेक्षा प्रतीति की जिज्ञासा, अतः प्रयोजक की जिज्ञासा होने पर क्रमशः असत्त्व और सत्त्व में ही उनकी प्रयोज़कता का उपन्यास करना चाहिए, न कि सद्विलक्षत्वादि का, क्योंकि यह पक्ष गौरव-ग्रस्त तथा चरमोपस्थित है, प्रथमोपस्थित नहीं । उक्त जिज्ञासाओं की निवृत्ति हो जाने पर अभानादि के प्रयोजक की जिज्ञासा ही नहीं होती, क्योंकि अप्रतीतिः कस्मात् ? इस जिज्ञासा सहज उत्तर मिल जाता है कि 'प्रतीतिप्रयोजकाभावात्' । नृश्रृङ्गादि असत् है, न वहाँ सत्त्व प्रसक्त होता है और उसका बाध ।

समाधान—सत्त्व को प्रतीति का प्रयोजक नहीं माना जा सकता, क्योंकि रजत में उभयमत-सिद्ध सत्ता न होने के कारण प्रवृत्ति नहीं बन सकेगी, इसी प्रकार असत्त्व को बाध का प्रयोजक नहीं मान सकते, क्योंकि उभय मत-सिद्ध शशश्रृङ्गादि असत् पदार्थों में बाध नहीं देखा जाता, रजत में असत्त्व अभी तक सिद्ध नहीं हो सका, प्रत्युत रजत को असत् मानने पर प्रवृत्ति की अनुपपत्ति इसी प्रकरण में कहनेवाले हैं । ऊपर जो गौरव कहा है, वह प्रामाणिक है, अप्रामाणिक गौरव ही दोष माना है, प्रामाणिक नहीं । अतः ख्याति और बाध की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से अनिर्वाच्यत्व सिद्ध हो जाता है ।

न्यायामृतम्

(ग) निषेधप्रतियोगित्वान्यथानुपपत्तिभंगः

नन्वत्यन्तासत्त्वे कथं निषेधप्रतियोगित्वम् ? तथा चात्यन्तिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपबाध्यत्वमेव सत्यसति चानुपपद्यमानमनिर्वाच्यत्वं कल्पयतीति नवीना इति चेन्न, किमिह कथं असत्त्वस्यात्यन्तिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपत्वे तदप्रतिक्षेपकत्वात् प्रागभावादिदशायामसत एव घटादेस्तत्प्रतियोगित्वदर्शनेन तस्य रूपादिवद्धर्मिसत्त्वानपेक्षत्वाच्च, असत्त्वाभावादपि लघुत्वेन तत्र सत्त्वस्य तंत्रतया तद्धीनस्यानिर्वाच्यस्याप्रतियोगित्वापाताच्च, त्वन्मतेऽप्यसतोऽसद्वैलक्षण्यं प्रति प्रतियोगित्वाच्च, असतोऽपि 'नासदासीदि'ति श्रौतनिषेधप्रतियोगित्वाच्च । यदि च कुत्रचित्कदाचित्सत एवासत्त्वम्, तर्हि कुत्रचित्कदाचिदसत एव सत्त्वमिति नित्यसर्वगतानां सत्त्वं न स्यात् । आत्यन्तिकं सत्त्वमसत्त्वनिरपेक्षं चेदात्यन्तिकमसत्त्वमपि सत्त्वनिरपेक्षम्, अन्यथा ध्वंसः स्वाधिकरणे

अद्वैतसिद्धि

(ग) निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्तिसमर्थनम्—

केचित् बाध्यत्वं सत्यसति चानुपपन्नमिति अनिर्वाच्यत्वमिति—आहुः । न च—अतीते तत्कालासति ध्वंसप्रतियोगित्ववत् सर्वदा असत्यप्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं स्यात्, तथा च बाध्यत्वं नात्यन्तासत्त्वविरोधीति वाच्यम्; कालान्तरसत्तायाः कालान्तरसत्तां प्रत्यनुपयोगेऽपि विद्यमानतादशायामेव घटादौ ध्वंसप्रतियोगित्वम्; 'अनित्यो घटोऽस्ती'ति प्रतीतेः, न तु ध्वंसादिकाले घटे ध्वंसप्रतियोगित्वम्; तदानीं घटादीनामेवाभावात् । न च तर्हि घटो न ध्वंसप्रतियोगीति प्रत्ययः स्यात्; न, रूपवा-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(ग) निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्ति—

रजत को ऐकान्तिक सत् या असत् मानने पर रजत में बाध्यत्व नहीं बनता, अतः उसे अनिर्वचनीय मानना चाहिए, जैसा कि न्यायचन्द्रिकाकार कहते है—"बाधानुपपत्तिर्वाऽनिर्वाच्यत्वे मानमस्तु, सतो बाधे सत एव विलोपापत्तेः" (न्या. चं. पृ ४२६)

शङ्का—जैसे वर्तमान काल में न होने वाले अतीत घटादि में ध्वंस-प्रतियोगित्व होता है, वैसे ही सर्वदा न होने वाले शशशृङ्गादि असत् पदार्थों में अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वरूप बाध्यत्व भी बन जायगा, अतः बाध्यत्व अत्यन्तासत्त्व का विरोधी न होने के कारण असत्त्वाभाव-घटित मिथ्यत्व का साधक कैसे होगा ?

समाधान—कालान्तर में होने वाली सत्ता कालान्तरीय सत्ता का उपयोगी न होने पर भी विद्यमान घटादि में ही ध्वंस-प्रतियोगित्व माना जाता है, अतीत घटादि में नहीं, क्योंकि 'अनित्यो घटोऽस्ति'—ऐसी ही प्रतीति होती है, अनित्यो घट आसीत्'—ऐसी नहीं, क्योंकि जब अतीत घट की सत्ता ही नहीं, तब उसमें ध्वंस-प्रतियोगित्वादि धर्म कैसे रहेंगे ? 'अतीत घट में यदि ध्वंस-प्रतियोगित्व नहीं रहता, तब 'घटो न ध्वंसप्रतियोगी'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए—ऐसी आपत्ति करने पर 'घटो न रूपवान्'—ऐसी प्रतीति भी प्रसक्त होगी, अतः जैसे विद्यमान घट में ही होने वाले रूप के लिए घट में 'रूपवान् न'—यह प्रतीति नहीं होती, वैसे ही विद्यमान घट में ही होनेवाले ध्वंसप्रतियोगित्व के लिए भी घटो न ध्वंसप्रतियोगी ऐसी प्रतीति नहीं अर्थात् किसी काल में पदार्थ का रह जाना ही उसके सामान्याभाव की प्रतीति का प्रतिबन्धक माना जाता है । घट की स्थिति-पर्यन्त जैसे रूप रहता है, वैसे ही ध्वंस-

न्यायामृतम्

प्रतियोगिसत्त्वापेक्ष इत्यत्यन्ताभावोऽपि तथा स्यात् । अत्यन्ताभावश्च स्वकाले प्रतियोगिसत्त्वापेक्ष इति ध्वंसोऽपि तथा स्यात् । प्रतियोगिनो सत्त्वेऽपि प्रतियोगित्वस्य सत्त्वं च ध्वंसादिदशायां प्रतियोगिनोऽवर्तमानत्वेऽपि प्रतियोगित्वस्य वर्तमानत्ववत् शशशृङ्गादेरसत्त्वेऽपि परोक्षज्ञानादिकं प्रति विषयत्वस्य सत्त्ववद्, असद्वैलक्षण्यं प्रति प्रतियोगित्वस्य सत्त्ववत्, त्वत्पक्षे प्रतियोगिनः सद्विलक्षणत्वेऽपि बाधगोचरस्य निषेधप्रतियोगित्वस्य सत्त्ववच्च युक्तम् । यदि तु तत्र प्रतियोगित्वविषयत्वे न धर्मिसत्त्वापेक्षे, तर्हीहापि तथा । यदि च तत्र ध्वंसादौ तत्प्रतियोगिकत्वमेव वर्तमानमसद्विषयकज्ञाने च तद्विषयकत्वमेव सद्, असद्वैलक्षण्ये च तत्प्रतियोगित्वमेव सत्, न तु प्रतियोगित्वं वर्तमानं सद्वा न वा विषयत्वं सत्, तर्हीहाप्यत्यन्ताभावे तत्प्रतियोगिकत्वं सत्, न तु प्रतियोगित्वमित्यस्तु । न चाभावविरहत्वं प्रतियोगित्वम्, सादृश्यपृथक्त्वादिप्रतियोगिष्वव्याप्तेः, येनासतः प्रतियोगित्वं न स्यात् । किं तु तज्ज्ञानहेतुज्ञानविशेषविषयत्वं तच्चासतोऽप्यस्ति, अन्यथा अभावावधित्वं प्रतियोगित्वमिति निरवधिकोऽत्यन्ताभावो निष्प्रतियोगिकः स्यात् ।

एतेन प्रतियोगिस्मृतिरूपहेत्वभावादसत्प्रतियोगिकाभावधीरयुक्तेति निरस्तम्, शब्दाभासादिनाऽनुभूतस्य स्मृतिसम्भवाद् भ्रमविषयवच्च प्रतियोगिनोऽप्रामाणिक-

अद्वैतसिद्धिः

नित्यस्यापि प्रसङ्गात् । अथ यावत्सत्त्वं रूपसत्त्वान्नैवम्, समं प्रकृतेऽपि । वस्तुतस्तु—ध्वंसकालेऽपि घटो ध्वस्त इति ध्वंसप्रतियोगिता घटे प्रतीयत एव । तथा चानागतवर्तमानातीतावस्थाः क्रमेणाविर्भावयन् तिरोभावयंश्चानिर्वाच्यो घटः कालत्रयेऽप्यनुस्यूत इति नः सिद्धान्तः । एवं च सत्यनिर्वाच्यत्वमेव प्रतियोगित्वादौ प्रयोजकमिति स्थितम् ।

ननु—असद्वैलक्षण्यापेक्षया लघुत्वात् सत्त्वमेव प्रतियोगित्वादौ प्रयोजकमस्तु, तथा चानिर्वाच्यत्वेऽपि प्रतियोगित्वादिकमनुपपन्नमेवेति—चेत्, सत्यम्; सत्त्वमेव यत्किंचित्कालाबाध्यत्वरूपं तत्र प्रयोजकम्, न तु त्रिकालाबाध्यत्वरूपम्; गौरवात् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

प्रतियोगित्व । वस्तुतः अतीत घट में भी ध्वंस की प्रतियोगिता प्रतीत होती ही है । जो घट अपनी अनागत, वर्तमान और अतीत—इन तीनों अवस्थाओं का अपने कलेवर पर आविर्भाव और तिरोभाव करता हुआ तीनों कालों में अनुस्यूत होता है, वह घट अनिर्वाच्य है—यह हमारा (आद्वैती का) सिद्धान्त है । इस प्रकार घटादिगत अनिर्वाच्यत्व ही ध्वंस-प्रतियोगित्वादि का प्रयोजक माना जाता है ।

शङ्का—ध्वंस-प्रतियोगित्वादि का प्रयोजक असद्वेलक्षणरूप अनिर्वाच्यत्व को मानने की अपेक्षा सत्त्व को प्रयोजक मानने में ही लाघव है, अतः घटादि में अनिर्वाच्यत्व होने पर भी ध्वंस-प्रतियोगित्व अनुपपन्न है ।

समाधान—आप की बात सत्य है कि ध्वंस-प्रतियोगित्वादि का प्रयोजक सत्त्व धर्म ही होता है, किन्तु वह त्रैकालिक बाध्यत्वाभावरूप सत्त्व नहीं, अपितु यत्किञ्चित्कालाबाध्यत्वरूप ही सत्त्व प्रयोजक होता है—ऐसा मानने में ही लाघव है । 'जब सत्त्व को ध्वंस-प्रतियोगित्वादि का प्रयोजक माना जाता है, तब सत्त्व की आधारभूत सत् वस्तु में अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वरूप बाध्यत्वकी आप अनुपपत्ति कैसे कहते हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हम जिस सत् में बाध्यत्व की अनुपपत्ति कहते हैं, वह परमार्थ

न्यायामृतम्

त्वेऽपि भ्रमवदभावस्य प्रामाणिकत्वं युक्तम् । न हि प्रमाणस्पृष्टत्वमेव तत् असतोऽप्य-सत्त्वेन तत्स्पृष्टत्वात् , किं तु सत्त्वेन ।

नन्वथापि योग्यानुपलब्ध्या अभावो ग्राह्यः योग्यता च प्रतियोगितद्व्याप्येतर-प्रतियोग्युपलम्भकसामग्री, असति च प्रमासामग्री नास्तीतिदोषसहितज्ञानसामग्रीरूपा सा वाच्या तस्यां च सत्यां नासतोऽनुपलम्भः, उपलम्भस्यैव सत्त्वाद् अनुपलम्भ-दशायां च तज्ज्ञानसामग्रीरूपा योग्यतैव नास्तीति कथमसदभावधीः ?

दुष्टोपलम्भसामग्री शशशृंगादियोग्यता ।
तस्यां नानुपलम्भोऽस्ति नास्ति सानुपलम्भने ॥

अद्वैतसिद्धिः

न च तर्हि कथं ? सति बाध्यत्वमनुपपन्नम् ; न सन्मात्रे, किन्तु परमार्थसतीत्यवेहि । तथा चानिर्वाच्यतापक्षे नानुपपत्तिः । न च तर्हि कथमसद्वैलक्षण्यप्रतियोगित्वमसति कथं वा नासदासीदिति श्रौतनिषेधः, असत्त्वं तावन्निस्वःरूपत्वम् । तद्वैलक्षण्यं सत्स्वरूपत्वं तच्च निष्प्रतियोगिकमेव । श्रुत्यर्थोऽपि तदेव । तथा च नास्ति प्रतियोगित्वप्रतिपत्तिः । न च—शशशृङ्गं नास्तीति प्रत्यक्षत एवासति निषेधप्रतियोगित्व मनुभूयत इति—वाच्यम् , योग्यानुपलब्धिस्तावदभावग्राहिका । योग्यता च शशशृङ्गादीनां दोषघटिता वाच्या । तस्यां नानुपलम्भः । अनुपलम्भे च न सेति योग्यानुपलब्धेरसंभवात् । तदुक्तं—

दुष्टोपलम्भसामग्री शशशृंगादियोग्यता ।
तस्यां नानुपलम्भोऽस्ति नास्ति सानुपलम्भन' इति ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सत् है और ध्वंसादि का प्रयोजक अपारमार्थिक सत्त्व होता है, पारमार्थिक सत्त्व नहीं । अतः अनिर्वाच्यता—पक्ष में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं । जब सत्त्व को प्रतियोगित्वादि का प्रयोजक माना जाता है, तब सत्त्व-रहित असत् में असद्वैलक्षण का प्रतियोगित्व और ''नासदासीत्'' (ऋ० १०।१२९।१)—इस प्रकार के श्रौत निषेध का प्रतियोगित्व कैसे रहेगा ? इस सन्देह को दूर करने के लिए यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि असत्त्व का यहाँ पूर्वोक्त निःस्वरूपत्व अर्थ है, उसका वैलक्षण्य है—सत्स्वरूपत्व, सत्स्वरूपत्व निष्प्रतियोगिक भावरूप होने के कारण उसकी प्रतियोगिता प्रसिद्ध ही नहीं, जिस के कहीं रहने की चिन्ता हो । उक्त नासदीय मन्त्र का भी वही सद्रूपत्व ही अर्थ है, अर्थात् 'नासदासीत्' का अर्थ है—सदासीत् । वहाँ भी किसी प्रकार का निषेध विवक्षित नहीं, जिस की प्रनियोगिता प्रसिद्ध हो । फलतः असद्वैलण्य और नासदासीत्—इत्यादि स्थलों पर किसी प्रकार की प्रतियोगिता का बोध नहीं होता ।

शङ्का—'शशशृङ्गं नास्ति'—इस प्रकार प्रत्यक्षतः शशशृङ्गरूप असत् पदार्थ में प्रतियोगिता अनुभूत होती है, इस प्रतियोगित्व का अपलाप नहीं हो सकता, अतः यह जिज्ञासा नैसर्गिक है कि यह प्रतियोगित्व असत् में कैसे रहेगा, जब कि सत्त्व वहाँ नहीं ।

समाधान—अभाव का प्रत्यक्ष वहीं होगा, जहाँ योग्यानुपलब्धि हो । शशशृङ्गादि-स्थल पर योग्यता दोष-घटित ही कहनी होगी । उसके रहने पर अनुपलम्भ नहीं हो सकता और अनुपलम्भ के होने पर वह योग्यता नहीं रह सकती, आचार्य कहते हैं—

दुष्टोपलम्भसामग्री शशशृङ्गादियोग्यता ।
तस्यां नानुपलम्भोऽस्ति नास्ति सानुपलम्भने ॥ (न्या. कु. ३।२)

न्यायामृतम्

इति कुसुमांजल्युक्तेरिति चेन्न, या ह्यनुपलब्धिर्यत्र यत्सत्त्वविरोधिनी, तस्या एव योग्यानुपलब्धित्वात् तस्याश्चासत्यपि भावात्। शृङ्गानुपलब्धिर्हि महत्त्वे सत्युद्भूतरूपशृंगसत्त्वविरोधिनी न हि प्रतियोगिप्रत्यक्षत्वं भावप्रत्यक्षत्वे तन्त्रम्, स्तम्भे पिशाचान्योन्याभावस्याप्रत्यक्षत्वापातात्, जलपरमाणौ पृथिवीत्वाभावस्य प्रत्यक्षत्वप्रसंगाच्च। कथमन्यथा शशशृङ्गं नास्तीत्यबाधितधीः? न च शशे शृङ्गं नास्तीत्यर्थ इति चिन्तामण्युक्तं युक्तम्, शशशृंगोल्लिखिता भूरित्यादावप्रसिद्धविशेषणत्वोक्त्य-

अद्वैतसिद्धिः

न च—प्रतियोगिसत्त्वविरोध्यनुपलब्धिरेव तद्ग्राहिका, सा च प्रकृतेऽस्त्येवेति—वाच्यम्, स्तम्भात्मनि योग्यत्वप्रसिद्ध्या पिशाच उपलम्भापादनं संभवति। शशशृङ्गास्तित्वं न योग्यतया व्याप्तम्। यद्बलात्तेन उपलम्भ आपाद्येत। तथा च नात्र प्रतियोगिसत्त्वविरोधिनी अनुपलब्धिः। अत एव पिशाचादीनां भेदः प्रत्यक्षः, नात्यन्ताभावः। न च—शृङ्गादिकं योग्यतया व्याप्तमेवेति—वाच्यम्, तावता हि शृङ्गाभाव एव योग्यानुपलब्धिसंभवः, न त्वलीकाभावे। एवञ्च शशशृङ्गं नास्तीत्युल्लिखन्त्या अपि बुद्धेः शशे शृङ्गाभाव एव विषयः। गवि शशशृङ्गं नास्तीत्यस्या अपि गवाधिकरणक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

[अर्थात् योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि ही अभाव-प्रत्यक्ष की जनिका होती है, शशशृङ्ग-स्थल पर दोष-घटित सामग्री को ही योग्यता कहना होगा। उस सामग्री के होने पर प्रतियोगी की उपलब्धि ही होती है, अनुपलब्धि कैसे होगी? और अनुपलब्धि के होने पर प्रतियोगी के उपलम्भ की सामग्री नहीं रह सकती। फलतः शशशृङ्गादि असत् पदार्थों के अभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता]।

शङ्का—प्रतियोगी के सत्त्व के विरोधी पदार्थ की अनुपलब्धि ही अभाव के उपलम्भ की सामग्री मानी जाती है, वह तो प्रकृत में है ही, अतः शशशृङ्गाभाव का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा?

समाधान—'स्तम्भो यदि पिशाचः स्यात्, तदोपलभ्येत'—इस प्रकार का आपादन तो किया जा सकता है, क्योंकि उपलब्धि-विषयत्वरूप योग्यता से व्याप्त स्तम्भरूपत्व प्रसिद्ध है, किन्तु 'यदि शशशृङ्ग स्यात् तदोपलभ्येत' – ऐसा आपादन सम्भव नही, क्योंकि शशशृङ्गत्व में उपलब्धि-विषयत्वरूप योग्यता की व्याप्ति गृहीत नहीं। अतः यहाँ प्रतियोगिसत्त्व की विरोधिनी अनुपउब्धि नहीं। इसीलिए स्तम्भ में पिशाच-भेद का ही प्रत्यक्ष होता है, पिशाच के अत्यन्ताभाव का नहीं, [क्योंकि अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी के ग्रहण की योग्यता तथा भेद-प्रत्यक्ष में अनुयोगी के ग्रहण की योग्यता अपेक्षित होती है। पिशाच रूप प्रतियोगी के ग्रहण की रूपवत्तादि-घटत सामग्री के न होने से जैसे पिशाचात्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता, वैसे ही शशशृङ्गाभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता]। शृङ्गत्व में उपलब्धि-विषयत्वरूप योग्यता की व्याप्ति होने पर भी शश में शृङ्गाभाव का ही प्रत्यक्ष हो सकता है, शशशृङ्गाभाव का नहीं। इस प्रकार 'शशशृङ्गं नास्ति'—इस प्रकार अलीक प्रतियोगी का उल्लेख करती हुई भी यह प्रतीति का शशगत शृङ्गाभाव ही विषय होता है। गौ में 'शशशृङ्गं नास्ति'—इस प्रकार की भी प्रतीति का विषय गोशृङ्गगत शशीयत्वाभाव ही विषय होता है, इस प्रकार 'गो' पदार्थ का अन्वय भी उपपन्न हो जाता है। 'शशशृङ्गादि की उपस्थिति न होने के कारण

न्यायामृतम्

योगाद् , गवि शशशृंगं नास्तीत्यधिकरणान्तरोपादानाच्च शशे शृंगं नास्तीत्यर्थकल्पनेऽपि भूतले घटो नास्तीतिवदसतः संसर्गस्य निषेध्यकोटिनिवेशाच्च, अन्यथा संसर्गस्य सत्त्वापाताद् , गोशृंगं नास्तीतिवद् विशिष्टप्रतियोगित्वप्रतीतेरुक्तरीत्या बाधकाभावेनान्यथाव्याख्यानायोगाच्च ।

एतेन न प्रतियोगिधीमात्रमभावधीहेतुः, तन्निर्विकल्पकादप्यभावधीप्रसंगात् , किं तु प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नतद्धीः । न च शशीयत्वावच्छिन्नशृङ्गधीरस्तीति सामग्र्यभावादेव बाधकान्न व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावधीरिति चिन्तामण्युक्तं निरस्तम् , शब्दाभासादिना तद्धीसम्भवात् । अन्यथा तंतुषु पटो नास्तीत्यस्यापि तंतुसमवेते पटत्वं नास्तीत्यर्थ इति प्रागभावादेरपि स्वसमानकालीनप्रतियोगित्वं स्यात् । एतेनैव सप्तमभावो नास्तीत्यादेः द्रव्यादिषड्लक्षणात्यन्ताभावे भावत्वसामानाधिकरण्यं नास्तीत्यर्थ इति निरस्तम् । शुक्तिरूप्यतादात्म्यवत् संसर्गवच्चात्यन्तासतोऽपि सप्तमपदार्थादेः पररीत्या प्रसक्तस्य निषेधसम्भवे कुसृष्टिकल्पनायोगात् । किं चेह भूतले घटो नास्तीतिधियः संसर्गाभावो विषयः, न तु घटाभावः इह भूतले घटो नास्तीत्यत्र संयोगो निषिध्यत इत्युदयनोक्तेः भूतले घटोऽस्तीति बुद्धेस्तत्सम्बन्धविषयत्वेन नास्तीति बुद्धेरपि तदभावविषयत्वाच्च ।

अद्वैतसिद्धिः

शृङ्गे शशीयत्वाभावो विषयः, अनन्यगतिकत्वात् । अत एव गोरनन्वयोऽपि नास्ति, शशशृङ्गादेरुपस्थित्यभावात् न तदभावग्रह इति तार्किकरीत्या उक्तत्वाच्च । अत एव सप्तम पदार्थत्वनिषेधस्यासंभवात् पदार्थाः षडेवेत्यत्र कुसृष्टिव्याख्यानम् ।

न च 'घटो नास्ती'ति बुद्धेर्घटसंसर्गाभाव एव विषयः, न तु घटाभावः, पूर्वं तत्र घटस्य सत्त्वेन तदत्यन्ताभावस्याभावात् , प्रागप्रध्वंसाभावयोः प्रतियोगिकाले असम्भावितत्वाद् , भेदस्य घटापसरणानपसरणयोस्तुल्यत्वात् , संसर्गोऽपि न तात्त्विकः, प्रतियोगिनि पूर्ववद् ध्वंसाद्यनुपपत्तेः, किंतु असन् संसर्ग इति—वाच्यम् , उक्तमत्रोदयनाचार्यैः—यन्निबन्धना हि यत्प्रतीतिः तदभावनिबन्धनैव तदभावप्रतीतिः ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शशशृङ्गाभाव का ग्रहण नहीं होता'—ऐसा जो कहीं कहा गया है, वह तार्किक-रीति से ही कहा गया है । न्यायामृतकार ने जो 'सप्तमभावो नास्ति'—यहाँ पर भी द्रव्यादिषड्लक्षणात्यन्ताभावगत भावत्वसामानाधिकरण्यभाव की विषयता को कुसृष्टि बताते हुए असदात्मक सप्तम पदार्थ में उक्त निषेध की प्रतियोगिता का उपपपादन किया है, वह ही वस्तुतः कुसृष्टि-कल्पना है, क्योंकि सप्तम में पदार्थत्व का निषेध सम्भव नहीं ।

शङ्का –'घटो नास्ति'—इस प्रतीति का घट-संसर्गाभाव को ही विषय मानना होगा, न कि घटाभाव, क्योंकि पूर्व काल में जहाँ घट विद्यमान था, वहाँ घट का अत्यन्ताभाव (त्रैकालिक अभाव) नहीं हो सकता, क्योंकि प्रागभाव और ध्वंस प्रतियोगी के देश-काल में सम्भावित नहीं, घट का भेद भूतल में सदैव रहता है, चाहे वहाँ से घट हटाया जाय या वहीं रहने दिया जाय । परिशेषतः घट-संसर्गाभाव ही उक्त प्रतीति का विषय होता है । संसर्ग भी तात्त्विक नहीं अतात्त्विक ही उक्त प्रतीति का विषय होता है, क्योंकि तात्त्विक संसर्ग का प्रतियोगी में पूर्वोक्त रीति से ध्वंसादि नहीं बन सकता, अतः असत् संसर्ग का ही निषेध कहना होगा ।

व्यायामृतम्

किं च न तावदयं घटप्रागभावो ध्वंसो वा, प्रतियोगिसमानकालीनत्वात्। नाप्यत्यन्ताभावः, कदाचित्तत्र घटस्य सत्त्वात्। यदि चेतत्कालावच्छेदेनात्यन्ताभावस्त-र्ह्यत्यन्ताभावातिरिक्तः प्रागभावादिर्न सिद्धयेत्। संयोगस्य तु भूतत्वे ध्वंसः भावित्वे प्रागभावः कदाप्यभावे त्वत्यन्ताभाव इत्यसतः संसर्गस्य प्रतियोगित्वसिद्धिः। न च घटे सन्नेव संसर्ग इह निषेध्यः तस्यापि घटतुल्यत्वेन प्रागभावादिविकल्पप्रसरात्। यत्तूक्तं वर्धमाने (१) घटात्यन्ताभाव एवायं घटकाले त्वसम्बन्धान्न भाति घटात्यन्ताभावस्य भूतलेन सह सम्बन्धश्च तत्संयोगध्वंसादिः। अथवा (२) प्रतियोगिभेदेनैव प्रतियोगितावच्छेदकभेदेनाप्यभावभेदात् संयुक्तघटाभावोऽयं विशिष्टान्तराभाववदुत्पादविनाशशीलोऽन्य एवेति। तत्र नाद्यः, अभावाधिकरणयोः सम्बन्धान्तरमन्तरेण तदुपश्लिष्ट-

अद्वैतसिद्धिः

इह च घटास्तित्वप्रतीतिः संयोगनिबन्धना, तदभावप्रतीतिः संयोगाभावनिबन्धनैव। स च संयोगस्तात्त्विक एव। न च ध्वंसादिविकल्पः, घटानयनात् प्राक् संयोगप्रागभावस्य घटे अपसारिते संयोगध्वंसस्य सत्त्वात्। न हि घटे अन्यत्र नीते तद्देशे घटसंयोगोऽस्ति, येन प्रागभावादिर्व्याहन्येत। तथा च संसर्गप्रतियोगिकाभावस्वीकारेऽपि नासत्प्रतियोगिकाभावसिद्धिः।

वस्तुतस्तु—घटप्रतियोगिकत्वेनैवाभावस्यानुभवान्नायं संयोगप्रतियोगिको भवितुमर्हति। एवं च सति (१) कालविशेषसंसर्ग्यत्यन्ताभावो वा (२) उत्पादविनाशशीलः तुरीयः संसर्गाभावो वा (३) भूतलादिसंयुक्तस्य घटस्य विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावो वा अङ्गीकरणीयः। न च—अत्राद्य ध्वंसादेरुच्छेदः कपालेऽपि घटान्यकालसंसर्गिणैवात्यन्ताभावेन तद्व्यवहारोपपत्तेरिति – वाच्यम्, 'दण्डी गौरश्चलतीति विलक्षणव्यवहार-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—श्री उदयनाचार्य ने कहा है कि जिस वस्तु के आधार पर जिस पदार्थ की प्रतीति होती है, उस वस्तु का अभाव ही उस पदार्थ के अभाव का प्रयोजक माना जाता है। प्रकृत में घट-संयोग के आधार पर ही घटास्तित्व की प्रतीति होती है, अतः घटाभाव की प्रतीति की प्रयोजकता घट-संयोग में ही माननी होगी और वह घट-संयोग भी तात्त्विक ही होगा। संयोगभाव के विषय में संयोग-ध्वंसादि का विकल्प नहीं उठा सकते, क्योंकि घट लाने से पूर्व संयोग का वहाँ प्रागभाव था और घट के हटाने पर संयोग का वहाँ ध्वंस रहता है, क्योंकि घट के अन्यत्र ले जाने पर उस देश में घट-संयोग नहीं रहता कि प्रागभावादि का रहना वहाँ विरुद्ध पड़ जाता। अतः संसर्ग-प्रतियोगिक अभाव को स्वीकार करने पर भी असत्प्रतियोगिक अभाव की सिद्धि नहीं होती।

वस्तुतः वहाँ घटप्रतियोगिक अभाव ही अनुभव-सिद्ध होता है, अतः वहाँ संसर्गप्रतियोगिक अभाव नहीं हो सकता। इस प्रकार वहाँ (१) समय विशेष में रहने-वाला नित्यरूप अत्यन्ताभाव या (२) उत्पाद-विनाशशाली चतुर्थ (प्रागभाव, ध्वंस और अत्यन्ताभाव - इन तीनों से भिन्न) संसर्गाभाव अथवा (३) भूतलादि-संयोग-युक्त घट का संयोगरूप विशेषण के अभाव से प्रयुक्त विशिष्टाभाव को मान लेना चाहिए।

शङ्का—पूर्वोक्त तीन पक्षों में प्रथम (काल विशेष-संसर्गी अत्यन्ताभाव) पक्ष मान लेने पर ध्वंस और प्रागभाव के मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि

न्यायामृतम्

स्वभावरूपक्लृप्तसम्बन्धत्यागेन संयोगध्वंसादेः सम्बन्धत्वकल्पने आवश्यकसंयोगध्वंसादेरेव तद्धीविषयत्वोपपत्तेः। अन्यथा घटस्य कपालेष्वत्यन्ताभाव एव घटकाले त्वाश्रयाश्रयिभावध्वंसादिरूपसम्बन्धाभावादप्रतीतिरिति घटात्यन्ताभावः केवलान्वयी स्यात्। न द्वितीयः, संयोगस्य निषेध्यकोटित्वादिष्टसिद्धेः दंडे सत्यपि पुरुषाभावेन दंड्यभाववद् भूतलघटसंयोगे सत्यपि घटाभावेन संयुक्ताभावस्यादर्शनेन क्लृप्तैः संयोगध्वंसादिभिरेव सर्वोपपत्तो उत्पादविनाशशीलसंयुक्ताभावान्तरकल्पनायोगाच्च। तस्मादसतोऽपि निषेध्यत्वं युक्तम्। अनिर्वाच्यत्वसाधकनिषेधप्रतियोगित्वान्यथानुपपत्तिभंगः ॥ ६२ ॥

अद्वैतसिद्धिः

त्रये द्रव्यगुणकर्माणि विलक्षणानि हेतुर्यथा, तथात्रापि नास्ति नष्टो भविष्यतीति विलक्षणव्यवहारत्रयस्यैकेनात्यन्ताभावेनोपपादयितुमशक्यत्वाद्विलक्षणाभावत्रयसिद्धिः। समयविशेषसंसर्गश्च तत्समयावच्छिन्नं स्वरूपमेव संयोगध्वंसादिर्वा। न च—संयोगादिध्वंसादिनैवावश्यकेन तर्हि प्रतीत्युपपत्तिरिति—वाच्यम्, घटप्रतियोगिकत्वेनानुभ-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

कपाल में भी घट के पहले और पश्चात् रहनेवाले उसी अत्यन्ताभाव के द्वारा ही 'घटो भविष्यति' और 'घटो ध्वस्तः'—इस प्रकार का व्यवहार सम्पन्न हो जाता है।

समाधान—जैसे 'दण्डी', 'गौरः', 'चलति'—इस प्रकार परस्पर विलक्षण तीनों व्यवहारों का निर्वाह किसी एक पदार्थ के द्वारा नहीं हो सकता, अपितु उनके लिए परस्पर विलक्षण द्रव्य (दण्ड), गुण (गौरत्व) और कर्म (चलन क्रिया)—इन पदार्थों की स्थापना होती है, वैसे ही प्रकृत में भी 'नास्ति', 'ध्वस्तः' और 'भविष्यति'—इन परस्पर विलक्षण तीन व्यवहारों का निर्वाह एक ही अत्यन्ताभाव से नहीं हो सकता, अपितु नास्ति—इस व्यवहार का हेतु अत्यन्ताभाव, 'ध्वस्तः'—इस व्यावहार का कारण ध्वंस तथा भविष्यति—इस व्यवहार का नियामक प्रागभाव सिद्ध होता है।

काल-विशेष-संसर्गी अत्यन्ताभाव का अपने अधिकरणीभूत भूतलादि के साथ कालविशेषावच्छिन्न भूतलादि स्वरूप को संसर्ग माना जा सकता है, अथवा घट-संयोग-ध्वंस और घट-संयोग-प्रागभाव को सम्बन्ध मान सकते हैं [अर्थात् काल-विशेष-संसर्गी अत्यन्ताभाव घटादि प्रतियोगी की अनुपस्थिति में ही होता है, प्रतियोगी की अनुपस्थिति अपने ध्वंस और प्रागभाव के समय ही होती है, अतः ध्वंसकालावच्छेदेन और प्रागभावकालावच्छेदेन भूतलादि को सम्बन्ध माना जाता है। अत्यन्ताभाव का भूतल के साथ यदि भूतलादिरूप ही सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, तब घट-संयोग-ध्वंस और घट-संयोग-प्रागभाव को सम्बन्ध कह सकते हैं। 'घटात्यन्ताभावविशिष्टं भूतलम्'—यहाँ वैशिष्ट्य होगा—'स्वप्रतियोगिप्रतियोगिकसयोगप्रतियोगिकध्वंस-प्रागभावान्यरवत्व' सम्बन्ध से। जो लोग कार्य का ध्वंस उसके समवायिकारणमात्र में मानते हैं, उनके मत से प्रथम-कथित सम्बन्ध सुलभ है]। यदि यहाँ यह प्रश्न उठाया जाय कि संयोग-ध्वंस अवश्य क्लृप्त है और काल-विशेष-संसर्गी अत्यन्ताभाव कल्पनीय है और संयोग-ध्वंस के द्वारा ही 'नास्ति'—इस प्रतीति की भी उपपत्ति हो सकती है, अतः उक्त अत्यन्ताभाव की क्या आवश्यकता ? तो इसका उत्तर होगा कि 'नास्ति' का पूरा कलेवर है—'घटो नास्ति' अर्थात् घटप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव की प्रतीति का

अद्वैतसिद्धिः

वानुपपत्तेरुक्तत्वात् । न च—कपालेऽपि घटध्वंसादिः संबन्धस्थानीयोऽस्तु, एक एवात्यन्ताभावो व्यवहारयत्विति—वाच्यम्, विलक्षणव्यवहारत्रयानुपपत्त्या दत्तोत्तरत्वात् । अत एव द्वितीयतृतीयपक्षावपि क्षोदसहौ, घटप्रतियोगिकत्वानुभवस्यान्यथा उपपादयितुमशक्यत्वात् । एतेन—दण्डसत्त्वेऽपि पुरुषासत्त्वाद्दण्डथभावदर्शनादस्तु तत्र विशिष्टाभावः, न चात्र संयोगसत्त्वे संयोग्यभावो दृष्टः, तथा च न विशिष्टस्याभावः, किंतु विशेषणस्यैवेति—निरस्तम्, संयोगिप्रतियोगिकत्वेनानुभवात् । संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे शरणमिति । तस्मान्निषेधप्रतियोगित्वान्यथानुपपत्त्यापि अनिर्वाच्यत्वसिद्धिः ॥ इत्यद्वैतसिद्धौ निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्त्याऽनिर्वचनीयत्वसमर्थनम् ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उपपादन संयोगप्रतियोगिक ध्वंस से नहीं हो सकता । यदि कहा जाय कि कपाल में भी घटो नष्टः—इस प्रकार के व्यवहार का निर्वाहक काल-विशेष-संसर्गी अत्यन्ताभाव को ही मान लेना चाहिए और ध्वंस को केवल उसका सम्बन्ध रहने दिया जाय । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'नास्ति', 'नष्टः' और 'भविष्यति'—इन तीन परस्पर विलक्षण प्रतीतियों का निर्वाह किसी एक ही अभाव से नहीं किया जा सकता, अतः अत्यन्ताभाव, ध्वंस और प्रागभाव—इन तीनों अभावों का मानना अनिवार्य है—यह कहा जा चुका है ।

इसी प्रकार द्वितीय (उत्पाद-विनाशशाली चतुर्थ संसर्गाभाव) तथा तृतीय (विशिष्टाभाव पक्ष का भी समर्थन किया जा सकता है । घटप्रतियोगित्व की जो अत्यन्ताभाव में अनुभूति है, उसका अन्य किसी प्रकार से सम्पादन नहीं किया जा सकता । तृतीय (विशिष्टाभाव-पक्ष में जो यह कहा जाता है कि दण्डरूपविशेषण के रहने पर भी पुरुषरूप विशेष्य के न रहने के कारण विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव रह जाता है, किन्तु प्रकृत में संयोग के रहने पर संयोगी का अभाव कहीं नहीं देखा जाता, इस लिए यहाँ विशिष्ट का अभाव नहीं, केवल विशेषण का ही अभाव होता है । वह कहना संगत नहीं, क्योंकि प्रकृत (घटो नास्ति—इस प्रकार के) अभाव में संयोगिप्रतियोगिकत्व की अनुभूति होती है । किन्तु संयोगाभाव केवल संयोगप्रतियोगिक है, अतः यहाँ संयोगरूपविशेषणाभाव से प्रयुक्त संयुक्त या संयोगी घटरूप विशिष्ट का ही अभाव मानना होगा । यहाँ संयोगाभाव माना जाय ? या संयोगी का अभाव ? इस सन्देह की निर्णायक एक मात्र 'घटो नास्ति'—इस प्रकार की अनुभूति ही है । फलतः रजतादि में 'नेदं रजतम्'—इत्यादि निषेध की प्रतियोगिता तब तक नहीं बन सकती, जब तक कि रजत में अनिर्वचनीयत्व नहीं माना जाता ।

न्यायामृतम्

(घ) श्रुत्यर्थापत्तिभंगः--

नापि "नासदासीन्नो सदासीत्तम आसीदि"ति श्रुत्यर्थापत्तिरनिर्वाच्ये मानं तत्र हि सदसच्छब्दौ पंचभूतपरौ प्रसिद्धपरत्वे "नासदासी" दित्यस्याप्रसक्तप्रतिषेधत्वापातात् तदानीमित्यस्य वैयर्थ्याच्च । नो सदासीदित्यनेनैव सिद्धत्वेन नासीद्रज इत्यादेर्वैयर्थ्याच्च "न सत्तन्नासदुच्यत" इत्यादौ भूते प्रयोगाच्च "यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतत्सदिति वायुरन्तरिक्षं चासदि 'ति श्रुतेश्च । अन्यथा "आनीदवात' मिति वाक्यशेषोक्तं प्रलये सद् ब्रह्माप्यनिर्वाच्यं स्यात् । ख्यात्यन्तरभंगस्त्वन्यत्र द्रष्टव्यः ।

श्रुत्यर्थापत्तिभंगः ॥ ६३ ॥

अद्वैतसिद्धिः

(घ) श्रुत्यर्थापत्तिसमर्थनम् --

'नासदासीन्नो सदासी' दित्यादिश्रुतयोऽप्यनिर्वाच्यत्वे प्रमाणम् । न च—अत्र सदसच्छब्दौ पञ्चभूतपरौ, 'न सत्तन्नासदुच्यत' इत्यादौ भूते प्रयोगाद्, 'यदन्यद्वायोरन्तरिक्षाच्चैतत्सद्वायुरन्तरिक्षं चेत्यस'दिति श्रुतेश्चेति—वाच्यम्, प्रसिद्धपरत्वे संभवति अप्रसिद्धपरताया अयुक्तत्वात्, न हि भूते सदसच्छब्दौ प्रसिद्धौ, किंतु पारमार्थिकापारमार्थिकयोरेव । न च 'नासदासी'दित्यत्राप्रसिद्धप्रतिषेधापत्तिः, नो सदासी' दित्यनेन सद्भिन्नत्वे उक्ते असत्त्वस्यापि प्रसक्तेः । न च तदानीमित्यस्य वैयर्थ्यम्, 'नासीद्रजो नो व्योमे ति रजोनिषेधादावेव तदन्वयात् । न हि रजःप्रभृतीनां सर्वदा अनस्तित्वम् । न च 'नो सदासी' दित्यनेनैव रजःप्रभृतिनिषेधे सिद्धे पृथङ्निषेधानुप-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(घ) श्रुत्यर्थापत्ति--

"नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्" (ऋ० १०।११।१२९) इत्यदि श्रुतियाँ भी अनिर्वाच्यत्व को सिद्ध कर रही हैं ।

शङ्का—इस श्रुति में 'सत्' और 'असत्' शब्द आकाशादि पाँच महाभूतों के बोधक हैं, क्योंकि "न सत् तन्नासदुच्यते" (गी० १३।१२) इत्यादि स्मृतियों मे सदादि शब्द महा भूतों के ही बोधक माने गये हैं। "यदन्यद् वायोरन्तरिक्षाच्चतत् सद् वायुरन्तरिक्ष चेत्यसत्" (बृह० उ० २।३।२) यह श्रुति भी कह रही है कि अन्तरिक्ष और वायु से भिन्न जो पृथिवी है, यही सत् है, वायु और अन्तरिक्ष—ये दोनों असत् कहे जाते हैं ।

समाधान—कोई भी शब्द जब प्रसिद्धार्थक बन जाता है, तब उसमें अप्रसिद्धार्थकत्व की कलपना नहीं की जाती । 'सत्' और 'असत्' शब्द महाभूत अर्थ में कहीं प्रसिद्ध नहीं, किन्तु 'सत्' शब्द पारमार्थिक और 'असत्' अपारमार्थिक या निरुपाख्य अर्थ में ही प्रसिद्ध है । 'नासदासीत्' यह वाक्य असत् का निषेध करता है किन्तु असत् कहीं प्राप्त नहीं, अतः उक्त निषेध अप्रसक्त—प्रतिषेध होने के कारण ही नान्तरिक्षे" के समान अर्थवादमात्र है—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि "नो सदसीत्'—इस प्रकार सत् का निषेध करने पर असत् प्रसक्त हो जाता है। 'जब असत् कभी भी नहीं, तब 'तदानीम् असत् नासीद'--यहां पर तदानीम् का प्रयोग व्यर्थ क्यों नहीं ? ऐसा सन्देह नहीं कर सकते, क्योंकि 'तदानीम्' का अन्वय 'नासदासीत्' के साथ नहीं

अद्वैतसिद्धिः

पत्तिः, 'नो सदासी' दित्यत्र सच्छब्दस्य परमार्थसत्परत्वेन व्यावहारिकसतो रजः-प्रभृतेर्निषेधस्य ततः प्राप्त्यभावात्। आनीदवातं स्वधया तदेकमिति वाक्यशेषाद् ब्रह्मणो पि अनिर्वाच्यत्वप्रसङ्गः 'तम आसी' दिति वाक्याद् अविद्याया इवेति चेत्, श्रुत्यन्तराविरोधाय सदेकं ब्रह्म सदासीन्न सदसद्विलक्षणमित्यर्थपर्यवसानात् ॥

इति अद्वैतसिद्धौ नासदासीदित्यादिश्रुत्यर्थापत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अपितु 'नासीद्रजो नो व्योम'—इस प्रकार रजोनिषेधादि के साथ ही विवक्षित है। रज आदि (त्रैलोक्य) पदार्थों का सदा अभाव नहीं रहता, अपितु केवल तदानीम् (प्रलय-काल में) ही अभाव होता है। 'नो सदासीत्'—इस प्रकार सत् के निषेध में ही रज आदि का निषेध भी आ जाता है, तब उनका पृथक् निषेध क्यों'—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'नो सदासीत्'—यहाँ पर 'सत्' शब्द केवल पारमार्थिक सत् का बोधक है, व्यावहारिक सत् (रज आदि) का नहीं, उससे रज आदि व्यावहारिक पदार्थों का निषेध प्राप्त नहीं होता, अतः उनका निषेध करने के लिए 'नासीद् रजः'—ऐसा कहा गया है।

शङ्का—आनीदवातं स्वधया तदेकम्'—इस वाक्य शेष में कहा गया है कि वह एक (ब्रह्म तत्त्व) स्वधा (माया) के साथ अवात (प्राणों के बिना ही) आनीत् (जीवित था)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रलय-काल में ब्रह्म था और "तम आसीत्"—इस वाक्य-शेष से तमोरूप माया की सत्ता प्रतीत होती है। उपक्रम में कहा गया है कि प्रलय-काल में जो कुछ था, वह सत् और असत् से विलक्षण था। उसके आधार पर माया के समान ब्रह्म में भी सदसद्भिन्नत्व प्रतीत होता है। अब यदि 'सत्' और 'असत्' शब्द महाभूतों के वाचक न होकर तत्त्व और निस्तत्त्व के वाचक-हैं, तब माया के समान ही ब्रह्म में भी अनिर्वाच्यत्व सिद्ध होगा, अतः 'सत्' और 'असत्' शब्दों को महाभूतपरक मानना अद्वैतवाद के हित में है।

समाधान—ब्रह्म को अनिर्वचनीय मानने के लिए ब्रह्म से भिन्न और कोई सत् तत्त्व मानना होगा, जिससे भिन्न होकर ब्रह्म अनिर्वचनीय बने, किन्तु "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छां० ६।२।१), 'सदेव पुरस्तात् सिद्धं ब्रह्म' (नृसिंहो ९।६), "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (जा. द. उ. २।९), "सत्यं ब्रह्म" (बृह० ५।४।१) इत्यादि श्रुतियों से अविरोध स्थापन करने के लिए नासदीय सूक्त का तात्पर्य ब्रह्म की सद्रूपता में ही मानना होगा, सदसद्विलक्षणता में नहीं।

: ७२ :

ख्यातिविचारः

न्यायामृतम्

(क) स्वाभिमतान्यथाख्यातिसमर्थनम्—

तस्मादनिर्वाच्यख्यात्यसम्भवाद् उद्बुद्धरूप्यसंस्कारसचिवं दुष्टेन्द्रियं स्वसन्निकृष्टं शुक्तीदमंशमत्यन्तासद्रूप्यात्मना गृह्णातीत्यन्यथाख्यातिरेव युक्ता। रूप्यस्यासत्त्वे चासदेव रूप्यमभादिति प्रत्यक्षम् ; विमतमसत् सत्त्वानधिकरणत्वान्नृश्रृङ्गवत् ; अप्रमा असद्विषयिका, सत्त्वानधिकरणविषयकत्वात् , सन्मात्राविषयकत्वे सति सविषयकत्वाच्च असद्विषयकपरोक्षज्ञानवद्–इत्याद्यनुमानं च मानम् । न चवमसत्ख्यात्यापत्तिः,

अद्वैतसिद्धिः

(क) असत्ख्यातिभङ्गः –

तस्मादनिर्वाच्यख्यातिरेव, प्रमाणसंभवात् , न त्वसदन्यथाख्यातिः, प्रमाणविरहात् । न चासद्भाने असदेव रजतमभादिति प्रत्यक्षं मानम् , अनन्तरोक्तबाधकेन सद्वैलक्षण्यविषयकत्वात् । न चेदं प्रत्यक्षमपि, त्वयापि हि असदात्मना सतः प्रत्यक्षत्वमङ्गीक्रियते । न चात्र पूर्वकालीनभानविषये रजते असत्त्वमिति ज्ञानम् , असदात्मना सद्विषयीकरोति ।

न च 'विमतमसत् , सत्त्वानधिकरणत्वात् , शशश्रृङ्गवत् । विमता अप्रमा असद्विषयिणी, सत्त्वानधिकरणविषयकत्वात् , सन्मात्राविषयकत्वे सति सविषयकत्वात् , नृश्रृङ्गमसदित्यादिवाक्यजन्यपरोक्षवदिति'—अनुमानं तत्र मानम् । पूर्वोक्तयुक्त्या तत्र बाधात् , प्रथमानुमाने शब्दैकसमधिगम्यत्वस्य द्वितीयतृतीययोः परोक्षत्वस्योपाधि-

---

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(क) असत्ख्याति-निरास—

भ्रम-स्थल पर अनिर्वचनीय ख्याति ही प्रमाणों से सिद्ध होती है, असत्ख्याति और अन्यथाख्याति में कोई प्रमाण सम्भव नहीं । 'असदेव रजतमभात्'—यह प्रत्यक्ष असत्-ख्याति में प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि पूर्व प्रकरण में यह कहा जा चुका है कि असद् वस्तु के भान की सामाग्री सम्भव न होने के कारण 'असदेव रजतमभात्'—यह प्रतीति सद्वैलण्य को विषय करती है, असत् को नहीं । दूसरी बात यह भी है कि आप (माध्व) 'असदेव रजतमभात्'—यहाँ पर शुक्ति के सद्रूप इदमंश का ही असद्रूप से भान मानते हैं, अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान असत् को क्योंकर प्रमाणित करेगा ? उक्त प्रतीति पूर्वकालीन स्मृति-विषयीभूत रजत में असत्त्व को विषय करती है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि असद्रूपेण सत् को ही विषय करती है, स्मृति-विषयीभूत रजत सत् या विद्यमान नहीं, अतः तद्गत असत्त्व को भी विषय नहीं कर सकती ।

शङ्का—शुक्ति-रजत की असद्रूपता इन प्रमाणों के द्वारा सिद्ध की जा सकती है—विवादास्पद (शुक्ति-रजत) असत् है, क्योंकि 'सत्त्व' धर्म का अनधिकरण है, जैसे—शशश्रृङ्ग । विवादास्पद अप्रमा (इदं रजतं-यह प्रतीति) असद्विषयिणी होती है, क्योंकि स[illegible] के अनधिकरणीभूत पदार्थ को विषय करती है, अथवा सन्मात्र को विषय न करनेवाली सविषयक प्रतीति है, जैसे—'नृश्रृङ्गमसत्'—इस वाक्य से जन्य परोक्ष प्रतीति ।

समाधान—शुक्ति-रजत को असत् मानने पर उसकी प्रतीति न हो सकेगी, क्योंकि असत् के साथ इन्द्रियसन्निकर्षादि सम्भव न होने के कारण, असत् का प्रत्यक्ष

न्यायामृतम्

मन्मते रूप्यस्यासत्त्वेऽपीदमंशस्य सत्त्वेन बाह्यमत इवेदं रूप्यमितिज्ञाने भातस्य सर्वस्याप्यसत्त्वाभावात् । अन्यथा अद्वैतिमतेऽपि सदन्यप्रतीतेरसतश्च परोक्षप्रतीतेस्तार्किकमते शुक्ती रूप्यं चेत्युभयतादात्म्यस्य वा संसर्गस्य वाऽसत एव प्रतीतेर्बाह्यमतापत्तिः ।

ननूभयं तादात्म्यं चेत्यतोऽधिकस्य तस्याभावात्तयोश्च सत्त्वान्नासतः ख्यातिरिति चेन्न, रूप्यतादात्म्यस्य रूप्यत्वसंसर्गस्य चेदमंशनिष्ठत्वेनाग्रहणे इदं रूप्यं चेतिज्ञानाकारापातेनेदं रूप्यत्वेन ज्ञातमित्यनुव्यवसायायोगात् , पुरोवर्तिनिष्ठाभेदाग्रहे प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च सन्मात्रविषयकत्वे अप्रामाण्यायोगाच्च । न च तथात्वेऽपि तदभाववति तत्प्रकारकत्वरूपमप्रामाण्यमविरुद्धमिति वाच्यम् , तत्प्रकारकत्वस्यापि तद्धै

अद्वैतसिद्धिः

त्वाच्च । किंचासत्ख्यात्यङ्गीकारेण बौद्धमतप्रवेशापत्तिः । न च सदुपरागो विशेषः, तथाप्यसत्ख्यात्यापत्तेः तदवस्थत्वात् । न च – तार्किकैरपि असतः संसर्गस्य भानाङ्गीकारेण तेषामप्येवमापाद्येतेति – वाच्यम् , तथाङ्गीकारे तेषामपि तथैव । वस्तुतस्तु— तेषामपि सत्संसर्गभान एव निर्भरता । शुक्ती रूप्यं तत्तादात्म्यं चेत्यतोऽन्यस्य रजतभ्रमेऽविषयत्वात् , तेषां च सत्यत्वात् । न च तर्हि भ्रमत्वानुपपत्तिः, व्यधिकरणप्रकारकत्वेन तत्त्वात् । न च—रजतप्रतियोगिकसंसर्गस्य शुक्त्यनिष्ठत्वादसत्संसर्गभानं किंच

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

नहीं हो सकता—यह पूर्व प्रकरण में कहा जा चुका है, अतः शुक्ति-रजत असत् नहीं हो सकता—इस प्रकार के बाध से प्रथम अनुमान का साध्य बाधित हो जाता है । प्रथम अनुमान में 'शब्दमात्र-समधिगम्यत्व' उपाधि भी है [शशशृंग में शब्दमात्र-समधिगम्यत्व और असत्त्व निश्चित होने के कारण उपाधि में साध्य की व्यापकता, तथा पक्षभूत शुक्ति-रजत शब्दैक-समधिगम्य न होकर प्रत्यक्षादि वेद्य भी हैं, अतः पक्ष में उपाधि साधन की अव्यापक है] । इसी प्रकार द्वितीय और तृतीय अनुमानों में 'परोक्षत्व' धर्म उपाधि है [परोक्ष प्रतीति में साध्य और उपाधि—दोनों रहते हैं, अतः उपाधि में साध्य-व्यापकत्व और पक्षरूप शुक्ति-रजत-प्रत्यक्ष में परोक्षत्व न रहने के कारण साधन का अव्यापकत्व है] । दूसरी बात यह भी है कि माध्वगण अपने को अन्यथाख्याति-वादी मानते हैं, किन्तु शुक्ति-रजत को असत् मानने पर असत्ख्यातिवादी बौद्धों का सिद्धान्त मानना पड़ेगा । यद्यपि माध्वमत में रजतादि असत् का सत्त्वेन भान माना जाता है, बौद्ध-मत में नहीं, तथापि ख्याति या भ्रम ज्ञान की विषय वस्तु को दोनों असत् मानते हैं, अतः असत्ख्याति वाद से माध्वगण अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते । यदि कहा जाय कि तार्किकगण भी भ्रम-स्थल पर शुक्ति और रजतादि के असत् संसर्ग का भान मान कर भी जैसे असत्ख्यातिवाद से बच जाते हैं, वैसे ही माध्वगण भी । तो वैसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि यदि तार्किक भी वही भूल करते हैं, तब वे भी असत्ख्याति से नहीं बच सकते । वस्तुतः तार्किक भ्रान्ति में सत्ससंग का ही भान मानते हैं, क्योंकि रजत-भ्रम-स्थल पर शुक्ति, रजत और उनका तादात्म्य—ये तीन पदार्थ ही प्रतीत होते हैं, वे तीनों सत्य होते हैं, उनसे भिन्न और कोई वस्तु वहाँ प्रतीति-पथ में नहीं आती । 'यदि शुक्ति-रजत-स्थल पर प्रतीयमान शुक्ति, रजत और उनका संसर्ग—ये तीनों ही सत्य हैं, अबाधित है, तब शुक्ति-रजत-ज्ञान को भ्रम नहीं कहा जा सकता—ऐसा आक्षेप नहीं कर

न्यायामृतम्

शिष्टयविषयकत्वरूपत्वेनासत इदंरूप्यत्व-वैशिष्ट्यस्य प्रतीतेर्दुर्वारत्वात् । न च तद्विशेषणज्ञानजन्यत्वं तत्प्रकारकत्वं तस्यापि तद्वैशिष्ट्यविषयकत्वव्याप्तत्वात्, तद्वैशिष्ट्यस्याभानेऽनुव्यवसायविरोधस्योक्तत्वाच्च । ईश्वरज्ञानस्य निष्प्रकारकत्वेन निर्विकल्पकत्वापाताच्चेति ।

स्वाभिमतान्यथाख्यातिसमर्थनम् ॥

अद्वैतसिद्धिः

व्यधिकरणप्रकारकत्वमेव न स्यादिति वाच्यम्, तत्किमायुष्मतासत्संसर्गः शुक्तिनिष्ठः, येन तद्विषयत्वं व्यधिकरणप्रकारकत्वाय अङ्गीकुरुषे ? तस्माद् भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वं न प्रकारत्वम्, किंतु ज्ञानविषययोः स्वरूपसंबन्धविशेषः । स च स्वरूपसंबन्धः सन् वा संसर्गो भासतामसन्वा, उभयथापि समान एव । न च शशशृङ्गमसदित्यादिवाक्यैरसत्यपि परोक्षप्रतीतेस्त्वयाङ्गीकारेण तवाप्यसत्ख्यात्यापत्तिः, तत्र हि न प्रतीतिः, किंतु विकल्पमात्रमित्युक्तत्वात् । तस्मान्नासत्ख्यातिः ॥ इत्यसत्ख्यातिभङ्गः ।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सकते, क्योंकि शुक्ति में 'रजतत्व' धर्म के न रहने के कारण वह ज्ञान तदभाववति तत्प्रकारक या व्यधिकरणप्रकारकरूप भ्रमात्मक ही होता है, [जैसा चिन्तामणिकार ने कहा है—"न चोभयतादात्म्यमसतः, उभयं तादात्म्यं चेत्यतोऽधिकस्याभावात्, तयोश्च सत्त्वात्, असत्त्वे वाऽसत्ख्यातिः । उच्यते —सन्मात्रविषयत्वेऽपि तदभावति तत्प्रकारकत्वं प्रकारव्यधिकरणताकत्वं वा अयथार्थत्वम्" (त. चि. पृ० ५६२-६३) ।

शङ्का—शुक्ति में रजतप्रतियोगिक तादात्म्य न रहने या असत् होने के कारण ही उक्त ज्ञान में व्यधिकरणप्रकारकता आती है, अतः भ्रमत्व का निर्वाहक असत्संसर्ग ही है ।

समाधान—यदि असत् संसर्ग ही तार्किक मत में होता है, तब क्या आप भी शुक्तिरजत ज्ञान में व्यधिकरणप्रकारकत्व का निर्वाह करने के लिए असत्संसर्ग मानते हैं? यदि मानते हैं, तब असत्ख्याति की आपत्ति होती है और यदि नहीं मानते, तब वहाँ व्यधिकरणप्रकारकता का निर्वाह नहीं हो सकता । यदि यहाँ यह शङ्का हो कि यदि संसर्ग असत् है और असत् का प्रत्यक्ष प्रतीति में भान नहीं होता, तब रजतत्व में भासमान वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) का प्रतियोगित्वरूप प्रकारत्व नहीं बनता, उसके विना ज्ञान में व्यधिकरणप्रकारकत्व कैसे बनेगा ? तो ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि भासमान वैशिष्ट्य-प्रतियोगित्व को यहाँ प्रकारत्व नहीं माना जाता, अपि तु विशेष्यता, प्रकारतादि को ज्ञान और विषय का स्वरूप सम्बन्ध-विशेष माना जाता है, वह स्वरूप सम्बन्ध चाहे सत् हो या असत्, उभयथा व्यधिकरणप्रकारकता का निर्वाहक हो जाता है [चिन्तामणिकार कहते हैं—प्राञ्चस्तु तादात्म्यसंसर्गयोरसतोरेव मन्यन्ते विषयत्वम् । न चैवमसत्ख्यातिः, सदुपरक्तस्यात्यन्तासतः ख्यात्यभ्युपगमात् । सदनुपरक्तस्याखण्डस्यात्यन्तासतः ख्यातिरसत्ख्यातिर्नाभ्युपगम्यते, कारणाभावात्' (त० चि० पृ० ५६३)] ।

शङ्का—'शशशृङ्गमसत्'—इत्यादि वाक्यों के द्वारा असद्विषयिणी परोक्ष प्रतीति आप भी मानते हैं, अतः आप के मत में भी असत्ख्याति की आपत्ति होती है ।

समाधान—'शशशृङ्गमसत्'—इत्यादि वाक्यों के द्वारा असत् की प्रतीति हम नहीं मानते, अपितु शब्दज्ञानानुपाती वस्तु-शून्य विकल्पात्मक वृत्ति की ही उत्पत्ति मानी जाती है, वह ज्ञानात्मक नहीं होती यह कहा जा चुका है ।

अद्वैतसिद्धिः

(ख) अन्यथाख्यातिभङ्गः—

नाप्यन्यत्र स्थितस्य रूप्यस्य भानादन्यथाख्यातिः, अत्यन्तासत इवान्यत्र सतोऽप्यपरोक्षप्रतीतिप्रयोजकसन्निकर्षानुपपत्तेस्तुल्यत्वात् । न च संस्कारस्मृतिदोषाणां प्रत्यासत्तित्वम्, रजतप्रत्यक्षमात्रे रजतसंयोगत्वेन कारणत्वावधारणात्, सन्निकर्षान्तरसत्त्वेऽपि तदभावे रजतप्रत्यक्षोत्पत्तेर्वक्तुमशक्यत्वात् । न च लौकिकप्रमारूपप्रत्यक्ष एव तस्य कारणत्वम्, अस्य विभागस्य स्वशिष्यानेव प्रत्युचितत्वात्, गौरवकरत्वात्, निर्विकल्पकसाधारण्याभावाच्च । रजतेन्द्रियसन्निकर्षजस्य रजते रजतत्वप्रकारकज्ञानस्य

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

(ख) अन्यथाख्याति-निरास—

अन्यत्र अवस्थित (आपणस्थ) रजत की शुक्ति में प्रतीतिरूप अन्यथाख्याति भी उचित नहीं, क्योंकि अत्यन्त असत् रजत के समान शुक्ति में अविद्यमान आपणादि असन्निहित देशों में स्थित रजत की शुक्ति में प्रत्यक्ष प्रतीति का प्रयोजक इन्द्रिय-सन्निकर्षादि सम्भव नहीं ।

शङ्का—दूर देशस्थ रजत के साथ भी इन्द्रिय का संस्कार या स्मृति अथवा दोषात्मक सन्निकर्ष सम्भव है । [तत्त्वचिन्तामणिकार कहते हैं—''ननु यो यत्साक्षात्कारः स तदिन्द्रियसन्निकर्षजन्यः, न च स इहास्तीति चेत्—न, प्रत्यभिज्ञाया इन्द्रियजन्यतया साक्षात्कारित्वेन तत्तायां नाम्नि च व्यभिचारात्, संस्कारस्य स्मृतेर्वा सन्निकर्षत्वाच्च । वस्तुतस्तु दोषाद् भ्रम इत्युभयसिद्धम्'' (त० चि० पृ० ५४३, ४९) अर्थात् सर्व-प्रथम तो इन्द्रिय-सन्निकर्ष के विना वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान में भान नहीं होता—यह नियम ही त्रुटि-पूर्ण है, क्योंकि 'सोऽयं देवदत्तः'—इत्यादि प्रत्यभिज्ञात्मक चाक्षुष प्रत्यक्ष में चक्षु-सन्निकर्ष के विना ही तद्देश-काल एवं 'देवदत्त' नाम का भान सर्व-विदित है । यदि सन्निकर्ष आवश्यक ही है, तो रजत के साथ चक्षु का संस्काररूप (स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मवृत्तिसंस्कारविषयत्व) सन्निकर्ष माना जा सकता है । संस्कार-जन्यत्वेन स्मृतित्वापत्ति का यदि भय हो, तो स्मृति (स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मवृत्तिस्मृतिविषयत्व) को सन्निकर्ष के पद पर अभिषिक्त कर सकते हैं—ऐसा प्राचीन नैयायिको का कहना है और नवीन नैयायिक कहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रतीति की असन्निकृष्ट वस्तु में जो विषयता होती है, उसका प्रयोजक चाकचिक्यादि दोष है] ।

समाधान—रजत के प्रत्यक्षमात्र में रजतेन्द्रिय-संयोग की कारणता निश्चित है, अतः रजत के साथ संस्कारादि सम्बन्धों के रहने पर भी तब तक रजत का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, जब तक रजत के साथ चक्षु का संयोग न हो । नैयायिकों का जो यह कहना है कि रजत के लौकिक प्रमात्मक प्रत्यक्ष में ही रजत-संयोग कारण होता है, प्रत्यक्ष ज्ञान मात्र में नहीं । नैयायिकों का वह उपदेश उनके शिष्यों तक ही सीमित है, अर्थात् उनकी लौकिकालौकिक प्रत्यक्ष की परिभाषा अन्य दार्शनिक नहीं मानते । लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष का भिन्न-भिन्न कार्य-कारणभाव मानने में गौरव भी है । इतना ही नहीं, प्रमात्मक प्रत्यक्ष की सामग्री से भ्रम-प्रमा-भिन्न (निर्विकल्पक) प्रत्यक्ष की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती । इदं रजतम्—यह ज्ञान यदि रजत और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जन्य है. तब रजतविशेष्यक रजतत्वप्रकारक होने के कारण प्रमात्मक ही होगा, भ्रमरूप नहीं हो सकता । रजत-सन्निकर्ष और रजत-विषयक प्रत्यक्ष का अन्वय-

अद्वैतसिद्धिः

भ्रमत्वानुपपत्तेः । 'इमे रङ्गरजते' इति भ्रमे विद्यमानोऽपि रजतसन्निकर्षो जनको न भवति, अनुमिताविव क्वचिद्विद्यमानोऽपि विषयः । अथानुमितेर्विषयजन्यत्वे प्रत्यक्षत्वापत्तिः, अतीते अनागते च विषये अनुमितिर्न स्यादिति बाधकम्, रजतप्रत्यक्षस्य रजतसन्निकर्षजन्यत्वे प्रमात्वापत्तिः, असन्निकर्षे च तत्प्रत्यक्षं न स्यादिति बाधकं प्रकृतेऽपि तुल्यम् । यदि तु दोषमहिम्ना रजतसन्निकर्षस्य रङ्गज्ञानांशे जनकत्वम्, रङ्गसन्निकर्षस्य च रजतज्ञानांशे, तदा रजतज्ञानांशे तत्सन्निकर्षाजन्यत्वात् प्रमात्वाभाववत् प्रत्यक्षत्वाभावोऽपि स्यात् । तस्मात् 'इमे'—इत्येवेन्द्रियजन्यम्, 'रङ्गरजते'—इति तु स्मृतिरूपमविद्यावृत्त्यात्मकमनिर्वचनीयत्वादित्यन्यत्र विस्तरः ॥

इत्यन्यथाख्यातिभङ्गः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

व्यभिचार तथा व्यतिरेकव्यभिचार होने के कारण कार्यकारणभाव भी नहीं कहा जा सकता—जहाँ रजत में रङ्ग और रङ्ग में रजत का भ्रम होता है, वहाँ रजत के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने पर भी रजत-प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु रंग-प्रत्यक्ष होता है एवं रंग-स्थल पर रजत-सन्निकर्ष के न होने पर भी रजत-प्रत्यक्ष हो जाता है । इन्द्रिय-सन्निकृष्ट न होकर किसी विप्रकृष्ट आपणादि देश में स्थित रजत भी वसे ही प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय हो जाता है, जैसे अनुमित्यादि परोक्ष ज्ञानों का । अनुमिति ज्ञान विषय-जन्य नहीं होता, अन्यथा अनुमिति परोक्ष ज्ञान न होकर प्रत्यक्ष ज्ञान बन जायगी, एवं अतीत और अनागत विषय की अनुमिति न हो सकेगी । रजत-प्रत्यक्ष के रजत-सन्निकर्ष-जन्य मानने पर उसमें प्रमात्वापत्ति या भ्रमत्वानापत्ति होती है । रजत-ज्ञान की सन्निकर्ष के विना उत्पत्ति मानने पर प्रत्यक्षता नहीं बनती—इस प्रकार के बाधक तो प्रकृत (दोष जन्यत्वादि-पक्ष) में भी समान हैं । यदि दोष के प्रभाव से रजत-सन्निकर्ष को रङ्ग-ज्ञान (तादात्म्येन रङ्गप्रकारक ज्ञान) का एवं रङ्ग-सन्निकर्ष को तादात्म्येन रजतप्रकारक ज्ञान का कारण माना जाता है, तब तादात्म्येन रजतप्रकारक ज्ञान रजत-सन्निकर्ष से जनित होने के कारण जैसे प्रमा नहीं, वसे प्रत्यक्ष भी नहीं बन सकेगा । अतः 'इमे रङ्गरजते'—यह ज्ञान 'इमे'—इस अंश में ही इन्द्रिय-जन्य होता है और 'रङ्गरजते'—इस अंश में स्मृतिरूप अविद्या-वृत्तिस्वरूप होता है, क्योंकि अनिर्वचनीय है—इसका विस्तार अन्य प्रकरण में द्रष्टव्य हैं ।

। ७३ ।

आविद्यकरजतोत्पत्तिविचारः

न्यायामृतम्

यच्चेदमुच्यते अध्यस्तमज्ञानोपादानकं तत्त्वज्ञाननाश्यं चेति । तन्न, तथात्वे रूप्यमुत्पन्नं नष्टं चेति धीप्रसंगेन त्रैकालिकनिषेधायोगात् । न चार्थक्रियाकारित्वादि-

अद्वैतसिद्धिः

तच्चानिर्वचनीयमज्ञानोपादानकम् , तत्त्वज्ञानेन नाश्यं च । ननु एवं 'रूप्यमुत्पन्नं नष्टं चे'ति धीप्रसङ्गः, त्रैकालिकनिषेधप्रतीतिश्च न स्यादिति—चेन्न, उत्पादविनाशप्रतीतिरियं भ्रान्तिसमये आपाद्यते ? बाधसमये वा ? नाद्यः, पूर्वोत्पन्नाविनष्टशुक्त्यभिन्नतया ग्रहस्यैव तत्र प्रतिबन्धकत्वाद् , विरोधिज्ञानानुदयेन रूप्यस्याविनाशाच्च । न द्वितीय , अत्यन्ताभावग्रहस्यैव प्रतियोगिग्रह इव तदुत्पादविनाशग्रहेऽपि प्रतिबन्धकत्वात् । न हि कुत्रापि कदापि अत्यन्ताभावाधिकरणत्वेन प्रतीते उत्पादविनाशप्रतीतिरस्ति । न च—त्रयाणां सत्त्वे कथमत्यन्ताभावबुद्ध्या विनाशबुद्धिप्रतिबन्धः ? विनाशबुद्ध्यैवात्यन्ताभावबुद्धिः किमिति न प्रतिबध्यते ? नियामकाभावादिति—वाच्यम् ,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

वह अनिर्वचनीय रजत अज्ञानरूप उपादान कारण से उत्पन्न और तत्त्व-ज्ञान से नष्ट होता है ।

शङ्का—यदि उक्त रजत का उत्पाद और विनाश माना जाता है, तब शुक्ति-स्थल पर 'रजतमुत्पन्नं नष्टं च'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए और त्रैकालिक निषेध की प्रतीति नहीं होनी चाहिए ।

समाधान—क्या भ्रान्ति के समय उत्पाद और विनाश की प्रतीति का आपादन कर रहे हैं ? अथवा बाध के समय ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि भ्रान्ति के समय पूर्व काल में उत्पन्न और अविनष्टभूत शुक्ति का तादात्म्य-ग्रह रजत में उत्पाद-विनाश-प्रतीति का प्रतिबन्धक होता है, रजत-ज्ञान के विरोधी बाध ज्ञान की उत्पत्ति न होने के कारण रजत का नाश भी नहीं होता । द्वितीय (बाध-ज्ञान के समय उत्पाद-विनाश की प्रतीति का आपादन) भी सम्भव नहीं, क्योंकि प्रतियोगी के उत्पाद और विनाश की प्रतीति का प्रतिबन्धक जैसे प्रतियोगी का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही प्रतियोगी का अत्यन्ताभाव, क्योंकि कहीं भी वस्तु के अत्यन्ताभावाधिकरण में वस्तु का उत्पाद और विनाश प्रतीत नहीं होता ।

शङ्का—अद्वैत मतानुसार जब शुक्ति में रजत का उत्पाद, विनाश और अत्यन्ताभाव—तीनों माने जाते हैं, तब अत्यन्ताभाव के ज्ञान से उत्पाद-विनाश-ज्ञान का ही क्यों प्रतिबन्ध होता है, उत्पाद-विनाश की प्रतीति से अत्यन्ताभाव का प्रतिबन्ध क्यों नहीं होता ? जब तक कोई विनिगमक प्रमाण उपलब्ध न हो, तब तक एक पक्ष का निर्णय न्याय-संगत नहीं माना जाता ।

समाधान—कार्य को देखकर ही कारण की सत्ता का निश्चय किया जाता है, जहाँ प्रतियोगी के अत्यन्ताभाव का ज्ञान तथा उत्पाद-विनाश-ज्ञान की सामग्री होती है, वहाँ अत्यन्ताभाव का ज्ञान प्रथम उत्पन्न होकर उत्पाद-विनाश के ज्ञान को रोक देता है, अतः अत्यन्ताभाव-ज्ञान की सामग्री में बलवत्ता की कल्पना ही एक विनिगमक प्रमाण है, जिस के आधार पर यह निर्णय दिया जा सकता है कि अत्यन्ताभाव का ज्ञान ही उत्पाद-

न्यायामृतम्

रूपलौकिकपारमार्थिकत्वाकारेण तथा निषेधः रूप्यं नासीदस्ति भविष्यतीति स्वरूपेणैव निषेधात् , पारमार्थिकत्वस्यापि रूप्यवत् प्रतीतत्वेन तत्काले सत्त्वाच्च । नाप्ययं निषेध

अद्वैतसिद्धिः

फलबलेनात्यन्ताभावधीसामग्र्या एव बलवत्त्वेन तस्यैव विनिगमकत्वात् । न च तर्हि उत्पादाद्यधिकरणे अत्यन्ताभावः कथम् ? प्रतीतिमुपलभस्व, यथा अपरोक्षप्रतीत्याद्यन्यथानुपपत्त्या सिद्धोत्पादादिकस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं विषयीक्रियते ।

यद्वा - न स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम् , किंतु पारमार्थिकत्वाकारेण । न च—पारमार्थिकसत्त्वस्यापि प्रतिभाससमये प्रतीतत्वेन न त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं संभवति रजतप्रतियोगित्वेनानुभवविरोधश्चेति वाच्यम् , प्रतीतिकालप्रतीतं पारमार्थिकत्वमपि प्रातीतिकमेवेति न तत् निषिध्यते, किंत्वन्यत्रवृत्त्येवेति तेनाकारेण रजतस्यैव निषेध इति न तत्प्रतियोगित्वेऽनुभवविरोधोऽपि । ननु यद्यपि प्रसक्तिर्ज्ञानम् , सा च स्मृतिरूपा पारमार्थिकत्वस्यास्त्येव, तथापि निषेध्यताप्रयोजकपारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकस्य प्रसक्तिर्नास्तीति चेन्न, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिको ह्ययमभावः, तत्प्रतीतौ च न विशिष्टप्रसक्तिरुद्देश्या, प्रत्येकप्रसक्त्यैव तत्प्रतो-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विनाश के ज्ञान का प्रतिबन्धक होता है। 'जहाँ वस्तु का उत्पादादि होता है, वहाँ उसका अत्यन्ताभाव क्योंकर रहेगा ? इस प्रकार की शङ्का तो अत्यन्ताभाव की प्रमापिका अनुभूति से करनी चाहिए कि तू क्यों उत्पन्न होकर अत्यन्ताभाव को विषय करने लग गई ? अर्थात् प्रत्येक अनुभूति अपनी नियत सामग्री से उत्पन्न होकर अपने विषय को सिद्ध किया करती है, उस पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं चल सकता ।

अथवा प्रातिभासिकत्वेन रूपेण रजत का उत्पादादि होता है और पारमार्थिकत्वेन अत्यन्ताभाव, अतः कोई बिरोध नहीं होता ।

शङ्का—रजत-प्रतिभास-काल में पारमार्थिकत्व भी रजत में प्रतीत होता है, अतः पारमार्थिकत्वेन भी रजत का त्रैकालिक निषेध वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे कि प्रातिभासिकत्वेन रजत का त्रैकालिक निषेध नहीं होता ।

समाधान—प्रतिभास-काल में जो पारमार्थिकत्व प्रतीत होता है, वह भी प्रातीतिक ही होता है, उसका रजत में या उस रूप से रजत का त्रैकालिक निषेध नहीं किया जाता, अपितु रजतादि से अन्यत्र घटादि में वृत्ति पारमार्थिकत्व (लौकिक पारमार्थिकत्व या व्यावहारिकत्व) रूप से ही रजत का ही निषेध होता है, अतः रजत में अनुभूयमान अभावीय प्रतियोगित्व भी अनुपपन्न नहीं होता ।

शङ्का—प्रसक्त का ही निषेध होता है, प्रसक्ति का अर्थ ज्ञान होता है अर्थात् ज्ञात या स्मर्यमाण पदार्थ का ही निषेध होता है, इस नियम के अनुसार रजत में स्मर्यमाण पारमार्थिकत्व का निषेध तो किया जा सकता है, किन्तु पारमार्थिकत्वेन रजत का निषेध नहीं, क्योंकि निषेध्यतावच्छेदक पारमार्थिकत्वेन रजत की प्रसक्ति (उपस्थिति) नहीं ।

समाधान—पारमार्थिकत्वेन रजत का निषेध व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव कहलाता है। उसकी प्रतीति में निषेध्यतावच्छेदकीभूत पारमार्थिकत्व धर्म से विशिष्ट रजत की उपस्थिति अपेक्षित नहीं होती, अपितु पारमार्थिकत्व और रजत की विशिलष्ट प्रत्येक प्रतीति से ही अत्यन्ताभाव की प्रतीति उपपन्न हो जाती

न्यायामृतम्

आपणस्थरूप्यस्य, "नेह नानास्ती"ति निषेधाय तात्त्विकप्रपंचान्तरापातात्, तस्याप्रसक्तेश्च। अन्यथाऽन्यथाख्यात्यापत्तेः। आभासस्य प्रसक्तिरेव पारमार्थिकस्य निषेधे तंत्रमिति चेन्न, यत्प्रनीतं तन्नास्तीत्यनुभवविरोधात्, प्रतिपन्नोपाधावनिषिद्धस्याभासस्य मिथ्यात्वासिद्धेश्च। निवृत्तिनाश इव त्रैकालिकनिषेधज्ञानेऽपि प्रसक्तस्याभासस्य निषेधासम्भवे निषेधं प्रत्यवच्छेदकमधीस्थं पारमार्थिकमनवच्छेदकस्याभासस्य

अद्वैतसिद्धिः

त्युपपत्तेः। निर्विकल्पकादभावप्रतीतिरिष्टापत्त्यैव परिहरणीया।

यद्वा—लौकिकपरमार्थरजतस्यैव तत्र त्रैकालिकनिषेधः। न च तर्हि 'नेह नाने'ति निषेधायापि तात्त्विकप्रपञ्चान्तरोररीकारापत्तिः, नेह नानेति निषेधस्थले किंचनेति पदसन्दंशात् प्रतीयमानसर्वनिषेधस्यावश्यकतया निषेध्यत्वेन प्रपञ्चान्तरकल्पनाया गौरवकरत्वात्, प्रकृते तु सर्वत्वेन प्रतियाग्यनुल्लखाद् आपणस्थरूप्यनिषेधस्य इदम्यावश्यकत्वेनाप्रतीतनिषेधकल्पनैव युक्ता। न चान्यथाख्यातिभिया तस्याप्रसक्तौ कथं तन्निषेधः? अपरोक्षत्वाभावेऽपि स्मृतिरूपतत्प्रसक्तेः संभवात्। एतेन—अधीस्थं पार-

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

है। विशिष्ट प्रतीति अत्यन्ताभाव की प्रतीति में अपेक्षित नहीं, तब निर्विकल्पात्मक ज्ञान से भी जो अभाव-प्रतीति की आपत्ति दी जाती है, उसमें इष्टापत्ति है।

अथवा शुक्ति में प्रातिभासिक रजत का निषेध न मानकर लौकिक परमार्थ (व्यावहारिक) रजत का ही निषेध माना जाता है।

शङ्का—यदि अध्यास-स्थल पर अध्यस्त पदार्थ की सत्ता से अधिकसत्ताक वस्तु का निषेध होता है, तब शुक्ति में व्यावहारिक रजत के समान ब्रह्म में तात्त्विक प्रपञ्च का निषेध मानना होगा, अतः इस व्यावहारिक प्रपञ्च से भिन्न तात्त्विक प्रपञ्च भी कहीं मानना पड़ेगा, जिसका ब्रह्म में 'नेह नानास्ति'—निषेध किया जा सके।

समाधान—"नेह नानास्ति किञ्चन"—इस स्थल पर 'किञ्चन' पद के सान्दंश से प्रतीयमान सभी पदार्थों का निषेध आवश्यक है, निषेध्यत्व रूप से प्रपञ्चान्तर की कल्पना में गौरव होगा, प्रकृत 'इदं रजतं न'—इस स्थल पर सर्वत्वेन प्रतियोगी का उल्लेख नहीं होता, अतः इदमर्थ में आपणस्थ व्यावहारिक रजत का निषेध आवश्यक होता है। अतः शुक्ति में अप्रसक्त या अप्रतीत व्यावहारिक रजत का ही निषेध युक्तियुक्त माना जाता है। निषेध के अधिकरणीभूत शुक्त्यादि में अपरोक्षतया अप्रतीयमान रजत भी सर्वथा अप्रसक्त नहीं, अपितु स्मृति के द्वारा प्रसक्त होता है।

शङ्का - [आप (अद्वैती) यदि कहते हैं—'आभासस्य प्रसक्तिरेव पारमार्थिकस्य निषेधे तन्त्रम्", अर्थात् पारमार्थिक (व्यावहारिक) रजत के निषेध में रजताभास की उपस्थिति ही अपेक्षित होती है, पारमार्थिक रजत की उपस्थिति नहीं।' तब प्रसक्ति और निषेध का वैयधिकरण्य हो जाता है, क्योंकि प्रसक्त या बुद्धिस्थ है—रजताभास और निषेध्य है—अबुद्धिस्थ पारमार्थिक रजत]। सामान्य नियम यह है कि निषेध्यतावच्छेदक ही उपस्थिति-विषयता का अवच्छेदक होता है, किन्तु आप (अद्वैती) के मत में निषेध्यतावच्छेदक होता है—पारमार्थिक रजतत्व, वह धीस्थता (उपस्थिति-विषयता) का अवच्छेदक नहीं और जो रजताभासत्व बुद्धिस्थतावच्छेदक है, वह निषेध्यावच्छेदक नहीं।

समाधान—निषेध्यभूत लौकिकपारमार्थिक रजत की ही स्मृति के द्वारा उपस्थिति

न्यायामृतम्

धीस्तु निषेधधीहेतुरिति वैयधिकरण्यकल्पनायोगाच्च, अनारोपपूर्वकनिषेधस्यानुपपत्तेश्च। न च तत्रापि बुद्धिपूर्वकारोपकल्पना, यस्यारोपस्तस्यैव निषेध इति मते निषेधस्य प्रसक्त्यर्थं बुद्धिपूर्वकारोपकल्पनेऽपि त्वन्मते तदयोगाद्, घटे स्मृते तदारोपं विनैवेह घटो नास्तीतिज्ञानस्यानुभवात् । न चाभासप्रसक्त्याऽनाभासस्यापि प्रसक्तिः, आभास इत्यप्रसक्तेः । न च रजतत्वाकारेणानाभासस्यापि प्रसक्तिः, आभासानाभासानुगतसामान्याभावात् फलबलेन व्याप्तिज्ञाने सामान्यस्य प्रत्यासत्तित्वेऽपि अतिप्रसंगेनान्यत्र तदभावाच्च ।

अद्वैतसिद्धिः

मार्थिकत्वमवच्छेदकम्, अनवच्छेदकस्याभासस्य धीस्तु निषेधधीहेतुरिति—परास्तम् । न च—आरोपपूर्विकैव निषेधधीः, तस्यानारोपात् कथं तदभावप्रत्यय इति—वाच्यम्, आरोपस्य हेतुतायां मानाभावेन प्रतियोगिस्मरणाधिकरणानुभवादिनैव तदुपपत्तेः । अत एव न बुद्धिपूर्वकतदारोपोऽपि । अन्यथाख्यातेः सामग्र्यभावेनासत्ख्यातिवत् प्रागेव निरासादारोपस्य विशेषादर्शनजन्यत्वेन बुद्धिपूर्वकत्वानुपपत्तेश्च ।

किंचाभासप्रसक्तिरेव तत्प्रसक्तिः । ननु आभास इत्यप्रसक्ते रजतत्वाकारेणाभासानाभासयोः प्रसक्तिर्वाच्या, सा चानुपपन्ना, उभयोरेकसामान्याभावात्, फलबलेन व्याप्तिग्रहे सामान्यस्य प्रत्यासत्तित्वेऽपि अन्यत्रातिप्रसङ्गेन तदभावाच्चेति—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होती है, अतः एक व्यावहारिकत्व धर्म ही निषेध्यता और बुद्धिस्थता—दोनों का आवच्छेदक माना जाता है, किसी प्रकार का वैरूप्य प्रसक्त नहीं होता । 'व्यावहारिक रजत निषेध्य नहीं हो सकता, क्योंकि आरोपपूर्वक ही निषेध होता है, किन्तु व्यावहारिक रजत का आरोप नहीं होता, आरोप होता है—प्रातिभासिक का'—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते. क्योंकि निषेध के पूर्व प्रतियोगी का आरोप होना ही चाहिये—ऐसे नियम में कोई प्रमाण नहीं । केवल प्रतियोगी का स्मरण और अनुयोगी का अनुभव हो जाने मात्र से निषेध उपपन्न हो जाता है । अत एव बुद्धिपूर्वक रजतादि का आरोप भी नहीं कहा जा सकता । आपणस्थ रजतादि की अन्यथाख्याति भी असत्ख्याति के समान अनुपपन्न है, क्योंकि जैसे अत्यन्त असत् के प्रत्यक्ष की सामग्री सम्भव नहीं, वैसे ही दूरदेशस्थ रजतादि के प्रत्यक्ष की—यह पहले ही कह चुके हैं । दूसरी बात यह भी है कि संशयादि के समान ही आरोप भी विशेषादर्शन से जनित होता है, अतः आरोप में विशेषदर्शनपूर्वकत्व कैसे रहेगा ?

वस्तुतः रजताभास की प्रसक्ति ही व्यावहारिक रजत की प्रसक्ति मानी जाती है ।

शङ्का—रजताभास-प्रसक्ति का तात्पर्य आभासानाभास (प्रातिभासिक और व्यावहारिक) उभय रजत-वृत्ति रजतत्वाकारेण रजत की प्रसक्ति में ही हो सकता है, वह सम्भव नहीं, क्योंकि दोनों रजतों में प्रातिभासिकत्व और व्यावहारिकत्व—दो पृथक् धर्म माने जाते हैं, दोनों में एक जाति सम्भव नहीं, क्योंकि कार्य को देख कर ही नियम की कल्पना की जाती है, यदि उभय-वृत्ति एक सामान्य (जाति) धर्म और सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष के द्वारा रजतमात्र का भान माना जाता है, तब सर्वज्ञत्वापत्ति होती है, अतः प्रातिभासिक रजतगत धर्म को अन्यत्र, (व्यावहारिक) रजत में नहीं मान सकते ।

न्यायामृतम्

किं चाध्यस्तं न सोपादानकं सकर्तृकत्वस्याप्यापाताद् , अविद्यालक्षणभंगे ऽध्यस्तस्याज्ञानोपादनकतया निरासाच्च। इदं रूप्यमिति रूप्यानुविद्धस्येदमंशस्यैव दोषादिवशात् सत्यविकाराविरोधेन रूप्यात्मना मिथ्याविकाररूपविवर्तसम्भवे तदननुविद्ध-

अद्वैतसिद्धिः

चेन्न, शुक्तिरूप्यस्यापणरूप्येण प्रातीतिकस्य सामान्यस्याभावे तदर्थिप्रवृत्त्यनुपपत्तेः तदुभयसामान्यस्यैकस्यावश्यकत्वात्। तेन सामान्येन प्रत्यासत्त्या आपणरूप्ये ज्ञानं न ब्रूमः, किंतु प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकं ज्ञानं प्रतियोग्यविषयकमपि अभावप्रतीत्युपयुक्तं संवृत्तमिति। अतो न सामान्यप्रत्यासत्तिनिबन्धनातिप्रसङ्गावकाशः। यत्तु व्याप्तिग्रहे सामान्यप्रत्यासत्तिमङ्गीकृत्यातिप्रसङ्गेनान्यत्र तदनङ्गीकरणं, तदाशीविषमुखे अंगुलिं निवेश्य वृश्चिकाद्भयनाटनम्। प्रमेयत्वेन व्याप्तिं परिच्छिन्दन् सर्वज्ञः स्यादिति व्याप्तिग्रह एवातिप्रसङ्गस्य प्राचीनैरुक्तत्वात्। इदं च यथाश्रुतप्राचीनग्रन्थानुसारेणोक्तम्। अन्योन्याभावमादाय तु लौकिकपरमार्थरजतस्य निषेध्यत्वं प्रागुक्तं व्याख्यातं न विस्मर्तव्यम्।

न च सोपादानत्वे सकर्तृकत्वापत्तिः, इष्टापत्तेः। ननु—एवमपि रूप्यस्य कथमज्ञानमुपादानम् ? तदनुविद्धतया अप्रतीतेः, इदमंशानुविद्धतया प्रतीतेरङ्गुलिनिर्देशाच्चेलाञ्चलबन्धनादितश्चेदमंश एव सत्यविकाराविरोधेन मिथ्याविकारात्मना विवर्तत

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—प्रातिभासिक रजत में भी व्यावहारिक रजतवृत्ति प्रातीतिक रजतत्व जाति मानना आवश्यक है, अन्यथा रजतार्थी पुरुष की प्रवृत्ति शुक्ति-रजत में न बन सकेगी। उस उभयानुगत सामान्य धर्मरूप प्रत्यासत्ति के द्वारा आपणस्थ रजत का ज्ञान होता है—ऐसा हमारा कहना नहीं, किन्तु प्रतियोग्यविषयक भी प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक ज्ञान निषेधज्ञान में उपयोगी बन जाता है, अतः सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति को लेकर जो सर्वज्ञत्वापत्तिरूप अतिप्रसङ्ग दोष दिया जाता है, वह हम पर लागू नहीं होता। यह जो कहा था कि व्याप्ति-ज्ञान में सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति मानने पर सर्वज्ञत्वापत्ति होती है, अतः प्रातिभासिक रजतवृत्ति जाति को अन्यत्र (व्यावहारिक रजत में) नहीं मान सकते। वह कहना वैसा ही एक नाटक रचना है, जैसे कोई भयङ्कर विषधर के मुख में अपनी उँगली डाल बिच्छू के भय से भाग पड़े, क्योंकि "प्रमेयत्वेन व्याप्तिं परिच्छिन्दन् सर्वज्ञः स्यात्"—ऐसा चित्सुखाचार्यादि प्राचीन आचार्यों ने व्याप्तिग्रह में ही अतिप्रसङ्ग दिया है। यहाँ भी यथाश्रुत प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार ही कहा गया है। अन्योऽन्याभाव को लेकर लौकिकपरमार्थ (व्यावहारिक) रजत मे निषेध्यत्व जो पहले कहा गया है, उसे विस्मरण नहीं करना चाहिये।

अनिर्वचनीय रजत को सोपादान मानने पर उसमें सकर्तृकत्व की जो आपत्ति दी जाती है, वह हमें इष्ट ही है, क्योंकि अध्यास में अधिष्ठान-ज्ञान अपेक्षित होता है, उसी ज्ञान के कर्त्ता को अनिर्वचनीय रजत का कर्त्ता माना जा सकता है।

शङ्का—अज्ञान को शुक्ति-रजत का उपादान कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'मृद्घटः' के समान उपादेय सदैव उपादानरूपता से अनुविद्ध होकर प्रतीत होता, किन्तु शुक्ति-रजत में अज्ञान का अनुवेध प्रतीत नहीं होता 'इदं रजतम्'—इस प्रकार इदमंश से अनुविद्ध रजत की प्रतीति होती है, अंगुली का इशारा भी इदं की

न्यायामृतम्

स्याज्ञानस्योपादानत्वायोगाच्च । परोक्षधीरप्यज्ञानविरोधिनीत्युक्तत्वेन श्वेतत्वेनानुमिते शंखे श्वेत्याज्ञानाभावेन पीतत्वभ्रमायोगाच्च, त्वन्मते बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यस्य प्रत्यक्ष-

अद्वैतसिद्धिः

इत्यङ्गीक्रियतामिति—चेन्न, शुक्त्यज्ञानस्य तावदन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वमावश्यकमिति उपादानमपि तदेवास्तु । तत्कल्पनाया एवाभ्यर्हितत्वाद्, उपादानान्तरासिद्धेः । किंच शुक्तिज्ञानमज्ञानं नाशयद्रूप्यमपि नाशयति । तच्च तदुपादानत्वं विना न घटते, निमित्तनाशस्य कार्यनाशं प्रत्यप्रयोजकत्वाद्, उपादेये उपादानानुवेधनियमाभावात्, 'रूपं घटः' 'कपाल घट' इत्यप्रतीतेः, कथंचिदनुवेधस्य जडत्वादिनात्रापि संभवात् । अज्ञानावच्छेदकतया इदमंशे इदमंशानुविद्धतया प्रतीतिरेव तदनुविद्धतया प्रतीतिः । कार्यकारणयोरभेदादंगुलिनिर्देशादिकमप्युपपद्यते । न च—परोक्षज्ञानस्याप्यज्ञाननाशकतया श्वैत्यानुमित्या अज्ञाने नाशिते पीतभ्रमानुदयः स्यात्, उपादानाभावादिति—वाच्यम्, विषयगताज्ञानस्य परोक्षवृत्त्याऽनाशात् । न च—अपरोक्षवृत्तेरज्ञाननाशक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ओर ही होता है और इदमंश को ही उठाने के लिए रजत-लोलुप व्यक्ति धोती-कपड़े समेट कमर कस कर दौड़ पड़ता है, अतः इदमंश ही अपने सत्यभूत विकारात्मक स्वरूप के अविरुद्ध मिथ्या विकारभूत रजत के रूप में विवर्तित हो जाता है—ऐसा ही मानना उचित है ।

समाधान—अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर अज्ञान को रजत का कारण मानना आवश्यक होता है, अर्थात् शुक्ति का अज्ञान होने पर रजत की प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं, अतः अज्ञान को रजत का उपादान मानना अनुचित नहीं । जब कि और कोई पदार्थ रजत का उपादान नहीं हो सकता, तब उक्त अज्ञान को ही रजत का उपादान मान लेना उचित है । दूसरी बात यह भी है कि शुक्ति का ज्ञान शुक्ति के अज्ञान को नष्ट करता हुआ रजत को भी नष्ट कर दिया करता है—वह प्रक्रिया अज्ञान को रजत का उपादान माने विना घट नहीं सकती क्योंकि निमित्त कारणादि का नाश कार्य के नाश का प्रयोजक नहीं होता, उपादान का ज्ञान ही उपादेय का नाशक होता है, अतः शुक्ति का अज्ञान ही रजत का उपादान कारण होता है । यह जो कहा है कि उपादेयभूत रजत में अज्ञान का अनुवेध न होने के कारण अज्ञान रजतादि का उपादान नहीं बन सकता, वह कहना संगत नहीं, क्योंकि उपादेय में उपादान का अनुवेध होता ही है ऐसा कोई नियम नहीं, जैसे कि 'रूप' उपादेय है और 'घट' उपादान, कपाल उपादान है और घट उपादेय, किन्तु 'रूपं घटः', 'कपालं घटः'—इस प्रकार उपादेय में उपादान का अनुवेध अनुभव-सिद्ध नहीं । यदि कहा जाय कि 'जडं रूपम्', 'जडो घटः'—इस प्रकार जडतादि के रूप में उपादान का अनुवेध वहाँ होता है । तो प्रकृत मे भी 'जड़ रजतम्'—इस प्रकार जड़त्वेन अज्ञान का अनुवेध माना जा सकता है । इदमंश (इदमंशावच्छिन्न चैतन्य के) अज्ञान का अवच्छेदक है, अतः इदमंशानुविद्ध 'इदं रजतम्'—यह प्रतीति ही अज्ञानानुविद्ध प्रतीति है, अर्थात् 'इदम्' का अर्थ है—'इदमंशावच्छिन्नचैतन्याज्ञानम् ।' उपादान और उपादेय का अभेद होता है, अतः रजतार्थी की उंगली-निर्देशपूर्वक प्रवृत्ति उसकी ओर हो जाती है ।

शङ्का—उपादानविषयक अपरोक्ष ज्ञान को उपादानभूत अज्ञान का नाशक

न्यायामृतम्

तया ऐक्याज्ञानाभावेनोपाधिवशादपि तत्र भेदभ्रमायोगाच्च। घटत्वेन साक्षात्कृते घटे घटत्वाज्ञानाभावेन पटोऽयमितिवाक्याभासाद् भ्रमानुत्पत्तिप्रसंगाच्च। अयं घट इत्यग्निना सिंचेदितिवदन्वयविरोधिनो धर्मस्यानुपादानेनान्वयधीयुक्तैव, साक्षिवेद्येऽज्ञानसुखादावज्ञानाभावेन तत्र ज्ञानाभाववत्वदुःखाभाववत्वादिभ्रमायोगाच्च। परोक्ष-

अद्वैतसिद्धिः

तायामपि 'घटोऽय'मिति साक्षात्कृते पटोऽयमिति वाक्याभासाद् भ्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गः! न ह्यत्र वह्निना सिञ्चतीत्यत्रेवान्वयविरोध्युपस्थितिरस्ति, येनेष्टापत्तिरवकाशमासादयेदिति—वाच्यम्, यदा हि घटत्वं पटत्वविरुद्धतयाऽवगतं, तदा हि तद्दर्शनं विरोधिदर्शनमेवेति कथं नेष्टापत्त्यवकाशः? यदा घटत्वस्य पटत्वविरुद्धतया न ज्ञानम्, तदा घटत्व ज्ञानेन तदज्ञाननाशेऽपि पटत्वविरुद्धतया अज्ञातविशेषाज्ञानस्य सत्त्वात्तदुपादानक एव भ्रम इति न काप्यनुपपत्तिः।

न च—साक्षिवेद्य ज्ञानसुखादौ ज्ञानाभावत्वदुःखाभावत्वारोपौ न स्याताम्, अज्ञानरूपोपादानाभावादिति—वाच्यम्, दुःखाभावभिन्नत्वेन ज्ञानाभावभिन्नत्वेन दुःखत्वविरुद्धधर्मवत्तयाऽज्ञानत्वविरुद्धधर्मवत्तया वा अधिष्ठानज्ञानं भ्रमनिवर्त्तकम्। तच्च विरोधभेदादि न साक्षिगम्यम्, किंत्वनुपलब्धिगम्यम्। तथा च तदज्ञानमेव भ्रमोपादानम्। न च —परोक्षाध्यासो न परोक्षज्ञानेन निवर्तेत, तस्याज्ञानानिवर्तक-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

मानने पर 'घटोऽयम्'—ऐसा साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् पटोऽयम्'—इस वाक्याभास के द्वारा पटभ्रम नहीं होना चाहिए, यहाँ इष्टापत्ति नहीं कर सकते, क्योंकि 'वह्निना सिञ्चति' के समान यहाँ पर अन्वय-विरोधी अयोग्यता-ज्ञान नहीं कि भ्रम न हो।

समाधान—जब पटत्व-विरुद्धतया घटत्व अवगत होता है, तब 'घटोऽयम्:'—ऐसा दर्शन पट-भ्रम का विरोधी क्यों नहीं? अतः घटोऽयम्'—इस प्रकार का साक्षात्कार हो जाने पर पट-भ्रमादि का वहाँ न होना इष्ट ही है। जब कि पटत्व-विरुद्धतया घट का ज्ञान नहीं होता, तब घटत्व के ज्ञान से घट के अज्ञान का नाश हो जाने पर भी पटत्व-विरुद्धतया अज्ञाततन्तुत्वादिविशेषक अज्ञान जो वहाँ है, वही पट-भ्रम का उपादान कारण बन जायगा, अतः उपादान के अपरोक्ष ज्ञान से अज्ञान का नाश मानने पर किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती।

शङ्का—अज्ञान ही यदि आरोपमात्र का कारण होता है, तब साक्षिवेद्य अज्ञान और सुखादि में ज्ञानाभावत्व और दुःखाभावत्व का आरोप नहीं होगा, क्योंकि वहां अज्ञान और सुख का अज्ञान नहीं।

समाधान साक्षी के द्वारा अज्ञान अज्ञानत्वेन और सुख सुखत्वेन ज्ञात होने पर भी ज्ञानाभाव-भिन्नत्वेन अथवा ज्ञानाभावत्व-विरुद्ध धर्मवत्त्वेन अज्ञान और दुःखाभाव-भिन्नत्वेन अथवा दुःखत्व-विरुद्धधर्मवत्त्वेन सुख ज्ञात नहीं होता, क्योंकि उनके घटक विरुद्धत्व और भिन्नत्वादि साक्षिवेद्य नहीं, अनुपलब्धि-गम्य होते हैं, वही अज्ञान उक्त भ्रम का कारण होता है, अज्ञानादि का अज्ञानत्वादि रूप से अज्ञान नहीं।

शङ्का—यदि अपरोक्ष ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक होता है, तब परोक्ष ज्ञान से परोक्ष अध्यास की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि परोक्ष ज्ञान अज्ञान और अज्ञान-प्रयुक्त भ्रम का निवर्तक नहीं माना जाता।

न्यायामृतम्

तत्त्वज्ञानस्याज्ञाननिवर्तकत्वे शंखे श्वैत्यानुमित्याऽप्यज्ञाननिवृत्तो भ्रमानुत्पत्त्यापाताद्, अपरोक्षतत्त्वज्ञानस्य च परोक्षे अभावेन परोक्षाध्यासस्यानिवृत्त्यापाताच्च, रूप्यं दृष्ट्वाऽधिष्ठानतत्त्वज्ञानं विना निवृत्तस्य पुंसोऽज्ञाननिवृत्त्यभावेन मिथ्यात्वेनाधिष्ठानतत्त्वज्ञानैकनिवर्त्ययोरूप्यज्ञानाकाराविद्यापरिणामयोर्निवृत्त्यभावेन रूप्यधीसामग्रीसद्भावेन रूप्यप्रतीतेर्दुर्वारत्वाच्च। न च सर्वज्ञानानां स्वगोचरशूरत्वाद्यथाभ्रान्ति तदर्थोऽङ्गीकार्य इति युक्तम्, अर्थतत्त्वव्यवस्थापकस्य बाधस्यैवानुसर्तव्यत्वेनानेवंविधस्य भ्रमस्यातथात्वाद्, अन्यथा तदर्थस्य तात्त्विकत्वापातात्। आविद्यकरजतोत्पत्तिभंगः ॥ ६५ ॥

अद्वैतसिद्धिः

त्वादिति—वाच्यम्, परोक्षाध्यासे हि प्रमातृगताज्ञानमेवोपादानम्। तच्च परोक्षज्ञानेनापि निवर्तत इत्युक्तत्वात्। न च—रूप्यं दृष्ट्वाऽधिष्ठानतत्त्वज्ञानं विना निवृत्तस्य पुंसोऽज्ञाननिवृत्त्यभावेन रूप्यतज्ज्ञानयोरविद्यापरिणामयोरनिवृत्त्या रूप्यधीसामग्रीसद्भावेन तद्धीर्दुर्वारैवेति वाच्यम्, रूप्यं तद्धीश्च उत्पन्ने तावदुदीच्यज्ञानेन उपादाने विलीयते। उपादानस्य निवृत्तिः परं न भवति, अधिष्ठानतत्त्वज्ञानाभावात्। रूप्यबुद्ध्यन्तरोत्पत्तिस्तु इदमाकारान्तःकरणवृत्तिसद्भावेनानुत्पन्नाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारस्य भवत्येव। तदभावे तद्विलम्बादेव विलम्ब इति न काप्यनुपपत्तिः। तथा च सर्वप्रत्ययानां स्वगोचरशूरत्वात् प्रतीतिकाले रजतस्य विद्यमानता सिद्धा। न चैवं—तात्त्विकत्वमपि सिध्येत्, तस्यापि प्रातीतिकत्वादिति—वाच्यम्, अपरोक्षप्रतीत्या तावत् त्रिकालाबाध्यत्वरूपं तात्त्विकत्वं विषयीकर्तुं न शक्यत इत्युक्तत्वात्। परोक्षप्रतीत्या विषयीकृतमपि तात्त्विकत्वं प्रातीतिकमेव, कालान्तरबाधेन पुनरतात्त्विकत्वस्य संभवात्। इत्याविद्यकरजतोत्पत्त्युपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

समाधान—परोक्ष अध्यास का प्रमातृगत अज्ञान ही उपादान कारण होता है, वह परोक्ष ज्ञान से भी निवृत्त हो जाता है—यह कहा जा चुका है।

शङ्का—रजत को देखकर जो व्यक्ति अधिष्ठानतत्त्व-ज्ञान के बिना ही निवृत्त हो गया है, उसके अज्ञान की निवृत्ति न होने के कारण अविद्या के परिणामभूत रजत और रजत-ज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी, अतः रजत-ज्ञान की सामग्री का सद्भाव होने के कारण रजत-ज्ञान बना रहना चाहिए।

समाधान—रजत और रजत-ज्ञान जो उत्पन्न हो चुके हैं, उनका उस व्यक्ति में होनेवाले उत्तर भावी अन्य ज्ञान के द्वारा उनके कारणीभूत अज्ञान में विलय हो जाता है, केवल उनके उपादानभूत अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि अधिष्ठान-तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ था। उसी अज्ञान से रजत के ज्ञानान्तर की उत्पत्ति उस व्यक्ति में मानी ही जाती है, जिसमें इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति का सद्भाव एवं अधिष्ठान-तत्त्व-साक्षात्कार का असद्भाव होता है। उक्त वृत्त्यादि के न होने पर सामग्री के विलम्ब से ही कार्य का विलम्ब हो जाता है। फलतः सभी ज्ञान अपने विषय की व्यवस्थापकता में दक्ष होते हैं, अतः 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान भी अपने जीते-जी रजत को सँजोए रहता है, उसे ही प्रातीतिक, प्रातिभासिक या अनिर्वचनीय रजत कहते हैं। प्रतीति-काल में रजत के होने पर उसमें अबाध्यत्वरूप तात्त्विकत्व भी सिद्ध हो

: ७४ :

भ्रमस्य ज्ञानद्वयात्मकत्वविचारः

न्यायामृतम्

यच्चेदमुच्यते अधिष्ठानांशे इन्द्रियजन्यान्तःकरणवृत्तिरध्यस्तांशे तदजन्याविद्यावृत्तिरितिज्ञानद्वयम् । न चैवमख्यात्यापत्तिः, तादात्म्यस्यापि भानादिति । तन्न, त्वन्मते इदमंशस्याप्यध्यस्तत्वेनेदमितिज्ञानं द्वयात्मकमिदं रूप्यमितिज्ञानं त्र्यात्मकं स्वाप्नशुक्त्यादाविदं रूप्यमितिज्ञानं चतुरात्मकमितिप्रसंगात्, शंखे पीतत्वं पश्यामीति

अद्वैतसिद्धिः

तस्मादधिष्ठानांशे अन्तःकरणवृत्तिः; अध्यस्तांशे चाविद्यावृत्तिः । तस्यां च तादात्म्यस्य भानात् नाख्यातिमतप्रवेशः ।

ननु—एवमिदमशंस्याप्यध्यस्तत्वेन इदमिति द्वयात्मकम्, इदं रूप्यमिति च त्र्यात्मकम्, स्वप्ने इदं रूप्यमिति ज्ञानं चतुरात्मकं च स्यादिति—चेन्न, इदंत्वस्याध्यस्तत्वेऽपि नेदमिति द्वयात्मकम्, इदंत्वाद्यधिष्ठानस्य स्वप्रकाशकत्वात् । न हि वयं सर्वत्राध्यासे द्वयात्मकतां ब्रूमः, अपि त्वन्तःकरणवृत्तिसव्यपेक्षाधिष्ठानप्रकाशे । अत एव नेदं रूप्यमिति त्र्यात्मकम्, स्वप्ने तु चतुरात्मकत्वशङ्का सर्वथाऽनुपपन्ना, इदं-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

जायगा'—ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि 'इदं रजतम्'—यह क्षणिक प्रतीति रजत में त्रिकालाबाध्यत्वरूप तात्त्विकत्व को विषय नहीं कर सकती—यह कह चुके हैं। अनुमित्यादि परोक्ष प्रतीति के द्वारा विषयीकृत तात्त्विकत्व भी प्रातीतिक ही होता है, कालान्तर में चलकर बाध हो जाने पर अतात्त्विकत्व स्थिर हो जाता है ।

सर्वत्र अध्यास-स्थल पर शुक्त्यदि अधिष्ठान अंश में अन्तःकरण की वृत्ति और रजतादि अध्यस्त अंश में अविद्या की वृत्ति मानी जाती है । अन्तःकरण-वृत्ति में अविद्या-का तादात्म्य होता है, अतः प्रभाकर-सम्मत अख्यातिवाद प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि प्रभाकर मत के समान 'इदं रजतम्'—यहां दो ज्ञानों की पृथक् सत्ता नहीं रह जाती, अपितु विशिष्टात्मक एक ज्ञान माना जाता है ।

शङ्का—शुक्ति-गत इदन्त्व अन्तःकरण की वृत्ति का विषय होने पर भी रजत-विशेषणीभूत इदन्त्व उसका विषय न होकर अविद्या-वृत्ति का ही विषय होगा, क्योंकि रजत के समान वह भी अध्यस्त होता है, अतः 'इदम्'—यह ज्ञान इदमाकार अन्तःकरण-वृत्ति और इदमाकार अविद्या-वृत्ति—इन दो वृत्तियों का संवलन या द्वयात्मक होता है, उसके साथ रजताकार वृत्ति को मिलाने पर 'इदं रजतम्'—यह ज्ञान (इदमाकार अन्तःकरण-वृत्ति तथा इदमाकार और रजताकार अविद्यावृत्तियों को मिलाकर वृत्तित्रयी का संवलन या) त्र्यात्मक कहा जायगा और तब 'इदं रजतम्'—इस प्रकार के स्वाप्न भ्रम को चतुरात्मक मानना होगा, क्योंकि कथित तीनों विषयों की एक स्वाप्न वृत्ति अधिक हो जाती है ।

समाधान—इदन्त्व के अध्यस्त होने पर भी 'इदम्'—यह ज्ञान द्वयात्मक नहीं होता, क्योंकि इदन्त्वादि का अधिष्ठान चेतन्य स्वप्रकाश होता है, उसके प्रकाशक ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती । हम सर्वत्र अध्यस्त में ज्ञानद्वयामकता नहीं मानते, अपितु वहां पर ही द्वयात्पकता होती है, जहां पर अन्तःकरण-वृत्ति की अपेक्षा अधिष्ठान का प्रकाश

न्यायामृतम्

पीतत्वांशे चाक्षुषत्वादिजातिविशेषस्यानुव्यवसायाच्च, रूप्यज्ञानस्याविद्यावृत्तित्वेन प्रातिभासिकत्वे प्रतिभासावश्यम्भावादध्यस्तविषयज्ञानस्य चाध्यस्तत्वनियमादविद्यावृत्तेरप्यविद्यावृत्त्यन्तरप्रतिबिंबितचैतन्यवेद्यत्वमेवं तस्य तस्यापीत्यनवस्थानाच्च, अज्ञानस्य रूप्याकारज्ञानात्मना परिणामे रूप्यमितिप्रतीतेर्ज्ञानगताकारेणैवोपपत्तेः, भ्रमस्य चातीतादिज्ञानवदर्थाभावेऽपि सम्भवाद्रूप्याकाराविद्यावृत्तिवैयर्थ्याच्च, दोषाणां स्वाश्रय-

अद्वैतसिद्धिः

रूप्ययोरप्यध्यसनीयत्वाद्, अविद्यावच्छिन्नचैतन्यरूपाधिष्ठानस्य स्वप्रकाशत्वात्। न च रूप्यज्ञानस्याचाक्षुषत्वे 'रूप्यं पश्यामी'ति चाक्षुषत्वानुभवविरोधः, चाक्षुषेदं वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्थाविद्यापरिणामत्वेन चाक्षुषत्वोपचाराद्, अनुभवत्वमात्रानुभव एव 'आत्मनं पश्यामी' त्युल्लेखदर्शनाच्च। ननु रूप्यज्ञानस्याविद्यावृत्तित्वेन प्रातिभासिकतया प्रतिभासावश्यंभावेनाध्यस्तविषयज्ञानस्य चाध्यस्तत्वनियमेनाविद्यावृत्तेरपि अविद्यावृत्तिप्रतिविम्बतचतन्यवेद्यत्वम्, एवं तस्यापि तस्यापीत्यतवस्थितिरिति—चेत, सत्यमेतत्। न पुनरनवस्था, अविद्यावृत्तिप्रतिभासके चैतन्ये अविद्यावृत्तेः स्वत एव उपाधित्वेन वृत्त्यन्तरानपेक्षत्वात्।

ननु—अज्ञानस्य रूप्याकारज्ञानात्मना परिणामे रूप्यमिति प्रतीतेर्ज्ञानगताकारेणैवोपपत्तावतीतविषयकज्ञानन्यायेन वोपपत्तौ रूप्यरूपाविद्यापरिणामकल्पना न युक्तेति—

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

होता है वहां ही द्वयात्मकता मानी जाती है। अत एव 'इदं रजनम्—यह ज्ञान न तो द्वयात्मक है और न 'इदं रजतम्'—यह स्वाप्न ज्ञान त्र्यात्मक। स्वप्न में चतुरात्मकत्व की शङ्का ही सर्वथा अनुपपन्न है, क्योंकि वहां 'इदम्' और 'रजतम्'—दोनों अध्यसनीय होते हैं, अविद्यावच्छिन्न चैतन्यरूप अधिष्ठान स्वप्रकाश होता है। रजत-ज्ञान यदि चाक्षुष वृत्ति नहीं, तब 'रूप्यं पश्यामि'—इस प्रकार का अनुभव कैसे बनेगा ? ऐसी शङ्का का समाधान यह है कि इदमाकार चाक्षुष वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्यगत अविद्या का परिणाम होने के कारण रजत में चाक्षुषत्व का उपचार हो जाता है और 'रूपं चक्षुषा अनुभवामि'—में अनुभव तो केवल आत्मस्वरूप अनुभवत्व का ही होता है, चाक्षुषत्वादि का नहीं क्योंकि अचाक्षुष आत्मा में भी 'आत्मानमनुभवामि:—इस प्रकार का अनुभव देखा जाता है।

शङ्का—'रजत-ज्ञान' अविद्या की वृत्ति है, प्रातिभासिक है, अतः उसका प्रतिभास अवश्यंभावी है एवं अध्यस्तवस्तुविषयक ज्ञान भी नियमतः अध्यस्त होता है, अतः अविद्या-वृत्ति भी अविद्या-वृत्ति में प्रतिविम्बित चेतन्य के द्वारा प्रकाशित होती है, इसी प्रकार पूर्व-पूर्व वृत्ति के प्रकाशनार्थ उत्तरोत्तर वृत्ति की अपेक्षा में अनवस्था दुर्वार है।

समाधान—'रजत-ज्ञान' अविद्या-वृत्ति है—यह कहना सत्य है, किन्तु यहां अनवस्था नहीं होती, क्योंकि अविद्या-वृत्ति के प्रतिभासक चेतन्य की 'अविद्या-वृत्ति स्वतः उपाधि है, वृत्त्यन्तर के द्वारा प्रकाशित होकर नहीं।

शङ्का—अज्ञान यदि रजताकार ज्ञान के रूप में परिणत होता है, तब 'रजतम्'—इस प्रकार की प्रतीति ज्ञानगत आकार के द्वारा वैसे ही उपपन्न हो जाती है, जैसे कि अतीतविषयक ज्ञान विषय से जनित न होने पर भी विषयाकार हो जाता है। अतः रजत को प्रतीति के लिए रजताकार अविद्या-वृत्ति को क्या आवश्यकता ? अर्थात् अध्यास-

न्यायामृतम्

अन्य एवातिशयहेतुत्वेनेन्द्रियदोषप्रयुक्तभ्रमत्वाश्रये करणान्तराजन्ये च रूप्यज्ञाने इन्द्रियकरणत्वस्य दुर्वारत्वाच्च । अन्यथा त्वचा शंखं चक्षुषा च शुक्तिसादृश्यं ज्ञात्वा निमीलितनेत्रस्य नेत्रगतदोषात् पीतत्वरूप्यादिभ्रमः स्यात् । रूप्येदमंशयोस्तादात्म्यभानेनाख्यातिवैषम्येऽपि ज्ञानैक्यानुभवविरोधस्याख्यातिपक्षदोषस्य साम्याच्च ।

अद्वैतसिद्धिः

चेन्न, ज्ञानाकारेणैव सविषयकत्वे साकारवादप्रसङ्गात् । अतीतविषयवदुपपादनेऽपि अपरोक्षत्वानुपपत्तेरुक्तत्वात् । न च—दोषाणां स्वाश्रय एवातिशयहेतुत्वेन चक्षुर्गतदोषजन्यो भ्रमः कथमचाक्षुषः स्यात् ? अन्यथा त्वचा गृहीते शङ्खे चक्षुषा गृहीते रूप्यसादृश्ये च निमीलितचक्षुषोऽपि पीतभ्रमरूप्यभ्रमयारापत्तोरति—वाच्यम् , दोषाणां स्वाश्रय एवातिशयजनकत्वमित्यस्यैवासिद्धेः नियामकाभात् । न चोक्तातिप्रसङ्गो नियामकः, स्वसंबन्धिनि कार्यजनकत्वाङ्गीकारेणानतिप्रसङ्गात् । संबन्धश्च स्वाश्रयजन्यज्ञानविषयत्वरूपः । स च न तदिति संस्कारविषयग्राहीन्द्रियजन्याधिष्ठानज्ञानस्यापरोक्ष-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

स्थल पर ज्ञानाध्यास से ही समस्त व्यवहार का निर्वाह हो जाता है, विषयाध्यास की कल्पना निरर्थक है ।

समाधान—विषय-निरपेक्ष ज्ञानगत आकार के द्वारा विषय-व्यवहार का निर्वाह करने पर बौद्धों का साकार विज्ञान वाद मानना पड़ता है । [ज्ञानगत घट-पटादि आकार सहज सिद्ध हैं, विषयरूप निमित्त से उत्पन्न नहीं होते, केवल अनादि संस्कारों के आधार पर ज्ञान साकार रूप में ही जन्म लेता है, उसका जन्म अपने साकार समनन्तर प्रत्यय से होता है, विषय से नहीं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न विषय' नाम की कोई वस्तु प्रसिद्ध ही नहीं—ऐसा साकार विज्ञान वादी योगाचार मानते हैं—इस की चर्चा प्रतिकर्म-व्यवस्थादि में आ चुकी है]। अतीत विषय के समान व्यवहार का निर्वाह करने पर 'इदं रजतम्'—इस प्रकार का अपरोक्ष व्यवहार कथमपि उपपन्न न होगा ।

शङ्का—काच-कामलादि दोष सदैव अपने आश्रय में ही अतिशय उत्पन्न किया करते हैं, अतः चक्षुर्गत दोष से उत्पन्न रजत-भ्रम अचाक्षुष कैसे हो जायगा ? अन्यथा त्वगिन्द्रिय के द्वारा गृहीत शङ्ख में 'पीतः शङ्खः' ऐसा भ्रम तथा चक्षु-द्वारा गृहीत रजत-सदृश शुक्ति में 'इदं रजतम्'—ऐसा भ्रम उस व्यक्ति को भी हो जाना चाहिए, जो आखें बन्द किए बैठा है ।

समाधान—'दोषाणां स्वाश्रय एवातिशयजनकत्वम्'—यह नियम ही असिद्ध है, क्योंकि इसका साधक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं । ऊपर जो अतिप्रसङ्ग दिया था कि काच-कामलादि दोष यदि अपने आश्रयीभूत चक्षु में अतिशय का आधान नहीं करते, तब त्वगिन्द्रिय से गृहीत शङ्ख में 'पीतः शङ्खः'—इस प्रकार का भ्रम चक्षु के बन्द होने पर भी होना चाहिए । उस अतिप्रसङ्ग का परिहार इतना मात्र मान लेने से ही हो जाता है कि दोष स्व-सम्बन्धी वस्तु में ही अतिशयाधायक होता है । सम्बन्ध यहाँ स्वाश्रय-जन्यज्ञानविशेष्यत्व विवक्षित है, अर्थात् काच-कामलादि दोष स्वाश्रयीभूत चक्षु के द्वारा जन्य ज्ञान के विषय (विशेष्य) शङ्खादि में पीतत्वादिप्रकारक भ्रम-विषयत्व रूप अतिशय का प्रयोजक होता है । त्वगिन्द्रिय-गृहीत शङ्ख काचादि के आश्रयीभूत चक्षु से जन्य ज्ञान का विषय नहीं, अतः उसमें पीतत्व-भ्रम नहीं होता । रजतादि संस्कार विषय

न्यायामृतम्

एतेन विषययोरध्यस्तेनाभेदेनैकत्वापन्नत्वात्, ज्ञानयोरप्यैक्यमुपचरितमिति निरस्तम्, ज्ञानैक्यानुभवविरोधाद्, एकविषयकधारावाहिकज्ञानानामप्यैक्यानुभवा-

अद्वैतसिद्धिः

भ्रमहेतुत्वात् त्वचा गृहीते तदभावात् सादृश्यं गृहीत्वा चक्षुर्निमीलनस्थले इदंवृत्ति-सद्भावे प्रमाणाभावेन नातिप्रसङ्गापादनं शक्यम्। तत्सत्त्वे इष्टापत्तिरेव। ननु—एवं वृत्तिभेदे ज्ञानैक्यानुभवविरोधः। न च—अध्यस्तेनाभेदेन विषययोरेकतापन्नत्वात् ज्ञानयोरैक्यमुपचर्यत इति—वाच्यम्, एवमेकत्वप्रतिपादकप्रयोगसमर्थनेऽपि अनुभव विरोधस्यापरिहारादिति—चेन्न, विषययोरभेदाध्यासे ज्ञानयोरप्यभेदाध्यास इत्यस्य उपचारशब्दार्थत्वेनानुभवविरोधाभावात्। न च—तर्हि धारावाहिकज्ञानेष्वैक्याध्यासा-पत्तिः विषयैक्यज्ञानस्यारोपनिदानस्य सत्त्वादिति—वाच्यम्, आरोपस्य कारणाना-पाद्यत्वात्। न च—विषयैक्यस्य ज्ञानैक्याध्यासनिमित्तत्वं न दृष्टमिति—वाच्यम्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

विषयक अनुभव-जनक इन्द्रिय से जन्य अधिष्ठान-ज्ञान, अपरोक्ष भ्रम का हेतु होता है, अतः त्वगिन्द्रिय से गृहीत शङ्खादि में वह ज्ञात नहीं होता। जहाँ पर चक्षु के द्वारा सादृश्यमात्र का ज्ञान हो जाने पर नेत्र बन्द कर लिए गये हैं, वहाँ इदमाकार वृत्ति के सद्भाव में कोई प्रमाण न होने के कारण अतिप्रसङ्गापादन सम्भव नहीं और यदि इदमाकार वृत्ति है, तब इष्टापत्ति है, क्योंकि वहाँ सामग्री का सद्भाव होने के कारण रजत-भ्रम होता ही हैं।

शङ्का—'इदं रजतम्'—इत्यादि भ्रमों में इदमाकार अन्तःकरण-वृत्ति और रजताकार अविद्या-वृत्ति—इस प्रकार पृथक् दो वृत्तियों (ज्ञानों) के होने पर विशिष्ट-विषयक एक ज्ञानरूपता का अनुभव बाधित हो जाता है। यदि इदमर्थ और रजत में आध्यासिक तादात्म्य या अभेद होने के कारण उनके बिभिन्न दो ज्ञानों में भी एकता का उपचार हो जाता है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि औपचारिक एकता को लेकर एकत्व-प्रतिपादक शब्दप्रयोग का समर्थन हो जाने पर भी वस्तुओं में द्वित्व का निरास नहीं होता, अतः उक्त अनुभव का बिरोध अपरिहार्य है।

समाधान—विषयों का अभेदाध्यास होने पर उनके ज्ञानों में भी अभेदाध्यास हो जाना ही यहाँ 'उपचार' शब्द का अर्थ है, अतः किसी प्रकार का अनुभव-विरोध नहीं होता [''संस्कारदुष्टकारणसंवलिता एका सामग्री, सा च एकमेव ज्ञानं जनयति'' (पञ्च. पृ० ५२) इसकी व्याख्या में भी विवरणकार कहते हैं—''एकविषयावच्छिन्न-फलंकत्वोपाधौ सत्यमिथ्याज्ञानद्वयमपि एकमित्युपचर्यते'' (पं. वि. पृ० १५६)]। अभिन्न-विषयक कई ज्ञानों में एकता का अध्यास हो जाता है, तब समानविषयक धारावाहिक-ज्ञानों में भी एकता का अध्यास होना चाहिए'—ऐसा आक्षेप करना संगत नहीं, क्योंकि नैमित्तिक आरोपरूप कार्य को देखकर उसके निमित्त की कल्पना होती है, न कि निमित्त के होने पर सर्वत्र नैमित्तिक की कल्पना। 'धारवाहिक स्थल पर विषय की एकता होने पर भी ज्ञानों में एकता का अध्यास नहीं देखा जाता, अतः ज्ञानगत ऐक्याध्यास की निमित्तता विषयगत एकता में दृष्टचर नहीं'—ऐसा आक्षेप भी उचित नहीं, क्योंकि सुदृढ़ युक्तियों के होने पर अदृष्टचर (अपूर्व) कल्पना भी की जाती है, प्रकृत में अन्तः-करणादि की वृत्तियों का भेद निश्चित है और उनमें एकता की अनुभूति भी होती है,

न्यायामृतम्

पाताच्च, कल्पितस्यार्थैक्यस्य ज्ञानैक्योपचाराहेतुत्वाच्च। एतेन यथेदमंशावच्छिन्नचैतन्याविद्याविवर्तत्वाद्रूप्यमिदंत्वेन भाति, तथेदंवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्याविद्याविवर्तत्वाद्रूप्यज्ञानमिदंज्ञानत्वेन भातीति निरस्तम्। बाधकालेऽर्थयोरिव ज्ञानयोरपि भेदधीप्रसंगाद् इदंवृत्तेर्ज्ञातैकसत्त्वेन तदवच्छिन्नचैतन्येऽज्ञानाभावाच्च, शुक्तितत्त्वं जानतः

अद्वैतसिद्धिः

पूर्वोक्तयुक्त्या ज्ञानभेदे सिद्धे अपूर्वकल्पनायामपि दोषाभावात्। यद्वा—यथेदमंशावच्छिन्नचैतन्यगताविद्यापरिणामत्वात् रूप्यमिदंत्वेन भाति, तथेदमाकारान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यगताविद्यापरिणामत्वेन रूप्यज्ञानमिदंज्ञानत्वेन भाति। न च तर्हि बाधकाले विषययोरिव ज्ञानयोरपि भेदधीप्रसङ्गः, विषयभेदग्रहज्ञानभेदग्रहयोर्भिन्नसामग्रीकत्वेनापादनस्याशक्यत्वात्। केचित्तु - भ्रमकाले विषयैक्यग्रहनियमवत् न ज्ञानैक्यग्रहनियमः, तं विनापि प्रवृत्त्याद्युपपत्तेः, तथा च बाधकाले न तदनैक्यग्रहनियमोऽपीति—आहुः। न च इदंवृत्तेर्ज्ञातैकसत्त्वेन तदवच्छिन्नचैतन्यगताज्ञानमेव नास्तीति—वाच्यम्, वृत्तेः साक्षिवेद्यत्वेन यद्यपि तद्गोचराज्ञानं नास्ति, तथापि तदवच्छिन्नचैतन्ये शुक्त्यवच्छिन्नगोचराज्ञानसत्त्वात्। तथा च इदंवृत्तिराश्रयावच्छेदिका न तु विषयावच्छेदिकेति वस्तुस्थितिः। अत एव—शुक्तितत्त्वं जानतः इदंवृत्तितत्त्वं चाजानतो रूप्य-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतः एकत्वारोप की अपूर्व कल्पना करने में भी कोई दोष नहीं।

अथवा जैसे इदमंशावच्छिन्न चैतन्यगत अविद्या का परिणाम होने के कारण रजत का इदन्त्वेन भान होता है, वैसे ही इदमाकार अन्तःकरणवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्यगत अविद्या का परिणाम होने के कारण रजत-ज्ञान इदंज्ञानत्वेन प्रतीत होता है।

शङ्का—'विषयों की एकता के समान ही यदि ज्ञानों की एकता अध्यस्तमात्र होती है, तब 'नेदं रजतम्'—इस प्रकार के बाधक ज्ञान से जैसे विषयगत एकता का निरास होकर विषयों (शुक्ति और रजत) में भेद प्रतीत होने लगता है, वैसे ही ज्ञानों में भी उक्त बाधक के द्वारा भेद-प्रतीति होनी चाहिए।

समाधान—'नेदं रजतम्'—यह बाध केवल विषयों के भेद-ग्रह का जनक है, ज्ञानों के भेद-ग्रह का नहीं, अतः उक्त बाध के द्वारा ज्ञानों के भेद-ग्रह का आपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान के भेद-ग्रह की जनक सामग्री दूसरी है और उसके सुलभ न होने के कारण ज्ञानों में भेद-ग्रह नहीं हो पाता।

कतिपय आचार्यों का कहना है कि भ्रम-काल में विषयगत ऐक्य-ग्रह के समान ज्ञानगत ऐक्य-ग्रह का नियम नहीं होता, क्योंकि ज्ञानगत ऐक्य-ग्रह के बिना भी पुरुष की प्रवृत्ति उपपन्न हो जाती है, बाध-काल में ज्ञानों के ऐक्य-ग्रह का भी नियम नही होता।

शङ्का—इदमाकार वृत्ति की ज्ञातैक सत्ता मानी जाती है, अतः इदमंशावच्छिन्न चैतन्य में अज्ञान ही सम्भव नहीं वह रजतादि का उपादान कैसे बनेगा ?

समाधान—यद्यपि इदमाकार अन्तःकरण-वृत्तिसाक्षिवेद्य है, अतः वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यविषयक अज्ञान नहीं रहता, तथापि इदमंशावच्छिन्न चैतन्य में शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यविषयक अज्ञान का सद्भाव होता है। इदंवृत्ति केवल अज्ञान के आश्रयत्व की अवच्छेदिका होती है, विषय की अवच्छेदिका नहीं। न्यायामृतकार का जो यह कहना था कि जो व्यक्ति शुक्ति को रजत-भिन्नत्वेन जानता है किन्तु इदंवृत्ति को रजत-वृत्ति-

न्यायामृतम्

इद वृत्तित्वं चाजानतः पुंसः रूप्यनिवृत्तावपि तज्ज्ञानानुवृत्तिप्रसंगाच्च, अबाधित ज्ञानैक्यानुभवाविरोधाच्च । न चेन्द्रियेणाध्यस्तस्यासंप्रयोगो बाधकः तस्य प्रमायामेवापेक्षितत्वेनाप्रमायां दोषमपेक्ष्यैवेन्द्रियस्य हेतुत्वोपपत्तेः रूप्यं प्रत्यप्यंगुल्यग्रनिर्देशचेलांचलबन्धनादिना शुक्तेरेवाधिष्ठानत्वेन तदवच्छिन्नचैतन्यस्यानधिष्ठानत्वाच्च ।

न चाविद्यावृत्तेर्ज्ञानत्वाभावाज्ज्ञानेऽर्थाः परोक्षाध्यासे चैतन्यप्रतिफलनाभावे-

अद्वैतसिद्धिः

निवृत्तावपि तदज्ञानानुवृत्तिप्रसङ्ग इति—निरस्तम्, शुक्तितत्त्वाज्ञानस्यैव उभयपरिणामत्वात्, इदमंशस्तदाकारवृत्तिश्च एतद्‌द्वयमाश्रयमात्रावच्छेदकमित्युक्तत्वात् । न चैवमपि अबाधितज्ञानैक्यानुभवविरोधः, अध्यस्तेन सहेन्द्रियासंप्रयोगस्यैव बाधकत्वात् । न च सन्निकर्षः प्रमासामग्री, करणानां प्राप्यकारित्वनियमेन सन्निकर्षस्यापि सामान्यसामग्रीत्वात् । न हि दृष्टा छिदा दारुवियुक्तकुठारेणेत्यन्यत्र विस्तरः । यत्तु शुक्तिरेव

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

भिन्नत्वेन नहीं ज़ानता, उस व्यक्ति की दृष्टि में रजत की निवृत्ति हो जाने पर भी रजत-ज्ञान की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि रजत और रजत-ज्ञान – दोनों का एक अज्ञान उपादान नहीं माना जाता, शुक्ति का अज्ञान केवल रजत का उत्पादक है, अतः उसका शुक्ति तत्त्व-ज्ञान से नाश हो जाने पर उसके उपादेयभूत रजत का भी नाश हो जाता है. किन्तु रजत-ज्ञान की अनुवृत्ति बनी रहनी चाहिये, क्योंकि उसके उपादानभूत अज्ञान का शुक्तितत्त्व-ज्ञान से नाश नहीं होता ।

वह न्यायामृतकार का कहना संगत नहीं क्योंकि शुक्ति-तत्त्व का अज्ञान ही रजत और रजत-ज्ञान के रूप में परिणत होता है, अतः उसका नाश हो जाने पर रजत और रजत-ज्ञान—दोनों ही निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि ये दोनों अज्ञान की चैतन्यगत आश्रयता के अवच्छेदक होते हैं—यह कहा जा चुका है ।

शङ्का—'इदं रजतम्'—इस ज्ञान में जो एकता की अनुभूति होती है, उसका जब तक बाध न हो, तब तक वहाँ दो वृत्तियों या ज्ञानों को नहीं माना जा सकता। ज्ञानेकता का बाधक कोई उपलब्ध नहीं होता ।

समाधान—इमदर्थ के साथ जैसे इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है, वैसे अध्यस्त रजत के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष का न होना ही ज्ञानैकता की अनुभूति का बाधक है, अर्थात् इदमर्थ का ज्ञान ऐन्द्रियक और रजत का अनैन्द्रियक है, अतः दो ज्ञानों का वहाँ मानना अनिवार्य है, अतः दो वृक्षों में एकता-प्रतीति के समान ही यहाँ दो ज्ञानों में एकता की अनुभूति माननी होगी, प्रमा ज्ञान में ही वस्तु के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष अपेक्षित होता है, रजत-भ्रम मे रजत का विना सन्निकर्ष के ही ऐन्द्रिय भान क्यों नहीं होगा ?—ऐसी शङ्का सर्वथा अनुचित है, क्योंकि जैसे कुठार काष्ठ से संयुक्त न होकर काष्ठ का छेदन नहीं कर सकता, वैसे ही वस्तु से सन्निकृष्ट न होकर इन्द्रियाँ न तो उस वस्तु का प्रमा ज्ञान उत्पन्न कर सकती हैं और न भ्रम ज्ञान, क्योंकि इन्द्रियों में प्राप्यकारित्व का नियम माना जाता है [इन्द्रिय विषय को प्राप्त करके ज्ञान-जनक होता है ? अथवा विना प्राप्त किये ? इस विप्रतिपत्ति की प्रथम कोटि प्राप्यकारित्व और द्वितीय कोटि अप्राप्यकारित्व की है । बौद्धाभिमत द्वितीय कोटि का निरास एवं प्रथम कोटि का समर्थन न्यायदर्शनादि मौलिक ग्रंथों में बड़े ऊहापोह के साथ किया गया है]

न्यायामृतम्

नाप्यस्तांशे जानामीत्यनु(व्यवसाया)भवायोगात् , ज्ञाने अपवादादप्रामाण्यमित्यस्या- योगाच्च, विवरणेऽन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचारादित्युक्त्या तद्वृत्तावपि ज्ञप्तित्वा- भावाच्च प्रकाशचैतन्यस्य प्रतिफलनोपाधित्वस्य चाविद्यावृत्तावपि सत्त्वाद् अज्ञान- निवर्तकत्वस्य च धारावाहिकद्वितीयाद्यन्तःकरणवृत्तावप्यभावात् । न च वृत्तिभेदेऽपीदं-

अद्वैतसिद्धिः

विवर्ताधिष्ठानमस्तु, न चैतन्यमिति, तन्न, अधिष्ठानस्य भ्रमजनकाज्ञानविषयत्वेन तद- कल्पिततया सत्यत्वनियमात् , शुक्तेश्च मिथ्यात्वात् । यद्वा—अविद्यावृत्तेर्न ज्ञानत्वम् , अतः ज्ञानैक्यधीः, ज्ञानत्वस्याज्ञाननिवर्तकमात्रवृत्तित्वात् । न च—एवं धारावाहन- स्थले द्वितीयादिज्ञाने ज्ञानत्वं न स्यादिति—वाच्यम् , तस्यापि तत्तत्कालविशिष्टग्राहक- त्वेनागृहीतग्राहकतया ज्ञाननिवर्तकत्वात् । वस्तुतस्तु- यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञाना- नीति व्यवहितज्ञानेनैवाव्यवहितज्ञानेनापि अज्ञाननिवर्तनादिति न काप्यनुपपत्तिः । परोक्ष- स्थलेऽपि प्रमातृगताज्ञाननिवृत्तिरस्त्येवेति तत्र जानामीति प्रत्ययः । तेन सद्वाभेदग्रहात् परोक्षभ्रमेऽपि जानामीति प्रत्ययः । न च विवरणे अन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचा- रात् इदंवृत्तेरपि ज्ञानत्वोक्तौ विवरणविरोधः, तस्य प्रकाशत्वनिबन्धनज्ञानपदप्रयोगवि-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि रजतार्थी की शुक्ति की ओर प्रवृत्त्यादि से यही सिद्ध होता है कि रजताध्यास का अधिष्ठान शुक्ति ही है, शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य नहीं। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि भ्रम-जनक ज्ञान के विषय को अधिष्ठान कहा जाता है, वह सर्वकल्पना का आधार होने से अकल्पित एवं नियमतः सत्य होता है, शुक्ति तो स्वयं कल्पित और मिथ्या है, रजतादि-कल्पना का अधिष्ठान कैसे बनेगी ? फलतः एकमात्र शुद्ध चतन्य ही अधिष्ठान है और उसमें रहनेवाली अधिष्ठानता (भ्रम- जनकज्ञानविषयता) के शुक्त्यादि पदार्थ केवल अवच्छेदक होते हैं।

अथवा 'इदं रजतम्'—इस स्थल पर रजताकार अविद्या-वृत्ति में अज्ञाननिवर्तक- मात्रवृत्तित्वरूप ज्ञानत्व नहीं माना जाता अतः वह ज्ञान नहीं, केवल एक इदमाकार अन्तःकरण-वृत्ति ही ज्ञानपदास्पद होने के कारण ज्ञानक्य की अनुभूति होती है [यद्यपि इदमाकार वृत्ति में अज्ञाननिवर्तकत्व नहीं, तथापि उसकी स्वरूप योग्यता मानी जाती है] । धारावाहिक ज्ञान-स्थल पर भी उत्तरोत्तर ज्ञान तत्तत्क्षणावच्छिन्न अज्ञात वस्तु के ज्ञापक माने जाते हैं, अतः उनमें भी ज्ञानत्व का उक्त लक्षण अव्याप्त नहीं होता। वस्तुतः 'यावन्ति ज्ञानानि, तावन्ति अज्ञानानि''—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक घट-ज्ञान का निवर्त्य अज्ञान भिन्न-भिन्न होता है। जसे एक घट-ज्ञान के पश्चात् कुछ समय के व्यवधान से उत्पन्न द्वितीय घट-ज्ञान प्रथम घट-ज्ञान के निवर्तनीय अज्ञान से भिन्न अज्ञान का निवर्तक होता है, वैसे ही एक घट-ज्ञान के पश्चात् तुरन्त द्वितीय क्षण में होनेवाला घट ज्ञान भी भिन्न अज्ञान का ही निवर्तक होता है, अतः ज्ञान के उक्त लक्षण में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं। परोक्ष ज्ञान में भी प्रमातृगत अज्ञान की निवर्तकता रहती है, अतः वहाँ भी 'जानामि'—इस प्रकार का व्यवहार हो जाता है।

विवरणकार ने जो कहा है—''अन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचारात्'' (पं. वि. पृ०) एवं भ्रम-स्थल पर ज्ञानद्वय का सिद्धान्त (पं० वि० १५१ पर) स्थिर किया है। वह 'प्रकाशत्वं ज्ञानत्वम्—इस परिभाषा के अनुसार कहा है, अर्थात् अविद्या-वृत्ति

न्यायामृतम्

रूप्ययोरिदमंशावच्छिन्नसाक्षिवेद्यत्वेन फलैक्येन ज्ञानैक्यधीः परोक्षभ्रमे अपरोक्षैकरसचैतन्यरूपफलैक्याभावात्, त्वन्मते इदंरूप्ययोर्यथाक्रममिदं रूप्याकारान्तःकरणाविद्यावृत्तिप्रतिबिंबिताभ्यां वा तदभिव्यक्ताभ्यामिदमंशानवच्छिन्नतदच्छिन्नाभ्यामिदमंशरूप्याधिष्ठानचैतन्याभ्यां वा वेद्यत्वेनावच्छिन्नस्य फलस्य भिन्नत्वाच्च। अफल-

अद्वैतसिद्धिः

षयत्वमित्येतत्परत्वात्, न त्वज्ञाननिवर्तकत्वनिबन्धनज्ञानपदप्रयोगोऽप्यौपचारिक इति तस्यार्थः। तथा चाविद्यावृत्तौ यत्र ज्ञानपदप्रयोगः, तत्रौपचारिक एव। न च—अविद्यावृत्तेरज्ञानत्वे ज्ञानस्यौत्सर्गिकं प्रामाण्यमिति विरुध्येत, निरपवादनियमस्यैव संभवादिति—वाच्यम्, इच्छाजनकवृत्तिमात्रस्य ज्ञानत्वमभिप्रेत्य उत्सर्गत्वोक्तेः। यद्वा—वृत्तिभेदेऽपि इदंरूप्ययोरिदमंशावच्छिन्नचैतन्यप्रकाश्यत्वेन फलैक्यात् ज्ञानैक्यधीः। न च—परोक्षभ्रमे अपरोक्षैकरसचैतन्यरूपफलैक्याभावात् कथं तन्निबन्धनज्ञानैक्यानुभव इति—वाच्यम्, तत्र फलैक्यमप्युपचर्य ज्ञानैक्योपचार इत्येव विशेषात्। ननु—त्वन्मते यथाक्रममिदंरूप्याकारान्तःकरणवृत्त्यविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बिताभ्यां वा तद-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में प्रकाशत्व-प्रयुक्त ज्ञानपदास्पदता मानी गई है, अतः अन्तःकरण-वृत्ति में अज्ञाननिवर्तकत्व को लेकर 'ज्ञान' पद का मुख्य प्रयोग और 'प्रकाशत्व' उपाधि को लेकर उपचार या गौण प्रयोग कहा गया है। इसलिए अविद्या-वृत्ति में जहाँ 'ज्ञान' पद का प्रयोग किया गया है वह औपचारिक है।

शङ्का—अविद्या की वृत्ति यदि ज्ञान नहीं ज्ञान केवल अन्तःकरण की इदमाकार वृत्ति ही है, तब तो ज्ञानगत स्वतःप्रामाण्यवाद के अनुसार 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान में नैसर्गिक प्रामाण्य ही रहेगा, अपवाद या बाध के द्वारा ज्ञान में जो अप्रामाण्य माना जाता है, वह अविद्या-वृत्ति में नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह ज्ञान नहीं।

समाधान—इच्छाजनक वृत्तिमात्र को ज्ञान मान कर उत्सर्ग और अपवाद के आधार पर प्रामाण्य और अप्रामाण्य कहा गया है, अविद्यावृत्ति भी इच्छा की जनिका होने के कारण ज्ञान है और बाध के द्वारा उसमें अप्रामाण्य माना जाता है, पञ्चपादिकाकार कहते हैं—"मिथ्यालम्बनं ज्ञानं मिथ्याज्ञानम्, न स्वतो ज्ञानस्यं मिथ्यात्वमस्ति, बाधाभावात्" (पञ्च० पृ० ५२)।

अथवा इदमाकार और रजताकार वृत्तियों का भेद होने पर भी इदमर्थ तथा रजत दोनों इदमंशावच्छिन्न चैतन्यरूप एक फल से प्रकाशित हैं, अतः ज्ञानैक्य अनुभूति होती है, पञ्चपादिकाकार कहते हैं—"एकं ज्ञानमेकफलं जनयति" (पञ्च० पृ० ५२)।

शङ्का—अनावृत चैतन्यरूप फल की एकता से दो ज्ञानों में एकता का व्यवहार प्रत्यक्ष भ्रम-स्थल पर ही हो सकता है, परोक्ष भ्रम में नहीं क्योंकि वहाँ विषयेन्द्रियसन्निकर्ष न होने के कारण अपरोक्षैकरस चैतन्यरूप फल ही नहीं होता।

समाधान—परोक्ष-भ्रम-स्थल पर भी असत्त्वापादक आवरण-नाशरूप फलविशिष्टत्व को लेकर फलैक्य और उसके द्वारा ज्ञानैक्य का उपचार हो सकता है।

शङ्का—उक्त स्थल पर आप (अद्वैती) के मत में फल चैतन्य की एकता सम्भव नहीं, क्योंकि आप के मतानुसार इदमर्थ और रजत के अधिष्ठान चैतन्य दो होते हैं। एक अन्तःकरण-वृत्ति में प्रतिबिम्बित या अभिव्यक्त एवं दूसरा रजताकार अविद्या-वृत्ति

न्यायामृतम्

चिन्मात्राभेदस्य च सर्वत्र सत्त्वात्। न हि रूप्यं प्रतीवेदमंशं प्रत्यपीदमंशावच्छिन्न-चैतन्यमधिष्ठानम्, आत्माश्रयात्। नापीदमंशं प्रतीव रूप्यं प्रत्यपीदमंशावच्छिन्नम-धिष्ठानम्, इदं रूप्यमितिधीविरोधात्। एतेनेदमंशावच्छिन्नचैतन्यस्यवेदंवृत्तौ रूप्य-वृत्तौ च प्रतिफलनात् ज्ञानैक्यमिति निरस्तम्। क्रमिकयोरिदमितिज्ञानयोरप्यैक्या-पातात्, समूहालम्बनज्ञानस्यापि भेदापाताच्च, तस्यातदाकाररूप्यवृत्तौ प्रतिफलना-योगाच्च। अन्यथा रूप्याधिष्ठानेदंवृत्तिप्रतिफलितचितव रूप्यप्रतीतिसम्भवाद्रूप्याकारा-विद्यावृत्तिर्व्यर्था, तस्माज्ज्ञानैक्यानुभवविरोधो दुष्परिहरः। तिक्तो गुड इत्यादावपि मधुरो गुडः सुरभिचन्दनमित्यादाविव ज्ञा(भा)नान्तरोपनीतविशेषणविषयकमेव ज्ञानम्। तस्माच्छुक्तिरूप्याद्यपि नानिर्वाच्यं सुतरां जगदिति पारमार्थिकमेव तदिति।

भ्रमस्याद्वैत्यभिमतज्ञानद्वयात्मकत्वभंगः ॥ ६६ ॥

अद्वैतसिद्धिः

भिव्यक्ताभ्यां वा, इदमंशावच्छिन्नतदनवच्छिन्नाभ्यामिदमंशरूप्याधिष्ठानचैतन्याभ्यां वा, वेद्यत्वेनावच्छिन्नफलस्य भेदात् कथं फलैक्यम्? अनवच्छिन्नफलीभूतचिन्मात्राभेदस्य सर्वत्र समानत्वात्। नहीदमंशेऽपि तदवच्छिन्नमेव चैतन्यमुपादानम्, आत्माश्रयात्। न वा रूप्ये इदमंशानवच्छिन्नमुपादानम्, 'इदंरूप्य'मिति प्रतीत्यनुपपत्तेरिति—चेन्न, अविद्यावृत्तिस्तावन्नाज्ञाननाशिका, किंत्वन्तःकरणवृत्तिरिदमाकारा। तथा च तदभि-व्यक्तचैतन्यमेव रूप्यमभिव्यनक्तीति फलैक्यसंभवात्। न ह्यवच्छेदकभेदेन फलभेदः, किंतु व्यञ्जकभेदेन। तथा च परमार्थसच्चैतन्यमधिष्ठानमध्यस्तज्ञानस्य। तच्च द्विविधं व्यावहारिकसत् प्रातिभासिकसच्चेति। तदुक्तं—प्राग 'व्यावहारिकसत्त्वविषयत्वात् प्रत्यक्षं नागमबाधक मिति। परमार्थसत्त्वमादाय त्रिविधं सत्त्वम्।

॥ इति भ्रमस्य वृत्तिद्वयत्वोपपत्तिः ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

में प्रतिबिम्बत या अभिव्यक्त होकर विषय-प्रकाशक होता है। इसी प्रकार एक इदमं-शावच्छिन्न है और दूसरा इदमंशावच्छिन्न, अतः दो पृथक्-पृथ फल होते हैं, अतः फलैक्य सम्भव कैसे होगा? अनवच्छिन्न फलीभूत चैतन्य तो सर्वत्र समान है, क्योंकि इदमंश का अधिष्ठान शुद्ध ही होगा, इदमंशावच्छिन्न चैतन्य नहीं, अन्यथा इदमंश में इदमंश की अपेक्षारूप आत्माश्रय दोष होगा। रजत का भी अधिष्ठान इदमंशानवच्छिन्न नहीं हो सकता, अन्यथा 'इदं रजतम्'—ऐसी प्रतीति नहीं होगी।

समाधान—अविद्या-वृत्ति को अज्ञान का नाशक नहीं माना जाता, किन्तु इदमाकार अन्तःकरण-वृत्ति ही अज्ञान-निवर्तिका होती है, अतः अन्तःकरण की इदमाकार वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्यरूप फल ही रजत का भी प्रकाशक है, इस प्रकार फलैक्य सम्भव हो जाता है। अवच्छेदक के भेद से फल का भेद नहीं होता किन्तु व्यञ्जक (अज्ञान-नाशक वृत्ति) के भेद से फल का भेद होता है। परमार्थ सत् चैतन्य ही समस्त अध्यस्त वस्तु का अधिष्ठान होता है, वह अध्यस्त वस्तु दो प्रकार की होती है—(१) घटादि प्रपञ्च व्यावहारिक सत् और (२) रजतादि प्रातिभासिक सत्, जैसा कि पहले कहा गया है—व्यावहारिकसत्त्वविषयत्वात् प्रत्यक्षं नागमबाधकम्" परमार्थ सत्त्व को मिलाकर त्रिविध सत्त्व माना जाता है, विवरणकार कहते हैं—"त्रिविधं सत्त्वम्, (१) परमार्थसत्त्वं ब्रह्मणः, (२) अर्थक्रिया-सामर्थ्यसत्त्वं मायोपाधिकमाकाशादेः, (३) अविद्योपाधिकं सत्त्वं रजतादेः" (प. वि. पृ. १६५)।

: ७५ :

सत्तात्रैविध्यविचारः

न्यायामृतम्

यच्चेदमुच्यते—ब्रह्म पारमार्थिकं सद्, जगद् व्यावहारिकम्, शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिकमिति, सत् त्रिविधमिति। तन्न, स्वाप्नशुक्तौ चाध्यस्तरूप्यादेरुपसंग्रहाय प्रातिभासिकादपि निकृष्टस्य सत्त्वस्य पंचमप्रकारस्याव्याहारिकस्याज्ञानध्वंसस्य चोपसंग्रहायापारमार्थिकस्य व्यावहारिकादप्युत्कृष्टस्य सत्त्वस्य च वाच्यत्वेन त्रैविध्यायोगात्।

अद्वैतसिद्धिः

ननु—एवं सत्त्वत्रैविध्यविभागो नोपपद्यते, प्रातिभासिकादप्यपकृष्टस्य स्वाप्नरूप्यस्य व्यावहारिकादप्युत्कृष्टाया अविद्यानिवृत्तेः सद्भावादिति चेन्न, स्वाप्ने प्रातिभासिकनिकृष्टत्वे प्रमाणाभावात्। तथा हि प्रातिभासिकत्वं हि प्रतिभासमात्रसत्त्वम्, तच्च स्वप्नजागरयोः समानम्। ननु जागरे अधिष्ठानतावच्छेदकेदमंशस्याधिकसत्ताकत्वम्, स्वप्नकाले तस्यापि प्रातिभासिकत्वमित्येव निकृष्टत्वमिति चेन्न, स्वप्ने हि इदमो नाधिष्ठानावच्छेदकत्वम्, तुल्यवदारोप्यत्वात्। तत्राधिष्ठानमविद्यावच्छिन्नमेव चैतन्यमिति वक्ष्यते। अविद्यानिवृत्तेः पञ्चमप्रकारतापक्षे संसारकालीनसत्त्वस्यैवायं विभाग इति न न्यूनता। यद्वा—अविद्यानिवृत्तेः सत्त्वाभावेन सत्त्वविभागे न तदसंग्रहनिबन्धनो दोषः। वस्तुतस्तु—अविद्यानिवृत्तिः ब्रह्मस्वरूपा अनिर्वचनीया वेति न

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—पूर्वोक्त सत्ता-त्रैविध्य-विभाग सम्भव नहीं, क्योंकि जैसे पारमार्थिक से अपकृष्ट (न्यून) व्यावहारिक और व्यावहारिक से अपकृष्ट प्रातिभासिक माना जाता है, वैसे ही प्रातिभासिक से भी अपकृष्ट स्वाप्न रजतादि होते हैं। इतना ही नहीं, व्यावहारिक प्रपञ्च से उत्कृष्ट केवल ब्रह्म ही नहीं, अपितु अविद्या-निवृत्तिरूप पञ्चम प्रकार भी है।

समाधान—स्वाप्न रजतादि की प्रातिभासिक से अपकृष्टता में कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि प्रातिभासिकत्व का अर्थ होता है—प्रतीति-काल मात्र में सत्त्व। वह तो स्वप्न और जाग्रत् के शुक्ति-रजतादि में समान है। यदि कहा जाय कि जाग्रत्काल में अधिष्ठानतावच्छेदक इदमंश प्रातिभासिक की अपेक्षा अधिक (व्यावहारिक) सत्तावाला है और स्वप्न में वह इदमंश भी प्रातिभासिक ही है, अतः स्वाप्न प्रपञ्च प्रातिभासिक से भी अपकृष्ट होता है। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वप्न में इदमंश को अधिष्ठानता का अवच्छेदक नहीं माना जाता, क्योंकि रजत के समान इदमर्थ भी आरोपित ही होता है। स्वाप्न प्रपञ्च का अधिष्ठान होता है—अविद्यावच्छिन्न चेतन्य—यह कहा जायगा। अविद्या-निवृत्ति का पञ्चम प्रकार भी संसारकालीन सत्त्व का ही एक भाग माना जाता है, अतः सत्ता-त्रैविध्य-विभाग में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं। अथवा अविद्या-निवृत्ति सत्त्वरूप भी नहीं मानी जाती, अतः सत्त्व के वर्गीकरण में यदि उसका संग्रह नहीं होता, तब कोई भी दोष नहीं। वस्तुतः अविद्या-निवृत्ति को ब्रह्मरूप अथवा अनिर्वचनीय माना जा सकता है, अतः उक्त विभाग में कोई त्रुटि नहीं।

न्यायामृतकार ने जो यह आशङ्का की है कि उक्त विभाग तात्त्विक है ? या

न्यायामृतम्

किं चायं विभागो न तावत्तात्त्विकः, ब्रह्मैव तात्त्विकमित्यस्य भंगात्। नाप्यतात्त्विकः, तात्त्विकस्य ब्रह्मणोऽतात्त्विकत्वात्। शुक्तिरूप्यादिव बाधगम्यस्य विभागस्य तात्त्विकत्वावश्यम्भावात्। अन्यथा विभागश्रुतेरतत्त्वावेदकत्वं स्यात्। एवं च—

अयं विभागः सत्यश्चेदपसिद्धान्त आपतेत्।
मिथ्या चेन्कृतकृत्योऽहं त्वयैव स्वोक्तदूषणात्॥
व्यावहारिकसत्योऽपि बाध्योऽबाध्योऽथवा भवेत्।
उक्तो दोषश्चोभयत्र सर्वमेतेन दूषितम्॥

सम्भवति हि विश्वमिथ्यात्वब्रह्मनिर्विशेषत्वादावप्येवं विकल्प्य दूषणम्।

अद्वैतसिद्धिः

विभागन्यूनता। न च—विभागस्य तात्त्विकत्वे अपसिद्धान्तः, अतात्त्विकत्वे त्रिविधत्वं गतमेवेति वाच्यम्, ब्रह्मातिरिक्तमतात्त्विकमिति वदतो विभागातात्त्विकत्वस्येष्टत्वात्। न च तर्हि तात्त्विकत्रैविध्यहानिः, को हि त्रैविध्यस्य तात्त्विकत्वं ब्रवीति? किंतु व्यावहारिकत्वमेव। न च तात्त्विकस्य ब्रह्मणोऽतात्त्विकाच्छुक्तिरूप्याद् बाधाधिगम्यस्य विभागस्य कथमतात्त्विकत्वमिति—वाच्यम्, बाधबोध्यत्वं न तात्त्विकत्वे प्रयोजकम्, किंत्वबाध्यत्वम्। तच्च न ब्रह्मातिरिक्तवृत्ति, नेह नानेत्यादिना बाधात्। न च त्रिविधसत्त्वाङ्गीकारे ब्रह्मैव सदिति स्वमतविरोधः, तस्य परमार्थसद् ब्रह्मैवेत्येतत्परत्वात्। एतेन विश्वमिथ्यात्वब्रह्मनिर्विशेषत्वादावप्येवं विकल्प्य दूषणमित्यपास्तम्।

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

अतात्त्विक ? तात्त्विक मानने पर अपसिद्धान्त और अतात्त्विक मानने पर सत्ता-त्रैविध्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि एक चन्द्र अतात्त्विक विभाग से विभक्त नहीं होता। यह आशंका उचित नहीं, क्योंकि हमारा उद्घोष है—'ब्रह्मातिरिक्तमतात्त्विकम्।' उक्त विभाग की अतात्त्विकता भी अभीष्ट ही है, फिर भी त्रैविध्य-विभाग घटादि के समान अतात्त्विक बन जाता है। उक्त विभाग को तात्त्विक कोई भी नहीं मानता कि उसे अतात्त्विक मानने पर विभाग की तात्त्विकता समाप्त हो जाती।

शङ्का—बाध ज्ञान सत्य अधिष्ठान को विषय करता है—यह ऊपर कहा गया है। वह बाध ज्ञान जैसे ब्रह्म का बोधक है, वैसे ही शुक्ति-रजतादि से ब्रह्म के विभाग का भी, अतः विभाग को भी ब्रह्म के समान तात्त्विक ही मानना चाहिए—'विभागः तात्त्विकः, बाधबोधितत्वाद्, ब्रह्मवत्'—इस प्रकार का अनुमान भी हो सकता है।

समाधान—उक्त अनुमान में 'अबाध्यत्व' उपाधि है, क्योंकि तात्त्विकत्व का प्रयोजक अबाधितत्व ही होता है, बाध-बोधितत्व नहीं—यह पहले भी कहा जा चुका है। अबाधितत्व जैसे ब्रह्म में रहने के कारण साध्य का व्यापक है, वैसे साधन का व्यापक नहीं, क्योंकि "नेह नानास्ति किञ्चन"—इत्यादि श्रौत बाधों के द्वारा ब्रह्म-भिन्न विभाग भी बाधित है। त्रिविध सत्ता मानने पर 'ब्रह्मैव सत्'—यह जो आप (अद्वैती) का सिद्धान्त है, वह भंग हो जाता है—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि उस सिद्धान्त का तात्पर्य 'ब्रह्मैव परमार्थसत्'—इसमें है, अर्थात् ब्रह्म से भिन्न कुछ भी परमार्थसत् नहीं, केवल ब्रह्म ही परमार्थसत् है। इसी प्रकार उन दोषों का भी प्रतिकार हो जाता है, जो कि न्यायामृतकारने मिथ्यात्व, ब्रह्मगत निर्विशेषत्वादि धर्मों की तात्त्विकता और अतात्त्विकता के विकल्प उठा कर दिये हैं।

न्यायामृतम्

अपि च किमत्र परमार्थसदेव सत् इतरद्द्वयं सद्विलक्षणमेव सत्त्वेन भाति-बाधविलम्बाविलम्बाभ्यान्तद्भेद इत्यभिप्रेतम् ? किं वा सत्त्वस्यैवाऽवान्तरभेद इति ? नाद्यः, त्वन्मते रूप्याभावे रूप्यधिय इव सत्त्वाभावे सत्त्वबुद्धेरयोगाद्, उत्पत्त्यादौ लाघवेन कदाचित्सत्त्वस्यैव तंत्रतया सत्त्वहीनस्य रूप्यादेरुत्पत्त्याद्ययोगाच्च, व्यावहारिके प्रातिभासिकादर्थगतविशेषाभावे तत्रार्थक्रियादेः श्रुतीनां व्यावहारिकविषयत्वेन प्रामाण्यस्य चायोगाच्च। दीर्घभ्रान्तिहेतुत्वे नभो नैल्यभ्रमहेतोरिवाप्रामाण्यातिशय एव स्यात्। नान्त्यः, असतः साधकत्वभंगे आरोपितानारोपितानुगतं सामान्यं नास्तीत्युक्तत्वात्। व्यावहारिकस्य चानारोपितविशेषत्वे-

अद्वैतसिद्धिः

ननु—अत्र परमार्थसदेव सदितरद्द्वयं सद्विलक्षणमेव सत्त्वेन भाति, बाधविलम्बाविलम्बाभ्यां तद्भेद इत्यभिप्रेतम्? उत वा सत्त्वस्यैवावान्तर भेद इति ? नाद्यः, त्वन्मते रूप्याभावे रूप्यधीरिव सत्त्वाभावे सत्त्वबुद्धेरयोगात्। कदाचिदपि सत्त्वाभावे तुच्छवदुत्पत्त्याद्ययोगात्, व्यावहारिके प्रातिभासिकादर्थगतविशेषाभावेन तत्रार्थक्रियादेः श्रुतीनां तद्विषयत्वेन प्रामाण्यस्य चायुक्त्यापातात्। प्रत्युत नभो नैल्यभ्रमहेतोरिव अर्थभ्रान्तिहेतुत्वेनाप्रामाण्यनिश्चय एव स्यात्। नान्त्यः, आरोपितानारोपितसाधारणसामान्यधर्माभावाद्, व्यावहारिकस्यानारोपितविशेषत्वे इष्टापत्तेश्चेति—चेन्न, द्वितीयपक्षस्यैव क्षोदक्षमत्वात्। तथा हि—अबाध्यत्वरूपमारोपितानारोपितयोः सामान्यम्। अन्यदा बाध्येऽपि स्वकालाबाध्यत्वमात्रेणारोपितेऽपि तस्य संभवात्,

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

शङ्का—यहाँ आप (अद्वैती) को क्या 'परमार्थ सत् ही एक सत् तत्त्व है, शेष दो (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) तो सत् नहीं, केवल सत्त्वेन प्रतीयमान होते हैं। सद्विलक्षणत्वेन दोनों एक होने पर भी दोनों मे केवल इतना ही भेद है कि व्यावहारिक का बाध कुछ विलम्ब से होता है और प्रातिभासिक का बाध अविलम्बतः हो जाता हैं—यह अभिप्रेत है ? अथवा दोनों सत् के ही अवान्तर भेद हैं यह अभिप्रेत है ? प्रथम पक्ष समीचीन नहीं, क्योंकि आप (अद्वैती) के मतानुसार जैसे शुक्ति में रजत न होने पर रजत की प्रतीति नहीं हो सकती, वैसे ही घटादि में सत्त्व न होने पर सत्त्व की प्रतीति नहीं हो सकती, दूसरी बात यह है कि यदि इन दोनों (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) की कभी भी सत्ता नहीं, तब शशशृङ्गादि के समान इनकी उत्पत्त्यादि भी न हो सकेगी। व्यावहारिक पदार्थों में प्रातिभासिक पदार्थ से कुछ अन्तर न मानने पर व्यावहारिक पदार्थों में न तो अर्थक्रियाकारित्व बन सकेगा और न व्यावहारिकार्थ-बोधक श्रुतियों में प्रामाण्य, प्रत्युत जसे आकाशगत नोलता के बोधक प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य-निश्चय होता है, वैसे ही व्यावहारिक पदार्थ-बोधक प्रत्यक्ष और श्रुत्यादि में भ्रान्ति-जनकता होने के कारण अप्रामाण्य-निश्चय ही हो जायगा। अन्तिम (सत् के अवान्तरभेद) पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि जसे द्रव्य के पृथिव्यादि अवान्तर भेदों में एक द्रव्यत्व सामान्य सर्वत्र अनुगत है, वैसे पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक में एक सत्त्व धर्म नहीं माना जाता, प्रातिभासिक आरोपित है, उससे भिन्न व्यावहारिक अनारोपित विशेष है—ऐसा मानने में हमें (द्वैती को) इष्टापत्ति है।

समाधान—उक्त विकल्पों में द्वितीय (सत् के अवान्तर भेद) पक्ष ही ग्राह्य है।

अद्वैतसिद्धिः

आरोपितानारोपितयोरेकसामान्याभावे प्रवृत्त्याद्यनुपपत्तेरुक्तत्वात् । अत एवोक्तम्—
आकाशादौ सत्यता तावदेका प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या ।
तत्सम्पर्कात् सत्यता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र ॥ इति

यथा प्रातिभासिकरजते ज्ञातैकसदेकं रजतत्वम्, लौकिकपरमार्थरजते चाज्ञातसदपरं रजतत्वम्, तदुभयानुगतं चारोपितानारोपितसाधारणं रजतत्वं रजतशब्दालम्बनम्, एवमाकाशादावारोपितैका सत्यता, चिदात्मनि चानारोपिताऽपरा, तदुभयसाधारणी चान्या व्यावहारिकी सत्यता सत्यशब्दालम्बनमिति भावः। सद्विशेषत्वेऽपि व्यावहारिकस्य प्रपञ्चस्य नानारोपितविशेषत्वम्, येनेष्टापत्तिरवकाशमासादयेत्, सत्त्वस्यानारोपितत्वात्मकत्वाभावात्। सत्त्वाङ्गीकारादेव नोत्पत्त्यादिविरोधोऽपि। न च—स्वरूपेण बाध्यत्वं प्रपञ्चेऽपि नास्ति, तुच्छत्वप्रसङ्गात्, पारमार्थिकत्वाकारेण बाध्यत्वं निर्धर्मकतया ब्रह्मण्यप्यस्तीति कथं कदाचिद्बाध्यत्वमादाय व्याव-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

यह जो कहा था कि तीनों में कोई सत्त्व' धर्म अनुगत नहीं, वह कहना सत्य नहीं, क्योंकि अबाध्यत्वरूप सत्त्व तीनों में अनुगत है। ब्रह्म में सर्वथा अबाध्यत्व, व्यावहारिक प्रपञ्च में व्यवहरकालाबाध्यत्व तथा प्रातिभासिक में प्रतीतिकालाबाध्यत्व माना जाता है। व्यावहारिक रजत-वृत्ति रजतत्व यदि प्रातिभासिक रजत में नहीं रहता, तब पुरुष की प्रवृत्त्यादि वहाँ नहीं हो सकेगी, अतः प्रातीतिक रजतत्व मानना आवश्यक है—यह कहा जा चुका है। अत एव संक्षेपशारीरककारने कहा है—

आकाशादौ　सत्यता　तावदेका,
प्रत्यङ्मात्रे　सत्यता　काचिदन्या।
तत्सम्पर्कात् सत्यता तत्र चान्या,
व्युत्पन्नोऽयं　सत्यशब्दस्तु　तत्र ॥ (सं. शा. १।१७८)

अर्थात् जैसे प्रातिभासिक रजत में ज्ञातमात्रसत्ताक पहला रजतत्व, लौकिक परमार्थ रजत में अज्ञातसत्ताक दूसरा रजतत्व और उभयानुगत आरोपितानारोपित-साधारण रजतत्व 'रजत' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त होता है, वैसे ही आकाशादि में आरोपित सत्यता पहली, चिदात्मा में अनारोपित सत्यता दूसरी तथा उभयानुगत तीसरी व्यावहारिक सत्यता, जो कि 'सत्य' शब्द का आलम्ब (प्रवृत्ति-निमित्त) है। यह जो कहा था कि व्यावहारिक प्रपञ्च को सत् का भेद तथा रजतादि आरोपित पदार्थ से भिन्न मानने पर इष्टापत्ति है, वह कहना संगत नहीं, क्योंकि रजतादि आरोपित का भेद रह जाने मात्र से प्रपञ्च को अनारोपित नहीं कह सकते, व्यावहारिक सत् विशेष भी ब्रह्म में आरोपित ही है। व्यावहारिक और प्रातिभासिक की सत्ता मानी जाती है, अतः उनकी उत्पत्त्यादि भी उपपन्न हो जाती है।

शङ्का—[आपने जो कहा है कि ब्रह्म कभी भी बाधित नहीं, किन्तु व्यावहारिक और प्रातिभासिक कदाचित् बाधित होते हैं—यही अनारोपित ब्रह्म से आरोपित प्रपञ्च का भेद है। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि] स्वरूपेण प्रपञ्च का भी बाध नहीं माना जाता, अन्यथा वह शशशृङ्गादि के समान ही निस्तत्त्व मात्र होकर रह जायगा, अतः प्रपञ्च का बाध पारमार्थिकत्वेन ही करना होगा, वैसा बाध तो ब्रह्म का भी सम्भव है, क्योंकि ब्रह्म निर्धर्मक है, अतः ब्रह्म के लिए भी पारमार्थिकत्वेन नास्ति—ऐसा कहा जा

न्यायामृतम्

स्मदभिमतसिद्धेः ।

किं च पारमार्थिकापारमार्थिकयोर्न तावद् बाधाबाधाभ्यां भेदः, मिथ्यात्वभंगे उक्तरीत्याऽध्यस्तेऽपि स्वरूपाबाधस्य ब्रह्मण्यन्याकारबाधस्य सत्वात् जगद्बाधकस्य च सप्रकारकत्वे तस्यैव प्रकारस्याबाध्यत्वापातात् । निष्प्रकारकत्वे च बाधकत्वायोगाद्, व्यावहारिकप्रातिभासिकयोरपि न तावन्मायिकत्वाविद्यकत्वाभ्यां भेदः, नाप्यर्थक्रियाकारित्वतदभावाभ्यामदानादिनिर्वाहकत्वतदभावाभ्यां वा भेदः, अर्थगत-

अद्वैतसिद्धिः

हारिकत्वादिस्थितिरिति वाच्यम्, मिथ्यात्वरूपसाध्यनिरुक्तावेवास्य दत्तोत्तरत्वात् ।

यत्तु—सप्रकारकस्यैव ज्ञानस्य प्रपञ्चबाधकत्वं वक्तव्यम्, निष्प्रकारकत्वे बाधकत्वायोगात्, तथा च स प्रकारस्तात्त्विक एव स्यात्—इति, तन्न, स्वरूपोपलक्षणोपलक्षितस्वरूपविषयकव्यावृत्ताकारज्ञानस्यैव निष्प्रकारकत्वेऽपि बाधकत्वमित्यस्यापि प्रागेवोक्तत्वात् । स्वरूपोपलक्षणनिबन्धनव्यावृत्ताकारत्वेऽपि यथा नाखण्डार्थत्वक्षतिः, तदप्युक्तमधस्तात् ।

ननु—व्यावहारिकप्रातिभासिकयोर्बाध्यत्वाविशेषे किन्निबन्धनो भेदः? न तावन्मायिकत्वाविद्यकत्वाभ्यां भेदः, मायाविद्ययोरभेदात् । अर्थगतविशेषाभावे तद-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

सकता है । तब कदाचिद्बाध्यत्व के द्वारा व्यावहारिकत्व और प्रातिभासिकत्व की व्यवस्था नहीं की जा सकती ।

समाधान—इस शंका का समाधान 'प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्'—इस अनुमान के मिथ्यात्व साध्य का निरूपण करते समय (विगत पृ० २९ पर) ही किया जा चुका है कि स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व प्रपञ्च में मानने पर भी तुच्छत्वापत्ति नहीं होती और निर्धमक ब्रह्म में सत्त्व के समान उक्त मिथ्यात्व धर्म भी नहीं रहता ।

न्यायामृतकार ने जो यह कहा है कि "जगद्बाधकस्य सप्रकारकत्वे तस्यैव प्रकारस्याबाध्यत्वापातात्, निष्प्रकारत्वे च बाधकत्वायोगात्" [अर्थात् प्रपञ्च का बाधक ज्ञान यदि सप्रकारक है, तब 'प्रकार' वस्तु को बाध्य-कक्षा से बाहर रह जाने के कारण तात्त्विक मानना होगा और निष्प्रकारक ज्ञान बाधक नहीं हो सकता]। वह कहना तर्क-संगत नहीं, क्योंकि निष्प्रकारक ज्ञान भी बाधक होता है यह भी पहले (पृ. १७४ पर) कह चुके हैं कि व्यावृत्ताकार ज्ञान बाधक होता है, उसमें जब स्वरूपभूत उपलक्षण के द्वारा व्यावृत्ताकारता आती है, तब उस ज्ञान को निष्प्रकारक कहा जाता है । स्वरूपभूत उपलक्षण के द्वारा व्यावृत्ताकारता के आने पर भी अखण्डार्थकत्व की हानि नहीं होती—यह भी संक्षेप में कहा जा चुका है और विस्तार से द्वितीय परिच्छेद में कहा जायगा ।

शङ्का—व्यावहारिक और प्रातिभासिक—दोनों में जब समानरूप से बाध्यत्व रहता है, तब उनमें भेद किस आधार पर माना जाता है ? मायिकत्व और आविद्यकत्व के द्वारा भी भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि माया और अविद्या में अभेद माना जाता है । व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थों में कोई अन्तर न होने पर मायिकत्व और आविद्यकत्व का भी भेद नहीं माना जा सकता । व्यावहारिक रजतादि अर्थ-क्रियाकारी (भूषणादि निर्माण-समर्थ) है और प्रातिभासिक रजत अर्थ क्रियाकारी नहीं अतः दोनों का भेद है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि स्वप्नावस्था के प्रातिभासिक

न्यायामृतम्

विशेषाभावे तदयोगात् , स्वाप्नेऽपि कुम्भादौ स्वाप्नजलाहरणाद्यर्थक्रियाकारित्वादेः सत्त्वाच्च । व्यावहारिकस्य तस्य विवक्षायां चात्माश्रयात् । नापि ब्रह्मधीबाध्यत्वतदन्यधीबाध्यत्वाभ्यां भेदः, त्वन्मते रूप्यादेरपि शुक्त्यवच्छिन्नब्रह्मधीबाध्यत्वात् । ब्रह्मण्यध्यस्तस्य प्रातिभासिकस्य क्षणिकत्वादेरपि ब्रह्मधीबाध्यत्वाच्च । नापि ब्रह्मप्रमाबाध्यत्वतदन्यप्रमाबाध्यत्वाभ्यां भेदः, त्वन्मते ब्रह्मज्ञानस्यैव प्रमात्वात् । नापि प्रमाबाध्यत्वभ्रान्तिबाध्यत्वाभ्यां भेदः, भ्रान्तिबाध्यत्वस्य ब्रह्मण्यपि सत्त्वात् । नापि शुद्धब्रह्मधीबाध्यत्वतदन्यधीबाध्यत्वाभ्यां भेदः, शुद्धशब्देन भ्रान्तदशायामज्ञाताधिष्ठानभूतविशेष्यमात्रोक्तौ तज्ज्ञानस्याबाधकत्वात् , तत्कालाज्ञातेन द्वितीयाभावादिना विशिष्टस्योप-

अद्वैतसिद्धिः

योगाच्च । नाप्यर्थक्रियाकारित्वाकारित्वाभ्यां विशेषः, स्वाप्नघटादौ स्वाप्नजलाहरणाद्यर्थक्रियादर्शनात् । न चार्थक्रियायां व्यावहारिकत्वं विशेषणम् , अन्योन्याश्रयात् , स्वाप्नाङ्गनालिङ्गनादौ प्रातिभासिके व्यावहारिकसुखजनके अतिव्याप्तेश्च । नापि ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वतद्भिन्नज्ञानबाध्यत्वाभ्यां विशेषः, त्वन्मते रूप्यादेरपि शुक्त्यवच्छिन्नब्रह्मधीबाध्यत्वाद् , ब्रह्मण्यध्यस्तस्य क्षणिकत्वादेरपि प्रातिभासिकस्य ब्रह्मधीबाध्यत्वेनातिप्रसङ्गाच्च । नापि ब्रह्मप्रमाबाध्यत्वतदन्यप्रमाबाध्यत्वाभ्यां विशेषः, त्वन्मते ब्रह्मज्ञानस्यैव प्रमात्वात् । नापि प्रमाबाध्यत्वभ्रान्तिबाध्यत्वाभ्यां विशेषः, भ्रान्तिबाध्यत्वस्य ब्रह्मण्यपि सत्त्वात् । नापि पारमार्थिकविषयधीबाध्यत्वव्यावहारिकविषय-

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

घटादि में भी जलाहरणादिरूप अर्थक्रिया की क्षमता देखी जाती है । अर्थक्रिया (प्रयोजन) का व्यावहारिक विशेषण देने पर आत्माश्रय अन्योऽन्याश्रयादि दोष होते हैं, एवं स्वाप्न कामिनी-स्पर्शादि प्रातिभासिक पदार्थों में व्यावहारिकत्व-लक्षण की अतिव्याप्ति भी होती है, क्योंकि वह भी व्यावहारिक सुखरूप अर्थक्रिया का जनक होता है । 'व्यावाहारिक पदार्थ ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा ही बाधित होते हैं, किन्तु प्रातिभासिक रजतादि पदार्थ ब्रह्म-ज्ञान से भिन्न शुक्ति-ज्ञानादि के द्वारा भी बाधित होते हैं'—इस प्रकार भी दोनों में भेद नहीं डाला जा सकता, क्योंकि आप (अद्वैती) के मत में शुक्त्यवच्छिन्न ब्रह्मरूप चैतन्य के ज्ञान से ही रजतादि प्रातिभासिक पदार्थों का भी बाध माना जाता है । ब्रह्म में अध्यस्तक्षणिकत्वादि प्रातिभासिक पदार्थों का भी ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा ही बाध होने के कारण व्यावहारिकत्व का लक्षण उनमें अतिव्याप्त भी हो जाता है । आप (अद्वैती) के मतानुसार ब्रह्म-प्रमा और ब्रह्म-ज्ञान में कुछ अन्तर नहीं, अतः ब्रह्मप्रमा-बाध्यत्व और ब्रह्म-प्रमान्यप्रमा-बाध्यत्व के द्वारा भी व्यावहारिक और प्रातिभासिक का भेद नहीं किया जा सकता । यदि कहा जाय कि ब्रह्म-ज्ञान सर्वथा अबाधितविषयक होने के कारण प्रमा है और 'नेदं रजतम्'—इत्यादि व्यावहारिक बाध बाधितविषयक होने के कारण भ्रान्तिरूप ही माने जाते हैं, अतः व्यावहारिक प्रपञ्च प्रमा से और प्रातिभासिक पदार्थ भ्रान्ति से बाधित होने के कारण भिन्न भिन्न माने जाते हैं । तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'ब्रह्म मिथ्या'—इस प्रकार की भ्रान्ति से ब्रह्म का भी बाध देखा जाता है । ब्रह्मरूप पारमार्थिक विषय को विषय करने वाली बुद्धि से व्यावहारिक का और शुक्त्यादि व्यावहारिक विषय को विषय करनेवाली बुद्धि से प्रातिभासिक पदार्थों का बाध होने के कारण भी दोनों का भेद नहीं माना जा सकता, क्योंकि

न्यायामृतम्

लक्षितस्य चोक्तो वेदान्तानामखंडार्थत्वहानेः, द्वितीयाभावादेः पारमार्थिकत्वापाताच्च। एतेन महावाक्यजन्यधीबाध्यत्वतदन्यधीबाध्यत्वाभ्यां वा चरमधीबाध्यत्वतदन्यधीबाध्यत्वाभ्यां वा भेद इति निरस्तम्, महावाक्यजन्यस्य चरमस्य चाखंडार्थवेदान्तजन्यतया निष्प्रकारकत्वेन बाधकत्वायोगात्। सप्रकारकत्वे च तस्य प्रकारस्य तात्त्विकत्वापत्तेः। अत एव न निष्प्रकारकबाध्यत्वसप्रकारकबाध्यत्वाभ्यां भेदः। नापि पारमार्थिकविषयधीबाध्यत्वव्यावहारिकविषयधीबाध्यत्वाभ्यां भेदः, अन्योन्याश्रयात्। नाप्यन्योन्येतरत्वाभ्यां भेदः, भेदकाभावे इतरेतरत्वस्यैवायोगाद्, अन्योऽन्याश्रयाच्च।

अद्वैतसिद्धिः

धीबाध्यत्वाभ्यां विशेषः, अन्योन्याश्रयात्। नाप्यन्योन्येतरत्वाभ्याम्, भेदकाभावे इतरत्वस्यैवायोगाद्, अन्योन्याश्रयाच्चेति—चेन्न, सप्रकारकनिष्प्रकारकज्ञानबाध्यत्वाभ्यां शुद्धब्रह्मधीबाध्यत्वतदन्यधीबाध्यत्वाभ्यां वा महावाक्यजन्यधीबाध्यत्वतदन्यधीबाध्यत्वाभ्यां वा स्वबाधकधीबाध्यत्वतदन्यधीबाध्यत्वाभ्यां वा भेदसंभवात्। शुद्धशब्देन निर्धर्मकाधिष्ठानमात्रमेवात्र विवक्षितम्। न च निर्धर्मकं यद् वस्तुगत्या तज्ज्ञानं भ्रमकालेऽपि, निर्धर्मकत्वविशिष्टस्य तदुपलक्षितस्य वा ज्ञानं चेद्विवक्षितं, तदा

अद्वैतसिद्धि व्याख्या

अन्योऽन्याश्रय दोष होता है। अन्योऽन्येतरत्व (परस्पर-भेद अर्थात् व्यावहारिकान्यत्व और प्रातिभासिकान्यत्व) के द्वारा भी दोनों का भेद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों का कोई भेदक न होने के कारण न तो व्यावहारिक में प्रातिभासिकान्यत्व रह सकता है और न प्रातिभासिक में व्यावहारिकान्यत्व। वैसा कहने में अन्योऽन्याश्रय दोष भी होता है।

समाधान—(१) सप्रकारक ज्ञान-बाध्यत्व और निष्प्रकारक ज्ञान-बाध्यत्व या (२) शुद्ध ब्रह्म-ज्ञान-बाध्यत्व और शुद्ध ब्रह्मान्यविषयकज्ञान-बाध्यत्व या (३) महावाक्यजन्य ज्ञान-बाध्यत्व और महावाक्यज ज्ञान-भिन्न ज्ञान-बाध्यत्व या (४) स्व-बाधक धी-बाध्यत्व और स्व-बाधकज्ञान-भिन्न ज्ञान-बाध्यत्व के द्वारा व्यावहारिक और प्रातिभासिक का भेद किया जा सकता है [कथित चार विकल्पों में प्रथम कल्प के अनुसार निष्प्रकारक ज्ञान-बाध्यत्वरूप व्यावहारिकत्व 'सोऽयम्'—इस प्रत्यभिज्ञा-वाक्य-जन्य निष्प्रकारक ज्ञान के द्वारा बाधित प्रातिभासिक (तदर्थ और इदमर्थ के) भेद में अतिप्रसक्त होता है, अतः द्वितीय कल्प अपनाया गया। द्वितीय कल्प के अनुसार शुद्ध ब्रह्म में ज्ञान-विषयता न मानने पर असम्भव हो जाता है, अतः तृतीय कल्प की कल्पना की गई है। तृतीय कल्प वाचस्पति-सम्मत नहीं, क्योंकि व्यावहारिक प्रपञ्च-बाधक अखण्ड साक्षात्कार वाचस्पति के मत में महावाक्य-जन्य नहीं होता, अपितु भावना-सहकृत मन से उत्पन्न होता है, अतः चतुर्थ कल्प का उपन्यास किया गया है। जगत् की बाधिका अखण्डाकार वृत्ति अपनी भी बाधिका मानी जाती है, किन्तु शुक्ति-ज्ञान स्व-बाधक नहीं, अतः व्यावहारिक प्रपञ्च स्वबाधकरूप बाध से बाधित है और शुक्ति-रजतादि स्व-बाधकान्य बाध से बाधित]। तृतीय कल्प में 'शुद्ध' शब्द से निर्धर्मक अधिष्ठान मात्र ब्रह्म विवक्षित है।

शङ्का—तृतीय कल्प में जो वस्तुतः निर्धर्मक ब्रह्म है, उसका ज्ञान विवक्षित है? अथवा निर्धर्मकत्व-विशिष्ट या निर्धर्मकत्वोपलक्षित ब्रह्म का ज्ञान? वस्तुगत्या निर्धर्मक

न्यायामृतम्

तस्माज्जगतः सत्यत्वात् समन्वयाध्यायोक्त्याथः सत्यजगत्कर्तृत्वाद्यनन्तगुणे ब्रह्मणि वेदान्ताः प्रमाणमिति । सत्त्वात्रैविध्यभंगः ॥ ६८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीमद्ब्रह्मण्यतीर्थपूज्यपादानां
शिष्येण व्यासयतिना संगृहीते न्यायामृते
प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

अद्वैतसिद्धिः

अखण्डार्थताहानिः, प्रकारीभूतनिर्धर्मकत्वद्वितीयाभावादेस्तात्त्विकत्वापत्तिश्चेति—वाच्यम्, निर्धमकं यद् वस्तुगत्या तन्मात्रगोचरज्ञानस्य विवक्षितत्वात्, तस्य च भ्रमकालेऽभावात् । निर्धमकत्वादेस्तद्बुद्ध्युपायत्वमात्रम्, न तु तद्बुद्धौ विषयत्वम् । अतो नाखण्डार्थताहानिप्रकारतात्त्विकत्वापत्ती । निष्प्रकारकत्वेऽपि संशयादिनिवर्तकत्वमुपपादितमेव । तस्मादज्ञानोपादानकं जगत् मिथ्येति सिद्धम् ॥

उपाधिबाधप्रतिपक्षशून्यं विपक्षबाधागमसव्यपेक्षम् ।
दृश्यत्वमव्याहतमम्बरादिमिथ्यात्वसिद्धौ सुदृढं हि मानम् ॥

तदेवं दृश्यस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वात्तदतिरिक्तब्रह्मरूपाखण्डार्थनिष्ठवेदान्तवाक्यं परतत्त्वावेदकम् । सखण्डार्थविषयकं सर्वमतत्त्वावेदकमेवेति । यद्यपीदं ब्रह्मज्ञानाव्यवहितभ्रमविषये प्रातिभासिके व्यावहारिकलक्षणमतिव्याप्तम् । प्रातिभासिकलक्षणं चाव्याप्तम्, तथापि करणसंसर्गिदोषप्रयुक्तत्वं तदसंसर्गिदोषप्रयुक्तत्वं च तयोर्लक्षणं

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

ब्रह्म तो सर्व प्रत्यय-वेद्य है, उसका ज्ञान भ्रान्तिकाल में भी है, अतः वह भ्रान्ति का बाधक ही नहीं होता और निर्धर्मकत्व-विशिष्ट ब्रह्म का ज्ञान अखण्डार्थक नहीं रहता तथा निर्धर्मकत्व अद्वितीयत्वादि प्रकारीभूत धर्मों में तात्त्विकत्व की भी आपत्ति होती है ।

समाधान—प्रथम पक्षोक्त वस्तुगत्या निर्धर्मक ब्रह्म का ज्ञान ही यहां विवक्षित है । वह ज्ञान भ्रम-काल में नहीं होता, निर्धर्मकत्वादि धर्मों का उक्त ज्ञान की विषय-कोटि में प्रवेश नहीं, वह केवल उस ज्ञान का उपनायक मात्र माना जाता है, अतः न तो अखण्डार्थकत्व की हानि ही होती हे और न प्रकारीभूत धर्म में तात्त्विकत्वापत्ति । निष्प्रकारक ज्ञान में भी संशयादि की निवर्तकता का उपपादन किया जा चुका है । फलतः जगत् अज्ञानोपादानक और मिथ्या है । 'आकाशादि प्रपञ्च की मिथ्यात्व-सिद्धि में उपाधि, बाध और प्रतिपक्ष (सत्प्रतिपक्षत्व) इत्यादि दोषों से रहित, विपक्ष-बाधक तर्क एवं आगम से संवलित दृश्यत्वरूप हेतु अकाट्य एवं सुदृढ़ प्रमाण है ।' इस प्रकार दृश्य प्रपञ्च की मिथ्यात्व-सिद्धि हो जाने पर, प्रपञ्चातीत अखण्ड ब्रह्म में समन्वित वेदान्त-वाक्य परम तत्त्व के आवेदक और सखण्डार्थ विषयक सभी वाक्य अतत्त्वावेदक ही माने जाते हैं ।

यद्यपि व्यावहारिकत्व के पूर्वोक्त चारों लक्षण ब्रह्म-ज्ञान के अव्यवहित पूर्व क्षण में उत्पन्न भ्रम के विषयीभूत प्रातिभासिक में अतिव्याप्त हैं, क्योंकि वह महावाक्य-जन्य, शुद्ध ब्रह्म-विषयिणी स्वबाधिका अखण्डाकारापरोक्ष वृत्ति के द्वारा बाधित है । इसी प्रकार उसी प्रातिभासिक में पूर्वोक्त प्रातिभासिकत्व-लक्षण अव्याप्त भी है, क्योंकि वह

अद्वैतसिद्धिः

निरवद्यम् ॥ इति सत्त्वत्रैमिथ्योपपत्तिः ॥

अविद्यातत्कार्यात्मकनिबिडबन्धव्यपगमे यमद्वैतं सत्यं प्रततपरमानन्दममृतम् ।
भजन्ते भूमानं भवभयभिदं भव्यमतयो नमस्तस्मै नित्यं निखिलनिगमेशाय हरये ॥१॥
अनादिसुखरूपता निखिलदृश्यनिर्मुक्तता निरन्तरमनन्तता स्फुरणरूपता च स्वतः ।
त्रिकालपरमार्थता त्रिविधभेदशून्यात्मना मम श्रुतिशतार्पिता तदहमस्मि पूर्णो हरिः॥२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीचरणशिष्यश्रीमधुसूदन-
सरस्वतीविरचितायामद्वैतसिद्धौ सपरिकरप्रपञ्चमिथ्यात्वनिरूपणं नाम
प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

अद्वैतसिद्धि-व्याख्या

उक्त वृत्ति से भिन्न ज्ञान के द्वारा बाधित नहीं। तथापि चक्षुरादि करण-सम्बन्धी काच-कामलादि दोष प्रयोज्यत्व प्रातिभासिकत्व का तथा करणासम्बन्धी अविद्यादि दोष-प्रयोज्यत्व व्यावहारिकत्व का निर्दोष लक्षण है।

विमल सात्त्विक अन्तःकरण वाले श्रद्धालुगण अविद्या एवं आविद्यक प्रपञ्चरूप कठोर बन्धन को तोड़ने के लिए जिस अद्वैत, सत्य, व्यापक, परमानन्द अमर भव-भयापहारी भूमा तत्त्व की आराधना किया करते हैं, उस निखिल निगम-गेय विष्णु भगवान् को हमारा नित्य नमस्कार है ॥ १ ॥ मुझ में ही अनादिसुखरूपता, निखिल दृश्य-शून्यता, स्वतःप्रकाशरूपता, त्रिकाल परमार्थता, त्रिविध परिच्छेद-रहितता और समस्त श्रुतिशरण्यता है, अतः मैं पूर्ण पर ब्रह्म हूँ ॥ २ ॥

समुद्रमथनात् सिद्धा सुधा लक्ष्म्या स वता।
न्यायमथनात् जाता सरस्वत्या समाहृता ॥ १ ॥
व्यासाचलप्रसूता या कालिन्दी पूर्ववाहिनी।
तामालिङ्गति गङ्गाद्य सिद्धिः पश्चिमवाहिनी ॥ २ ॥
सितासिते वा सरिते समेते,
ऋतानृते वा श्रुतिसारभूते।
पारावरे हस्ततले युते वा
न्यायामृताद्वैतसतत्त्वसिद्धी ॥ ३ ॥
श्रमातिरेके व्यासस्य सरस्वत्यास्तु कौशलम्।
मेघमण्डलसंरम्भे चपलायास्तु चापलम् ॥ ४ ॥
नाथं नमामि नाथानां विश्वनाथं परात्परम् :
तारामेकजटां वन्दे परां संविदमामुदे ॥ ५ ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दविरचितायाम् अद्वैतसिद्धिव्याख्यायां
प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

चतुर्थं परिशिष्टम्

शोधनिका

पृष्टम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
3	5	न वा अखण्ड-	न वा पारमार्थिकत्वाकारेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगि ? न वा ? अखण्ड-
196	3	सप्रकाबाध्य	सप्रकारकाबाध्य
205	4	कावतो	कारवतो
237	6	परिहाविशे	परिहारविशे
243	11	सत्वकल्पना	सत्वविषयत्वकल्पना
245	13	न च सत्व	न च सत्वश्रुतेः सत्व
305	5	चेत् नित्य	चेत्, मैवम्, नित्य
325	6	जन्यात् पूर्व	जन्यात् स्वज्ञानात् पूर्व
427	13	सत्यम्	सत्यत्वम्
438	6	हृथग्भाव	पृथग्भाव
442	20	एकशब्दसर्व	एकशब्दपिण्डशब्दसर्व
446	12	वाचीद्र	वाचीन्द्र
451	4	'निवर्तकत्वे' — इसके अनन्तर छूट — तन्निव—र्त्यस्य तज्ज्ञानसमानविष्यकाज्ञानोपादानकत्व-रूपमिथ्यात्वं सिद्धचतीति यक्तं शुक्त्यादिज्ञान-समानविषयकाज्ञानोपदानकत्वेन रजतादेर्मि-थ्यात्वम्, सैत्वादिदर्शनादिनिवर्त्यदुरितादेस्तु न निवर्तकज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वमिति न मिथ्यात्वम्। एवं चात्मज्ञानस्यापि विहित-क्रियात्वेन निवर्तकत्वसम्भवाद् अधिष्ठानज्ञानत्वेन च निवर्तकत्वे	
462	18	दोषाज्ञानदृष्ट्	दोषाज्ञानादृष्ट
538	3	चिदुपारार्थे	चिदुपरागार्थे
544	4	मनादिमात्र	मनाद्भिावमात्र
556	3	देवासुसंग्राम	देवासुरसंग्राम
577	13	व्याक्हारिकमेद	व्यावहारिकभेद
615	12	हमस्तीतिश्रुती	हमस्मीतिसुषुप्तिविषयाश्रुति
648	3	चकरण	चाकरण
699	13	शश्रृंग	शशश्रृंग
714	13	निस्वारूप	निःस्वरूप
737	11	नियामकाभा	नियामकाभावात्